गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

R
विषय संख्या ८०९
पुस्तक संख्या प्र ८ ई स
आगत पंजिका संख्या ७११.०२५
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है । कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें । 3845

112818

324 D

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

5 MAY 1986

G. ९८९|२३८२ स्टाक तलाशी करना १९८४-१९८५

112818
३४५

सरस्वती

सचित्र

मासिक पत्रिका

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी
CHECKED 1973

भाग २५, खण्ड १

जनवरी-जून

१९२४

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः
पुस्तक सं० सर०
आगत सं० २५(१-६)
तिथि०
गुरुकुल ग्रन्थालय काँगड़ी.

सम्पादक

पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, बी० ए०

सहायक सम्पादक—देवीदत्त शुक्ल

112818

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

वार्षिक मूल्य साढ़े छः रुपये

लेख-सूची ।

नम्बर	नाम	लेखक	पृष्ठ
१	अनङ्ग (कविता)	श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त	३६३
२	अन्योक्तिमणिमाला (कविता)	श्रीयुत जनार्दन झा	३१४
३	अमरीका के सार्वजनिक पुस्तकालय	श्रीयुत धर्मवीर, बी० ए०	३१७
४	आचार्य एडम स्मिथ और हिन्दुस्तान की तत्कालीन स्थिति	श्रीयुत रामस्वरूप गुप्त, एम० ए०	५१६
५	आत्म-कथा (कविता)	श्रीयुत रामचरित उपाध्याय	३३१
६	आशा (कविता)	श्रीयुत गोपालशरणसिंह	२३
७	एक भारतीय प्रतिमाकार...	श्रीयुत विष्णुदत्त शास्त्री, बी० ए० एल-एल बी०	२०२
८	कपास	श्रीयुत वनमालीप्रसाद शुक्ल	६५७
९	कलकत्ता	एक लखनऊ-वासी	४४३
१०	कवि-कीर्ति (कविता)	श्रीयुत रामचरित उपाध्याय	१८८
११	कविता और दृश्य-वर्णन	श्रीयुत ईश्वरचन्द्र ब्रह्मचारी	२४
१२	किफ़ायती कमिटी की रिपोर्ट	श्रीयुत सहदेवसिंह वर्म्मा	३६८
१३	कीर्ति के पथ में	श्रीयुत हनूमान् शर्मा	२१, १६०,
१४	कौटिल्य का काल-मान	श्रीयुत गोपालदामोदर तामस्कर, एम० ए०, एल-टी	६८
१५	गुण-गरिमा (कविता)	श्रीयुत रामचरित उपाध्याय	६२
१६	घट (कविता)	श्रीयुत सियारामशरण गुप्त	१
१७	चन्द्र-ग्रहण	श्रीयुत प्रो० शैवाल	४०५
१८	चारु चयन		१२०, २३६, ३५०, ४६३, ५८१, ७०३
१९	चीन में भारतीय धर्म और सभ्यता का प्रचार	श्रीयुत कन्नोमल, एम० ए०	६२५
२०	चीनी तुर्किस्तान	श्रीयुत दीनदयालु श्रीवास्तव, बी० ए०	७२
२१	जीवेम् शरदः शतम्	श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०	१२
२२	जीवों का विवर्तन	श्रीयुत नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए० भाषा-तत्त्व-रत्न	१८
२३	ज्वालाजी की यात्रा	श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०	३३७
२४	तन्त्री (कविता)	श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त	४०
	तीर्थ-रेणु	अनुवादक, श्रीयुत सुशीलकुमार	२, १७१, २८३, ३६६,
	,,	अनुवादक, श्रीयुत दीनदयालु श्रीवास्तव, बी० ए०	५०७
२६	दण्डदेव का आत्म-निवेदन	श्रीयुत श्रीकण्ठ पाठक, एम० ए०	२८६
२	दिक्पालों की विरह-वेदना	पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी	५१२
	देश की कथा		१४५, २५६, ३७६, ४८४, ५६६, ७१२
२६	नख-शिख	श्रीयुत गोपीनाथ शर्मा	५५७
	नगरों में जल-पथ	श्रीयुत गिरिजाशङ्कर वाजपेयी	५२६

नम्बर	नाम	लेखक	पृ
३१	नबी का नीति-निर्वाह ...	... श्रीयुत प्रेमचन्द ...	... ३०८
३२	नष्टोद्धार	... श्रीयुत मणिराम ...	... ६३८
३३	निदाघ-वर्णन	... श्रीयुत लक्ष्मीधर वाजपेयी ...	... ६२६
३४	पुस्तक-परिचय	...	१६४, २७७, ३९१, ४६७, ६१४, ७२६
३५	पूर्व-भारत (कविता) ...	... श्रीयुत गोपालशरणसिंह ...	... ४१५
३६	प्रकृति का कार्य्य-वैचित्र्य ...	... श्रीयुत वनमालीप्रसाद शुक्ल ...	... २११
३७	प्रचुर प्रश्न (कविता) ...	... श्रीयुत रामचरित उपाध्याय ...	... ४४२
३८	प्रतीक्षा (कविता) ...	... श्रीयुत राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह	... ४४६
३९	प्रयाग की मनुष्य-गणना ...	... श्रीयुत दयाशङ्कर दुबे, एम० ए०	... ४३
४०	प्रायश्चित्त (कविता) ...	... श्रीयुत 'सत्कविदास' ...	... ६४
४१	फ़्रांस की शासन-पद्धति ...	... श्रीयुत अनन्तराम वर्मा, बी० ए०	... ५३८
४२	बौद्ध-धर्म का स्वरूप और परिणाम	... श्रीयुत नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए०, भाषा-तत्त्व-रत्न... ...	... ५४१
४३	भगवान् बुद्ध का उपदेश और उनकी शिष्य-मण्डली	श्रीयुत लक्ष्मीधर वाजपेयी ...	... ४२८
४४	भाषा का विकास ...	... श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा, बी० ए०	... ५४१
४५	भाषा की उत्पत्ति ...	... श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा, बी० ए०	... ४११
४६	भाषा में सादृश्य ...	... श्रीयुत नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए०, भाषा-तत्त्व-रत्न... ...	... १९८
४७	मदन-दहन	... श्रीयुत रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०	... ५३
४८	मन (कविता) ...	. श्रीयुत गोपालशरणसिंह ...	... २२०
४९	माया	... श्रीयुत सुदर्शन	... ५२३
५०	मिस्र की कथा	... श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोषाल ...	... ६३
५१	मेरी दक्षिण-यात्रा ...	... श्रीयुत रामदास गौड़ ...	... ६७३
५२	मौन-निमन्त्रण (कविता) ...	.. श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त ...	... १६६
५३	यामुनाचार्य	.. श्रीयुत लक्ष्मीधर वाजपेयी ...	... १७५
५४	यारकन्द	... श्रीयुत सन्तराम, बी० ए० ...	... ४१७
५५	रण-मन्दिर के देवी-देवता ...	... श्रीयुत वनमालीप्रसाद शुक्ल ...	... ३०५
५६	राजा-रानी	... अनुवादक, श्रीयुत रूपनारायण पाण्डेय	... १०८, २२४, ३४२, ४५०, ५६९, ६९३
५७	राधा-रोदन (कविता) ...	... श्रीयुत गोपालशरणसिंह ...	... ५६६
५८	विनय (कविता) ...	... ,,	... ३०४
५९	विमर्श-विचार ...	...	... १६२
६०	विविध विषय ...	...	१५२, २६४, ३८४, ४८८, ६०३, ७२१
६१	विश्व-कीर्ति ...	... ...	... ११७, २२३, ४५

नम्बर	नाम	लेखक	पृष्ठ
६२	विश्वगुणादर्श	पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी	६
६३	विश्व-धर्म	श्रीयुत हरिवल्लभ जोशी ...	८५
६४	वीचि-विलास (कविता)	श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त	५०५
६	शिशु (कविता)	श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त	२८१
६६	शिक्षा की नवीन व्यवस्था	श्रीयुत रमाशङ्कर उपाध्याय	६४९
६७	शीला देवी	अनुवादक, श्रीयुत हरिदत्त पाण्डेय	८९, २१०, ३२३, ४३४, ५४६, ६६७
६८	शोकोद्गार (कविता)	श्रीयुत गोपालशरणसिंह	६३६
६९	साहित्य का आदर्श	श्रीयुत दीनदयालु श्रीवास्तव, बी० ए० ...	२९१
७०	साहित्य में दूत	श्रीयुत खड्गजीत मिश्र, एम० ए० एल-एल० बी० ...	३३३
७१	सेवा-धर्म	श्रीयुत सुदर्शन	८०
७२	स्वप्न (कविता)	श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त	६१७
७३	स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र	श्रीयुत दीनदयालु श्रीवास्तव, बी० ए० ...	६८०
७४	संवाद (कविता)	श्रीयुत 'सत्कविदास'	५४२
७५	संसार की गति		१३६, २५०, ३६९, ४७९, ५९३, ७०८
७६	संयुक्त-प्रान्त के उद्योग-धन्धे	श्रीयुत सहदेवसिंह वर्म्मा	१८४
७७	हम्मीर-महाकाव्य	श्रीयुत महावीरप्रसाद द्विवेदी	६२०
७८	'हंसदूत' और उसके रचयिता ...	श्रीयुत बदरीनाथ भट्ट, बी० ए०	४०

चित्र-सूची ।

रङ्गीन चित्र ।

नम्बर	नाम	महीना	पृष्ठ	नम्बर	नाम	महीना	पृष्ठ
१	ईसामसीह ...	जनवरी ...	१२	१६	यज्ञ-समारोह ...	मार्च ...	३२३
२	उषःकाल ...	,, ...	४	१७	राधाकृष्ण ...	जनवरी ...	२८
३	उपासना-रता	,, ...	३२	१८	रोमियो और जूलियट	मार्च ...	३०१
४	उपासना-मन्दिर	,, ...		१९	विनोद ...	मई ...	मुखपृष्ठ
५	चित्र-पद्माकर (नं० ३)	,, ...	मुखपृष्ठ	२०	शीला देवी (१)	जनवरी ...	८९
६	चित्र-पद्माकर (नं० ४)	फ़रवरी ...	१९८	२१	,, (२)	,, ...	९७
७	चित्र-पद्माकर (नं० ५)	एप्रिल ...	५१२	२२	शीला देवी-सम्बन्धी १ चित्र	फ़रवरी ...	२१२
८	चित्र-पद्माकर (नं० ६)	जून ...	६१७	२३	,, ,, ,,	एप्रिल ...	४३४
९	चैतन्यदेव ...	जनवरी ...	२०	२४	श्रान्ता ...	,, ...	४२८
१०	परित्राण ...	मार्च ...	मुखपृष्ठ	२५	सन्ध्याकाल ...	जनवरी ...	४०
११	प्रतीक्षा ...	फ़रवरी ...	मुखपृष्ठ	२६	सुकेशी ...	जून ...	६६६
१२	बाल-क्रीड़ा ...	एप्रिल ...	मुखपृष्ठ	२७	सुभद्रा और अर्जुन	जून ...	मुखपृष्ठ
१३	बुद्धदेव ...	जनवरी ...	८	२८	सुर्योदय ...	जनवरी ...	१६
१४	मन्दिर में ...	,, ...	२४	२९	स्मृति ...	एप्रिल ...	५४०
१५	मूक आह्वान ...	,, ...	५२				

सादे चित्र।

नम्बर	नाम	पृष्ठ
१-३	अमरीका के सार्वजनिक पुस्तकालय-सम्बन्धी ३ चित्र	३१८-३२
४	एच० जी० वेल्स	११८
५-१२	एक भारतीय प्रतिमाकार-सम्बन्धी ८ चित्र	२०३-२१०
१३	एच० एच० रिज़ाख़ाँ, सरदार-सिपह, फ़ारस का प्रधान मन्त्री	२५७
१४	कविवर ईट्स	४५८
१५-२५	कलकत्ता-सम्बन्धी ११ चित्र	४४३-४४
२६-३१	कीर्ति के पथ में-सम्बन्धी ६ चित्र	३१-३८
३२-४०	कीर्ति के पथ में-सम्बन्धी ९ चित्र	१९०-१
४१-४८	केनिया और उसकी वर्तमान परिस्थिति-सम्बन्धी ८ चित्र	१३९-१४
४९-५२	जर्मनी की वर्तमान दशा-सम्बन्धी ४ चित्र	२५२-२५
५३-५५	ज्वालाजी की यात्रा-सम्बन्धी ३ चित्र	३३८-३४
५६-७०	नगरों में जल-पथ-सम्बन्धी १५ चित्र	५३०-५३
७१-८५	नख-शिख-सम्बन्धी १५ चित्र	५५८-५६
८६	पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय	३८८
८७-९५	पाँच अँगुलियों का खेल-सम्बन्धी ९ चित्र	१२७-१३
९६-१०१	प्रयाग की मनुष्य-गणना-सम्बन्धी ६ चित्र	४५-४
१०२	फ्रांस के विधाता पोआँकारे	१४३
१०३-१०८	मज़दूर-दल का सङ्गठन-सम्बन्धी ६ चित्र	३७०-३७
१०९-१२३	मिस्त्र की कथा-सम्बन्धी १५ चित्र	६३-७
१२४-१२७	मेरी दक्षिण-यात्रा-सम्बन्धी ४ चित्र	६७३-६७
१२८	मोशिये लेनिन	२३
१२९-१४५	यारकन्द-सम्बन्धी १७ चित्र	४१७-४२
१४६-१४८	राष्ट्र-सङ्घ और योरप की वर्तमान परिस्थिति-सम्बन्धी ३ चित्र	३७५-३७
१४९-१५१	विलायत में पार्लियामेंट का नया चुनाव-सम्बन्धी ३ चित्र	२६९-२७
१५२-१६४	शिक्षा की नवीन व्यवस्था-सम्बन्धी १३ चित्र	६४९-६५
१६५-१७५	साहित्य का आदर्श-सम्बन्धी ११ चित्र	२९१-३०
१७६	स्वर्गीय रायसाहब गोविन्दलालजी पुरोहित	१५
१७७-१९०	स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र-सम्बन्धी १४ चित्र	६८१-६९

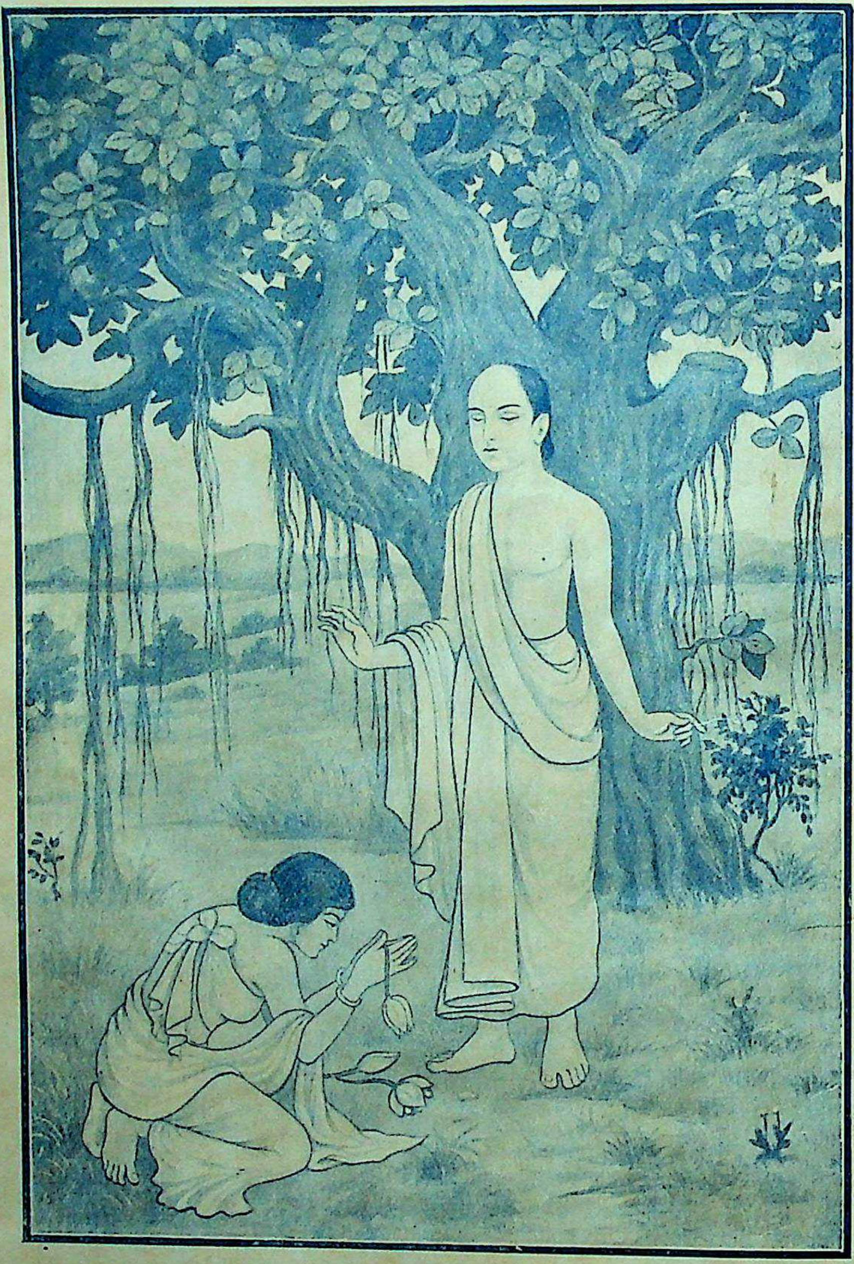

बुद्धदेव ।

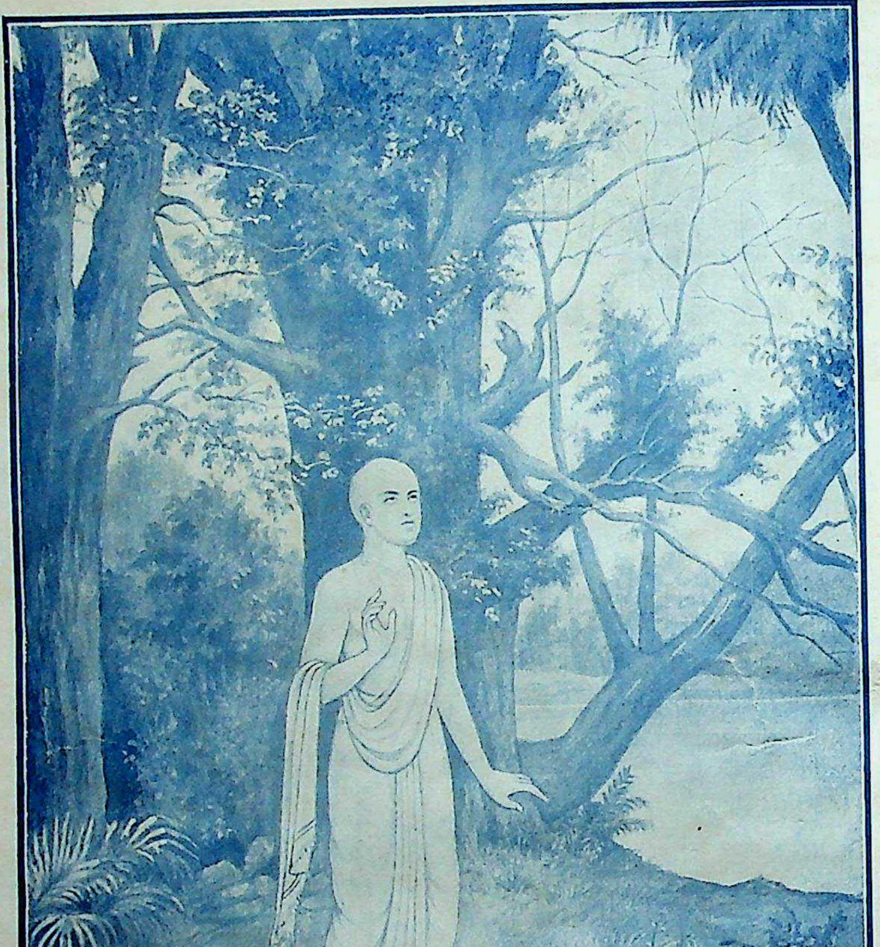

चैतन्यदेव ।

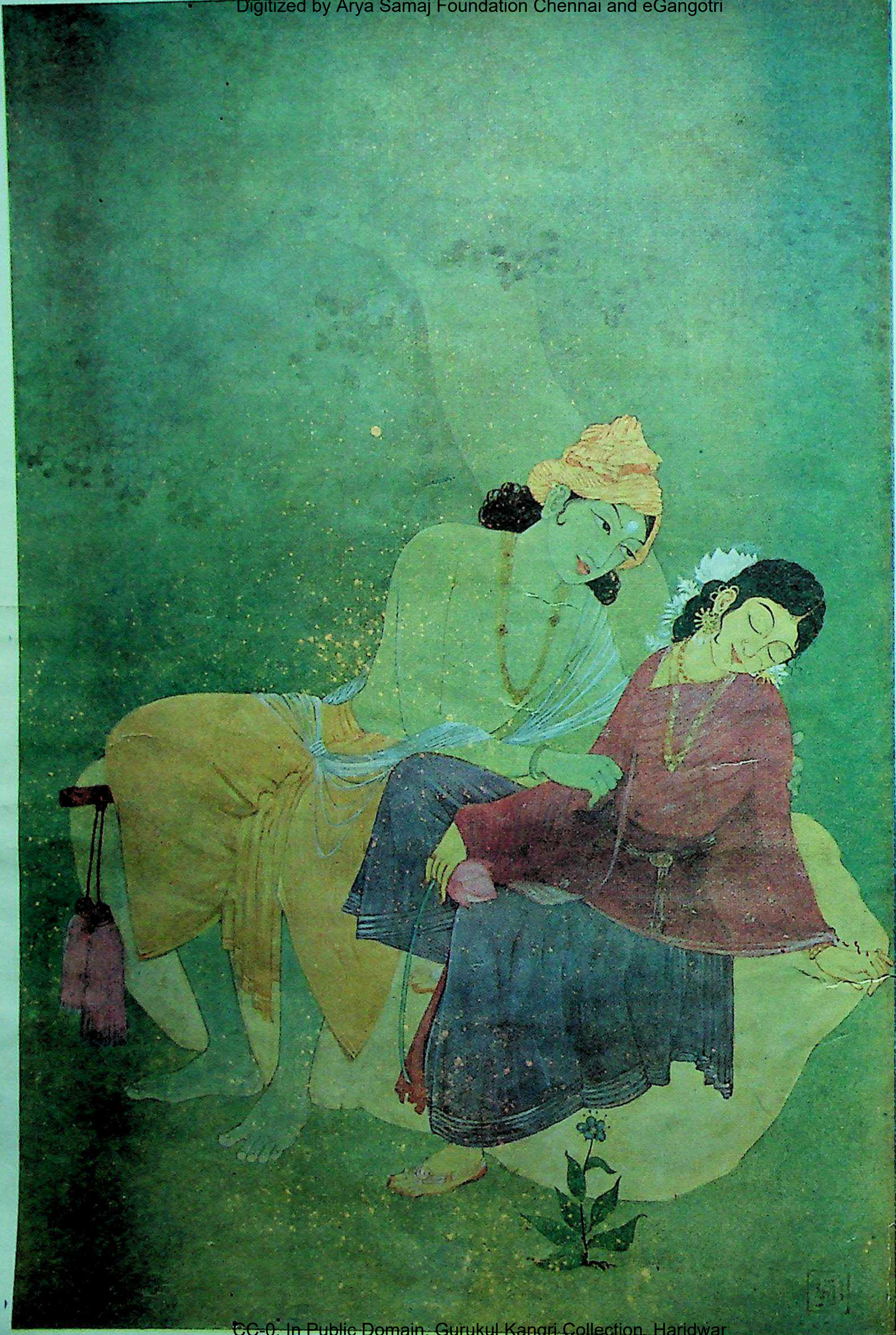

राधा-कृष्ण ।

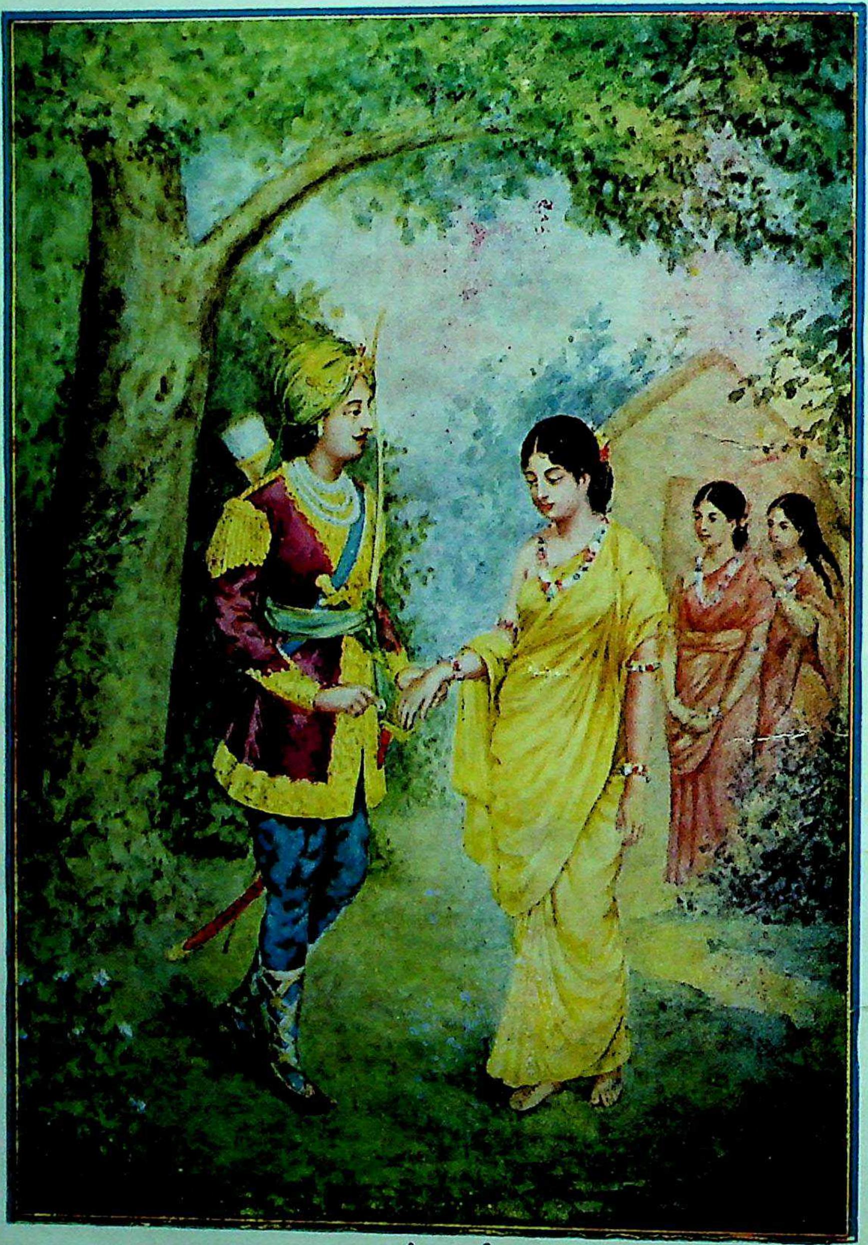

सुभद्रा और अर्जुन ।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग ।

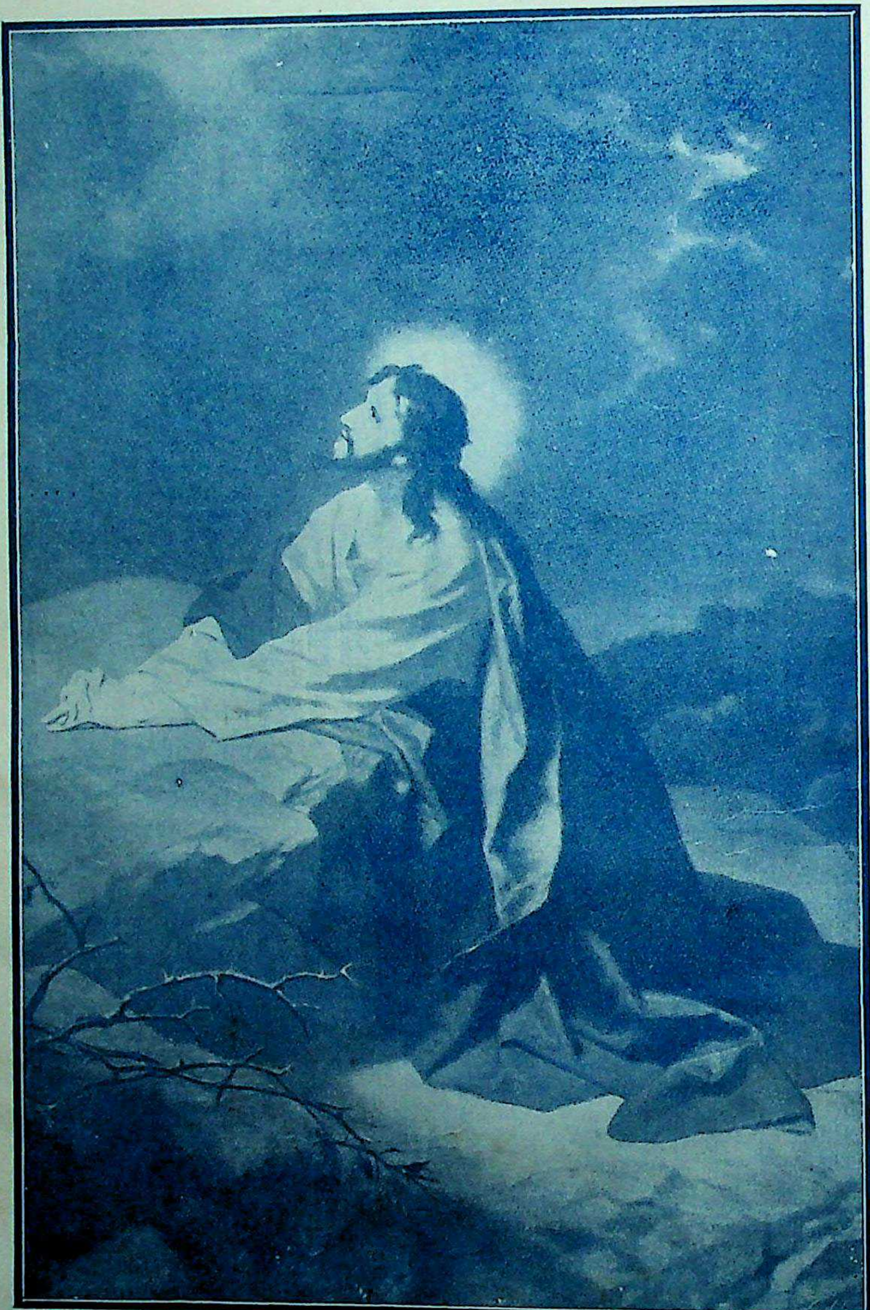

ईसामसीह ।

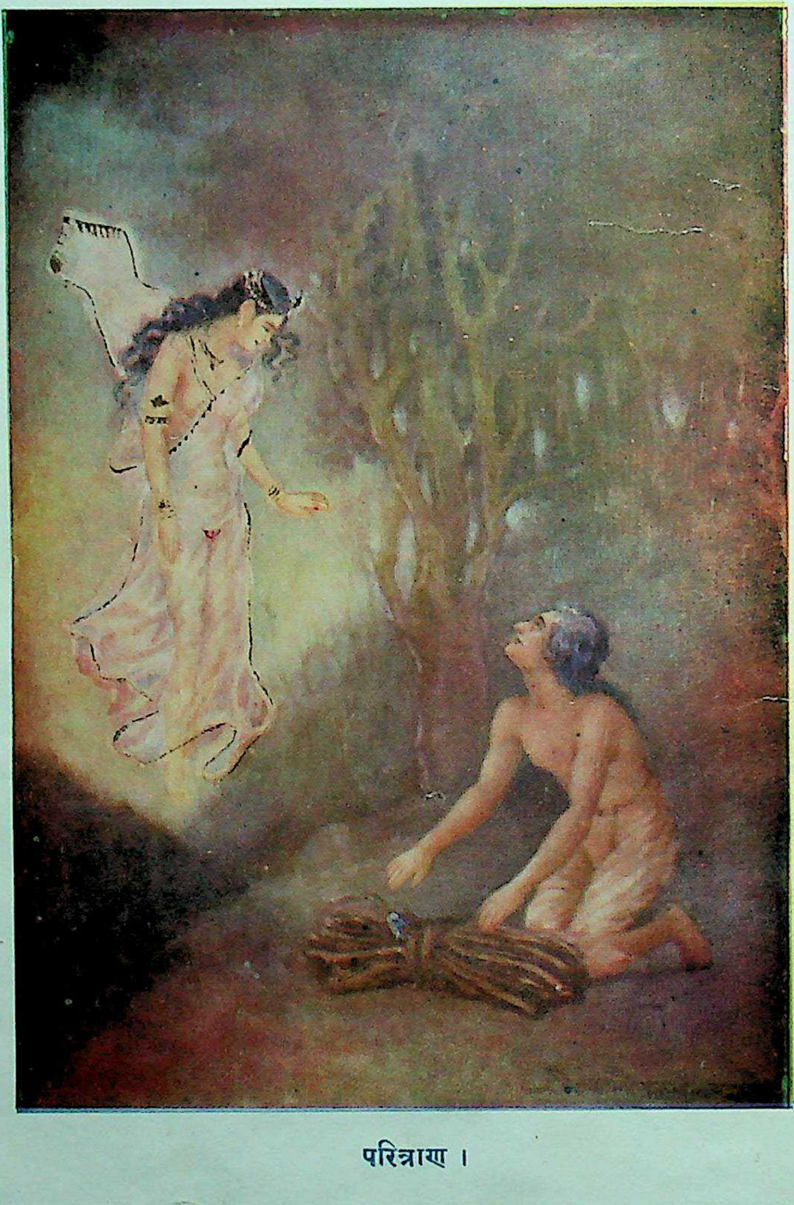

परित्राण ।

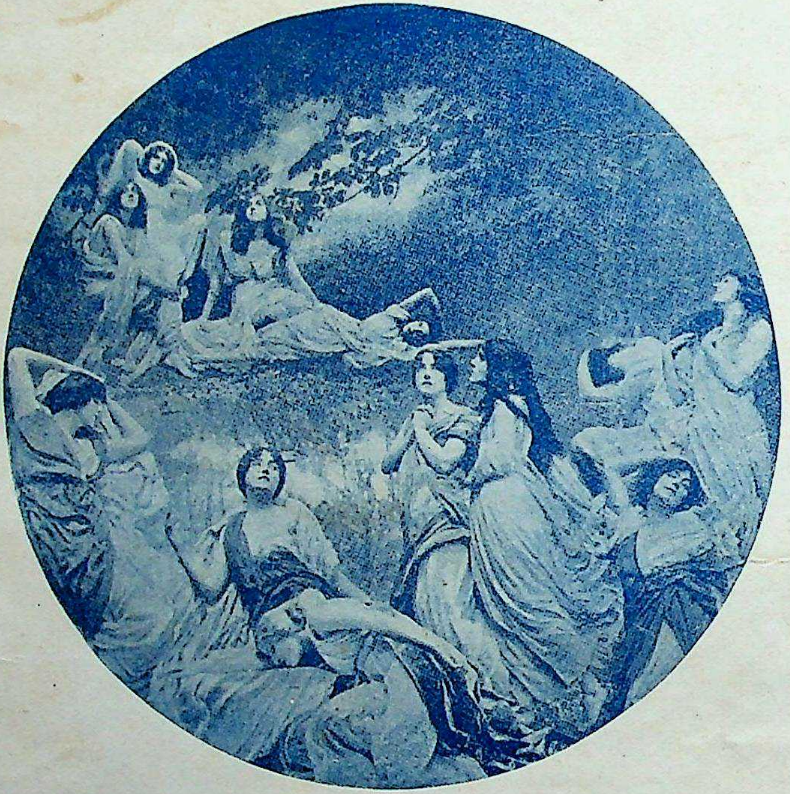

उषःकाल ।

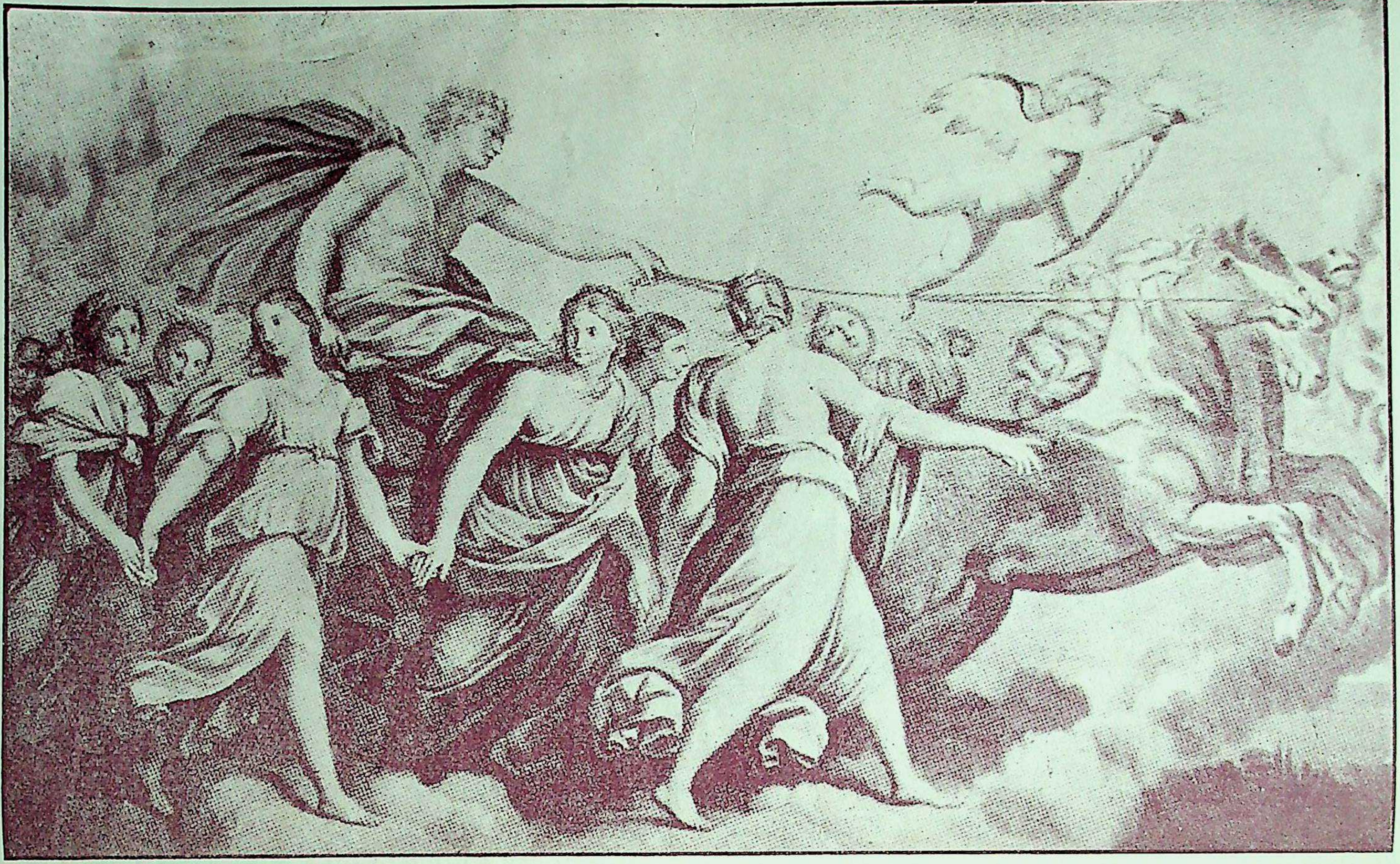

सूर्योदय ।

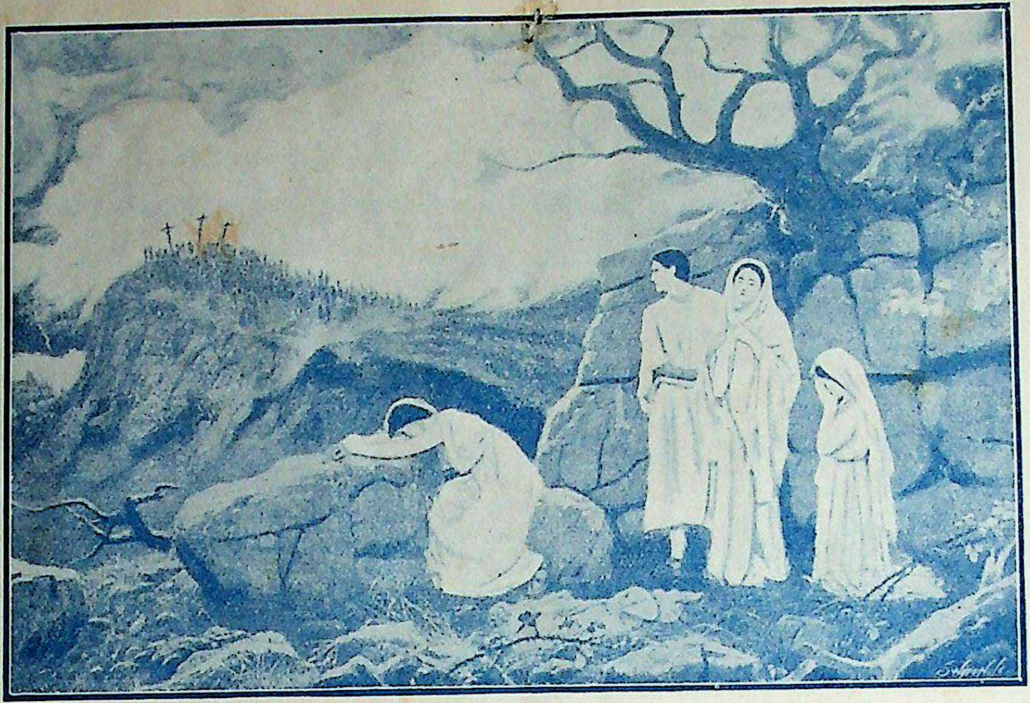

सन्ध्या-काल ।

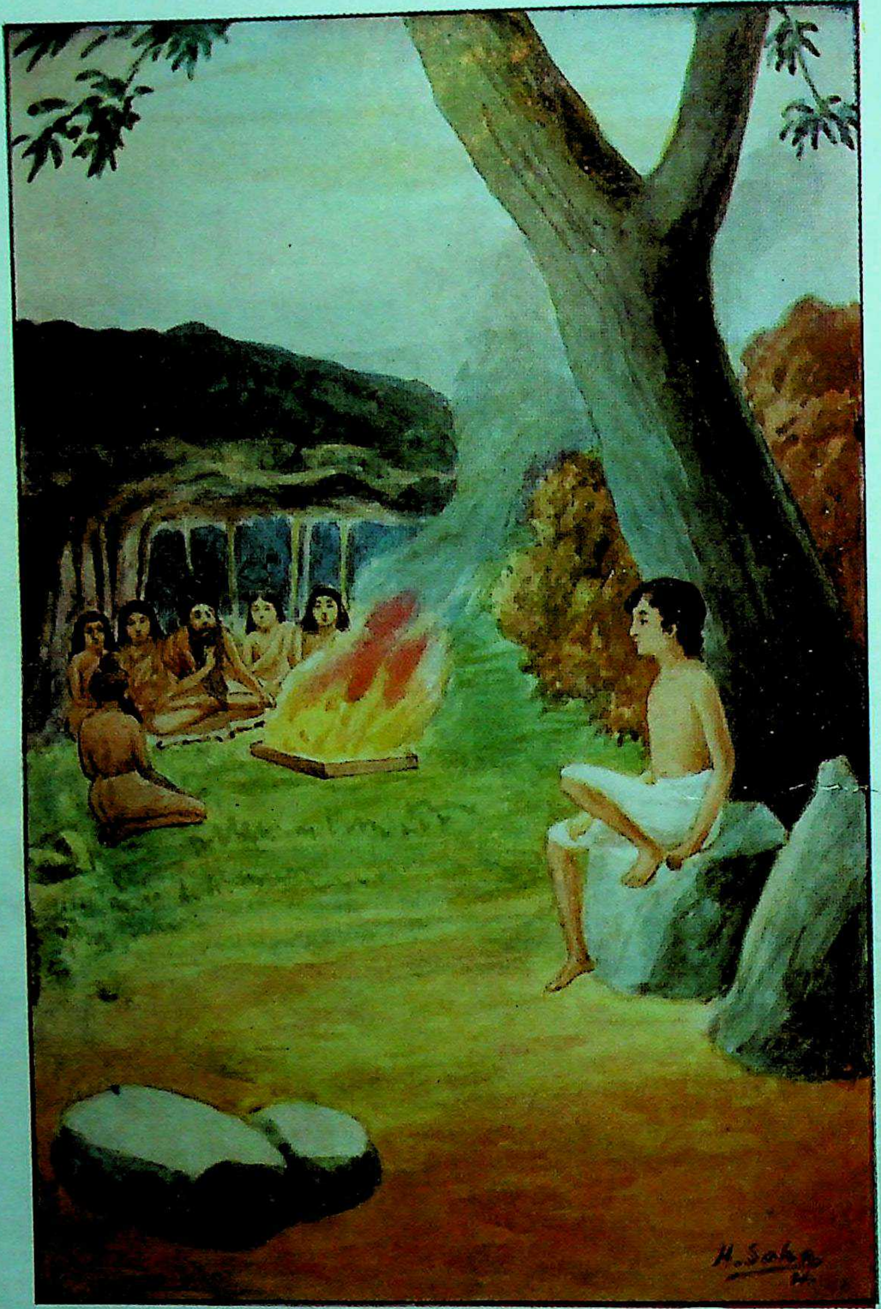

यज्ञ-समारोह ।

उपासना-रता ।

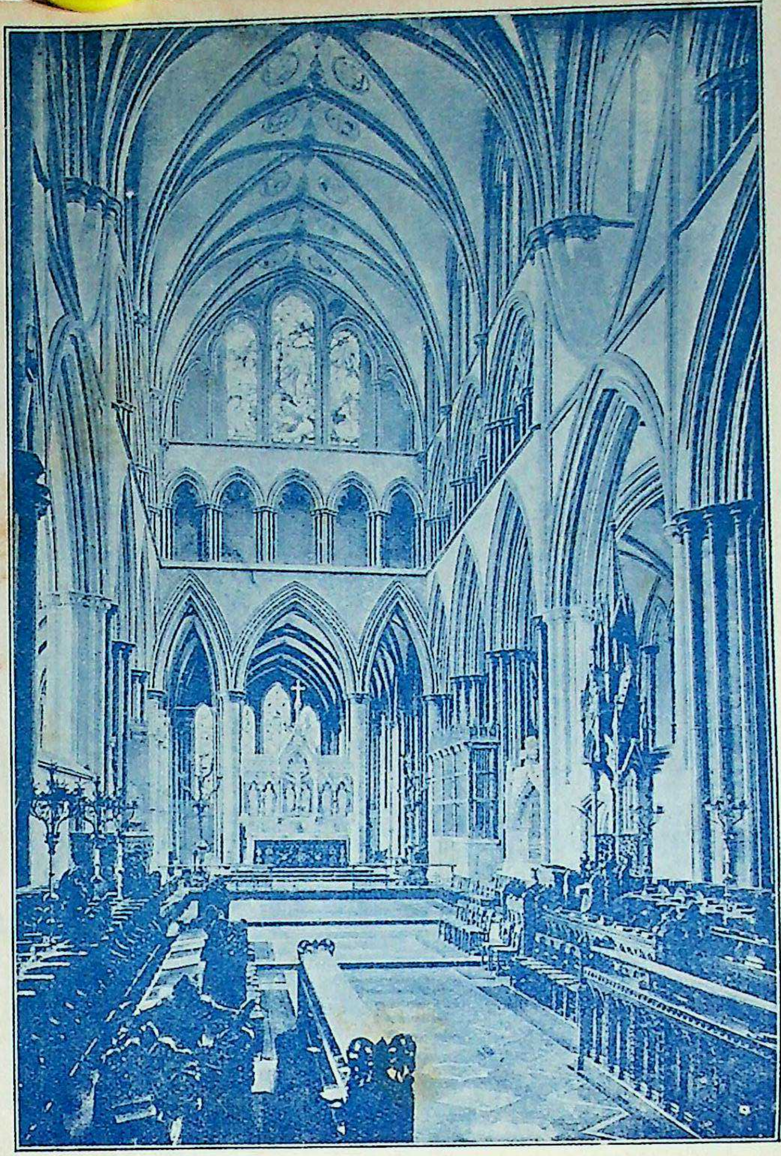

उपासना-मन्दिर ।
(गिरजा-घर)

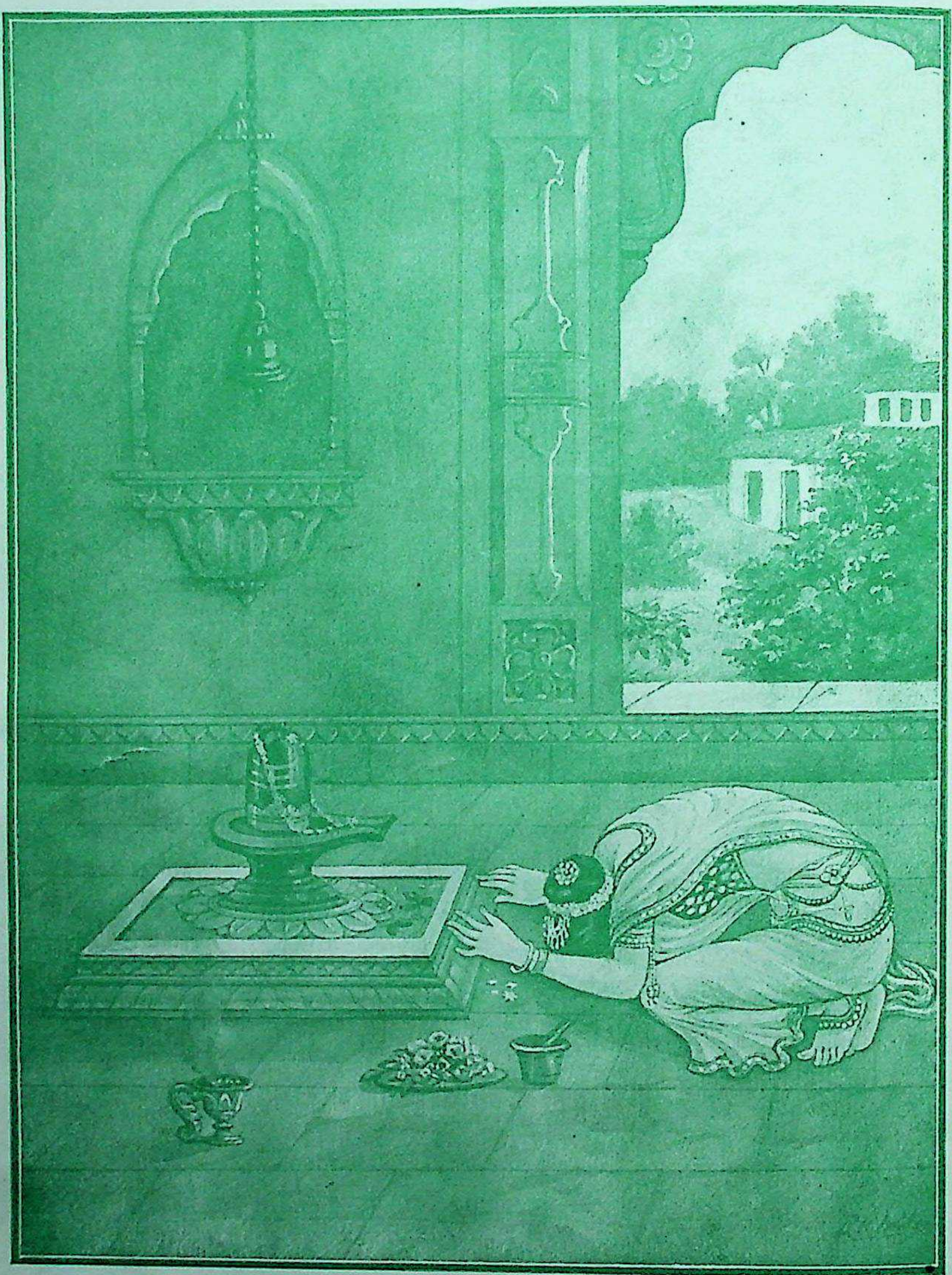

मन्दिर में।

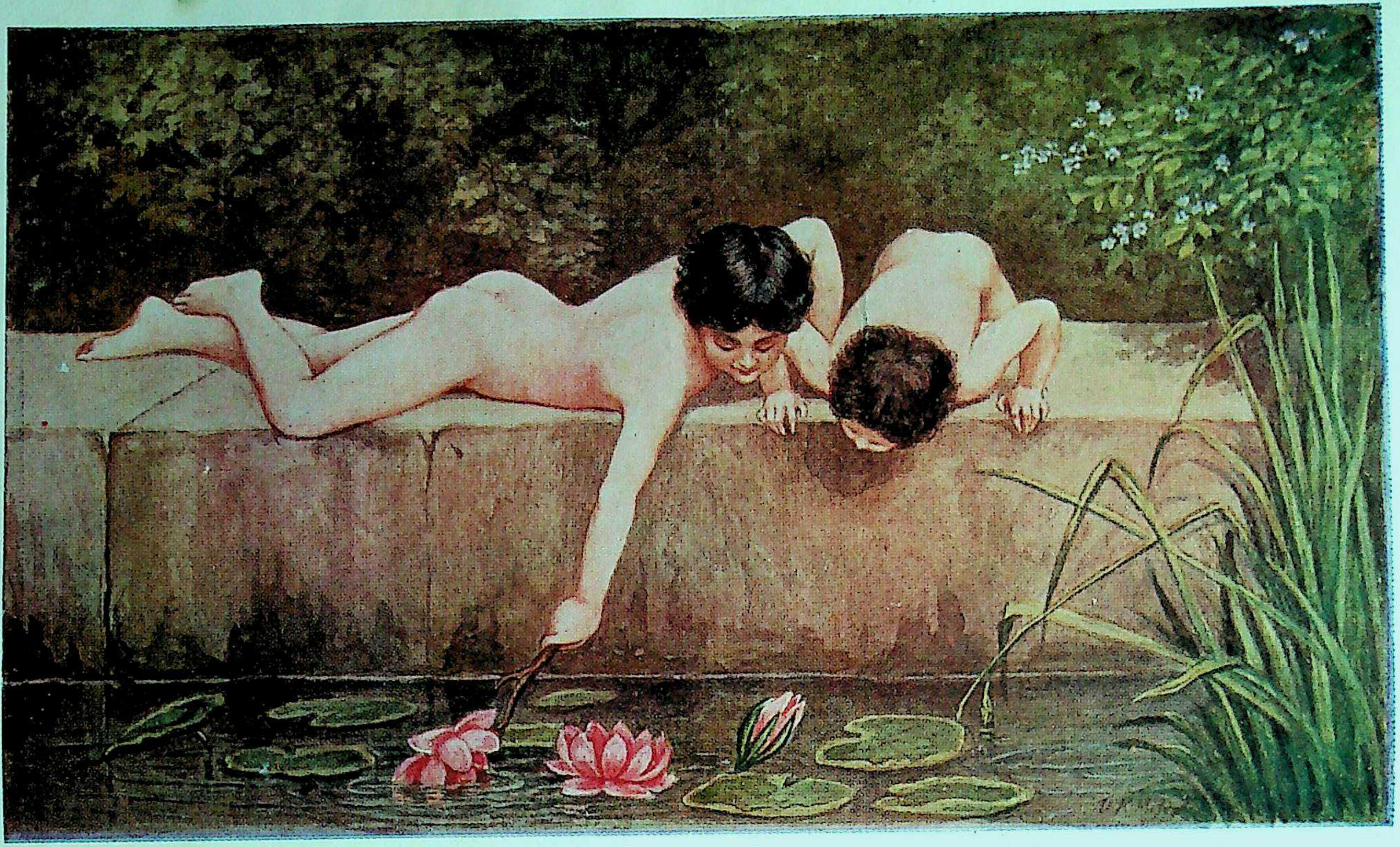

बाल-क्रीड़ा।

मूक आह्वान ।

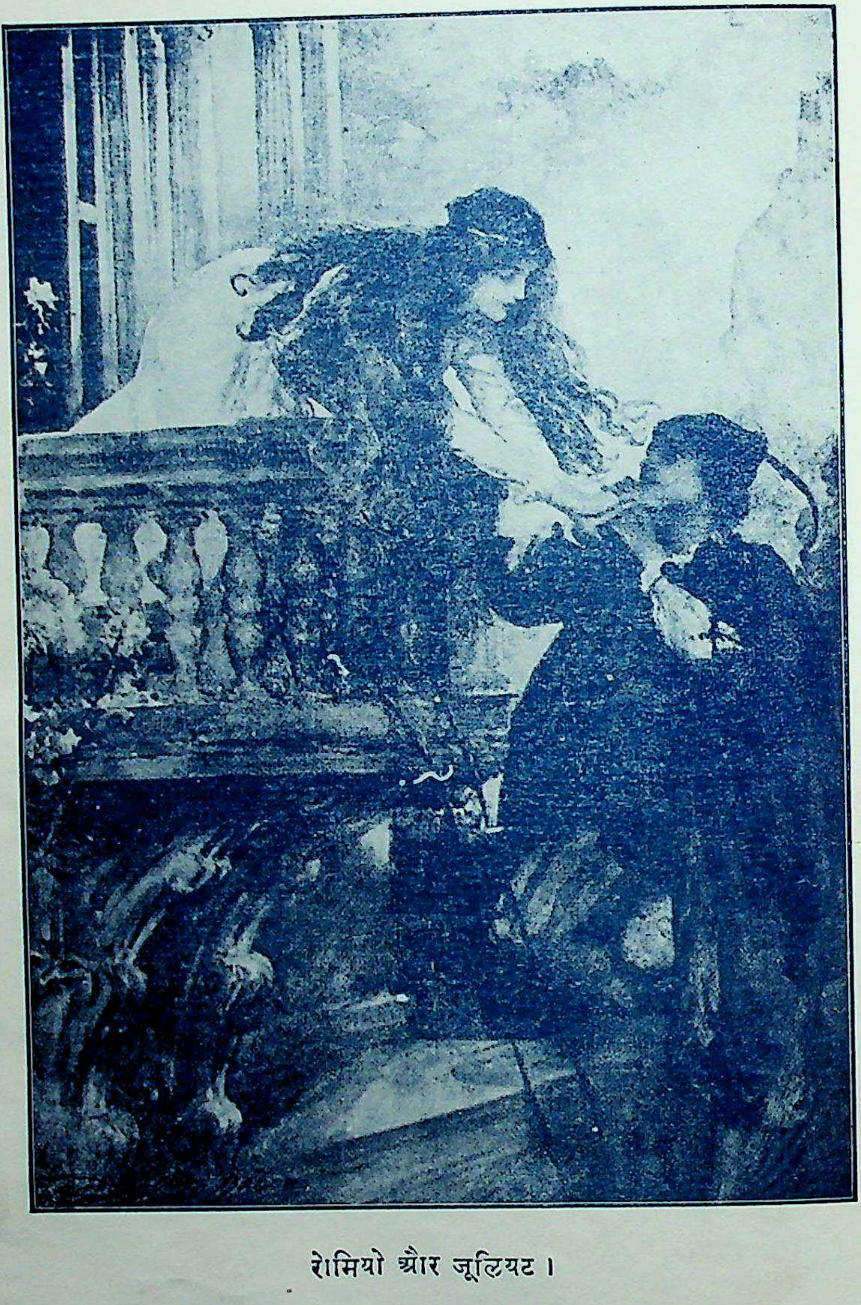

रोमियो और जूलियट।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

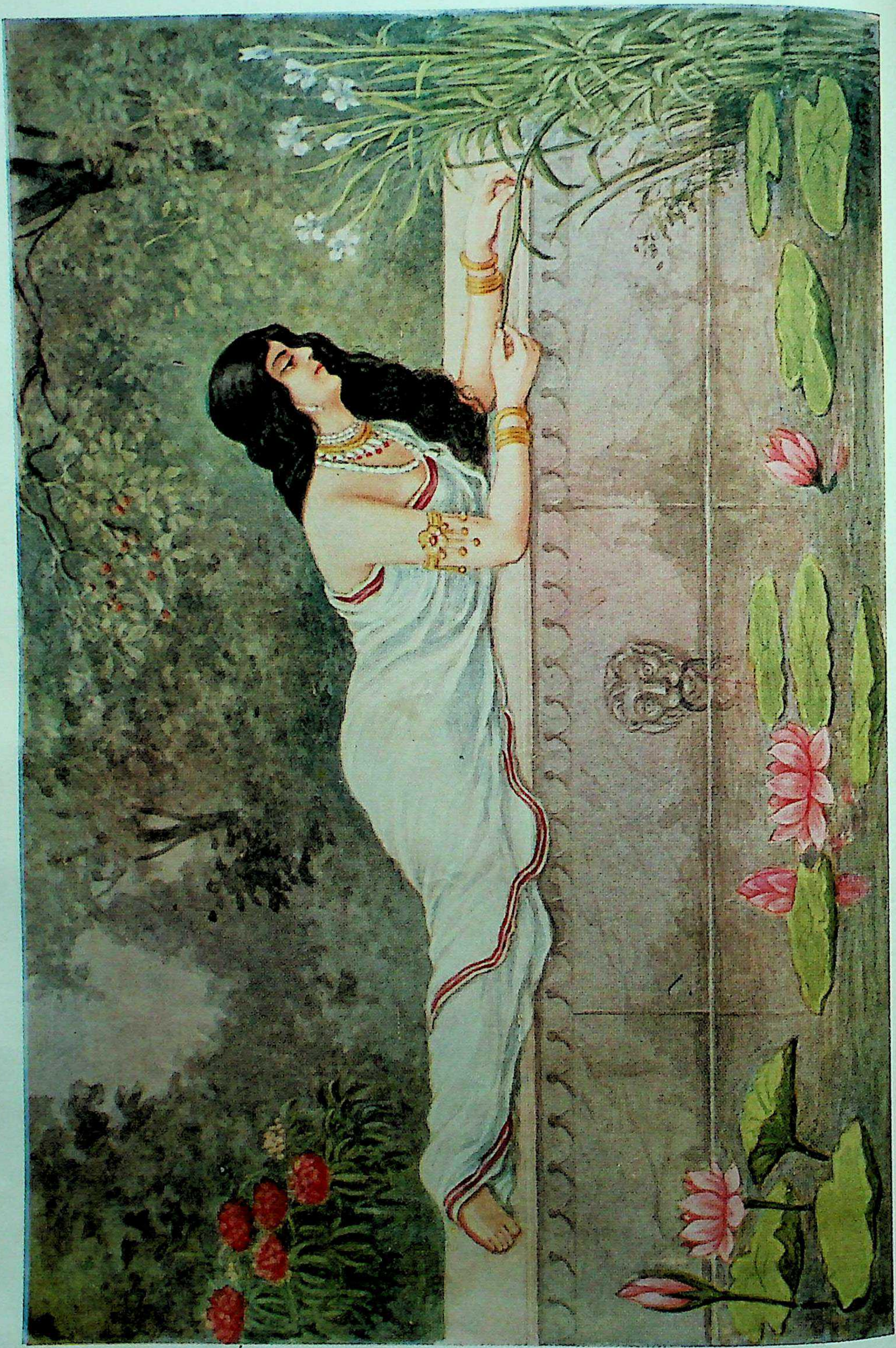

विनोद ।

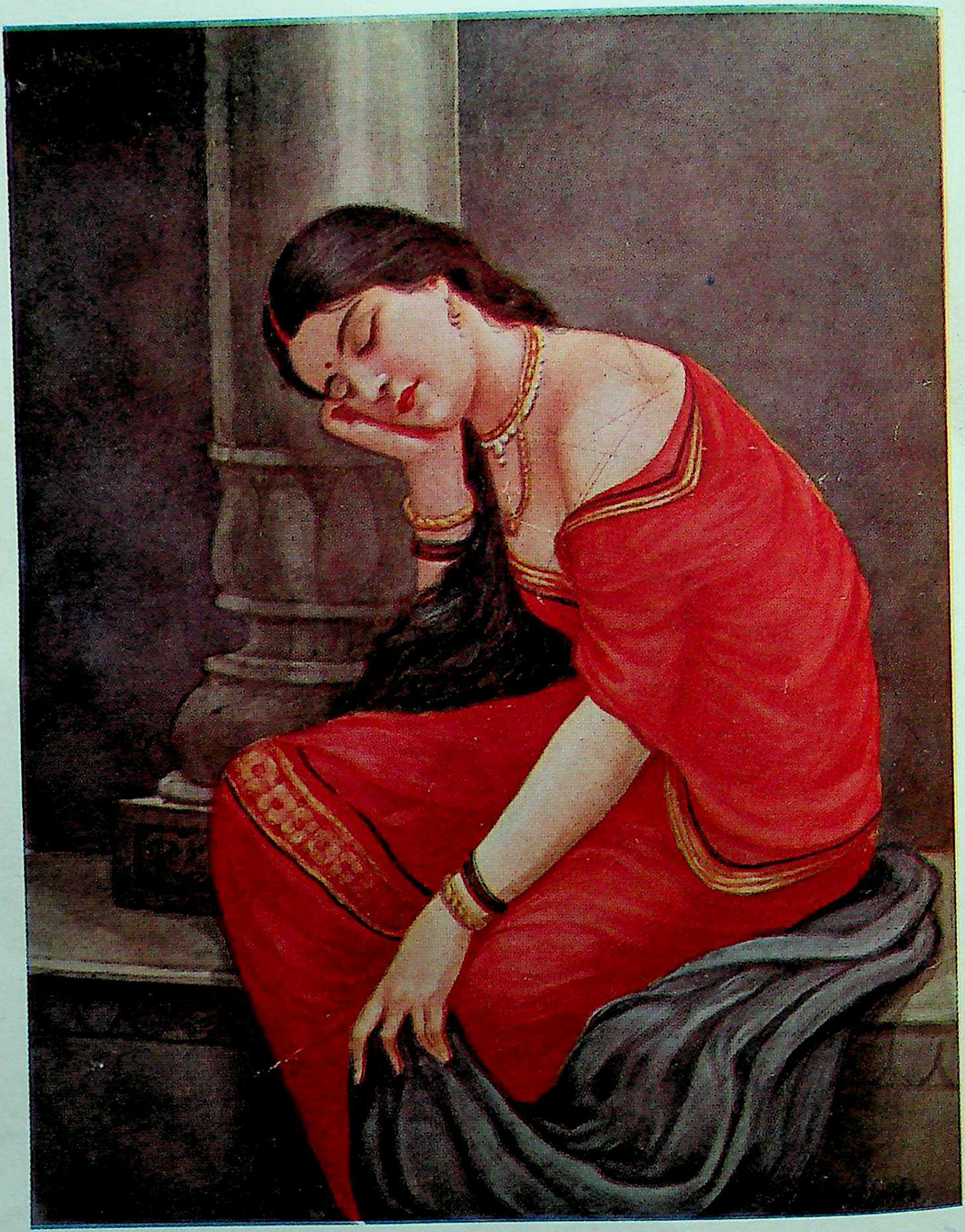

श्रान्ता ।

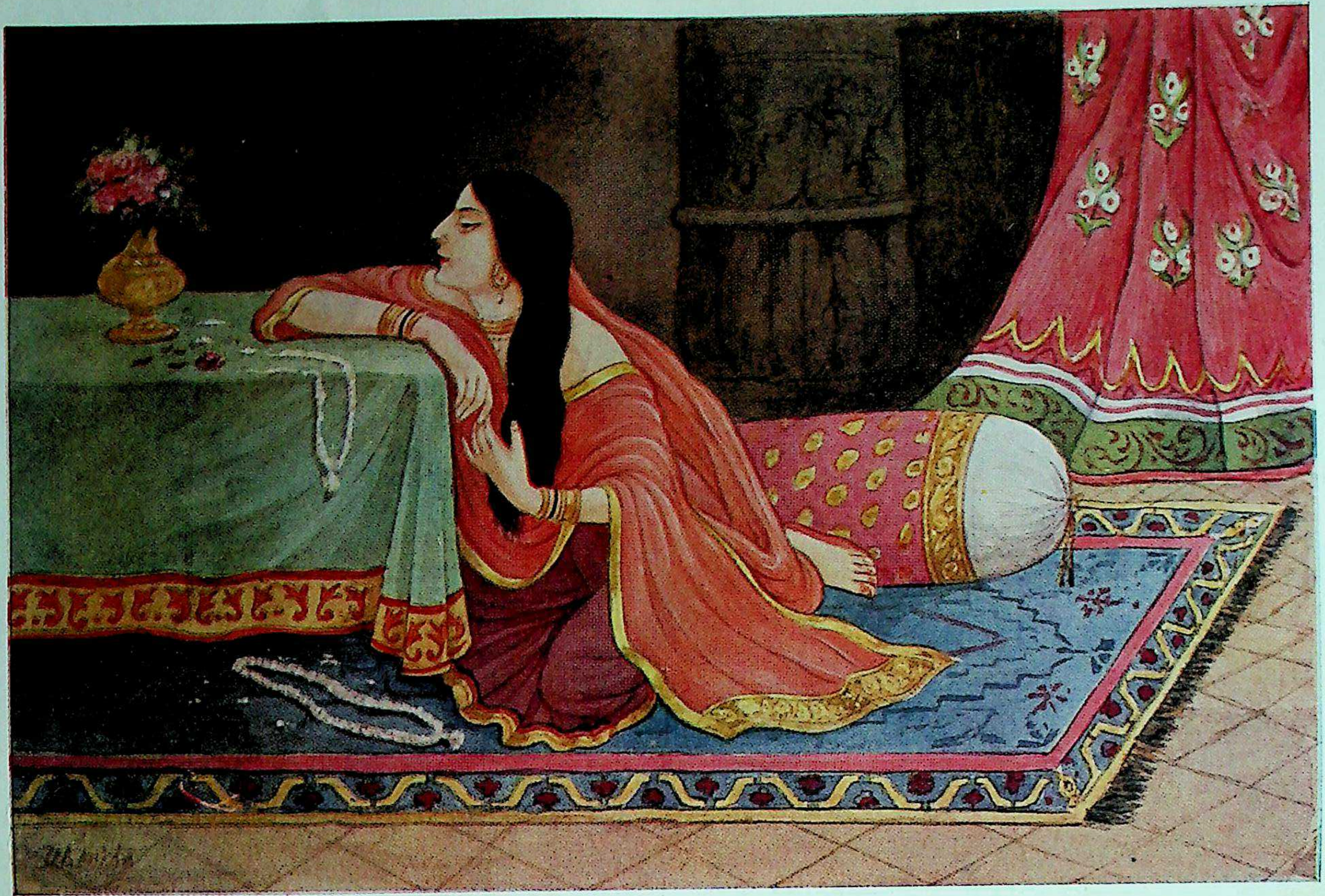

स्मृति ।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग ।

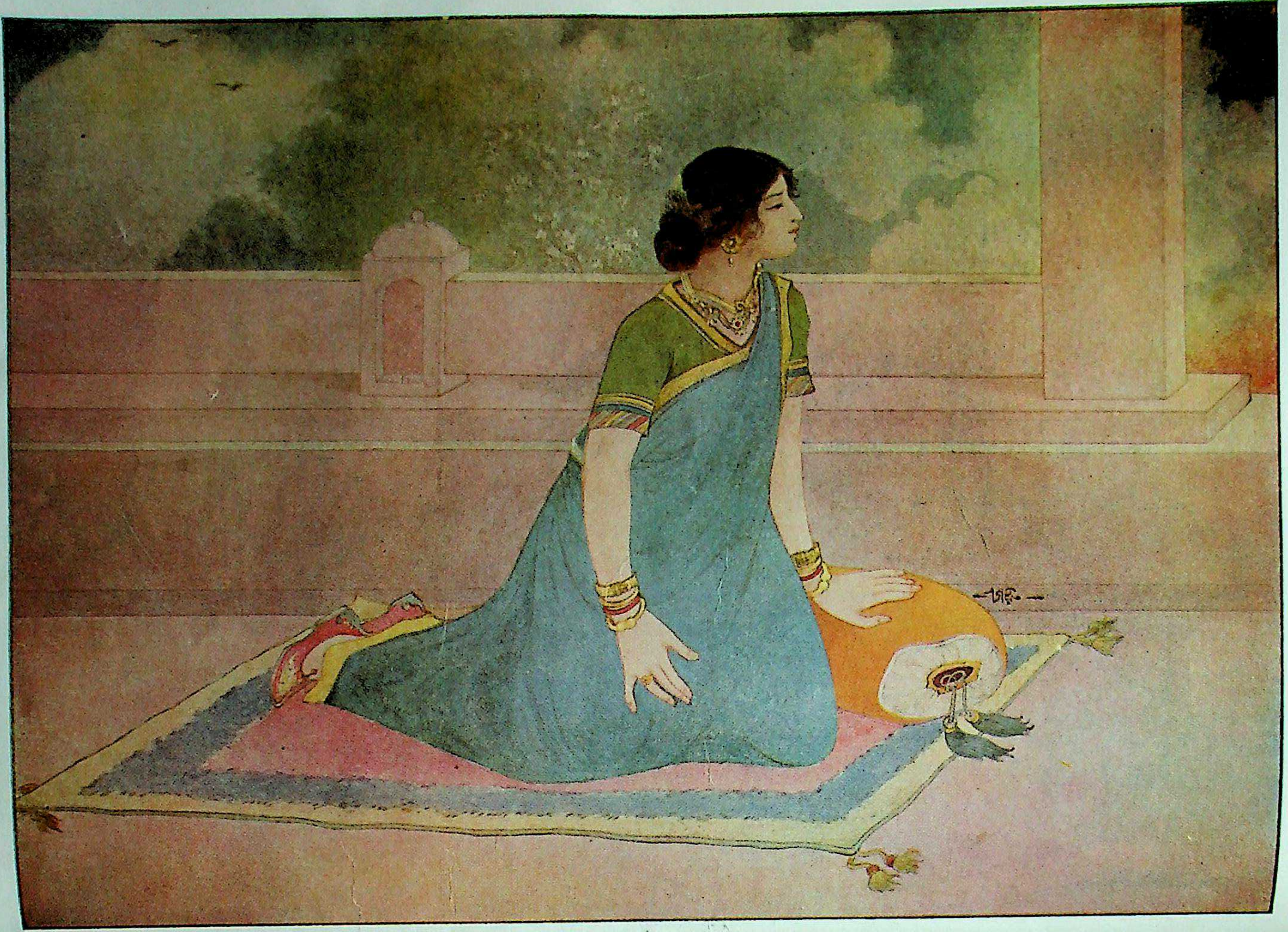

प्रतीक्षा ।

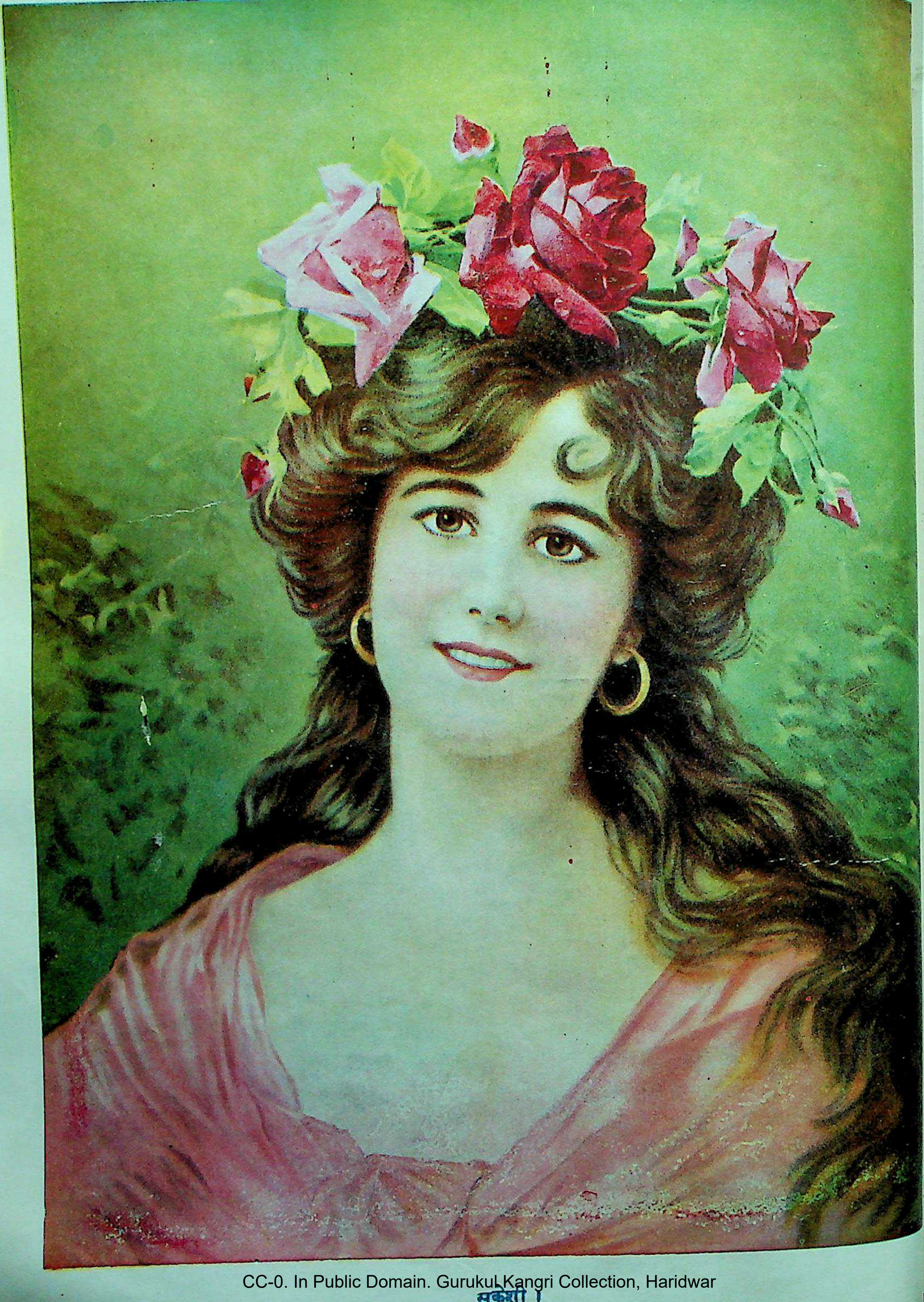

सुकेशी ।

चित्र-पद्माकर

(३)

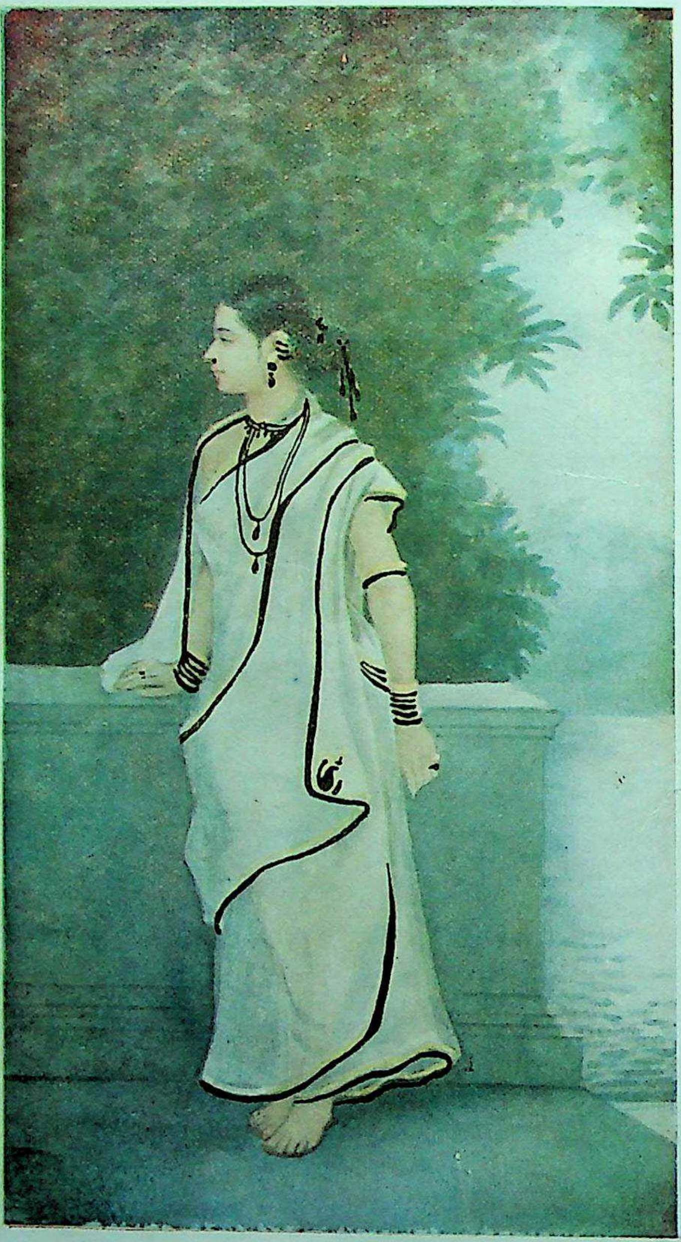

सजि वृजचंद पै चली यों मुखचंद जाको
चंद चाँदनी को मुखमंद सो परत जात।
कहै पदमाकर त्यौं सहज सुगन्ध ही के
पुंज बन कुंजन में कंज से भरत जात।

धरत जहाँई जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ
मञ्जुल मजीठ ही के माठ से ढुरत जात।
हारन तें हीरे ढरैं सारी के किनारन तें
बारन तें मुकुता हजारन झरत जात॥

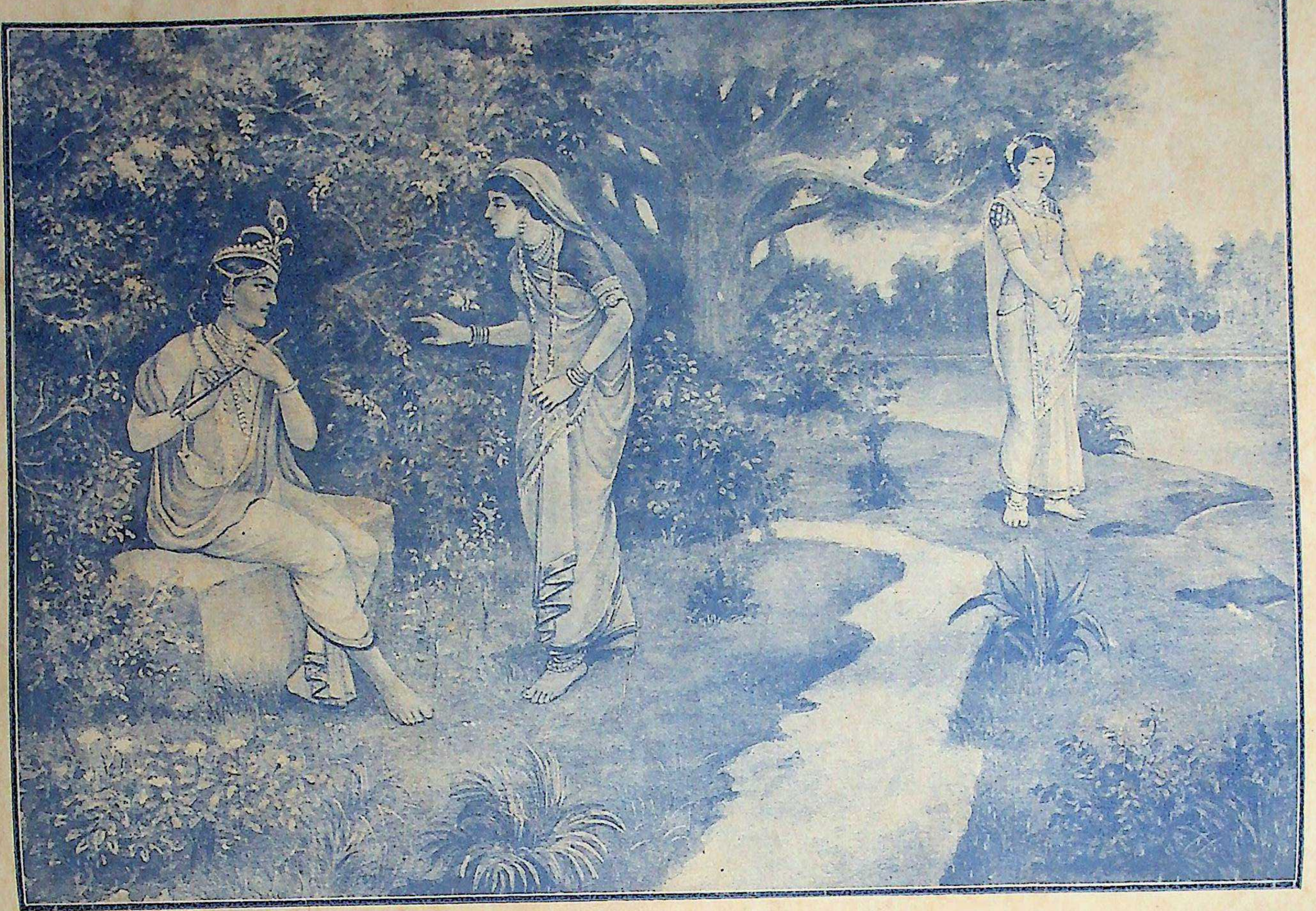

बैसही की थोरी पै न भोरी है किशोरी यह, याकी चित चाह राह और की मँझैयो जिन ।
कहै पदमाकर सुजान रूपवान आगे, आन बान आन की सुआन कै लगैयो जिन ॥

चित्र-पद्माकर ।

(५)

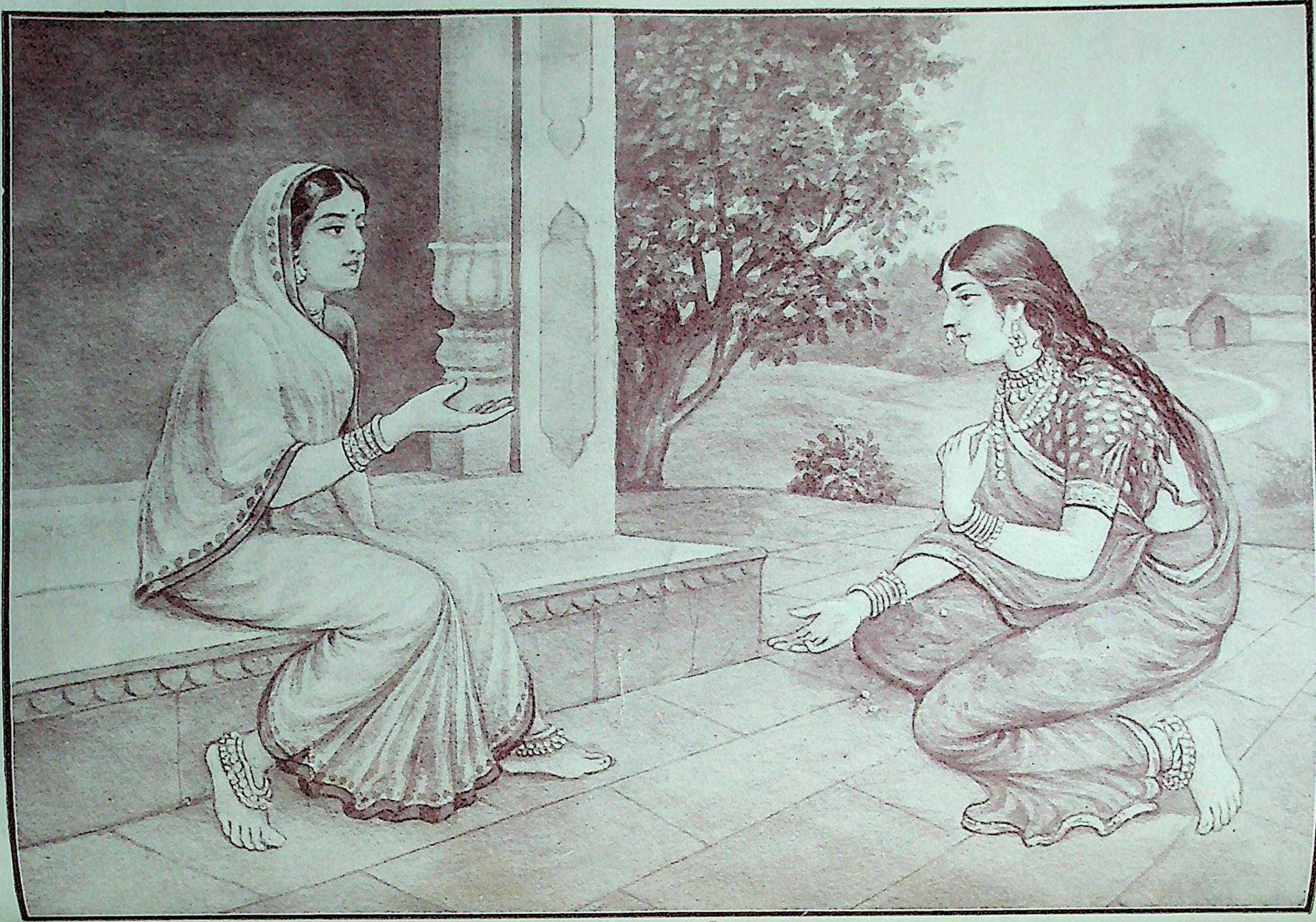

चित्र-पद्माकर

(नं० ६)

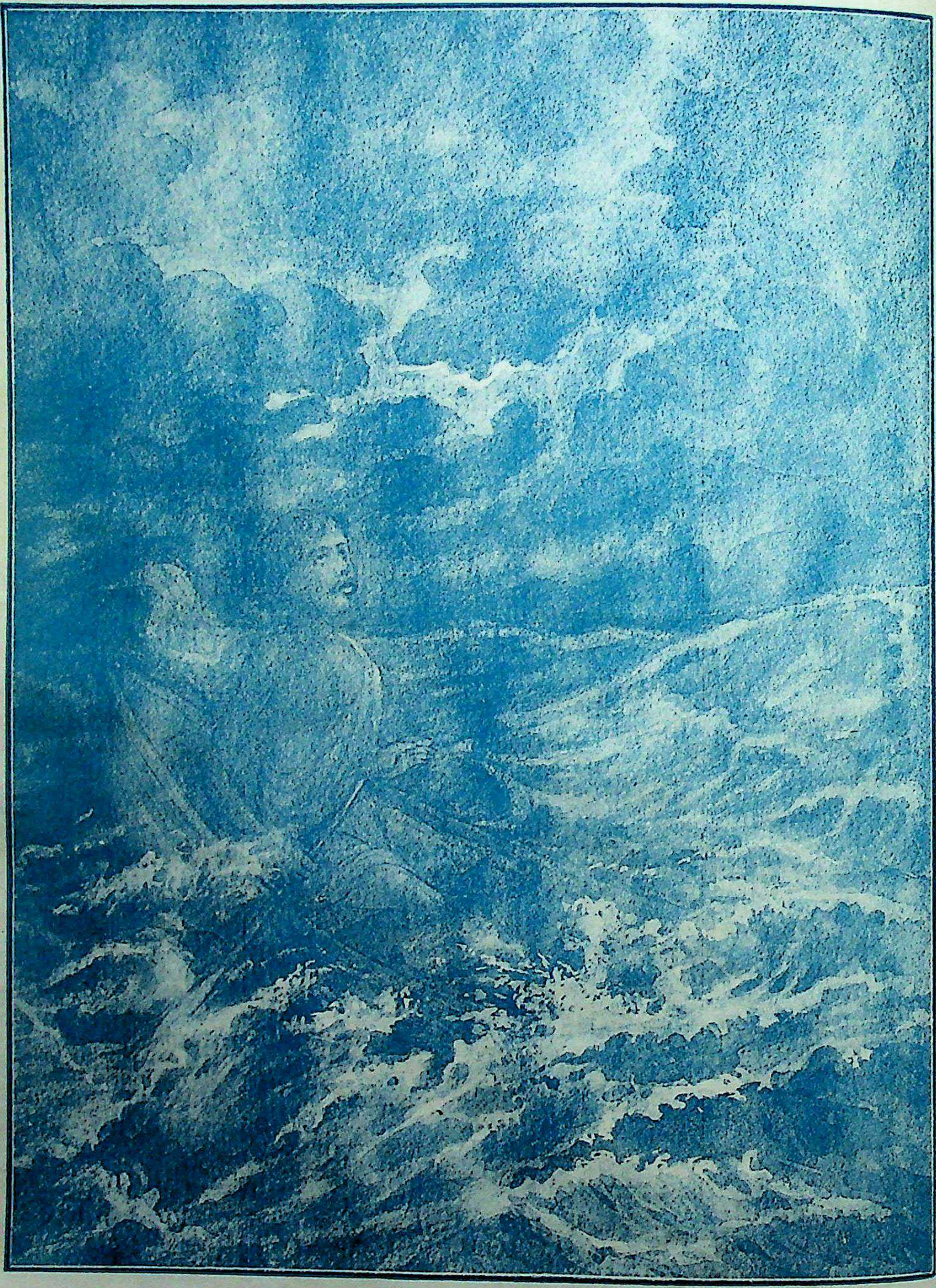

सरस्वती
सचित्र मासिक पत्रिका

भाग २५, खण्ड १] जनवरी १९२४—पौष १९८० [संख्या १, पूर्ण संख्या २८९

घट ।

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज
मल मल कर मेरे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको
बाँधा है इस बन्धन में ?
फाँसी-सी है पड़ी गले में
नीचे गिरता जाता हूँ;
बार बार इस अन्ध-कूप में
इधर-उधर टकराता हूँ ।
ऊपर नीचे तम ही तम है;
बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता
गिर कर मैं जा रहा कहाँ ।
काँप रहा हूँ; भय के मारे
हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण;
ऐसे दुख-मय जीवन से हा !
किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण ?
सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या
नहीं दीखता एक उपाय;
यह क्या ? यह तो अगम नीर है,
डूबा, अब डूबा मैं हाय !
भगवन् ! हाय ! बचा लो अब तो,
तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक,
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में
आर्त-नाद करके तब तक ।
अरे, कहाँ वह गई रिक्तता,
भय का भी अब पता नहीं;
गौरववान हुआ हूँ सहसा;
बना रहूँ तो क्यों न यहीं ?
पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा
उज्ज्वलतर जीवन लेकर;
तुमसे उऋण नहीं हो सकता
यह नव जीवन भी देकर ।

सियारामशरण गुप्त

तीर्थ-रेणु।

(कन्फ़्यूसियस)

प्राचीन काल के विद्वान् जब किसी साम्राज्य में किसी सद्गुण का प्रचार करना चाहते थे तब सबसे पहले वे अपने ही देश की अच्छी व्यवस्था करते थे। देश को सुव्यवस्थित करने के लिए वे अपने परिवार को ही पहले मर्यादित करते थे। परिवार की मर्यादा-रक्षा के लिए वे आत्मोन्नति में दत्तचित्त होते थे। आत्मोन्नति के लिए वे अपने हृदय को स्वच्छ करते थे। हृदय की स्वच्छता के लिए वे अपने विचारों को परिष्कृत करते थे। विचारों की परिष्कृति के लिए वे अपने ज्ञान की वृद्धि करते थे। तत्त्व के अनुसन्धान में ही ज्ञान की वृद्धि होती है।

तत्त्व के अनुसन्धान से ज्ञान पूर्ण होता है। ज्ञान की पूर्णता से विचार परिष्कृत होते हैं। विचारों की परिष्कृति से हृदय स्वच्छ होता है। हृदय की स्वच्छता से आत्मोन्नति होती है। आत्मोन्नति से कुल की मर्यादा स्थिर होती है। कुल के मर्यादित होने से देश सुशासित होता है। देशों के सुशासन से समस्त साम्राज्य में सुख और शान्ति का प्रसार होता है।

सम्राट् से लेकर सर्वसाधारण तक सभी को यह समझना चाहिए कि आत्मोन्नति ही समस्त उन्नति का मूल है। यदि मूल की उपेक्षा की गई तो यह सम्भव नहीं कि उससे जिसका उद्भव होता है वह सुव्यवस्थित हो।

धन से गृह की शोभा है और सद्गुणों से मनुष्य की। इससे मनुष्य की चित्त-वृत्ति उन्नत होती है और शरीर भी स्वस्थ रहता है। अतए सज्जनों को सदा अपने विचारों को निश्छल रखन चाहिए।

यदि मनुष्य किसी मनोविकार के वशीभूत हे गया है तो उसका आचरण असंयत होगा। भ हो या प्रेम, दुःख हो या सङ्कट, सभी अवस्था में उत्तेजना का परिणाम एक ही प्रकार होगा जब मन अन्यासक्त होता है तब हम देख कर भ नहीं देखते, सुन कर भी नहीं सुनते। सच तो य है कि मन को संयत रखने से ही आत्मोन्न हो सकती है। प्रेम से मनुष्य में पक्षपात क भाव आता है और घृणा से भी। भय और आद की प्रेरणा से मनुष्य जिस प्रकार पक्षपात करत है उसी प्रकार दया और सहानुभूति के वशीभू होने पर भी करता है। उद्धत मनुष्य भी निष्प नहीं होता। यह सम्भव नहीं कि हम जिस प्रेम करें उसके दोषों को भी देखें। इसी प्रक जिनसे हम घृणा करते हैं उनके सद्गुणों को हम नहीं देख सकते।

अपने से बड़ों में मनुष्य जो दोष देखता उसे वह स्वयं अपने से छोटों के साथ व्यवह करते समय प्रदर्शित न करे। अपने से छोटों वह जो दोष समझता है उसे वह अपने से बड़ों सेवा में प्रकट न करे। अपने दक्षिण हस्त से जि लेने में वह घृणा करता है उसी को वह अपने व हस्त से देने की चेष्टा न करे। इसी प्रकार जिसे वाम हस्त से लेना नहीं चाहता उसे वह दक्षि हस्त से देने की इच्छा न रक्खे।

जो काम तुम कर चुके हो उनके विषय

कहना व्यर्थ है । जो काम तुमने आरम्भ कर डाले हैं उनको न करने की इच्छा करना व्यर्थ है । जो बातें हो गई हैं उनमें दोष निकालना व्यर्थ है ।

धन और मान की इच्छा सभी करते हैं । यदि उचित रीति से उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती तो उनको ग्रहण करना अच्छा नहीं । दरिद्रता और निरादर कोई नहीं चाहता । परन्तु यदि उचित रीति से उनका निवारण न किया जा सके तो उन्हें ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है ।

जो धार्मिक होते हैं वे कभी धर्म के विपरीत नहीं चलते । सङ्कट में वे उसी को दृढ़ता से पकड़ते हैं । विपत्ति में वे उसी का आलिङ्गन करते हैं ।

यदि हम किसी सज्जन को देखें तो हमें उसी के सदृश व्यवहार करने की चेष्टा करनी चाहिए । यदि हम किसी दुर्जन से मिलें तो हमें अपनी आत्म-परीक्षा करनी चाहिए ।

महात्माओं के चरित्र में चार बातें ऐसी हैं जिन्हें मैं अभी तक नहीं पा सका हूँ । पहली बात यह कि मैं अपने पिता की वैसी ही सेवा करूँ जैसी सेवा मैं अपने पुत्र से कराना चाहता हूँ । दूसरी बात, मैं अपने स्वामी का कार्य उसी प्रकार करूँ जिस प्रकार मैं अपने अनुचरों से कराना चाहता हूँ । तीसरी बात, मैं अपने कनिष्ठ भ्राता में जिस प्रकार का आचरण देखना चाहता हूँ वही आचरण मुझे भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के सामने प्रदर्शित करना चाहिए । चौथी बात, मैं अपने मित्र से जिस व्यवहार की आशा करता हूँ वही व्यवहार मैं भी उसके साथ रख सकूँ ।

जो स्वयं मूढ़ होकर भी दूसरों के सत्परामर्श को अग्राह्य करता है, जो दरिद्र होकर भी दूसरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है, जो वर्तमान में रह कर अतीत का आचरण करना चाहता है, उसकी दुर्गति अवश्यम्भावी है । चित्त-चेष्टा-शून्य शास्त्र का अध्ययन विडम्बना है और शास्त्र-चर्चा-हीन चित्त की चेष्टा भयङ्कर है ।

धर्म वनवासी नहीं हो सकता । उसे तो घेर कर नये नये नगरों की सृष्टि करनी होगी ।

दुष्ट जिसकी निन्दा करें और सज्जन जिसका यशोगान करें वही भाग्यवान् है । अच्छे और बुरे का विचार न कर सभी लोगों के प्रेम-पात्र बनने की जो चेष्टा की जाती है उससे चरित्र का ह्रास होता है । जो सारता सौन्दर्य का सम्पर्क छोड़ देती है वह ग्राम्यता हो जाती है । जब वही सारता बाह्य अलङ्कारों से दब जाती है तब वह आडम्बर-मात्र रह जाती है । जब दोनों का उचित परिमाण में समावेश होता है तभी वह इष्ट है ।

महात्मा अपनी स्थिति के अनुकूल ही काम करते हैं । वे कभी अपनी स्थिति के बाहर जाने की इच्छा नहीं करते । समृद्धावस्था में वे वही काम करते हैं जो उस अवस्था के उपयुक्त है । दरिद्र और हीन होने पर वे अपनी मर्यादा के अनुकूल काम करने में सङ्कोच नहीं करते । चाहे वे सभ्य समाज में हों या असभ्य समाज में, चाहे वे दुःख में हों या सङ्कट में, ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जिसमें वे अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण न रखते हों । उनकी विशेषता किसी भी स्थिति में नहीं नष्ट होती । वैभव में वे श्रीमान् हैं । अभाव में वे फ़क़ीर हैं । बर्बरों में वे सहृदय हैं । विपत्ति में वे वीर हैं ।

उच्च आसन पर बैठ कर वे अपने से हीनों का

तिरस्कार नहीं करते। हीन होने पर वे किसी के कृपा-पात्र नहीं बनना चाहते। वे अपने को ही उन्नत करने की चेष्टा करते हैं और किसी से कुछ पाने की इच्छा नहीं रखते। न वे विधाता को दोष देते हैं और न मनुष्य को। ऐसे लोग सदैव शान्त बने रहते हैं और ईश्वर के सभी विधानों का पालन करते हैं। परन्तु नीच भाग्योदय की आशा से अनिष्टकर पथ का अवलम्बन करते हैं।

यदि अनुचर अपने स्वामियों के विश्वास-पात्र नहीं हैं तो वे प्रजा का शासन नहीं कर सकते। शासन के लिए योग्य मनुष्य चाहिए और ऐसे योग्य मनुष्य तभी मिल सकते हैं जब शासक का आचरण अच्छा है। आचरण सदाचार पर निर्भर है और सदाचार का मूल है सहृदयता।

राजा को भी अपना आचरण बनाने में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अपने आचरण की पुष्टि में उसे अपने माता-पिता की सेवा नहीं भूल जाना चाहिए। माता-पिता की सेवा में उसे मनुष्य-समाज का ज्ञान प्राप्त करने में अवहेलना नहीं करनी चाहिए। मानवीय ज्ञान के अनुसन्धान में उसे ईश्वरीय ज्ञान को नहीं छोड़ देना चाहिए।

सभी लोगों के लिए पाँच कर्तव्य आवश्यक हैं और कर्तव्यपालन के लिए तीन गुणों की आवश्यकता है। पहला कर्तव्य है स्वामी और भृत्य के प्रति, दूसरा पिता और पुत्र के प्रति, तीसरा पति और पत्नी के प्रति, चौथा भाई भाई के प्रति, पाँचवाँ मनुष्य मनुष्य के प्रति। तीन गुण हैं ज्ञान, उदारता और शक्ति। कर्तव्य-पालन का साधन एक ही है। वह है एकाग्रता।

कुछ लोगों को जन्म से ही अपने कर्तव्यों का ज्ञान होता है। कुछ अध्ययन से जानते हैं और कुछ अज्ञानावस्था में दुःख उठा कर इसका अनुभव करते हैं। परन्तु ज्ञान हो जाने पर सबका परिणाम एक ही होता है। कुछ अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से कर्तव्य का पालन करते हैं, कुछ लोग लाभ देख कर कर्तव्य-पालन में लगते हैं और कुछ अनेक अड़चनें उठा कर अपना कर्तव्य-पालन करते हैं। परन्तु अन्त में सबका परिणाम एक ही होता है।

ज्ञान की इच्छा करना ज्ञान के समीप जाना है। उत्साह से कर्तव्य-पालन करना उदारता को प्राप्त करना है। लज्जा का अनुभव करना शक्ति के समीप पहुँचना है।

हृदय की स्वच्छता ही स्वर्ग का पथ है। उसी की प्राप्ति मनुष्य का एक-मात्र साधन है। जिसका हृदय स्वच्छ है वह बिना प्रयास सत् को ग्रहण कर लेता है। इसके लिए उसे विचार तक नहीं करना पड़ता। वही ऋषि है जो स्वाभाविक गति से सरलतापूर्वक सत्पथ को पा लेता है। जिसमें हृदय की स्वच्छता है वह सत् को ह स्वीकार करेगा और उसी को वह दृढ़तापूर्वक पक रहेगा। इसकी प्राप्ति के लिए सत् का अध्यय करना पड़ेगा, जिज्ञासा करनी पड़ेगी, विचार करन होगा, परीक्षा करनी होगी और तदनुकूल आच रण करना पड़ेगा।

महात्मा तब तक अध्ययन करना नहीं छोड़ जब तक कोई ऐसा विषय बना है जिसका उन्हों अध्ययन नहीं किया है। उनकी जिज्ञासा का त तक अन्त नहीं होता जब तक उनका को ज्ञातव्य विषय बचा है। यदि उन्हें अप प्रयास में विफलता हुई है तो वे अपना प्रया

नहीं छोड़ते । यदि कोई एक ही वार प्रयास कर सफल हो जाता है तो वे हज़ार बार प्रयास करते हैं । जो मनुष्य इस रीति से काम करेगा वह कितना ही मूढ़ और अशक्त क्यों न हो वह अन्त में शक्तिमान् होगा ही ।

जब हृदय की स्वच्छता से ज्ञान का आविर्भाव होता है तब उस मानसिक विकास का कारण प्रकृति ही कही जाती है । जब ज्ञान से हृदय की स्वच्छता प्रकट होती है तब शिक्षा ही उसका मूल कारण कही जाती है । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ हृदय की स्वच्छता है वहाँ ज्ञान है और जहाँ ज्ञान है वहाँ हृदय की स्वच्छता है ।

ईश्वर का अनुशासन हमारे अस्तित्व का अनुशासन है । वह हमारी अस्तित्व-रक्षा, जीवन-रक्षा के लिए है । जब यह अनुशासन अबाध्य होता है तब उसे नैतिक अनुशासन कहते हैं । ऐसे शृङ्खलाबद्ध नैतिक अनुशासनों का दूसरा नाम धर्म है । धर्म नीति से पृथक् नहीं है और नीति जीवन से पृथक् नहीं है ।

जिस अनुशासन का प्रभाव अव्याहत रहता है, जिसके आगे घड़ी भर के लिए स्वतन्त्रता पाने की सम्भावना नहीं है वही नैतिक अनुशासन है । जिन नियमों को हम टाल दे सकते हैं वे नैतिक अनुशासन नहीं हैं ।

हर्ष, शोक, क्रोध आदि मनोविकार जब तक प्रकट नहीं होते तभी तक हम स्वस्थ हैं । यह स्वाभाविक अवस्था है । यही हमारी नैतिक सत्ता है । जब प्रत्येक चित्त-वृत्ति का विकास हो जाता है तब नीति की शृङ्खला स्थापित करने का समय होता है । अपनी नैतिक सत्ता को संसार की मर्यादा से योग-युक्त करना ही मनुष्यत्व का चरम विकास है ।

गुण के अभाव को दोष कहते हैं । दोषों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । अच्छे का न होना ही बुरा है । बुरे का कोई अस्तित्व नहीं है ।

अखण्ड सत्य जिसको करायत्त है उसने अपनी निगूढ़ सत्ता के तल को स्पर्श कर लिया है । जिसने अपने अन्तस्तल को देख लिया वह दूसरों को भी समझ सकता है । जो दूसरों का धर्म जानता है उसके लिए प्रकृति का रहस्य अविदित नहीं रहता । जिसको प्रकृति के रहस्य का ज्ञान है उसने सृष्टि के तत्त्व को समझ लिया । जो सृष्टि के तत्त्व को जानता है वह सृष्टि-कर्त्ता की अखण्ड शक्ति से मिल कर एक हो गया है ।

अखण्ड सत्य का क्षय नहीं है । अक्षय होने से ही वह अनन्त है । अन्तहीन होने से वह स्वयं सिद्ध है । वह स्वयंसिद्ध है, इसी से स्वयंभू है । वह स्वयंभू है, अतएव वह अनादि है । अनादि है तभी वह गम्भीर और गहन है । गहन होने से वह बुद्धि के अतीत है । चेतना से ही वह स्पन्दित होता है । गम्भीर होने के कारण वह अखिल सृष्टि को अपने कार्य में रखता है । चेतना से स्पन्दित होने के कारण उसने सभी प्राणियों को अपने हृदय पर रक्खा है । विशालता में वह पृथ्वी के समान है । उच्चता में वह आकाश के सदृश है । वह अनादि, अनन्त, असीम—नित्यता की मूर्ति है । वह अपने को ही प्रकाशित करता है । वह प्रमाण के अतीत है ।

अनुवादक, सुशीलकुमार

———

विश्वगुणादर्श।

कुर्वीतोपकृतिं जनस्य समये कस्यापि नापक्रियाम् ।

कुछ लोगों का ख़याल है कि संस्कृत-भाषा के ग्रन्थ-साहित्य में समालोचना का अभाव है। यह ख़याल ठीक नहीं। साद्यन्त आलोचनात्मक ग्रन्थ बहुत नहीं हैं, इसमें सन्देह नहीं। पर संस्कृत-साहित्य में समालोचनाओं का अत्यन्ताभाव भी नहीं। दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र और व्याकरणशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में, बीच बीच में, आलोचनायें हैं। उनमें ग्रन्थकारों ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों और आचार्य्यों के सिद्धान्तों और मतों की ख़ूब आलोचना की है। इस तरह की आलोचनायें कहीं कहीं तो सौम्य भाषा में हैं, कहीं कहीं उनमें कटुता भी है, और कहीं कहीं तो आलोच्य सम्मतियों के दाताओं का उपहास तक किया गया है। रसगङ्गाधर के कर्ता जगन्नाथराय ने तो अपने प्रतिपक्षी अप्पय दीक्षित की बड़ी ही छीछालेदर की है। तथापि ऐसे उदाहरण बहुत नहीं जिनमें औरों की आलोचना करने में सदाचार की सीमा का उल्लङ्घन किया गया हो।

दूसरों की कृति को यदि कोई, दोष ढूँढ़ने ही की दृष्टि से, देखे और उसका अध्ययन करे तो उसमें उसे अनेक दोष या दोषाभास मिलने की सम्भावना रहती है। दोषान्वेषी जब राग-द्वेष के वशीभूत होकर किसी की कृति का निरीक्षण करता है तब उसकी सदसद्विवेक-बुद्धि पर परदा पड़ जाता है। उस दशा में वह समालोचना का अधिकारी नहीं रह जाता। पर उसे उस काम से रोक ही कौन सकता है? फल यह होता है कि अन्य की दृष्टि से जो बातें दोषों में परिगणित नहीं हो सकतीं उन्हें भी वह, अपने राग-द्वेषमूलक काँटे से तोल कर, दोषों ही में गिनने की चेष्टा करता है। समालोचना करना बुरा नहीं। परन्तु राग-द्वेष और प्रतिहिंसा की प्रेरणा से जो समालोचना की जाती है वह बुरी है। ऐसी समालोचना कभी न्यायसङ्गत और पक्षपातहीन नहीं हो सकती। अच्छे बुरे की पहचान करना बुद्धि का काम है। पर ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिहिंसा के कारण बुद्धि विकारग्रस्त हो जाती है। अतएव वह अपना स्वाभाविक काम ठीक ठीक नहीं कर सकती।

जिसकी बुद्धि तीव्र है—जिसकी कल्पना-शक्ति प्रखर है—वह निर्दोषों और बहुगुण-सम्पन्नों में भी सैकड़ों दोष दिखाने का अभिनय कर सकता है। सूर्य्य नियति के अधीन है। अस्तोदय उसका काम ही है। पर दोषदर्शी उसके इस काम को रागान्ध्य-मूलक बता सकता है। वह कह सकता है—

"रागान्ध्यमेति भगवानरविन्दबन्धुः"

वह यह तर्क कर सकता है कि राग से सूर्य अन्धा हो गया है। इसी से तो वह प्रतिदिन बार बार उसी राह से आता जाता है; उसकी यात्रा कभी ख़तम ही नहीं होती; अन्धे की तरह वह उसी लौट-फेर में लगा रहता है; उसी राह जाता है और कुछ दूर जाकर फिर उसी से लौट आता है। बात यह है कि दोष देखनेवाली आँख ही जुदा होती है। उसके अस्तित्व में गुणी के गुण नहीं दिखाई देते; प्रत्युत उसके गुण भी दोष ही बन जाते हैं और दोष? वे तो हज़ार गुना बड़े होकर दिखाई देने लगते हैं।

आप इन उक्तियों को निराधार या असार न समझिए। हम आपका परिचय एक ऐसी पुस्तक से कराये जाते हैं जिसमें आदि से लेकर अन्त तक ऐसे सैकड़ों दोषों की उद्भावना की गई है जिन्हें दुनिया दोष ही नहीं समझती। और वह पुस्तक है किस भाषा में, आप जानते हैं? वह है उसी संस्कृत-भाषा में जिसमें बहुत लोग समालोचना-ग्रन्थों का अभाव समझते हैं! उसका नाम है—विश्वगुणादर्श।

विश्वगुणादर्श के कर्ता का नाम है वेङ्कटाध्वरी। वह मदरास-प्रान्त के काञ्चीपुर का रहनेवाला था। नीलकण्ठ चम्पू के कर्त्ता नीलकण्ठ दीक्षित का वह सम-सामयिक था। दीक्षितजी ने अपना चम्पू कलि के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा था। अतएव वेङ्कटाध्वरी को हुए कोई पौने तीन सौ वर्ष से भी अधिक समय हो गया। उस समय मदरास में फरासीसियों और पोर्चुगीज़ों का आगमन होगया था क्योंकि उनके गुण-दोषों का उल्लेख विश्वगुणादर्श में है

कर्नाटक के राजा कृष्णराय के गुरु का नाम था ताताचार्य्य या तातार्य्य। वे बड़े यशस्वी और बड़े महात्मा थे। उन्होंने यज्ञ भी किये थे। काञ्चीमण्डल के भूषण माने जाते थे। उनके भानजे का नाम था अप्पय। उन्होंने भी वाजपेय, पौण्डरीक आदि यज्ञ किये थे और बड़े पण्डित थे। अप्पय के पुत्र का नाम था रघुनाथ दीक्षित। दीक्षितजी बड़े गुणवान् थे और कवि भी थे। वेङ्कटाध्वरी इन्हीं रघुनाथ दीक्षित के पुत्र थे। वे तर्क, वेदान्त, तन्त्र और व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञाता थे, और कवि तो थे ही। उनकी माता का नाम सीताम्बा था। ये सब बातें वेङ्कटाध्वरी ने ख़ुद ही लिखी हैं। यथा—

काञ्चीमण्डलमण्डनस्य मखिनः कर्णाटभूभृद्गुरो-
स्तातार्यस्य दिगन्तकान्तयशसो यं भागिनेयं विदुः।
अस्तोकाध्वरकर्तुरप्पयगुरोरस्यैव विद्वन्मणेः
पुत्रः श्रीरघुनाथदीक्षितकविः पूर्णो गुणैरेधते॥
तत्सुतस्तर्क-वेदान्त-तन्त्र-व्याकृतिचिन्तकः।
व्यक्तं विश्वगुणादर्शं विधत्ते वेङ्कटाध्वरी॥

यह पुस्तक चम्पू है। इसमें गद्य भी है, पद्य भी। गद्य यों ही नाम-मात्र को है। पद्यांश ही अधिक है। इसके नाम से यद्यपि सूचित होता है कि इसमें विश्व के गुणों हीं का आदर्श है। पर इसमें दोषों की भी अवतारणा की गई है। जिसके दोष दिखाये गये हैं उसके गुण भी दिखाये गये हैं। यहाँ तक कि राम, कृष्ण और परमात्मा को भी कवि ने नहीं छोड़ा। जिनको किसी की कृति में दोष ही दोष देख पड़ते हैं अथवा जो किसी के गुणों के उल्लेख की ज़रूरत ही नहीं समझते उन्हें यह जान कर सन्तुष्ट होना चाहिए कि इस विषय में वे अकेले नहीं। उनके साथी भी हैं और ऐसे साथी जो परमेश्वर पर भी दोषारोपण करने का हौसला रखते हैं।

रामानुजाचार्य्य को हुए कोई ९०० वर्ष हुए। उन्होंने दक्षिण में वैष्णव मत की स्थापना की। उसका ख़ूब प्रचार हुआ। पर कालान्तर में बहुत से लोग उस मत के विरोधी हो गये। वे श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित वैदिक मार्ग को ही अनुसरण-योग्य समझने लगे। इन लोगों ने रामानुज-पन्थियों की निन्दा करने के लिए कमर कस ली और जहाँ तक उनसे हो सका उन पर और उनके देवताओं पर, मौक़ा मिलने पर, बराबर वाग्बाण बरसाते रहे। वेङ्कटाध्वरी इसी पक्ष के अर्थात् वैदिक-मार्गावलम्बी थे। किसी किसी का अनुमान है कि इसी से उन्होंने देवी-देवताओं तक की निन्दा कर डाली है। नहीं मालूम इस अनुमान में कहाँ तक सत्यता है; कुछ है भी या बिलकुल ही नहीं। क्योंकि स्वयं वेङ्कटाध्वरी ने अपनी प्रस्तुत पुस्तक में, इस विषय में, जो कुछ लिखा है वह यह है—

दार्ढ्याय गुणसमृद्धेर्दूषणभणितिः समस्तवस्तूनाम्
अस्माकमुपनिबद्धा सिद्धान्तस्यैव पूर्वपक्षोक्तिः

अर्थात् मेरी दूषणोक्तियों को आप सिद्धान्त का पूर्व पक्ष समझिए। उत्तर पक्ष, अर्थात् जवाब, में मैंने जो गुणोक्तियाँ कही हैं उन्हीं को सिद्धान्त मानना चाहिए। मतलब यह कि दोष दिखाने से गुण अधिक खिल उठते हैं। निँबौरी का स्वाद ले चुकने पर शर्करा के मिठास का अन्दाज़ा और भी अच्छी तरह होता है। यह सब सही हो सकता है; परन्तु निन्दा सुन कर भी हृदय को विकृत न होने देने का सामर्थ्य मानवी स्वभाव के प्रतिकूल सा है। स्वयं वेङ्कटाध्वरी भी अपनी निन्दा और अपनी कृति के दोष सुनने को तैयार नहीं। वे कहते हैं——

प्रकाशदोषप्रचुरे मदीये ग्रन्थेऽप्यमुष्मिन् करुणानुबन्धात्
प्रसादवन्तो न कृशानवन्तु परन्तु विश्वावसवन्तु सन्तः

सज्जनो, मेरे इस ग्रन्थ में सैकड़ों-हज़ारों दोष हैं। परन्तु कृपा करके, उदारतापूर्वक, उन्हें दिखाने का श्रम न उठाइएगा। हाँ, यदि कुछ गुण देख पड़ें तो उनका उल्लेख ख़ुशी से कीजिएगा। दोष दिखानेवाले, मेरी कल्पना के पुत्र कृशानु, का अनुकरण न कीजिएगा; अनुकरण कीजिएगा गुणदर्शी विश्वावसु का। सुना आपने!

किंवदन्ती है कि निर्दोषों में भी दोष-कल्पना करने से वेङ्कटाध्वरी अन्धे हो गये। अब क्या हो? राम और कृष्ण, गङ्गा और गोविन्द के दिखाओ दोष! हज़ारों ओषधियाँ करने से भी उन्हें दृष्टि-लाभ न हुआ। तब उन्होंने, इलाज करना छोड़ कर, लक्ष्मीजी की स्तुति में मन लगाया। उन्होंने एक सहस्र श्लोकों से इस स्तुति की पूर्ति की और नाम रक्खा—लक्ष्मीसहस्र। इस ग्रन्थ में श्लेष, यमक और अनुप्रास का अद्भुत समावेश है। परन्तु तारीफ़ यह है कि कविता विशेष क्लिष्ट और नीरस

नहीं होने पाई । उसके अनेक स्थल तो बड़े ही प्रासादिक और सरस हैं । यत्र तत्र ऐसी करुणोक्तियां हैं कि उनका पाठ करते समय आंखों से आंसू निकल आते हैं । परन्तु किसकी आंखों से ? सहृदयों ही की, औरों की आंखों से नहीं । अस्तु । लक्ष्मीजी के प्रसाद से वेङ्कटाध्वरी फिर देखने लगे । उनको उनकी दृष्टि वापिस मिली । उनका कुसूर माफ़ कर दिया गया ।

इस पुस्तक की एक विशद टीका—नहीं, व्याख्यान—भी है । वह भी संस्कृत में है । बहुत अच्छा है । कौशिक-गोत्रीय "विद्वच्चूडामणि" यज्ञेश्वर पण्डित के पुत्र मधुर-सुब्बा शास्त्री ने उसकी रचना की है । यह बात व्याख्यान के समापनवाक्यों ही से प्रकट है । इससे अधिक शास्त्रीजी के विषय में और कुछ भी ज्ञात नहीं ।

विश्वगुणादर्श की जो पुस्तक हमारे सामने है उसे प्रकाशित हुए कोई २५ वर्ष हो चुके । उसका सम्पादन बम्बई-विश्वविद्यालय के "फेलो" और बम्बई-हाईकोर्ट के वकील, श्रीयुत श्यामराव विट्ठल ने, कई पुरानी पोथियों का मिलान करके, किया है । जगह जगह पर आपने अपनी तरफ़ से "नोट्स" भी दिये हैं । आरम्भ में उन्होंने, अँगरेज़ी भाषा में, एक लम्बा उपोद्घात भी लिखा है । उसमें और और बातों के सिवा इस पुस्तक का सारांश भी है ।

वेङ्कटाध्वरी के सन्दर्भ का अब संक्षिप्त सार सुन लीजिए ।

दो गन्धर्व थे । एक का नाम था कृशानु, दूसरे का विश्वावसु । अपने नामों के अनुकूल पहला दोषदर्शी था, दूसरा गुणदर्शी । उन्होंने कहा, चलो दुनिया की सैर कर आवें । वे विमान, अर्थात् आज-कल के हवाई जहाज़, पर सवार होकर निकले तो पहले पहल उन्हें सूर्य्य दिखाई दिया । इस पर विश्वावसु ने उसे छान्दसज्योतिष आदि कह कर बड़े आदर से प्रणाम किया । उसके इस व्यापार को देख कर कृशानु बोल उठा—

अरे तू यह क्या कर रहा है ? "सकलभुवनसंशोषण-कारिणं तपनमपि किं नमनकर्म्मीकरोषि" ? अर्थात् समस्त भुवनों का संशोषण करनेवाले इस तपन (सूर्य) को भी प्रणाम ! यह प्रणाम का पात्र नहीं । देख—

पान्थान् दीनानहह वसुमानातपान्धान् विधत्ते
शुष्कां पृथ्वीं रचयतितरां शोषयत्योषधीश्च ।
कासाराणां हरति विभवं क्रान्तिशान्तिप्रदानां
क्रूरस्यैवं गुणलवकथा का स्वतो भास्वतोऽस्य ॥

दीन-दुखिया पथिकों को यह अपने तेज या ताप अन्धा कर देता है; पृथ्वी को सुखा देता है; ओषधियों जला देता है; क्रान्तिहारी जलाशयों का वैभव हर लेत है ! ऐसे स्वभावसिद्ध क्रूर और निष्ठुर सूर्य्य में तो गुण का लेश भी ढूँढ़ने से न मिलेगा ! उसी उत्कट अत्याचा को प्रणाम !

वेङ्कटाध्वरी की कविता और प्रतिभा का यह पहल नमूना लीजिए । इस तरह के जो नमूने दिये जायँगे प्राय दोषदर्शक ही दिये जायँगे । क्योंकि पुस्तक में समालो चित विषयों के गुण तो बहुधा सभी सुज्ञों के संवेद्य हैं नवीनता दोषोक्तियों ही में अधिक है । वही अधि कौतूहलवर्धक भी हैं ।

कमलों को विकसित करना, अन्धकार का नाश करना, जल बरसाना आदि सूर्य के कोड़ियों गुण गिना कर विश्वावसु ने अपने साथी कृशानु को चुप कर दि और सूर्य्य में दोषोद्भावना करने के कारण उसे कई फटकार भी बताई ।

प्रवासियों के कुछ दूर आगे बढ़ने पर सूर्य्य क बिम्ब भी आकाश में कुछ ऊँचा उठ आया । उसे देख क विश्वावसु को शायद आदित्य-हृदय का यह श्लोक या आ गया—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ।

अतएव उसने सूर्यमण्डल के बीच में बैठे हुए नारा यण की स्तुति और नमस्कृति आरम्भ की । तब फि कृशानु से न रहा गया । वह गरज उठा । बोला, क्या य निर्घृण नारायण भी तेरे लिए स्तुत्य है ? इस बावले क तो तुझे नाम भी न लेना चाहिए । इसकी लीला क्या जाने ? सुन—

स्वेनादौ निखिलं जगद्विरचितं स्वेनैव संरक्षितं
भिन्दन्हन्त मुकुन्द एष विधृतानन्दो हि निन्दोचितः ।
उत्पाद्य स्वयमुत्तमान् फलतरूनुल्लास्य चारुदकै-
रुन्मत्तोऽपि किमुच्छिनत्ति जगति च्छित्वापि किं नन्दति ?

यह ख़ुद ही संसार की सृष्टि करता है और ख़ुद ही उसकी रक्षा भी करता है । परन्तु, पीछे, उसी का नाश भी ख़ुद ही कर डालता है । ऐसा अनुचित व्यापार करके यह अप्रसन्न होने के बदले उलटा प्रसन्न होता है । ऐसा पुरुष भला निन्दा का पात्र है या प्रशंसा का ? फलवान् वृक्षों का उत्पादन करके और उन्हें ख़ूब सींच कर जो बड़ा करता है वह क्या उन्हें अपने ही हाथ से काट भी डालता है और काट कर क्या ख़ुशी भी मनाता है ? पागल भी तो ऐसा निन्द्य काम नहीं करता ।

तेरा यह नारायण तो अन्यायियों और निष्ठुरों का शिरोमणि है । लौकिक नरेश यदि प्रचण्ड प्रकृति के हुए तो वे भी उन्हीं को दण्ड देते हैं जो उनकी आज्ञाओं का उल्लङ्घन करते हैं । परन्तु यह नारायण-नामधारी अन्तर्यामी पुरुष जीवधारियों को ख़ुद ही कुपथ में प्रवृत्त करके फिर उन्हें नरककुण्ड में फेंका करता है । इसकी निष्ठुरता और क्रूरता का भी कुछ ठिकाना है !

विश्वावसु ने "शान्तं पापं" कह कर मुँह पर उँगली रक्खी और भगवान् के बहुत से गुणों का गान किया । वे बड़े दयालु हैं । किसी के लेने-देने में नहीं । मनुष्य को उन्होंने बुद्धि दी है—भले-बुरे का ज्ञान दिया है । वे क्यों बुरे काम करते हैं ? करने पर यदि उन्हें नरक-यातना भोगनी पड़े तो भगवान् का क्या अपराध ?

पृथ्वी की तरफ़ इशारा करके विश्वावसु ने कहा, देखो यह धरा पुरुषार्थ-साधन की जगह है । यज्ञानुष्ठान और दान-धर्म और पूजन-पाठ करके यहाँ के निवासी चतुर्वर्ग की प्राप्ति कर सकते हैं । कृशानु ने उत्तर दिया, देवलोक के रहनेवाले तुझे भूमण्डल की प्रशंसा करते शर्म भी नहीं आती । नाना क्लेशों और नाना रोगों का आवास जिस भूमि पर हो उसी की प्रशंसा ! परस्पर बहुत कुछ ख़ण्डन-मण्डन हो चुकने पर विश्वावसु ने कहा, चलो, ख़ुद ही भूमण्डल की सैर करके देखें कि किसका ख़याल सच्चा है । अरे यार, इस पृथ्वी पर बड़े पवित्र तीर्थ, देवस्थान और विद्वान् महात्मा हैं । इस पर कृशानु राज़ी हो गया । उन्होंने अपने वायुयान या विमान को पृथ्वी की तरफ़ मोड़ दिया ।

पहले दोनों बदरिकाश्रम पहुँचे, फिर साकेत (अयोध्या) । पिछले स्थान पर कृशानु ने रामचन्द्रजी की बेहद ख़बर ली । उन पर ढेरों दोषों और कलङ्कों की आरोपणा कर डाली । विश्वावसु ने एक लम्बा लेकचर देकर उन सबका निरसन किया और रघुकुल-तिलक राम की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रक्खी ।

वहाँ से चल कर यह गन्धर्वयुग्म काशी पहुँचा । वाराणसी में गङ्गाजी के दर्शन हुए । विश्वावसु ने विनम्र-मस्तक होकर उनके गुणों की गरिमा का वर्णन किया । उसे सुन कर कृशानु ने कहा, हज़रत, क्या आप भागीरथी नदी के पानी को भी स्तुतियोग समझते हैं ? उसका हाल मुझसे सुन लीजिए—

येषां जनिश्चरणतस्तु हिरण्यहर्तु-
दोंषाकरेण गुरुदारविटेन्द मौलौ ।
ब्रह्मोत्तमाङ्गभिद एव सहस्थितिश्च
ख्यातो लयो जलनिधौ किल गाङ्गवाराम् ॥

खेद है, इस श्लोक के श्लेष-चमत्कार से संस्कृतज्ञ ही पर्याप्त आनन्द प्राप्त कर सकते हैं । यों तो इसके अर्थ का सम्बन्ध गङ्गा के उस जल-समुदाय से है जो हिरण्य (कशिपु) के हर्ता विष्णु के पैरों से निकला है, जो ब्रह्मकपालधारी शङ्कर के शीर्ष पर दोषाकर (चन्द्रमा) के साथ रहता है और जो जलनिधि (समुद्र) में जाकर गिरता है । पर कृशानु की झोंक एक और ही अर्थ की ओर है । हिरण्य-हर्ता को वह सुवर्णचोर कह रहा है; ब्रह्मोत्तमाङ्गभिद् को वह ब्राह्मण का सिर काटनेवाला बता रहा है; बृहस्पति की पत्नी को गुरुपत्नी मान कर उसके विट, चन्द्रमा, को वह दोषाकर (दोषों की खान) मान रहा है; और जलनिधि को जड़ों, मूढ़ों या मद्यपों का समुदाय कल्पित कर रहा है । अर्थात् वह गङ्गा महारानी का सम्पर्क महापातकी चोरों, व्यभिचारियों, हत्यारों और शराबियों से सूचित कर रहा है !

ख़ैर, विश्वावसु ने डाट-डपट कर कृशानु को गङ्गाजी की प्रकृत महिमा बताई और काशी का माहात्म्य-गान

शुरू कर दिया। यहाँ के लोग बड़े धनवान् हैं; मकान आसमान से बातें करते हैं; यहाँ जो लोग मरते हैं उन्हें शिव-सामीप्य प्राप्त होता है—वे मुक्त हो जाते हैं, इत्यादि।

कृशानु बोला—हाँ हाँ, क्यों नहीं। आप तो भोलानाथ ही की तरह भोले हैं। ज़रा यहाँवालों का हाल मुझसे सुन लीजिए—

इन्होंने शास्त्रचर्चा छोड़ दी है। सब लोग शस्त्रधारी सैनिक हो गये हैं; वे सिपाहगरी करते हैं। शूद्रों के द्वारा लाये गये जल से ख़ुद ही नहीं स्नान करते, देवताओं को भी नहलाते हैं। उसे पीते भी हैं। छुवाछूत का विचार नहीं करते। चाण्डालों तक के बीच से, रेल-पेल करते हुए, आगे बढ़ जाते हैं। धोबियों के गधों पर लादे गये वस्त्र पहनते हैं; उन्हें पहन कर बाहर भी निकलते हैं। म्लेच्छों को छूते हैं। छू कर भी स्नान नहीं करते। यहाँ तक कि बिना स्नान किये भोजन भी कर लेते हैं। वेदों का एक अक्षर भी नहीं जानते। ख़ूब शराब पीते हैं। काम जितने करते हैं, सब श्रुतिस्मृति-विरुद्ध। नीरस इतने हैं कि नव-विवाहिता वधुओं को घर पर छोड़ कर बरसों बाहर परदेश में घूमा करते हैं। ये लोग पैसे के दास हैं। इस तरह के दुष्कर्म्म करके ये अपने दोनों लोक बिगाड़ लेते हैं। यहाँ कोई पढ़ता-लिखता नहीं। यदि शत-सहस्र में कोई एक पढ़ता भी है तो शुष्क तर्क में जीवन नष्ट कर देता है।

ये आक्षेप सुन कर विश्वावसु का कलेजा धड़क उठा। वह बोला—अरे तेरी इस ब्राह्मण-निन्दा को सुन कर मेरा हृदय काँप रहा है—

"कष्टमरे ब्राह्मणनिन्दां शृण्वतः कम्पते मे हृदयम्"

कृशानु के बताये हुए दोषों को विश्वावसु ने कलिकाल के मत्थे मढ़ कर उनके खण्डन की भी चेष्टा की। वह बोला—

इस कलियुग में यदि एक भी बापूदेव शास्त्री, या एक भी शिवकुमार शास्त्री या एक भी बाबू भगवानदास हो तो उसी को बहुत समझना चाहिए। माड़वार की एक छोटी सी तलैया भी बड़ा काम देती है। कायस्थ, ब्राह्मण और क्षत्रिय पढ़ना-लिखना छोड़ कर यदि तलवार न उठाते तो ये तुरुष्क गाँवों, ब्राह्मणों और देवताओं उच्छेद ही कर डालते। ऐसा होने से ब्राह्मण्य धर्म्म तिलाञ्जलि ही देनी पड़ती।

इस प्रकार कृशानु का किसी तरह उसने समाधा किया। जान पड़ता है, बेचारे वेङ्कटाध्वरी कभी उ भारत में नहीं आये। इसी से उन्होंने समझा कि स्पृश्य स्पृश्य का जैसा विचार मदरास में है वैसा ही इस त भी होगा। कवि का भूगोलज्ञान भी भ्रमपूर्ण है। क्यों काशी के आस-पास के प्रान्त छोड़ कर वह वहाँ गन्धर्वयुग्मों को समुद्र के पास ले पटकता है और जगन्नाथपुरी दिखा कर गुजरात पहुँचा देता है। स्थानों और प्रान्तों के गुण-दोष-वर्णन की चर्चा छोड़ते हैं। सबके उल्लेख के लिए जगह कहाँ ?

कहाँ गुजरात और कहाँ यमुना ? पर वेङ्कटाध्वरी गुर्जर-देश के दर्शन कराकर गन्धर्वों को यमुना-तट पहुँचा दिया। वहाँ श्रीकृष्ण की सरस लीलाओं बड़ा ही हृदयहारी वर्णन कवि ने किया है। विश्वावसु श्रीकृष्ण को बन्दारुजनानन्दन, यदुनन्दन और भगव वतार बताया और कृशानु ने जार-चौर-शिखामणि।

इसके अनन्तर उन गन्धर्वों का विमान महाराष्ट्र- की तरफ़ चला। राह में अनेक देश, वन, पर्वत, आदि देख कर विश्वावसु भगवान् की महिमा का व करता है—

कत्योषधीः कति तरून् कति वा महीध्रान्
कत्यम्बुधीन् कति नदीः कति पुंस एतान्।
कत्यङ्गनास्त्वमसृजः कति नाथ देशान्
मन्ये तवैष महिमा नहि माति बुद्धौ॥

महाराष्ट्र-देश में पहुँचने पर विश्वावसु अ स्वभावसिद्ध गुणगणनामूलक तान छेड़ देता है— देश तो बड़ा ही सुन्दर है; अनुपम है; सुरपुर के स है; यहाँ के निवासी गुणागार हैं; समृद्ध भी हैं; अति सेवा करना भी ख़ूब जानते हैं। इस पर कृशानु उस दिल्लगी उड़ाता है। वह कहता है—

अरे यार, सत्ययुग और त्रेता की बातें जाने आज-कल की कह। अब तो यहाँवालों का यह हाल कि दिन भर इधर-उधर पेट भरने के धन्धे में घूमा क

हैं। शाम को कहीं ये लोग नहाते हैं और नहा कर सन्ध्योपासन तक नहीं करते। इनका काम अब गांवों का जमा-ख़र्च रखना-मात्र रह गया है। संस्कृत-भाषा को अर्द्धचन्द्र देकर ये अब यवनानी लिपि और भाषा अर्थात् फ़ारसी पढ़ने-लिखने में मस्त रहते हैं। पेट भरने के लिए ये लोग यवन-नरपतियों की गुलामी करते हैं और वेतन के बदले अपना वपु भी बेच डालते हैं। ये बड़े स्वामिद्रोही भी हैं। झूठे हिसाब लिख लिख कर ये अपने स्वामियों का धनापहरण करते हैं। बड़े परिताप की बात है कि ऐसे वञ्चकों को भी लोग पुरस्कार देते हैं। तूने जो यह कहा कि यह देश अनुपम है सो अलबत्ते बहुत ठीक कहा। क्योंकि यहां बहुत थोड़े प्रयत्न से बहुत अधिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है—

वेदव्यासः स इह दश यो वेद वेदाक्षराणि
श्लोकं त्वेकं परिपठति यः स स्वयं जीव एव।
आपस्तम्बः स किल कलयेत्सम्यगौपासनं यः
कष्टं शिष्टक्षतिकृतिकलौ कार्श्यमृच्छन्ति विद्याः॥

जिसे वेद के दस अक्षर आते हैं वह वेदव्यास बना बैठा है। जिसे एक श्लोक याद है वह कहता है, बृहस्पति मैं ही हूँ। जिसे उपासना-काण्ड का कुछ भी ज्ञान है वह आपस्तम्ब को धता बता रहा है। अरे इस कलिकाल ने तो शिष्ट-जनों का क्षय ही कर डाला। विद्यायें, आज-कल, दिन पर दिन, दुबली होती जा रही हैं।

विश्वावसु घबरा उठा। वह कृशानु के आक्षेपों का ठीक ठीक खण्डन न कर सका। पर कुछ न कुछ कहने के लिए वह बाध्य था। अतएव उसने अपने पक्ष का समर्थन इस प्रकार किया—

तूने तो बड़े ही कठोर आक्षेप कर डाले। यह महाराष्ट्र-भूमि विद्वानों, सच्चे ब्राह्मणों और वेदविद्याविचक्षणों से एक-दमही ख़ाली नहीं। अब भी अनेक भव्यमूर्ति भूसुर यहां ऐसे रहते हैं जो सर्वथा वन्द्य हैं। एक भी कुल्हाड़ी सैकड़ों विषवृक्षों को काट गिराने में समर्थ होती है। इसी तरह इस कोटि का एक भी सच्चा ब्राह्मण दुष्कृत्य-जनित असंख्य पातकों का प्रक्षालन कर सकता है। यदि इस देश के निवासी शस्त्र-धारण करके अपनी जन्म-भूमि की रक्षा न करते तो ये तुरुष्क (मुसलमान) समस्त प्रान्त का उच्छेद कर डालते और गो-ब्राह्मणों ही का नहीं, देवताओं और देवमन्दिरों का भी कहीं नाम तक न रह जाता।

महाराष्ट्र के आगे वेङ्कटाध्वरी के परिचित प्रदेश आ गये। अतएव उनके गुण-दोषों का वर्णन उसने बड़े विस्तार के साथ आरम्भ कर दिया। यहां तक उसके ग्रन्थ का केवल एक चतुर्थांश समाप्त हुआ। बाक़ी के तीन-चतुर्थांश उसने दक्षिण के प्रान्तों, तीर्थों, नदियों, निवासियों आदि की आलोचना और प्रत्यालोचना में ख़र्च कर दिये हैं। उसका यह वर्णन ख़ूब सजीव है, विशेष करके दोषांश। उसने छोड़ा किसी को नहीं। अपने विपक्षी रामानुज-सम्प्रदाय के अनुयायियों पर तो उसने बड़े ही निष्ठुर प्रहार किये हैं—

मुञ्चन्तः पञ्चयज्ञान् द्रविडभणितिभिर्मोहयन्तोऽनभिज्ञान्
निन्दन्तो हन्त यज्ञानसकृदपि हरेर्वन्दनं वारयन्तः।
लुम्पन्तः श्राद्धचर्य्यां यतिमपि गृहिणां वन्दनं कारयन्तः
सद्द्वेषं धारयन्तः कतिचिदविहितैः संक्षिपन्त्येव कालम्॥
विदुषामपि मोहमावहन्तो वितथैतिह्यसहस्रवर्णनेन।
विनयाभिनयात्खलाः किलामी विजयन्ते कपटालया जगन्ति॥

ये लोग पञ्चमहायज्ञ नहीं करते; द्रविड़-भाषा की भणितियों से अज्ञों को ठगते हैं; यज्ञों की निन्दा करते हैं; परमात्मा को प्रणाम करने से रोकते हैं; श्राद्धचर्या का लोप करते हैं; अपने यतियों से भी गृहस्थों का वन्दन कराते हैं; सज्जनों से द्वेष रखते हैं—इस तरह बड़े ही अनुचित काम करके ये लोग काल-क्षेप करते हैं। झूठे इतिहास और कथा-कहानियां कह कर ये लोग विद्वानों को भी धोखा देते हैं—उनके हृदयों में मोह उत्पन्न कर देते हैं। ये बड़े ही पापी और कपटी हैं। विनय का अभिनय दिखा कर ये संसार को ख़ूब ही ठगते हैं।

इन दुर्धर्ष आरोपों का निराकरण, जहां तक उससे हो सका, विश्वावसु ने किया और मुनिवर रामानुजाचार्य्य और उनके अनुगामियों पर किये गये प्रहारों का उसने यथाशक्ति वारण किया।

आन्ध्र, कर्नाटक, चोल और पाण्डय आदि देशों, कामाक्षी, एकाम्रेश्वर, तुण्डीर-मण्डल, श्रीरङ्गम, जम्बुकेश्वर

आदि तीर्थ-स्थानों—काञ्चीपुरी, तञ्जावर, कुम्भकोण आदि नगरों—बाहा, कावेरी, क्षीरपर्णी आदि नदियों के दर्शन कराकर वेङ्कटाध्वरी ने उन गन्धर्वयुग्मों के प्रवास-वर्णन की समाप्ति कर दी है।

उसका विश्व इतने ही में ख़तम हो गया है। उसके इस वर्णन के अनेक स्थल बड़े ही मनोरम हैं। खेद है, हम उनके नमूने दिखाने में असमर्थ हैं। क्योंकि लेख का विस्तार बढ़ जायगा। मदरास के वर्णन में वेङ्कटाध्वरी ने वहाँ के हूणों को यह सर्टीफ़िकट दिया है—

हूणाः करुणाहीनास्तृणवद् ब्राह्मणगणञ्च गणयन्ति।
तेषां दोषाः पारे वाचां ये नाचरन्ति शौचमपि॥

पुस्तकान्त में पाण्ड्य और चोल-देश के पण्डितों पर भी वेङ्कटाध्वरी ने कृपा की है। वेदान्ती, ज्योतिषी, मीमांसक, तार्किक, वैयाकरण, कवि और वैद्य महाशयों के गुण-दोषों का उल्लेख बड़ी ही रसवती और कौतुकोद्दीपक कविता में किया है। नौकरी-पेशा लोगों—राजसेवकों—को भी आपने नहीं छोड़ा। आप उनके विषय में, कृशानु के मुख से, फ़रमाते हैं—

नैषां सन्ध्या भवति सफला नाच्युतार्चाऽपि साङ्गा
न स्वे काले हवननियमो नापि वेदार्थचिन्ता।
न क्षुद्वेलानियतमशनं नापि निद्रावकाशः
न द्वौ लोकावपि तनुभृतां राजसेवापराणाम्॥

ये लोग न समय पर सन्ध्योपासन कर सकते हैं; न भगवान् की साङ्गोपाङ्ग पूजा ही कर सकते हैं। वेदार्थ-चिन्ता भी इन्हें नसीब नहीं; यथासमय हवन भी नहीं। न सोने के वक्त इन्हें सोने को मिलता है; न भूख लगने पर, समय पर, भोजन ही मिलता है। ग़ुलामी के पाश में फँसे हुए इन लोगों का यह लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी।

वेङ्कटाध्वरी की यह युक्ति सर्वथा यथार्थ है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

जीवेम शरदः शतम्।

सौ वर्ष पर्यन्त जीना प्रत्येक मनुष्य क जन्मसिद्ध अधिकार है। यदि को इससे कम आयु में ही मर जाता तो उसे किसी पराधीन देश की तर अपने इस जन्मसिद्ध अधिकार बलात् वञ्चित किया गया समझ चाहिए। जैसे पराधीन होना अपनाही दोष है वैसे अल्पायु में मर जाना भी अपने ही कुकर्म्म का दुष्परिणा है। परमेश्वर ने प्रत्येक मनुष्य की आयु पहले से नियत क रक्खी है, उससे अधिक वह जी ही नहीं सकता, ऐस विचार सर्वथा निर्मूल है। वेद में स्पष्ट कहा है—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥ ऋ०१०।१८।

"मृत्यु के पाँव को परे ढकेलते हुए जब दीर्घ आ को अधिक लम्बा बना कर धारण करते हुए चलेंगे।"

मनुष्य सौ वर्ष से भी अधिक अपनी आयु ब सकता है। इसमें किसी धर्म-ग्रन्थ के प्रमाण की आव श्यकता नहीं। संसार में इस समय भी अनेक ऐसे मनु जीवित हैं जिनकी आयु सौ वर्ष से ऊपर है। वेद में सौ वर्ष की आयु कही गई है वह मनुष्य की औस आयु है, उसकी आयु की चरमसीमा नहीं। क्योंकि वे में 'जीवेम शरदः शतम्' के साथ 'भूयश्च शरदः शतात (यजु० ३६। २४) और 'भूयसीः शरदः शतात्' (अथ १९। ६७) भी है। इनमें स्पष्ट बतलाया गया है मनुष्य चाहे तो सौ वर्ष से भी अधिक जी सकता है बरन उसे जीना चाहिए। प्राचीन आर्य लोग इस भगवद् वाणी पर विश्वास रखते हुए अपने जीवन को दीर्घ बना का यत्न करते थे; और हम देखते हैं कि आज से पाँ सहस्र वर्ष पूर्व, महाभारत-काल में, लोगों की आयु स वर्ष से कहीं अधिक होती थी। पण्डित श्रीपाद दामोद सातवलेकरजी ने महाभारत के योद्धाओं की आयु क हिसाब लगाया है। उनकी गणना से श्रीकृष्ण की आ कम से कम १२५ वर्ष और उनकी माता देवकी इनसे कम से कम १६ वर्ष अधिक निकलती है

युद्ध में सम्मिलित वीरों की आयु इस प्रकार देख पड़ती है※ —

१—भीष्म की आयु	१७० वर्ष
२—धृतराष्ट्र ” ”	१०५ ”
३—धर्मराज युधिष्ठिर ”	७० ”
४—भीम ”	६९ ”
५—अर्जुन ”	६८ ”
६—नकुल ”	६७ ”
७—सहदेव ”	६६ ”
८—दुर्योधन ”	६९ ”
९—विदुर ”	१०५ ”
१०—श्रीकृष्ण ”	८३ ”
११—द्रोणाचार्य ”	९० ”
१२—कृपाचार्य ”	९५ ”
१३—कर्ण ”	८२ ”
१४—शकुनी ”	८५ ”
१५—महर्षि व्यास ”	१५७ ”

इसमें एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि उपर्युक्त लोग बूढ़े नहीं हो गये थे। व्यासजी ने युद्ध के पश्चात् महाभारत जैसे अद्भुत ग्रन्थ की रचना की। उस समय उनकी आयु १५७ वर्ष से अधिक रही होगी। भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध ६९ वर्ष की आयु में हुआ था। भीष्म १७० वर्ष की आयु में जवानों की तरह युद्ध करते थे। वात्स्यायन काम-सूत्र में लिखा है—आषोडशात् सप्ततिवर्षपर्यन्तं यौवनम्। अर्थात् सोलह वर्ष से सत्तर वर्ष तक जवानी है। यह बात उन वीरों के जीवनों को देखकर ही सत्य माननी पड़ती है। मृत्यु के समय धृतराष्ट्र की आयु १३५ वर्ष से भी अधिक थी। स्वर्गारोहण के समय पाण्डव १०० वर्ष के लगभग हो चुके थे। इन अङ्कों को देख कर यह कहना कुछ अत्युक्ति नहीं कि आज से ५००० वर्ष पूर्व भारत में साधारण मनुष्यों की आयु १२५ वर्ष और तपस्वियों की १७० वर्ष मानी जाती थी।

एरियन नामक ग्रीक पर्यटक लिखता है कि “भारतवर्ष में १४० वर्ष की आयु के बूढ़े मनुष्य बहुत देख पड़ते हैं। सौ वर्ष की आयुवाले तो अनन्त हैं। इन वृद्धों का एक विशेष नाम हुआ करता है।” यह बात विक्रम-संवत् से दो तीन वर्ष पहले की है। परन्तु कितने खेद की बात है कि उन्हीं लोगों की सन्तान की औसत आयु आज २५ वर्ष से भी कम है। श्रीमद्भागवत में ठीक ही कहा है—

त्रिंशद्विंशति वर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम् ।

अर्थात् कलि-युग में बीस से तीस वर्ष तक मनुष्यों की आयु होगी। परन्तु इतनी कम आयु केवल इसी दीन देश में है। अन्य स्वाधीन और ज्ञानोन्नत देशों में यह औसत ४० वर्ष से ऊपर है। वहाँ आज भी अस्सी अस्सी वर्ष के बूढ़े हमारे जवानों से अधिक बलवान् हैं। वारो नामक एक विद्वान् अट्ठासी वर्ष की अवस्था में बड़ा मज़बूत था। अस्सी वर्ष की आयु में उसने कृषि पर एक बड़ी महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी। लार्ड पामर्स्टन अस्सी वर्ष की आयु में जवान था और ब्रिटिश-साम्राज्य का महामन्त्री था। लार्ड ब्राऊहम छयासी वर्ष की आयु में न्यूयार्क में होनेवाली सोशल साइंस कांग्रेस का प्रधान बना था। ग्लेडस्टन ने पचासी वर्ष की आयु में इँगलैंड के प्रधान मन्त्री के पद को छोड़ा था। लार्ड एल्डन पचासी वर्ष की आयु में प्रसन्नचित्त और हँसमुख था। मारक्विस ऑव् डाङ्गाल ने अस्सी वर्ष की आयु में विवाह किया और उसके एक पुत्र भी हुआ था। सर जेम्स लेङ्गर्शे ने तिरासी वर्ष की आयु में विवाह किया था।

सौ वर्ष तक जीने के उपाय।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि मनुष्य सौ वर्ष तक कैसे जी सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात का स्मरण रखना परमावश्यक है। दीर्घायु तभी वाञ्छनीय है जब वह नीरोग और सुखद भी हो। अन्धे, लूले, लँगड़े, पराधीन और रोगी होकर सौ बरस तक जीना, मानो पृथ्वी पर नरक भोगना है। इसलिए यदि मनुष्य की सभी इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य ठीक तौर पर करती रहें तभी जीवन का आनन्द है। दीर्घजीवी होने के लिए कोई अमोघ औषध नहीं, और न सौ वर्ष की अवस्था तक पहुँचने के लिए कोई राजमार्ग ही है। अनेक लोग ऐसी अवस्था में रहते हुए सौ वर्ष की आयु को प्राप्त हो जाते हैं, जहाँ उनके दीर्घजीवी बनने की बहुत कम आशा की जा सकती थी। कई मनुष्य अपने

※ मानवी आयुष्य, पृष्ठ १०

स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखने और सदा डाक्टरों और वैद्यों के यहाँ आते-जाते रहने पर भी अल्पायु में ही मर जाते हैं। दरिद्रता और अभाव के दुःख झेलते हुए अनेक लोग दीर्घायु प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु ऐश्वर्य और उच्च पद रखनेवाले कई लोग अल्पायु में ही संसार से चल देते हैं। फिर भी, व्यक्तियों की विशेष अवस्थाओं को छोड़ कर, कुछ सामान्य नियम ऐसे भी हैं जिनसे जीवन अवश्य दीर्घ हो जाता है।

नगरों के विश्रामहीन और कोलाहलमय जीवन से दूर, देहात में पलने और रहनेवाले लोग प्रायः दीर्घजीवी होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सौ वर्ष तक जीते रहना उनके लिए एक साधारण सी बात है। यह उनकी इच्छा पर निर्भर जान पड़ता है। इसके लिए उन्हें केवल साधारण सी परवा करने की आवश्यकता है, शेष कार्य अपने आप हो जाता है। सरल ग्राम्य-जीवन एक ऐसी ठोस आधार-शिला है जिस पर सौ वर्ष की आयु का विशाल भवन स्थापित हो सकता है, नगरों और शहरों की दौड़-धूप और अशान्ति ही मानवीय आयुष्य को कुतर कुतर कर छोटा कर देती है।

यह बात ठीक है कि जो लोग दीर्घजीवी हो गये हैं उन्हें अल्पजीवियों की अपेक्षा स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का अधिक ज्ञान नहीं था, परन्तु ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से देख पड़ता है कि वे, न जानते हुए, सहज बुद्धि से, उन नियमों का पालन करते रहे हैं जिनसे जीवन के दीर्घ होने की सम्भावना होती है। दीर्घ जीवन की प्राप्ति के लिए कोई लिखित नियम नहीं, परन्तु वे अनुभव की पट्टिका पर अङ्कित रहते हैं। सौ वर्ष का जीवन उन्हीं के भाग्य में आता है जो स्वास्थ्य के अलिखित किन्तु परम आवश्यक नियमों का न्यूनाधिक न जानते हुए पालन करते हैं।

पूछने पर एक कहता है कि डाक्टर के उपदेशानुसार चलने से मेरा जीवन लम्बा हुआ है। दूसरे से पूछो तो वह इसके विपरीत यह कहता है कि डाक्टर से कुछ सरोकार न रखने से ही मैं इतनी आयु को पहुँच सका हूँ। बात दोनों की ही ठीक है। डाक्टर का उपदेश बहुधा उसी अनुपात में लाभदायक होता है जितना कि, एक तो, उसका यथार्थ भाव समझ लिया जाता है, और, दूसरा, उसके अनुसार आचरण किया जाता है। डाक् से हानि नहीं, दवाइयों के ठूँसने से हानि होती है। बड़े खेद का विषय है कि हम लोग अपने पूर्वजों के अनुभवों से लाभ उठाने का यत्न नहीं करते। जो लोग दीर्घजीवी हो गये हैं उनकी दिन-चर्य्या, उनके आहार-व्यवहा उनके शारीरिक सङ्गठन, उनकी परिस्थिति और उनके दीर्घायु के विशेष कारण को जानने और विचारपूर्व लेखबद्ध करने का किसी को ख़याल तक नहीं होता। इससे हानि यह होती है कि भावी शतायु लोगों को अप लिए अटकल से ही काम लेना पड़ता है।

मनुष्य की प्रकृति और शारीरिक गठन भिन्न भि है। जो चीज़ एक मनुष्य के लिए हितकर है वह आवश्यक नहीं कि दूसरे के लिए भी हितकर हो। इसलि अपनी प्रकृति को समझ कर प्रत्येक मनुष्य को निज अनुभव से अपने लिए ऐसे विशेष नियम ढूँढ़ लेने चाहि जो उसके स्वास्थ्य को बढ़ानेवाले हों। परन्तु कुछ ऐ नियम भी हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामान्य रूप लाभदायक हैं। वे आगे संक्षेप से दिये जाते हैं।

ताज़ा हवा क्या घर में और क्या घर से बाहर, सू का प्रचुर प्रकाश, बाहर जाकर व्यायाम करना, निय अन्तरों पर सादा और स्वास्थ्यवर्धक खान-पान, रात्रि सोने के पहले दो घण्टे के अन्दर अन्दर कुछ भी खाना-पीना; शरीर पर, विशेषतः रात्रि को, सर से बचाने के लिए पर्याप्त (परन्तु बहुत भारी नहीं कपड़ा; मानसिक और शारीरिक काम; शरीर की थकावट और घिसावट को दूर करने के लिए पर्याप्त विश्राम।

यदि आप तड़के उठना चाहते हैं तो रात्रि को दे से मत सोइए; जल्दी सोओ और तड़के उठो। कोई रोग हो, उसे ठीक करने के लिए प्रकृति को समय दे निर्दयता और अनावश्यकता-पूर्वक ओषधियाँ ठूँस ठूँ कर प्रकृति को भगा देने का हानिकारक यत्न न करो छोटी छोटी बातों की चिन्तायें ही मनुष्य को मार हैं, यदि आप शीघ्र बूढ़े नहीं होना चाहते तो इन चिन्ता को यत्नपूर्वक दूर भगा दो—अपने मन में न घुसने दे निराशा में न डूबे रहो, दुःख के बाद सुख के आने

आशा से प्रसन्न रहो । सबके साथ प्रेम करो, परन्तु मित्र सोच-समझ कर बनाओ । जीवन को भगवान् की बहुमूल्य कृपा समझ कर इसको आनन्दमय बनाने का यत्न करो—रोते-पीटते न काटो । जिस प्रकार व्यर्थ चिन्ताओं में डूबे रहने से मृत्यु जल्दी आती है, वैसे ही छोटे छोटे कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक झेलते और सदा हँसमुख बने रहने से मनुष्य शतायु बन सकता है ।

स्वास्थ्य-रक्षा के सम्बन्ध में अनेक बातें ऐसी हैं जो देखने में तो बड़ी साधारण जान पड़ती हैं, परन्तु हैं बड़ी ही लाभदायक । उनकी उपेक्षा करने से ही मनुष्य हानि उठाते हैं ।

प्रकाश और वायुसञ्चालन—जीवन और स्वास्थ्य के लिए ये परमावश्यक चीज़ें हैं । भोजन और जल के बिना तो प्राणी कुछ काल तक जी भी सकता है, परन्तु इनके बिना वह अल्पकाल तक भी नहीं जी सकता । सदा घर के प्रकाशमय भाग में रहना चाहिए, अँधेरे में नहीं । कमरे में वायुसञ्चालन का पर्याप्त प्रबन्ध न होने से ही ठण्ड और ज़ुकाम होता है । गन्दी हवा अनेक रोगों की जननी है । सोते समय कमरे की खिड़कियाँ खुली रहनी चाहिए ताकि शुद्ध वायु का सञ्चार होता रहे ।

खान-पान—ये बड़े ही महत्त्व की चीज़ें हैं । खाने और पीने के रूप में मनुष्य जो कुछ अपने पेट में डालता है उस पर उसके स्वास्थ्य का सारा दारोमदार है ।

“मुझे क्या खाना और क्या पीना चाहिए ?”
“मुझे कब खाना और कब पीना चाहिए ?”

जो लोग नीरोग, सुखी और फुरतीले रहना चाहते हैं, विशेषतः बुढ़ापे में, उन्हें अपने लिए ऊपर के दो प्रश्नों का उत्तर अवश्य देना चाहिए । इसके लिए सबसे पहले आपको यह मालूम करना चाहिए कि आपको क्या खाना और क्या पीना नहीं चाहिए । बस इन चीज़ों से—चाहे वे कितनी ही चरपरी और स्वादिष्ट क्यों न हों—पूर्णतया परहेज़ करना चाहिए । तभी आप नीरोग और दीर्घजीवी हो सकेंगे ।

यह एक बड़ी विचित्र बात है कि जो चीज़ें स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती हैं उन्हीं से परहेज़ करना सबसे अधिक कठिन होता है । सबसे स्वादिष्ट चीज़ ही कभी कभी सबसे अधिक स्वास्थ्य को नष्ट करनेवाली होती है ।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि दिन-रात में केवल दो बार खाया जाय और भोजन का समय नियत हो । कभी नौ बजे खाने और कभी दो बजे खाने से स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता । जिस दिन काम अधिक हो उस दिन गुरु पदार्थ नहीं खाने चाहिए । काम समाप्त कर चुकने के पश्चात् निस्सन्देह गुरु पदार्थ खाने में कोई हानि नहीं ।

पीने के लिए पानी ही सर्वोत्तम है । सोडा, लेमोनेड, चाय, शराब इत्यादि चीज़ें हानिकारक होने के अतिरिक्त प्यास को बुझाती नहीं, वरन बढ़ाती हैं । केवल पीने के निमित्त ही कोई चीज़ न पीनी चाहिए, वरन प्रकृत प्यास की शान्ति ही पीने का प्रयोजन होना चाहिए ।

वस्त्र—कपड़े पहनने में फ़ैशन का विचार न करके स्वास्थ्य का ही विचार मुख्य होना चाहिए । भोजन के सदृश कपड़े भी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न भिन्न होने आवश्यक हैं । दिन में और रात में बहुत अधिक कपड़े पहनना अच्छा नहीं । कपड़ों के बहुत होने से शरीर के गरम रहने का कोई सम्बन्ध नहीं । कपड़ा गरम हो, परन्तु भारी न हो । कपड़ों की अपेक्षा अच्छे भोजन पर अधिक धन ख़र्च करना ठीक है । इससे शरीर अधिक गरम रहेगा । घटिया भोजन करना और बढ़िया कपड़े पहनना आर्थिक दृष्टि से मूर्खता है । जो लोग बहुत अधिक कपड़े पहने रहते हैं उन्हें सरदी लगने का भय भी अधिक रहता है । जैसे वस्त्रों के कपड़े का उत्तम होना आवश्यक है वैसे ही परिधान का शरीर पर ठीक ‘फ़िट’ होना भी ज़रूरी है । ढीला या बहुत तङ्ग बड़ा भद्दा देख पड़ने के अतिरिक्त स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक है ।

शहरों और उपनगरों में रहनेवाले लोगों के लिए बहुत गहरे रङ्ग के कपड़े पहनना भारी भूल है । कारण यह कि रङ्गीन कपड़ों पर मैल जम जाने पर भी वे मैले नहीं देख पड़ते, इसलिए उनको पहननेवाले उन्हें जल्दी नहीं धुलाते । इसके विपरीत सफ़ेद या हलके रङ्गों के कपड़े मैले होते ही मालूम हो जाते हैं, और जल्दी ही

धो डाले जाते हैं। मैले कपड़े रखने से रोग हो जाते हैं। जो कपड़ा त्वचा के साथ—सबसे नीचे—पहना जाता है उसकी निर्मलता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। दिन के कपड़े रात में नहीं पहनने चाहिए।

तन्दुरुस्ती की दौलत।

दीर्घायु के लिए तन्दुरुस्ती परमावश्यक है। प्रायः रोगी रहनेवाला मनुष्य कभी दीर्घजीवी नहीं हो सकता। एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि "अपनी तन्दुरुस्ती के लिए जो कुछ कष्ट, ख़र्च, आत्म-संयम, और इन्द्रिय-निग्रह हम अपने ऊपर लेते हैं, सब थोड़ा है। चाहे हमें अर्थकरी वृत्ति छोड़नी पड़े, चाहे मनभाते खानों से परहेज़ करना पड़े, अमिताचारी मनोविकारों को लगाम देनी पड़े या सुदीर्घ पथ्य करना पड़े; चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ें, जो मनुष्य स्थिरता और बुद्धिमत्ता से सुख-प्राप्ति का यत्न करता है वह इन सबको प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेता है।"

स्वभाव स्वास्थ्य पर बहुत बड़ा प्रभाव रखता है, परन्तु साधारण लोग इस बात को बहुत कम समझते हैं। एक स्वभाव से स्वास्थ्य सुधर जाता है और एक से नष्ट हो जाता है। अच्छे स्वभावों से जीवन सुखी और बलवान् हो जाता है। बुरे स्वभाव से तन्दुरुस्ती को घुन लग जाता है। अच्छे या बुरे स्वभाव, विशेषतः न्यूनाधिक हानिकर स्वभाव, ऐसे धीरे धीरे बढ़ते हैं कि उनके प्रभाव को मालूम करना और उनके परिणामों को रोकना बड़ा कठिन हो जाता है। ज्यों ज्यों स्वभाव का बल बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसको रोकने की शक्ति भी दुर्बल और निष्फल होती जाती है। आयु के चढ़ते जाने के साथ साथ दृढ़ सङ्कल्प और प्रतिरोध का स्थान वशित्व ले लेता है। यहाँ तक कि अन्त को अनेक ऐसे स्वभाव मूलबद्ध हो जाते हैं जो स्वास्थ्य के भवन की नींव को खोखला कर डालते हैं।

अपने दोषों का सदा ध्यान रखना चाहिए। कम उद्यम करनेवाले अवयवों की रक्षा करने और उनको सुदृढ़ बनाने का सदा यत्न होता रहना चाहिए, ताकि उनके कारण दूसरी इन्द्रियों पर अधिक बोझ न पड़ जाय और उनके काम में बाधा न पड़े। इस विषय में असावधान होने से बड़ी भारी हानि होती है। जो लोग युवावस्था में संयम से रहते हैं वही बुढ़ापे में भी तन्दुरुस्त र सकते हैं। जॉन वॅज़ले बड़े संयम से रहते थे। इसी लि वे २८ जून सन् १७९० को अपने रोज़नामचे में य लिख सके थे—"आज मैं अपने अट्ठासीवें वर्ष में पदार्प करता हूँ। लगभग छयासी वर्ष तक मुझे बुढ़ापे की को भी विकलता नहीं मालूम हुई; मेरी दृष्टि मन्द नहीं हुई और न मेरी स्वाभाविक शक्ति ही घटी है। सिर से पाँ तक मुझे कहीं भी पीड़ा नहीं। नीरोगता एक भा न्यामत है। इसके मूल्य का पता एक धन-कुबेर के इ शब्दों से लग सकता है—"मैं उस व्यक्ति को क ५,००,००० पौंड का एक चेक दूँगा जो मुझे मे तन्दुरुस्ती वापस ला दे।"

मिताचार, व्यायाम और विश्राम ये तीन प्रकृ के बड़े वैद्य हैं। उनके बताये हुए योग और चिकित्स बड़ी सस्ती और पीड़ाहीन है। नाना प्रकार के भोज और पान ऐसे स्वादिष्ट और लुभावने होते हैं कि मनु आमाशय की पाचनशक्ति का ध्यान न रख कर बहु अधिक खा जाता है। इसका दण्ड उसे रोग के रूप भोगना पड़ता है। स्पेनिश भाषा की एक कहावत है—

> "Joy and Temperance and Repose—
> Slam the door on the doctor's rose."
> (Longfellow's translation.)

बाल्य-विवाह दीर्घायु के लिए लकड़ी में घुन समान है। ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहते हुए जितनी भी बड़ी आ में विवाह किया जाय उतना ही अच्छा है।

दीर्घायु की प्राप्ति के लिए वेद में अनेक मन्त्र हैं उनमें उपदेश है कि प्रत्येक इन्द्रिय और प्रत्येक अवय की शक्ति बढ़ा कर ऐसे कर्म करने चाहिए जिनसे आ बढ़े। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखना चाहिए औ मन में दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि मैं पुरुषार्थ से अप आयु बढ़ाऊँगा और मरने तक अदीनता का जीव व्यतीत करूँगा। वीर्य, शौर्य, धैर्य, पौरुष, उद्यम, साह बल, बुद्धि, पराक्रम, ओज, महाशक्ति, तेज, पु सदाचार, ऐश्वर्य आदि के साथ अपनी आयुष्य बढ़ा चाहिए। अन्तःशुद्धि और बाह्य पवित्रता, सत्कर्मों

मन को दृढ़ता के साथ लगाना, आशामय जीवन व्यतीत करना, ऐहिक अभ्युदय और पारमार्थिक निश्रेयस के लिए पुरुषार्थ करना, इन्हीं तत्त्वों से आयुष्य की वृद्धि होती है । पूर्णायु समाप्त होने तक मृत्यु के वश में न जाने का दृढ़ निश्चय करना चाहिए । व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और जनता की उत्तम अवस्था पर पूरी आयु का प्राप्त होना सर्वथा अवलम्बित है, इसलिए इनकी स्थिति सुधारने के लिए पूर्ण प्रयत्न होना चाहिए । सारी आयु उत्तम सत्कर्म्मों में व्यतीत करनी चाहिए । मन को विनयशील और सदाचार-सम्पन्न बना कर, शुद्ध अन्न, शुद्ध वायु और शुद्ध जल का सेवन करना और पवित्र भूमि में निवास कर सूर्य के प्रकाश से अपनी आयु बढ़ानी चाहिए । घर में गृहिणी को सज्ञानी और सच्छील बना कर उसके साथ आनन्द से रहते हुए दीर्घ आयु को व्यतीत करना चाहिए ।'

महाभारत के अनुशासन-पर्व के अध्याय १०४ में भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को आयुष्यवर्धन के उपाय बताये हैं । संस्कृत जाननेवाले पाठक मूलग्रन्थ में उन्हें पढ़ सकते हैं । उनका सारांश पण्डित सातवलेकरजी ने इस प्रकार दिया है—

"(१) सदाचार से दीर्घ आयु, श्री और कीर्ति प्राप्त होती है । (२) नास्तिकता, आलस्य, गुरु की आज्ञा और शास्त्र की आज्ञा का उल्लङ्घन करना, ये बातें आयु का नाश करती हैं । (३) शील और मर्यादा के परित्याग और व्यभिचार से आयु का नाश होता है । (४) क्रोध न करना, सत्य का पालन करना, असूया न धरना, कुटिलता न करना; इनसे सौ वर्ष की आयु होती है । (५) नाख़ून खाना तथा उच्छिष्ट भक्षण करना आयु का नाश करता है । (६) ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर धर्म का विचार और दोनों सन्धिकालों में सन्ध्या करने से दीर्घायु प्राप्त होती है । (७) माता-पिता और आचार्य को नमस्कार करना, (८) ग्राम के पास शौच न जाना, (९) जूता, वस्त्र, पात्र आदि दूसरे की बरती हुई वस्तुएँ न धारण करना, अपने एक पाँव से दूसरा पाँव न घसीटना, नित्य ब्रह्मचर्य से रहना, (१०) आक्रोश, झगड़ा, तथा चुगली की बातें न करना, (११) किसी को मर्मच्छेदक वाक्य न बोलना, निन्दा न करना, हीन से किसी पदार्थ का अङ्गीकार न करना, (१२) पाँव गीले रख कर भोजन करने से मनुष्य सौ वर्ष जीता रहता है । (१३) केशों को न खींचना, सिर पर प्रहार न करना, दो हाथों से सिर न खुजलाना, (१४) दुर्गन्धयुक्त वायु में न रहना, (१५) छुट्टी के दिन न पढ़ना, (१६) सोते समय दूसरा वस्त्र बदल लेना, (१७) कभी कभी उपवास करना, (१८) स्नान, स्वच्छता, तथा सदा अच्छा पहरावा रखना, (१९) एक पात्र में दूसरे के साथ कभी भोजन न करना, (२०) रजस्वला स्त्री का बनाया हुआ अन्न न खाना, (२१) निषिद्ध अन्न का सेवन न करना, (२२) दिन में दो बार ही भोजन करना और बीच में कुछ न खाना, (२३) जिस अन्न में बाल हो उसे न खाना, (२४) सन्ध्याकाल में न सोना, न पढ़ना और न खाना, (२५) सदा प्रयत्न करते रहना, प्रयत्नशील मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, (२६) अपनी शक्ति को इतना बढ़ाना कि शत्रु का आक्रमण और अपने नौकर-चाकर अनादर न कर सकें । (२७) सदा श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन-चरित पढ़ना ।"

भीष्मपितामह के ये उपदेश सब मनुष्यों के ध्यान देने योग्य हैं । इनके अनुसार आचरण करने से मनुष्य का दीर्घजीवी होना अवश्यम्भावी है ।

लेखक को नीरोग वृद्धों से उनके नीरोग और दीर्घ जीवन का रहस्य पूछते रहने का व्यसन सा है । वृद्धों की ओर से जो उत्तर मिले हैं उनका सारांश आगे दिया जाता है—

एक ने कहा, मेरी नीरोग वृद्धावस्था का रहस्य इस बात में है कि मैं दिन भर में केवल दो बार खाता हूँ । जो कुछ भी खाना हो भोजन के साथ ही खा लेता हूँ । फिर बीच में कुछ नहीं खाता ।

दूसरे ने कहा कि प्रातःकाल का वायु-सेवन ही मेरे नीरोग होने का कारण है ।

तीसरे ने कहा कि मैं कभी गरम रोटी नहीं खाता । सदा भोजन के ठण्डा हो जाने पर ही उसे खाता हूँ ।

चौथे ने कहा कि मैं युवाकाल से ही नियमपूर्वक प्रति दिन प्रातःकाल पन्द्रह बीस डँड़ और बैठक लगाया करता हूँ । इसी से मैं नीरोग हूँ ।

पाँचवें ने कहा कि मैं सौंफ़ के चावल पीस कर और

उनमें थोड़ी सी ख़ांड़ मिला कर रख छोड़ता हूँ और वर्षाकाल में प्रति दिन सवेरे थोड़ा सा खा लेता हूँ ।

छठे ने कहा कि मेरी दीर्घायु का कारण ब्रह्मचर्य और घृत का अधिक सेवन करना है ।

अमृतसर ज़िले में गोहिलवड़ नाम का एक गाँव है । वह रेलवे स्टेशन भी है । वहां इस समय भी सवा सौ वर्ष का एक बूढ़ा जीता है । उसका नाम भागसिंह है । उसने राजा रणजीतसिंह का राज्याभिषेक देखा है । वह कहता है कि उस समय मेरी आयु चौबीस वर्ष की थी । उसकी देखने, सुनने और सूँघने की शक्तियाँ बराबर क़ायम हैं । उसके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र मौजूद हैं । प्रपौत्र की आयु इस समय १७ वर्ष है । भागसिंह के पिता का देहान्त सौ वर्ष की अवस्था में हुआ था । वह कृषिकार है और आज-कल पशु चराया करता है । घरवालों से जब कभी वह रुष्ट हो जाता है तब पैदल अमृतसर भाग जाता है ।

भारतीयों का स्वास्थ्य इस समय बहुत गिर गया है । हम लोगों में रोगों को रोकनेवाली सञ्जीवनी शक्ति नाम को भी नहीं रही । इसके दरिद्रता, पराधीनता और अज्ञता आदि अनेक कारण हैं । इसलिए प्रत्येक भारत-हितैषी का यह कर्तव्य है कि वह देश में उन अवस्थाओं को लाने का भरसक यत्न करे जिनसे भारत-सन्तान अपने निसर्ग-सिद्ध आयुष्य का सानन्द उपभोग कर सके ।

सन्तराम

जीवों का विवर्तन ।

हमारी पाँच इन्द्रियाँ हैं । इन्हीं की सहायता से हमें प्रत्यक्ष जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है । इन्द्रियानुभूति सब ज्ञानों का आधार है । परन्तु इन्द्रियानुभूति से वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । किसी वस्तु को हम देखते हैं, देखने का कार्य चक्षु के द्वारा होता है । यदि चक्षु न रहती तो उस वस्तु की सत्ता का ज्ञान न होता । देखने का कारण है वस्तु और देखना कार्य है । हमको कार्य की उपलब्धि होती है । वस्तु का, जो कारण है, यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं है । वह अज्ञात है । परन्तु इस उक्ति से यह नहीं सिद्ध होता कि इस कारण की यथार्थ सत्ता नहीं है । वस्तु की यथा सत्ता क्या है ? वस्तु की यथार्थता का ज्ञान भी एक प्रका की अनुभूति है । जिस वस्तु का ज्ञान अनुभूति में ठ रता है वही यथार्थ है । सन्ध्या के समय के अस्पष्ट आलो में किसी परिचित आदमी को किसी स्थान में आप देखा और आपको अनुभव हुआ कि वही है । पर आपको सन्देह हुआ कि वही है या नहीं । अतएव आप उसको दुबारा देखा । इस बार भी वही मालूम हुआ । फि सन्देह हुआ और तीसरी बार भी देखने पर वही निश्चय हुआ । बारम्बार इन्द्रिय-ग्राह्य होने पर हर हाल में जिसकी स्थिति है वही यथार्थ या वास्तव है ।

चिन्ता सम्बन्ध-मूलक है । सादृश्य तथा विभिन्न के ज्ञान से सम्बन्ध का ज्ञान होता है । दो प्रकार सम्बन्ध पाये जाते हैं । सूर्य्योदय के बाद मध्याह्न आता है पीछे सूर्य्यास्त होता है—इसमें एक अवस्था के बा दूसरी अवस्था का होना अर्थात् पारम्पर्य्य पाया जात है । पारम्पर्य्य एक प्रकार का सम्बन्ध है । इसको कालि सम्बन्ध कहते हैं । और एक प्रकार का सम्बन्ध है जिसमें वस्तुओं के एकत्र रहने का सम्बन्ध पाया जात है । यह स्थान-मूलक सम्बन्ध है । इसे दैशिक सम्बन्ध कहते हैं ।

द्रव्य क्या है ? द्रव्य में स्थान के लक्षण पाये जा हैं । इनके अतिरिक्त रोधकता भी पाई जाती है । रोधक ही द्रव्य का विशेष लक्षण है । आप हाथ बढ़ाते बढ़ा दीवार तक पहुँच गये । आप हाथ को आगे नहीं ब सकिएगा, क्योंकि दीवार रोक देगी । यही दीवार की रोध कता है । द्रव्य की रोधकता छोड़ दीजिए । वह केव स्थान-बोधक हो जायगा । अब यह रोधकता क्या है इसमें बल की उपलब्धि होती है । द्रव्य हमारे पेशियों बल को रोकता है । अतएव बल-ज्ञान के रूप में द्र का ज्ञान अनुभूति में उपस्थित होता है । इससे यह नि लता है कि बलों के विशेष विशेष पारस्परिक सम्बन्ध द्रव्य का ज्ञान उत्पन्न होता है । यद्यपि द्रव्य के ज्ञान सम्बन्ध सूचित होता है तथापि स्वाधीन सत्ता है, ऐ समझा जा सकता है । अतएव पदार्थ-विद्या, रसायन इत्या

विज्ञानों के विचारों में यह स्थान-व्यापक तथा रोधक अणुओं से निर्मित समझा जा सकता है ।

गति क्या है, अब यह देखना चाहिए । गति के अनुभव में तीन उपादान हैं—देश, काल तथा द्रव्य का अनुभव । मन में कुछ सम्बद्ध अवस्थानों के पारम्पर्य्य की अनुभूति को गति कहते हैं । गति की अनुभूति बलों के विशेष विशेष पारस्परिक सम्बन्ध की अनुभूति के आधार पर प्रतिष्ठित है । जीव-देह में अंशों के परस्पर के सम्बन्ध से जो गतियां उत्पन्न होती हैं उन्हीं की अनुभूति जीवधारी में सबसे पहले उत्पन्न होती है । इन्हीं पैशिक गतियों की अनुभूति देश तथा काल की अनुभूतियों के साथ साथ पुष्ट होकर गति की एक सामान्य अनुभूति में परिणत होती है ।

कई एक बातें ऐसी परिचित हो गई हैं कि उनके प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । उनमें एक है द्रव्य की अनश्वरता । द्रव्य एक सद्वस्तु है । नाभावो विद्यते सतः । अतएव द्रव्य का ध्वंस नहीं हो सकता । जिसको साधारण में हम ध्वंस कहते हैं वह यथार्थ ध्वंस नहीं है, वह द्रव्य का रूपान्तर-मात्र है । जब मोमबत्ती जल जाती है तब उसके आकार का लोप होता है, पर उसमें जो द्रव्य थे वे विनष्ट नहीं होते, वे केवल भिन्न रूप में अवस्थान करते हैं ।

गति का भी ध्वंस नहीं होता । गति केवल रूपान्तरित हो सकती है, एक वस्तु से दूसरी वस्तु में सञ्चालित होती है या एक आकार से दूसरे आकार में परिवर्तित होती है । जस्ता और गन्धक-द्रावक के संयोग से जो रासायनिक क्रिया होती है वह गति का एक उदाहरण है । इस गति से बिजली उत्पन्न होती है । बिजली भी एक प्रकार की गति है । बिजली से आलोक तथा उत्ताप उत्पन्न होते हैं । आलोक तथा उत्ताप भी दो प्रकार की गतियां हैं । बिजली की गति एञ्जिन तथा ट्रामगाड़ी की गतियों में परिवर्तित हो सकती है । न्यूटन ने गतियों के जो तीन नियम बताये हैं उनमें पहला यह है—जो वस्तु अचल है वह हमेशा अचल ही रहेगी और जो किसी तरफ़ सचल है वह हमेशा उस तरफ़ सचल ही रहेगी, यदि उस पर किसी प्रकार का बल प्रयोग न हो । गति कभी कभी सञ्चित या अव्यक्त रहती है ।

इस विश्व में हम हमेशा सर्वत्र केवल द्रव्य और गति का खेल देखते हैं । जो वस्तुएँ या जो क्रियायें देखी जाती हैं उनकी उत्पत्ति द्रव्य और गति के किसी न किसी प्रकार के संयोग या एक प्रकार के संयोग से दूसरे प्रकार के संयोग में परिवर्तन से होती है । विभिन्न विज्ञानों ने जिन जिन वस्तुओं की आलोचना की है उनके पीछे की अवस्थाओं के विचार से यह पाया गया है कि सब वस्तुओं के उपादान पहले विस्तार की अवस्था में थे और पीछे घनीभूत हुए हैं । विक्षिप्त अवस्था में रहने का कारण है आभ्यन्तरिक गति । अतएव वस्तुओं की प्राथमिक अवस्था में उनके द्रव्यों में आभ्यन्तरिक गति अधिक रहती है । जैसे जैसे यह गति घटती जाती है वैसे वैसे द्रव्य घने होते जाते हैं । उनमें गति क्रमशः सञ्चित होकर अव्यक्त हो जाती है या आकाश में विकीर्ण हो जाती है । घनी वस्तुएँ किसी आभ्यन्तरिक गति की वृद्धि के कारण विस्तार-भाव पाकर विक्षिप्त अवस्था में परिणत हो जाती हैं । यह नियम सर्वव्यापी है । वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति, परिवर्तन, गति, लय इत्यादि सब विषयों में यह नियम पाया जाता है । विश्व में सर्वत्र या तो सृष्टि या लय हो रहा है । मध्यवर्त्ती स्थितिशील अवस्था बनी रहनी असम्भव है । सृष्टि का अर्थ है विस्तार की अवस्था से घनी होकर किसी अवयव का प्राप्त होना, और लय का अर्थ है अवयव विशिष्ट घनी अवस्था से विस्तार पाकर विक्षिप्त हो जाना ।

बहुधा देखा जाता है कि एक ही वस्तु में गति का ह्रास तथा उसकी वृद्धि दोनों एक साथ चलती रहती हैं । उत्ताप एक प्रकार की गति है । यह गति उत्तप्त वस्तु के अणुओं के भीतर उत्पन्न होती है । बालू के एक कण से लेकर बड़े बड़े ग्रह, उपग्रह तक हर एक वस्तु दूसरी वस्तुओं का उत्ताप ग्रहण भी करती है और अपना विकीर्ण भी करती है । वह उत्ताप ग्रहण करने के कारण पतली और उत्ताप विकीर्ण करने के कारण घनी हो जाती है । इसका एक उदाहरण है मेघ । मेघ में बाहर का कोई द्रव्य प्रवेश नहीं करता । पर सजीव देह के सङ्कोचन-प्रसारण में बाहर का द्रव्य अर्थात् खाद्य का प्रवेश होकर देह गठित होता है । यदि क्षय से निर्माण-क्रिया अधिक हो तो

सजीवता रहती है, और यदि निर्माण से क्षय अधिक हो तो क्रमशः मृत्यु होती है ।

इस विश्व की सृष्टि में भी द्रव्य तथा गति के संयोग का उदाहरण पाया जाता है । विद्वानों का यह साधारण विश्वास है कि द्रव्यों के घनीभूत होने तथा गति के क्षय से सौर जगत् उत्पन्न हुआ है । वाष्पमय नीहारिका से प्रत्येक नक्षत्र का जन्म हुआ है । यह वाष्पमय नीहारिका घनी होकर नक्षत्र में परिणत होती है । हमारा सूर्य्य भी एक नक्षत्र है । इसका जन्म भी वाष्पमय नीहारिका से है । यह पहले अर्थात् वाष्पमय अवस्था में अति विस्तृत था, क्रमशः घनीभूत होकर ग्रह-उपग्रह-विशिष्ट एक जगत् में परिणत हुआ है ।

इस वाष्पराशि के भीतर गति थी । ताप के विकीरण तथा द्रव्य के सङ्कोचन के कारण यह जैसे घना होने लगा, वैसे आलोडित भी होने लगा । क्रमशः यह एक ऐसी गति-विशिष्ट हुआ कि अपने भारकेन्द्र को प्रदक्षिण करके घूमने लगा । घूमने की गति पश्चिम से पूर्व की तरफ़ है । वाष्प-राशि के आयतन के ह्रास होने के साथ साथ इसके आवर्तन का वेग बढ़ने लगा । जिस परिमाण में इस वेग की वृद्धि होती गई, केन्द्रापसरण बल भी उसी परिमाण में बढ़ता गया । इस कारण निरक्ष देश फूल गया और मेरुप्रदेश (Poles) चिपटे हो गये । केन्द्रापसरण बल की उत्तरोत्तर वृद्धि से स्फीत निरक्ष के तरल पिण्ड के बाहर का अंश अलग होकर अविच्छिन्न अवस्था के वेग से मध्यस्थ पिण्ड को प्रदक्षिण कर घूमता रह गया । स्वल्पायतन होने के कारण अभ्यन्तरस्थ तरल पिण्ड का वेग बढ़ गया । विच्छिन्न चक्र अपेक्षाकृत अल्प वेग से घूमता था । उसका कोई स्थान दुर्बल हो गया । और उस स्थान पर वह चक्र कट गया । कटते ही वह सिकुड़कर एक स्थान में जम गया और पिण्डाकार धारण कर मध्यस्थ बड़े पिण्ड को प्रदक्षिण करता रह गया । इस अवसर पर एक दूसरी गति उत्पन्न हो गई । इस गति के कारण वह अपने मेरुदण्ड को प्रदक्षिण करके घूमने लगा । इस प्रकार ग्रह तथा उपग्रह उत्पन्न हुए । हमारी पृथ्वी सूर्य्य का एक ग्रह है और चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है । अतएव हमारी यह पृथ्वी एक बृहत् पिण्डाकार पदार्थ है । इसका वाष्पमय अवयव घना होकर पहले तरल हो गया था, पीछे उस पर एक पपड़ी पड़ गई । भीतर उत्तप्त तरल पदार्थ रह गया । क्रमशः उसका ताप विकीर्ण होने के कारण यह पपड़ी मोटी होती गई । ऊपर जो वाष्प-राशि रह गई थी वह तरल होकर पृथ्वी के कठिन आवरण पर घनी होकर जल-राशि में परिणत हो गई । यह जल कठिन आवरण पर सर्वत्र विस्तृत था । आभ्यन्तरिक ताप के विकीर्ण होने के कारण पृथ्वी के देह का सङ्कोच होने लगा । सङ्कोच के कारण आवरण कहीं ऊँचा हो गया और कहीं बैठ गया । जल-राशि ने उच्च स्थानों से निम्न स्थानों में आश्रय ग्रहण किया । जिन स्थानों में जल एकत्र हो गया वहां समुद्र है और ऊँचे तथा सूखे स्थान स्थल हैं ।

वायवीय, तरल और कठिन इन आकारों में से किसी न किसी आकार में सब पदार्थ विद्यमान हैं । जिन पदार्थों के अणुओं के भीतर अधिक गति है वे वायवीय हैं, आणविक गति कुछ घट जाने से इनकी तरल अवस्था और अधिक घट जाने से इनकी कठिन अवस्था होती है । आणविक गति घट जाने से अणु निकट होकर घने हो जाते हैं और उसके बढ़ जाने से परस्पर दूर होकर पतले हो जाते हैं । यह साधारण नियम है । अणुओं का पुनर्गठन दो प्रकार का है, एक मुख्य, दूसरा गौण । मुख्य पुनर्विन्यास के साथ साथ गौण पुनर्विन्यास भी चल सकता है । पदार्थों की अणु-समष्टिओं के पुनर्विन्यास को मुख्य पुनर्विन्यास कहते हैं और अणुओं में परमाणुओं के पुनर्विन्यास को गौण पुनर्विन्यास कहते हैं । जब दोनों पुनर्विन्यास साथ साथ चलते हैं तब उस पुनर्विन्यास को यौगिक पुनर्विन्यास कहते हैं । सजीव देहों में यौगिक पुनर्विन्यास होता है । जीव दो प्रकार के होते हैं—उद्भिद् तथा प्राणी । इनके मुख्य उपादान कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन और गन्धक हैं । परन्तु इनमें किसी किसी में बहुत अल्प परिमाण में फ़ासफ़रस, क्लोरिन, पोटैसियम, सोडियम, कैलसियम और मैगनीसियम भी पाये जाते हैं । कार्बन, हाइड्रोजन तथा आक्सिजन के योग से श्वेतसार, शक्कर, सेल्युलीस इत्यादि कार्बो-हाइड्रट के अणु बनते हैं । कार्बन और हाइड्रोजन के योग से तेल, घी, चर्बी इत्यादि स्नेहमय पदार्थों के अणु बनते हैं । और कार्बन, हाइड्रोजन,

आक्सीजन तथा नाइट्रोजन के योग से दाल, मांस इत्यादि प्रोटीन के अणु बनते हैं। प्रोटीन प्राणियों के लिए बहुत ही गुरुत्व की वस्तु है ।

ऊपर लिखे हुए मूल पदार्थों के परमाणुओं के असंख्य प्रकार के संयोग से सजीव देह के अणु बनते हैं। सजीव देहों का एक प्रधान विशेषत्व यह है कि उनमें हमेशा मुख्य तथा गौण पुनर्विन्यास होते रहते हैं । इन पुनर्विन्यासों से उनके पदार्थों का तथा गतियों का परिवर्तन होता है । इस परिवर्तन को मेटावोलिज़्म कहते हैं। हर एक प्राणी कार्बन डाइ ऑक्साइड तथा शरीर का मल निकाल देता है। एञ्जिन का खाद्य है कोयला। कोयले से अग्नि उत्पन्न होती है । इस अग्नि के उत्ताप के द्वारा पानी से भाफ उत्पन्न होता है और इस भाफ की गति से एञ्जिन में गति उत्पन्न होती है। परन्तु सजीव देह में खाद्य से शक्ति उत्पन्न होने के सिवा देह के पोषणोपयोगी पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए खाद्य तथा श्वास-प्रश्वास का प्रयोजन होता है। खाद्य में प्रधानतः स्नेह पदार्थ कार्बो-हाइड्रेट तथा प्रोटीन रहते हैं। खाद्य यौगिक पदार्थ है। उनके बनने में उनके उपादानों में गति सञ्चित हो गई थी। जब खाद्य जीव-देह में शरीर के पोषणोपयोगी सरल संयुक्त पदार्थों में विश्लिष्ट होता है तब उसकी सञ्चित गति या शक्ति में से कुछ शरीर के निर्माण के लिए आवश्यक होती है, कुछ ताप के आकार में उन्मुक्त हो जाती है और कुछ जीव-देह के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में गति उत्पन्न करने के लिए सञ्चित होती है। प्राणियों का खाद्य या तो उद्भिद् है या अन्य प्राणी। मांस-भोजी प्राणी उद्भिद्-भोजी प्राणी को खाता है। सूर्य्य से प्राप्त शक्ति की सहायता से उद्भिद् को खाद्य मिलता है। यह गति या शक्ति उद्भिद् में सञ्चित हो जाती है। अतएव पृथ्वी में जितने जीव हैं वे एक प्रकार से सूर्य्य की सन्तान हैं। सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। जीव-देह में द्रव्य तथा गति का केवल आकार बदल जाता है, नूतन द्रव्य या गति की सृष्टि नहीं होती। जीव-देह में हमेशा द्रव्यों तथा गतियों का जो परिवर्तन होता है उसे मेटावोलिज़्म कहते हैं। मेटावोलिज़्म के बिना जीवन सम्भव नहीं है और जीवन के बिना मेटावोलिज़्म भी नहीं हो सकता । जिस मेटावोलिज़्म से देह में ऊँचे दर्जे के यौगिक पदार्थ निर्मित होकर गति या शक्ति सञ्चित होती है उसे ऐनावोलिज़्म कहते हैं। और जिससे ऊँचे दर्जे के यौगिक पदार्थ टूट कर सरल यौगिक पदार्थ बन जाते हैं और अन्त में शरीर के मल में परिणत होकर ताप उन्मुक्त कर देते हैं उसे केटावोप्लाज़्म कहते हैं। अतएव जीवों में दो श्रेणी के यौगिक पदार्थ रहते हैं। एक श्रेणी के यौगिक पदार्थ अन्त में ऊँचे दर्जे के बन कर बल सञ्चित करते हैं और दूसरे तरह के यौगिक पदार्थ अन्त में देह के अनिष्टकारी पदार्थ बनते हैं, जिनसे बल नहीं मिलता।

जिस पदार्थ में इन दोनों प्रवाहों का मिश्रण है और हर घड़ी परिवर्तन होता ही रहता है उसे सजीव द्रव्य या प्रोटोप्लाज़्म कहते हैं।

प्रोटोप्लाज़्म आकार में एक प्रकार का वर्णहीन अर्ध-तरल पदार्थ है। अनुवीक्षण-यन्त्र से देखने पर यह एक घने पदार्थ से घिरा हुआ तरल पदार्थ मालूम होता है। यही सब जीव-देहों का आधार है और यही सारी चञ्चलता का केन्द्र है। बिना जीवन के प्रोटोप्लाज़्म नहीं रह सकता और बिना प्रोटोप्लाज़्म के जीवन भी नहीं रह सकता।

प्रोटोप्लाज़्म कोष्ठों (cells) के आकार में पाया जाता है। कोष्ठ बहुत छोटे होते हैं और प्रत्येक कोष्ठ-देह के द्रव्य में एक केन्द्र रहता है। कोई जीव एक ही कोष्ठ का बना हुआ है और कोई एकाधिक कोष्ठों का। बड़े बड़े उद्भिद् और प्राणियों में प्रोटोप्लाज़्म के असंख्य कोष्ठ हैं। मेटावोलिज़्म की क्रिया प्रोटोप्लाज़्म में ही होती है। इस क्रिया से जब कोष्ठ बड़ा हो जाता है तब वह दो खण्डों में विभक्त हो जाता है। कोष्ठ का केन्द्र दो खण्डों में विभक्त हो जाता है और दोनों के बीच में एक पर्दा पड़ जाता है। यह पर्दा कोष्ठ की दीवार से संयुक्त हो जाता है और तब एक कोष्ठ के दो कोष्ठ हो जाते हैं। हर एक नये कोष्ठ में भी पुराने कोष्ठ की तरह प्रोटोप्लाज़्म का केन्द्र और अन्यान्य द्रव्य रहने लगते हैं। इसी प्रकार जीव-शरीर की वृद्धि होती है।

उद्भिद् निर्जीव वस्तुओं से खाद्य सङ्ग्रह कर अपनी

112818

देह की पुष्टि कर सकता है। उसे वायु और मिट्टी के भीतर से अपना खाद्य प्राप्त होता है। परन्तु प्राणी को यह शक्ति प्राप्त नहीं है। इसको सजीव पदार्थों से खाद्य सङ्ग्रह करना पड़ता है। प्राणियों की देह के लिए प्रोटीन का प्रयोजन है। खाद्य में प्रोटीन न रहने से प्राणियों का प्रोटोप्लाज़्म नया प्रोटोप्लाज़्म नहीं बना सकता। कार्बोहाइड्रेट तथा स्नेहमय पदार्थों से शरीर में केवल कार्य्यकर शक्ति सञ्चित होती है, देह मज़बूत नहीं होती।

सजीव पदार्थ के तीन विशेष लक्षण हैं—(१) उत्तेजना से चञ्चलता का प्राप्त होना, (२) वृद्धि और (३) उत्पादन। मेटावोलिज़्म ही इन तीनों का कारण है। यदि ऐनावोलिज़्म की क्रिया कैटावोलिज़्म की क्रिया से अधिक हो तो प्रोटोप्लाज़्म की वृद्धि होती है, शरीर की पुष्टि होती है और उत्पादन की शक्ति रहती है। यदि कैटावोलिज़्म की क्रिया ऐनावोलिज़्म की क्रिया से अधिक हो तो क्षय होता है और अन्त में मृत्यु होती है। मेटावोलिज़्म के लिए यथेष्ट खाद्य, जल, उन्मुक्त आक्सीजन तथा उपयुक्त उत्ताप आवश्यक हैं। क्षय को बचाने के लिए खाद्य का प्रयोजन है। पदार्थों को घोलने के लिए जल की आवश्यकता है, क्योंकि रासायनिक क्रिया घुले पदार्थों में होती है। खाद्य को दग्ध करने के लिए उन्मुक्त आक्सीजन का प्रयोजन है। और मेटावोलिज़्म के लिए एक सीमाबद्ध उत्ताप, अर्थात् जितना प्रयोजन है न उससे अधिक न उससे कम उत्ताप चाहिए। मेटावोलिज़्म-क्रिया के लिए एक विशेष प्रकार की प्रोटीनें आवश्यक हैं, जिनकी सहायता से रासायनिक क्रिया चल सकती है। ये बीजस्वरूप हैं। इनका परिवर्तन नहीं होता।

अतएव जीवन एक ऐसी अविश्रान्त धारा है जिसमें उच्च कोटि के यौगिक पदार्थ गढ़ रहे हैं और टूट रहे हैं, जिसकी सञ्चित शक्ति से निर्जीव द्रव्य सजीव द्रव्य में परिणत होता है और फिर निर्जीव हो कर निकल जाता है, परन्तु प्रोटोप्लाज़्म की क्रिया के निमित्त शक्ति छोड़ जाता है।

प्रोटोप्लाज़्म के द्रव्यों में सर्वदा परिवर्तन हो रहा है। अतएव यह अस्थायी अवस्था में रहता है। इसलिए किसी छोटी उत्तेजना से भी इसके द्रव्य चञ्चल हो जाते हैं। उत्तेजना बाहर से भी आ सकती है और भीतर से भी। उत्तेजना से नये परिवर्तन शुरू होते हैं। उत्तेजना के ही कारण निकटस्थ वस्तुओं के साथ प्रोटोप्लाज़्म का सम्बन्ध स्थापित होता है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि इस युग में जित जीव देखे जाते हैं वे कैसे उत्पन्न हुए। इनके पीछे ए दीर्घ इतिहास है। आज-कल के जीवों और प्राथमि जीवों में बहुत अन्तर है। प्रोटोप्लाज़्म के क्रमिक विवर्त से जीव-जगत् आज-कल की अवस्था में पहुँचा है। पहल अवस्था कैसी थी, यह निश्चयता से कहना कठिन है जीवों के उपादान तथा उनके परिवर्तन की धारा के पर्य क्षण से ऐसा अनुमान होता है कि सुदूर अतीत में ज पृथ्वी की अवस्था सुविधाजनक थी और आज-कल अवस्था से बहुत भिन्न थी तब सजीव प्रोटोप्लाज़्म उत्पत्ति हुई थी। सम्भवतः वह अवस्था फिर न लौटेगी उस समय ताप, आर्द्रता, चाप एवं अन्यान्य अवस्थायें ऐ थीं कि नाना प्रकार के उच्च कोटि के यौगिक पदार्थों आप से आप बनना सम्भव था। जो यौगिक पदार्थ बन गये उनमें बहुत अस्थायी थे, वे बनने के साथ टूटते गये पर कुछ टूटे फिर बने। इस प्रकार कुछ स्थायी हो गये जब एक बार स्थायी हो गये तब उनमें जिनकी ठहरने शक्ति अधिक रही वे सदा के लिए स्थायी रह गये निकट के सरल यौगिक पदार्थों से उनका पोषण हो लगा। यही प्रोटोप्लाज़्म में परिणत हुए। बहुत सम्भव कि सबसे पहले समुद्र में जीव की उत्पत्ति हुई हो, कार प्रोटोप्लाज़्म में जो जो उपादान जिस जिस अनुपात से समुद्र-जल में वही उपादान उसी उसी अनुपात से पा जाते हैं। अनन्तर इस प्रोटोप्लाज़्म ने कोष्ठों का आका धारण किया।

जो विवरण ऊपर दिया गया है वह एक श्रेणी विद्वानों के मत के अनुसार है। दूसरी श्रेणी के विद्वानों मत है कि नासतो विद्यते भावः। वे कहते हैं कि अजीव सजीव नहीं बन सकता। जीव से जीव उत्पन्न होता है जीव अनन्त काल से विद्यमान है। आज-कल के जीव पह के जीवों के विवर्तन से उत्पन्न हुए हैं।

नलिनीमोहन सान्याल

आशा ।

(१)

आती तू किस लोक से, तेरा कहाँ निवास ?
क्या प्रभु की ही झलक है तेरा दिव्य प्रकाश ? ।
तेरा दिव्य प्रकाश तिमिर उर का हर लेता,
जादू सा वह देवि ! मनुज पर है कर देता ।
तुझे देख कर हृदय-कली हरदम खिल जाती,
मानो अपने साथ सफलता तू ले आती ॥

(२)

तेरे दर्शन-मात्र से प्रमुदित होता चित्त;
लाती क्या तू स्वर्ग से कोई अनुपम वित्त ?
कोई अनुपम वित्त हमें ला कर क्या देती ?
कैसे उर में स्थान देवि ! तू है कर लेती ?
जब दारुण दारिद्र-दुःख भी रहते घेरे,
तब भी परम प्रसन्न उपासक रहते तेरे ॥

(३)

हो जाती है देवि ! जब तू नर के अनुकूल,
तब सब निज असमर्थता वह जाता है भूल ।
वह जाता है भूल हीनता अपनी सारी;
होता उसको ज्ञात कि मैं हूँ अति बलधारी ।
अहो ! न जाने कौन जड़ी तू उसे पिलाती;
उसकी सारी शक्ति सौ गुनी सी हो जाती ॥

(४)

जननी है उत्साह की तथा धैर्य की धाय;
धरता तेरा ध्यान नर जब होता निरुपाय ।
जब होता निरुपाय मनुज कोई बेचारा,
तू ही तब अवलम्ब उसे देती है प्यारा ।
है बस तू ही दुःख-जलधि की जग में तरणी;
तू ही है हे देवि ! शौर्य-साहस की जननी ॥

(५)

करवाती तू ही सदा जग में सारे काम;
पर तू छलने से हुई क्या न बहुत बदनाम ?
क्या न बहुत बदनाम जगत में तू है, आशे ?
कितने ही तू नित्य दिखाती हमें तमाशे ।
राजासन पर कभी दीन को तू बिठलाती;
नन्दन-वन का भ्रमण कभी तू है करवाती ॥

(६)

छलती है तू लोक को अद्भुत तेरा हाल;
फैलाती है जगत में कैसा माया-जाल ? ।
कैसा माया-जाल बिछा कर चित्त फँसाती ?
तू मनमाना नाच नरों को नित्य नचाती ।
तेरे मुख से सुधा-धार ही सदा निकलती;
तो भी मायाविनी ! मनुज को तू है छलती ॥

(७)

चाहे आशे ! तू छले, पर मनुष्य गति-हीन—
हो जाता तेरे बिना, वारि बिना ज्यों मीन ।
वारि बिना ज्यों मीन नहीं रह सकता पल भर,
त्यों नर तेरा विरह नहीं सह सकता पल भर ।
पा कर तेरी ज्योति न क्यों वह भाग्य सराहे ?
तेरा सतत निवास न क्यों निज उर में चाहे ॥

(८)

जीता प्रेमी क्या कभी होकर निपट निराश ?,
चूर चूर होता न क्या उसका चित्त उदास ? ।
उसका चित्त उदास देवि ! तू ही विकसाती;
क्या तू कुछ सन्देश प्रिया का उसे सुनाती ? ।
वह प्रेमी चुपचाप आँसुओं को है पीता ;
बस तेरी ही दया-दृष्टि से वह है जीता ॥

(९)

दुखमय शोक-समुद्र में मनुज रहा जो डूब,
मरना निश्चय था किया विपदाओं से ऊब ।
विपदाओं से ऊब हुआ विह्वल बेचारा;
तूने इसको देवि ! दिया तब तुरत सहारा ।
उसका शङ्कित हृदय हो गया फिर अति निर्भय;
सुखमय उसको ज्ञात हुआ निज जीवन दुखमय ॥

(१०)

होते विफल प्रयास हैं जिनके बारंबार,
उन लोगों की देवि ! बस है तू ही आधार ।
है तू ही आधार और आराध्य उन्हें है;
तेरे बल से कठिन कार्य भी साध्य उन्हें है ।
हों कितने ही विघ्न किन्तु वे धैर्य न खोते;
होकर सफल-प्रयत्न अन्त में प्रमुदित होते ॥

(११)

रोगी जीने से हुआ जो सर्वथा निराश,
विकट मृत्यु की त्रास से रहता सदा उदास।
रहता सदा उदास क्लेश पा कर जो भारी,
दिन-दिन जिसका रोग बढ़ रहा है भयकारी।
पा कर तेरी तनिक झलक भी वह दुखभोगी—
होता परम प्रसन्न, स्वस्थ हो कर ज्यों रोगी॥

(१२)

हीरे से अपने तनय खो कर प्राणाधार,
जो नर जग में समझते अपना जीवन भार।
अपना जीवन भार हुआ है जिनको दुख से,
जो सर्वथा निराश हुए सन्तति के सुख से।
कहती उनसे देवि! न जाने क्या धीरे से;
लगते उनके नयन चमकने फिर हीरे से॥

(१३)

लेती सुधि-बुधि छीन है विरह-व्यथा विकराल;
धीरज तज कर क्यों न हो वियोगिनी बेहाल?।
वियोगिनी बेहाल कभी क्या जीवित रहती?
कुलिश-कठोराघात कमलिनी कैसे सहती?।
आशे! उससे बता भला तू क्या कह देती?
जो दुस्सह वेदना-विरह की वह सह लेती॥

(१४)

दुखकारी जिसका यहाँ जीवन परम पवित्र,
अन्य लोक का तू उसे दिखलाती सुख-चित्र।
दिखलाती सुख-चित्र सुरपुरी के जीवन का;
उसको तू विश्वास दिलाती पुनर्मिलन का।
अहो! अन्यथा विकल बाल-विधवा बेचारी—
सहती कैसे कठिन क्लेश दारुण दुखकारी?॥

(१५)

आती प्यारी सफलता कभी न जिनके पास,
बार बार वे छात्र भी करते कठिन प्रयास।
करते कठिन प्रयास सदा ही धीरज धारे;
किन्तु न होते पास परीक्षा में बेचारे।
आशे! जाकर उन्हें न जानें क्या समझाती?;
उनके मन में नई स्फूर्ति फिर से हो आती॥

(१६)

देती बूढ़े को भला जा कर कौन सलाह?
लोक-लाज वह छोड़ कर करता है निज ब्याह।
करता है निज ब्याह तुझी से प्रेरित हो कर,
अपना बुद्धि-विवेक ज्ञान-गौरव सब खो कर।
आशे! उसकी मृत्यु-भीति भी तू हर लेती;
कानों में क्या मन्त्र फूँक तू उसके देती?॥

(१७)

होता है निज देश पर जिनका प्रेम अपार,
सुख से निज सर्वस्व जो देते उस पर वार।
देते उस पर वार मनुज जो जीवन अपना;
हो जाता जब भङ्ग सभी उनका सुख-सपना।
बहता उनके हृदय-धाम में तेरा सोता;
तभी दूर सब ग्लानि-दुःख उनका है होता॥

(१८)

आशा! इस संसार में है सचमुच तू धन्य;
सबका तू करती भला रख कर प्रीति अनन्य।
रख कर प्रीति अनन्य सभी को धीरज देती;
पल भर में सब ताप हृदय का तू हर लेती
हो जाती जब विफल हृदय की सब अभिलाषा;
तब भी नर का साथ नहीं तू तजती, आशा!।

गोपालशरणसिंह

कविता और दृश्य-वर्णन।

मनुष्य की प्रतिभा जिस विषय के लिए अनुकूल होती है उस विषय का ज्ञान उसे शीघ्र हो जाता है। सरस कविता की रचना के लिए स्वाभाविक प्रतिभा विशेष रूप से होनी चाहिए। प्राचीन महाकवियों के महाकाव्य रस से भरे हुए हैं। काव्य में रस के उत्कर्ष और अपकर्ष में कौन कारण है, अलङ्कारों-द्वारा रस की पुष्टि किस रीति से होती है, इत्यादि विषयों का विवेचन काव्य के आचार्यों ने विशद रूप से किया है। काव्यों में पर्वत, वन, नदी, समुद्र आदि दृश्यों का वर्णन किया जाता है। इसी दृश्य-वर्णन की विवेचना इस लेख में की जायगी।

प्राचीन साहित्य के आचार्यों का मत है कि काव्य में रस प्रधान है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से अभिव्यक्त रति आदि का नाम रस है। रति आदि स्थायी भावों के आलम्बन और उद्दीपन के कारण विभाव कहे जाते हैं। इनके कार्यों का नाम अनुभाव है। इन स्थायी भावों के साथ जो उद्भूत और तिरोहित होते हैं उनका नाम व्यभिचारी है। उदाहरण, शृङ्गार के स्त्री-पुरुष आलम्बन हैं, वसन्त, एकान्त स्थान आदि उद्दीपक हैं, कटाक्ष और रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं और स्मृति, चिन्ता आदि व्यभिचारी हैं। जिस चित्तवृत्ति का जो विषय हो वह उसका आलम्बन और जो निमित्त हो वह उद्दीपक होता है। करुण आदि रसों के विभावादि भी इसी रीति से हैं। इन रसों के प्राधान्य से युक्त काव्य ही सर्वोत्तम हैं। अलङ्कार-प्रधान काव्य मध्यम या उत्तम कहे जा सकते हैं, सर्वोत्तम नहीं। रसास्वादन कराने के लिए सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, नगर, ग्राम आदि दृश्यों का वर्णन करना भी कवि का कर्त्तव्य है। यह दृश्य-वर्णन चन्द्र, तारागण, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों के समुचित निरीक्षण के बिना नहीं हो सकता। महाकवि क्षेमेन्द्र ने कहा है—

शिल्पिनां कौशलप्रेक्षा वीरयुद्धावलोकनम्।
शोकप्रलापश्रवणं श्मशानारण्यदर्शनम्॥
प्रेक्षा प्राणिस्वभावानां समुद्रादिस्थितीक्षणम्।
रवीन्दुताराकलनं सर्वर्त्तुपरिभावनम्॥

अर्थात् कवि को शिल्पियों की रचना, वीरों के युद्ध, सिंह, रीछ आदि प्राणियों के स्वभाव तथा समुद्र, सूर्य, चन्द्र, तारा आदि दृश्यों का निरीक्षण करना चाहिए। प्रकृति का पर्यालोचन जितना गम्भीर होगा, प्राकृतिक दृश्य का चित्रण भी उतना ही स्पष्ट होगा। कालिदास, भारवि, बाण आदि कवियों के काव्यों में मनोहर दृश्य-वर्णन पाये जाते हैं।

दृश्य-वर्णन प्रधानतः दो प्रकार का है। एक तो काव्य के प्रतिपाद्य मुख्य रस को अङ्ग बना कर दृश्यों का वर्णन किया जाता है। शृङ्गार या शान्त रस के उद्दीपक रूप मे वसन्त, उपवन, चन्द्र आदि का वर्णन महाकाव्यों में प्रत्यक्ष है ही, दूसरे स्वतन्त्र आलम्बन रूप से भी वन, उपवन आदि का वर्णन किया जाता है। इस द्विविध वर्णन के कारण का विचार क्रम से किया जाता है। ऋतु, उपवन आदि पदार्थों से कामादि का उत्तेजन अनुभव-सिद्ध है। तीव्र, मन्द उत्तेजक के अनुसार तीव्र और मन्द चित्त-वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। चमकीले अस्त्रों से भूषित योद्धाओं तथा युद्ध-समय के अनुकूल सजाये हुए अस्त्रों के दर्शन से हृदय में वीररस का सञ्चार प्रत्यक्ष है। इसी लिए वीररस के उद्दीपक रूप में योद्धाओं के कवच, भल्ल, कृपाण आदि अस्त्रों का वर्णन किया जाता है। किसी भाव की दीप्ति के लिए यदि चन्द्र आदि का वर्णन करना हो तो पूर्णरूप से करना चाहिए। उद्दीपक वस्तुओं के नाम-ग्रहण से भाव रसावस्था में नहीं आ सकते। चन्द्र का कैसा सुन्दर प्रकाश है, भौंरे फूलों पर गूँज रहे हैं, इस प्रकार वस्तुओं का परिचय कराने से शृङ्गार प्रदीप्त नहीं होता। शृङ्गार के उत्तेजन के लिए चन्द्र आदि के मनोहर चित्र खींचने की बड़ी आवश्यकता है। भारवि, श्रीहर्ष आदि के काव्यों में ऋतु, चन्द्र आदि का उज्ज्वल चित्र उद्दीपक रूप में खींचा गया है।

दृश्यों की उद्दीपकता में यह ध्यान रखना चाहिए कि एक दृश्य सर्वदा सबके लिए एक ही भाव के उदय में निमित्त नहीं होता। आकाश में नील मेघों की पङ्क्ति छाई हुई देख कर कृषक का मन आनन्द-मग्न हो जाता है। एक पथिक, जिसके मार्ग में नदी पड़ती हो, मेघों को देख कर खिन्न होता है। उपवन आदि का वर्णन शृङ्गार के उद्दीपक रूप में कवियों ने बहुत किया है। इसका यह भाव नहीं कि उपवन आदि शृङ्गार-भिन्न रसों के प्रति निमित्त ही नहीं। महाकवि बाण ने कादम्बरी में विन्ध्याटवी के समीपवर्ती ग्राम, मौलसिरी आदि अनेक वृक्षों से युक्त जाबालि के आश्रम का जो वर्णन किया है वह शान्त-रस का पूर्ण पोषक है। उस आश्रम में कैसी शान्ति थी यह बाण के ही शब्दों में सुनिए—

अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुपशान्तात्मानस्तिर्यञ्चोऽपि तपोवनवसतिसुखमनुभवन्ति। तथाहि एष विकचोत्पलवनरचनानुकारिणमुत्पतच्चारुचन्द्रकशतं हरिणलोचनद्युतिशबलमभिनवशाद्वलमिव विशतिशिखिनः कलापमातपाहतो निश्शङ्कमहिः। अथ मुत्सृज्य मातरमजातकेसरैः

केसरिशिशुभिः सहोपजातपरिचयःचरत्चीरधारं पिबति कुरंगशावकः सिंहीस्तनम् । एष मृणालकलापाशङ्किभिः शशिकरधवलं सटाभारमामीलितलोचनो बहुमन्यते द्विरदकलभैराकृष्यमाणं मृगपतिः । इदमिह कपिकुलमपगतचापलमुपनयतिमुनिकुमारकेभ्यः स्नातेभ्यः फलानि । एते च न निवारयन्ति मदान्धा अपि गण्डस्थलीभाञ्जि मदजलपाननिश्चलानि मधुकरकुलानि संजातदया कर्णतालैः करिणः ।*

भारवि ने भी चतुर्थ सर्ग में शरद्-ऋतु का और पञ्चम सर्ग में हिमाचल का जो मनोहर वर्णन किया है वह कामोद्दीपन के लिए नहीं, किन्तु सात्विक आनन्द की वृद्धि के लिए । इन्द्रकील के ऊपर गये हुए अर्जुन के भावों का वर्णन भारवि ने इस प्रकार किया है—

अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखैः परितः परिष्कृततलां तरुभिः ।
मनसः प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरेः शुचिमाससाद स वनान्तभुवम्॥
अनुसानु पुष्पितलतावितितिः फलितोरुभूरुहविविक्तवनः ।
धृतिमाततान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः ॥ †

इसके आगे अर्जुन की संयम में दृढ़ता दिखाने लिए ऋतु, उपवन तथा अप्सराओं की जलक्रीड़ा आ अनेक प्रकार के विलासों के वर्णन से प्रधान वीररस अपेक्षा अङ्गभूत शृङ्गार को काव्य के सप्तम, अष्टम, नव तथा दशम सर्गों में भर दिया गया है, जो अवश्य दोष है परन्तु ऋतु, वन, झरने आदि शान्त-रस की अभिव्यक्ति लिए भी बहुत उपयोगी हैं, इसमें भारवि अनुकूल है ।

दृश्य दो प्रकार के हैं—सुन्दर और सौन्दर्यहीन रसाल, मालती आदि के मधुर सुन्दर फल-फूलों शुक, कोकिल आदि मधुरकण्ठ पक्षियों का अलङ्कृत व कवियों ने बहुत किया है । इसी प्रकार काव्यों में ताराग शोभित रात्रि, कमलपङ्क्ति-वेष्टित तालाब तथा अन्य सुन्द दृश्यों का जो विस्तृत वर्णन है वह काव्य के रस का पोष है । ऊँची-नीची भूमि आदि में सौन्दर्यहीन अरण्ड के दर्श मात्र से स्नेह का आविर्भाव नहीं होता । ऐसे पदार्थों प्रेम सहवास से उत्पन्न होता है । सहवास-जन्य प्र शरत्काल की नदी के समान स्वच्छ शान्त तथा वज्र समान दृढ़ होता है । किसी स्थान पर अधिक काल त रहने से उस स्थान में तथा उस स्थान की अन्य वस्तुओं जिनका हम उपयोग करते रहे हैं, स्नेह उत्पन्न हो जा है । उनके वियोग होने पर दुःख भी अनुभवसिद्ध है कुछ काल के अनन्तर उन स्थानों के देखने से आनन्द हो है, यह भी कौन न मानेगा । बैल भी जिस घर में काल रहते हैं उस घर से भिन्न किसी स्थान पर ले का अवसर आ जाय तो जाने के लिए आगे पैर न रखते । जो बैल एक साथ खाते-पीते रहे हैं उनमें के न होने पर दूसरा उदास होकर खाना-पीना छोड़ है । महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल शकुन्तला के प्रस्थान के समय कण्व आदि के हृदय उत्पन्न शकुन्तला के वियोगजन्य दुःख का जो व किया है वह जगत्प्रसिद्ध है । यहाँ उसका केवल एक दिया जाता है—

---

*इस तपोवन में शान्तआत्मावाले तिर्यक् जाति के प्राणी भी स्वाभाविक विरोध को छोड़ कर तपोवन में निवास के सुख का अनुभव करते हैं । धूप से व्याकुल यह साँप भय के बिना, खिले हुए नीलकमलों के वन के समान, फैलते हुए सुन्दर अनेक चँदवों से युक्त, हरिन की नेत्र-कान्ति के तुल्य रङ्ग-बिरङ्गे, नई घास से युक्त भूमि के समान, मोर के पुच्छ में घुसता है । यह हरिन का बच्चा जिनकी ग्रीवा के बाल अभी नहीं उत्पन्न हुए ऐसे शेर के बच्चों से हिला-मिला हुआ माता को त्याग कर शेर के बच्चों के साथ दूध की धारा को बहाते हुए शेरनी के स्तन को पीता है । यह शेर हाथियों के बच्चों-द्वारा बिस-समूह के भ्रम से चन्द्र-किरणों के समान श्वेत ग्रीवा के बालों के खींचने से बहुत सुख मान रहा है । यह बन्दरों का झुण्ड चपलता को दूर करके नहाये हुए ऋषि-बालकों को फल दे रहा है । यह मस्त हाथी गण्डस्थल पर बैठे हुए मद के पानी को पीकर स्थिर हुए भौंरों को विशाल कर्णों-द्वारा दया के उत्पन्न होने से नहीं रोकता ।

† इन्द्रकील पर चढ़ कर अर्जुन ने फूलों के भार से जिनका अग्रभाग झुका है—ऐसे वृक्षों से चारों ओर अलङ्कृत शुद्ध, मानो मूर्तिधारिणी मन की प्रसन्नता हो, ऐसी वन-भूमि को प्राप्त किया । जिसके प्रत्येक शिखर फूली लतायें हैं, जिसमें फलसहित वृक्षों से युक्त एका वन हैं, ऐसे इन्द्रकील पर्वत ने अर्जुन के मन में तप लिए स्थिर उत्साह को उत्पन्न किया ।

उद्गीर्णदर्भकवला मृगी परित्यक्तनर्त्तना मयूरी ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रुणीव लताः ॥

प्रियंवदा कहती है—तेरे वियोग से दुःखिनी हरिनी मुँह में धरे कुशा के ग्रास को फेंक चुकी है । मोरनी ने नाचना छोड़ दिया है । पीले अर्थात् पके हुए पत्ते जिनके झर गये हैं ऐसी लतायें मानो आँसू बहा रही हैं ।

राम-भक्त अयोध्या में तथा कृष्ण-भक्त वृन्दावन में जाकर आनन्द-समुद्र में डूब जाते हैं । इसका कारण यह है कि वे उस पुण्य भूभाग को अपने आराध्य-देव का लीला-स्थान समझते हैं । इसी कारण कविजनों ने अयोध्या, वृन्दावन आदि की धूलि तक का बड़े भक्तिभाव से वर्णन किया है । जहाँ किसी साधारण वन आदि का प्रसङ्ग आया, कवियों ने अवसर के अनुकूल वर्णन किया है । हर्षचरित के सप्तम उच्छ्वास के अन्त में बाण ने वन-ग्राम का पूर्ण चित्र खींचा है । सहवास के कारण जिस प्रीति का उदय होता है वह नवीन स्थानों में नहीं उत्पन्न होती । सर्व प्राणी परमात्मा की सन्तान हैं, अतः समग्र भू-मण्डल अपने बन्धुओं का निवास-स्थान है । इस दृष्टि से तो सहवासजन्य प्रेम भूमण्डल के किसी भी भाग के दर्शन से प्रकट होना चाहिए । परन्तु यह विश्व-प्रेम किसी महात्मा के ही हृदय में उत्पन्न होता है, सर्वसाधारण के हृदय में इसका आविर्भाव नहीं होता ।

किसी स्थान पर कभी कोई विशेष घटना हो जाय तो उसके वर्णन से उस स्थान का वर्णन हृदयङ्गम हो जाता है । विन्ध्याटवी मध्यवर्ती अगस्त्य के आश्रम का वर्णन करते हुए महाकवि बाण ने श्रीरामचरित का बहुत रमणीय सम्बन्ध-वर्णन किया है । कुछ वचनों का स्वाद लीजिए—

"यत्र च दशरथवचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदनलक्ष्मीविभ्रमविरामो रामो महामुनिमगस्त्यमनुचरन्सह सीतया लक्ष्मणोपरचितरुचिरपर्णशालः पंचवट्यां कंचित्कालं सुखमुवास । चिरशून्येऽद्यापि यत्र शारवाणि लीननिभृतपाण्डुकपोतपङ्क्तयोऽमललग्नतापसाग्निहोत्रधूमराज इव लक्ष्यन्ते तरवः । बलिकर्मकुसुमान्युद्धरन्त्याः सीतायाः करतलादिव संक्रान्तो यत्र रागः स्फुरति लताकिसलयेषु । यत्र च पीतोद्गीर्णजलनिधिजलमिव मुनिना निखिलमाश्रयोपान्तवर्त्तिषु विभक्तं महाह्रदेषु । यत्र च दशरथसुतनिशितशरनिकरनिपातनिहतरजनीचरबहलरुधिरसिक्तमूलमद्यापि तद्रागानुविद्धमिवतिपलाशमिवाभाति नवाकिसलयमरण्यम् । अधुनापि यत्र जलधरसमये गम्भीरमभिनवजलधरनिवहनिनादमाकर्ण्य भगवतो रामस्य त्रिभुवनविवरव्यापिनश्चापघोषस्य स्मरन्तो न गृह्णन्ति शष्पकवलमजस्रमश्रुजललुलितदृष्टयो वीक्ष्य शून्या दश दिशो जराजर्जरितविषाणकोटयो जानकीसंवर्द्धिता जीर्णमृगाः" *

भाव यह कि दृश्य सुन्दर हों या सौन्दर्यहीन द्विविध दृश्यों का सत्कविकृत वर्णन चमत्कारक ही होगा । वैज्ञानिक के समान सत्कवि भी सब पदार्थों में असाधारण रूप को देखता है । अन्य जन प्रयत्न करने पर भी उस असाधारण रूप का साक्षात्कार नहीं कर सकते । सत्कवि वर्णन-द्वारा वस्तु का परिचय नहीं कराता, किन्तु वस्तु का उज्ज्वल चित्र खींच देता है ।

---

* जिस आश्रम में दशरथ की आज्ञा के पालन के लिए राज्य-त्यागी, रावण की लक्ष्मी के विलासों के अन्तकारी, राम ने महामुनि अगस्त्य का अनुगमन करते हुए पञ्चवटी में लक्ष्मण की बनाई सुन्दर कुटिया में कुछ काल तक सुख से निवास किया था; चिरकाल से जिस शून्यस्थान में आज भी शाखाओं में छिपे हुए चुपचाप श्वेत कपोतों की पङ्क्ति से युक्त वृक्ष तपस्वियों के अग्निहोत्र के निर्मल धूम की पङ्क्तियाँ लगी हुई जैसे मालूम होते हैं; बलिकर्म के लिए फूल चुनती हुई सीता के हाथों से मानो लगा हुआ रङ्ग बेलों की नई कोंपलों में प्रतीत होता है; जहाँ आश्रम के निकटवर्ती बड़े तालाबों में मुनि अगस्त्य ने प्रथम पिया और फिर निकाला हुआ सारा समुद्र-जल मानो बाँट दिया है; जहाँ आज भी राम के तीव्र बाणों के आघात से मृत राक्षसों के प्रचुर रक्त से सींचे हुए मूलवाला इसी लिए मानो रुधिर के वर्ण से सम्बद्ध उत्पन्न हुए पत्रों से युक्त नवीन पल्लवों से भूषित वन प्रतीत होता है; अब भी जहाँ वर्षा में नये मेघों के गम्भीर शब्द को सुनकर भगवान् राम के त्रिलोक-व्यापी धनुष्टङ्कार की स्मृति के कारण अश्रुजल से अतिव्याकुल नयनवाले, बुढ़ापे से जिनके शृङ्गों के अग्रभाग जीर्ण हो रहे हैं, ऐसे सीता-पालित बूढ़े हरिण घास का ग्रास नहीं लेते ।

यह तो हुआ काव्य के मुख्य रस के अङ्गभूत दृश्य-वर्णन का विचार। स्वतन्त्र आलम्बनरूप से जो दृश्य-वर्णन किया जाता है उससे काव्य के प्रधान रस का उत्कर्ष नहीं होता। उससे विलक्षण आनन्द अवश्य मिलता है। यद्यपि काव्यान्तर्गत दृश्यों का प्रधान रस से पास या दूर का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य होता है तथापि दूर-सम्बन्धी दृश्यों का वर्णन प्रधान रस के पोषक रूप से कम और स्वतन्त्ररूप से अधिक आनन्द-प्रद है। जिन खण्ड काव्यों में केवल पर्वत, वन, खेत, नदी आदि का वर्णन है वे स्वतन्त्ररूप से ही चित्तरञ्जन करते हैं। इस प्रकार के केवल दृश्य-वर्णन से पूर्ण काव्यों-द्वारा उतना आनन्द नहीं मिल सकता जितना शृङ्गार, करुण, वीर आदि रसों से भरे हुए काव्यों-द्वारा मिलता है। आत्मा में क्रोध, शोक, उत्साह, शम, चिन्ता आदि विविध भावों का उदय होता है। सरोवर में तरङ्गों के समान भावों का उत्थान-पतन सर्वदा होता रहता है। मनुष्य इन भावों के अनुसार प्राकृतिक साधनों का उपयोग कर इष्ट फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। इस जीवन-लीला का स्पष्ट अनुभव जिससे हो सके उस काव्य से आनन्द मिलेगा ही। जो ज्ञान अभ्यास से दृढ़ हो जाता है उसके संस्कार काव्यों के आलोचन-द्वारा उद्बुद्ध होकर आनन्द को उत्पन्न करते हैं। कुमारसम्भव के रति विलाप को पढ़ कर जैसा आनन्द मिलता है वैसा आनन्द पर्वत, नदी आदि के वर्णन से नहीं मिलता। चेतन जीव का प्राणियों से अधिक सम्बन्ध है, उस पर चेतन के व्यापार अधिक प्रभाव डालते हैं। प्रकृति के व्यापारों का प्रभाव उतना उत्तेजन नहीं कर सकता। चेतन का जिस जड़वस्तु से जितना निकट का सम्बन्ध है उतना ही जड़ वस्तुओं से चेतन पर प्रभाव पड़ता है। स्त्री के साथ अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। अतः उसके समग्र शरीर का या किसी एक अङ्ग का वर्णन अधिक प्रभावोत्पादक है। इसमें एक और भी कारण है। स्त्री शृङ्गार का आलम्बन है। उसका वर्णन करने पर रोमाञ्च आदि अनुभावों तथा उत्कण्ठा आदि सञ्चारी भावों का ज्ञान आक्षेप-द्वारा होकर रसानुभव करा देता है। इसी लिए संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों ने नारी के केवल अङ्गों का वर्णन भी बहुत किया है। वन, नदी, निर्झर आदि के देखने से मन में आह्लाद होता है, अतः दृश्य सम्बन्धी अनुराग का अपलाप नहीं हो सकता। परन्तु दृश्य-विष यक अनुराग रसावस्था को नहीं प्राप्त होता। रति; उत्साह क्रोध आदि स्थायी भाव ही विभाव आदि के सम्मिलन रसरूप को प्राप्त होते हैं। विभाव आदि का सम्मिल दृश्य-वर्णन में नहीं हो सकता। इसी आशय से पण्डित राज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में साहित्यदर्पण के "वाक् रसात्मकं काव्यम्" काव्य के इस लक्षण का खण्डन कि है। पण्डितराज कहते हैं—"यत्तु रसवदेव काव्यमि साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न। वस्त्वलङ्कारप्रधाना काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। महाकवि सम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्। तथा च जलप्रवाहवे निपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबाला विलसितानि च। न च तत्रापि यथाकथंचित्परंपर रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्। ईदृशा रसस्पर्शस्य "गौश् लति" "मृगो धावति" इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोज त्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्व दितिदिक्"। अर्थात् यदि रसान्वित वाक्य ही काव्य तो वस्तु-अलङ्कार प्रधान काव्यों में यह लक्षण न घटेगा। ऐसे काव्य काव्य ही नहीं यह तो नहीं कहा सकता, क्योंकि लक्ष्य के अनुसार लक्षण बनाया जा है। और महाकवियों ने जल के प्रवाह और वेगपू ऊपर-नीचे गिरने तथा वानर, बालक आदि की क्री का वर्णन किया है। यदि इनमें भी परम्परा के सम्बन्ध रस का स्पर्श है अतः ये भी काव्य हैं यह कहा जाय इस प्रकार का रस-स्पर्श गाय जाती है, हरिण दौड़ता इत्यादि वाक्यों में भी है। उनमें काव्यलक्षण चला जाय क्योंकि सब पदार्थ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी इन ती के अन्तर्गत हैं। यदि दृश्य-वर्णन से भी रस का उदय तो साहित्यदर्पण का लक्षण निर्दोष ही रहता है। का दृश्य वर्णन से युक्त काव्य भी सरस होने से काव्य जायँगे। दृश्य-वर्णन से युक्त कविता को पढ़-सुन दृश्य-सम्बन्धी जो अनुराग अभिव्यक्त होता है वह विभाव के सम्मिलन से आविर्भूत रस की समानता नहीं कर इसमें अनुभव परम प्रमाण है, जिसका अपलाप अश है। महाकाव्यों में रसों के उद्दीपक दृश्यों का वि

वर्णन रसपोषक होने से गुण है। परन्तु स्वतन्त्र आलम्बन-भूत दृश्यों का वर्णन यदि कवि ने अधिक किया तो वीर, शान्त आदि प्रतिपाद्य रसों की वृद्धि के प्रतिकूल रस-भङ्ग हो जायगा। जिसका विस्तृत वर्णन हो उससे सङ्कुचित वर्णन की प्रतीति मन्द हो जाती है। इसी अभिप्राय से भट्ट लोल्लट ने कहा है—

> यस्तु सरिदद्रिसागरनगतुरगपुरादिवर्णने यत्नः।
> कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः प्रबन्धेषु॥

अर्थात् नदी, पर्वत, समुद्र, वृक्ष, अश्व, नगर आदि के वर्णन में जो कवि का यत्न है वह केवल कवि के पाण्डित्य का प्रदर्शक है। अतः प्रबन्धों में ऐसा वर्णन नहीं करना चाहिए। विद्वत्ता के प्रकाशन की इच्छा से जिस काव्य की रचना होती है उसमें रसानुभूति से वञ्चित होकर रसिक की ऊँच-नीचे पथरीले मार्ग के पथिक के समान खिन्न हो कर प्रवृत्ति नहीं होती।

दृश्यों का एक अन्य रीति से भी वर्णन किया जाता है। आत्मा, हर्ष, शोक आदि में निमग्न होकर कवि कभी कभी प्राकृतिक वस्तुओं को भी हर्ष-शोक आदि युक्त दशा में देखता है। इस प्रकार का वर्णन सत्य और बड़ा मनोहारी होता है। हर्ष, शोक, वैराग्य आदि के प्रसङ्ग में सन्ध्या, अन्धकार, तारा, चन्द्र, आकाश, दिशा आदि की हर्ष, शोक, वैराग्य आदि युक्त अवस्था के वर्णन से प्रबन्ध प्रतिपाद्य हर्ष आदि का परम उत्कर्ष होता है। ऐसा वर्णन करते हुए चतुर कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के प्रयोग में सादृश्य की ओर विशेष ध्यान रखते हैं। उपमा आदि से उन्हीं वस्तुओं का सादृश्य प्रकाशित किया जाता है जिनसे कोई प्रतिकूल भाव उत्पन्न न हो। भिन्न भिन्न उपमायें या उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कार अपने अवसर में ही शोभा देते हैं, अतः हर्ष के अवसर में जिसकी उपमा रमणीय वस्तु से दी गई है, शोक के समय उसकी प्रतिकूल पदार्थ से उपमा सुन्दर ही कही जायगी। इस प्रकार के वर्णन में अति-निपुण बाण ने कादम्बरी और हर्षचरित में हर्ष, शोक आदि अवसरों के अनुकूल उपमा आदि का योग बहुत किया है। हर्षचरित के उदाहरणों से यह स्पष्ट किया जाता है। राज्यश्री के विवाह के लिए ग्रहवर्मा का जिस दिन आगमन हुआ उस दिन के सन्ध्याकाल के आरक्त सूर्य का और सन्ध्याकाल के अनन्तर फैलते हुए अन्धकार तथा तारा और चन्द्र के उदय का वर्णन यह है—

अथ सकलकमलवनलक्ष्मीं वधूमुख इव संचार्य समवासितो वासरे, विवाहदिवसश्रियः पादपल्लव इव रज्यमाने सवितरि, सौभाग्यध्वज इव रक्तांशुकसुकुमारवपुषि नभसि स्फुरति सन्ध्यारागे, कपोतकण्ठकर्बुर वरयात्रागमनरजसीव कलुषयति दिङ्मुखानि तिमिरे, लग्नसंपादनसज्ज इवोज्जिहाने ज्योतिर्गणे, विवाहमङ्गलकलश इवोदयाशिखरिणा समुत्क्षिप्यमाणे वर्धमानधवलच्छाये ताराधिपमण्डले[*]। यहाँ पर सायङ्काल के रक्त सूर्य में लक्ष्मी के अरुण चरण की, सन्ध्याराग में सौभाग्य-सूचक ध्वजा की, अन्धकार में बरात की धूलि की, नक्षत्रों में ज्योतिषियों की, चन्द्रमा में विवाह के मङ्गल-घट की उत्प्रेक्षा की गई है। शोक के अवसर में इसके प्रतिकूल शोकोचित उत्प्रेक्षा का प्रयोग है। प्रभाकर-वर्द्धन का जिस दिन सायङ्काल परलोक-प्रयाण हुआ उस समय का वर्णन इस प्रकार है—

[†]अस्मिन्नवान्तरे पूषाप्यायुषेव तेजसा व्ययुज्यत। ततश्च लज्जमान इव नरपतिजीवितापहरणजनितादात्मापराधाद-

---

[*] इसके अनन्तर सारे कमलों की शोभा को मानो वधू के मुख में सङ्क्रान्त कर के दिन के समाप्त होने पर, विवाह-दिन की लक्ष्मी का मानो चरणपल्लव हो ऐसे सूर्य के आरक्त होते हुए, रक्त अंशुक (किरण-वस्त्र) से सुन्दर शरीर आकाश में सन्ध्याकाल के वर्ण के—मानो सौभाग्य-सूचक ध्वजा हो—प्रकाशमान होते हुए, कपोत की ग्रीवा के समान चित्रवर्ण अन्धकार के—मानो बरात के जाने से उठी हुई धूलि हो—प्रकाशमान होते हुए, ज्योति (ज्योतिषी-तारे) समूह के—मानो लग्न के सम्पादन में तैयार हो—उदित होते हुए, बढ़ रही है कान्ति जिसकी ऐसे चन्द्रमण्डल के—मानो विवाह का मङ्गल-घट हो—उदयाचल से ऊपर किये जाने पर।

[†] इसी समय सूर्य भी तेज से मानो आयु से विमुक्त होगया। और तब राजा के प्राणों के अपहरण से उत्पन्न अपने अपराध से मानो लजाता हुआ मुख नीचा करके रक्तवर्ण हो गया। मानो रोने से लाल रङ्गवाली लोगों की आँखों की कान्ति से—जगत् के लाल होते हुए, मानो दिशारूप वधू के फूटे हुए हृदय का रुधिर-प्रवाह हो—ऐसे अरुण वर्ण

धोमुखस्ताम्रतां प्रपेदे ।""""रोदनताम्रसकललोकलोचनरुचेवलोहितायति जगति, """"स्फुटितदिग्वधूहृदयरुधिरप्लुव इव गलिते रक्तातपे, क्रमेण च लोकान्तरमुपगतवत्यनुरागशेषे जाते तेजसामधीशे, गगनतलवितन्यमानवहलरागपाटलायां प्रेतपताकायामिव प्रवृत्तायां सन्ध्यायां, शवशिविकालंकारकृष्णचामरमालास्विव स्फुरन्तीषु दर्शनप्रतिकूलासु तिमिरलेखासु, असितागुरुकालकाष्ठायां केनापि चितायामिव रचितायां रजन्यां,""""नाकपथप्रस्थितपार्थिवप्रत्युद्गतपुरुहूतातपत्र इव पूर्वस्यां दिशि दृश्यमाने चन्द्रमसि ।

इसी रात्रि के व्यतीत होते हुए प्रभातकाल की मन्दकान्ति तारकाओं का वर्णन यह है—

प्रभातसमयेन समुत्तीर्यमाणासु पथिवास्थिशकलकलास्विव कलविङ्ककन्धराधूसरासु तारकासु"। अर्थात् चटक की ग्रीवा के सदृश कुछ श्वेतवर्णवाली तारकाओं के—मानो राज़ा की हड्डियाँ हों—छिपते हुए ।

ये दोनों वर्णन अपने स्थान पर बहुत सुन्दर हैं ।

दृश्यों के वर्णन में अलङ्कारों का प्रयोग करना चाहिए या नहीं ? यदि किया जाय तो किस प्रकार करना चाहिए यह भी विचारणीय है । अलङ्कारों से वस्तु, अलङ्कार, रस इन तीन प्रधान व्यङ्गयों में तथा वाच्य वस्तु और अलङ्कारों में रमणीयता आ जाती है । रस, भाव आदि की अभिव्यक्ति भी स्पष्ट हो जाती है । उद्दीपन रूप में दृश्यों का वर्णन हो तो अनुरूप उपमा, उत्प्रेक्षा आदि से रस, भाव आदि की पुष्टि होती ही है । आलम्बनभूत दृश्यों के वर्णन-स्थल में भी परम्परा-सम्बन्ध से प्रधान प्रतिपाद्य रस की रमणीयता में अलङ्कार कुछ सहायता तो अवश्य देते हैं, परन्तु दृश्य-सम्बन्धी अनुराग के उत्कर्ष में अलङ्कार परम कारण हैं । ऐसे स्थलों में प्रायः वाच्य का चमत्कार होता है, व्यङ्गय अविद्यमान सा रहता है । दृश्य-वर्णन-स्थल में स्वभावोक्ति या उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग होता है। उत्प्रेक्षा आदि के प्रयोग में कवि की सावधानता बहुत चाहिए । उत्प्रेक्षा आदि से अलङ्कृत करने की धुन में कभी कभी कविजन दृश्य का स्वरूप विकृत कर देते हैं । इससे तो यही उत्तम है कि अलङ्कारों के ढूँढ़ने में प्रयास ही न किया जाय । औचित्य सहित हों तो उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि-द्वारा दृश्य-सम्बन्धी सुन्दरता, भीषणता, पवित्रता आदि का उत्कृष्ट ज्ञान होता है । वर्णनीय वस्तुओं के अन्य समान वस्तुओं से सादृश्य दिखाने पर दृश्य का स्वरूप विषय और भी मनोहारी प्रतीत होने लगता है। इसके साथ ही उत्प्रेक्षा आदि के सामर्थ्य से वस्तु के नाना रूपों का आभास होता है । स्वाभाविक वर्णन से भी वस्तु-स्वरूप की प्रतीति होती है । पर जो चमत्कार अनेक पदार्थों के मेल से होता है वह नहीं मिल सकता । उत्प्रेक्षा आदि वर्णनीय विषय में ध्यान को आकृष्ट कर लेते हैं । कवितार्किककेसरी वेंकटाचार्य ने 'यादवाभ्युदय" में जिस रात्रि को भगवान् कृष्णचन्द्र ने अवतार लिया उस रात्रि के चन्द्रोदय का वर्णन इस प्रकार किया है—

तमस्समाक्रान्तिवशेन पूर्वं जज्ञे निमग्नैरिव भूतधात्र्याम्।
ततस्तुषारांशुकरावगूढै रुत्तभ्यमानैरिव शैलशृंगैः ॥
मृगेण निष्पन्नमृगाजिनश्रीः स्वपादविक्षेपमितान्तरिक्षः।
मुरद्विषो वामनमूर्त्तिभाजः पर्यायतामन्वगमच्छशाङ्कः ॥
उदारतारागणबुद्बुदौघश्चन्द्रेण संपन्नसुधाप्रसूतिः ।
अशेषदृश्यामधिगम्य लक्ष्मीमालोकदुग्धोदधिराबभासे[*] ॥

धूप के नीचे उतर जाने पर, और क्रम से तेज के अधिपति (सूर्य-राजा) के अन्य लोक में जाने पर इसी लिए जिसका अनुराग (रक्तिमा-भक्ति) ही अवशिष्ट है । आकाश में फैलते हुए बहुत रङ्ग से श्वेत और रक्त वर्णवाली सन्ध्या के—मानो प्रेत की ध्वजा हो—प्रवृत्त होते हुए । देखने में खेदकारक अन्धकार की पङ्क्तियों के—मानो शव-यान के आभूषण काले चवरों की पङ्क्तियाँ हों—प्रकाशमान होते हुए, काले अगरु के समान कृष्ण वर्ण काष्ठ (दिशायें-लकड़ी) हैं जिसकी ऐसी रात्रि के—मानो चिता हो—किसी से बनाये जाने पर । पूर्व दिशा में चन्द्र के—मानो स्वर्गमार्ग के लिए जाते हुए राजा के लिए शिष्टाचार के अनुसार प्रत्युद्गमन जिसने किया है ऐसे इन्द्र का छत्र हो—दिखाई देने पर ।

[*] पर्वतों के शिखर अन्धकार के फैल जाने से पहले पृथ्वी में डूब से गये, अनन्तर चन्द्र की किरणों का स्पर्श होने के कारण मानो ऊपर उठने लगे । मृग (कलङ्क) से मृगचर्म की शोभा जिसकी बनी है, अपने पाद (किरण-चरण) के न्यास से आकाश को जिसने माप लिया है, ऐसा चन्द्रमा वामन अवतारधारी कृष्ण की समता को प्राप्त हो

उत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष रूपक से अलङ्कृत इन श्लोकों के श्रवण से चन्द्र के सुन्दर आलोक का अतिशय ही प्रतीत होता है। अलङ्कारों-द्वारा वस्तुस्वरूप तिरोहित या विकृत नहीं प्रतीत होता। तात्पर्य यह कि उत्प्रेक्षा आदि का अनुकूलता से प्रयोग किया जा सके तो करना चाहिए, नहीं तो स्वाभाविक वर्णन से ही सन्तोष करना योग्य है। स्वाभाविक वर्णन से वस्तु के यथार्थ ज्ञान में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

ईश्वरचन्द्र ब्रह्मचारी

कीर्ति के पथ में।

(१)

लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि संसार में सभी जन्म लेते और मरते हैं, परन्तु सफल उन्हीं का जीवन है जिनसे देश अथवा जाति समुन्नत होती है। यह भारत-भूमि कभी वीर-प्रसू कही जाती थी। इसके इतिहास में कितने ऐसे वीरों के नाम प्रसिद्ध हैं। परन्तु यहाँ ऐसे भी वीर हो गये हैं जिनकी कीर्ति उनके कृत्यों में ही है। इतिहास में उनका नाम नहीं है, काव्यों में उनकी यशोगाथा नहीं है। मनुष्य के जीवन की सार्थकता यश की प्राप्ति में नहीं है। कृति में ही उसकी सफलता है। लोग उनका नाम जाने अथवा न जाने किन्तु उनकी कृति अक्षय रहती है, अलक्षित रूप से भी वह बनी रहती है। सच तो यह है जिस जाति में ऐसे अज्ञात वीर होते रहते हैं वह जाति कभी जरा-जीर्ण नहीं होती। यदि भारतीय जाति अब मृतप्राय हो रही है तो उसका कारण ऐसे ही वीरों का अभाव है। राजपूत-जाति भारतीय इतिहास में अपनी अलौकिक वीरता और देश-भक्ति के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ उसी जाति के कुछ वीरों की चर्चा की जाती है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध हैं और कुछ अप्रसिद्ध। कुछ अपने रण-कौशल के लिए विख्यात हैं, कुछ अपनी बुद्धि के लिए और कुछ अपने असाधारण जीवन के लिए। परन्तु सभी के कृत्य उनकी आत्म-गरिमा के द्योतक हैं। वे सभी अपने ही महत्त्व से महीयान् हैं। संसार की कीर्ति उनकी इस महिमा को बढ़ा नहीं सकती, किन्तु वही अपनी महिमा से विश्व की कीर्ति को बढ़ाते हैं। वे स्वयं नष्ट होकर देश की प्रतिष्ठा को अचल रखते हैं। वही देश के यथार्थ यश-स्तम्भ हैं। अस्तु। अब हम एक एक वीर की कृतियों का वर्णन करते हैं।

देवराज—इनका जन्म एक ऐसे कुल में हुआ था, जो विविध जाति के शत्रुओं से बारम्बार पीड़ित, दुःखित और पराजित होकर अस्तव्यस्त होता चला आ रहा था। ये 'ननौट' के अधीश्वर विजयराज की बूता-जाति की रानी के गर्भ से विक्रम-संवत् ८६० में उत्पन्न हुए थे। अपने जन्म के पीछे बहुत वर्षों तक इन्होंने विपत्ति का ही अनुभव किया। इनके पिता विजयराज ने शत्रुओं के षडयन्त्र में पड़कर इनका विवाह भटिंडो के बराहा लोगों के घर ठीक

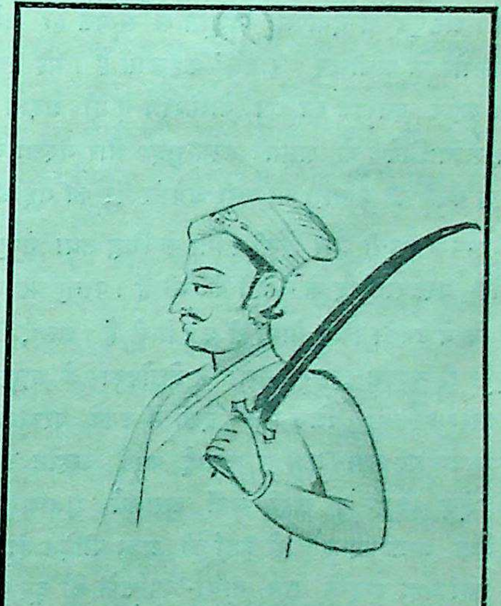

देवराज।

गया। विशाल नक्षत्र-समूहरूपी बुद्बुदों से युक्त, चन्द्र-द्वारा अमृत की उत्पत्ति का स्थान प्रकाशरूपी दुग्ध-समुद्र सबके देखने योग्य शोभा को प्राप्त कर प्रकाशित होने लगा।

किया था। जब वे बरात लेकर भटिंडा गये तब दुष्ट बरहा लोगों ने बरात-सहित विजयराज का विनाश कर दिया और देवराज की खोज करते हुए उन्होंने इनकी राजधानी में जाकर वहाँ के सम्पूर्ण अधिवासियों को भी मार डाला।

इस विपत्ति के समय देवराज उसी बरहा-राज्य में ही वर्षों तक छिपे रहे। उनकी माता पीहर भाग गई थी। अन्त में एक योगिराज के अनुग्रह से उन्होंने 'भटनेर' में ५२ बुर्ज का एक बड़ा भारी क़िला बनवाया। फिर उन्होंने योगिराज के आज्ञानुसार अपना राज्याभिषेक करवाया। योगिराज सिद्ध पुरुष थे। 'झरझर कन्था' और 'रस-घट' ये दो पदार्थ उनके पास अलौकिक थे। कन्था से इच्छित वस्तुओं को प्राप्त करना और घड़े के रस की बूँद से किसी भी धातु को सोना बना देना उनके आश्चर्य-जनक कार्य थे। देवराज को ये दोनों वस्तुएँ योगिराज ने दे दीं। अतएव वे देवोपम विभूति से सम्पन्न हो गये। जयसलमेर के अधीश्वर 'रावल' कहलाते हैं। यह पदवी पहले पहल देवराज को उस योगिराज ने ही प्रदान की थी। राज्याभिषेक के समय भस्म-मुद्रा और गेरुआ वस्त्र धारण करने की प्रतिज्ञा भी उसी अवसर पर की गई थी।

रावल पदवी और शेली-शींगी के चिह्न तथा तम्बुओं के गेरुए वस्त्र सामोद के नरेशों के भी हैं। परन्तु यह पता नहीं कि ये उनको किस योगी से कब मिले हैं। अस्तु, दिव्य विभूति से सम्पन्न होकर देवराज ने देशोपकार के अनुष्ठानों का आरम्भ किया। जिन जिन देशों में उनके परम्परागत शत्रु थे उन पर क्रम क्रम से चढ़ाई करके उन्होंने उनका मूलोच्छेद किया। जहाँ जहाँ असमर्थ राजाओं पर अनुचित आक्रमण होने से वहाँ की प्रजा पीड़ित हो रही थी, वहाँ वहाँ उन्होंने सब बाधा-विपत्तियों को दूर करके सदा के लिए स्थायी शान्ति प्रवर्तित की।

देवराज ने 'नौकूँटी मारवाड़' के अधीश्वर बने हुए लङ्गाहा तथा बरहा लोगों के साथ घोर युद्ध करके उनको परास्त किया, अपने अभिमानी नाना की अमित सेना का संहार करके उनको हतप्रभ किया, अपने नगर के महाधनी यशोकर्ण वैश्य को अपमानित करने के अपराध में धारा के अधीश्वर को धराशायी करके पँवारों का संहार किया, पूँगल, भटनेर, देरावल, शातलमेर, कसेहट कैरावल, पाडकर तथा देहड़ी के बड़े गड़े क़िलों के अधीश्वरों को परास्त कर उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। इनके अतिरिक्त उन्होंने लंडुवा-राज्य की स्थापना की और उद्द राजाओं को नतमस्तक कर अपना यश फैलाया।

बचपन में जिन देवराज के पास हाथ में लोहे की तलवार के सिवा और कोई धन नहीं था और जो बरहाओं के पुरोहित के साथ अपनी प्राण-रक्षा के लि वन वन मारे मारे फिरते थे वही देवराज अप भुजबल के प्रभाव से बड़े बड़े नौ क़िलों के अधीश्वर हुए उनके पैंतालीस रानियाँ थीं। उनके पास ५६ हज़ा अश्वारोही और लक्षावधि उष्ट्रारोही (शुतुरसवार) थे उनकी रानियों में १९ ऐसी रानियाँ थीं जिनका जन प्रसिद्ध राज-घरानों में हुआ था।

देवराज के दान-मान और सामर्थ्य बढ़े हुए थे उनकी प्रजा भी उनसे सन्तुष्ट और प्रसन्न थी। अन्त में वे बिलोचियों के साथ युद्ध करते समय संवत् १०११ में मारे गये। उनसे सात पीढ़ी पीछे जयसलमेर-राज्य के संस्थापक जयसल ने संवत् १२१२ के श्रावण में जयसलमेर को बसाया।

पूँगल की पद्मिनी—प्रायः स्त्रियाँ लज्जावती कुल ललनाओं को आक्षेप रूप में कह बैठती हैं कि 'क्या तू पूँग की पद्मिनी है?' परन्तु उनको यह बात नहीं मालूम है कि 'पूँगल' कहाँ है और उसकी पद्मिनी कौन थी। इ प्रसिद्ध कहावत के अप्रसिद्ध अंश को सुप्रसिद्ध करने लिए उस वीर-नारी की योजना यहाँ प्रासङ्गिक ही है।

उपर्युक्त कहावत की पद्मिनी 'कोक' की कही हु पद्मिनी नायिका नहीं है। वह वास्तव में पूँगल नगर की पद्मिनी नामक एक स्त्री थी। उसका जन्म संवत् १२८ के लगभग हुआ था। वह 'रणथम्भोर' के अधिप 'हठी हम्मीर' की पटरानी थी। उसके जन्म-काल के दि में पूँगल समृद्धिशाली नगर था। पद्मिनी केवल सुन्दर में ही सुरसुन्दरी नहीं थी, किन्तु वीरता में भी वह अ तिम थी। सोलहों श्रृङ्गार कर चुकने के बाद यद्यपि प्रतिदि वह फूलों से तोली जाती थी तो भी पङ्गु प्राणियों प्राण-पोषण के लिए कई बार कोसों पैदल यात्रा करती थी उसने अपने जीवन-काल में दीन-दुखियों का असाधार

उपकार किया था। उसने लोकोपकारी कामों में अपना अमित धन और अधिक समय लगाया था।

मुहम्मद ख़िलजी जिस भांति उसके सुन्दर प्रतिबिम्ब की परछाईं-मात्र से विक्षिप्त बन गया था उसी भांति वह उसके सतीत्व-रक्षण के साहसपूर्ण आयोजनों को देख कर भी आश्चर्यचकित या दङ्ग रह गया था।

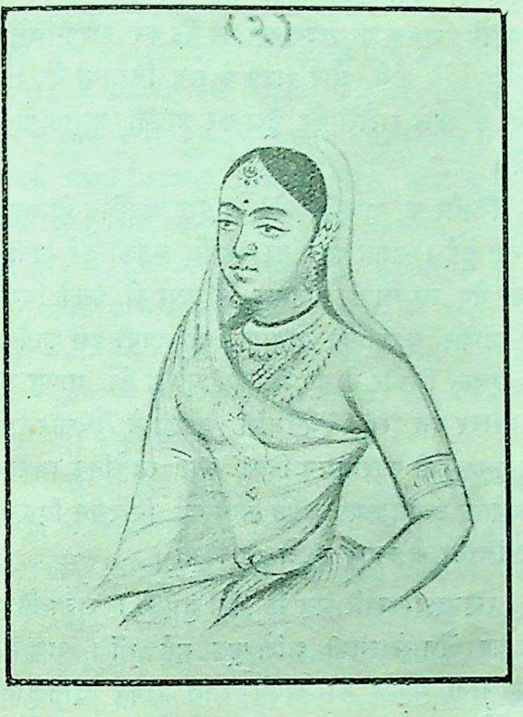

पूँगल की पद्मिनी।

उस शक्तिरूपिणी सती नारी के नाम के विशाल वासभवन तथा 'पद्मिला' नामक सरोवर 'रणथम्भोर' में अभी तक उसके स्मृति-चिह्नों में अवशिष्ट हैं और कालचक्र के सङ्घर्षणों से सङ्कीर्ण होता हुआ 'पूँगल' नगर भी सामान्य गांव के रूप में बीकानेर-राज्य में मौजूद है।

चूण्डाजी—इनका जन्म संवत् १४४० के लगभग हुआ था। इतिहास-ग्रन्थों में इनके चण्ड, चौण्डा, चण्डा और चन्द्र नाम भी मिलते हैं। किसी एक मनुष्य में वीरता और धैर्य दोनों गुण समान-रूप से नहीं पाये जाते। यदि कोई धैर्यवान् है तो सर्वस्व जाते हुए भी वह धैर्य नहीं छोड़ता और यदि वीर है तो सर्वस्व प्राप्त होते हुए भी वह अपना प्रण नहीं तोड़ता। परन्तु प्रगाढ़ धैर्य और विपुल वीरता ये दोनों गुण चूण्डा में समान-रूप से विद्यमान थे।

चूण्डा चित्तौर के राना लाखा के टीकायी बेटे थे। जिस समय राना लाखा ईश्वर का भजन करने के लिए राज-पाट छोड़ने का विचार कर रहे थे उसी समय मारवाड़ के रणमल्ल राठौर ने चूण्डा के लिए विवाह का टीका भेजा। रणमल्ल अपनी पुत्री के साथ चूण्डा का विवाह करना चाहता था। चूण्डा की प्रचण्ड वीरता से राना सन्तुष्ट थे। इसलिए उन्होंने रणमल्ल की पुत्री के साथ अपने पुत्र का विवाह उचित समझा। टीके का दरबार किया गया। राना के शूर-सामन्त तथा सरदार लोग उपस्थित हो गये। चूण्डा भी राज-प्रासाद में अपनी पोशाक पहन कर तैयार हुए। परन्तु इसी अवसर पर राना ने मनोविनोद-मात्र के लिए सम्बन्धी की ओर के आगन्तुक मनुष्यों से कहा कि 'यदि रणमल्ल यह टीका हमारे लिए भेजते तो क्या हम अभी बूढ़े थोड़े ही थे।' बस इस कथन के भावार्थ को विचार कर चूण्डा ने टीका लेना स्वीकार नहीं किया।

हँसी में कही गई बात का गूढ़ार्थ लगानेवाले चूण्डा को लाखा राना ने लाख बार समझाया और डराया-धमकाया भी, परन्तु प्रणवीर चूण्डा अटल ही बना रहा। तब राना ने विनाशकारी बातों का विचार करके टीका को वापस नहीं किया, बरन लाचार होकर उसे अपने लिए स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही उन्होंने चूण्डा से कह दिया कि अब तू इस राज्य के अधिकार से सदा के लिए वञ्चित हो गया।

पिता की क्रोधाग्नि के प्रचण्ड ताप से चूण्डा का हिमसम धैर्य रत्ती भर नहीं पिघला। उन्होंने चित्तौर जैसे राज्य की वैभव-विभूति को विभूति जैसी तुच्छ समझ कर प्रसन्नतापूर्वक प्रतिज्ञा-पत्र लिख दिया कि 'रणमल्ल की पुत्री के पेट से पुत्र होने पर मैं राज्य का अधिकारी नहीं रहूँगा। केवल यह अधिकार अवश्य रहेगा कि राजाज्ञा से सम्बन्ध रखनेवाले प्रमाण-पत्रों या पट्टों आदि पर मेरे भाले का चिह्न सदैव करना होगा।'

भविष्य बलवान् होता है। उसकी अमिट रेखा मिट नहीं सकती। पचास वर्ष के बूढ़े राना का विवाह बारह वर्ष की बालिका से हो गया। राज्य के झञ्झटों से पिण्ड छुड़ा कर सन्तों का सत्सङ्ग करनेवाले राना को महलों में रह कर नव वधू का सङ्ग करना पड़ा। ईश्वर की दया से दो वर्ष पीछे उनके मुकुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्रोत्सव के पीछे राना तो हिन्दुओं के हितकारी गयाक्षेत्र के उद्धार में सम्मिलित होकर विलीन हो गये और पवित्रहृदय चूण्डा ने पाँच ही वर्ष के मुकुल को चित्तौर के चमकते हुए राज-सिंहासन पर बिठा कर बड़े उत्साह से उनका राज्याभिषेक किया।

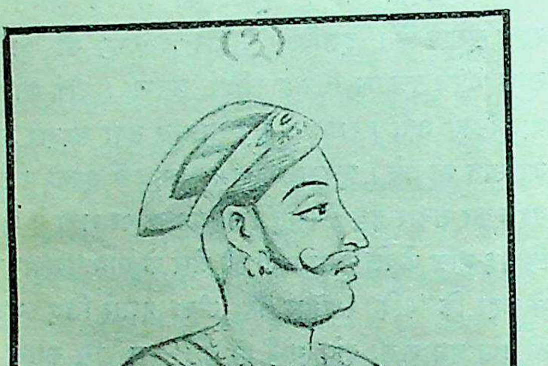

चूण्डाजी ।

राजपूतों में टीकायी को गद्दी पर बैठाने की जो रीति प्राचीन काल से चली आ रही थी उसी रीति को उठा देने के लिए उदार चूण्डा ने पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार समस्त सामन्तों के सामने सुकुमार राना का सेवक होना सहर्ष स्वीकार किया और सच्चे स्वामि-भक्त की भाँति उनकी सेवा में उपस्थित होकर अच्छी व्यवस्था से रा काज करने लगे।

कुछ दिन पीछे मुकुल की माता ने कुचक्रियों के क में आकर चूण्डा को कलङ्क लगा कर उनके हाथ राज-काज के सारे अधिकार ले लिये और अपने पि रणमल्ल को राज्य-प्रबन्ध सौंप दिया। जिस व में रणमल्ल वर्षों से लगा था वह अब लग गई। रा के बहाने रणमल्ल ही राज्यासन पर बैठ कर राज्य-चिह्नों शोभित होने लगे और राज्य के सब विभागों में मे ड़ियों के बदले राठौरों को ठूँस कर अपनी प्रभुता फै लगे।

चित्तौर के शुभचिन्तकों को इस अनुचित योजना चिन्ता हुई। समय आने पर उन्होंने बहकी हुई रानी सच्चा भेद समझाया, रणमल्ल के ऊपर से उनके वि को हटाकर चूण्डा पर जमाया। वे अपनी इस कार्यवा की सूचना चित्तौर से दूर बैठे हुए चूण्डा को माण्डू-रा में बराबर देते रहे। धैर्यधारी चूण्डा ने चित्तौर-र को गुप्तरूप से आश्वासन दिया और साङ्केतिक व्यवह आवश्यक उद्योग तथा अपने आने का निश्चित दिन कर चित्तौर के उद्धार का प्रयत्न किया।

रणमल्ल राज्यलिप्सा में फँसे हुए थे। राज्य-वि की चकाचौंध से उनकी आँखें फूल गई थीं। राज-म बाल राना मुकुल को अपने साथ लेकर दीन-दुखि के उपकार के लिए एक एक दो दो दिन तक चित्तौ बाहर भी रहने लगी थीं। परोपकार के प्रयोजन से पास आने-जानेवालों का जमघट भी ज़्यादा होने ल पाई हुई प्रभुता के प्रमाद से इस रहस्य का परिणाम मल्ल को दीखता नहीं था। वह रनवास की दासियों साथ रह कर भोग-विलास में ही मग्न रहता था। अवसर पर कृष्णा चतुर्दशी के प्रदोष-समय मुकुल के के सवारों में एक साधारण सैनिक के रूप में प्र चूण्डा चित्तौर में घुस आये और विलास-भूमि बने चित्तौरगढ़ को रणाङ्गण में परिणत कर दिया।

महत्त्व-सम्पन्न चूण्डा ने उस समय राठौरों से अ श्रान्त घोर युद्ध करके उनको चित्तौर से निकाल बा किया। चूण्डा के आने से चित्तौर में सुख-शान्ति स्था

हुई । अन्त में चूण्डा सलूँबर के अधीश्वर हुए और वहीं उनके वंशज चूण्डावत कहलाये । मेवाड़-राज्य के प्रमाण-पत्रों पर चूण्डा के भाले का चिह्न अब तक अङ्कित किया जाता है और सलूँबर के सामन्तगण मेवाड़-राज्य में अब तक बड़ी प्रतिष्ठा पाते हैं । उक्त चिह्न चूण्डा के चित्र में अङ्कित है और रानाजी की सही उसके साथ में है ।

रायशील (तँवर)—ये संवत् १४६० के समीप उत्पन्न हुए थे । राजपूताने में बत्तीसी नाम का एक प्रान्त है । उसी के अन्तर्गत एक विशाल पर्वत पर गणेशर नाम का एक गाँव बसा हुआ है । उसके अधो-भाग में पाँच सौ वर्ष पहले 'भोजपुर' नाम का एक गाँव था । अब इसका कोई चिह्न मौजूद नहीं है । रायशील का जन्म इसी गाँव में हुआ था । बढ़ती हुई जवानी के वेग में उदार रायशील ने स्वजाति के रक्त-प्रवाह से अपने हाथ कभी नहीं रँगे । उन्होंने लोगों का मनोमालिन्य सदा शान्ति के साथ दूर किया, इस प्रकार हत्याकाण्डों को अनेक बार रोका था ।

रायशील का समय लूट-मार का ज़माना था । भोजपुर के अधिवासी भी डाकुओं से भयभीत रहते थे । शान्तिशील रायशील ने उसके समीपवर्ती पर्वत पर उपर्युक्त गणेशर गाँव बसाया । गाँव के ऊपर वहीं अपनी सुविशाल कोठड़ी तथा चौसिला नाम का दरबार-गृह बनवाया । ये सब वहाँ अब भी मौजूद हैं । वहीं बैठ कर रायशील न्याय करते थे । युद्ध का प्रयोजन पड़ने पर गाँवों के भोमियें वहीं इकट्ठे होते थे । आपस के वैर-भाव से दो गाँवों में परस्पर युद्ध की तैयारी देखकर रायशील शान्ति से काम लेते थे और अपने निष्पक्ष न्याय के द्वारा दोनों ओर का मनमुटाव दूर कर देते थे । इतने पर भी इनको भूधौली और मांवड़े के युद्धों में भाग लेना पड़ा था, जिनमें विजयश्री भी इन्हीं को प्राप्त हुई थी ।

रायशील की कीर्ति-कथा का एक जाज्वल्यमान प्रमाण गणेशर में अब भी मौजूद है और उससे गणेशरवालों का अखण्ड उपकार अब तक हो रहा है ।

गणेशर में जल की सुविधा नहीं थी । पहाड़ के नीचे जाकर लोगों को पानी लाना पड़ता था । इस कष्ट को दूर करने के लिए रायशील ने देवोपम उपाय किया । पर्वत के पूर्ववर्ती पसवाड़े में बहुत दूर तक फैले हुए जटिल और सघन वन के बीच एक जलाशय था । उसके पास पहुँचने का रास्ता बीहड़ और भयानक वन से आवृत था । रायशील ने उदारतापूर्वक धन-व्यय करके उस वन को कटवा डाला और उस जलाशय का पुनरुद्धार किया । उस जलाशय में गर्म जल का एक स्रोत निकला । उसका जल स्वच्छ और मीठा है, यह जान कर रायशील ने उसे गोमुख द्वारा प्रवाहित होने का प्रयत्न किया । उस स्थान की उत्तर दिशा में उन्होंने एक सुविशाल दीवार बनवाई । दीवार से मिला हुआ बड़े बड़े पत्थरों की चौकोर चौकियों का एक बड़ा लम्बा-चौड़ा कुण्ड बनवाया । उसी कुण्ड में उक्त दीवार में लगे हुए गोमुख से उस गर्म जल के प्रवाह को बहाया । आज पाँच सौ वर्ष बाद भी स्वच्छ सुमिष्ट गर्म जल का वह गहरा नाला दिन रात निरन्तर बहता रहता है और गणेशर के निवासियों तथा स्नानार्थ आनेवाले हज़ारों नर-नारियों का लोकोत्तर उपकार कर रहा है ।

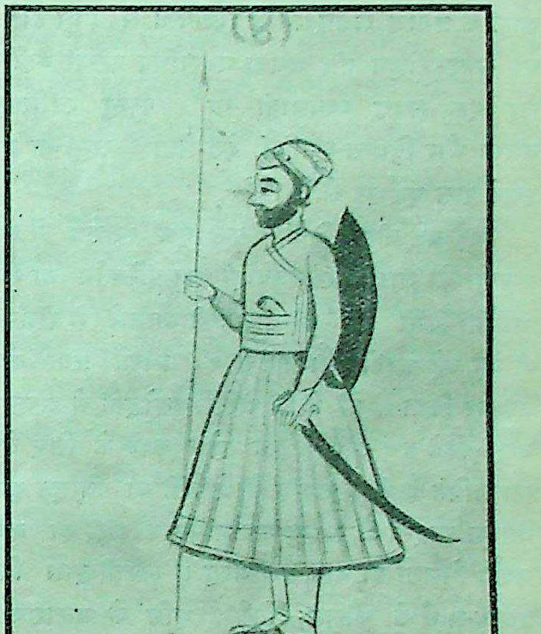

रायशील ।

उपर्युक्त कुण्ड की प्रतिष्ठा संवत् १५१० के वैशाख

शुक्ल २ बुधवार को की गई थी। उस अवसर पर होम, यज्ञ, दान, पुण्य तथा अष्टोत्तर शत गोदान हुए थे और बहुसंख्यक ब्राह्मण खिलाये गये थे। अब वह तीर्थस्थान की महिमा से संयुक्त है और रायशील की कीर्तिवल्ली को बढ़ा रहा है। इस कुण्ड की आश्चर्यजनक अन्य बातें किसी स्वतन्त्र लेख में लिखी जायँगी।

लक्खी बनजारा—इसकी जात-पाँत, नाम-धाम तथा समय का ठीक पता नहीं, परन्तु संवत् १५३५ से संवत् १८६० तक इसके और इसके वंशजों के स्थिति-काल के प्रमाण राजपूताने में विशेषता से प्राप्त होते हैं। यह समर-लोलुप वीर अथवा नगराधिप नरेश्वर नहीं था। यह एक सुदक्ष व्यवसायी था। परन्तु शान्तिमूलक वीरता और दिगन्त-व्यापिनी देश-सेवा के समुचित साधन इसके पास पूर्णरूप से थे।

बड़े बड़े वीर क्षत्रियों ने एक एक रणक्षेत्र में हज़ारों मनुष्यों को मार कर रजवाड़ों का परिवर्तन या स्थापन भले ही किया हो, परन्तु लक्खी बनजारे ने राजपूताना के बड़े बड़े शहरों और गाँवों की लाखों प्रजा का जो उपकार किया है वह किसी अंश में युद्धोद्धतों से अच्छा है। उसके किये हुए उपकारों का उल्लेख करने के लिए लेखनी लालायित है और लेखक भी लक्खी का विस्तृत वृत्तान्त बताना चाहता है, परन्तु उस महान् उपकारी का क्रमबद्ध वर्णन मिलता ही नहीं है। अस्तु। लक्खी-द्वारा निर्मित उद्यान-मार्ग के चौराहे, निर्जल भूमि के जलाशय और पथिकाश्रम उसका जो यशोगान इस समय कर रहे हैं उसी के आधार पर उसकी जीवन-कथा संक्षेप में यहाँ कही जाती है।

लक्खी जाति का बनजारा वैश्य था। वह स्वाभिमानी, कुशल, व्यापारी और सुप्रबन्धक था। उसके पास एक लाख बैल सदा मौजूद रहते थे। व्यापार के केन्द्र-स्थानों में वे यथासंख्य नियत रहते थे। उन्हीं के द्वारा एक देश का माल दूसरे देशों में लाया और पहुँचाया जाता था। माल भरने के दश लाख बोरे गोदाम में मौजूद रहते थे। बोरे, रस्सी, डोरे, बादड़ी तथा झूल आदि के बनानेवाले अलग नियुक्त रहते थे। सौ सौ बैलों की एक एक टोली के साथ माल के लादने-उतारनेवाले, मार्ग में माल के लेन-देन की व्यवस्था तथा सँभाल करनेवाले, बैलों के पालन-पोषण, औषधोपचार तथा खाने-पीने का प्रबन्ध रखनेवाले और गूँन आदि के बनानेवाले ये सब जुदे जुदे बँटे रहते थे। किसी प्रान्त में किसी टोली को कभी दूसरों का मोहताज होने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी।

लक्खी बनजारे के केन्द्रस्थ गोदामों में सन-सूत, बाल-खाल, सूरा-सुतली, घास और अन्न ये सब वस्तुएं यथोचित परिमाण में सदैव रक्खी रहती थीं और आवश्यकता के अनुसार यथास्थान पहुँचाई जाती थीं।

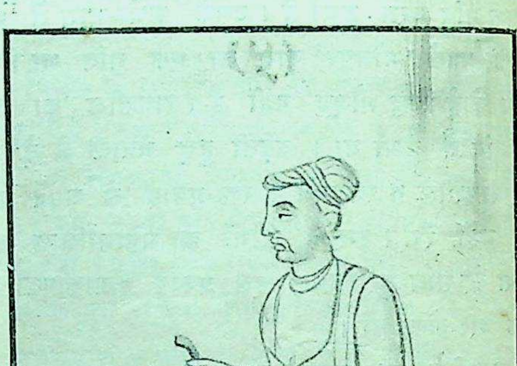

लक्खी बनजारा।

खेती-बारी तथा गोचर-भूमि के लिए सैकड़ों बीघे ज़मी प्रत्येक केन्द्र में उसकी निज की रहती थी और बालदों ठहरने के प्रत्येक स्थान में सब वस्तु अबाधरूप मिलती थी।

टोली के मुखियों तथा अन्यान्य सब आदमियों साथ लक्खी बनआरे का सदैव सद्भाव रहने से उसके में कभी विरोध-भाव नहीं होता था। उसके अधीन लोग भिन्न भिन्न भागों में बँटे हुए होने पर भी प्र

स्थान में माल के चढ़ाने-उतारने की व्यवस्था, टोलियों के प्रस्थान और ठहराने का प्रबन्ध, माल के मालिकों से लेन-देन तथा आपस के समझौते, मार्ग की आपत्ति-विपत्ति से सुरक्षा आदि का आयोजन यथानियम सर्वत्र विद्यमान रहता था। कहीं किसी बात की ज़रा भी शिकायत नहीं थी।

लक्खी की व्यवस्था बहुत बढ़िया थी। मान लीजिए कि साँभर झील से नमक की बोरियों से लदे हुए ४० हज़ार बैल भेजे गये। उनमें ५ हज़ार पञ्जाब को, १० हज़ार पूर्व को और २५ हज़ार दक्षिण को रवाना हुए। ये बदले में पञ्जाब से मेवा और किराना, पूर्व से चावल-चीनी और गुड़ तथा दक्षिण से लौंग, सोंठ, अजवायन और अन्यान्य प्रकार की विविध वस्तुएँ लेते आये। यह सब सामान भिन्न भिन्न स्थानों के व्यापारियों को घर बैठे मिलता था। मोल-तोल तथा भाव आदि में रत्ती भर का अन्तर नहीं आता था। व्यापारी लोग भी बनजारे के साथ खरा व्यवहार रखते थे। उसके भेजे हुए माल में तेज़ी-मन्दी के आकस्मिक हानि-लाभ का झगड़ा नहीं होता था। और लादे हुए माल में कदाचित् मार्ग में ही ५ के ५० होते देख पड़ते तो बनजारे का कोई भी आदमी कहीं भी उस लाभ के लूटने की बेईमानी नहीं करता था। माल की मज़दूरी या किराया बहुत ही कम था। इस काम के सब कर्मचारी बनजारे के परिवार में ही गिने जाते थे। वह उनको मासिक वेतन नहीं देता था, परन्तु उनके विवाह-शादी तथा पालन-पोषण का सब भार अपने ही ऊपर रखता था और उन्हें घर के बच्चों के समान मानता था।

लक्खी के प्रबन्ध में माल के इधर-उधर चले जाने या घटी-बढ़ी होने आदि का कोई गड़बड़ नहीं होता था। मँगाया हुआ माल यथास्थान यथार्थ रूप से पहुँचता था। इस प्रबन्ध के लिए उसके पास रेल्वे ट्राफ़िक सुपरिंटेंडेंटों जैसे विराट दफ़्तर साथ नहीं रहते थे। रेल्वे-माल की जैसी बिल्टी लेने-देने की दिक़्क़त भी नहीं थी। तो भी उसकी सम्पूर्ण टोलियों के सञ्चालक साङ्केतिक व्यवहार से काम लेते थे और सबका हिसाब अँगुलियों पर रखते थे। तात्पर्य यह कि उनके मन मैले नहीं थे।

लक्खी के द्वारा माल मँगाने में व्यापारियों को कई सुविधायें थीं। घर के आदमी का जैसा देखा हुआ माल मिलता था। रुपये भेजने या मँगाने का ख़र्च और झञ्झट भी नहीं उठाना पड़ता था। किराया बहुत कम होने से माल सबको सस्ता मिलता था। इन सब बातों की व्यवस्था में वह अनुचित लाभ उठाने की इच्छा नहीं रखता था।

यद्यपि लक्खी बनजारे का यह विराट आयोजन स्वार्थ-शून्य नहीं था और उसका तथा उसके व्यापारियों का इससे प्रयोजन सिद्ध होता था तथापि उसके स्वार्थ के साथ देश का किस रूप में कितना भारी परमार्थ होता था इसका विचार विशेषज्ञ विद्वान् भले प्रकार कर सकते हैं।

लक्खी के इस महान् कार्यक्षेत्र में एक लाख बलवान् बैल यथेच्छ चारा-दाना पाकर सदैव सुरक्षित रहते थे। आज की तरह रेलदेवी के प्रचाराधिक्य की उपयोगिता में निरुपयोगी बैलों के काटे जाने का प्रयोजन उन दिनों स्वप्न में भी नहीं था। उनके साथ के अनुचर लोग तथा प्रबन्धकों के परिवार बनजारे की ओर से ही सब ख़र्च प्राप्त करते थे। घास-चारा और अन्न क्षेत्रों के लिए उसकी हज़ारों बीघे ज़मीन हरी-भरी और सुरक्षित रहती थी। उसके द्वारा कोई बारह हज़ार मनुष्यों का पालन होता था। अकाल के अवसर पर अथवा देश-रक्षा के लिए जानेवाली फ़ौजों के सामान भेजने आदि में भी वह अपने बैलों से सहायता करता था। बालद ढालने अर्थात् लदे हुए बैलों के विश्राम लेने के प्रत्येक स्थान पर मीठे और भरपूर जल मिलने के साधन भी उसने समुचित रूप से उपस्थित किये थे। जगह जगह बड़े बड़े कुँए और सुविशाल बावलियाँ आदि भी उसने बहुत बनवाई थीं।

लक्खी के बनवाये हुए अनेक कुओं जैसा एक कुआँ भी आज १० हज़ार रुपये ख़र्च करने पर भी तैयार नहीं होता। उसकी बनवाई हुई बावलियों जैसी एक बावली भी आज ५०-६० हज़ार ही नहीं लाख रुपये में भी तैयार नहीं होती। उसके कई एक कुएँ तो ऐसे अद्वितीय हैं कि वैसे अब तैयार करवा लेना असाध्य प्रतीत होता है। रेल्वे-लाईनों के पास कई जगह आधुनिक कुएँ भी बड़े विशाल और मज़बूत देखने में आते हैं। किन्तु उनके

बनाने के अपरिमित ख़र्च और अनोखे ढङ्ग देख कर यही कहना पड़ता है कि उनकी अपेक्षा बनजारे के कुएँ अधिकांश में अच्छे हैं। शिल्प-सामग्री से शून्य, जलाशय से हीन और निर्जन वनों के बीच बनजारे के अठपहले कूँए बड़ी ही विशेषता के हैं। वे कूँए पाताल-तल में पैठे हुए और सैकड़ों फुट वर्ग भूमि में फैले हुए होकर भी दृढ़ता और सुन्दरता में अद्वितीय हैं। आज रेल्वे-लाइनों के कुएँ केवल पत्थरों की चौकियों के बनाये हुए होने पर भी बनजारे के कुओं की मज़बूती को नहीं पहुँचते। उसके कई एक कुएँ आज सैकड़ों वर्षों से पानी निकालनेवालों की ठोकरें खाते हैं और अनेक प्रकार के आघातों से विताड़ित होते हैं तो भी उनके पलस्तर के चूने में एक भी टांच या चटक कहीं नहीं होने पाई है। बनजारे के लाखों रुपयों की लागत के सैकड़ों कुओं और बीसों बावलियों आदि से अब तक अगणित पशु-पक्षी और मनुष्य यथेष्ट जल पीते और दुर्लभ देश में मिले हुए मीठे पानी से प्रफुल्लित होकर उसको असंख्य आशीर्वाद देते आ रहे हैं।

लक्खी बनजारा महाधनी और प्रतिभासम्पन्न था। उसकी बालदें चलने के समय सेना-दल सी प्रतीत होती थीं। स्वयं उसके साथ तो हाथी घोड़े तक रहते थे। वह कई बार बड़े बड़े लोगों को भी अपनी बालद में छिपाकर उनके शत्रुओं से बचा लेता था। उसके इस विराट् व्यवसाय में कभी चोरी या डकैती आदि नहीं होती थी। कदाचित् कहीं कुछ हो गया तो उसका एक-मात्र यही उपाय था कि बनजारे के विस्तृत आयत्त में वैसे प्रजापीड़क लोगों को नित्य व्यवहार की कोई सामग्री कहीं भी नहीं मिलती थी। इतना होने पर भी वह बर्ताव में बड़ा सरल और निरभिमानी था।

उस महाप्रतापी बनजारे का परिवार तथा प्रबन्ध आज से सौ वर्ष पहले तक भी उसी रूप में चला आ रहा था। किन्तु भारत में रेल्वे-प्रचार का आधिक्य होने से अब उन बालदों का नाम-निशान लुप्त हो गया है और केवल उसके स्मृति-चिह्न ही शेष रह गये हैं।

मनोहरदास—ये नाथावत कुल के कमलदिवाकर थे। आमेर के राजाओं में जिस भाँति महाराज मानसिंह नीति-निपुण, समरप्रिय, युद्धपटु और महासाहसी थे उसी भाँति नाथावतों में मनोहरदास धीर, वीर, सिद्ध-हस्त और समयोचित युक्तियों के ज्ञाता थे। महाराजा मानसिंह ने छोटे-बड़े सब मिलाकर छाछठ युद्ध किये थे, जिनमें मनोहरदास बाईस में विजयी हुए थे। कछवाहों में मान के बराबर और नाथावतों में मनोहर के बराबर इतने अधिक युद्धों में सफलता प्राप्त करने का अवसर अन्य नरेशों को नहीं मिला था।

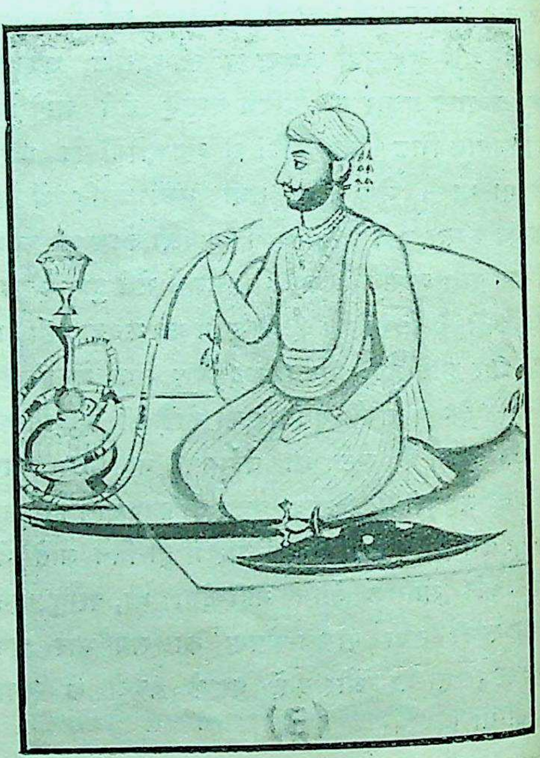

मनोहरदास।

मनोहरदास राजरक्षक सामन्तों में मुख्य थे और वीर-वंश में उत्पन्न हुए थे। नाथावतों के मूलपुरुष नाथाजी के ये ज्येष्ठ पुत्र थे। समर-विजयी महाराज मानसिं के साथ ये आरम्भ से ही रहने लगे थे। सामरि सङ्कट, देशान्तर-निवास आदि बातों में अनुभव-प्र करते रहने से ये युद्ध-पटु, सहनशील, पूर्वापरपरी और समयोचित क्रियाकलाप का परिवर्तन करने में निपुण हो गये थे। बहुत छोटी अवस्था से ही इनकी कामों में योजना होने लगी थी।

मनोहरदास ने गुजरात, मेवाड़ (हल्दीघाट-चितौड़), मालवा, काबुल, पटना, गया, बनारस और बर्मा आदि बाईस स्थानों में समय समय पर बड़ी वीरता से युद्ध किया था और अपने देश का सुयश फैलाने के अनेक काम किये थे। उनके कई एक काम तो ऐसे सर्वोत्कृष्ट हुए थे जो आज विस्मृति के अन्धकार में छिपे हुए होने पर भी मनोहर के सद्गुणों की मनोहर मूर्ति को प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं।

जिस समय महाराना प्रतापसिंह के प्रतापादित्य को अस्त करने की कामना करके हल्दीघाट के युद्ध में महाराज मानसिंह उनको ग्रसने के लिए आगे बढ़े उस समय मानसिंह का मान-मर्दन करने की वासना से महाराना प्रताप ने अपने बिजली जैसे चपल 'चेतक' को उनके हाथी के सिर पर चढ़ा कर और बाण-वर्षा, खड्गप्रहार तथा तीखे भाले की नोक से उनकी छाती को छेद डालना चाहा था। ऐसे अवसर पर साहसी मनोहर ने स्वामी की प्राण-रक्षा के लिए बिजली की भांति ही आगे लपक कर राना के त्रिविध शस्त्र-प्रहारों को निष्फल किया और मान के हाथी को अस्त्र-प्रहार से टेढ़ा करके महाराजा मान को बाल बाल बचा दिया।

जब काबुल के पठानों ने अपनी उग्रता से इस देश को व्यग्र कर दिया तब सम्राट् की आज्ञा से महाराज मान उनको दबाने के लिए गये थे। उस समय मनोहरदास ने उन लोगों को ऐसा परास्त किया कि फिर वे बहुत दिनों तक अपने देश के वेश में भी नहीं रहे। उन्होंने टोपी तथा पायजामा का पहनना छोड़ दिया और धोती तथा पगड़ी बाँधकर बने रहने में ही अपना कल्याण समझा।

सम्राट् अकबर की ओर से महाराज मान ने बङ्गाल, विहार और गौड़ देश के लाट (गवर्नर) होकर बहुत दिनों तक वहाँ का शासन किया था। वहाँ से आते समय गौड़-जातीय ब्राह्मणों को स्थायी रूप से अपने देश में लाये थे। उस समय वहाँ के शासन-सम्बन्धी प्रबन्ध में मनोहरदास ही मुख्य थे। गौड़ों का आह्वान उन्हीं की सम्मति से हुआ था। गौड़-जाति के एक तेजस्वी पुरुष बाबा वेणीदास ने मनोहर का आश्रय ग्रहण किया और उन्हीं के राज्य में आकर बस गये। उनके वंशज अब वहाँ "भातरा" नाम से विख्यात हैं और उड़ीसा-प्रदेश में पूजी हुई 'चामुण्डा' को अब भी अपनी कुलदेवी मानते हैं।

दूसरी बार के काबुल-विजय को विस्मृति में अस्त न होने देने के लिए मनोहरदास ने एक बड़ा मनोहर स्मृति-चिह्न सङ्ग्रह किया था, जो आज सैकड़ों वर्ष से आमेर राज्य के शत्रुञ्जय वायु में प्रबल वेग से फहराता है। उसको देख कर शायद अब बहुत ही कम लोगों को उसके रङ्ग का रहस्य मालूम हो। जिस समय महाराज मान ने काबुल पर दूसरी चढ़ाई की उस समय मनोहरदास ने वहाँ के बलवान् ५ यवन-राजाओं को परास्त करके उनके विजय-ध्वज अर्थात् राजकीय झण्डे छीन लिये थे। वे पांचों झण्डे जुदे जुदे पांच रङ्गों के थे। मनोहर ने उन पांचों का एकीकरण करके मान को अर्पण किया और यह सम्मति दी कि इन पांचों झण्डों के एकीकरण से आमेर राज्य के लिए पञ्चरङ्ग झण्डा बनवा लिया जाय। मनोहर की यह मनोहर सम्मति मान ने मान ली और वैसा ही किया। इसके उपलक्ष्य में मान ने मनोहर को अपना जैसा सुन्दर जामा और किरणदार पगड़ी, बहुमूल्य मोतियों के कण्ठे, अमूल्य शिरोपाव, सजे हुए घोड़े, जड़ाऊ गहने और सफ़ेद रङ्ग की पताका देकर उनको सम्मानित किया और अपनी गुणज्ञता प्रकट की।

दक्षिण-यात्रा से लौटते हुए महाराज मान मार्ग में ठहरे थे। उस समय बालाघाट मुक़ाम पर भीषण अकाल पड़ गया और देशवासियों को अन्न का मिलना दुर्लभ हो गया। यह देख कर मनोहरदास ने महाराज मान से कहा कि अकाल-पीड़ित प्राणियों की रक्षा करना आवश्यक है और आपके अधिकार में होने से शाही सेना भी अपनी ही है। अतएव आज्ञा हो तो आमेर से अन्न मँगवा कर इनके पालन का प्रबन्ध किया जाय। मान ने स्वीकार किया और मनोहर ने बनजारे की बालदों से प्रतिदिन अन्न प्राप्त होते रहने का प्रबन्ध किया। इस काम में सौ रुपये प्रतिदिन उन्हीं की रोकड़ से ख़र्च होते थे और शाही फ़ौजें तथा जन-साधारण अपना प्राण-पोषण करते थे।

एक बार बादशाह की सेवा में विलायत से एक एलची

आया था। मान-मण्डली के कौतुक देखने की उसे लालसा थी। मनोहरदास जैसे मर्मज्ञ और जलयुद्ध-कुशल मनुष्यों पर भरोसा करके सम्राट् ने एलची को मान-मण्डली में भेज दिया। सामुद्रिक मञ्च पर बैठे हुए मान मण्डली का मनोरञ्जन कर रहे थे। एलची के उपस्थित होते ही मान ने अपने हाथ के कमल-फूल समुद्र में फेंक दिये। जलयुद्ध में पूर्ण योग्यता रखनेवाले मनोहरदास ने अपने सहचर-वर्ग को साथ लेकर समुद्र-तल में तुरन्त प्रवेश किया और जलयुद्ध की कृत्रिम लीलायें दिखाकर बिखरे हुए फूलों की गुँथी हुई माला को गले में पहन कर समुद्र से बाहर निकल आये। इस अदृष्टपूर्व घटना को देख कर एलची चकित हो गया और सब प्रकार के युद्धों में भारतवासियों की योग्यता मान कर सराहने लगा। एलची ने उनका प्रेम से अभिवादन किया और मन के अभिप्राय को मन में ही रख कर चला गया।

महाराज मान की आज्ञा से मनोहरदास ने अनेक तीर्थस्थानों पर बहुत धन ख़र्च करके अनेक सुन्दर घाट और मनोहर मन्दिर बनवाये थे तथा प्राचीन स्थानों का जीर्णोद्धार भी करवाया था। सुप्रसिद्ध जगन्नाथपुरी के सुविशाल जगदीश-मन्दिर का जीर्णोद्धार मनोहर के आधिपत्य में ही हुआ था। उसके आगे का जङ्गी जगमोहन उसी समय नवीन बनवाया गया था। मनोहर के सद्गुणों से सम्राट् भी सन्तुष्ट थे और उनके सम्मान की रक्षा भी करते थे। महाराज मान ने उनको सात प्रकार के अच्छे अधिकार दिये थे और एक लाख रुपये वार्षिक आय की जागीर भी सदा के लिए प्रमाण-पत्रों-सहित प्रदान की थी।

हनूमान शर्मा

तन्त्री।

इस शरीर की सकल शिराएँ
हों तेरी तन्त्री के तार।
आघातों की क्या चिन्ता है,
उठने दे ऊँची झङ्कार॥
नाचे नियति, प्रकृति सुर साधे,
सब सुर हों सजीव, साकार।
देश देश में, काल काल में,
उठे गमक-गहरी गुञ्जार॥
कर प्रहार, हाँ, कर प्रहार तू,
मार नहीं, यह तो है प्यार।
प्यारे और क्या कहूँ तुझसे
प्रस्तुत हूँ मैं, हूँ तैयार॥
मेरे तार तार से तेरी
तान तान का हो विस्तार।
अपनी अँगुली के धक्कों से
खोल अखिल श्रुतियों के द्वार॥
ताल ताल पर भाल झुका कर
मोहित हों सब बारंबार।
लय बँध जाय और क्रम क्रम से
सम में समा जाय संसार!

मैथिलीशरण गुप्त

'हंसदूत' और उसके रचयिता।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के लगभ बङ्गाल में मुर्शिदाबाद के पा रामकेलि नाम के गाँव के एक दा णात्य ब्राह्मण-वंश में 'हंसदूत' का के रचयिता श्रीरूप गोस्वामी का जन्म हुआ। बङ्गाल के तत्कालीन शासक हुसेनश के यहाँ इन्होंने अमात्यपद पर कुछ दिनों काम कि कहते हैं कि एक बार रुपये गिनते गिनते सारी रात बी गई, बस उसी समय से इनका मन सांसारिक वैभव से उ गया। ये श्रीनित्यानन्द महाप्रभुजी के शिष्य हो ग उनके सत्सङ्ग से इनके हृदय में भक्ति का वह स्रोत उम कि जिसने इन्हें कहीं से उठा कर कहीं पटक दि गृहस्थी और सारे राज-पाट को छोड़ कर अपने बड़े भ श्रीसनातनजी के साथ ये वृन्दावन में आ बसे यहाँ राधा-गोविन्द के ध्यान में हर घड़ी मग्न र लगे, तथा इधर-उधर गाँवों से भीख माँग कर अ जीवन-यात्रा का निर्वाह करने लगे। ये विद्वान् और उच्च कोटि के थे। इन्होंने 'भक्तिरसामृतसिंधु', 'वि

माधव नाटक', 'ललित माधव नाटक', 'लघुभागवतामृत', 'नाटकचन्द्रिका' आदि न जाने कितनी पुस्तकों का प्रणयन किया। उन्हीं में यह 'हंसदूत' नाम का खण्ड-काव्य भी है। प्रसिद्ध विद्वान् एफ़० एस० ग्राउस साहब तो इन्हें 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' तक का लेखक मानने को तैयार हैं। मथुरा-माहात्म्य के लेखक भी यही माने जाते हैं।

ग्रन्थ-प्रणयन के अतिरिक्त इन्होंने अपने भाई श्रीसनातनजी तथा भतीजे श्रीजीव गोस्वामीजी के साथ और भी बहुत से काम किये। जिस समय ये वृन्दावन में पधारे थे उस समय वह एक तरह से 'वन' ही था, क्योंकि दो-चार साधारण मन्दिरों, कुञ्जों और झोपड़ों के अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी न था। उसको आधुनिक रूप दिलवाने का मुख्य श्रेय इन गोस्वामि-बन्धुओं को ही है। इन्होंने वहाँ भक्ति की छिपी हुई गङ्गा को फिर प्रकट कर दिया, इन अकिञ्चन कमलों ने अपनी सात्त्विकी भक्ति की अपूर्व सुगन्धि से अनेक भक्त-भ्रमरों का आकर्षण करके एक नया चमत्कार उपस्थित कर दिया—नहीं, सोई हुई भक्ति-देवी को अपने मधुरगान से फिर जगा दिया। 'भक्त-माल' में इनका उल्लेख किन शब्दों में किया गया है सो सुनिए—

(छप्पय)

गौड़ देश बङ्गालहु ते सब ही अधिकारी,
हय गय भवन भँडार विभौ भूभुज उनहारी,
यह सुख अनित विचारि वास वृन्दावन कीन्हों,
यथालाभ सन्तोष कुंज करवा मन दीन्हों,
ब्रजभूमि रहस राधाकिशन भक्त तोष उद्धार किय,
संसार स्वाद सुख बांत ज्यों दुहुँ 'रूप' 'सनातन' त्याग दिय।

इन्होंने वृन्दा-देवी की मूर्ति को, जो भूमि में गड़ी हुई थी, खोद निकाला और एक मन्दिर बनवा कर उसमें उसे स्थापित किया। वृन्दावन में इन्होंने भक्तों के द्वारा भी कितने ही मन्दिरों का निर्माण कराया जिनमें मुख्य श्रीगोविन्ददेवजी का मन्दिर है जिसे अकबर के प्रसिद्ध सेनापति राजा मानसिंह ने लाखों रुपये व्यय करके बनवाया था। यह मन्दिर उसी लाल पत्थर का बना है जिससे उस समय आगरे का क़िला बनाया जा रहा था। लक्ष्मणदास ने अपने 'भक्त-सिन्धु' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि गोविन्दजी की मूर्ति गोस्वामि-भ्राताओं को नन्दगाम में गड़ी हुई मिली थी। वहीं से लाकर इन्होंने उसे वृन्दावन में ब्रह्म-कुण्ड के पास प्रतिष्ठित किया।

कालीदह के पास ऊँची टेकरी पर 'श्रीमदनमोहन'जी का जो प्रसिद्ध मन्दिर है वह भी इन्हीं की भक्ति का फल है। एक दिन जब ये भीख माँगने मथुरा गये थे, वहाँ 'मदन-मोहन' जी की मूर्त्ति किसी भक्त ने इन्हें भेट कर दी थी। उसको टेकरी पर स्थापित करके इन्होंने उसके पास ही एक झोंपड़ी अपने लिए भी बना ली। सड़क कच्ची और बहुत बुरी होने के कारण इन्होंने उस स्थान को 'पशुकन्दन घाट' नाम दिया था। एक दिन ऐसा हुआ कि मुलतान के खत्री व्यापारी रामदास कपूर की नाव, जिसमें बहुत सा सामान लदा हुआ था और जो आगरे जा रही थी, कालीदह के पास रेत में अड़ गई। तीन दिन तक प्रयत्न करने पर भी जब नाव टस से मस न हुई तब व्यापारी, स्थानीय देवी-देवता को मनाने का विचार कर, किनारे पर आया और टेकरी पर चढ़ा। वहाँ उसे श्रीसनातनजी के दर्शन हुए। सनातनजी ने उसे 'मदन-मोहन' जी की प्रार्थना करने की सलाह दी। उसने ऐसा ही किया। कहते हैं कि उसके ऐसा करते ही नाव जल पर तिरने लगी। आगरे में सामान बेचने के बाद फिर वह सनातनजी की सेवा में उपस्थित हुआ और जो कुछ धन, नाव का सामान बेचकर, प्राप्त किया था उसे उनकी भेट करना चाहा। सनातनजी ने उससे मन्दिर बनवाने के लिए कह दिया। उनकी आज्ञा से उसने लाल पत्थर का मन्दिर, और साथ ही एक घाट भी बनवा दिया। श्रीजीव गोस्वामीजी ने राधा-दामोदर के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। श्रीरूपजी, श्रीसनातनजी, तथा श्रीजीवजी के फूल, उनकी इच्छा के अनुसार, श्रीगोविन्ददेवजी के मन्दिर के अहाते में ही गड़े हैं। सावन के महीने में हज़ारों बङ्गाली दूर दूर से आकर इन मन्दिरों के दर्शन करके अपना जीवन धन्य समझते हैं।

कुछ समय तक गोस्वामि-बन्धु नन्दगाम में भी रहे थे। वहाँ जो भजन-कुटी, पावन सरोवर के किनारे, अब भी बनी हुई है वह इन्हीं महानुभावों की है। पावन सरोवर पर बर्दवान के राजा का बनवाया हुआ बिहारीजी

का मन्दिर है। यह मन्दिर भजन-कुटी के बिलकुल पास है। इसके शिला-लेख से सूचित होता है कि यह श्रीरूप-सनातनजी के ही स्थान पर बनवाया गया है। इन गोस्वामि-बन्धुओं के विषय में कितनी ही असाधारण बातें कही जाती हैं।

'हंसदूत' युगलमूर्ति का ध्यान करनेवाले वैष्णवों की प्रिय वस्तु है, यहाँ तक कि उसे साम्प्रदायिक ग्रन्थ कहना भी अनुचित न होगा। यह खण्ड-काव्य १४२ शिखरिणी छन्दों में समाप्त हुआ है। इसमें वियोग-शृङ्गार का विषय है। श्रीकृष्ण के विरह में राधिकाजी की जो दशा हुई उसका चित्र इसमें खींचा गया है। इधर राधिकाजी वियोग-व्यथा से अपनी सुधि-बुधि बिसारे यमुना के तट पर बेहोश पड़ी हैं, उधर उनकी सखी ललिता वहीं निकट एक हंस को देख कर उसे राधिकाजी की विरह-दशा के समाचार श्रीकृष्ण के पास पहुँचाने के लिए तैयार कर रही है! मोह और सहानुभूति का कितना ललित चित्र है! कैसी सुन्दर कल्पना है!

इस काव्य में शान्त-रस की भी कमी नहीं। सच बात तो यह है कि यह श्रीरूप गोस्वामीजी के प्रेम, उनकी भक्ति, उनकी तन्मयता अधिक क्या कहें—उनके हृदय का सजीव चित्र है। इसमें दशावतारों को बड़ी खूबी से श्रीकृष्ण में दरसाया है।

हर्ष की बात है कि हिन्दी में इसका एक उत्तम अनुवाद प्रस्तुत हो गया है और उसके प्रकाशन के लिए आयोजन भी हो रहा है। इस अनुवाद की बदौलत, संस्कृत न जाननेवाले भक्तों को भी इस काव्य के रसास्वादन का अवसर मिल जायगा। इसके अनुवादक आगरा-निवासी मुंशी पन्नालालजी उन वयोवृद्ध साहित्य-प्रेमियों में से हैं जो कीर्त्ति के लोभ से दूर ही रह कर काव्य-शास्त्र के विनोद में अपना समय बिताते हैं। आप किस कोटि के कवि हैं यह बात, इस अनुवाद को पढ़ने पर, पाठकों से और छिपी न रहेगी। हम अपनी ओर से और कुछ न कह कर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि मूल की रोचकता को अनुवाद में लाने में आपको खूब सफलता हुई है। 'मुखोल्लास' शीर्षक दोहों में नीचे दिये हुए छन्दों के भावों का कुछ भेद खोल दिया गया है जिसमें पाठकों को छन्द का मर्म समझने में सरलता हो। छन्दों के नीचे जो सोरठे दिये हैं उनमें उन छन्दों का आशय, संक्षेप में, प्रकट किया गया है। इसके अलावा गद्यानुवाद तथा विद्वत्ता-पूर्ण टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। मुंशीजी ने यह अनुवाद बड़े परिश्रम से तैयार किया है। ऐसा अच्छा अनुवाद करने पर हम मुंशीजी को बधाई देते हुए पाठकों के मनोरञ्जनार्थ, उसमें से दो एक अवतरण देते हैं। इस साधारण परिचय में हमें गद्यानुवाद तथा टिप्पणी देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

(१)

पहले श्लोक में प्रार्थना की गई है:—

(मूल)

दुकूलं बिभ्राणो दलितहरितालद्युतिहरं
जपापुष्पश्रेणीरुचिरुचिरपादाम्बुजतलः।
तमालश्यामाङ्गो दरहसितलीलाञ्छितमुखः
परानन्दाभोगः स्फुरतु हृदि मे कोऽपि पुरुषः॥

मुखोल्लास—(दोहा)

अखिल लोक आधार जो ब्रह्म सच्चिदानन्द,
मम उर तिन श्रीकृष्ण कौ होहु प्रकाश अमन्द।

अनुवाद—(मत्तगयंद)

धारत पीतपटा छवि तासु दली हरिताल की कान्ति दुराई,
पाँति प्रसून जपा जनु सोहति जासु पदाम्बुज की अरुणाई,
श्यामतमाल सौ अङ्ग लसै मुसकानि भरी मुख की जु लुनाई,
सो परमानँद पूरणरूप प्रकाशहु मो उर अन्तर आई।

सारांश—(सोरठा)

तनु तमाल सम श्याम, ता पर पीताम्बर रुचिर;
मन्द हँसनि अभिराम, दिव्य रूप यह उर बसै।

(२)

गोपियाँ कैसा बेढब ताना देती हैं!—

कथं सङ्गोऽस्माभिः सह समुचितः सम्प्रति हरे
वयं ग्राम्या नार्य्यस्त्वमसि नृपकन्यार्चितपदः।
गतः कालो यस्मिन् पशुपरमणीसङ्गमकृते
भवान् व्यग्रस्तस्थौ तमसि गृहबाटी बिटपिनि॥

प्रागरूप—(दोहा)

ललिता हांसहिसजग करि कहत कृष्ण के काज,
सब गोपिन की ओर सौं विनय यहै ब्रजराज ।

अनुवाद—(छप्पय)

"उचित कौन विधि साथ आपके रहन हमारी,
हे हरि ! हम हैं सरलहृदय अत्यन्त गँवारी;
अब पद-सेवा करत आपकी राजकुमारी,
बीत गयौ वह समय जबै गलियन अँधियारी—
तुम सदन वाटिका तरुनतर गोपिन संग विहार हित,
नित ठाड़े जोवत बाट हे आतुर ह्वै आसक्त चित ।"

सारांश—(सोरठा)

नाहिं समय वह आज, बीथिन बाट निहारते,
आवत होगी लाज, सुधि कीन्हे ता काल की ।

(३)

प्रेम और विरह-व्यथा के कारण अपनी देह का मान भूली हुई राधा कहती है—

(मूल)

तदुत्तिष्ठ व्रीडावति निविडमुक्तालतिकया
वधानेमं धूर्त्तं सखि मधुपुरीं याति न यथा ।
इति प्रेमोन्मीलद्भवदनुभवारूढजडिमा
सखीनामाक्रन्दं न किल कतिशः कन्दलयति ॥

मुखोल्लास—(दोहा)

"करत आय प्रत्यत्त हरि मेरे संग विहार,
ललिता तिनकों उचित है करन दंड उपचार ।"

अनुवाद—(कुण्डलिया)

"ऐसे कपटी कृष्ण कों अरी लजीली बाल,
सखी ! पकरि उठि बाँध तू अविरल मुक्तामाल,
अविरल मुक्तामाल माहिं या कों बाँधत किन,
जाय न मथुरा फेर तजै हमकों कबहूँ जिन,
प्रेम-विवस जानति अजान निरधार मिले से,
कान रुवावति पुनि पुनि सखियन राधा ऐसे ।"

सारांश—(सोरठा)

प्रकट मिलन परतीति, होत प्रेम के वेग सों,
राधा की हित रीति, या अजानपन सों लखौ ।

आशा है, प्रकाशित होजाने पर, हिन्दी-संसार में इस अनुवाद का अच्छा आदर होगा ।

बदरीनाथ भट्ट

प्रयाग की मनुष्य-गणना ।

प्रयाग, जिसे लोग इलाहाबाद भी कहते हैं, हिन्दुओं का मुख्य तीर्थस्थान है । यहाँ पतितपावनी श्रीगङ्गाजी का यमुनाजी से सङ्गम हुआ है। प्रतिवर्ष माघ महीने में यहाँ मेला भरता है, पर कुम्भी तथा अधकुम्भी के समय यात्रियों और साधु-महात्माओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है। यह युक्तप्रान्त की राजधानी और उच्च शिक्षा का केन्द्र है। प्रसिद्ध प्रयाग-विश्व-विद्यालय यहाँ सन् १८८९ से संस्थापित है । यहाँ एक कृषि-विद्यालय, तीन इंटरमीडियेट कालेज और कई हाईस्कूल हैं। यह रेलवे का प्रधान जंकशन भी है। इसी प्रयाग नगर के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें इस प्रान्त की सन् १९२१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट से हम पाठकों को भेंट करते हैं।

इस शहर की मनुष्य-संख्या आज-कल १ लाख ५७ हज़ार है। यदि कॆंटनमेंट में रहनेवालों की संख्या अलग कर दी जाय तो प्रयाग-म्युनिसिपालिटी के अन्दर निवास करनेवालों की संख्या १ लाख ४६ हज़ार रह जाती है। लखनऊ के समान प्रयाग की मनुष्य-संख्या भी गत ४० वर्षों से बराबर घट रही है । सन् १८९१ में इसकी मनुष्य-संख्या १ लाख ७५ हज़ार थी और अब उससे क़रीब १८ हज़ार कम हो गई है। इस कमी का प्रधान कारण हमको इस शहर में नवीन उद्योग-धन्धों का अभाव और पुराने उद्योगों का ह्रास मालूम होता है।

यह शहर ८ वार्डों में विभाजित किया जा सकता है। भिन्न भिन्न वार्डों की मनुष्य-संख्या नीचे लिखे अनुसार है—

नाम वार्ड	पुरुष हज़ार	स्त्री हज़ार	मीज़ान हज़ार	प्रतिसैकड़ा पुरुष पीछे स्त्रियाँ कितनी हैं
सिविल-लाइन	१०·१	७·०	१७·१	७०
कटरा-कर्नलगंज	१२·०	१०·१	२२·१	८५
उत्तर-कोतवाली	१७·४	१३·०	३०·४	७५
दक्षिण-कोतवाली	१९·८	१६·८	३६·६	८५
मुट्ठीगंज-कीटगंज	११·९	९·४	२१·३	८०
दारागंज	६·६	५·६	१२·२	८५
ई० आई० आर० सेटलमेंट	४·०	१·८	५·८	४७
केंटनमेंट	८·०	३·७	११·७	४६
मीज़ान	८९·८	६७·४	१५७·२	७५

उपर्युक्त कोष्टक के देखने से मालूम होता है कि प्रयाग में स्त्रियों की बहुत कमी है। प्रत्येक १०० पुरुष पीछे ७५ स्त्रियाँ हैं। ई० आई० आर० सेटलमेंट और केंटनमेंट में स्त्रियों की कमी बहुत ही अधिक है। स्त्रियों की कमी का समाज पर क्या असर पड़ता है और उसके दुष्परिणामों से किस तरह से बचना चाहिए, इन प्रश्नों पर शहर के समाज-सुधारकों को यथेष्ट ध्यान देना चाहिए।

यद्यपि प्रयाग लखनऊ के समान विस्तृत नहीं है तो भी कानपुर के समान सघन भी नहीं बसा हुआ है। इसकी मनुष्य-संख्या प्रति वर्ग-मील क़रीब १० हज़ार है जब कि कानपुर में प्रति वर्ग-मील में क़रीब २२ ½ हज़ार व्यक्ति निवास करते हैं। प्रयाग के नीचे लिखे महल्ले ऐसे हैं जिनमें फ़ी एकड़ मनुष्य-संख्या १५० से अधिक है—

बेरहना	१९६	प्रति एकड़
कटरा	१८०	,, ,,
मलाका	१७८	,, ,,
बासुकी ख़ुर्द	१६२	,, ,,

आगे के कोष्टक में प्रयाग के ६ वार्डों की फ़ी एकड़ मनुष्य-संख्या दी जाती है और यह भी बतलाया जाता है कि उनकी औसत फ़ी हज़ार मृत्यु-संख्या क्या है—

नाम वार्ड	फ़ी एकड़ मनुष्य-संख्या	प्रति हज़ार औ मृत्यु-संख्या
सिविल-लाइन	१५	१०·२
उत्तर-कोतवाली	४०	४३·३
मुट्ठीगंज-कीटगंज	४६	५३·३
दारागंज	६७	४८·६
कटरा-कर्नलगंज	७३	३४·५
दक्षिण-कोतवाली	७५	४६·८

उपर्युक्त कोष्टक से यह सिद्ध होता है कि यदि फ़ी ए मनुष्य-संख्या कम हो और सफ़ाई का पूरा ध्यान र जाय तो जैसे सिविल लाइन्स में मृत्यु-संख्या कम है ही अन्य वार्डों में कम की जा सकती है। मुट्ठीगंज-कीट में मृत्यु-संख्या सबसे अधिक है और इसका मुख्य का सफ़ाई की कमी है। कटरा-कर्नलगंज में फ़ी एकड़ मनु संख्या अधिक होने पर भी मृत्यु-संख्या अन्य वार्डों समान अधिक नहीं है। म्यूनिसिपालटी को सफ़ाई तरफ़ भी यथेष्ट ध्यान देना चाहिए।

नीचे यह भी बतलाया जाता है कि प्रत्येक वार्ड फ़ी सैकड़ा कितने कुटुम्ब एक, दो, तीन, चार या प कमरों में अपना गुज़र करते हैं—

नाम वार्ड	फ़ी एकड़ मनुष्य-संख्या	प्रतिशत कितने कुटुम्ब रह			
		एक कमरे में	दो कमरों में	तीन कमरों में	चार कमरों में
सिविल-लाइन	१५	४७	१७	८	८
कटरा-कर्नलगंज	७३	२१	२८	१७	११
उत्तर-कोतवाली	४०	२८	२२	१४	११
दक्षिण-कोतवाली	७५	२०	२३	२१	१४
मुट्ठीगंज-कीटगंज	४६	२३	३०	१५	१०
दारागंज	६७	२७	२७	१६	८
ई० आई० आर० स्टेशन	...	४	१	१	२

यह पुस्तक वितरित न की जाय

रोमनकेथोलिक केथीड्रल कन्वेन्ट ।

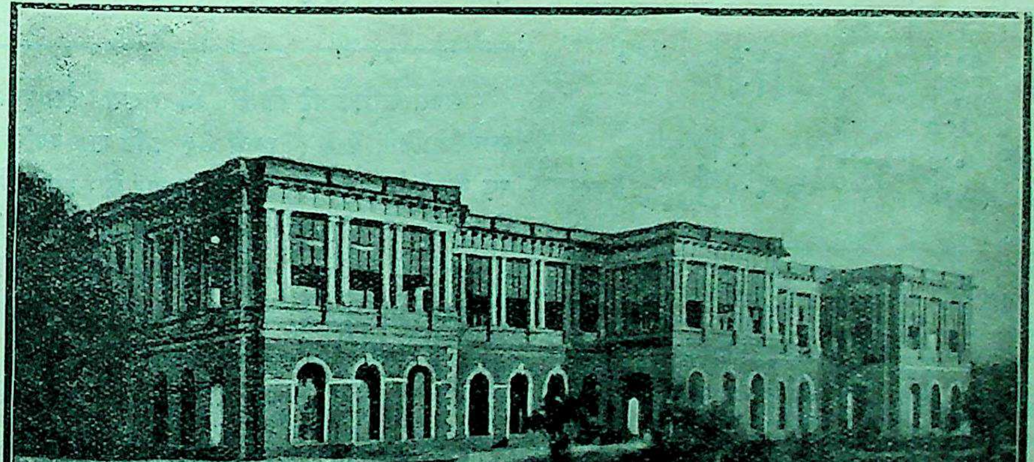

हाईकोर्ट ।

ऊपर दिये हुए कोष्टक से मालूम होता है कि कटरा-कर्नलगंज और दक्षिण-कोतवाली में फ़ी एकड़ मनुष्य संख्या बहुत अधिक है। प्रयाग के इंप्रूवमेंट-ट्रस्ट को इन भागों के कुछ व्यक्तियों को अन्य किसी भाग में बसाने का प्रयत्न करना चाहिए। सिविल-लाइन, उत्तर-कोतवाली और दारागंज में एक कमरे में रहनेवालों की संख्या अधिक है। मलाका में आधे से अधिक कुटुम्ब एक कमरे में ही अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसके मुख्य कारण घरों की कमी, किरायों की अधिकता और जनता की दरिद्रता है। ग्रेटब्रिटन में प्रयाग के समान शहर में केवल ४½ फ़ी सैकड़ा कुटुम्ब ही एक कमरे में रहते हैं। क्या ही अच्छा हो यदि प्रयाग की इंप्रूवमेंट-ट्रस्ट साफ़ और हवादार छोटे छोटे मकान बनवाकर ग़रीबों को कम किराये पर देने की व्यवस्था कर दे।

प्रयाग में हिन्दुओं की संख्या ही अधिक है। नीचे के कोष्टक में यह बतलाया जाता है कि भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायियों की संख्या इस शहर में कितनी है—

धर्म	पुरुष (हज़ार)	स्त्री (हज़ार)	मीज़ान (हज़ार)	संपूर्ण मनुष्य-संख्या का फ़ी सैकड़ा
हिन्दू	६०·५	४५·८	१०६·३	६७
मुसलमान	२४·६	१८·८	४३·४	२८
ईसाई	३·८	२·४	६·२	४
आर्यसमाजी	०·४	०·३	०·७	१
अन्य	०·५	०·१	०·६	
मीज़ान	८६·८	६७·४	१५७·२	१००

उपर्युक्त कोष्टक में अन्य धर्मों के अनुयायियों में जैन, पारसी, सिख, बौद्ध और यहूदी शामिल हैं। जैनों की संख्या २२१, सिक्खों की २७३, बौद्धों की ३२, और पारसियों की ६५ है। यद्यपि हिन्दुओं की संख्या ६७ फ़ी सैकड़ा है तो भी किसी किसी महल्ले में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं से अधिक है। उत्तर और दक्षिण-कोतवाली के कुछ भाग ऐसे हैं जहाँ मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं की संख्या से दुगुनी से भी अधिक है। ईसाइयों की संख्या सिविल-लाइन में सबसे अधिक है। कुछ ईसाई कटरा, उत्तर-कोतवाली और मुट्ठीगंज में भी रहते हैं।

इस शहर में अक्षरज्ञानप्राप्त व्यक्तियों की संख्या केवल ३२ हज़ार है, जो क़रीब २० प्रति सैकड़ा के बराबर है। अर्थात् प्रयाग में ८० फ़ी सैकड़ा व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने मित्र को पत्र तक नहीं लिख सकते और न उनका पत्र पढ़ ही सकते हैं। प्रयाग में पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुषों की संख्या नीचे दी जाती है—

धर्म	पढ़े-लिखों की संख्या (हज़ार में)			फ़ी सैकड़ा कितने पढ़े लिखे हैं
	पुरुष	स्त्री	मीज़ान	
हिन्दू	१६·७	३·७	२०·४	१९
मुसलमान	५·४	०·६	६·०	१४
ईसाई, आर्य-समाजी इत्यादि	३·६	२·०	५·६	७५
मीज़ान	२५·७	६·३	३२·०	२०

सबसे अधिक पढ़े-लिखों की संख्या ईसाइयों और आर्यसमाजियों में है। इनमें ७५ प्रति शत व्यक्ति लिख-पढ़ सकते हैं। मुसलमान शिक्षाप्रचार के सम्बन्ध में बहुत पिछड़े हुए हैं। हिन्दुओं की दशा भी कुछ अच्छी नहीं है। दोनों में अविद्या का साम्राज्य है। पढ़ी-लिखी स्त्रियों की संख्या तो बहुत ही कम है। यह मानते हुए कि युक्त-प्रान्त के अन्य बड़े शहरों की अपेक्षा प्रयाग में फ़ी सैकड़ा पढ़े-लिखे व्यक्तियों की संख्या सबसे अधिक है तो भी प्रयाग के समान शहर में हम अधिक उन्नति की आशा कर रहे थे। अब यह देखना चाहिए कि दस से बीस वर्ष तक उम्र के कितने लड़के अशिक्षित हैं। आगे के कोष्टक में १५ से २५ वर्ष तक के पढ़े-लिखे लड़कों की संख्या दी जाती है और यह बतलाया जाता है कि उस उम्र के फ़ी सैकड़ा कितने लड़के अपढ़ हैं—

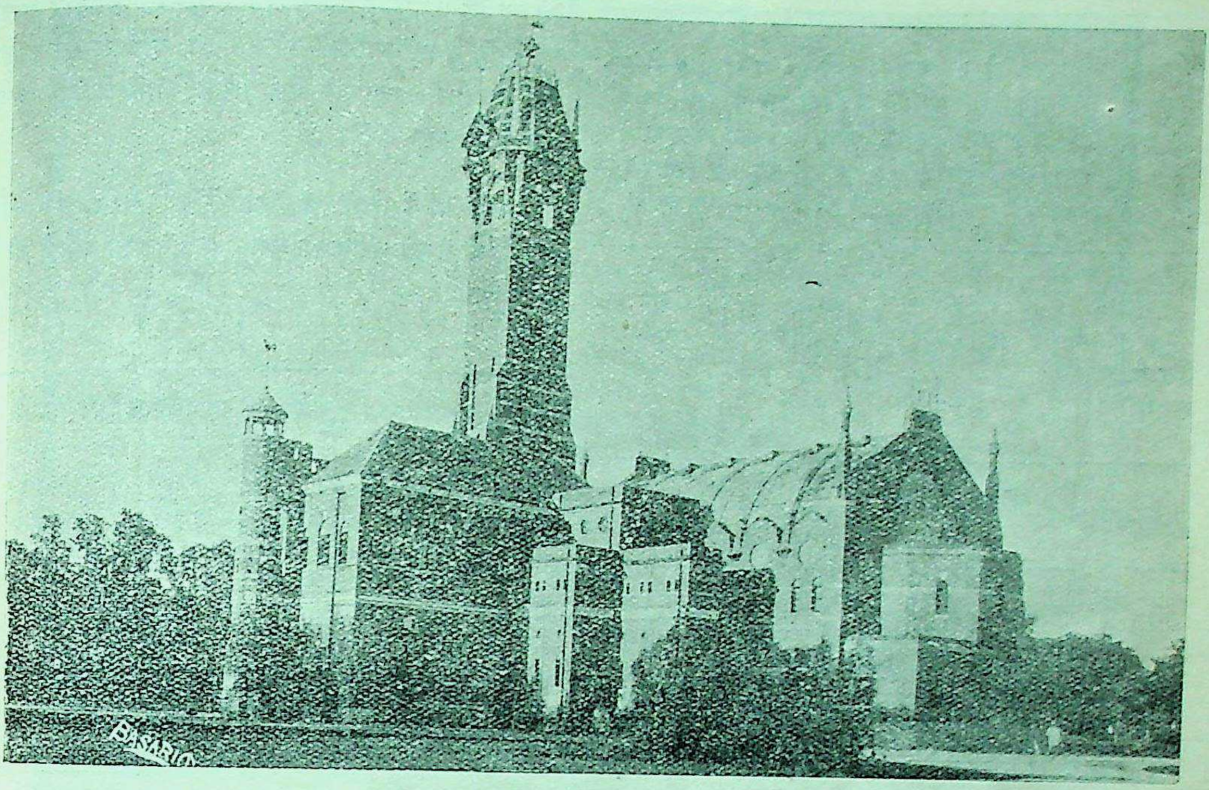

मेयोहाल ।

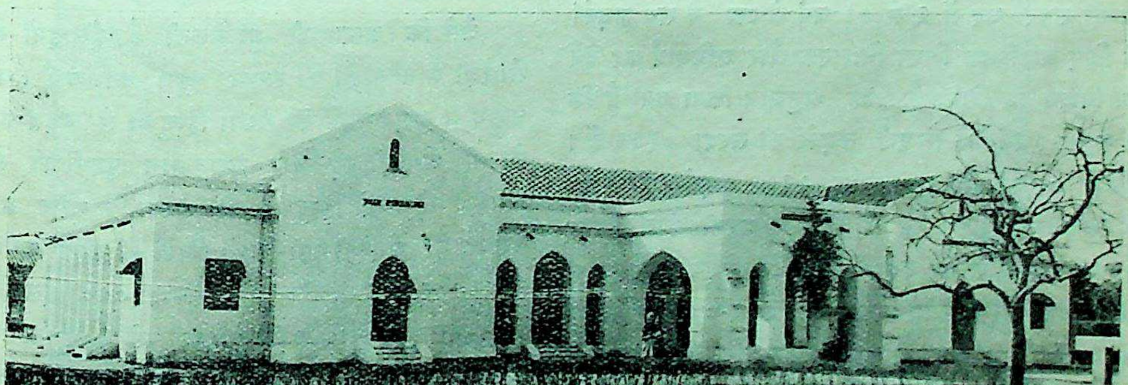

कालविन हास्पिटल ।

धर्म	१० से २० वर्ष तक की उम्र के पढ़े-लिखे लड़कों की संख्या	१० से २० वर्ष तक की उम्र के अपढ़ लड़कों की संख्या	१० से २० वर्ष तक की उम्र के फ़ी सैकड़ा कितने अपढ़ हैं
हिन्दू	३५४३	७६४०	६८
मुसलमान	११३०	३६०४	७८
ईसाई, आर्य-समाजीइत्या०	७४८	२१५	२२
मीज़ान	५४०१	११४५६	६८

इस कोष्टक से पता लगता है कि सम्पूर्ण शहर में तथा हिन्दुओं में १० से २० वर्ष तक के प्रत्येक तीन लड़कों में दो लड़के ऐसे हैं जो बिलकुल अपढ़ हैं। मुसलमानों में तो प्रत्येक चार लड़कों में तीन लड़के अपढ़ हैं। इस निरक्षरता का शीघ्र ही दूर करना आवश्यक है। हमें यह जान कर हर्ष हुआ कि गत १२ नवम्बर की बैठक में प्रयाग-म्यूनिसिपल-बोर्ड ने तीन वर्ष के अन्दर शहर भर में ६ से ११ वर्ष के उम्र के सब लड़कों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य कर देने का निश्चय कर लिया है। यह अनुमान किया गया है कि ६ से ११ वर्ष के सम्पूर्ण लड़कों की संख्या ७५३६ है। इसमें ७५ फ़ी सैकड़ा अर्थात् ५६५२ लड़कों की शिक्षा के लिए सन् १९२४-२५ में व्यवस्था करनी होगी। सन् १९२५-२६ में शायद ६७८२ लड़के प्रारम्भिक शालाओं में शिक्षा प्राप्त करने लगेंगे और सन् १९२६-७ में यह आशा की जाती है कि कुल ७५३६ लड़के म्यूनिसिपल-स्कूलों में पढ़ने लगेंगे। अप्रेल १९२४ में कटरा-कर्नलगंज में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य करने का विचार किया गया है और आक्टोबर १९२४ के अन्त तक वह सम्पूर्ण म्यूनिसिपालिटी की सीमा में शायद अनिवार्य कर दी जायगी। लड़कों के सम्बन्ध में आशातीत सफलता मिलने पर लड़कियों के लिए भी प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य कर देने का विचार किया जा रहा है। हमारी हार्दिक इच्छा यह है कि प्रयाग-म्यूनिसिपालिटी इस कार्य में सफल हो और वह इस प्रान्त की अन्य म्यूनिसिपालिटियों के लि आदर्श का काम दे।

प्रयाग में अँगरेज़ी जाननेवालों की संख्या कम न हैं। इनकी संख्या क़रीब १५ हज़ार है। इसका ब्यौरा नी दिया जाता है—

धर्म	अँगरेज़ी जाननेवालों की संख्या		
	पुरुष (हज़ार)	औरत (हज़ार)	मीज़ान (हज़ार)
हिन्दू	२·०	०·५	२·५
मुसलमान	२·०	०·१	२·१
ईसाई, आर्यसमाजी इत्यादि	८·६	१·७	१०·३
मीज़ान	१२·६	२·३	१४·९

जैसे कि आशा की जा सकती है, ईसाइयों में अँगरेज़ी जाननेवालों की संख्या बहुत अधिक है। यद्य प्रयाग में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं से बहुत कम तो भी अँगरेज़ी पढ़े-लिखे मुसलमान पुरुषों की सं अँगरेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दुओं की संख्या के क़रीब बरा बराबर है। अँगरेज़ी पढ़ी-लिखी स्त्रियों की संख्या क़रीब हज़ार तीन सौ है, जिनमें क़रीब १७०० ईसाई हिन्दू-मुसलमानों में बड़ी मुश्किल से ६०० स्त्रियाँ अँगरेज़ी पढ़ना-लिखना जानती हैं। यह संख्या प्रयाग समान पढ़े शहर के लिए बहुत थोड़ी है।

प्रयाग में बालविवाह की प्रथा भी ख़ूब प्रचलित आगे के कोष्टक में १५ वर्ष तक के विवाहित लड़कों १० वर्ष तक की विवाहित लड़कियों की संख्या जाती है—

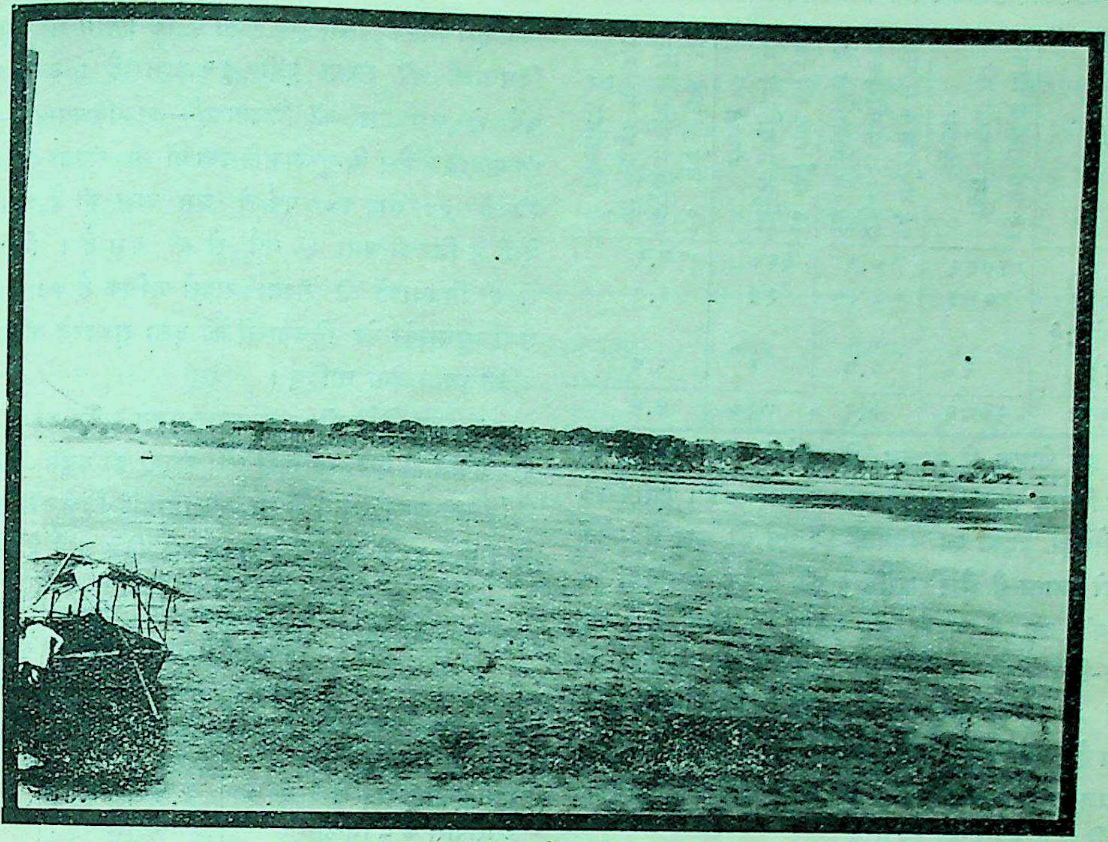

त्रिवेणी ।

पब्लिक लाइब्रेरी ।

धर्म	१५ वर्ष तक के विवाहित लड़कों की संख्या	१५ वर्ष तक के सम्पूर्ण लड़कों में से फ़ी सैकड़ा कितने विवाहित हैं	१० वर्ष तक की विवाहित लड़कियों की संख्या	१० वर्ष तक की सम्पूर्ण लड़कियों में से फ़ी सैकड़ा कितनी विवाहित हैं
हिन्दू	१७९९	१०.२	६९०	६.२
मुसलमान	२६३	३.५	५४	१.१
अन्य (ईसाई इत्यादि)	२०	१.७	६	०.७
मीज़ान	२०८२	७.९	७५०	५.४

इस कोष्टक से मालूम होता है कि हिन्दुओं में ही बाल-विवाह की प्रथा सबसे अधिक प्रचलित है। क़रीब १० फ़ी सैकड़ा लड़कों का विवाह १५ वर्ष की उम्र के पहले ही हो जाता है और क़रीब ६ फ़ी सैकड़ा लड़कियाँ १० वर्ष की उम्र के पहले ही ब्याह दी जाती हैं। यहाँ बाल-विवाह की हानियों के दुहराने की आवश्यकता नहीं है। शिक्षित-समाज इनको भलीभाँति समझने लगा है। क्या हम आशा कर सकते हैं कि प्रयाग के हिन्दू-समाज-सुधारक बालविवाह को शीघ्र ही कम करने का दत्तचित्त होकर प्रयत्न करेंगे?

जिस शहर में बाल-विवाह की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित है वहाँ यदि विधवाओं की—ख़ासकर बाल-विधवाओं की—संख्या भी बहुत अधिक हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। नीचे के कोष्टक में विधवाओं की संख्या दी जाती है और यह बतलाया जाता है कि फ़ी सैकड़ा कितनी स्त्रियाँ हिन्दुओं तथा मुसलमानों में विधवा हैं—

उमर	विधवाओं की संख्या			
	हिन्दू	मुसलमान	अन्य	मीज़ान
० से ५ वर्ष तक	२	...	...	२
५ से १० ,,	३२	६	...	३८
१० से १५ ,,	७२	२२	१	९५
१५ से ३० ,,	७८६	४५६	३३	१२७५
३० से ऊपर ,,	७६६०	२७११	३०६	१०६७७
मीज़ान	८५५२	३१९५	३४०	१२०८७
फ़ी सैकड़ा कितनी स्त्रियाँ विधवा हैं	१८.७	१७.०	११.३	१७.९

इस कोष्टक से मालूम होता है कि प्रयाग में सम्पू विधवाओं की संख्या क़रीब १२ हज़ार है। उनमें १ वर्ष से कम उम्र की विधवाओं—बालविधवाओं— संख्या १३५ है। हिन्दू-बालविधवाओं की संख्या १०६ जिनमें ३४ तो १० वर्ष से कम उमर की हैं और ऐसी हैं जिनकी उमर ५ वर्ष से भी कम है। हिन्दु में ही विधवाओं की संख्या सबसे अधिक है। प्रयाग समाजसुधारकों को विधवाओं की दशा सुधारने की ता उचित ध्यान देना चाहिए।

भारतवासियों की स्थानान्तर-गमन-शक्ति बहुत क है। प्रयाग में ऐसे व्यक्तियों की संख्या ही बहुत अधि है जिनका जन्म प्रयाग में या इलाहाबाद-ज़िले में हु था। नीचे इसके सम्बन्ध में कुछ अङ्क दिये जाते हैं—

पैदा होने का स्थान	पुरुष (हज़ार)	औरत (हज़ार)	मीज़ान (हज़ार)	फ़ी सैकड़ा
(१) जो इलाहाबाद-ज़िले में पैदा हुए थे	६९.८	५५.५	१२५.३	७९
(२) जो इलाहाबाद के आसपास के ८ ज़िलों में पैदा हुए थे	५.७	५.४	११.१	७.
(३) जो संयुक्त-प्रान्त के अन्य ज़िलों में पैदा हुए थे	१०.३	५.३	१५.६	६.
(४) जो भारत के अन्य प्रान्तों में पैदा हुए थे	२.३	१.०	३.३	२.
(५) जो भारत के बाहर (अन्यदेशों में) पैदा हुए थे	१.६	०.४	२.०	१.
मीज़ान	८९.७	६७.६	१५७.३	१००

इस कोष्टक से पता लगता है कि प्रयाग में रहने क़रीब ९७ फ़ी सैकड़ा व्यक्ति संयुक्तप्रान्त में ही पैदा थे। उनमें ८० फ़ी सैकड़ा ऐसे थे जिनका जन्म इलाहा ज़िले में ही हुआ था। अन्य प्रान्तों से जो व्यक्ति १८ मार्च सन् १९२१ में मौजूद थे उनमें अधि यात्री थे। जो भारत के बाहर पैदा हुए थे अधिकांश संख्या सरकारी योरोपियन नौकर और कुटुम्बियों की है। यदि प्रयाग कानपुर के समान

औद्योगिक शहर होता तो शायद अन्य प्रान्तों से लोग अधिक संख्या में आकर यहाँ बसे होते।

प्रयाग में शक्कर और काँच के कारख़ाने छोड़कर न तो कोई बड़े बड़े कारख़ाने हैं और न उद्योग-धन्धों की उन्नति की तरफ़ विशेषरूप से ध्यान ही दिया गया है। यहाँ काम करनेवाली स्त्रियों की संख्या बहुत कम है और आश्रितों की संख्या बहुत अधिक है। नीचे के कोष्टक में प्रयागनिवासियों के प्रधान पेशों का ब्यौरा दिया जाता है, जिससे यहाँ के निवासियों के जीवन-निर्वाह के ज़रियों का कुछ हाल मालूम हो जायगा—

पेशा	काम करनेवाले पुरुष (हज़ार)	काम करनेवाली स्त्रियाँ (हज़ार)	आश्रित (हज़ार)	मीज़ान हज़ार	फ़ी सैकड़ा
(१) खेती-बारी	६.२	२.१	८.३	१६.६	१०.६
(२) उद्योग-धन्धे	११.१	२.४	१६.९	३०.४	१९.२
(३) सवारी तथा माल लाने ले जाने में लगे हुए	५.६	०.१	९.३	१५.०	९.६
(४) व्यापार-व्यवसाय	७.९	२.३	१५.०	२५.२	१६.०
(५) फ़ौज और पुलिस	४.१	...	२.६	६.७	४.३
(६) अन्य सरकारी या म्यूनिसिपल नौकर	१.९	...	३.२	५.१	३.३
(७) मुख्य पेशे और रोज़गार	३.८	०.३	७.४	११.५	७.३
(७) अपनी पुरानी आमदनी पर जीवन-निर्वाह करनेवाले	०.३	०.१	१.०	१.४	०.९
(९) घरू नौकर	७.३	२.७	८.१	१८.१	११.५
(१०) साधारण मज़दूर	८.६	४.५	१०.५	२३.६	१५.१
(११) भीख माँगनेवाले	१.४	०.५	१.६	३.५	२.२
मीज़ान	५८.२	१५.०	८३.९	१५७.१	१००.०
फ़ी सैकड़ा	३७.०	९.६	५३.४	१००.०	...

प्रयाग में आश्रित व्यक्तियों की संख्या क़रीब ५३ फ़ी सैकड़ा है। यह बहुत अधिक है। इस शहर की क़रीब १० प्रतिशत जनता खेती से ही अपना जीवन-निर्वाह करती है। क़रीब १९ प्रतिशत व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह के लिए छोटे छोटे उद्योग-धन्धों पर निर्भर हैं। आगे भिन्न भिन्न उद्योग-धन्धों में काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या दी जाती है—

	काम करनेवाले पुरुष	काम करनेवाली स्त्रियाँ
(१) मेहतर	११८३	६८५
(२) जूते और खड़ाऊँ बनानेवाले	९०५	३०
(३) दर्ज़ी	८६९	३१४
(४) बढ़ई	८२३	७

	काम करने वाले पुरुष	काम करनेवाली स्त्रियाँ
(५) छापेख़ाने में काम करनेवाले	८१६	९
(६) नाई	७७९	७२
(७) धोबी और रँगरेज़	७६८	४१९
(८) लोहार	६८९	१३
(९) सोनार और जौहरी	६४२	१
(१०) गंधी (सुगंधित तेल बनानेवाले)	५५३	१८०
(११) चावल कूटना और आटा पीसना	५३४	२४१
(१२) कुम्हार	५२७	१६७
(१३) कपड़ा बुनना	४३९	८२
(१४) हलवाई (मिठाई बनानेवाले)	२७३	३०
(१५) क़साई	२३८	५
(१६) भड़भूँजा	१५०	१००

प्रयाग में जुलाहों की संख्या बहुत कम है। इस बात की शीघ्र ही जाँच की जानी चाहिए कि इनको किन किन असुविधाओं का सामना करना पड़ता है और वे किस तरह से दूर की जा सकती हैं।

सवारी तथा माल लाने ले जाने में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या क़रीब ६½ प्रतिशत है। इसमें इक्का, टाँगा हाँकनेवाले, स्टेशन पर के कुली और पोर्टर, रेलवे तथा डाक और तार-विभाग के कर्मचारी शामिल हैं। इनके सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

व्यापार-व्यवसाय में केवल १६ प्रतिशत व्यक्ति ही लगे हुए हैं। नीचे भिन्न भिन्न व्यापार-व्यवसाय में लगे हुए (काम करनेवाले) व्यक्तियों की संख्या दी जाती है—

	काम करनेवाले पुरुष	काम करनेवाली स्त्रियाँ
(१) अनाज और दाल बेचनेवाले	२२२५	४८४
(२) तरकारी, पान, फल इत्यादि बेचनेवाले	१६८२	८७०
(३) दूध, घी, मक्खन इ० बेचनेवाले	१००७	३७५
(४) कपड़ा बेचनेवाले	५८०	१३
(५) बैंक मैनेजर, महाजन, दलाल	४७७	३५
(६) तमाखू, गाँजा, अफ़ीम बेचनेवाले	३२८	५७
(७) लकड़ी बेचनेवाले	२६१	९०
(६) घास बेचनेवाले	२५८	१८७
(९) शराब, सोडावाटर और बर्फ़ बेचनेवाले	१३०	४

प्रयाग में मादक पदार्थ बेचनेवालों की संख्या बहुत अधिक है। यह इस शहर के लिए बहुत हानिकारक है। उद्योग-धन्धों के समान यहाँ के व्यवसाय भी बहुत गिरी हुई दशा में मालूम होते हैं। बिना इनकी उन्नति किये इस शहर की आर्थिक उन्नति होना सम्भव नहीं है। इसकी तरफ़ प्रयाग की उन्नति चाहनेवालों को यथेष्ट ध्यान देना चाहिए।

क़रीब ४ हज़ार मनुष्य फ़ौज और पुलिस में काम करते हैं, जिनमें क़रीब २६९८ फ़ौज में हैं। शेष पुलिस-विभाग में काम करते हैं। क़रीब १३ सौ पुरुष अन्य सरकारी विभागों में तथा म्युनिसिपालटी में नौकर हैं। म्युनिसिपालटी के नौकरों की कुल संख्या २४५ बतलाई गई है।

मुख्य मुख्य पेशेवालों की संख्या इस शहर में अधिक नहीं है। इसका ब्योरा नीचे दिया जाता है—

	काम करनेवाले पुरुषों की संख्या	काम करनेवाली स्त्रियों की संख्या
(१) पुरोहित और पंडे	१०३४	१२
(२) प्रोफ़ेसर, अध्यापक इत्यादि	८३२	९
(३) वकीलों के मुंशी, अर्ज़ीनवीस इत्यादि	७३४	
(४) डाक्टर, वैद्य इत्यादि	४५९	१
(५) वकील, क़ाज़ी और मुख़्तार	२९४	
(६) लेखक, सम्पादक, फ़ोटोग्राफ़र, ज्योतिषी इत्यादि	२१३	
(७) कम्पाउंडर, मिडवाइफ़ इत्यादि	८७	३

जैसा कि अनुमान किया गया था कि प्रयाग के मुख्य पेशेवालों में पुरोहित और पण्डों की संख्या ही सबसे अधिक होगी। ख़ुशी की बात है कि वह अनुमान सच हुआ। अध्यापकों की संख्या का अधिक होना शहर के लिए अच्छा है। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य हो जाने पर अध्यापकों की संख्या और भी बढ़ जायगी। वकील, क़ाज़ी और मुख़्तारों की संख्या कुछ कम नहीं है। वह क़रीब ३०० के बराबर है। डाक्टर-वैद्यों की संख्या भी काफ़ी है तो भी शहर की मृत्यु-संख्या या रोगियों की संख्या

कम होती नहीं दीखती। वकीलों के मुंशी और अर्ज़ीनवीसों की संख्या भी बहुत अधिक है।

अपनी पुरानी आमदनी पर जीवन-निर्वाह करनेवालों की संख्या क़रीब एक हज़ार चार सौ है। क्या ही अच्छा हो यदि ये महाशयगण अपने समय को देश-सेवा में ही व्यतीत किया करें ?

घरू नौकरों और साधारण श्रमियों की संख्या काफ़ी अधिक है। इनकी आर्थिक दशा सुधारने की तरफ़ प्रयाग-निवासियों को उचित ध्यान देना चाहिए।

दयाशङ्कर दुबे

मदन-दहन।

संस्कृत-साहित्य में भगवान् व्यास और कविकुल-चूड़ामणि कालिदास ने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा और अपूर्व कवित्व-शक्ति से जो चमत्कार उत्पन्न किया है उससे विश्व-साहित्य का मुख उज्ज्वल है। अपनी रस-स्रावनी लेखनी-द्वारा उन्होंने सहृदयता का अमृतवाही स्रोत बहाकर संस्कृत-साहित्य को रस, प्रसाद और माधुर्य गुणों से परिपुष्ट कर अजर और अमर बना दिया है। उनकी कीर्ति-कौमुदी भारतवर्ष को आलोकित कर रही है और उनके काव्य-सौरभ से साहित्य-कानन सुगन्धित हो रहा है। भगवान् व्यास की वह अलौकिक कल्पनातीत शक्ति धन्य है जिसके सम्मुख सर्वज्ञ गणपति भी चकरा कर अवाक् रह जाते थे—

सर्वज्ञोऽपि गणेशो यत् क्षणमास्ते विचारयन्।
तावच्चकार व्यासोऽपि श्लोकानन्यान्बहूनपि ॥

यदि ऐसे विलक्षण प्रतिभाशाली कवि के काव्य की प्रशंसा ऋषि-मुनि और सूत-मागध मुक्तकण्ठ से करें तो कोई आश्चर्य नहीं। उनके काव्य को सुन कर अन्य कवियों की कृतियाँ तुच्छ लगें तो उसमें आश्चर्य ही क्या—

पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव।

उनके अमृतोपम रस का एक बार आस्वादन कर यदि सहृदय बार बार उसी का पान करने की इच्छा करें तो कौन आश्चर्य की बात है —पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।

कविसम्राट् कालिदास की भी यशः-पताका संसार में फहरा रही है। उनकी अनुपम काव्य-कला चन्द्र-कला के समान उत्तरोत्तर बढ़ कर भारतवर्ष के उच्चोच्च पर्वतों को उल्लङ्घन करके सप्त समुद्र गोखुरवत् पार करके योरप और नवजात अमेरिका में प्रकाश फैला रही है। उनके मनोहर काव्य की मधुरता का अपूर्व स्वाद अन्य-देशीय संस्कृतज्ञ साहित्य-सेवियों के अधर पल्लवों पर विराजमान है और उनके देशवासियों को तो सैकड़ों वर्ष से मन्त्र-मुग्ध कर रहा है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।

उनकी उक्तियाँ सुगन्धयुक्त मकरन्द-गर्भित मृदुल मञ्जरी के समान हृदय को आकर्षण करनेवाली हैं। तभी तो महाकवि बाणभट्ट ने कहा है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥

जो स्थान संस्कृत में व्यास और कालिदास का है, हिन्दी-साहित्य में उससे कम तुलसीदास का स्थान नहीं। जब से रामचरित-मानस की सृष्टि हुई है तभी से उसका आदर उत्तरोत्तर बढ़ता चला आता है। यहाँ तक कि इस समय भारतीय साहित्य में उसके बराबर किसी अन्य ग्रन्थ का प्रचार नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी उसकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है और उसे संसार के साहित्य में प्रेमपूर्वक बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। आशा है, उसका आदर समय के प्रवाह में और भी बढ़ता जायगा।

व्यास, कालिदास और तुलसीदास जैसे प्रतिभाशाली कवीश्वरों की तुलना करना अत्यन्त दुस्तर कार्य है। इनमें प्रत्येक अपने अपने क्षेत्र में अद्वितीय और अखण्ड राज्य करनेवाले हैं, प्रत्येक ने अपनी अपनी कृतियों पर व्यक्तित्व और विशेषत्व की छाप लगा रक्खी है और प्रत्येक अपने अपने रङ्गों और आभूषणों से आभूषित हो रहे हैं। वेदव्यास तत्त्ववेत्ता, दार्शनिक, इतिहासज्ञ, धर्माधर्मविवेचक, समाजतत्त्वदर्शी महर्षि थे। उनके लक्षणों

से कुछ कुछ मिलते-जुलते गुण गोस्वामीजी में भी थे। ये भी 'नानापुराणनिगमागम' पर विचार करनेवाले, त्यागी, विरक्त, धर्म और मर्यादा-प्रेमी, मानुषिक हृदय-विकारों के द्रष्टा महात्मा थे। भगवान् व्यास वेद और निगमादि के पुनःस्थापन तथा भक्ति और उपासना के प्रतिपादन के निमित्त साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और महात्मा तुलसीदास राम-रस-मत्त होकर 'स्वान्तः सुखाय' प्रभु-गुणानुवाद में दत्तचित्त हुए। परन्तु कालिदास दूसरी ही प्रकृति के थे। उनमें गोस्वामीजी का सङ्कोच और 'प्राकृत गुनगनगान' में अश्रद्धा न थी। वे राज-सभा के बैठनेवाले, चतुर, काव्योपजीवी, सांसारिक प्रवृत्ति के कवि थे। उनकी सरस्वती की रुचि प्रकृति और प्राकृतिक की ओर विशेष झुकी थी। 'अस्ति कश्चिद्वाक्' पर कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश तीन विलक्षण काव्यों की रचना करना उन्हीं का काम था। वे सौन्दर्योपासक थे। 'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' उनकी भावुकता का सस्वर परिचय देता है।

यदि विचार किया जाय तो इन तीनों महाकवियों में अनेक प्रकार की विषमता मिलती है, परन्तु फिर भी समता का नितान्त अभाव नहीं है। तीनों नैसर्गिक कवि, भाषा के आचार्य, सहृदय, प्रकृतिमर्मज्ञ, मानुषिक मनोविकारों के सूक्ष्म विकास और तारतम्य के समझनेवाले प्रतिभाशाली सरस्वती के प्रिय पुत्र थे। विषमता के जहाँ सहस्रों उदाहरण दिये जा सकते हैं, वहाँ समता के भी कुछ न कुछ स्थल अवश्य विद्यमान हैं। इन्हीं स्थलों पर उनकी पारस्परिक तुलना सम्भव है। यद्यपि कुछ अंशों और अङ्गों के आधार पर उनको श्रेणीबद्ध करना अथवा उत्तम-मध्यम कहना भ्रमात्मक होगा, तो भी एकदेशीय, एकाङ्गी तुलनात्मक समालोचना सम्भव और सर्वथा उचित है।

समता रखनेवाले विषयों में 'मदन-दहन' एक अतीव मनोरञ्जक विषय है। तीनों कवियों ने अपने अपने रङ्ग में इस विषय का वर्णन और निरूपण किया है और प्रत्येक ने कुछ न कुछ चमत्कार दिखलाया है। इस लेख में इसी विषय की चर्चा की जायगी। इसके उपाख्यान की कल्पना व्यासजी ने की है। अतएव पहले उनका वर्णन उद्धृत कर और उस पर विचार करके कालिदास और तुलसीदास प विचार किया जायगा।

देवों और दानवों का सङ्ग्राम सृष्टि के आरम्भ चला आता है और कुछ विद्वानों की धारणा है कि अन्त तक चला जायगा। कहते हैं कि पूर्व-काल दिति-वंश में वज्राङ्ग का पुत्र तारक एक प्रबल, परा और दुर्दान्त महादैत्य था। देवताओं और उ राजा इन्द्र से इसका परम्परागत वैर था, अतएव उसने पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि देवताओं और उनके स र्थकों ने बड़ा पराक्रम और यथाशक्ति प्रतिकार करने चेष्टा की, तो भी उसकी मार के आगे देवताओं के देवता कूच कर गये। अन्त में उससे हार मान कर अत्यन्त दुखी होकर वे ब्रह्मा की शरण गये। उनसे प मर्श करके उन्होंने यह निश्चय किया कि यदि शिवजी वीर्य से पुत्र उत्पन्न हो और वह सेना-नायक बनाया ज तो तारकासुर का नाश हो सकता है। परन्तु कठिनाई थी कि शिवजी उस समय सती के आत्म-त्याग के का विरक्त होकर समाधिस्थ थे। उन्हें जब रूप-लावण्य पार्वतीजी की घोर तपस्या भी समाधि से न हिला स तब क्या यह कोई साधारण काम था! सोचते सो सब देवताओं की यह राय ठहरी कि यह कार्य काम द्वारा सिद्ध हो सकेगा। अतएव इन्द्र की प्रेरणा से मी केतन अपने सहचर माधव के सहित शिवजी को व्रत करने गया। उसी प्रयत्न में वह शिवजी के तृतीय द्वारा प्रादुर्भूत अग्नि से जल कर भस्म हो गया। मदन-दहन की यही संक्षिप्त कथा है।

उपर्युक्त कथा का क्या मर्म है यह बात तो विद्व जानें, परन्तु स्थूल रूप से इससे यह उपदेश मिलता है महासुर अर्थात् अत्याचारी पाशविक वृत्ति के उद्दण्ड दा का नाश ऐसे ही पुत्र से हो सकता है जो पार्वती जैसी और 'पति देवता सुतीय' में 'प्रथम रेख' वाली माता शङ्कर ऐसे निष्काम, योगेश्वर और परोपकार-परायण से उत्पन्न हो। देवता स्वयं शक्ति सम्पन्न होने पर भी शिव और शक्ति के संयोग के जय नहीं प्राप्त कर सक इसी प्रकार के अन्य उपदेश भी इस उपाख्यान से ध्वनित होते हैं। परन्तु यहाँ हमारा आशय इस

पर साहित्यिक दृष्टि से विचार करने का है। हाँ, इतना अवश्य कहना है कि इस सुन्दर उपाख्यान की कल्पना का श्रेय भगवान् व्यास को है और यह बात कुछ कम महत्त्व की न समझनी चाहिए।

भगवान् व्यास ने इस उपाख्यान का वर्णन संक्षेप में लिङ्गपुराण में और और कुछ अधिक विस्तार से शिव-पुराण में किया है। लिङ्ग-पुराण के १०१ अध्याय में केवल अठदस श्लोकों में ही इसको साद्यन्त कह डाला है।

मेरोः शिखरमासाद्य स्मरं सस्मार सुव्रतः ।
स्मरणाद्देवदेवस्य स्मरोऽपि सह भार्यया ॥ ३२ ॥
रत्यासमं समागम्य नमस्कृत्य कृताञ्जलिः ।
स शक्रमाहतं जीवं जगज्जीवो द्विजोत्तमः ॥ ३३ ॥
स्मृतो यद्भवता जीव संप्राप्तोऽहं तवान्तिकम् ।
ब्रूहि यन्मे विधातव्यं तमाह सुरपूजितः ॥ ३४ ॥
तमाह भगवाञ्छक्रः संभाव्य मकरध्वजम् ।
शङ्करेणाम्बिकामद्य संयोजय यथासुखम् ॥ ३५ ॥
तया सह रमते येन भगवान् वृषभध्वजः ।
तेन मार्गेण मार्गस्व पत्न्या रत्याऽनया सह ॥ ३६ ॥
सोऽपि तुष्टो महादेवः प्रदास्यति शुभां गतिम् ।
विप्रयुक्तस्तया पूर्वं लब्ध्वा तां गिरिजामुमाम् ॥ ३७ ॥
एवमुक्तो नमस्कृत्य देवदेवं शचीपतिम् ।
देवदेवाश्रमं गन्तुं मतिं चक्रे तया सह ॥ ३८ ॥
गत्वा तदाश्रमे शम्भोः सह रत्या महाबलः ।
वसन्तेन सहायेन देवयोक्तुमनाभवत् ॥३९॥
ततः संप्रेक्ष्य मदनं हसन्देवस्त्रियम्बकः ।
नयनेन तृतीयेन सावज्ञं तमवैक्षत ॥४०॥
ततोऽस्य नेत्रजो वह्निः मदनं पार्श्वतः स्थितम् ।
अदहत्तत्क्षणादेव ललाप करुणं रतिः ॥४१॥
तपसा च महादेव्याः पार्वत्या वृषभध्वजः ।
प्रीतश्च भगवाञ्छर्वो वचनाद् ब्रह्मणस्तदा ।

अ० १०२ श्लोक १

हिताय चाश्रमाणां च क्रीडार्थं भगवान्भवः ।
तदा हैमवतीं देवीं उपयेमे यथाविधि ॥२॥

अर्थात् जब मेरु के शिखर पर बैठ कर इन्द्र ने कामदेव का स्मरण किया तब वह अपनी प्रियपत्नी रति के सहित उनके सम्मुख उपस्थित हुआ और नम्रता-पूर्वक देवराज से पूछा कि क्या आज्ञा है। इन्द्र ने उसकी प्रशंसा करके उसका उत्साह बढ़ाया और कहा, "देखो, यदि तुम शङ्कर का अम्बिका के साथ संयोग करा दो तो उनकी चिर-विरहाग्नि से दग्ध शम्भु तुम्हारी इस सेवा से प्रसन्न होकर तुम्हें शुभगति प्रदान करेंगे। यह सुन कर मकरध्वज नमस्कार करके अपनी स्त्री-सहित शिव के आश्रम में पहुँचा और वसन्त की सहायता से अपने कार्य में लगा। उसकी चेष्टा देख कर महादेव हँसे और तीसरे नेत्र से उसकी ओर अवज्ञासहित देखा। उस नेत्र से एक ऐसी ज्वाला निकली जिससे मदन क्षण भर में जल गया। मदन का अमोघ कौशल व्यर्थ हुआ। परन्तु पार्वती की घोर तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा के आग्रह, आश्रमों की रक्षा और विनोद की इच्छा के निमित्त उन्होंने पार्वती का विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया।

यह वर्णन बिलकुल सीधा और स्वाभाविक है। इन्द्र ने सोचा कि यदि मैं कामदेव से यह कह दूँ कि उसे शिव की समाधि भङ्ग करने के लिए जाना होगा तो सम्भव है कि वह शम्भु के डर से काम करने से आनाकानी करे। अतएव उसको देवराज ने चकमा दिया और महादेव की विशेष कृपा प्राप्त करने की आशा दिलाई। वह भी बिना सोचे-विचारे शिवजी से जा भिड़ा, जिसका परिणाम दुःखान्त हुआ। शिवजी उसकी मूर्खता देख कर हँसे और उसे उसके जाल सहित क्षण भर में नष्ट कर दिया। धन्य है भगवान् शिव, तुम्हारे ऊपर कौन जय प्राप्त कर सकता है! जान पड़ता है कि व्यास का आशय इस पुराण में केवल उपाख्यान का वर्णन और तद्गत उपदेश देना ही था। इससे शिव का महत्त्व तथा उनकी लोकोपकार-परायणता सिद्ध होती है।

शिवपुराणान्तर्गत ज्ञान-संहिता के दशवें अध्याय में व्यास ने इस उपाख्यान को काव्याभूषण से सजाकर उपस्थित किया है। यहाँ कामदेव मदोन्मत्त और अभिमान-पूर्ण भाव दिखाता है। इन्द्र के सामने पहुँचते ही वह कहता है—हे भगवन्, आपने मुझे किस सेवा के निमित्त स्मरण किया है? आज्ञा दीजिए। मैं उसके प्रतिपालन के लिए कटिबद्ध हूँ। इन्द्र ने उसकी तत्परता देख कर उसकी

प्रशंसा की और उसे उत्साहित किया, जिससे उत्तेजित होकर वह बोला—

... ...

ते पदं कर्षितुं यो वै तपस्तप्यति दारुणम् ॥३५॥

... ...

क्षणेन पातयाम्यद्य कटाक्षेण स्त्रियास्तथा ।
देवं वा दानवं वापि ऋषिं वा देवसत्तमम् ॥६३॥

... ...

अन्येषां गणना नास्ति पातयामि हरं यदि ॥३८॥

यही तो देवराज चाहते थे । बिना झूठ बोले या चालबाज़ी खेले उन्होंने ऐसी चतुराई से वार्तालाप किया कि स्वयं मकरध्वज से ही अपनी मनोभिलषित बात कहला ली । उसका उद्धत उत्साह देख कर इन्द्र को वास्तविक बात कहने में कोई असमञ्जस अथवा सङ्कोच न हुआ । यद्यपि काम टेढ़ा और अत्यन्त दुःसाध्य था, तो भी विश्व-विजयी अभिमानी कामदेव को वह सरल और साधारण जान पड़ा। सच्चे और शुभचिन्तक सेवक को अपने स्वामी और सखा के दुस्तर कार्य करने में उत्साह और आत्म-विश्वास होना ही चाहिए, परन्तु अभिमान और दर्प-द्वारा प्रेरित आत्मश्लाघा क्षुद्रहृदयता का द्योतक है । कन्दर्प ने दर्प में आकर कह दिया—

प्रेम्णा स्निग्धं च देवेश करिष्यामि न संशयः ॥४६॥

विजय का स्वप्न देखकर और अपने अमोघ कौशल और वीर्य से उन्मत्त होकर मीनकेतन शिवजी की तपोभूमि में गया । वहाँ पहुँचते ही उसने वसन्त का प्रसार किया । सब वन और उपवन लहलहा उठे, मन्द समीर गुदगुदा कर पेड़-पल्लवों तक को जगाने लगा, पलाश जाग पड़े, बौर निकल आये, बकुल तथा कलियाँ खिल पड़ीं और उनके प्रेमी भ्रमर उनके समीप उड़ उड़ कर गुञ्जार करने लगे । उधर कोयल ने मर्मस्पर्शी पञ्चम स्वर से दिल खोल कर वसन्त का स्वागत किया और डाली डाली पर जाकर सुसमाचार सुनाया । चन्द्रमा की किरणें दूतिका का कार्य करने लगीं । बड़ा भारी आडम्बर फैल गया ।

वनौकसां तदा तत्र मुनीनां दुःसहो ह्यभूत् ॥५६॥

यही नहीं—

अचेतनानां तत्रासीत्कामासक्तिः सचेतसाम् ॥५७॥

जब जड़ और अचेतन तक कामज्वर से पीड़ित है गये तब चेतन जीवों की दशा तो अत्यन्त शोचनीय है गई होगी ।

जब शिवजी ने यह अकाल-प्रवृत्ति देखी तब उन बड़ा आश्चर्य हुआ । वे बड़े फेर में पड़ गये, कुछ भी समझ सके । जब तक उसके कारण का पता पावें पा तब तक मार ने अपना वार ही कर दिया—

तपयामास तत्रैव हरो दुःखहरः परः ॥५८॥

उन्हें क्षुब्ध कर कन्दर्प झट पैतरा बदल कर उन बायें पार्श्व में आकर डट गया । ऐसे नाज़ुक समय सौभाग्यवश श्रीगिरिजाकुमारी फूलों के आभूषण पह हुए शिव की पूजा के निमित्त आ पहुँचीं । वे रूप-लावण और सौन्दर्य की साक्षात् अधिष्ठात्री ही थीं । उनक शोभा का वर्णन सौ वर्ष तक भी कोई करता रहे तो समाप्त न हो । उनको शिवजी के पास पहुँचते देख और उसे उपयुक्त अवसर समझ कर कामदेव ने शम्‌ पर अपना अचूक बाण मार ही तो दिया । योगिराज महा देव के शरीर में वह असर कर गया, क्योंकि उन्होंने आँ उठा कर भवानी के कान्तिस्यन्दी अवयवों को देखा—

सा दृष्टा प्रभुणा तत्र सुन्दराङ्गं विवृण्वती ॥६६॥

और वे उनके अपूर्व सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए त से निवृत्त हुए—

इत्येवं वर्णयित्वा तु तपसो विरराम ह ।
हस्तं वस्त्राञ्चले यावत्तावच्च दूरतो गता ॥७१॥

वाह रे वीर कामदेव, तप तो तूने भङ्ग ही कर दिया भवानी हटीं तो भी उनके अङ्ग-विलास और भाव-विभ्र से उनकी छटा सौगुनी हो उठी । शिवजी चकित औ स्तम्भित हो गये—

एवं चेष्टां तदा दृष्ट्वा शम्भुर्मोहमुपागमत् ।
यद्यालिङ्गनमेतस्याः करोमि किं पुनः सुखम् ॥

विजय-श्री कामदेव के ही हाथ रहती और शिव पूर्णरूप से परास्त हो जाते, यदि यह भाव उनके मन थोड़ी देर और ठहर जाता । यद्यपि उनका चित्त चल यमान और डावाँडोल हो गया तो भी वे पल भर में सुस्थिर हो गये । झोंका निकल गया । सोचने लगे कि

योगीश्वर होकर कैसे मोह में फँस गया ? ओह ! जब मेरी वृत्ति चञ्चल हो गई तब साधारण जीवों की दशा और भी शोचनीय है। कटिबन्ध आसन में स्थित होकर वे उसके कारण पर विचार करने लगे। चारों ओर देखा तो वाम पार्श्व में स्थित कामदेव पर उनकी दृष्टि पड़ गई। फिर क्या था, उनका क्रोध भभक उठा—

अहो दुष्टेन कामेन न मुक्तोऽहं दुरासदः।
इत्येवं मनसा क्रुद्धः शिवः परमकोपनः॥
तृतीयात्तस्य नेत्राद्वै निःससाराग्निरुच्छिखः।
भस्मसात्कृतवांस्तेन मदनं तावदेव हि॥११-५,६

शिव-पुराण और लिङ्ग-पुराण के इस उपाख्यान में कई अंशों में भिन्नता है। शिवपुराण में कामदेव का स्वभाव, उसकी विश्व-विमोहिनी शक्ति, उसके दुर्दमनीय उत्साह, साहस और सेना की प्रचण्डता का संक्षेप में अच्छा चित्र खींचा गया है; शिवजी के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करा कर मन्मथ की व्यापकता का उत्तम निदर्शन किया गया है; उससे शम्भु के ईश्वरत्व पर कुछ छाया डाल कर उनमें मानुषिकता तथा अमानुषिकता के मनोहर भाव का बड़ी चतुरता के साथ आधान किया गया है। एक बात और भी है। कामदेव की प्रधान शक्ति स्त्री में है, ऋतुराज से भी वह बलवती है। अतएव शिवपुराण के वर्णन में भवानी की भव्य मूर्ति को उपस्थित कर काम और कामारि के सङ्ग्राम को घोर, सच्चा और सबल बनाने का यत्न बड़ा सुन्दर रहा। शिव में काम के साथ क्रोध और कन्दर्प में दर्प, साहस और उन्मत्तता का अतीव स्वाभाविक और मनोहारी सम्मिश्रण दिखाया गया है। कल्पना की और काव्य की दृष्टि से शिव-पुराण का वर्णन लिङ्ग-पुराण के वर्णन से श्रेष्ठ है।

कविकुल-चूड़ामणि कालिदास को उपर्युक्त व्यास-विनिर्मित सामग्री हाथ लगी। विषय रोचक, उपदेशजनक और काव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त था। महाकवि ने उस पर सत्रह अथवा बाईस सर्गों के एक महाकाव्य की रचना कर दी। उनको चित्र बना बनाया मिल गया और उनका काम केवल रङ्ग भरने भर का था। इस काम में उनसे बढ़ कर कवि कहाँ मिल सकता है ? उपाख्यान के समालोच्य अंश पर उन्होंने ७६ श्लोक लिखे और एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर दिया।

कालिदास का कामदेव अभिमान, दर्प, आत्म-प्रशंसा में व्यास के मन्मथ से कहीं बढ़ा-चढ़ा हुआ है। वह बड़ा रँगीला भी है। देखिए—

अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं
रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः
शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा॥

पुष्पधन्वा बड़ा नाजुक धनुष, जो स्त्रियों की भ्रूलता के समान टेढ़ा था, गले में लटकाये हुए आया। इस समय भी उसके गले पर रति की चूड़ियों के निशान बने हुए थे। उसके साथ उसका मित्र मधु भी हाथ में आम्र-मञ्जरी का बाण लिये हुए आया। पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि इन कोमल कुटिल पात्रों को मानो रङ्गमञ्च पर लाकर किसी ने खड़ा कर दिया हो। महाराज इन्द्र की सभा क्या किसी रङ्गमञ्च से कम थी ?

कामदेव ने इन्द्र को प्रणाम करके शिवपुराणवाले कामदेव की तरह अपने बल का बखान प्रारम्भ कर दिया। वह अपने आपे से इस प्रकार बाहर हो गया कि गोपनीय बातों को भी ले उड़ा। उसकी धृष्टता को देखिए, बेधड़क होकर वह इन्द्र से पूछता है—कहिए क्या आपके सिंहासन को प्राप्त करने का यत्न कोई कर रहा है, अथवा कोई घोर तपस्या कर रहा है जिससे आपको कुछ चिन्ता है ? बतलाइए तो मैं उसे अपने बाण से अथवा स्त्री-कटाक्षों से अभी बेध डालूँ। यही नहीं, वरन्

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां
लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टम्॥
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां
कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम्॥३७॥
कयासि कामिन्सुरतापराधा-
त्पादानतः कोपनयावधूतः।
तस्याः करिष्यामि दृढ़ानुतापं
प्रवालशय्याशरणं शरीरम्॥३८॥

हे राजन्, कहिए किस पतिव्रता नितम्बिनी पर आपका चित्त चला गया ? क्या आप चाहते हैं कि

वह लज्जा त्याग कर आपके गले में हाथ डाल दे ? अथवा क्या किसी कामिनी ने सुरतापराध के कारण, पैर पड़ने पर भी, आपका तिरस्कार किया है ? आज्ञा हो तो मैं उसे ऐसा अनुतप्त करूँ कि प्रेमज्वर से व्याकुल होकर उसे कोमल कोपलों का आश्रय लेना पड़े ।

यदि यह बात मान भी ली जाय कि इन्द्र की कामुक-वृत्ति थी; ईर्ष्या, मोह और द्वेष उनके स्वभाव में थे, कामदेव को बुलाना ही उनके कुटिलाशय का सूचक था, और कामदेव का मुख्य काम मनुष्य को व्रतच्युत करना ही था, तो भी पुष्पधन्वा की बात-चीत अनुचित जान पड़ती है । उसकी बातों से जान पड़ता है कि उसका स्वामी सदैव ऐसे ही कुविचारों में डूबा रहता था । राजा के सम्मुख पहुँचते ही ऐसी बातें कहना, अक्षम्य धृष्टता और नितान्त असभ्यता है । देवताओं को विषम समय आपड़ा था, उनके जीवन-मरण का प्रश्न था, संसार में त्राहि त्राहि मच रही थी । क्या कामदेव को ये बातें विदित नहीं थीं ? इन्द्र के सेवक की यह विलक्षण अज्ञानता खटकती है । यदि वह कुछ भी न जानता था तो पहले अपने बुलाने का प्रयोजन तो पूछ लेता, फिर अपना गुणानुवाद आरम्भ करता । वह महा चुलबुला, शोख़-चश्म, शेख़ीबाज़, धृष्ट और असभ्य जान पड़ता है । व्यास के पात्र ने भी दबे शब्दों में कुछ सङ्केत किया था, परन्तु कालिदास ने अपने पात्र का विशेष बखान करके उसमें और भी अवगुण भर दिये । आश्चर्य है कि कालिदास ने राज-सभाओं में रह कर भी राज-सेवकों-द्वारा इतनी अशिष्टतापूर्ण बातें कहलाईं । परन्तु राजा इन्द्र ने बड़ी गम्भीरता के साथ उसकी समुचित प्रशंसा करते हुए कहा—

आशंसता बाणगतिं वृषाङ्के
कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम् ।

हे सखे, तुमने स्वयं ही शिवजी को भी अपने बाण के लक्ष्यान्तर्गत कह कर हमारा मनोरथ समझ लिया । अब जाकर किसी प्रकार ऐसा यत्न करो कि वे भवानी को, जो हिमाद्रि के किसी उच्च शृङ्ग पर तपस्या कर रही हैं, अङ्गीकार कर लें, क्योंकि उनके तेज को वही धारण कर सकेंगी और उन्हीं के पुत्र-द्वारा हमारे शत्रु का नाश हो सकेगा । यह काम तुम्हारे एक बाण-द्वारा ही सिद्ध हो जायगा । इसके सिवा कोई और उपाय ही नहीं । तथास्तु कह कर कामदेव चला गया । मन्मथ अपने सहचर माधव और स्त्री रति को लेकर स्थाणु के आश्रम में पहुँचा । वह इन्द्र से कह आया था—

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥

अतएव यह अब देखना चाहिए कि इतना बढ़ कर ऊँची बातें बोलनेवाले मन्मथ ने क्या पराक्रम दिखाया । आश्रम में पहुँचते ही उसने अपनी लीला का विस्तार किया । खण्डिता प्रेमिकायें साहसिक नायकों की क्रूरता पर आहें भरने लगीं, स्त्री के नूपुर बजानेवाले चरणों के स्पर्श बिना ही अशोक फूलों और कोमल पल्लवों से लद गया, कर्णिकार खिल उठे, पलाश की सुन्दर रक्तवर्ण कलियाँ ऐसी शोभा देने लगीं, मानो वे वनस्थली-रूपी स्त्री के वक्षस्थल पर नख-चिह्न हों—

सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ।

कोपलों सहित आम्रमञ्जरी ने ऐसा रूप धारण किया, मानो कामदेव ने पत्रसहित अपना बाण चढ़ाया हो, उस पर भौंरे बाण पर लिखे हुए कामदेव के नामाक्षरों की तरह चमकते थे । तिलक-पुष्प वासन्ती नायिका के तिलक की तरह शोभा देता था और उस पर द्विरेफ काली बेंदी की तरह उसकी सुन्दरता बढ़ाते थे, आम की हलकी लाली जो बाल पतङ्ग के सुन्दर रङ्ग के तुल्य थी वासन्ती के कोमल अधर पल्लवों की छटा दिखाने लगी । जब पेड़ों और वन-स्थली पर काम का ऐसा जाल फैला तब उसके जाल में जीवों के फँसने में क्या सन्देह था ? पुष्प की केसर से धूसरित प्रेमोन्मत्त मृग इधर-उधर वन की उपत्यकाओं में सम्भ्रम दौड़ने लगे; आम की कोमल कोपलों के खाने से अरुण कण्ठ कोयल ऐसी कूकने लगी, मानो वह मनस्विनी मानिनियों के मान-भञ्जन की आज्ञा प्रकाशित कर रही हो; किन्नरियों के मुखारविन्द पर सात्विक स्वेद उत्पन्न होकर उनके मुखराग को विकृत करने लगे, हिमान्त के कारण उनके अधर-पल्लव पाण्डुर होगये । यही नहीं, जितने चेतनायुक्त जीव थे सभी दाम्पत्य और रतिभाव का अनुभव करने लगे । भ्रमर भ्रमरी सहित एक ही पुष्प में मधुपान

करने लगे; कृष्णसार अपने सींगों से हरिणियों को खुजलाने लगे, और वे उनके स्पर्शसुख से आँखें बन्द कर स्थगित हो गईं; चक्रवाक अपनी अपनी प्रियाओं के प्रति प्रेम प्रकट करने लगे। वृक्षों और लताओं की गति क्या ही विलक्षण थी—

पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखा भुजबन्धनानि॥

फूलों से भरी स्तनवाली लतायें मनोहर कलियोंवाले कम्पित अधरपल्लवों सहित कोमल वल्लरीरूपी हाथों से वृक्षों से लिपट गईं! किम्पुरुष फूलों की मदिरा के नशे में चञ्चल नेत्रोंयुक्त गाते और ठहर ठहर कर अपनी प्रियतमाओं को चूमने तथा अपने श्रम-कणों से उनके अङ्गराग को मेटने लगे; अप्सरायें अपने कल-गान से अमृत-वर्षा करने लगीं। सारांश यह कि वनस्थल और आश्रम में कामुकभाव व्याप्त होगया। यह वर्णन अतीव मनोहर है। इसका पूरा आनन्द महाकवि के जादू भरे मधुर शब्दों में ही मिल सकता है, भावार्थ या अनुवाद में नहीं।

इतना आडम्बर फैलाने पर भी मीनकेतन को यथोचित सफलता न प्राप्त हुई। रति-भाव की तो प्रचुरता खूब हुई, परन्तु शिष्टता अथवा मर्यादा के बाहर कोई भी बात न हुई। यह माया-जाल मुनियों के व्रतपालन में विघ्नकारक तो अवश्य हुआ, परन्तु यह कहीं नहीं जान पड़ता कि उससे उनका व्रत कहाँ तक बिगड़ा।

तस्मिन्वने संयमिनां मुनीनां तपःसमाधेः प्रतिकूलवर्त्ती।
संकल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे॥

जब तपस्वियों और मुनियों का ही व्रत भङ्ग न हुआ तब शिवजी पर विजय प्राप्त करने की आशा ही व्यर्थ थी। अप्सराओं का मधुर गान उनको लेश-मात्र भी विचलित न कर सका—

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।

महादेव के लता-द्वारपाल नन्दी ने ज्यों ही यह प्रकृति-विकार और क्षोभ और काम का आवेश अपने गणों में फैलते देखा त्यों ही उसने उँगली ओंठ पर रख कर शान्ति धारण करने की आज्ञा दी। बस, इतने से ही कामदेव का नशा रुक गया, उसका तेज क्षीण हो गया।

निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम्।
तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे॥

सन्नाटा छा गया, सब चित्र की तरह निश्चेष्ट होगये, विक्षोभ स्थगित होगया। एक द्वारपाल के उँगली के सङ्केत से ही काम-जाल मकड़ी के जाल की तरह टूट गया! कामदेव खड़ा देखता रह गया। वह बहुत ही लज्जित और भयभीत भी हुआ होगा।

सामने से विफलप्रयत्न होकर वह चोर की तरह नन्दी की दृष्टि बचाकर—'दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य'—शिव के तप-मण्डप में घुस गया। शम्भु की भव्य और शान्तिपूर्ण मूर्त्ति को समाधि-स्थित देखकर डर के मारे वह काँप उठा—

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्न दूरान्मनसाप्यधृष्यम्।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्॥

बस, देख ली तेरी वीरता। कहाँ वह डींग और कहाँ यह कायरता और भीरुता! डर के मारे हाथ से धनुष-बाण गिर गया! महाकवि ने शेख़ीबाज़ की किरकिरी कर दी। सम्भव था कि वह बेहोश होकर गिर पड़ता अथवा जान बचा कर किसी प्रकार भाग निकलता, परन्तु सौभाग्यवश भवानी वहाँ आ पहुँचीं। क्या सात्विक सौन्दर्य है। कमर में बकुल-पुष्प की ढीली करधनी धारण किये, अशोक और कर्णिकार के पुष्पों के आभूषण पहने, स्तनभारविधुरित धृष्ट भ्रमर को कमल-पुष्प से हटाती हुईं शिव के समीप आईं। उनके आने से कामदेव के ठण्डे रक्त में फिर कुछ उष्णता आई, उसकी जान में जान आगई और आशा का फिर सञ्चार हुआ। उधर शिवजी ने भी समाधि तोड़ी। भवानी ने प्रभु के चरणों पर पुष्प चढ़ाये और झुक कर प्रणाम किया। शिव ने आशीर्वाद दिया—'अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति'—तुम्हें पत्नीव्रती पति प्राप्त हो। काम ने देखा कि सब खेल चौपट हुआ, अतः साहस करके उसने अपना धनुष सँभाला। गौरी ने उसी समय कमलों के बीजों की माला चढ़ाई और शम्भु ने उसे ग्रहण करने को अपना हाथ बढ़ाया। पुष्पधन्वा ने इसे अनुकूल समय समझ कर धनुष पर सम्मोहन नामक बाण ताना, मारा नहीं। शिवजी के हृदय में क्षोभ की एक लहर प्रस्फुरित हुई, जैसे चन्द्रमा

से समुद्र क्षुब्ध हो उठता है । उनके नेत्र उमा के चन्द्रमुख पर झुके, जिससे भवानी भी अपने अनुभावों और व्रीडा को न रोक सकीं । बस, यहीं मर्यादा का पट गिरा, शिवजी सँभल गये और क्षोभ के कारण को जानने के लिए अपने चारों ओर देखने लगे । कामदेव पर दृष्टि पड़ते ही उनकी क्रोधाग्नि ने उसका नाश कर दिया । बिचारा बाण हाथ में ही लिये रहा, कुछ न बन पड़ा, जल कर राख हो गया ।

महाकवि ने शिव और पार्वती के भाव-भङ्ग का जो कोमल और रसव्यञ्जक चित्र खींचा है वह अत्यन्त हृदयग्राही और सात्त्विक है । किन दबे शब्दों में उन्होंने सब कह दिया । शिवपुराण का भद्दापन उनके चित्र में नहीं आने पाया । परन्तु उनका कामदेव बड़ा भीरु और निर्बल निकला । प्रकृति का अच्छा मनोहर और विपुल वर्णन होने पर भी मकरध्वज की कृति साधारण ही रही । या तो उन्हें उससे उतने अभिमान-सूचक शब्द ही न कहलाने थे या फिर उसके मान का कुछ निर्वाह करना था । निर्वाह करने की चेष्टा तो की, परन्तु असफल हुई । सम्भव है, कामदेव-सम्बन्धी उनकी कल्पना कुछ और ही हो । कदाचित् वे उसे रँगीला, रसिया, अभिमानी, भीरु और छिछले स्वभाव का समझते रहे हों । यदि यह अनुमान ठीक हो तो उनकी कल्पना अत्यन्त साधारण श्रेणी की माननी पड़ेगी ।

परन्तु कविकुल-तिलक गोस्वामी तुलसीदास का वर्णन और ही प्रकार का है । उनका पुष्पधन्वा ऐसा ओछा और अदूरदर्शी, चञ्चलवृत्त और भीरु नहीं है । जब देवताओं ने उसकी स्तुति की तब वह "विषम बान" सहित उपस्थित हुआ ।

सुरन्ह कही निज बिपति सब, सुनि मन कीन्ह विचार ।
संभु विरोध न कुसल मोहिं, बिहँसि कहेउ अस मार ॥

देवताओं ने उससे सब सच्चा हाल कह सुनाया । पालिसी का उनमें लेश-मात्र भी भाव न था । इन्द्र का इस उपाख्यान में कहीं भी नाम नहीं । "झखकेतु" ने सब वृत्तान्त सुन कर उस पर विचार किया और समझ गया कि इसमें मेरा सर्वनाश हो जायगा । परन्तु सच्चे वीर की तरह न उसने डींग हाँकी और न कायरता ही आने दी । उसके हृदय में परोपकार, आत्म-त्याग और सहानुभूति के भाव उत्पन्न हुए—

तदपि करब मैं काज तुम्हारा, श्रुति कह परम धरम उपकारा ।
परहित लागि तजैं जे देही, संतत संत प्रसंसहिं तेही ।

अस कहि चलेउ सबहिं सिरनाई,
सुमनधनुषकर सहित सहाई ।
चलत मार अस हृदय विचारा,
सिवविरोध ध्रुव मरन हमारा ।

पढ़नेवाले की सहानुभूति उसके प्रति उसकी शिष्टता और आत्म-त्याग के कारण अनायास ही उत्पन्न हो जाती है और उसकी कृति देखने की इच्छा भी उत्पन्न होती है । मृत्यु अवश्यम्भावी जान कर भी वह अपने पुरुषार्थ का पूर्ण प्रयोग और वीरता की लाज का पूर्णतया निर्वाह करता है । उसका प्रभाव केवल शिव के आश्रम अथवा वनस्थली तक ही नहीं परिमित है, बरन उसके कोप करते ही संसार भर में व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है ।

………………निज बस कीन्ह सकल संसारा ।

उसके कोप का बड़ा भयङ्कर परिणाम होता है । सब मर्यादा का लोप और विवेक, व्रत आदि का पराभव पूर्ण रूप से होता है ।

………………छन महँ मिटे सकल श्रुतिसेतू ।

ब्रह्मचर्य व्रत संजम नाना ।
धीरज धरम ग्यान विग्याना ॥
सदाचार जप जोग विरागा ।
सभय विवेक कटक सब भागा ॥

भागेहु विवेक सहाइ सहित सो सुभट संजुग महि दुरे ।
सद्ग्रन्थ पर्वत कन्दरन महँ जाइ तेइ अवसर दुरे ।
होनिहार का कर्तार को रखवार जग खर भर परा ।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनुसर धरा ।

कामाग्नि सब संसार को जलाने लगी । वेदशास्त्र पुल टूट पड़े, सब सिद्धियाँ प्राण ले लेकर भागीं, लो में हाहाकार और त्राहि त्राहि मच गई । अब इस प्रभा का दिग्दर्शन कीजिए—

सबके हृदय मदन अभिलाखा ।
लता निहारि नवहिं तरु साखा ॥

नदी उमगि अंबुधि पहँ जाई ।
संगम करहिं तलाव तलाई ॥
पसु-पच्छी नभ जल थल चारी ।
भए कामबस समय बिसारी ॥
मदन अन्ध व्याकुल सबलोका ।
निशि दिन नहिं अवलोकहिं कोका ॥
भए कामबस जोगीस तापस पामरन्ह की को कहै ।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे ।
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब अबलामयं ।
दुइ दंडभरि ब्रह्माण्डभीतर कालकृतकौतुक अयं ॥

क्या ही ज़ोरदार वर्णन है ! युद्ध का लोमहर्षक चित्र आँखों के सामने दो छन्दों और बारह चौपाइयों में खड़ा कर देना महाकवि तुलसीदास का ही काम था ।

इस तरह दिग्विजय करता हुआ कामदेव शिव के सामने आया । उनको देख कर उसका साहस शिथिल हुआ, जिससे लोक का कामोन्माद उतर गया । परन्तु फिर भी उसने वीरत्व का ह्रास न होने दिया । एक क्षण में तुरन्त उसने फिर अपनी माया फैला दी और ऐसा सफल हुआ कि—

जागेहि मनोभव मुएहु मन बन सुभगतान परै कही
सीतल सुगन्ध सुमन्द मारुत मदन अनल सखा सही
बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अप्सरा ॥

यद्यपि यह कालिदास की वनशोभा के वर्णन के सामने बहुत नहीं जँचता तथापि थोड़े से शब्दों में लघु और भावपूर्ण चित्र अत्यन्त चित्ताकर्षक हो गया है ।

जब शिव पर कुछ वश न चला तब कामदेव ने रसाल की डाली पर चढ़ कर क्रोधित होकर अपने विषम बाण छोड़े—

सुमन चाप निज कर संधाने ।
अति रिसि ताकि श्रवन लग ताने ।
छाड़ेउ विषम बान उर लागे ।
... ...

उसने ऐसे बाण मारे कि शिवजी का प्राण ब्रह्मचक्र से खिसक पड़ा और "भयेहु ईस मन छोभु बिसेखी" । समाधि टूट गई । शिवजी ने इधर-उधर देखा तो कामदेव पर दृष्टि गई । बस, उसी समय तीसरे नेत्र की अग्नि-द्वारा उन्होंने उसे भस्मसात् कर दिया ।

यद्यपि उपाख्यान पुराना था, तो भी तुलसीदासजी ने उसमें विचारणीय परिवर्तन कर दिया है । आपकी कामदेव-सम्बन्धी कल्पना ऊँचे दर्जे की है । साधारणतया उसका स्वभाव गर्हणीय नहीं, परन्तु कोप करने पर वह अवश्य दुराधर्ष और दुर्जेय हो जाता है । उसमें वास्तविक वीरता के गुण मानना गोस्वामीजी के सद्भावों का प्रतिबिम्ब है । अपने वर्णन में उन्होंने इन्द्र का उल्लेख नहीं किया है । अतएव उसके आचरणों, विचारों और स्वभाव का आलोचन करने की उन्हें आवश्यकता ही नह पड़ी । कामदेव की व्यापकता का चित्र खींचने में उन्होंने शिवजी के विषय में कोई भी अनुचित बात नहीं आने दी मानो उन्होंने लिङ्गपुराण के ही भाव का अवलम्बन किया है । इसी प्रकार पार्वती को उन्होंने कहीं भी नहीं बुलाया । भवानी के लाने में शायद उन्हें दो दोष दिखाई पड़े । एक तो यह कि ऐसे अवसर पर उन्हें बुलाने से सम्भव है, पाठकों के हृदय में यह भाव उठे कि वे भी काम-प्रेरित थीं, जिससे उनके सात्त्विक प्रेम में कलङ्क का आभास हो जाता । दूसरे उनके आने से यह निश्चित करना कठिन हो जाता, जैसा कि व्यास और कालिदास के उपाख्यानों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है, कि शिवजी के चित्त में क्षोभ कामदेव के परिश्रम अथवा पार्वती के ठीक समय पर आ जाने से उत्पन्न हुआ । यदि दूसरा भाव आता तो काम की व्यापकता का चित्र बिगड़ जाता और शिव का केवल-मात्र उसी पर क्रोध करना न्याय-सङ्गत प्रतीत न होता । इसके अतिरिक्त पार्वती के भावों और अनुभावों को मानुषिकता के घेरे से दूर ही रखना उनके भावानुकूल था ।

इन बातों तथा अन्य ऐसे ही विचारों के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि कल्पना, विषय-निर्वाह, भावों की उत्कृष्टता, चित्र-चित्रण और सजीव वर्णन में गोस्वामी तुलसीदास ने कम से कम इस उपाख्यान में व्यास और कालिदास से अधिक चमत्कार और सुष्ठुता दिखाई है और इतनी पवित्रता रखते हुए भी उन्होंने स्वाभाविकता, नैसर्गिकता पर कहीं भी आँच नहीं आने दी, जो

उनके कवित्व और नैपुण्य का देदीप्यमान उदाहरण है। उनके वर्णन में शिव-पुराण का भद्दापन और कालिदास का ज़नानापन घुसने नहीं पाया और रस-व्यञ्जन में भी कोई त्रुटि नहीं आने पाई।

रामप्रसाद त्रिपाठी

गुण-गरिमा।

(१)

गरिमा गुणों की अति अकथ अति गूढ़ है अनुकूल है,
वह मानवों के हेतु सद्गति और उन्नति-मूल है।
जिसके बिना नर-रत्न होकर भी मनुज पशु-तुल्य है,
आदर्श जीवन गुणिजनों का वन्द्य और अमूल्य है॥

(२)

ज्यों सूर्य का आलोक है फैला हुआ संसार में,
सब रत्न हैं बिखरे हुए जिस भाँति पारावार में।
यश-तेज से त्यों ही गुणी जग को प्रकाशित कर रहे,
हैं स्तवन-रत्नों से स्वदेहागार को भी भर रहे॥

(३)

ज्यों कमल पर मधु-मुग्ध हो गिरते स्वयं आकर भ्रमर,
त्यों गुण-विमोहित हो गुणी के घर पहुँचते नर-प्रवर।
निज मुख गुणी क्या निज गुणों को ख्यात करते हैं कहीं ?
क्या मलय-मारुत से विकर्षित जग स्वयं होता नहीं ?

(४)

यदि साथ गुणियों के रहे तो क्यों नहीं सम्मान हो ?
पर क्यों अभागों का कभी इस बात पर कुछ ध्यान हो ?
क्या साथ में ताम्बूल के पर पत्र भी बिकता नहीं ?
क्या सूत फूलों से मिला नृप-शीस पर टिकता नहीं ?

(५)

जिसको मिला उत्कृष्ट गुण दुर्गुण उसे लगता नहीं,
दुख देख गुणियों को विवेकी छोड़ कर भगता नहीं।
क्या केतकी के कण्टकों से मधुप विध जाता नहीं ?
गुण-लुब्ध हो, पर दुष्ट गुण को ध्यान पर लाता नहीं॥

(६)

यश-देह गुणियों की कभी कल्पान्त तक मिटती नहीं,
धन-धान्य राज्यादिक सभी छुटते यहीं मिटते यहीं।
सब मानवों को चाहिए वे यत्न गुण-गण में करें,
मत मृत्यु से मन में डरें, जग में अमर होकर मरें।

(७)

पर के सहारे से गुणी गुण को दिखाते हैं नहीं,
ज्ञानान्ध जन उनके गुणों को देख पाते हैं नहीं।
है चित्रकारी कौन करता दर्पणों में देखिए,
है जन्म-सम्भव गुण बड़ों में ज्ञान-दृग से देखिए॥

(८)

हैं प्राप्त करते गुण गुणी के मुग्ध हो गुणवान ही,
पर हैं गुणी से अज्ञ सब अनभिज्ञ रह कर पास ही।
मधुपान करते मधुप जा कर कञ्ज के, होते कहीं,
पाते न पद्म-पराग मेढ़क यदपि हैं रहते वहीं॥

(९)

निर्मल कला गुण से कलित नर पूज्य होते हैं सदा,
उनको न कुछ दुर्लभ कहीं सुख-नींद सोते हैं सदा।
निर्मल गुणों के बल शशी हर-शीस पर है चढ़ गया,
होकर निशाचर भी दिवाकर से कहीं है बढ़ गया॥

(१०)

गुणवान ही है गौरवान्वित जन्म हो चाहे कहीं,
उत्पन्न करने से गुणी को भी प्रतिष्ठा है नहीं।
क्या पङ्क का भी पङ्कजों के तुल्य ही सम्मान है,
क्या वासुदेवोपम कहीं वसुदेव का गुण-गान है ?

(११)

आकार के आटोप से कुछ हाथ आता है नहीं,
संसार में गौरव कभी गुण-हीन पाता है नहीं।
क्या रवि-शशी के कार्य को दावाग्नि ने भी है किया ?
साहाय्य उनसे हीन जग को तो दिया ही ने दिया।

(१२)

क्या स्थूल वपुवाले धनिक भी तुल्य हैं गुणवान के ?
या लघु शरीरी ही जगत में पात्र हैं अपमान के ?
बातें न दोनों ठीक हैं, प्रिय है गुणी संसार को,
क्या मानते हैं मानसर-सम हंस पारावार को ?

(१३)

जग में किसी विधि दुर्गुणी यदि उच्च पद पावे कहीं,
तो भी विवेकी जन उसे, गुणि-सम समझते हैं नहीं
क्या ताल-तरु पर गृध्र रह कर हंस के सम मान्य है ?
जग में सदा सच मानिए गुण का प्रथित प्राधान्य

(१४)

मानी हुई यह बात है गुण है जहां गौरव वहीं,
वह रूप का सौन्दर्य क्या लावण्य है जिसमें नहीं।
मुद-मूल-मय वह फूल है सौरभ-सुधा जिसको मिली,
गुण के बिना पूरी प्रतिष्ठा विश्व में किसको मिली ?

(१५)

लखिए शशी उच्चैःश्रवा ये अब्धि से उत्पन्न हैं,
दोनों वहीं पर एक ही गुण से कभी सम्पन्न हैं।
उच्चैःश्रवा पर हरि चढ़े, हर-शीश पर बैठा शशी,
गौरव अगौरव जन्तु का जग में रहा गुण के वशी ॥

(१६)

जो है गुणी को प्राप्त पद वह दुर्गुणी को क्यों मिले ?
मानससरोवर का कमल कैसे मरुस्थल में खिले ?
सद्रत्न ही को प्रेम से निज शीस पर रखते सभी,
कहिए न पादत्राण सिर-शोभा बढ़ाता है कभी ?

(१७)

यदि है गुणी का जन्म दुष्कुल में हुआ तो हानि क्या ?
अति उच्च कुल के दुर्गुणी से जग न करता ग्लानि क्या ?
यद्यपि फणी से मणि हुआ उत्पन्न पर आदेय है
उत्पन्न वारिधि से हुआ विष विश्व भर में हेय है ॥

(१८)

यदि दो गुणी मिल कर करें तो क्यों न अच्छा काम हो ?
जग में प्रतिष्ठा के सहित उनका नहीं क्यों नाम हो ?
स्वर्णाभरण हो रत्न-युत तो मूल्य क्या बढ़ता नहीं ?
तारुण्ययुत सौन्दर्य पर लावण्य क्या चढ़ता नहीं ?

रामचरित उपाध्याय

मिस्र की कथा।

मिस्र संसार के अत्यन्त प्राचीन सभ्य देशों में है। यही नहीं, किन्तु अपनी स्थिति के कारण दुनिया में यह एक अत्यन्त ही मनोहर देश है। भारत और इसमें बहुत कुछ समानता है। भारत की भांति इसने भी संसार का बहुत अधिक अनुभव प्राप्त किया है। अपने पराभव के प्रारम्भ से आज तक इसे भी विदेशी जातियों के आक्रमणों के कष्ट तथा नाना प्रकार के अत्याचार सहने पड़े हैं। पिछले समय में अपने अयोग्य देशी शासकों की बदौलत इन दोनों देशों में योरपीयों को हस्तक्षेप करने का अवसर मिला और अन्त में ये दोनों देश ब्रिटिश-सरकार के अधिकार में हो गये। यह तारतम्य देख कर यदि भारतवासी मिस्र के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करें तो स्वाभाविक ही है।

बादशाह फ़ाद।

भारत और मिस्र में अँगरेज़ी शासन के प्रचलित हो जाने से इन दोनों देशों में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना हुई। लोगों को अपने जान-माल के सुरक्षित होने का विश्वास हुआ। शिक्षा के प्रचार और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से इन दोनों देशों में जातीय और राजनैतिक भावों का सञ्चार हुआ। फलतः संसार के इन

दोनों प्राचीनतम सभ्य देशों में पुनः जाग्रति हुई और ये अपना नैसर्गिक स्वत्व प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हुए। सौभाग्यवश मिस्र का उद्देश बहुत कुछ सफल हो गया है और उसे ब्रिटिश-सरकार ने हाल में ही स्वाधीनता प्रदान कर दी है।

मिस्र की प्राचीन सभ्यता संसार की एक अद्भुत वस्तु है। वर्तमान सभ्य जगत् मिस्र की प्राचीन सभ्यता का क़ायल है। सर्व-प्रथम संसार में जिन देशों के निवासियों ने मनुष्यत्व का बीज बोया और सभ्य बनने का गौरव प्राप्त किया उनमें प्राचीन मिस्रियों की भी गणना की जाती है। उनके इतिहास की जाँच-पड़ताल में पाश्चात्य विद्वानों ने घोर परिश्रम किया है। उन्होंने मिस्र पर जितनी किताबें लिखी हैं उतनी ऐसे ही किसी दूसरे प्राचीन देश पर नहीं लिखीं। पाश्चात्य पुरातत्त्वविदों से मिस्र का एक भी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बचा है जिसका अन्वेषण न किया गया हो।

गत छः हज़ार वर्षों के भीतर मिस्र में बड़े बड़े उलट-फेर हुए। विदेशी आक्रमण-कारियों ने इस प्राचीन पवित्र देश पर आक्रमण कर इसकी प्राचीन सभ्यता का विनाश कर दिया। यहाँ तक उसका अस्तित्व तक मिस्र में न रह गया। यदि मिस्र के राजाओं के जगत्प्रसिद्ध विशालकाय समाधि-मन्दिर, राज-मन्दिर, और नगरों के ध्वंसावशेष शेष न रह जाते, यदि मिस्र में इन स्मृति-चिह्नों का अस्तित्व मिट गया होता, तो इस बात का पता किसी को भी न लगता कि हज़रत मूसा के भी पहले मिस्र में हज़ारों वर्ष से एक ऐसी प्राचीन सभ्य जाति निवास करती थी जो सभ्यता में सभी बातों में अप्रतिम थी।

मिस्र अब एक मुसलमान देश है। अरबों ने मिस्र को मुसलमान-धर्म में दीक्षित किया था। उनके आने के पहले वहाँ ईसाइयों का प्राधान्य था। ये ईसाई लोग उन्हीं प्राचीन मिस्रियों के वंशधर थे जो ईसाइयों के उदय-काल में ईसाई-धर्म में दीक्षित किये गये थे। इस प्रकार एक महान् प्राचीन सभ्य जाति के ये वंशधर अपनी अयोग्यता और निर्बलता के कारण बलवान् पड़ोसियों-द्वारा पीड़ित ही नहीं किये गये, किन्तु उनकी तेजस्विता के आगे इन्हें अपना अस्तित्व तक गँवा देना पड़ा। मिस्र में यद्यपि इस समय मुसलमानों का संख्याधिक्य है तथापि वहाँ ईसाई और यहूदियों का नामशेष नहीं हो गया है। हाँ, वे अल संख्या में हैं ज़रूर। ईसाई जो काप्ट कहलाते हैं, संख्या में दस लाख के लगभग होंगे और यहूदी बीस हज़ार तक। शेष सभी निवासी मुसलमान हैं और अपने को अरबी कहते हैं। परन्तु प्रायः ये सभी प्राचीन मिस्रियों के वंशधर हैं।

मिस्र के इतिहास का प्रारम्भ ईसा से कोई पां हज़ार वर्ष पहले से होता है। सर्वप्रथम इस देश प ईरानियों ने आक्रमण कर इसे अपने अधीन किया था। फिर यूनानियों ने इसे अपने अधिकार में किया। वर्तमान अलेक्ज़ेंड्रिया नगर दिग्विजयी सिकन्दर ने बसा था और उस समय यह नगर इस देश की उसकी रा धानी बना था। यूनानियों के बाद रोमन लोग आये। इन्हीं के समय में मिस्रवासी ईसाई-धर्म में दीक्षित हुए। इसके साथ ही उनकी भाषा तथा बची-खुची सभ्यता का लोप हुआ। ऐसे ही ईसाई-धर्म प्रधान मिस्र पर सन् ६ में अरबों ने आक्रमण किया और इन्होंने उसे इस्लाम-ध की दीक्षा दी। इसी समय अलेक्ज़ेंड्रिया नगर का प्राची पुस्तकालय भस्मसात् किया गया था। अरबों के बाद मि में तुर्कों का आधिपत्य हुआ। नेपोलियन ने अपने उद काल में इसे तुर्कों से जीत कर इस पर अपना अधिक जमा लिया। परन्तु पीछे से तुर्कों ने अँगरेज़ों की सहाय से फिर से मिस्र पर अधिकार कर लिया। इसी समय मि के राजनैतिक क्षेत्र में तुर्की अधिकारी मुहम्मदअली उदय हुआ। उसने मिस्र की प्रचण्ड ममलूक-सेना का करके मिस्र में तुर्क-सुलतान की सत्ता को दृढ़ किया पीछे से स्वयं मिस्र का स्वतन्त्र शासक सा बन बैठा। के वंशधर इस समय भी मिस्र के स्वामी हैं। तुर्क-सुल ने इसके वंश को मिस्र का स्वतन्त्र शासक मान लिया और इसके वंशधरों को पाशा की उपाधि दी थी। पीछे ये खेदिव अर्थात् बादशाह भी कहलाने लगे। ये रा के रूप में नाम-मात्र की रक़म सुलतान को प्रतिवर्ष किया करते थे।

मुहम्मदअली के राज्यकाल में मिस्र की बड़ी उन्न हुई। देश में शान्ति स्थापित की गई और शिक्षा

प्रचार हुआ। उसके बाद उसके चार उत्तराधिकारियों ने स्वच्छन्द रीति से मिस्र का शासन किया। उनके शासन-काल में देश सभी बातों में पूर्ण और बलवान् बना रहा। स्वेज़ की नहर इसी समय बनी। परन्तु बाद को जितने पाशा हुए उनमें अपने पूर्वजों जैसी प्रतिभा नहीं थी। उनके शासन-काल में मिस्र की दशा दिन पर दिन बिगड़ती गई और उस पर योरपीय महाजनों और व्यवसायियों का प्रभाव बढ़ता गया। उसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८८२ में मिस्र पर अँगरेज़ों का प्रभुत्व क़ायम हो गया। खदीव नाम-मात्र के शासक रह गये। जब से अँगरेज़ों ने उसको अपनी संरक्षता में ले लिया तब से वह अभी तक उन्हीं की संरक्षा में रहा है। पिछले महायुद्ध के समय जब तुर्कों के विरुद्ध मित्र-राज्यों ने युद्ध-घोषणा की तब ब्रिटिश-सरकार ने मिस्र को प्रकट रूप से अपने संरक्षण में ले लिया। खेदिव तौफ़ीक उस समय तुर्की-राजधानी कान्सटैंटिनोपल में थे। उन्हें पदच्युत कर ब्रिटिश-सरकार ने उनके छोटे भाई हुसेन पाशा को उनकी गद्दी देकर उन्हें मिस्र का सुलतान बना दिया। भूतपूर्व खेदिव के तुर्क-पक्षी होने के कारण मिस्र स्पष्ट रूप से ब्रिटिश-सरकार के संरक्षण में आ गया और वहाँ उसका एक हाई कमिश्नर नियुक्त हो गया। इस परिवर्तन के कारण युद्ध-काल में मिस्र से अँगरेज़ों को बड़ी सहायता मिली।

कैरो के बाहर मरुभूमि का जहाज़।

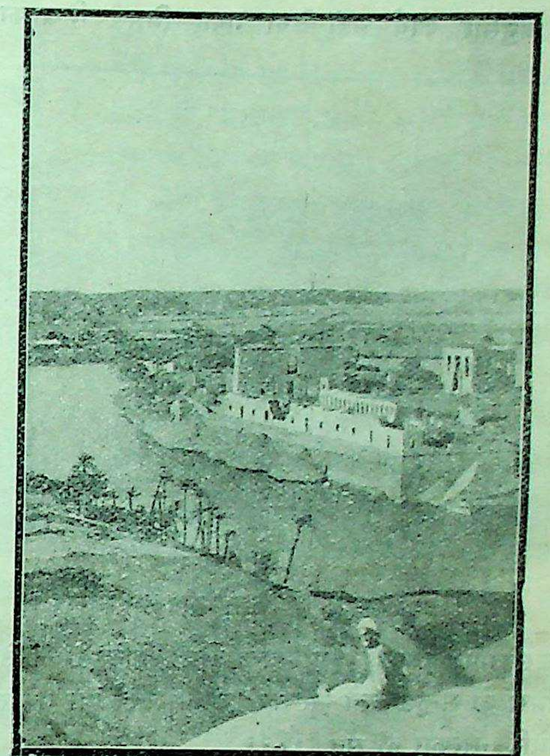

फिलई-द्वीप।

परन्तु युद्ध-समाप्ति के बाद मिस्र के राष्ट्रीय नेताओं ने जगलोल पाशा के नेतृत्व में मिस्र की स्वाधीनता के लिए आन्दोलन शुरू कर दिया। धीरे धीरे वह अत्यधिक प्रबल पड़ गया। उसको दमन करने के लिए सभी उपाय काम में लाये गये, जङ्गी क़ानून तक की घोषणा की गई, पर राष्ट्रीयदल अपने सिद्धान्तों पर अटल खड़ा रहा। अन्त में ब्रिटिश-सरकार ने मिलनर-मिशन की नियुक्ति की। मिस्र के नेताओं ने इससे भी असहयोग किया। लार्ड मिलनर को मिस्र से विफलमनोरथ ही होकर लौट जाना पड़ा। वे साक्ष्य-सङ्ग्रह न कर सके।

अन्त में उन्होंने जगलोल पाशा से मिल कर एक रिपोर्ट तैयार की। उसमें मिस्र से अँगरेज़ी संरक्षण आदि के उठा लेने की बातें स्वीकार की गईं। परन्तु उनकी रिपोर्ट के अनुसार कार्य नहीं किया गया, जिससे मिस्र का असन्तोष बढ़ता ही गया। अन्त में जब ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ मिस्र को सन्तुष्ट करने में सब उपाय करके हार गये तब ब्रिटिश-सरकार ने सन् १९२२ के फ़रवरी महीने में अपना संरक्षण उठा लेने की घोषणा कर दी। मिस्र के सुलतान बादशाह की पदवी से विभूषित किये गये। इस समय मिस्र के राजसिंहासन पर बादशाह फ़ाद विराजमान हैं।

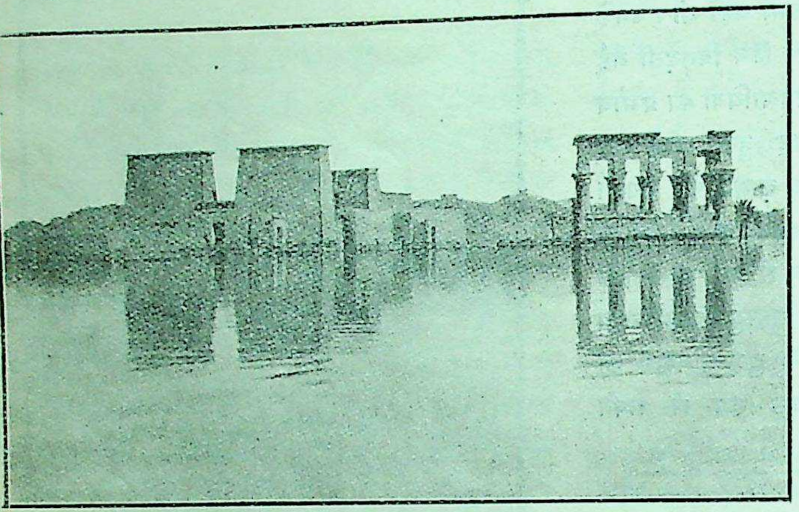

फ़िलई द्वीप का मन्दिर।

यद्यपि ब्रिटिश-सरकार ने मिस्र की स्वाधीनता स्वीकार करली है तो भी स्वेज़ की नहर और सूदान-प्रदेश का अधिकार उसने अपने अधिकार में ही रक्खा है। इसके सिवा मिस्र में विदेशियों के विशेषाधिकार की रक्षा का भी भार उसी के हाथ में है। तो भी मिस्र को बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है। मिस्र की शासन-सभा के सदस्यों का जो चुनाव हाल में हुआ है उसमें जगलोल पाशा के अनुयायियों का ही संख्याधिक्य है। स्वयम् जगलोल पाशा भी निर्वाचित हुए हैं। स्वतन्त्र मिस्र के शास का सूत्र अब उसके उसी नेता के हाथों में आ जानेवाल है जिसके सतत परिश्रम से स्वाधीनता प्राप्त हुई है। ऐसे मिस्र देश का कुछ वर्णन किया जाता है।

वर्तमान मिस्री ईसाइयों मुसलमानों, दोनों, का रहन सहन एक सा है। सदियों पराधीनता की बेड़ियों में रहने के कारण मिस्रवासी विजेताओं का रङ्ग-ढङ्ग अपना को सदा बाध्य होते रहे अतएव उनमें केवल धार्मि अन्तर है। ईसाई-धर्म उदयकाल में वे ईसाई बनाये गये और जब मुसलमा का प्रभाव बढ़ा तब उन्हें इस्लाम-धर्म की दीक्षा पड़ी। जिन ईसाई मिस्रियों ने इस्लाम-धर्म की दी नहीं ली उन्हें भी अपने मुसलमान विजेताओं के सहन तथा उनकी भाषा को ग्रहण करना पड़ा। इतने

असुआन का प्रसिद्ध बाज़ार।

भी इन लोगों की कुछ सामाजिक रीति-रस्में एक सा हैं, अर्थात् प्राचीनकाल की कुछ रीतियाँ इस समय भी मिस्रवासियों में, चाहे वे ईसाई हों या मुसलमान, समानरूप से प्रचलित हैं। जब किसी मिस्री के घर में सन्तान का जन्म होता है तब सातवें दिन जो उत्सव होता है वह वहाँ के ईसाइयों और मुसलमानों में समानरूप से प्रचलित है। नव-जात शिशु के कई एक संस्कार करने के बाद उसका जलूस निकलता है। वह घर के प्रत्येक भाग में ले जाया जाता है। बच्चे की मा उसे गोद में लेकर आमन्त्रित स्त्रियों के गोल में खड़ी हो जाती है। फिर यह दल घर के प्रत्येक भाग में घूमता है। मुसलमान भी इस रस्म का पालन करते हैं, पर उनके यहाँ मर्द करते हैं। इसी तरह मृतक के संस्कार की विधि में भी इन दोनों जातियों में साम्यता पाई जाती है। वहाँ के नगरों और गाँवों में प्रायः अधिकांश मकान बे-मरम्मत ही देख पड़ते हैं। वहाँ के निवासियों में प्राचीनकाल से यह मिथ्या धारणा चली आ रही है कि जिस घर में गृह-स्वामी मर जाय उसको अपने उपयोग में न लाकर गिर जाने देना चाहिए। इसी कारण लोग मकानों की मरम्मत नहीं करते। इसके सिवा इस बात के लिए भी वे सावधान रहते हैं कि गृह-स्वामी की मृत्यु घर के बाहर ही हो। जब सन् १८९२ में खेदिव तौफ़ीक़ अपने हेलून नामक नये राजमहल में एकाएक मर गये तब वहाँ का सारा सामान निकाल कर मरुभूमि में रख दिया गया था। कुछ समय तक वह राजमहल ख़ाली पड़ा रहा। पीछे से योरपीयों के हाथ बेच दिया गया। परन्तु यह बात लोगों को पसन्द नहीं आई। उन्होंने इसे प्राचीन प्रथा का उल्लङ्घन समझा।

नील-नदी का पनघट।

मिस्र की सभ्यता का केन्द्र प्राचीनकाल से ही डेल्टा का शिरोभाग रहा है। इस समय भी मिस्र की राजधानी काहिरा इसी केन्द्र स्थान पर आबाद है। भिन्न भिन्न समय पर इस स्थान पर पाँच बार नये नये नगर बसाये गये हैं। वर्तमान काहिरा का नम्बर पाँचवाँ है। पहला नगर नील नदी के पश्चिमी किनारे पर बसाया गया था। उसका नाम मेम्फिस है। इसकी स्थापना ५,००० से ले कर ३,५०० वर्ष ईसा के पूर्व किसी समय हुई थी। इसके संस्थापक का नाम मेना था। इसके पूर्वजों की राजधानी देश के ऊपरी भाग में थी। जल के अभाव से उसने अपनी राजधानी वहाँ से हटा दी और डेल्टा के सिरे पर मेम्फिस को बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया। अब इस नगर के भग्नावशेष-मात्र रह गये हैं। इस समय उन पर खजूर के पेड़ों के कुञ्ज खड़े हैं। इन्हीं कुञ्जों में प्राचीन मिस्र के राजा रमसीस की विशाल-काय मूर्तियाँ टूटी फूटी पड़ी हैं। अपने समय में मेम्फिस बड़ा भारी नगर रहा होगा। इसका प्रमाण उसके उस अद्भुत और विस्तृत क़बरस्तान से लग जाता है जो गिज़ेह से लेकर सखरा तक मरुभूमि के बीच फैला हुआ है। मेम्फिस के बाद नदी के दूसरे किनारे पर बबलून नामक नगर की रचना हुई। नेबूचानेज़र के आक्रमण के बाद मिस्र की राजधानी तेरहवीं सदी तक यही नगर बना रहा। परन्तु जब फ़्रैंक लोगों ने बारहवीं सदी में मिस्र पर चढ़ाई की थी तब उसके अरब-शासकों ने इस नगर में आग लगा कर इसे नष्ट कर दिया था। वर्तमान समय में इस नगर की स्मृति के रूप में वहाँ एक-मात्र रोमनदुर्ग के ध्वंसावशेष रह गये हैं। इसी दुर्ग में मिस्र के छः

प्राचीन गिरजाघर भी बने हुए हैं। उनमें एक ज़मीन की सतह से इतना नीचे पड़ गया है कि उसके ऊपर एक दूसरा गिरजा बन गया है और वह इसका एक प्रकार का तहख़ाना हो गया है। मिस्र में काप्ट ईसाइयों का यही सबसे प्राचीन गिरजाघर है। यही क्यों, इसका निर्माण पहली सदी में हुआ था और यह गिरजाघर संसार भर में सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। रोमन लोगों के आगमन तथा उनके दुर्ग के बनने के पहले इस स्थान पर यहूदियों की बस्ती थी। बाल्यकाल में ईसा का लालन-पालन यहीं हुआ था। मेम्फिस की भाँति बबलून का नाम मिट नहीं गया है, किन्तु उसकी स्मृति-स्वरूप उसके भग्नावशेष पर इस समय भी एक प्राचीन गिरजाघर के आस-पास कुछ कच्चे मकान खड़े हैं। तीसरा नगर अरबों ने बसाया और उसका नाम फ़स्टाट रक्खा। यह नगर अभी तक आबाद है, पर इसकी दशा अच्छी नहीं है। यहीं अमरू की मस्जिद है, जो दसवीं या ग्यारहवीं सदी के लगभग बनी थी। रमज़ान के अवसर पर मिस्र के मुसलमान शासक इसी मस्जिद में नमा पढ़ते हैं। इसके चारों ओर फ़स्टाट नगर बसा हुअ है। यहीं एक अजायबघर भी है, जिसमें क़ुरानशरी की एक प्राचीनतम खण्डित प्रति रक्खी हुई है। य प्रति हज़रत मुहम्मद के दामाद की लिखी हुई बताई जा है। फ़स्टाट के बाद जिस चौथे नगर की रचना हुई उ अहमद एब्न तौलून नामक एक अरबी सूबेदार ने बसाय था। इस सूबेदार ने नवीं सदी के पिछले भाग में स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी और स्वयम् मिस्र का स्वतन् शासक बन गया था। इसने फ़ोस्टाट के उत्तर अपन नगर आबाद किया। इस नगर का नाम मिस्र रक्ख गया। इसी में उस सूबेदार ने अपने रहने के लिए ए राजमहल और एक विशाल मस्जिद बनवाई थी। मस्जि अपनी बिगड़ी दशा में अभी तक मौजूद है। वर्तमा काहिरा की स्थापना फ़ातिमी अरबों के शासन-काल में हु थी। एब्न तौलून के नगर के एक भाग को अपने भी डाल कर उसके बिलकुल सन्निकट वह आबाद हुअ

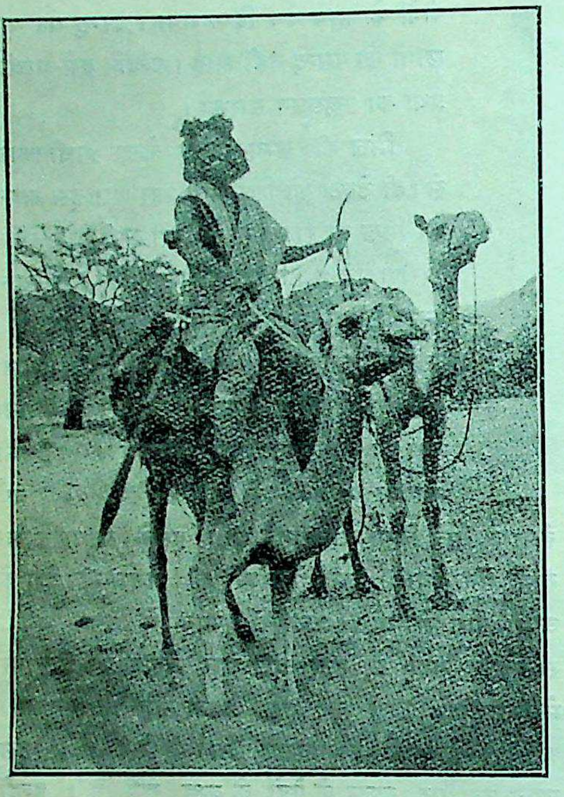

मरुभूमि का डाकिया।

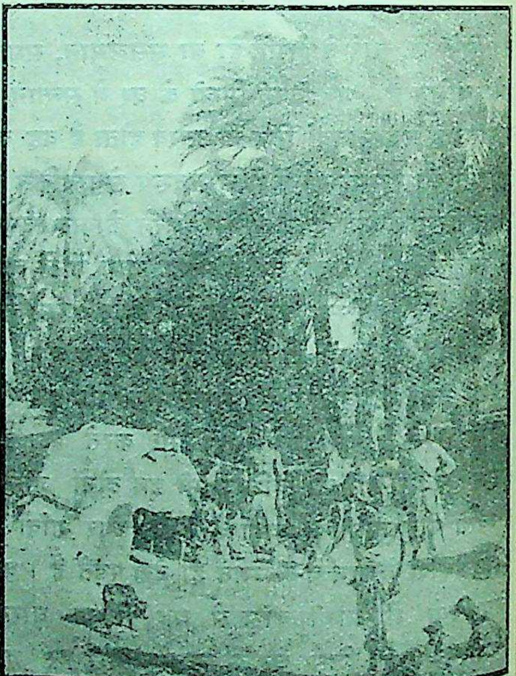

मरुभूमि में बिशारिन लोगों का गाँव।

यहीं मिस्र की प्रख्यात जामे अलअज़हार नामक मस्जिद है। इसी में तुर्किस्तान, सीरिया, बग़दाद, भारत, कुर्दिस्तान, सोमालीलैंड आदि संसार के भिन्न भिन्न देशों के मुसलमान-छात्र इस्लाम-धर्म की शिक्षा पाते हैं। जन-संख्या एवं प्राचीनता दोनों दृष्टियों से काहिरा अफ़्रीका महाद्वीप में सर्वश्रेष्ठ नगर है।

नील नदी के कारण ही मिस्र मिस्र है। इसका वह भूभाग, जो इसकी दोनों प्रधान धाराओं के बीच में स्थित है और डेल्टा कहलाता है, कृषि-कार्य के लिए संसार भर में एक उत्कृष्ट भूखण्ड है। डेल्टा के ऊपर मिस्र का शेष भूखण्ड वैसा उपजाऊ नहीं है। केवल नदी के किनारे के भूभागों में ही खेती होती है। इसका तटवर्ती प्रदेश खेती के लिए कुबेर का भाण्डार है। जाड़े में गेहूँ, जौ आदि और गर्मी में रुई, गन्ना, चावल, तम्बाकू आदि की खेती होती है। नील नदी में प्रतिवर्ष जो बाढ़ आती है वह हफ़्तों तक ठहरी रहती है। जब बाढ़ उतर जाती है तब ज़मीन पर एक प्रकार की काली कीचड़ जम जाती है। उसी पर लोग बीज बो देते हैं और बिना परिश्रम साल भर में दो दो तीन तीन फ़स्लें काट लेते हैं। इसी से डेल्टा-प्रदेश अत्यधिक उपजाऊ और समृद्धिपूर्ण है। मिस्र का क्षेत्रफल तीन लाख वर्गमील है। इसमें केवल बारह हज़ार वर्गमील उपजाऊ, शेष भाग मरुभूमि और ऊबड़-खाभड़ है। डेल्टा-प्रदेश में बहुत घनी आबादी है उसमें १००० आदमी प्रति मील के हिसाब से बसते हैं और उसी की उपज से सारे देश की आवश्यकता की पूर्ति होती है।

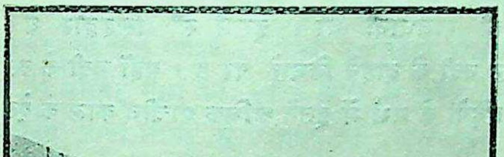

थीबेस का एक अत्यन्त सुन्दर प्राचीन मन्दिर।

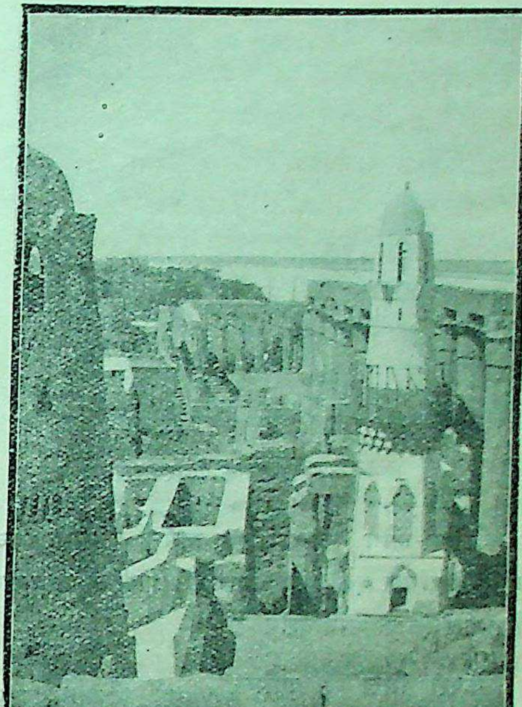

लक्सर का प्राचीन मन्दिर।

मिस्र पर अँगरेज़ी सत्ता क़ायम हो जाने पर आवागमन की सुविधा के लिए दूसरी बातों के साथ ही रेलवे-लाइनें भी खुल गई हैं। इनके द्वारा मिस्र के भिन्न भिन्न नगरों को आने-जाने में विशेष सुविधा हो गई है। तो भी जो आनन्द यात्री को नील नदी की जल-यात्रा में मिलता है वह अन्यत्र नहीं मयसर है। पाश्चात्य यात्री काहिरा से देश के ऊपरी भाग की यात्रा प्रायः नौका-द्वारा

ही करते हैं। ये यात्री-नौकायें बहुत कुछ उसी प्रकार की बनी होती हैं जैसी काशी या काश्मीर में देखने में आती हैं। कैरो से लोग लक्सर तक जाते हैं। लक्सर प्राचीन स्मृति-चिह्नों का एक मुख्य स्थान है। इसी के पास थीबेस और कारनक के भग्नावशेष हैं।

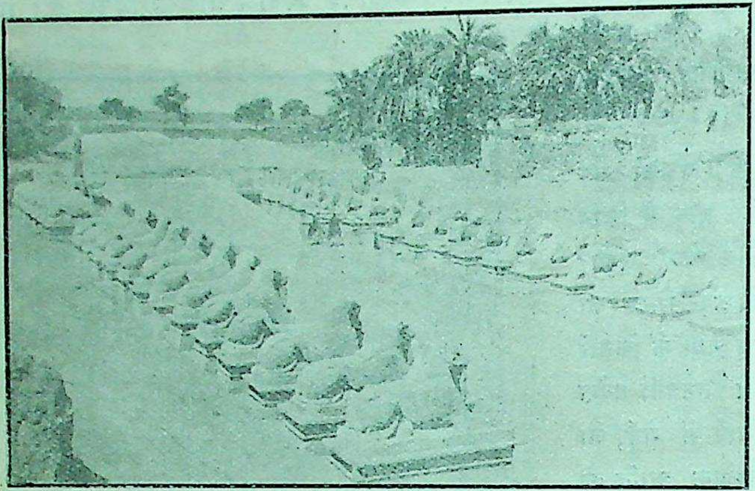

कारनक में स्फिंक्स-मूर्तियाँ।

ऊपरी मिस्र में असियट एक मुख्य नगर है। यह नील नदी के बायें किनारे पर आबाद है। इसकी आबादी तीस हज़ार के लगभग है। यहाँ नील नदी की बाढ़ का पानी एकत्र करने के लिए एक बैरज बँधा हुआ है और कृषिकार्य के लिए बहुत दूर दूर तक पानी पहुँचाया जाता है। इस बैरज की नीव सन् १८४७ में मिस्र के प्रसिद्ध शासक मुहम्मदअली ने रक्खी थी। सम्भवतः असियट मिस्र में व्यापार की सबसे बड़ी मण्डी है। यहाँ से मरुभूमि के ओसिसों को कई एक सड़कें गई हैं। यहाँ मिट्टी के बहुत सुन्दर बर्तन बनते हैं और कपड़े पर सोने-चाँदी का काम भी बहुत बढ़िया होता है। सस्ते तथा बहुमूल्य दोनों प्रकार की ज़री की चीज़ें यहाँ बनाई जाती हैं।

मिस्र में थीबेस अत्यन्त ह अधिक मनोरञ्जक स्थान है। य कारनक का बड़ा मन्दिर है। य मन्दिर लगभग दो हज़ार वर्ष त बनता रहा। इसको नष्ट हुए भ दो हज़ार वर्ष के लगभग हो गये। इस समय यह भग्नावस्था में प हुआ है। थीबेस की जो बड़ी ब सड़कें वहाँ के भिन्न भिन्न अ मन्दिरों को जाती हैं उनके दो ओर स्फिंक्स की विशाल मूर्ति बनी हुई थीं। ये अर्द्धभग्नावस्था इस समय भी मौजूद हैं। चा हज़ार वर्ष पहले थीबेस मिस्र का एक श्रेष्ठ नगर औ उसकी राजधानी था। इसमें सौ सिंहद्वार थे। य नील नदी के दाहने किनारे पर है। यहीं नदी के उस पा पहाड़ियों के गर्भ में इतने अधिक प्राचीन काल के ऐसे बी पुरुषों के शव स्थापित थे जिनके अस्तित्व का ज्ञा सुप्राचीन फ़ैरो शासकों को भी नहीं था। इस नगर ध्वंसावशेषों के सन्निकट जो बस्ती आबाद है वह लक्स

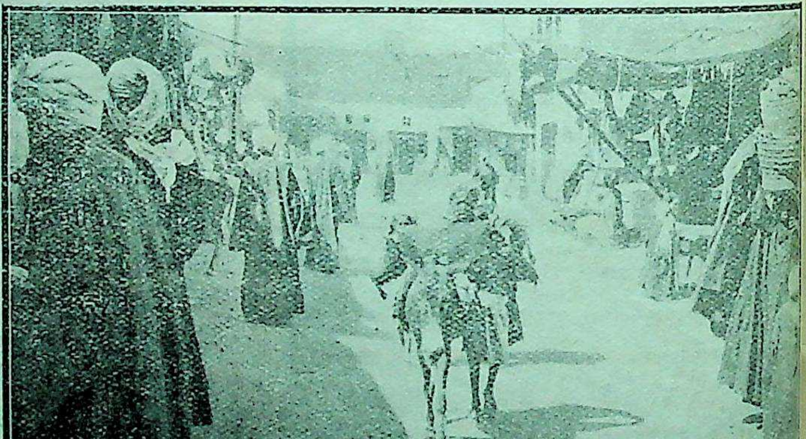

इस्नेह नगर की सड़क।

के नाम से प्रसिद्ध है। शीतकाल में मिस्रवासी योरपीय यहाँ आकर रहते हैं। इनकी सुविधा के लिए यहाँ कई एक होटल भी खुल गये हैं। लक्सर के दक्षिण नील नदी के तट पर एसनेह नाम का स्थान मिस्र में सबसे अधिक स्वास्थ्यप्रद गिना जाता है। यहाँ भी नील नदी में एक बड़ा बैरज बनाया गया है।

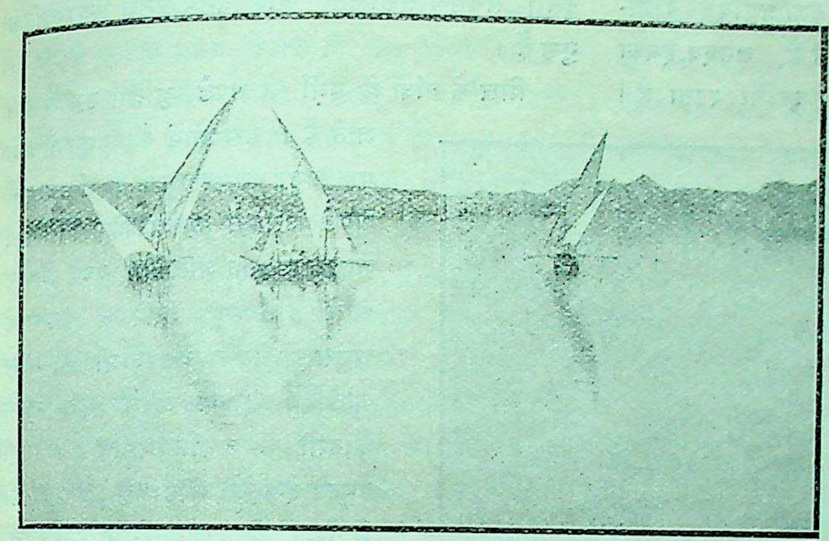

नील-नदी का दृश्य (कोरोरस्को)।

मिस्र के दक्षिणी प्रदेश में जो दो एक प्रधान स्थान हैं उनमें असुआन विशेष उल्लेख योग्य है। मिस्र के यात्रियों को यह नगर बहुत प्रिय है। इसका बाज़ार मिस्र में सबसे अधिक सुन्दर है। पिछले समय में यहाँ कई एक बड़े बड़े होटल भी खुल गये हैं। इस नगर से दक्षिण बाँध के आगे कुछ मील दूर फिलई का प्रसिद्ध टापू है। नील-नदी के बीच यह एक अत्यन्त सुन्दर तथा मनोरम स्थान है। इस टापू में अतीत कालीन मिस्रियों के मन्दिर अभी तक मौजूद हैं और अपने निर्माताओं की सुरुचि का मनोहर नमूना उपस्थित करते हैं। मुसलमानों के सन् ६४० के आक्रमण से लेकर सन् १८२० तक मिस्र की दक्षिणी सीमा इसी नगर तक मानी जाती थी। सन् १८२० में मुहम्मदअली ने सूदान को जीत कर मिस्र में मिला लिया, अतएव मिस्र की दक्षिणी सीमा वादी हल्फ़ा नामक स्थान के आगे जा पहुँची।

असुआन के आगे बर्बर लोगों का देश मिलता है, जिसे न्यूबिया कहते हैं। न्यूबिया के मुख्य नगर का नाम कोरोस्को है। बिशारिन लोग देश के इसी भाग में पाये जाते हैं। यहाँ भी प्राचीन मिस्रियों का आधिपत्य था। अबू सिम्बल में पत्थर का जो एक अद्भुत मन्दिर अभी मौजूद है वह इस कथन को पुष्ट करता है। इसे मिसीज़ ने बनवाया था और मिस्र भर में यह मन्दिर सबसे बड़ा गिना जाता है। यहाँ फ़ैरो शासकों की पत्थर की चार बड़ी विशाल मूर्तियाँ अभी तक स्थापित हैं, जिनके लिए हज़रत मूसा ने न्यूबिया को विजय किया था। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भी मिस्र के ये दक्षिणी सीमावर्ती देश मिस्र के ही अधिकारक्षेत्र में थे।

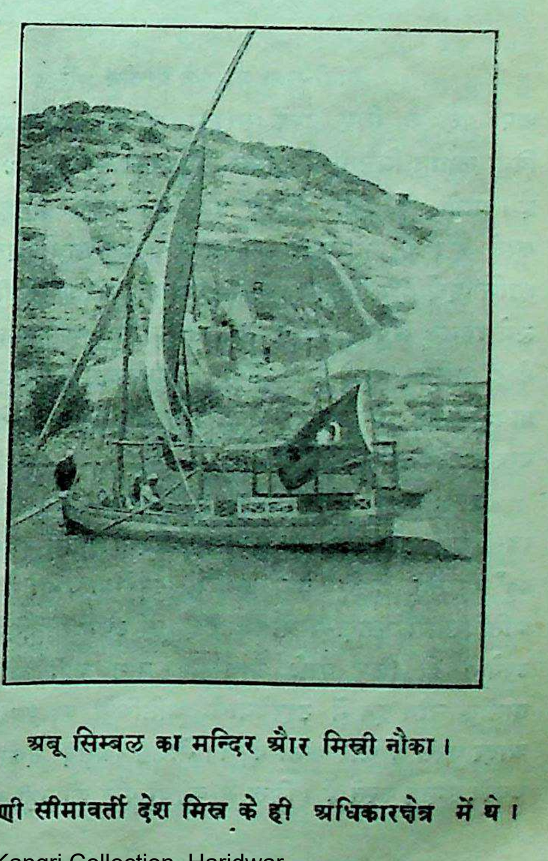

अबू सिम्बल का मन्दिर और मिस्री नौका।

पिछले समय में भी मिस्र ने इनको विजय कर अपने अधिकार में किया था।

मिस्र के गाँवों में अम्देह लोगों का बड़ा प्रभाव है। राजा-प्रजा के बीच ये मध्यस्थ का काम देते हैं, अतएव इनका साधारण प्रजा पर बहुत अधिक दबदबा रहता है।

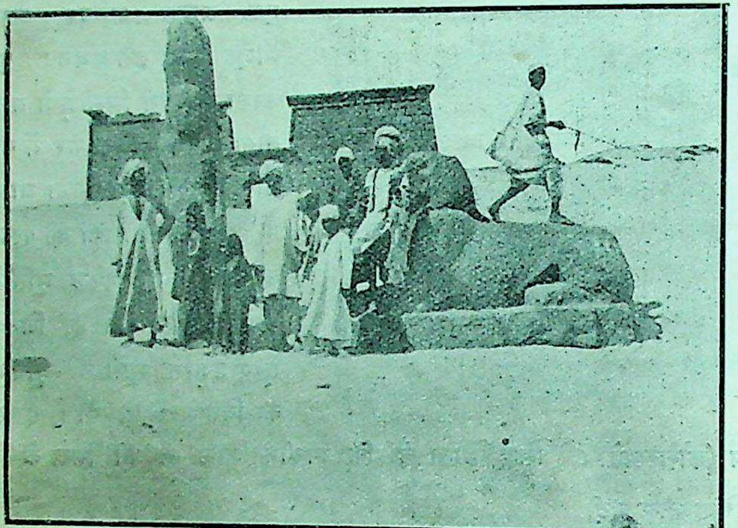

वादी-सबा का एक प्राचीन मन्दिर।

अपने पद के लिए इन्हें सरकार से पाँच एकड़ भूमि बिना लगान मिलती है। मिस्र में इनकी संख्या ३,४०० है। ग्रामों में इनके कारण अनेक गोलमाल भी हुआ करते हैं। तो भी मिस्र का ग्राम्य-जीवन साधारणतया शान्ति-पूर्ण है। किसान लोग चुपचाप अपनी खेती में लगे रहकर अपना जीवन शान्ति के साथ व्यतीत करने के ही इच्छुक रहते हैं। गाँवों में जातिगत वैमनस्य का प्रायः अभाव ही रहता है। ईसाई-मुसलमान दोनों परस्पर प्रेम-पूर्वक रहते हैं।

प्रायः प्रत्येक गाँव में एक अतिथिशाला अवश्य बनी रहती है। यदि कोई अपरिचित आदमी किसी गाँव में पहुँच जाता है तो वह उसी में ठहराया जाता है। ये अतिथिशालायें साफ़-सुथरी रहती हैं, पर इनमें अतिथियों के उपयोग के लिए कोई आवश्यक वस्तु नहीं रहती। ग्रामीण लोग इन में ठहरनेवाले अतिथियों का यथोचित आदर करते हैं और कभी कभी भोजन आदि देकर भी उनको सन्तुष्ट करते हैं। मिस्र में क़हवा पीने की बड़ी चाल है। कोई कोई चलते हुए मुसाफ़िरों को भी आदर से बुला कर उन्हें क़हवा या शर्बत बिना पिलाये हुए जाने नहीं देते। सचमुच सुशीलता और विनय उनके स्वाभावि गुण हैं।

मिस्र के गाँवों में मुर्ग़ी के अण्डे कृत्रिम ढङ्ग से से जाते हैं। इस कार्य के लिए गाँव मे एक अड्डा बना रहता है। गाँव भर अण्डे उसी में एकत्र किये जाते हैं। जब अण्डे पक जाते और बच्चे निकल आते हैं तब पूर्व निश्चित संख्या अनुसार वे अपने स्वामी को मिल जाते हैं। इनका प्रबन्ध एक ख़ास आदमी के अधीन रहता है। वहीं इनकी देख-रेख करता है। अण्डा-घ के सिवा वहाँ कबूतर-घर भी रहता है। इसकी इमारत वास्तव में सुन्द होती और एक छोटा सा क़िला मालूम देती है। कबूतरों की मिस्र में बड़ी क़दर है, उनका शिका करने का निषेध है। मिस्र में प्राचीनकाल से कबूतरों द्वारा डाक भेजी जाती रही है। कबूतरों-द्वारा चिट्ठी-पत्री इस समय भी मिस्र में भेजी जाती है, प इसका भेद वहाँ के निवासियों को ही मालूम है। दूस लोग इसके रहस्य को नहीं जानते।

गिरीशचन्द्र घोषा

चीनी तुर्किस्तान।

ज्ञान किसी जातिविशेष की सम्पत्ति नहीं है विद्या पर किसी एक देश का स्वत्व न है। सभी देशों और सभी जातियों उस पर समान अधिकार है। य कारण है कि एक जाति सदैव दूस जाति से विद्या ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहती है। भि भिन्न जातियों के सम्मिलन से ज्ञान का आदान-प्रद होता ही है और इसी से ज्ञान की वृद्धि होती जा

है। जिस जाति में यह ज्ञान-लिप्सा नहीं वह जाति अकर्मण्य होती है। ऐसी अकर्मण्य जाति अपने अतीत की गौरव-रक्षा में ही व्यस्त रहती है। वह वर्तमान से अपनी अवज्ञा प्रकट करती है और अपने भविष्य-जीवन पर दृष्टि नहीं डालती। परन्तु जो जाति उन्नतिशील है वह अपने अतीत गौरव को लेकर बैठी नहीं रहती। वह वर्तमान में व्यस्त रहती है और उसी में अपनी भविष्योन्नति का बीजारोपण कर जाती है। वर्तमान पाश्चात्य-सभ्यता की उन्नति का मूल कारण है उसकी अदम्य जिज्ञासा। ज्ञान के अनुसन्धान में पाश्चात्य देशों के श्रेष्ठ विद्वान् अपनी समस्त शक्ति लगा देते हैं। ज्ञान के पथ में उनके लिए कोई भी अवरोधक नहीं है। किसी भी विघ्न या बाधा से वे नहीं डिगते। वे सदैव ज्ञान की परीक्षा में रत रहते हैं। यह सच है कि उनकी परीक्षा सभी समय निर्भ्रान्त नहीं होती। परन्तु भ्रम काल की वस्तु है। सभी भ्रम समय में नष्ट हो जाते हैं और केवल सत्य रह जाता है। अतएव ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा कभी व्यर्थ नहीं होती। चीनी तुर्किस्तान में पाश्चात्य विद्वानों ने जो अनुसन्धान किये हैं उनसे अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। सरस्वती में उनके सम्बन्ध में अनेक नोट निकल चुके हैं। यहाँ हम जे० नोबल नामक एक विद्वान् के लेख के आधार पर उसका विस्तृत वर्णन प्रकाशित करते हैं। इस विवरण से यह प्रकट हो जायगा कि अनुसन्धान का सुफल किसे कहते हैं।

चीनी तुर्किस्तान चारों ओर पहाड़ों से घिरा हुआ है, उत्तर में टीनशन पहाड़ है, पश्चिम में पामीर पर्वत है और दक्षिण में कराकोरम तथा कुइनलन पर्वत-मालायें हैं, केवल पूर्व में कुछ खुला हुआ है किन्तु उस ओर लाबनार झील है। इसका अधिकांश भाग बीहड़ मरुभूमि है। यद्यपि पहाड़ों से अनेक नदियाँ निकलती हैं तो भी सबकी सब मरुभूमि में लोप हो जाती हैं। केवल उत्तर और दक्षिण दिशाओं में पहाड़ों और मरुभूमि के बीच में कुछ भूमि कृषि के योग्य है, अतएव यहीं थोड़ी बहुत आबादी है। यद्यपि यह भू-भाग सब प्रकार से बीरान और सुनसान है तो भी यह सर्वथा महत्त्वशून्य नहीं है। इतिहासातीत काल से पश्चिमी देशों को जाने के लिए चीनी यात्रियों को सदैव यह रेगिस्तान पार करना पड़ता रहा है। इसमें केवल दो मुख्य मार्ग हैं। उत्तरी मार्ग से जानेवाले कूच और अक्सू होते हुए कासगर पहुँचते हैं और दक्षिणीय मार्गवाले खोटान और यारकन्द होते हुए कासगर पहुँचते हैं। व्यापार के लिए भी प्राचीन काल से यही दोनों मार्ग खुले रहे हैं। इन्हीं दोनों मार्गों से समय समय पर भिन्न भिन्न जातियों ने चीन से निकल कर पश्चिमी देशों में आश्रय ग्रहण किया है। प्रायः जिन जिन जातियों का यहाँ होकर आना-जाना हुआ है उन्होंने यहाँ कुछ न कुछ अपनी अपनी विशेषताओं से युक्त चिह्न अवश्य छोड़ दिये हैं, अतएव यहाँ का इतिहास विलक्षण और महत्त्वपूर्ण है। किन्तु सम्प्रति इसका मुख्य स्रोत प्राचीन चीनी ग्रन्थ ही हैं।

ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में हूण-जाति ने कुशान-जाति को, जो उत्तर-पश्चिमी चीन के कंशूह-प्रदेश में रहती थी, वहाँ से बाहर निकाल दिया। अतएव कुशान-जाति उत्तरी मार्ग से पश्चिम की ओर बढ़ने लगी। मार्ग में उसको एक और वू-शन नामक छोटी जाति मिली, जो इली नदी के दोनों ओर बसती थी। इन लोगों को हरा कर कुशान-जाति विस्तृत चरागाहों की खोज में पश्चिम की ओर बढ़ती गई, किन्तु उसमें कुछ कुशान लोग दक्षिण की ओर भी झुक पड़े और तिब्बत में जा बसे। कुछ काल बाद तिब्बतवाले कुशान लोगों का नाम पड़ गया लघु कुशान और पश्चिम की ओर जानेवालों का नाम बृहत् कुशान। कुशान लोगों को अपने भ्रमण में शक नामक एक विशाल-जाति से भी भेंट हुई थी। यह फ़ारस-स्थित आर्यों में से मालूम पड़ती है। उस समय ये लोग वू-शन के पश्चिम में रहते थे। पहले इन लोगों ने आगन्तुकों का सामना करना चाहा। किन्तु अन्त में इन्हें हार खानी पड़ी। अतएव ये कुछ दिनों बाद उत्तरी भारत में आ गये। किन्तु कुशान-जाति भी बहुत दिनों तक इन सुखद चरागाहों में नहीं रह सकी। लगभग बीस वर्ष के बाद हूण लोगों की सहायता से वू-शन लोगों ने इन पर आक्रमण किया। अतएव इनको पश्चिम की ओर भाग कर आक्सस नदी के किनारे शरण लेनी पड़ी। कहा जाता है कि हूण लोग भी धीरे धीरे पश्चिम की ओर बढ़ते गये और कुछ दिनों में डेन्यूब और वोलगा के

दुश्राब में पहुँच गये, किन्तु अटीला की मृत्यु (४५३ ई०) के पश्चात् इनके प्रभुत्व का अन्त हो गया। इनकी एक दूसरी शाखा का राज्य बहुत दिनों तक चलता रहा। यह शाखा सफ़ेद हूण के नाम से प्रसिद्ध है। हूणों की इस शाखा ने सन् ४८४ ईसवी में फ़ारसवालों को हराया और काबुल के कुशान-राजाओं पर भी आक्रमण किया, यहाँ तक कि ४६२ ईसवी में इसने गान्धार-देश जीत लिया और भारतवर्ष के गुप्त महाराजाओं को युद्ध के लिए ललकारा। उस समय तोरामन इसका नेता था।

उत्तरी तुर्क नामक जाति से चीनी लोगों को सदैव खटका लगा रहता था, क्योंकि ये लोग पश्चिमी मार्ग को बिलकुल रोके हुए थे। यद्यपि सन् ६३० में चीनियों ने इनको हरा दिया था तो भी ६० ही वर्ष में इन्होंने पुनः शक्ति सञ्चित कर ली थी। आख़िरकार ७४४ ईसवी में चीनियों ने यूगर लोगों की सहायता से उत्तरी तुर्कों को पूर्णरूप से पराजित किया, किन्तु परिणाम इसका यह हुआ कि तुर्कों के स्थान में यूगर लोगों ने वहाँ पर अपना आधिपत्य जमा कर एक प्रबल साम्राज्य स्थापित कर लिया और टरफ़ान के समीप इदकुतशहरी को अपनी राजधानी बनाया। इसका पता नहीं कि यूगर लोगों का किस जाति से सम्बन्ध था, अधिकतर सम्भावना यही है कि ये हूण-जाति के अन्तर्गत थे। अन्त में मुसलमानों ने इन लोगों को हराया था।

बहुत से चीनी यात्री समय समय पर तुर्किस्तान को पार कर भारतवर्ष में आये हैं। इन लोगों ने तुर्किस्तान के बारे में रोचक बातें लिखी हैं। संक्षेप में यहाँ उनका उल्लेख किया जाता है। सबसे पहला यात्री फ़ाहियान सन् ४०० ईसवी में रवाना हुआ था और दक्षिणी मार्ग से खोटान होता हुआ भारतवर्ष में आया था। उसको लङ्ग-प्रान्त, चेंगयेह, और टनह्वांग होकर वर्तमान शन-शन प्रान्त में आना पड़ा था। उसका कहना है कि इस देश का राजा बुद्धानुयायी था, और यहाँ लगभग ४,००० बौद्ध-भिक्षु थे। ये सबके सब हीनयानवादी थे। शन-शन के पश्चिमी देशों की धार्मिक अवस्था भी शन-शन के ही समान थी, किन्तु इनकी भाषाओं में बड़ी विभिन्नता थी। बौद्ध-भिक्षु भारतीय पुस्तकों और भारतीय भाषाओं का ही व्यवहार करते थे। वू-की में भी लगभग ४,००० हीनयानवादी बौद्ध-भिक्षु थे। फ़ाहियान का कहना है कि वू-की के लोगों ने उसके साथ शिष्ट व्यवहार नहीं किया था। उस समय टेरिम नदी के किनारेवाला खोटान का मार्ग कठिन और कण्टकाकीर्ण था, सारा देश एक-दम वीरान था। उसके कथनानुसार केवल खोटान सब प्रकार धन-धान्य-सम्पन्न था। यहाँ भी बौद्ध-धर्म प्रचलित था, बौद्ध-भिक्षुओं की संख्या अत्यधिक थी, किन्तु ये सब महायानवादी थे, १४ बड़े बड़े सङ्घाराम थे, छोटे सङ्घारामों की तो गिनती ही नहीं थी। यहाँ उसने पहले पहल धार्मिक सङ्गीत सुना था। उसमें लिखा है—"खोटान तीन मील की दूरी पर ये लोग चार पहिये का ३० फ़ु ऊँचा एक रथ बनाते है, मानो यह एक चलता-फिरता प्रासाद है। यह बहुमूल्य धातुओं और रेशमी कपड़ों सुसज्जित किया जाता है। बीच में बुद्ध भगवान् की मूर्ति रहती है और आस-पास दो बोधिसत्व और बहुत से देवता सेवा में उपस्थित रहते हैं—प्रत्येक सङ्घाराम के लिए रथ यात्रा का पृथक् पृथक् दिन नियत है।

यारकन्द-प्रान्त में महायानवादी-धर्म प्रचलित था किन्तु गान्धार में हीनयानवादी धर्म की प्रधानता थी भारतवर्ष से लौटते समय फ़ाहियान समुद्र मार्ग से ची गया था। सन् ५१८ में संगयून नामक एक दूस चीनी यात्री एक भिक्षु के साथ भारतवर्ष में बौद्ध-ग्रन्थ को प्राप्त करने के लिए आया था। उस समय शन-श पूर्वी तुर्कों के हाथ में था। इस यात्री का कहना है कि इस मोह शहर में भगवान् बुद्ध की एक प्रतिमा है, किन् उसका चेहरा तातारी चेहरे से सर्वथा भिन्न है। उसने ए बुड्ढे आदमी से इस भिन्नता का कारण पूछा तो उसने बत लाया कि यह लू वोंग की बनवाई है, जिसने तातारियों हराया था और जो स्वयं तातारी नहीं है। चीनी लोग ही कुशल निरीक्षक होते हैं, अतएव छोटे से छोटा उनकी आँखों से नहीं छिप सकता। सङ्गयून भी खोटान रास्ते से गया था। इसका कहना है कि यारकन्द देश खोटान के ही समान रीति-रस्म और भाषा प्रचलित इन सब जगहों में भारतवर्ष की लिपि की ही प्रधान थी। गान्धार उस समय सफ़ेद हूण लोगों के हाथ में था

किन्तु इन सब यात्रियों में सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण और सबसे अधिक रोचक यात्रा ह्वेनसांग की है, जिसने ६२९ ईसवी में भारत के लिए प्रस्थान किया था। वह काराशहर, कूच और अक्सू होता हुआ उत्तरी मार्ग से भारतवर्ष में आया था, और जाते समय कासगर, खोटान और शन-शन होता हुआ दक्षिणीय मार्ग से घर गया था। उसके विस्तृत विवरण से कुछ मुख्य मुख्य बातें यहाँ दी जाती हैं—

वर्तमान काराशहर के बारे में यात्री का कहना है कि इस देश में न तो कोई इतिहास है और न किसी प्रकार की व्यवस्था है। लगभग १० सङ्घाराम हैं, जिनमें अधिक से अधिक २,००० भिक्षु रहते होंगे। यह सब हीनयान-शाखा के सर्वास्तिवादी हैं, ये भारतवर्ष के ग्रन्थों से ही ईश्वर-विनय पढ़ते हैं। कूच प्रदेश की लिपि भारतवर्ष की लिपि से बहुत मिलती-जुलती है। इस देश में कम से कम १०० सङ्घाराम हैं और सब हीनयानवादी। यहाँ भगवान् बुद्ध की मूर्ति सर्वत्र पाई जाती है, जो विशेष उत्सवों पर रथ पर निकाली जाती है। अक्सु-देश की लिपि और रीति-रस्म कूच के समान है, केवल भाषा में थोड़ा सा अन्तर है। यहाँ भी हीनयान का ही प्रचार है। चू नदी के किनारे उस समय जो देश था वह सुली के नाम से प्रसिद्ध था, यहाँ की भाषा बड़ी ही विचित्र थी। उसका कहना है कि वर्णमाला में केवल ३० ही अक्षर हैं (एक जगह २० ही अक्षरों का उल्लेख है)। वर्णों को मिला देने से एक-दम संयुक्त शब्द बन जाते हैं, भाषा ऊपर से नीचे की ओर पढ़ी जाती है। चू के पश्चिम में बहुत से उजड़े हुए शहर हैं, जिन पर तुर्कों का आधिपत्य है। कासगर देश उसको लौटते समय मिला था। यहाँ की भाषा अन्य देशों से भिन्न थी, लगभग १०,००० हीनयानवादी भिक्षु विविध सङ्घारामों में रहते थे। ह्वेनसांग यारकन्द और खोटान नदी के किनारे के देशों की बड़ी निन्दा करता है। अधिकांश लोग डाकू, अत्याचारी और धोखेबाज़ थे। प्रायः सभी सङ्घाराम बुरी अवस्था में थे, अधिक से अधिक १०० महायानवादी भिक्षु यहाँ रहते होंगे। दक्षिणी ओरवाले पर्वत में लगातार गुफायें बनी हुई हैं। भारतवर्ष से कुछ आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न बौद्धानुयायी, जो अर्हत के नाम से प्रसिद्ध थे, इन-गुफाओं में आकर रहते थे। ह्वेनसांग का कहना है कि उस समय तीन नामी अर्हत इन पर्वतों के दुर्गम स्थानों में समाधि लगाये हुए बैठे थे, यहाँ महायान की प्रधानता थी और यहीं बौद्ध-धर्म की सबसे अधिक प्रतिष्ठा थी।

खोटान-प्रान्त का विवरण विशेष लम्बा और रोचक है। ह्वेनसांग का कहना है कि यहाँ के निवासी स्वभावतः शान्त और सभ्य हैं। इनको साहित्य और कला से बड़ा प्रेम है। सङ्गीत के तो ये बड़े अनुरागी हैं। लिपि में भारतीय लिपि से कहीं कहीं थोड़ा सा अन्तर है। बोलने की भाषा अन्य देशों की भाषाओं से बिलकुल भिन्न है। यहाँ कम से कम १०० सङ्घाराम हैं, जिनमें ५,००० महायानवादी भिक्षु रहते हैं। यहाँ का राजा भी बुद्ध का बड़ा भक्त है और अपने को वैश्रवण देव का वंशज बतलाता है। इस राज्य की स्थापना से अशोक का भी कुछ सम्बन्ध रहा है। शहर के दक्षिण-पश्चिम में गोश्रृङ्ग पर्वत है, इसमें एक बड़ी भारी गुफा थी, जिसका मार्ग पर्वतीय शिखर के गिरने से बन्द हो गया है। यहाँ बुद्ध की प्रतिमाओं की अत्यधिक प्रचुरता है। इसके बाद ह्वेनसांग तुखारा के प्राचीन राज्य में पहुँचा, किन्तु उस समय वह उजाड़ और वीरान हो चुका था, नगर एक-दम जन-शून्य थे। उसकी यात्रा का अन्तिम प्रदेश था नवाप, जो आज-कल शन-शन कहलाता है। उसका कहना है कि यहाँ के निवासी जङ्गली और असभ्य थे।

सन् ६७२ और ६९५ के बीच में एक और प्रसिद्ध चीनी यात्री, जिसका नाम इत्सिङ्ग था, भारतवर्ष के दर्शनार्थ आया था। इसने भी अपने अनुभवों का उल्लेख किया है, किन्तु इसने आते समय और जाते समय दोनों बार जलमार्ग ही पसन्द किया था, अतएव चीनी तुर्किस्तान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

चीनी यात्रियों के विवरणों और ऐतिहासिक घटनाओं से, जिनका उल्लेख भी चीनी ग्रन्थों में पाया जाता है, यह मालूम होता है कि चीनी तुर्किस्तान की जनता में प्रायः प्रत्येक शताब्दी में कोई न कोई भीषण परिवर्तन अवश्य होता रहा है। यह तो निश्चित ही है कि जो

खानाबदोश जातियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर जाया करती थीं वे अधिकतर यहीं से होकर निकलती थीं, किन्तु इसके अतिरिक्त विदेशी जातियों ने भी इस देश पर कई बार आक्रमण किये हैं । कुछ भारतीय नागरिक भी यहाँ आये थे और इसको अपना निवासस्थान बनाया था । समीपवर्ती देशों से भी समय समय पर कुछ जातियाँ यहाँ आती रही हैं, जिनमें कुछ तो यहीं बस गईं और कुछ वापस लौट गईं । संक्षेप में, यह देश कई बेमेल सभ्यताओं और धर्मों का क्रीड़ास्थल बन चुका है, उनमें ईसाई-धर्म, मेनीकीज़्म, और बौद्ध-धर्म मुख्य हैं । यात्रियों के विवरणों से यह ज्ञात होता है कि उत्तर में हीनयान की प्रधानता थी और दक्षिण में महायान की । किन्तु सभी धर्म उस समय शान्तिपूर्वक अपना अपना काम कर रहे थे, किसी को किसी से विशेष झगड़ा न था, किन्तु थोड़े दिनों बाद इस्लाम का पदार्पण होते ही एक नया उपद्रव खड़ा हुआ । वास्तव में जहाँ जहाँ इस्लाम के चरण पड़े, वहाँ वहाँ वैमनस्य की नींव अवश्य जम गई । धीरे धीरे कासगर से लेकर सारे देश में इस्लाम-धर्म फैल गया, जब सन् १२९५ ई० में वेनिस का प्रसिद्ध यात्री मारको पोलो तुर्किस्तान में पहुँचा था, तब वहाँ इस्लाम के अतिरिक्त किसी दूसरे धर्म का नाम भी नहीं रह गया था ।

सबसे प्रथम अन्वेषण जो तुर्किस्तान में हुआ था वह 'बोयर लेख' के नाम से प्रसिद्ध है । यह लेख कूच के पास कुछ किसानों को ज़मीन खोदते समय मिला था जिनसे बोयर ने इसको मोल ले लिया था । डाकृर हार्नले ने बड़ी सावधानी से इसका सम्पादन किया है और उसके कुछ चित्र भी लिये हैं । शायद इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण अन्वेषण, जिससे बौद्ध-धर्म के साहित्य और इतिहास के ऊपर अच्छा प्रकाश पड़ता है, सन् १८९२ ई० में खोटान में एक फ्रेंच यात्री के द्वारा हुआ था । उसने छोटी छोटी तीन पुस्तकें मोल ली थीं, जिनमें एक संस्कृत-भाषा में लिखा हुआ धम्मपद था, इस रोचक ग्रन्थ का पहला भाग तो इस समय पेरिस में है और दूसरा सेंट पीटर्सबर्ग में ।

इन दोनों अचानक अन्वेषणों ने लोगों को व्यवस्थित रूप से अनुसन्धान करने के लिए उत्साहित कर दिया था । सन् १८९८ में क्लेमेंट की अधीनता में एक रूसी जत्था तुर्किस्तान पहुँचा, सन् १९००-०१ में सर स्टी की अध्यक्षता में एक दूसरा दल तुर्किस्तान पहुँचा और खोटान के आस-पास बहुत दूर दूर तक खोदाई की । यहाँ विद्वान् पुनः १९०६-०८ में आये और खोटान से लेकर टनह्वाङ्ग तक छानबीन की । इन्होंने सहस्र बुद्धदेवों की प्रसिद्ध गुफाओं के भी दर्शन किये, वहाँ इन्हें हस्तलिखित पुस्तकों का एक ढेर का ढेर मिला, और साथ ही रेशम और मलमल पर अङ्कित कुछ सुन्दर चित्र भी मिले । ये सब सामान लन्दन के अजायबघर को भेज दिये गये थे ।

सन् १९०१-०२ में प्रोफ़ेसर ग्रनवीडेल और डाकृर हथ की अध्यक्षता में पहला जर्मन-दल वहाँ पहुँचा और उसने टरफान के पड़ोस में अनुसन्धान प्रारम्भ किया। सन् १९९४-०७ के बीच में जर्मनी से दो और जत्थे ग और टरफान तथा कुचा में खोज का काम करते रहे सौभाग्य से अनेक बहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तकें इनके हाथ लगीं । सन् १९१४ में प्रोफ़ेसर वानलीको पुनः ए बार असीम कठिनाइयों और असुविधाओं की अवहेल करके यहाँ आये। सन् १९०६-०७ में प्रोफ़ेसर पिलीयट की अध्यक्षता में एक फ्रेंच-जत्था भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी बहु कुछ बहुमूल्य सामग्री यहाँ से ले गया । संक्षेप में तुर्किस्तान की शोध के फलस्वरूप सेंटपीटर्सबर्ग, लन्द ओक्सफ़ोर्ड, कलकत्ता, बर्लिन, पेरिस, टोकिओ और पेकिं में बहुत सी बहुमूल्य सामग्री एकत्र होगई है। अ देखना यह है कि इन अनुसन्धानों से हमको क्या क नई बातें ज्ञात होती हैं ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि चीनी तुर्किस्तान अनुसन्धानों से धार्मिक इतिहास के निर्माण में ब सहायता मिल सकती है, विशेषकर बौद्ध-धर्म के सम्ब में बहुत सी नई बातें ज्ञात होती हैं । यह तो स्पष्ट ही कि बौद्ध-धर्म की दोनों शाखाओं—महायान और ही यान—के कुछ पृथक् पृथक् सिद्धान्त थे । किन्तु दुर्भाग्य केवल विभाज्यवादी हीनयान-शाखा के सिद्धान्त ही पू रूप से सुरक्षित रह सके हैं, ये पाली-भाषा में लिखे हु हैं । साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पाली-भाषा में व सिद्धान्त स्वयं भगवान् बुद्ध के कहे हुए नहीं हो सक

क्योंकि जहाँ तक ज्ञात है उन्होंने मागधी भाषा में ही उपदेश किया था। अतएव मागधी से पाली में रूपान्तर किया गया होगा। किन्तु चीनी और तिब्बती बौद्ध-साहित्य देखने से साफ़ साफ़ इस बात का पता चलता है कि संस्कृत-भाषा में भी भगवान् बुद्ध के उपदेश लिपिबद्ध हुए थे। इस संस्कृत संस्करण का अधिकांश भाग इसी चीनी तुर्किस्तान में पाया गया है। कुछ ग्रन्थों की एक से अधिक प्रतियाँ मिली हैं, जिनमें भिन्न भिन्न पाठ हैं। उदाहरण के लिए कूच और काराशहर के बीच शोरकक नामी गुफा में भगवान् बुद्ध की एक विशाल मूर्ति थी। उसमें ब्राह्मी-लिपि से अङ्कित पत्रों का एक बड़ा ढेर मिला है, जिन पर धम्मपद का अधिकांश भाग लिखा हुआ है। उसमें यह भी लिखा कि यह संस्करण विभिन्न आवृत्तियों के आधार पर लिखा गया है। इसी ग्रन्थ की एक दूसरी आवृत्ति प्राकृत-भाषा और खरोष्ठी-लिपि में लिखी हुई खोटान में पाई गई है। खरोष्ठी-लिपि कहीं कहीं अशोक के शिलालेखों में भी पाई जाती है। सेनार्ट ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है और कुछ संशोधन एवं परिवर्द्धन भी उपस्थित किये हैं। डाक्टर वेणीमाधव बड़ुआ और शैलेन्द्रनाथ मित्र ने सन् १९२१ में इसका दूसरा संस्करण तैयार किया था। यह खरोष्ठी-लिपि की पुस्तक बहुत ही प्राचीन मालूम होती है। जिस परिस्थिति में वह पाई गई है उससे यह अनुमान होता है कि यह कम से कम २६९ ईसवी के पहले की लिखी हुई है। जब हम इस बात का विचार करते हैं कि भारतवर्ष में प्राचीन से प्राचीन लेख, जो अब तक प्राप्त हुए हैं वे ग्यारहवीं शताब्दी से पहले के नहीं हैं, तब इन अनुसन्धानों का पुरातत्त्व-विषयक महत्त्व अपने आप प्रकट हो जाता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध-ग्रन्थों के विभिन्न संस्कृत संस्करणों के छिन्न-भिन्न अंशों के ढेर के ढेर पाये गये हैं, जो बर्लिन, लन्दन और पेरिस के अजायबघरों में सङ्गृहीत किये गये हैं। किन्तु न जाने वह दिन कब आयेगा जब इन बिखरे हुए फूलों के सुन्दर हार गूँथे जायँगे, जिससे इसे भी बौद्ध-धर्म के विशाल साहित्य में उचित स्थान मिल सकेगा। चीनी त्रिपिटक और तिब्बती बौद्ध-ग्रन्थों से इन हस्त-लिखित पुस्तकों के सम्पादन में बड़ी सहायता मिल सकती है। किन्तु जो विद्वान् इनके सम्पादन का साहस करें उनको न केवल संस्कृत और प्राकृत का पण्डित होना चाहिए वरन चीनी और तिब्बती-भाषा का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेना परमावश्यक है। किन्तु दुर्भाग्य से ये भाषाएँ भाषा-वृक्ष की दो सर्वथा भिन्न शाखाओं से उद्भूत हुई हैं।

कुछ ऐसे ग्रन्थ भी निकले हैं जिनका बौद्ध-धर्म से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। प्रोफ़ेसर ल्यूडर्स को प्रसिद्ध नाट्यकार अश्वघोष के कुछ अज्ञात नाटकों के असम्बद्ध खण्ड प्राप्त हुए हैं। ये अवश्य द्वितीय शताब्दी में लिखे गये होंगे। यह अनुसन्धान भी भारतीय नाट्यशास्त्र के विकास का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों को बड़ा रुचिकर होगा। विशेषकर गणपति शास्त्री ने दक्षिण-भारत में भास के जो नाटक ढूँढ़ निकाले हैं उनके साथ इनकी तुलना करने से कई महत्त्व-पूर्ण बातें ज्ञात हो सकती हैं। मातृसेत के (दूसरी शताब्दी), जिसके अभी तक केवल चीनी और तिब्बती संस्करण पाये जाते थे, संस्कृत-संस्करण का कुछ अंश भी इन्हीं हस्त-लिखित पुस्तकों में पाया गया है। इनके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार का लेख-समुदाय भी प्राप्त हुआ है, जिनसे खोटान-देश-वासियों के साधारण जीवन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। खोटान के समीप निया नदी के पास एक मिट्टी के ढेर में सर मार्कस्टीन को लगभग २०० लकड़ी के तख़्ते मिले हैं, जिन पर खरोष्ठी-लिपि और प्राकृत-भाषा में कुछ अङ्कित है। इस लेख में कुछ ऐसे शब्द भी मिले हैं जिनका प्राकृत से नहीं, वरन चीनी-भाषाओं से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अतएव इनका अर्थ निकालना बिलकुल लोहे के चने हैं। ए० एम० बोयर, ई० जे० रेपसन और ई० सनार्ट ने इन अंशों का सम्पादन करने का प्रयत्न किया है। इनसे तत्कालीन सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं, तीसरी शताब्दी की शासन-व्यवस्था का भी पूरा विवरण मिलता है।

उपर्युक्त अनुसन्धानों से तुर्किस्तान का पुरातत्त्व-सम्बन्धी महत्त्व भली भाँति प्रकट हो जाता है, किन्तु इनके अतिरिक्त और भी फुटकर लेखों का एक बृहत् सङ्ग्रह शोधकों के हाथ लगा है, जो यद्यपि एक प्रकार

से बौद्ध-साहित्य के ही अन्तर्गत है, किन्तु ऐसी भाषाओं में लिखा हुआ है जिनका संसार को अभी तक कुछ भी पता नहीं था। इसलिए भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में इनसे जो महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होंगी उनका मूल्य उन लेखों के विषय से कहीं अधिक होगा। जर्मनी के दूसरे दल ने बर्लिन में जो सामग्री एकत्र की थी उस पर प्रोफ़ेसर सीग और डाक्टर सीगलिंग बराबर १९ वर्ष तक कठिन परिश्रम करते रहे। अन्त में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन लेखों में दो भिन्न भिन्न भाषायें पाई जाती हैं, जिनका केवल व्याकरण ही नहीं, बरन शब्द-कोष भी सर्वथा पृथक् पृथक् है। उपर्युक्त विद्वानों ने पहली भाषा के लेखों का कुछ भाग अभी सुलझाया भर है, अभी तक किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी नहीं हो सकी है। दूसरी भाषा का एक भी लेख अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है।

उपर्युक्त पहली भाषा का नाम तोखारियन भाषा रक्खा गया है। प्रोफ़ेसर एफ़० के० म्युलर ने इस नाम को प्रामाणित करना चाहा है। उनको तुर्की-भाषा की एक पुस्तक मिली थी, जिसके अन्त में लिखा हुआ था "यह मैतृसिमित नामक पुस्तक के दशवें अध्याय का अन्त है। यह पहले किसी भारतीय भाषा से तोखारियन भाषा में अनुवादित हुई थी, और तोखारियन भाषा से तुर्की-भाषा में इसका रूपान्तर किया गया है।" ऐसा मालूम होता है कि तोखारियन इन्डोसीदियन लोगों की भाषा थी, अतएव यह भारतीय आर्य-परिवार में ही परिगणित होनी चाहिए। किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि इस भाषा की पश्चिमी आर्य-भाषाओं—जैसे यूनानी, लैटिन, जर्मन आदि भाषाओं—से अत्यधिक समानता है। यह भाषा-विज्ञान का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि भारतीय आर्य-भाषायें दो समुदायों में विभक्त की जा सकती हैं, एक का नाम साटेम है और दूसरे का सेन्टम। भौगोलिक दृष्टि से भी पहले समुदाय का क्षेत्र पूर्व है और दूसरे का पश्चिम। तोखारियन भाषा सेन्टम समुदाय के अन्तर्गत मालूम होती है, यद्यपि यह मध्य-एशिया अर्थात् एक पूर्वी देश में बोली जाती रही होगी। इसके विरुद्ध इस भाषा में कुछ ऐसे शब्द भी पाये जाते हैं जो यूनानी और लैटिन भाषाओं से लिये हुए माल होते हैं।

उपर्युक्त इन दोनों भाषाओं के लेख उत्तरी तुर्किस्त टरफान में पाये गये हैं, किन्तु एक भाषा के कुछ अ लेख खोटान अर्थात् दक्षिणी तुर्किस्तान में पाये गये प्रोफ़ेसर ल्यूमैन ने इस तीसरी भाषा के टूटे-फूटे लेखों पुस्तकाकार प्रकाशित किया है, अधिकांश लेखों अर्थ समझाने की चेष्टा की है, कहीं कहीं व्याकरण-सम्ब नियम और साहित्यिक टिप्पणियाँ भी दी हैं। वा में उनका यह गवेषणापूर्ण शोध बहुत ही महत्त्वपूर्ण रोचक है। तोखारियन भाषा की भाँति यह भाषा संसार में आज तक बिलकुल अज्ञात थी। प्रोफ़ेसर ल्यू इसको उत्तरी-आर्यों की भाषाओं में से बतलाते किन्तु प्रोफ़ेसर ल्यूडर का विचार है कि यह शक-जाति भाषा होगी। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि यह फ़ा स्थित आर्यों के भाषा-परिवार में से है। प्राचीन तु भाषा के जो छिन्न-भिन्न लेख मिले हैं उनमें भी विशेष महत्त्व है, क्योंकि अभी तक तुर्की-भाषा का ग्रन्थ ११ वीं शताब्दी के पहले का नहीं मिलता था, इन लेखों के मिल जाने से तुर्की-भाषा का दो शता और पहले प्रचलित होने का पता चलता है। यह तु भाषा यूगरिक के नाम से प्रसिद्ध थी, क्योंकि इसको हार करनेवाले भी यूगरिक कहलाते थे। वास्तव में वर्तमान पूर्वी तुर्की-भाषा का प्राचीन रूप है और भी तुर्किस्तान और रूस की कुछ जातियाँ इस भाषा प्रयोग करती हैं। प्रोफ़ेसर लिको को टरफान की में आधुनिक पूर्वी तुर्की-भाषा के क़िस्से-कहानियों कहावतों की बहुत सी पुस्तकें मिली थीं, जिनको बड़े ही उत्तम ढङ्ग से सम्पादित किया है। वास्तव में रिक और वर्तमान तुर्की-भाषा में बड़ा अन्तर नहीं यूगरिक-भाषा कुछ अधिक पुरानी मालूम होती है, यही अन्तर है, अन्यथा यह तुर्की भाषा से जो मान तुर्की-साम्राज्य में बोली जाती है बहुत मि जुलती है। जीवित भाषा सदैव परिवर्तनशील करती है, इस कारण कुछ शब्द और मुहावरे भाषा में बदलगये हैं, मूल-स्वरूप में कुछ भी

वर्तन नहीं हुआ है । इन अनुसन्धानों से बौद्ध-साहित्य की भी अधिक श्रीवृद्धि हुई है, जैसे सुप्रसिद्ध सद्धर्म-पुण्डरीक, सुवर्णप्रभासूत्र आदि ग्रन्थों के यूगरिक-भाषा में अनुवाद मिल गये हैं । इनके अतिरिक्त हज़ारों अधूरी क़िस्से-कहानियाँ तिब्बती और चीनी ग्रन्थों के आधार पर लिखी हुई प्राप्त हुई हैं, जो ४४५ ईसवी के लगभग की लिपिबद्ध हुई मालूम होती हैं, अतएव इनके महत्व के विषय में कुछ कहना व्यर्थ है ।

कतिपय लेख इस प्रकार के भी सङ्गृहीत हुए हैं जो कुछ तो उइगरिक और कुछ पहलवी तथा सोवदियन भाषा में लिखे हुए हैं । ये तत्कालीन धार्मिक इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं । पहलवी-भाषा स्वयं दो भाषाओं की खिचड़ी मालूम होती है । सोवदियन भाषा के विषय में यथेष्ट समालोचना के बाद यह निश्चित हो चुका है कि यह फ़ारसस्थित आर्यों के भाषा-परिवार में से ही थी, और समरकन्द तथा फ़रगना में बोली जाती थी । इन लेखों की दो विशेषतायें हैं एक तो इनकी लिपि बहुत ही सुन्दर है, अक्षर बड़े घुमावदार बनाये गये हैं । दूसरा यह कि इनका विषय मेनीकीज़्म है ।

मेनीकीज़्म का प्रवर्त्तक एक 'मानी' था, जो बेबिलोनिया में २१६ ईसवी के लगभग पैदा हुआ था, किन्तु इस समय इस धर्म का यथार्थ रूप ज्ञात होना अतीव कठिन हो गया है । एक कारण तो यह है कि इसमें धर्म और दर्शनशास्त्र का विचित्र मिश्रण हुआ है और दूसरा यह कि मानी और उसके अनुयायियों के ग्रन्थ अप्राप्त हो गये हैं । इस समय जो कुछ सूचनायें मिल रही हैं वे सब उसके विरोधियों की हैं । मेनीकीज़्म एक प्रकार का द्वैतवाद है, उसका सिद्धान्त है कि सृष्टि में दो आदि-शक्तियाँ हैं, जो परस्पर-विरोधिनी हैं, जैसे आलोक और तिमिर, शुभ और अशुभ । इन दोनों शक्तियों में चिरन्तन काल से द्वन्द्व-युद्ध हो रहा है । किन्तु प्रकाश को अन्धकार से पृथक् करने से ही मनुष्य की मुक्ति होती है । तत्पश्चात् वह प्रकाशयुक्त शक्ति अपने आदि-निवास-स्थान स्वर्ग को लौट जाती है । मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं १—आप्त, २—जिज्ञासु, ३—विमुख । मृत्यु के पश्चात्, इनकी भिन्न भिन्न गति होती है । पहली श्रेणी के मनुष्य मृत्यु के पश्चात् अपने पुण्य-प्रताप से चन्द्रमा के लोक को प्रस्थान करते हैं, वहाँ से स्वर्ग में पहुँच जाते हैं । द्वितीय श्रेणी के मनुष्यों को कुछ दिनों तक निर्लेप होने के लिए अभ्यास करना पड़ता है । तीसरी श्रेणी के मनुष्य संसार में इधर-उधर भटका करते हैं और अन्त में अग्नि के द्वारा उनका नाश हो जाता है । तब उनको नरक भुगतना पड़ता है । मानी ने अपने ग्रन्थ और उपदेश अधिकतर अरामिया-भाषा में अङ्कित किये थे, शायद कुछ फ़ारसी-भाषा में भी लिखे हों । उसने और उसके अनुयायियों ने अपने सिद्धान्तों की जो व्याख्या की है वह कहीं कहीं बहुत ही मनोहर और हृदय-वेधक है । साईरस का कहना है कि मानी ने सीरिया की लिपि के आधार पर एक नवीन लिपि का निर्माण भी किया था । इन अन्वेषणों के पहले लोगों का विश्वास था कि मेनीकीज़्म का कोई ग्रन्थ संसार में शेष नहीं रहा है । अतएव जब टरफान के अनुसन्धानों से इस साहित्य के कुछ अंश मिल गये तब सबको बड़ा आश्चर्य हुआ । मानी के एक ग्रन्थ का कुछ अंश मिल गया है ।

यूगरिक, सोघदियन, पहलवी, और सीरिया की भाषाओं के अन्वेषणों में मेनीकीज़्म के अतिरिक्त नेस्टोरिनिज़्म की भी शिक्षायें मिली हैं । इस मत का आधार ईसाई-धर्म मालूम होता है । इसमें सबसे बड़ी विभिन्नता यही है कि जीसस क्राइस्ट की दूसरे प्रकार से व्याख्या की गई है । इस मत का प्रवर्तक कान्सटेंटिनोपल का पादरी नेस्टोरियस कहा जा सकता है । यह ४२८ ईसवी के लगभग पैदा हुआ था । इन्हीं नेस्टोरियन लेखों के बीच में एक पुस्तक मिली है, जिसमें बाइबिल के भजन पहलवी भाषा में दिये हुए हैं । शायद इनको ज़रकुसा के वे वंशज जो ईसाई-धर्म ग्रहण कर चुके थे, अपने व्यवहार में लाते होंगे ।

अन्त में यह लिखना कि उपर्युक्त लेखों के अतिरिक्त सैकड़ों टूटे-फूटे मङ्गोलियन, टनगूशियन, तिब्बती और चीनी भाषाओं के लेख पाये गये हैं, जो पुरातत्व-विज्ञान के लिए बड़े महत्व की चीज़ें हैं । इन लेखों का समय निर्धारित करना बड़ा ही कठिन काम है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि ये बहुत ही पुराने लेख हैं । काग़ज़ पर लिखे हुए कुछ

लेख तो दूसरी शताब्दी के मालूम होते हैं, क्योंकि जब चीन में साई-लन ने काग़ज़ बनाने का आविष्कार किया था, उसके बाद ही ये लेख लिखे गये होंगे। अधिकांश पत्र ४ वीं और ६ वीं शताब्दी के बीच के मालूम होते हैं। कुछ जगहों में जो चीनी लेख पाये गये हैं उनमें प्रायः समय दिया हुआ है, अतएव इनके सहारे पुरातत्त्वविशारदों को समय के अनुमान में कुछ आसानी अवश्य हो सकती है। तुर्किस्तान के अनुसन्धानों का महत्त्व बतलाने के लिए इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि नेपाल के अनुसन्धानों में सबसे प्राचीन लेख ११ वीं शताब्दी का पाया गया था।

अधिकतर निम्नलिखित लिपियों के लेख प्राप्त हुए हैं—खरोष्ठी, ब्राह्मी, सीरियन, (कुछ परिवर्तित रूप में) इस्ट्रेनजेलो, तिब्बती, मङ्गोलियन, चीनी और टनगूशियन। अन्तिम लिपि अभी तक ठीक ठीक नहीं पढ़ी जा सकी है, केवल अनुमान से विषय का कुछ पता चलता है। कहीं कहीं प्राचीन तुर्की-लिपि 'रून' भी पाई गई है।

तुर्किस्तान ने पुरातत्त्वविशारदों को केवल उपर्युक्त लेख ही नहीं दिये हैं, वरन वहाँ सैकड़ों ऐसे स्मारक बने हुए हैं जिनसे तत्कालीन बौद्ध-जीवन भले प्रकार समझ में आ सकता है। इनके देखने से उपर्युक्त लेखों के समझने में अच्छी सहायता मिल सकती है। उदाहरण के लिए सहस्र बुद्धदेववाली गुफा जो टनह्वाङ्ग के दक्षिण-पूर्व है सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें तथागत की विशाल मूर्त्तियाँ हैं, और छोटे-मोटे देवी-देवताओं की मूर्त्तियों की तो कोई गिनती ही नहीं है। इस गुफा की दीवारों पर भी सुन्दर चित्रकारी है। वहीं एक स्थान में खुदा हुआ है कि सबसे पहला मन्दिर ३६६ ईसवी में बनाया गया था। तुर्किस्तान भर में ऐसी गुफाओं की कमी नहीं है। निया नदी के किनारे की ओर टरफान की गुफायें विशेषकर दर्शनीय हैं। प्रोफ़ेसर ग्रनवीडेल, प्रोफ़ेसर वान लीको और सर मार्क स्टीन ने एक सुन्दर और सचित्र ग्रन्थ-माला में इन स्मारकों का पूर्ण विवरण दिया है।

दीनदयालु श्रीवास्तव

सेवा-धर्म ।

(१)

दिवाली की रात थी, पृथ्वी ने आका
की छवि धारण की थी । ज
तक दृष्टि जाती थी, दीपकों
सिवा कुछ दिखाई न देता था
जैसे आकाश के तारों की गिनत
नहीं । परन्तु यही चाँदनी (?) रात है, जब सहस्रों लाल
हाथ कल्पित ऐश्वर्य्य की इच्छा में पड़कर अपनी पूँ
लुटा बैठते हैं, और फिर अपनी मूर्खता पर बैठकर रोते हैं
मनुष्य परिश्रम नहीं करना चाहता, परन्तु उसके मी
फल खाना चाहता है । आशा बुद्धि को धोखा दे जात
है । पूरनचन्द भी इसी मन्त्र से मुग्ध हो चुका था ।
दिन-रात जुआ खेलता रहता था । दिवाली के दि
में तो उसे खाने-पीने की भी सुध न रहती थी ।
विश्वास हो गया था कि किसी न किसी दिन भा
चमकेगा । आशा बार बार निराशा का रूप धारण कर
थी, परन्तु पूरनचन्द हार नहीं मानता था, और भाग्य
भरोसे बराबर पाँसा फेंकता रहता । वह एक द
में ख़ज़ानची था । दिवाली निकट आई तो दफ़्र
अनुपस्थित रहने लगा । परन्तु मास के अन्तिम दिनों
दफ़्र जाना आवश्यक हो गया । स्टाफ़ के वेतन
बिल बनाना था । दैवयोग से दिवाली पहली नवम्
को थी । ३१ अक्टूबर को वेतन बाँटने के लिए रु
आया, पर पूरे चार बजे । क्लर्क घर जा चुके
वेतन उस दिन बाँटा न जा सका । परन्तु पूरनचन्द ने अप
वेतन उसी समय ले लिया और झूमता-झामता वह घर
चला । दिवाली की रात की सामग्री मिल गई थी ।
को जब लक्ष्मी-पूजा हो चुकी तब वह दीपमाला दे
के बहाने घर से चला और जुए के अड्डे पर जा पहुँच
दुर्भाग्य पहले ही से खड़ा देख रहा था, जाते ही सब
हार गया । अब उसकी दशा उस पक्षी के समान थी
उड़ने से पहले ही परकट हो चुका हो । उस स
उसकी बेबसी कैसी करुणामय, कितनी हृदयद्रावक, हो
है । वह उड़ना चाहता है, परन्तु अपने कटे हुए परों

देख कर ठण्डी साँस भरता है और तड़प कर रह जाता है। पूरनचन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो दिवाली की रात के साथ ही उसका सौभाग्य भी चला जा रहा है। चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, परन्तु कहीं से रुपया मिलने की आशा न पाई। एकाएक उसके हृदय में एक विचार आया। आशा सामने खड़ी दिखाई दी—स्टाफ़ के वेतन का रुपया दफ़्तर में पड़ा था और वह ख़ज़ानची था।

पूरनचन्द पर नशा सा छा गया। वह उड़ता हुआ दफ़्तर की ओर चला। रात के दस बज चुके थे, दीपमाला के वसन्त में शिशिर के चिह्न दिखाई देने लगे थे, बाज़ारों की रौनक़ कम हो रही थी। परन्तु पूरनचन्द की आँखें इस ओर से बन्द थीं। वह इस प्रकार भागता चला जा रहा था, जैसे किसी बीमार के लिए कोई डाक्टर को बुलाने जा रहा हो। दफ़्तर में पहुँचा तो चौकीदार दिखाई दिया। पूरनचन्द का हृदय लरज गया। चौकीदार से पूछा—कौन है ?

“मैं हूँ, गङ्गादीन ! कहो क्या हाल है ?”।

गङ्गादीन ने स्वर से तुरन्त पहचान लिया, और आगे बढ़ कर बोला—आइए बाबू साहब, बाज़ार में तो ख़ूब रौनक़ हो रही है। आप यहाँ कैसे भूल पड़े ?’

पूरनचन्द का कलेजा धड़क रहा था, परन्तु जीभ पूरी पूरी बस में थी, हँस कर बोला—कुछ काग़ज़ भूल गया था, ज़रा दरवाज़ा खोल दे।

गङ्गादीन ने दरवाज़ा खोल दिया। यदि कोई और होता तो कदाचित् वह न मानता, परन्तु पूरनचन्द ख़ज़ानची था, उसकी बात वह कैसे टालता। कई बार एडवान्स की आवश्यकता आ पड़ती थी। पूरनचन्द कमरे में पहुँचा और रोशनी करके मेज़ के सामने बैठ गया। इस समय उसका मन ऐसा घबराया हुआ था, जैसे कबूतर बाज़ के पञ्जे में फँस गया हो। बार बार विचार आता था कि यह कुकर्म मुझे नष्ट कर देगा। परन्तु इस अन्धकार में आशा का प्यारा चेहरा भी कभी कभी दिखाई दे जाता था। अन्त में उस पर आशा का जादू चल गया। उसने सेफ़ खोल कर चार सौ रुपये के नोट जेब में डाल लिये और कमरा बन्द करके वह बाहर निकल आया। इस समय उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो सफलता की एक सीढ़ी चढ़ आया है, यद्यपि उसका एक एक पद विनाश की ओर जा रहा था।

थोड़ी देर बाद पूरनचन्द फिर उसी जुए के अड्डे में जा पहुँचा जहाँ भाग्य फूटता है और बुरे दिन हँसते हैं। आशा रास्ता दिखा रही थी, मगर दुर्भाग्य ओट में खड़ा मुस्कराता था। पूरनचन्द ने फिर दाँव लगाये और फिर सब कुछ हार गया। अब चारों ओर अँधेरा था। परन्तु उस अन्धकार से अधिक डरावनी वह उषाकाल की सफ़ेदी थी जो शनैः शनैः निकट आती जाती थी। इस सफ़ेदी से पूरनचन्द इतना भयभीत था कि उसकी कल्पना ही से उसकी आत्मा काँप जाती थी। सोचता था, क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि कल सवेरे सूरज ही न निकले। परन्तु यह कैसे हो सकता था। पूरनचन्द घर पहुँचा। इस समय उसके पैर ऐसे लड़खड़ा रहे थे, जैसे किसी ने शराब पी हो। उसके पिता रायसाहब सुरजनमल धनाढ्य पुरुष थे, परन्तु उनकी कृपणता सारे नगर में प्रसिद्ध थी। पूरनचन्द को कई बार विचार आया कि चल कर उनके सामने सारी बात खोल दूँ तो वे मेरे लिए चार सौ रुपये का मुँह न देखेंगे। परन्तु फिर विचार आता कि यह नहीं होगा। यदि ऐसे भाग्य होते तो वे मेरे लिए मुझे कोई कारख़ाना न खोला देते, बेकार लज्जित हूँगा। कोई और उपाय सोचना चाहिए। अब उसे समझ आ गई थी, आशा कोई नया धोखा न दे सकी। उसने सारी रात आँखों में काट दी। परन्तु सवेरा होते होते उसका धैर्य्य कुछ बँध चुका था। एक पाप पर पर्दा डालने के लिए नये पाप की तैयारी हो रही थी। उस समय उसकी आँखें अपने नौकर रौनकी पर लगी थीं।

(२)

रायसाहब सुरजनमल के तीन नौकर थे। उनमें रौनकी सबसे पुराना था। उसने अपने जीवन का अधिकांश भाग रायसाहब ही की सेवा में व्यतीत किया था। बोलता तो ऐसा जान पड़ता, मानो लड़ रहा है। काम से भी जहाँ तक हो सकता कतरा जाता था। हाँ, दूसरे नौकरों को डाँट-डपट करना ख़ूब जानता था। वह इस काम को ऐसी सख़्ती से पूरा करता कि नौकर बिलबिला उठते थे। रौनकी के इस दुर्व्यवहार के विरुद्ध नौकर प्रायः रायसाहब

के सामने रोते रहते थे, परन्तु वे रौनकी ही को सच्चा कह कर उन्हें फटकार देते थे। इससे रौनकी का चेहरा खिल जाता था, अकड़ कर कहता—मेरा तुमने क्या बिगाड़ लिया।

परन्तु रौनकी में कोई गुण न हो, यह बात न थी। वह स्वामी के लिए प्राण तक देने को तैयार रहता था। रायसाहब को उस पर रुपये-पैसे के मामले में पूरा पूरा भरोसा था। उनको इस बात का निश्चय हो गया था कि रौनकी मरता मर जायगा, परन्तु एक पाई भी इधर-उधर नहीं करेगा। कई अवसर ऐसे आये जब रौनकी चाहता तब सैकड़ों रुपये उड़ा सकता था। माया ने सुनहरी जाल बिछाया, परन्तु रौनकी ने अपने मन को डाँवाडोल नहीं होने दिया। वह पराये रुपये को मिट्टी के समान समझता था। रौनकी के इस गुण ने उसके सारे अवगुणों पर पर्दा डाल दिया था। रायसाहब उस पर लट्टू थे।

(३)

दिवाली के दूसरे दिन प्रातःकाल रौनकी अपने कमरे में बैठा गुड़गुड़ी पी रहा था, और आँखें बन्द किये किसी गहरे सोच में मग्न था। इतने में पूरनचन्द भागा भागा अन्दर आया और बोला, "रौनकी, मुझे बचा लो।"

आवाज़ में करुणा भरी हुई थी, शब्दों में घबराहट। रौनकी के हाथ से गुड़गुड़ी छूट गई। उसे पूरनचन्द से असीम प्रेम था। उसने उसे गोदी में खिलाया था। वह रात्रि के समय प्रायः बेसुध पड़ा सोता रहता था। परन्तु जब कभी पूरनचन्द बीमार हो जाता तब वह सारी सारी रात उसके सिरहाने बैठ कर काट देता था। कई मनुष्यों ने उसे अधिक वेतन पर अपने यहाँ ले जाना चाहा, परन्तु पूरनचन्द के विचार से वह कहीं न गया। प्रेम ने पैरों में जंजीर डाल दी थी। उसका कोई बच्चा न था, परन्तु वह पूरनचन्द से पुत्र के समान स्नेह करता था। जिस प्रकार वन के वृक्ष को जल देनेवाला उस वृक्ष की शाखाओं और डालियों से प्यार करने लगता है, उसी प्रकार रौनकी पूरनचन्द और उसके भविष्य को प्यार करने लगा था। जब उसे आयु में बड़ा होते देखता तब उसका हृदय हर्ष से फूल उठता था। मानो वह उसका नौकर नहीं, पिता था। वह जब कभी एकान्त में बैठता तब पूरनचन्द ही के विषय में सोचता रहता था। वह इस समय भी उसी के विचार में मग्न था। सोचता यह था कि रायसाहब क्यों नहीं इसका ब्याह जल्द कर देते। रायसाहब की दूर-दर्शिता उसके लिए कृपणता थी। एकाएक पूरनचन्द को कमरे में आते देख कर उसका कलेजा हिल गया। घबरा कर बोला—क्यों सरकार! मामला क्या है?

(४)

यह कहते कहते रौनकी ने कोने में पड़ी हुई लाठी उठा ली। वह इस तरह तैयार हो गया, जैसे पूरनचन्द के पीछे कोई भयानक डाकू आ रहा हो। पूरनचन्द के चिन्तित मुख पर एक क्षण के लिए हँसी की रेखा आ गई, जैसे रात्रि को आकाश में जुगनू चमक जाता है। उसने ठण्डी साँस भरी और कहा—रौनकी, लाठी रख दो। इसकी आवश्यकता नहीं।

रौनकी के हृदय से बोझ सा उतर गया। लाठी रखते हुए बोला—तो सरकार! ऐसी कौन आफ़त आई है, जो मुँह सूख गया है।"

पूरनचन्द ने चारों ओर इस प्रकार देखा, जैसे चोर चोरी करने से पहले देखता है। घोर चिन्ता ने बुद्धि का नाश कर दिया था। उसको डर था कि कहीं कोई मुझे देख न ले। धीरे से बोला—मेरे सिर पर सचमुच आफ़त ही आ गई है। तुम चाहो तो मुझे बचा सकते हो। कहो मेरा एक काम करोगे?

रौनकी ने सीने पर हाथ रख कर उत्तर दिया, "हुज़ूर हुक्म दें तो मैं आग में कूद पड़ूँ।"

पूरनचन्द का चेहरा चमक उठा। निराशा के अन्धकार में आशा की किरण चमक उठी। उसने जेब से एक हार निकाला और रौनकी के हाथ पर रख कर कहा—"इसे बाज़ार ले जाओ और बेच आओ। मुझे अ रुपये की आवश्यकता है।"

रौनकी पर बिजली सी गिर पड़ी। हार देख कर वह इस प्रकार डर गया, जैसे किसी को सर्प ने सूँघ लिया हो। उसकी जिह्वा बन्द हो गई। मस्तिष्क में सहस्रों विचार समा गये। रह रह कर सोचता था कि पूरनचन्द को ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी है जो हार बेचने तक दशा पहुँच गई। और फिर वह कोई निर्धन कङ्गाल नहीं

रायसाहब चाहें तो आधा शहर ख़रीद सकते हैं। उनको आभूषण बेचने की क्या आवश्यकता है। रौनकी समझ गया कि पूरनचन्द यह काम रायसाहब से छिपा कर कर रहा है। परन्तु चोरी क्यों करता है, इसका कारण न समझ सका। विचारों के समुद्र में चिरकाल तक डुबकियाँ लगाने पर भी उसे किनारा न मिल सका। उसने गम्भीरता से पूरनचन्द की ओर देखा। दृष्टि में हृदय रक्खा हुआ था। पूरनचन्द ने उसे सोच-विचार में निमग्न देखा तो फिर घबरा गया। आशा की किरण आँखों से फिर ओझल हो गई।

रौनकी ने पूछा—सरकार, मामला क्या है? ऐसी ज़रूरत क्या हो गई, जो हार बेच रहे हो?

पूरनचन्द की आँखों में आँसू भर आये। उसने कोई उत्तर न दिया, हार जेब में डाल कर वह वापस चलने लगा। उस समय उसका मुख निराशा और शोक की जीवित जाग्रत मूर्ति था। रौनकी के कलेजे पर साँप लोट गया। पीछे दौड़ कर बोला—सरकार, तुमको कितने रुपये की ज़रूरत है?

सूखे धानों में पानी पड़ गया। पूरनचन्द ने फिर उत्साहित होकर उत्तर दिया, "चार सौ की।"

"रुपया कब चाहिए?"

"अभी।"

रौनकी के पास कोई छः सौ रुपये रक्खे थे। यह रुपया उसने कई वर्षों में इकट्ठा किया था। वह सारा वेतन घर नहीं भेज दिया करता था। तीन-चार रुपये मासिक बचा रखता था। ये रुपये उसने अपने कमरे के एक कोने में दबा रक्खे थे। रौनकी ने सोचा कि हार ले कर बाज़ार में कहाँ बेचता फिरूँगा। अपने पास से रुपये दे देता हूँ। क्या हानि है? पूरनचन्द का हाथ सदा तो इसी प्रकार तङ्ग नहीं रहेगा। जब उसके हाथ चार पैसे आयेंगे तब उससे अपना रुपया वापस लेकर हार लौटा दूँगा। इस समय उसका काम चल जायगा। यह सोच कर उसने पूरनचन्द के हाथ से हार ले लिया और कहा—अच्छा सरकार, यह काम अभी कर देंगे।"

पूरनचन्द के जान में जान आई। उसको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो रौनकी उसके लिए नौकर नहीं, देवता है।

(४)

थोड़ी देर बाद रौनकी ने कमरे का दरवाज़ा बन्द किया और पृथ्वी खोदने लगा। इस समय उसका कलेजा ज़ोर ज़ोर से धड़क रहा था। उसने चोरी नहीं की थी, कोई कुचेष्टा नहीं की थी। परन्तु फिर भी उसका हृदय काँप रहा था। वह केवल यह चाहता था कि पूरनचन्द का काम हो जाय, और उसको रायसाहब के सामने अपने अपराध को प्रकट न करना पड़े। यद्यपि वह नितान्त बेसमझ और अनपढ़ था तो भी उसे विश्वास होगया था कि यदि पूरनचन्द का यह अपराध, जिसके विषय में वह आप भी अभी तक अन्धकार में था, रायसाहब के सामने प्रकट होगया तो पूरनचन्द का भविष्य काला हो जायगा। इस विचार से उसका लोहू सूखा जाता था। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु पूरनचन्द का उदास मुँह देख कर उसका धीरज छूट जाता था। उसने जल्दी जल्दी भूमि खोदी, रुपया गिन कर निकाला और भूमि को फिर से बराबर कर दिया। इस समय उसके मुख पर फिर वही शान्ति टपकने लगी थी। कुछ देर बाद पूरनचन्द फिर निराश और चिन्तित आया और हिचकिचाते हुए बोला, रौनकी!

रौनकी गुड़गुड़ी पी रहा था। उसने मुख से कोई उत्तर न दिया, परन्तु हाथ से अपने सिरहाने की ओर इशारा कर दिया। पूरनचन्द ने रुपया देखा तो मृतक शरीक में प्राण आ गये। रौनकी की ओर कृतज्ञता से देखता हुआ चला गया।

एकाएक रौनकी चौंक पड़ा, जैसे किसी की कोई बहुमूल्य वस्तु गुम हो जाती है। वह भूमि खोदते समय हार दबाना भूल गया था। वह झपाटे से अपनी चारपाई के सिरहाने पहुँचा। हार वहीं पड़ा था। सोचने लगा, अब इसे रात को दबाना चाहिए। दिन में किसी को सन्देह भी पड़ गया तो लेने के देने पड़ जायँगे। यह निश्चय करके उसने हार कमर में लपेट लिया। फिर वह अपने काम में लग गया, परन्तु सारे दिन चिन्ता लगी रही।

रात को रौनकी ने दरवाज़ा बन्द किया और भूमि खोदने लगा। परन्तु हाथों में शक्ति न थी। हृदय इस प्रकार धड़क रहा था, जैसे कोई सिपाही पकड़ने आ रहा

हो। शरीर वर्षों के रोगी के समान निढाल हो रहा था। यह होनेवाली घटना का पूर्वरूप था, पर रौनकी इसको न जानता हुआ अपने काम में लीन था। उसके हाथ-पैर न चलते थे। परन्तु वह भूमि खोद रहा था। सहसा किसी ने दरवाज़े पर हाथ मारा। रौनकी के मुख पर पसीने की बूँदें टपकने लगीं। सर्दी के दिन थे, उसकी सांस छुटी जा रही थी, तथापि उसने साहस से पूछा—ऐसे वक़्त कौन है?

"दरवाज़ा खोल दे।"

रौनकी का रङ्ग उड़ गया। यह रायसाहब की आवाज़ थी। शेर की गर्ज सुन कर जो दशा बकरी की होती है वही दशा इस आवाज़ को सुन कर रौनकी की हुई। उसे अपना अपमान आँखों के सामने खड़ा हुआ दिखाई दिया। उसने बोलना चाहा, परन्तु कण्ठ से शब्द न निकल सका। रायसाहब ने कड़क कर कहा—दरवाज़ा खोल दे।

रौनकी ने लपक कर हार को बिस्तर के नीचे छिपा दिया। टिमटिमाता हुआ दीपक बुझा दिया और दरवाज़ा खोला। उस समय उसके पाँव मन मन के भारी हो रहे थे। रायसाहब ने अन्दर आते ही कहा, 'दीपक क्या हुआ?"

रौनकी ने उत्तर दिया, "सरकार! बुझा दिया।"

"अभी तो जल रहा था। बुझा क्यों दिया? जल्दी जलाओ।"

रौनकी की शङ्कायें पक्की होने लगीं, इधर-उधर झाँकने लगा। वह चाहता था कि यह समय टल जाय तो पीछे सैकड़ों उपाय रचे जा सकते हैं। समय अपराध के छिपाने के लिए सबसे बड़ी सहायता है। परन्तु रायसाहब ने उसे अवसर न दिया जेब से दियासलाई निकाल कर स्वयं दीपक जला दिया, और भूमि की ओर देख कर बोले—यह तू क्या कर रहा था?

रौनकी ने हाथ बाँध कर उत्तर दिया—सरकार, जो महीना मिलता है उससे बचा बचा कर किसी वक़्त के लिए मैं यहाँ कुछ दाब दिया करता हूँ।

"परन्तु आज क्या दाबने लगा था? अभी तो महीना भी नहीं मिला।"

रौनकी का मुँह बन्द हो गया। वह चुपचाप राय-साहब की ओर देखने लगा। रायसाहब ने आगे बढ़ कर भूमि से मिट्टी हटाई, और रुपयों की पोटली देखी। फिर बिस्तर हिलाया। उनका विचार था कि कदाचित् रौनकी ने जुआ खेला है, क्योंकि उससे और किसी प्रकार के पाप की उन्हें ज़रा भी आशङ्का नहीं थी। परन्तु उन्हें यह देख कर कैसा आश्चर्य्य हुआ कि रौनकी के बिस्तर के नीचे हार पड़ा है। वे उसे देख कर सिर से पाँवों तक काँप उठे। यदि कोई दूसरा मनुष्य यही काम करता, तो सम्भव है रायसाहब क्षमा कर देते, परन्तु रौनकी को रँगे हाथों देख कर उनका रक्त उबलने लगा। उन्होंने अत्यन्त नम्रता से, जो प्रचण्ड क्रोध से भी अधिक भयानक होती है, पूछा—यह हार कैसे उड़ाया? यह तो अभी थोड़े ही दिन हुए ख़रीदा था।

रौनकी में चाहे लाखों अवगुण थे, परन्तु वह चोर न था। इस गुण के लिए रायसाहब प्रायः उसकी प्रशंसा किया करते थे। इस समय उसकी वह सारी कीर्ति मिट्टी में मिलने लगी थी। रौनकी ने सोचा, अब सारी घटना साफ़ साफ़ कह देनी चाहिए। पूरनचन्द रायसाहब का बेटा ही तो है, उसे खा तो नहीं जायेंगे। यह सोच कर उसने धैर्य्य के साथ सिर ऊँचा किया और हाथ बाँध कर उत्तर दिया—सरकार! मामला यों है कि … …

इतने में उसकी दृष्टि पूरनचन्द पर गई। वह इस तरह काँप रहा था, जैसे किसी को बुख़ार चढ़ रहा हो। उसने एक विचित्र भाव से रौनकी की ओर देखा, और सिर झुका लिया। रौनकी को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे पूरनचन्द ने उसे कहा है—तुम कमीने ही निकले। मैंने तुम पर विश्वास किया था, परन्तु तुम इसके योग्य न थे! हा! यदि मैं पहले सोचता तो इस समय इस तरह अपमान न होता।

जिस प्रकार वायु का रुख़ बदलने से पतङ्ग का रुख़ बदल जाता है, उसी प्रकार इस दृष्टि से रौनकी का विचार बदल गया। उसने निश्चय कर लिया कि स्वयं अपमान सह लूँगा, परन्तु पूरनचन्द पर उँगली न उठने दूँगा। यह सोच कर उसने रायसाहब से कहा—सरकार! मामला यों है कि मैंने चोरी की है।

यह पुस्तक वितरित न की जाय

रायसाहब उसकी चारपाई पर बैठ गये। इस समय उनको ऐसा दुख हुआ, मानो लाखों की हानि होगई हो। परन्तु पूरनचन्द मन ही मन में उसकी सराहना कर रहा था। संसार में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं जो अपने स्वार्थ के लिए दिन-रात झूठ बोलते रहते हैं। परन्तु दूसरों के लिए झूठ बोलनेवालों की संख्या कितनी है!

रायसाहब थोड़ी देर चुप रहे, और फिर बोले—तुम सवेरा होने से पहले पहले मेरे मकान से निकल जाओ। बस, तुम्हारा यही दण्ड है।

रौनकी और पूरनचन्द दोनों की आँखों में आँसू आगये।

(६)

इसके एक वर्ष पश्चात् रायसाहब सुरजनमल का देहान्त हो गया।

अब सारे रुपसे-पैसे का स्वामी पूरनचन्द था। उसने क्रिया-कर्म से निपट कर रौनकी के नाम चार सौ रुपया का मनीआर्डर भिजवा दिया, और साथ ही पत्र लिखा कि तुम तुरन्त मेरे पास आ जाओ। परन्तु एक सप्ताह पश्चात् मनीआर्डर वापस आगया। साथ ही रौनकी के भाई का पत्र आया, जिसमें लिखा था कि उसे मरे हुए एक वर्ष हो गया है। वह जब से आपके यहाँ से आया तब से वह सदैव उदास ही रहा। यह उदासी उसके मुख से मरणकाल तक नहीं गई। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे उसे कोई रोग है। परन्तु क्या रोग है, यह किसी को पता नहीं लग सका।

पूरनचन्द पर इस पत्र का ऐसा प्रभाव हुआ कि कई दिन तक वह रोता रहा। अब उसने जुआ खेलना छोड़ दिया है और रौनकी के नाम पर एक धर्मशाला बनवा दी है। उसमें उसकी मूर्ति रक्खी है। लोग उसकी मूर्खता पर हँसते हैं। परन्तु वह समझता है कि रौनकी के बलिदान के सामने इसकी इतनी भी गणना नहीं है जितनी सूर्य्य के सामने परमाणु की।

सुदर्शन

विश्व-धर्म।

प्रकृति के साथ मनुष्य अपना जैसा सम्बन्ध स्थापित करता है वही उसका धर्म हो जाता है। संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं उन सबका उद्देश एक ही है। वह है विश्व से मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करना। मनुष्य को प्रकृति ने चारों ओर से घेर रक्खा है। वह उसी में आबद्ध है। परन्तु किसी अतिप्राकृत और अतीन्द्रिय सत्ता पर मनुष्य का विश्वास चिरन्तन है। वह जानता है कि प्रकृति से भी अतीत कोई है। वह क्या है, इसे वह अच्छी तरह भले ही न समझ सके, किन्तु उसे दृढ़ विश्वास है कि जब तक वह इस प्राकृतिक मायापाश को छिन्न कर ऊपर नहीं उठेगा तब तक वह अपना यथार्थ धर्म नहीं देख सकेगा। प्रकृति ही मनुष्य के हृदय में विस्मय का भाव उत्पन्न करती है। उसी के साथ मनुष्य का पहला सम्बन्ध होता है। कभी वह प्रकृति को मायाविनी समझ कर उससे अपना सम्बन्ध ही छोड़ देना श्रेयस्कर समझता है। कभी वह उसको शक्ति के रूप में देख कर अपने को उससे योग-युक्त करना चाहता है। परन्तु प्रकृति चाहे शक्ति हो या माया, उसी के भीतर हमारी यात्रा होती है। यदि वह बन्धन है तो भी बिना उस बन्धन को स्वीकार किये मुक्ति का उपाय नहीं है। प्रकृति से हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। अब विचारणीय यह है कि संसार के भिन्न भिन्न धर्मों ने इस सम्बन्ध को किस रूप से स्वीकार किया है। यही इस लेख का उद्देश है।

प्रकृति के साथ हमारा पहला सम्बन्ध व्यावहारिक होता है। पृथ्वी पर अवतीर्ण होते ही मनुष्य को प्रकृति से व्यवहार करना पड़ता है। कभी एक ऐसा समय था जब मनुष्य प्रकृति पर ही आश्रित था। परन्तु अब सर्वत्र मनुष्य की गति है। प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित करने में मनुष्य ने सबसे पहले यह शिक्षा ग्रहण की कि हमें अपने जीवन की रक्षा के लिए सङ्ग्राम करना पड़ेगा। जो सङ्ग्रामशील हैं, जिनकी गति अप्रतिहत है, वही प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध रख सकते हैं। जिनमें यह शक्ति नहीं है उन्हें प्रकृति स्वयं नष्ट कर देती है। इसी

सम्बन्ध से मनुष्य की कार्य-कारिणी शक्ति उद्बोधित हुई और इसी से मनुष्य प्रकृति-पूजा की ओर आकृष्ट हुआ। इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण आदि प्रकृति की प्रचण्ड शक्तियों के आगे मनुष्य की शक्ति अत्यन्त क्षुद्र प्रतीत होती थी। अतएव उनके प्रति मनुष्य के हृदय में विस्मय और आतङ्क का होना स्वाभाविक था। इसी से उनको अपने अनुकूल करने के लिए मनुष्य उनकी पूजा करने लगा। जब उसे यह जान पड़ा कि प्रकृति की ये शक्तियाँ उसके अनुकूल हैं तब उसके हृदय में भक्ति और आनन्द का प्रादुर्भाव हुआ। यही तीन भाव—विस्मय, भक्ति और आनन्द—मनुष्य की समस्त धार्मिक भावनाओं के मूल कारण हैं। इन भावों को मनुष्य ने अपनी सभ्यता के प्रथम स्तर में ही प्राप्त कर लिया।

प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित होते ही पहले पहल यही जान पड़ता है कि प्रकृति हमारे विरुद्ध है। प्रकृति में व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं है। उसका जो एक उद्देश है उसी की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु है। वह असंख्य का विनाश कर अपने इस उद्देश को पूर्ण करती है। परन्तु जब प्रकृति से अधिक परिचय हो जाता है, जब हम उसका अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तब हम यह जान जाते हैं कि प्रकृति के इस सङ्ग्राम में प्रतियोगिता नहीं, सहयोगिता है। प्रकृति केवल सामञ्जस्य और समन्वय स्थापित करने में व्यस्त है। व्यक्तित्व की पूर्णता तभी होती है जब व्यक्तित्व विश्व के मङ्गल में विलुप्त हो जाता है। प्रवृत्ति के त्याग, इच्छा के विसर्जन और अहङ्कार के नाश से व्यक्तित्व का लोप होता है। जब हम प्रकृति के इस बृहत् उद्देश से अवगत हो जाते हैं तब हम उसे अपनी सहचरी समझने लगते हैं। तब हमसे उसका जो सम्बन्ध स्थापित होता है वह साहचर्य का होता है। इस साहचर्य में मनुष्य केवल आनन्द देखता है। अनन्त आकाशमण्डल, उत्तुङ्ग पर्वतराशि, सस्य-श्यामला पृथ्वी, असीम समुद्र, इन्हें देख कर वह विस्मय से अवश्य अभिभूत होता है। परन्तु यह विस्मय ही तो प्रेम है। जितना ही प्रकृति से उसका सम्बन्ध घनिष्ठ होता है उतना ही अधिक उसका विस्मय बढ़ता है। आकाशमण्डल के नक्षत्र, लोकों का रहस्य, पृथ्वी का चिरनवीन सौन्दर्य, समुद्र का अक्षय भाण्डार—वह सभी को देखता है और सभी में एक ही नियम की विद्यमानता पाता है। जहाँ जीवन है वहाँ गति है और वहीं वैचित्र्य की अपरिमित लीला है। जहाँ मृत्यु है वहाँ स्थिति है और वहीं एकता का रहस मय दृश्य है। सब एक दूसरे से आबद्ध हैं। समुद्र से मे जल लेता है और मेघ से पृथ्वी जल पाती है। अन आकाश और पृथ्वी दोनों को एक ही सूत्र में किसी गूँथ दिया है। मनुष्य अपने को 'मैं' कहता है और प्रकृ को कहता है कि यह मैं नहीं हूँ। किन्तु मनुष्य औ प्रकृति दोनों ही एक के दो भाग हैं।

प्रकृति से तीसरा सम्बन्ध तब स्थापित होता है ज प्रकृति ज्ञेय होती है और मनुष्य ज्ञाता। व्यवहार परिचय होता है और मनुष्य की कर्म-शक्ति विकसि होती है। इसी से नैतिक धर्म का उद्भव होता है। भा के आनन्द में सङ्ग्राम की कठिनता दूर होती है और मनु का भोग पूर्ण होता है। इसी से प्रेममय धर्म की उत्प होती है। सबसे अन्त में ज्ञान है। जब तक सत्य का ज्ञा नहीं होता तब तक नीति और प्रेम में अपूर्णता ही रह है। यही कारण है कि धर्म में कर्म, भक्ति और ज्ञा तीनों का सम्मिलन होता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि स देशों में मनुष्यों की धार्मिक भावनाओं के कारण भि भिन्न नहीं हैं। तब मनुष्यों की धार्मिक साधनाओं इतनी भिन्नता क्यों है? संस्कृत के एक कवि ने तो इस कारण रुचि-वैचित्र्य बतलाया है—रुचीनां वैचित्र्यात् कुटिलनानापथजुषाम्। यदि रुचि-वैचित्र्य ही धर्मों भिन्नता का कारण मान लिया जाय तो इसकी मीमांसा करनी होगी कि मनुष्य वैचित्र्य की ओर झुक क्यों है। जिन महात्माओं ने धर्म का प्रचार किया उन्होंने सदैव मनुष्य-जाति की एकता पर ज़ोर दिया उन्होंने भिन्नता को दूर कर एकता ही स्थापित करने चेष्टा की है। परन्तु उनके प्रयास का परिणाम विपरीत हुआ है। बौद्ध-धर्म के अनुयायियों ने बौद्ध-धर्म के कर डाले। भगवान् ईसामसीह के धर्म की कितनी शाखायें हो गई हैं। मुसलमान-धर्म में भी भेद हो है। हिन्दू-धर्म तो अनेक सम्प्रदायों में विभक्त ही हो है। इसका कारण क्या है? मनुष्य की साधना

लक्ष्य एक है, परन्तु उसके पथ भिन्न भिन्न क्यों हैं ? यहाँ हम भिन्न भिन्न विद्वानों के कथनानुसार साधना का रहस्य बतलाने की चेष्टा करेंगे ।

संसार में भिन्न भिन्न जितने धार्म्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हैं उनके मूल में ऐसा कोई भी भाव वर्तमान नहीं है जो मानव-जाति की एकता का बाधक है । परन्तु जब किसी धार्म्मिक सम्प्रदाय में कठोरता आती है तब वह मनुष्यों को मिला नहीं सकता, किन्तु उनको पृथक् कर देता है । यही कारण है कि जब कोई सम्प्रदाय कृच्छ्र साधन को ही अपने धर्म का प्रधान अङ्ग स्वीकार कर लेता है या जब वह आचार-विचार को ही मुख्य स्थान देता है तब वह मनुष्यों में भेद कर डालता है । तब सम्प्रदाय अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए नियम बनाता है और उन्हीं नियमों के पालन में वह सदा सावधान रहता है । उसके अनुयायी सदैव बच बच कर चलते हैं, जिससे कभी नियमों का भङ्ग न हो जाय । नियम-पालन को ही धर्म मानने से कुछ ऐसा संस्कार हो जाता है कि जहाँ वह उन नियमों का अस्तित्व नहीं देखता वहाँ उसके हृदय में तिरस्कार का भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता है । यही कारण है कि यहूदी जाति अपने धर्म-नियमों के जाल में स्वयं फँस गई । धर्म के क्षेत्र में समस्त मानव-जाति को एकत्र करना और उनसे मेल रखना उसके लिए असम्भव है । वर्तमान हिन्दू-समाज ने भी धर्म के द्वारा ही अपने को समस्त मानव-जाति से पृथक् कर लिया है । जब कभी किसी देश में कोई धार्मिक आन्दोलन हुआ तब धर्म ने अपनी रस-मूर्ति को ही प्रकट करने की चेष्टा की है । उसने सभी कठोर बन्धनों को तोड़ कर मनुष्य-जाति को एक करने का प्रयत्न किया है । भगवान् ईसामसीह ने प्रेम और भक्ति का जो स्रोत बहा दिया था वह यहूदी-धर्म के कठिन शास्त्र-बन्धन में अवरुद्ध नहीं हुआ । यह स्रोत अभी तक जातियों की स्वार्थ-शृङ्खला को तोड़ कर मनुष्य को मनुष्य से मिलाने की चेष्टा कर रहा है । भगवान् बुद्ध की विश्व-मैत्री और करुणा ने समस्त एशिया को एक कर दिया था । नानक, कबीर, चैतन्य सभी साधकों ने रस के प्रवाह से मनुष्य के कृत्रिम प्राचीरों को ढहा कर मनुष्यत्व का एकत्व स्थापित किया था ।

धर्म की पर्यालोचना करने से यही विदित होता है कि सभी देशों में धर्म के प्रचारकों ने एक सत्य-धर्म का आविष्कार कर उसके प्रचार के लिए आत्मोत्सर्ग किया है । तो भी धर्म में भेद-हीन एकता कभी स्थापित नहीं हुई है । सभी धर्मों का सम्बन्ध किसी न किसी देश और काल से है । देश और काल से पृथक् कर देने पर धर्म निष्प्राण हो जाता है । बात यह है कि धर्म केवल तत्त्वों की समष्टि नहीं है । यदि सत्य का रहस्योद्घाटन ही धर्म का एक-मात्र उद्देश होता तो केवल ज्ञान-चर्चा में ही धर्म का स्वरूप उपलब्ध करना सम्भव हो जाता । परन्तु धर्म की आवश्यकता सत्य की प्रतिष्ठा की अपेक्षा जीवन के सङ्गठन में है । यदि हम धर्म से अनुष्ठान को पृथक् कर दें तो धर्म में जो कुछ अवशिष्ट रहेगा वह विज्ञान हो सकता है, दर्शन हो सकता है, पर धर्म नहीं हो सकता । ईश्वरीय ज्ञान देकर ही धर्म निश्चेष्ट नहीं रह सकता । उसका प्रधान कार्य है ईश्वर की प्राप्ति की चेष्टा । इसी उद्देश के साधन के लिए पूजा, उपासना आदि जातीय अनुष्ठानों की सृष्टि होती है । प्रत्येक जाति अपनी अपनी श्रेष्ठ सम्पत्ति लेकर ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना चाहती है । मन्दिरों के निर्माण में हिन्दू अपनी समस्त शक्ति को लगा कर उसी ईश्वर के विशाल ऐश्वर्य को देखना चाहता है जिसके लिए मुसलमान मस्जिदों में और ईसाई गिरजाघरों में प्रवेश करते हैं । इन सभी का उद्देश एक है । वह है ईश्वर से मानवात्मा का संयोग । किन्तु सामाजिक और व्यक्तिगत संस्कारों के कारण एक ही उद्देश की पूर्ति के लिए भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न अनुष्ठान स्वीकृत हुए हैं । जो धर्म-तत्त्व अनुष्ठान और समाज से पृथक् है वह मानव-जीवन पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता । हमारी समस्त सत्ता को जागृत कर जो हमारे समस्त जीवन को तृप्त कर सकता है वही धर्म है । धर्म के तत्त्व-मात्र से हमें तृप्ति नहीं हो सकती । विज्ञान अथवा दर्शन के द्वारा हम ईश्वर अथवा सत्य के स्वरूप को जान सकते हैं । उससे बुद्धि की तृप्ति हो सकती है, किन्तु हमारे जीवन को उससे सन्तोष नहीं हो सकता । यही कारण है कि साङ्ख्य अथवा वेदान्त धर्म का स्थान नहीं ले सके । ईश्वर को जान कर उससे सम्बन्ध स्थापित

करने की इच्छा होना स्वाभाविक है। हम अपने कर्म-जीवन में ईश्वर को प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं। प्रेम या भक्ति या कर्म इनको छोड़ कर और किसी से मनुष्य की तृष्णा नहीं जाती। धार्मिक की स्वभावतः यह इच्छा होती है कि वह अपने समस्त जीवन में ईश्वर की इच्छा को पूर्ण और समस्त विश्व में उसका राज्य स्थापित करे। वह भगवान् की सेवा के लिए उत्सुक होता है। वह अपने सुख-दुःख को अपने ही भीतर छिपा कर नहीं रखना चाहता। आनन्द में वह ईश्वर को अपने आनन्द का साक्षी बनाना चाहता है। दुःख में वह उसी के पास जाकर अपनी विपत्ति की कथा सुनाना चाहता है। जीवन में वह जो कुछ करता है उन सभी में वह भगवान् का सामीप्य चाहता है। यह भावोन्माद है। ज्ञान से इसका लोप हो सकता है। यह उन्माद मनुष्य को मोहावस्था में डाल देता है। परन्तु इसी मोहावस्था को वह दृढ़ता से रखना चाहता है, क्योंकि तभी उसके लिए ईश्वर अगम्य और अतर्क्य नहीं रहता है। वह कभी ईश्वर को स्वामी कहता है, कभी पिता मानता है और कभी मित्र समझता है। धर्म में यही भाव रहने के कारण सर्वसाधारण उसे सोत्कण्ठ ग्रहण करते हैं। साहित्य और कला में धर्म का यही भाव व्यक्त किया जाता है।

मानव-जाति का इतिहास इसका प्रमाण है कि कभी किसी भी जाति ने वस्तु-निरपेक्ष-भाव को ग्रहण करने के लिए आग्रह नहीं किया है। सत्य कोई वस्तु-निरपेक्ष पदार्थ है जो देश और काल से अतीत है, इस भाव को किसी ने भी अपने जीवन में स्थान नहीं दिया है। सत्य को उन्होंने अपने जीवन में ही उपलब्ध करना चाहा है। इससे सत्य सङ्कीर्ण नहीं होता, किन्तु वह प्रत्यक्ष हो जाता है। ईश्वर को सगुण बना कर कोई भी उपासक उसको सीमा-बद्ध नहीं करना चाहता, किन्तु उसको अपने लिए प्रत्यक्ष करना चाहता है। यही उसकी साधना है। यही उसकी उपासना है।

हमारी धर्म-साधना की गति दो ओर है, शक्ति की ओर और रस की ओर। शक्ति की ओर होने से साधना का परिणाम है दृढ़ विश्वास। यह विश्वास ज्ञान की सामग्री नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व पर हमारा जो विश्वा है वह अचल है। जिनका ऐसा अचल विश्वास है किसी भी अवस्था में अपने को निराश्रय अथवा निस्सहा नहीं समझते। यह विश्वास उनके लिए एक निश्चि आधार है। उसमें एक दृढ़ शक्ति है। जिनमें यह विश्वा का बल नहीं है उनका कोई अवलम्बन नहीं है। उनके हाथ आता है उसी को वे पकड़ने की चेष्टा करते और जब वह उनके हाथ से निकल जाता है तब उनको उस खोजने से भी सान्त्वना नहीं मिलती। जिन धर्मों में प्रकार का दृढ़ विश्वास है उनके अनुयायियों में शक्ति रहत है, किन्तु उद्वेग नहीं रहता। उनको यह दृढ़ निश्चय रहत है कि जीवन-यात्रा का एक गन्तव्य स्थान है, जहाँ उनक यात्रा की समाप्ति है। यदि उनको अपने कर्मों का प्रत्य फल नहीं मिलता तो भी वे जानते हैं कि वे कर्म-फल वञ्चित नहीं होंगे। विपरीत फल पाने पर भी वे उस वैपरीत्य पर ध्यान नहीं देते। वे अपने विश्वास पर अच रहते हैं कि कोई ऐसा भी स्थान है जहाँ वे पूर्ण स को उपलब्ध कर लेंगे। जीवन में हेर-फेर होता रहे, कि इस सत्य से कोई भी हमें वञ्चित नहीं कर सकता जिसमें यह शक्ति, यह अदम्य विश्वास रहता है वही ध विश्वासी है। वह उसी सत्य में विश्राम लेता है औ उसी सत्य पर निर्भर होकर काम करता है।

यह सच है कि ईश्वर सत्य-रूप से सबको धार करता है, सबको आश्रय देता है, परन्तु सच है पर भी यही पूर्ण सत्य नहीं है। पृथ्वी खूब दृढ़ है यदि उसमें यह कठिन दृढ़ता नहीं रहती तो ह निस्सङ्कोच उसका आश्रय नहीं ले सकते थे। परन्तु य यही कठिनता पृथ्वी का एक-मात्र चरम रूप हो तो वह ए पाषाणमयी भयङ्कर मरुभूमि हो जाती। इस कठिनता औ दृढ़ता के ऊपर रस का विकास होता है। वही उस चरम परिणति है। वह कोमल है, सुन्दर है औ विचित्र है। वही लीला है, ज्ञान है और चिरनवीनता है वहीं पृथ्वी का सार्थक रूप प्रकट होता है। मतलब कि नित्य स्थिति के ऊपर एक नित्य गति की लीला न र से उसकी सम्पूर्णता नहीं रहती। पृथ्वी की कठोर पाषाण मयी भित्ति के सर्वोच्च स्थान पर उसी गति का प्र

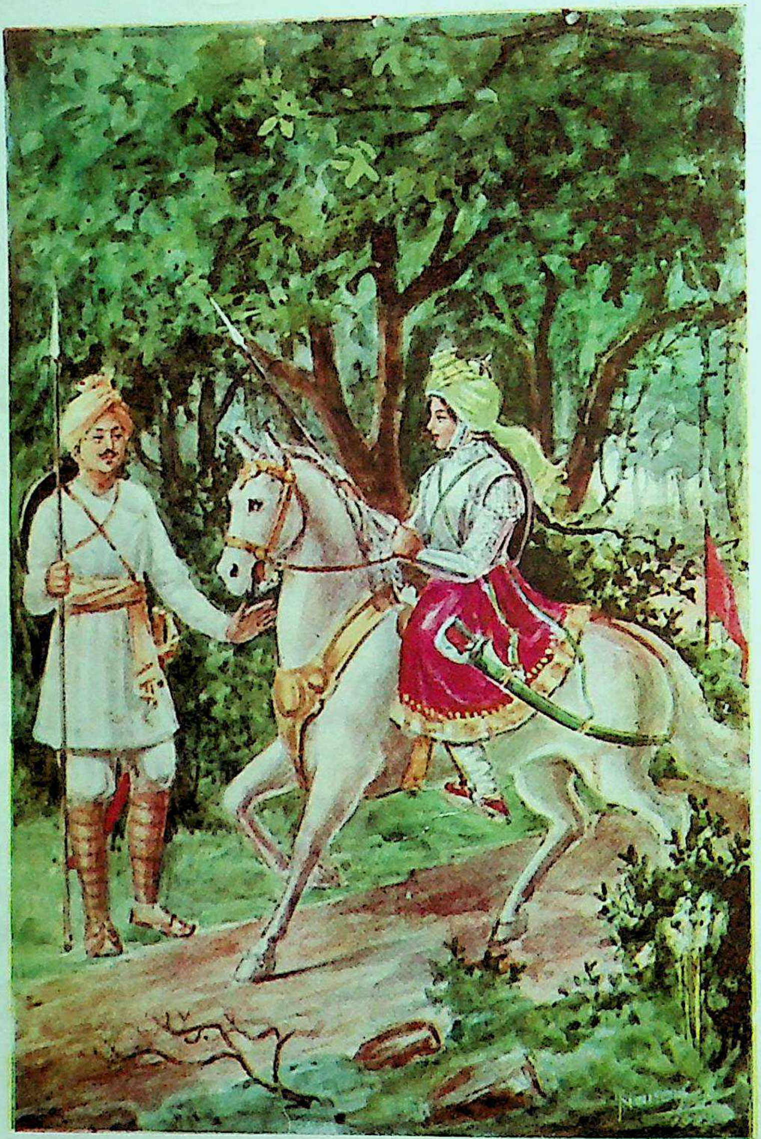

अब और आगे क़दम न बढ़ाइए। घोड़े को यहीं रोक
दीजिए—पृष्ठ ८९।

है। वह प्राण का प्रवाह है, सौन्दर्य का प्रवाह है। उसकी चञ्चलता का अन्त नहीं है। रस सदैव सफल होता है। इसी से वह वैचित्र्य में हिलोरें लेता है। इसी में वह अपनी अपूर्वता प्रकट करता है। इसी से उसकी नवीनता का अन्त नहीं है। जब धर्म में और साधना में यह रस सूख जाता है तब उसमें फिर एक अचल कठोरता आ जाती है। उसमें प्राण का आवेग और जीवन का सौन्दर्य नहीं रह जाता। उसका स्थान जरा और मृत्यु ले लेती है। जहाँ साधना का उत्कर्ष है वहाँ गति निर्बाध होगी, भाव वैचित्र्य-पूर्ण होगा और माधुर्य का नित्य विकास होता है।

एक बार किसी ने महात्मा कबीर से प्रश्न किया—ब्रह्म अरूप है या सरूप, वह एक है या अनेक ? कबीर ने उत्तर दिया—उनको केवल अरूप कहना मिथ्या है और उनको किसी विशेष रूप में समझना भी मिथ्या है। वे सभी रूपों में हैं। वे हैं इसी से तो यह रूप है। यदि वे न रहें तो परमाणु की भी स्थिति असम्भव है। वे सर्वरूप हैं, अतएव किसी विशेष रूप में वे आबद्ध नहीं हैं। वे रूपों की समष्टि भी नहीं हैं। इस दृष्टि से वे अरूप भी हैं। इस प्रकार उनको अरूप अथवा सरूप समझना भ्रम है। वे सब बन्धनों के अतीत हैं, तब रूप या अरूप का बन्धन कैसे सम्भव है, इसी प्रकार संख्या का भी बन्धन है। वे न एक हैं और न अनेक। वे तो संख्या से अतीत हैं। अतएव एक एक देश में उनका एक एक रूप है। नारायण के रूप में वैचित्र्य का अन्त नहीं है। भिन्न भिन्न साधक अपनी भिन्न भिन्न साधनाओं में नारायण के भिन्न भिन्न रूप और रस को प्राप्त करते हैं। वैचित्र्य ही प्रत्येक साधक को अमृत का दान करता है। यही बात रविदास ने कही है। उनका कथन है कि वैचित्र्य ही साधना का अमृत है। साधक का अमृत भी वैचित्र्य-पूर्ण है। उनके तीर्थों में वैचित्र्य है, क्योंकि जो स्वामी हैं वे वैचित्र्य के ही अमृत में अवगाहन करते हैं।

हरिवल्लभ जोशी

शीला देवी ।

[१]

सिंहिनी ।

ठीक दोपहर का समय है। जङ्गली मार्ग से धीरे धीरे एक घुड़सवार जा रहा है। घुड़सवार के दाढ़ीमूँछ नाम लेने को भी नहीं। उसका गोरा मुख-मण्डल परिश्रम के मारे मुरझा गया है। घुड़सवार ढाल-तलवार बाँधे है और कवच धारण किये हुए है। सिर पर लोहे का शिरस्त्राण है और उस पर मूल्यवान् सरपेंच बँधा हुआ है। अरे, यह क्या ? मणि-मोतियों से गुँथी हुई नागिन जैसी चोटी पीठ पर क्यों बल खा रही है ? हाथ-पैर आदि अवयव देख कर यह निर्णय करना कठिन है कि यह घुड़सवार स्त्री है या पुरुष। जो हो, इस असमय में—सो भी हिंस्रजन्तुओं में परिपूर्ण जङ्गली मार्ग में—यह अश्वारोही कहाँ जा रहा है ?

घोड़ा थोड़ी दूर और आगे बढ़ता गया। पास ही जङ्गल में, दहनी या बाईं ओर, सूखे पत्तों की चुरमुराहट सुन पड़ी। सवार ने स्पष्ट सुना, कोई जङ्गल की ओट से कह रहा है—बस कीजिए, अब और आगे क़दम न बढ़ाइए। घोड़े को यहीं रोक दीजिए।

"तुम कौन हो ?"

"परिचय की आवश्यकता नहीं। महास्थान-राजकुमारीजी, आप महास्थान-राज की अधिकार-सीमा को लाँघ आई हैं—लाल पताका को अतिक्रमण कर चुकी हैं।

"कैसी लाल पताका ?"

"देवी थालतेश्वरी की विजय-पताका। इस वन-राज्य के अधिपति, माता के चिर-सेवक, विजयसिंह हैं।"

"अच्छा, अब मैं समझ गई कि डाकुओं के सरदार विजय का यही अड्डा है; पापी साथियों समेत वह क्षत्रिय-कुलाङ्गार इस वन में रहता है। तो तुमने क्या धन के लोभ से मेरा पीछा किया है ? तुमको धोखा हो गया है। मेरे पास धन-दौलत के नाम एक झञ्झी कौड़ी भी नहीं।"

"क्षमा कीजिएगा राजकुमारीजी, हम लोग धन के भूखे नहीं हैं। आप लाल पताका से आगे बढ़ आई हैं,—आपने सन्धि-बन्धन को तोड़ डाला है, इसी से मैं आपको बन्दी करने आया हूँ।"

"मुझे निःसहाय समझ कर ऐसा करना चाहते हो! वाह! अच्छा मौक़ा ढूँढ़ा है,—जाओ अपने सरदार को भेजो, तुम तो उसके साधारण सेवक हो। शीला देवी को बन्दी करने योग्य बल तुम्हारी देह में नहीं है।"

"देवी, बुलाने की ज़रूरत नहीं। मैं विजयसिंह हाज़िर हूँ।"

एक शस्त्रधारी योधा झाड़ी में से निकल कर घोड़े के आगे आ खड़ा हुआ।

राजकुमारी ने कहा—तो तुम्हीं विजयसिंह हो? दस्युराज! मेरे साथी बिछुड़ गये हैं, रास्ता भूल कर मैं इधर आ निकली हूँ। मुझे अकेली समझ कर मुझ पर रोब गाँठना चाहते हो? यह कैसी वीरता है?

"राजकुमारीजी, क्षमा कीजिए। कायर आदमी की तरह विजयसिंह कुछ आपकी इज़्ज़त उतारने नहीं आया है। आप ललनाओं में सिरमौर हैं; क्या रूप और क्या गुण, सभी में परमश्रेष्ठ हैं, दूर दूर तक आपकी शूरता और वीरता की धाक बँधी हुई है। आपकी नामवरी सुनकर, आपकी इस देवी मूर्त्ति का मैं मन में ध्यान किया करता हूँ।"

"तो फिर मुझे रोकते क्यों हो? मुझे बन्दी करने की इच्छा किसलिए?"

"देवीजी, क्षमा कीजिए। आपको बन्दी करने की शक्ति मुझमें कहाँ! सिर्फ़ आतिथ्य-धर्म का पालन करने के लिए मैं आपको तनिक कष्ट देना चाहता हूँ। माता के प्राङ्गण में जब आप पधारी हैं तब यहाँ से भोजन किये बिना कैसे लौट जायँगी?"

"माता को मैं माथा झुका कर बार बार प्रणाम करती हूँ। किन्तु दस्युराज, महास्थान-राजकुमारी भला पराये धन के लुटेरे डाकू का अन्न क्योंकर ग्रहण कर सकती है!"

"मेरा अन्न नहीं है—अन्न तो अन्नपूर्णा देवी का है।"

"यही सही, किन्तु है तो अधर्म से अर्जित।"

"जी नहीं। वीर की वीरता से प्राप्त द्रव्य-द्वारा मा की सेवा होती है। अपने राज्य में अमन-चैन रहने दे के लिए आपके पिता महास्थानराज, देवी थालतेश्वरी नाम पर, विजयसिंह को बहुत सा धन कर-स्वरू देते हैं।"

"बहुत बढ़ कर बातें करना ठीक नहीं। लो, मैं जात हूँ; विजयसिंह, हिम्मत हो तो मुझे रोको।"—यह क कर राजकुमारी शीला देवी ने चाबुक जमा कर घोड़े बढ़ाया। इसी समय एक तीर आकर घोड़े गले में छिद गया। बात की बात में घोड़ा नीचे गि पड़ा। राजकुमारी ने भी नीचे कूद कर कहा—पशु बल के प्रयोग से पशु की हत्या की जाती है; विजयसिं पुरुषोचित वीरता दिखलाओ। सम्मुख युद्ध में महास्था राजकुमारी को पराजित करो।

"शीला देवी, स्त्री-जाति पर बल-प्रयोग करने लिए विजयसिंह हथियार नहीं उठाता।"

"तो फिर सामने से हटो। मुझे जाने दो।"

"आइए देवी, इस दीन की कुटी को चल कर पवि कीजिए, माता का प्रसाद ग्रहण करके इस दीन की को सार्थक कीजिए जिससे कि मेरी प्रतिज्ञा की रक्षा हो।

"विजयसिंह, तो तुम भी मेरी प्रतिज्ञा की रक्षा करो महात्मा परशुराम नरसिंह के शासनच्छत्र के नीचे अ गौरवमय मस्तक को झुकाओ।"

"समझ गया देवी, अपराध क्षमा करना। आ शक्तिमयी, दास की शक्ति की जाँच कर लो। महास्थानराजकुमारी, यदि मैं पराजित हो जाऊँगा प्रसन्नता से महास्थान की अधीनता स्वीकार कर लूँ 'जय माँ थालतेश्वरी'।" विजयसिंह ने म्यान से तल बाहर निकाल ली।

शीला देवी तो पहले से ही तैयार थीं। अब दोनों तलवारें झन् झन् शब्द करती हुई खनकने ल विजयसिंह बहुत ही चतुर योद्धा है। शीला देवी बार उन पर वार करना चाहती हैं किन्तु वह वीर से पैंतड़े बदल कर प्रत्येक वार को ख़ाली कर देता है

मौक़ा पाकर भी विजयसिंह शीला देवी को बचा हैं, वार नहीं करते। उनका सारा शरीर, राजकुमा

चोटों से लहू-लुहान हो गया है; किन्तु इस ओर विजयसिंह का ध्यान ही नहीं है। यह देख कर शीला देवी ने कहा—विजयसिंह, अभी तक कुछ नहीं बिगड़ा है, क्यों नाहक़ अपनी जान खोने पर उतारू हुए हो।

विजयसिंह ने कहा—देवी, मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ। आज मेरा हथियार चलाना सफल हो गया। मेरे प्राण चले जायँ, मुझे कोई परवा नहीं, लेकिन मैं आपकी कोमल देह पर अस्त्र न चलाऊँगा।

"तो इष्ट देवता का स्मरण कर लो, अब मौत दूर नहीं है।"

"क्षत्रिय-सन्तान को मौत का डर नहीं होता। स्त्री पर हथियार चला कर मैं अपने वीर नाम में बट्टा न लगाऊँगा। जय माँ थालतेश्वरी।"

बात अभी पूरी न हो पाई थी कि विजयसिंह, उखड़ी हुई जड़ के पेड़ की तरह, धम से नीचे गिर पड़े। उनकी देह में ऐसा कोई अङ्ग-प्रत्यङ्ग न था जहाँ घाव न हों।

शीला देवी ने कहा—विजय, तुमको धन्य है, तुम्हारे समर-कौशल को धन्य है। पराजित वीर! यह विजय-गौरव तुम्हारा है। सदा से युद्ध में विजय प्राप्त करनेवाले महावीर चिह्लन के दाँत तुम्हीं ने खट्टे किये; तुम्हारे ही बाहु-बल से वह पराजित हुआ। ऐसा कौन है जो तुम्हारे वीरत्व और तुम्हारे गुणों पर लट्टू नहीं हो जाता। तुम्हारी शक्ति की परीक्षा करके मैं भी हृदय से तुम्हारे पक्ष में हो गई।

अब राजकुमारी ने अपनी जेब में से एक बढ़िया डबिया निकाली। विजयसिंह की अचेत देह को एक पास के कुएँ के पास ले जाकर पहले तो घावों को भली भाँति धो दिया और फिर डबिया में से दवा निकाल कर अच्छी तरह घावों पर लगा दी। इसके पश्चात् विजयसिंह की देह को एक पेड़ के नीचे रख कर राजकुमारी ने थोड़ी देर तक कुछ सोच-विचार करके जेब में से दावात-क़लम निकाली और सूखे पत्ते पर कुछ लिख दिया। राजकुमारी ने इस हस्तलिपि को विजयसिंह की धोती के कोने में बाँध दिया तथा अपनी हीरे की अँगूठी उतार कर उनकी उँगली में पहना दी। सामने, एक वृक्ष से सफ़ेद घोड़ा बँधा था। राजकुमारी अब उस घोड़े पर सवार हो गई। जङ्गली मार्ग पर घोड़ा हवा से बातें करने लगा।

[२]

क्योंजी, मैं इन ईंट-पत्थरों को क्यों बटोरता हूँ? इसीलिए न कि इनमें उस पुरानी स्मृति का चिह्न है? और मरुभूमि को देख कर सागर का स्वप्न क्यों देखता हूँ? क्या यह मरीचिका मेरे प्राणों में उसकी तरङ्ग के रङ्ग-भङ्ग की अठखेलियाँ करा रही हैं?

करतोया के तट पर ईंटों और पत्थरों के ढेर में ही क्या धन-जन-परिपूर्ण गढ़ महास्थान-नगरी विद्यमान थी? हाय धनी! तुम्हारे ऐश्वर्य की याद क्या ऐसे पत्थरों और ईंटों के ढेर में विद्यमान है? महाराज परशुराम, तुम्हारे गौरव का निदर्शक महास्थानगढ़ आज हिन्दुओं का महातीर्थ है।

बागुड़ा से कई कोस की दूरी पर इस गढ़ का ध्वंसावशेष देख पड़ता है। ईसा की बारहवीं सदी से भी बहुत पहले गौड़ाधिपति धर्मपाल के भाई वाक्पाल के अधस्तन आठवें पुरुष, सम्राट् जयपालदेव के अधीन भोज गौड़-वंशीय महासामन्त परशुराम नरसिंह महास्थान के सिंहासन पर विराजमान थे। उस समय बारह सामन्त राजाओं पर परशुराम नरसिंह ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी इससे वे महासामन्त कहलाते थे। सेनवंशी राजाओं का अभ्युत्थान हो जाने से लगातार युद्धों में व्यापृत रहने के कारण सम्राट् जयपालदेव का बल हीन हो गया;—अतएव महासामन्त परशुराम ने एक तरह से सारे वरेन्द्रमण्डल को अपने शासनाधीन कर लिया। वे नाम-मात्र को गौड़ाधिप के अधीन थे; सच बात तो यह है कि वे एक प्रकार से गढ़ महास्थान के स्वाधीन भूपति थे।

इस महानगरी के उत्तर और दक्षिण प्रान्त में स्कन्द और गोविन्द नाम की दो देवमूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित थीं। दोनों मूर्त्तियों के बीच का—कोई दस कोस परिमित—स्थान महास्थाननगरी कहा जाता था। महाराज परशुराम के राजत्वकाल में महास्थाननगरी की शोभा और समृद्धि बढ़ कर दसगुनी हो गई थी। इस नगरी के मध्यभाग में स्थित, दो कोस से भी अधिक, सुदृढ़ और पत्थर की शहर-

पनाह तथा खाई आदि से वेष्टित राजपुरी वा महास्थान-गढ़ था। राजपुरी के पूर्व ओर प्राचीर से सटी हुई पुण्य-तोया करतोया नदी बहती थी। इस नदी का पुराना नाम बाघमती है। बाघमती यहाँ पर दक्षिणवाहिनी है। करतोया के किनारे किनारे तीन कोस जाने पर एक बड़ा सा मन्दिर था। इसमें विष्णु की चतुर्भुज मूर्त्ति प्रतिष्ठित थी। यही गोविन्ददेव थे। मन्दिर बिलकुल नदी-किनारे था। मन्दिर के नीचे ही पक्का घाट था—घाट की सीढ़ियाँ क्रमशः नदी के गर्भ में चली गई थीं। करतोया की चपला तरङ्ग-बालाएँ इन सीढ़ियों पर नाचने लगतीं और क्षण भर में ही इस तरह भाग जातीं माना कोई उन्हें पकड़ने दौड़ रहा हो। अब घाट तो टूटा-फूटा पड़ा है, किन्तु मन्दिर का कहीं चिह्न भी नहीं है। गोविन्दमन्दिर से तनिक अन्तर पर घना जङ्गल है। यह जङ्गल करतोया के किनारे किनारे चार पाँच कोस तक फैला हुआ है। इसी लम्बे-चौड़े जङ्गल को पहले 'गुप्त वृन्दावन' कहते थे।

कोई ८७६ वर्ष हुए, जब सन्ध्या-समय से तनिक पहले दो व्यक्ति इस वन में से निकले और गोविन्द-मन्दिर के समीप पीपल के पेड़ तले बैठ गये। सूरत-शकल से दोनों ही फ़ौजी आदमी जान पड़ते थे। दोनों की नई उम्र थी। दोनों की कमर से तलवार लटक रही थी, हाथ में बर्छी थी और सारा बदन लोहे के कवच से ढका हुआ था। इनमें एक का रङ्ग गोरा था। उसके चेहरे से वीरता स्पष्ट झलकती थी। दूसरा साँवला था, उसका मुखमण्डल शान्त था, उसके सिर पर लम्बे लम्बे बाल थे।

तनिक सुस्ता कर सुन्दर उष्णीषधारी गोरे युवक ने अपने साथी से पूछा—कुछ समझ में आया?

"बिलकुल नहीं।"

"अच्छा सुनो मुराद, आज हम दोनों मित्र एक साथ गढ़ महास्थान में क्यों आये हैं? मैं आज आत्म-समर्पण करूँगा,—आज बन्दी हो जाऊँगा।"

"अपने आप,—कायर की तरह?"

"नहीं, जिनकी इच्छा से मैंने डकैती के चिर-कलङ्क को धारण किया है उन्हीं की इच्छा से। हृदय के एकान्त स्थल में जिनकी इच्छा हर घड़ी जागती रहती है उन्हीं थाल तेश्वरी की इच्छा से विजयसिंह आत्म-समर्पण करेगा।"

"इसकी ज़रूरत?"

"राज्य का भला—मानव-समाज का कल्याण-करने के लिए।"

"अच्छी बात है। तुम काया हो, मैं छाया हूँ जिसमें तुम्हारा भला है उसी में मेरी बेहतरी है। राजा जो तुम मरना चाहो, तो तुम्हारे अन्न से पली हुई, इ देह को तुम्हारे लिए मैं विसर्जन कर दूँगा।"

"मुराद, प्राण तो कोई चीज़ ही नहीं हैं। उनसे ब बढ़ कर तुम्हारा हृदय है। मित्र, तुमने अपनी सच्ची प्री का राज्य मुझे दे दिया है। हम लोग अपने लिए कुछ नहीं करते। धर्म या अधर्म जो कुछ किया है, सभी रा के लिए किया है। हमारे काम से मानव-समाज का भल तो हुआ नहीं, उलटा नुक़सान हो रहा है। चारों ओ अराजकता फैली हुई है—दीन-दुखियों के करुण-क्रन्दन अशान्ति का दावानल भड़क गया है। आत्म-विरो परायण सामन्त राजा लोग झगड़े-बखेड़े खड़े करके रा का सत्यानाश कर रहे हैं। राजा का साथ देकर, साम राजाओं का दमन करके, राज्य में शान्ति की स्थाप करना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है।"

"भला हमारी ताक़त है किस लेखे में। सम सामन्त राजाओं का दमन करना क्या हमारे सामर्थ्य भीतर है?"

"वीर, इसकी चिन्ता न करो। अकेले सिंह देखते ही जिस प्रकार बकरे डर जाते हैं उसी प्रकार भ सामन्त राजा लोग हमारे प्रताप से नीचा सिर लेंगे। मुराद, क्या तुम नहीं जानते! विजयसिंह औ मिरजा मुराद के नाम से सारा वरेन्द्र-मण्डल थर काँपता है।"

"थालसापति, आप सच कहते हैं। इस प्रदेश वीर हैं कहाँ।"

"यह क्या कहते हो। वीर हैं क्यों नहीं। ज़ हैं। भाई सगे भाई का ख़ून पीने को तैयार है, पिता पु के प्राणों का ग्राहक है और पुत्र पिता की छाती में छु भोंकने को मुस्तैद है। ऐसे ऐसे पचासों वीर हैं। रा

की जैसी कुछ दशा हो गई है उसके लिहाज़ से ये राजा लोग अब बाहरी शत्रु के आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा तक नहीं कर सकते ।''

''बूढ़े राजा शक्तिहीन हैं, राजकर्मचारी उच्छृङ्खल हो गये हैं, धन के लालच ने उन्हें अन्धा बना दिया है । अब यदि हम लोग राज-काज करने लग जायँ तो राज्य का भला हो सकता है । राज्य में जो अत्याचार और अनाचार हो रहा है वह रुक सकता है ।''

''तब तो मित्र ज़रूर चलो । हम महास्थान-राज्य की अधीनता स्वीकार करके मानव-समाज का भला करेंगे ।''

''तुम जो कुछ निश्चय करोगे, मुझे वह मञ्जूर है ।''

''मेरा काम तो प्रतिज्ञा-पालन है । यह देखो मित्र, राजकुमारी शीला देवी ने अपने हाथ से इस सूखे पत्ते पर लिख कर क्या आज्ञा दी है ।''

मुराद ने उस लेख को पढ़ कर कहा—यह आज्ञा-पत्र नहीं, यह तो प्रणयपत्र है । और यह हीरे की अँगूठी है उस प्रेम की निशानी ।

विजयसिंह के ओठों पर मुसकुराहट का चिह्न उदित होकर तुरन्त ही विलीन हो गया । उन्होंने कहा—मित्र, आकाशकुसुम की कल्पना न करो । वह अमूल्य रत्न राजमहल की शोभा बढ़ावेगा—दरिद्र की कुटी में क्या वह अच्छा लगेगा ! अब मज़ाक़ का समय नहीं है । योगिनी माता आ गई हैं, यहीं पर उनके दर्शन होंगे । तुम जाओ, ताम्रद्वार पर मेरी बाट जोहना । माताजी के चरणों की रज और आशीर्वाद लेकर मैं बहुत जल्द आता हूँ ।

दोनों उठ कर अपने अपने मार्ग पर गये । इस समय सन्ध्या का अन्धकार घना हो गया था ।

[२]

मा-बेटे ।

घना अँधेरा है; उस अँधेरे को चीर कर गोविन्द-मन्दिर दानव की तरह, माथा ऊँचा किये हुए है । आकाश में असंख्य तारे चमक रहे हैं मानों नीली साड़ी पर सुनहरी बूटियाँ हों । मन्द पवन लगने से वृक्षों की पत्रावली तनिक तनिक हिल जाती है । चपला करतोया अब कुछ कुछ शान्त है—छोटी छोटी तरङ्गों को मन्द मन्द नचाती हुई बह रही है । भगवान् की सन्ध्या-आरती करके पुजारीजी, देवदासियों समेत, चले गये । अब इस मन्दिर में कोई मनुष्य नहीं है । समीप ही मरघट है । भूत-प्रेत के डर के मारे रात को इस तरफ़ आने की किसी को हिम्मत नहीं होती । रात का आधा पहर बीत गया । एकाएक यह नीरवता भङ्ग हुई, स्त्री के कण्ठ से निकली हुई ॐकार-ध्वनि श्मशान के किसी कोने से सुन पड़ी । दूसरी ओर से आवाज़ आई—माता !

दूर से उत्तर मिला—आगये बेटा, मैंने सोचा कि तुम मुझसे मुलाक़ात किये बिना ही राजधानी को चले गये । यह भी सोचा कि शायद तुम मुझको भूल गये ।

''नहीं माता, मैं तुमको भूला नहीं । भूलूँगा किस तरह ? जिधर देखता हूँ उधर तुम्हारी ही करुणा की छवि देख पड़ती है । देहात की निर्जन कुटियों में तुम्हारे दया-भाव-पूर्ण हाथ सन्तान की क्षुधा को निवृत्त करने में नियुक्त देख पड़ते हैं । सावित्री, मेरी देवी रूपिणी माता, कहीं देखता हूँ कि निर्वाणोन्मुख दीपशिखा की भाँति मृत-कल्प पति की देह में—तुम्हारे सेवा-सँभाल करने के कारण—प्राण लौट आये हैं । फिर देखता हूँ कि आश्रयहीन, गृह-विहीन माता तुम्हीं छोटे बच्चे को छाती से लगाये हुए द्वार द्वार पर भिक्षा माँग रही हो ! और भी देखता हूँ कि ऐश्वर्यमयी पर-दुःखकातरा देवी मूर्ति में तुम्हारे दया-पूर्ण हाथ दूसरों को दुःख से बचा रहे हैं । लो, यह देख रहा हूँ कि हास्यमयी आनन्दमयी माता—हरी साड़ी पहन कर तेज़ हवा के प्रत्येक ताल पर—तरङ्गिणी के कल-नाद में गीत गा रही है, और यह भी देखता हूँ कि महाश्मशान में भीमा-भैरवी के वेश में रुद्रताल पर नाचती फिरती है । माता, मेरी मैया, मैं तुम्हें भूला नहीं हूँ ! तुम्हारा स्नेह, तुम्हारी करुणा मेरी नस नस में भिड़ी हुई है । मैं अयोग्य सन्तान हूँ, मैं भक्तिहीन हूँ, इसी से क्या मुझे छोड़ कर दूर जा रही हो । न मैं भक्त हूँ और न साधक—मैं तो कङ्गाल हूँ, केवल आँसुओं की धारा से तुम्हारे चरण-कमलों की पूजा करता हूँ । इससे क्या तुम अँधेरे में छिप गई हो ? मैं बिना माता के बेटे की तरह मा मा चिल्लाता

हुआ दुनिया में ढूँढ़ रहा हूँ। देवी, मेरी माता, मेरे हृदय-पद्म में जाग्रत् रहो।"

"भक्त! पुत्र! यह देखो सामने कर्मक्षेत्र है। बेटे, आलस्य न करो। नरसिंह के पुण्यराजत्व में पाप बहुत फैलता जा रहा है। देवमन्दिरों की पवित्रता नष्ट हो गई। विलास के दलदल में महास्थान क़रीब क़रीब फँस चुका है। चोरी और लम्पटता में पुरुषों का पौरुष लुप्त हो रहा है, और शक्तिमयी स्त्रियाँ?—बड़ी घृणा की बात है—शक्तिहीन, आचारभ्रष्ट और व्यभिचार-दोष से दूषित हो गई हैं। आत्मविरोध ने महास्थानराज को शक्तिहीन कर दिया है। अन्न के बिना छटपटाती हुई प्रजा का हाहाकार सुनो,—अत्याचारी के पैरों से रौंदे गये दुखियों का करुण क्रन्दन सुनो। विजय, मेरे बेटे! इस मात्स्य-न्याय-पूर्ण महास्थान में क्या शान्ति की प्रतिष्ठा न होगी?

"क्यों न होगी माता? हृदय में शक्ति दो जिससे कि प्रकृत पुरुषत्व जाग उठे; मन में बल भर दो जिससे असाधुओं और अत्याचारियों का मुँह काला कर दिया जाय।"

"विजय, सुनो। बूढ़े महास्थानराज तुम्हारा मुँह जोह रहे हैं। जाओ, राजा की सहायता करो—देश में जो अशान्ति की आग धधक रही है उसे शान्त कर दो।"

"माता, आशीर्वाद दो जिससे कि तुम्हारा यह अयोग्य बेटा अपने प्राणों की बाज़ी लगा कर तुम्हारी आज्ञा का पालन कर सके।"

"बेटा, बारंबार घाव पर घाव लगने से प्राचीन हिन्दू-धर्म की जड़ खुदती जा रही है। एक बार बौद्ध-धर्म के प्रबल सङ्घर्ष में सनातन-धर्म लुप्तप्राय हो गया था। इस समय भी वरेन्द्र-भूमि के पवित्र देवमन्दिरों पर बौद्धों के मठ और सङ्घाराम, ऊँचा सिर किये, खड़े हैं। यदि भोज-वंश प्रबल न होता तो कदाचित् वरेन्द्र-भूमि से सनातन-धर्म एक-दम लुप्त हो जाता। महमूद के अत्याचार का डर अभी तक देश से नहीं हटा है। टूटे फूटे बहुतेरे देवमन्दिर इस समय भी उस पुरानी स्मृति को ताज़ा करते हैं। अब आत्म-विरोध में शक्ति को क्षीण करना व्यर्थ है। दिलो-जान से महास्थानराज की सहायता करो। थालतेश्वरी तुम्हारा भला करेंगी।"

"माता, प्रणाम करता हूँ। आशीर्वाद दो जिससे कि मैं तुम्हारा सपूत कहला सकूँ।"

"मुराद कहाँ है?"

"मेरे साथ ही महास्थान में आया है।"

"बड़ा उजड्ड है। यहाँ, मेरे पास, नहीं आया।"

"नहीं माता, मुराद तुम्हारा ऐसा लड़का नहीं है। माता, तुम्हारी पालिनी शक्ति को धन्य है। तुमने जिसका पालन किया है वह उजड्ड कैसे हो सकता है। हाँ, जिस पर तुम्हारी समधिक कृपा होती है उसे तुम दुष्ट या उजड्ड कहती हो।"

"विजय, मेरे लाल, मुराद को अपना भाई समझना। भूल कर भी उस पर घृणा या अश्रद्धा न करना।"

"नहीं माता, ऐसी मित्रता—ऐसा निर्मल भ्रातृ-प्रेम संसार में मेरे लिए दुर्लभ है। तुमने उसके हृदय का ऐसा गठन कर दिया है कि उसमें सभी गुण विद्यमान हैं।"

"बेटा विजय, मुराद मुझे यों ही पड़ा मिल गया था। मैंने उसे पाल-पोस कर बड़ा किया है। जब से उसमें समझने की शक्ति हुई है तब से वह, तुम्हारी ही तरह, मुझे अपनी माँ समझता है। मुराद को साथ ले जाकर कल दरबार में राजा से मुलाक़ात करना। मैं तो आज ही थालता को लौट जाऊँगी। तुम दोनों, राजा की अतिथिशाला में रात को विश्राम करना।"

"तो माता मैं जाता हूँ।"

विजयसिंह घने अन्धकार में खड़े थे। अब वे वहाँ से रफ़ूचक्कर हुए। एक भैरवी मूर्त्ति बँधे घाट के नीचे की सीढ़ी से ऊपर आई और अँधेरे में न जाने कहाँ चली गई। उसकी देह में भस्म रमी हुई थी, माथे में लाल चन्दन का त्रिपुण्ड्र था और हाथ में पैना त्रिशूल था।

[४]

कमला का घर।

महास्थानगढ़ से पूर्व ओर बहुत ऊँचा तोरण-द्वार है। यह सफ़ेद पत्थर का है। इस दरवाज़े के सामने करतोया के किनारे किनारे ख़ासी सड़क है जो क्रमशः उत्तर-दक्षिण को चली गई है। इधर ताम्रद्वार के सामने खड़े होकर देखने से करतोया के उस पार जो एक सुन्दर महल देख पड़ता है उसमें प्रसिद्ध देवनर्त्तकी की कमला रहती

है। कमला का जैसा रूप है वैसे ही उसमें अद्वितीय गुण हैं। एक प्रकार से वह मृच्छकटिक की वसन्तसेना है जिसका महल सङ्गमर्मर का। उसकी दौलत का कहना ही क्या है। कमला उस समय की देव-नर्त्तकियों के बीच नाचने-गाने की कला में सबसे बढ़ कर थी।

राजा अथवा राजपुरुषों के मनो-विनोद और मन्दिरों के उत्सव आदि के सिवा साधारणतया वे और कहीं भी नाचने-गाने न जाती थीं। इसी कारण पहले ये देवनर्त्तकी कहलाती थीं।

रूप और गुण के लिए कमला का नाम जैसा प्रसिद्ध था वैसा ही उसका चाल-चलन अच्छा था। महास्थान-नगरी के कई बड़े आदमी सिर पटक कर हार गये किन्तु कमला के अनुग्रह-भाजन नहीं हो सके। कहा जाता था कि कमला किसी भले घर की बहू-बेटी थी; न जाने किस कारण वह इस पेशे को करने लगी थी। इसके सिवा उसका असली परिचय किसी को भी मालूम नहीं था।

कमला के सङ्गमर्मरी महल के सामने नज़र-बाग़ था जिसमें तरह तरह के फूलों का मेला लगा रहता था। जुही, गुलाब और बेला आदि की सुगन्ध हवा से अठखेलियाँ किया करती थी। हमारी इस आख्यायिका के आरम्भ से कुछ वर्ष पहले एक दिन, दिन डूबने से कुछ पहले, एक पूर्णावयव-सम्पन्न सुन्दरी युवती छोटी सी डलिया लिये उसी बाग़ में पहुँची। युवती की रङ्गत का क्या कहना है, गुलाब झख मारता था। ओठें पर पान की लाली थी। उसके बदन पर उस समय नीली साड़ी बहुत ही भली मालूम होती थी। हाथों में सोने की दो दो चूड़ियाँ थीं जिनमें हीरे जड़े हुए थे। उस समय उसकी वेश-भूषा कुछ कुछ अस्तव्यस्त थी। किन्तु जिसे ईश्वर ने सुन्दरता दी है उसे वेश-भूषा से क्या काम। वह यों ही भली लगती है। रूप और लावण्य की लाडली कमला यही है। यह गाने और नाचने में बहुत ही कमाल करती है। इस समय यह अपने हाथ से फूल चुनती और गुन-गुना कर कुछ गाती भी जाती है।

इतने में दासी ने आकर उसके हाथ से डलिया छीन ली और कहा—सरकार, जब आप ही अपने हाथों फूल चुनेंगी तब हम किस काम आयँगी?

दासी फूल तोड़ने लगी। कमला ने एक बार उदास-करुण-दृष्टि से करतोया की नीली धारा की ओर देखा। इसी समय दूसरे पार से एक छोटी सी नाव को अपने महल की ओर आते देख उसके लाल अधरों पर मुसकुराहट नाचने लगी। वह प्रसन्नतापूर्वक दासी के हाथ से फूलों की डलिया लेकर भीतर चली गई। अब सन्ध्या का अँधेरा फैलने लगा। पूर्वोक्त नौका कमला के महल के सामने पक्के घाट पर आ लगी। भले मानसों का सा पहनावा पहने एक युवक घाट पर उतरा और धीरे धीरे कमला के महल की ओर बढ़ा।

यह युवक मामूली सफ़ेद धोती और कामदार कुर्त्ता पहने हुए था। बढ़िया कामदार जूता इसके पैरों में था। युवक ज्यों ही दरवाज़े पर आया कि दासी बड़े अदब से उसे भीतर ले गई।

दो मंज़िले पर एक सुन्दर कमरा था जिसमें फ़र्श पर क़ीमती ग़ालीचा बिछा हुआ था। एक ओर अमल धवल शय्या बिछी हुई थी और दूसरी ओर सुन्दर आसनों की क़तार थी जिनकी कारीगरी देखते ही बनती थी। शय्या के एक ओर सुनहरी पानदान में गिलौड़ियाँ रक्खी हुई थीं। दीवारों पर अनेक देव-देवियों के सुन्दर सुन्दर चित्र टँगे हुए थे। इनके चौखटे भी क़ीमती थे। चाँदी के शमा-दान जल रहे थे। शय्या के दूसरी ओर सोने के पुष्पाधार में ताज़ा ताज़ा फूलों के गुलदस्ते रक्खे हुए थे जिनकी ख़ुशबू कमरे में महक रही थी।

युवक को इसी कमरे में पहुँचा कर दासी कमला को ख़बर देने चली गई। इधर युवा एक आसन पर बैठ गया। कोई आधी घड़ी में ही वहाँ कमला आगई।

इस समय उसकी सूरत-शकल कुछ और ही है। इस समय वह बढ़िया गुलाबी साड़ी और जड़ाऊ ज़ेवर पहने हुए है। उँगलियों में तीन चार हीरे की अँगूठियाँ हैं जो चकाचौंध लगा रही हैं। पीठ पर नागिन की तरह चोटी लटक रही है जिसमें कि मोती गुँथे हुए हैं। कमला का यह रूप देखने से अप्सराओं की याद आ जाती है। इस सूरत को आँख उठा कर देखते नहीं बनता—आँखें झप जाती हैं। कमला के चेहरे पर एक निगाह डाल कर

युवक ने दूसरी ओर नज़र कर ली और पूछा—बतलाओ, मुझे क्यों बुलाया है ?

"मुँह क्यों फेर लिया ?"

युवक ने कमला के मुँह की ओर देखा—इस देखने में चञ्चलता नाम लेने को भी न थी। युवक के मुखमण्डल पर स्थिर प्रतिज्ञा का चिह्न देदीप्यमान था।

"मैंने मुँह नहीं फेरा। तुम्हारे कमरे की सुन्दरता को देखने लगा था।"

कमला ने एक बार कहना चाहा कि कमरे की अपेक्षा क्या मेरा सौन्दर्य अधिक नहीं है ? किन्तु अपने भाव को मन में ही छिपा कर उसने कहा—मुद्दत के बाद तो दासी को धन्य करने की कृपा की है, अब मुँह क्यों फिराते हो ?

"जानती तो हो कि मैं देर तक नहीं ठहर सकूँगा। बात दे चुका था, इसी से सँदेशा पाकर चला आया हूँ। अगर कुछ कहना हो तो कहो।"

"तो बतलाओ, मुझे बिना ही दोष के क्यों छोड़ दिया है ?"

"फिर वही बात ! तुम मायाविनी हो, तुम्हारी प्रत्येक बात माया में पगी रहती है। मुझे फिर बहकाना चाहती हो ! मैं तो भरसक तुमसे दूर रहता हूँ। तुम्हारी छाया को छूने के लिए भी जी नहीं चाहता—घृणा होती है।"

"क्यों ? भला मैंने ऐसा क्या किया है ? धर्म जानता है, विधाता जानता है कि मेरे मन में क्या है। भूल से भी मेरे मन में कभी पाप-वासना को जगह नहीं मिली !"

"मैं तो तुम्हें दिलो-जान से चाहता था—उसका तुमने ख़ासा बदला दिया। अब रहने दो।"

"तुमने बड़ी भूल की है। तुम्हारी तनिक सी भूल मेरी ज़िन्दगी को बरबाद कर रही है। मेरे पास चिह्लन को देखते ही तुमने मुझे घर से निकाल बाहर किया—मेरी एक बात भी न सुनी। कैसा अन्धेर है।"

युवक का चेहरा तमतमा उठा। उसने उत्तेजित स्वर से कहा—जो मैं पहले से जानता तो वहीं तुम्हारा निपटारा कर डालता। कलङ्क का ठीकरा सिर पर रक्खे हो, फिर भी निर्दोष बनती हो।"

"मैं मानती हूँ, एक यही मेरा अपराध है; इसके सिवा मेरा और कोई दोष नहीं। तुम देवतुल्य मेरे स्वामी थे, राजा का ऐसा तुम्हारा ऐश्वर्य था, तुम्हारे आदर क एक मैं ही अधिकारिणी हो गई थी। मैं बड़ी अभागिन हूँ। विधाता से मेरा यह सुख न देखा गया। तु नहीं—तुम्हीं क्या, कोई भी नहीं जानता कि हीनवृ का अवलम्बन करके भी आज तक मैं निष्कलङ्क हूँ—मैं जीवन का व्रत तुम्हारे चरणों का ही ध्यान करता है। मैं इस हताश जीवन में यही एक बड़ा सहारा है।"

"वाह ! भोगलालसा ऐसी ही प्रबल होती है—उसके लिए दुनिया भर की बदनामी बटोर ली जाती है !"

"हाँ, तुम्हारे आगे मैं इस दोष से अवश्य दूषित हूँ। इससे नहीं मुकर सकती। करती क्या, इस नैराश्यम जीवन का यह एक ज़रिया है। इसके सहारे मैं अप दुर्वह जीवन के बोझे को लिये हुए भटक रही हूँ। मुझे क्षमा कर दो। अब तक दुराव करके मैं तुषानल जैसे जल रही हूँ। आज तुम्हें खुलासा हाल बतलाकर आत्म-समर्पण किये देती हूँ।"

"मेरी आँखें जो कुछ देख चुकी हैं उस पर अ अपनी निर्दोषिता का प्रमाण क्या दोगी ?"

"लेकिन तुमने कुछ का कुछ समझ लिया है। सुनो, तुम्हारे मन में यदि सन्देह बना रहने दूँगी तो मुझे मरने पर भी चैन न मिलेगा। चिह्लन मेरा सगा भाई है। मलद्-देश हमारी जन्मभूमि है। शायद तुमने सुना हो कि मलद्-राजकुमार वीरसिंह गुप्त शत्रु के वार से मा गये थे। वह गुप्तशत्रु मेरा ही भाई था। जिस दिन राजकुमार का ख़ून हुआ उसी दिन दादा मुझे लेकर भा खड़े हुए। न जाने कहाँ कहाँ की ख़ाक छान कर अन्त इस देश में आ गये। हम लोग नाव की सवारी से रहे थे। तूफ़ान में, बूड़ी-दह के पास, हमारी नाव डू गई। फिर मैं अचेत हो गई। उसी दशा में तुमने मे उद्धार किया। तुमको मैंने अपना प्रकृत परिचय न दे इतना ही कह दिया था कि मैं ब्राह्मण की बेटी हूँ बेहद प्रेम करके अन्त में तुमने धीरे धीरे मेरे हृदय अधिकार कर लिया—इसके पश्चात् थोड़े ही समय हमारा-तुम्हारा विवाह हो गया। मुझे दादा की कुछ

यह पुस्तक वितरित न की [illegible]

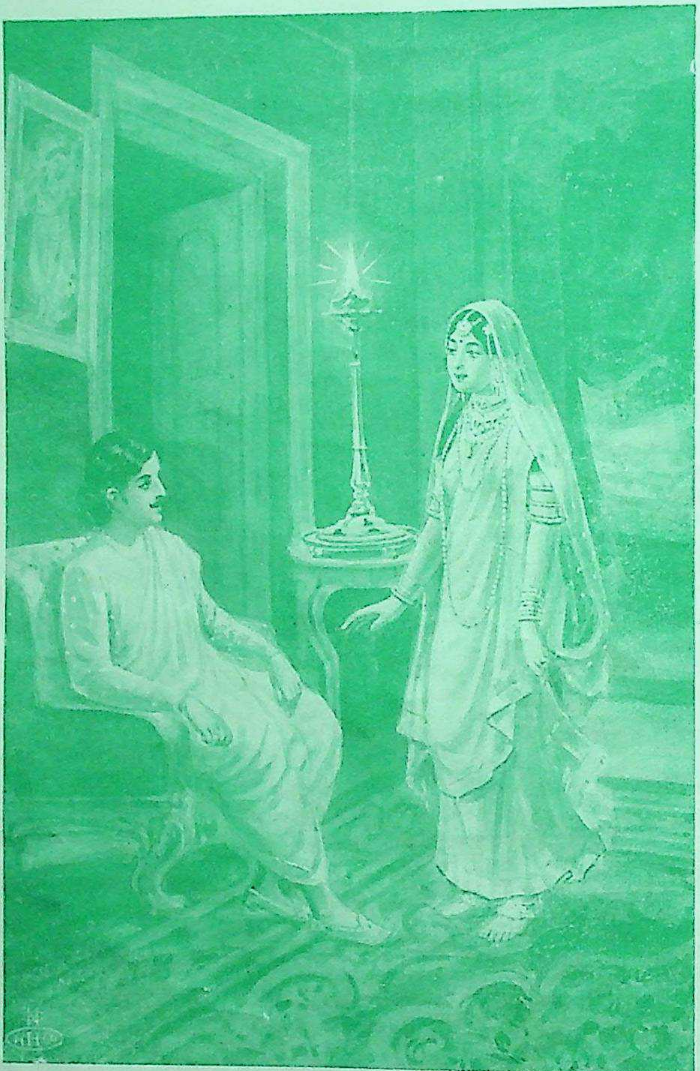

निष्ठुर, यह कठोर उत्तर सुनने के लिए मैंने तुमको नहीं बुलाया है—पृष्ठ ९७।

यह पुस्तक वितरित न की जाय ।

ख़बर न थी कि कहाँ पर किस दशा में हैं। कई वर्ष के बाद एक दिन अपने उसी घर के तिमञ्ज़िले से मैंने देखा कि एक घुड़सवार सैनिक—जो कि ठीक मेरे भाई जैसा ऊँचा—रास्ते से जल्दी जल्दी आ रहा है। जब वह समीप आया तो मैंने पहचान लिया। यह मेरा ही भाई था। तुम राजा के महलों में गये थे। मैंने नौकरनी को भेज कर दादा को एक-दम अपने पास बुला लिया। हम भाई-बहन के बीच बातचीत छिड़ी ही थी कि तुम बाहर देख पड़े। मुझे डर लगा कि देख करके पीछे से कहीं तुम मेरे दादा का अनिष्ट न कर बैठो, इसी से घबरा कर मैंने उन्हें दूसरी राह से सड़क पर पहुँचवा दिया। बस, यही भूल मेरे लिए आफ़त हो गई। तुमने झोंटा पकड़ कर मुझे निकाल बाहर किया। मेरी एक भी बात नहीं सुनी। मैं तुम्हारे सदर फाटक पर खड़ी खड़ी बहुत रोई-चिल्लाई, बहुत कुछ क्षमा-प्रार्थना की किन्तु तुम्हारा वही एक उत्तर था—'जहाँ चाहो, चली जाओ, ख़बरदार इस घर के भीतर पैर न रखना।' मैंने कहा—तुम मेरे स्वामी हो, तुम मुझे घर से निकाल रहे हो। भला दुनिया में मेरे लिए और कहाँ ठिकाना है? लेकिन कौन सुने और कौन उत्तर दे—तुम तो वहाँ थे ही नहीं। मैं देर तक वहीं बैठी रही। न जाने क्या क्या सोच विचार किया। फिर मुझे एक दुर्जय अभिमान ने घेर लिया। मन में बल न रहा। मैंने सोचा कि हाय, मनुष्य का क्या ऐसा ही प्रेम होता है। इतनी आसानी से मनुष्य को मनुष्य भूल जाता है! जिसे लहमे भर के लिए अलग रखने से कल न पड़ती थी उसी की एक बात तक नहीं सुनी! कुत्ते की तरह दुरदुराकर निकाल बाहर किया। हृदय-तन्त्री बेसुरी बजने लगी। अब मैं सड़क पर आगे बढ़ी! मेरे पिताजी ख़ासे गवैया थे—उनका यही पेशा था। उन्होंने बड़े परिश्रम से मुझे नाचने-गाने की तालीम दी थी। अन्त में यही कला मेरे जीविका-निर्वाह में प्रधान अवलम्बन हुई। तुमने कई बार मुझसे सच बात पूछी थी किन्तु मैंने उत्तर नहीं दिया था। उस समय तुम्हें अपना वास्तविक परिचय देने की मुझे हिम्मत न होती थी। किन्तु अब मेरा जीवन मेरे लिए भारू हो गया है। इसी से अपने हृदय के भार को हलका करने के लिए मैंने तुम्हें बुला भेजा है कि सारी बातें तुम्हें खुलासा कह-सुनाऊँ। मेरी कोई भी बात तुमसे छिपी न रह जाय। अब तुमने मेरा सारा हाल सुन लिया—जो दण्ड मुझे देना चाहो, दे डालो। किन्तु इस तरह ठहर ठहर कर—हर घड़ी पल में—जला कर बेमौत न मारो।"

"अभागिनी, तूने ये बातें मुझे पहले क्यों न सुनाईं? तुझे घर से निकाल बाहर करने में मुझे कौन सा सुख मिल गया है? अपने दुःख को मैं ही जानता हूँ। क्या मैं स्वयं तेरी ही तरह छटपटा नहीं रहा हूँ? तेरी नादानी से मेरी बड़ी साध का गुलज़ार बाग़ उजड़ गया—मेरी ज़िन्दगी बरबाद हो गई। सुख से गिरिस्ती में रहता, लेकिन तूने मुझे ज़बर्दस्ती संन्यासी बना दिया। जो चीज़ तू अपनी भूल से खो चुकी है उसे अब इस जन्म में दुबारा नहीं पा सकती।"

कमला ने उत्तेजित स्वर में नागिन की तरह फुफकार कर कहा—"निठुर, यह कठोर उत्तर सुनने के लिए मैंने तुमको नहीं बुलाया है। अब एक काम करो, मैं तुम्हारे सामने मौजूद हूँ—यह जो तलवार दीवार से लटक रही है—लो, मेरे सीने में—कमला के सीने का कपड़ा ढीला हो गया।

कमला की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। युवक ने उसके आँसुओं को अपने हाथ से पोंछते हुए कहा—प्यारी, मैं तुमको आज भी भूला नहीं हूँ। लेकिन करूँ क्या, ब्राह्मण होकर एक नर्त्तकी को अपने घर में कैसे रख लूँ! मेरी दशा पर विचार करके मुझे क्षमा कर दो।

"नहीं, मैं तुम्हारी सहधर्मिणी बनने का हौसला नहीं कर सकती। इसके लिए मैं तुमसे ज़िद कर भी तो नहीं सकती। मैं तो इतना ही चाहती हूँ दया करके मुझे बीच बीच में दर्शन दे दिया करो।"

"महास्थानराज के मन्त्रि-पुत्र पुण्डरीक के लिए यह भी बड़ी शर्म की बात है। ख़ैर,—फिर भी तुम मेरी धर्मपत्नी हो, तुम्हारी इस इच्छा को पूर्ण करूँगा। राज-काज से छुट्टी पाकर, शाम को, तुम्हें एक बार देख जाया करूँगा। लोक-लाज के मारे तुम्हें बिलकुल न छोड़ दूँगा।"

"नहीं, यह न होगा। मेरे कारण, तुम्हारे चाँद जैसे निष्कलङ्क चरित्र में लोग धब्बा लगाने को तैयार होंगे।

में या तो मर जाऊँगी या इस देश को छोड़ कर अन्यत्र चली जाऊँगी। तुमने मेरी बातें आद्योपान्त सुन लीं और उन पर विश्वास भी कर लिया—मेरे लिए यही बहुत है।''

''नहीं जी, तुम मरोगी किसलिए? मरें तुम्हारे दुशमन। कल तुमको मैं घर पर ले चलूँगा। चलो, कमला, फिर तुम्हारे साथ घर-गिरिस्ती में रहूँ।''

''स्वामी, मेरे इष्टदेव! मुझे संसारी सुख की इच्छा नहीं। मैं तो यही चाहती हूँ कि जन्म-जन्मान्तर में भी मुझ पर तुम्हारी ऐसी ही कृपादृष्टि रहे। जन्म-जन्म में मेरा तुम्हारे ही साथ विवाह हो, तुम्हीं मुझको पति-रूप में प्राप्त होते रहो।''

''तो साफ़ साफ़ कहो कि अब क्या करने का इरादा है।''

''प्राणेश्वर, मैं इस जन्म में तुम्हारे साथ सुख से न रह सकी। तुमको अपनाने के लिए मैं एक बार और कोशिश करूँगी। लाओ, चरण-रज दो; शायद अब तुम्हारे दर्शन न कर सकूँ।''

कमला ने युवक की चरण-रज लेकर अपने सारे बदन में लगा ली। फिर उसके साथ साथ वह घाट तक गई। युवक अपनी नाव पर सवार हो गया। नाव धीरे धीरे उस पार जा लगी। जब तक दीखती रही, कमला उसे सतृष्ण दृष्टि से देखती रही। जब नज़र से ओझल हो गई तब वह धीरे धीरे अपने घर में चली गई।

दूसरे दिन लोगों ने देखा कि देवनर्तकी कमला का मकान ख़ाली पड़ा है। उस दिन से बहुत समय बीत गया, अब तो लोगों को कमला की याद भी नहीं। हाँ, वह अमल धवल सङ्गमर्मर का महल अब भी नये बटोहियों की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया करता है।

[असमाप्त]

अनुवादक, हरिदत्त पाण्डेय

कौटिल्य का काल-मान।

काल और देश (अर्थात् भूमि) नापने की आवश्यकता सब समाज में होती है। सभ्य लोगों का काम उसके बिना चलता ही नहीं। असभ्य भी बिना देश-काल-मान के काम नहीं कर सकते। आज-कल भिन्न भिन्न देशों में 'देश'-मान की भिन्न भिन्न व्यवस्थायें हैं। काल-मान की भी थोड़ी बहुत यही अवस्था है। हाँ, इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि देश-मान की अपेक्षा काल-मान में अधिक समानता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। काल-मान की जितनी आवश्यकता है और उससे जितने भिन्न भिन्न लोगों का सम्बन्ध पड़ता है उतना देश-मान से नहीं। आज-कल सभ्य-समाज में काल-मान के कुछ समान नाम प्रचलित हैं। सप्ताह, घण्टा, मिनट और सेकण्ड का उपयोग क़रीब क़रीब सभी जगह है। परन्तु मास और वर्ष का अर्थ कई समाजों में भिन्न भिन्न होता है। हिन्दुओं में बहुधा चान्द्र मास प्रचलित है। इसके कारण कभी अधिक तिथियाँ तो कभी कम तिथियाँ होती हैं। वर्ष भी चन्द्र के अनुसार गिना जाता है, परन्तु मलमास जोड़ कर बीच बीच में उसे सौर वर्ष के बराबर करने का प्रयत्न किया जाता है। हिन्दुओं में भी इस बात में एकता नहीं है। बङ्गाल में सौरवर्ष और सौरमास प्रचलित हैं। मुसलमानों में केवल चान्द्रमास और चान्द्र वर्ष हैं, सौरवर्ष नहीं। हिन्दुओं का वर्षारम्भ भी एक नहीं है। कहीं चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा से वर्षारम्भ होता है तो कहीं कार्तिक-शुक्ल प्रतिपदा से। मासारम्भ भी एक नहीं। कहीं पूर्णिमा के बाद से मास का प्रारम्भ होता है तो कहीं अमावस्या के बाद से। हम इस लेख में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि हमारे देश में कौटिल्य के समय अर्थात् क़रीब सवा दो हज़ार वर्ष पहले काल-मान किस प्रकार किया जाता था। इस लेख का एक-मात्र आधार कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र है।

अर्थ-शास्त्र के दूसरे अधिकरण के बीसवें अध्याय में कहा है—'त्रुट, लव, निमेष, काष्ठा, कला, नालिका, मुहूर्त, पूर्वभाग (पूर्वाह्ण), अपरभाग (अपराह्ण), दिवस,

रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग ये काल के मान हैं।" इनमें कुछ शब्दों का ठीक ठीक अर्थ कई लोगों को मालूम नहीं। इसलिए इन शब्दों की व्याख्या देना आवश्यक है।

दो त्रुट का एक लव
दो लव का एक निमेष
पाँच निमेष की एक काष्ठा
तीस काष्ठा की एक कला
चालीस कला की एक नाडिका
दो नाडिका का एक मुहूर्त
पन्द्रह मुहूर्त का एक दिवस या रात्रि*

एक दूसरे स्थान पर कहा है कि 'राजवर्ष, मास, पक्ष, दिवस, व्युष्ट (प्रभात), वर्षा-हेमन्त-ग्रीष्म के (पन्द्रह दिन से) एक दिन कमवाले† तृतीय और सप्तम पक्ष और बाक़ी पूर्ण (पन्द्रह दिनवाले) पक्ष और एक अलग अधिक मास काल के भाग हैं।

मराठी में एक प्रख्यात ज्योतिःशास्त्रज्ञ हो गये हैं। आपका नाम था शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित। आपने भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास लिखा है। तुलना के लिए उसकी कुछ बातें हम यहां देंगे। आप कहते हैं कि वेदों में मुहूर्त, कला और काष्ठा काल-मान आये हैं। मुहूर्त का मान उसमें भी उतना ही है जितना कौटिल्य ने बतलाया है। परन्तु वेद से कला और काष्ठा के काल के मान की कल्पना ठीक ठीक नहीं होती। आगे ऋग्वेद-ज्योतिष का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं कि उसमें मुहूर्त दो नाडिका के बराबर बतलाया गया है। पर जो अन्य काल-मान उसमें हैं वे चाणक्य के ग्रन्थ में नहीं हैं। अथर्व-ज्योतिष में दिये गये काल-मानों के नाम तो चाणक्य के नामों से बहुत कुछ मिलते हैं। परन्तु काल-मान के प्रमाण नहीं मिलते। कहीं कहीं तो बड़ा भारी अन्तर देख पड़ता है। श्रीदीक्षित के अनुसार अथर्व-ज्योतिष के काल-मान ये हैं*—

१२ निमेष = १ लव
३० लव = १ कला
३० कला = त्रुटि
३० त्रुटि = १ मुहूर्त
३० मुहूर्त = १ अहोरात्र

उस समय आज-कल के काल-मापक यन्त्र तो थे नहीं। फिर, ये काल-मान किस प्रकार नापे जाते थे? इसके लिए दो पद्धतियां थीं। एक छाया-पद्धति और दूसरी घटिका-पद्धति। छाया के घटने के प्रमाण से दिन-काल का बीतना जाना जा सकता है। इस समय भी लोग कभी कभी इस पद्धति का थोड़ा बहुत उपयोग करते हैं। कौटिल्य ने छाया के प्रमाण ये दिये हैं— जब छाया आठ पुरुष (यानी ९६ अङ्गुल) हो तो समझना चाहिए कि दिन-काल का $\frac{१}{१८}$ भाग बीत गया। जब छाया छः पुरुष (यानी ७२

---

*दिवस या रात्रि की अवधि बारह घण्टों की है। जब दिवस और रात्रि दोनों बराबर मान के होते हैं तब का यह मान है। कौटिल्य ने कहा है कि ऐसा दिवस या रात्रि 'चैत्र' और 'अश्वयुज' (आश्विन) में होते हैं। इसका अधिक विचार हमने आगे किया है। उसे देखिए।

†कौटिल्य ने आगे बतलाया है कि वर्षा के महीने श्रावण और भाद्रपद, हेमन्त के मार्गशीर्ष और पौष, तथा ग्रीष्म के ज्येष्ठ और आषाढ़ हैं। इसके अनुसार शामशास्त्रीजी ने ऊपर के वाक्य का यह अर्थ निकाला है कि भाद्रपद-शुक्लपक्ष, मार्गशीर्ष-कृष्णपक्ष, पौष शुक्लपक्ष, ज्येष्ठ-शुक्लपक्ष, आषाढ़ कृष्णपक्ष और श्रावण-कृष्णपक्ष १४ दिन के होते हैं। शेष पक्ष पन्द्रह दिन के। इसके अनुसार वर्ष ३५४ दिन का होता है। अन्यत्र यह बतलाया गया है कि चान्द्रमास २९$\frac{१}{२}$ दिन का होता है। ऐसे बारह मासों से ३५४ दिन का चान्द्रवर्ष होता है। कौटिल्य ने यह बतलाया है कि वर्ष में ३५४ दिन होते हैं। यह चान्द्रवर्ष ही होना चाहिए।

सौरवर्ष ३०$\frac{१}{२}$ दिन के बारह मासों का अर्थात् ३६६ दिन का बतलाया गया है। आगे एक स्थान पर यह बतलाया गया है कि पांच वर्ष का युग होता है और एक युग में ३० दिन के दो मलमास होते हैं। इस प्रकार पांच वर्ष में चान्द्रवर्ष और सौरवर्ष का मिलान हो जाता है। दोनों के अनुसार युग १८३० दिन का निकलता है। इस कारण यह कहना पड़ता है कि श्रीशामशास्त्रीजी का अर्थ ठीक है। हां, इसी एक वाक्य से ठीक यही अर्थ निकालना कठिन है।

* भारतीय ज्योतिःशास्त्र पृष्ठ ९७।

अङ्गुल) हो तो समझना चाहिए कि दिन-काल का १/१४ भाग बीत गया। इसी प्रकार दो पुरुष हों तो १/६ भाग, एक पुरुष हो तो १/४ भाग, आठ अङ्गुल हो तो ३/१० भाग, चार अङ्गुल हो तो ३/८ भाग और जब छाया न हो तो आधा दिन बीत गया समझना चाहिए। इसी प्रकार इसके उलटे क्रम से अपराह्न का मान जान सकते हैं। अथर्व-ज्योतिष के छाया के प्रमाण ये हैं—

मुहूर्त	छाया (अङ्गुलों में)
१	९६
२	६०
३	१२
४	६
५	५
६	४
७	३
८	०

अथर्व-ज्योतिष के दिनच्छाया-सम्बन्धी वर्णन में भी दीक्षितजी ने यह नहीं बतलाया कि ये सम्बन्ध किस दिन के हैं। कौटिल्य ने भी स्पष्ट नहीं कहा है कि उसके दिये प्रमाण किस दिन लागू होते हैं। परन्तु उसी के नीचे इतना कहा है कि आषाढ़ में मध्याह्न के समय छाया शून्य होती है। राजा की दिनचर्या बतलाते हुए दिन के आठ भाग बताये हैं और उन्हें जानने के लिए छाया के प्रमाण दिये हैं। शून्य, चार अङ्गुल और बारह अङ्गुल की छाया का दिनमान-सम्बन्ध वहाँ भी ठीक यही दिया है। हाँ, ९६ और ७२ अङ्गुलों का दिनमान वहाँ न दे कर ३६ अङ्गुलों का दिनमान १/८ भाग दिया है। इसी प्रकार इसके उलटे क्रम से अपराह्न के भाग जाने जा सकते हैं। इसलिए हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उसके दिये दिनच्छाया-सम्बन्धी मान आषाढ़ के किसी दिन के हैं। इसलिए अथर्व-ज्योतिष के प्रमाणों से कौटिल्य के प्रमाणों की तुलना नहीं की जा सकती और इसलिए निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि उसके दिये प्रमाण ठीक हैं या नहीं। शायद वे दक्षिणायन के प्रारम्भ-दिन अर्थात् सायनकर्काके के, हों और पाटलिपुत्र के अक्षांश को लागू होते हों। परन्तु सबके लिए ये किसी काम के नहीं हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो दिन और छाया का सम्बन्ध अक्षांश पर अवलम्बित रहता है। कौटिल्य के दिये प्रमाण से कोई ज्योतिषी (उन्हें दक्षिणायन प्रारम्भ-दिन के प्रमाण मान कर) चाहे तो उनके अक्षांश निकाल सकता है। दूसरे, दिनच्छाया-सम्बन्धी ऋतु पर भी अवलम्बित होते हैं, क्योंकि अक्षांश के अनुसार ही नहीं तो ऋतु के अनुसार भी सूर्य और क्षितिज का अन्तर कम-अधिक होता है। ऋतुमान का छाया से जो सम्बन्ध है वह कौटिल्य को भी ज्ञात था। कौटिल्य कहता है—"आषाढ़ के मास में मध्य दिन के समय छाया शून्य रहती है। आषाढ़ के बाद श्रावण से छः महीने तक छाया दो दो अङ्गुल बढ़ती जाती है। और माघ से दूसरे छः मासों में दो दो अङ्गुल घटती जाती है।" अक्षांश की दृष्टि से छाया के प्रमाण कौटिल्य ने सोचे थे, ऐसा नहीं देख पड़ता। दिन के मध्य-समय शून्य छाया सभी जगह नहीं होती। यह बात केवल क़रीब २३½ उत्तर-अक्षांश और २३½ दक्षिण-अक्षांश के प्रदेश में ठीक है, अन्यत्र नहीं। अन्य दिनों की छाया के प्रमाणों का अर्थ कैसे लगाया जाय, यह भी स्पष्ट नहीं। इससे कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। उन सबके विचार की यहाँ आवश्यकता नहीं। एक कठिनाई का उदाहरण लीजिए। दो दो घटाने बढ़ाने से दिन के मध्य काल की छाया में भी दो दो घटाना बढ़ाना होगा क्या? ऐसा करने से दिन के मध्य काल की छाया कभी उत्तर को तो कभी कभी दक्षिण को होगी? परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि २३½ उत्तर-अक्षांश के उत्तर के प्रदेश में मध्याह्न के समय भी छाया सब ऋतुओं में उत्तर की ओर ही पड़ेगी, क्योंकि सूर्य सदैव कम-अधिक दक्षिण की ओर ही रहेगा। सारांश, दिनमान का ज्ञान दिनच्छाया के सम्बन्ध से काम चलाने लायक़ भी नहीं हो सकता। उसके लिए रोज़ रोज़ घड़ी से मिलान करते रहना होगा।

काल-मान जानने का दूसरा उपाय घटिका है। पुरानी पद्धति के अनुयायी कहीं कहीं उपनयन, विवाहादि कार्यों में उसका उपयोग अब भी किया करते हैं। इसी को कौटिल्य ने नालिका* कहा है। नालिका-काल-मान जानने का प्रमाण कौटिल्य ने यह बतलाया है कि चार मासा

---

*इसी को नाडिका भी कहते हैं।

सोना लेकर उसका चार अङ्गुल लम्बा तार बनाया जाय, यह तार इतना मोटा हो कि जितना नालिका-पात्र का छिद्र हो और एक आढक पानी उसमें से निकालने के लिए जितना समय लगे उतना काल एक नालिका है। यहां आढक का प्रमाण बतलाना आवश्यक है। अन्यत्र कौटिल्य के कथन से ऐसा जान पड़ता है कि आढक ५० पल के बराबर है। वेदाङ्ग-ज्योतिष में भी आढक का मान यही दिया है, परन्तु उसमें दीक्षितजी के मत के अनुसार कुछ गड़बड़ भी देख पड़ता है। आगे चल कर एक आढक १६०$\frac{५}{८}$ पल के बराबर आपने उसी ग्रन्थ से सिद्ध किया है। और फिर आगे आपने यह बतलाया है कि एक पल ४ कर्ष अथवा ४ तोले के बराबर होता है। इस प्रमाण के अनुसार एक आढक पानी ६$\frac{१}{२}$ सेर से भी अधिक होता है। आगे दीक्षितजी कहते हैं, 'कालवाचक पल पानीय पल से निकला होगा अर्थात् एक पल पानी पात्र में आने के* लिए जितना समय लगता है उतना एक कालात्मक पल है।'' इस अर्थ के पुष्टिकरणार्थ आप यह भी कहते हैं कि कई ज्योतिषग्रन्थों में कालात्मक पल के अर्थ से 'पानीय पल' आया है। इस दृष्टि से वेदाङ्ग-ज्योतिष की नालिका कौटिल्य की नालिका से भिन्न हो जाती है। परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए। कौटिल्य ने पात्र के छिद्र का प्रमाण दिया है, परन्तु दीक्षितजी के कथनानुसार वेदाङ्ग-ज्योतिष में यह प्रमाण नहीं देख पड़ता। इसलिए यह अनुमान निकलता है कि वेदाङ्ग-ज्योतिष में दिये पात्र का छिद्र बड़ा होना चाहिए। क्योंकि वेदाङ्ग-ज्योतिष और कौटिल्य दोनों ने दो नालिका का एक मुहूर्त और दिन-रात्रि में तीस मुहूर्त बतलाये हैं। इसलिए दोनों की नाडिका का प्रमाण एक ही होना चाहिए। वह आज-कल की भाषा में २४ मिनट निकलता है। फलतः, वेदाङ्ग-ज्योतिष के बड़े पात्र का छिद्र बड़ा ही होना चाहिए। यही नाडिका आगे कभी मापक पात्र के कारण घटिका या घटी या घड़ी कहलाने लगी। और आज-कल वह नाम काल-मापक यन्त्रों के अँगरेज़ी नाम का अनुवाद-मात्र हो गया है। घड़ी प्रथम पानी के द्वारा काल-मापक पात्र थी, वह आज-कल कल-पुज़ों के द्वारा परिचालित काल-मापक यन्त्र बन गई।

यहां थोड़ा विषयान्तर करना पड़ता है। नालिका का उपयोग अर्थ-शास्त्र में कम से कम तीन जगह है। और तीनों स्थानों में काल-मापक योजनाओं का उल्लेख है। हमारी समझ में तीनों स्थानों में नालिका या नाडिका का वही अर्थ है। परन्तु शामशास्त्रीजी ने डाकृर फ़्लीट का यह मत दिया है कि मूल-ग्रन्थ के १०७ पृष्ठ में नालिका का जो उपयोग हुआ है वह पानीय नालिका के अर्थ से हुआ है। परन्तु पृष्ठ ३७ में पृष्ठ १३ के अनुसार नालिका से छाया-नालिका का अर्थ सम्बोधित है। हमारी अल्पमति के अनुसार डाकृर साहब ने नालिका का यह अर्थ करने में बड़ी भूल की है। पृष्ठ १०७ पर जब स्पष्ट कह दिया गया है कि इतना पानी निकलने को जितना समय लगे उतने समय को नाडिका कहते हैं तब तो डाकृर साहब ने चुपचाप मान लिया। परन्तु जहां इतना स्पष्ट नहीं कहा गया है, वहां आपने अपनी गांठ का अर्थ जोड़ने का प्रयत्न किया है। और हम समझते हैं कि इस भूल के लिए श्री शामशास्त्रीजी भी बहुत कुछ ज़िम्मेदार हैं। पृष्ठ १३ का वाक्य यह है—"मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान्वा। य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः, छायानालिकाप्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः।" इसका अनुवाद श्रीयुत शामशास्त्रीजी ने यों किया है—"Those teachers and ministers who keep him from falling a prey to teachers, and who, by striking the hours of the day as determined by measuring shadows (chhàyánalikapratodena) warn him of his careless proceedings even in secret shall invariably be respected." पृष्ठ ३७ का वाक्य इस प्रकार है—"नालिकाभिरहरष्टधा रात्रिं च विभजेत्। छायाप्रमाणेन वा।" इसका भी श्रीयुत शामशास्त्री ने अनुवाद किया है—"He shall divide both the day and the night into eight nalikás ($1\frac{1}{2}$ hours), or according to the

---

* कौटिल्य ने पात्र से पानी निकलने की क्रिया का उल्लेख किया है, दीक्षितजी ने पानी के बड़े पात्र में ख़ाली नालिका (अर्थात् उसका पात्र) डालने से उसमें पानी घुसने की क्रिया का। काल की दृष्टि से बात एक ही है।

length of the shadow (cast by a gnomon standing in the sun). श्रीयुत शामशास्त्री का अनुवाद और डाकृर .फ्लीट का मत ग्रहण करने से कौटिल्य पर दो बातों की असङ्गति का दोष मढ़ा जाता है। एक तो यह कि नाडिका का मान भिन्न भिन्न तीन स्थानों पर दो तरह का है। एक जगह वह २४ मिनट का निकलता है तो दूसरी जगह ९० मिनट का। दूसरे, एक जगह नाडिका पानी के द्वारा काल-मापक पात्र है तो दूसरी जगह वह छाया-मापक दण्ड जैसी कुछ चीज़ है। हमारा मत है कि चाणक्य जैसा विद्वान् ऐसी असङ्गत बातें नहीं कर सकता। क्या वह यह भूल सकता है कि नाडिका का एक मान और एक अर्थ एक जगह दिया है, अब मैं दूसरे स्थान में दूसरा मान और दूसरा अर्थ कैसे दूँ। डाकृर .फ्लीट और श्रीयुत शामशास्त्रीजी को पहले यह देखना चाहिए कि नाडिका का जो अर्थ उन्होंने करने का प्रयत्न किया है उसे इतिहास का कहीं आधार है या नहीं। श्रीदीक्षितकृत भारतीय ज्योतिःशास्त्र के इतिहास में कहीं शङ्का के लिए भी यह नहीं देख पड़ता कि नाडिका १½ घण्टे की भी होती थी और वह छाया-द्वारा काल-मापक दण्ड जैसी कुछ चीज़ थी। नाडिका सदैव वहाँ २४ मिनट के बराबर देख पड़ती है और वह पानी के द्वारा काल-मापक पात्र है। दूसरे पृष्ठ १०७ और ३७ के पूर्वापर सन्दर्भ को देखना उनका कर्तव्य था। छाया-द्वारा काल दिन में नापा जा सकता है, रात्रि में नहीं। इसलिए रात्रि के लिए भी कोई योजना चाहिए। और वह उस प्राचीन काल में नाडिका ही थी। फिर वह क्योंकर छाया-मापक दण्ड हो सकता है? वह पानीय पात्र ही होना चाहिए। पृष्ठ ३७ पर राजा की दिन-रात्रि-चर्या बतलाई है। इसलिए दिवस के आठ भागों के छाया प्रमाण वहाँ दिये हैं, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं। परन्तु रात्रि-चर्या का नियन्त्रण कैसे हो? उसका उत्तर वही है अर्थात् नालिका के द्वारा। सारांश, नालिका पानीय पात्र थी, छाया-दण्ड नहीं। फिर ऐसे विद्वानों ने यह भूल कैसे की? इसके दो उत्तर देख पड़ते हैं। पृष्ठ १३ पर 'छायानालिकाप्रतोदेन' कहा है। 'प्रतोद' के अर्थ ने शायद उन्हें गड़बड़ में डाल दिया हो। श्रीआपटे इस शब्द का अर्थ 'अङ्कुश' वग़ैरः (Goad, long whip, pricking instrument) करते हैं। इस श
का अन्यत्र कुछ भी अर्थ हो, परन्तु यहाँ यह केव
अलङ्कारिक अर्थ में आया है, शाब्दिक अर्थ में नहीं
शाब्दिक अर्थ स्वीकार करने से यह भी स्वीकार कर
होगा कि आचार्य और अमात्य 'छायानलिकाप्रतोद
राजा को टोंचा करें। परन्तु यह अर्थ बहुत भद्दा हो जात
है—राजा, अमात्य, आचार्य के लिए ऐसी बात चाणक्
न बतलाएगा। इसलिए 'प्रतोद' को यहाँ केवल अलङ्का-
रिक मानना चाहिए और अर्थ करना चाहिए 'छाय
नलिका के (काल-दर्शक) अङ्कुश-द्वारा उसे उसके का
का ख़याल दिलाते रहें' अर्थात् उनको बतलाता रहे
अभी यह काम करने का समय है, फिर यह काम कर
होगा, आदि। शायद 'प्रतोदेन' के एक वचन ने उ
विद्वानों को गड़बड़ में डाल दिया हो। दो वस्तुओं
कारण द्विवचन होना चाहिए और यहाँ तो एकवचन है
फलतः छाया-नलिका से एक ही वस्तु का बोध होता है
परन्तु हमारी समझ में प्रतोद शब्द को द्विवचन में रखने
आवश्यकता यहाँ प्रतीत नहीं होती। क्या दो एकवच
शब्दों का षष्ठीतत्पुरुष समास तीसरे एकवचनी शब्द
नहीं हो सकता? यदि हो सकता है तो छाया-नलिका
को दो वस्तु मानने में कौन सी बाधा है? परन्तु शास्त्री
ने इस दो सामासिक शब्द से एक ही वस्तु का
लिया और 'छायानाडिका' एक नई वस्तु आपने
डाली। इसी अर्थ को डाकृर साहब ने स्वीकार कर लि
फिर पृष्ठ ३७ के शब्दों से और भी गड़बड़ा गये
नालिका को आपने डेढ़ घण्टे का बना डाला। 'नालिक
भिरहरष्टधा रात्रिं च विभजेत्। छायाप्रमाणेन वा।' इ
वाक्य के बाद पूर्वाह्न के काल-मापक चार छाया-प्रमा
दिये हैं। इसलिए नालिका के द्वारा भी दिन या रात्रि
आठ भाग होते होंगे! दिन और रात्रि को कौटिल्य
(विषुवदिन के अनुसार) बराबर माना है, इसलि
नाडिका १½ घण्टे की होनी ही चाहिए! और पृष्ठ १०
की नाडिका तो २४ मिनट के बराबर बताई है, इसलि
पृष्ठ ३७ की नाडिका कोई और नाडिका है और
(श्रीशामशास्त्रीजी के अर्थ के अनुसार) पृष्ठ १३ की नाडि
ही होनी चाहिए! इसलिए नाडिकाभिः......विभजे

का अर्थ 'नाडिकाओं में बाँटना चाहिए' ही होना चाहिए! यानी नाडिका डेढ़ घण्टे की होती है ! इन शब्दों का अर्थ 'नाडिकाओं-द्वारा विभाजित होना चाहिए' ऐसा करने से फ़्लीट साहब को एक बड़ी भारी आपत्ति उपस्थित होती है। आपकी कठिनाई आपही के शब्दों में सुन लीजिए—

"The passage on text p. 37 is an interesting one. The king is directed to divide the day-time and the night into eight (equal) parts by the nalikás or by the measure of the shadow (of a gnomon). The text then states the shadow-lengths which give the eight divisions. That is all right for the day time. But what about the night, when the gnomon gives no shadow? Are the divisions to be reckoned at night by the náliká of 24 minutes, which is referred to at the bottom of p. 107? That would be rather difficult, because one-eighth of the day-time or of the night = 90 minutes, $3\frac{3}{4}$ nalikas: and how are $\frac{3}{4}$ of a náliká to be marked by the water bowl? I am inclined to think that the náliká of p. 37 has nothing to do with the nalika of p. 107, and that its full name is chhayá-náliká, which occurs on p. 13, line 2. This period of 90 minutes is, as far as I know, quite an exceptional Indian division of time, and the more remarkable because it is not commensurablé without fractions, with either the náliká as usually known or the Muhurta." साहब बहादुर ने पृष्ठ १३ के वाक्य के श्रीशामशास्त्रीजी के अनुवाद को ठीक मान लिया और उसका सहारा पृष्ठ ३७ के वाक्य के अर्थ के लिए लिया। परन्तु जब पहले स्थान में ही भूल हुई तब दूसरे स्थान में भी होनी चाहिए। पृष्ठ ३७ पर नालिका का अर्थ करते समय मुख्य अड़चन यह उपस्थित हुई कि नालिका-द्वारा तो दिन या रात्रि के अष्टमांश के पूरे पूरे हिस्से होते नहीं, तीन पूर्णाङ्क और तीन चतुर्थांश निकलते हैं, तीन चतुर्थांश किसी पानीय पात्र-द्वारा किस प्रकार नापे जायँ। यह नाडिका इसलिए दिन या रात्रि के अष्टमांश को पूरे पूरे हिस्से में ही विभाजित करती होगी यानी वह डेढ़ घण्टे की ही होनी चाहिए। परन्तु क्या हम पूँछ सकते हैं कि कौटिल्य ने किस आधार पर 'त्रुटि, लव, निमेष, काष्ठा, कला' का मान दिया होगा ? क्या उसी के अनुसार $\frac{३}{४}$ नाडिका यानी ३० कला नहीं बतला सकते ? क्या आजकल भी भिन्न भिन्न रूपों के पात्रों में भिन्न भिन्न माप चिह्नों-द्वारा नहीं दिखला सकते। विज्ञान-युग के विद्वान् को तो यह कठिनाई न उपस्थित होनी चाहिए। रही यह बात कि ऐसा मानने से भारतीयों को इच्छा से अधिक सभ्य मानना पड़ता है, तो इसके लिए हमारे पास कोई उपाय नहीं। जब यही बात कि 'तुम लाख कहो, हम एक न मानेंगे' तब कहनेवाला क्या कर सकता है। परन्तु हमारी समझ में पृष्ठ १३ और ३७ और १०७ में नालिका का वही एक अर्थ है, पानी के द्वारा काल-मापक पात्र और जिसमें एक आढक पानी चाणक्य के दिये विशिष्ट छिद्र के बराबर छिद्र से निकले वह काल। इस विषयान्तर को यहीं समाप्त कर अब हम पुनश्चाणक्य के काल-मान का वर्णन करते हैं।

ऋतु के अनुसार घटती-बढ़ती छाया का (ऊपर एक स्थान पर दिया हुआ) प्रमाण बताने पर चाणक्य कहता है—'पन्द्रह दिन-रात्रि का एक पक्ष होता है। जिस पक्ष में चन्द्र की कलायें बढ़ती हैं वह शुक्ल कहलाता है, जिस पक्ष में चन्द्र की कलायें घटती हैं वह बहुल कहलाता है।' 'कृष्ण' के स्थान पर यहाँ बहुल शब्द आया है। आगे आप कहते हैं, "दो पक्ष का एक मास होता है। ३० दिन-रात्रि का प्रकर्म मास (कर्मचारियों का मास) होता है। साढ़े तीस दिन-रात्रि का एक सौरमास होता है। साढ़े उनतीस दिन का चान्द्रमास होता है। सत्ताईस दिन का नाक्षत्रमास होता है। बत्तीस मास में एक मलमास होता है। अश्ववाहों का (मलमास) पैंतीस

महीनों में होता है और हस्तिवाहों का मलमास चालीस महीनों में होता है।" अब यह देखना है कि प्राचीन समय की अथवा आज-कल की बातों से ये काल-मान कहाँ तक मिलते-जुलते हैं।

आज-कल भी लोग साधारणतः, यानी विशिष्ट शास्त्रोक्त प्रसङ्गों को छोड़ कर, पक्ष पन्द्रह दिन और मास तीस दिन का मानते हैं। हाँ, अँगरेज़ी मासों के कारण आज-कल कभी कभी, और विशेषतः सरकार से सम्बन्ध रखनेवाले काम-काजों में, दिन ३१ दिन का तो कभी क्वचित् २८ या २९ दिन का भी मानना पड़ता है। तथापि लोगों की साधारण समझ यही है कि मास तीस दिन का होता है। शुक्ल और कृष्ण पक्षों के विषय में कोई नई बात नहीं। 'कृष्ण' के लिए केवल एक भिन्न शब्द 'बहुल' आया है। दूसरों ने भी कभी कभी इस शब्द का इस अर्थ में उपयोग किया है। आज-कल नाक्षत्रमास २७ दिन ७ घण्टे ४३ मिनट ११.४६१ सेकण्ड * का होता है, यानी, मोटी तरह से, २७ दिन ७¾ घण्टे अथवा २७⅓ दिन का होता है। इसलिए यह कह सकते हैं कि मोटी तरह से कौटिल्य का दिया नक्षत्रमास आज-कल के नक्षत्रमास से मिलता-जुलता है। चान्द्रमास तो आज-कल के चान्द्रमास से और अधिक मिलता है। यदि कौटिल्य ने उसका मान २९½ दिन बतलाया है तो आज-कल भी वह २९ दिन १२ घण्टे ४४ मिनट २.८७ सेकण्ड का है। यानी दोनों में बहुत ही कम अन्तर है। और जिस समय आज-कल के भौतिक-शास्त्र और सूक्ष्म यन्त्र न थे उस समय इतनी भूल हुई ही तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर यह स्मरण रखना चाहिए कि अर्थ-शास्त्र कुछ ज्योतिः-शास्त्र नहीं। राज्यशासन के लिए जितने ज्योतिष की आवश्यकता होती है उतना ही बतलाने का उसका हेतु है। इसलिए सूक्ष्म बातों को अर्थ-शास्त्र में बतलाने की आवश्यकता वह न समझता रहा हो। सौरमास ३०½ दिन का यहाँ बताता है। इससे सौर-वर्ष ३६६ दिन का निकलता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष में भी सौरमास ३०½ दिन का और सौरवर्ष ३६६ दिन का ही बताता है। इतना ही नहीं, कौटिल्य क युगमान वेदाङ्ग-ज्योतिष के युगमान से ठीक मिलता है। कौटिल्य और वेदाङ्ग-ज्योतिष दोनों युग को पाँच वर्ष यानी १८३० दिन का बताते हैं। अपने यहाँ बहुधा जगह चान्द्रमास चलते रहे और अब भी चलते हैं। चान्द्रमास के अनुसार वर्ष ३५४ दिन का होता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष में बताया गया है कि एक युग में दो अधि मास या मलमास जोड़ने चाहिए। यानी पाँच चान्द्र (३५४ + ५) + ६० दिन = १८३० दिन = ३६६ + ५ = पाँच सौरवर्ष के हो जाते हैं। इस प्रकार चान्द्रमा सौरमान के बराबर कर लिया जाता था। यही बात कौटि ने भी कही है। उसने पहले केवल यही कहा है कि बत्ती महीनों में एक मलमास होता है। इस तरह की गण भी एक बार प्रारम्भ कर ली जाय तो प्रत्येक युग में मलमास ज़रूर आयेंगे और इस प्रकार चान्द्रमान सौ मान के बराबर हो जायगा। आगे चलकर यही कौटिल्य ने स्पष्टतया कह डाली है—

> दिवसस्य हरत्यर्कष्षष्टिभागमृतौ ततः।
> करोत्येकमहश्छेदं तथैवैकं च चन्द्रमाः॥

प्रति दिन सूर्य (दिन का) साठवाँ भाग हरता और इस प्रकार एक ऋतु में एक दिन बनाता है। ए ऋतु में मोटी रीति से ६० दिन होते हैं, परन्तु एक दि बढ़ जाता है, यानी वास्तव में ६१ दिन होते हैं और में ६ ऋतु होते हैं। इस तरह वर्ष में ३६६ दिन हुए चन्द्रमा एक ऋतु में एक दिन कम करता है। इस प्र एक ऋतु ५९ दिन का और एक वर्ष ३५४ दिन होगा। इन्हें बराबर करने के लिए कौटिल्य ने कहा है—

> एवमर्धतृतीयानामब्दानामधिमासकम्।
> ग्रीष्मे जनयतः पूर्वं पञ्चाब्दान्ते च पश्चिमम्॥

यहाँ टीकाकार ने 'अर्धतृतीयानामब्दानाम्' का ठीक ३० महीने लिया है। ऐसा अर्थ करने से मल यानी अधिक मास तीस तीस महीनों में आता है वह कौटिल्य के ऊपर के एक कथन से असङ्गत है। तथ इतना मानना होगा कि वेदाङ्ग-ज्योतिष के इस श्लोक कौटिल्य का कहना बहुत ठीक मिलता है। अथवा

---

* ये अङ्क Godfrey कृत A Treatise on Astronomy से लिये हैं।

कहो कि कौटिल्य ने निम्नलिखित श्लोक के भाव को ही अपनी भाषा में दो श्लोकों में रख दिया है—

> द्यूनं द्विषष्टिभागेन हेयं सूर्यात् सपार्वणम् ।
> यत्कृतावुपजायेते मध्ये चान्ते चाधिमासकौ ॥

यह हमें बतला देना चाहिए कि दीक्षितजी के मत के अनुसार यह तीस मास का काल जल्द ही बदल कर ३२ मास का होगया । अर्थात् वेदाङ्ग-ज्योतिष के थोड़े काल बाद अधिक मास ३२ मास पश्चात् माना जाने लगा । ज्योतिषी लोग यह जान सकते हैं कि कौटिल्य 'मध्यम रवि' का पूरा ज्ञान रखता था । अब कोई कहे कि सौरवर्ष ३६६ दिन का नहीं होता, वह तो आज-कल ३६५ दिन ५$\frac{3}{4}$ घण्टे का होता है, इस पर दीक्षितजी के मत के अनुसार यह उत्तर दिया जा सकता है कि वर्षमान धीरे धीरे कम हो रहा है । कोई आश्चर्य नहीं कि उतने पुराने समय में वर्ष-मान ३६६ दिन का ही रहा हो । अब रही तीन मलमासों की बात । डाक्टर फ़्लीट इनके विषय में कहते हैं, "I retain my opinion that *Malamasa* is a corrupt reading for *Mallamasa*, and that the passage means that wrestlers were hired by a month of 32 days, horse-carriages by a month of 35 days and elephant-carriages by a month of 40 days". जान पड़ता है कि डाक्टर साहब मौलिकता के ख़ूब शौक़ीन हैं । इसलिए आप कुछ न कुछ ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करते से देख पड़ते हैं । 'मलमास' का आपने जो अर्थ किया है वह हमें ठीक नहीं जँचता । 'मलमास' शब्द की इतनी खींचातान करने की कोई आवश्यकता नहीं । वह 'मल' और 'मास' से बना है । मल का अर्थ अपवित्र भी होता है । जिस मास में धार्मिक कार्य बन्द रहते हैं वह मलमास है । यही अर्थ श्री आपटे ने अपने कोश में दिया है—मलमास—an intercalary month (so called because during that month religious ceremonies are not performed). डाक्टर साहब को यह अर्थ सूझने के कारण 'पञ्चत्रिंशदश्ववाहायाः' और 'चत्वारिंशद्धस्तिवाहायाः' ये दो वाक्य हुए हैं । क्योंकि आपने इन दोनों वाक्यों का अर्थ भी हमारी समझ में कुछ और ही किया है । ३५ दिन के और ४० दिन के महीने कभी नहीं सुने गये । हिन्दुस्तान में ऐसी कोई बात कभी नहीं प्रचलित थी, न दीक्षितजी को कहीं देख ही पड़ी । एक बात अलबत्ता दीक्षितजी बतलाते हैं कि कभी कहीं अधिक मास २८ महीनों में होता था तो कभी कहीं ३५ महीनों में । यह सम्भव है कि कौटिल्य के समय में कहीं ४० महीनों में मलमास रहा हो । सम्भव है कि हस्तिवाहा और अश्ववाहा लोक-विशेष अथवा जाति-विशेष के नाम रहे हों और उनमें मलमास की गणना भिन्न पद्धति के अनुसार की जाती हो । घोड़ों की गाड़ियाँ तो थीं और हैं, परन्तु हाथियों की गाड़ियों का न तो कौटिल्य के ग्रन्थ में कहीं उल्लेख है, न वे कहीं सुनने में आई हैं । इसलिए डाक्टर साहब का अर्थ अग्राह्य जान पड़ता है । आपने इतिहास और प्रचलित बातों की ओर ध्यान नहीं दिया, इसलिए कुछ का कुछ अर्थ आप कर बैठे हैं । अस्तु ।

मलमासों के वर्णन के बाद कौटिल्य ने बतलाया है कि एक ऋतु में दो मास होते हैं, श्रावण और प्रौष्ठपद (भाद्रपद) वर्षा के मास, अश्वयुज (आश्विन) और कार्तिक शरद् के, मार्गशीर्ष और पौष हेमन्त के, माघ और फाल्गुन शिशिर के, चैत्र और वैशाख वसन्त के और ज्येष्ठामूलीय (ज्येष्ठ) और आषाढ़ ग्रीष्म के मास हैं । शिशिर से उत्तरायण और वर्षा से दक्षिणायन प्रारम्भ होते हैं । (ये) दो अयन मिल कर संवत्सर होता है । अब हम इन बातों का विचार करेंगे ।

वेदाङ्ग-ज्योतिष से ये सब बातें मिलती हैं । उसमें भी भिन्न भिन्न ऋतुओं के यही नाम हैं और उनके मास भी वही हैं । वहाँ भी कहा है कि माघ और श्रावण में सूर्य क्रम से उत्तर और दक्षिण को घूमता है । प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्यचान्द्रमसावुदक् । सापार्द्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा ॥ अर्थात् कौटिल्य और वेदाङ्ग-ज्योतिष के अयन-काल बिलकुल एक हैं । यह कोई भी देख सकता है कि तब से अब तक अयन-काल में बड़ा अन्तर पड़ गया है । कौटिल्य के समय में विषुव चैत्र और आश्विन में पड़ते थे और उत्तरायण और दक्षिणायन माघ और श्रावण में ।

अब वे उन महीनों में नहीं आते। बहुत कुछ पीछे हट गये हैं। कौटिल्य के समय को अब तक क़रीब २२४० वर्ष बीत गये। अयनगति का मान क़रीब ५० विकला पीछे की ओर है। इस हिसाब से अब अयन-काल में क़रीब ३२ दिन का अन्तर होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि कौटिल्य के मास अमान्त हैं या पूर्णिमान्त। दो जगह के उल्लेखों से यह जान पड़ता है कि वर्ष (कम से कम सरकारी वर्ष) श्रावण से अर्थात् वर्षा के प्रारम्भ से शुरू होता था। पहले अधिकरण के ७ वें अध्याय में कहा है—'गाणनिक्यान्याषाढीमागच्छेयुः'—अर्थात् हिसाब-किताब-वाले अपना हिसाब-किताब आषाढ़ में लेकर आयें। इसी प्रकार इस के कुछ ही आगे कहा है—त्रिशतं चतुःपञ्चाशच्चाहोरात्राणां कर्म संवत्सरः। तमाषाढीपर्यवसानमूनं पूर्णं वा दद्यात्। कर्मचारियों का वर्ष ३५४ दिन का बतलाया तो है ही, परन्तु यह भी कह दिया है कि काम की मजूरी काम देख कर आषाढ़ के अन्त में दे देनी चाहिए। इससे ऊपर दिये हमारे दो कथनों की पुष्टि होती है, अर्थात् साधारणतः वर्ष चान्द्र था, परन्तु अधिक मास-द्वारा उसका मिलान सौरवर्ष से कर लिया जाता था और आषाढ़ के बाद अर्थात् श्रावण से नया वर्ष शुरू होता था। परन्तु इससे भी यह निश्चय नहीं होता कि मास अमान्त थे या पूर्णिमान्त। और हमें जहाँ तक स्मरण है पुस्तक में इस बात का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निर्देश भी नहीं है। इसलिए हमारा सारा दारमदार गणित पर है। यदि अमान्त मान कर माघ शुक्ल प्रतिपदा से ३२ दिन घटाते हैं तो अब उत्तरायण का दिन (अमान्त) मार्गशीर्ष वद्य १४ होता है। पूर्णिमान्त मान कर माघशुक्ल प्रतिपदा से ३२ दिन घटाते हैं तो मार्गशीर्षशुक्ल १४ का दिन अब निकलता है। इस साल के मराठी पञ्चाङ्ग में सायन-उत्तरायण का दिन मार्गशीर्षशुक्ल १४ ही है। इससे कोई कहेगा कि कौटिल्य पूर्णिमान्त मास मानता था। परन्तु हमारी समझ में यह अनुमान सर्वथा ठीक न होगा। कौटिल्य कुछ वेध लेनेवाला ज्योतिषी न था। उसने वेध नहीं लिये, यह समझ पड़ता है। वह तो सब शास्त्र सीखा हुआ विद्वान् था। जब उसके ज्योतिष-ज्ञान की अनेक बातें वेदाङ्ग-ज्योतिष से मिलती हैं तब इसी एक बात में वह क्योंकर वेदाङ्ग-ज्योतिष से भिन्न बात कर सकता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष में उसने जो पढ़ा था उसी की बहुतेरी बातें उसने अपने ग्रन्थ में दी हैं, यह हमारा मत है। अर्थात् वेदाङ्ग-ज्योतिष के वेध उसके समय में ही इतने पुराने थे कि नक्षत्रों और ऋतुओं में काफ़ी अन्तर पड़ गया था। वराहमिहिर के समय में अयनस्थान पहले से २३-२४ अंश पीछे हट गया था। चाणक्य के ग्रन्थ का काल ३२० ईसा-पूर्व होना चाहिए। अर्थात् चाणक्य और वराहमिहिर के काल में आठ सौ से अधिक वर्षों का अन्तर है, अर्थात् इन दोनों के कालों के बीच अयनबिन्दु क़रीब १२ अंश पीछे हट गया था। इसलिए वेदाङ्ग-ज्योतिष से चाणक्य के समय में अयन क़रीब १२ अंश ज़रूर पीछे हट गया होगा। अर्थात् वेदाङ्ग-ज्योतिष का काल ईसा-पूर्व बारहवीं शताब्दी के क़रीब निकलता है। इन दो कालों के ऋतुओं में क़रीब १२ दिन का अन्तर पड़ गया होगा। चाणक्य के ही एक दो वाक्यों से यह बात सिद्ध होती देख पड़ती है। नावध्यक्ष के कार्यों को बतलाते हुए उसने कहा है—

सप्ताहवृत्तामाषाढीं कार्तिकीं चान्तरातरः।

आषाढ़ के पहले सात दिन बीतने पर नावों का चलाना प्रारम्भ हो जाय। हम सात-आठ दिन और छोड़ देकर यह कह सकते हैं कि चाणक्य के समय में वास्तविक वर्षा आषाढ़ के बीच प्रारम्भ हो जाती रही होगी। यही बात और एक वाक्य से सिद्ध होती है। उसने कहा है—'आषाढ़े मासि नष्टच्छायो मध्याह्ने भवति'—आषाढ़-मास में मध्याह्न के समय छाया नष्ट हो जाती है। इसका अर्थ यही कि आषाढ़-मास में मध्याह्न के समय छाया पूर्व-पश्चिम* नहीं रहती। अर्थात् वास्तविक दक्षिणायन, श्रावण से नहीं तो, आषाढ़ में कौटिल्य के समय प्रारम्भ होता था। अर्थात् वास्तविक ऋतुओं का प्रारम्भ क़रीब १५ दिन पहले ही होता था। चाणक्य के दिये ऋतुमास ग्रन्थमूलक (हमारे मत के अनुसा

---

*हम ऊपर कह आये हैं कि मगध-प्रान्त में इस सम भी उत्तर-दक्षिण छाया बनी रहेगी।

वेदाङ्गज्योतिष से लिये) हैं, वेधमूलक नहीं। वेदाङ्ग-ज्योतिष में मास अमान्त बतलाये हैं। इसलिए कौटिल्य के भी मास अमान्त ही होना चाहिए। वेध लेनेवाला ज्योतिषी न होने के कारण उसने ग्रन्थ के पढ़े हुए ही ऋतुमास रख दिये, उनमें आवश्यक परिवर्तन करके उन्हें न लिखा।

इन बातों से कुछ ऐतिहासिक बातों का निर्णय हो सकता है। उदाहरणार्थ, कालिदास के काल के विषय में अभी कोई एक-मत नहीं हुआ है। इस साल की "सरस्वती" में मराठी के दो लेखकों के इस विषय के लेख का अनुवाद तीन अङ्कों में छपा है। वहाँ लेखकों ने मेघदूत के आधार पर कहा है कि कालिदास के समय में वर्षाऋतु का प्रारम्भ आषाढ़ के प्रारम्भ में होता था। उन्होंने यह भी कहा है कि कालिदास मासों को अमान्त मानता था। कई प्रमाणों से उन्होंने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह महाकवि छठी शताब्दी में हुआ। इस बात को कौटिल्य के ग्रन्थ से पुष्टि मिलती है। जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं कि वास्तविक दक्षिणायन कौटिल्य के समय में आधे आषाढ़ के लगभग होना चाहिए और इस समय से वास्तविक वर्षाकाल प्रारम्भ होता रहा होगा। कालिदास के समय में वास्तविक दक्षिणायन और वर्षाकाल यदि आषाढ़ के प्रारम्भ में होते रहे तो कौटिल्य और कालिदास के कालों में दक्षिणायन में क़रीब १२ दिन का अन्तर ज़रूर पड़ गया होगा। इससे यह अनुमान निकलता है कि इन दोनों के कालों का अन्तर क़रीब ८१० वर्ष का ज़रूर रहा होगा। अर्थात् कालिदास ईसा की छठी शताब्दी में था। वेदाङ्ग-ज्योतिष के समय का अनुमान हम ऊपर कर ही चुके हैं। उसे बारहवीं शताब्दी से इस ओर नहीं होना चाहिए। श्रीशङ्कर बालकृष्ण दीक्षित कहते हैं कि वेदाङ्ग-ज्योतिष का काल 'सामान्यतः ईसापूर्व १४०० वर्ष मानना चाहिए।' आगे आप बतलाते हैं कि कुछ पाश्चात्य पण्डित इस काल को यथाशक्य इसी ओर खींचना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, मैक्समूलर साहब उसे ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में रखना चाहते हैं तो वेबर साहब ईसापश्चात् पाँचवीं शताब्दी में। परन्तु जब कौटिल्य ने वेदाङ्ग-ज्योतिष से मिलती-जुलती अनेक बातें दी हैं तो उसका काल कौटिल्य के काल के इस ओर क्योंकर खींचा जा सकता है? कौटिल्य के अनेक कथनों को पढ़कर अब तो कोई भी पण्डित ऐसा करने का साहस न करेगा। यह काल इस तरह भी सिद्ध हो सकता है। उस समय वर्षा का प्रारम्भ (अमान्त) श्रावण से होता था, आज-कल आधे (अमान्त) ज्येष्ठ से होता है। यानी तब से अब तक क़रीब ४५ दिन का अन्तर पड़ गया है। इतना अन्तर होने के लिए क़रीब ३२०० वर्ष चाहिए। इसे अधिक ठीक करने के लिए क़रीब १०० वर्ष इसमें छोड़ भी दें तो भी ३१०० वर्ष के क़रीब अन्तर निकलता है। अर्थात् वह काल ईसापूर्व क़रीब १२०० वर्ष या इससे कुछ ही कम निकलता है। अर्थात् हमारी समझ में वह बारहवीं सदी ज़रूर है।

कौटिल्य के काल के विषय में तो कोई शङ्का रह ही नहीं सकती। ऊपर हम दिखला ही चुके हैं कि दक्षिणायन की दृष्टि से कौटिल्य से अब तक कम से कम एक मास का अन्तर ज़रूर पड़ गया है। यदि इस अन्तर को बस तीस दिन मानें तो कौटल्य से अब तक क़रीब २१३२ दिन निकलते हैं। वास्तव में अयनबिन्दु का तब से अन्तर ३० दिन से अधिक हुआ है। केवल १॥ या १॥। दिन अधिक मानने से कौटिल्य का ठीक काल निकलता है। वास्तव में इसकी कोई ज़रूरत है नहीं, क्योंकि कौटिल्य का काल अन्य रीति से बिलकुल निश्चित है। यह हमने यही दिखलाने के लिए बतलाया है कि तब से अयनबिन्दु में बहुत अन्तर पड़ गया है, और यह अन्तर कौटिल्य के समय में वेदाङ्ग-ज्योतिष का अमान्त मास मानने से ही समझाया जा सकता है।

गोपालदामोदर तामस्कर

राजा-रानी ।

पहला अङ्क ।

पहला दृश्य ।

[जालन्धर—महल का एक स्थान]

विक्रमदेव और देवदत्त

देव०—महाराज, क्यों अनुचर पर यह कोप है ?
विक्र०—कहिए, क्यों, क्या हुआ !
देव०— पुरोहित-पद मुझे
आप दे रहे; हुआ दोष क्या हे प्रभो ?
त्रिष्टुप और अनुष्टुप को भी आपने
मेरे मुख से सुना न होगा । आपकी
सङ्गति में सब याग-यज्ञ भूला हुआ !
मुझे पुरोहित कौन कहेगा कर्म से ?
बहा दिया, श्रुतियों स्मृतियों को, मोह से
विस्मृति-सागर में; विचार कुछ भी नहीं ।
कन्धे पर यज्ञोपवीत केवल पड़ा,
ब्रह्मतेज की निर्विष जैसे केंचली ।
विक्र०—किया इसी से निर्भय हो मैंने तुम्हें
राजपुरोहित । शास्त्र-मन्त्र-बाधा नहीं,
ब्राह्मणपन की और न कोई है बला ।
देव०—आप पलाऊ एक पुरोहित चाहते !
जिसके टूटे दाँत और नाख़ून हों ।
विक्र०—मित्र न मानो बुरा, कहूँ मैं सत्य ही,
ब्रह्मदैत्य के सदृश पुरोहित लोग हैं ।
यजमानों के यहाँ सदा सुख से छकें
तरह तरह के माल, और उस पर सुनो—
अनुष्ठान है, विधि-निषेध उत्पात है,
जब देखो अनुयोगों की भरमार है,
अनुस्वार के साथ विसर्ग-विकार है ।
मुट्ठी भर दक्षिणा दीजिए, लीजिए
ख़ाली आशिर्वाद ।
देव०— शास्त्र से शून्य जो
ब्राह्मण चाहें आप, त्रिवेदी तो बड़े
अच्छे हैं । हर घड़ी लिये माला जपें ।
क्रिया-कर्म में लगे रहें । हाँ मन्त्र के
उच्चारण में क्रिया-कर्म जानें नहीं !
विक्र०—सबसे बढ़कर मित्र भयानक हैं वही ।
जिन्हें शास्त्र का ज्ञान नहीं, वे और भी
करें शास्त्र के नाम उपद्रव चौगुना ।
वेद न जानें और व्याकरण-शून्य जो
उन्हें न बाधा प्रत्यय और विभक्ति की ।
रहें पछाड़े पाणिनि को हर बात में ।
देव०—हुआ पुरोहित हूँ मैं, यह सुन कर प्रभो,
सफ़ाचट्ट सिर सब हिलने लग जायँगे
न्यायरत्न व्याकरणतीर्थ बुधवृन्द के ।
कर आशङ्का प्रभो, राज्य के अशुभ की,
हो जावेंगी बड़ी चुटैया भर खड़ी ।
विक्र०—इसमें क्या है बात अमङ्गल की कहो ?
देव०—कर्मकाण्ड से हीन दीन इस विप्र के
कृत्य-दोष से रोष बढ़े कुलदेव का—
विक्र०—रहने दो इस विभीषिका की बात को ।
होगा जो कुलदेव-रोष तो मैं उसे
सहने को तैयार झुकाये सिर सदा;
सहा न जाता। किन्तु पुरोहित का किया
विकट उपद्रव ! मित्र, सूर्य का तेज तो
सह लेते हैं, मगर तपी बालू नहीं !
वृथा तर्क ये रहने दो ! साहित्य की
चर्चा आओ करें ! कहा उस रोज़ था
तुमने वह कवि-वचन पुराना—"मत करो
नारी का विश्वास"—उसे फिर तो कहो !
देव०—"शास्त्रं"—
विक्र०— बस बस, क्षमा करो, रक्षा करो
अनुस्वार से ।
देव०— अनुस्वार क्या बाण है ?
यह तो है टङ्कार धनुष का ! डर नहीं
पुरुषसिंह, हे वीर, सुनो—भाषा सुनो—
"शास्त्र सुचिन्तित हो तथापि चिन्तन करो ।
नृप हो राज़ी लाख, डरो उससे सदा ।
रहे गोद में नारी तो भी तुम उसे

रखना रह कर सावधान सब तौर से ।
शास्त्र, नृपति, युवती, वश में होते नहीं" !
विक्र०—ये होते वश नहीं ? मूर्ख कवि धिक् तुझे !
मित्र ! इन्हें वश किया चाहता कौन है ?
विद्रोही वह मूढ़, करे जो कामना
ऐसी । नारी, नृपति, न इसके योग्य हैं !
देव०—ऐसा ही है, नर नारी के वश रहें ।
विक्र०—कौन जानता नारी-हृदय-रहस्य को ?
विधि-विधान के ही समान अज्ञेय वह ।
इससे जो विधि के विधान या प्रेम में
नारी के हो अविश्वास, तो फिर कहाँ
आश्रय पाओ ? चले वायु, बहती नदी
कैसे, जाने कौन ! वही बहती नदी
करती है कल्याण देश का, वायु भी
जीवन जानो जीवों का ।
देव०— हाँ देखिए,
बहिया लाती वही नदी, वह वायु भी
आँधी का अन्धेर मचाता ।
विक्र०— प्राण ले,
या दे जीवनदान, उसे हम सब—सखे !
करते हैं स्वीकार सदा सिर को झुका ।
किन्तु इसी से कौन करेगा मूर्खता
वश करने की इन्हें ! बाँध जल-वायु दो;
उससे होंगे रोग, शोक, फिर मृत्यु भी ।
नारी को तुम विप्र जान ही क्या सको ?
देव०—राजन् ! कुछ भी नहीं ! पिता के वंश का
और मातृकुल का मैं कीर्त्तिस्तम्भ था ।
सन्ध्या करता था त्रिकाल तर्पण तथा ।
जब से सङ्गति हुई आपकी, देवता
किये विसर्जन सभी; एकही देव है—
कामदेव । अब भूल महिम्न-स्तव गया,
स्त्री-महिमा का गान हुआ अभ्यस्त है ।
वह विद्या भी पुस्तक ही में है धरी ।
कभी कभी इन आँखों की लाली लखे
स्वप्न-सदृश वह विद्या भी रहती नहीं ।
विक्र०—नहीं, डरो मत मित्र, कहो, मैं मौन हूँ;
अपनी विद्या नई कहो तुम ।
देव०— तो सुनो—
"वचनों में मधु, हृदय, हलाहल से भरा
अधरों में है अमृत, अग्नि भीतर जले !"
विक्र०—वही पुरानी बात !
देव०— पुरानी है सही;
किन्तु करूँ क्या, पुस्तक जितनी खोलिए
वही एकही बात ! जो कि प्राचीन थे—
रहते छिन भर न वे प्रिया-सम्बन्ध में
निश्चित हो निश्चिन्त ! किन्तु मैं सोचता,
घर घर जिसकी फिरे ब्राह्मणी पेट को
वह कैसे स्वच्छन्द छन्द जोड़ा करे—
लिखे काव्य के ग्रन्थ ?
विक्र०— वृथा सन्देह है !
यह केवल है आत्मवञ्चना, की गई
अपनी इच्छा से । विचार कर देख लो—
क्षुद्र हृदय का प्रेम, बहुत विश्वास से
होता मृत-जड़-सदृश, इसी कारण उसे,
अविश्वास कर वृथा, सजग करना पड़े ।
—देखो, मन्त्री वृद्ध इधर ही आ रहा !
लादे भारी बोझ राज्य के कार्य का !
भागूँ लेकर जान !
देव०— ज़नाने में घुसो !
रानीजी के आँचल में बस छिप रहो !
राजकाज सब असम्पूर्ण ही द्वार पर
पड़ा रहे ! हो जमा, अन्त को एक दिन
बढ़ता बढ़ता पहुँच जायगा वह वहाँ,
जहाँ किया करते विचार भगवान हैं ।
विक्र०—यह क्या है उपदेश ?
देव०— लेशभर भी नहीं !
हैं प्रलाप के वचन ! जाइए, क्यों वृथा
नष्ट करेंगे समय ?

(राजा का प्रस्थान)

मन्त्री का प्रवेश ।

म०— गये स्वामी कहाँ ?

देव०—अन्तःपुर की ओर चोर से चल दिये ।
म०—(बैठ कर)
हाय दैव, यह दशा राज्य की क्या हुई ?
राजा का ही पता नहीं, तब राज्य क्या;
कहाँ दण्ड फिर और राजगद्दी कहाँ !
इस मसान से बहुविषाद-पूरित बड़े
राज्यखण्ड की छाती पर सिर को उठा,
पत्थर का यह रुद्ध अन्ध—अति गर्व से—
अन्तःपुर है खड़ा ! राज्यलक्ष्मी अहो
दरवाज़े पर बैठ अनाथा-वेष में
करके हाहाकार रो रही ।
देव०— देखकर
आती मुझको हँसी । इधर भागे फिरें
राजा, पीछे राज्य लगा है, वाहवा !
यह तो अच्छा हुआ तमाशा, खेलते
"लुकीलुकैया" राज्य और राजा मनो;
क्यों मन्त्री जी ?
म०— क्या हँसने की बात है !
देव०—हँसूँ न तो क्या ! वन में रोना है वृथा,
लड़कों का है काम; सहा जाता नहीं
सभी समय का रोना, होना दुःख का ।
बीच बीच में इससे रोने की जगह,
जमे हुए आँसुओं सदृश सूखी कठिन
हँसता हूँ मैं हँसी ।—हुआ क्या, सो कहो ।
म०—तुम तो जानो सभी, यहाँ का हाल जो ।
रानी का सब ख़ानदान कश्मीर से
आकर है बस गया । विदेशी वे सभी
करते हैं उत्पात, जमा कर दबदबा ।
विष्णुचक्र से छिन्न सती के देह सा,
टुकड़े टुकड़े कर प्रताप सब भूप का,
छीन लिया है । प्रजा रो रही दुःख से,
सहती अत्याचार विदेशी का किया ।
राजसभा में, जहाँ अराजक हो रहा,
आर्त्तनाद वह हो जाता है लीन सा ।
हँसें विदेशी सचिव सभी बैठे हुए ।
सिंहासन है शून्य, उसी के पास में
बैठा रहता नित्य, नज़र नीची किये,
फटती छाती देख देख ।
देव०— आँधी चले,
उलटे-डूबे-नाव देखते देखते;
यात्री रोवें । कर्णधार ऊँचे खड़ा
कहे अकेला—जिसके ख़ाली हाथ हैं—
"कहाँ गया पतवार !" ढूँढ़ना है वृथा ।
नारी अपने हाथ लिये पतवार है ।
क्रीड़ा की है नदी, नाव है प्रेम की,
(वय-वसन्त का वायु हुआ अनुकूल है,)
अपने हाथों रमणी उसको खे रही ।
डूबे मन्त्री राज्य भार लादे हुए,
चिन्तासागर जो अपार, उसमें पड़ा ।
म०—हँसो नहीं हे विप्र ! समय में शोक के
हँसना होता बुरा ।
देव०— सुनो—मन्त्री सुनो—
राजा को दो छोड़, जोड़कर कर चलो
रानीजी की चरण-शरण में ।
म०— यह नहीं
होगा मुझसे । अपनों के अपराध का
नारी करें विचार; न हो सकता कभी ।
देव०—केवल जानो शास्त्र, आदमी की नहीं
तुमको है पहचान । सुनो, निज हाथ से
दे सकती हैं दण्ड नारियाँ स्वजन को;
किन्तु नहीं सह सकें किये सुविचार को
औरों के ।
म०— यह सुनो, शोर-गुल हो रहा ।
देव०—यह क्या है विद्रोह प्रजा का ?
म०— विप्रजी,
चल कर देखें हुई कौन घटना नई ।

दूसरा दृश्य ।

सड़क—लोगों की भीड़ ।

कन्हई नाई—अरे भाई यह रोने का दिन नहीं । बहुत रो चुके । फल क्या हुआ ?

मनसुख किसान—ठीक कहते हो भैया, साहस से सब काम होते हैं। कहावत है—जिसकी लाठी उसकी भैंस।

कुञ्जलाल बढ़ई—भीख मांगने से कुछ न होगा। हम लूट करेंगे।

कन्हई नाई—भिच्छुकं नैवचं नैवचं। क्यों महाराजजी, आप तो बड़े भारी पण्डित के पोते हैं! लूट-पाट में क्या कुछ दोष है?

पण्डित नन्दलाल—कुछ नहीं 'बुभुक्षितः किन्न करोति पातकम्'—भूखा आदमी कौन पाप नहीं करता? अग्नि को पावक कहते हैं—आग में सब जल जाता है—पाप भी जल जाते हैं। पेट की आग से बढ़ कर दूसरी अग्नि नहीं है।

कुछ लोग—आग! ठीक कहते हो। जीते रहो महाराज! अच्छा, हम यही करेंगे। हम आग ही लगा देंगे। आग में तो पाप ही नहीं है। ऐसा कर देंगे कि बड़े बड़े पापियों और अत्याचार करनेवालों के घरों में उनका चिह्न न रह जायगा!

कुञ्जलाल—मेरे तीन बसूले हैं।

मनसुख—मेरे एक हल है। उसी से ढेले की तरह बड़े बड़े सिर फोड़ूँगा।

रामदीन तेली—मेरे एक बड़ा भारी कोल्हू है। भागते समय उसे घर में ही छोड़ आया हूँ!

हरदीन कुम्हार—तुम लोग क्या प्राण देने के लिए तैयार हो रहे हो? बक क्या रहे हो? पहले राजा को जनाओ, फिर अगर वह न सुने तो और कुछ निश्चय किया जायगा।

कन्हई—मैं भी तो वही कह रहा हूँ।

कुञ्जलाल—मैं भी तो वही ठीक कर रहा हूँ।

रामदीन—मैं बराबर कहता आ रहा हूँ, इस कायथ के बेटे को बोलने दो। अच्छा, भैया, तुम राजा से नहीं डरते?

मन्नू कायस्थ—मैं किसी से नहीं डरता। तुम लोग तो लूट तक करने को तैयार थे, और मैं क्या कड़ी बातें भी मुँह से नहीं कह सकता?

मनसुख—दङ्गा करना और बात है और मुँह से कहना और बात है। मैं तो बराबर यही देखता आ रहा हूँ कि हाथ चलता है, मुँह नहीं चलता।

कन्हई—मुँह का कोई काम नहीं होता। अन्न भी नहीं जुरता और बात भी नहीं निकलने पाती। मुँह किसी तरह नहीं चलता!

कुञ्जलाल—अच्छा, तुम क्या कहोगे?

मन्नू—मैं डर कर नहीं कहूँगा। मैं पहले ही शास्त्र के वचन सुनाऊँगा।

रामदीन—क्या? शास्त्र तुम जानते हो? मैं तो पहले से ही पुकार रहा था कि कायथ के बेटे को बोलने दो—उसका खूब जाना-सुना है।

मन्नू—मैं पहले ही कहूँगा—

अतिदर्पे हता लङ्का अतिमाने च कौरवाः।
अतिदाने बलिर्बद्धः सर्वमत्यन्तगर्हितम्॥

हरदीन—हाँ, यह शास्त्र है।

कन्हई—(नन्दलाल से) क्यों महराजजी, तुम तो पण्डित के पोते हो, बताओ, यह शास्त्र है कि नहीं? तुम तो यह सब समझते हो।

नन्दलाल—हाँ—वही—उसे क्या कहते हैं—समझता क्यों नहीं हूँ? मगर जो वह न समझे तो तुम किस तरह समझा दोगे?

मन्नू—समझाना क्या कठिन है? अर्थात्—बहुत बढ़ाबढ़ी ठीक नहीं।

जवाहिर जुलाहा—इतने बड़े कलाम के इतने से ही माने हुए?

रामदीन—यह बात न हो तो शास्त्र काहे का?

नन्दलाल—देहाती लोग दो बातों में जिस काम को कर डालते हैं उसी में शहर के लोग सौ बातें खर्च कर डालते हैं।

मनसुख—जो हो, बात अच्छी है। बहुत बढ़ाबढ़ी ठीक नहीं। इसे सुन कर राजा की आँखें खुल जायँगी।

जवाहिर—मगर इसी एक से काम न निकलेगा। और भी सास्तर चाहिए।

मन्नू—एक ही नहीं, और भी कह सकता हूँ। कहूँगा—

लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात् मित्रञ्च पुत्रञ्च ताडयेत् न तु लालयेत् ॥

हम लोग भी राजा के पुत्र ही हैं ! मैं कहूँगा, महाराज, हमको आप ताड़ना न दें। यह अच्छा नहीं है।

हरदीन—यह अच्छी बात है—बड़ी भारी बात है—यही जो तुमने कहा सो सुनने में बहुत अच्छा जान पड़ता है।

रामदीन—मगर ख़ाली शास्त्र कहने से तो काम नहीं चलेगा—मेरे कोल्हू की बात कब आवेगी ? उसे इसी के साथ जोड़ न दो।

नन्द०—अबे ! तू कोल्हू के साथ शास्त्र जोड़ेगा ? शास्त्र को भी क्या तूने अपना बैल बना लिया ?

जवाहिर—तेली का बेटा है, उसके और कितनी अक़्ल हो सकती है ?

कुंज०—दो हाथ पीठ पर पड़े बिना इसके होश ठिकाने नहीं हो सकते। लेकिन यह तो बताइए, मेरी बात कब उठाइएगा ? याद तो रहेगी ? मेरा नाम है कुञ्जलाल, कांजीलाल नहीं। कांजीलाल मेरा भतीजा है। वह बुधकोट में रहता है। वह जब तीन ही बरस का था तब उसको—

हरदीन—यह तो सब समझ में आ गया, लेकिन समय ऐसा आ लगा है कि राजा अगर न सुने !

कुंज०—तो हम लोग भी शास्त्र छोड़ कर शस्त्र लेंगे।

मनसुख—किसने यह बात कही जी ?

कुंज०—(गर्व के साथ) मैंने कही है जी। मेरा नाम कुञ्जलाल है, कांजीलाल मेरा भतीजा है।

कन्हई—भैया तुमने ठीक ही कहा—शास्त्र और शस्त्र—कभी शास्त्र, कभी शस्त्र—और फिर कभी शस्त्र, कभी शास्त्र।

जवाहिर—लेकिन यह तो बड़ा ही गोलमाल हो रहा है। क्या ठीक हुआ, सो कुछ समझ में न आया। शास्तर या शस्तर ?

रामदीन—जुलाहा है न, यह भी नहीं समझ सका ? इतनी देर तक हम लोगों ने सिर खपाया और तुम कुछ भी नहीं समझे ? सुनो—ठीक यह हुआ कि शास्त्र की महिमा समझने में बहुत देर लगती है, मगर शस्त्र क महिमा बस चटपट समझ में आ जाती है।

बहुत लोग—(ऊँचे स्वर से) तो शास्त्र चूल्हे में जाय शस्त्र उठाओ।

(देवदत्त का प्रवेश)

देव०—बहुत घबराने की आवश्यकता नहीं है। बहु जल्द चूल्हे में जायगा, इसकी तैयारी हो रही है। क्यों तुम सब क्या कह रहे थे ?

रामदीन—महराज, हम इस भले आदमी के लड़ के मुँह से शास्त्र सुन रहे थे।

देव०—इसी तरह मन लगा कर तो शास्त्र सुना जाता है ! तुम्हारे चिल्लाने की चोट से राजा के का चिथड़ा हो गये ! जैसे धोबियों के महल्ले में आग लगी है

कन्हई—तुमको क्या महराज ? तुम तो राजा के घ का सीधा खा खाकर फूलते जा रहे हो—हम लोगों क आंतें पेट की आग से सुलगा करती हैं—हम क्या यों ह चिल्ला रहे हैं ?

मनसुख—आज-कल धीरे कहने से कौन सुनता है इस ज़माने में चिल्ला कर ही बात कहनी पड़ती है।

कुञ्ज०—रोना-धोना बहुत हो चुका। अब हम लो और उपाय देखेंगे।

देव०—क्या कहता है रे ! तुम लोग बहुत बढ़ ब कर बातें करने लगे हो। सुनेगा ? कहूँ ?

नसमानसमानसमानसमागममाप समीक्ष्य वसन्तनभ-
भ्रमदभ्रमदभ्रमदभ्रमदभ्रमरच्छलतः खलु कामिजनः।

हरदीन—अरे बाप रे, शाप दे रहे हैं क्या ?

देव०—(मन्नू से) तुम तो भले आदमी के लड़के हो तुम तो शास्त्र समझते हो—क्यों, यह ठीक है कि नहीं "नस मानस मानस मानसं"

मन्नू—वाह, बिलकुल ठीक है। शास्त्र अगर चा तो यही है। मैं भी तो ठीक यही बात कह रहा था !

देव०—(नन्दलाल से) नमस्कार ! आप ब्राह्मण जान पड़ते हैं। क्या कहते हैं आप, अन्त को सब मूर्ख "भ्रमदभ्रमदभ्रमत्" होकर मरेंगे न ?

नन्द०—मैं बराबर यही कहता आ रहा हूँ, लेकि समझे कौन ? छोटी जाति के आदमी हैं न !

देव०—(मनसुख से) इन लोगों में केवल तुम्हीं बुद्धिमान् ऐसे देख पड़ते हो । अच्छा तुम्हीं कहो, ये क्या अच्छी बातें हो रही थीं ? (कुञ्जलाल से) और तुम भी तो बहुत ही भले आदमी जान पड़ते हो । तुम्हारा नाम क्या है ?

कुंज०—मेरा नाम कुञ्जलाल है, कांजीलाल मेरे भतीजे का नाम है ।

देव०—ओ !—तुम्हारे ही भतीजे का नाम कांजीलाल है ? मैं राजा से विशेष करके तुम्हारा उल्लेख करूँगा ।

हरदीन—और हम लोगों का क्या होगा ?

देव०—सो कुछ भैया मैं कह नहीं सकता । इस समय तो तुमने रोना आरम्भ किया है—मगर अभी कुछ देर हुई, जब तुमने और ही सुर छेड़ा था । उन बातों को क्या राजा ने सुना नहीं ? राजा सब सुन पाते हैं ।

बहुत लोग—दोहाई है महराज ! हमने कुछ नहीं कहा । इस कांजूलाल या मांजूलाल ने ही शस्त्र का नाम लिया था ।

कुञ्ज०—चुप रहो । मेरा नाम न ख़राब करो । मेरा नाम है कुञ्जलाल, मैं झूठ नहीं बोलूँगा—मैं कह रहा था कि जैसे शास्त्र है वैसे शस्त्र भी है । राजा अगर शास्त्र का कहना न माने तो शस्त्र है । क्यों महराज, यही कहा था न ?

देव०—ठीक कहते हो । तुमने अपने योग्य ही बात कही । अच्छा सोचो । तुम्हारा बल क्या है ? "दुर्बलस्य बलं राजा"—क्यों न ? राजा ही दुर्बल का बल है । फिर "बालानां रोदनं बलम्"; राजा के आगे तुम लोग बालक ही हो । अतएव यहाँ रोना ही तुम्हारा शस्त्र है । बस, अगर शास्त्र से काम न निकले तो तुम अपने शस्त्र-रोने का प्रयोग करो । तुमने बड़े भारी बुद्धिमान् जैसी ही बात कही है—पहले मैं ही कुछ चौंधिया गया था । तुम्हारा नाम मैं याद रक्खूँगा । क्यों जी, तुम्हारा नाम क्या है ?

कुञ्ज०—मेरा नाम कुञ्जलाल है । कांजीलाल मेरा भतीजा है ।

और सब—महराज, क्षमा करो—हम लोगों को क्षमा करो ।

देव०—मैं माफ़ करनेवाला कौन ? हाँ रोधोकर देखो, शायद राजा क्षमा कर दें ।

(प्रस्थान ।)

तीसरा दृश्य ।

अन्तःपुर—प्रमोदवन ।

विक्रमदेव और सुमित्रा ।

विक्र०—मौन मुग्ध सन्ध्या वह देखो आरही
धीरे धीरे कुञ्जभवन में, प्रियतमे,
लज्जा से हो नम्र नववधू जिस तरह ।
सन्नाटे की रात सामने है खड़ी,
अन्तहीन घन अन्धकार फैला रही;
इतनी सी इस सान्ध्य-दीप्ति को भी मनो
ग्रसना चाहे । उसी तरह मैं भी यहाँ
इन ओठों की हँसी, रूप-रमणीयता
और कान्ति कमनीय पान करना चहूँ—
हृदय पसारे खड़ा । दिवस-आलोक के
तट से आओ निकट, उतर आओ प्रिये !
यह अथाह है हृदय, जिस तरह रात को
सागर हो । तुम चरण-कमल रखकर यहाँ
आओ, बैठो ।—कहाँ रहीं अब तक प्रिये ?

सुमि०—रखिए यह विश्वास सदा हूँ आपकी ।
घर में रहते कामकाज, उनमें लगी
रहती हूँ मैं । घर भी तो है आपका,
और काम भी नाथ ।

विक्र०— प्रिये, सब छोड़ दो ।
घर या वर का काम नहीं कुछ काम का ।
तुम बाहर की नहीं, हृदय की वस्तु हो;
भीतर है घर, और तुम्हारा घर नहीं ।
बाहर के सब काम पड़े बाहर रहें—
झख मारें ।

सुमि०—क्या मन में ही हूँ आपके ?
नहीं नाथ, यह नहीं, झूठ यह बात है ।

बाहर से भी हूँ सदैव मैं आपकी ।
भीतर हूँ प्रेयसी, और बाहर वही रानी ।

विक्र०— हा, प्रियतमे, आज क्यों स्वप्न सा
जान पड़े वह सुख का दिन ? आनन्दमय
प्रथममिलन वह; प्रथम प्रेम की वह छटा;—
हृदय और सारे शरीर में वह प्रिये,
नवयौवन-विस्तार देखते देखते;—
रात्रिमिलन में हृदय धड़कना, काँपना;—
फूलों पर हों बूँद जिस तरह ओस की
वैसे लज्जा नयन-पल्लवों पर बसी;
अधरों पर थी हँसी प्रकट होती कभी
कभी लीन हो जाती जैसे चञ्चला,—
या सन्ध्या को पवन-झकोरों के लगे
कातर कम्पित दीपशिखा हो जिस तरह;—
होना आँखें चार; न मुख से एक भी
बात निकलना; देख तमाशा चन्द्र का
हँसना; बीती रात जान कर आँख में
आँसू आना, और विरह-भय से मुझे
लिपटाना; वह तनिक बिछुड़ने से सदा
घबराना !—घर और काम घर का सभी
तब था प्यारी कहाँ ? ज़रा सोचो सही ।

सुमि०—तब थे बालक और बालिका हम । हुए
राजा-रानी आज । न वे बातें हमें,
नाथ, सोहतीं ।

विक्र०— राजा-रानी ! कौन है
राजा ? रानी कौन ? न मैं राजा कभी ।
सिंहासन है शून्य रो रहा । चूर्ण हो
राज-काज इन चरणों के नीचे पड़ा
मिट्टी में मिल रहा ।

सुमि०— नाथ, सुन सुन मरूँ
लज्जा से ! छिः, महाराज, यह प्रेम है ?
यह तो, बादल के समान हो, आपके,
ढके हुए है, उज्ज्वल तेज-प्रताप को !
सुनिए प्रियतम, मेरे सब कुछ आप हैं,
महाराज हैं आप, आप स्वामी—मुझे
अनुगत छाया के समान, बस, जानिए;
अधिक न इससे । मुझे न लज्जित कीजिए ।
राजश्री से अधिक मुझे मत चाहिए !

विक्र०—तुम्हें न मेरा प्रेम चाहिए ?

सुमि०— चाहिए,
थोड़ा सा, सब नहीं । हृदय के बीच में
देना मुझको स्थान, हृदय ही सब नहीं
दे डालो ।

विक्र०— स्त्रीजाति पहेली ही रही !
जान न अब तक सका स्त्री-हृदय-वृत्ति को ।

सुमि०—तुम हो प्यारे, पुरुष; तुम्हारी जाति है
सुदृढ़ वृक्ष के सदृश; तुम्हें तो चाहिए
अटल रहो, होकर स्वतन्त्र, उन्नत सदा,
अपने पैरों आप खड़े होकर—तभी
हम अबलायें लता लिपट तुमसे रहें,
आश्रय पावें । किन्तु तुम्हीं सब लोग जो
अपना सारा हृदय हमें अर्पण करो
तो फिर स्त्री का प्रेम किधर को जायगा ?
ग्रहण करेगा कौन उसे ? संसार के
काम करेगा कौन ? स्नेहमय कुछ रहो,
उदासीन कुछ रहो—मुक्त भी, लिप्त भी ।
बहुत पक्षियों का निवासगृह, पथिक का
विश्रामस्थल, तप्त भूमि की शान्ति को
छाया, बान्धव मेघ-वृन्द के, हे प्रभो,
आँधी के पूरे पटैत, आश्रय सदा
ललित लता के, पुरुष पेड़ के तुल्य हैं !

विक्र०—बातें कर दो बन्द, प्रिये, देखो, हुई
सन्ध्या—पक्षी मौन प्रेम-सुख पा रहे—
पड़े हुए चुपचाप घोंसलों में ! करें
बक बक करके शान्तिभङ्ग फिर क्यों हमीं ?

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कंचु०—मन्त्रीजी हैं खड़े दर्शनों के लिए,
स्वामी, कोई बहुत ज़रूरी काम है ।

विक्र०—धिक् मन्त्री को ! तुझे ! और उस काम को !
मन्त्री को ले राज्य जाय पाताल को !

(कञ्चुकी का प्रस्थान ।)

सुमि०—जाओ, जाओ नाथ !

विक्र०— एक ही बात है !
जाओ जाओ, काम काम, निष्ठुर महा !
जा सकता क्या नहीं ? ठहरना चाहता
कौन ? कौन हो नम्र हाथ जोड़े हुए
मांगे तौली-नपी कृपा के कण ? चला,
जाता हूँ । प्रियतमे, हृदयलग्ना लता
तुम हो; मुझको क्षमा करो, अपराध को
क्षमा करो; अब पोंछ आंसुओं को हँसो—
जी चाहे तो; अथवा भौंहें तान लो—
तिरस्कार कर दण्ड मुझे दो !

सुमि०— प्रिय, प्रभो,
समय नहीं यह ऐसी बातों का । अभी
जाओ, देखो राजकाज कर्तव्य को ।
बस प्रसन्नता इसमें मुझको है बड़ी ।

विक्र०—नारी ! कैसा कठिन हृदय तूने किया !
प्रिये, न कोई काम ज़रूरी राज्य का;
व्यर्थ उपद्रव ! हरे भरे सब खेत हैं—
सब सुकाल से सुखी मज़े में है प्रजा ।
राजकाज चल रहा, विघ्नबाधा नहीं ।
तनिक तनिक सी बात पूछने के लिए
आना मेरे पास वृथा है वृद्ध का ।
मन्त्री है अति चतुर; दिखाता वह यही—
कैसा हूँ मैं सावधान निजकृत्य में !

सुमि०—कभी नहीं, वह सुनो, द्वार पर दुःख से
प्रजा पुकारे; आर्तनाद सुनकर फटे
छाती ।—पुत्रो ! तुम्हें बचाने के लिए
मैं हूँ—मैं हूँ—रानी सारे राज्य की—
तुम सबकी मा ! मातृहीन कोई नहीं !

(प्रस्थान ।)

चौथा दृश्य ।

अन्तःपुर का कमरा ।

सुमित्रा ।

सुमि०—आया अब तक न क्यों, कहाँ ब्राह्मण रहा ?
बढ़ता जाता आर्त्त प्रजा का शोर है ।

(देवदत्त का प्रवेश ।)

देव०—जय हो !

सुमि०— ब्राह्मणदेव, सुनाई पड़ रहा
कोलाहल यह कहाँ, किस तरह का, कहो ।

देव०—क्यों माता तुम सुनो ! सुनो, जो तुम सुनो
तो कोलाहल सभी ओर है ! इसलिए
अन्तःपुर में रहो कान मूँदे हुए
सुख से । क्या यह शोर वहाँ पर भी गया ?
शान्ति वहाँ भी नहीं ? कहो तो मैं, अभी,
फटे-पुराने मलिन वस्त्र धारण किये—
भूख-प्यास से हाय हाय करते हुए—
कोलाहल की सेना लेकर दूँ भगा !

सुमि०—जल्द कहो, क्या हुआ ?

देव०— अजी कुछ भी नहीं ।
है दरिद्र की भूख, दीन की भूख है ।
सब असभ्य नासमझ निकम्मे नीच ये
चीख़ चीख़ कर मरते मारे भूख के !
राजकुञ्ज के बीच पपीहा कोकिला
चुप हैं भय से ।

सुमि०— आहा, भूखा कौन है ?

देव०—दुर्भाग्यों का भाग्य । दीन सारी प्रजा,
खाकर आधे पेट रही जो आज तक,
अनाहार अभ्यस्त न उसको हो सका
अब तक, है आश्चर्य !

सुमि०— देव, क्या बात है ?
धरती में उत्पन्न अन्न इतना हुआ,
तो भी रोती प्रजा पेट भर अन्न को ?

देव०—जिसकी धरती, अन्न उसी का जानिए।
धरती पर अधिकार ग़रीबों का नहीं।
यज्ञभूमि के कुत्ते से ये लोग हैं;
जीभ चलाते एक किनारे पर पड़े;
पाते जूठन कभी, मार खाते कभी।
औरों की ही दया अगर हो तो जियें,
और नहीं तो, एक किनारे राह के
कुचले जाते, पड़े पड़े रोवें, सहें।

सुमि०—क्या कहते हो, यह कैसा अन्धेर है?
राजा निर्दय बना? अराजक देश है?

देव०—कौन अराजक कहे! हज़ारों जब यहाँ
राजा से भी बढ़कर मन-मानी करें!

सुमि०—तो अमात्य की दृष्टि नहीं है राज्य के
कामों पर क्या?

देव०— दृष्टि नहीं? यह बात क्या!
पूर्ण दृष्टि है! सूर्य छिपे, घर पर पड़े
दृष्टि चोर की यथा। दृष्टि शनि की वही!
उनका ही क्या दोष? विदेशी वे सभी,
आये ख़ाली हाथ वहाँ से क्या यहाँ
देने आशिर्वाद प्रजा को—कर दया?

सुमि०—कौन? विदेशी? मेरे ही हैं जो सगे?

देव०—हाँ, रानी के सगे, प्रजा के भी सगे
मामा, जैसे कालनेमि या कंस था!

सुमि०—विजयसेन?

देव०— वे शासन करने में लगे।
उनका शासन कड़ा सिंहगढ़ देश में—
सुखी प्रजा सब, अन्न-वस्त्र का छुट गया
झन्झट, बाक़ी रहे हाड़ या खाल है!

सुमि०—शिलादित्य?

देव०— वे देख रहे वाणिज्य को
हथियाये व्यापार सभी इस देश के।

सुमि०—और युधाजित?

देव०— उनका क्या कहना, बड़े
अच्छे, मीठे वचन सभी से बोलते।
विजयकोट में रहें, कहें सबको सदा
भैया-दादा, और नज़र नीची किये
देखें चारों ओर। भूमि की पीठ पर
फेरें अपना हाथ प्यार से। जो मिले
उसको लेते उठा।

सुमि०— अहो धिक्कार है!
कैसी लज्जा! घोर पाप! मेरे सगे!
कुलकलङ्क! यह अयश पिता के वंश का
अभी करूँगी दूर; देर होगी नहीं।

(प्रस्थान।)

(असमाप्त)

रूपनारायण पाण्डे

मिस्टर एच० जी० वेल्स ।

आज-कल इँग्लेंड में मिस्टर एच० जी० वेल्स से बढ़ कर दूसरा कोई लोकप्रिय साहित्यिक नहीं है। सभी उपन्यासों में स्वच्छ व्यङ्ग, कल्पना, चरित्राङ्कण और लोक-समस्याओं का कुछ न कुछ समावेश अवश्य होता है, वेल्स के उपन्यासों में भी इनका अभाव नहीं है। किन्तु वास्तव में ये बातें उसकी लोकप्रियता का एक-मात्र कारण नहीं हैं, उसकी कृति में एक ऐसा गुण है जो अन्यत्र दुर्लभ है, उसको हम वेल्स की भविष्यद्वाणी कह सकते हैं। अनेक लोगों का मत है कि राष्ट्र और शिल्प की उन्नति के विषय में वेल्स की जो धारणायें हैं, वे केवल आकाशपुष्प के समान कल्पना-मात्र हैं। किन्तु क्या इन आकाशपुष्पों का कुछ भी फल नहीं है? मृत्युलोक में रह कर मनुष्य अनन्त स्वर्ग और अनन्त जीवन की कल्पना करता है। इनसे हमें आश्चर्य चाहे जितना हो, हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि इनमें कुछ सार नहीं है। वेल्स का स्वप्नराज्य कभी प्रत्यक्ष होगा या नहीं, अभी इसका अनुमान नहीं किया जा सकता, मङ्गलग्रहवासी कभी साभिमान अपना आसन छोड़ कर इस पृथ्वी पर पदार्पण करेंगे या नहीं, इसके भी अभी कोई लक्षण नहीं दिखाई देते, किन्तु ये कल्पनायें एक-दम निर्मूल हैं, इसको कोई विचारवान् मनुष्य कभी स्वीकार नहीं कर सकता।

वर्तमान समय में वेल्स की दो भविष्यद्वाणियां ठीक नहीं उतरी हैं, अतएव लोगों को ऐसी भविष्यद्वाणियों के मूल्य में सन्देह होने लगा है। वेल्स ने कहा था कि ईसवी के पूर्व हमको हवाई जहाज़ों से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता और अँगरेज़ तथा फरासीसी फ़ौजें तीन मास के भीतर राईन नदी पार नहीं कर सकतीं। ये दोनों भविष्यद्वाणियां सत्य नहीं हुई हैं। तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वेल्स एक भविष्यवक्ता है, क्योंकि वास्तव में भविष्यवक्ता उसको कहते हैं जो अँधेरी रात्रि में मशाल लेकर यात्रियों को इस अनन्त पथ में ठीक मार्ग दिखाता है। इस दृष्टि से वेल्स भविष्यवक्ता के आदर के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं।

वेल्स ने उपन्यास लिखना प्रारम्भ करने के पहले जीव-विज्ञान की चर्चा की है। लेखक अपना प्राचीन अभ्यास नहीं छोड़ सकते, अतएव कहा जाता है कि वेल्स मनुष्यों के जटिल और स्वच्छन्द कार्यों में वैज्ञानिक कार्य-कारणभाव और उद्देश्यमूलकता आरोपित करने की चेष्टा कर रहे हैं। वेल्स ने मनुष्यों के कार्यों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है, और उसको सङ्कल्पहीन और चिन्ताहीन लोगों के ताण्डव से उपमा दी है। हमारा यह ताण्डव उस समय

सबसे अधिक प्रबल होता है जब हमारी आवश्यकताओं की मात्रा सबसे अधिक होती है। उसकी राय में रेल, जहाज़, कल, कारख़ाना सब उसी ताण्डव के चमत्कार हैं। किन्तु मनुष्य-जाति को मृत्यु के मुख में से बचाने के लिए कोई चेष्टा होती दिखाई नहीं देती है। एक शिशु की मृत्यु हो जाती है, हम उसके लिए विलाप करते हैं, किन्तु जिन कारणों से शिशु की मृत्यु हो गई है—अयोग्य पुरुषों का विवाह, माताओं की आश्रयहीनता, नगरों का निर्माण—इनको दूर करने के लिए रत्ती भर उद्योग नहीं किया जाता है। हम लोग रात-दिन 'शिक्षा' 'शिक्षा' की पुकार मचाया करते हैं, किन्तु शिक्षा का अर्थ हो रहा है एक अज्ञान से दूसरे अज्ञान में प्रवेश। बच्चा बड़ा होकर क्या काम करेगा और उस काम से तथा वर्तमान शिक्षा से क्या सम्बन्ध है यह विचारने के लिए हमें कभी अवसर नहीं मिलता है। इस विषय में तो हमारे बापदादों की जो प्राचीन प्रणाली चली आती है, वह हमारा पुरातन आदर्श है और उसी में हमारा गौरव है। परन्तु हवाई जहाज़ और मशीनगन के युग में यदि कोई योद्धा अपने प्राचीन धनुष-बाणों को लेकर घमंड करे तो वह अब बेवक़ूफ़ ठहराया जाय। यहाँ प्राचीनता मूर्खता का चिह्न समझी जायगी। सम्भव है दो एक बातों में हमारा प्राचीन आदर्श सभ्य समझा जाय, किन्तु ये बहुत मामूली विषय होंगे। हम लोग समाजविज्ञान के अध्ययन में रात-दिन सिर खपाया करते हैं किन्तु हमारा व्यवसाय और वाणिज्य जिस मूर्खता से चल रहा है, उसकी चिन्ता करने से हमको अवाक् हो जाना पड़ता है। जो व्यवसाय एक सम्मिलित कारबार के द्वारा बड़े सुचारुरूप से चल सकता है, वह दस छोटे छोटे व्यवसायियों को सौंप दिया गया है। बाधा-बंधन-हीन प्रतियोगिता के नाम पर अनाड़ियों और चोरों को आश्रय दिया जा रहा है। मिथ्या विज्ञापनों का प्रचार करने के लिए व्यवसायी अपने एजेन्ट नियत कर रहे हैं। हमारे वर्तमान व्यापार में धर्म और नीति को आदरणीय स्थान नहीं दिया गया है। केवल सांसारिक बातों और शब्दविन्यास में हमारा विश्वास जम रहा है। हमारे होनहार नवयुवकों को प्राचीन धर्म और नीति के उपदेशों में विश्वास नहीं रह गया है, क्योंकि सांसारिक क्षेत्र में इन बातों से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। अतएव एक ऐसा आदर्श स्थापित कर रक्खा है जो उस प्राचीन आदर्श से कहीं नीचा है। एक ओर हम देखते हैं कि जीवन-संग्राम में विजयी होकर अयोग्य स्त्री-पुरुषों का एक जोड़ा संसार में मौज से अपने दिन काट रहा है। जनसाधारण की सहायता से उसको मतलब नहीं, दूसरी ओर भ्रूणहत्या और जघन्य पापों की कथा सुनाई पड़ती है। वक्तृताओं के आवेश और क़ानून के डर से इन पापों को दबाने की चेष्टा की जाती है, किन्तु क्या इन उपायों से पापों का रुकना सम्भव हो सकता है? इस सम्बन्ध में वे ने एक अवसर पर बड़े दुःख के साथ कहा है, "मैं यह रहा हूँ कि पृथिवी दुःख पर दुःख सहने को तैयार है, कि भलाई की प्रतिष्ठा की कोई सम्भावना नहीं दिखाई कहीं इससे भी ख़राब अवस्था न हो जाय, यही डर है

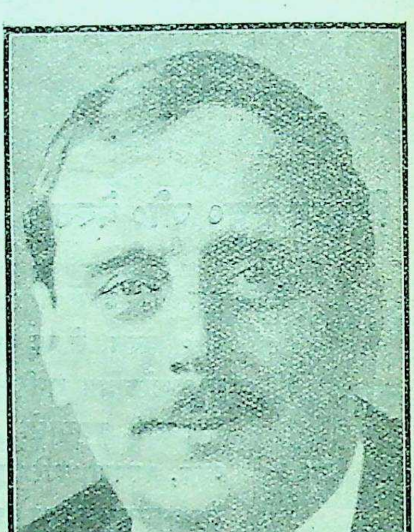

एच० जी० वेल्स।

वेलस का सबसे प्रधान गुण यह है कि वह अपने पाठकों के स्वाधीन चिन्तन में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करता है। यदि कहीं पर उसने इसके विरुद्ध आचरण किया है, तो वहाँ उतने गम्भीर विचारशीलता का परिचय दिया है, व्यर्थ में अपनी राय नहीं ठूँस दी है। जिन्होंने मानसिक जड़ता से आत्मा को मुक्त करने की बात चलाई है, उनके विरुद्ध भी उसने बड़े कड़े शब्दों में लिखा है। वेलस ज़ोर देकर पूछता है—जिस प्रकार और जहाँ तक हम नाना प्रकार के वैज्ञानिक क्षेत्रों में अग्रसर हो रहे हैं, उसी प्रकार और वहीं तक हम सामाजिक समस्याओं को सोचने और सुलझाने में क्यों दत्तचित्त नहीं हो रहे हैं। जिस प्रकार हम कल, कारख़ाना, चिकित्सा, रसायन आदि विज्ञानों में नये नये आविष्कार करने में व्यस्त हो रहे हैं, उसी प्रकार हम राष्ट्र, शिक्षा, नैतिक व्यापार, लोकाचरण आदि की समालोचना क्यों नहीं करते हैं।

वेलस ने उक्त विचार को समाजतन्त्र का नाम दिया है, और उसकी अति सरल और सुन्दर व्याख्या की है। साधारण मनुष्य समाजतन्त्र से यह अर्थ निकालता है कि राष्ट्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल कर समाज के सदस्यों में बराबर बराबर बाँट दी जाय। किन्तु वेलस का कहना है कि यहाँ समाजतन्त्र का अन्त नहीं होता है, समाजतन्त्र में मस्तिष्क, चक्षु, नख, दन्त आदि का भी परिवर्तन होना चाहिए। संक्षेप में जिस समय व्यष्टि की समस्त कार्यावली पर समष्टि का अधिकार हो जाय, उस समय समाजतन्त्र की पूर्णता हो सकेगी। यह हमारी फ़ैक्टरी नहीं है, केवल व्यापार की सुलभता है, बड़े बड़े शहरों में जनसाधारण की ओर से मांसनिरीक्षक नियुक्त किये जाते हैं और वे मांस की दुकानों पर मांस की परीक्षा करते हैं, इस प्रकार इस व्यापार में व्यवस्था हो सकती है। डाक-सञ्चालन का भार भी राष्ट्र अपने ऊपर ले लेता है, और किसी व्यक्ति को राष्ट्रीय डाकघरों के साथ प्रतियोगिता करने की आज्ञा नहीं दी जाती है, इस प्रकार की व्यवस्था में वास्तविक समाजतन्त्र का कुछ आभास दिखाई दे सकता है। किन्तु इस सामान्य संस्कार से हम लोगों को सन्तोष नहीं हो सकता। अभी हम पारिवारिक स्वतन्त्रता में अपना गौरव समझते हैं किन्तु इसको अनिवार्य शिक्षा के द्वारा भङ्ग करना होगा। अतएव जनसाधारण की भलाई के लिए अयोग्य स्त्री-पुरुषों के विवाह की प्रथा बन्द करके मातृत्व के भाव को उन्नत करना होगा और अयोग्य माता-पिता की सन्तानों की रक्षा के हेतु उनको उनके हाथों से निकाल कर सार्वजनिक संस्थाओं में पालन कराना अपना प्रधान कर्त्तव्य होगा। धनी लोगों को, जो आज-कल अपने भाण्डार भरने के लिए ज़मींदारी आदि एकत्र किया करते हैं, यह प्रथा भी तोड़नी होगी, इसको भी सर्व-साधारण के हाथों सौंप देना होगा। चिकित्सा और व्यापार को व्यक्तिगत रूप से सञ्चालन करने की प्रथा को बन्द करके इसको भी राष्ट्र के अधीन करना होगा।

वेलस का कहना है कि केवल एक राष्ट्र के भीतर मनुष्यों को बन्द करने से काम नहीं चलेगा। उदाहरण के लिए इधर भारतवासी अन्नाभाव के कारण भूखों मर रहे हैं और उधर अमरीका के संयुक्त राज्य में यह डर है कि गेहूँ की बिक्री न हो जाय, असली बात तो यह है कि व्यापार को उत्तम रीति से चलाने के लिए अन्तर्जातीय राजनीतिज्ञों का एक-दम अभाव है। इसलिए उसकी राय है कि एक प्रजातन्त्रमूलक जातिसङ्घ की स्थापना होनी चाहिए और संसार भर के वादविवादों और युद्धों का अन्त करना उसका प्रधान कर्त्तव्य हो। इन व्याधियों के कारण और लक्षण तो सभी पहचानते हैं, केवल उनको अन्त करने में साहस और विश्वास होना चाहिए।

इन्हीं समस्याओं का उत्तम समाधान देख कर यह धारणा हो जाती है कि वेलस को केवल एक साधारण उपन्यासकार मानना भारी भूल है। ईसाई-धर्म से विश्वास हटाकर उसने एक नूतन धर्म में विश्वास जमाया है, इस नूतन धर्म की दृष्टि से यह संसार एक शक्ति के द्वारा नहीं वरन् दो शक्तियों के द्वारा परिचालित हो रहा है। एक अगोचर शक्ति ने इस जगत् की सृष्टि की है और एक दूसरी शक्ति, जिसको साधारणतः 'विवेक' कह सकते हैं, इस अगोचर शक्ति के काम में बाधा डालती रहती है। यह द्वैतवाद आधुनिक दर्शन में एक अचल सिद्धान्त हो रहा है।

समीक्षक

१—शुभ वासना।

हमारा प्यारा भारत देश।
आकर के लखिए करुणाकर! कृश है पाकर क्लेश॥
उडुगण से परिभव पाकर ज्यों, कुण्ठित रहे दिनेश।
त्यों खल-गण के विवश हुआ है, तनिक न पाता पेश॥
यह पर का उपदेश प्राप्त कर, भूल गया निज वेश।
इसी लिए प्रतिपल प्रतिपद पर, पाता पर-पद-ठेस॥
सदल विवश था जिसके बल से, कर मल सबल सुरेश।
चित्र, उसी में अनशन-व्रत से, रहा न बल का लेश॥
नव वत्सर आया वत्सलता मत तजिए विश्वेश।
मिले निदेश, सिद्धि दें हमको करिवरवदन गणेश॥

रामचरित उपाध्याय

२—मनुष्य-जाति की विवेक-शून्यता।

सभी देशों और युगों के तत्त्वज्ञों ने एक मत से कहा है कि मनुष्यों और पशुओं में मुख्य भेद यह है कि मनुष्य में विवेक-शक्ति की स्फूर्ति न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती है, उसमें बुद्धि का चमत्कार दिखाई पड़ता है। परन्तु पशु के हृदय में परमेश्वर की ज्योति अत्यन्त सङ्कुचित परिमाण में होती है। वह केवल आहार, निद्रा, भय और मैथुन का दास होता है, परन्तु मनुष्य की प्रकृति में विवे शक्ति का समावेश होने से पशुता का साम्राज्य न होता। उसके मनुष्योचित गुण उसकी पाशविक प्रवृत्ति को दबाये रहते हैं। तभी तो मनुष्य को 'अशरफ़ुल म लूक़ात' अर्थात् सृष्टि-श्रेष्ठ की उपाधि दी गई है। इ विवेक-शक्ति के कारण मनुष्य की इतनी महिमा है।

वर्तमान जनसत्ता के सिद्धान्त भी इस दृढ़ विश्वा पर स्थित हैं कि प्रत्येक मनुष्य में अपने हिताहित जानने की शक्ति विद्यमान है। उसी विवेक और बु के बल पर वह अपनी जीवन-नौका को खेता है। इ विश्वास के आधार पर जनसत्ता के पक्षपाती तत्त्वज्ञ औ नेता प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वोट का अधिकार देना न्या और आवश्यक बताते हैं। किसी दुरुस्त दिमाग़वा पुरुष को सामाजिक एवं राजनैतिक अधिकारों से वं रखना केवल घोर अन्याय ही नहीं, मानव-प्रकृति भर्त्सना करना है। आज-कल प्रत्येक सभ्य और स्वत देश में सर्व स्त्री-पुरुषों को वोट देने का अधिकार प्र है, और जिन देशों में सार्वभौमिक मताधिकार नहीं वहाँ भी शिक्षित जनता और नेता इसी सुधार के में हैं। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि जनसत्ता सिद्धान्त हमारी इस अटल धारणा पर स्थित हैं

प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ विवेक-शक्ति और बुद्धि की मात्रा अवश्य पाई जाती है। नीच से नीच प्रकृतिवाले पुरुष को भी अपने स्वीय एवं समाज के हिताहित के पहचानने की शक्ति होती है। तभी तो कहा गया है कि जनसत्ता-वादी उत्कट आशावादी हैं। वे मानव-प्रकृति को प्रधानतः सद्‌गुणसम्पन्न ही समझते हैं और उसके दुर्गुणों को गौण मानते हैं।

परन्तु यह बात भी निर्विवाद है कि मनुष्य में पशु-गुणों का अभाव भी नहीं है। तर्क-शास्त्र में यह एक प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि मनुष्य एक प्रकार का पशु है। एक प्रसिद्ध यूनानी तर्कशास्त्री ने मनुष्य की परिभाषा यह दी थी, "मनुष्य एक पङ्ख-विहीन द्विपद पशु है"। यद्यपि मनुष्यत्व का पद पशुत्व के पद से ऊँचा है, तथापि मनुष्य में प्रायः सभी पशु-गुण पाये जाते हैं। विकासवादी डारविन आख़िर मनुष्य को बन्दर की औलाद बताते ही हैं, तभी तो उसमें अपने पूर्वजों के गुण अभी तक मौजूद हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

मनोविज्ञान के आचार्य्यों का भी यही मत है कि यद्यपि मनुष्य में विवेक और बुद्धि का प्रचुर विकास है तथापि मानव-जीवन के अधिकांश भाग में इन उपर्युक्त शक्तियों का प्रयोग कुछसा नहीं होता। यह सुन कर शायद आश्चर्य होगा कि हमारे जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं जब हमें वास्तव में अपनी उच्च शक्तियों—बुद्धि और विवेक—का उपयोग करना पड़ता है। हम भोजन करते हैं तो अधिकतर आदतों के अनुसार ग्रास को मुँह में लेकर, चबा कर निगल जाते हैं। कपड़ा पहनते हैं तो आदत के मुताबिक़ कोट या कुर्ते में दाहना या बाँया हाथ पहले आस्तीन के अन्दर डालते हैं और हमें इस बात का ज्ञान तक नहीं होता। बोल-चाल और दौड़ने-घूमने में, चर्ख़ा कातने और मोज़ा बुनने में, लिखते समय क़लम की स्याही ख़तम हो जाने पर दावात में फिर क़लम डुबो कर लाने में, छपा हुआ पृष्ठ पढ़ने में, बाइसिकिल पर सवार होकर दौड़ने में, किताब पढ़ते पढ़ते पन्ना उलटने में, रणक्षेत्र में निशाना मारने में, उचित अवसरों पर कान पर जनेऊ चढ़ाने में, पूज्य और बड़ों को देख कर उन्हें प्रणाम करने आदि में हमारी बौद्धिक शक्तियों का तनिक भी काम नहीं पड़ता। केवल हमारी पुरानी बनी हुई आदतें हमारे इन समस्त तथा अनेक अन्य कार्यों को बात की बात में बड़ी सुविधा और सरलता के साथ कर डालती हैं और हमें इन कार्य्यों की पूर्ति का कभी कभी ज्ञान तक नहीं होता। वास्तव में यदि इन सब छोटे-बड़े प्रतिदिन के कार्यों में बौद्धिक शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता तो हमारा जीवन अत्यन्त कष्टसाध्य और दुःखप्रद तो हो ही जाता, इसके अतिरिक्त हमारे मस्तिष्क की उच्च शक्तियों को शरीर के इन साधारण धर्मों के पचड़े में ही फँसे रहने के कारण अपनी उन्नति के लिए अवकाश ही न मिलता। हमारी दशा उस बच्चे की भांति होती जो अपने पैरों चलना सीख रहा है या वर्णमाला लिखना सीखने का अभ्यास कर रहा है। इस प्रकार हमारे जीवन में प्रकृति, स्वभाव अथवा आदत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे अधिकांश कार्य स्वभाव की ही प्रेरणा से होते हैं और बुद्धि या विवेक-शक्ति का काम ही नहीं पड़ता।

स्वभाव के अतिरिक्त उमङ्ग, आवेश और भावुकता आदि का मानव-जीवन की धारा पर जो प्रभाव है वह उपेक्षणीय नहीं। उमङ्ग और जोश के वश में होकर उतावले मनुष्य आपे से बाहर हो जाते हैं। उन्हें तब न तो विवेकाविवेक का ख़याल रहता है और न उनके होश-हवास ही दुरुस्त रहते हैं। उनकी बुद्धि न जाने कहाँ हवा हो जाती है।

इसी प्रकार अनुकरणशीलता के वशीभूत होकर हम न मालूम कितने कार्य्य प्रति दिन करते हैं। 'ख़रबूज़े को देख कर ख़रबूज़ा रङ्ग बदलता है'। हम जानते हैं कि किसी दूसरे मनुष्य पर पत्थर फेंकना बुरा है, परन्तु भीड़ के बीच में पड़ कर हम भी वही करने लगते हैं जो अन्य लोगों को करते देखते हैं। यों तो अकेले में व्यर्थ शोर-गुल मचाने को हम निरा पागलपन अथवा गँवारपन के सिवा और क्या कहेंगे, परन्तु मेला-ठेला और धूम-धड़क्के में पड़ कर अबोध बालकों की कौन कहे, बड़े बड़े सुशिक्षित और सुसभ्य पुरुषों का भी मन कोलाहल करने को लालायित हो जाता है। तभी तो 'हुल्लड़शाही' मशहूर है।

तात्पर्य यह है कि स्वभाव, उमङ्ग, सहज क्रियाओं और अनुकरण आदि से प्रेरित होकर मनुष्य बुद्धि, विवेक-

शक्ति आदि मनुष्योचित गुणों का अपने जीवन में अत्यन्त कम उपयोग करता है। अतएव जनसत्ता के उत्कट आशावादियों को मनोविज्ञान के आचार्य चेतावनी देते हैं; जैसा कि मिस्टर ग्राहम वलाज़ अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "राजनीति में मानव-प्रकृति" में कहते हैं—

मनुष्य के जीवन को बुद्धि-प्रधान माननेवाला सिद्धान्त त्याज्य है। राजनीति बहुत कम चेतन बुद्धि का परिणाम होती है। अधिकतर यह अर्धचेतन प्रक्रियाओं, स्वभाव-सहज क्रियाओं, अनुकरण आदि से सम्बन्ध रखती है।

कुछ दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जायगा। इन पंक्तियों के लिखते समय कौंसिलों के चुनाव का तूफ़ान पूरे ज़ोर से चल रहा है। स्वराज्य, उदार और स्वतन्त्र दलवाले अपने उम्मेदवारों के पक्ष में जी तोड़ उद्योग कर रहे हैं। इश्तिहारों की आँधी दिन में कई बार आती है। किसी में गांधीजी के नाम पर, किसी में कांग्रेस के नाम पर और किसी में भारतमाता के नाम पर वोटरों से अपील की जाती है कि अमुक दलवाले मेम्बर को वे अपना वोट दें। किसी में नरमदलवालों को नौकरशाही का क्रीतदास कह कर महात्माजी के कारागार-प्रवास की ज़िम्मेदारी उनके सिर मढ़ी जा रही है। नरमदल के हिमायती भी गांधी के नाम पर जनता से अपील करते हैं कि कौंसिलों में जाने के लिए महात्माजी की आज्ञा नहीं है और यह असहयोग के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। तभी तो कहते हैं कि कभी कभी शैतान भी अपने पक्ष में कुरान शरीफ़ की आयतों का प्रमाण दे सकता है! दोनों दलवाले अपने प्रतिद्वन्द्वियों को ख़ूब खरी सुनाते हैं, जिसमें अतिशयोक्ति, असत्य और धूर्तता का नमक-मिर्च ख़ूब मिला रहता है। इन सब बातों का जनता पर प्रभाव भी ख़ूब पड़ता है। १०० में शायद १० वोटर भी ऐसे न होंगे जो कौंसिल और एसेम्बली, नरम और गरमदल, और अन्य राजनैतिक शब्दों का अर्थ समझते हों। तीन बरस पूर्व इन्हीं वोटरों से जिन लोगों ने अपना वोट किसी को न देने की प्रार्थना की थी वही आज उन्हीं वोटरों से अपने लिए वोट माँग रहे हैं! परन्तु अधिकांश वोटरों को शायद तीन बरस पहलेवाली बातें भूल गई होंगी। जनता की स्मरण-शक्ति अत्यन्त क्षीण होती है।

राजनैतिक क्षेत्र में और भी अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, जिनसे मनुष्य-जाति की विवेक-शून्यता प्रकट होती है अँगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक बेजहाट ने अपने 'भौतिकशा और राजनीति' और 'अँगरेज़ी शासन-पद्धति' नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त सिद्धान्त की अत्यन्त विद्वत्ता-पूर्ण विवेचना है। इँग्लेंड की गवर्नमेंट के तीन मुख्य भाग हैं—सम्राट् हाउस आव् लार्ड्स और हाउस आव् कामन्स। इन तीन में अब हाउस आव् कामन्स की ही प्रभुता सबसे अधि है। अभी हाल में हाउस आव् लार्ड्स के अधिकार औ भी कम कर दिये गये हैं, और यह "प्रकट रहस्य" है कि महारानी विक्टोरिया के अनन्तर सम्राट् का प्रभाव इँग्लेंड के शासन पर और भी कम हो गया है। परन्तु ज बेजहाट ने लिखा था उस समय सम्राट् और हाउस आ लार्ड्स दोनों संस्थाओं के अधिकार आज-कल की अपेक्ष फिर भी अधिक थे। परन्तु बेजहाट स्वीकार करता है कि इँग्लेंड की शासन-व्यवस्था में सम्राट् की कोई विशेप आव श्यकता नहीं। यदि इँग्लेंड में सम्राट् न भी रहें तो भी व शासन का कार्य्य पूर्ववत् चलता रहेगा। फ़्रांस की भाँ वहाँ भी प्रेसिडेंट चुना जा सकता है, जो सम्राट् गद्दी पर बैठ सकता है। परन्तु सम्राट् का होना फि भी परम आवश्यक है। वह एक प्रकार से समस्त शास और साम्राज्य का मूर्तिवत् स्वरूप है। विभिन्न दलों उपनिवेशों और अन्य अधीनस्थ देशों को एक सूत्र बांधनेवाला सम्राट् ही है। जो कुछ प्रबन्ध हो है, जो कुछ शासन की आज्ञायें या घोषणायें प्रकाशि होती हैं, वे सब सम्राट् की ही मुहर पर और उसी नाम से होती हैं। जाननेवाले जानते हैं कि सम्राट् स्पीच का असली लेखक कौन है, उसकी नियुक्तियों करनेवाला और आज्ञाओं का देनेवाला कौन है, पर फिर भी ९० फ़ी सदी अज्ञान जनता के लिए बादशा सलामत का नाम जादू का असर रखता है। तभी बादशाह या प्रिन्स आव् वेल्स समय समय पर साम्रा के भिन्न भिन्न भागों में भ्रमण करते रहते हैं। जहाँ जाते हैं, बड़े ठाट और उत्सव होते हैं।

भारतवर्ष की ही ओर देखिए। मुग़लशासन-पद्ध में "झरोखा-दर्शन" एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग था

सुबह होते ही अपने महल की खिड़की से बादशाह अनेक दर्शनोत्सुक भक्तों को दर्शन देता था। यह प्रथा अकबर ने चलाई थी। औरङ्गज़ेब के समय तक यह प्रथा रही, परन्तु मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी होने के कारण उसने यह प्रथा उठा दी। प्रोफ़ेसर वेनीप्रसाद और यदुनाथ सरकार ने अपने ग्रन्थों में इस प्रथा का महत्त्व दिखाया है। दरबारों की चाल भी पुरानी है। मुग़ल-बादशाहों के दरबार भी बड़ी शान-शौक़त से होते थे। वर्तमान ब्रिटिश-सरकार भी दरबारों की महिमा से भलीभांति परिचित है। अभी कुछ दिन हुए लखनऊ में हिज़ एक्सीलेन्सी लार्ड रीडिंग ने जो दरबार किया था उसमें अपने भाषण में उन्होंने दरबारों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए उनका वास्तविक महत्त्व खुले शब्दों में कहा था।

शाही मुकुट, सिंहासन, दण्ड, लम्बे चोगे आदि की उपयोगिता भी प्रकट है। राष्ट्रीय गीतों, राष्ट्रीय झण्डों, राष्ट्रीय त्योहारों आदि का कैसा जादू का सा असर होता है! रोमन लोग अपने झण्डे का बड़ा सत्कार करते थे। उसे वे देवताओं के मन्दिरों में सम्मानित करते थे। जब रोमन-सेनापति अपनी फ़ौज के पैर उखड़ते हुए देखते थे तब वे राष्ट्रीय झण्डे को शत्रु-दल के मध्य में फेंक देते थे। बस, रोमन-सैनिक उस राष्ट्रीय झण्डे की लाज रखने के लिए पिल पड़ते थे और प्राण होम देते थे। अँगरेज़ों के राष्ट्रीय गीत में (National Anthem), एक अँगरेज़ लेखक के मतानुसार, न तो काव्य-सौन्दर्य्य है और न कुछ गम्भीर भाव, परन्तु उसका प्रभाव कितना गहरा है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

राजनीति के सिवा अन्य क्षेत्रों में भी मनोविज्ञान के इस नियम का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। सामाजिक संस्थाओं में विवाह सबसे प्रधान है। प्रत्येक देश में विवाह के अवसर पर धूम-धड़क्के, दावतें, गाजे-बाजे आदि का रवाज है। इस सब ठाट और उत्सव का प्रधान उद्देश विवाह की महत्ता को अनुपम प्रभाव-सम्पन्न बनाना है। हिन्दू-धर्म के अनुसार षोडश संस्कारों का महत्त्व भी इसी सिद्धान्त पर बहुत कुछ निर्भर है। आजकल न्यायालयों में न्यायाधीशों के विचित्र टोपों, चोगों आदि का उद्देश भी शायद यही है।

विभिन्न धर्मों और मतों के अनुयायी भी इसी सार्वभौमिक नियम के वशीभूत होकर उपासना आदि करते हैं। परमेश्वर, धर्म, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, वेद, कुरान आदि नामों का प्रभाव धर्म-प्रिय हृदयों पर कितना अधिक होता है इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। असंख्य लोगों को अपने धर्म के मूल-सिद्धान्तों तक का बोध नहीं, पाप और पुण्य वास्तव में क्या हैं इसका भी साफ़ साफ़ ज्ञान नहीं, और वेदों में क्या लिखा है इसको जानना तो दूर रहा उन्होंने कभी वेदों की सूरत तक नहीं देखी। परन्तु फिर भी इन शब्दों का उनके हृदयों पर जादू का-सा असर होता है। चर्च, मन्दिर और मसजिद आदि संस्थाओं का करोड़ों भक्तों के जीवन पर कितना प्रभाव पड़ता है? सोमनाथ की रक्षा करने में सहस्रों हिन्दुओं ने प्राण दे दिये। कानपुर की मसजिद के एक अप्रधान भाग के सरकार-द्वारा ध्वंस किये जाने पर हज़ारों मुसलमान अपने दीन की रक्षा के लिए एकत्र हो गये थे और उन्होंने गोलियों की बौछार का सामना भी किया।

व्यापार में भी इस अमूल्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रयोग प्रतिदिन दिखाई पड़ता है। इश्तिहारबाज़ी की धूम दिन-दिन बढ़ती जाती है। विज्ञापन-कला धीरे धीरे एक प्रकार की ललित कला होती जा रही है। अमेरिकन लोग इस कला में परम पटु हैं। विज्ञापनों में निरे सत्य की मात्रा कितनी होती है यह प्रायः सभी लोग ख़ूब जानते हैं। "हमारी घड़ियाँ वज्र से भी नहीं टूटतीं", "हमारी दवाओं से मुर्दे भी जी उठते हैं," "फ़ायदा न हो तो दुगुने दाम वापिस" आदि वाक्य तो अब पुराने हो गये हैं। एक बार "गांधी-सिगरेट" का ज़िक्र पत्रों में हुआ था! एक चाय के व्यापारी ने यह इश्तिहार निकाला था, "महात्मा गांधी चाय पीते हैं तो फिर आप क्यों नहीं पीते?" तात्पर्य यह है कि विज्ञापक लोग जनता की मानसिक प्रवृत्तियों का ख़ूब अध्ययन करते रहते हैं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि लोग जान-बूझ कर भी इश्तिहारों के फन्दे में पड़ ही जाते हैं।

इसी प्रकार मानव-जीवन के अन्य क्षेत्रों से भी अनेक दृष्टान्त मनुष्य-जाति की विवेक-शून्यता पर दिये जा सकते हैं। नेपोलियन का यह वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है

कि "Mankind is led by toys" अर्थात् मनुष्य-जाति खिलौनों के पीछे बहुत कुछ काम करती है। तभी तो फ़्रांस का सम्राट् हो जाने पर उसने राजभक्तों और राज्य-कर्मचारियों को उनकी सेवाओं के लिए सम्मानित करने के लिए LEGION OF HONOUR अर्थात् "सम्मान-सैन्य" की स्थापना की थी। इसी प्रकार काउन्ट, वॉन, लार्ड, प्रिवी काउन्सिलर, नाइट, राय बहादुर, ख़ांबहादुर, ख़ानख़ाना, अमीरुलउमरा, आसफ़ जाह आदि उपाधियों की रचना की गई थी।

महात्मा गांधी हड़तालों की उपयोगिता ख़ूब समझते हैं। पञ्जाब की गड़बड़ी के बाद जो जांच-कमेटी बैठी थी उसके सम्मुख महात्माजी की गवाही हुई थी। लार्ड हण्टर के प्रश्न करने पर उन्होंने साफ़ साफ़ कह दिया था कि १३ एप्रिलवाली सार्वदेशिक हड़ताल कराने में हमारा उद्देश केवल यह था कि जनता के मनों पर प्रभाव डालने के लिए कोई विशेष प्रकार का उपाय करना आवश्यक है और मेरी समझ में हड़ताल उन उपायों में सबसे अधिक प्रभावशाली है।

देशप्रेम क्या है? हम अपनी जन्मभूमि की ओर प्रेम क्यों प्रकट करते हैं? लोग कहेंगे कि वह हमारी जन्मदात्री, रक्षा करनेवाली और पालनेवाली है। ठीक है। परन्तु जिन लोगों को अपनी मातृभूमि में पेट भर अन्न के भी लाले पड़ते हैं, जिनका देश उनकी रक्षा और पालन करने के बदले उनका नाश करता है, वे अपना बुरा देश छोड़ कर अन्य देशों में क्यों नहीं जा बसते? राणा प्रताप को अपनी मरुभूमि क्यों प्यारी थी? आइसलेंड के एस्कीमो लोग ऐसे बर्फ़ीले उजाड़-खण्ड में बसने की मूर्खता क्यों करते हैं? जापान में अभी कुछ वर्ष हुए ज्वालामुखी पहाड़ का भयङ्कर उद्गार हुआ था और कुछ मास हुए अत्यन्त विकट भूकम्प हुआ था, जिसमें अगणित द्रव्य और नर-विनाश हुआ। तो क्या जापानी लोग टोकियो और योकोहामा नगरों को छोड़ कर कहीं अन्यत्र भाग जायँगे? इससे स्पष्ट है कि देशप्रेम प्रयोजन-वाद या उपयोगिता-वाद के सिद्धान्तों पर निर्भर नहीं है। प्रेम अन्धा होता है। पतिङ्गे दीपक की ओर किसी बौद्धिक गणना से नहीं जाते।

इस विवेचना से यह स्पष्ट होगया होगा कि मानव-जीवन के अधिकांश भाग में विवेक और बुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। वास्तव में विवेक-शून्यता मनुष्य-जाति का अनुपेक्षणीय लक्षण है।

लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी

३—मनोविनोद।

मुन्नू महाशय का नैनीताल से लिखा हुआ पत्र जून १९२२ की सरस्वती में, सम्पादक महाशय की असीम कृपा से, प्रकाशित हुआ था। तब से बहुत दिनों तक उनके किसी पत्र या लेख न छपने से उनके बहुतेरे भक्त इतने घबरा उठे कि—उन्हें मुन्नू का पता तो मालूम नहीं था—मुझे ही उनके क्षेम-कुशल का हाल जानने के लिए चिट्ठियों पर चिट्ठियां भेजने लगे। साधारणतः लोग अपना समय और दाम दोनों बचाने के लिए ऐसे सहानुभूति-सूचक पत्रों के उत्तर किसी समाचार-पत्र में देकर इति कर्तव्यपाक हो जाते हैं। परन्तु मैंने ऐसा करना योग्य नहीं समझा। ऐसे उत्तर बड़े लोगों के लिए हैं जिन्हें देश-सेवा से समय नहीं बचता, या जिनसे पत्र-लेखकों को आर्थिक लाभ की आशा रहती है। इस सम्बन्ध में पत्र-प्रेरकों का मुन्नू से मासिक मनोरञ्जन के अलावा और क्या लाभ हो सकता था। और हम इतने बड़े तो थे ही नहीं कि पत्रों के उत्तर देने में असुविधा होती। इसलिए यद्यपि सर्वसाधारण पाठकों को मुन्नू महाशय के कुशल-समाचार की सूचना न दे सके; तो भी उनके ऐसे मित्रों को जो डाक के लिए कुछ ख़र्च कर सकते थे हम बराबर यथासाध्य, मुन्नू महाशय की ख़बर देते रहे।

मेरा यह अनुभव है कि साधारण लेखक भी जब किसी साहित्य-सेवी की चर्चा करते हैं तब पत्र में ही साहित्य-सृष्टि करने का प्रयत्न करते हैं। मेरे पास बहुत से पत्र हैं। उपर्युक्त कथन की पुष्टि में—और पाठकों के मनोरञ्जन के लिए भी—यहां थोड़े से पत्र उद्धृत किये जाते हैं।

कोटगढ़ से एक महाशय लिखते हैं—

मालूम होता है कि मुन्नू महाशय को नैनीताल के जलवायु ने अपना परिचय दिया है। सुना है कि वहां जाते

हाँ बिलकुल सही दिमाग़ रखनेवाले भी बे सिर पैर की बातें बकने लगते हैं। मुझे एक बार कार्यवश नैनीताल जाना पड़ा। कुछ दिन रहना पड़ा। एक दिन पिता का पत्र आया, कुछ चीज़ों के लिए फ़रमायश थी। मैंने एक बहुत बड़ा पत्र लिखा। भाषा बिलकुल विशुद्ध, परन्तु थोड़े ही शब्दों में मैं अपने विचार प्रकट न कर सका। पिताजी ने पत्र के पाते ही मुझे तार दिया कि फ़ौरन चले आओ। पहुँचते ही उन्होंने मेरी क्षेम-कुशल का हाल पूँछा और ईश्वर को धन्यवाद दिया कि मेरा दिमाग़ वास्तव में बिगड़ने नहीं पाया। उन्होंने मुझे मेरा पत्र दिखाया। अब मुझे अपना पिछला हाल समझ में आया। चार खर्रे के एक लम्बे पत्र का केवल यह तात्पर्य था कि मैं यह काम नहीं कर सकता। ईश्वर की अजब माया है। यदि कोई इस बीमारी से बचने का प्रयत्न करे और अपने दिमाग़ को सही रक्खे तो वहाँ के डाक्टरों की राय में उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाय और उसे नैनीताल-निकाले की वहाँ के राजा की तरफ़ से आज्ञा हो जाय। ऐसा तो नहीं हुआ कि उनका स्वास्थ्य इसी तरह बिगड़ गया हो? पत्रोत्तर शीघ्र भेजिए। हमारे गाँव में एक ही पत्रिका आती है, सो बिना मुन्नू के फीकी मालूम पड़ती है।

दौलतपुर के रायबहादुर साहब ने लिखा—

आज-कल समय बहुत कठिन है। असहयोग की धूम है। इज़्ज़त बचाना दुष्कर हो रहा है। हम सिर्फ़ एक ही पत्रिका मँगाते थे। क्योंकि उसके नियमों में हमेशा से यह लिखा रहता था कि इस पत्रिका में राजनैतिक और धार्मिक लेखों को स्थान न मिलेगा। मुझे क्या मालूम था कि आप एक ऐसे पत्र को सरस्वती में प्रकाशित करा देंगे जिसकी ख़बर कलक्टर साहब तक पहुँचेगी। कुछ महीने हुए कार्यवश मैं साहब को सलाम करने गया। साहब हिन्दी से परिचित थे। बोले, "आप कोई समाचार-पत्र भी पढ़ते हैं"। मैं क्या उत्तर देता। "कहिए असहयोगियों पर फ़तेह पाने का कोई समाचार है"। साहब ने सुना ही नहीं "देखिए आपके किसी मित्र ने नैनीताल पर कैसे कैसे व्यङ्ग्य कसे हैं"। देखा तो सरस्वती से वही कटिंग। साहब फिर हँसे, मैं भी मुस्कराया। मन में सोचा कि क्या सरस्वती से भी हाथ धोना पड़ेगा। मुन्नू महाशय का तब से मैंने कोई लेख नहीं देखा। मुझे तो यही सन्देह हो रहा है कि हमारे दिलचले मित्र कहीं किसी राजनैतिक जाल में फँस कर कारावास की हवा तो नहीं खाने लगे। लिखिएगा कि आज-कल उनका क्या व्यसन है लेख लिखना या चक्की पीसना।

समय तो ऐसा था कि मैं इन महाशय के पत्र को या तो उद्धृत ही न करता, या उन भावों को जो कुछ कटु हो गये थे अनन्त............की विस्मृति में लीन कर देता, और कुछ नहीं तो इनको उपाधिधारी दास नाम देकर अपनी देशभक्ति का परिचय देता। परन्तु मेरा काम तो केवल आये हुए पत्रों को उद्धृत कर देना है। आलोचन-कार्य बड़े लोगों का है।

जलन्धर की एक शिक्षित महाशया लिखती हैं—

मुझे शायद अपना परिचय देने की आवश्यकता है। आपके लाहौर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में दर्शन मिल चुके हैं। तब मैं नई ही महाविद्यालय से निकली थी। लेख लिखने का मुझे बहुत समय से अभ्यास था। इसी लिए मैंने यहाँ की 'महिलासर्वस्व' नामक पत्रिका का सम्पादन-भार ले लिया है। आपही ऐसे महानुभावों से आशा है। आपके मुन्नू महाशय से परिचय नहीं है। और उनके लेख भी नहीं चाहती। यह वह समय है कि भारतवर्ष में सब ओर से स्त्री-समाज के सुधार की सदा सुनाई दे रही है। परन्तु मुन्नू महाशय जब लिखते हैं, स्त्रियों के प्रति बिना ज़हर उगले अपने लेख को समाप्त नहीं करते। अभी मैंने Woman World नामक इँगिलिस्तान की एक मासिक पत्रिका में उनका एक लेख देखा जिसमें आपने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारतवर्ष में समाज-सुधार की स्त्रियाँ ही बाधक हैं। ऐसे लेखक के लिए यह अच्छा है कि वह बहुत दिनों से अब सरस्वती में नहीं लिख रहा है। क्या ही अच्छा हो यदि उन्हें कोई ऐसा पिसाई का काम मिल जाय जिससे इनकी लेखनी में ज़ंग लग जाय और इनकी स्याही सूख जाय।

आशा है आप प्रसन्न हैं। इस पत्र के विषय में मुझे

सिर्फ़ इतना कहना है कि मुन्नू महाशय का अँगरेज़ी से थोड़ा ही परिचय है।

अन्तिम पत्र जिसका उद्धृत करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ यह है—

नैनीताल-यात्रा शीर्षक लेख के लिए अनेक धन्यवाद। यदि ऐसे ही लेख मुन्नू महाशय की क़लम से अन्य पहाड़ी स्थानों से निकलें तो हमें पहाड़ों का आनन्द घर बैठे ही मिल जाया करे।

पाठक क्षमा करें मुन्नू महाशय के चुने हुए भक्तों के पत्रों का यहाँ उल्लेख कर उन्हें संसार में प्रकाशित कर देना हमारा कर्तव्य था। शायद इसी बहाने उनकी साहित्य-सुरुचि की स्मृति भारत-सन्तान के हृदय में रहे। अस्तु, इतनी भूमिका के बाद अब हम मुन्नू महाशय की ग़ैर-हाज़िरी का बयान अपने सहृदय पाठकों के सन्तोष के लिए पेश करते हैं।

पाठकों को याद होगा कि मुन्नूजी अवध के एक रसिक ताल्लुक़दार महाशय के मुसाहिब होकर नैनीताल गये थे। वहीं से आपने अवकाश के समय नैनीताल के विषय मे पत्र भेजा था जिसके छपते ही उनकी समझ में हिन्दी-साहित्य-संसार में चहल-पहल मच गई थी। आप इसके पश्चात् 'हैट-मीमांसा' नामक एक गम्भीर विषय पर बहुत दत्तचित्त होकर खोज करते रहे। इसके लिए तमाम विलायती दूकानों पर साहबी ठाठ से जाकर और एक वृद्धा विलायती महिला की सहायता से बहुत कुछ सामग्री भी इकट्ठा कर ली थी। आपने इस विषय में जो अपनी टिप्पणियाँ लिखी हैं, बड़ी ही गवेषणापूर्ण हैं।

महाशयजी पुस्तक पूर्ण करके ही नैनीताल से उतरते। परन्तु जिन ताल्लुक़दार महाशय के वे साथ थे उन्हें पार्टियों की बदौलत बहुत जल्द नैनीताल से कूच करना पड़ा। डाक्टरों की आज्ञा हुई कि तुम्हारा अब यहाँ से लौट जाना आवश्यक है। मालिक के साथ मुसाहिब को भी कूच करना पड़ा। मुन्नू महाशय मन ही मन 'पर अधीन सपनेहु सुख नाहीं' का पाठ पढ़ते पढ़ते सकुशल 'सरकार' की गढ़ी में दाख़िल हुए। मुन्नू महाशय ने मुझे काठगोदाम से लिखा था कि नैनीताल के विरह-सन्ताप से उनका रोम रोम रो रहा है। फिर आपने गढ़ी पहुँच कर ख़स की टट्टी से आराम पहुँचने का विचा करते हुए लिखा कि इसके प्रेमपाश ने उन्हें कादर दिया है। उनके लिए अब दोपहर की किरणों से करना दुष्कर है।

इसके पश्चात् बहुत दिन तक कोई पत्र नहीं आय हम समझे कि मुन्नूजी उसी पुस्तक के पूर्ण करने तत्पर होंगे जिसकी सूचना उन्होंने मुझे नैनीताल से थी। परन्तु हमारा यह विचार अक्षरशः सत्य न निकला। काम वह अब भी साहित्यिक ही कर रहे परन्तु दूसरे मेल का।

उस दिन वे ठाकुर साहब के साथ लखनऊ आ और अन्य जगहों में अधिक सुविधा के होते हुए हमारी सेवा स्वीकार की। तमाम शहर की सैर स्कूल का निरीक्षण किया। मिठाइयों, तरकारि और मेवों पर आलोचनायें कीं और लखनऊ में हि की उत्तरोत्तर वृद्धि पर अपना सन्तोष प्रकट किया।

चलते समय मुन्नू महाशय ने मुझे सूचना दी अब से स्वयं वे या उनकी मनोरञ्जन-सभा के सदस्य प्रकाशित कराया करेंगे। मैंने सदस्यों के नाम पूँ उन्होंने मुझे पूरी सूची तो दी नहीं। उसके लिए उन् मुझे ताल्लुक़दार महाशय की ओर सङ्केत किया उसके मन्त्री थे। परन्तु जिन दो-चार सज्जनों के नाम उनकी सूचना पाठकों को दिये देता हूँ। मधुप महा कवि हैं; सहदेवसिंह वर्मा हिन्दीगद्य के धुरन्धर लेखक और नवीनचन्द्र दार्शनिक हैं। अन्य सदस्य भी हैं प मुन्नू महाशय तथा उनके ठाकुर साहब का इनके द्वारा बहुत मनोरञ्जन होता है।

सो अब पाठक महाशय मुझे क्षमा करें। मुन्नू महा अब स्वयं ही पत्रिकाओं में लेख देंगे तथा पुस्तकें लि यदि उपर्युक्त सज्जनों में से किसी का लेख प्रकाशित तो उसके विषय में इतना वे अवश्य समझ लें कि मनोरञ्जन-सभा से स्वीकृति पा चुका है। क्योंकि और नियम हैं, और जिनका विवरण मुन्नू महाशय दूसरे लेख में करेंगे, उनमें से एक यह भी है उसका कोई सदस्य बिना सभा की स्वीकृति अपनी

भी कृति का उल्लेख किसी भी पत्रिका में नहीं कर सकता ।

कालिदास कपूर

४—पाँच अँगुलियों का खेल ।

संसार में हम जितनी वस्तुएँ देखते हैं उन सबकी हूबहू नक़ल करना सम्भव नहीं है । यदि यह सम्भव भी हो तो उस अनुकरण को हम कला-नैपुण्य का आदर्श नहीं कहेंगे। किसी वस्तु के आकार और वर्ण का अनुकरण कर लेना कठिन नहीं है । परन्तु आकार और वर्ण की यह प्रतिच्छाया कला नहीं कही जा सकती । खिला हुआ फूल अपने सौन्दर्य से लता को उज्ज्वल कर देता है । वह अपने सौरभ से पवन को सुरभित कर देता है । उसके आकार और वर्ण की नक़ल कर लेना तो सम्भव है, परन्तु उससे क्या फूल का यथार्थ सौन्दर्य प्रकट हो सकता है ? चित्रित फूल में स्वाभाविक फूल की कोमलता, पवित्रता और सुगन्धि कैसी आ सकती है ? प्रत्येक रूप, प्रत्येक आकार और प्रत्येक दृश्य किसी न किसी भाव से संयुक्त रहते हैं। उसी भाव को अभिव्यक्त करना, उसी को प्रत्यक्ष करना कला का मुख्य उद्देश है । फूल का चित्र तभी सार्थक हो सकता है जब उसमें स्वाभाविक फूल की कोमलता, पवित्रता और सौरभ का आभास मिल सके । किसी दृश्य को देख कर या उसकी कल्पना कर चित्रकार जिस भाव का अनुभव करता है उसी को वह प्रकट करने की चेष्टा करता है। उसकी कला का माधुर्य और महत्त्व इसी भाव के प्रकाश में है । जिसमें भाव जितना ही सुन्दर और गम्भीर होगा उसमें कला उतनी ही सफल होगी ।

हम अपने अन्तर्गत भाव को भाषा से प्रकट करते हैं । भाषा भाव की अभिव्यक्ति का एक उपाय है । कला की भी एक भाषा होती है । चित्रकार अपने मानसिक भावों को प्रकट करने के लिए उसी भाषा का आश्रय लेता है। यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि भाव जितना ही सूक्ष्म और जटिल होगा भाषा भी उतनी ही सूक्ष्म और जटिल होगी । मनुष्य के मानसिक भाव सदैव जटिल होते हैं । एक ही भाव में कितने ही अन्य भावों का समावेश होता रहता है । जब हम किसी भाव का विश्लेषण करने बैठते हैं तब हमें उसकी इस जटिलता का अनुभव होता है । क्रोध, हर्ष, शोक, घृणा, प्रेम आदि भाव बड़े जटिल हैं । अतएव जब कोई कवि या चित्रकार उनको प्रकट करता है तब कभी कभी उसकी भाषा हमारे लिए कठिन हो जाती है । हम सहसा उसका मर्म नहीं समझ सकते । हमें उसकी बात समझने के लिए अपनी कल्पना से भी काम लेना पड़ता है । यदि हम कल्पना से बिलकुल काम न लें तो क्या काव्य, क्या सङ्गीत और क्या चित्र, किसी के भी सौन्दर्य का हम पूर्ण उपयोग नहीं कर सकते । कवि के काव्य में उसके कल्पित सौन्दर्य की शोभा रहती है। संसार में हम ठीक वैसी ही छवि नहीं देख सकते । पूर्ण रूप से काव्य का रसास्वादन करने के लिए हमें कवि की कल्पना के साथ अपनी भी कल्पना-शक्ति को मुक्त करना पड़ता है ।

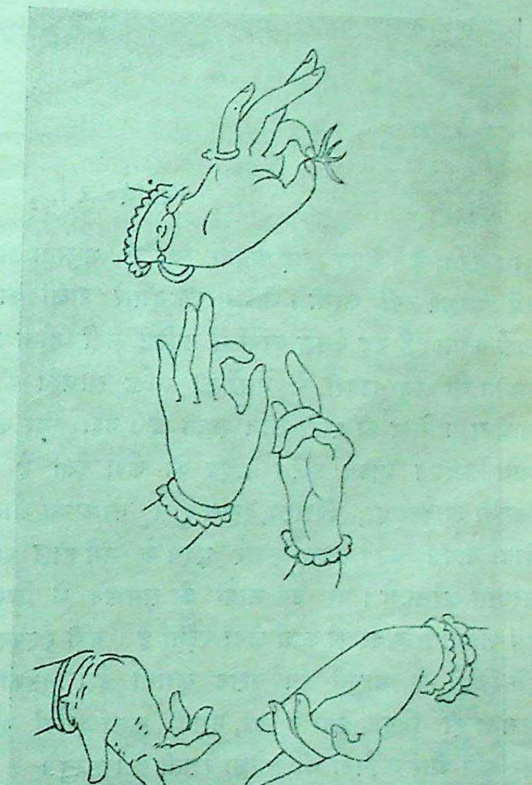

चित्र नं० १ ।

यही बात सङ्गीत की भी है उसमें भी भाव चित्त को मुग्ध करता है। केवल शब्द अथवा स्वर की मधुरता ही हमें आकृष्ट नहीं करती। जो माधुर्य हमारे प्राणों को स्पर्श करता है वह केवल कानों में प्रविष्ट नहीं होता। सङ्गीत की स्वर-लहरी में भक्तों की भक्ति, साधकों की साधना, प्रेमियों की प्रीति लीन रहती है। वही स्वर के साथ उत्थित होकर हमारे हृदय को कँपा देती है। कितनी आकाङ्क्षा, निराशा, सुख-दुःख, कोमलता और मोह उत्पन्न कर सङ्गीत हमारे हृदय के मर्म-स्थल पर आघात करता है। पर उन भावों को समझने के लिए हमें अपनी कल्पना से काम लेना पड़ता है। यही कल्पना हमें चित्रों के माधुर्य का दर्शन कराती है। चित्रकार कितना ही निपुण क्यों न हो, उसकी कला दर्शकों की अनुभूति और कल्पना की अपेक्षा रखती है। अस्तु।

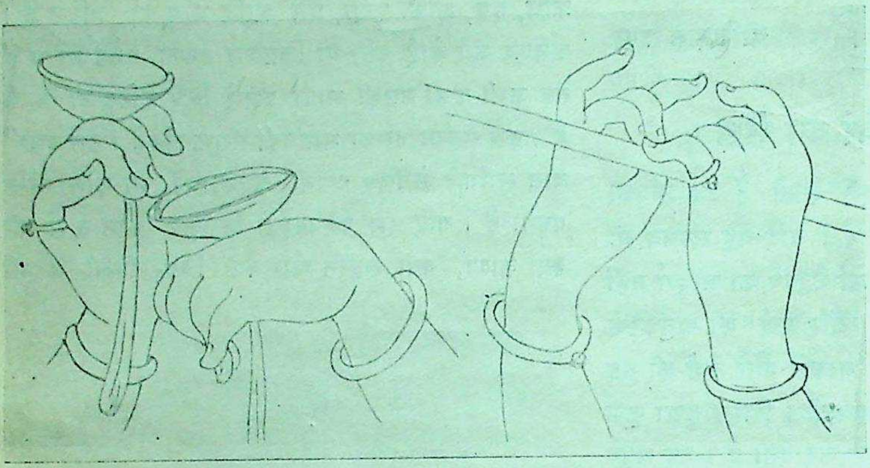

चित्र नं० २।

चित्र की भाषा है वर्ण और रेखा। इन्हीं की सहायता से चित्रकार अपने मनोगत भावों को स्पष्ट करता है। रेखाङ्कण चित्र ही चित्र है। किसी वस्तु का सादृश्य दिखलाने के लिए उसी के आकार के अनुरूप हमें रेखा खींचनी पड़ती है। यह रेखाङ्कण जितना ही अच्छा या बुरा होगा चित्र भी उतना ही अच्छा या बुरा लगेगा। रङ्ग भरने में भी एक कुशलता चाहिए। परन्तु रेखाङ्कण के लिए विशेष नैपुण्य चाहिए। यदि इसमें कोई दोष रहेगा तो वह दोष रङ्गों से छिप नहीं सकता।

भिन्न भिन्न देशों में रेखाङ्कण की भिन्न भिन्न प्रणाली प्रचलित है। प्राचीन काल में भारतीय कला ने भी बड़ी उन्नति की थी। अजन्ता की गुफाओं में प्राचीन कला के द्योतक चित्र अब तक विद्यमान हैं। यहाँ उन्हीं से रेखाङ्कण का सौष्ठव समझाने के लिए कुछ चित्र दिये जाते हैं।

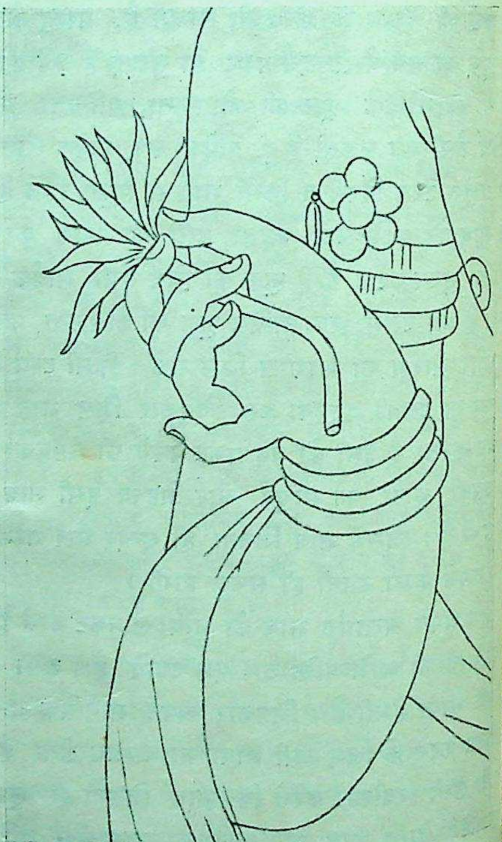

चित्र नं० ३।

पहला चित्र—पहले चित्र में कुछ हाथों के प्रति

रूप हैं। इनकी गठन में ही एक सरल लावण्य का भाव है। जितनी रेखाओं का प्रयोजन है उतनी ही रेखायें इसमें हैं। इसके पहले चित्र में एक ललना के हाथ में कुन्द का फूल दिखलाया है। फूल पकड़ने की रीति कितनी सुन्दर है। दूसरा चित्र है ज्ञानमुद्रा का। शिक्षा का भाव बिलकुल स्पष्ट है। तीसरा चित्र नैराश्य भाव का व्यञ्जक है।

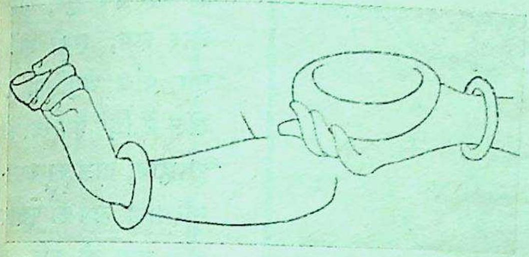

चित्र नं० ४।

दूसरा चित्र—पहले चित्र में एक रमणी करताल बजा रही है। दोनों हाथों की गठन ऐसी है कि जान पड़ता है कि करताल किस स्वर के ताल में बज रहा है।

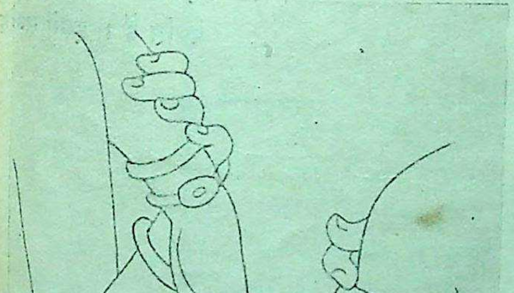

चित्र नं० ५।

दूसरा चित्र है वंशी बजानेवाले का। अँगुलियों से मृदु-स्पर्श और क्रीड़ा का भाव व्यक्त हो रहा है।

तीसरा चित्र—यह किसी विलासी का हाथ है। विलासियों का न पहले अभाव था और न अब अभाव है। उसके हाथ में फूल है और फूल के ही समान उसकी पाँचों अँगुलियाँ खिल उठी हैं। यहीं हम कर-पल्लव की सार्थकता का अनुभव करते हैं।

चौथा चित्र—पहला भिक्षु-श्रेष्ठ बुद्धदेव का हाथ है। देखिए, भिक्षापात्र से ही किस प्रकार एक शान्त आह्वान का आभास मिल रहा है। दूसरे में एक रमणी का हाथ है। जल-पूर्ण-पात्र रमणी अपने प्रियतम को दे रही है। हाथ में लज्जा और सङ्कोच का भाव बड़ी सुन्दरता से प्रकट हुआ है।

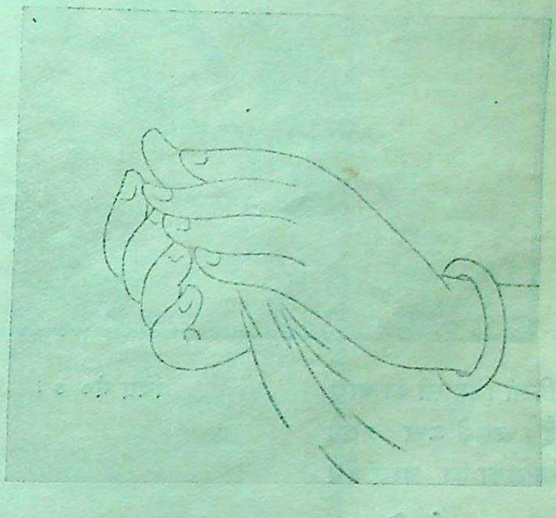

चित्र नं० ६।

पाँचवाँ चित्र—यह प्रेमी और प्रेमिका का हाथ है। पहले चित्र में रमणी के स्कन्ध पर उसके प्रियतम का हाथ रक्खा है। इसमें अँगुलियों का केवल अग्रभाग देखा जाता है किन्तु उतने से ही कोमल स्पर्श का भाव व्यक्त हो जाता है। दूसरे चित्र में प्रेमी ने अपने प्रियतमा के हाथ को अपने बाहु-पाश से बांध लिया है। हाथों का कितना सुन्दर मिलन है।

छठा चित्र—यह भक्त का हाथ है। भक्त अपनी अन्तरात्मा की भक्ति की अञ्जलि दे रहा है।

सातवाँ चित्र—इसमें बड़ा चरण एक रमणी का है। उससे गति का भाव स्पष्ट प्रकट हो रहा है। उसके

नीचे रमणी का चरण-युगल है। उसकी दाहनी ओर

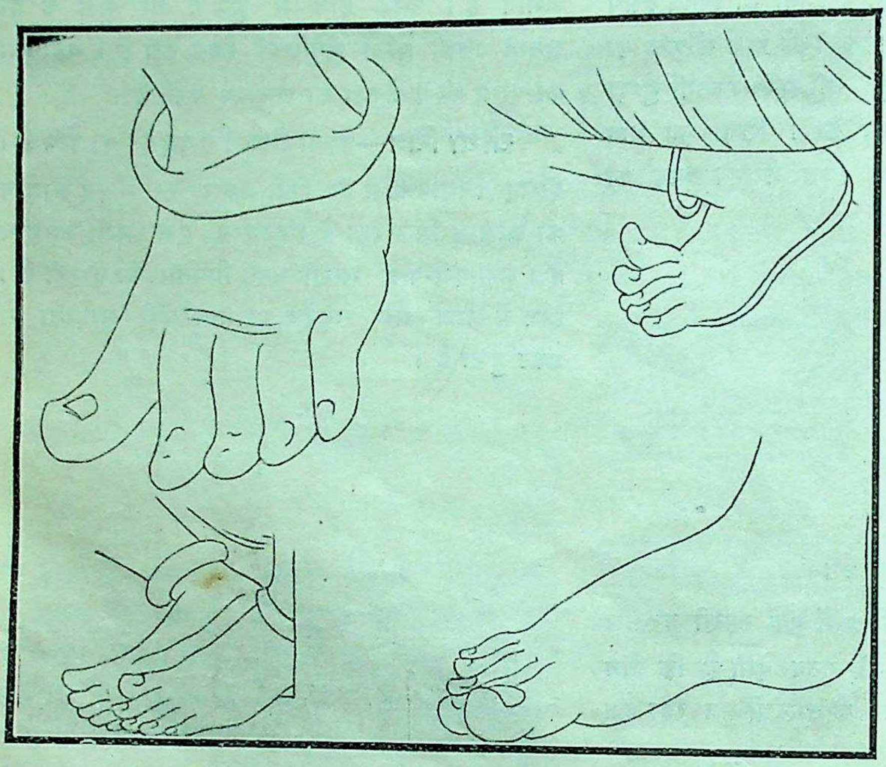

चित्र नं० ७।

किसी विलासी का चरण है। उसके ऊपर प्रणत बालिका का चरण है।

आठवाँ चित्र--पूर्ण प्रस्फुटित शतदल के ऊपर बुद्धदेव का युगल चरण है। पैरों की गठन कितनी पूर्ण, कितनी ललित, शान्त और गम्भीर है। भक्त के हृदय के उपयुक्त यही पद-पल्लव है।

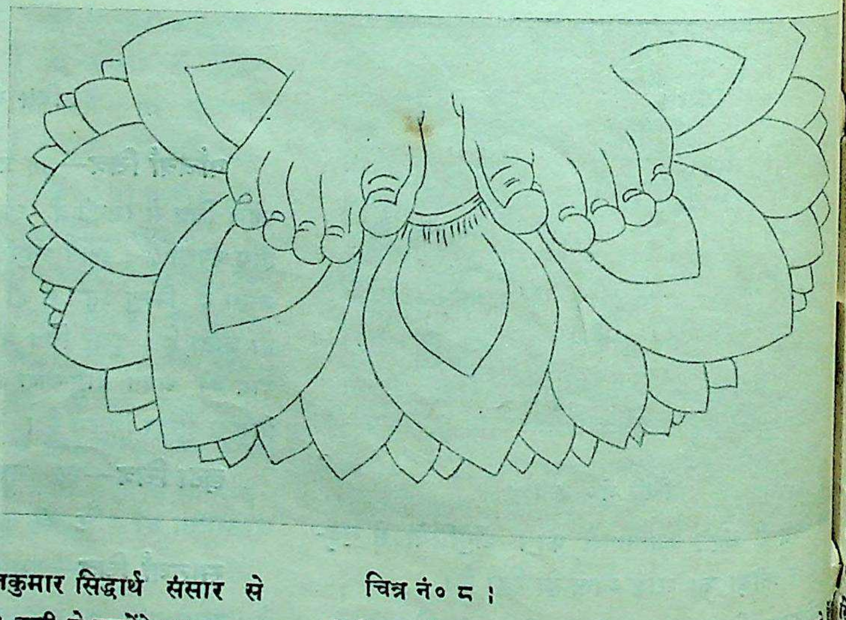

चित्र नं० ८।

नवाँ चित्र—यह एक नर्तकी का चित्र है। शुद्धोदन को भय था कि राजकुमार सिद्धार्थ संसार से विरक्त हो तपस्वी न हो जायँ। इसी से उन्होंने राजकुमार को सदैव आमोद-प्रमोद में ही रखने की चेष्टा की। इस के लिए उन्होंने ए नर्तकी नियुक्त की थी। वह सिद्धार्थ के साम नृत्य किया करती थी। नृत्य का भाव उसकी पाँ अँगुलियों में अच्छा प्रक हो रहा है। सुर, ता और लय, सभी मानो इन पाँच अँगुलियों के खेल में छिपे हैं। स्वर क आह्वान, ताल का काल परिमाण, लय की पूर्णत और नृत्य की गति— सब मानो उसकी अँ लियों में ही नाच रही हैं।

अजन्ता के चि के सौन्दर्य का आभा देने के लिए यही चि पर्याप्त हैं। इसमें सन्दे नहीं कि उसके अनेक चित्र नष्ट हो गये हैं, परन्तु जो बचे

उन्हीं से भारतीय कला के गौरव का अनुमान किया जा सकता है। पाँच अँगुलियों को ही लेकर प्राचीन चित्रकारों ने जो असंख्य भावपूर्ण छवि गढ़ दी है उसका विचार करने से ही विस्मय होता है। प्रत्येक रेखा में एक अपूर्व सौन्दर्य, एक उल्लास-पूर्ण लीला का भाव है। उन्हें देखने से यही जान पड़ता है कि यह शोभा, यह सौन्दर्य कष्ट-साध्य परिश्रम का फल नहीं है। वायुस्पर्श से पद्मदल के समान तूलिका के स्पर्श से उनके मानसिक आनन्द चित्रों में फूट पड़े हैं। प्राचीन कला का यह आदर्श हमारा जातीय आदर्श है। आज हमारा जातीय कला-मन्दिर ध्वंसावसेषों से पहचाना जाता है। क्या कभी वह दिन आयगा जब इसी मन्दिर के भीतर आराधना करने के लिए हमारे भारतीय कला-कोविद उपस्थित होंगे और सभी अपनी अपनी साधनाओं की अञ्जलि भेट कर अतीत गौरव को लाटा लायँगे?

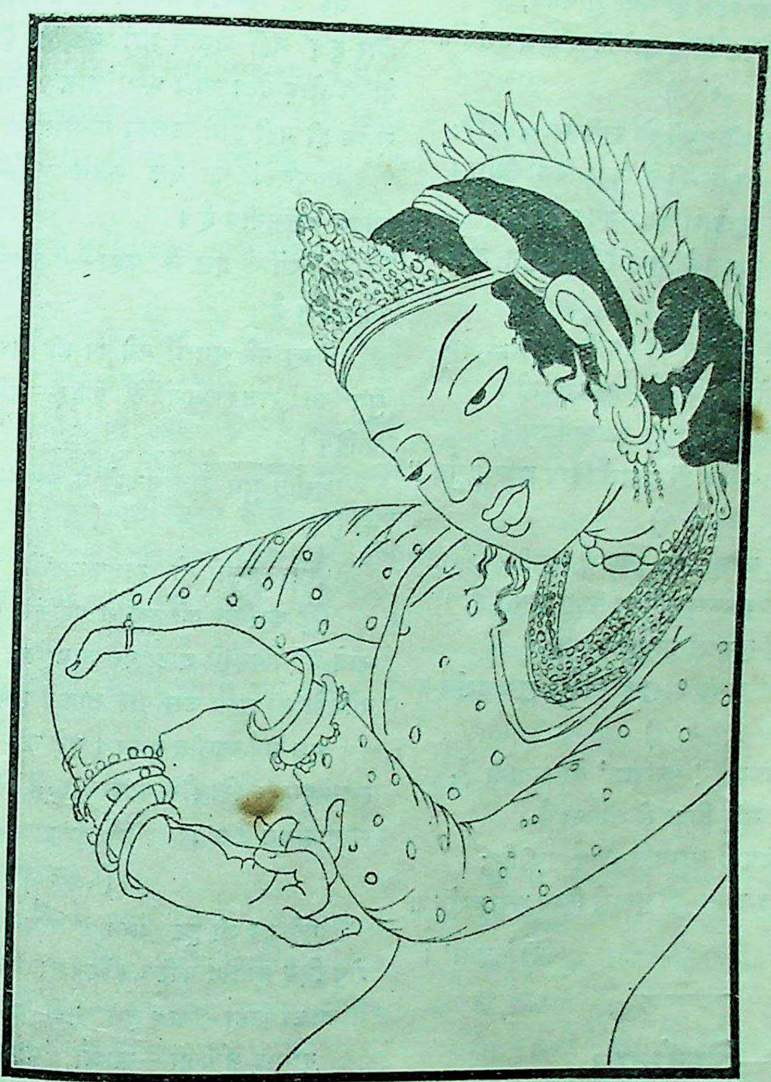

चित्र नं० ६।

(बङ्गला से सङ्कलित।) च—

——

५—शुभ दर्शन।

(१)

महामाये ! जिधर देखो उधर महिमा तुम्हारी है;
तुम्हीं से देवि ! सञ्चालित सदा यह सृष्टि सारी है।
तुम्हारे ही भजन में मग्न रहते हैं सदा मुनिजन;
जननि ! सुख-शान्ति-दायक हों तुम्हारे दिव्य शुभ दर्शन ॥

(२)

सरस्वति-रूप में विधि की तुम्हीं हो सृष्टि-रचना-विधि;
बनाया है तथा विधि को, तुम्हीं ने विश्व-विद्या-निधि।
सुधी विद्वान करते हैं तुम्हारा ही भजन-पूजन;
जननि ! सुख-शान्ति-दायक हों तुम्हारे दिव्य शुभ दर्शन ॥

(३)

तुम्हीं श्री-रूप में हरि के हृदय की ईश्वरी भी हो;
तुम्हीं त्रैलोक्य की शोभा तथा श्रेयस्करी भी हो।
चराचर नित्य करते हैं तुम्हारा ही स्तवन-चिन्तन;
जननि ! सुख-शान्ति-दायक हों तुम्हारे दिव्य शुभ दर्शन ॥

(४)

तुम्हीं शिवशक्ति भी बनकर जगत्कल्याण करती हो;
असुरगण को सभय रखकर सुरों का त्राण करती हो।
सदा सर्वत्र होता है तुम्हारा ही समाराधन,
जननि ! सुख-शान्ति-दायक हों तुम्हारे दिव्य शुभ दर्शन ॥

(५)

हमें सबसे प्रथम भगवति ! 'अविद्या' को भगाना है;
अविद्या-प्रेमियों को मोह-निद्रा से जगाना है।
इसी कारण हमें प्रिय है सरस्वति-कीर्ति-सङ्कीर्तन;
जननि ! सुख-शान्ति-दायक हों तुम्हारे दिव्य शुभ दर्शन ॥

'सत्कविदास'।

६—खिलौना।

(१)

वह केवल नये नये खिलौने बनाया करता था। वे खिलौने राजमहल की राजकन्याओं के खेलने के लिए थे।

प्रतिवर्ष राजमहल के आँगन में खिलौने का मेला लगता था। उस मेले में बड़े बड़े कारीगर आते थे। परन्तु सबसे अधिक प्रतिष्ठा उसी की होती थी। सब लोग को सबसे ऊँचा स्थान देते थे।

जब वह सत्तर वर्ष का होगया तब उस मेले में नया कारीगर आया। उसका नाम था किशनलाल। उसकी नई अवस्था थी वैसा ही उसका नया ढङ्ग था।

वह जो खिलौने बनाता था उनको कुछ तो गढ़ता और कुछ नहीं गढ़ता था, कुछ तो रँगता था और यों ही छोड़ देता था। ऐसा जान पड़ता था कि वे खि ख़तम ही नहीं होंगे, उनका कभी अन्त होने का नहीं।

नवयुवकों का दल कहने लगा—इस कारीग साहस प्रशंसनीय है।

प्रवीणों के दल ने कहा—यह क्या साहस है तो धृष्टता है।

किन्तु नये युग में नये का ही प्राधान्य होता है युग की राजकन्याओं ने कहा—हमें तो यही चाहिए।

अतीत युग के अनुचरों ने कहा—छिः छिः, ये बुरे हैं।

परन्तु इससे तो राजकन्याओं की ज़िद बढ़ ग

बूढ़े कारीगर की दूकान पर इस बार भीड़ नहीं भावे में खिलौने घाट पर नाव की प्रतीक्षा में बैठे यात्रियों की तरह उस पार ताकते हुए चुपचाप पड़े

एक वर्ष व्यतीत हुआ। बूढ़े का नाम सभी भूल राजमहल के खिलौने के बाज़ार में किशनलाल ही सरदार बन बैठा।

(२)

बूढ़े का जी टूट गया। अब उसे अपने जीव शेष दिन काटना कठिन होगया। अन्त में उसकी ने आकर कहा—अब तुम चलो, हमारे घर में रहो।

दामाद ने कहा—खाओ, पीओ, आराम करो खेत की निगरानी किया करो।

बूढ़े की लड़की सारा दिन अपने घर के ही का व्यस्त रहती थी। उसका दामाद मिट्टी के दिये करता था और उन्हें नाव पर लाद कर शहर जाता था।

बूढ़ा यह नहीं समझ सकता था कि अब नया

आगया है । इसी तरह वह यह भी नहीं जानता था कि उसकी नतिनी पन्द्रह वर्ष की होगई है ।

वृक्ष के नीचे बैठ कर बूढ़ा खेत की रखवारी करता था और कभी कभी वहीं थक कर सो जाता था । वहीं उसकी नतिनी पीछे से आकर उसके गले में हाथ डाल कर लटक जाती थी । उस समय बूढ़े का एक एक रोम खुश हो जाता था ।

एक दिन बूढ़े ने पूछा—क्यों बेटी, तुम्हें क्या चाहिए ।

नतिनी ने कहा—हमारे लिए खिलौने बनाओ ।

बूढ़े ने कहा—बेटी, मेरे बनाये खिलौने क्या तुम पसन्द करोगी ?

नतिनी बोली—क्यों नहीं, तुमसे अच्छा खिलौना बना ही कौन सकता है ?

बूढ़े ने कहा—क्यों, किशनलाल तो बनाता है ।

नतिनी बोली—उसकी ताक़त क्या ।

उस दिन से रोज़ दोनों में इसी तरह बात-चीत होती थी । बार बार वही एक बात होती थी । इसके बाद बूढ़ा अपनी झोली से सामान निकालता । आँखों में चश्मा लगा कर वह खिलौने बनाने बैठता । परन्तु उसी समय उसको खेत की याद आती । तब वह कहता—बेटी, कौए भुट्टा तो खा जायँगे ।

नतिनी कहती—नाना, कौओं को मैं उड़ा दूँगी ।

(३)

बूढ़े को सबसे अधिक डर था अपनी लड़की का । उसका शासन भी बड़ा कठोर था । वह घर के काम-काज में बड़ी सावधान रहती थी ।

बूढ़ा एकाग्र मन से खिलौना बनाने में लगा था । पीछे से उसकी लड़की आगई । उसकी आवाज़ सुन कर बूढ़ा उसकी ओर चश्मा उठा कर अबोध बालक की तरह ताकने लगा ।

लड़की ने कहा—दूध दुहा हुआ रक्खा है । तुम सुभद्रा को यहीं लिये बैठे हो । इतनी बड़ी लड़की होगई है, वह क्या अब खिलौना खेलेगी—या घर का काम-काज देखेगी ।

बूढ़ा तुरन्त बोल उठा—नहीं, इन खिलौनों को तो मैं राजमहल में बेच आऊँगा । जिस दिन सुभद्रा का वर आवेगा उस दिन मैं उसे मोहन-माला पहनाऊँगा । उसी के लिए रुपया कमाने की फ़िक्र कर रहा हूँ ।

लड़की ने विरक्त होकर कहा—राजमहल में तुम्हारे खिलौनों को कोई ख़रीदेगा भी ?

बूढ़े का सिर नीचा होगया । वह चुप रह गया । सुभद्रा सिर हिला कर बोली—मैं देखूँगी, नाना के खिलौनों को राजमहल में कौन नहीं ख़रीदता ।

(४)

दूसरे ही दिन सुभद्रा ने एक मोहर लाकर अपनी मा को दी और कहा—यह लो, नाना के खिलौने का दाम ।

मा ने पूछा—यह कहाँ मिली ?

लड़की बोली—मैं ख़ुद राजमहल में जाकर खिलौना बेच आई ।

बूढ़ा हँसते हँसते कहने लगा—बेटी, फिर भी तुम्हारा नाना अब आँखों से नहीं देख सकता या उसका हाथ काँप जाता है ।

मा ने ख़ुश होकर कहा—इसी तरह की सोलह मोहरें हो जायँ तो सुभद्रा के लिए हार बन जाय ।

बूढ़ा बोला—अब कुछ चिन्ता नहीं ।

सुभद्रा ने बूढ़े का गला पकड़ कर कहा—क्यों नाना, मेरे वर की भी चिन्ता नहीं है ?

बूढ़ा हँसने लगा और आँखों से आँसू का एक बूँद टपक पड़ा ।

(५)

बूढ़े की युवावस्था लौट आई । वह वृक्ष के नीचे बैठ कर खिलौने बनाता था और सुभद्रा कौआ उड़ाती ।

एक एक कर सोलह मोहर हो गईं । सुभद्रा का हार पूरा हो गया ।

मा ने कहा—अब तो वर आना चाहिए ।

सुभद्रा ने बूढ़े के कान में धीरे से कहा—नाना, वर तो ठीक हो गया है ।

बूढ़े ने पूछा—अच्छा । उसे पाया कहाँ ?

सुभद्रा बोली—जिस दिन मैं खिलौना बेचने के लिए राजमहल गई उस दिन द्वारपाल ने कहा—ये खिलौने तो पुराने हो गये हैं । अब इन्हें कोई नहीं ख़रीदेगा । तब मैं

उदास होकर लौटने लगी। मुझे उदास देख कर एक आदमी ने कहा—मुझे ये खिलौने दो। मैं इन्हें कुछ सजा दूँ तो ये बिक जायँगे। नाना, यदि तुम पसन्द करो तो मैं उसी को जयमाला पहनाऊँगी।

बूढ़े ने पूछा—वह कहाँ है?

सुभद्रा ने कहा—वह बाहर खड़ा है।

वर भीतर आया। बूढ़े ने उसे देखते ही कहा—यही तो किशनलाल है।

किशनलाल ने बूढ़े का चरण-रज लेकर कहा—हाँ, मैं ही किशनलाल हूँ।

बूढ़े ने किशनलाल को छाती से लगा कर कहा—भाई, एक दिन तुमने मुझसे मेरे हाथ का खिलौना छीन लिया था। आज तुम मेरे हृदय का खिलौना छीन रहे हो।*

हृषीकेश

७—सार्थकता।

नीच कुल में हो जिसका जन्म,
पङ्क से हो जिसकी उत्पत्ति।
सत्य, यदि हो पङ्कज श्री-धाम,
तुम्हारी ही है इसमें शक्ति॥ १॥
तुम्हीं से पाया वह अनुराग,
हुआ जिससे अतिरञ्जित पद्म।
तुम्हारे ही कर का था स्पर्श,
किया आमोदित जिसने सद्म॥ २॥
तुम्हारा ही मधुमय उपहार,
हुआ है उसके अन्तर्लीन।
नहीं उसकी अपनी कुछ वस्तु,
जन्म से ही वह तो है दीन॥ ३॥
उच्च पद देकर महिमा-वृद्धि,
तुम्हीं ने उसकी की है आज।
नीचपद में उसको क्या हानि,
तिरस्कृत होने में क्या लाज॥ ४॥
हृदय पर जब तक उसका स्थान,
हरेगा ही वह अन्तस्ताप।
दलित होकर भी निस्सङ्कोच,
करेगा सुरभित पद चुपचाप॥ ५॥
उसे आदर से होगा हर्ष,
निरादर से भी है सन्तोष।
सत्य, है उसका यही स्वभाव,
अन्य हों चाहे कितने दोष॥ ६॥

हृषीकेश

८—संस्कृत-साहित्य-सेवी डाक्टर कीथ।

योरप के पण्डितों ने संस्कृत की जो सेवा की उसके लिए भारत उन विद्वद्वरों का चिर-कृतज्ञ रहेगा उनमें मोक्षमूलर, सिलवन लेवी आदि पाश्चात्य पण्डि का नाम ख़ूब विख्यात है। हम जिन संस्कृतज्ञ साहि सेवी का परिचय लिखने बैठे हैं उनसे हिन्दी के पा अपरिचित से हैं, क्योंकि आपकी संस्कृत-साहि सेवा का अभी सुप्रभात ही समझना चाहिए आपका नाम है—श्रीयुत आर्थर बेरिडेल कीथ आपका स्वभाव बड़ा सरल, आप बड़े प्रसन्नचित्त आपका सहवास बड़ा ही सुखप्रद है। आपका जन्म एप्रिल सन् १८७९ को हुआ था। एडिनबरा में प्रारम्भि शिक्षा समाप्त कर आपने १८९७ में आक्सफ़र्ड वि विद्यालय के बेलियल कालेज में प्रवेश किया। उन दि बेलियल कालेज की गणना वहाँ के उत्तम शिक्षालयों थी। वहाँ आपने अच्छी शिक्षा प्राप्त की। छात्रावस्था ही आप बड़े बड़े पण्डितों की सारयुक्त समालोचना करने लगे थे। आपकी उत्कट तर्क-युक्ति, विलक्षण प्रति पर आपके शिक्षक मुग्ध रहते थे। इसी समय सन् १८ में आपको बोडन-संस्कृत-स्कालर्शिप मिला। उसी आप बी॰ ए॰ की परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में उत्ती हुए। कुछ मित्रों के सत्परामर्श तथा अनुरोध से आ एडिनबरा-युनिवर्सिटी में भी बी॰ ए॰ की परीक्षा दे दी आप यहाँ भी पास हुए। किन्तु आपकी प्रतिभा का यहाँ आकर कम नहीं हुआ, वरन समय पाकर वह भी प्रबल हो उठा। तदनुसार आपने १९०५ में बैच आव् सिविल ला और १९११ में डाक्टर आव् सिविल की डिग्रियाँ प्राप्त कीं। इनके सिवा आपको सान मेडे

---

*रवीन्द्र बाबू की कहानी।

फ़र्गुसन-स्कालर्शिप आदि छात्रवृत्तियाँ भी प्राप्त हुईं। आपने होम-सिविल-सर्विस और इंडियन सिविल-सर्विस की परीक्षायें दीं और आप दोनों में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

सन् १९०१ में कीथ साहब उपनिवेश-विभाग में प्रविष्ट हुए। वहाँ आपको कितनी ही बार कठिन से कठिन तथा महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे गये। उन्हें आपने अपनी अद्भुत कार्यपटुता तथा कार्यक्षमता-द्वारा निबाहा। अलास्का की सीमा-पञ्चायत के सम्बन्ध में प्रशंसनीय कार्य्य करने के कारण ब्रिटिश एजेन्ट ने आपकी भूरि भूरि प्रशंसा की थी। १९०३ से १९०५ तक आप सेक्रेटरी टू दी क्राउन एजेन्टस् फ़ार दी कालनीज़ रहे। तदुपरान्त उपनिवेश-विभाग के भिन्न भिन्न पदों पर रह कर आपने अनेक प्रशंसनीय कार्य्य किये।

१९१० में कीथ साहब सेक्रेटरी टू दी इम्पीरियल कापी राइट कान्फ़्रेंस और जूनियर असिस्टेंट सेक्रेटरी टू दी इंपीरियल कान्फ़्रेंस नियुक्त हुए। १९११ में आपको कारोनेशन-मेडल मिला और १९१२ में आप पर्मनेंट अंडर सेक्रेटरी आव् स्टेट फ़ार दी कालनीज़ के प्राइवेट सेक्रेटरी मुक़र्रर हुए।

सन् १९०७-८ में जब प्रोफ़ेसर मैकडानल भारत-भ्रमण को आये तब डाकृर कीथ बॉडन प्रोफ़ेसर आव् संस्कृत के डिपुटी नियुक्त हुए। १९१५ में जब एडिनबरा युनिवर्सिटी के अध्यापक एजलिङ्ग ने योरप के लिए प्रयाण किया तब आप ही उनकी जगह पर अध्यापक चुने गये। आपने उपनिवेश आफ़िस से इस्तीफ़ा देकर उपर्युक्त पद सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह आपके साहित्य-प्रेम का परिचायक है। आफ़िस के कामों से अवकाश पाकर अब आपका सारा समय संस्कृत तथा अन्यान्य भाषाओं के पठन-पाठन में व्यतीत होने लगा।

१९०४ में डाकृर कीथ ने संस्कृत और प्राकृत-भाषाओं की हस्तलिखित पुस्तकों का एक सूचीपत्र तैयार किया। इसका प्रकाशन आक्सफ़र्ड के इंडियन इन्स्टीट्यूट ने किया। १९०६ में आपका लिखा हुआ दी कैटलाग आव् संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट को बाडलेन लाइब्रेरी ने छपाया। ये दोनों सूचियाँ आपके संस्कृत तथा प्राकृत-भाषा-ज्ञान की द्योतक हैं। संस्कृत और प्राकृत में खोज करनेवालों के लिए ये दोनों पुस्तकें बड़े काम की हैं।

कीथ महोदय के उपादेय ग्रन्थ 'स्टेट सक्सेशन इन इन्टर्नेशनल' ला सन् १९०७ में और सांख्य का अनुवाद, सन् १९०९ में प्रकाशित हुए। १९०९ में ही आपने उपनिवेशों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन पर अपनी पुस्तक प्रकाशित की। यह ग्रन्थ तीन बड़े बड़े भागों में समाप्त हुआ है। इसकी उपयोगिता तो इसी से सिद्ध होगी कि केवल इसी पुस्तक की रचना पर आक्सफ़र्ड-युनिवर्सिटी ने, सन् १९११ में, आपको डाकृर इन सिविल ला की डिग्री प्रदान की थी।

सन् १९१० में आलोचनात्मक नोट, अनुवाद और परिचय के साथ डाकृर कीथ ऐतरेय, आरण्यक तथा "सप्ली-मेंट टू यूफ़्रेटस् कैटलाग आव् संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन दि बाडलेन लाइब्रेरी नाम की पुस्तिकायें छपाईं। १९११ में डाकृर साहब ने अध्यापक मेकडानल को वेडिक इन्डेक्स आव् नेम्स एन्ड सब्जेक्ट्स् नामक ग्रन्थ लिखने में बड़ी सहायता दी। १९१७ में आपने अपना सर्वोत्कृष्ट तथा बृहत् ग्रन्थ तैत्तिरीय संहिता की रचना की। यह संस्कृत की मूल पुस्तक का अँगरेज़ी में अनुवाद है तथा दो भागों में समाप्त हुआ है। हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज़ में यह छपा है।

१९१९ में डाकृर कीथ ने इम्पीरियल यूनिटी एंड डोमिनियस और १९१८ में वर्ल्डस क्लासिक्स आदि अन्यान्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये। आज-कल आप हिन्दू-दर्शन शास्त्र पर मनोमोहक तथा छोटी छोटी पुस्तकें लिख रहे हैं। १९२१ में आपने कर्म-मीमांसा पर अपनी सुन्दर पुस्तक प्रकाशित की।

डाकृर कीथ कितनी ही सभाओं के सभासद् हैं। दी इन्टरनेशनल कालोनियल इन्स्टीट्यूट, दी रायल एशियाटिक सुसाइटी आव् ग्रेट ब्रिटेन एन्ड आयलैंड, दी हेलेंटिक एफ़्रिकन हार्डविक् सुसाइटीज़ और एमेरिकन एन्ड जर्मन ओरियन्टल सुसाइटी के आप योग्य सभासद् हैं।

डाकृर कीथ ने भारतीय न्याय तथा परमाणु-शास्त्र नामक एक नवीन रचना प्रकाशित की है। यह पुस्तक बड़ी खोज के बाद लिखी गई है और उस विषय के ज्ञान-लिप्सु जनों के लिए बड़े ही काम की है।

बस, यही डाकृर महोदय का संक्षिप्त परिचय है।

राजेश्वरप्रसादनारायणसिंह

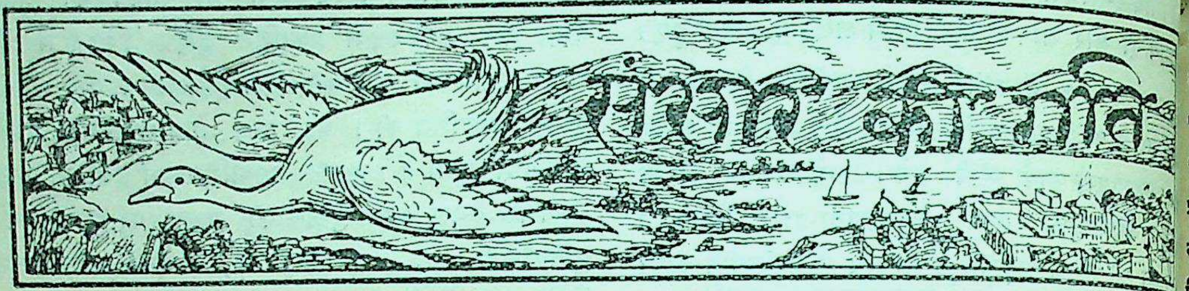

१—योरप के पिछले महाभारत की नियामतें।

बड़े बड़े ज्ञानी, विज्ञानी और तत्त्व-दर्शी कहते हैं, शरीर नाशवान् है; आज है तो कल नहीं। उनकी दृष्टि में तो संसार ही विनाशी है। ऐसी कोई भी चीज़ नहीं जो सदा बनी रहे। धन-सम्पत्ति की तो कुछ बात ही नहीं। वह तो जाती ही आती रहती है। यदि वह न भी जाय तो भी शरीर न रहने पर वह मृत मनुष्य के किसी काम नहीं आ सकती। तिस पर भी मनुष्य उसके लिए अनेक पातक करते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य-हत्या तक करने के लिए तैयार रहते हैं और करते भी हैं। इसी लोभ—इसी धन-लिप्सा—की प्रेरणा से भाई भाई का गला काटता है और एक देश दूसरे देश पर नाना प्रकार के अत्याचार करता है। जितने युद्ध होते हैं, अधिकांश का कारण परस्वापहरण के सिवा और कुछ नहीं। योरप के पिछले महायुद्ध पर विलायत में एक मोटी सी पुस्तक निकली है। उसे वहाँ के सरकारी युद्ध-विभाग ने प्रकाशित किया है। उसको देखने से हृदय काँप उठता है। इतना भीषण नर-नाश करके भी योरप के युद्धालु देश अभी एक और भी युद्ध की तैयारी में लगे हुए हैं।

पिछले युद्ध में सब मिला कर १२ देश लिप्त थे। इन सब देशों की सेनाओं के ८२½ लाख सैनिकों की जानें गईं। यदि घायलों की भी गणना कर ली जाय तो सबका टोटल ४¼ करोड़ के भी उपर पहुँच जाय! याद रखिए, इँग्लेंड, स्काटलेंड, वेल्स और आयरलेंड की आबादी भी प्रायः इतनी ही, अर्थात् कोई ४¼ करोड़, है।

और देशों की बात जाने दीजिए; केवल इँग्लैंड लीजिए। उसके मरों और घायलों ही की संख्या ३२ ल ३६ हज़ार हुई। उनमें से ६½ लाख आदमी सदा लिए संसार से कूच कर गये। इतने आदमियों की देने और असंख्य धन ख़र्च करने पर कहीं इँग्लैंड विजयी होने का गर्ववहन करने को मिला। बेलजि के फ्लैंडर्स-प्रान्त में जो युद्ध हुए थे वे बड़े ही भीषण उनमें इँग्लैंड के १ लाख ६२ हज़ार सैनिक घायल और मरे थे। जर्मनी की हानि तो इससे भी अधिक थी। उसके मरों और घायलों की संख्या २½ लाख के ऊपर पहुँची थी।

इस युद्ध में जर्मनी के कुल १८ लाख सैनिक गये और रूस के १७ लाख। घायलों की तो गिनती नहीं। उनकी संख्या तो करोड़ों का उल्लङ्घन कर गई।

और युद्धों में बीमारी से सैनिक अधिक मरते थे। इस युद्ध में अस्त्र-शस्त्रों से मारे गये सैनिकों ही की सं अधिक निकली। इसमें दो देश अपवादरूप हैं। एक टर्की, दूसरा अमेरिका। इन देशों के सैनिक बीमारी से अधिक मरे, शस्त्रास्त्रों से कम।

दरेदानियाल ने इँग्लैंड को नाकों चने चबवा उसने ख़ूब ही नर-बलि ली। फ्रांस में अँगरेज़ों को लि युद्ध करने पड़े सबमें २४ लाख से अधिक सैनिकों ज़रूरत नहीं हुई। परन्तु अकेले दरेदानियाल के लि उसे ४ लाख ६८ हज़ार सेना को युद्ध में लिप्त रखना प

२—चीन में दलबन्दी।

मंचू-राजघराने के अधिकार-च्युत किये जाने के से चीन में दलबन्दी और गृह-युद्ध का ही बोल

रहा है। सन् १९११ में जो राष्ट्रविप्लव हुआ था उसके परिणाम-स्वरूप चीन में प्रजातन्त्र राज्य विघोषित किया गया और मंचू-सम्राट् सिंहासन से उतार दिये गये। परन्तु पीछे की घटनाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चीनी लोग ऐसे भारी परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थे। प्रजातान्त्रिक भावों के प्रचार के लिए चीन-देश उपयुक्त नहीं सिद्ध हुआ। क्योंकि उनके कार्य में परिणत करने के लिए जब जब वहाँ प्रयत्न किये गये तब तब देश में मार-काट और गड़बड़ हुई। यह सच है कि प्रजातन्त्र के प्रारम्भिक काल में दो या तीन वर्ष तक उसके प्रेसीडेंट युवान शिकाई सरकार की स्थिति को मज़बूत बनाये रखने में सफल हुए थे। परन्तु उन्होंने चीन का शासन पाश्चात्य प्रजातन्त्रात्मक पद्धति से नहीं किया, किन्तु वे प्राच्य निरङ्कुश शासक जैसे बन बैठे थे। सन् १९१५ में उनकी महत्त्वाकांक्षा यहाँ तक बढ़ गई थी कि वे स्वयं चीन के सम्राट् बनने के इच्छुक हो गये थे। परन्तु अनेक कारणों से उनका उद्देश सफल नहीं हुआ। कई प्रान्तों में विद्रोह खड़ा हो गया। भीतर भीतर जापान उनके विरुद्ध था और इँग्लैंड का भी झुकाव जापान के ही मत की ओर था। फल यह हुआ कि युवान की शक्ति क्षीण हो गई और सन् १९१६ में वे हताश होकर स्वर्गवासी हुए।

युवान के बाद से चीन की आन्तरिक दशा दिन दिन बिगड़ती गई। एक लेखक ने लिखा है कि पिछले आठ वर्षों के भीतर कोई छः प्रेसीडेंट परछाई की भाँति आये और गये; गृह-युद्ध के कारण चीन दो भागों में बँटकर उत्तरी तथा दक्षिणी चीन में विभक्त हो गया। यही नहीं, ये दोनों स्वयं भी गृह-युद्ध के कारण अस्त-व्यस्त हो गये। पार्लियामेंट-शासन-पद्धति का तमाशा हो गया! तूचन-पदवी-धारी प्रान्तीय शासकों के पारस्परिक युद्धों तथा डाकुओं के दलों के अत्याचारों से देश तबाह हो गया।

गत ९ वीं अगस्त को मार्शल तौ कुन चीनी प्रजातन्त्र के प्रेसीडेंट बनाये गये। ये चिहलीदल के नेता तथा चिहली, शांटुंग और होनान प्रदेशों के तूचन थे। लोग इनसे बहुत कुछ आशा करते हैं। परन्तु यह बात माननी पड़ेगी कि जिस ढङ्ग से तौ कुन ने अपनी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण की है उसे देखकर उनका विश्वास करना कठिन है। जिन षड्यन्त्रों से घबराकर भूतपूर्व प्रेसीडेन्ट ली युआन हंग को बाध्य होकर पेकिन से भागना पड़ा था उनका सिलसिला महीनों पहले से जारी था। तीन महीने तक चीन की राजधानी पेकिन में न तो प्रेसीडेन्ट था और न शासन-सभा थी। एक प्रकार से वहाँ सरकार का अस्तित्व ही नहीं था। अन्त में पेकिन में एक दिखाऊ पार्लियामेंट का जलसा हुआ। उसमें तौ कुन चीनी प्रजातन्त्र के प्रेसीडेन्ट चुने गये। परन्तु उन्होंने अपना यह पद जिस प्रकार घूँस देकर तथा कुचक्र रचकर प्राप्त किया है वह किसी से छिपा नहीं है।

१० वीं आक्टोबर को जब प्रेसीडेन्ट तौ कुन ने चीनी पार्लियामेंट खोली तब उसके बाद तुरन्त ही युवक मंचू-सम्राट् तथा चिंग रईसों ने उन्हें धन्यवाद दिये। यह निस्सन्देह एक मार्के की बात हुई है। यदि कल मंचू-घराना चीन के सिंहासन पर फिर बिठा दिया जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। बाहर के तथा चीन के अनेक लोगों को यही समझ पड़ता है कि इस समय चीन की घटनाओं का रुख़ ऐसा ही है। यदि यह बात सच हो तो बड़ी अच्छी बात है। तौ कुन पुराने ढर्रे के चीनी हैं भी। वे अपने अन्तस्तल के तल में यह विश्वास अच्छी तरह कर सकते हैं कि चीन की एकता मंचू-राजघराने को अधिकारारूढ़ करने से ही प्राप्त हो सकती है।

तौ कुन का क्या रुख़ है या वे अपने पद पर स्थिर रह सकेंगे, इस सम्बन्ध में अभी से कुछ नहीं कहा जा सकता। पर यह बात निर्विवाद है कि केन्द्र-सरकार के अधीन उत्तर तथा दक्षिण-चीन को एक में करने के उनके प्रयत्न का घोर विरोध होगा तो भी उनका अधिकार प्रेसीडेंट के राजभवन पर पूर्णरूप से है, ख़ाली ख़ज़ाने की आय के सभी द्वार उन्हीं के हाथ में हैं और उनके पास अपने प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा अधिक सैन्य-दल भी है। पर सब कुछ निर्भर करता है यू-पी-फू की सहायता पर। यदि इनकी सहायता न मिली होती तो वर्तमान पद के प्राप्त करने के लिए जो षड्यन्त्र उन्होंने रचे थे उनमें वे सफल न होते। यू-पी-फू की सहायता रहते हुए भी इस बात का सन्देह है कि मंचूरिया के प्रसिद्ध योद्धा चङ्गसोलिन के सामने वे ठहर सकेंगे या नहीं। चंगसोलिन ने उनके

प्रेसीडेंट बनाये जाने के सम्बन्ध में अपना विरोध स्पष्टरूप से प्रकट कर दिया है । चीन के उद्धारक में जो बातें होनी चाहिए वे तो कुन में हैं या नहीं, यह कोई भी नहीं बता सकता । वे निरक्षर हैं, पहले चीन की सरकारी सेना में थे । इसमें सन्देह नहीं कि इस समय उनकी शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है और उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली है ।

ख़ैर, एक बार फिर पेकिन में सरकार का काम चल पड़ा । दूसरे देशों के राजदूतों ने भी इसे स्वीकार सा कर लिया है । लिंचेग के उपद्रव के सम्बन्ध में विदेशों के राजदूतों ने नई सरकार के सम्मुख जो माँगें उपस्थित कीं उनमें अधिकांश स्वीकार कर ली गईं, परन्तु उनकी यह बात कि एक चीनी पुलिस-दल के अफ़सर विदेशी लोग बनाये जायँ, स्पष्ट रूप से अस्वीकृत कर दी गई । वास्तव में विदेशी शक्तियों की यह माँग एक गहरी माँग थी ।

३—संसार के वर्तमान यहूदी महापुरुष ।

वर्तमान समय की सभ्य जातियों में यहूदी जाति का अपना विशेष स्थान है । यहाँ हमारा मतलब उन यहूदियों से नहीं है जो अपने मूलस्थान पैलेस्टाइन में इस समय भी निवास करते हैं और सदियों से अपने बलवान् पड़ोसियों की पराधीनता में रहते हुए महात्मा मूसा के पवित्र सिद्धान्तों को अपनाये हुए हैं । किन्तु उन यहूदियों से है जो आज से सैकड़ों वर्ष पहले स्वदेश से निकाले जाकर या भाग कर योरप के भिन्न देशों में जा बसे थे । महात्मा मूसा के भक्त होने के कारण उन्हें योरप में घोर यन्त्रणायें भोगनी पड़ीं तो भी वे अपना अस्तित्व बनाये रखने में ही नहीं समर्थ हुए हैं, किन्तु उन्होंने वहाँ अपना प्रभाव भी क़ायम कर लिया है । अब उन लोगों के साथ प्रायः वैसा क्रूर और अपमानजनक व्यवहार नहीं किया जाता जैसा कुछ समय पहले होता था । इस समय पाश्चात्य देशों में कुछ ऐसे व्यक्तिविशेष यहूदी विद्यमान हैं जिनकी गणना संसार के महापुरुषों में की जाती है । उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) जर्मनी के अल्बर्ट इंस्टीन पदार्थ-विद्या के अद्भुत विद्वान् हैं । संसार के श्रेष्ठ पदार्थ-विदों में इनकी गणना है । (२) डेन्मार्क के जार्ज ब्रेडेज़ साहित्य के मार्मिक विद्वान् हैं । संसार के सर्व-श्रेष्ठ समालोचकों की पङ्क्ति में वे आसीन हैं । (३) इँग्लेंड के चैम वीज़मैन यहूदी- के एक प्रसिद्ध नेता हैं । ये रसायन-शास्त्र में पा हैं । युद्ध-काल में इन्होंने एक अत्यन्त अधिक भ विस्फोटक तैयार किया था । (४, ५, ६) रीडिंग, शल और ब्रैंडियज़ संसार में क़ानून के सर्वश्रेष्ठ ज्ञात की पङ्क्ति में बिठाये गये हैं । इनमें इँग्लेंड के रीडिंग मह तो सम्राट् जार्ज के प्रतिनिधि की हैसियत से भारत शासन कर रहे हैं । अमरीका के लुइ मार्शल की बात क़ में प्रमाण मानी जाती है । अपनी जाति के स्वत्वों रक्षार्थ वे सदा लड़ने को प्रस्तुत रहते हैं । लुइ ब्रैंडियज़ अपनी जाति के बड़े भक्त हैं । अमरीका में यहूदी जा श्रेष्ठ नेताओं में इनकी गणना है । (७) इँग्लेंड के इसा जैंगविल संसार के नामी लेखकों में हैं । अपनी का सुन्दर चित्र अङ्कित करने में तथा उसके स्वत्वों की एवं उसकी भलाई के लिए इनका क़लम निरन्तर रहता है । (८) लोक-सेवा के लिए सदा प्रस्तुत रह अमरीका के नाथन स्ट्रास महोदय का नाम संसार प्रसिद्ध है । (९) फ़्रांस के हेनरी बर्गसन संसार के श्रेष्ठ दार्श में हैं । (१०) इसी प्रकार अमरीका के स्टेफ़ेन वाइ जगत्प्रसिद्ध है । (११) बियालीक रूस-निवासी यहू हैं । अपनी अमर कविता से इन्होंने प्राचीन म्रियमाण भाषा को नव-जीवन-दान दिया है । (१२) आस्ट्रि आर्थर शिज़लर अपने पाण्डित्य में अपूर्व गिने जा परन्तु यदि हम इस नामावली में बोलशेवी-सिद्धान्त कार्य में परिणत करनेवाले और रूस के सर्व-सर्वा का नाम नहीं गिनाते तो यह अधूरी रह जायगी।

४—केनिया और उसकी वर्तमान परिस्थि

अँगरेज़ों का केनिया-उपनिवेश अफ़्रीका की बं मसाई आदि जङ्गली जातियों का देश है । अफ़्रीका पूर्वी भाग पर पहले अरब के मसकत के इमाम का था । जब जंज़ीबार-द्वीप के सुलतान ने स्वतन्त्र घोषणा कर दी और मसकत से सम्बन्ध-विच्छे लिया तब इस पर भी उनका अधिकार हो गया । जंज़ीबार के सुलतान के निर्बल हो जाने पर इस को जर्मनी और ग्रेटब्रिटेन ने अपने अधिकार आपस में बराबर बराबर बांट लिया । गत योरपी

काल में इसका जर्मन-अधिकृत भू-भाग भी ब्रिटिश-सरकार के क़ब्ज़े में आ गया ।

अफ़्रीका के इस पूर्वी भाग पर जब अँगरेज़ी सरकार का संरक्षण स्थापित हुआ था तब इसे आबाद करने के लिए भारतीय मज़दूरों की आवश्यकता पड़ी थी । मोम्बासा से विक्टोरिया न्यान्ज़ा तक जो छः सौ मील रेलवे-लाइन बिछी है उसका निर्माण भारत के कुलियों ने ही किया है । ऐसी ही परिस्थिति में केनिया में अँगरेज़ों के साथ साथ भारतीयों के आबाद होने का अवसर मिला था । कुलियों में अधिकांश लोग वहाँ बस गये थे । इसके सिवा पीछे से भी भारतीय लोग तथा दूसरे एशियाई जीविका की खोज में केनिया में जाकर आबाद हुए । इस समय इस उपनिवेश में एशियाइयों की संख्या पचीस हज़ार से भी ऊपर है । इन लोगों की जीविका का द्वार मज़दूरी, सरकारी नौकरी और व्यवसाय-वाणिज्य है । इनमें कुछ लोगों ने व्यवसाय-वाणिज्य से ख़ासी सम्पत्ति प्राप्त कर ली है, कुछ लोग वकील-बैरिस्टर भी हो गये हैं । इधर कुछ समय से गोरे उपनिवेश-वासियों का रुख़ केनिया के भारतीयों के प्रति अच्छा नहीं रहा है । वे नहीं चाहते कि एशियाई लोग केनिया में आकर उनके स्वार्थ में हिस्सेदार हों । इस सम्बन्ध के आन्दोलन को दक्षिण-अफ़्रीका के एशिया-विरोधी आन्दोलन का, जिसके प्रधान पोषक दक्षिण-अफ़्रीका के प्रधान मन्त्री जनरल स्मट हैं, छोटा भाई समझना चाहिए । दक्षिण-अफ़्रीका स्वायत्त शासन-प्राप्त उपनिवेश है । अतएव वहाँ ऐसे विधानों की रचना की जा सकी है जिनसे भारतीयों के न्यायसङ्गत अधिकारों पर ठेस पहुँची है । हाल में लंदन में साम्राज्य-परिषद् हुई थी । उसमें जनरल स्मट ने सर तेजबहादुर सप्रू के प्रस्ताव का जो विरोध किया था वह समाचार-पत्रों के पढ़नेवालों से छिपा नहीं है । केनिया के आन्दोलन से उत्पन्न हुई समस्या का जो निराकरण ब्रिटिश-सरकार ने हाल में किया है उसके सम्बन्ध में सर मान्टेगू वेब ने इन्डियनरिव्यू में एक लेख लिखा है । उसका भावार्थ यहाँ दिया जाता है ।

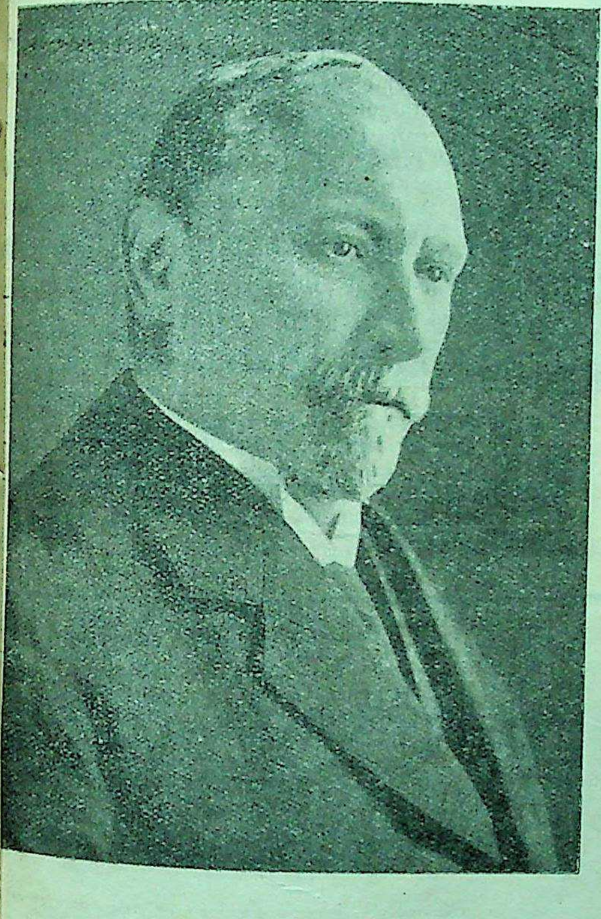

जनरल स्मट्स ।

केनिया-उपनिवेश को आत्म-शासन नहीं प्राप्त है । वह, ब्रिटिश-सरकार के ही अधीन है, उसका शासन अभी सीधा लंदन से ही होता है । अतएव ब्रिटिश-प्रजा होने के कारण भारतीय लोग केनिया में स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जाने, वहाँ आबाद होने और व्यापार करने, यही नहीं, किन्तु देश में सर्वत्र जहाँ चाहें भूम्यधिकार प्राप्त करने आदि का अपना हक़ उसी प्रकार प्रदर्शित करते हैं जैसे योरपीय—अँगरेज़ तथा विदेशी प्रवासियों—को प्राप्त है । समुचित परिमाण में टैक्स देने के कारण उनकी यह भी माँग है कि वहाँ की म्यूनीसिपैलटियों और लेजिस्लेटिव कौंसिल में भी हमारे प्रतिनिधि लिये जायँ और सभी प्रतिनिधियों का चुनाव समान रीति से हो । इनकी ये सभी बातें उचित और न्यायानुकूल हैं ।

केनिया में अँगरेज़-प्लैंटरों की संख्या केवल २,५०० के लगभग होगी। इस संख्या में उनके बाल-बच्चे भी शामिल हैं। उनके सिवा सम्भवतः एक हज़ार के लगभग दूसरे योरपीय व्यापारी भी वहाँ बस गये हैं। केनिया के उच्च भू-भागों में उन्हें कृषि के उपयोगी कुछ भूमि-खण्ड इस शर्त पर दिये गये हैं कि इनके समीप एशियाइयों, यहाँ तक कि ब्रिटिश-एशियाइयों को भी भूमि न दी जायगी। पिछले पन्द्रह या बीस वर्षों के भीतर उन लोगों ने उपर्युक्त रक्षित भूमि-खण्डों को उन्नत करने में बहुत अधिक धन व्यय किया है। उनकी यह इच्छा रही है कि यह भू-भाग एक-मात्र गोरों के उपनिवेश के लिए ही रक्षित रहे। हाल में उन लोगों ने पूर्वोक्त शर्त को क़ायम रखने के लिए ब्रिटिश-सरकार पर बड़ा दबाव डाला है। अवशिष्ट देश के सम्बन्ध में उन लोगों की यह माँग है कि वह अपने भाग्य पर छोड़ दिया जाय। इसका अभिप्राय यह है कि भारतीय लोग उनके स्वार्थ में अपनी प्रतिद्वन्द्विता से बाधा न डालें और वे असभ्य अफ़्रीकावासियों का उपयोग अपने लाभ के लिए पूर्ण रूप से करें। अपनी अभीष्ट-सिद्धि के

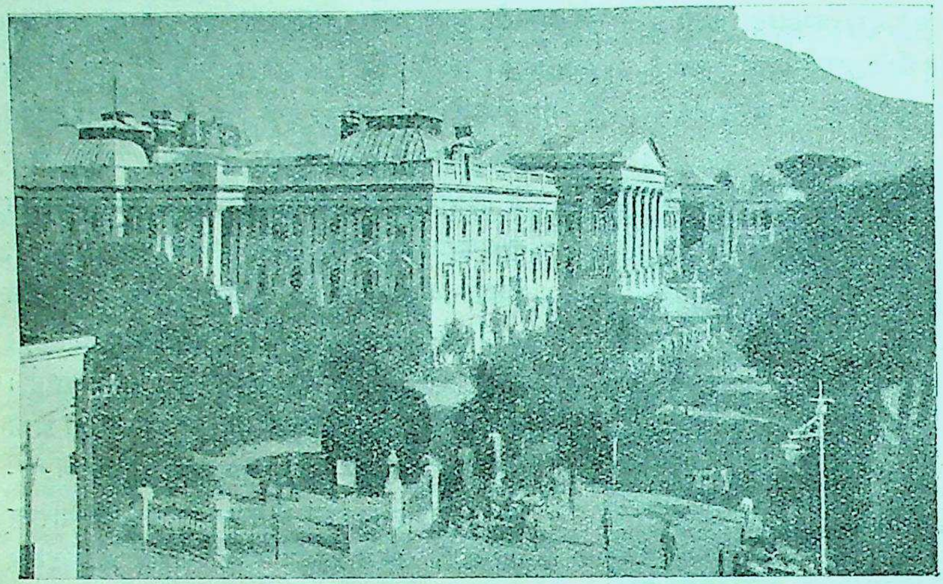

पार्लियामेंट-भवन।

लिए वे लोग (१) अब केनिया में और अधिक भा
तीयों को नहीं आने देंगे, (२) जो भारतीय वहाँ
में आबाद हैं उन्हें
से हटा कर एक
स्थान में बसायेंगे, (
उन्हें म्यूनीसिपै
और लेजिस्लेटिव कौं
में प्रतिनिधित्व का
कार भी बहुत ही प
देंगे और वह भी
गत चुनाव के ढ
(४) और गोरों के
रक्षित उच्च भूख
उन्हें बसने या भू
कार न प्राप्त करने

गोरों और भा
दोनों के पक्ष की बातें सुन कर और भले प्रकार
नीच सोच-समझ कर ब्रिटिश-सरकार ने जो निश्चय
है वह इस प्रकार है—

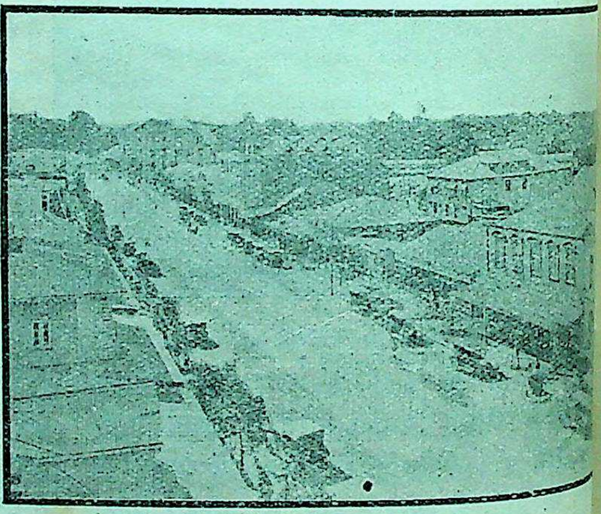

नेरोबी की मुख्य सड़क।

१. देशान्तरवास के सम्बन्ध में भारतीयों
केनियावासी भारतीयों के विरुद्ध जातिगत भेद नहीं

जा सकता। अपनी ही प्रजा के विरुद्ध ऐसा भेद-भाव करना ब्रिटिश-सरकार की नीति के विरुद्ध है।

२. स्वास्थ्य के नियमों के आधार पर भारतीयों का पृथक् बस्तियों में बसने तथा अलग व्यापार करने की आज्ञा देना आवश्यक नहीं है। केनिया के नगरों में स्वास्थ्य, पुलिस तथा इमारत-सम्बन्धी जो विधान बनाये जायँ वे बिना भेद-भाव के सब पर लागू किये जायँ।

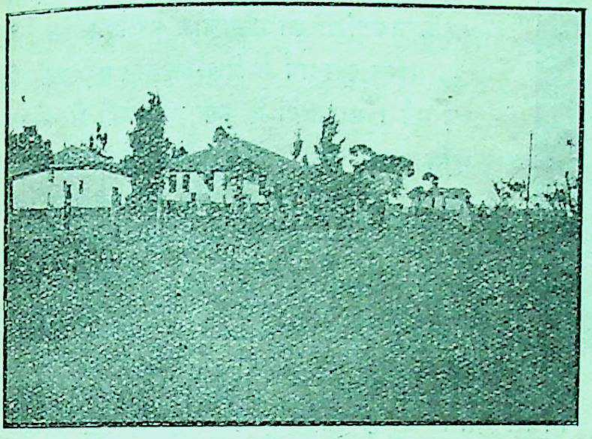

केनिया में मध्यम श्रेणी के भारतीयों के गृह।

३. चुनाव जातिगत हो। केनिया की वर्तमान विशेष स्थिति में किसी एक जाति का उम्मेदवार अपनी जाति की सहायता को त्याग किये बिना किसी दूसरी जाति के उम्मेदवार के रूप में नहीं खड़ा हो सकता। समान चुनाव की बात यद्यपि सिद्धान्त में श्रेष्ठ है तो भी केनिया की वर्तमान स्थिति में वह कार्य में परिणत नहीं हो सकती।

४. योरपीयों के खेती आदि करने के लिए उच्च भूखण्डों के एक चौथाई रक्षित भाग की वर्तमान व्यवस्था ही जारी रहे। इसका कारण यह है कि (क) पिछले पन्द्रह वर्षों के भीतर ब्रिटिश-प्रजा को अपने रक्षित भूखण्डों की उन्नति करने का उत्साह दिया गया है और (ख) वहाँ अनेक लोग इस विश्वास पर जा बसे हैं और अपना धन लगाया है कि यह भू-भाग एक-मात्र योरपीयों के लिए ही रक्षित रहेगा।

कोई भी अनुभवी और निष्पक्ष आलोचक उपर्युक्त निर्णय की अधिकांश बातों से सहमत होगा। देशान्तरवास, पृथक् निवास और चुनाव-सम्बन्धी सरकारी निर्णय सिद्धान्त में न्यायपूर्ण, राजनैतिक दृष्टि से गम्भीर और ब्रिटिश-राजनीतिज्ञता के उच्चतम आदर्शों के अनुरूप है। हम समझते हैं कि केनिया के उच्च भूखण्डों के सम्बन्ध का निर्णय भी उसी दूरदर्शी राजनीतिज्ञता-द्वारा हुआ होगा। यदि सम्राट् की प्रजा के किसी भाग को ब्रिटिश-राज्य में भूम्यधिकार प्राप्त करने से वञ्चित रखना भूतकाल में ब्रिटिश-नीति के विरुद्ध था तो उच्च भूखण्डों के सम्बन्ध का निर्णय उस नीति के विरुद्ध है, क्योंकि उपनिवेशों के सेक्रेटरी आव् स्टेट ने सन् १९०६ और १९०८ में 'ब्रिटिश-ईस्ट अफ्रीका प्रोटेक्टरेट' के कमिश्नर को उपर्युक्त अधिकार प्रदान करने की सूचना दी थी। हाँ, यदि उस नीति में परिवर्तन हो गया हो तो बात दूसरी है। परन्तु मैं नहीं समझता कि ग्रेटब्रिटेन के निवासियों ने ऐसे परिवर्तन के सम्बन्ध में अपनी अनुमति दी होगी।

बात यह हुई कि टोरी सरकार ने पूर्वोक्त समझौते के अनुसार केनिया के मामले का निश्चय करने का प्रयत्न किया है। लगभग बीस वर्ष हुए किसी लोभी प्लैंटर ने केनिया के उच्च भूखण्डों के एक छोटे टुकड़े को गोरे व्यवसायियों के उपयोग के लिए रक्षित रखने का विचार किया था। परन्तु इस प्रयत्न की असम्भवता ब्रिटिश-सरकार को जँच जानी चाहिए थी। क्योंकि वह भू-भाग भूमध्य-रेखा के बीचोंबीच स्थित है और उसके चारों ओर

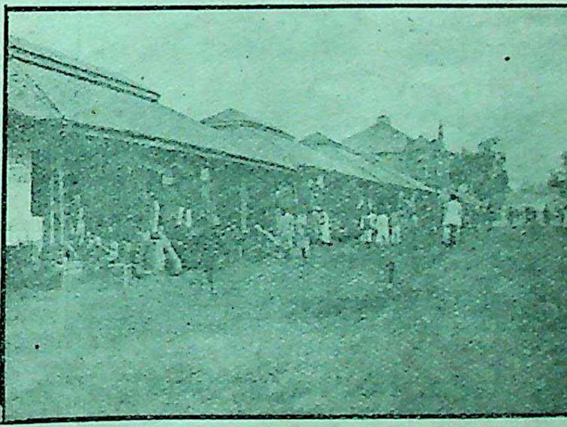

बाज़ार का दृश्य।

अफ़्रीका की जङ्गली जातियाँ और एशियाई लोग बसते हैं और इन्हीं लोगों के सहयोग पर उसकी उन्नति निर्भर है। परन्तु दुर्भाग्य से ये बातें सरकार के ध्यान में नहीं आईं। लन्दन के अधिकारियों को इन बातों का कुछ भी ज्ञान नहीं था। जब वेब साहब न्यासालेंड में थे उस समय तक ब्रिटिश-उपनिवेश-विभाग के किसी भी अधिकारी ने अफ़्रीका के इस प्रोटेक्टरेट का निरीक्षण कभी नहीं किया था। हाँ, जर्मन-उपनिवेशों के जर्मन-सेक्रेटरी ने स्वयम् आकर न्यासालेंड के प्रत्येक भाग का दौरा किया था। हमारे उपनिवेश-विभाग को, मालूम होता है, वहाँ पत्र भेजने का पता तक नहीं ज्ञात था। क्योंकि कम से कम एक सरकारी खरीता जो न्यासालेंड की राजधानी ज़ोम्बा को भेजा गया था, उगंडा होकर पहुँचा था। अतएव केनिया में गोरों के लि रक्षित भूमि की भूल ऐसे ही अज्ञान के कार हुई। सन् १९०६ और सन् १९०८ में इ मामले की पूछ-पाछ की गई थी, पर उपनि वेश-विभाग ने 'प्रबन्ध के सुभीते' का बहान कर प्रश्नकर्ताओं का समाधान कर दिया था।

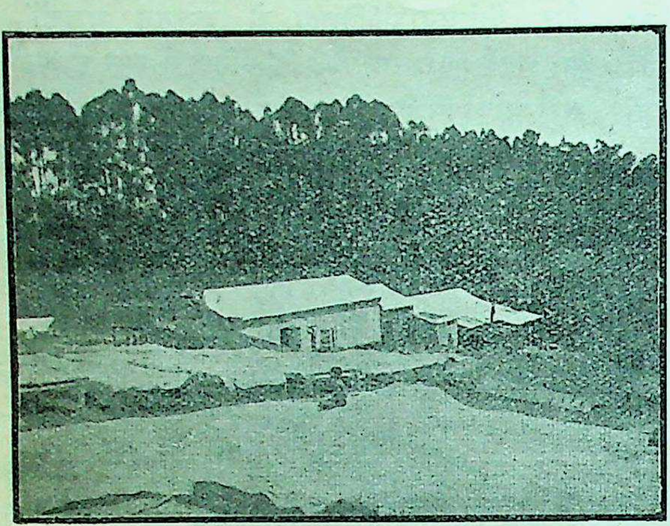

काफ़ी का कारख़ाना।

केनिया में गोरों का निवास-स्थान।

परन्तु इस वर्ष ब्रिटिश-सरकार बड़े चक्कर पड़ गई। भारतीयों ने उच्च भूखण्डों में सर्व भूमि प्राप्त करने के सम्बन्ध में अपने स्व पर ज़ोर डाला। परन्तु यह समझ कर कि योरपीयों के लिए कृष्युपयोगी भूमि रक्षि रखने से भारतीयों की कोई वास्तविक हानि नहीं हुई है, ब्रिटिश-सरकार ने प्रचलित व्यवस्था ही क़ायम रक्खी। इसके साथ ही देश निचले भाग में कृष्युपयोगी एक दूसरा भूमि-खण्ड मुख्यतः भारतीयों के लिए, बनाने का निश्चय कि है। इस भू-भाग से गोरों का कोई सम्बन्ध न रहेगा। इस प्रकार यह दूसरी भूल हुई। सबके लि समान अधिकारवाले ब्रिटिश-साम्राज्य के पुनीत सिद्धा पर उपर्युक्त भेद-भाव से चोट पहुँची है।

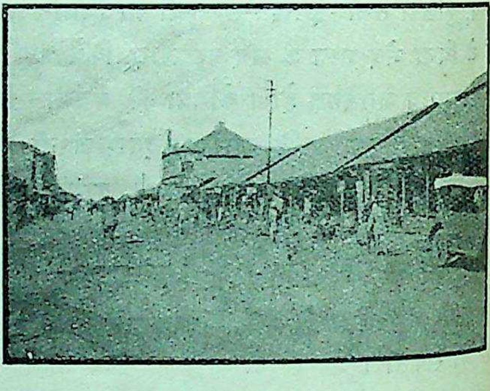

केनिया में भारतीयों का बाज़ार।

इस मामले के सम्बन्ध में भारतीयों के कैसे भाव हैं यह ग्रेटब्रिटेन के निवासियों के लिए जानना कठिन है केनिया के इस निश्चय से भारतीय यह जान कर और अधिक रुष्ट हुए हैं कि इस मामले में सरकारी भेद-

जाति या रङ्ग-भेद के विचार से इस निश्चय को नहीं पहुँची है, किन्तु उसने मुट्ठी भर योरपीयनों की अनुचित सहायता इस कारण की है जिसमें वे अपना कारबार अफ़्रीका के मूल-निवासियों की सहायता से सस्ते में चला सकें और भारतीयों की प्रतिद्वन्द्विता से बचे रहें। केनिया के भारतीयों का रहन-सहन साधारण है। इसके सिवा वे अपनी व्यापार-कुशलता तथा मुस्तैदी के कारण केनिया के गोरे निवासियों के प्रतिद्वन्द्वी हो गये हैं।

५—योरप की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर लायड जार्ज।

बाल्कन-देश में प्रज्वलित चिनगारी डाल देना बड़ी जोखिम का काम है। बाल्कन की भूमि निफ़् से तर है, जो वहाँ के बेक़ाबू तालाबों और नालों में बहता रहता है। ज़रा सी चिनगारी के गिरते ही वे भभक कर जल उठते हैं। पिछले समय जो चिनगारी वायना से आकर गिरी थी उसकी आग की ज्वाला योरप के बाहर के महाद्वीपों तक जा पहुँची थी। यह नौ वर्ष पहले की बात है तो भी वहाँ की ज़मीन अभी तक गर्म बनी है—उसके धुँआ के कारण कुछ नहीं सूझ पड़ता, दम घुट रहा है; न आप स्पष्ट देख सकते हैं और न स्वतन्त्रता से साँस ही ले सकते हैं। उस धुँए में कभी कभी ऐसी सन्देहात्मक झलक दिखलाई पड़ जाती है जिससे सिद्ध होता है कि अभी तक आग नहीं बुझी है।

योरप के मनोभाव का पता उन स्वागतों से लगता है जो भिन्न भिन्न देशों के जातीय नेताओं का उनके देशवासी करते हैं। प्रत्येक समय इनके दृश्य देखने में आते हैं। चाहे फ़्रांस हो या इटली या तुर्की हो, चाहे पोआँकारे हों या मुसोलिनी या मुस्तफ़ा कमाल हों, वे ऐसे प्रदर्शनों की उत्तेजना देते हैं। मुझे योरपीय महायुद्ध के प्रारम्भिक दिनों का स्मरण है। युद्धलिप्त देशों की एक भी ऐसी राजधानी नहीं थी जहाँ युद्ध के उत्साह में जनसाधारण के जुलूस सड़कों पर न निकले हों। उन दिनों लोगों को यह नहीं ज्ञात था कि युद्ध में क्या होता है। उनकी युद्ध-सम्बन्धी धारणा उन वीरता-द्योतक चित्रों के आधार पर बँधी थी जो राष्ट्रीय चित्रशालाओं में लटकते हैं और जिनकी प्रतिलिपियाँ अधिकांश देशों की झोपड़ियों तक में जा पहुँची हैं। हाथ में खड्ग धारण किये हुए घोड़े पर सवार विजयी योद्धा को वे अपना देशभाई समझते हैं और पैरों के नीचे रौंदे हुए दीन पराजित को अपना शत्रु। ऐसे चित्रों के परिणाम को बधाई है!

जर्मनी के भूतपूर्व युवराज इस बात से इनकार करते हैं कि मैंने 'यह मनोहर युद्ध' वाक्य का प्रयोग कभी नहीं किया है। उनके इस वाक्य के प्रयोग के सम्बन्ध में जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनकी अपेक्षा अधिक समुचित प्रमाण के अभाव में युवराज की अस्वीकृति को अवश्य मान लेना चाहिए। परन्तु उस भयावह काल में यह वाक्य लाखों आदमियों के मनोभाव का प्रतिबिम्ब था। लोग कहा करते थे कि एक समुदाय युद्ध के लिए उत्तेजना देता है और दूसरा युद्ध करता है। परन्तु अगस्त के महीने में जो लोग युद्धोन्माद में जुलूस निकालते थे वही सितम्बर में युद्ध-भूमि की खाइयों को भरने में नियुक्त हुए और वर्ष की समाप्ति तक उनके समुदाय के समुदाय क़ब्रों में दफ़न

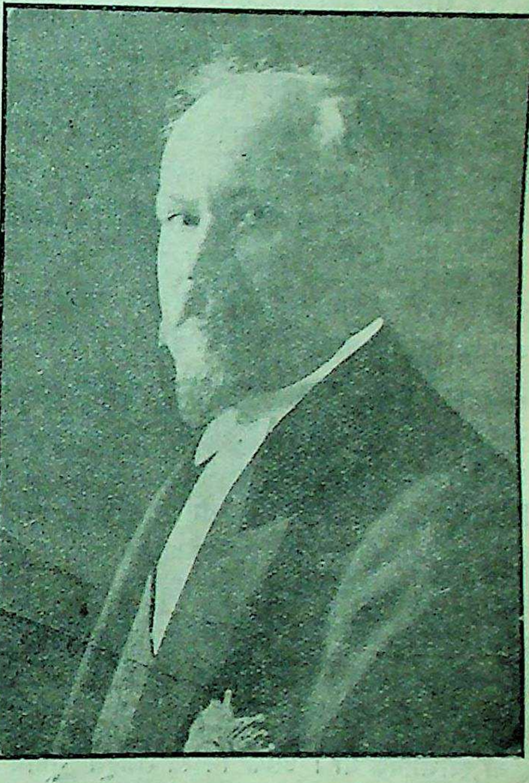

फ़्रांस के विधाता पोआँकारे।

कर दिये गये। परन्तु अपने युद्धोल्लास के समय उन्हें युद्ध की वास्तविकताओं का अनुभव नहीं था, उन्हें उनकी कल्पना भर थी। उन्होंने युद्ध को सिर्फ़ चित्रों में देखा था।

परन्तु आज के युद्ध-प्रशंसक जानते हैं कि युद्ध क्या है। पिछले युद्ध में फ़्रांस के दस लाख से भी अधिक आदमी मारे गये। इटली के भी छः लाख आदमी काम आये। इन दोनों देशों के प्रत्येक कारख़ाने में अभी ऐसे लोग मौजूद हैं जो युद्ध की आपदाओं का थोड़ा-बहुत हाल जानते हैं और उन्हें बता सकते हैं जिन्हें वे नहीं मालूम हैं।

ऐसी दशा में उत्तेजना की ज़रा सी बात पर फिर उसी आपदा में पड़ने के लिए इस तैयारी का क्या मतलब है? इसका कारण अपने आप सर्वनाश में पड़ने की मनुष्य-जाति की असीम क्षमता ही है। पिछली बार तो वह सचमुच एक भयङ्कर कार्य था। पर इस बार वह एक सरल विजय का कार्य होगा। उस बार शस्त्रों से पूर्ण सज्जित जर्मनी या आस्ट्रिया से लड़ना पड़ा था, इस बार वह एक बहुत ही साधारण कार्य होगा। बात भी ऐसी ही है। क्योंकि जर्मनी निशशस्त्र है और वह नहीं लड़ सकता। यूनान का हाल तो और भी ख़राब है। एक तो वह छोटा देश है, दूसरे उसकी सेना या जहाज़ी बेड़े नहीं से हैं। निस्सन्देह, आक्रमणकारियों को तो रक्त-शून्य विजय प्राप्त होगी, परन्तु पराजितों का रक्तपात अवश्य होगा। अपने बच्चों को दिखलाने के लिए अभी और अधिक चित्रों की ज़रूरत है! उत्तेजित किये जाने पर हम लोग कैसे भयङ्कर मनुष्य बन जाते हैं!

अभी हाल में इटली क्रुद्ध हुआ था। उसका क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। उसके निहत्थे राजदूत यूनान की सीमा के भीतर मार डाले गये थे। यह हत्याकाण्ड एक प्रसिद्ध हत्याक्षेत्र में सङ्घटित हुआ है, जो अल्बेनिया देश की सीमा के बिलकुल सन्निकट है और जहाँ सभी प्रकार के डाकुओं के झुण्डों का राज्य सा है। तो भी सीमा निश्चित करनेवाले उपर्युक्त कमिश्नरों की रक्षा का उत्तरदायित्व पूर्णरूप से यूनान पर था, क्योंकि वे लोग उसकी सीमा के भीतर ही उस समय अपने काम में लगे हुए थे।

अतएव उपर्युक्त अत्याचार के लिए इटली हरजाने की कठोर से कठोर शर्तें उपस्थित कर सकता है। यूनान इटली के आगे नतमस्तक हुआ। उसने केवल हरजाने की पूरी रक़म देना ही नहीं स्वीकार कर लिया, किन्तु इट के राष्ट्रीय झण्डे की सलामी करके इटली के प्रति किये ग अन्याय का परिशोध भी किया, क्योंकि उसकी भूमि प इटली के उन अधिकारियों का वध किया गया था जो वहाँ न्यायानुकूल कार्य कर रहे थे और जिनकी रक्षा करने में वह चूक गया था।

परन्तु यूनान की स्वीकृति का उत्तर मुसोलिनी ने ए अरक्षित नगर पर गोले बरसा कर, कुछ निशशस्त्र ना रिकों का वध कर और एक यूनानी टापू पर अधिक करके दिया। क्या कोई आदमी यह अनुमान कर सक है कि यदि यह दुर्घटना फ़्रांस की भूमि पर हुई होत और फ़्रांस-सरकार ने दुःख प्रकट करने तथा हरजाना अ कर देने की वैसी ही इच्छा प्रकट की होती तो क्या बि किसी प्रकार की बातचीत के मुसोलिनी ने अजैकिओ प गोले बरसाये होते। अथवा यदि यूनान के स्थान प ब्रिटेन ही होता तो क्या उन्होंने कावेस पर गोलाबारी की होती और आइल आव् वाइट पर क़ब्ज़ा कर लिया होता।

परन्तु यूनान के पास जहाज़ी बेड़ा नहीं है। इसी मेरी समझ में, मामले का ऐसा रुख़ सम्भव हो सका योरप के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में न्यायान्याय के निर्णय जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत की ही प्रधान है। यह बात भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि युद्ध के बा से अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की एक नई व्यवस्था कैसे रची रही है। फ़रासीसी सेनायें अपने एक पड़ोसी के देश चढ़ दौड़ती हैं, उस पर अपना अधिकार कर लेती हैं फ़ौजी क़ानून की वहाँ घोषणा करती हैं, उसकी रेलों अधिकार कर उन्हें अपनी आज्ञा से चलाती हैं, उस अख़बारों पर उनका नियन्त्रण है, वहाँ के दस ह निवासियों को देश से निर्वासित कर देती हैं, जो उन विरोध करते हैं उन सबको गोली से मार देती हैं कैद कर लेती हैं और इतने पर भी इस बात की घोष करती हैं कि वे युद्ध के काम नहीं कर रही हैं। उनके सब कार्य सन्धि-पत्र के अनुसार अपने स्वत्वों के प्राप्त केवल उस देश पर शान्तिपूर्ण अधिकार के ही द्योतक हैं

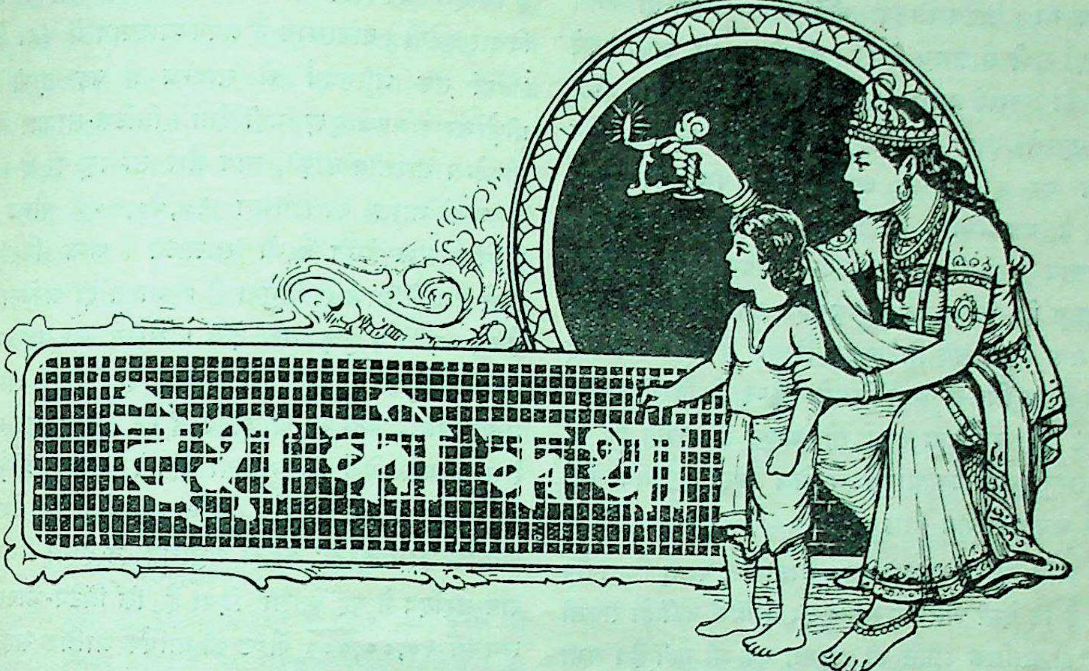

देश की कथा

१—इम्पीरियल प्रीफ़रेन्स ।

संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं है जिसका काम बिना दूसरे देशों की सहायता से चल जाय। जिस देश में जो चीज़ सुलभ है वह देश अपनी उस चीज़ के बदले दूसरे देशों से वे वस्तुएँ प्राप्त करने की चेष्टा करता है जो उसके यहाँ सुलभ नहीं हैं। यही अन्तर्जातीय वाणिज्य है। इसी से एक जाति दूसरी जाति से वस्तु-विनिमय कर सकती है।

भारतवर्ष का व्यावसायिक सम्बन्ध अनेक देशों से है। वह अनेक देशों को अपना माल भेज कर उसके बदले में वहाँ की बनी हुई चीज़ें मँगाता है। यह तो निश्चित है कि कुछ देशों में कुछ विशेष वस्तुएँ सस्ती बनती हैं। अतएव भारतवर्ष अपने लाभ के लिए ऐसे ही देशों से माल मँगाएगा। ब्रिटिश-साम्राज्य बड़ा विस्तृत है। उसके अन्तर्गत अनेक देश हैं। कहीं कोई चीज़ अच्छी होती है तो कहीं कोई चीज़। अतएव यह क्यों न किया जाय कि साम्राज्य के भिन्न भिन्न देश अपने ही साम्राज्य की चीज़ों को पसन्द करें। दूसरे देशों से, जो साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं है, चीज़ें लेने से क्या लाभ? यही इम्पीरियल प्रीफ़रेन्स है।

हमारे वायसराय ने बङ्गाल चैम्बर आव् कामर्स में एक व्याख्यान दिया है। उसमें उन्होंने इम्पीरियल प्रीफ़रेन्स के सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट की है। आपके कहने का मतलब यह है कि योरप की आर्थिक अवस्था आज-कल बड़ी अव्यवस्थित है। सुव्यवस्था होने में अभी देर है। उसकी आर्थिक उन्नति की गति मन्द है। इसलिए इँग्लेंड के विद्वान् इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए एक उपाय ढूँढ़ रहे हैं। वे चाहते हैं कि उनके साम्राज्य के अन्तर्गत जितने देश हैं उनमें पारस्परिक व्यवसाय की वृद्धि हो। अब विचार यह करना है कि इँग्लेंड अपने साम्राज्यान्तर्गत व्यवसाय की वृद्धि के लिए उत्सुक क्यों है।

युद्ध के पहले ब्रिटेन में साम्राज्य के देशों से २५ फ़ी सदी माल आता था। अवशिष्ट अन्य देशों से आता था। इसमें से आधा योरप से ही आता था। मतलब यह कि

साम्राज्य की अपेक्षा योरप का आयात-माल ४० फ़ी सदी अधिक था । ब्रिटेन जितनी चीज़ें बाहर भेजता था उनमें ३३ फ़ी सदी साम्राज्य के देशों को भेजता था, बाक़ी दूसरे देशों को । उसके आधे माल की खपत योरप में ही होती थी । इससे स्पष्ट है कि साम्राज्य की अपेक्षा ब्रिटेन योरप पर ही अधिक आश्रित था । परन्तु गत महा-युद्ध ने यह स्थिति बदल दी । जो लोग योरप से ही व्यवसाय करने में लगे थे उन्हें अपना काम चलाना मुश्किल हो गया । बेकारी बढ़ गई । उन पर आर्थिक सङ्कट आ गया । इसलिए ब्रिटेन का विचार है कि अगर कोई ऐसा उपाय निकल आय जिससे भविष्य में किसी आर्थिक सङ्कट की सम्भावना न रहे तो अच्छा है । उपाय यह है कि समस्त साम्राज्य आपस में मिल कर व्यवसाय करें और अपना अपना काम बाँट ले ।

बात बहुत अच्छी मालूम होती है । परन्तु चिन्तनीय यह है कि ऐसी आर्थिक सन्धि उन देशों में नहीं हो सकती जिनकी आर्थिक उन्नति की अवस्था एक सी नहीं है । सभी राष्ट्रों में यह योग्यता रहती है कि वे उद्योग-धन्धे का काम कर सकें, परन्तु उन्हें कुछ समय तक निर्दिष्ट पथ पर ही काम कर अपनी उन्नति करनी पड़ती है । ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत जितने देश हैं उनमें सबसे पिछड़ा देश भारतवर्ष ही है । यहाँ अभी वाणिज्य-व्यवसाय की सुव्यवस्थित शिक्षा तक का अभाव है । उसका प्राचीन व्यवसाय तो नष्ट ही हो चुका है । अब तो अधिकांश भारतीय मज़दूर ही बने रहते हैं । अतएव अन्य उन्नतशील देशों से सहयोगिता करने में भी उसके पल्ले सबसे हीन ही काम पड़ेगा । भारत मज़दूरी ही करेगा और दूसरे देश उसकी मज़दूरी से लाभ उठा कर समृद्धि-शाली होंगे । इसलिए भारत को इस इम्पीरियल प्रीफ़रेन्स की नीति पर अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए ।

गत अखिल ब्रिटिश-साम्राज्य की कान्फ़रेन्स में ब्रिटिश सरकार ने इम्पीरियल प्रीफ़रेन्स के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है । भारत के प्रतिनिधियों ने इसे अभी स्वीकार नहीं किया है, किन्तु श्रीमान् वाइसराय महोदय की वक्तृता से स्पष्ट है कि उनका झुकाव किस ओर है । उनके विचार में भारत ने इस प्रश्न के महत्त्व को अभी पूरे तौर पर नहीं समझा है । आशा की जाती है कि इस प्रश्न पर भारतीय व्यवस्थापक सभा शी विचार करेगी । वायसराय ने अपने व्याख्यान में कहा है— "जहाँ तक भारतवर्ष से सम्बन्ध है वह इम्पीरिय प्रीफ़रेन्स के बदले कुछ नहीं देता । ब्रिटिश-सरकार ने प्रीफ़रेन्स भारतीय काफ़ी, चाय और तम्बाकू पर दे रक्‍ है उससे भारत को लगभग २०,००,००० पौण्ड वार्षिक लाभ होता है जो साम्राज्य के अन्य किसी दूसरे देश के लाभ से तिगुना है । भारत ही अकेला दे है जो बदले में कुछ नहीं देता । भारत का यह ला हर कोई सुगमता से समझ सकता है ।" इस सम्ब में यह समझ लेना भी आवश्यक है कि इम्पीरियल प्रीफ़ रेन्स का वास्तविक स्वरूप क्या है । इम्पीरियल प्रीफ़रेन्स को 'एक देश की आर्थिक हानि कर के दूसरे देश आर्थिक लाभ करना' कहना अनुचित न होगा । वाइसराय महोदय ने यह बतला दिया है कि ब्रिटेन-भारत लगभग २०,००,००० पौण्ड की वार्षिक आर्थिक सहाय देता है । लेकिन सचमुच क्या २०,००,००० पौण्ड केव दान-स्वरूप हैं ? तम्बाकू और काफ़ी की बात छोड़ दीजि क्योंकि वे बहुत ही थोड़े परिमाण में बाहर जाती हैं अधिकतर भारत की चाय का प्रश्न है, क्योंकि भारत चाय ब्रिटेन में हर जगह पी जाती है । लेकिन चाय उद्योग भारतीय चाय सङ्घ, (Indian Tea association) के हाथ में है, जिसके सदस्य स्वयम् अँगरेज़ हैं औ जिसकी पूँजी का ६० फ़ी सदी अंश ब्रिटेन का है । त इस प्रीफ़रेन्स से क्या लाभ हुआ ? यह हम मानते हैं कि कु अंशों में भारत के कुछ मज़दूरों को लाभ अवश्य पहुँच है, किन्तु यदि भारत और सीलोन की चाय के बनिये मि जायँ तो ब्रिटेन के निवासी सङ्कट में पड़ जायँ । यह त रही २०,००,००० पौण्ड के दान की बात । अब ह यह भी समझ लेना चाहिए कि इम्पीरियल प्रीफ़रेन् का प्रयोग उन्हीं देशों में हो सकता है जो परस्पर ए दूसरे से पूर्ण आर्थिक समानता का दावा कर सकते हैं सबसे अच्छा आर्थिक प्रबन्ध वही हो सकता है जिस सब मनुष्य और सब साधनों के मिलाप से अधिक अधिक लाभ की व्यवस्था हो । भारत भी यही चाह

है, किन्तु वह अभी गिरी दशा में है। उसमें उच्च से उच्च श्रेणी के औद्योगिक काम करने की शक्ति अवश्य है, परन्तु उसे प्रयोग में लाने के लिए अभी बहुत कुछ करना है। इस समय वह साम्राज्य के अन्य देशों से आर्थिक सन्धि नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसे छोटा-मोटा काम ही दिया जा सकता है, जो उसकी वर्तमान हीनावस्था को किसी प्रकार भी घटाने की अपेक्षा बढ़ाने में ही सहायक होगा। ऐसी स्थिति में जिन्हें भारत की औद्योगिक उन्नति की सच्ची लगन है वे कदापि "इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स" को स्वीकार नहीं करेंगे। हमारी धारणा है कि "इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स" से जो धक्का भारत को लगेगा उसके सहन करने में भारत जैसा देश सर्वथा असमर्थ होगा।

२--संरक्षण-नीति और लोहे और इसपात का उद्योग।

अपने देश की व्यवसाय-रक्षा के लिए जिस नीति का अवलम्बन किया जाता है उसे संरक्षण-नीति कहते हैं। जो देश उन्नति-शील है, जिसका व्यवसाय खूब बढ़ा-चढ़ा है, वह किसी अन्य देश की प्रतियोगिता से नहीं डरता। परन्तु जिनकी औद्योगिक उन्नति की अभी प्रारम्भिक अवस्था है उन्हें अन्य देशों की प्रतियोगिता से अपने व्यवसाय की रक्षा करनी ही होती है। भारतवर्ष में जो उद्योग-धन्धे प्रचलित हैं उन्हें उन्नत करने के लिए संरक्षण-नीति आवश्यक है। इसी उद्देश से भारतीय राजस्व-समिति अर्थात् इंडियन फ़िस्कल कमीशन की अनुमति के अनुसार गत वर्ष एक टेरिफ़-बोर्ड सङ्गठित हुआ है, जिसका कार्य यह निर्णय करना है कि भारत के कौन कौन से उद्योगों पर संरक्षण-नीति का प्रयोग किया जाय। यह बोर्ड इस समय लोहे और इसपात के उद्योग के विषय में अनुसन्धान कर रहा है। उसके सामने जो गवाहियाँ हुई हैं वे मुख्यतः दो प्रकार की हैं। एक को हम देशी मत कह सकते हैं और दूसरे को विदेशी। विदेशी मत का अच्छा उदाहरण बम्बई का चेम्बर आव् कामर्स की लिखित गवाही है जो बोर्ड के सामने गत २६ नवम्बर को पेश की गई थी। बम्बई के चेम्बर आव् कामर्स के विचार में भारत में आनेवाले लोहे और इसपात पर ३३$\frac{१}{३}$ फ़ी सदी की इम्पोर्ट ड्यूटी लगाने से भारत को लाभ होने की अपेक्षा हानि होने की ही अधिक सम्भावना है। उसका कहना है कि इस कर से देशी लोहे और इसपात के उद्योग का एकाधिकार हो जायगा और इससे सब वस्तुएँ महँगी हो जायँगी। इसके अतिरिक्त उसे यह भी भय है कि रेल में मुसाफ़िरों और माल का भाड़ा बढ़ जायगा। फिर, कुल लोहा और इसपात भारत में ही लभ्य होने के कारण वह उतना जल्दी और सस्ता मिलना कठिन हो जायगा जितना इस समय बाहर के देशों से मिलता है। यह सब होते हुए भी बम्बई का चेम्बर यह स्वीकार करता है कि थोड़ा सा संरक्षण कुछ काल तक स्थापित रखने में अधिक हानि नहीं है, किन्तु उसके विचारों से यह आवश्यक नहीं है कि वह संरक्षण केवल इम्पोर्ट ड्यूटी बढ़ाने से ही किया जाय, बल्कि उसके मतानुसार यह अधिक हितकर होगा कि सरकार लोहे और इसपात के व्यवसाय को अपने पास से आर्थिक सहायता दे और कोई कर न बढ़ाया जाय।

देशी मतवालों का कहना है कि देश की औद्योगिक उन्नति के लिए ३३$\frac{१}{३}$ फ़ी सदी की इम्पोर्ट ड्यूटी लोहे और इसपात पर पर्याप्त समय तक लगाना नितान्त आवश्यक है। यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि लोहे और इसपात का उद्योग आधुनिक संसार में एक आधार-भूत उद्योग है, अर्थात् इसी उद्योग पर अनेक अन्य उद्योगों का जीवन तथा उनकी सफलता निर्भर है। पार्सन साहब ने भी भारतीय राजस्व-समिति के सामने अपनी गवाही में कहा था—"इस विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि जब तक तुम इसको आधार-भूत उद्योग में स्थापित न कर लोगे तब तक ऐसे उच्च श्रेणी का उद्योग, जिसके लिए विशेष कला-नैपुण्य की ज़रूरत है, इस देश में उन्नति नहीं कर सकते क्योंकि उसे वे साधन ही नहीं प्राप्त हैं।" देशी मत को पुष्ट करने के पहले विदेशी मत को जाँच लेना अच्छा होगा। इस सम्बन्ध में पहली बात वस्तुओं के महँगी हो जाने की है। इसका उत्तर स्वयम् मिस्टर किरलोस्कर ने अपनी गवाही में दे दिया है। मिस्टर किरलोस्कर को कृषि के औज़ार बनाने के लिए लोहे और इसपात की बहुत अधिक आवश्यकता रहती है, जो

उन्हें इस समय अन्य देशों से कम ख़र्च और सुविधा से लभ्य है और इम्पोर्ट ड्यूटी बढ़ाने से महँगा और कठिनता से मिलेगा किन्तु उनका कथन है कि यदि किसी समय—जैसा गत महायुद्ध के समय हुआ था—योरप से इसपात आना बन्द हो जाय तो भारत के सब उद्योग महान् सङ्कट में पड़ जायँ, और यदि इसी प्रकार की प्रतियोगिता जारी रहे तो एक-मात्र भारतीय स्टील कम्पनी (ताता स्टील और लोहे की कम्पनी) का भी सर्वनाश हो जाय जिसका फल यह होगा कि योरप का एकाधिकार होने से लोहे और इसपात का मूल्य बहुत अधिक हो जायगा। इस प्रकार संरक्षण-नीति का विरोध करना अपने हाथ अपने पाँव पर कुल्हाड़ी मारना है। विदेशी मत की दूसरी बात रेल का भाड़ा बढ़ जाने की है। इस विषय में भारतीय रेल-प्रबन्ध-कर्त्ताओं का भी कुछ कर्तव्य है। उन्हें केवल स्वार्थ-रत होकर धनोपार्जन की नीति का ही अवलम्बन नहीं करना चाहिए, किन्तु भारत की औद्योगिक उन्नति में भी भाग लेना चाहिए। रही आज-कल अन्य देशों से लोहे के सस्ता और सुगमता से मिलने की बात। सो यह सच है कि कुछ काल तक भारतवर्ष में लोहा इतना सस्ता या सुगमता से न मिल सकेगा। परन्तु यह स्थिति केवल कुछ ही काल तक रहेगी। चिरकाल में संरक्षण-नीति का प्रभाव निस्सन्देह हमारे लिए हितकर सिद्ध होगा। इस प्रकार विदेशी मत की कोई भी बात युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ती। इसके विपरीत देशी मत के समर्थन में लोहे के उद्योग के आधारभूत होने के अतिरिक्त वे सब बातें भी उपस्थित हैं जो भारतीय राजस्व-समिति ने किसी उद्योग पर संरक्षण-नीति के प्रयोग के लिए आवश्यक बतलाई हैं। सबसे प्रथम उद्योग में प्राकृतिक सुगमतायें होनी चाहिएँ। इस सम्बन्ध में "हिन्दू" पत्र ने १९ नवम्बर के अङ्क में स्पष्टतया बतला दिया है कि जमशेदपुर के आस-पास के स्थान प्रकृति से ही लोहे और इसपात के व्यवसाय के लिए उपयुक्त हैं। जमशेदपुर के आस-पास की खानों से इतना लोहा और इसपात निकल सकता है जिससे ताता की मशीनें चार पाँच सौ वर्ष तक बराबर काम कर सकती हैं। दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि उद्योग ऐसा होना चाहिए जिसकी संरक्षण बिना उन्नति हो की अधिक सम्भावना न हो। लोहे और इसपात की ऐसी ही दशा है। अन्य देश के सस्ते माल के आ भारतीय लोहा और इसपात बिना संरक्षण कदापि उन्न नहीं कर सकता। तीसरे यह भी आवश्यक है कि व्यवसाय की बढ़ती पर वह संसार के अन्य सब देशों से मुक़ाबले में ठहर सके। लोहे और इसपात का व्यापार निस्सन्देह ऐसा ही है कि बढ़ने पर भारत का उद्योग चिरकाल तक स्थायी और समृद्धिशाली हो जायगा। इसके अतिरि राजस्व-समिति का यह भी मत है कि संरक्षण-नीति के प्रयोग में लाते समय इस बात का भी ध्यान रहे कि उद्योग ने थोड़ी बहुत सफलता के चिह्न दिखाये हों क्योंकि आरम्भ से ही किसी उद्योग को उन्नत करने की चे वाञ्छनीय नहीं है। भारत में लोहे और इसपा के उद्योग में ताता-स्टील-कम्पनी ने जैसी योग्यता दिख लाई है वह छिपी नहीं है। इन सब बातों पर विचा करने से हमारी धारणा है कि भारतवर्ष में संरक्षण-नी के प्रयोग के लिए लोहे और इसपात से अधिक लाभदाय उद्योग दूसरा नहीं दीख पड़ता। हाँ, वह ३३⅓ फ़ी स होना चाहिए या कुछ कम अधिक, यह विशेषज्ञ समझें

३—भारत में व्यापारी जहाज़ बनाने का उद्योग।

भारतवर्ष में अन्य पुराने उद्योगों की नाईं व्यापा जहाज़ बनाने का उद्योग भी नष्ट हो कर विदेशियों के हा में चला गया है। इधर कुछ समय से देश में इस विषय आन्दोलन हो रहा है और भारतवासी इस पुराने ध को फिर से सीखना चाहते हैं। सन् १९२२ की जनवरी को लेजिस्लेटिव एसेंबली में सर शिवस्वा ऐयर ने, और १६ मार्च १९२२ को कौंसिल आव् स में श्रीयुत लल्लू भाई सामलदास ने इस सम्बन्ध प्रस्ताव किये जो पास भी हो गये। इन्हीं के अनुस भारतीय व्यापारी जहाज़ नामक कमेटी स्थापित की ग जो इस समय देश में घूम कर अनुसन्धान कर रही है जैसा कि स्वाभाविक है, इसके समक्ष जितनी गवाहियाँ हु हैं वे दो प्रकार की हैं—एक तो देशी कही जा सकती और दूसरी विदेशी। हमारे अधिकांश विदेशी विशेष की धारणा है कि "भारतवासी अपनी अल्पज्ञता

कारण जहाज़ बनाने का कठिन काम सीख ही नहीं सकता। भारत प्रधानतया एक वाणिज्य देश है और उसके निवासी वाणिज्य छोड़कर जहाज़ का काम करना पसन्द नहीं करते। भारत में अनेक धर्म और वर्ण हैं जिससे अलग अलग खाना बनाने, भोजन करने और पानी तक के लिए अलग अलग स्थान की असुविधायें ऐसी हैं जिनका दूर होना असम्भव है। फिर भारत भी तो ब्रिटिश-साम्राज्य का एक भाग ही है, उसे अलग एक अपना जहाज़ी बेड़ा रखने का क्या प्रयोजन?" उनके विचार से यह अनधिकार चेष्टा है। इसके विपरीत हमारे नेता और स्वयं कई विदेशी विशेषज्ञों के विचार में भारतीय व्यापारी जहाज़ी बेड़े स्थापित करना भारत के हित में नितान्त आवश्यक है और भारत सरकार को इसमें सहायता करना उसका धर्म है। स्वयं कमान्डर वोरनर ने, जो बम्बई सरकार के इञ्जिनियर और जहाज़ी निरीक्षक हैं, अपनी गवाही में कहा है कि भारत में जहाज़ी उद्योग के स्थगित होने का मुख्य कारण अन्य देशों की कम्पनियों की अनुचित प्रतियोगिता है। उनके विचार में इस देश के निवासी पहले जहाज़ी उद्योग में काफ़ी रुपया लगाते थे, लेकिन "डिफ़र्ड रिबेट" की प्रथा से उन्हें बड़ी हानि पहुँची है। इसके द्वारा देशी कम्पनियों की प्रतियोगिता में जहाज़ चलानेवाली विदेशी कम्पनियाँ मिल जाती है और नियत समय पर माल लदानेवालों को कुछ किराया कम कर देती हैं। इसी कारण देशी कम्पनियाँ उनके सामने नहीं टिक सकतीं, इस प्रथा को उठा देना सर्वथा वाञ्छनीय है और इसके स्थान पर अधिक से अधिक और कम से कम किराये की सीमा निश्चित कर देना अच्छा होगा। कमान्डर साहब की राय है कि भारतवासियों की यह इच्छा कि भारत के समुद्र के किनारे का जहाज़ी व्यवसाय भारतीयों के लिए अलग कर दिया जाय, स्वाभाविक और न्यायसङ्गत है। विदेशियों का यह कहना कि भारतवासी इस काम के लिए अयोग्य हैं या वे वाणिज्य छोड़ कर जहाज़ का काम नहीं पसन्द करते केवल स्वार्थ की बात है। हमारे विचार में यदि सरकार सचमुच देश का कल्याण चाहती है तो उसे बाहर के देशों में जानेवाले भारतीय जहाज़ों को सरकारी सहायता (Bounty) देना चाहिए। वह डाक के आने-जाने का कुल काम भारतीय जहाज़ों के सुपुर्द कर दे और बाहर के देशों के जहाज़ों पर एक विशेष कर लगा दे। हाँ, इसका ध्यान रहे कि भारतीय जहाज़ी कम्पनियाँ वही समझी जायँ जो भारत में रजिस्टर की गई हों, जिनके मालिक हिन्दुस्तानी हों, जिनकी पूँजी भारतीय हो और जिनके अधिकांश कर्मचारी-गण हिन्दुस्तानी हों।

४—करन्सी रिज़र्व से सोने का बेचना।

विरोध होने पर भी भारत में इस समय २०,००,००० पौण्ड का सोना करन्सी रिज़र्व से बेचा जा रहा है। यह करंसी-रिज़र्व क्या है, सो सुनिए। भारत की सरकार जितने रुपयों के नोट जारी करती है उतने की रक़म वह अलग जमा रखती है। यदि वह ऐसा न करे तो उसकी साख न रहे। आर्थिक संसार में अपनी साख बनाये रखने के लिए भारत की सरकार और सेक्रेटरी आव् स्टेट भिन्न भिन्न कोषों में कई 'रिज़र्व और बैलेन्स' रखते हैं। भारत में जितने रुपयों के नोट जारी हैं उनकी क़ीमत का रुपया जिस कोष में रक्खा जाता है उसे 'पेपर करन्सी रिज़र्व' कहते हैं। यह रिज़र्व उन करन्सी नोटों के के लिए स्थापित किया गया था जो पहले पहल सरकार ने सन् १८६२ में जारी किये थे। इसमें अधिकांश सोना और चाँदी ही होना आवश्यक है। सरकार का अभिप्राय रिज़र्व में इतनी चाँदी रखने से है जो प्रायः भारत में करन्सी नोटों के बदले रुपयों की हर एक माँग को पूरा करने के लिए सर्वथा पर्याप्त हो। साथ ही साथ सरकार इतना सोना भी रखना चाहती है जो भारत से अन्य देशों में नोटों के बदले सोना भेजने के लिए आवश्यकता से कम होने की अपेक्षा अधिक हो और यह आवश्यकता तभी होती है जब भारत अन्य देशों का ऋणी होता है। जिस समय तिजारत का रुख़ भारत के अनुकूल होता है—अर्थात् जब भारत के निर्यात की तादाद उसके आयात से अधिक होती है—उस समय भारत में स्वयं सोना आना जारी हो जाता है और रिज़र्व में सोने का भाग बढ़ने लगता है। इसके विपरीत जिस समय तिजारत का रुख़ भारत के प्रतिकूल होता है, अर्थात् जब भारत के आयात की तादाद उसके निर्यात से अधिक होती है तब

भारत से सोना जाने लगता है और रिज़र्व में सोने के परिमाण का घटना आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार रिज़र्व में सोने का परिमाण प्रायः घटता-बढ़ता रहता है। इसी लिए इस पर पूरी दृष्टि रक्खी जाती है कि सोना अधिक न घट जाय और न उसका स्थान चाँदी या हुण्डियाँ ही लेलें। अन्यथा अनर्थ हो सकता है। करन्सी रिज़र्व रखने के लिए भारत सात केन्द्रों में विभक्त है और हर एक केन्द्र का एक करन्सी आफ़िस है, जिसका काम नोटों का जारी करना, उन्हें भँजाना और रिज़र्व का एक भाग बनाये रखना है। करन्सी आफ़िस मुख्य तिजारती शहरों में खुले हैं और इन केन्द्रों के चुनाव में जनता की सुविधा का विशेष ध्यान रक्खा गया है। भारतवर्ष में कलकत्ता, कानपुर, लाहोर, बम्बई, कराँची, मद्रास और रंगून ये सात करन्सी-केन्द्र हैं। करन्सी-रिज़र्व की ठीक व्यवस्था और पृथक् पृथक् करन्सी-केन्द्रों का समस्त विवरण प्रतिसप्ताह भारतीय गज़ट (Gazette of India) में छपे हुए विवरण से जाना जा सकता है। अस्तु।

भारत सरकार का कहना है कि सोने की अपेक्षा सूद देनेवाली हुण्डिया (Interest bearing securities) रखना कहीं अच्छा है। राजस्व-सचिव सर बेसिल ब्लैकट ने अभी हाल में सब प्रदेशों के सम्मिलित विदेशी वणिक-संघ (Associated Chambers of Commerce) के वार्षिक अधिवेशन में एक वक्तृता दी थी, जिसमें आपने भारत में इस सोने के बेचने के कई लाभ बताये थे। उदाहरणार्थ सूद की प्राप्ति इत्यादि। किन्तु प्रश्न तो यह है कि करन्सी रिज़र्व का मुख्य उद्देश क्या है। रिज़र्व करन्सी की पुष्टि के लिए रक्खा जाता है, न कि इसलिए कि उससे सूद कमाया जाय। हुण्डियाँ चाहे जैसी हों, फिर भी हुण्डियाँ ही हैं। वे सोने की बराबरी कदापि नहीं कर सकतीं। सङ्कट के समय हुण्डियों को तुरन्त बदल कर उनसे सोना प्राप्त करना दुर्लभ है और ऐसे ही समय में सोने की नितान्त आवश्यकता भी होती है। हमारे विचार में यह बड़ी भूल का काम है, जिससे देश को बहुत हानि हो सकती है। यह कहा जाता है कि ब्रिटिश सरकार की हुण्डियाँ (British gilt-edged securities) और सोने की क़दर बराबर ही है। हम इस बात को नहीं मान सकते। हमें विश्वास नहीं होता कि हर दशा में, शान्ति हो या लड़ाई, हर समय जब चाहे ये हुण्डि सोने से बदली जा सकती हैं। यह असम्भव नहीं है इन हुण्डियों का मूल्य कदापि कम नहीं हो सकता सर्वदा इनके बदले में सोना सुगमता से मिल सकता

५--मज़दूरों का जीवन।

भारतवर्ष का अधिकांश जन-समुदाय गांवों में है। ग्रामीणों की जीविका का प्रधान अवलम्बन है परन्तु किसानों की दशा अच्छी नहीं है। एक तो आर्थिक अवस्था स्वयं ही बुरी होती है। दुर्भिक्ष में उन्हें प्राणों की रक्षा करना असम्भव हो जाता है। कारणों से कितने ही लोग कृषि की अपेक्षा मज़दूरी अधिक पसन्द करते हैं। जिन शहरों में कल-कार अधिक हैं वहीं मज़दूरी भी सुलभ है। अतएव ऐसे की आबादी बराबर बढ़ती जाती है। आज-कल भारत में कारख़ानों की संख्या भी बढ़ रही है। अतएव मज़ की भी संख्या बढ़ रही है। मज़दूरों को शहरों में जीवि तो मिल जाती है, परन्तु उनका जीवन नष्ट हो जाता उनके रहने की जगह ऐसी होती है कि वहां स्वास्थ्य असम्भव है। कम जगह में अधिक लोग रहने के उनमें सदाचार का लोप हो जाता है। सबसे अधिक कर दुर्गुण सुरा-पान है, जिसका प्रचार मज़दूरों में अधिक है। इस सुरा-पान की वृद्धि ही होती जा रही यह तो उनकी आन्तरिक स्थिति है। कारख़ाने में भी जीवन सङ्कटमय ही रहता है। इसी की कुछ बातें सु

आधुनिक भारतीय कारख़ानों में मशीनों के प्रयो कारण अचानक घटनाओं का होना बहुत सम्भव हो है। भारतीय कारख़ानों की बहुत सी घटनाओं का अधिक देर तक काम करना ही बताया जाता है। अधिक समय तक काम करने से घबड़ा सा जाता और तब वह दुर्घटनाओं का ग्रास हो जाता है। सी घटनायें मज़दूरों की बेपरवाही तथा अजानका होती हैं। कुछ कारख़ानों में पर्याप्त रोशनी न होने से ये घटनायें होती हैं।

अतएव मज़दूरों से थोड़ी देर तक काम लेने, उचित शिक्षा देने तथा मशीनों से परिचित करा देने

क़ाफ़ी रोशनी के प्रबन्ध आदि से बहुत सी अचानक घटनायें बन्द हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त हर कारख़ाने में rubber tyred ambulance stretcher, दवा-दारू तथा डाक्टर का प्रबन्ध होना चाहिए। कुछ कारख़ाने शहर से बहुत दूर स्थित हैं और वहां गाड़ी आदि का ठीक प्रबन्ध नहीं रहता है। ऐसी घटनायें देखी गई जब ज़ख़मी मज़दूर को बैलगाड़ी पर कड़ी धूप में ले जाना पड़ा है। क्योंकि क़ानूनन किसी कारख़ाने का मालिक अपने पीड़ित मज़दूर की तुरन्त चिकित्सा कराने पर बाध्य नहीं है। ऐसा भी देखा गया है कि ज़ख़मी श्रमजीवी कई घण्टे बिना किसी सेवा-सुश्रूषा (First Aid) के पड़े रहे हैं। जहां कारख़ानों में डाक्टर हैं वहां भी वे अचानक घटनाओं के समय नहीं मिलते, अतएव क़ानूनन मालिकों पर इस बात का उत्तरदायित्व होना चाहिए कि वे पीड़ित या ज़ख़मी श्रमजीवियों की चिकित्सादि का समुचित प्रबन्ध तुरन्त किया करें।

स्त्रियों के लिए दाई तथा लेडी डाक्टर का प्रबन्ध होना चाहिए एवम् स्त्री-श्रमजीवियों में से कुछ को सेवा-सुश्रूषा की प्रारम्भिक शिक्षा (First Aid Training) देनी चाहिए।

९—भारत में बालक श्रमजीवी।

कारख़ानों में छोटे छोटे बच्चे भी काम करते हैं। उनकी दशा विशेषरूप से विचारणीय है। यद्यपि बालकों पर ध्यान सबसे पहले देना चाहिए तथापि खेद है कि उनकी ओर बहुत कम दृष्टि गई है।

पहला प्रश्न बालक की उम्र का ही है। सन् १८८१ के क़ानून के अनुसार ७ वर्ष के बालक से काम लिया जा सकता था, १८८१ के क़ानून से ७ के ९ वर्ष कर दिये गये। मज़दूरों की जो अन्तर्राष्ट्रीय सभा वाशिङ्गटन में १९१९ के आक्टोबर मास में बैठी थी उसकी राय थी कि काम करनेवाले बालक की उम्र १२ वर्ष से कम न हो। १९२२ के क़ानून में यह बात मान ली गई है, यद्यपि पूर्वोक्त सभा ने भारतवर्ष और जापान को छोड़ कर अन्य सभी देशों के लिए बालक मज़दूरों के पक्ष में १४ वर्ष की उम्र की सिफ़ारिश की है। भारतवर्ष में बालक अन्य देशों की अपेक्षा दुर्बल और अपढ़ होता है, फिर भी १२ वर्ष की उम्र फ़िलहाल ठीक है। परन्तु बहुधा यथार्थ में कम उम्र के बालक काम करते देखे गये हैं। बालकों की ठीक आउ का पता देखने से लगाना मुश्किल है और दूसरे सब जानते हैं कि डाक्टरों से १२ वर्ष का सार्टिफ़िकेट मिलना उतना कठिन नहीं है। दूसरे प्रायः मौसमी कारख़ानों में कम उम्र के बालक काम करते हैं। फ़ैक्टरी-इन्सपेक्टरों का उन्हें अकृत्रिम डर दिला दिया जाता है। जब कभी वह आता है, बालक बुरी तरह इधर उधर भाग जाते हैं। फ़ैक्टरी निरीक्षक भी उनका पीछा इस डर से नहीं करते कि कहीं डरे हुए बच्चे मशीन आदि में न आ जायँ। गुप्त रूप से निरीक्षण और अपराधी मैनेजरों को दण्ड देना ही इस अवस्था को दूर करने का उपाय है।

दूसरा प्रश्न बालकों के काम करने के समय का है। १८८१ के क़ानून से ७ से १२ वर्ष के बच्चों से १ घण्टे छुट्टी के साथ ९ घण्टे काम लिया जा सकता था। १८९१ के क़ानून से ९ से १४ वर्व के बच्चे से ७ घण्टे से अधिक काम लेने की मनाई की गई। १९११ के क़ानून से बुनने के कारख़ानों (Textile factories) के लिए यह अवधि घटा कर ७ घण्टे कर दी गई, किन्तु १९२२ के क़ानून से सभी कारख़ानों में बच्चों से ६ घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। उनसे लगातार अधिक से अधिक ४ घण्टे काम लिया जा सकता है और हर ५½ घण्टे में १ घण्टे की छुट्टी दी जाती है। परन्तु खेद है कि इस क़ानून से भी बचने का उपाय निकाल लिया गया है। पहले छोटे छोटे बच्चों से १२, १२ घण्टे एक ही कारख़ाने में काम लिया जाता था! अब उनमें कुछ बालक दो पास के कारख़ानों में अलग अलग समय में अपना नाम बदल कर काम करते हैं। यह अत्यन्त निन्दनीय है। इसको रोकने का तुरन्त प्रबन्ध होना चाहिए।

काम करने के बाद बच्चों का समय बहुधा ख़राब जाता है। ऐसा न होना चाहिए। बालकों के खेल का प्रबन्ध होना चाहिए। उनकी शिक्षा के लिए आधे दिन के स्कूल स्थापित करने चाहिए। उन्हें कला-कौशल में निपुण बनाने के लिए टेक्निकल स्कूलस हों ताकि वे उत्तरोत्तर उन्नति कर सकें। ऐसी ही बातों में उनके अवकाश के समय का सदुपयोग होना नितान्त आवश्यक है।

लक्ष्मीचन्द्र जैन

विविध विषय

१—नोबल प्राइज़।

कवित्व-शक्ति, योग्यता, ग्रन्थरचना-चातुर्य्य, वीरता और धार्मिकता आदि गुण देश, काल, जाति और धर्म्म के बन्धन के परे हैं। ईश्वर ने मनुष्यों को कुछ शक्तियाँ दे रक्खी हैं। कारणविशेष से किसी में वे अधिक पाई जाती हैं, किसी में कम। तथापि यह कभी नहीं होता कि कोई जाति की जाति या देश का देश इन शक्तियों से रहित हो। योरप के कुछ मदान्ध मनुष्य समझते हैं कि परमेश्वर ने एशिया के निवासियों पर आधिपत्य करने ही के लिए उनकी सृष्टि की है। उनकी यह धारणा मतवाले के प्रलाप के सिवा कुछ नहीं। जिस एशिया ने बुद्ध, राम, कृष्ण, ईसा और कन्फ़्यूसियस इत्यादि महात्माओं को, चन्द्रगुप्त, अशोक, विक्रमादित्य और हर्षवर्धन आदि नरेशों को, भीम, अर्जुन, द्रोण, कर्ण आदि वीरों को, और व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों को जन्म दिया उसी एशिया को ईश्वर ने दूसरों की गुलामी करने का ठेका नहीं दे रक्खा। समय की अनुकूलता और प्रतिकूलता ही सब कुछ कराती है। जो लोग आज-कल सेवक हैं वही किसी समय स्वामी थे और जो स्वामी हैं वही किसी समय एशियावालों के सेवक थे।

कविताकौशल, ग्रन्थलेखन-चातुर्य्य और विज्ञान-विशारदत्व तो जाति, धर्म्म और देश आदि की सीमा के बन्धन की बिलकुल ही अपेक्षा नहीं करते। इसके प्रमाण सर जगदीशचन्द्र वसु और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। यदि वैसे किसी बन्धन की अपेक्षा होती भारत के सदृश परावलम्बी देश में उनका जन्म ही होता और यदि होता भी तो उनकी योग्यता का अभिमानी योरप के देशों में कभी न बजता।

स्वीडन में एक जगह स्टाकहाम है। वह उस की राजधानी है। वहाँ १८३३ ईसवी में आल्फ्रेड नो नाम के एक मनुष्य ने जन्म लिया। वह १८९६ ई में, ६३ वर्ष की उम्र में, मरा। उसका पिता रूस इञ्जिनियर था। वह जलमग्न नौकायें और टार नामक जहाज़-विध्वंसक यान बनाने का काम करता उसी के साथ रह कर आल्फ्रेड ने भी वही काम आर किया। नई नई चीज़ों का आविष्कार करने में उ बुद्धि बड़ी तीव्र थी। उसने अनेक आविष्कार किये। धुवें की बारूद बनाई और डिनामाइट (Dynami नामक एक प्रबल शक्तिशाली ज्वालाग्राही पदार्थ भी बनाया। इन आविष्कारों की बदौलत उसे करोड़ों की आमदनी हुई। इन नरनाशक और सर्वसंहा आविष्कारों से होनेवाली हानियों का जब उसे हुआ तब उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। अतएव अपनी अधिकांश कमाई को योग्यतम व्यक्तियों को करके अपने कृतकर्म्म का प्रायश्चित्त करना चाहा। अपने सञ्चित धन के सूद से प्रतिवर्ष ५ पुरस्कार ज़ाने की योजना की और हर पुरस्कार घट बढ़ ८ ह पौंड अर्थात् कोई एक लाख बीस हज़ार रुपये, निश्चित किया। इस निमित्त उसने एक ट्रस्ट की संस्था कर दी। यह ट्रस्ट अब तक बराबर, हर साल, ५ पुर देता आ रहा है। वह इन पुरस्कारों को देने में

धर्म्म और देश की परवा नहीं करता। मनुष्य चाहे जिस देश और जिस धर्म्म का हो, यदि वह निर्दिष्ट विषय में सबसे अधिक योग्य है तो पुरस्कार उसी को मिलेगा।

पुरस्कार ५ विषयों पर दिये जाते हैं। शर्त यह है कि पुरस्कर्त्री समिति पुरस्कृत जनों को अपने विषय में सर्वश्रेष्ठ समझती हो। विषयों के नाम ये हैं—

(१) भौतिकशास्त्र
(२) रसायनशास्त्र
(३) शरीरशास्त्र अथवा वैद्यविद्या
(४) आदर्शभूत ग्रन्थरचना
(५) संसार में शान्तिरक्षा के लिए सबसे अधिक प्रयत्न

इन विषयों के सम्बन्ध में आज तक अनेक देशों के विद्वानों, विज्ञानियों और नामी पुरुषों को पुरस्कार मिल चुके हैं। नम्बर (४) विषय के अन्तर्गत, कुछ ही समय हुआ, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी पुरस्कृत हुए थे। आश्चर्य्य है, सर जगदीशचन्द्र वसु, अब तक इस पुरस्कार की प्राप्ति के अधिकारी नहीं समझे गये।

कुछ लोगों ने ख़बर उड़ाई थी कि इस बार, अर्थात् पिछले साल, शान्तिरक्षा-विषयक पांचवां पुरस्कार महात्मा गांधी को दिया जायगा। पर वह गपही निकली। मालूम होता है कि किसी चलते-पुर्ज़े अख़बार ने यह बात योंही, बेपर की, उड़ा दी थी। एक और भी, इसी तरह की ख़बर किसी किसी अख़बार में निकली थी। उसको उड़ानेवालों का अन्दाज़ा था कि लाहोर के नामी शायर सर मुहम्मद इक़बाल के हिस्से में एक पुरस्कार आवेगा। परन्तु ये दोनों ख़बरें ग़लत निकलीं। इस बार नम्बर (४) का पुरस्कार या पारितोषिक (६,५०० पौंड अर्थात् कुछ कम एक लाख रुपया) आयरलेंड के प्रसिद्ध नाट्यकार, कवि और लेखक ईट्स को मिला है। इस पुरस्कार के सम्बन्ध में इँग्लेंड के भी कई लेखकों के—उदाहरणार्थ टामस हार्डी के—नाम लिये जाते थे। पर उन्हें भी, सर इक़बाल ही की तरह, निराश होना पड़ा। महात्मा गांधी के विषय में आशा और निराशा का तो ज़िक्र ही नहीं हो सकता।

ईट्स महाशय अपने देश के नामी कवि हैं। वे भारतवर्ष से विशेष प्रेम रखते हैं। शायद थियासफिस्ट हैं, क्योंकि मैडम ब्लैवेस्की की शिष्यता कर चुके हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पिछली बार जब इँग्लेंड गये थे तब उनके समागम का लाभ भी वे उठा चुके हैं। कुछ समय पूर्व तक, पराधीन रहनेवाले आयरलेंड के इस महाकवि का यह आदर सिद्ध कर रहा है कि भगवती वाग्देवी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के बन्धन की क़ायल नहीं।

२----शासनाधिकार की मीमांसा।

दूसरों पर शासन करने का अधिकारी कौन है? किन गुणों किं वा दोषों के कारण दूसरों पर शासन करने का अधिकार मनुष्य को प्राप्त हो जाता है? यह प्रश्न बहुत पुराना है और इसका उत्तर भी बहुत पुराने ज़माने में ही दिया जा चुका है। परन्तु, फिर भी, इस प्रश्न के आधार पर बड़े बड़े ग्रन्थ और बड़े बड़े लेख लिखे जा चुके हैं और अब तक उनका लिखा जाना जारी है। वाग्वितण्डा इस विषय में कितनी हो चुकी है और अब भी हो रही है, इसकी तो इयत्ता ही नहीं। कोई कहता है, जो जातियां असभ्य या अनुन्नत हैं उन पर शासन करने का अधिकार सभ्य और उन्नत जातियों को है, पर तभी तक जब तक वे अनुन्नत जातियां अपना शासन आपही करने लायक़ न हो जायँ। कोई कहता है, यह विचार ठीक नहीं। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। सभ्य हों या असभ्य, देश विशेष के निवासियों को अपना शासन आप ही करने का पूर्ण अधिकार है। कोई न्याय-अन्याय की दुहाई देते हैं। वे कहते हैं, अमुक देश हमारा है। वह हमारी जन्मभूमि है। हमीं वहां के शासन के अधिकारी हैं। तुम होते कौन हो?

इस प्रकार के प्रश्न और प्रतिप्रश्न, वाद और विवाद, जल्पना और विकत्थना, न मालूम कब से, होती चली आ रही है। पर एक के सिद्धान्त को दूसरा नहीं मानता और दूसरे के सिद्धान्त को तीसरा। जिसका स्वार्थ जिसमें है वह उसी सिद्धान्त को निर्भ्रान्त सिद्ध करने की चेष्टा करता है। पर इस प्रान्त के देहातियों ने इस इतने जटिल प्रश्न का बड़ा ही सुन्दर और बड़ा ही युक्ति-सङ्गत उत्तर दे रक्खा है। और वह उत्तर भी कैसा? सर्वथा निर्भ्रान्त। वह है—

जिसकी लाठी उसकी भैंस।

क्यों, है न ? संसार में बलवान् ही शासन का अधिकारी है, निर्बल नहीं। न्याय और धर्म्म ताक़ पर रक्खे रहते हैं अथवा वे, कपटाचार की प्रेरणा से, बलवान् ही के पक्ष का समर्थन करते हैं। वे समर्थन करें या न करें; बली के बल के सामने उनकी एक भी चाल नहीं चल सकती। अतएव शासनाधिकार की प्राप्ति के लिए बलवान् होना पुण्य और निर्बल होना पाप है। और कोई इस तत्त्व को चाहे माने चाहे न माने; पर राजनीति इसकी ज़रूर क़ायल है। लिखा है—

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः ।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ॥

चन्द्र-बिम्ब के भीतर जो मृग दिखाई देता है उसे उसने अपने हृदय—अपनी गोद—में बिठा रक्खा है। चन्द्रमा उसका ख़ूब लाड-प्यार, दुलार, चापलूसी और ख़ुशामद करता है। उसे फल इसका क्या मिला है ? केवल कलङ्क। उसके इस कृत्य के कारण ही लोग उसे मृगलाञ्छन कहते हैं। उधर सिंह को देखिए और मृगों के साथ किये गये उसके सलूक पर विचार कीजिए। देखते ही वह उन पर बड़ी ही निष्ठुरता से प्रहार करता है, और अपने तीव्र नखों और नुकीले दाँतों से चीर-फाड़ कर उन्हें खा जाता है। इसका पुरस्कार उसे क्या मिलता है ? लोक में उसकी कीर्ति होती है। लोग कहते हैं, बड़ा बहादुर है; मृगाधिप है—मृगों का बादशाह है !

सो शेर की यह बादशाही उसे उसकी लम्बी लाठी ही की बदौलत मिली है। और चन्द्रमा का कलङ्क उसकी कोमलता, उसकी निर्बलता, उसकी नामर्दी का फल है। शेर जिस तरह, अपने बल के प्रभाव से, ज़बरदस्ती मृग-राज या वनराज है उसी तरह गरुड़ भी, अपने क्षुरप्रभ नखों और शक्तिसम्पन्न शरीर के प्रभाव से, पक्षिराज है। अतएव जो बात पशुओं और पक्षियों तक के विषय में चरितार्थ है वही मनुष्यों के भी विषय में चरितार्थ है। मनुष्य कुछ ईश्वर की सृष्टि के बाहर थोड़े ही है। फिर भी हम लोग राजत्व और शासनत्व के अधिकार के विषय में व्यर्थ ही वाद-विवाद करते और न्याय तथा धर्म्म की दुहाई देते हैं। किसी की दुहाई देना निर्बलता का सूचक है और लाठी उठाने की शक्ति रखना राजत्व पाने की योग्य का सूचक है। यह ध्रुव सत्य है; इसमें मीन मेख के लि ज़रा भी जगह नहीं।

परन्तु लाठी उठाना सबका काम नहीं। हाथ बल न होने पर, सींगवाले पशु, लाठी उठानेवाले ख़ुद ही अपने सींगों से उठा कर ज़मीन पर पटक सक हैं और उन्हें रौंद कर यमपुर भी पहुँचा सकते हैं तीक्ष्ण नखों और कराल दंष्ट्राओं से सम्पन्न पशुओं मुक़ाबला गायें और बैल, भैंसें और भैंसे, बकरियां गीदड़ नहीं कर सकते। हाँ, यदि मन्त्रणा करके, समुदा रूप से, वे हिंस्रक जन्तुओं का सामना करें तो अव सफलमनोरथ हो सकते हैं।

साल-वन में एक शेर रहता था। वह वनविचार शील अन्य पशुओं का शत्रु था और ज़बरदस्ती उस राजा बना बैठा था। उनमें से दो चार को वह रोज़ जाता था। तङ्ग आकर एक दिन एक महानिर्बल श्टगाल ने अपने सजातियों को बुला कर कौंसिल की उसमें यह निश्चय हुआ कि हममें से चाहे जितने भ काम आ जायँ, पर हम अब शेर को राजा न मानेंगे— उसके अन्याय की सज़ा दिये बिना न रहेंगे। इस प्र का निश्चय करके सैकड़ों हज़ारों गीदड़, मरने मारने उतारू होकर, एक जगह एकत्र होगये। इतने में श हुई। शेर अपने शिकार की खोज में बाहर निकला। घूम घामते वह वहीं आ पहुँचा जहाँ श्टगालों का समुदाय उस राह देख रहा था। इतना अधिक मजमा देख कर पहले वह सहमा। पर पीछे से उसने सोचा कि ये करेंगे क्या ? न इनमें से किसी के नाख़ून ही तेज़ हैं, न बड़ी दंष्ट्रायें ही हैं, न इनके शरीर में उतना बल ही है अतएव वह बड़े ज़ोर से गरजा। फिर दो गीदड़ों को अ मुँह में उसने दाब लिया और दो चार को, अपने थपे से, दाहने-बायें धराशायी कर दिया। इतने में बूढ़े श्टगा नायक ने हुङ्कार किया। बस, फिर क्या था ? दस गीदड़ शेर की पूँछ से चिपट गये। दस पाँच उसके पर चढ़ गये। चार चार पाँच पाँच ने उसके एक एक पैर हमला किया। दस बीस उसकी पीठ पर सवार हो गये यह दशा देख कर जङ्गल के शाहंशाहजी अपनी

भूल गये। जिन दो गीदड़ों को उन्होंने पकड़ रक्खा था वे भी छूट गये। उधर पाँच ही मिनट में उन सब शक्तिहीन सत्वों ने राजा बहादुर की एक एक बोटी नोच खाई और अपनी बपौती वनभूमि को निष्कण्टक कर दिया।

ज़बरदस्ती बादशाह बन बैठनेवाले उस शेर को इस तरह ठिकाने लगा कर सब शृगालों ने वहाँ प्रतिनिधि-सत्ताक राज्य की संस्थापना कर दी और अपने नायक, वृद्ध शृगाल, को उसका प्रेसीडेंट बना दिया।

शृगाल मांसभोजी प्राणी हैं। अतएव अपना अधिकार पाने के लिए उन्होंने जो योजना की वह उचित थी। जो मांसभोजी नहीं, यथा हिरन, उनके लिए यह योजना ठीक नहीं। वे यदि किसी युक्ति से शेर का चारा-पानी बन्द कर दें तो वे भी शासनाधिकार प्राप्त करके निरापद हो सकते हैं।

सो शासन का अधिकारी वही हो सकता है जिसके हाथ में बल है और जो लम्बी लाठी रखता है। उससे तब तक परित्राण नहीं हो सकता जब तक निर्बलों का समुदाय उसका सामना युक्तिपूर्वक नहीं करता या उसका चारा-पानी बन्द नहीं कर देता। अन्य योजनायें अरण्य-रोदन अर्थात् व्यर्थ हैं।

३—राष्ट्रीय समझौता।

अनेक वर्षों से भारतीय स्वराज्य-प्राप्ति की चेष्टा कर रहे हैं। कांग्रेस का ध्येय यही है। इसी उद्देश से उसकी सृष्टि हुई है। इस वर्ष कोकोनाडा नामक स्थान में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। सभापति थे मौलाना मुहम्मद-अली। इस बार कांग्रेस की ओर लोगों का ध्यान खूब खिंचा था। कुछ वर्ष पहले स्वराज्य की चर्चा सभा-समितियों और समाचार-पत्रों तक ही परिमित थी। परन्तु अब स्वराज्य-प्राप्ति की कामना बलवती हो गई है। शिक्षितों की कौन कहे, अशिक्षित भी स्वराज्य की चर्चा करने लगे हैं। इसी से अब कांग्रेस के कार्य-कलाप की ओर सर्वसाधारण भी अनुराग प्रकट करते हैं। कांग्रेस में दो बातों की विशेष चर्चा हुई, स्वराज्य प्राप्ति का साधन और हिन्दू-मुसलमान की एकता। भारतीय विद्वानों ने इनकी जो मीमांसा की है वही यहाँ दी जाती है।

यह स्वराज्य है क्या? शब्द के अर्थ से यही प्रकट होता है कि जो स्वयं अपना राजा है स्वराज्य उसी के हस्तगत है। जो स्वयं अपना राजा होगा उसे निर्भय होना ही चाहिए। वह न्यायवान् होगा और मनुष्य-मात्र पर प्रेम रक्खेगा। निर्भीक होने से ही उसे जब कोई यह कहेगा कि तुम मेरी आज्ञा मानो तब वह यही उत्तर देगा कि जो आज्ञा मेरे विवेक के विरुद्ध है उसे मैं कभी नहीं मान सकता। जो क़ानून हमारे प्रतिनिधियों से नहीं बनाये गये हैं उन्हें मानने के लिए हम बाध्य नहीं हैं। इसके लिए उसे कितना ही दण्ड क्यों न दिया जाय वह अपने निश्चय से नहीं टलेगा। जिसमें ऐसी निर्भीकता है उसने अपने लिए स्वराज्य अवश्य प्राप्त कर लिया। परन्तु यह निर्भीकता उसे प्राप्त नहीं हो सकती जो स्वार्थ के वशीभूत है, जो प्रवृत्तियों का दास है। जो अमरत्व पर विश्वास करता है उसी को यह अक्षय-पद प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति न्याय-निष्ठ भी होगा। जो दूसरों के न्यायोचित अधिकारों में हस्तक्षेप करता है वह अपनी भी स्वाधीनता में हस्तक्षेप करेगा। अन्यायी के हृदय में नैतिक साहस का भी अभाव रहता है। जो न्याय-निष्ठ है वह मनुष्य-मात्र से प्रेम करेगा। न्याय मनुष्य-प्रेम पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव जो स्वराज्य की कामना करते हैं वे न्याय और प्रेम का तिरस्कार नहीं कर सकते। जिस जाति में ऐसे स्वराज्य-प्रेमी व्यक्ति होंगे वह पराधीन नहीं हो सकती। सच तो यह है कि ऐसे ही व्यक्तिगत स्वराज्य पर जातीय स्वराज्य का निर्माण होता है। जातीय स्वराज्य में भी व्यक्तिगत स्वराज्य की तरह निर्भीकता, न्याय और मनुष्य-प्रेम होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है।

भारत में स्वराज्य-प्राप्ति का सबसे बड़ा बाधक यह है कि यहाँ जातीयता का अभाव है। भारतवर्ष में अनेक जातियाँ हैं और अनेक धार्मिक सम्प्रदाय हैं। उनमें पारस्परिक विद्वेष का भी अभाव नहीं है। एक पत्र में प्रकाशित हुआ है कि भारत में २१,६७,३४,५८६ हिन्दू हैं। इनके सिवा ३,२३,८०३ सिख, ११,७८,५६६ जैन और १,१५,७१,२६८ बौद्ध हैं। यहाँ पारसी १,०२,७७८ हैं। ईसाई ४७,५४,०६४ हैं। यहूदी

२१,७७८ हैं। मुसलमान ६,६७,३५,२३३ हैं। ६७,३४,६११ आदमी ऐसे हैं जो इन धार्मिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत नहीं हैं। देश में इन सभी का स्थान है और सभी को अपने अपने अधिकारों की रक्षा करनी है। अतएव भारत की सबसे बड़ी समस्या इनमें एकता स्थापित करने की है।

हिन्दुओं की संख्या २१,६७,३४,५८६ बतलाई गई है। परन्तु स्वयं हिन्दू-जाति अनेक छोटी छोटी जातियों में विभक्त है। आज-कल हिन्दू-समाज में जाति-भेद के प्रश्न उठने लगे हैं। हिन्दुओं में जो लोग अस्पृश्य समझे जाते हैं उन्हें प्रायः अपने न्यायोचित अधिकारों से भी वञ्चित रहना पड़ता है। उनकी दुर्दशा का मुख्य कारण यह है कि अस्पृश्य होने के कारण उन्हें अपनी आत्मिक उन्नति करने का अवसर नहीं मिलता। इसी लिए हिन्दू-समाज के कितने ही शुभचिन्तकों का ध्यान उनकी इस दशा को उन्नत करने की ओर गया है। हिन्दू-जाति की एकता का एक बाधक प्रान्तीयता भी है। भिन्न भिन्न प्रान्तों के हिन्दुओं में भी यथेष्ट सहयोगिता नहीं है। अतएव प्रान्तीयता का भाव दूर कर राष्ट्रीय भावों के भी प्रचार की चेष्टा की जा रही है। श्रद्धास्पद मालवीयजी के उद्योग से हिन्दू-जाति का सङ्गठन हो रहा है।

हिन्दू-मुसलमान-एकता के प्रश्न ने अब उग्र रूप धारण कर लिया है। कुछ समय पहले हमारे देश में हिन्दू-मुसलमान-एकता की धूम थी। उस एकता का कारण महात्मा गान्धी का नेतृत्व समझना चाहिए। उस समय भी दो एक विद्वानों ने उस एकता को सन्देह की दृष्टि से देखा था। उनकी राय थी कि वह एकता टिकने की नहीं है। उनकी आशङ्का बहुत कुछ ठीक ही उतरी। आज-कल हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक सद्भाव का ह्रास हो रहा है। हिन्दुओं का सबसे बड़ा आक्षेप मुसलमानों के गोवध पर है और मुसलमान मस्जिदों के सामने से हिन्दुओं के गाते-बजाते हुए निकलने पर सबसे अधिक आपत्ति करते हैं। मालवीयजी के हिन्दू-सङ्गठन ने भी मुसलमानों के हृदय में आशङ्का उत्पन्न कर दी है। शुद्धि-आन्दोलन ने उनकी यह आशङ्का और भी बढ़ा दी है। देश के सभी नेताओं का उद्देश हिन्दू-मुसलमान के जातिगत विद्वेष को दूर करना है। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए कांग्रेस से एक सब-कमेटी नियुक्त हुई थी। उसके नि
का सार नीचे दिया जाता है—

"(१) इन समझौतों में जितनी जातियाँ अपने प्र
निधियों-द्वारा सम्मिलित हैं उनका यह दृढ़ तथा अ
सिद्धान्त होना चाहिए कि स्वराज्य पाने का कारण
स्वाधीन देशों के समान अधिकार तथा स्वाधीनता पाने
मार्ग केवल स्वराज्य ही है। (२) स्वराज्य मिलने
शासन-प्रणाली की व्यवस्था स्वायत्त-शासन की तरह
जायगी। शासन का यथेष्ट रूप स्वराज्य पाने पर राजनैति
व्यक्तियों-द्वारा निश्चित किया जायगा। (३) राष्ट्रीय भा
हिन्दुस्तानी होनी चाहिए। इसके लिए उर्दू और देवना
दोनों को स्थान मिल सकता है। (४) सभी मतों
अनुयायियों को पूजा-पाठ, धर्म्म-कर्म्म तथा शिक्षा आदि
पूरी स्वतन्त्रता दी जायगी और इसके लिए ऐसे नियम
दिये जायँगे जो जिससे भविष्य में भी किसी सरकार को इस
परिवर्तन अथवा संशोधन करने का अधिकार नहीं
जायगा। (५) किसी जातिविशेष तथा संस्था को स
कारी सार्वजनिक ख़ज़ाने से किसी प्रकार की सहायता न
दी जायगी, जो दूसरी किसी जाति के लिए लाभदा
नहीं। (६) एक बार स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर भा
की सभी जातियों के लिए, उसके भीतरी अथवा बा
सभी आक्रमणों से सुरक्षित रखना प्रत्येक भारतीय
लिए अनिवार्य्य कर्त्तव्य होना चाहिए, चाहे वह हि
मुसलमान, सिख, पारसी अथवा ईसाई ही क्यों न हो
(७) वर्तमान समय में देश की भिन्न-भिन्न जातियों में ऐ
परिस्थिति है और उनमें राजनैतिक उत्तरदायित्व
ज्ञान की जितनी कमी है, उस भाव को लेकर
आवश्यक समझा जाता है कि जो लोग बहुत पीछे
हुए हैं अथवा जिनकी संख्या दूसरी जातियों की अपे
कम है उनके साथ कुछ रियायत की जाय। अतएव
निश्चय किया जाता है कि सभी जातियों को व्यवस्था
तथा अन्यान्य सरकारी संस्थाओं में अलग अलग प्रति
धित्व की व्यवस्था की जाय। (८) राष्ट्रीय ए
तथा अपने हिन्दू-भाइयों के धार्म्मिक भावों की
के लिए भारतवर्ष के मुसलमान इस पण-द्व
शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि सिवा ईद के अ

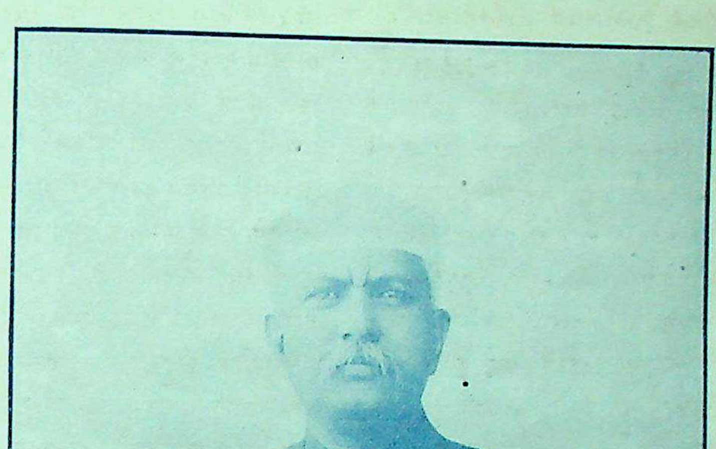

स्वर्गीय रायसाहब गोविन्दलाल जी पुरोहित।

के और

सम्मिलि

धार्म्मिक

शान्ति-भ

अधिक ध

बोर्ड-द्वार

द्वारा वह

लम्बियों

तथा स्था

संसार के

यह निश

व्यापारिक

लूट को

सन्धि की

उपर्

पत्र में ए

कि किसी

या प्रस्ता

के तीन-च

कांग्रे

कांग्रेस न

लाजपतर

नियुक्त हु

का संग्रह

करेगी ।

कोई सन्

विद्वेष देश

हो सके

अन्य धा

हो सकत

निश्चित है

दूसरे के

बना ही र

संसा

दायों में

का ही लो

यह पुस्तक वितरित न की जाय।

के और किसी समय गो-वध नहीं करेंगे। (९) स्थानीय सम्मिलित बोर्ड-द्वारा निश्चित समय पर सार्वजनिक धार्मिक स्थानों पर बाजा न बजाया जायगा, जिससे शान्ति-भङ्ग होने की सम्भावना हो। (१०) एक से अधिक धर्मवालों के जुलूस का दिन एक ही दिन पड़ने पर बोर्ड-द्वारा निश्चित समय पर अथवा भिन्न-भिन्न रास्तों-द्वारा वह निकाला जायगा। (११) भिन्न भिन्न धर्मावलम्बियों के त्योहारों पर झगड़ा न हो, इसके लिए प्रान्तिक तथा स्थानिक सम्मिलित बोर्ड प्रबन्ध करेगा। (१२) संसार के सभी देशों के साथ मित्रभाव प्रदर्शित करते हुए यह निश्चित किया जाता है कि पारस्परिक सहायता, व्यापारिक सहयोगिता तथा योरप-द्वारा पूर्वीय देशों की लूट को बचाने के लिए पूर्वी देशों की एक सम्मिलित सन्धि की जाय।''

उपर्युक्त प्रस्तावों के अतिरिक्त डाक्टर अंसारी राष्ट्रीय पण में एक प्रस्ताव और जोड़ देना चाहते हैं। वह यह कि किसी जाति के सम्बन्ध में कोई ऐसा क़ानूनी बिल या प्रस्ताव न पास किया जाय जिसका, विरोध उस जाति के तीन-चौथाई पुरुष करते हों।

कांग्रेस में यह समझौता उपस्थित किया गया। कांग्रेस न एक कमेटी बना दी है। उसके सदस्य लाला लाजपतराय, डाक्टर अंसारी और सरदार अमरसिंह नियुक्त हुए हैं। यह कमेटी इसके सम्बन्ध में लोक-मत का संग्रह कर ३१ मार्च तक अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करेगी। देखें, इस रिपोर्ट का फल क्या होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू-मुसलमान का पारस्परिक विद्वेष देश के लिए अनिष्टकर है। जितना शीघ्र यह दूर हो सके उतना ही अच्छा है। हिन्दू-मुसलमान अथवा अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में सद्भाव किस प्रकार स्थापित हो सकता है, यह कहना कठिन है। किन्तु यह तो निश्चित है कि जब तक हिन्दू-मुसलमान अपने को एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी समझेंगे तब तक उनमें असद्भाव बना ही रहेगा।

संसार के सभी देशों में भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में ईर्ष्या-द्वेष का अस्तित्व देखकर कुछ लोग धर्म का ही लोप कर देना चाहते हैं। वे धर्म का स्थान मनुष्य की बुद्धि को (Reason) दे डालना चाहते हैं। फ़्रांस के इतिहास से यह स्पष्ट है कि धर्म का उच्छेद करने की चेष्टा कितनी भयङ्कर होती है। फ़्रांस के क्रान्तिकारियों ने धर्म का उच्छेद कर बुद्धि की प्रतिष्ठा की। उसका फल हुआ भीषण हिंसा। बात यह है कि धर्म का विनाश कभी नहीं हो सकता। परन्तु प्रत्येक धर्म में जो नित्य और सनातन है उस पर ध्यान न देकर जब लोग बाह्य अनुष्ठानों को ही महत्त्व देने लगते हैं तभी साम्प्रदायिक विरोध की सृष्टि होती है। कबीर ने हिन्दू-मुसलमान की एकता के लिए धर्म के इसी नित्य तत्त्व पर ज़ोर दिया था। उसी को ग्राह्य करने से विरोध दूर हो सकता है।

सभी मनुष्य शक्ति की कामना करते हैं। वे जानते हैं कि जिनमें शक्ति नहीं है, जो दुर्बल हैं, वे अपनी आत्मरक्षा नहीं कर सकते। उन्हें सदैव दूसरों की दया पर आश्रित रहना पड़ता है। परन्तु शक्ति केवल शारीरिक नहीं होती, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ भी होती हैं। अतएव इनको भी प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। शरीर के साथ मन और आत्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिनमें मानसिक और आध्यात्मिक बल नहीं है उनका शारीरिक बल भी व्यर्थ है। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि उनमें यथेष्ट शारीरिक बल होने पर भी मानसिक शक्ति का अभाव होने से भीरुता आ जाती है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि जिनमें शारीरिक शक्ति का अभाव है वे अपनी मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों की यथेष्ट उन्नति भी नहीं कर सकते। रुग्ण और निर्बल-जाति में मानसिक शक्ति का पूर्ण विकास नहीं होता। यह सच है कि दो चार ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो स्वयं शारीरिक बल से हीन होते हैं, परन्तु उनमें मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का यथेष्ट विकास हो जाता है। परन्तु यह बात सिर्फ़ व्यक्तियों तक ही परिमित है। जातियों के विषय में यह नहीं कही जा सकती। जब हिन्दू-जाति ने अपनी मानसिक शक्तियों को खूब उन्नत कर लिया था तब वह इतनी पराक्रमहीन भी नहीं थी। मुसलमानों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास भी साथ ही साथ हुआ। इसी प्रकार इन शक्तियों

का ह्रास भी साथ ही साथ हुआ है। यह तो निश्चित है कि जब किसी जाति की स्वाधीनता का लोप होता है तब उसकी शारीरिक शक्ति की ही अधोगति नहीं होती, उसका मानसिक और आध्यात्मिक पतन भी होता है। अतएव जो जाति स्वाधीन होना चाहती है उसे अपनी शक्तियों को उन्नत करना ही पड़ेगा।

जिस प्रकार शक्ति के ह्रास से स्वाधीनता का लोप होता है उसी प्रकार पराधीनता में शक्ति का लोप हो जाता है। हिन्दू-जाति ही इसका एक उदाहरण है। सैकड़ों वर्षों तक वह स्वाधीन रही है। उसने भारत में सुशासन की व्यवस्था की थी, शत्रुओं को पराजित किया था, विद्रोह का दमन किया था और देश में शान्ति की स्थापना की थी। परन्तु कुछ ही समय तक पराधीन रहने के कारण उसकी कर्तृत्व-शक्ति का लोप सा हो गया है। वह अपनी आत्म-रक्षा तक करने में अपने को अयोग्य समझती है। भारतीयों की स्वराज्य-प्राप्ति की चेष्टा में सबसे बड़े भय का कारण हिन्दू-मुसलमान का पारस्परिक विरोध हो गया है। कितने ही लोगों की यह धारणा हो गई है कि अँगरेज़ों की छत्र-छाया में ही यह बिरोधाग्नि शान्त रह सकती है। इस धारणा के मूल में आत्म-शक्ति के प्रति अविश्वास है। इसी से हिन्दू मुसलमानों को सदैव सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और मुसलमान हिन्दुओं से आशङ्कित रहते हैं। मौलाना मुहम्मद-अली ने बिलकुल ठीक कहा है कि अब न तो मुसलमान हिन्दुओं का अन्त कर सकते हैं और न हिन्दू मुसलमानों का। मुसलमानों को अपने मन से यह सन्देह दूर कर देना चाहिए कि हिन्दू केवल अपने लिए स्वराज्य चाहते हैं। हिन्दुओं के साथ व्यवहार करते समय मुसलमान बहुत अधिक कमज़ोर नज़र नहीं आसकते। हमें स्मरण रखना चाहिए कि कमज़ोरों को ही दूसरों के सामने कमज़ोर समझे जाने का डर बना रहता है। सच तो यह है कि आत्म-रक्षा में अपने को असमर्थ समझने ही के कारण लोगों में आशङ्का होती है। पराधीनता कभी किसी जाति को बल नहीं देती। यही नहीं, वह जाति की आशा और आकाङ्क्षा तक को पङ्गु कर देती है।

४—कौंसिलों में स्वराज्य-दल।

स्वराज्य-दल का जन्म एक साल पहले गया की स सभा में हुआ था। इसके पहले भारतवर्ष में दो ही दल माडरेट और एक्सट्रीमिस्ट। महात्मा गान्धी के नेतृ एक्सट्रीमिस्ट दल ने कौंसिलों का बहिष्कार किया परन्तु उसके कुछ नेताओं ने कौंसिल में जाना निश्चय कि उन्हीं का एक नया दल बन गया। उसी का नाम स्वरा दल है। गया में कौंसिलों का बहिष्कार ही स्वीकृत हु परन्तु स्वराज्य-दल ने यह स्पष्ट प्रकट कर दिया कि उस मुख्य उद्देश कौंसिलों में जाना है। देहली में एक्सट्रीमि के दोनों दलों में समझौता हो गया। सभी प्रान्तों स्वराज्य-दल की ओर से कौंसिलों के लिए उम्मेदवार किये गये। निर्वाचन में उसे पूर्ण सफलता हुई, मध्य-प्रान्त के अतिरिक्त किसी भी प्रान्त की कौंसिल स्वराज्य-दल के सदस्यों का निर्विवाद बहुमत नहीं बङ्गाल के गवर्नर लार्ड लिटन ने देश-बन्धु दास को मध्य-प्रान्त के गवर्नर सर फ़्रेक स्लाई ने डाकृर मुञ्जे मिनिस्टरी स्वीकार करने या अपनी इच्छा के अनु मिनिस्टर नियुक्त करने को कहा। परन्तु यह बात दोनों अस्वीकार कर दी। स्वराज्य-दल का कार्य-क्रम कैसा हो इसका निश्चय करने के लिए स्वराज्य-दल ने एक की थी।—"यह समझा जाता है कि स्वराज्य-दलवा ने यह निश्चय किया कि (१) जब तक समस्त राजनै क़ैदी न छोड़े जायँ, (२) दमनकारी क़ानून न उठा जाय, (३) उत्तरदायी प्रान्तिक स्वराज्य न मिल जा (४) मेस्टन-निर्णय पर फिर से विचार न किया जाय (५) स्वराज्य की राष्ट्रीय माँग पूरी न हो जाय तब कोई पद स्वीकार न किया जाय। यह भी निश्चय हुआ यदि हमारी माँगें पूरी न की जायँ तो मिनिस्टरों के की माँग को अस्वीकार कर दिया जाय और बजट पास न किया जाय। यह भी तय हुआ कि गोवध प्रश्न पर न कोई प्रस्ताव पेश किया जायगा और न नियम बनाया जायगा, पर इस प्रकार से कार्य जायगा जिससे हिन्दुओं के दिल को चोट न एक हिन्दू-मुसलिम पैक्ट (समझौता) भी स्वी किया गया। इस समझौते में इस बात का

किया गया कि आबादी के हिसाब से कौन्सिलों में प्रतिनिधित्व रहे। लोकल संस्थाओं में जाति की बहु-संख्या के अनुसार ४० से ६० तक के हिसाब से प्रतिनिधि हों। सैकड़े पीछे २५ सरकारी नौकरियाँ मुसलमानों को दी जायँ। आपस में धार्मिक सहिष्णुता दिखाई जाय और गोवध के विषय में उस समय तक कोई क़ानून न बनाया जाय जब तक ७५ प्रति शतक चुने हुए मेम्बरों की राय उसके पक्ष में न हो। मस्जिदों के सामने जुलूसों में किसी प्रकार का गाना न गाया जाय। मण्डलों में ऐसी कमेटियाँ स्थापित की जायँ जिनमें हिन्दू-मुसलमान बराबर हों और जो हिन्दू-मुसलिम झगड़े का फ़ैसला किया करें।"

कांग्रेस ने स्वराज्य-दल के हिन्दू-मुसलिम पैक्ट को अपने विचार-क्षेत्र से अलग कर दिया, परन्तु जमायत उल उलमा ने कांग्रेस-सब-कमेटी के समझौते और स्वराज्य-दल के पैक्ट, दोनों पर विचार करने के लिए एक उपसमिति नियुक्त की है। कौंसिल-सम्बन्धी समझौता पास हो गया।

कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि जिनका उद्देश देश का कल्याण-साधन ही है उनको अपनी ही रीति के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता देने में कोई विशेष क्षति नहीं है। झगड़ा करना या परस्पर विरोध करना अच्छा नहीं कहा जा सकता। स्वतन्त्र रह कर भी हित-साधन की चेष्टा बुरी नहीं हो सकती। सच तो यह है कि मानव-जाति का कल्याण करने के लिए जिस प्रकार एकता की आवश्यकता है उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि लोग पृथक् होकर भी स्वतन्त्र रीति से चेष्टा करें। बात यही है कि किसी दल को अपने से भिन्न दल के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए। तभी भिन्न भिन्न दल देश का कल्याण कर सकते हैं।

५—अँगरेज़ कर्मचारियों की वेतन-वृद्धि।

भारतवर्ष के भिन्न भिन्न महकमों में ऊँचे ऊँचे उहदों पर अनेक अँगरेज़ काम करते हैं। कितने ही विद्वानों की राय है कि हमारे देश के इन बड़े बड़े उहदेदारों को जितना वेतन मिलता है उतना किसी भी देश के उहदेदारों को नहीं मिलता। दूसरे देशों की कौन कहे, इँग्लेंड तक में यही हाल है। अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष बहुत अर्थ-हीन और वैभव-विहीन है। फिर भी यहाँ बड़ी बड़ी तनख़्वाहें दी जाती हैं। परन्तु अँगरेज़ कर्मचारी अपने वेतन से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनका कहना है कि अब इतने वेतन से काम नहीं चल सकता। उनका ख़र्च बढ़ गया है। उन्होंने अपने वेतन और ख़र्च का ब्योरा इस प्रकार दिया है। आमदनी होती १६२५) और ख़र्च हो जाता है २१५६)। ख़र्च की तफ़सील यों है—प्राविडेंट फंड १४२), बीमे की क़िस्त १००), इनकम टैक्स १२६), मकान का किराया १४२), नौकरों का वेतन २०८), कपड़े आदि १३१), घर-ख़र्च २५०), क्लब का चन्दा ५०), पहाड़ की सैर २५०), लड़कों के पढ़ाने का ख़र्च ५००), गाड़ी घोड़ा ५०), डाक्टर ५०), फुटकर १५०)। कुल २१५६) हुए। आमदनी कम और ख़र्च अधिक, तब काम भला कैसे चल सकता है। अतएव सरकार ने उनकी वेतन-वृद्धि की मीमांसा करने के लिए एक कमीशन नियुक्त की है। प्रायः सभी भारतीय पत्रों ने इस वेतन-वृद्धि का विरोध किया है। इसी के सम्बन्ध में माडर्न रिव्यू के सम्पादक ने अपनी जो राय दी है वह नीचे दी जाती है—

गत महायुद्ध का एक परिणाम यह हुआ है कि सभी देशों में जीवन की सभी आवश्यक वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया है। इनकी प्राप्ति के लिए लोगों को अब पहले से अधिक ख़र्च करना पड़ता है। इस अतिरिक्त व्यय की पूर्ति तभी हो सकती है जब लोगों की आमदनी भी अधिक हो। परन्तु हमारे देश में व्यय की मात्रा जितनी बढ़ गई है उतनी उनकी आमदनी में वृद्धि नहीं हुई। ऐसी स्थिति में यह उचित नहीं था कि युद्ध के पहले भारतीयों को जितने टैक्स देने पड़ते थे उनसे अधिक टैक्स उन पर लगाया जाय। फिर भी टैक्स बढ़ाया गया। शासन के ख़र्च में भी वृद्धि हो गई। यह तो स्पष्ट है कि लोगों की आमदनी में वृद्धि नहीं हुई है, क्योंकि यदि लोगों की आमदनी में वृद्धि हुई होती तो टैक्स बढ़ाये जाने पर भी पिछले वर्षों के बजटों में जो कमी दिखलाई गई है वह न रहती और ख़र्च घटाने के लिए कमीशन बैठाने की ज़रूरत भी न पड़ती। ऐसी अवस्था में वेतन-वृद्धि का प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता। परन्तु गवर्नमेंट ने एक कमीशन इसी लिए नियुक्त की है कि वह देश भर में दौरा कर

इस बात की जांच करे कि यह वेतन-वृद्धि हो सकती है या नहीं।

भारत में प्रत्येक व्यक्ति की औसत आमदनी कितनी है, इसका अन्दाज़ा लगाने में सरकार की ओर से यह कहा जाता है कि उनकी औसत आमदनी अधिक से अधिक १००) है। भारतीय विद्वानों की राय है कि यह अन्दाज़ा बिलकुल ग़लत है। फिर भी हम मान लेते हैं कि सरकारी अन्दाज़ा ही ठीक है। तो भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह औसत आमदनी ही है। कुछ लोगों की आमदनी इससे अधिक होगी और कुछ की कम। भारत में दरिद्रों ही की संख्या अधिक है। अतएव बहु-संख्यक लोगों की आमदनी १००) से कम ही होगी। अब सरकारी कर्मचारियों के वेतन पर ध्यान दीजिए। चपरासी, डाकहरकारा और कान्स्टेबिल ही सबसे कम तनख़्वाह पाते हैं, परन्तु इनकी भी आमदनी इस औसत आमदनी से अधिक है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि उच्चपदस्थ कर्मचारियों को भारत की जनता से अधिक तकलीफ़ उठानी पड़ती है।

इँग्लेंड में कुछ ऐसे पद हैं जिन पर काम करनेवाले भारतीय पदों पर काम करनेवालों से अधिक वेतन पाते हैं। परन्तु ऐसे पद थोड़े ही हैं। और यदि इँग्लेंड में अधिक वेतन दिया भी जाय तो उसकी तुलना भारतवर्ष से नहीं की जा सकती। इँग्लेंड में प्रति व्यक्ति की औसत आमदनी भारतवर्ष से कम से कम दस गुनी अधिक होगी। जापान से तुलना करके देखिए। जापान में प्रत्येक व्यक्ति की औसत आमदनी भारतीयों से अधिक ही है। परन्तु वहाँ के कर्मचारियों के वेतन भारतीय कर्मचारी की अपेक्षा बहुत कम है। सबसे अधिक वेतन जापान के प्रधान मन्त्री पाते हैं और वह है १२००) महीना। दूसरे मन्त्री तो सिर्फ़ एक हज़ार रुपये महीना पाते हैं। अगर जापान ऐसे वेतन-वाले के द्वारा सुशासित हो सकता है तो क्या भारतवर्ष के लिए असम्भव है? क्या भारतवर्ष में ऐसे योग्य आदमी नहीं मिल सकते जो जापान के कर्मचारी के समान वेतन लेकर काम कर सकें? इँग्लेंड से जो लोग आते हैं उन्हें भारतीय कर्मचारियों से २५) फ़ी सदी अधिक वेतन देना चाहिए।

९----शिक्षा की व्यवस्था।

ग्रेट ब्रिटेन में बहु-संख्यक शिक्षा-संस्थायें हैं। यही नहीं विभिन्न-विषयक शिक्षा-संस्थाओं का भी वहाँ बाहुल्य है। इस सम्बन्ध में भी यह देश सम्भवतः संसार में स आगे है। ग्रेट ब्रिटेन में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए सरका पद्धति के स्कूल जारी ही हैं, भिन्न भिन्न श्रेणी के माध्यमि शिक्षा प्रदान करनेवाले स्कूल भी चल रहे हैं, जीविको-पार्जन की शिक्षा देनेवाले तथा ऐसे कालेज भी खुले हु हैं जिनमें विभिन्न विज्ञानों की शिक्षा प्रदान की जाती है। प्राचीन काल के स्कूल तथा विश्वविद्यालय भी अप ऐतिहासिक गौरव की रक्षा करते हुए अपना कार्य अल कर रहे हैं। स्थानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लि अगणित आधुनिक विश्वविद्यालय अपने क्षेत्र का का अलग सम्पादन कर रहे हैं। वे आरम्भिक स्कूल जिनक पाठ्यक्रम अपने से ऊँचे दर्जे के स्कूलों की आवश्यकता अनुसार निर्धारित है, किंडरगार्टेन स्कूल, बच्चों के स्कूल जिनमें फ़ोबेल और मैडम मान्टीसारी की विधि का प्रयोग बच्चों के मस्तिष्क को जाग्रत करने के लि पूर्णरूप से किया जाता है, अपना अपना काम यथा-विधि कर रहे हैं।

अतएव ग्रेट ब्रिटेन में शिक्षा-संस्थाओं का विस्तृत है। अपनी सन्तान की शिक्षा के लिए कोई भी कैसा ही स्कूल चुन सकता है। जिस विषय की शिक्षा दि दिलानी हो उस विषय की शिक्षा देनेवाला स्कूल ग्रेट ब्रिटेन में सुलभ है। अतएव लोग वहाँ अपनी सन्ता को मनमाने स्कूल में भर्ती करके अपने कर्तव्य से छु पा जाते हैं। इस प्रकार वे अपने सन्तान-सम्बन्धी उत्त दायित्व को एक दूसरे व्यक्ति के सिर पर लाद कर स्व अलग हो जाते हैं। वे अपनी सन्तान की मानसिक उन्न तथा उन्हें सदाचारी बनाने का भार अध्यापक पर ला देते हैं।

एक लेखक का कहना है कि उपर्युक्त शिक्षा-प्रणा के प्रचार से एक नई समस्या उठ खड़ी हुई है। ब और नवयुवकों के हितों के बीच में एक खड्ड बन ग है। अँगरेज़-बच्चों का अपना जीवन ही अलग निर्मित हो गया है। उनके इस नये जीवन से उनके माता-पिता

का ज़रा भी सम्पर्क नहीं रहता। ये स्वतन्त्रता के साथ या तो आराम से अपना समय विताते या धन पैदा किया करते हैं।

यद्यपि अमरीका के संयुक्त-राज्य में भी उपर्युक्त ही हाल है तो भी वहाँ पिछले बीस वर्षों में बहुत अधिक उन्नति हो गई है। वहाँ ऐसी संस्थायें काम कर रही हैं जिनमें माता-पिता की शिक्षा की व्यवस्था की गई है। इन संस्थाओं के ये उद्देश हैं—१ बच्चों और नवयुवकों के चारों ओर ऐसी परिस्थिति बनाये रहना जो उनकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप हो; बच्चों के स्वभाव को परखना तथा उन प्रश्नों को जानना जिनका सम्बन्ध घर में तथा अन्यत्र बच्चों के समुचित निरीक्षण से रहता है; माता-पिताओं; अध्यापकों तथा दूसरे लोगों को एक स्थान में एकत्र करना; जिन स्कूलों में आवश्यक हो उनमें किंडरगार्टन शिक्षा की व्यवस्था करना; स्वास्थ्य, सदाचार, खेल-कूद की सुविधाओं, बच्चों के खेल-घरों और माताओं की पेंशन के विचार से सर्वसाधारण की भलाई के काम करना।

उपर्युक्त ढङ्ग का सङ्गठन कोलम्बिया के विश्वविद्यालय में किया गया है। वहाँ माता-पिताओं को शिक्षा प्रदान करने का काम बराबर हो रहा है। इसके सिवा संयुक्त-राज्य के शिक्षा-ब्यूरो ने माता-पिताओं को घर बैठे शिक्षा-प्रदान करने की व्यवस्था कर दी है। उसने इस विधि की शिक्षा के लिए बीस पुस्तकों का एक पाठ्य-क्रम नियत कर दिया है। अपनी सन्तान की उन्नति के सम्बन्ध में किसी माता-पिता को क्या जानना चाहिए, इसकी न्यूनाधिक विवेचना इन पुस्तकों में आ गई है। इन पुस्तकों के अध्ययन करनेवाले को सरकार परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर सनद भी प्रदान करती है।

उपर्युक्त संस्था-सम्बन्धी आन्दोलन इँग्लेंड में भी खड़ा हुआ, पर उसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। मोटमौवल लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने के लिए लेडी इर्लें इस समय बड़ा प्रयत्न कर रही हैं। उन्होंने डे-नर्सरी की नेशनल असोसियेशन में माता-पिता के शिक्षण-सम्बन्धी व्याख्यानों का प्रबन्ध किया है। इन व्याख्यानों में बचपन से लेकर युवावस्था तक बच्चों की शारीरिक तथा मनोविज्ञानात्मक उन्नति-विषयक विवेचना विशेष रूप से रहती है। गत वर्ष पेरेंटस् असोसियेशन नामक जो संस्था स्थापित हुई थी उसके जैसे ही उद्देश इसके भी हैं। सरकारी तथा ख़ानगी सेकेंडरी स्कूलों में सयानी लड़कियों को इस प्रकार शिक्षा देने से बड़ा लाभ है। क्योंकि माता-पिताओं को अपना उत्तरदायित्व यथा-सम्भव स्कूल-मास्टर को सौंप देना अब वाञ्छनीय नहीं है। निपुण से निपुण स्कूल-मास्टर किसी लड़के को शिक्षित बनाने के लिए माता-पिता के उत्तरदायित्व को पूर्णरूप से ग्रहण नहीं कर सकता। कभी कभी तो माता-पिता की उदासीनता से उसके कार्य में घोर बाधा भी पड़ जाती है। स्कूलों में ऐसे कितने लड़के पढ़ने आते हैं जिनके घरों में विद्या का मूल्य समझा जाता है? अधिकांश माता-पिता अपने बालकों की शिक्षा के लिए कोई ख़ास राय नहीं रखते। वे चाहते हैं कि हमारे लड़के कुछ उपयोगी बातें सीख जायँ जिससे वे संसार में अपनी गुज़र-बसर करने में समर्थ हों। जिन घरों में जो थोड़ा बहुत विद्या-विषयक प्रोत्साहन लड़कों को मिलता है वह बेकार सा है। प्रायः लड़के भी स्कूल के काम को सुखमय जीवन का बाधक समझते हैं। उसे वे आदर्श मान कर नहीं किन्तु आवश्यक समझ कर करते हैं। पढ़ने योग्य पुस्तकों के पढ़ने के लिए वे बहुत कम उत्साहित किये जाते हैं। उनमें रद्दी उपन्यासों, सामयिक पत्रों और उन पुस्तकों का प्रचार है जिनमें हुनर, बनाव-श्रृङ्गार और फ़ज़ूल बातों का ही वर्णन रहता है। इस प्रवृत्ति से उन्हें अलग रखना शिक्षक की शक्ति के बाहर की बात है। निस्सन्देह माता-पिता सभी काम नहीं कर सकते और न उनसे इसकी आशा ही की जा सकती है। परन्तु वे अपने घर में लड़कों में विद्या के बनावटीपन से घृणा तथा आलस्य से तिरस्कार का भाव उत्पन्न करने का काम भले प्रकार कर सकते हैं। घर की परिस्थिति का प्रभाव बालक पर पड़ना स्वाभाविक ही है।

७—स्वर्गीय रायसाहब गोविन्दलालजी पुरोहित।

स्वर्गीय रायसाहब गोविन्दलालजी पुरोहित का चरित नवम्बर की सरस्वती में प्रकाशित हो चुका है। अन्यत्र उनका चित्र दिया जाता है।

विमर्श-विचार

१--नाटक और अभिनय।

हिन्दी में अच्छे नाटक कम हैं, उनके खेलनेवाले भी अधिक नहीं हैं। उनमें योग्यता भी कम होती है। इसी लिए नाटकों की आलोचना में समालोचक अभिनय पर ध्यान नहीं देते। अँगरेज़ी-पत्रों में नाटकों के अभिनय पर विशेषज्ञों के लेख निकलते रहते हैं। वहाँ नाटकों की सफलता रङ्गभूमि में ही देखी जाती है। हमें हर्ष है कि बाबू कालिदास कपूर ने इसी दृष्टि से नवम्बर की सरस्वती में हिन्दी के कुछ नाटकों की समालोचना की है। यहाँ हमें उसी के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना है।

नाटकों की सफलता के लिए अच्छे नाटककार की ज़रूरत है और अच्छे नटों की भी। बुरे नट अच्छे नाटक को बुरा बना देते हैं परन्तु अच्छे नट बुरे नाटक को अच्छा नहीं बना सकते। नाटक के अच्छा होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके पद्य कवित्व-पूर्ण हैं। कितने ही नाटकों में कोरी तुकबन्दी की भरमार होने पर भी उनका अभिनय सफलतापूर्वक किया जा चुका है। इसके विपरीत टेनीसन और ब्राउनिंग के कवित्व-पूर्ण नाटकों को इँग्लैंड के सर्वश्रेष्ठ नट भी सफलता से नहीं खेल सके।

हिन्दी में कई नाटक लिखे गये हैं। बाबू कालिदास कपूरजी की सम्मति है कि वे नाटक नाटक नहीं कहे जा सकते। उनमें अभिनय के योग्य एक भी गुण नहीं है। किसी किसी को पढ़ कर बाबू साहब को यह सन्देह हुआ था कि उसके लेखक ने कोई नाटक देखा भी है या नहीं। देखते तो जान जाते कि अभिनय के योग्य नाटक कैसे लिखे जाते हैं।

हमें न नाट्यशास्त्र का ज्ञान है और न नाट्यक का। अँगरेज़ी के कुछ ऐसे नाटक हमने पढ़े अवश्य जिनका अभिनय, विद्वानों की राय में, सफलतापूर्वक कि जा सका है। अतएव हमने सोचा कि हिन्दी के इ नाटकों में ऐसी कौन सी बात है जिसका अभिनय न किया जा सकता। पहली बात दृश्यों की है। क्या इन दृश्य ऐसे अस्वाभाविक हैं कि उनका प्रदर्शन ही न सके? आज-कल रङ्ग-भूमि पर सभी तरह के दृश्य दिखला जा सकते हैं। रङ्ग-भूमि पर मनुष्यों का वध होता है सती-दाह का दृश्य दिखलाया जाता है, सर्प, हाथी, घो आदि दिखलाये जाते हैं, पहाड़, नदी, झरने भी ज्यों त्यों बतलाये जाते हैं। हमारी तो यह धारणा है कि लेखक ऐसे किसी दृश्य की कल्पना नहीं कर सकता जो रङ्ग-भूमि में भी न दिखाया जा सके। ज़मीन फटती है और उसमें से आदमी निकलता है। तालाब है, उसमें कम खिले हुए हैं, एक कमल फटता है और उसमें से श्रीकृष्ण निकलते हैं। इँग्लैंड के स्टेज-मैनेजर तो स्वाभाविक लाने के लिए प्राकृतिक वस्तुओं और जन्तुओं तक का प्रबन्ध करते हैं। हमने हिन्दी के नाटकों में ऐसा कोई दृश्य नहीं पाया जिसके लिए रङ्ग-भूमि में प्रबन्ध न कि जा सके। अब रहा पात्रों की बातचीत और कथा-भाग यह कहा जा सकता है कि एक एक पात्र की बातची में इतना समय लग जाता है कि दर्शक ऊब सकते हैं अँगरेज़ी में बर्नार्ड शा के नाटकों की बड़ी तारी है। दर्शक उन्हें देखने के लिए टूट पड़ते हैं परन्तु उनके नाटकों के दृश्य न तो छोटे होते हैं और न पात्रों की बातचीत का तांता ही बन्द होता है

घटना कम और बातचीत अधिक रहती है। कथा-भाग के विषय में तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सङ्ग्राम के समान दो एक नाटकों का कथा-भाग ऐसा नीरस नहीं है। कभी कभी घरेलू दृश्यों को दिखलाना भी कठिन हो जाता है। परन्तु रवीन्द्र बाबू के डाकघर का अभिनय सफलता से किया जा चुका है। उससे अधिक घटना-शून्य, सरल दैनिक जीवन का चित्र किसी दूसरे नाटक में कम मिलता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि इनका अभिनय सफल नहीं हो सकता।

हमारी समझ में रङ्ग-भूमि में नाटक की सफलता लोक-रुचि पर निर्भर है। जहाँ लोग ऊटपटाँग तमाशा देखने से ही आनन्द पाते हैं वहाँ किसी भी अच्छे नाटक का अभिनय सफल नहीं हो सकता। कहा जाता है कि युद्ध के समय में इँग्लेंड में बर्नार्ड शा के नाटक भी दर्शकों का चित्त नहीं खींच सके। यदि हम चाहते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक हों और उनका अभिनय अच्छा हो तो हमें लोक-रुचि को परिष्कृत करना होगा। जब दर्शक शिक्षित होंगे, नट शिक्षित होंगे, तब हीन श्रेणी का नाटक लिखने तक का कोई साहस नहीं करेगा। जब तक साधारण जनता में शिक्षा का अभाव है तब तक नाटक-मण्डली भी ऐसे ही भद्दे नाटक खेलेगी जिनसे उसके दर्शकों का मनोरञ्जन हो।

रामचन्द्र गोपाललाल दुबे

२—रागिणी का अनुवाद।

नवम्बर की 'सरस्वती' में 'साहित्य-निर्माण और मौलिकता' नामक टिप्पणी में आपने 'रागिणी' के अनुवाद पर आपने जो विचार प्रकट किये हैं, मैं सिद्धान्त-रूप से उनका क़ायल हूँ। परन्तु 'रागिणी' में न तो कोई सामाजिक समस्या ही है और न उसके किसी भी पात्र के स्वभाव में प्रान्तीय विशेषता है। मेरी राय में रागिणी के हर एक पात्र के स्वभाव में भारतीयता है—महाराष्ट्रीय स्वभाव की विशेषता किसी में भी नहीं है। इसी लिए कुछ पात्रों के नामों और कुछ स्थानों के नामों में परिवर्तन कर देने में मुझे कोई दोष नहीं दिखाई देता। मराठी 'रागिणी' को पढ़कर भी न तो कोई महाराष्ट्र-जीवन की विशेषता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, न व्यक्तिगत स्वभाव को जान सकता है। लेखक के मराठी-भाषी होने के कारण ही पात्रों के नाम और पुस्तक की भाषा मराठी रखनी पड़ी है। मेरा ख़याल है कि आपने शायद मूल मराठी पुस्तक को नहीं देखा है। उसके देखने पर आप की धारणा बहुत कुछ बदल जायगी।

मेरी राय में दूसरे प्रान्त अथवा देश की भाषाओं के उपन्यास-नाटक के अनुवाद में दो दृष्टियाँ प्रधान रहती हैं—एक तो पुस्तक का विशिष्ट आदर्श अथवा विशेषता या निरालापन और दूसरे सामाजिक जीवन का ज्ञान। पहली बात की प्रधानता रखनेवाले उपन्यासों में नामान्तर और स्थलान्तर करने से सहसा कोई दोष उत्पन्न नहीं होता। दूसरे प्रकार के उपन्यासों के लिए आपका कहना बिलकुल ठीक है। यों तो उपन्यास में समाज का चित्र रहता ही है, पर रागिणी में यही विशेषता है कि एक प्रान्तीय भाषा में होते हुए भी उसके पात्रों के स्वभाव में सर्व-सामान्य भारतीयता है।

हरिभाऊ उपाध्याय

पुस्तक-परिचय

१—संस्कृत के दो ग्रन्थ—(१) सिन्दूरप्रकर— विक्रम के तेरहवें शतक में सोमप्रभ सूरि नाम के एक जैनाचार्य्य हो गये हैं। वे महा पण्डित थे। सुमतिनाथचरित, कुमारपाल-प्रतिबोध आदि कई ग्रन्थ उनके रचे हुए पाये जाते हैं। उनकी एक रचना का नाम शतार्थ-काव्य है। वह एकश्लोकमयी है। पर उस एक ही श्लोक के सौ अर्थ होते हैं। इसलिए इन आचार्य्य महाशय का नाम शतार्थिक भी पड़ गया है। प्रस्तुत पुस्तक सिन्दूरप्रकर अथवा सूक्तिमुक्तावली उन्हीं की रचना है। इसमें नीति-परक सरल और प्रासादिक संस्कृत-भाषा में एक सौ श्लोक हैं। वे सब देवनागरी-लिपि में हैं। कविता बड़ी सरस है। तद्गत शिक्षा और रचना-चातुर्य भर्तृहरि के नीति-शतक के सदृश है। एक उदाहरण—

असत्यमप्रत्ययमूलकारणं
कुवासनासद्म समृद्धिवारणम्।
विपन्निदानं परवञ्चनोर्जितं
कृतापराधं कृतिभिर्विवर्जितम्॥

पुस्तक में संस्कृतश्लोकों का गुजराती-अनुवाद भी है। पुस्तक का आकार छोटा और पृष्ठ-संख्या ६४ है। मूल्य ५ आने हैं। प्रकाशक—मावजी दामजी शाह, हीरालाल अमृतलाल की बाड़ी, घाटकोपर, बम्बई से पुस्तक मिल सकती है।

(२) साधुशिक्षा— इसका आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या १५० के ऊपर और मूल्य ॥) है। ऊपर जिल्द चढ़ी है। यह एक प्राचीन पुस्तक का एक प्रकरण-मात्र है। मु पुस्तक का नाम है अध्यात्म-कल्पद्रुम। उसका विषय, पु के नामानुसार, आध्यात्मिक है। उसके रचयिता जैना मुनिसुन्दर सूरि कहे जाते हैं। वे विक्रम की पन्द्र शताब्दी में विद्यमान थे। उनके उस ग्रन्थ में १६ अधि हैं। एक अधिकार का नाम है साधुशिक्षा। प्रस्तुत पु में उसी एक अधिकार का सङ्ग्रह है। मूल श्लोक सं में हैं; नीचे उनका विस्तृत भावार्थ हिन्दी में है; और अनन्तर उस श्लोक की विशेषताओं का भी विवेचन है इसमें सूरिजी ने जैन साधुओं की ख़ूब ख़बर ली है। उ दोषों का ख़ूब उद्घाटन किया है। साथ ही साधु कि कहते हैं—उसमें क्या क्या गुण होने चाहिए—इसका निदर्शन किया है। जैनेतर भी इससे लाभ उठा सकते हैं हिन्दी-अनुवाद भिक्षु तिलकविजयजी ने किया है पञ्जाबी होने के कारण आपकी हिन्दी बहुत सदोष है, भावार्थ समझ में अच्छी तरह आ सकता है। आरम्भ ४ फोटो-चित्र भी हैं। मिलने का पता—आत्म-तिल ग्रन्थ सोसायटी, भारत-जैन-विद्यालय, पूना।

२—हिन्दी के नये काव्य— हिन्दी में नये कवियों के नये नये ग्रन्थ तो प्रकाशित हो ही रहे हैं पुराने कवियों की पुरानी कविताओं के भी नये सङ्ग्रह प्रकाशित हो रहे हैं। जान पड़ता है कि कवि की ओर पाठकों की प्रवृत्ति बढ़ रही है, क्योंकि पुस्तक-प्रकाशक इन पुस्तकों को ख़ूब अच्छे ढङ्ग से निका

रहे हैं। छपाई सफ़ाई सभी की अच्छी होती है। नीचे कुछ पुस्तकों का परिचय दिया जाता है—

सुमन—यह पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुछ संस्कृत और कुछ हिन्दी पद्यों का सङ्ग्रह है, और इसे साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी ने प्रकाशित किया है। हिन्दी-साहित्य में द्विवेदीजी की सभी रचनायें आदरणीय हैं। अतएव उनकी कविताओं का यह संग्रह भी आदर का पात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से द्विवेदीजी की इन कविताओं का बहुत बड़ा महत्त्व है और, जैसा कि भूमिका में लिखा गया है, "हिन्दी में बोल चाल की भाषा का जो स्रोत आज-कल उमड़ रहा है और कविता-गत भावों में जो परिवर्त्तन दिखाई दे रहा है उसका उद्गम और मार्ग-निर्देश इन रचनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता।" यह तो है ही, किन्तु कविता-प्रेमियों के लिए भी इसमें मनोरञ्जन की सामग्री है। मूल्य १)।

भारत-गीत—यह ग्रन्थ गङ्गा-पुस्तक-माला का छठा पुष्प है, और पं० श्रीधर पाठक द्वारा लिखित कुछ देश-सम्बन्धी गीतों का सङ्ग्रह है। कहीं ब्रज भाषा, कहीं कठोर संस्कृत, और कहीं खड़ी बोली में अनेक ललित पद लिख कर कवि ने अपनी पद-विन्यास-चातुरी की प्रसिद्धि को खूब निबाहा है। इसके कोई कोई गीत तो बहुत सुन्दर हैं। हमारा विचार है कि कवि के उन गीतों में अधिक सरसता, अनुभव-शीलता और माधुर्य्य है जिनका सम्बन्ध स्वराज और 'भारत' से कम है। राष्ट्रीय गीतों में, जैसा भूमिका-लेखक का कहना है, 'जय जय प्यारा भारत देश' गीत सरल और सुन्दर है, और सार्वजनिक उत्सवों में प्रायः उसका प्रयोग भी होता है। मूल्य ॥=).

अनामिका—यह काव्य श्रीयुत सूर्य्यकान्त द्वारा रचित और श्रीयुत नवजादिकलाल श्रीवास्तव, २३ शङ्कर घोष लेन, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ का 'अनामिका' नाम रखना बहुत सार्थक हुआ है, क्योंकि इसकी कविता के छन्द का नाम नहीं है और, जैसा कि पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने कहा है, "हिन्दीवालों में ९० फ़ी सदी इस छन्द को अच्छी तरह पढ़ भी न सकेंगे"। परन्तु हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि हमारे कवियों और लेखकों का इस प्रकार का प्रयत्न प्रशंसनीय है। इस दशा में यदि हम यह कहें कि लेखक की कृति से हमें सन्तोष नहीं हुआ तो उसका मतलब यही है कि हमें इसमें पूर्णता नहीं दीखती। कहीं कहीं लेखक ने खूब लिखा है—

"पाये हैं इसने गुण सारे माँ सुमित्रा के
वैसा ही सेवा-भाव वैसा ही आत्मत्याग,
वैसी ही सरलता, वैसी ही पवित्र कान्ति
मान-हानि होती देख वैसा ही आत्मगौरव,
त्रुटि पर ज्यों बिजली सी टूटतीं सुमित्रा माँ
शत्रु पर त्यों सिंह सा झपटता है लखनलाल,
देखा नहीं कोप इसका परशुधर-प्रसङ्ग में
अथवा वन-गमन समय? किंवा जब आये भरत
चित्रकूट पर्व्वत पर?"

इस अवतरण में अच्छा प्रवाह है, भाषा भी सरल है। "जूही की कली" भी अच्छी है। चौथी कविता, जिसमें राम लक्ष्मण को प्रलय के सम्बन्ध में समझाते हैं कोरा व्याख्यान सा हो गया है। मूल्य नहीं लिखा है।

पद्य-पयोनिधि—यह पुस्तक श्रीयुत विद्याभूषण 'विभु' की कविताओं का सङ्ग्रह है, और कला-कार्य्यालय, प्रयाग द्वारा काशित हुई है। पुस्तक के साथ साथ हमें एक काग़ज़ भी मिला है जिसमें अनेक साहित्य-मर्म्मज्ञों की सम्मतियाँ प्रकाशित की गई हैं। किसी को उसमें "प्राकृतिक सौन्दर्य्यनिर्म्माण का सफल प्रयत्न" दिखलाई पड़ा है तो किसी को "भावुकता, नैसर्गिक निरीक्षण तथा वाङ्लालित्य" आदि गुणों की व्यापकता। किसी सम्मतिदाता को उसमें "आज कल के नवीन नवीन लेखकों की भाषा से बहुत ऊँचे दरजे की भाषा" दीख पड़ी है तो किसी की समक्ष में वह "काव्य-महोदधि का एक अमूल्य रत्न है"। हिन्दी-साहित्य के महारथियों को क़िले के चारों ओर खड़ा करके 'विभु' महाशय ने अच्छी मोरचाबन्दी कर ली है परन्तु इससे उनकी रचना की शिथिलता दूर होने की नहीं। यहाँ इसका एक ही वाक्य उद्धृत कर देना यथेष्ट है।

लेखक ने लिखा है:—

आज पा त्रास वही बेटा
हो गया नाश वही बेटा

इसका अन्वय करने पर बड़ा सुन्दर वाक्य बनता है "वही बेटा वही बेटा आज त्रास पा नाश हो गया।" मूल्य ॥)।

श्रीराघव गीत—इस ग्रन्थ के लेखक स्वर्गीय पं० प्रयागनारायण मिश्र और प्रकाशक साह मदनमोहन, लक्ष्मण-साहित्य-भाण्डार, लखनऊ, हैं। यह कविता व्रजभाषा में लिखी गई है और इसमें श्री रामचन्द्र का चरित्र गीतों में वर्णित हुआ है।

इसमें क्या है, यह कवि के ही एक दोहे से प्रकट हो जाता है।

वेई प्रभु, सोई कथा, कविता अलप हमार।
ठाकुर घर घर एक हैं, अपन अपन शृङ्गार।
मूल्य ।)।

गिरिजादत्त शुक्ल

३—**अञ्जना**—आज-कल जितने उच्च कोटि के नाटक हिन्दी में मिलते हैं, उनमें से अधिकांश अन्य भाषाओं के नाटकों का अनुवाद है। एक तरह से ऐसे उच्च कोटि के मौलिक नाटकों का यहाँ अभाव ही है। इने गिने लेखकों ने इस अभाव को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया है और वे अपने यत्न में सफल भी हुए हैं। हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध गल्प-लेखक श्रीयुत सुदर्शन ने भी एक मौलिक नाटक लिख कर मौलिक नाट्य ग्रन्थों की संख्या में वृद्धि की है। यह नाटक अंजना है। जैन ग्रन्थों के अन्तर्गत अंजना और पवन की जो कथा पाई जाती है उसी को श्री सुदर्शनजी ने एक सुन्दर नाटक का रूप दिया है। कथा-भाग को रोचक बनाने में उन्होंने ज़रा भी कोर-कसर नहीं रख छोड़ी है। पात्रों का चरित्र-चित्रण भी ऐसी खूबी से किया गया है जो हिन्दी के कई मौलिक नाटकों में नहीं पाया जाता। हमारी राय में यह नाटक रङ्गभूमि में सफलतापूर्वक खेला भी जा सकता है और दर्शकों को यथेष्ट मनोरञ्जन दे सकता है। इसमें स्थान स्थान पर जो गीत दिये गये हैं वे भी मधुर और सरस हैं। इस नाटक को लिख कर श्रीयुत सुदर्शन ने हिन्दी की सेवा ही नहीं वरन उपकार भी खूब किया है। यह हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर सिरीज़ का ५५ वाँ ग्रन्थ है। पृष्ठ-संख्या २८८, मूल्य सुन्दर जिल्द सहित १॥=)। मिलने पता—हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, हीरा बाग़, पो गिरगाँव, बम्बई।

४—गंगा-पुस्तक-माला २६-३० अमीनाबाद पार्क, लखनऊ की चार पुस्तकें—

(१) **उद्यान**—लेखक, श्रीयुत शङ्कर राव जोशी आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या २०४ और मूल्य ॥।=) है।

उद्यान—विद्या-विषयक हिन्दी में अपने ढङ्ग की अच्छी पुस्तक है। यह विषय कार्यरूप में जितना मनोरञ्जक है, उतना ही गम्भीर भी है। लेखक ने नागपुर कृषि-विद्यालय में इस विषय का अध्ययन किया है और अँगरेज़ी, गुजराती, मराठी तथा हिन्दी-उर्दू में लिखी गई कतिपय उद्यान-विषयक पुस्तकों का अवलोकन करके इसे लिखा है। इस पुस्तक का कुछ अंश 'माधुरी' नामक मासिक पत्रिका में भी निकलता रहा है। उद्यान-सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों की विवेचना इसमें पर्याप्त रूप से की गई है। यत्र तत्र चित्र भी दिये गये हैं, जिनसे उन उन विषयों के समझने में और भी अधिक सुविधा हो गई है। पुस्तक उपयोगी है, उद्यान-प्रेमियों के काम की है।

(२) **भारत की विदुषी नारियाँ**—सङ्कलनकर्त्री श्रीमती कृष्णकुमारी, आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या और मूल्य ॥) है।

इसकी रचना इसी सम्बन्ध की एक बँगला-पुस्तक के आधार पर हुई है। वैदिक काल से लेकर वर्तमान सम तक भारत में जितनी विदुषी स्त्रियाँ हुई हैं उनमें ४१ विदुषी स्त्रियों का परिचय इस पुस्तक में दिया ग है। इनमें कुछ का नामोल्लेख है और उनका पद्य भर दे दिया गया है। यह इस पुस्तक का पह भाग है। अभी इसके तीन भाग और निकलेंगे। पु साधारणतः अच्छी है, स्त्रियों के मतलब की है।

(३) **बहता हुआ फूल**—यह उपन्यास गङ्गा-पुस्तक माला का २६ वाँ फूल है। यह श्रीयुत चारुचन्द्र बी० ए० के मूल बंगला उपन्यास का अनुवाद है। अनुवाद-क हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पंडित रूपनारायण पांडे

कविरत्नजी हैं । पृष्ठ-संख्या ४४६ और मूल्य बिना जिल्द के २) है ।

श्रीयुत चारुचन्द्रजी वंगभाषा के अच्छे उपन्यास-लेखक हैं । उनके कई उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में हो चुका है । यह ख़ुशी की बात है कि उनके इस उत्कृष्ट उपन्यास का भी अनुवाद गङ्गा-पुस्तक-माला ने प्रकाशित किया है । इसका कथा-भाग तो मनोरञ्जक है ही, इसमें मनुष्य-स्वभाव का चित्र भी देखने को मिल जाता है ।

(४) **सम्राट् चन्द्रगुप्त**—लेखक, पण्डित बालमुकुन्द गुप्त, मूल्य ।) है । यह मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त का संक्षिप्त जीवन-चरित है । साथ ही उसके शासन-प्रबन्ध का भी वर्णन है । भाषा सरल और वर्णन स्पष्ट है । पुस्तक अच्छी है । उपर्युक्त कार्यालय की चवन्नी ग्रन्थ-माला की यह दूसरी पुस्तक है ।

५--हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी, १२६, हरिसन रोड, कलकत्ता की तीन पुस्तकें--

(१) **आकृति-निदान**--अनुवादक, पण्डित जनार्दन भट्ट एम॰ ए॰, आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या २२ + १०३, और मूल्य १।) है ।

यह पुस्तक जल-चिकित्सा-विधि के प्रवर्तक प्रसिद्ध जर्मन डाक्टर लूई कूने के मूल ग्रन्थ का अनुवाद है । इसका अनुवाद पण्डित जनार्दन भट्ट, एम॰ ए॰ ने किया है । इसमें आकृति से रोगों के निदान की विवेचना की गई है । यथास्थान उपयुक्त चित्र भी दे दिये गये हैं जिनसे विषय के समझने में पूरी सुविधा हो गई है । जो लोग लूई कूने के अनुयायी हैं अथवा जिन्हें प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली से अनुराग है उनके लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है । अनुवाद सुन्दर और भाषा सरल है ।

(२) **रूस का पञ्चायती राज्य**--लेखक, श्रीयुत प्राणनाथ विद्यालङ्कार; आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या २३५ और मूल्य ॥।) है ।

रूस की बोलशेवी राज्य-प्रणाली की इसमें लेखक ने सूत्र रूप से पूरी विवेचना की है । प्रारम्भ में रूस के बोलशेवी लोगों के उदय तथा तत्कालीन राज्यक्रान्तियों का विवरण दे देने से पुस्तक मनोरञ्जक तथा अधिक उपयोगी हो गई है । इसके अनुशीलन से रूस की वर्तमान शासन-प्रणाली का पूर्ण परिचय हो जाता है ।

(३) **व्यावहारिक पत्र-बोध**--लेखक, श्रीयुत लक्ष्मणदास चतुर्वेदी, आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या १०३ और मूल्य ॥=) है ।

इसमें व्यापारियों को तथा उनके साथ पत्र-व्यवहार करनी आधुनिक रीति बतलाई गई है । भिन्न भिन्न विषयों के पत्रों के उदाहरण देकर आधुनिक प्रणाली का दिग्दर्शन कराया गया है । पुस्तक उपयोगी है ।

६—मराठी की पुस्तकें (१) भारतीय शासन-पद्धति—इस पुस्तक में कोई २०० पृष्ठ हैं । काग़ज़ चिकना, पर टाइप बहुत छोटा है । मूल्य है १½ रुपया । इसे विष्णु पाण्डुरङ्ग नेने ने, अनेक अँगरेज़ी और मराठी पुस्तकों तथा लेखों के आधार पर, लिखा है । आपका पता है– लोकशिक्षण-ग्रन्थावली कचहरी, रावपुरा, बड़ोदा । इससे सूचित हुआ कि लोगों को शिक्षा देने के लिए नेनेजी ने कोई ग्रन्थावलि आरम्भ की है और उसके निकास या प्रकाशन के लिए कचहरी भी खोल रक्खी है । आपकी आज्ञा है कि हम आपकी इस पुस्तक का शीघ्र से शीघ्र अवलोकन (Earliest perusal) कर डालें और शीघ्र से शीघ्र ही अपनी सम्मति भी प्रकाशित करके आपकी सेवा में हाज़िर कर दें । अस्तु । जो हुक्म । पुस्तक के कुछ अंश हमने पढ़ कर देखे तो ज्ञात हुआ कि मराठी भाषा जानने और अँगरेज़ी से परिचय न रखनेवालों के लिए आपकी पुस्तक निःसन्देह उपयोगी है । इस देश का शासन किस तरह किया जाता है । सरकार अँगरेज़ी ने इस निमित्त कौन कौन महकमे खोल रक्खे हैं, उनका काम क्या क्या है, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया और प्रान्तिक गवर्नमेंटों का सङ्गठन किस प्रकार का है—इन्हीं सब बातों का दिग्दर्शन इस पुस्तक में है । पर यह इस पुस्तक का पहला ही भाग है । इससे पुस्तक अभी अपूर्ण है । आगे के भाग या भागों में अवशिष्ट बातें, अभी लिखने को रह गई हैं । अँगरेज़ी में तो ऐसी पुस्तकें अनेक हैं । हिन्दी में भी दो एक पुस्तकें अच्छी निकल चुकी हैं । आश्चर्य है,

मराठी भाषा में अब तक इस विषय की नाम लेने योग्य कोई पुस्तक न थी। सो नेनेजी ने अपनी कचहरी खोल कर उसकी पूर्ति कर दी। ख़ूब हुआ।

(२) **शान्ति-निकेतन-माला**—कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बोलपुरवाले अपने शान्तिनिकेतन में ईश्वर की स्तुति और प्रार्थना भी समय समय पर किया करते हैं और अनति-विस्तृत उपदेश भी दिया करते हैं। उनके उन उपदेश-कुसुमों के मधुप, "पुणे सिटी" के ४८३, "शनवार पेठ" में, कोई सरस्वती-तनय निवास करते हैं। मालूम नहीं, आपका असली नाम यही है, अथवा यह कोई बनावटी नाम है। मराठी-भाषा का रूप देकर इन उपदेशों का प्रचार करने के लिए आपने भी एक कचहरी खोल दी है। उसका नाम है—"शान्तिनिकेतन कचेरी", जैसे बोलपुर के शान्तिनिकेतन का दफ़्र उठ कर पूना चला गया हो। ख़ैर। सरस्वती-तनयजी ने अपनी माला के दो भाग समालोचनार्थ भेजे हैं और लिखा है कि जो "अभिप्राय" देना "उत्तेजन पर" देना और "विस्तृत" भी देना। यही नहीं, उस अभिप्राय को "स्मरणपूर्वक" मेरे पास भेज भी देना। अभी आपकी आज्ञायें ख़तम नहीं हुईं। आपका यह भी हुक्म है कि आपके पास हिन्दी की नामी नामी पत्रिकायें जाती हैं। इससे सरस्वती को भी माला के बदले में भेजा करना। आपकी एक आज्ञा रही गई। वह यह है कि अभिप्राय अगले ही अङ्क में प्रकाशित करना और प्रकाशक का नाम तथा पता देना न भूल जाना। नहीं, साहब, ऐसा कभी हो सकता है। भला नाम और पता भूल जायगा तो माला बिकेगी कैसे? यह तो हुई आपकी आदेश-परम्परा। अब आपकी उदारता की कथा सुनिए। आपने अपनी माला की पुस्तकें दो तरह की तैयार कराई हैं। एक पर कपड़े की जिल्द है, दूसरी पर सिर्फ़ मोटा काग़ज़ है। पहली का मूल्य १।) है; दूसरी का केवल १) रुपया। काम तो आप सरस्वती से इतना लेना चाहते हैं; पर १।) वाली कापियाँ दे डालने तक की उदारता आप में नहीं, इसमें भी आठ आने की किफायत आपने कर ही डाली।

आपकी माला का आकार बहुत छोटा है। काग़ज़ बहुत पतला और टाइप भी बहुत छोटा है। पृष्ठ-संख्या हर भाग की डेढ़ पौने दो सौ के लगभग है। मूल्य आ आपने ख़ूब कस कर रक्खा है। दोनों भागों में रवि का एक एक चित्र है। दूसरे भाग में उनके स्कूल के छा के ग्रूप के भी दो चित्र हैं। पहले भाग में रवि बाबू संक्षिप्त चरित के बाद उनके ३७ उपदेशों का मराठी-भाष न्तर है। दूसरे भाग में स्वराज्य और रवीन्द्रनाथ ता विश्वभारती-संस्था नामक दो लेखों के अनन्तर ६६ उपदे का सङ्ग्रह है। सर्वान्त में कुछ भक्तों की संक्षिप्त उक्ति भी हैं। उपदेशों के सङ्ग्रह में रवि बाबू के भावों का ठी ठीक अनुवाद हुआ है या नहीं, यह बात मराठी औ बँगला-भाषा का यथेष्ट ज्ञान रखने और दोनों का मुक़ा बला करनेवाले ही बता सकते हैं। हम तो केवल इत ही कह सकते हैं कि साधारणतया उपदेश सभी दिव्य हैं

७—**छत्तीसगढ़**—यह एक नया मासिक पत्र है इसके सम्पादक और प्रकाशक हैं पण्डित मनोहरप्रसाद मिश्र, छत्तीसगढ़ कार्यालय, रायगढ़ मध्यप्रदेश। वार्षि मूल्य ३) है। हिन्दी-भाषाभाषी प्रान्तों में छत्तीसगढ़ सब पिछड़ा प्रान्त है। वहीं शिक्षा का प्रचार करने के लि यह पत्र निकाला गया है। हमें विश्वास है कि इस प के द्वारा छत्तीसगढ़ का कल्याण होगा। इसके लिए छत्तीस गढ़ के सभी लोगों को मिश्रजी का कृतज्ञ होना चाहिए मिश्रजी स्वयं सुकवि और सुलेखक हैं। हमें आशा है कि उनके सम्पादकत्व में इस पत्र की उत्तरोत्तर उन्नति होती जाय

तेल की दो शीशियाँ—श्रीयुत गयाप्रसाद मिश्र कटरा, इलाहाबाद ने तेल की दो शीशियाँ भेजने की कृ की है। दोनों शीशियों में दो तरह के तेल हैं। तेलों के नाम हैं **ब्रह्मविलास तैल** और **रमाविलास** तेल प्रत्येक शीशी का मूल्य ॥।) है। तेल सुगन्धित हैं। हमने स्वयं तेलों का उपयोग नहीं किया है। परन्तु हमने इ शीशियों को एक ऐसे व्यक्ति को दे दिया जिनकी राय इ विषय में मानी जा सकती है। उनका कथन है कि ये तेल सचमुच अच्छे हैं। लगाने से तबीयत ख़ुश होती है। ज तेलों के शौकीन हैं उन्हें मिश्रजी की ये शीशियाँ मँग कर एक बार परीक्षा करनी चाहिए। बारह आने अधि नहीं जान पड़ते।

Printed and published by K. Mittra at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

सचित्र मासिक पत्रिका

भाग २५, खण्ड १] फ़रवरी १९२४—माघ १९८० [संख्या २, पूर्ण संख्या २९०

मौन-निमन्त्रण ।

(१)

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;

न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन !

(२)

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार;
दीर्घ भरता समीर निश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार;

न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इङ्गित करता तब मौन !

(३)

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधु-मास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;

न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेसा मुझे भेजता मौन !

(४)

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;

उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन !

(५)

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर
विहग-कुल की कल-कण्ठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;

न जाने, अलस-पलक-दल कौन
खिला देता तब मेरे मौन !

(६)

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुरकुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार;

न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे तब पथ दिखलाता मौन !

(७)

कनक-छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
पिघल, बन जाते हैं गुञ्जार,

न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

(८)

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में, श्रमित अपार,
जुड़ाता जब मैं आकुल प्राण,

न जाने, मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन !

(९)

न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;

अहे सुख-दुख के सहचर मौन,
नहीं कह सकता तुम हो कौन !

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

तीर्थ-रेणु ।

(नीट्शे)

जो प्रचलित संस्कारों के वशीभूत रहते हैं उनमें एक प्रकार की भीरुता, जड़ता आजाती है । उनके भावागार से एक बड़ी रक़म की चोरी हो जाती है ।

कल्पना में ही मनुष्य का कर्तृत्व है। ऐसी अपनी वस्तु उसकी कोई दूसरी नहीं है ।

जो अपने भाव को आकार प्रदान करते हैं, जो अपने सारभाग को स्थायी कर सकते हैं, वे देह अथवा मन की शक्ति के ह्रास से विचलित नहीं होते । उन्हें काल का भय नहीं रहता। उसके आक्रमण को वे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। जब भाण्डार रिक्त है तब यदि चोर उसमें घुस भी जाय तो हानि क्या ?

संसार में जो लोग बड़े कार्यकुशल समझे जाते हैं वही भाव-जगत् में अकर्मण्य होते हैं। वे अपने मन की हीनता को काम के आवरण में छिपा रखते हैं ।

उच्च वंश में जन्म लेने से कम से कम एक लाभ तो होता है । जिनका जन्म किसी बड़े घराने में होता है वे दारिद्र्य में भी अपनी मर्यादा की रक्षा करते हैं ।

जिस देश में उच्च कुलोत्पन्न लोगों का आधिपत्य कम हो जाता है वहाँ शिष्टाचार लुप्त हो जाता है और सौजन्य दुर्लभ हो जाता है । जिस देश के राजा के पारिपार्श्विक उच्च कुल के लोग नहीं होते वहाँ उच्च आदर्श की रक्षा नहीं हो सकती । इसका प्रमाण इतिहास है ।

आधुनिक दण्ड-विधि बड़ी विलक्षण है । उससे न तो अपराधियों की चित्त-शुद्धि होती, न उनके हृदय में प्रायश्चित्त के भाव उदित होते हैं । सच तो यह है कि पाप से मनुष्य जितना कलङ्कित नहीं होता उतना इन संशोधनागारों के कुसंसर्ग से होता है । जो मनुष्य कुकर्म करता है उसे जब सज़ा दी जाती है तब वह दूसरा ही मनुष्य हो जाता है ।

जिनके लिए अनुचर ही बन कर रहना अनिवार्य है उनमें एकाध गुण ऐसा अवश्य होना चाहिए जिससे वे अपने स्वामी के आदर-पात्र हो सकें। वह गुण फिर चाहे जैसा ही हो, चाहे वह सुजनता हो, स्पष्टवादिता हो या वाचालता ही हो, बिना उसके नौकरों का निर्वाह नहीं ।

सदुद्देश को सफलता के पथ पर लाने के लिए असदुपाय का अवलम्बन करना पड़ता है । दूसरी कोई गति नहीं है । स्वार्थ-सिद्धि के लिए मनुष्य जो जो उपाय करता है, ठीक वही उपाय उसे सदुद्देश की पूर्ति के लिए भी करने पड़ेंगे, जैसे हठ, शठता, असत्य, अन्याय, द्वेष और ग्लानि ।

जो ख़ुशामद कर, अपने मन को धोखा देकर, अपनी कार्य-सिद्धि करना चाहते हैं वे बड़े साहस का काम करते हैं। जिसे हम ख़ुश रखना चाहते हैं उसके मन को समझ लेना बड़ा ही मुश्किल है । ख़ुशामद नींद लानेवाली दवा की तरह है । यदि दवा काम कर गई तो ठीक है। नहीं तो नींद उचट जाने पर मनुष्य को पहले से भी अधिक जागना पड़ता है ।

भक्ति या श्रद्धा कहो या कृतज्ञता कहो, ऐसे भाव प्रकट करते समय हमें अपनी आत्म-गरिमा को नहीं भूल जाना चाहिए। जल्दी करने से मन में यही होता है कि हम खोटा काम कर रहे हैं, हीन हो गये हैं और ख़ुशामद कर रहे हैं। कितना ही स्वाधीन-चेता मनुष्य क्यों न हो, कितना ही सच्चरित्र पुरुष क्यों न हो, अपने मन में तो वह समझ ही जायगा कि मैं सत्य के निकट अपराधी हूँ।

जिसमें आत्म-ज्ञान नहीं वह जब पुण्य-कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है तब उसका पुण्य-कर्म भी पाप-कर्म हो जाता है और दोनों का परिणाम एक ही समान भयङ्कर होता है। बाह्य प्रेरणा से जो मनुष्य काम करता है उसके गुणों का विकास नहीं होता। इसके लिए अन्तःकरण की स्वतः स्फूर्ति चाहिए।

यह मेरी कृतज्ञता-पाश से बँधा है, यह भाव मन में आते ही उदारचेता सज्जनों के हृदय में अशान्ति होती है। मैं उसका ऋणी हूँ, यह बात मन में आते ही हीन स्वभाव के मनुष्य को पीड़ा होती है।

जिनकी भोग-लिप्सा अत्यन्त प्रबल है वही कहा करते हैं कि नारी-जाति हमारे जीवन के लिए विघ्न-स्वरूप है। इसी एक बात से उनका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है। जब उनकी असंयत प्रवृत्तियाँ सीमा का उल्लङ्घन कर जाती हैं तभी वे मर मिटना चाहती हैं और तब उन दुर्दमनीय प्रवृत्तियों की तृप्ति के साधनों से मनुष्य घृणा करना सीखते हैं।

प्रेम के इच्छुक पुरुष अपनी कल्पना से स्त्री-जाति को जिस दृष्टि से देखता है, प्रेम के प्रभाव से स्त्री-जाति ठीक वैसी ही हो जाती है। जो सहवास उन्नत नहीं कर सकता वह हमें अवनत ही करेगा इसी लिए विवाह के बाद कितने ही पुरुषों की मानसिक अवनति होती है और स्त्रियों की उन्नति

स्त्रियाँ जिनसे प्रेम करती हैं उन्हें आँख कर चाहती हैं और जिन्हें वे नहीं चाहतीं उन अन्याय करने में भी नहीं चूकतीं। स्त्रियों का विलक्षण होता है। उसमें एक ओर अन्धकार तो दूसरी ओर प्रकाश है, एक ओर दिन है दूसरी ओर रात है।

युद्ध का मुख्य दोष यह है कि वह विजेता गर्विष्ठ बना देता है और विजित को प्रतिहिंसापरा यण। युद्ध का मुख्य गुण यह है कि वह मनुष्य कृत्रिम आवरण को दूर कर उसके स्वाभाविक दोष को स्फुट कर देता है। यही शिक्षा और सभ्य की शिशिर-रात्रि है। इसी लिए युद्ध का अन्त पर मनुष्य में अच्छे और बुरे दोनों तरह के करने की शक्तियाँ प्रबल हो जाती हैं।

अच्छा किसे कहते हैं? जिससे मनुष्य मन में शक्ति बढ़ती जाती है वही अच्छा जिससे शक्ति-सञ्चय की इच्छा जाग्रत होती वही अच्छा है। बुरा किसे कहते हैं? जो दुर्बल से उद्भूत होता है वही बुरा है। सुख क्या है नित्य उन्नतिशील शक्ति की अनुभूति ही सुख है विघ्नों पर विजय पाने का ही दूसरा नाम सुख है

भाव की प्रबलता महत्त्व का चिह्न नहीं है उसका स्थायित्व ही उच्चात्माओं का लक्षण है।

स्त्री और पुरुष दोनों के मन की गढ़न एक है। स्वर दोनों का एक है। भेद यही है कि ऊँचे पर्दे से निकलता है और एक नीचे पर्दे से

परन्तु इसी भेद के कारण उनकी मानसिक भावनाओं की भिन्नता का अन्त नहीं है। दोनों एक दूसरे के सम्बन्ध में सैकड़ों भ्रान्त धारणायें रख कर जीवन को दुर्वह बना डालते हैं।

पहाड़ के शिखर पर हम किस प्रकार चढ़ सकते हैं, यह सोचने का विषय नहीं है। चढ़ाई शुरू कर देनी चाहिए।

नैतिक अनुशासन हमारे भावमय जीवन की साङ्केतिक भाषा है।

जीवित कौन कहा जा सकता है? हमारे शरीर और मन के जो जो अंश नश्वर हैं उनको क्रमशः प्रति मुहूर्त सावधानी के साथ बाहर कर देना ही जीवित रहना है। जो कार्य-क्षेत्र के अयोग्य हैं या जो जरा-जीर्ण हैं उन्हें बिलकुल निर्मम हो कर बाहर निकाल लेने का नाम जीवित रहना है।

जिस व्यक्ति ने अपना आत्म-सम्मान खो दिया है उसकी बात को कोई नहीं मानता। वह कभी नेता होने का दावा नहीं कर सकता।

इच्छा-शक्ति का पक्षाघात बड़ी भयङ्कर व्याधि है। जहाँ सभ्यता बहुत दिनों तक आधिपत्य जमाये चली आती है, जहाँ मत-वैचित्र्य बहुत अधिक बढ़ जाता है वहीं इस रोग का प्रकोप होता है।

आत्म-रक्षा की क्षमता न रहने के कारण जो अपने शत्रु के सामने नहीं खड़े हो सकते उन्हें संसार क्षमा कर सकता है। परन्तु जिसमें शक्ति नहीं है उससे बदला लेने की इच्छा तक जिसको नहीं है वह मनुष्य ही नहीं है। वह सर्वथा घृणा का पात्र है।

पुरुषों की दृष्टि में स्त्री ठीक पक्षी की तरह है जो मानों पथ भूल कर आकाश से च्युत हो गई है। एक ओर तो वह इतनी कोमल है कि वह किसी भी प्रकार का आघात नहीं सह सकती। दूसरी ओर वह इतनी उद्दण्ड है कि वह किसी की भी आज्ञा नहीं मानना चाहती। वह सचमुच माया की बनी है, बिलकुल पक्षी की ही तरह है। इसी लिए, जान पड़ता है, उसे लोग पिँजड़े में बन्द रखना चाहते हैं, जिससे वह पक्षी की तरह एक-दम उड़ कर भाग न जाय।

यह बात अप्रिय हो परन्तु है सच कि अहङ्कार ही महत्ता का मुख्य उपादान है। जो बड़े होनेवाले हैं उन्हें अपने ऊपर यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि सभी लोग उनकी बातों को मानेंगे ही।

अपनी दुर्गति पर जो दुःख प्रकट करता है वह घृणा का पात्र है। यह दुर्बलता का लक्षण है। दुरवस्था में भी जो अपने आत्म-तेज की रक्षा कर सकता है वही मनुष्य है। दुर्दशा में पड़ने पर साधारण मनुष्य अपने को दोष देता है या दूसरे लोगों पर दोष लगाता है। दुर्दशा को सुदशा में परिणत करने की चेष्टा थोड़े ही लोग करते हैं।

यदि गर्व-सहित जीवित रहना सम्भव नहीं है तो गर्व-सहित मर जाना अच्छा है। जो अपने मान का मूल्य समझते हैं वे ऐसा ही करते हैं।

स्वाधीनता का अर्थ क्या है? अपने अपने आचरण के लिए स्वयं उत्तरदायित्व ग्रहण करने की इच्छा ही स्वाधीनता है। अपनी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना ही स्वाधीनता है।

मानव-जाति की भविष्य उन्नति शिक्षा-संस्कार के अनुशीलन पर निर्भर है। हमें स्वास्थ्य-वृद्धि, शारीरिक उन्नति, समाजोद्धार के लिए शिक्षा-

संस्कार का प्रयोग करना पड़ेगा और ज्ञान की वृद्धि करनी होगी। अभी कुछ समय के लिए आत्म-विवेचना धर्म के आचार्यों के ही लिए छोड़ देनी चाहिए।

साम्यवाद से बढ़ कर भयङ्कर विष दूसरा नहीं। जो तुम्हारे लिए योग्य हैं उनके साथ योग्य की ही तरह व्यवहार करना और जो अयोग्य हैं उनसे अयोग्य की तरह सम्बन्ध रखना सर्वथा उचित है। जो स्वभाव से ही असमान हैं उन्हें समान करने की चेष्टा कभी सफल नहीं होती। इससे केवल अनर्थ ही होगा।

जितने धर्मों का इतिहास विद्यमान है उनमें बौद्ध-धर्म ही ध्रुव और चिरन्तन है।

सभी का समान अधिकार है, यह सिद्धान्त असत्य और अन्याय का छद्मवेश है। यदि इसी सिद्धान्त के अनुसार समाज का निर्माण किया जाय तो जो व्यक्ति सचमुच बड़े हैं उन्हें कभी न्यायोचित अधिकार प्राप्त नहीं होंगे।

हम अभी तक भिक्षा माँगते रहे हैं, अब हम भिक्षा देने की योग्यता प्राप्त करेंगे।

विषय-निर्वाचन में ही कवि का विशेषत्व है। शिल्प ही शिल्पी की श्रद्धा प्रकट करने की एक-मात्र भाषा है।

मौलिकता क्या है? जिस सामग्री अथवा भाव का अभी तक नामकरण नहीं हुआ है और जो हमारी दृष्टि के सामने विद्यमान हैं उनको नाम देना ही मौलिकता है। जिसका नाम नहीं है उसे साधारण लोग देखते हुए भी नहीं देखते। नाम के कर्ण-गोचर होते ही वस्तु दृष्टि-गोचर हो जाती है। अधिकांश मौलिकता-विशिष्ट व्यक्ति नाम-करण मे दक्ष होते हैं।

जिनकी मानसिक भावना जितनी अधिक सूक्ष्म और सौन्दर्य-पूर्ण होती है वे विपत्ति के आघात से उतने ही अधिक विकल होते हैं और हानि उठाते हैं। जिनके मानसिक भाव स्थूल होते हैं उन्हें इतनी विकलता नहीं होती। मनुष्य की अँगुली कट जाने पर फिर नहीं निकलती। परन्तु छिपकली की पूँछ कट जाने पर फिर निकल आती है।

जो विपत्ति में रहते हैं वे जीवन की तुच्छ वस्तुओं से भी यथेष्ट आनन्द-रस प्राप्त कर लेते हैं। आग्नेय गिरि की उपत्यका पर नगर वसाओ, दुर्गम समुद्र पर जहाज़-यात्रा करो, विरोध में रहना सीखो, तभी भविष्य सन्तान को कुछ दे सकोगे।

जिनकी स्मरण-शक्ति प्रखर है वे बात कह कर बात रख सकते हैं। जिनकी कल्पना-शक्ति तीव्र है वे दूसरों के दुःख का अनुभव कर सकते हैं। बुद्धि वृत्ति के साथ नैतिक जीवन का ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

धर्म-शास्त्र के अनुशासनों से जिसको जितनी ही अधिक अभिज्ञता है, मनुष्य के प्रति उसकी उतनी ही अधिक घृणा रहती है। नीति-शास्त्र को मान कर चलना मनुष्य-जीवन का अपमान करना है।

मनुष्य के उत्तम कार्यों के मूल में आत्म-विश्वास रहता है। मध्यम कार्यों के मूल में अभ्यास रहता है और हीन कार्यों के मूल में भय होता है।

जिन वस्तुओं से दुर्बलता और ग्लानि होती

है उन सभी को छोड़ने का उपदेश देता हूँ। जो तेज के उद्दीपक और बल के वर्धक हैं उन्हीं को प्राप्त करने की शिक्षा देता हूँ।

आत्म-निहित शक्ति को जाग्रत करने की अनेक रीतियाँ हैं, इसके लिए अनेक उपदेश दिये गये हैं। कुछ उपदेश संयमी, अभ्यस्त व्यक्तियों के लिए हैं और कुछ संयम में अनभ्यस्त व्यक्तियों के लिए हैं। प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों के उपयुक्त व्यवस्था ब्राह्मण-धर्म में है और द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियों के लिए ईसाई-धर्म से व्यवस्था की गई है।

जहाँ सङ्कीर्ण धर्म-विश्वास का अन्त होता है वहीं कला का आरम्भ होता है।

शिक्षा-साधना का श्रेष्ठ फल और मनोरञ्जन का चरम उपादान सङ्गीत है।

अनुवादक, सुशीलकुमार

यामुनाचार्य।

बारहवीं शताब्दी में यामुनाचार्य उपनाम आलवन्दार स्वामी नामक एक बहुत ही विलक्षण साधु दक्षिण में हो गये हैं। श्रीयुत राजम् अय्यर ने अपने "रेम्बल्स इन वेदान्त" नामक ग्रन्थ में इनका चरित्र दिया है। इनके चरित्र से यह बात स्पष्टतया प्रकट होती है कि एक होनहार मनुष्य अपनी प्रतिभा के बल पर क्या क्या नहीं कर सकता। परन्तु परमात्मा का अनुग्रह भी उस पर चाहिए। यामुनाचार्य ने एक साधारण गृहस्थ के घर में जन्म लिया था, पर अपनी प्रतिभा के बल पर, ईश्वर के अनुग्रह से, उन्होंने राज्य-पद प्राप्त किया; फिर एक सच्चे गुरु के मिल जाने पर वे राजपाट को छोड़ कर पक्के त्यागी और ईश्वर-भक्त बन गये। उनका जीवनचरित्र पाठकों के लिए अत्यन्त मनोरञ्जक और बोधप्रद होगा, इसलिए हम उसे संक्षेप में यहाँ देते हैं।

यामुनाचार्य का जन्म सन् ११२० के लगभग मदरास प्रान्त के प्रसिद्ध नगर मदुरा में हुआ था। मदुरा शहर उस समय पाण्ड्य राजाओं की राजधानी था। यामुनाचार्य के पितामह श्रीनाथमुनि दक्षिण में एक बड़े भारी प्रसिद्ध साधु हो गये हैं। इनके पुत्र का नाम था ईश्वरमुनि। यही ईश्वरमुनि हमारे चरित्रनायक के पिता थे। यामुनाचार्य जब सिर्फ़ दस ही वर्ष के थे तब इनके पिता का स्वर्गवास हो गया।

यामुनाचार्य के समय में आज-कल की तरह स्कूल और कालेज नहीं थे। किन्तु गुरु लोग स्थान स्थान पर अपने गुरुकुल खोल कर बालकों को संस्कृत-भाषा द्वारा विद्याध्ययन कराया करते थे। मदुरा में भाष्याचार्य नामक एक प्रसिद्ध ऐसे ही पण्डित के यहाँ हमारे चरित्रनायक भी विद्याध्ययन करते थे। यामुनाचार्य की बुद्धि बहुत ही प्रखर थी, अतएव सिर्फ़ बारह वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने सब शास्त्रों का बहुत उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसी समय के लगभग एक विलक्षण घटना होगई और बालक यामुनाचार्य एक अच्छे राज्य के स्वामी बन गये! वह घटना इस प्रकार थी—

एक दिन यामुनाचार्य के गुरु भाष्याचार्य किसी कार्य के निमित्त अपनी पाठशाला से बाहर चले गये। जब कभी वे बाहर चले जाते तब पाठशाला में अध्यापन का कार्य यामुनाचार्य को ही सौंप जाते थे, क्योंकि इनके समान मेधावी विद्यार्थी उस समय पाठशाला में और कोई भी नहीं था। इसी नियम के अनुसार उस दिन भी वे अपने इस पट्टशिष्य को अपना अध्यापन कार्य सौंप गये थे। यामुनाचार्य छात्रों को पाठ दे रहे थे कि इतने में एक पारषद् उनके गुरु को तलाश करता हुआ वहाँ आया।

उस पारषद् को उस समय के प्रसिद्ध राजपण्डित 'विद्वज्जनकोलाहल' ने भेजा था। विद्वज्जनकोलाहल एक उद्भट पण्डित था और पाण्ड्यराजा के दरबार में रहता

था । इस पण्डित ने अपनी उद्‌भट विद्वत्ता के बल पर बड़े बड़े पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था । आस पास के सब बड़े बड़े पण्डित इसके नाम को सुन कर ही थर थर काँपते थे । राजपण्डित होने के कारण इसका बड़ा रुतबा था । राजा ने इसको बहुत सी पालकियाँ, छत्र-चामर और अन्य प्रकार का लवाजमा अर्पित किया था । जिस प्रकार राजा अपनी सारी प्रजा पर राज्य करता था, उसी प्रकार विद्वज्जनकोलाहल आस पास के सब पण्डितों पर राज्य सा करता था । उसके अभिमान की सीमा नहीं रही थी । यहाँ तक कि उसने सब पण्डितों पर नियमित 'कर' बाँध दिया था । कोलाहल पण्डित की आज्ञा उन सबको माननी पड़ी, क्योंकि कोलाहल को राजकृपा का बल था । जो पण्डित उसकी आज्ञा को नहीं मानता उसको राजदण्ड तक दिलाने के लिए कोलाहल समर्थ था । अतएव सभी पण्डित उसे चुपके से अपना अपना कर अदा कर देते । कई वर्ष तक 'राजकर' की तरह यह 'पण्डितकर' भी जारी रहा !

यामुनाचार्य के गुरु भाष्याचार्य भी विद्वज्जनकोलाहल को कर प्रदान करते थे । परन्तु इस वर्ष किसी कारणवश वे अपना कर उसके पास नहीं पहुँचा सके थे । इसलिए उसी कर को वसूल करने के लिए उक्त पारषद् उनकी खोज में आया था । पारषद् को देखते ही गुरुपदाधिष्ठित यामुनाचार्य ने उससे पूछा—

"भाई, तू कौन है और यहाँ इस समय किस उद्देश से आया है ?"

"तुम जानते नहीं हो, मैं विद्वज्जनकोलाहल का पारषद् हूँ, जो आज सब कवियों में सिंहवत् विराजमान हैं; सब विद्वानों के मुकुटमणि हैं, सम्पूर्ण पण्डित उनसे भयभीत रहते हैं । जैसे बकरियों में भेड़िया, सर्पों में गरुड़, तृणसमूह में अग्नि, वैसे ही सब पण्डितों में हमारे पण्डितजी ! सम्पूर्ण विद्वज्जनों में आज उनके नाम का कोलाहल मचा हुआ है ! उन्हीं ने हमको भेजा है !"

यह दर्पोक्ति सुन कर यामुनाचार्य ने एक तुच्छताप्रदर्शक दृष्टि फेंक कर कहा, "अच्छा तो उस आदमी को क्या चाहिए ?"

"उस 'आदमी' को ! ठीक है ! तुम जानते नहीं हो कि वह कोई मामूली आदमी नहीं है—तुम्हारे स्वा का स्वामी है; और उसने अपने दास—तुम्हारे गुरु— पास इस वर्ष के कर का तक़ाज़ा भेजा है ।"

"जाओ, तुम उससे कह दो कि ऐसी उद्दण्ड पण्डितों को शोभा नहीं देती । आर्यपुरुषों के साथ कै बर्ताव करना चाहिए, इसकी शिक्षा पहले वह ग्रहण क हमारे गुरुजी ऐसे घमण्डी आदमी को कर देने के लि कभी तैयार नहीं !"

यह कह कर यामुनाचार्य ने उस सिपाही को वैस ही लौटा दिया । जब भाष्याचार्य पाठशाला में वाप आये तब उन्होंने उपर्युक्त सारा वृत्तान्त सुना । इस उनको बड़ा खेद हुआ । उन्होंने कहा—

'यामुन, तुमने आज बड़ा भारी अनर्थ किया अब कोलाहल यह सारा वृत्तान्त राजा से बतलाए और राजा हम पर बहुत क्रुद्ध होगा । सम्भव है वह शास्त्रार्थ के लिए बुलावे और शास्त्रार्थ में यदि ह पराजित हो गये तो राजकोप के कारण न जाने क आपत्ति हमको उठानी पड़े । यामुन, तुमने हमारी ब भारी हानि की ! तुम्हारी उद्दण्डता के कारण अब ह पर न जाने कौन सा अनर्थ उपस्थित हो । तुम्हारे सम उद्दण्ड बालक के हाथ में पाठशाला का अधि तृत्व देकर हम चले गये, यह हमसे बड़ी भारी भू हुई !"

यामुनाचार्य ने देखा कि हमारे गुरुजी को हमारे इ कार्य पर बड़ा दुःख हुआ है । इस कारण वे अपने ग गुरुवर का समाधान करते हुए बोले—

"महाराज, आप शङ्का बिलकुल न करें । रा यदि आपको शास्त्रार्थ के लिए बुलाएगा तो मैं आप ओर से सभा में जाकर शास्त्रार्थ करूँगा और उस पूर्णतया पराभूत करूँगा । आपकी कृपा चाहिए ।"

उधर उस पारषद् ने जाकर कोलाहल पण्डित से स सब वृत्तान्त बतलाया, जिसे सुन कर कोलाहल ब ही सन्तप्त हुआ । वह तुरन्त ही राजमहल में जा पहुँच राजा से सब समाचार कह कर उसने भाष्याचार्य को शास्त्रार्थ के लिए बुलाने की प्रार्थना की । राजा को

शास्त्रार्थों से बड़ा प्रेम था। शास्त्रार्थ का होना तुरन्त ही निश्चित हो गया और भाष्याचार्य को आमन्त्रण दे दिया गया। भाष्याचार्य बड़े चिन्तित हुए, पर यामुनाचार्य ने उनको सान्त्वना दी, और उनकी तरफ़ से स्वयं शास्त्रार्थ का आमन्त्रण स्वीकार करके राजा के पास यह सन्देश भेजा—

“कोलाहल के समान एक साधारण मनुष्य से शास्त्रार्थ करना हमारे गुरु भाष्याचार्य के समान प्रकाण्ड पण्डितों को शोभा नहीं देता। इसलिए उनकी ओर से मैं, उनका शिष्य यामुनाचार्य, शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हूँ। परन्तु शर्त यह है कि राजदरबार से यथोचित सम्मानपूर्वक मेरे पास आमन्त्रण आना चाहिए। अन्यथा हम अपनी पाठशाला के भवन में शास्त्रार्थ करने को तैयार हैं और कोलाहल को यहाँ आना पड़ेगा।”

यामुनाचार्य के इस सन्देश को पाकर राजा तथा उसका राजपण्डित दोनों बड़े चकित हुए। फिर जब उनको यह मालूम हुआ कि भाष्याचार्य के इस शिष्य की अवस्था अभी सिर्फ़ बारह वर्ष की ही है तब तो उन्होंने यही समझा कि इस सन्देश में कोई तत्त्व नहीं है—यह लड़कों का खिलवाड़-मात्र है। अतएव राजा ने उस बालक यामुनाचार्य को उचित दण्ड देने का विचार किया। उसका यह विचार कार्यरूप में भी परिणत हो जाता, पर जिस समय उक्त सन्देश राजा के पास आया उस समय रानी भी वहाँ मौजूद थी। अतएव रानी ने कुछ विचार करके, राजा से कहा—

“महाराज, आप बालक की अवस्था पर ही न जाइए। सम्भव है, वह बालक कोई विलक्षण मेधावी पुरुष हो। तेजस्वी को कभी छोटा नहीं गिनना चाहिए। रुई के एक बड़े भारी पहाड़ को एक छोटी सी चिनगारी क्षण-मात्र में भस्म कर सकती है। इसलिए आप उतावली न करें। बालक को बुलवायँ और उसकी परीक्षा लें। यदि उसने हँसी की होगी तो उचित दण्ड देने के लिए आप सर्वथा समर्थ हैं। अतएत इस समय तो आप यथोचित सम्मानपूर्वक उसे बुलवायँ और शास्त्रार्थ होने दें।”

महारानी की यह सलाह राजा को भी सयुक्तिक जान पड़ी। उसने तुरन्त ही, उस समय की परिपाटी के अनुसार, पालकी, छत्र-चामर, इत्यादि भेजकर बालशास्त्री यामुनाचार्य को दरबार में बुलवाया।

यामुनाचार्य की सवारी बड़ी धूमधाम के साथ निकली; वे शिविकारूढ़ होकर पाठशाला से रवाना हुए। उनके पीछे पीछे भाष्याचार्य के अन्य सब शिष्य भी शास्त्रार्थ देखने को चल रहे थे। चोपदार लोग पालकी के आगे आगे पुकारते जा रहे थे—

“असाधारण विद्वान् और मेधावी पण्डितवर्य यामुनाचार्य आ रहे हैं! चलो, मार्ग छोड़ो! कविकेहरीजी आ रहे हैं। रास्ता छोड़ो, रास्ता छोड़ो! तर्कव्याकरणमीमांसादि सर्वशास्त्रों के स्वामी आ रहे हैं! चलो, चलो, मार्ग दो! देखें, आज इनके साथ शास्त्रार्थ करने को कौन समर्थ होता है! चलो, चलो!”

यामुनाचार्य की सवारी राजसभा में आ पहुँची। उस नन्हे से बटु को देखते ही हँसते हँसते राजा के पेट में बल पड़ गये। उसने रानी से कहा—

“अजी, देखो यह छोटा सा बटु हमारे पण्डितराज कोलाहल के साथ शास्त्रार्थ करने को आया है! तब तो यही कहना चाहिए कि शृगाल भी सिंह के साथ सामना करेगा! तुमने भी आज अच्छा तमाशा किया है।”

रानी ने यामुन की ओर कुछ क्षण ध्यानपूर्वक देखकर कहा—

‘आर्यपुत्र, मेरी समझ में, आप भूल कर रहे हैं! यह बटु साधारण बालक नहीं जान पड़ता। मुझे तो ऐसा विश्वास हो रहा है कि आज यह ब्रह्मचारी ही विजयी होगा! आप इसके चेहरे की ओर तो देखें! कैसा विलक्षण तेज चमक रहा है! मैंने तो ऐसा तेज आज तक किसी बालक के मुख पर नहीं देखा! अपने कोलाहल की तो आप बात ही जाने दें, उसके पितामह और प्रपितामह भी आ जायँ तो उसको भी यह बालपण्डित अवश्य पराजित करेगा!”

राजा ने फिर हँस कर कहा—

“हाँ, सच कहती हो—मैंने भी सुना है, कल एक मिट्टी का घोड़ा गङ्गा को, एक छलांग में, पार कर गया!

और परसों एक चार दिन के बछड़े ने एक सिंह का उदर विदीर्ण कर डाला !"

"आप ख़ुशी से मेरी हँसी कीजिए; पर मुझे तो विश्वास है कि आज का दिन कोलाहल के लिए एक बड़े भारे दुर्भाग्य का दिन प्रमाणित होगा। विजयलक्ष्मी इसी बालविद्वान् के कण्ठ में जयमाल पहनाएगी । विद्वत्ता अथवा विलक्षण बुद्धिमत्ता अवस्था पर अवलम्बित नहीं रहती। अवस्था पर से ही यदि बुद्धिमत्ता निश्चित की जाय तो बहुत बड़ी बड़ी वयोवृद्ध और पुरानी सड़ी दीवारें भी तो खड़ी हैं !"

"स्त्रियों को बातें बहुत सूझती हैं। शास्त्रार्थ का प्रारम्भ तो होने दो। तब इस छोकरे की सारी क़लई खुल जायगी। यदि इसका पराजय हो गया तो तुम मुझे क्या दोगी ?"

"यदि इसका पराजय हो गया तो मैं आपके दास की दासी बन जाऊँगी।"

"रानी, तुम बड़ी मूर्ख जान पड़ती हो। मिट्टी की डोंगी में बैठ कर क्या तुमने कभी किसी को समुद्र पार करते देखा है ? मैं भी कहता हूँ कि यदि इस लड़के ने कोलाहल को हरा दिया तो मैं इसे अपना आधा राज्य दे दूँगा !"

उधर राजा और रानी में इस प्रकार वार्तालाप हो रहा था और इधर यामुनाचार्य इस बात की प्रतीक्षा में थे कि उनको राजा से अभिवादन करने का अवसर कब मिले। इतने में राजा ने उनकी ओर दृष्टि फेरी। यामुनाचार्य ने उसको यथोचित प्रणाम किया, फिर आप कोलाहल के सामने स्थानापन्न हो गये। इसके बाद राजाज्ञा प्राप्त करके कोलाहल यामुनाचार्य से बोला—

"वटुजी, तुम्हारे इस उद्धतपन पर हमको बड़ी करुणा आ रही है ! आप अभी बच्चे हैं, इसलिए मैं आपको क्षमा करता हूँ—आप जाइए, अपने स्थान को पधारिए।"

यामुन—आपकी कृपायाचना के लिए मैं यहाँ नहीं आया हूँ । आपने मुझे अपने साथ शास्त्रार्थ करने के लिए आमन्त्रित किया है। महाराज के सामने आप चाहे जिस विषय पर मुझसे शास्त्रार्थ करलें। परन्तु मैं बड़े प्रेम के साथ आपसे एक निवेदन कर देना चाहता हूँ कि आप किसी बात के धोखे में न रहें। आज मेरे द्वा आपका पराजय बिलकुल सुनिश्चित है।

कोलाहल—अच्छा ! तू मेरा पराजय करेगा ! तब यही कहना चाहिए कि एक पिपीलिका चन्द्रमा को पकड़ चली है !

यामुन—महाराज, क्या आपको मालूम नहीं कि प्राचीन काल में बालक अष्टावक्र ने भी इसी प्रका एक अभिमानी पण्डित का पराजय करके उसे पानी फेंक दिया था ? पण्डितजी, अष्टावक्र भी एक छोटा बालक ही था। आप तो जानते ही हैं !

कोलाहल—बड़ा ही वाचाल लड़का दिखाई देता है अरे, क्यों रे, तुझको ककहरा भी आता है या नहीं ? पुस्तक पढ़ सकता है ? और क्या ठीक ठीक अपना ना भी लिख सकता है ? चला है मेरे साथ शास्त्रार्थ करने बिल्ली और शेर का कैसा मुक़ाबला ?"

यामुन—पण्डितजी, घास की गञ्जी को फूँक देने लिए एक चिनगारी ही काफ़ी है। सिंह का छौना छो होने पर भी हाथी का मस्तक विदीर्ण करने को ही लपक है ! क्या इतनी उम्र तक आपने केवल अवस्था पर से ही गुणों की परीक्षा करना सीखा है ? लोगों का तो ख़या है कि आप भारी विद्वान् हैं ! अस्तु। इन बातों क्या मतलब ? आइए, अब हम दोनों शास्त्रार्थ प्रारम्भ करें।

इस सम्भाषण के बाद कोलाहलाचार्य ने न्याय, व्या रण, इत्यादि शास्त्रों पर बड़े बड़े विकट प्रश्न यामुना के सामने उपस्थित किये; परन्तु उस बालशास्त्री ने, ए क्षण का भी विलम्ब न लगाते हुए, उन सभी प्रश्नों ठीक ठीक उत्तर प्रदान किया। कोलाहल मन ही मन चकित हुआ; परन्तु प्रकटरूप से इस प्रकार बोला—

"अभी तू एक नादान बच्चा है, इसलिए शास्त्रों विकट प्रश्न तेरे सामने उपस्थित करके अब मैं तुझे अधि तङ्ग नहीं करना चाहता। क्योंकि वैसा करना मानो को नारियल उठाने के लिए बाध्य करना है। अतएव मैं चाहता हूँ कि तू ही मुझसे कुछ प्रश्न करे। मैं उत्तर दूँगा।"

यह सुन कर यामुनाचार्य को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने कोलाहल से कहा:—

"वाह! तुम्हारी दयालुता को धन्य है! परन्तु पहले से ही आपको यह दयालुता क्यों नहीं सूझी? क्योंकि यदि ऐसा होता तो मेरे लिए विकट विकट प्रश्न सोचने में जो तुमको इतना कष्ट हुआ है वह न हुआ होता; और अत्यन्त शीघ्रता के साथ मेरे दिये गये उत्तरों से आपको मन ही मन जो मरणप्राय दुःख हुआ है वह भी न हुआ होता! अस्तु। अब मैं आपकी ही आज्ञा के अनुसार आपसे प्रश्न करके शास्त्रार्थ को आगे चलाऊँगा। अच्छा, मैं अस्तिपक्ष में तीन विधान करता हूँ। यदि उनको आप नास्तिपक्ष में सिद्ध कर दें तो मैं अपना पराजय मान लूँगा। अन्यथा आप अपना पराजय स्वीकार कीजिएगा। कहिए, यह शर्त स्वीकार है न?"

यामुनाचार्य का यह कथन सुन कर राजा कहने लगा—

"हाँ, यह बहुत ही उचित है और पण्डितजी के लिए तो यह शर्त बहुत ही सुविधाजनक है।"

कोलाहलाचार्य ने उस शर्त को तुरन्त ही स्वीकार कर लिया।

इसके बाद यामुनाचार्य ने पहली स्थापना यह की—

"पण्डितजी, हम कहते हैं कि आपकी माता वन्ध्या नहीं! क्या यह आपको अस्वीकार है?"

यह प्रश्न सुनते ही कोलाहलाचार्य बड़े चक्कर में पड़ गया। बहुत देर होगई; किन्तु उसके मुख से उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर निकलने का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया। हाँ, मन ही मन उसने यह अवश्य सोचा, "मेरी मा वन्ध्या नहीं है! इस प्रश्न का विरुद्ध उत्तर मैं क्या दूँ? यदि देता हूँ, तो इन लोगों में मेरी बड़ी ही हँसी होगी! इससे "मौनं सर्वार्थसाधनम्' की ही नीति का अवलम्बन करना सबसे अच्छा होगा :" यह सोच कर कोलाहल बिलकुल चुप बैठा रहा। हाँ, उसके मुख पर लज्जा की छाया अवश्य दिखाई पड़ने लगी। यह देख कर यामुनाचार्य बोला—

"क्यों पण्डितजी, आप उत्तर क्यों नहीं देते?"

पण्डितजी बेचारे क्या बोलें? कुछ नहीं बोले। यह देख कर सम्पूर्ण राजसभा के चेहरे पर हास्य की अस्पष्ट छटा झलकने लगी।

इसके बाद यामुनाचार्य ने दूसरी स्थापना इस प्रकार की—

"मैं कहता हूँ कि राजा पुण्यात्मा है—आप सिद्ध कीजिए कि, नहीं है।"

यह प्रश्न सुन कर, कोलाहल का हृदय, जो पहले ही से लज्जित हो रहा था, धड़कने लगा। स्वयं राजा के सामने ही राजा को दुष्टात्मा कैसे कहें? इस छोकरे ने तो मेरी जान पर ही नौबत ला दी! मुझको प्राणदण्ड दिलाने की बढ़िया युक्ति ढूँढ़ निकाली! अब, इसके प्रश्न का नास्तिपक्ष में यदि मैं उत्तर नहीं देता हूँ तो मेरा पराजय हुआ जाता है और यदि वैसा उत्तर देता हूँ तो राजा का कोपभाजन बनता हूँ—राजा मुझे प्राणदण्ड दिये बिना नहीं रहेगा! ख़ैर, अभी एक प्रश्न बाक़ी है। यदि उसी का उत्तर बन जाय तो भी ग़नीमत है—यह सोच कर कोलाहल पण्डित फिर चुप बैठा रहा। इधर रानी के कपोलों पर आनन्द की छटा झलकने लगी और सभाजनों का हृदय भी हर्ष से प्रफुल्लित होने लगा। इतने में तीसरा और अन्तिम प्रश्न यामुनाचार्य की तरफ़ से इस प्रकार हुआ—

"रानी पतिव्रता है। इस विधान को यदि सम्भव हो तो, आप अस्वीकार करें!"

कोलाहल के मस्तक पर वज्र फट फड़ा! काटो, तो ख़ून नहीं!

आह! मैंने सहस्रों बड़े बड़े दिग्गज पण्डितों को शास्त्रार्थ में हराया और उनकी पदवियों से उनको वञ्चित किया, पर आज इस नन्हें से बालक ने मेरा इस बुरी तरह से पराजय किया! अब लोग मुझे क्या कहेंगे! बेचारे कोलाहल ने अत्यन्त लज्जित होकर अपनी गर्दन नीची कर ली और मन ही मन कहने लगा:—

"आह! मैं कैसा मूर्ख हूँ! मुझे यह भी नहीं सूझा कि कुछ ऐसे भी अस्तिपक्षी विधान हो सकते हैं जिनको नास्तिपक्ष में सिद्ध करना सम्भव नहीं है! यह मेरा ही दोष है। क्योंकि अभी तक मैं सदैव अपने तर्क के बल पर अनेक अस्तिपक्षी विधानों को नास्तिपक्ष

में सिद्ध कर देता रहा हूँ; और यह बात सब जानते भी हैं। ऐसी दशा में इस लड़के ने यदि ऐसे प्रश्न किये तो इसका कोई दोष नहीं है! परन्तु प्रश्न इसने बहुत ही बेढब किये! आख़िर है तो छोकरा ही! छोकरे को छोड़ कर और ऐसे प्रश्न कौन करेगा? और, देखो तो, मेरा अपमान देख कर यह कैसा मन ही मन आनन्दित हो रहा है! मैंने ही अपने हाथ से अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारी! पाठशाला के लड़कों के साथ—जो बन्दर की तरह होते हैं—शास्त्रार्थ कैसा! मुझको यह बात पहले क्यों नहीं सूझी? और अब? अब तो मैं इसकी बराबरी पर बैठने की भी योग्यता नहीं रखता। अब क्या करूँ? अपने सारे पूर्वगौरव को भूल कर इसके चरणों पर गिरने के अतिरिक्त और क्या कर सकता हूँ?"

यह सोच कर कोलाहल लज्जा से किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर, नीची गर्दन करके, खड़ा हो गया। उसकी यह दशा देख कर राजसभा के अनेक लोग मुँह फेर फेर कर हँसने लगे; क्योंकि उन सभी की इच्छा थी कि इस राजकृपोद्धत पण्डित का गर्व अवश्य चूर्ण होना चाहिए; उसका यह मानमर्दन देख कर उन सबको स्वाभाविक ही सन्तोष हुआ।

रानी बहुत ही आनन्दित हुई। उसने बालक यामुनाचार्य को अपने समीप बुलाया और उसको प्यार करके बार बार उसका चुम्बन किया। इसके बाद वह उससे बोली—

"हे बालपण्डित, तुमको मैं आज 'आलवन्दार' कहती हूँ।"

इस शब्द का अर्थ यह है कि "तू इस संसार में सब पर अपना अधिकार जमाने आया है।" इस प्रकार रानी ने यामुनाचार्य का नाम आलवन्दार रख दिया। बस, तभी से लोग उनको आलवन्दार कहने लगे।

राजा ने जब देखा कि हमारी सभा के इस प्रधान पण्डित की ऐसी शोचनीय दशा हुई तब उसको बहुत ही दुःख हुआ। वह आलवन्दार से बोला—

"हे वटु, आज के शास्त्रार्थ में तुम्हारा ही विजय हुआ है, इसमें सन्देह नहीं; और तुम्हारी अवस्था को देखते हुए तुम्हारी विद्वत्ता अगाध है। सचमुच ही तुम बृहस्पति के अवतार हो। तुम्हारे विजय को देख कर मुझको बड़ा आनन्द हुआ है, तथापि मैं इतना जानना चाहता हूँ कि तुमने जो अभी तीन प्रश्न किये हैं उनमें क्या एक का भी उत्तर तुम नास्तिपक्ष में दे सकते हो?"

"हाँ, महाराज, मैं तीनों प्रश्नों का उत्तर नास्तिपक्ष में देने को प्रस्तुत हूँ।"

आलवन्दार का यह उत्तर सुन कर राजा को परम आश्चर्य हुआ। उसने उत्तर देने की उस ब्रह्मचारी को आज्ञा दी। आलवन्दार ने कहा—

"पहले प्रश्न के उत्तर में मेरा कथन यह है कि पण्डितजी की माता को वन्ध्या कहने में शास्त्र की दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि एक पेड़, बाग़ नहीं हो सकता अथवा एक बच्चा भी कोई सन्तान नहीं है—यह एक प्रसिद्ध उक्ति है; और इसको आप सभी लोगों ने सुना होगा। तदनुसार इन पण्डितजी की माता के भी एक ही सन्तान है। अतएव एक सन्तानवाली माता सन्तानवती नहीं कही जा सकती—वह वन्ध्या ही है!"

"दूसरे प्रश्न के विषय में मेरा यह उत्तर है कि राजा कोई सत्वशील मनुष्य नहीं है; क्योंकि 'राजा राष्ट्रकृतं पापम्' अर्थात् प्रजा का पातक राजा के सिर आता है—यह नीति-वचन आप लोगों से अविदित नहीं है।"

"अब तीसरे प्रश्न को लीजिए। उसके अनुसार 'रानी पतिव्रता नहीं' यह सिद्ध करना है। आप सब लोग जानते हैं कि विवाह के समय उसको वरुण, अग्नि, इन्द्र इत्यादि देवताओं को समर्पित किया जा चुका है; ऐसी दशा में उसको पतिव्रता कहना भी अपवाद-मात्र है।"

उपर्युक्त उत्तर सुन कर राजा बहुत ही चमत्कृत हुआ। उसने यामुनाचार्य की बुद्धि की बड़ी प्रशंसा की। इसके बाद उसने, रानी को दिये हुए वचन के अनुसार, अपना आधा राज्य यामुनाचार्य को समर्पित किया और कहा—

"कोलाहल, अब तुम्हारा सेवक है; अब तुम इसको चाहे जो करो।"

यह कह कर राजा ने अपने उस प्राचीन पण्डित को भी यामुनाचार्य के हाथ में दिया। यामुनाचार्य ने राज्य को तो स्वीकार कर लिया; परन्तु कोलाहल को अपने यहाँ से मुक्त कर दिया।

आलवन्दार की अवस्था यद्यपि अभी बहुत थोड़ी थी, तो भी राज्य का प्रबन्ध उन्होंने बड़ी दक्षता और चातुर्य के साथ किया। प्रजा के साथ बहुत ही दयालुता और न्याय का व्यवहार किया। सम्पूर्ण प्रजा उनके राज्य में बहुत ही सुख-सन्तोष के साथ अपना जीवन व्यतीत करने लगी। आलवन्दार की अवस्था जब लगभग पैंतीस वर्ष की हुई तब उनके जीवन में फिर एक बहुत ही भारी क्रान्तिकारक घटना हुई, जिसका वृत्तान्त इस प्रकार है—

एक दिन राममिश्र नामक एक वृद्ध ब्राह्मण आलवन्दार से मिलने आया। उसने सोचा कि कदाचित् अत्यन्त दीनहीन होने के कारण महाराज तक मेरी पहुँच न हो सके, अतएव उसने राजा के निकट पहुँचने की एक अजीब युक्ति निकाली। अर्थात् उसने राजा की पाकशाला के मुख्य रसोइये को मिलाया। उक्त रसोइये के साथ जब उस ग़रीब ब्राह्मण की घनिष्ठ मित्रता होगई तब वह प्रति दिन राजा के लिए एक उत्कृष्ट प्रकार का शाक लाकर उस रसोइये को देने लगा। रसोइया भी प्रति दिन उस शाक को बना कर राजा के सामने भोजन के साथ परोसने लगा। शाक बहुत स्वादिष्ट बनता था। अतएव राजा को वह बहुत पसन्द आने लगा। यह बात जब उस ब्राह्मण को मालूम हुई तब उसने जानबूझ कर एक दिन उस शाक के लाने में अन्तराय उपस्थित कर दिया। उस दिन राजा के भोजन में जब उक्त शाक नहीं परोसा गया तब राजा ने अपने रसोइये से पूछा—

"क्यों ? आज वह शाक क्यों नहीं बनाया ?"

"महाराज, वह शाक एक ब्राह्मण नित्य प्रति लाकर देता था, सो आज नहीं लाया।"

"आज क्यों नहीं लाया ? वह कौन ब्राह्मण है ?"

रसोइये ने सब सच्चा सच्चा वृत्तान्त बतलाया, जिसे सुन कर राजा ने उसे आज्ञा दी कि अब की बार जब वह ब्राह्मण राजमहल में आय, हमारे पास उपस्थित किया जाय। दूसरे दिन जब राम मिश्र शाक लेकर आया तब रसोइये ने उसको राजा के सामने उपस्थित किया।

उस ब्राह्मण को देखते ही राजा के मन में एक प्रकार की विलक्षण भावना उत्पन्न हुई। उसके मन में ऐसा कुछ भाव आया, मानो उस ब्राह्मण से उसकी बहुत पुरानी मित्रता रही हो। इसलिए राजा आलवन्दार ने उस ग़रीब ब्राह्मण का बड़े प्रेम से स्वागत किया और पूछा—

"आपने बहुत दिन से मुझे यह शाक खिला खिला कर उसकी चाट लगा दी है, इससे मालूम होता है कि इसमें आपका कोई उद्देश है। स्पष्ट कहिए—आप मुझसे क्या चाहते हैं ?"

"भूपते, आपका अनुमान सच है। मैं आपके पास किसी उद्देश से ही आया हूँ; परन्तु उस उद्देश से मेरी अपेक्षा आप ही का लाभविशेष है। आपके पितामह ने अन्तकाल में मुझे एक गुप्त भाण्डार सौंप कर कहा था कि उचित समय पर तुम यह भाण्डार मेरे नाती के सिपुर्द कर देना। सो उक्त पवित्र समय अब आकर उपस्थित हुआ है, अतएव वह ख़ज़ाना अब आप अपने अधिकार में लेकर मुझको उसके दायित्व से मुक्त करें।"

ब्राह्मण का यह भाषण सुन कर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ, पर ब्राह्मण की वृद्धावस्था और उसकी तेजस्विता को देख कर उसको किसी प्रकार की शङ्का उपस्थित नहीं हुई। हाँ, उसने उत्सुकता के साथ राममिश्र से पूछा—

"वह ख़ज़ाना कहाँ है ?"

"आप मेरे साथ चलिए—मैं आपको वह ख़ज़ाना दिखलाऊँ। वह दो नदियों के बीच में और सात भारी भारी दीवारों के कोट में है। एक बड़ा भयङ्कर नाग उस पर पहरा दे रहा है। इसके सिवा दक्षिणी समुद्र से एक राक्षस प्रत्येक बारह वर्ष में एक बार आकर उसका निरीक्षण कर जाया करता है। उस भाण्डार पर एक गुप्त मन्त्र डाल दिया गया है; उस मन्त्र की सहायता से ही वह आपके हाथ में आ सकेगा। अन्य भाण्डारों की तरह प्राणिहत्या करके यह भाण्डार नहीं प्राप्त किया जा सकेगा। यह भाण्डार बहुत भारी है; और यह जब आपको मिल जायगा तब संसार का कोई भी राजा आपकी बराबरी नहीं कर सकेगा। उस ख़ज़ाने के हाथ में आजाने पर फिर आपका कोई पराजय भी नहीं कर सकेगा। आपके पितामह आप पर बहुत प्रेम करते थे और उसी प्रेम का चिह्नस्वरूप यह अगणित सम्पत्ति उन्होंने आपको प्रदान की थी। उसको अब आप स्वीकार करें और मुझे इस ज़िम्मेदारी से छुड़ावें।"

"अच्छी बात है। सब सेना तैयार करके बहुत जल्द मैं वहाँ चलने की तैयारी करता हूँ।"

"सेना इत्यादि की कोई ज़रूरत नहीं है। आपके पितामह ने यह भी आज्ञा दे रक्खी थी कि मेरे नाती को अकेले ही वहाँ ले जाइएगा।"

राजा ने राममिश्र का यह कथन भी स्वीकार किया। बहुत शीघ्र सम्पूर्ण राज्य-प्रबन्ध अपने प्रधान मन्त्री को सौंप कर वह उस ब्राह्मण के साथ चल दिया।

दोनों यात्री चलते चलते मदुरा नगर से बहुत दूर पहुँच गये। एक दिन की बात है कि दोपहर का समय देख कर दोनों मुसाफ़िर एक जगह भोजन और विश्राम इत्यादि के लिए ठहर गये। इतने में ब्राह्मण अपनी पोटरी से गीता की पोथी निकाल कर "राजविद्या राजगुह्य योग" नामक नवम अध्याय ज़ोर ज़ोर से पढ़ने लगा। उसको सुन कर राजा आलवन्दार को उस ब्राह्मण से समस्त गीता के अध्ययन करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। यहाँ पाठकों को कदाचित् यह शङ्का उपस्थित होगी कि राजा आलवन्दार इतना विद्वान् होने पर भी अब इतने दिनों के बाद गीता का अध्ययन करने को कैसे तैयार हुआ? पर वास्तव में बात यह थी कि उस समय गीता को गुरुमुख से ही अध्ययन करने की चाल थी। इसके सिवा छापेख़ाने की व्यवस्था न होने के कारण उस समय गीता के अनुवादों इत्यादि की इतनी भरमार न थी; और गीता के समान कुछ शास्त्र उस समय ऐसे मान रक्खे गये थे कि जिनका गुरुमुख के बिना अध्ययन करना पाप समझा जाता था। इस कारण अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी राजा को अभी तक गीता शास्त्र के यथाविधि अध्ययन करने का अवसर नहीं मिला था। जो हो, आज आलवन्दार को गुरुमुख से गीताध्ययन करने की इच्छा हुई और उन्होंने उस ब्राह्मण से प्रार्थना की—

"गुरुदेव, मुझे आप गीता के गूढ़ तत्त्व समझाइए।"

ब्राह्मण ने राजा की प्रार्थना स्वीकार की। उस दिन से वह प्रतिदिन आलवन्दार को गीता का व्यापक रूप से अध्ययन कराने लगा। परिणाम यह हुआ कि राजा को सांसारिक सुखों से विरक्ति पैदा हो गई और ईश्वर-भक्ति की ओर उसका चित्त दौड़ने लगा। उसके सामने एक प्रकार का दिव्य प्रकाश सा दौड़ गया। गीता के दूसरे अध्याय को पढ़ कर उसको आत्मा की सच्ची स्मृति हुई। उसने सोचा—देखो, यह मेरी कितनी बड़ी भारी भूल थी कि मैं उस अनन्त, सर्वव्यापी, शाश्वत, सर्व-शक्तिमान् भक्तवत्सल परमात्मा को भूल कर केवल सांसारिक सुखों में निमग्न हो रहा था—ईश्वर का अनुग्रह-रूपी साम्राज्य छोड़ कर मैं इस मिथ्या राज्यसुख के पीछे इतने दिन पड़ा रहा! यह सोच कर उसके मन को बड़ा खेद हुआ। उसने अपने रेशमी वस्त्र और रत्नाभूषण इत्यादि निकाल कर फेंक दिये और ईश्वरीय ज्ञान के गूढ़ तत्त्वों की शिक्षा प्रदान करने के लिए राममिश्र से प्रार्थना की। उसने कहा—

"गुरुदेव, मेरे दादा ने जो भाण्डार मेरे लिए आपको सौंपा है वह चाहे जितना भारी हो, पर वह अब मेरे किसी काम का नहीं है! मैंने निश्चय कर लिया है कि अब मैं फिर अपने राज्य को लौट कर नहीं जाऊँगा। किन्तु मेरे हृदय के अन्दर जो अमूल्य निधि छिपी हुई है, उसी का खोज लगाने में अब मैं अपना शेष जीवन व्यतीत करूँगा।"

राजा की भक्ति और उत्साह देखकर राममिश्र ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। उसने कहा—

"राजा, आपकी श्रद्धा और भक्ति प्रशंनीय है; परन्तु आपको अपने वस्त्राभूषण इत्यादि त्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह केवल बाह्य त्याग है—यह सच्चा त्याग नहीं है। सच्चा त्याग तो अपनी इच्छा को—अपनी कामना को—जीतना है। राज्य और धन चाहे आप त्याग ही क्यों न दें, परन्तु यह सच्चा त्याग नहीं है—यह तो भिखारी होने की इच्छा है। इसलिए इस प्रकार के त्याग की कोई आवश्यकता नहीं है; आप इन वस्तुओं से अपनी आसक्ति-मात्र छोड़ दें—वस्तुओं को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। यही त्याग का सच्चा रहस्य है। आपके पितामह ने जो निधि आपके लिए प्रदान की है उसका भी आप अनादर न करें; क्योंकि उन्होंने बड़े प्रेम से वह वस्तु आपको समर्पित की है। हाँ, यह हो सकता है कि अभी यदि आप उस भाण्डार के पास न चलना चाहें तो और कुछ दिन यहीं निवास करें।"

उस ब्राह्मण का यह कथन सुन कर आलवन्दार को अत्यन्त आनन्द हुआ । गीता का अनुशीलन बराबर जारी रहा, परन्तु उसके समाप्त होने के पहले ही आलवन्दार को उसके सच्चे रहस्य का ज्ञान हो गया । वे अपने प्रत्येक कर्म को— भोजन, पान, दान, धर्म, यज्ञ, तप इत्यादि सबको—ईश्वर के अर्पण करने लगे । वे अपने अन्दर सम्पूर्ण भूतमात्र को देखने लगे और सम्पूर्ण भूतमात्र के अन्दर अपने को देखने लगे ।

गीता का स्वाध्याय समाप्त होने पर राममिश्र ने राजा से कहा—

"अच्छा, आओ अब हम लोग उस अमूल्य निधि की खोज में चलें ।"

आलवन्दार को अब सम्पत्ति की चाह नहीं रह गई थी, परन्तु फिर भी गुरु-आज्ञा को स्वीकार करके, इच्छा न होने पर भी, वे उनके साथ चल दिये । राममिश्र उनको अनेक छोटे ग्रामों का भ्रमण कराते हुए कावेरी नदी के तट से श्रीरङ्गम् के मन्दिर में ले आये । वहाँ लाकर श्रीरङ्गनाथ के सम्मुख उनको खड़ा करके उन्होंने कहा—

"यह लीजिए—यही वह अमूल्य निधि है, जो आपके पितामह ने आपके लिए रख छोड़ी है । इसको आप अब अपने हाथ में लेवें और मुझको इस उत्तरदायित्व से मुक्त करें ।"

आलवन्दार आश्चर्य से अत्यन्त चकित हुए । उनको इस बात की कल्पना भी नहीं थी कि हमारे पितामह, श्रीनाथमुनि स्वामी ने, हमारे लिए ऐसी निधि रख छोड़ी होगी । अब उनको अपने दादा की इस अमूल्य निधि का महत्त्व मालूम हुआ । उन्होंने उस ब्राह्मण के उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए बड़े प्रेम से उसको साष्टाङ्ग नमस्कार किया; और आनन्द तथा प्रेम के अश्रुओं से उसके चरणों का सिञ्चन किया । इसके बाद वे श्रीरङ्गनाथजी की मूर्ति की ओर देख कर बोले—

"हे ईश्वर, आप पहले मेरे पितामह के पास थे, परन्तु अब उन्होंने आपको मेरे हाथ में दिया, अतएव आप अब मेरे हुए । आप मेरे पितामह के देवता हैं, मेरे देवता हैं और साक्षात् मेरे हृदय के देवता हैं ! मैं अब आपको कभी नहीं छोड़ूँगा । सचमुच ही आप एक ऐसी निधि हैं कि आपको पाकर मैं अपने को संसार के सब राजाओं से अधिक वैभवशाली समझ रहा हूँ । आज मुझे सम्पूर्ण विश्व की सम्पत्ति का लाभ हुआ, क्योंकि सारा विश्व आपके अन्दर ही भरा हुआ है और आप सारे विश्व के अन्दर भरे हुए हैं ! आपका ज्ञान हो जाने पर फिर और किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती । गुरुजी ने सत्य ही कहा था कि इस निधि के प्राप्त हो जाने पर मेरा कोई भी पराजय नहीं कर सकता । हे देव ! मेरे रत्नभाण्डार ! काम-क्रोधादि मेरे सब शत्रु आपके दर्शन से ही दूर भाग गये । अब मुझे पराजित करने के लिए कोई भी शत्रु शेष नहीं रह गया । मैं सबका आत्मा हूँ, सब मेरी आत्मा हैं—न मुझको किसी से द्रोह और न किसी को मुझसे द्रोह ! मुझे सब आनन्द ही आनन्द दिखाई दे रहा है !"

इतना कह कर आलवन्दार भगवच्चिन्तन में निमग्न हो गये । इसके बाद अपने गुरु को सम्बोधन करके वे बोले—

"महाराज, आपने मुझे आप ही आप ढूँढ़ निकाला; और अपने कृपाछत्र के नीचे मुझे आश्रय दिया । इसके बाद इस सम्पूर्ण संसार का जो एक-मात्र शाश्वत, महत्त्वपूर्ण और अनमोल भाण्डार है उस ईश्वर से आपने मेरा साक्षात्कार करवा दिया । मैं आपसे कैसे उऋण होऊँ ? सद्गुरो, आपने मेरे ऊपर निष्काम प्रेम किया है—मेरा उद्धार करने के लिए आपको स्वाभाविक चिन्ता थी । और उसी के वश हो करके आपने मेरा यह उपकार किया है । आप धन्य हैं ! आपके सत्संग से मैं भी आज धन्य हो गया !"

उस दिन से आलवन्दार भगवच्चिन्तन में ही निमग्न रहने लगे—फिर वे अपने राज्य को लौट कर नहीं गये । उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति पर अनेक ग्रन्थ लिखे । वे विशिष्टाद्वैतमत के माननेवाले थे । श्रीरामानुजाचार्य ने उन्हीं के मत का प्रचार किया ।

कहते हैं कि, आलवन्दार अपनी तीन इच्छायें अन्त समय तक पूर्ण नहीं कर सके थे इस कारण मृत्यु के बाद भी उनके दाहने हाथ की तीन उँगलियाँ बन्द रही थीं । जिस समय उनका अन्तिम संस्कार होने लगा उस समय

श्रीरामानुजाचार्य स्वयं अकस्मात् वहाँ आ पहुँचे और जब उन्होंने आलवन्दार की तीनों इच्छाओं के पूर्ण करने का वचन दिया तब वे तीनों उँगलियाँ फैल गईं !

आलवन्दार की तीन इच्छायें इस प्रकार थीं—(१) प्रस्थानत्रयी, अर्थात् उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और गीता पर विशिष्टाद्वैतमतानुसार भाष्य लिखना; (२) वेदान्त-सूत्रों के प्राचीन वैष्णव भाष्यकार पराशर का नाम किसी सुयोग्य व्यक्ति को देकर उसके नाम को अजर-अमर करना; (३) नम्मालवर के "तिरिव्योमोज़ी" नामक ग्रन्थ पर भाष्य लिखना।

इन तीनों इच्छाओं में अन्तिम इच्छा श्रीरामानुजाचार्य के एक शिष्य ने पूर्ण की।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

संयुक्त-प्रान्त के उद्योग-धन्धे।

बिना धन-सम्पत्ति के मनुष्य का कोई काम नहीं चल सकता। जिसके पास धन है वही सबसे अधिक बली है। धन-बल के सामने और सब बल बहुत ही कम महत्त्व रखते हैं। जो बात व्यक्तियों की है वही देशों की भी है। जो देश जितना ही अधिक सम्पत्तिशाली है वह उतना ही अधिक महत्ता और प्रभुता भी रखता है। योरप के गत महायुद्ध में धन की महिमा ख़ूब व्यक्त हुई थी। इँगलेंड सम्पत्तिशाली देश है; अमेरिका के संयुक्त-राज्य उससे भी अधिक सम्पत्तिशाली हैं। यदि ये दोनों देश युद्ध में लिप्त न होते और अपने अनन्त धन-भाण्डार से अन्य देशों की सहायता न करते तो शस्त्रास्त्रों से सज्जित और युद्धप्रियता के दर्प से दृप्त जर्मनी का पराजय कभी न होता। जो फ़्रांस इस समय जर्मनी के रूर-प्रान्त को हस्तगत करने के लिए तुला हुआ है उसका भी एक-मात्र कारण धन-लोलुपता ही है। उस प्रान्त को छीन कर वह जर्मनी को धनहीन और अपने को धनवान् बनाना चाहता है। क्योंकि धन ही का बल अन्य सभी बलों से बढ़ कर है।

जिस धन-सम्पत्ति की इतनी महिमा है वह दूस की नौकरी—दूसरों की ग़ुलामी—करने और वैदिक ज़मा से अस्तित्व में आये हुए, पूर्व-पुरुषों के चलाये हुए, पुरा हलों से खेती करने से यथेष्ट नहीं प्राप्त हो सकता। उसक प्राप्ति वाणिज्य-व्यापार और कल-कारख़ानों ही इ बदौलत ख़ूब हो सकती है। अमेरिका को देखिए, इँगलें को देखिए, जापान को देखिए। इन देशों की सधनता क सबसे बड़ा कारण व्यापार और उद्योग-धन्धा ही है।

इँगलेंड बहुत छोटा देश है। देश क्या, वह तो एक टापू मात्र है। इँगलेंड और वेल्स का रक़बा केवल ५८ ३२४ मील मुरब्बा है। आबादी वहाँ की, १२ वर्ष पू ४ करोड़ से भी कम थी। अर्थात् वहाँ उतनी भी आबा नहीं जितनी अकेले हमारे संयुक्त-प्रान्त में है। उसक रक़बा तो अपने प्रान्त के रक़बे से प्रायः आधा ही है इस दशा में भी इँगलेंड सधनता में बहुत बढ़ा-चढ़ा है गत युद्ध में उसने करोड़ों रुपया अन्य देशों को क़र्ज़ दि था। उसकी प्रभुता और महत्ता के कारणों में उसक धन-सम्पन्नता प्रधान कारण है। उसकी यह सम्पत्ति इ व्यवसाय और वाणिज्य ही की बदौलत प्राप्त हुई है।

अब अपने देश, भारत, के विस्तार को देखिए। उस विस्तार और उसकी आबादी को देखते इँगलेंड उस सामने बच्चा अथवा खिलौना है। तथापि उद्योग-धन्धों क कमी के कारण भारत में दरिद्रता देवी का अखण्ड रा है। इँगलेंड में काफ़ी ज़मीन नहीं। वहाँ के निवा भारत की तरह, खेती करके अपना गुज़र बसर नहीं क सकते। उनकी जीविका का प्रधान साधन तो कल-क ख़ाने ही हैं। वे यदि बन्द हो जायँ तो लोग भू मरने लगें। युद्ध के कारण वहाँ के व्यवसायों को ब धक्का पहुँचा है। इस कारण कोई १२ लाख आद वहाँ, इस समय, बेकार हैं। पहले तो इससे भी अधि थे। इन बेकारों को रोटी-टुकड़ा वहाँ की गवर्नमेंट देना पड़ता है। अतएव वे लोग टैक्स देनेवाली ज के लिए भारभूत हो रहे हैं। इस दशा में, आप अ तरह समझ सकते हैं कि वहाँ कलकारख़ानों का रहना और उन्नति करना कितना आवश्यक है।

कलकारख़ाने चलाने के लिए कच्चे माल की ज़

होती है। वह इँगलेंड में नहीं पैदा होता। अमेरिका, ईजिप्ट और भारत से रुई जाने परही वहाँ के कपड़े के कारख़ाने चल सकते हैं। तेलहन, चमड़ा, कपड़ा इत्यादि भी वहाँ बाहर से ही जाता है। खाने के लिए गेहूँ, मांस, दूध, फल इत्यादि भी उसे विदेशों ही की बदौलत मिलते हैं। फिर, कारख़ानों में तैयार हुए माल को बेचने के लिए भी उसे दूसरे देशों का मुँह ताकना पड़ता है। सारांश यह कि उसकी सम्पत्ति-वृद्धि तभी हो सकती है और वहाँवालों को पेट भर रोटी भी तभी मिल सकती है जब दूसरे देश उसे कच्चा माल दें और उनकी तैयार की हुई चीज़ें मोल ले लें।

इस दशा में भारत और इँगलेंड के स्वार्थ भिन्न भिन्न हैं। भारत पर इँगलेंड की सत्ता है। इस कारण सैकड़ों साल से वह भारत की सहायता से अपने व्यापार और व्यवसाय की वृद्धि कर रहा है। उसका हित इसी में है कि यहाँ कल-कारख़ाने कम खुलें या बिलकुल ही न खुलें। तभी उसे यहाँ से कच्चा माल मिल सकेगा और तभी यहाँ उसकी तैयार की हुई चीज़ों की खपत होगी। यहाँ से जाने और वहाँ से आनेवाली चीज़ों पर लगाये गये किराये के निर्ख़ आदि में जो वैषम्य चला आ रहा है उसकी जड़ को स्वार्थ-सलिल ही सदा सींचता रहा है। और अब भी बहुत कुछ वही उसे पुष्ट करता है।

भारतवासियों के काम की चीज़ों के सिवा ख़ुद गवर्नमेंट को भी करोड़ों रुपये का माल—रेल, तार, बारिक-मास्टरी, फ़ौज, पुलिस आदि के लिए—बाहर से मँगाना पड़ता है। वह यदि यहीं मिल जाय अथवा यहीं मोल लिया जाय तो उसका मूल्य इसी देश में रहे और यहाँ की सम्पत्ति-वृद्धि का कारण हो। पर यह भी अब तक नहीं होता रहा। इस तरह की सारी ख़रीद वहीं विलायत में होती रही है और अब भी बहुत कुछ होती है। कुछ समय हुआ, इस विषय में, जाँच-पड़ताल हुई थी। उसके दौरान में विलायत के एक बड़े अफसर तक ने क़बूल किया था कि वहाँ के कारख़ानेवालों को अधिक मूल्य देकर भी अनेक चीज़ें उन्हीं से ख़रीदी गई हैं। अर्थात् यदि कोई चीज़ जर्मनीवाले १) सेर बेचें और वही चीज़ इँगलेंडवाले १।) सेर तो वह चीज़ जर्मनी से न मँगाई जायगी। वह सवाये दाम देकर इँगलेंडही में मोल ली जायगी। अब इसे आप चाहे स्वार्थसाधन समझें, चाहे देशभक्ति। स्वयं भारत में बहुत सी चीज़ें ऐसी होती हैं जो सरकारी महकमों को दरकार होती हैं। उनसे उन महकमों का काम बख़ूबी चल सकता है। परन्तु उनमें से भी बहुत ही कम चीज़ें यहाँ मोल ली जाती हैं। ऐसी अवस्था में यदि भारतीय व्यवसायों की वृद्धि नहीं हुई अथवा बहुत ही कम हुई तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं।

परन्तु कुछ समय से सरकार ने अपनी नीति कुछ कुछ बदली है। विलायत में लोहा और कोयला बहुत होता है। कोयलेही की कृपा से लोहे का रोज़गार चलता है। अतएव वहाँ लोहे के अनेक कारख़ाने हैं। उनमें सैकड़ों तरह की चीज़ें—रेल, एंजिन, कल-पुरज़े बनते हैं। रेलों का ख़र्च भारत में बहुत अधिक है। वे अब तक विलायत ही से आते रहे हैं। पर, अब मध्यप्रदेश में, ताता का कारख़ाना खुल जाने से, अधिकतर रेल सरकार उसी से लेने लगी है। इसका फल यह होगा कि विलायत से रेलों का चालान बन्द हो जायगा और बहुत कुछ बन्द हो भी गया है। इससे विलायत के कारख़ानेदारों की हानि हो रही है और होगी। यह बात पुरानी नीति के विरुद्ध है। परन्तु सरकार ने कृपा करके अब उस नीति को बदल दिया है। इसका कारण राजधर्म हो सकता है, प्रजा-पालन हो सकता है, दीनवत्सलता हो सकती है, शासन की परिवर्तित प्रणाली हो सकती है और सबसे बढ़ कर हो सकता है प्रजा के प्रतिनिधियों का दबाव। कुछ भी हो, सरकार ने अब इस देश के उद्योग-धन्धों की वृद्धि और सहायता की ओर थोड़ा बहुत ध्यान देना अवश्य आरम्भ कर दिया है और भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न प्रकार के साधनों की सृष्टि भी कर दी है।

यह इसी परिवर्तित नीति का फल है जो अपने सूबे, संयुक्तप्रान्त, में उद्योग-धन्धों के निरीक्षण और अभिवर्धन के लिए एक अफसर नियत हो गया है। उसके ओहदे का नाम है—डाइरेक्टर आफ़ इनडस्ट्रीज़। उसका दफ़्तर कानपुर में है। इस महकमे के पहले अध्यक्ष थे श्रीयुत विनायक नन्दशङ्कर मेहता। और अब हैं ख़ान-बहादुर चौधरी वाजिदहुसैन। इस महकमे को अस्तित्व में लाने का बहुत

कुछ श्रेय श्रीयुत चिन्तामणि को भी है। जिस समय वे गवर्नमेंट के मन्त्री थे उस समय यह महकमा उन्हीं के मातहत था।

इस महकमे के अस्तित्व में आने पर कई इन्स्पेक्टर या सुपरिंटेंडेंट नियत किये गये। उन्हें यह काम दिया गया कि वे हर ज़िले में इस बात की खोज करें कि वहाँ छोटे मोटे कौन कौन से व्यवसाय होते हैं और उनकी अभिवृद्धि करने तथा नये नये व्यवसायों को अस्तित्व में लाने के क्या क्या साधन हैं। यह काम उन लोगों ने अब तक प्रायः सम्पूर्ण कर डाला है। उनकी रिपोर्टों के आधार पर हर ज़िले के उद्योग-धन्धों पर एक एक पुस्तक प्रकाशित की गई है। उसमें उस ज़िले के व्यवसायों से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातें हैं। ये पुस्तकें व्यवसायियों के बड़े काम की हैं। खेद इतनाही है कि वे अँगरेज़ी में हैं। पर यह कोई नई बात नहीं। सरकार जब अपढ़ काछियों और कुरमियों के लिए घास, चारा, अनाज और खाद आदि पर लिखी गई खेती-विषयक पुस्तकें और पत्रिकायें अँगरेज़ी में निकालती है तब गुड़, शकर, काँच, चमड़े, चरसे आदि पर पुस्तकें देशी भाषाओं में क्यों निकालने लगी।

इस महकमे के डाइरेक्टर साहब ने अपने महकमे की सालाना रिपोर्ट में जो बातें लिखी हैं उनसे ज्ञात होता है कि वह कुछ काम अवश्य कर रहा है। इस रिपोर्ट का सम्बन्ध १९२२-२३ ईसवी से है। इसकी कुछ बातों का उल्लेख नीचे किया जाता है—

गवर्नमेंट को अपने ख़र्च के लिए जो सामान ख़रीदना पड़ता है उसके लिए उसने अब एक अफ़सर अलग कर दिया है। वह इस महकमे के डाइरेक्टर ही की देख-रेख में काम करता है। जिस महकमे को जो चीज़ दरकार होती है उसके लिए वह इसी अफ़सर को लिखता है। यदि वह यहाँ मिल सकती है और किफ़ायत के साथ मिल सकती है तो वह उस चीज़ का नमूना देख कर उसका निर्ख़ तै कर देता है और सब महकमों को इत्तिला दे देता है कि अमुक दूकान या कारख़ाने से वह चीज़ इस निर्ख़ पर ख़रीद लो। यह सब काम डाइरेक्टर साहब ही की निगरानी में होता है। इस प्रकार, रिपोर्ट के साल, कोई १०½ लाख रुपये की चीज़ें यहीं ख़रीदी गईं। इस ख़रीद से गवर्नमेंट की बचत कोई १½ लाख रुपये की हुई। यदि यही सामान बाहर से मँगाया जाता तो प्रजा का १½ लाख रुपया बरबाद जाता। इससे अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि, आज तक, सारे भारत का कितना रुपया इस बाहरी ख़रीद की बदौलत व्यर्थ गया होगा। और, अब भी करोड़ों रुपया व्यर्थ जाता है। क्योंकि अभी तो शायद रुपये में एक ही आने की ख़रीद यहाँ होती हो। १९२२-२३ में रेल, सीमेंट मिट्टी, कोलटार, तोलने के काँटे, हथकड़ी, बेड़ी आदि ही यहाँ ख़रीदी गई हैं। अब पुलिस की वर्दी, पगड़ी, पट्टी आदि के लिए कपड़े, कब्ज़े, बोल्ट, स्कूलों और अस्पतालों के लिए पीतल और काँच के यन्त्र आदि ख़रीदने की भी तैयारी हो रही है। बहुत ही अच्छा हो यदि ये सब चीज़ें अब यहीं मोल ली जायँ।

इस समय इस सूबे में सब मिला कर २४५ कारख़ाने हैं। पहले, अर्थात् १९२१-२२ में, केवल २१८ थे। अर्थात् एक वर्ष में २७ कारख़ाने नये खुले हैं। इस महकमे का यह भी काम है कि यदि कोई मनुष्य या कम्पनी कोई नया कारख़ाना खोलना चाहे तो उसे सलाह-मशविरे से उसकी सहायता करे। किसी किसी को वह रुपये पैसे से भी सहायता देता है। पिछले साल, इस निमित्त उसने १ लाख रुपया ख़र्च किया। इस तरह रुपये की सहायता कुछ शर्तों पर दी जाती है, जो डाइरेक्टर साहब से पूछने पर मालूम हो सकती हैं।

उद्योग-धन्धों और कई प्रकार के विशेष व्यवसायों की शिक्षा देनेवाले कोई १३ स्कूल इस महकमे की निगरानी में हैं। किसी में लुहार-बढ़ई का काम सिखाया जाता है, किसी में चमड़े की चीज़ें बनाने की शिक्षा दी जाती है, किसी में कपड़ा बुनने की, किसी में खिलौने बनाने की, इत्यादि। कपड़ा रँगने और छापने की शिक्षा देने के लिए भी एक स्कूल कानपुर में है। परन्तु ऐसे स्कूलों के लिए छात्र ज़रा कम मिलते हैं। बात यह कि लोगों की झिझक अभी तक दूर नहीं हुई। वे अपने लड़कों से मोटा काम नहीं कराना चाहते। कुलीन ब्राह्मण या राज वंशसम्भूत क्षत्रिय होकर हथौड़ा उठावें! परन्तु यह [illegible] अब बहुत दिनों तक टिकनेवाली नहीं। हाथ से काम

करके धनार्जन करना पुरुषार्थसूचक है । वह कोई पाप-कार्य्य नहीं । और यदि हो भी तो—

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्

पापी पेट अपनी पूर्ति के लिए वैसे काम भी, धीरे धीरे, करा लेगा । कुलीनता और प्रभुता रक्खी रहेगी ।

सूत कातने और कपड़ा बुनने के कारख़ानों की संख्या अब २० तक पहुँच गई है । रिपोर्ट के साल उनमें २०,६३८ आदमी काम करते थे ।

कपास ओटने के कारख़ाने तो अब बहुत ही बढ़ गये हैं । उनकी संख्या १११ है । उनमें रुई की गाँठें भी बँधती हैं ।

यद्यपि खद्दर या गाढ़े की माँग कुछ समय से कम हो गई है तथापि अब भी, इस सूबे में, कम से कम ५,००० करघे चलते हैं । तफ़सील यह है—

टाँडा में ४००   मुरादाबाद में ५००
मऊ में ३०००   इटावे में ३००
घोसी में ८००

इनके सिवा और जगहों में भी बहुत से करघों पर मोटा कपड़ा बुना जाता है । गज़ी-गाढ़े के लिए इक्के दुक्के करघे तो सैकड़ों, नहीं हज़ारों, जगह होंगे । परन्तु हाथ के बुने मोटे कपड़े पर, अब कुछ समय से, लोगों का प्रेम कम हो गया है—वे खद्दर को कम पसन्द करने लगे हैं । इससे बुननेवालों का मुनाफ़ा घट गया है । जान पड़ता है, मलमल-पसन्द लोग अपनी पुरानी लत नहीं छोड़ सकते । उनके सुकुमार और कमल-कोमल अङ्ग खद्दर की रगड़ नहीं बरदाश्त कर सकते । यह बड़े ही परिताप की बात है । पहले हाथ से बुनने के करघे मिलने में कठिनाई होती थी । अब वह दूर हो गई है । क्योंकि अब बनारस में इस तरह के करघे बनाने और बना कर बेचने के लिए कई कारख़ाने खुल गये हैं । पर यदि लोग मोटा कपड़ा पहनेहींगे नहीं, या कम पहनेंगे, तो ये कारख़ाने कब तक चल सकेंगे । कुछ ही दिनों में महात्मा गाँधी का जयजयकार करके शायद बन्द हो जायँ ।

बनारस में ज़रदोज़ी का काम बहुत होता है । वह उन्नति भी कर रहा है । सोने और चाँदी के तार और तारदार धागे तैयार करनेवाले कारख़ानों की संख्या वहाँ २० तक पहुँच गई है । बनारस में रेशमी कपड़ा तैयार करने का काम भी अब पहले से अधिक उन्नति पर है । वहाँ कोई ४० हज़ार आदमी इस काम में लगे हुए हैं । पर रेशम और रेशमी तागा बाहर से मँगाना पड़ता है । इस प्रान्त में उसे पैदा करने और बनाने के कोई साधन नहीं । रेशमी वस्त्र तैयार करने के व्यवसाय ने अब यहाँ तक उन्नति की है कि कई कारख़ानों में यंजिनों की शक्ति से करघे चलने लगे हैं । यह बड़ा ही शुभ लक्षण है ।

इस प्रान्त में गन्ना ख़ूब पैदा होता है । यदि व्यावसायिक बुद्धि और प्रवृत्ति के मनुष्य इस ओर अधिक ध्यान दें तो शकर का कारोबार यहाँ ख़ूब चमके । परन्तु खेद है, इसकी विशेष उन्नति नहीं हो रही । कोल्हुओं और कड़ाहों की सहायता से अब तक विशेष करके गुड़ और राब ही बनाई जाती है । शकर बनाने के भी कारख़ाने हैं, पर उनकी संख्या मुश्किल से १४ तक पहुँची है । पिछले साल तक तो वह ११ ही थी ।

काँच के कारोबार को तो जापान, जर्मनी और आस्ट्रिया ने मटियामेट ही कर डाला । चूड़ियाँ, शीशियाँ, बोतलें वग़ैरह यहाँ बहुत अच्छी बनती और बन सकती हैं । परन्तु रिपोर्ट के साल यह माल जापान से इतना अधिक आया और इतना सस्ता बिका कि इस प्रान्त के कारख़ानों को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा । काँच के कारख़ानों के लिए बढ़िया बालू और चूना दरकार होता है । शोरे और सुहागे की भी ज़रूरत पड़ती है । ये चीज़ें यहाँ बहुत अच्छी और बहुत अधिक मात्रा में मिलती हैं । इलाहाबाद ज़िले में एक जगह बरगड़ है । वहाँ जितना अच्छा रेत होता है उतना दुनिया में और कहीं नहीं होता । कटनी और देहरादून में चूना भी उत्तम से उत्तम मिलता है । इन साधनों के होते हुए भी इस प्रान्त के धनवान् और व्यवसायी इस कारोबार की ओर ध्यान नहीं देते । यदि वे दें और जी लगा कर उद्योग करें तो विदेश से माल आना बन्द हो जाय और सभी आवश्यक चीज़ें यहीं बनने और बिकने लगें । इससे इस प्रान्त ही की नहीं, देश की भी, समृद्धि बढ़ जाय । इस व्यवसाय की रक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए । गवर्नमेंट को चाहिए कि वह विदेशी प्रतियोगिता से उसे बचावे । जो माल जापान और जर्मनी से यहाँ आता है

उस पर कड़ी चुंगी लगा देने से यह काम सहज ही हो सकता है।

रिपोर्ट में लिखा है कि यहाँ चमड़े का कारोबार भी धीरे धीरे उन्नति कर रहा है।

तिली, अण्डी, अलसी और सरसों से तेल निकालने के यहाँ बड़े बड़े १७ कारख़ाने हैं। उनके कोल्हू यंजिनों से चलते हैं। छोटे छोटे कारख़ाने तो बहुत से हैं। अकेले कानपुर में उनकी संख्या २८ है। रिपोर्ट के साल १२ कारख़ाने नये खुले। इन कारख़ानों से जो तेल निकलता है उसका चालान विशेष करके बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा और पञ्जाब को होता है। यह व्यवसाय बड़े फ़ायदे का है और क़सबों तथा बड़े बड़े गाँवों तक में किया जा सकता है।

मुरादाबाद में पीतल के बर्तनों पर क़लई बड़ी अच्छी की जाती है। वहाँ ये बर्तन बनते भी हैं। हज़ारों कारीगर इस काम में लगे हुए हैं। उनके माल की खपत यहीं, केवल इसी देश में, नहीं होती। वह विदेश को भी भेजा जाता है। पिछले साल ७० हज़ार रुपये का माल बाहर भेजा गया।

प्रस्तुत रिपोर्ट में और भी ऐसी अनेक बातें हैं जिनकी जानकारी से व्यवसायी लाभ उठा सकते हैं। परन्तु उन सबके उल्लेख के लिए इस लेख में जगह नहीं। हाँ एक बात हम, यहाँ पर, और लिख देना चाहते हैं। इस महकमे ने, अँगरेज़ी में, एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें उसने उन सब स्कूलों का विवरण दिया है जो उद्योग-धन्धे सिखाने के लिए इस प्रान्त में खोले गये हैं। कौन स्कूल कहाँ है, किसमें कौन सी व्यावसायिक शिक्षा दी जाती है, किन शर्तों पर सीखनेवाले भर्ती किये जाते हैं, कितने दिनों तक उन्हें स्कूल में रहना पड़ता है—इन सब विषयों का वर्णन इस पुस्तक से जाना जा सकता है। जो लोग अपने कम पढ़े लिखे लड़कों को औद्योगिकी शिक्षा देना चाहते हों उन्हें इस पुस्तक से सभी ज्ञातव्य बातें मालूम हो सकती हैं।

सहदेवसिंह वर्म्मा

कवि-कीर्ति।

(१)

है कौन मर कर भी अमर नर बोलिए संसार में ?
है कौन सी स्थिर कीर्ति-नौका सृष्टि-पारावार में ?
नरता अमरता के सहित है प्राप्त कवि को निर्मला,
कवि-कीर्ति कविता है अमिट जब तक शशी की है कला।

(२)

स्रष्टा सुभग साहित्य-संसृति का सुकवि को जानिए,
नरदेव कवि को मानिए वरदेव कवि को मानिए।
सञ्जीविनी बूटी सदृश है सूक्ति कवि की रसमयी,
ज्यों सूर्य्य उडुगण पर जयी त्यों मानवों पर कवि जयी॥

(३)

कवि-सूक्ति को सुन कर सुकवि जन तुष्ट क्यों होवें नहीं;
घन-गर्जना को सुन शिखी क्यों मन-मलिन होवें कहीं!
कवि की निपुणता की विपणि में सुकवि पाते रत्न हैं,
पर के करों आता न कुछ उनका निरर्थक यत्न है॥

(४)

यद्यपि सुकवि है काव्यकर्ता स्वादविद पर और हैं,
सर से हुए सरसिज सही पर स्वाद लेते भौंर हैं।
नृप-कण्ठ ने धारण किया मौक्तिक हुआ ज्यों शुक्ति से,
कृतकृत्य होता है कृती का हृदय त्यों कवि-सूक्ति से॥

(५)

जो बात औरों के वदन की विश्व को नीरस लगे
कवि के वदन से सुन उसे ही क्यों न मन रस में पगे?
ज्यों सर्प-मुख से बूँद स्वाती की गरल होकर कढ़े,
पर शुक्ति-मुख से जल वही मौक्तिक बने, नृप-सिर चढ़े॥

(६)

पल भर प्रभाकर की प्रभा अब तक जहाँ पहुँची नहीं,
सर्वत्रगामी वायु भी अब तक जहाँ पहुँची नहीं।
नभ विश्वव्यापी है सही पर गति न उसकी भी जहाँ,
प्रतिभाब्धि कवि की हर घड़ी है नाचती प्रतिभा वहाँ॥

(७)

सामान्य कविता भी सुधी के कण्ठ में जो जाय तो,
अतिशय सरस सुखदा सुधा सी झट वही हो जाय तो।

सच बौर मीठा आम का देखा कहीं जाता नहीं,
पर कोकिलाओं की कल-ध्वनि को सरस करता वही ॥

(८)

ज्यों मानसर त्यों विमल मानस कविजनों का जानिए,
है दिव्य दृष्टि त्रिकालदर्शी स्वतः उनकी मानिए ।
चौदह भुवन हैं कञ्ज से उनके हृदय-सर खिल रहे,
उनके कथन त्रयकाल में हैं सत्यता से मिल रहे ॥

(९)

चाहे मनुज बलवान हो कोटीश हो अवनीश हो,
चाहे सुरूप-निधान हो गुणवान हो योगीश हो ।
पर जो न उनको कल्पलतिका सी कलित कविता मिली,
तो अल्प सौरभ-युक्त भू पर स्वर्ण की जूही खिली ॥

(१०)

कोई सुकवि कविता सुनाता है सभाओं में कहीं,
कोई सुकवि सन्तुष्ट है निज कृति निरख निज गेह ही ।
वाराङ्गना सी एक है कुलकन्यका सी दूसरी,
है कौन इनमें श्रेष्ठतम निर्लज्ज या लज्जाभरी ?

(११)

यों तो असंख्यक कवि सुकवि बन लें महाकवि भी सही,
पर वस्तुतः तो है कवित्व प्राप्त जन कोई कहीं ।
पङ्किल सरों की क्या कमी है व्याप्त है उनसे मही,
पर स्वर्ण-पङ्कज मानसर से अलग खिलते हैं नहीं ॥

(१२)

कपि-सम विविध कवि भारती के सामने नाचा करें,
पर प्राप्त उनको यश नहीं है प्रलय तक पच कर मरें ।
वीणा लिये है नाचती जिसकी गिरा पर शारदा,
उसका धरा पर है धराधर-सम अचल यश सर्वदा ॥

(१३)

निन्दा सुकवियों की करें जो बोलिए वे कौन हैं ?
या आप भी कहिए नहीं जब आप ही हम मौन हैं ।
चिढ़ कर मृगेन्द्रों की करे यदि श्वान-गण आलोचना,
तो क्या उसी के हेतु उत्तर भी पड़ेगा सोचना ?

(१४)

होते न कवि होता न तो इतिहास भी इस देश का,
होता हमें तो ज्ञान क्यों निज धर्म का निज वेश का ?
कैसे अमा की रात मिटती सूर्य यदि होता नहीं ?
क्या जाड्य जग के जन्तुओं का सुकवि है खोता नहीं ?

(१५)

किसने किये माधुर्य कटु के चित्र अङ्कित बोलिए ?
है कौन दूजा विश्व में कवि सा अशङ्कित बोलिए ?
दशशीस-सम अवनीश को राक्षस बनाकर रख दिया,
किसने कनक के दुर्ग को रज में मिला कर रख दिया ?

(१६)

होते न कवि बनता न तो भारत जगद्गुरु आज भी,
हम भूल जाते हो निलज निज राज भी निज काज भी ।
पहले खलों के साथ में किससे लड़ाई है हुई ?
पहले खलों की शक्ति की किस पर कड़ाई है हुई ?

(१७)

वाणी सुधा कवि की मृतक होने न देती देश को,
आदेश कवि का मान कर किसने सहा है क्लेश को ?
अवहेलना कवि-वाक्य की सच मानिए मत कीजिए,
सप्रेम अपना ध्यान गीता-गान पर कुछ दीजिए ॥

(१८)

किससे विभाजित हैं हुई संसार में असती सती ?
वर्णित हुईं किसकी कृपा से भारती रम्भारती ?
किसने बताया सत असत के भेद को कवि के बिना ?
किसने सुनाया छन्द ही में वेद को कवि के बिना ?

(१९)

दुर्जन शमित होते नहीं जग में बिना कवि के कभी,
भूधर न चकनाचूर होते हैं बिना पवि के कभी ।
प्रतिभा-प्रभा कवि की प्रभावित है किये जग-दृष्टि को,
कवि का कला-कौशल कुशल का दान देता सृष्टि को ॥

(२०)

वह कौन है मृत को अमर करता अमर होकर स्वयम् ?
अति कायरों को भी निडर कर दे निडर होकर स्वयम् ।
किसने किया निज लेखनी से बर्बरों को मौन है ?
नरवर सुरासुर-सेव्य सत्कवि के बिना वह कौन है ?

रामचरित उपाध्याय

कीर्ति के पथ में।

(२)

द्वारकादास—'खण्डेला के राजा' कहलानेवाले गिरधर के ये बड़े बेटे थे। इनमें सैन्य-बल, शस्त्र-बल अथवा अर्थ-बल आदि की अपेक्षा आत्म-बल अधिक था।

पहले राजपूताने के राजा दिल्लीश्वर के दरबार में सदा उपस्थित रहते थे। एक बार दिल्ली-सम्राट् ने शिकार में एक जीता जागता भयङ्कर नौहत्था नाहर फँसवाया। उसे राजधानी में लाकर उन्होंने उसके साथ नर-युद्ध होने की इच्छा प्रकट की।

द्वारकादास।

मनोहरपुर के राव के हृदय में द्वारकादास के नाश की वासना बहुत दिनों से बसी थी। उन्होंने नर-सिंह युद्ध के लिए बादशाह को उनकी ओर सङ्केत किया। द्वारकादास को बादशाह की आज्ञा सूचित की गई। रङ्गभूमि सजा दी गई, दर्शक-गण यथास्थान उपस्थित हुए और बादशाह भी अपनी बैठक पर आ बैठे।

कपटहीन द्वारकादास ने आते ही पहले तो स्नान किया। पीछे वे रेशमी धोती पहन कर नङ्गेबदन, निरस्त्रदशा में सिंह के समीप उपस्थित हुए। महाक्रोधित सिंह का उन्होंने प्रीतिपूर्वक पूजन किया। उसके ललाट में लाल चन्दन का लेप किया, गले में पुष्पों की माला पहनाई और नैवद्य लेकर सिंह के विकराल मुख में अपने ही हाथ से रख दिया। यह सब कर चुकने के बाद वे वहीं बैठकर ध्यान करने लगे और सिंह शान्त-भाव से उनका मुँह प्रीतिपूर्वक चाटने लगा। यह देख कर समस्त शूरसामन्त अवाक् हो गये और बादशाह चकित रह गया।

अन्त में बादशाह ने कहा कि द्वारकादास! तुम इस असीम साहस अथवा अनन्य आत्म-बल के बदले में जो चाहो सो प्राप्त कर सकते हो। उदार द्वारकादास ने केवल यही माँगा कि फिर कभी ऐसी आपज्जनक आज्ञा किसी को न दी जाय।

राजा बिहारीदास—इनका जन्म नाथवंश में हुआ था। युद्ध के उपकरणों में ये बचपन से ही प्रेम करने लगे थे। गठीले शरीर से इनकी प्रतिभा प्रकाशित होती थी। ये बड़े मिलनसार और धीर-वीरोदार तथा राजभक्ति के आदर्श थे। इन गुणों के आधिक्य से सम्राट् अकबर भी इनसे प्रसन्न थे। इनकी निःस्वार्थ सेवा, प्रगाढ़ वीरता, अटल देशभक्ति और परोपकारिता देख कर वे इनको अपने पास रखते थे और गजनी-राज्य लेने की लालसा भी इन पर प्रकट की थी। उस दुस्साध्य कार्य को साधने के लिए बिहारीदास ने साहस किया और अपने पुत्रों को साथ लेकर गजनी पर चढ़ाई की।

शत्रु बड़े बलवान् थे और बिहारीदास के पास साहस के सिवा सेना-बल विशेष नहीं था। तो भी युद्ध आरम्भ किया गया। और पहले इनके पुत्र ही अग्रसर हुए। उन्होंने खड्ग-युद्ध से यवन-सेना का इतना संहार किया कि वह कम होने लगी और तितर-बितर हो गई। यह हाल देख कर शत्रु-दल के नेताओं ने सामूहिक आक्रमण किया और एक एक करके इनके सब पुत्रों को धराशायी कर दिया।

वंशनाश की इस अक्षम्य घटना से बिहारीदास को बड़ा क्षोभ हुआ। वे तत्काल ही रणाङ्गण में प्रवेश करके अपने सुतीक्ष्ण खड्ग के प्रहार से शत्रुओं का संहार करने लगे। जिस भाँति मृगशावक-समूह को क्रोधित केसरी क्षण भर में विनष्ट कर देता है उसी भाँति बिहारीदास ने भी शत्रु-सेना का संहार कर गजनी-गढ़ पर अधिकार कर लिया।

आज-कल के ऐतिहासिक सिक्कों से यह प्रतीत होता है कि अफ़ग़ानिस्तान के अन्तर्गत पार्वत्य प्रदेश का 'गजनी-गढ़' यवन-राजाओं की कीर्ति का ही स्मृति-चिह्न है। ऐसे दूर देश में हिन्दुओं का क़िला होना सम्भव नहीं। परन्तु प्राचीन इतिहासों के अवलोकन से मालूम होता है कि वह एक हिन्दू राजा का बनवाया हुआ है और कई बार हिन्दुओं के अधिकार में रहा है।

यादव-कुल में 'गज' नाम के एक तेजस्वी राजा हो गये हैं। उन्होंने लगभग दो हज़ार एक सौ वर्ष पहले खुरासानी और रूमी राजाओं से युद्ध करते समय वह प्रगाढ़ गढ़ बनवाया था। उसका 'गजनी-गढ़'—नाम रख कर कई वर्षों तक उसके आप ही अधिपति रहे थे। पीछे वह क़िला कई पीढ़ियों तक मुसलमानों और कई बार हिन्दुओं के अधिकार में रहा। उसी गजनीगढ़ को बिहारीदास ने अपने अधिकार में लिया और कई वर्ष वहाँ का शासन करके स्वदेश लौट आये।

शत्रुओं का दमन करने में अपने प्राण-प्रिय पुत्रों को खो देनेवाले बिहारीदास की इस साहसभरी वीरता के ऋणभार से सम्राट् दब गये। अतएव उनको दुर्लभ उपाधियाँ देकर उन्होंने अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

बिहारीदास में परोपकार के प्रणपालन की दृढ़ता थी। वे उससे विचलित नहीं होते थे। उनके गजनी-विजय के प्रभाव से देशहित के कई एक कठिन काम सफल हुए थे।

सुनने से आश्चर्य होगा कि दिल्ली-सम्राट् ने एक बार आमेर-राज्य को खालसा कर लिया था। वह बिहारीदास के प्रयत्न से फिर प्राप्त हुआ। बिहारीदास को सामोद स्थायी रूप से दिया गया। इसके अतिरिक्त सम्राट् ने उनको 'राजा' की पदवी तथा राज-चिह्नों के धारण करने का अधिकार भी दिया।

बिहारीदास के पास ५२ हाथी, ५०० घोड़े, कई एक शूर-सामन्त और अनेक वीर क्षत्रिय थे। उनके पाँच स्त्री तथा छः पुत्र थे। खींचनजी नाम की स्त्री 'रानी' कहलाती थी और वही उनकी पटरानी थी। सामोद में इनका बनवाया हुआ रानीवाला बाग़ अब भी मौजूद है।

बिहारीदास ने फागी के ज़िले में संवत् १६४५ में बिहारीपुरा बसाया था। संवत् १६५२ में सामोद के महाकाय महल बनवाये थे। वे महल बड़े मज़बूत हैं। उनके ताक़, खूँटी, छज्जे, पनाले आदि पत्थर के हैं। आज साढ़े तीन सौ वर्ष होने को आये उन महलों का एक भी अंश शिथिल नहीं हुआ है। मज़बूती इतनी अधिक है कि घूँमरों से तोड़ने पर भी टस से मस नहीं होते। कुछ दिन हुए उनकी एक दीवार में फुट भर चौड़ा छेद करवाना था। चार मज़दूर तीन दिन लगे रहे, परन्तु आर-पार छेद नहीं हो सका। ऐसे मकानों को सुरक्षित रखना अच्छा है।

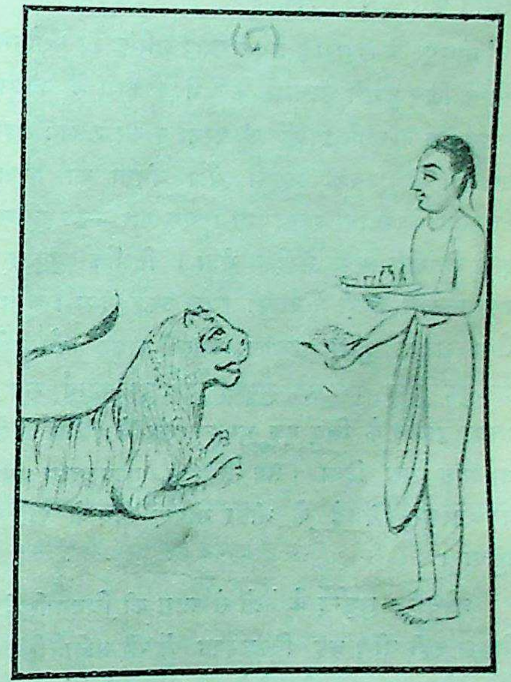

राजा बिहारीदास।

मुकुन्ददास—मुकुन्ददास नामक एक व्यक्ति का अन्यत्र उल्लेख हो चुका है। परन्तु उसमें और इसमें एक

अन्तर है। वह अपने प्रच्छन्न आत्मबल के प्रभाव से विजयी हुआ और यह अपने प्रकट बल से ख्याति प्राप्त कर सका। यह आशोख का कूँपावत सरदार था और इसका प्रधान नाम मुकुन्ददास था।

हिन्दुओं के प्रति स्वाभाविक वैर रखनेवाले यवनों की बादशाही दरबार में कमी नहीं रहती थी। प्रतिष्ठित हिन्दुओं को लाञ्छित करने के लिए वे उनको अमानुषिक काम करने में हठात् प्रवृत्त किया करते थे। किन्तु प्रतिष्ठा के संरक्षण में प्राणों को छोड़ देनेवाले हिन्दुओं ने समय समय पर सब प्रकार के बल-प्रयोगों से उन्हीं को शङ्कित, विस्मित और लज्जित किया।

जोधपुर के महाराज प्रथम यशवन्तसिंह को यशोवन्त होने के लिए दुर्भेद्य घटनाओं का भेदन करने में उपर्युक्त मुकुन्ददास ने अपने प्राणों की परवा न कर शतशः सहायता दी थी। उसकी प्रभुता और वीरता का विचार औरङ्गज़ेब को बराबर रहता था। एक बार उसने मुकुन्ददास के पास एक सन्देश भेजा। निर्भीक मुकुन्द ने अपमानकारी शब्दों में उसका रूखा उत्तर दिया। अङ्गारा जैसा जलता हुआ उसका उत्तर पाकर औरङ्गज़ेब जलभुन गया। उसने मुकुन्द को दुर्व्यवहार्य रूप से मरवा डालने के लिए एक भयङ्कर सिंह के पिंजड़े में उसे नङ्गेबदन धँसा दिया। तब हँसमुख मुकुन्ददास प्रसन्नमन होकर पिंजडे के भीतर भीषण बाघ के पास जा पहुँचा।

क्रोधान्ध मुकुन्द के नेत्रों से आग की चिनगारियाँ सी निकल रही थीं। वह निरस्त्रदशा में भी माना सिंह को खा जानेवाला सा प्रतीत होने लगा। उसने सिंह से सदर्प कहा—रे यवन-सिंह, आ, यशवन्त के सिंह से सामना कर। उसकी ललकार सुन कर—नरसिंह और पशुसिंह के नेत्र परस्पर मिलते ही—क्रोधित सिंह पूँछहिला कर दूर जा बैठा और औरङ्गज़ेब लज्जित हो गया।

सम्राट् ने अपनी दुर्वासना को छिपाने के लिए मुकुन्ददास की बड़ी प्रशंसा की और दास के बदले उसे सिंह बना कर नाहरसिंह, नाहर राव या नाहर ख़ाँ नाम रख दिया।

नाहर ख़ाँ की अप्रतिहत प्रतिभा से हतप्रभ होकर औरङ्गज़ेब का पुत्र भी उससे कुढ़ता था और उसे विपत्तियों फँसाने का प्रयत्न सदा किया करता था। एक बार शाह ने नाहर ख़ाँ की प्रशंसा करते हुए कहा—क्या आप को पूरे वेग से दौड़ाते हुए वृक्ष की डाली को पकड़ उसमें झूल सकते हैं। तत्त्वज्ञ नाहर ने निर्भय रूप से दिया—यह काम बन्दरों का है। मैं राजपूत हूँ। हम सब क्रीड़ा-कौतुक तलवार में है और लोक-सेवा के योग्यपात्र को वैसी क्रीड़ा दिखा भी सकते हैं। यह सुन शाहज़ादा चुप हो गया और किसी दूसरे कण्टका मार्ग की राह देखने लगा।

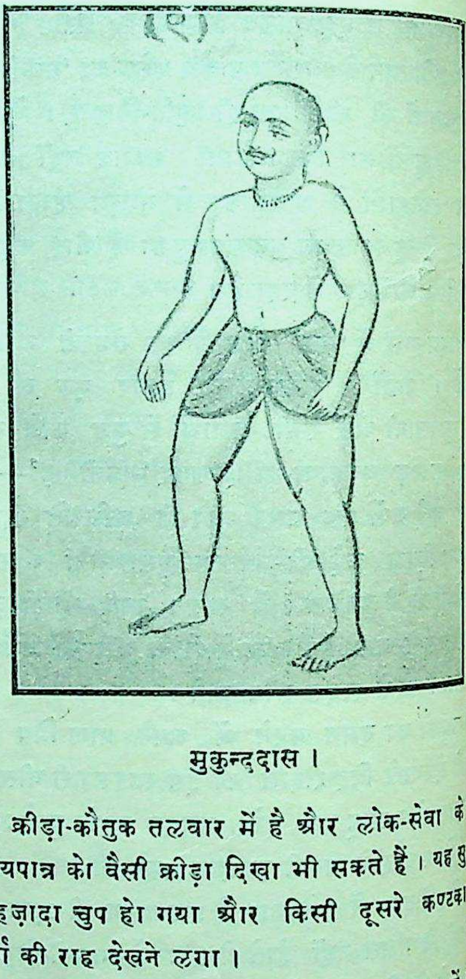

मुकुन्ददास।

करणसिंह—इनका जन्म संवत् १६६३ में था। ये बीकानेर के राजाओं में जङ्गलधर बादशाह की विशेष उपाधि से विभूषित हुए थे। इस उपा प्राप्त करने में उन्होंने अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की थी।

हिन्दू-धर्म का मूलोच्छेद करनेवाले औरङ्गज़े हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के अनेक यत्न किये। अपने आधिपत्य के प्रभावशाली पुरुषों को अधि

आतङ्क और प्रलोभनादि के द्वारा बारम्बार आकुञ्चित किया, परन्तु धर्म-प्राण हिन्दू सर्वस्व खोकर भी येन केन प्रकारेण बचते रहे। अन्त में औरङ्ग़ज़ेब ने उनको जाल में फाँस कर मुसलमान करने का निश्चय किया। काबुल की ओर से भारत पर किसी प्रकार का असह्य आघात होने की सम्भावना सुझाकर वह अपने अधीन समस्त हिन्दू-राजाओं, राजपूतों और मुसलमानी सेनाओं को सजा कर काबुल पर चढ़ा ले गया। मार्ग में अटक नदी को उतरने के लिए अगणित किश्तियों का प्रबन्ध किया गया था।

इस अवसर पर एक हिन्दू-हितैषी फ़क़ीर ने करणसिंह से कहा—यह सब आयोजन तुम लोगों को अटक पार ले जाकर बलपूर्वक मुसलमान बनाने के लिए किया गया है। करण ने इस आपज्जनक रहस्य को गुप्तरूप से सब राजपूतों को सूचित किया। रणाङ्गण में किसी भी भीषणता से भयभीत न होनेवाले हिन्दू इस जाति-विच्छेदक बात को सुन कर सहम गये। उन्होंने स्थिर किया कि शाही आज्ञा की अवज्ञा कर के यहीं से वापस चलना चाहिए। इसके लिए उन्होंने यह युक्ति सोची कि पहले मुसलमान अटक पार हो जायँ और फिर हम किश्तियों को तोड़ कर घर लौट चलें।

इसी निश्चय के अनुसार काम किया गया। हिन्दुओं की किश्तियों के आगे जाने में अपना अपमान मान कर पहले मुसलमानों ने ही नदी पार की। इसके बाद हिन्दुओं के लिए किश्तियाँ भेजी गईं। हिन्दू लोग कौशल से जयपुर-राजमाता का सूतक मान कर १२ दिन ठहरे रहे। यह सुन कर बादशाह आगे बढ़ गया। अब किश्तियों के तोड़ने का विचार उपस्थित हुआ। किश्तियों का तोड़ना मानो काले-नाग के पिटारे में हाथ डालना या धधकती आग में धँसना था। इधर धर्मनाश की आशङ्का से प्राण सूखे जा रहे थे और उधर बादशाही अवज्ञा के दुर्व्यवहारों का विचार था। ऐसे असमञ्जस में राजपूतों को निमग्न देख कर करण ने उस काम का आरम्भ किया। देखते देखते सब किश्तियाँ तोड़ दी गईं और हिन्दू लोग लौट आये। इस घटना से बादशाह के कार्य में बाधा पड़ गई। वह भी कुछ दिन पीछे वापस लौट आया। उसने करण को बीच दरबार में मरवा डालने के विचार से बुलवाया। करण अपने दोनों पुत्रों को लेकर वीर-भाव से उपस्थित हुए और क्रोध की आग से तपे हुए शब्दों में बादशाह की दुर्नीति का घोर विरोध किया। यह सुन कर सम्राट् सहम गया। हिन्दुओं ने करण को "जङ्गलधर बादशाह" की उपाधि से विभूषित किया।

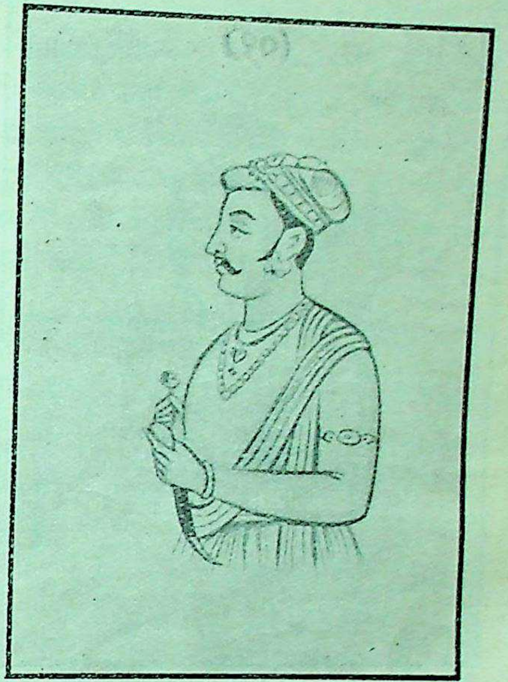

करणसिंह।

दुर्गादास—(राठौर) ये अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। मारवाड़ के प्रथम यशवन्तसिंह तथा औरङ्ग़ज़ेब के राज्य में इनके वीरत्व की धाक जमी हुई थी। लोग सत्य ही कहते हैं कि मारवाड़-राज्य के संस्थापक दुर्गादास ही थे। देश-रक्षा के सम्बन्ध में उनके वीरता-पूर्ण कार्यों को देख कर महाराज यशवन्तसिंह को भरोसा होगया था कि आगन्तुक आपत्तियों से इस राज्य को दुर्गादास ही बचा सकेंगे।

संवत् १७३९ के ग्रीष्मकाल की गर्मी में एक बार सोते हुए दुर्गादास के मुखमण्डल पर महाराज यशवन्त ने अपने कर-पल्लवों से छाया की थी। इस अपूर्व कृपा का उपस्थित सरदारों ने कारण पूछा तब महाराज ने स्पष्ट

कह दिया कि इस सम्पूर्ण राज्य पर किसी दिन यही छाया करेंगे। वास्तव में ऐसा ही हुआ। दो ही वर्ष पीछे संवत् १५३७ में यशवन्तसिंह स्वर्गवासी हुए तब गर्भवती हाड़ी रानी सती होने को उद्यत हुई थी। उस समय वीर दुर्गादास ने यशवन्त-वंश की रक्षा के लिए महारानी को साहसपूर्वक रोका और औरङ्गज़ेब के सैन्य-बल का विध्वंस किया।

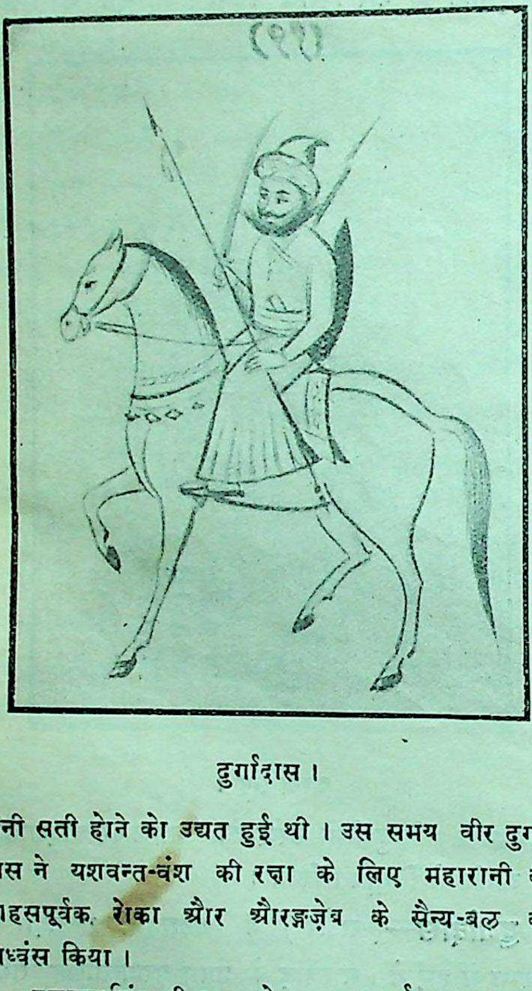

दुर्गादास।

यशवन्तसिंह की मृत्यु के अनन्तर गर्भगत बालक को भी शत्रु समझनेवाले औरङ्गज़ेब ने सगर्भा रानी को पकड़ने के लिए सेना-दल भेजे। किन्तु वीर दुर्गादास ने जिस भाँति पहले सती के शाप का कुछ भय नहीं किया था उसी भाँति सद्योजात कुमार को सब लोगों ने छिपा कर सैन्यदल से बाहर किया। नवजात बालक का संरक्षण एक विश्वासी व्यक्ति करता रहा और दुर्गादास दुर्भेद्य सेना का विध्वंस करते रहे। युद्ध के उपरान्त उस बालक को आबू आदि स्थानों में इतस्ततः छिपाये रखकर युवावस्था तक उसकी भले प्रकार रक्षा की और आप प्रकट रह कर आई हुई आपदाओं को साहस-सहि सहते रहे।

उन दिनों दुर्गादास की संरक्षण-प्रवीणता परिचय मारवाड़ के कोने कोने में फैल गया था और एक उच्च श्रेणी के वीर माने गये थे। आज ढाई सौ व्यतीत हो गये तो भी उनके वीरत्व-प्रकाश की गाथा बराबर गाई जाती हैं।

जयसा बोहरा—इनका जन्म हीन-दशा-ग्रसित मात पिता के घर में हुआ था। आसन्नप्रसवा पत्नी को छो कर इनके पिता प्रसूता के उपयोगी सामान की चिन्ता बाहर गये थे। अन्नकण-शून्य आँगन में चूहों की दौड़- देखती हुई इनकी माता प्रसव-पीड़ा से पीड़ित हो र थी और पास में कोई पड़ोसिन भी नहीं थी। ऐसे समय एक तरफ़ जयसा का जन्म हुआ और दूसरी त छप्पर से कोई पदार्थ नीचे गिर पड़ा। पुत्र-जन्म के सद्यःप्रसूता ने उस पदार्थ को खोल कर देखा तो मुहरें और पाँच रुपये उसमें मिले। माता ने मान लि

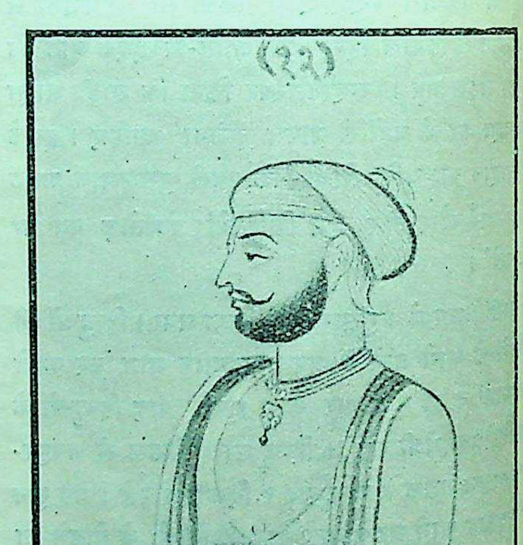

जयसा बोहरा।

कि यह नवजात बालक भाग्यवान् है और इसी के निमित्त यह छप्पर फाड़ कर लक्ष्मी आई है।

पति के आजाने पर दम्पती ने भले प्रकार पुत्र-जन्मोत्सव मनाया और यथाविधि उसका पालन किया। जयसा जैसे जैसे बढ़ते गये, गृह-विभूति भी वैसे ही वैसे बढ़ती गई। माता-पिता की मृत्यु के बाद बड़े होने पर जयसा एक महाधनी व्यक्ति गिने गये।

अनुसन्धान से पता लगा है कि जयसा के दो पुत्र थे। उन पुत्रों में एक खुशहालीराम थे, जिनको हमने भ्रम से निर्धन अवस्था में जन्म लेने का उल्लेख अपने पहले लेख में किया है, अस्तु। अमित धनी होने पर भी जयसा अभिमान-शून्य और देशभक्ति की लालसा से परिपूर्ण थे।

प्रजाजन के प्रति शासक लोगों के निर्दय व्यवहार, अनुचित कर-भार और उन्नति-बाधक व्यवस्थाओं को देख कर जयसा के मन में यह वासना उत्पन्न हुई कि बहुत लोगों के व्यापार-व्यवहार और विचरण-विहार के उपयोगी सुविधाओं से संयुक्त-स्थान में एक ऐसा शहर बसाया जाय जिसके निवासी स्वतन्त्र रह कर इच्छानुसार व्यवसाय कर सकें और वृद्धिंगत व्यापारों से श्रीसम्पन्न होकर सब प्रकार के सुख-साधनों से सन्तुष्ट रहें। इस मनोगत कल्पना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उन्होंने शेखावाटी, नौरावाटी, बत्तीसी और राजावाटी के केन्द्रस्थल में एक लम्बे-चौड़े मैदान में नगर-निर्माण का सूत्र-पात किया और कुछ समय बाद हाट-बाट आदि से उसका अधिकांश भाग तैयार भी हो गया। उसमें नीति के अनुसार सब जातियों का यथोचित निवास, सब प्रकार के कारबारी तथा व्यापारों का प्रसार और सब प्रकार की सुविधाओं का आरम्भ यथास्थान होने लगा। परन्तु दुर्दैव ने दो दिन की चांदनी दिखाकर जयसा के असमय. मरण से फिर अँधियारी रात बना दी और उस शहर को अधूरी दशा में रख कर ही बोहरा के बढ़ते हुए नाम को रोक दिया, जिससे लोकोत्तर लोक-सेवा के साधन लुप्त न हुए तो भी अङ्कुरोदय की दशा में ही मुरझा अवश्य गये।

जनश्रुति है कि उक्त शहर श्रीमाधवपुर है। और जयसा के अभिमत के अनुसार देशाधिपति के नाम पर उसका नाम रक्खा गया है। वहाँ का आधिपत्य तथा शासन-व्यवहार राज्य के द्वारा होता है। जयसा के सुयश और विपुल सम्पत्ति के विषय में नागल के विशाल मकान भी उपर्युक्त कथन की सत्यता को सूचित कर रहे हैं।

हाथीसिंह—ये वीर, वपुष्मान और लक्ष्यवेधी थे। विशाल शरीर के कारण इनका नाम हाथी रक्खा गया था। ये अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। गाँव इनका गणेश्वर था। इनके छोटे भाई का नाम काबुलीसिंह था। इन दोनों भाइयों ने देशरक्षा के दो काम अपने ज़िम्मे लिये थे।

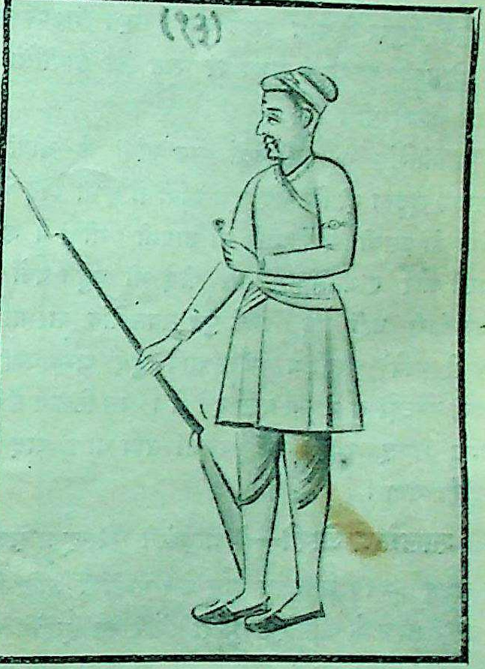

हाथीसिंह।

छोटे भाई ने उस देश में होनेवाली डकैतियों के रोकने और बड़े भाई ने रात में होनेंवाली चोरियों के बन्द करने का प्रण किया। हाथीसिंह की कोटड़ी गाँव के ऊपर थी। नगर-प्रवेश का द्वार-देश कोटड़ीवालों की निगाह के नीचे था। कोटड़ी के कुछ कमरे ऐसे भी थे जिनसे गाँव के नीचे के भाग में कोशों तक सीधी दृष्टि जाती थी और वहाँ से निशानेबाज़ी भी अच्छी होती थी।

हाथीसिंह लक्ष्यवेध में सिद्धहस्त थे। रात को वे अपनी लम्बी बन्दूक़ को हाथ में लिये हुए उसी कोटड़ी में रहते थे। अमावस के समीप की अँधेरी रात थी। ग्रामनिवासियों के सो जाने से शब्द-व्यापार बन्द हो गया था। निशार्द्ध के समय दूर की आहट भी अति समीप मालूम होती थी, और उस दूरी को अभ्यस्त हाथीसिंह अपने शरीर में लगे हुए मापक यन्त्र से नाप सकते थे। ऐसे ही अवसर पर हाथीसिंह को गाँव के बाहर कुछ आहट सुनाई दी। उन्होंने उसी आहट को लक्ष्य करके बन्दूक़ दाग दी। और वे यथावत् लेटे रहे। प्रातःकाल पता लगा कि रात को गाँव में एक के घर चोरी हो गई और उसका सब माल गाँव के बाहर 'गोरड़ों' में एक मृत मनुष्य के पास मिल गया। मृत मनुष्य वही था जिसकी आहट के लक्ष्य पर रात को हाथीसिंह ने गोली चलाई थी।

हाथीसिंह ने समीपवर्ती सब गाँवों के मीनों को बुलाकर सूचना दी कि यदि इन गाँवों में कभी कोई चोरी करेगा तो उसकी यही गति की जायगी। मीनों ने शपथ खाली और हाथीसिंह के मरे पीछे भी बहुत वर्षों तक उधर चोरी नहीं हुई। उनके पुत्र सबलसिंह पारमार्थिक रूप से गायें चराते थे और आये हुए अभ्यागतों को अपनी कोटड़ी से भोजन-वस्त्र देते थे। उस ठिकाने में यह प्रबन्ध संवत् १८७३ तक चलता रहा था। बाद को बन्द हो गया।

शालग्राम जोशी—ये गौड़वंशी विशद् ब्राह्मण के घर संवत् १८२१ में उत्पन्न हुए थे। सन्तोषी माता-पिता के घर में अन्न के अतिरिक्त दूसरी निधि का इन्होंने अनुभव नहीं किया था। हाडौते की ढानी के लोग इनको पूज्यतम मानते थे। जातीय धर्म के अनुरोध से एक बार इन्होंने एक वैश्य के यहाँ ११ दिन अनुष्ठान किया। वैश्य ने वीर ब्राह्मण को केवल पाँच पसेरी जौ दिये। तुच्छ दक्षिणा को देखकर शालग्राम ने उस अन्न और उस वृत्ति को वहीं छोड़ दिया और अपने नरेश से निवेदन किया कि यदि आप मुझसे क्षात्रोचित सेवा लें तो मैं दे सकता हूँ। उत्साही युवक के आग्रह को देखकर नरेश ने आज्ञा दी कि लाड़ खानियों के खोहरे में हमारी भूमि का कुछ अंश दूसरों के अधिकार में हो रहा है। यदि तुम उसे छुड़ा लो तो सदैव वहाँ के शासक रह सकते हो। शाल-ग्राम ने इस शर्त को सहर्ष स्वीकार किया और ढाल तलवार-सेल-बन्दूक़ तथा कटारा लेकर वहाँ चले गये।

खोहरे के प्रमत्त दुर्गरक्षक अर्थात् उन दिनों की कोटड़ी या गढ़ के दरबान ने घोड़े की टाप सुन कर दूर से ही उनको रोकना चाहा, किन्तु शालग्राम ने दुर्ग-द्वार पर उसी का संहार करके क्षात्रधर्म का श्रीगणेश किया और अन्य रक्षकों को बन्दी करके क़िले में अपने नर-नाथ की दुहाई फेर दी। उनका क़िले में प्रवेश होते ही गाँव में सन्नाटा छा गया। दूसरे दिन कुछ सेना और आज्ञा से समस्त भूमि पर अधिकार कर लिया। फिर क्या था।

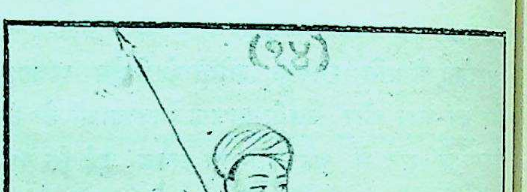

शालग्राम जोशी।

उन्होंने वहाँ थोड़े ही दिनों में अपना प्रभाव फैला दि और प्रजा में सुख-शान्ति का सञ्चार करके राजस्व की आ अच्छी बढ़ा दी। थोड़े दिन पहले जिस ब्राह्मण के सा दो भिक्षुक भी नहीं चलते थे उसी के पीछे खोह में पचीस घुड़सवार चलने लगे और उसके सङ्के

मात्र पर पाँच सौ वीर रणक्षेत्र में जाने को तुरन्त तैयार रहने लगे । इस प्रभाव से उनके नरेश दूरस्थ रह कर भी सन्तुष्ट रहे और उसके विपक्षी उस हस्तगत भू-भाग से अद्यावधि रिक्त हस्त हुए ।

ब्राह्मण ब्राह्मण को देख कर सदा से ईर्ष्या रखते आये हैं । कुछ अदूरदर्शी ईर्ष्यालु शालग्राम के आतङ्क से सन्तप्त होकर उनसे भी ईर्ष्या रखने लगे और उनके नरेश को सुझाया कि खोहरे के मालिक तो अब जोशीजी ही हो गये । वहाँ आपका दबदबा अब कुछ नहीं रहेगा । अतः उनको वहाँ से हटा देना चाहिए । यह सुन कर नरेश ने अपनी कुछ सम्मति प्रकट नहीं की । परन्तु कुढ़नेवालों ने उनको राजधानी में बुला ही लिया और अपमान करने को गुप्त रूप से उद्यत हुए ।

इस अनौचित्य को रूपान्तरित करने के लिए पुरोहित जगन्नाथ ने तेजस्वी ब्राह्मण की चढ़ी हुई भृकुटी को देख कर उनके अपमान की रचना जहाँ की तहाँ रहने दी और राज्य की सङ्कुचित आर्थिक दशा दिखाकर राजस्व के स्वरूप में उनसे ५ हज़ार रुपये भेज देने का आग्रह किया । शालग्राम ने खोहरे जाकर राज्य की सहायता के लिए रुपये भेज दिये और यथावत् रहने लगे ।

एक बार शेखावाटी की झञ्झटों से अवकाश लेकर दौलतराम हलदिया खोहरे की तरफ़ से आ रहे थे । मार्ग में उन्होंने शालग्राम का नाम सुनकर उनसे भेंट की । शालग्राम ने उनका यथोचित स्वागत किया और अपने योग्य कार्य पूछा । राजमन्त्री ने कहा कि मेरा एक प्रच्छन्न प्रयोजन है, परन्तु यहाँ उसकी सिद्धि का सामान नहीं दीखता । पर शालग्राम ने मन्त्री के भेद को जान लिया और तत्काल पाँच सौ वीरों को बुलवाकर उनके प्रगाढ़ कार्य में अच्छी सहायता दी । इस उपकार से प्रधान मन्त्री उनके सच्चे मित्र बन गये और दूसरे अवसर पर उनके गाँव में जाकर भी उनका सम्मान बढ़ाया ।

अवस्था का उतार आने पर नरेश ने जोशीजी को अपने समीप बुला लिया और वहीं वे कालयापन करने लगे । किन्तु अन्त में कृष्णगढ़ (रैनवाल) के खारडे में एक असहाय कुटुम्ब को डकैतों से बचाते समय वे मारे गये । प्राणान्त होने के पहले उनका सेवक समीप आगया था । अतः उसने उनका सब कथन सुन लिया और अन्त्येष्टि-क्रिया करवा कर वह घर आ गया । उक्त खारडे में उनका खाग अर्थात् स्मारक-स्तम्भ मौजूद है और जन्मभूमि में उनके वंशजोंद्वारा उनकी शिलामयी मूर्ति अब तक पूजी जाती है । उनके साथ ३ सवार २ सेवक १ भिश्ती और तीन चार घर के आदमी रहते थे । इन सबका खर्च मामटोरी के पट्टे से चलता था ।

जीता पटैल—यह जाति का गूजर था । किसान मा-बाप के घर संवत् १६१५ में पैदा हुआ था । छाछ-राबड़ी और दलिया से पाला गया था । बत्तीसी प्रदेश के अन्तर्गत 'बँन' में इसकी ढानी थी । जवानी की झलक आते ही कृषक मा-बाप का इसने संसर्ग छोड़ दिया ।

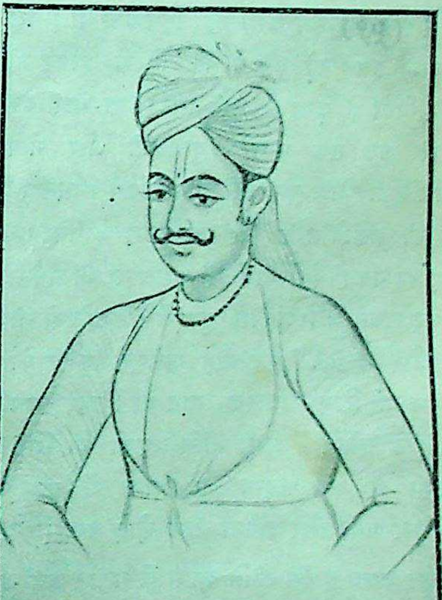

जीता पटैल ।

वह प्रदेश भोमियों के अधिकार में था । भोमियें प्रजा को पीड़ा देते थे । जीता इस बात से कुढ़ता था । अतः वह देश छोड़ विदेश चला गया और वहाँ अपनी आर्थिक दशा सुधार कर फिर घर आगया । गीता, सूर्यपुराण और रामस्तवराज उसको कण्ठस्थ थे । स्नान करने के

बाद स्तोत्रों का पाठ और सूर्य को १०८ बार साष्टाङ्ग प्रणाम करने का उसका नियम था। भूखा रह जाता, परन्तु इस नियम को नहीं छोड़ता था। विद्या-विहीन देश के अन्तर्गत कृषक गूजर के घर जन्म लेकर जीता उसी नित्य नियम के प्रभाव से वीरोचित कामों में प्रवृत्त होने और प्रजा-पीड़क भोमियों को परास्त करने लगा। ऐसा करने से बहुसंख्यक भोमिये उसके विरुद्ध होगये और अनेक प्रकार से उसको हैरान करने लगे। परन्तु वीर जीता उनको सदैव जीतता रहा और वह कभी परास्त नहीं हुआ।

भोमियों के लगाये हुए अभियोगों में जीता दो तीन बार क़ैद भी किया गया। परन्तु प्रणवीर जीता भोमियों के अत्याचारों को रोकता ही रहा। वह प्रजा के हित की बातों में सेनाओं के बीच घिरा रह कर भी नहीं दबता था और सत्य कहने में कभी नहीं हिचकता था। बल और बुद्धि उसके इतने बढ़े हुए थे कि निरस्त्र होकर भी वह बीसों सैनिकों के क़ाबू में नहीं आता था और उत्तर यह देता कि जब तक हमारे रघुनाथजी और गोपालजी सहायक हैं तब तक तुम नहीं पकड़ सकते। वास्तव में वह ईश्वर की पक्की भक्ति और उनके सच्चे विश्वास पर आरूढ़ रह कर ही ऐसे कामों को करता था जो सर्वसाधारण नहीं कर सकते थे। छत्तीस फ़ुट ऊँचे मकान से नीचे कूद जाना और इक्कीस फ़ुट चौड़े जलपूर्ण कुण्ड को नाँघ जाना उसके लिए साधारण बात थी। वह न्यायविहीन व्यक्तियों के दबाने में जिस भाँति अक्षम्य था उसी भाँति दीन-रक्षा में भी अदम्य था। अन्त में वह भस्मक रोग से मर गया और अपना नाम छोड़ गया।

कहा जाता है कि कीर्ति छाया के समान उन्हीं मनुष्यों का अनुगमन करती है जो उसकी ओर दृष्टि-पात तक नहीं करते। इसके विपरीत जो लोग कीर्ति को हस्तगत करने की चेष्टा करते हैं उनसे वह दूर ही भागती है। ऊपर जिन व्यक्तियों के कार्य-कलाप का वर्णन किया गया है उन्होंने कीर्ति की आशा से अपना कर्तव्य-पालन नहीं किया। इसी से उनका नाम हमारे लिए स्मरणीय है।

हनूमान शर्मा

भाषा में सादृश्य।

इन्द्रियज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान इत्यादि अनुभूतियां मन में सञ्चित रहती हैं। वे सभी समय काम में नहीं आतीं, पर ये संज्ञा-क्षेत्र में बनी रहती हैं, जब जिसका प्रयोजन होता है तब वह सामने आ जाती है। बाक़ी संज्ञा-क्षेत्र में छिपी रहती हैं। सदृश अनुभूतियों में सम्बन्ध स्थापित होता है और उनके वर्ग बन जाते हैं। मन में जब एक का उदय होता है तब दूसरी भी उदित होती है। ऐसी अनुभूतियों को सहचारिणी अनुभूतियां कहते हैं और इस व्यापार को साहचर्य्य (association) कहते हैं। साहचर्य्य का ज्ञान जैसे सादृश्य की अनुभूति से होता है वैसे विभिन्नता की अनुभूति से भी होता है।

साहचर्य्य के कारण एक वस्तु को देखने से दूसरी वस्तु याद आती है। दावात देखने से क़लम याद आता है। कुछ सहचर वस्तुओं में स्थान का सम्बन्ध है, कुछ में काल का सम्बन्ध है, कुछ में कार्य्य-कारण का सम्बन्ध है इत्यादि। स्थान तथा काल का व्यवधान जितना कम होता है, सम्बन्ध उतना ही दृढ़ होता है। साहचर्य्य भिन्न भिन्न प्रकार का है, सादृश्य का साहचर्य्य, वैषम्य का साहचर्य्य, सापेक्षिक साहचर्य्य तथा उपमा का साहचर्य्य। स्वामी-स्त्री, पिता-पुत्र, गुरु-छात्र इनका साहचर्य्य सापेक्षिक साहचर्य्य है। नदी के प्रवाह को देखने से जीवन-स्रोत याद आता है, वसन्तऋतु से यौवन की सुधि आती है, शुभ्र वस्तु को देखने से पवित्रता का भाव मन में उदित होता है—ये सब उपमा के साहचर्य्य हैं।

जिन सहचर वस्तुओं में विषय की कुछ समानता रहती है वे सदृश हैं। सहचर वस्तुओं में विषय की कुछ कुछ समानता की अनुभूति को सादृश्य कहते हैं।

ऊपर के विवरण से ज्ञात होता है कि जिन शब्दों को हम सुनते या व्यवहार में लाते हैं वे हमारे मन में स्वतन्त्र नहीं रहते, परन्तु उनमें पारस्परिक आकर्षण है। ध्वनियों या अर्थों के सादृश्य से अथवा ध्वनियों तथा अर्थों दोनों के सादृश्य से यह आकर्षण होता है। इस आकर्षण से

शब्दों के वर्ग बन जाते हैं। वर्गों में भी सादृश्य रहता है और छोटे छोटे वर्गों से बड़े बड़े वर्ग बनते हैं। अतएव मन में साहचर्य्य का एक जाल सा बन जाता है। उपमान या सादृश्य से शब्द बनने का आधार अनुभूतियों का साहचर्य्य ही है। भाषा के परिवर्त्तन में सादृश्य गौण कारण है। मुख्य कारण है ध्वनियों का स्वाभाविक परिवर्तन। साधारण नियम के व्यक्तिक्रम का कारण है सादृश्यमूलक परिवर्तन। जहां साधारण नियमों से परिवर्तन का पता नहीं मिलता वहां समझना चाहिए कि ध्वनियों या अर्थों के सादृश्य से परिवर्तन हुआ है।

सादृश्य से जो जो परिवर्तन होते हैं वे दो प्रकार के हैं—(१) ध्वनि-सादृश्य से और (२) अर्थ-सादृश्य से। ध्वनि-सादृश्य से शब्दों के (क) गठन (ख) विभक्तियों तथा (ग) विन्यास-प्रणाली में परिवर्तन होता है और अर्थ-सादृश्य से अर्थों में। (क) पहले हम सादृश्य से शब्दों के परिवर्तन की आलोचना करेंगे। 'बृहस्पति' के सादृश्य से 'वनस्पति' बना है। बृहस्पति में बृहः षष्ठी का रूप है, अतएव बृहस्पति नियम से बना। परन्तु वनस्पति में 'स' के आगम का कोई कारण नहीं है। पाली में सन्तिक शब्द तस्सन्तिकं वा ब्राह्मणस्सन्तिकं के षष्ठी विभक्ति के साथ अन्तिक शब्द के संयोग से बना। फासुक (स्पर्शुक) शब्द इच्छुक या भिक्षुक शब्द के सादृश्य से बना। प्राकृत में कित्तिय तथा इत्तिय के सादृश्य से जित्तिय बना है, अर्थात् हिन्दी में कितना और इतना के सादृश्य से जितना बना है। संस्कृत स्निग्धकं से प्राकृत सिनिद्धअं बनता है, इस सिनिद्धअं के सादृश्य से संस्कृत लिद्धकं से लिद्धअं बना है। हिन्दी-मनोरञ्जन या मनोभाव के सादृश्य से मनोकामना बना है।

(ख) सादृश्य से व्याकरण के रूपों में अर्थात् विभक्तियों में जितने परिवर्तन होते हैं उनका क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। विभक्ति-संयोग के पहले शब्द या धातु का आकार बदल जाता है और उस परिवर्तित आकार के साथ विभक्ति का योग होता है, जैसे घोड़ा शब्द बदल कर पहले घोड़े बनता है तब घोड़े शब्द में विभक्तियां लग कर घोड़े को, घोड़े से, घोड़े के, घोड़े में इत्यादि पद बनते हैं। संस्कृत भू धातु बदल कर पहले भव हो जाता है तब भव में विभक्तियां लग कर भवति, भवतु, अभवत्, भविष्यति इत्यादि पद बनते हैं। विभक्तियां लगने के पहले शब्द या धातु का जो रूप बनता है उसको अङ्ग कहते हैं। किसी शब्द या धातु के एक रूप के सादृश्य से उसके दूसरे रूप बनते हैं तथा एक शब्द या धातु के रूपों के सादृश्य से दूसरे शब्दों या धातुओं के रूप भी बनते हैं।

शब्दों और धातुओं के रूप प्रायः एक ही नियम से बनते हैं। यह सादृश्य का प्रभाव है। कुछ रूपों में व्यतिक्रम पाया जाता है। संस्कृत अकारान्त शब्दों की द्वितीया के बहुवचन में अस् के स्थान में अन्, तृतीया के एकवचन में आ के स्थान में एन, तृतीया के बहुवचन में भिस के स्थान में ऐस्, चतुर्थी के एकवचन में ए के स्थान में आय, पञ्चमी के एकवचन में अस् के स्थान में आत्, षष्ठी के एकवचन में अस् के स्थान में अस्य, षष्ठी के बहुवचन में आम् के स्थान में आनाम् और सप्तमी के बहुवचन में सु के स्थान में एषु हो जाता है। इसमें भी सादृश्य पाया जाता है।

कर्म्मन्, चर्म्मन्, पर्व्वन् इत्यादि की प्रथमा तथा द्वितीया के बहुवचन में कर्म्माणि, चर्म्माणि, पर्व्वाणि होते हैं। इनके सादृश्य से ऐसे शब्द जिनके अन्त में अन् नहीं है, जैसे फल, ज्ञान इत्यादि के रूप भी फलानि ज्ञानानि हो जाते हैं। वारीणि, मधूनि, धातॄणि इत्यादि पद भी इसी सादृश्य से बनते हैं।

नपुंसक गुणिन् शब्द के रूपों के सादृश्य से वारि शब्द के रूप बनते हैं।

गुणिना पद के सादृश्य से मुनिना पद बना है और मुनिना के सादृश्य से साधुना।

नदी शब्द की तृतीया, चतुर्थी, षष्ठी तथा सप्तमी के एकवचन में नद्या, नद्यै, नद्याः तथा नद्याम् पद होते हैं। लता शब्द पर तृतीया, चतुर्थी, षष्ठी तथा सप्तमी के एकवचन की विभक्तियां आ, ए, अस् तथा आम् लगने से लता, लतै, लताः तथा लताम् पद होना चाहिए, परन्तु नदी शब्द के सादृश्य से लतया, लतायै लतायाः तथा लतायाम् पद होते हैं।

गणितशास्त्र में दो संख्याओं के सम्बन्ध को अनुपात

(ratio) कहते हैं। यदि दो अनुपात बराबर हों तो दो बराबर अनुपातों के सम्बन्ध को समानुपात (proportion) कहते हैं। इस सम्बन्ध को इस प्रकार से लिखते हैं—२:३ = ४:६। २ के साथ ३ का जो सम्बन्ध है ४ के साथ ६ का वही सम्बन्ध है। ६ के साथ ९ का सम्बन्ध या ५० के साथ ७५ का सम्बन्ध इन सम्बन्धों के बराबर है। शब्दों के परिवर्तनों का सम्बन्ध भी इस प्रकार से प्रकाशित कर सकते हैं—

गुणी : मुनि = गुणिना : मुनिना
गुणी : गुणिना = मुनि : मुनिना
= वारि : वारिणा

देना धातु से दिया पद होता है। दिया पद के सादृश्य से करना धातु से किया और पीना धातु से पिया, सीना धातु से सिया इत्यादि। इन उदाहरणों में अन्त के या के पहले ह्रस्व इ हो जाता है।

देना : दिया = करना : किया
= पीना : पिया
= सीना : सिया
= लेना : लिया

संस्कृत के जिन नपुंसक लिङ्गवाची शब्दों के अन्त में इ या उ रहता है उनमें जब स्वरादि विभक्तियाँ लगती हैं तब उनके पहले न का आगम होता है, जैसे वारिणी वारिणः इत्यादि। परन्तु पाली में नपुंसक लिङ्गवाची शब्दों के इकारान्त या उकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों की षष्ठी तथा सप्तमी के रूपों में भी न का आगम होता है, जैसे भिक्खुनो। प्राकृत में प्रथमा के बहुवचन में भी न का आगम होता है, जैसे आणिणो, साहुणो। नपुंसकलिङ्ग फलम् शब्द के सादृश्य से संस्कृत के यत्, तत् के स्थान में पाली में यं तं बनते हैं। संस्कृत-हिनस्ति के स्थान में भवति के सादृश्य से हिंसति होता है। संस्कृत-लट्, लङ्, लोट्, विधिलिङ् में ज्ञा धातु का अङ्ग 'जाना' होता है और उस पर विभक्तियाँ लगती हैं। संस्कृत के अन्य लकारों में ज्ञा का परिवर्तन नहीं होता, परन्तु पाली के अन्य लकारों में भी लट्, लङ्, लोट्, विधिलिङ् के अङ्ग के सादृश्य से 'जाना' होता है, जैसे जानिस्सति।

प्राकृत में जिन शब्दों के अन्त में अन् है उनका रूप राजन् शब्द के रूपों के सदृश होता है। आत्मन्, ब्रह्मन्, युवन्, अध्वन् इत्यादि। शतृ प्रत्ययान्त शब्दों के शेष में अन्त रहता है और अकारान्त शब्दों के सदृश इनके रूप होते हैं।

कर्म्मवाच्य तथा भाववाच्य में संस्कृत-धातुओं के उत्तर में यक् होता है। प्राकृत में यक् के स्थान में ईअ तथा इज्ज होते हैं। पठ्यते के स्थान में पढिअई पढ़िज्जइ, होते हैं। गम्यते गम्मिज्जई। परन्तु हिन्दी में कर्तृवाच्य में भी इकारान्त तथा एकारन्त धातुओं के उत्तर में ज का आगम होता है। यथा—लीजिए, दीजिए, पीजिए। इनके सादृश्य से कीजिए, छूजिए।

(ग) सादृश्य का प्रभाव वाक्य-विन्यास (Syntax) में भी पाया जाता है। वाक्यों में भी साहचर्य्य का सम्बन्ध है और जो वाक्य एक ही प्रकार से निर्म्मित होते हैं उनका वर्ग बनता है। वाक्य सुनते सुनते उनके भीतर के शब्दों के सम्बन्धों की अनुभूति होती है। वाक्य में शब्दों के व्यवहार के नियम मन में आपसे आप बन जाते हैं और जब नये शब्दों का व्यवहार करना पड़ता है तब इन्हीं नियमों से उनका व्यवहार होता है। इन व्यापारों में भी समानुपात की क्रिया होती है। रोटी : खायी = किताब : पढ़ी।

अब अर्थ पर सादृश्य का कैसा प्रभाव पड़ता है, उसका विचार किया जाता है।

नैयायिक आचार्य्यों के मत के अनुसार नाम चतुर्विध हैं:—यौगिक, रूढ़, योगरूढ़ और यौगिक रूढ़। इनके अतिरिक्त लक्षक भी एक प्रकार का नाम है। प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ के अनुसार जो नाम बनता है, उसे यौगिक कहते हैं, जैसे पाचक, जो पाक करता है। जिसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ गृहीत न होकर समुदाय का अर्थ गृहीत होता है वह सङ्केत-युक्त या रूढ़ है, जैसे गो। गो शब्द गम् धातु से बना है और इसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है जानेवाला। परन्तु इस अर्थ के अनुसार गो शब्द का प्रयोग नहीं होता, कारण इस अर्थ से मनुष्यादि में भी इस शब्द का प्रयोग हो सकता है। गो शब्द को यौगिक कहने से अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। अतएव गो शब्द यौगिक नहीं है, रूढ़ है। शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार जो अर्थ पाया जाता है वह व्युत्पत्ति-निमित्त और प्रयोग के अनुसार जो अर्थ पाया

जाता है वह प्रवृत्ति-निमित्त है। गो शब्द का गमनकर्तृ अर्थ व्युत्पत्ति-निमित्त है, प्रवृत्ति-निमित्त नहीं। गो शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त गोत्व जाति है। उस जाति का सङ्केत है गो। अतएव गो शब्द साङ्केतिक है। साङ्केतिक शब्द ही रूढ़ हैं। पाचक शब्द रूढ़ नहीं हैं, यौगिक हैं।

सङ्केत दो प्रकार के होते हैं:—आजानिक तथा आधुनिक। जो सङ्केत अनादि काल से चला आ रहा है, जो नित्य है, वह आजानिक है और जो कालविशेष में प्रवर्तित हुआ है वह आधुनिक है। आजानिक सङ्केत का अपर नाम है शक्ति, आधुनिक सङ्केत का अपर नाम है परिभाषा। शक्ति के अनुसार जो शब्द जिस अर्थ का प्रतिपादन करता है, अनादि काल से उस शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग होता है। आधुनिक सङ्केत व्यक्तिविशेष की इच्छा के अनुसार प्रवर्तित होता है।

सब नाम धातु और प्रत्यय के योग से उत्पन्न हुए हैं या नहीं, इस विषय में पूर्वाचार्य्यों में मतभेद है। शाकटायन और अधिकांश निरुक्ताचार्य्यों के मत में सब नाम धातुओं से उत्पन्न हुए हैं। गार्ग्य और किसी किसी व्याकरणाचार्य के मत में यौगिक नाम ही धातु से उत्पन्न हैं, और अपर सब नाम रूढ़ शब्द हैं। यास्क कहते हैं कि व्याकरण के नियम से धातु-प्रत्यय निकालने से कुछ नामों का अनुगतार्थ पाया जाता है और कुछ का नहीं पाया जाता। जहाँ नहीं पाया जाता, अर्थात् जहाँ नाम का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ अभिधेय वस्तु में परिस्फुट-रूप से सङ्गत नहीं होता, वहाँ अर्थ के प्रति दृष्टि रख कर, अर्थात् जिस वस्तु में नाम का प्रयोग होता है उस वस्तु के ऊपर प्रधान दृष्टि रख कर और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का किसी प्रकार का सामान्य या सादृश्य अवलम्बन कर परीक्षा करनी चाहिए। अर्थात् साधारणतः जिस अर्थ में नाम का प्रयोग होता है, व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के साथ उस अर्थ का कैसा सादृश्य है, इस विषय का निरूपण करना होगा। जब सादृश्य निरूपित हो जायगा तब उस सादृश्य का अवलम्बन कर व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से भिन्न अर्थ में भी नाम का प्रयोग हुआ है, इसका निश्चय करना होगा। विशेष मनोयोग के साथ निरूपण करने को प्रवृत्त होने पर भी जहाँ किसी प्रकार का अर्थसामान्य लक्षित नहीं हो, वहाँ शब्दसामान्य के अनुसार निर्वचन करना होगा। जिस धातु के साथ नाम का वर्ण सादृश्य है उसी धातु से उस नाम का निर्वचन करना चाहिए। इस प्रकार नाम व्युत्पादित करके उस धातु का अर्थ उस नाम पर स्थापित करना होगा। धातु का अर्थ सहज में अभिधेय वस्तु में सङ्गत न होने से धात्वर्थ का विस्तार या सङ्कोच करके निर्वचन सम्पन्न करना चाहिए। इस हेतु वैयाकरण आचार्य्यों ने कहा है—

वर्णागमो वर्णविपर्य्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।

अर्थात् वर्ण का आगम, वर्ण का विपर्य्यय, वर्ण का विकार, वर्ण का नाश और धातु के अर्थ के अतिशय के साथ अर्थात् अतिरिक्त अर्थ के साथ धातु का योग, ये पाँच प्रकार के निर्वचन हैं। वर्णागमादि के उदाहरण भी पूर्वाचार्य्यों ने दिये हैं। यथा—

वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्य्ययः।
षोडशादौ विकारः स्याद् वर्णनाशः पृषोदरः॥

निरुक्ताचार्य्य यास्क ने अर्थसामान्य के अनुसार निर्वचन करने का जो उपदेश दिया है उसके उदाहरणस्वरूप "प्रवीण" "उदार" इत्यादि शब्द उल्लेखयोग्य हैं। "प्रवीण" शब्द की व्युत्पत्ति है "प्रकृष्टो वीणायाम्," जो वीणा के विषय में अति उत्तम है। अतएव गान्धर्व्य विद्या में जो दक्ष है वही प्रवीण शब्द का प्रकृत अर्थ है। अभ्यास-जनित पटुता न होने से कोई किसी विषय में दक्ष नहीं हो सकता। इस अभ्यास-पटुता का सामान्य लेकर अन्यत्र प्रवीण शब्द का प्रयोग हुआ करता है। जिस व्यक्ति ने जिस विषय में कौशल लाभ किया है वही उस विषय में प्रवीण है, ऐसा कहा जाता है। जैसे व्याकरण में प्रवीण, दर्शन में प्रवीण इत्यादि। इससे और भी अधिक दूर का सादृश्य लेकर प्रवीण शब्द का प्रयोग होता है। प्रवीण मनुष्य वह है जिसको सांसारिक अभिज्ञता अधिक है। वृद्ध को सांसारिक अभिज्ञता अधिक होती है, इसलिए वृद्ध व्यक्ति प्रवीण है।

उदार शब्द की व्युत्पत्ति है "उद्यत आरः (यस्मै)"। 'आर' शब्द का अर्थ है कशाय का प्रान्त भाग। 'उदार' शब्द की व्युपत्ति से अर्थ निकलता है—जिसके उद्देश में चाबुक उठाया गया है। जो घोड़ा या बैल सारथि के

अभिप्राय को समझ कर चलता है उसका नाम उदार है। 'अभिप्राय को समझ कर काम करना' इस सामान्य वा सादृश्य का अवलम्बन कर 'उदार' शब्द का गौण अर्थ बना है। जो दाता प्रार्थी के अभिप्राय के प्रति लक्ष्य कर उसकी प्रार्थना के पहले ही अभिलषित वस्तु प्रदान करता है वह 'उदार' कहा जाता है।

पूज्यपाद माधवाचार्य्य ने भी कहा है कि अर्थ के सादृश्य के अनुसार भी संज्ञा की प्रवृत्ति होती है। 'दर्शन-शास्त्र,' यह संज्ञा सादृश्य लेकर बनी है। चाक्षुष प्रत्यक्ष सबसे अधिक परिस्फुट और अनेक विषय में निःसन्देह होता है। दर्शन-शास्त्र में ऐसी दृढ़ और अकाट्य युक्तियों से पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है कि वे चक्षुर्ज्ञान-गोचर पदार्थों के सदृश परिस्फुट और निःसंशय हो गये हैं। अतएव जो शास्त्र चक्षुर्ज्ञान के सदृश ज्ञान का साधन है वह दर्शन-शास्त्र कहा जा सकता है। धातु का जो प्रकृत अर्थ है उसके अतिरिक्त अर्थ धातु पर प्रयोग का यह उदाहरण है।

शक्तिग्रहसम्पन्न विद्वद्गण व्याकरण, उपमान, अभिधान, प्रामाणिक व्यक्तियों के वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति (टीका) और सिद्ध पद के सान्निध्य से शक्तिग्रह स्वीकार करते हैं। उपमान से शक्तिग्रह का उदाहरण यह है—शिष्य ने गुरु से पूछा, "गवय पद की शक्ति कैसी है ?" गुरु ने उत्तर दिया, "गो-सदृश जन्तुविशेष में गो पद की शक्ति है।" कुछ समय के बाद शिष्य ने गवय देखा और "गो-सदृश यह जन्तु है" यह सादृश्य ज्ञान रूप उपमान उसके मन में उत्पन्न हुआ। पीछे सादृश्य-उद्बोधक (अर्थात् स्मृति के कारण-विशेष) की सहायता से गो-सदृश जन्तु गवय-पद-वाच्य है, इस प्रकार का स्मरण हुआ। पीछे यह जन्तु ही गवय-पद-वाच्य है, इस प्रकार का उपमित्यात्मक शक्तिग्रह उत्पन्न हुआ।

जब भाषा की प्रकाशिका शक्ति से भाव अधिक हो जाते हैं तब नूतन भावों के प्रकाश के लिए नूतन शब्दों का प्रयोजन होता है। ये शब्द बनाने पड़ते हैं। सादृश्य के द्वारा ये नये शब्द बनते हैं। जब हम किसी नूतन वस्तु का नाम रखते हैं तब जिस वस्तु का गठन या स्वाद या गन्ध या स्पर्श उसके गठन या स्वाद या गन्ध या स्पर्श से यथाक्रम मिलता है उसी के नाम के अनुसार उसका ना रखते हैं। जैसे धूमकेतु की दुम, गले के भीतर की घण् बन्दूक़ का घोड़ा, मीठी बोली इत्यादि। जब हम कि नूतन वस्तु को देखते हैं तब उसकी एक प्रतिच्छा हमारे मन में उदित होती है। उस प्रतिच्छाया में अ एक उपादान रहते हैं। उन उपादानों में कुछ का जा हुई किसी वस्तु की प्रतिच्छाया के कुछ उपादानों के सा सादृश्य हो तो प्रायः दोनों वस्तुओं के नामों को मि कर उसका नाम रक्खा जाता है, जैसे हवागाड़ी, उड़न खटोला, रेंड़मेवा (पपीता)। सादृश्य के कारण अर्थ का विस्तार भी होता है। एक नाम का एक ऐसा अर्थ हो जाता है जिससे उसके अन्तर्गत सब वस्तुओं का प्रका होता है। जैसे एक एक तारा एक एक सूर्य्य है, मङ्गल ग्र के दो चन्द्रमा हैं, वह बड़ा नवाब हो गया है, वह दूका दार बड़ा ठग है। उपमा भी एक प्रकार का सादृश्य है ऊपर के बहुत से उदाहरणों में उपमा के लक्षण पाये ज हैं। वस्तुवाचक भाव भी वस्तुवाचक या अवस्तुवा भावों के सादृश्य से प्रकाशित होते हैं। यथा, अज्ञा तिमिर, कड़ी बोली इत्यादि।

भिन्न भाषा के शब्दों या पदों के सादृश्य से भी या वाक्य बनते हैं, जैसे "जवाब-देह" से "उत्तर-दाता, "इन्तक़ाल" से "अन्तकाल", "डियर सर" से " महाशय" "चेंज आव् एअर" से "हवा बदल और "युद्ध में भाग लेना" इत्यादि।

नलिनीमोहन सान्या

एक भारतीय प्रतिमाकार।

भारतवर्ष में मूर्ति-निर्माण-कला उ के शिखर पर पहुँच चुकी थी। समय के संहारक हस्त से अ अल्प-संख्यक पाषाणमूर्तियाँ भारतवर्ष और इँग्लेंड के अ यबघरों में दर्शकों को इस समय भी चकित कर रही हैं निर्जीव होने पर भी अपने बनानेवालों के नैपुण्य के मुक्तकंठ से गा रही हैं। सहस्रों वर्ष तक बहुत गहरे

के नीचे दबे रहने से वे स्वरूपभ्रष्ट होजाने पर भी भारत की प्राचीन कारीगरी की छटा दिखा रही हैं। उनका प्रत्येक अङ्ग सङ्केत करता है कि वह कल्पना—वह मौलिकता—जो छेनी के द्वारा हममें व्यक्त की गई है, अब भी हमारे निर्माताओं के उत्तराधिकारियों के मस्तिष्क में बीजरूप से विद्यमान है। परन्तु शोक है कि इस सङ्केत के समझनेवाले नहीं रह गये। हमारे राजाओं और साहूकारों के भवनों, सार्वजनिक उपवनों आदि के लिए प्रतिमायें तथा अन्य सजावट के उपकरण सात समुद्र पार इटली तथा फ़्रांस से मँगाये जाते हैं और हमारे देश के जयपुर आदि मूर्तिनिर्माणकला के केन्द्र संरक्षण के अभाव से मरणासन्न हो रहे हैं। स्कूल तथा कालेजों की तो कथा ही न पूछिए। कन्या-पाठशालाओं तक में विदेशी कला का प्रवेश हो गया है। नवरात्र आदि धार्मिक उत्सवों पर देवता को भोग लगाने के लिए छोटी छोटी बालिकाओं-द्वारा विदेशी चीज़ों का बनना ऐसी ही शिक्षा का परिणाम है। पराधीनता का प्रभाव-क्षेत्र कितना विस्तृत है?

श्रीयुत विनायक राव करमरकर।

निस्सन्देह हम जैसे आत्मविश्वास-हीन लोग इस बात के अधिकारी नहीं रहे कि अब हममें प्रतिभाशाली दिव्य शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति पैदा हों। परन्तु कदाचित् भारत-जननी की पुत्रवत्सलता हमारी योग्यता-अयोग्यता की विवेचना नहीं करने देती। वह हमसे निराश नहीं हुई है। हमें अपनी प्राचीन कला-निपुणता के प्रत्यक्ष सङ्केतों को समझने में असमर्थ देख कर वह अपने चमत्कार को इन्द्रियगोचर कराना चाहती है। यही कारण है कि हमारी इतनी अवहेलना होते हुए भी यत्र तत्र हममें प्रतिभाशालिनी बुद्धि के लोग पैदा होते रहते हैं। इस लेख में मूर्तिनिर्माण में प्रवीण एक ऐसे ही प्रतिभाशाली युवक की रोचक जीवन-कथा का उल्लेख संक्षेप में किया गया है। किन कठिनाइयों में इन्होंने अपनी ईश्वर-दत्त बुद्धि को विकसित किया, यह बात, आशा है, नवयुवकों के लिए उत्साहजनक और समर्थजनों के लिए कर्तव्य-सूचक सिद्ध होगी।

बम्बई से १९ मील के अन्तर पर सासवाना ग्राम में पंडोबा करमरकर नामक एक सामान्य स्थिति के महाराष्ट्र ब्राह्मण रहते हैं। उनका निर्वाह प्रायः खेती से होता है। महाराष्ट्र में गणपति-उत्सव जिस उत्साह और श्रद्धा से मनाया जाता है उसे सब जानते हैं। आप (करमरकरजी) भी उस अवसर पर गणपति की प्रतिमायें बनाते हैं। इनकी बिक्री से उनको कुछ आय हो जाती है। उनका कुटुम्ब बड़ा है। वे बड़े सरल स्वभाव और कर्मनिष्ठ ब्राह्मण हैं। उनके सबसे छोटे पुत्र का नाम विनायक राव है और इससे बड़े का नाम दिनकर राव।

विनायक राव अपने शैशवकाल में ही गणेश की

प्रतिमा बनाने लगे थे। अपने पिता को गणपति की प्रतिमा बनाते देख कर ही उनकी प्रवृत्ति इस ओर हुई थी। जब कभी गारा मिलता तभी गणपति या अपने किसी साथी की मूर्ति वे बनाने लगते। गाँव में आरम्भिक शिक्षा की पाठशाला थी। उसी में विनायक प्रविष्ट करा दिये गये। यहाँ इन्होंने सातवीं कक्षा तक शिक्षा पाई जिससे उन्हें मराठी का अच्छा बोध हो गया। साथ ही साथ अँगरेज़ी का भी कुछ ज्ञान हो गया। इस काल में इनका पाठशाला से बाहर का अधिकांश समय भीतों पर कोयले से चित्र बनाने या मिट्टी की प्रतिमा बनाने में ही ख़र्च होता था। कोयला पास न होता तब कंकड़ की नोक से दीवारों पर चित्र खींचा जाता था। पंडोबाजी को अपने पुत्र के चमत्कार का ज्ञान अवश्य रहा होगा, परन्तु अपनी आर्थिक परिस्थिति के कारण उसकी उचित शिक्षा का प्रबन्ध करने में वे असमर्थ थे। अन्तर्यामी परमात्मा ने देखा कि विनायक राव के मस्तिष्क में उसका उगाया हुआ यह विटप पिता की निर्धनता के कारण सूख जायगा, अतः उसने अदृष्ट रूप से उसके पोषण का साधन पैदा कर दिया। जब उनकी अवस्था १५ वर्ष की थी तब उन्होंने गाँव के मन्दिर की दीवार पर कङ्कड़ की नोक से रेखा खींच कर कुछ देवताओं के चित्र बनाये। उन दिनों कुलाबा ज़िले, जिसमें उनका ग्राम है, एसिस्टेंट कलक्टर मिस्टर रथफ़ील्ड नामक एक उदार-चरित अँगरेज़ थे। वे दौरा करते हुए सासवाने गये। वहाँ के मन्दिर के पास से जाते हुए उनकी दृष्टि मन्दिर की दीवार पर खिँचे हुए चित्रों पर पड़ गई। उनके मन पर उन चित्रों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने पूछा कि ये चित्र किसने बनाये हैं। बालक विनायक राव सामने लाये गये। उनकी चेष्टा देखकर मिस्टर रथफ़ील्ड को उनकी प्रतिभा का विश्वास हो गया। शिक्षा-व्यय का भार अपने ऊपर लेकर उन्होंने विनायक राव को बम्बई के स्कूल आव् आर्ट्स को भेज दिया। वहाँ एक और कठिनाई उपस्थित हुई। प्रवेश के लिए ड्राइंग की सनद आवश्य थी। वह विनायक राव के पास न थी। परन्तु प्रिंसप गारे की मूर्ति बनाने में उनके हाथ की सफ़ाई देख इस शर्त पर विनायक राव को भर्ती कर लिया

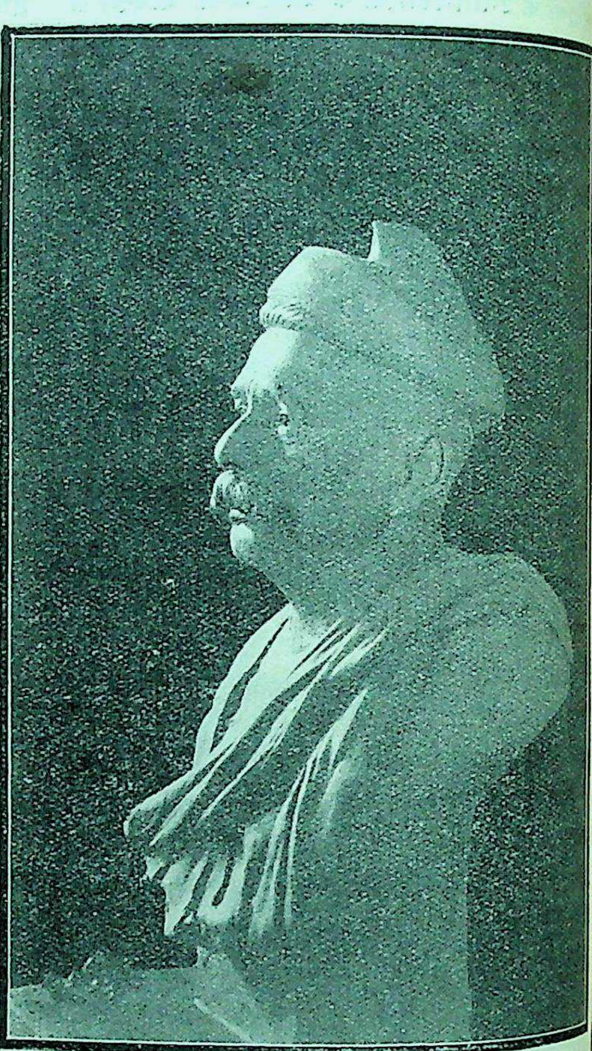

लोकमान्य तिलक।

वे शिक्षणालय की सामान्य पढ़ाई के साथ साथ नियमा नुसार ड्राइंग की सनद भी प्राप्त कर लें। विनायक राव पूर्वा में मूर्तिनिर्माण की कक्षा में शिक्षा पाते और सायङ्का में ड्राइंग सीखते। यह दोहरा कार्यभार सिर पर हो हुए भी बिना विशेष आयास के विनायक राव ने चार व की पढ़ाई तीन वर्ष में पूर्ण कर ली; वह भी ऐसे

नहीं। प्रतिवर्ष उन्हें पदक मिलते रहे और अन्त में स्कूल का सर्वोच्च विख्यात मेयो-पारितोषिक प्राप्त हुआ।

इस सम्मान के साथ १८ वर्ष की अवस्था में बम्बई के स्कूल आव् आर्ट्स की सनद प्राप्त करके विनायक राव ने मूर्ति बनाने का काम शुरू किया। बम्बई में ही ठहर कर उन्होंने माननीय गोखले, लोकमान्य तिलक, श्रीमती बीसेंट, श्रीमती सरोजनी नायडू आदि की प्लस्टर की ऊर्ध्वाधाङ्ग मूर्तियाँ बना कर कीर्ति-मार्ग पर पदार्पण किया। लोकमान्य की अर्ध-मूर्ति का चित्र यहाँ दिया जाता है। सामान्यजनों को भी इसमें मूर्तिकार के कला-नैपुण्य के चिह्न दृष्टिगोचर हो सकते हैं।

छोटे भाई में कला-नैपुण्य के व्यक्त होने पर ही दिनकर राव की प्रतिभा का उदय हुआ है। तब तक वे घर पर अपने बूढ़े पिता को कृषिकार्य में सहायता देते रहे। एक बार वे बम्बई छोटे भाई से मिलने आये। उनकी सुन्दर कृतियों को देख कर दिनकर राव का दिल फड़क उठा। ऐसी सुन्दर मूर्तियाँ मृत्तिका में ही बनी रहें, यह बात उन्हें सन्तोष न दे सकी। अतः उन्होंने अपने भाई की मूर्तियों को सङ्गमरमर में अङ्कित करने की योग्यता प्राप्त करने का सङ्कल्प किया। शिक्षण आरम्भ करते ही ईश्वरदत्त शक्ति प्रादुर्भूत होने लगी। वृद्ध पिता ने बहुतेरा चाहा कि वे घर पर ही ठहर कर उनके कृषि-कार्य में सहायता देते रहें। परन्तु दिनकर राव अपने संकल्प पर दृढ़ रहे। उन्हें अपने निश्चय से कोई नहीं डिगा सका। शिक्षा-व्यय के लिए भी उन्होंने किसी की ओर न देखा। थोड़े ही दिनों में छात्र-वृत्ति मिलने लगी। उसी से वे अपना निर्वाह करते रहे। यह बात दिनकर राव के ज्येष्ठत्व के अनुरूप ही थी कि यदि छोटा भाई अपने कौशल को गारे में दिखाता था तो बड़ा भाई अपने बुद्धि-वैभव के अभ्यास के लिए उससे उच्चतर पदार्थ छाँटे। इस समय मिस्टर रथफ़ील्ड कलक्टर होकर पूर्वी खानदेश-ज़िले को बदल गये थे। उनको विनायक राव की उन्नति का समाचार सुनकर बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने तुरन्त अपने संरक्षित युवक मूर्तिकार को जलगाँव में बुलवाया। वहाँ शेंदरी के जागीरदार सी० वाई दीक्षित और मि० टि० सी कार्वे से विनायक राव की भेंट हो गई। ये उनके गुणों पर मुग्ध हो गये। जागीरदार साहब के लिए विनायक राव ने कई मूर्तियाँ बनाईं। इन मूर्तियों की इतनी प्रशंसा हुई कि बम्बई के विख्यात गुणग्राहक डाक्टर बी० एन० भुजेकर ने आपके

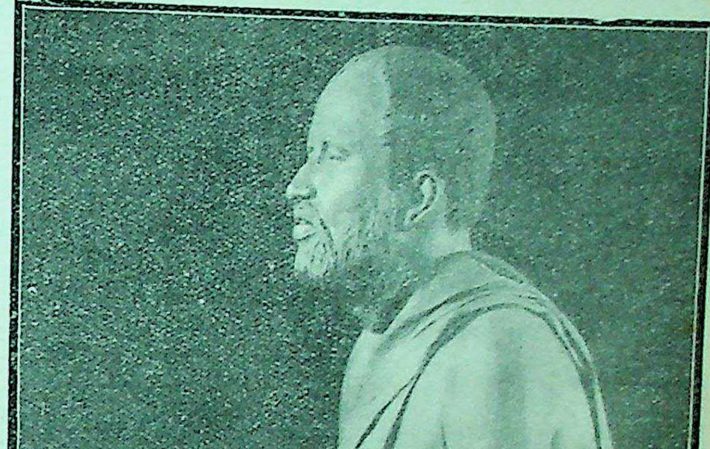

परमहंस रामकृष्ण।

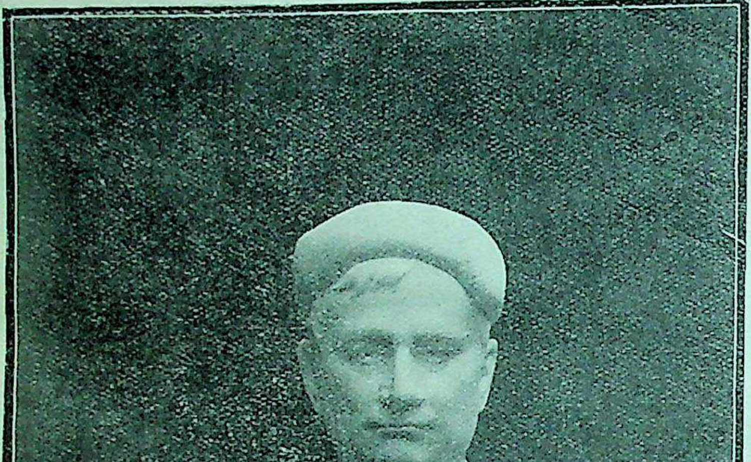

बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय।

निमन्त्रित किया। भुजेकर महोदय के साथ परिचय हो जाने से विनायक राव की कीर्ति-कौमुदी बङ्गाल प्रान्त में भी जा फैली। डाक्टर साहब ने मूर्तिकार भ्रातृ-युगल की कला के विकास के लिए बम्बई की अपेक्षा कलकत्ते को अधिक प्रशस्त समझ कर उन्हें वहाँ अपना कला-भवन खोलने की सम्मति दी और विश्वविख्यात चित्रकार डाक्टर सुरेन्द्रनाथ ठाकुर के नाम सहायता दान के निमित्त परिचय-पत्र भी लिख दिया। ठाकुर-परिवार की कलामर्मज्ञता और गुणग्राहकता विख्यात ही है। ठाकुर-भ्राताओं ने इन नवागन्तुक मूर्तिकार युवक भ्रातृयुगल को अपने संरक्षण में ले लिया। और कार्यारम्भ करने में स प्रकार की सहायता दी। उन्हें प्रोत्साहित करो के लिए ठाकुरपरिवार के कई सज्जनों तथा महिलाओं ने अपनी अपनी मूर्तियाँ उनसे बनवाईं। स्व कविसम्राट् ने कई दिन बैठ कर इनसे अप मृण्मय मूर्ति तैयार कराई। फि क्या था गुणग्राहक बङ्गालियों करमरकर भ्राताओं की कीर्ति फैलने लगी। जब इन लोगों का काम वहा जम गया तब इन्होंने ने बङ्गाल के विख्यात पुरुषों के चित्र बनाये। परमहंस रामकृष्ण, बङ्किमचन्द्र चट की मूर्तियों में कैसी सजीवता झल-कती है इसका अनुमान उनके प्रस्तु चित्रों के देखने से भी हो जाता है।

गुणग्राहक मिस्टर रथफ़ील्ड की कृपा करमरकर भ्राताओं पर उन बङ्गाल चले आने पर भी पूर्ववत् ब रही। इन विशालहृदय महानुभा का प्रत्येक भारतवासी को कृतज्ञ होन चाहिए जिनके संरक्षण की बदौल करमरकर बन्धुओं की कला विकसि हुई। क्या हमारे वे सेठ-साहूका और राजा-महाराजा, जो गुणग्राहक के कारण नहीं किन्तु मानसि दासत्व के कारण अपने होनहार कला निपुण लोगों की अवहेलना कर योरपीय देशों में मूर्तियाँ बनवाते हैं मिस्टर रथफ़ील्ड की गुणज्ञता से शिक्षा लेंगे?

रथफ़ील्ड महोदय विनायक राव के कलाचन्द्र को प्र प्रकाशित अवस्था में देखना चाहते थे। उनके सिद्धान्त अनुसार यह बात इँग्लेंड में शिक्षा प्राप्त किये बिना सम्म नहीं थी। अतः उन्होंने विख्यात 'वादिया पुण्यकोश' विनायक राव को इँग्लेंड जाने के निमित्त एक छात्रवृ दिलवाई। सम्भव था कि वे पहले ही विनायक राव

इँग्लेंड भिजवा देते, परन्तु योरपीय महायुद्ध बाधक हो गया। ख़ैर, अपने संरक्षक के आदेशानुसार कलकत्ते के कला-भवन को बड़े भाई को सौंप कर सन् १९२० के सितम्बर में विनायक राव ने लन्दन की यात्रा की। वहाँ पहुँच कर उन्होंने ब्रिक्सटन में अपना कलाभवन खोला*। वहाँ विनायक राव ने केवल मृण्मय मूर्ति-निर्माण-कला की उच्च शिक्षा ही नहीं प्राप्त की, किन्तु धातु की मूर्तियाँ ढालने तथा पाषाण की मूर्तियाँ बनाने में भी अविकल नैपुण्य प्राप्त किया*। अब तक ये चित्रों की सहायता से ही मूर्ति बनाते रहे। परन्तु अब इन्होंने अपनी कल्पना से मौलिक मूर्तियों का बनाना भी आरम्भ कर दिया।

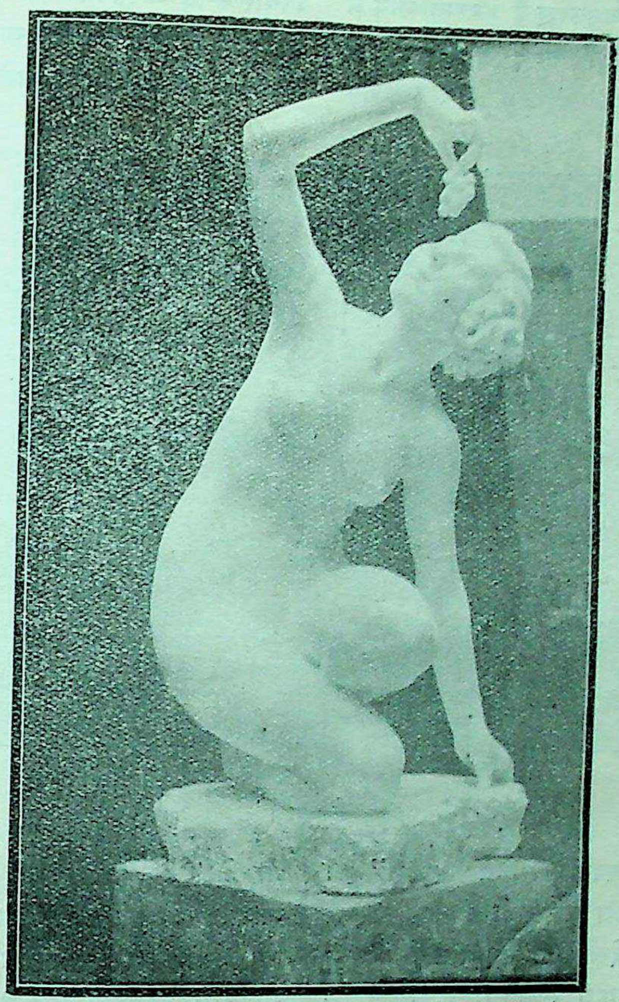

अंगूर।

---

* वहाँ की बनाई हुई बहुसंख्यक मूर्तियों में से "अंगूर" नामक प्रतिमा का चित्र यहाँ दिया गया है। इसमें मूर्तिकार ने अङ्गों का सौष्ठव और भाव को व्यक्त करने में कमाल कर दिया है।

* इससे पहले किसी भारतवासी को रायल एकेडमी में प्रवेश नहीं मिला था। परन्तु लन्दन में विनायक राव की सबसे उत्तम प्रतिमा वहाँ के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार राबर्टसन की अर्धमूर्ति है, जो रा० ए० लन्दन की १९२१ की प्रदर्शिनी में रक्खी गई और सर्वोत्तम मूर्तियों में गिनी गई।

]

लन्दन में बनाई गई मौलिक मूर्तियों में "चिन्ता" प्रथम उल्लेखनीय है। इसमें चिन्ता से आकुल दरिद्र दम्पति अपने नन्हें से बालकों के सहित बैठे हैं। अङ्गों की बनावट में ग्रीक आदर्श का अनुकरण है। परन्तु भाव में ऐसी स्पष्टता आई है, माना चिन्ता उनके रोम रोम में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है।

पश्चात् उन पर बड़ा दारुण दुख पड़ा। उनके बड़े दिनकर राव का सन् १९२२ में देहान्त हो गया। अब यक राव अपने कलाभवन में अकेले ही रह गये हैं। विचार है कि भारतवर्षीय चित्र-कला और प्रतिमा- की उन्नति के मार्ग में अनेक बाधाओं में एक यह भी है कि यहाँ के सुन्दर अङ्गवाले निर्धन नर-नारी भी

चिन्ता ।

दूसरा उल्लेखनीय कल्पनाजन्य चित्र "मधुकरी" है। जिन्होंने किसी निर्धन ब्राह्मण बालक को उपनयन संस्कार के अन्तर्गत भिक्षार्थ जाते देखा है वे इस सजीव मूर्ति में मूर्तिकार के कौशल को सहज में ही समझ सकते हैं। इँग्लेंड-निवास के समय वहाँ के सचित्र पत्रों में प्रशंसा-युक्त टिप्पणियों के सहित विनायक राव की मूर्तियों के चित्र प्रकाशित हुए। सचित्र साप्ताहिक टाइम्स आव् इंडिया ने भी अपनी १७ अगस्त सन् १९२१ की संख्या में उनकी बड़ी प्रशंसा की थी।

इँग्लेंड में प्रायः एक वर्ष तक रह कर अपनी शिक्षा प्राप्त करके सन् १९२१ के अन्त में विनायक राव स्वदेश को लौटे और अपने भाई के साथ कलकत्ते के अपने कलाभवन में कार्य करने लगे। यहाँ आने के थोड़े ही दिन

अङ्ग दिखाने को उद्यत नहीं होते। योरपीय देशों में व्यक्ति कलाभवनों तथा एकेडेमियों में स्वयं अपना लिखाते और नियत समय पर आकर चित्रकारों मूर्तिकारों के सम्मुख उस स्थिति में बैठते हैं जिसमें उनकी मूर्ति बनाना चाहते हैं। इसके लिए एकेडेमी कलाभवन की ओर से उनको शुल्क मिलता है। ऐसी बातों से उन देशों में कलाओं की दिन दूनी रात उन्नति हो रही है।

दूसरी रुकावट गुणग्राहकता और प्रोत्साहन अभाव है। ललित कलाओं की उन्नति के लिए स्वातन्त्र्य की अत्यन्त आवश्यकता है। कलाविशारद को न केवल जीविका की चिन्ता से मुक्त होना चाहिए उनकी पहुँच में विपुल धन या उपयोगी साधन होने चाहि

जिनसे उनकी नई सूक्ष्म-कलियाँ धनाभाव की लू से झुलसने से बची रहें। निस्सन्देह वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति में भारतवासी अपनी कलाओं की ओर उचित ध्यान नहीं दे सकते। परन्तु यह बात भी नहीं है कि वे कलानुभव की शक्ति से शून्य हैं या एतदर्थ धन-सामर्थ्य से विहीन हो गये हों। प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये का ललितकला-सम्बन्धी सामान विदेशों से यहाँ आता है और यह उस समय जब यहाँ के सीखे-सिखाये लोगों को काम नहीं मिलता और सीखने योग्य नई सन्तति संरक्षण और प्रोत्साहन के न मिलने से इधर ध्यान नहीं दे सकती है।

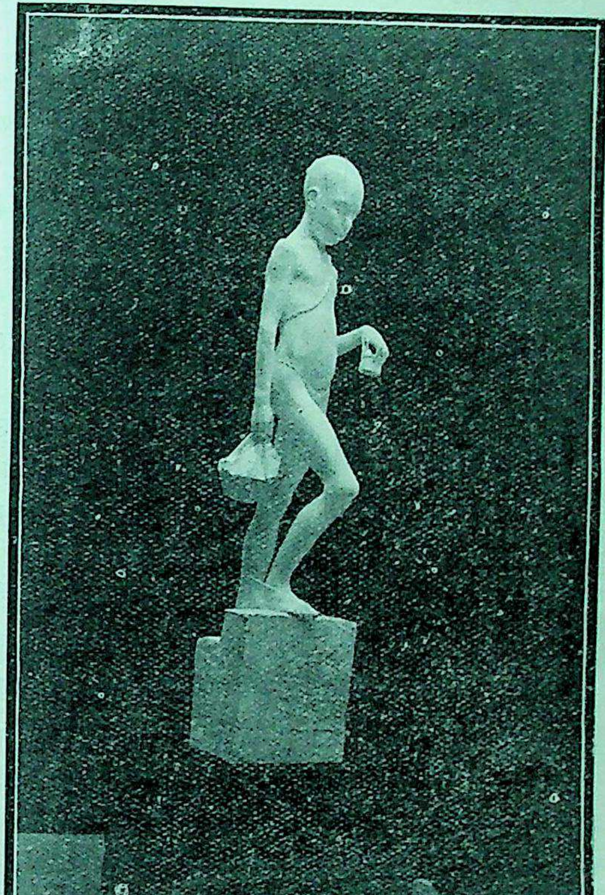

मधुकरी।

कौन कह सकता है कि मिस्टर रथफ़ील्ड की गुणग्राहकता और कृपा बिना विनायक राव खेती के सिवा और कुछ करने का विचार भी कर सकते थे। और फिर जैसे तैसे इतनी शिक्षा प्राप्त करने पर भी अब क्या दशा है ? हमारी प्रान्तीय कौंसिल के सदस्यों ने गत वर्ष इन प्रान्तों के गवर्नर हाटकोर्ट बटलर के विदा होते समय उनकी प्रतिमा को व्यवस्थापक सभा के भावी भवन में या और कहीं रखने का निश्चय किया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि विनायक राव उक्त प्रतिमा को कई विदेशी कारीगरों से अच्छा बना सकते हैं। परन्तु संरक्षण की

प्राप्ति में निराशा के कारण और ऐसे ही एक अवसर पर बम्बई-सरकार के बर्ताव के विपरीत अनुभव से पत्र-व्यवहार का भी उन्होंने साहस नहीं किया। मनस्वी लोगों के लिए आशा के अभाव में ऐसी प्रवृत्ति करना दुष्कर है। परिणाम यह है कि उन्हें पर्य्याप्त कार्य नहीं मिल रहा। अपने सबसे अन्तिम पत्र में वे लिखते हैं—"बड़ी मुश्किल से दिन व्यतीत हो रहा है। ऐसा कठिन समय पहले कभी नहीं देखा था। हम भारतीय कला-विशारदों के सामने कोई भविष्य नहीं"। ऐसी स्थिति में नई सूझ

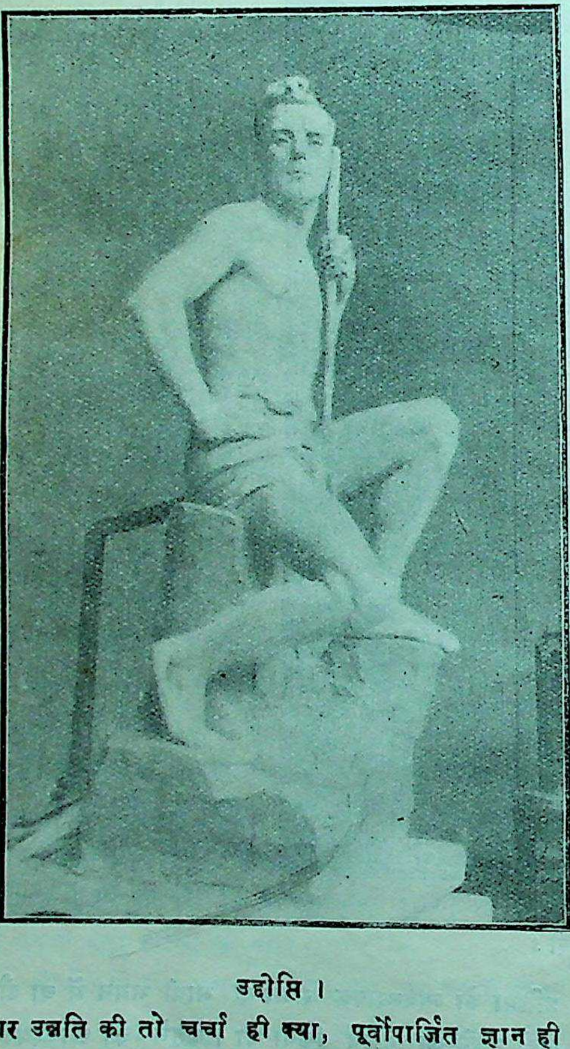

उद्दीप्ति।

और उन्नति की तो चर्चा ही क्या, पूर्वोपार्जित ज्ञान ही यदि सुरक्षित रह जाय तो वही बहुत है।

विष्णुदत्त शास्त्री

शीला देवी।

[४]

दो सखियाँ।

राजनिवास के सामने विचित्र अट्टालिका है उसके चारों ओर फूल-बाग़ है। रा कुमारी शीला देवी का यही विश्रा भवन है। अट्टालिका के बीचों बी एक सुन्दर सजे हुए कमरे में रुपह कामदार पलँग पड़ा हुआ है जि पर कोमल बिछौने बिछे हैं। इस पर सोलह सत्त वर्ष की एक युवती, तकिये के सहारे लेटी हुई, पुस् पढ़ रही है। वह बीच बीच में, खुले जँगले की रा नीले आकाश की ओर देखती जाती है। चामर औ व्यजन लिये हुए दासी सेवा कर रही है। यही युव राजकुमारी शीला देवी हैं। शीला देवी को पाठकों घने जङ्गल में एक दूसरी ही सूरत में देखा था। इ समय उनका रूप कुछ और ही है। राजकुमारी परिचारिका की ओर दृष्टि करके कहा—मतिया, चन्च देवी को तो बुला ला।

थोड़ी देर में एक साँवली सलोनी युवती किवा खोल कर भीतर आई। यह चञ्चला है। मतिया पीछे पीछे आते देख राजकुमारी ने उसे इशारा कि कि लौट जा। इससे वह लौट कर चली गई। चन्च ब्राह्मण की बेटी है। राजकुमारी की प्यारी सहेली है।

"असमय में मेरी याद किस लिए की गई?"

"दण्ड देने के लिए।"

"किस अपराध में?"

"इधर कई दिन से तुमने मेरी ख़बर जो नहीं ली

"मुझे छोड़ कर तुम शिकार खेलने क्यों च गई थीं?"

"अच्छा, इसी से रूठ गई हो। तुम्हें वही सम चार सुनाने के लिए तो मैंने दोपहरी में बुलवा भेजा है

"कैसा समाचार?"

"क्या शिकार का समाचार न सुनोगी?"

"मैं सब जानती हूँ।"

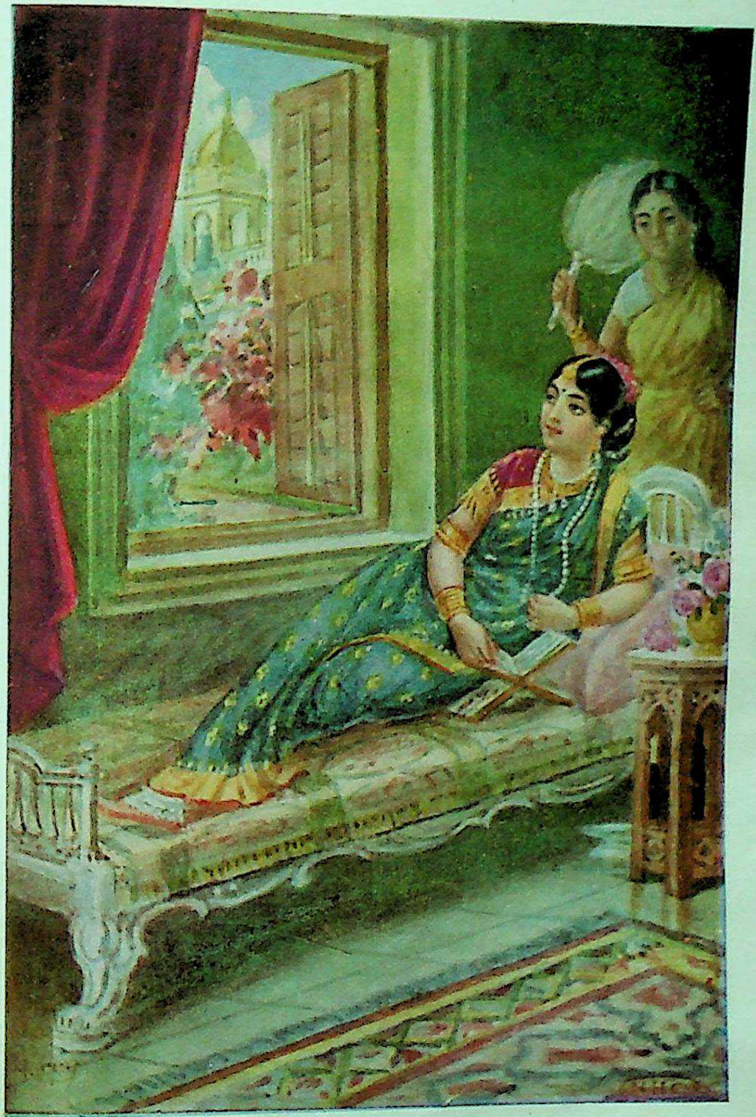

सोलह सत्तरह वर्ष की एक युवती, तकिये के सहारे लेटी हुई,
पुस्तक पढ़ रही है।

"बतलाओ, क्या जानती हो ?"

"मुझे ख़बर मिली है कि तुमने दस्युराज विजय के दाँत खट्टे कर दिये हैं। वह अपने सैन्य-सामन्त-समेत आत्म-समर्पण करने महास्थान में आ रहा है।"

"अच्छा तो यह झूठी ख़बर फैली है।"

"तो क्या यह बिलकुल झूठ है ?"

"हाँ, बहुत कुछ खालता-पति विजय अपनी मर्ज़ी से महास्थान की अधीनता स्वीकार करने आया है।"

"यदि तुमने सचमुच युद्ध नहीं किया है तो सारी देह में घाव क्यों हैं ?"

शीला देवी ने मुसकुरा कर कहा—तुमसे झूठ बात न कहूँगी। विजयसिंह पर मैं बाहु-बल-द्वारा विजय प्राप्त नहीं कर सकी।

चञ्चला ने आँखें नचा कर कहा—तो क्या 'नारी नयन-शर' को विजय प्राप्त हुई ?

शीला देवी ने घूँसा दिखला कर कहा—जाओ, आज से हमारा तुम्हारा झगड़ा हो गया—मैं तुमसे न बोलूँगी।

"वाह री वीराङ्गना ! इस बार तुमने सिंह का शिकार किया है।

शीला देवी तनिक चुप रहीं। फिर गम्भीरतापूर्वक कहा—हाँ, कुछ कुछ यही समझो।

"तुम्हारी शक्ति प्रशंसा करने योग्य है। महास्थान-सेनापति की जिसने इज़्ज़त उतार ली उसी को, मेरी सखी, तुमने क्योंकर आसमान दिखला दिया ?"

"मैंने कहा न कि मैंने पराजित नहीं किया।"

"तब तो प्रेम के फन्दे में फांस कर बन्दी कर लिया है।"

"जो जी में आवे, कहो—मैं कुछ उत्तर न दूँगी।"

"राजकुमारी, तुम सिंह का शिकार करती हो—व्याघ्र का शिकार करती हो लेकिन अचरज है कि एक गीदड़ को तुम नहीं मार सकतीं।"

"कौन सा गीदड़ ?"

"यही तुम्हारा विश्वस्त सेनापति।"

"देखो सुभीता मिल जाय तो तमाशा देखने के लिए उसे पिँजड़े में बन्द करूँगी।"

"देखें वह सुदिन कब आता है !"

"सखी, बहुत देर नहीं है। पापी का खेल अब ख़तम होने पर है।"

"दूध पिला कर महाराज ने काले साँप को पाल रक्खा है। क्या जाने, कब किसे डस ले।"

"अब डसने का उसे अवसर न मिलेगा। उसके दाँत उखाड़ लेती हूँ।"

एकाएक आकाश-पाताल की छाती को दहला कर तोप ने भीषण गुडुम् गुडुम् ध्वनि की—यह क्या है, यह काहे का शब्द है ? ऐन दोपहर के समय तोप क्यों दागी गई !

"विजयसिंह और मिरज़ा मुराद राजधानी में महाराज की शरण में आये हैं, इसलिए राजकीय तोप विजय की घोषणा करती है"।

"इससे पहले ही राजकुमारी शीला देवी की विजय-घोषणा, परस्पर एक दूसरे के मुँह से, तार की ख़बर की तरह बस्ती भर में हो गई है।"

"यह बड़ी शर्म की बात है।"

"क्यों भला ?"

"वह बात बे-जड़-बुनियाद की है। उसका चारों ओर फैलना ठीक नहीं।"

"तो उसका खण्डन क्यों नहीं करवा देतीं ?"

"महास्थान के गौरव की याद आ जाने से खण्डन करने को जी नहीं चाहता !"

"तो क्या विजयसिंह ने अपनी इच्छा से पराभव स्वीकार कर लिया ?"

"इसमें असम्भव क्या है ? है तो एक जङ्गली डाकू ही न। आख़िर वह कितने दिन तक महास्थान-राज का विरोध करके धरातल पर अपने क्षुद्र अस्तित्व की रक्षा करता ? क्या तुमने विजय को देखा है ?"

"बहुत दिन हुए, मङ्गलनाथ सङ्घाराम में रहते समय मैंने एक सैनिक वेशधारी अतिथि को देखा था। ऐसा सौम्य, शान्त मुख-मण्डल, चौड़ा माथा और बड़ी बड़ी आँखें मेरी दृष्टि को कैसे धोखा दे सकती थीं। देखते ही मैंने उसे पहचान लिया था। जब मालूम हुआ कि यही डाकुओं का सरदार विजय है, तब किसी भी

तरह उसे डाकू मानने को जी न चाहता था। हाँ राजकुमारी, तो क्या विजय सचमुच लुटेरा है?"

"पराया धन लूटना जिसका प्रकृति-गत धर्म—"

चञ्चला ने बात काट कर कहा—पराया धन लूटना या पराया उपकार करना? मैं मानती हूँ कि डकैती ही उनके माथे में कलङ्क की रेखा है। महास्थान के साथ विद्रोह करके विजयसिंह संसार में बदनाम है। इसके सिवा उन्होंने और कोई बुरा काम नहीं किया। वीर-व्रत-धारी विजयसिंह ने किसी का धन नहीं लूटा। पापी चिह्लन के अत्याचारों से पीड़ित प्रजा भाग कर विजयसिंह के ही राज्य में शरण लेती है। देवी, जो कहीं विजयसिंह न होते तो वरेन्द्रभूमि सोलहों आने स्मशान बन जाती।"

"वाह! तुम तो विजयसिंह के रूप और गुण का बेढ़ब पक्षपात करने लगीं।"

"और तो कुछ नहीं, किसी की अनुचित निन्दा सुनने से जी दुखने लगता है।"

"अच्छा चञ्चला, यदि कोई तुमसे कहता कि विजयसिंह और चिह्लन के दोष-गुणों का निर्णय करके उन्हें दोष के लिए दण्ड और गुण के लिए पुरस्कार दो, तो बतलाओ तुम क्या करतीं?"

"महास्थान राजकुमारी शीला देवी का मुझसे यह प्रश्न करना भला कहाँ तक ठीक है? यह बात क्या उनके योग्य है?"

"फिर भी।"

"मैं अपने जी की बात कहती हूँ। नाराज़ न हो जाना।"

"इससे बेफ़िक्र रहो। मैं तो सुनना चाहती हूँ। साधारण खिलवाड़ ही तो है। इसमें नाराज़ होने की क्या बात?"

"तो कारागार की अँधेरी कोठरी में चिह्लन को पहुँचा देती।"

"और विजयसिंह को?"

"यह न पूछो।"

"वाह! बतलाओगी क्यों नहीं! बतलाना होगा। यही न कहोगी कि विजयसिंह को किसी ऊँचे ओहदे पर भर्ती करा देती या यथायोग्य पुरस्कार देकर सम्मानित करती क्यों?"

"यही सही।"

"अच्छा साफ़ साफ़ क्यों नहीं कहतीं; हिचकिचाती क्यों हो?"

"सुनना चाहती हो तो लो सुन लो;—अच्छी साइत देख कर राजकुमारी शीला देवी का पाणिग्रहण विजयसिंह के साथ करा के महास्थान-सिंहासन की जड़ को मज़बूत कर देती।"

यह कह कर चञ्चला हँसते हँसते वहाँ से उठ कर चली गई। राजकुमारी शीला देवी के मुखमण्डल पर और भी गम्भीरता छा गई। एक बार उन्होंने ऊपर आकाश की ओर दृष्टि करके न जानें क्या देखा; और फिर आँखें मूँद कर अपने हृदय की तलाशी लेनी शुरू कर दी। हृदय के सबसे एकान्त स्थल में, मानव-दृष्टि से छिपे हुए स्थान में, तुम कौन विराजे हुए हो? अजी तुम क्या देवता हो?—नहीं, यह तो विजयसिंह हैं।

[६]

चिनगारी।

"सेनापति!"

"देवी की क्या आज्ञा है?"

"राजा विजयसिंह और मिरज़ा मुराद के आदर-सत्कार में किसी बात की कमी तो नहीं की गई?"

"आपकी आज्ञा यद्यपि राजविधि से पूर्णतया अनुमोदित नहीं थी फिर भी मैंने उसका पालन सोलहों आने किया है।"

"तो क्या मेरी आज्ञा न्याय की सीमा के अन्तर्गत नहीं है।"

"देवी, यह ठीक है कि अतिथि-सत्कार करना हिन्दुओं का परम धर्म है तथापि समग्र वरेन्द्र-भूमि के शत्रु—डकैत-सरदार—के साथ अच्छा सलूक करना महास्थानराज का कर्तव्य नहीं।"

"अपने कर्तव्य-अकर्तव्य को महास्थानराज तुम्हारी अपेक्षा अधिक समझते हैं। प्रभु के कर्तव्य का निर्णय करना सेवक का काम नहीं है—क्या महास्थान-सेनापति यह नहीं जानते?"

"राजकुमारी, आप प्रभु की बेटी हैं; इसके सिवा श्रीमहाराज की आज्ञा है—इसी लिए; इच्छा न रहने पर भी, डकैत-सरदार से मैंने इज़्ज़त के साथ बात-चीत की है।"

"तो विजयसिंह से तुमको ऐसी चिढ़ क्यों है ?"

"देवी, कह नहीं सकता कि किस बुरे मुहूर्त में मैंने विजयसिंह का मुँह देखा है; उस पर नज़र पड़ते ही मेरी आँखों से आग बरसने लगती है।"

"सेनापति !"

"क्या आज्ञा है देवी।"

"जानते हो, विजयसिंह कौन है ? तुमने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की है, तुम रण-दुर्मद हो, लेकिन तुम्हें भी विजय ने पराजित और अपमानित करके खालता से खदेड़ दिया है। सो भी एक-आध बार नहीं, तीन-तीन बार।"

"उस पुरानी बात की याद दिला कर मुझे लज्जित न कीजिए। उस दुरपनेय कलङ्क को मैं इस जन्म में भूलने का नहीं।"

"सेनापति, विद्वेष को भूल जाओ—विजयसिंह अद्वितीय शक्तिशाली वीर हैं। उनसे मित्रता का नाता जोड़ने पर महास्थान-राज का बहुत कुछ लाभ होगा।"

"राजकुमारी, जिसके भुज-बल से उत्तर में दिक्षु नदी तक महास्थान-राज्य की सीमा बढ़ गई है,—मलद, विराट्, मगध, सुन्ध प्रभृति पराक्रमी नरपतियों ने जिसकी विजय-वैजयन्ती के नीचे माथा झुकाया है,—वही चिह्लन विजयसिंह द्वारा अपमानित होकर मृत्युयन्त्रणा भोग रहा है। देवी, जीवित तो नहीं, हाँ चिह्लन की मृत-देह विजयसिंह से मित्रता की प्रार्थना करेगी।"

"सेनापति, तो क्या तुम राज्य का भला नहीं चाहते ?"

"तो फिर हृदय का रक्त बहा कर मैं महास्थान-राजलक्ष्मी की चरण-पूजा ही क्यों करता ?"

"तो निःस्वार्थ होकर नहीं, क्यों न ?"

"कुछ समझ में नहीं आया।"

"तो क्या यह सच नहीं है कि तुमने महास्थान के भले के लिए निःस्वार्थ होकर आत्मोत्सर्ग किया है ?"

"राजकुमारी, आप ही बतावें कि किस स्वार्थ की आशा से निःसहाय, अर्थहीन युवक—एक तलवार का ही भरोसा करके, नामवरी की ऊँची चोटी पर चढ़ता है !"

"नामवरी की नहीं, सौभाग्य की कहो।"

"देवी, यदि आप अभय-दान दें तो मैं आपसे कुछ बातें पूछना चाहता हूँ।"

"बेहतर है।"

"विजयसिंह पर आपकी अथवा महाराज की ऐसी कृपा क्यों है ?"

"उसका अच्छा भाग्य इसका कारण है। भाग्यदेव की प्रसन्न दृष्टि हुए बिना क्या किसी पर राज-कृपा हो सकती है ? अच्छा सेनापति, अब मैं दूसरा काम करने जाती हूँ।"

एक दिन, तीसरे पहर के समय, राजकुमारी शीला देवी ने महास्थान-सेनापति चिह्लन को अपने विश्राम-भवन में बुला कर पूर्वोल्लिखित बात-चीत की थी। बात-चीत हो चुकने पर राजकुमारी को दूसरे काम के लिए जाते देख सेनापति ने उठ कर उन्हें अभिवादन किया।

उस कमरे से निकल कर सेनापति पैरों की आहट बचा कर आगे बढ़ा। उस समय सन्ध्या का घना अँधेरा हो गया था। दरवाज़े से निकल कर घूम घुमावदार रास्ते को तय करके सेनापति एक स्थान में पहुँचा। यहाँ पर एक स्त्री खड़ी थी जिसका सारा शरीर अँगरखे में छिपा हुआ था। चिह्लन ने अचरज के साथ पूछा—कौन है ?

"तुम कौन हो ?"

"सेनापति।"

"मैं हूँ मतिया।"

"क्या ख़बर है ?"

"ख़ुशख़बरी है,—लाइए मेरा इनाम।"

"ज़रूर मिलेगा,—पहले काम तो सिद्ध करो,—इसके बाद इनाम-इकराम लेती रहना।"

"काम सिद्ध करने का ज़िम्मा मेरा नहीं; मैंने तो वैसा कर दिया जैसा करने के लिए आपने कहा था। कल पहर रात बीतने पर आपके स्थान पर उससे आपकी भेंट होगी।"

"चेहरे से तुमने भाँपा नहीं? कैसा रुख़ है? मुझ पर प्रसन्न है या अप्रसन्न?"

"मैं यह कुछ नहीं जानती। आपने भेंट करने की इच्छा की है सो भेंट करा दूँगी—चाहे जिस तरह हो। इसके सिवा मैंने और कोई वादा आपसे नहीं किया।"

"मतिया, तेरा मुझे बड़ा भरोसा है"

"यह मैं जानती हूँ। आपकी ही बदौलत रनिवास में मेरी इतनी प्रतिपत्ति हुई है।"

"यदि मेरा काम बन जायगा तो तुझे यहाँ तक मालामाल कर दूँगा कि तू रानी की तरह ठाठ से रह सकेगी। फिर तुझे किसी की ख़िदमत न करनी पड़ेगी।"

"तो कहिए, मुझसे आप और क्या कराना चाहते हैं?"

"मतिया, क्या तू जानती नहीं कि तेरे सच्चे उत्तर पर मेरा जीवन-मरण अवलम्बित है।"

"उतनी बड़ी बात कहने की मुझमें हिम्मत नहीं। क्या जानें, क्या से क्या हो जाय! आप तो जानते ही हैं कि राजा के यहाँ रहने से हर घड़ी साँसत में जान रहती है।"

"कितनी ही साँसत क्यों न हो, काम करना ही होगा। यह कठिन काम करने में मैंने अपनी ज़िन्दगी की बाज़ी लगा दी है। मतिया, इस काम में तू मेरी दहनी भुजा है।"

"अच्छा तो बतलाइए, मुझे क्या मिलेगा? काम कैसा विकट है, यह तो आप जानते ही हैं!"

"हज़ार अशरफ़ियाँ इनाम में दी जायँगी।"

"अच्छी बात है। कुछ पेशगी मिल जाना चाहिए। याद रखिएगा, मैं बहुत ही ग़रीब हूँ।"

"कल ही तुम्हें पेशगी रक़म मिल जायगी। मतिया, तेरे आशा दिलाने से ही मेरे प्राणों में प्राण आये हैं। आशा न थी कि उससे मुलाक़ात हो सकेगी।"

"देखिए, कहीं मुझे आफ़त में न फँस जाना पड़े।"

"इसकी तुम बिलकुल फ़िक्र न करो। तनिक हिम्मत से काम लो, हिम्मत करने से ही लोगों के सुख भोगने का रास्ता साफ़ होता है। मैं सिर्फ़ अपने स्वार्थ साधन के लिए ही कुछ तुम पर दबाव नहीं डाल रहा हूँ। देख, इसमें तेरा भी तो भरपूर फ़ायदा है। मतिया, तेरी मुसीबत देखने से मुझे कष्ट हुआ था और इसी लिए मैंने तुझे यह रनिवास की नौकरी दिला दी थी। अब दिन पर दिन तेरी तरक़्क़ी ही होगी—नुक़सान तो तेरा रत्ती भर भी न होगा।"

"यह आपकी कृपा है। आपकी कृपा-दृष्टि से क्या नहीं हो सकता।"

"लेकिन ख़ूब सावधान रहना—किसी को स्वप्न में भी ख़बर न मिले।"

"मैं बड़ी सावधानी से काम पूरा करूँगी।"

"तो मैं अशरफ़ियाँ लेकर वहीं पर तेरी बाट जोहूँगा। अब मैं जाता हूँ।"

सेनापति वहाँ से बड़ी फुर्ती से खसक गया। छद्मवेश-धारिणी मतिया भी अँधेरे में ग़ायब हो गई।

[७]

गढ़।

ताम्रद्वार से दक्षिण ओर कोई डेढ़ कोस मार्ग आगे जाने पर एक सुप्रशस्त नहर करतोया में मिल गई है। यह नहर वहाँ से क्रमशः पश्चिम की ओर गई है। परिखा के इस अंश का नाम काली-दह है। फिर क्रम से पश्चिम और उत्तर की ओर, आधे कङ्कन की सी सूरत में, गढ़ को घेर कर यह करतोया में जा मिली है। पच्छिम ओर से खाईं कुछ सँकरी होकर उत्तर ओर को गई है। इस सङ्कीर्ण अंश का नाम वाराणसी-नहर है। प्रसिद्ध तोरण ताम्रद्वार की तरह उत्तर प्रान्त में भी एक बड़ा सा दरवाज़ा है। इसका नाम स्वर्णद्वार या घाघर-दरवाज़ा था। इस दरवाज़े के सामने, वाराणसी-नहर के ऊपर लकड़ी का उम्दा पुल था। दूसरे किनारे पर कोई हज़ार हाथ लम्बा और इतना ही ऊँचा ईंट का मकान था जिसमें कि कई दरवाज़े थे। किसी समय यह हज़ारद्वारी सभा-गृह कहलाता था। बिना किसी विशेष कारण के इस स्थान पर सभा का अधिवेशन न होता था। साधारणतया राज का सारा काम-काज गढ़ के भीतर ही होता था।

ताम्रद्वार पर लम्ब-तड़ङ्ग सन्तरियों का पहरा रहता है। इस दरवाज़े को लाँघ कर कुछ दूर आगे बढ़ने पर ख़ासा

मैदान है । इस मैदान में तोपों की कतारें लगी रहती हैं । ताम्रद्वार से दो मार्ग दो ओर को गये हैं । ताम्रद्वार होते हुए दक्खिन ओर कुछ आगे बढ़ने पर सामने बड़ी सी प्राचीर देख पड़ती है । इस प्राचीर में छोटा सा दरवाज़ा है । इस दरवाज़े के उस पार सामने ही कारागार है । कारागार से थोड़े अन्तर पर कचहरी है और वहां से तनिक और आगे बढ़ते ही सङ्गमर्मर का मनोहर महल है । इस महल के दोमञ्ज़िले में बैठ कर राजा नरसिंह परशुराम स्वयं राज-काज करते हैं । नीचे महामन्त्री का ख़ास दफ़्र है । प्रजा यहां पर राजा के दर्शन कर सकती है । किन्तु एक साथ बहुत लोगों को यहां जाने की आज्ञा नहीं । हां, एक एक आदमी के लिए रोक-टोक नहीं है । इस स्थान के आगे सभागृह है । सभागृह में कोई ख़ास सजावट नहीं है—एक पक्का मकान है जिसमें कई दरवाज़े हैं । कारागार, कचहरी और राजसभा प्रभृति के चारों ओर प्राचीर है । राजसभा से एक रास्ता सामने की प्राचीर के दरवाज़े से जा मिला है । राजा और महलवालों के सिवा इस रास्ते पर और कोई चल-फिर नहीं सकता । प्राचीर के उस तरफ़ सेना-निवास, और सेनापति के रहने का स्थान आदि है । यहां से रानी का और राजकुमारी का महल देख पड़ता है । यह महल तीनों ओर से पक्की दीवार से घिरा हुआ है । इस ओर से आने-जाने का मार्ग नहीं । रनिवास में जाने के लिए एक अलग रास्ता है । उस मार्ग को या तो राजा साहब जानते हैं या राज-पुरुषगण । और किसी को उसका पता नहीं । वाराणसी-नहर के बांध को पार करके स्वर्णद्वार के रास्ते गढ़ में प्रवेश करने पर सामने ही फ़ौज की छावनी पड़ती है । किन्तु यह दरवाज़ा सब लोगों के लिए नहीं है । कचहरी जाना हो तो ताम्रद्वार होते हुए चक्कर खाकर जाना होता है ।

ताम्रद्वारवाले मार्ग पर उत्तर ओर कुछ आगे बढ़ने पर सामने ही महाकाली का मन्दिर है । पीछे एक छोटे से मन्दिर में देवी कालञ्जरी की नग्न भैरवी मूर्ति है, उसके पीछे छोटे से शिवालय में महाकाल विराजमान हैं । इस देवमन्दिर के चबूतरे को लांघने पर सामने एक साधारण जलकुण्ड है । पापों का नाशक माना जाने के कारण इसका नाम अमृतकुण्ड था । बस, इसके बाद प्राचीर है । प्राचीर के उस पार राजा साहब का बड़ा भारी बाग़ीचा है । बाग़ीचे के बीच में सङ्गमर्मर का दो-मरातिब महल है । इसकी कारीगरी देखने लायक़ होनी ही चाहिए । महाराज नरसिंह परशुराम इसी महल में आराम करते हैं । इस महल में आने का किसी को भी अधिकार नहीं ।

इस महल के एक सुसज्जित कमरे में क़ीमती पलँग पर सुकोमल बिछौना बिछा हुआ है । उस पर तकिये के सहारे बैठे हुए महाराज नरसिंहदेव माथे में हाथ लगाये हुए न जाने क्या सोच रहे हैं । पास ही विचित्र वसन-भूषण पहने महारानी शुभ देवी बैठी हुई हैं । रानी के चेहरे से विषाद के चिह्न प्रकट हो रहे हैं । बालक-राजकुमार राजेन्द्र महारानी की गोद में बैठा है । बच्चे में चञ्चलता नाम लेने को भी नहीं है, मुखड़े की शोभा से धीरता और शान्ति टपकती है । राजकुमार के हाथ में मिट्टी की सुन्दर गुड़िया है । थोड़ी देर में महारानी ने सन्नाटे को तोड़ कर कहा—महाराज, क्या सोच रहे हैं ?

ठण्ढी सांस लेकर राजा ने कहा—न-जाने क्या क्या सोचता रहता हूँ । मामूली कुटिया में रहनेवाले दरिद्र को भी मेरी अपेक्षा सौगुना सुख है । रानी, मेरे लिए इस दुनिया में सुख नहीं है । जब तक जीता रहूँगा, नित-नई चिन्ता की तरङ्गों के धक्के खाता रहूँगा । रानी, तुम विश्राम करो—बड़ा सुहावना समय है—बाहर किसी तरह का कोलाहल नहीं है, इस निर्जन नीरवस्थान में एक बार सोच लूँ । देखूँ, किनारा मिलता है कि नहीं !

"महाराज, आपको इतनी चिन्ता है काहे की । मन्त्री है, सेनापति है, वे लोग काम सँभालें । आपको इस तरह चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है !"

"रानी, आशा का अन्त नहीं है । बुढ़ापे में यदि बेटे का मुँह देखने को मिला तो एक और लालसा मन में अधूरी क्यों रह जाय ?",

"महाराज, किस बात की लालसा ? शीला का विवाह करके जमाई को घर रखने की इच्छा क्या आपके मन में बलवती हुई है ? किन्तु इसकी क्या चिन्ता है महाराज !"

"रानी एक यही चिन्ता होती तो कुछ परवा न थी। एक और लालसा है। क्या जानें, मेरी यह लालसा पूर्ण होगी कि नहीं। लगातार ज़िन्दगी भर उद्योग करते करते पूर्व में दित्तु नदी तक मैंने जिस राज्य की सीमा बढ़ा ली है,—कामता, सुन्ध, विराट, मलद् और मगध प्रभृति राज्यों के पराक्रमी राजाओं ने माथा झुकाकर जिस महास्थान की अधीनता स्वीकार कर ली है वह महास्थान मेरे गौरव का द्योतक है। किन्तु महारानी, मैं इस समय भी गौड़ के कायर सम्राट् जयपालदेव की पादुकाएँ ले चलनेवाला निरा भृत्य हूँ। रानी, क्या यह कलङ्क की बात नहीं है?"

"महाराज, इसे कलङ्क नहीं गौरव कहिए। किसी भी भोजवंशी राजा ने गौड़ेश्वर के साथ विद्रोहाचरण नहीं किया। आज अपने जीवन के मध्याह्न में महाराज आप क्यों गौड़ेश्वर का निरादर करना चाहते हैं! इसके परिणामस्वरूप यदि फिर मार-धाड़ मच जाय, लोहू की नदियाँ बहने लगें, तो उसका फल हमारी निरीह प्रजा को ही भोगना पड़ेगा। महाराज, रहने दीजिए; शान्ति के देश में आप अपनी मर्ज़ी से मात्स्यन्याय* को मत बुलाइए। मैंने सुना है कि बहुत पहले गौड़ेश्वर गोपालदेव के समय में पौण्ड्रवर्द्धन और अन्यान्य राजाओं ने अपनी ही इच्छा से—बिना किसी तरह के दबाव के—अपना किरीट और तलवार गौड़ेश्वर के सिंहासन के नीचे रख कर उन्हें सम्राट् की पदवी दी थी। इसका फल यह हुआ था कि उस विद्रोह-पूर्ण देश में शान्ति स्थापित हो गई थी। सम्राट् धर्मपाल और उनके भाई वापालदेव ने प्राणपण से अपने पिता के गौरव की रत्ता की थी। उन्हीं धार्मिक महात्मा गोपालदेव के वंशधर जयपालदेव को दुर्बल समझ कर उनसे वह सम्मान छीन लेने से पौण्ड्रवर्द्धन की नामवरी न होगी महाराज!"

"महात्मा गोपालदेव ने जिन गुणों से सम्राट्-पदवी प्राप्त की थी उन गुणों का क्रमशः लोप होना धर्मपाल वाक्पाल के अनन्तर आरम्भ हो गया था। विलासव्यसन में डूबे हुए गौड़ेश्वर तो अब सिर्फ़ लगान वसू करनेवाले ज़मींदार मात्र हैं। प्रजा के हृदय-राज्य पर राजा अधिकार नहीं कर सकता वह साम्राज्य की कैसे कर सकेगा? हाँ, गौड़ेश्वर यदि साम्राज्य की करने का ध्यान रखते तो हेमन्तसेन इस प्रकार सिर उठा सकता। उसको सम्राट् बनने का हौसला कभी होता। हेमन्तसेन के हमले के कारण सामन्त राजा को न तो लाञ्छित ही होना पड़ता और न हानि उठानी पड़ती। फिर भी अब तक गौड़ेश्वर का मुँह कर मैंने सब कुछ सह लिया। रानी सोचो तो, हेमन्त ने जिस समय महास्थान पर आक्रमण किया था समय गौड़ेश्वर ने क्या महास्थान की ओर नज़र उठा देखा भी था?"

"महाराज, इन बातों की चर्चा छोड़िए। बड़ों धर्म त्तमा है। थोड़ी सी ज़िन्दगी रह गई है सो तक गौड़ेश्वर के यहाँ कर पहुँचाते जाइए।"

"नहीं रानी, मेरी इस वासना को पूर्ण होने मेरे दाँत गिर गये और बाल पक गये हैं; मैं तो अब का मेहमान हूँ। मेरी गौरवमयी महास्थान नगरी को अधीनता-शृङ्खलाओं से मुक्त हो जाने दो। मेरे जीवन का श्रम सफल हो—मुझे आनन्द से मरने डकैतों का सरदार विजय—कि जिसके डर से वरेन्द्र थर थर काँपती थी,—महास्थान की शरण में है। मात्र गौड़—"

"क्या जानें महाराज, मेरे जी में बड़ी धुकधुक हो रही है। मालूम नहीं, किस भावी अमङ्गल आशङ्का से मेरा जी बेचैन हो रहा है। महाराज, इरादे को छोड़िए। शीला ब्याहने योग्य होगई है। तो उसे उपयुक्त जमाई के हाथ सौंप कर और उसे राजा का प्रतिभू बना कर, राज्य-भार सौंपना और कहाँ यह न करके आप एक नई चिन्ता में हुए हैं!"

"रानी उपयुक्त जमाई है कहाँ? ऐसा विश्वास है भी कोई! इस विशाल राज्य का भार किसे सौंपूँ यह भी तो विषम समस्या है।"

"हाँ तो इसी की चिन्ता कीजिए। और यह

---

* बड़ी मछली जिस प्रकार छोटी मछलियों को निगल जाती है उसी प्रकार बलवानों-द्वारा दुर्बलों का नाश किया जाना।

देखिए कि आपको बूढ़ा समझकर सामन्त राजा लोग धीरे धीरे सिर ऊँचा करने की तैयारी में हैं। इसके सिवा आपके उच्छृङ्खल कर्मचारियों के अत्याचार से प्रजा हाय हाय कर रही है। उस ओर भी आपको ध्यान देना चाहिए। आपके बुढ़ापे को देख कर सेनापति चिह्लन मन ही मन न जाने क्या मन्सूबे बाँध रहा है!”

“रानी, तुम्हें यह बे-सिर-पैर का सन्देह क्यों है?”

“सन्देह नहीं है महाराज! बुढ़ापे में आपकी नज़र मन्दी हो गई है नहीं तो आप देखते कि चिह्लन के अत्याचारों से महास्थान-राज्य तहस-नहस हो गया है। महाराज, कह नहीं सकती कि किस दिन राजा के प्राण सङ्कट में पड़ जायँगे!”

“तुम्हें ये ख़बरें देता कौन है?”

“मैं शीला देवी की माता हूँ—महाराज परशुराम की गृहिणी हूँ—भला मुझसे प्रजा के सुख-दुःख का समाचार छिपा रहेगा महाराज?”

“जिस वीर ने अब तक अपना लहू बहा कर महास्थान के गौरव की रक्षा की है, जो हमारा प्राणप्रिय है, वह चिह्लन विश्वासघातक है! रानी इस बात पर विश्वास नहीं होता।”

“महाराज, शीला देवी से कोई बात छिपी नहीं है। कुटिल कुचक्री लोग दिन-रात पाप-पूर्ण षड्यन्त्र में लगे रहते हैं। बड़ी चिन्ता है। क्या जाने किस दिन कौन सी आपदा आकर घेर ले। दरिद्र प्रजा हाय हाय करके भगवान् को अपना दुःख सुना रही है।”

“मैं शीघ्र ही वेश बदल कर राज्य के विभिन्न स्थानों में जाऊँगा और प्रजा के दुःखों की छान-बीन करूँगा।”

“महाराज की आज्ञा हो तो एक बात कहूँ।”

“आज्ञा किस बात की रानी! तुम्हारे उपदेश से तो मुर्दे में भी जान आजाती है—अन्धे को सूझने लगता है। कहो रानी, क्या कहना चाहती हो?”

“महाराज! कह नहीं सकती, लेकिन सुना है कि विजयसिंह अद्वितीय शक्तिशाली है और मुराद भी महान् योद्धा है। ये दोनों डाकू-वीर सम्मानपूर्वक राज्य की रक्षा में नियुक्त किये जायँ तो कैसा हो?”

“अच्छा, विचार करूँगा। इस सम्बन्ध में सलाह कर लेना ज़रूरी है। मैं मन्त्री को बुलवाता हूँ, बेटी शीला को भी यहीं भेज दो।”

महारानी चली गईं। राजा फिर गम्भीर चिन्ता में निमग्न हो गये। थोड़ी देर के बाद उन्होंने मन ही मन कहा—शुभ देवी, मैंने तुम्हारी सलाह मान ली, तुम निश्चिन्त हो जाओ।

[८]

प्रेतपुरी।

एक लम्बी चौड़ी अट्टालिका है। उसके चारों ओर फूलों का बाग़ीचा है। नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्प खिल कर चारों दिशाओं में अपनी सुगन्धि फैला रहे हैं। गढ़ के बाहर वाराणसी-नहर के उस पार, इस अट्टालिका में, विजयसिंह ठहराये गये हैं। सरकारी आज्ञा से विजयसिंह के डेरे के चारों ओर लम्ब तड़ङ्ग क़द्दावर जवान पहरे पर तैनात हैं। पहरा बड़ी चौकसी से दिया जा रहा है। विजयसिंह इस समय स्वाधीन नहीं। उनको कहीं जाने-आने की आज्ञा नहीं है। उन्हें यह भी मालूम नहीं कि मुराद कहाँ किस दशा में है। सेनापति चिह्लन प्रतिदिन तीन बार उनसे मिलने आता है, मुँह से शिष्टाचार करने में किसी बात की कमी नहीं करता; किन्तु विजयसिंह ने भली भाँति समझ लिया है कि हम बन्दी कर लिये गये हैं। मुराद का पता-ठिकाना पूछने पर सेनापति ठीक ठीक उत्तर नहीं देता। मुराद के लिए विजयसिंह बहुत ही चिन्तित हैं। किन्तु करें क्या, बहुत माथापच्ची करने पर भी वे छुटकारे का कोई उपाय सोचने में समर्थ नहीं हुए। उन्होंने यह आशा नहीं की थी कि हमारे साथ ऐसा सलूक किया जावेगा। यदि कुछ अँदेशा होता तो वे पहले से ही सावधान रहते।

विजयसिंह छोटे से तख़्त पर बैठे हुए न जाने क्या क्या सोच विचार कर रहे थे। उस समय सन्ध्या होने में कुछ विलम्ब था। मृदु-मधुर नौबत की ध्वनि सुन पड़ती थी। जब सन्ध्या का अँधेरा घना होने लगा तब प्रत्येक देवमन्दिर में, घड़ी-घण्टे के बजने का, मङ्गल-शब्द हुआ। किन्तु विजय का इस ओर ध्यान नहीं है। वे तो बरामदे में बैठे हुए सामने वाराणसी-नहर की ओर टकटकी लगाये

देख रहे हैं। हथियारबन्द पहरेदार उनके आगे बड़ी ऐंठ के साथ पहरा दे रहे हैं। उन्होंने पहरेदारों की ओर दृष्टि करके उनसे पूछा—तुम लोग हमारे डेरे के चारों ओर यह सख़्त पहरा किसके हुक्म से देते हो ?

"क्या करें साहब ! राजा का हुक्म है। कड़ा पहरा न दें और जो कहीं आप भाग निकलें तो हमीं लोग न गर्दाने जायँगे।"

"तो स्वयं महाराज की आज्ञा है ?"

"राजा क्या हर वक़्त हुक्म दिया करते हैं !"

"तो फिर किसका रुख़ पाकर यह काम हो रहा है ?"

"राजकुमारी शीला देवी का रुख़ पाकर—सेनापति की आज्ञा से।"

विजयसिंह ने इस पर और कुछ नहीं कहा। 'शीला देवी का रुख़ पाकर' केवल यही बात उनके मन में बारम्बार प्रतिध्वनित होने लगी। इस बात पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ अथवा विश्वास करने की इच्छा नहीं होती थी।

अकस्मात् सामने उजेले की चमक देख पड़ी। विजयसिंह ने देखा कि सन्तरियों ने किसी को देख कर अदब से रास्ता दे दिया है। यह सेनापति चिह्लन था। हाथ में प्रकाश लिये हुए सेनापति चिह्लन विजयसिंह के समीप आकर बग़ल में एक आसन पर बैठ गया।

विजयसिंह ने उसके मुँह की ओर देख कर भौंहें सिकोड़ लीं।

सेनापति ने मुसकुरा कर उनकी ओर देखते हुए पूछा—कहिए महाशय, आप प्रसन्न तो हैं ?

रोष और क्षोभ के मारे विजयसिंह आग-बबूला हो उठे। फिर भी उन्होंने क्रोध को दबा कर उत्तर दिया—जी हाँ, अच्छी तरह हूँ। आहार न मिलने और सो न सकने के कारण सिंह का बच्चा एक-दम गाय की तरह सीधा नहीं बन जाता !

"महाशय, यह क्या बात है ! भोजन आदि मिलने में कुछ गड़बड़ हुई है, यह तो आपने मुझसे नहीं कहा। आपके आराम के लिए बिस्तर वग़ैरह का भी ख़ासा बन्दोबस्त करा दिया गया है। आपको और जिस चीज़ की ज़रूरत होगी वह तुरन्त आपको दी जायगी। मैं सदा कड़ी निगाह रखता हूँ जिससे कि अतिथि आराम से सकें और उन्हें किसी भी तरह का कष्ट न हो।"

"आपकी इस अतिथि-सेवा के लिए धन्यवाद है। आपका बन्दोबस्त भी बढ़िया है और बन्दी के सा आपका सलूक भी कुछ कम प्रशंसनीय नहीं।"

"बन्दी ! यह आपने क्या कहा ? बन्दी यहाँ कौन है !"

"मैं ही।"

"अच्छा, यहाँ पर कुछ पहरेदारों को देख कर आ यह बात कहते हैं ! यह स्थान राजपुरी की नज़र से बाह है। इसी लिए मैंने यह प्रबन्ध कर दिया था जिससे आपके साथ कोई किसी तरह की छेड़-छाड़ न कर सकें और न आपको किसी तरह का कष्ट ही हो।" अब उस सन्तरियों से कहा—तुम लोगों के रहने से ये नाराज़ होते हैं, इसलिए तुम लोग यहाँ से चले जाओ।

पहरेदारों के चले जाने पर चिह्लन ने कहा—आप यहाँ विदेशी हैं। यहाँ के रास्ते और हाट-बाज़ार आप जान नहीं,—इससे आपके सुभीते के लिए ही यहाँ सिपाहियों को तैनात कर दिया था। अच्छा महाशय, अब अन्त में मुझ पर कोई इलज़ाम न लगाइएगा। आपको अकेले रहने में कुछ दिक़्क़त तो न होगी ?

"अकेला रहना ही होगा। दो दिन बीत गये। इस तरह न जाने और कितने दिन तक रहना पड़ेगा। क मैंने अपने परम मित्र मिरज़ा मुराद का समाचार पू था। किन्तु खेद की बात है कि आपने उसका कुछ उत्तर नहीं दिया। अब आज कृपा करके बतलाइए कि मे मित्र मुराद कहाँ है ?"

"कौन, मिरज़ा मुराद ? वे तो बड़े मज़े में हैं। उन लिए तो यहाँ से भी बढ़ कर प्रबन्ध किया गया है। पर मेरी तीक्ष्ण दृष्टि और भी अधिक है। उनकी ओर आप बेखटके रहिए।"

"मैं उनसे मुलाक़ात करना चाहता हूँ।"

"तो कल मिल लीजिएगा।"

"आज मुलाक़ात करने में कोई हर्ज है ?"

"क्षमा कीजिए, राजकुमारी की इच्छा नहीं।"

"तो क्या राजकुमारी हमें इसी तरह बन्दी रख चाहती हैं ?"

"यह कैसे कहूँ। शायद आपकी राय ठीक हो। अच्छा तो अब जाता हूँ। नमो नमः। आप तो जानते ही हैं, "पराधीन सपने हुँ सुख नाहीं।" यह कह कर सेनापति चलता हुआ।

विजयसिंह फिर उधेड़-बुन करने लगे। अगली-पिछली सारी बातों का स्मरण कर वे सोचने लगे कि हाय! मैं महास्थान में आया ही किसलिए! और यदि आया ही था तो अनुचरों को क्यों न साथ लाया। मेरे ही कारण—मेरी ही मूर्खता से—मेरे भाई से भी बढ़ कर मित्र मुराद न जाने किस आपदा में पड़े हुए हैं। मायाविनी के फन्दे में पड़ कर अन्त में यह दिन देखना पड़ा। इस अट्टालिका के चारों ओर ऊँचा प्राचीर है, इस कारण भागने का भी सुभीता नहीं। मैं अपने लिए चिन्तित नहीं—जैसी बीतेगी, भोग लूँगा, किन्तु मित्र का छुटकारा कैसे होगा! पहरेदार भी चले गये—उनका रहना कुछ बुरा नहीं था। यह तो उलटा फल हुआ। इस जन-मानव-शून्य स्थान में मैं अकेला कैसे रात बिताऊँगा।"

घर के कोने में एक मिट्टी का दिया टिमटिमा रहा था। बिना तेल का दिया भला कब तक बल सकता है? प्रदीप की दशा देख कर विजयसिंह शय्या पर लेट रहे, निर्वाणोन्मुख प्रदीप भी एक बार जल कर ठण्ढा होगया। विजयसिंह चिन्ता में इतने डूबे हुए थे कि उन्हें किवाड़ बन्द करने तक की सुधि न रही। उनकी आँखों में नींद नहीं है। देर तक जागने के बाद तनिक तन्द्रा आगई। एकाएक कुछ देख कर वे चौंक पड़े और बिस्तर पर उठ कर बैठ गये। न मालूम उस समय कितनी रात बीत चुकी थी—शायद आधी रात हो।

विजयसिंह ने समझा कि बिस्तर के बग़ल में, सामने ही, एक विकट आकार की मूर्त्ति खड़ी है, हाथ से वह मेरी ओर कुछ इशारा कर रही है। विजयसिंह ने जो अपनी कमर में हाथ डाला तो देखा कि तलवार नदारद। उनके माथे में पसीना आगया। सारी देह थर थर काँपने लगी। किन्तु तुरन्त ही वे सँभल गये। उन्होंने अच्छी तरह आँखें पोंछ लीं। यह इसलिए कि या तो स्वप्न होगा या आँखों का धोखा, जो कि आँखों के पोंछे जाने से दूर हो जायगा। दुबारा आँखें गड़ा कर देखा—नहीं,—स्वप्न नहीं है, यह तो बिलकुल मेरे सामने मौजूद है। काली कलूटी बड़ी सी लम्बी मूर्ति है, यह हाथ नचा कर मानों मुझी को इशारा कर रही है। विजय चुपचाप निश्चल बैठे हुए विकट मूर्त्ति की लीला देख रहे हैं और मन में अपने कर्तव्य को स्थिर कर रहे हैं। अब उन्होंने सोचा कि यह मनुष्य है या भूत! यदि मनुष्य है तब तो इसे मैं पकड़ लूँगा; और यदि प्रेत है तो अभी ग़ायब हो जायगा। मेरी तलवार कहाँ गई! उसे कौन चुरा ले गया! अवश्य ही इसमें कोई रहस्यमय षड्यन्त्र है। विजय एकाएक उठ कर खड़े हो गये। इसी समय, पल भर में, यह काली मूर्त्ति मानों रात के अँधेरे में जा मिली। अब विजयसिंह को भय और अचरज ने किङ्कर्तव्यविमूढ़ बना दिया। 'अयँ!' यह शब्द काहे का है! घर के चारों ओर यह किसके खिल-खिला कर हँसने की आवाज़ हो रही है!

अरे, यह मेरी तलवार पास ही तो रक्खी है। तो क्या मेरे दिमाग़ में कुछ फ़ितूर हो गया है! तलवार ठीक जगह पर रक्खी हुई है और मैं उसे इधर-उधर खोजता फिरता हूँ। अपनी निर्बुद्धिता के लिए उन्होंने मन में पछतावा किया। यह क्या! अब यह किसका आर्त्तनाद है! यह रोना तो किसी स्त्री का प्रतीत होता है। मानों कोई कातर स्वर में कह रही है—कोई है जो मेरी रक्षा करे, जान जाती है। भूत-प्रेत नहीं है, यह आवाज़ तो साफ़ आदमी की है। इसी घर के बग़ल में, बहुत ही समीप, कोई किसी की जान ले रहा है।

विजयसिंह नङ्गी तलवार लेकर फ़ौरन् बाहर निकल पड़े। चारों ओर अच्छी तरह छान-बीन की। परन्तु कहीं कुछ भी न देख पड़ा। तो फिर यह क्या है! साफ़ आदमी की आवाज़ थी—तो क्या प्राचीर के उस ओर यह भीषण हत्या की गई है! यही सम्भव है! नहीं,—अब इस घर में रहना ठीक नहीं; रात बीतने पर सबेरा होते ही सेनापति से कह कर इस घर को छोड़ दूँगा। अगर बाहर से दरवाज़ा खुला होता तो मैं इसी दम चला जाता। यह स्थान नरक-तुल्य है—मैं यहाँ पर हर-घड़ी नरक की ही विभीषिका देखता हूँ। आँगन में खड़े हुए विजयसिंह यही सोच-विचार कर रहे थे कि उनके रहने

के कमरे में एकाएक उजेला हुआ। अचम्भे में आकर वे उस कमरे में गये। वहाँ जाकर उन्होंने जो कुछ देखा उससे उन्हें एक साथ आनन्द और विस्मय हुआ। उन्होंने देखा कि उनका प्यारा मित्र मुराद, उन्हीं के बिस्तरे पर, आराम से सो रहा है। दिया पहले की तरह बल रहा है। तो क्या यह स्वप्न है !

विजयसिंह किङ्कर्तव्य-विमूढ़ की तरह थोड़ी देर तक मुराद के मुँह की ओर ताकते रहे। सोये हुए मित्र को जगाने की उन्हें हिम्मत न हुई। हाथ में नङ्गी तलवार लिये हुए वे उस शय्या के एक ओर बैठे रहे। रात अब समाप्त होने को थी। इसलिए उन्होंने इतना समय जागते रह कर ही बिता दिया।

[क्रमशः]

मन ।

(१)

बोल रे मन ! क्या तुझे है हो गया ?
क्या कहीं नादान ! तू है खो गया ?
या बहुत थक कर किसी तरु के तले—
तू सुमन के सेज पर है सो गया।

(२)

फँस गया मन ! क्या किसी जंजाल में ?
या किसी निर्दय निठुर के जाल में।
या निराशा-दुःख से बे-चैन हो,
तू समाया काल के ही गाल में।

(३)

क्या कहीं तू फँस गया है पाप में ?
या कहीं तू घुल रहा है ताप में।
या कि लोलुप मन ! बँधा है तू कहीं—
कामिनी के कुटिल केश-कलाप में।

(४)

मन ! तनिक बतला कि क्या है मामला ?
कौन सी तुझ पर भला आई बला।
क्यों भटकता फिर रहा दिन-रात है ?
सत्य ही क्या हो गया तू बावला ?

(५)

मन ! जहाँ जाता सदा रमता वहीं ;
लौटने का नाम फिर लेता नहीं।
बन्द कर तू घूमना फिरना सभी ;
मैं न भेजूँगा तुझे हरगिज़ कहीं।

(६)

यह निगोड़ी आँख है लड़ती सदा ;
है कहीं गड़ती कहीं अड़ती सदा।
भग गया मन ! सोच कर क्या तू यही :—
"आपदा मुझ पर वृथा पड़ती सदा"।

(७)

क्या लिया तुझको किसी ने छीन है ?
क्या न तू अब रह गया स्वाधीन है ?
मन-विहग ! क्यों तू न उड़ आता यहाँ ?
हो गया क्या सर्वथा गति-हीन है ?

(८)

चार छै दिन भी नहीं बीते अभी,
तू न रहता शान्त था क्षण भर कभी।
किन्तु अब तू है अचल-सा हो रहा
क्या बदल बातें गईं तेरी सभी ?

(९)

चपलता दुखमूल है सब काल में ;
है प्रशंसित मन्द चाल मराल में।
क्या मिलिन्द-समान चंचल मन ! कहीं—
पड़ गया है कण्टकों के जाल में ?

(१०)

बन्द होता भृङ्ग भी जलजात में,
किन्तु वह होता विमुक्त प्रभात में।
मूढ़ मन ! क्या तू फँसा ऐसा कहीं ?
छूटता दिन में न और न रात में।

(११)

क्या कहीं है क़ैद कारागार में ?
या कि डूबा प्रेम-पारावार में।
या पहुँच मन ! तू गया है अब वहाँ,
पहुँचता कोई न जिस दरबार में।

(१२)

लीन हो कर क्या जगत् के प्यार में ?
तू लगा है लोक के उपकार में ।
या हृदय के साथ तू भी बह गया—
दीन-दुखिया के नयन-जल-धार में ।

(१३)

जल रहा क्या तू कहीं दुख-दाह में ?
या भटकता है किसी की चाह में ।
या कि मन ! तू जा रहा उस ओर है ,
भटकते सब लोग हैं जिस राह में ।

(१४)

हो रहा बदनाम तू संसार में ;
मन ! कभी रहता न तू स्थिर प्यार में ।
क्यों रहित होता न आवागमन से ?
लीन हो जगदीश जगदाधार में ।

गोपालशरणसिंह

प्रकृति का कार्य-वैचित्र्य ।

संसार में सबसे विलक्षण शक्ति प्रकृति की है । वह जिस योग्यता, गम्भीरता तथा विचित्रता से खोदने या ढोने, नष्ट करने या निर्माण करने, रूपान्तर करने या विभाजित करने का कार्य सम्पादन करती है, वैसा मनुष्य नहीं कर सकता । यद्यपि इस कला में हमारे आधुनिक इंजीनियरों ने बड़ी निपुणता प्राप्त कर ली है और अपनी विस्मयजनक करतूतों से संसार को चकित भी कर दिया है, तथापि वे सब प्रकृति के अत्यन्त अद्भुत व्यापार के समक्ष ऐसे दीन और तुच्छ प्रतीत होते हैं जैसे सूर्य के सन्मुख दीपकों का प्रकाश । इस बात को समझाने तथा पाठकों का मनोरञ्जन करने के अभिप्राय से यहां कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

संसार में खोदने का जो सबसे बड़ा काम मनुष्यों के हाथ से बन पड़ा है वह पनामा की नहर है । सौ वर्ष तक परीक्षा और तैयारी करने तथा उत्तमोत्तम आवश्यकीय यन्त्रों का आविष्कार और बहु संख्या में उनका निर्माण करने के अनन्तर इस बृहत्कार्य का श्रीगणेश हुआ । इस कार्य में लगभग एक करोड़ मनुष्य लगे थे, जिनमें चालीस सहस्र एक ही समय में काम करते थे । इन लोगों ने यन्त्रों की सहायता से लगभग तीन सहस्र लाख टन मिट्टी खोद कर बाहर निकाली और दस करोड़ टन के क़रीब कंकड़ और गिट्टी नहर के बांध तथा उसकी तली पर बिछा कर उसे मज़बूत किया । इस प्रकार खोदने और पूरने के कार्य में उन्हें दस वर्ष लग गये । तब जाकर वह नहर पूर्णतः तैयार हुई और अटलांटिक तथा प्रशान्त महासागर, जो अनन्त काल से एक दूसरे से बिछुड़े हुए थे, मानवीय शक्ति से आपस में मिलने-जुलने लग गये ।

परन्तु जब हम प्रकृति के कृत्यों पर विचार करते हैं तब हमें पनामा की नहर, जो मनुष्यों के उत्कृष्ट परिश्रम का फल है और जिसकी गणना संसार के आश्चर्यों में है, इतनी क्षुद्र प्रतीत होती है कि उसे आश्चर्यजनक कहते हमारे मन में सङ्कोच होता है । पनामा-नहर के बनाने में जितनी मिट्टी दस वर्ष में खोदी गई उससे अधिक एक नदी वर्ष भर में खोद ढहाती है । अमरीका की मिसीसिपी नदी प्रति वर्ष चार हज़ार लाख टन मिट्टी खोद कर मेक्सिको की खाड़ी में जमा करती है । इस हिसाब से वह प्रति दस वर्ष में चालीस सहस्र लक्ष टन मिट्टी खोदकर ले जाती है । इससे भी अद्भुत कृत्य चीन की पीत नदी का है । कहते हैं कि वह प्रति वर्ष आठ हज़ार चार सौ चालीस लाख टन, अर्थात् प्रति दस वर्ष में चौरासी हज़ार चार सौ लाख टन मिट्टी खोद कर उदधि को अर्पण करती है । अब देखना है कि ये नदियां जब दस वर्ष में इतना गज़ब ढाती हैं तब कई शताब्दियों के अनन्तर इनसे खोदने का कितना कार्य बन सकेगा । इस बात की कल्पना अमरीका के कोलोरेडो नदी के विषय में विचार करने से भली भांति हो सकती है । एक पुस्तक में लिखा है कि कोलोरेडो नदी चट्टानों को तोड़ती फोड़ती हुई इतनी गहराई में बहती है कि मानव-दृष्टि उसे देख नहीं सकती । सूर्य की किरणें भी मध्याह्न-काल के सिवा अन्य अवसर पर उसके जल का स्पर्श नहीं कर

पातीं । वहाँ इतना अन्धकार रहता है कि किसी भी मनुष्य की हिम्मत वहाँ जाने की नहीं होती । तो भी लोगों ने पता लगा लिया है कि कितने ही स्थानों में उसकी गहराई मील भर से भी अधिक है ।

यह तो हुई खोदने की बात । अब ज़रा ढोने के सम्बन्ध में विचार करें और देखें कि इस कार्य में प्रकृति की विचित्रता कहाँ तक है । प्रकृति जितना कुछ खोदती है उसे वह ऐसी ही शान्ति से ढो ले जाती है, यहाँ तक कि किसी को कुछ पता ही नहीं लगता । पर मनुष्यों का ऐसा हाल नहीं है । जब कभी उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान को बहुत सा सामान ले जाना होता है तब उन्हें रेल की सड़कें, माल की गाड़ियाँ और सामान उतारने चढ़ाने के यन्त्र बनवाना पड़ता है । इनके अतिरिक्त मज़दूरों का बड़ा भारी काफ़िला भी एकत्र करना होता है । इतना सब करके भी वे बड़ी कठिनाई से बीस बाईस लाख टन सामान एक दिन में ले जा पाते हैं । ऐसे अवसर पर शोरगुल की भी अधिकता रहती है, जिससे वहाँ खड़ा रहना मुश्किल हो जाता है ।

हेरोडोटस का कथन है कि पिरामिड का निर्माण करने के पूर्व हज़ारों गुलाम सड़क बनाने के कार्य में दस वर्ष तक लगे थे, जिसमें दूर दूर से बड़े बड़े पत्थरों की ढुलाई करने में सुभीता पड़े । इसके अनन्तर पिरामिड बनाने का काम प्रारम्भ हुआ । इसमें भी लाखों गुलाम बीस वर्ष तक लगे रहे । इतने समय में उन लोगों ने कठिन परिश्रम करके जितना पत्थर ढोया उसकी तादाद चालीस लक्ष टन के क़रीब होती है । इसी प्रकार चीन की बृहत् दीवार के बनाने और उसके लिए आवश्यकीय वस्तु ढोकर लाने में बहुत परिश्रम और समय लगा था । चीन की दीवार पन्द्रह सौ मील लम्बी, बीस से तीस फुट तक चौड़ी और पचीस फुट मोटी है । इंजीनियरों का अनुमान है कि जब दीवार नई थी तब उसमें तिरसठ हज़ार पाँच सौ लाख घन फुट सामग्री लगी थी, जिसका वज़न लगभग दो सौ पचास लाख टन होता है ।

प्रकृति के ढोने के कार्य और मनुष्य के ढोने के कार्य में ज़मीन-आसमान का अन्तर है । मनुष्य-दल जितनी सामग्री वर्षों में ढोता है, प्रकृति की साधारण दासी उतने को कुछ ही दिनों में ढो लेती है । कहा जाता है कि पाव पवित्र गङ्गा नदी वर्षा-ऋतु में, जिसमें एक सौ बाईस दिन होते हैं, साठ हज़ार लाख घन फुट पदार्थ ढोकर ले जाती है, जिसका परिमाण ७९ पिरामिड या तीन हज़ार लाख टन के बराबर होता है । यहाँ यह बता देना उचित होगा कि प्रति घण्टा १/३ मील के हिसाब से बहनेवाली धारा में मिट्टी, इससे दुगुनी गति से प्रवाहित होनेवाली धारा में रेतकण, दो मील की गति की धारा में बेर के परिमाण के कंकड़ और चार मील की गति से बहनेवाली धारा में नासपाती की बराबरी के पत्थर को बहा ले जाने की शक्ति रहती है ।

मनुष्यों ने लाखों टन मिट्टी और पत्थर लगा कर समुद्र-तट पर जो बाँध बनाये हैं वे अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं । उनमें से कितने बाँध एक मील से भी अधिक लम्बाई के हैं । बाँधों की सुदृढ़ता इसी एक बात पर से भली भाँति लक्षित होती है कि उनमें कहीं चार और कहीं कहीं चार से भी अधिक टन के पत्थर इस युक्ति से जोड़े गये हैं कि उन्हें देखने से सहसा एक ही पत्थर का भ्रम होता है । वास्तव में उनके निर्माणकर्ता इंजीनियरों की बुद्धिमत्ता और कार्यकुशलता तथा उनके सहायक कर्मचारियों की धीरता और साहस अत्यन्त प्रशंसनीय है । परन्तु जब तूफ़ान आता है और समुद्र अपनी शक्ति दिखाता है तब मानवीय उद्योग निर्बल पड़ जाता है और वर्षों का परिश्रम कुछ ही घण्टों में पानी में मिल जाता है ।

गत भीषण समर के समय तोपों और उनके गोलों की शक्ति का जो भयङ्कर समाचार पढ़ने सुनने में आया था उससे स्पष्ट होता है कि मशीनगन पाँच-छः सौ गोलियाँ एक घण्टे में दाग सकती है और जंगी जहाज़ की नाशकारी तोप एक टन के वज़न के गोले को १७०० मील प्रति घण्टा के हिसाब से फेंक सकती है । परन्तु जब हम इन भयङ्कर तोपों की तुलना ज्वालामुखी पर्वतों से करते हैं, जो प्रकृति की दीर्घकाय और महा भयङ्कर तोपें हैं, तो हमें अपनी तुच्छता पर, जिसे हमने श्रेष्ठता का स्वरूप दे रक्खा है, बड़ी हँसी आती है । चालीस वर्ष पूर्व की बात है कि क्रोकेटोवा का ज्वालामुखी पर्वत, जो सुमात्रा और जावा के मुहाने पर स्थित है, बड़े ज़ोर से भड़क पड़ा

था। उसके भड़कने से वायु-मण्डल में बड़ी बड़ी तरङ्गें उठने लगी थीं। ये तरङ्गें सात बार उत्पन्न हुईं और प्रति बार संसार भर के बेरोमीटर में अपना चिह्न अङ्कित करती गईं। धड़ाका भी इतने ज़ोर का हुआ था कि उससे एक घन मील चट्टान का टुकड़ा, जो वज़न में साठ हज़ार लाख टन के बराबर होता है, कुछ ही घण्टों में टूट पड़ा। पर्वत के मुँह से भाफ, धूँवा और धूल भी इतनी निकली कि उससे १८० मील के घेरे तक दिन में घोर अन्धकार छा गया। हाथ पसारे नहीं सूझता था। कहते हैं कि ये पदार्थ बीस मील की उँचाई तक आकाशमण्डल में फ़ौवारे के समान उड़ते थे, जिससे संसार का सम्पूर्ण वायु-मण्डल इन वस्तुओं से पूरित हो गया। इस स्फोटन से नाश भी बहुत हुआ। क्रोकेटोवा द्वीप का अर्ध भाग वीरान हो गया और उसके जिस भाग में आध मील उँचाई का पर्वत था वहाँ हज़ारों फुट गहराई का समुद्र बन गया। इस आपत्ति के समय में एक बड़ी विचित्र बात यह हुई कि पर्वत के स्फोटन का शब्द बटेविया में, जो वहाँ से ९४ मील दूर है, इतने ज़ोर से सुनाई दिया कि लोग कुछ देर तक बधिर से हो गये। वहाँ से ९६९ मील दूरी के सिलीबीस द्वीप में वह शब्द इतना स्पष्ट सुन पड़ा जैसा कि अत्यन्त निकट के ज्वालामुखी का भड़कना सुन पड़ता है। चोगास द्वीप में भी जो वहाँ से २२७८ मील की दूरी पर है, स्फोटन की आवाज़ तोप की आवाज़ के समान सुनाई पड़ी।

साम्प्रत काल में बारूद से चट्टानों को तोड़ फोड़ कर उन्हें छिन्न भिन्न करने में मनुष्यों ने अपनी बड़ी बहादुरी दिखाई है। परन्तु विचार करने से पता लगता है कि इस हुनर में मनुष्यों की अपेक्षा प्रकृति बहुत बढ़ी-चढ़ी है। वह बड़ी से बड़ी चट्टान को वर्षा और बर्फ़ के सहारे इस प्रकार तोड़ती-फोड़ती है जैसे डिनामाइट के प्रयोग से छोटे मोटे चट्टान के टुकड़े तोड़-फोड़े जाते हैं। यही कारण है कि पर्वत निर्दिष्ट उँचाई से अधिक ऊँचे नहीं हो पाये और हिमालय, आल्प्स तथा एंडीस जैसी ऊँची पर्वत-श्रेणियों पर शिखरों की शृङ्खला ही शेष रह गई। इन बृहत् पर्वतश्रेणियों के धरातल के समीप लाखों टन पत्थर के टुकड़े पड़े हुए हैं। उन्हें देखने से प्रकृति के कार्य का अनुमान भली भाँति हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति अनन्त काल से अपना कार्य करती आ रही है। परन्तु उसकी प्रायः सभी कारगुज़ारी गुप्त रीति से होती है। इससे हमें उनका कुछ पता नहीं लगता। कभी कभी उसके कार्य प्रकट भी हो जाते हैं। तब हमें उसकी असीम शक्ति का अनुभव होता है। हाल में भूकम्प से जापान की जो हानि हुई है वह उसकी प्रकट शक्ति का ही परिणाम है। उससे कुछ ही घण्टों में जितना नाश हुआ है, सम्भवतः उतना ही नाश वर्षों के उद्योग से जर्मन-सेना ने बेलजियम का किया होगा। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्रकृति का कार्य केवल संहार करना ही है। यदि यही उसका मुख्य कर्तव्य होता तो इस पृथ्वी की उत्पत्ति ही न हो पाती और अब तक उसके बनने का कार्य जारी न रह सकता। सच तो यह है कि उसके मन्द और शीतल वायु-सञ्चार से संसार का जितना उपकार होता है, उतना उसकी प्रबल और प्रचण्ड आँधी से नाश नहीं होता। उसकी सहचरी सरिताओं से संसार का जितना कल्याण होता है उसका शतांश भी ज्वार और लहरों से हानि नहीं होती। प्रकृति माता है न, अतः वह अपत्य-स्नेह कैसे त्याग सकती है।

वनमालीप्रसाद शुक्ल

राजा-रानी।

पाँचवाँ दृश्य।

देवदत्त का घर।

नारायणी घर के कामों में लगी है।

देवदत्त का प्रवेश।

देव०—प्रिये, मैं पूछता हूँ, घर में कुछ है?

नारा०—सिवा मेरे और कुछ भी नहीं। मैं भी अगर न रहूँ तो बस आफ़त दूर हो जाय!

देव०—यह कैसी बात?

नारा०—तुम रास्ते से बटोर बटोर कर सारे संसार के फ़कीर ले आते हो; घर में चूनी-भूसी भी नहीं बचने पाती। काम करते करते मेरा शरीर भी मिट्टी में मिला जाता है।

देव०—मैं क्या यों ही अतिथि-अभ्यागतों को ले आता हूँ? बात यह है कि हाथ में काम बना रहने से तुम अच्छी तरह रहती हो, और इसी कारण मैं भी अच्छी तरह रहता हूँ। और कुछ चाहे न हो, तुम्हारा यह मुँह उससे बन्द रहता है।

नारा०—हूँ! अच्छा लो मैं चुप हुई जाती हूँ। कौन जानता था, मेरी बात भी तुमसे न सुनी जायगी? सो कौन कहता है कि तुम मेरी बात सुनो—

देव०—तुम ही कहती हो, और कौन कहेगा? एक बात नहीं सुनता तो दस बातें सुना देती हो।

नारा०—ठीक है! मैं दस बातें सुना देती हूँ। अच्छा मैं चुप हूँ। मैं एक-दम चुप हो जाऊँ तो तुम्हारी जान बचे। अब क्या वे दिन हैं—वे दिन गये। अब फिर से नये मुँह से नई बातें सुनने को जी चाहता होगा! अब मेरी बातें पुरानी होगईं!

देव०—बाप रे! नये मुँह की नई बातें! सुनते ही रोयें खड़े हो आये! पुरानी बातें सुनने का तो भला अभ्यास भी हो गया है।

नारा०—अच्छा, अच्छी बात है! अगर तुमको मेरी बातें ऐसी बुरी लगती हैं तो मैं चुप हुई जाती हूँ। अब मैं एक बात भी नहीं कहूँगी। पहले ही से कह देते—मुझे तो यह मालूम न था। मालूम होता तो कौ हरामज़ादी तुमसे—

देव०—पहले नहीं कहा? कितनी ही बार तुम कह चुका हूँ। कहाँ, फल तो कुछ भी नहीं हुआ।

नारा०—ठीक है! सो अच्छी बात है, आज से चुप हो गई। तुम भी सुख से रहोगे, मैं भी सुख रहूँगी। मैं क्या यों हीं बकती हूँ? तुम्हारे दे देखकर—

देव०—यही शायद तुम्हारा चुप रहना है!

नारा०—अच्छा (मुँह फेर कर खड़ी होती है)

देव०—प्रिये! प्रेयसी! मधुरभाषिणी! कोकि गंजिनी!

नारा०—चुप रहो।

देव०—क्रोध न करो प्रिये—कोयल का ऐसा नहीं, कोयल का ऐसा पञ्चम स्वर कहता हूँ।

नारा०—जाओ जाओ, बनो नहीं! परन्तु मैं अभी से कहे देती हूँ कि तुम जो और भी फ़कीर ब लाओगे तो मैं या तो झाड़ू मार कर उनको बिदा क दूँगी या आपही जङ्गल को चल दूँगी।

देव०—तो फिर मैं भी तुम्हारे ही पीछे पी जाऊँगा—और अतिथि-अभ्यागत भी जायँगे।

नारा०—झूठ नहीं। ढेंकी को स्वर्ग में भी चै नहीं मिलता।

(नारायणी का प्रस्थान।)

माला जपते हुए त्रिवेदी का प्रवेश।

त्रिवेदी—शिव शिव शिव! तुम राजपुरोहि हुए हो?

देव०—हाँ हुआ तो हूँ! किन्तु यह क्रोध कि लिए है त्रिवेदीजी? मुझमें कोई दोष न था। मैं मा भी नहीं जपता और भगवान् का नाम भी नहीं लेता राजा की इच्छा!

त्रिवे०—पिपीलिका के पक्षच्छेद हुआ। श्रीहरि!

देव०—मुझ पर क्रोध करके आप शब्दशास्त्र पर क यह उपद्रव कर रहे हैं? पक्षच्छेद नहीं, पक्षोद्भेद।

त्रिवे०—वह भी यही बात है। जो छेद है वही

है ! लोग कहते ही हैं—छेदभेद—छिन्नभिन्न ! हे गोविन्द ! तुम सठिया गये, इसमें सन्देह नहीं ।—

देव०—मेरी ब्राह्मणी साची है, अभी मेरी जवानी बनी हुई है !

त्रिवे०—मैं भी तो वही कहता हूँ । जवानी के दर्प से ही तुम इतने बुड्ढे होगये हो । सो तुम मरोगे ! हे दीनबन्धो !

देव०—ब्राह्मण का कहना झूठ न होगा—मैं मरूँगा । परन्तु उसके लिए आपको विशेष चेष्टा न करनी होगी; स्वयं यमराज इस काम को करेंगे । त्रिवेदीजी, तुम्हारी अपेक्षा मेरे साथ उनकी अधिक जान-पहचान या नातेदारी भी नहीं है । सब पर उनकी समान दृष्टि है ।

त्रिवे०—तुम्हारा अन्तकाल बहुत निकट आगया है । दयामय !

देव०—मैं कैसे जानूँ ? आज-कल लोग मरते बहुत देख पड़ते हैं सही—कोई गले में फन्दा लगाकर मरता है, कोई नदी में डूब कर मरता है, कोई कोई सांप के काटने से भी मरता है, किन्तु ब्रह्म-शाप से कोई नहीं मरता । ब्राह्मण की लाठी से भी किसी किसी का मरना सुना गया है, किन्तु ब्राह्मण के कहने से कोई नहीं मरा । अतएव यदि मैं शीघ्र न मर सकूँ तो मुझ पर क्रोध न कीजिए त्रिवेदीजी—यह मेरा नहीं, समय का दोष है !

त्रिवे०—सर्वनाश होगा । शिव शिव शिव !

देव०—और कुछ प्रयोजन है ?

त्रिवे०—नहीं । केवल यही समाचार सुनाने आया था । दयामय ! हाँ, तुम्हारे छप्पर में दो एक अधिक कुम्हड़े लगे हों तो दे सकते हो—मुझे ज़रूरत है ।

देव०—लाये देता हूँ ।

(प्रस्थान)

छठा दृश्य ।

अन्तःपुर—फूलबाग़ ।

विक्रमदेव और राजा का मामा वृद्ध अमात्य ।

विक्र०—झूठी बातें सुनो नहीं, अभियोग हैं
झूठे; अत्याचार न कुछ भी हो रहा ।
विजयसेन है सुजन, युधाजित योग्य है,
शिलादित्य का शील प्रशंसित देश में ।
उनका है अपराध, विदेशी हैं—यही ।
बस, इससे ही यहाँ प्रजा के चित्त में
सुलगा करती आग द्वेष की हर घड़ी;
उससे ही यह निन्दा का काला धुआँ
उठता है ।

अमा०— यह बात नहीं है, सैकड़ों
हैं प्रमाण प्रत्यक्ष प्रजा के पक्ष में ।
करिए आप विचार ।

विक्र०— ज़रूरत कुछ नहीं ।
सब प्रमाण हैं व्यर्थ । राज्य इतना बड़ा
न विश्वास के बिना एक दिन चल सके ;
जिसका है जो काम उसे वह यत्न से
करता है ! सुन निन्दा उनकी नित्य ही
करने लगना बस विचार, क्या ठीक है ?
राजा का यह काम नहीं है; इसलिए
जाओ अब तुम आर्य, करूँ विश्राम मैं ।
विघ्न न डालो ।

अमा०— मन्त्री ने भेजा मुझे ।
दर्शन की प्रार्थना करे वह, राज्य के
किसी काम के लिए ।

विक्र०— सदा ही राज्य है;
राजकाज भी लगा हुआ है साथ ही ।
सुमधुर अवसर बीच बीच में दिख पड़े ।
होता अति सुकुमार और अति भीरु वह ।
खिल उठता है, जैसे कोई फूल हो ।
असमय में ही चिन्ता के गुरुभार से
कौन तोड़ना चाहेगा, बोलो, उसे ?
जानो, है विश्राम अङ्ग कर्त्तव्य का ।

अमा०—महाराज फिर जाता हूँ !

(प्रस्थान ।)

(रानी के आत्मीय अमात्य का प्रवेश ।)

अमा०— अन्धेर है !
महाराज करिए विचार ।

विक्र०— किस बात का ?

अमा०—निरपराध हम लोग आपके भृत्य हैं;
झूठा हमको दोष लगाया जा रहा ।
विक्र०—कहना होगा सत्य तुम्हारा ! किन्तु मैं
करता हूँ विश्वास तुम्हारी बात का
जब तक, तब तक तुम चिन्ता कुछ मत करो ।
तुम पर से विश्वास उठेगा जिस घड़ी
सत्यासत्य-विचार करूँगा मैं तभी ।
जाओ बस ।

(अमात्य का प्रस्थान ।)

विक्र०— यह जीवन, हाय, मनुष्य का
कष्टपूर्ण हो चूर्ण हृदय कर डालता !
पग पग पर दृढ़ नियमों की है शृङ्खला ।
खुद फैला कर जाल आप उसमें फँसे ।
पञ्जर-पिञ्जर में अशान्त अभिलाष का
पक्षी है फड़फड़ा रहा । यह किसलिए
है अधीनता जटिल ? आत्मपीड़न अहो
क्यों इतना है ? क्यों कठोर कर्तव्य का
है यह कारागार ? सुखी तू सर्वथा
हे वासन्ती लता ! आपही खिल रही
प्रातःकाल प्रकाश, ओसकण रात को
पाकर रहती गन्ध और मधु से भरी
स्तुति सी करते भ्रमर । झूलती वायु के
झोंकों से । ज्यों झूमा करती मस्त हो ।
खिलती शोभा भली कली धारण किये,
ताका करती स्वच्छ नील आकाश को ।
सन्ध्या को फिर हरी घास पर आपही
पड़ जाती है । विधि-निषेध या तर्क का
नाम नहीं है । नहीं रात को नींद में
मर्मस्थल को डँसे सर्प सन्देह का ।
सहना पड़ता नहीं तुझे आश्वास से
हीन प्रेम का वेग !

(सुमित्रा का प्रवेश ।)

वज्र के हृदय की !
आई है क्या दया ? कहो—कुछ तो कहो ।
दुनिया भर के काम सभी क्या हो चुके ?
तुमको आया याद इसी से दास क्या ?
जानो क्या तुम नहीं, सभी कर्त्तव्य से
बढ़ कर है यह प्रेम ? प्रेम इस हृदय का
है स्वतन्त्र कर्त्तव्य ।
सुमि०— हाय, धिक् है मुझे !
समझाऊँ किस तरह, छोड़कर आपको
जाती हूँ मैं नाथ, प्रेम से आपके !
महाराज, इस दासी का कहना सुनो—
सभी प्रजा की माता हूँ मैं धर्म की !
सुना न जाता दीन-दुखी सन्तान का
कातर क्रन्दन मुझसे अब । इससे प्रभो,
होकर तत्पर दुखियों की रक्षा करो ।
विक्र०—रानी, तुम क्या कहा चाहती हो ?
सुमि०— सुनो—
मेरी प्यारी प्रजा सताई जारही
जिनके हाथों, उन्हें निकालो देश से ।
विक्र०—कौन सतावे प्रजा, जानतीं ?
सुमि०— जानती ।
विक्र०—प्रिये, तुम्हारे ही हैं सब आत्मीय वे !
सुमि०—नहीं नाथ, सन्तानों से बढ़ कर सगे
मेरे हैं वे नहीं । हमारे राज्य की
जितनी भूखी है अनाथ दुखिया प्रजा,
उससे बढ़ कर और सगा मेरा नहीं ।
सिंहासन की आड़, छत्र की छाँह में
जो शिकार की खोज रोज़ करते फिरें
गुप्त रूप से, वे ठग हैं, वे चोर हैं ।
विक्र०—शिलादित्य, जयसेन, युधाजित हैं ।
सुमि०— उन्हें
अभी देश से दो निकाल ।
विक्र०— सम्भव नहीं ।
यहाँ कर रहे चैन, सहज में वे कभी
निकल न सकते, सिवा युद्ध के ।
सुमि०— नाथ तो
करिए उनसे युद्ध ।
विक्र०— युद्ध ! नारी, तुझे
कौन कहेगा रमणी ? अच्छा, युद्ध मैं
ठानूँगा । पर उसके पहले तुम मुझे

आत्मसमर्पण कर दो; सबको छोड़ दो;
केवल मेरा ध्यान रहे, बस, हर घड़ी।
घर-बाहर, संसार, सभी निस्सार है—
ऐसा मन में सोच, काम छोड़ो सभी।
तब मैं होकर तृप्त, जीतने के लिए
विश्व-राज्य को निकलूँगा! जब तक मुझे
यों ही रक्खोगी अतृप्त, तब तक तुम्हें
छोड़ न सकता, भाग्य-सदृश पीछे लगा।
सुमि०—महाराज, तो मुझको आज्ञा दीजिए,
रानी होकर हरूँ प्रजा के दुःख को।

(प्रस्थान ।)

विक्र०—इसी तरह कर रहीं मुझे व्याकुल वृथा।
तुम महत्त्व के उच्च शिखर पर हो खड़ी
प्रिये, अकेली; मैं तुमको पाता नहीं!
इससे मैं हर घड़ी तुम्हीं को चाहता!
तुम करती हो काम तुम्हें मैं खोजता!
कभी मिलोगी मुझसे मन से या नहीं?

देवदत्त का प्रवेश।

देव०—जय रानीजी—कहाँ महारानी; यहाँ
महाराज क्यों आप अकेले हैं खड़े?
विक्र०—तुम आये किसलिए? यहाँ क्या काम है?
ब्राह्मण का षड्यन्त्र महल में चल रहा!
रानी से यह समाचार किसने कहा?
देव०—ख़बर राज्य की आप राज्य ने दी प्रभो।
मचा हुआ अन्धेर, सुनाई कुछ नहीं।
बिलख बिलख कर प्रजा रो रही राज्य की।
उसको क्या है ख़बर, विशेष विलाप से
विघ्न पड़ेगा राजा के आराम में।
डरिए मत, मैं तो कुछ भिक्षा माँगने
रानीजी की सेवा में आया प्रभो।
घर में दाना नहीं एक भी अन्न का,
उधर भूख के मारे व्याकुल प्राण हैं!

(प्रस्थान ।)

विक्र०—सुखी रहे सब प्रजा राज्य की; किसलिए
यह पीड़ा, यह दुःख और रोना मचा?
क्यों है अत्याचार, सताना दीन को?
क्यों होता अविचार और अन्याय है?
क्यों मनुष्य पर यों मनुष्य का हो रहा
विकट उपद्रव? दुर्बल के सुखचैन को
सबल बाज सा क्यों हर लेना चाहता?
देखूँ, कुछ हो सके यत्न जो शान्ति का!

सातवाँ दृश्य।

मन्त्र-भवन।

विक्रमदेव और मन्त्री।

विक्र०—सब विदेशियों को निकाल दो राज्य से
इसी घड़ी! वे दस्यु दण्ड के योग्य हैं!
सदा पीड़ितों की पुकार ही सुन पड़े,
कैसा यह अन्धेर राज्य में मच रहा!
बस, अब पीड़ित की पुकार मत सुन पड़े!
मंत्री—महाराज, कुछ समय चाहिए; धैर्य के
बिना न होगा काम; देखिए कुछ दिनों
सभी ओर; तब सब गड़बड़ मिट जायगी—
शोकाकुल या भीत न होगा एक भी।
अन्धकार में बहुत दिनों से बढ़ रहा
कठिन अमङ्गल; उसे एक दिन में कभी
मिटा न सकते आप।
विक्र०— नहीं, उसको अभी
जड़ से दूँगा मैं उखाड़, ज्यों ज़ोर से
बढ़ई काटे पेड़ सैकड़ों साल का!
मं०—सहज नहीं है, शस्त्र चाहिए, सैन्य भी—
वि०—सेनापति है कहाँ?
मं०— विदेशी वह स्वयं।
वि०—तो फिर कुछ वश नहीं, प्रजा जो दीन है,
उसको देकर अन्न और धन चुप करो।
कह दो, जाकर रहें जहाँ पर सुख मिले।

(प्रस्थान ।)

देवदत्त के साथ सुमित्रा का प्रवेश।

सुमि०—मैं रानी हूँ भाग्यहीन इस देश की,
तुम मन्त्री हो?

मं०— हाँ, प्रणाम स्वीकार हो ।
क्षमा कीजिए, दास ढिठाई कर रहा,—
अन्तःपुर को छोड़, इस जगह किस लिए
आई जननी आप ?
सुमि०— प्रजा का दुःख ही
अन्तःपुर से खींच यहाँ लाया मुझे ।
उसका कुछ प्रतिकार करूँगी आज मैं !
मन्त्री—आज्ञा क्या है मुझे ?
सुमि०— विदेशी जो यहाँ
शासक हैं, तुम उन्हें बुलाओ शीघ्र ही ।
कह दो, मैंने उन्हें बुलाया है यहाँ ।
मं०—सहसा ऐसे यहाँ बुलाने में, उन्हें
संशय होगा, आवेंगे भी वे नहीं ।
सुमि०—रानी का आदेश न मानेंगे ?
मं०— नहीं,
राजा-रानी सभी स्वयं वे लोग हैं ।
सुमि०—अच्छा तो फिर एक करो उत्सव नया
भैरव-पूजा का, विशेष उद्योग से ।
उसमें उनको यहाँ बुला भेजो । तभी
होगा न्याय-विचार । गर्व से अन्ध वे
करें न जो स्वीकार दण्ड, तो सैन्य भी
रखना तुम तैयार पास ही उस घड़ी ।
देव०—दूत बनाकर किसे भेजना चाहिए ?
मं०—दूत त्रिवेदी को बनाइए । हैं वही
भोलेभाले धर्मभीरु ब्राह्मण । वहाँ
उन पर होगा नहीं तनिक सन्देह भी ।
देव०—सरल त्रिवेदी ? उनका भोला भाव ही
पूरा जादू डाल बनाता मूर्ख है ।
टेढ़ेपन का सरल भाव आधार है !

* * *

आठवाँ दृश्य ।

त्रिवेदी का घर ।

मन्त्री और त्रिवेदी ।

मन्त्री—समझे त्रिवेदीजी, यह काम आपके सिवा और किसी को सौंपा नहीं जा सकता ।

त्रिवे०—सो तो समझा । हे हरि ! किन्तु मन्त्रीजी, काम के समय मुझे बुलाते हो और पुरोहिती देने के समय देवदत्त की खोज होती है !

मन्त्री—तुम तो जानते हो त्रिवेदीजी, देवदत्त वेदपाठी ब्राह्मण हैं, उनसे और कोई काम नहीं हो सकता ! वह केवल मन्त्र पढ़ सकते हैं, और घण्टा हिला सकते हैं ।

त्रि०—क्यों, मेरी क्या वेद के ऊपर कम भक्ति है ? मैं वेद की पूजा करता हूँ, इसी से वेद-पाठ करने की सुविधा नहीं होती । चन्दन और सेन्दुर के मारे वेद का एक अक्षर भी नहीं देख पड़ता । आजही मैं जाऊँगा ! हे मधुसूदन !

मं०—क्या कहिएगा ?

त्रि०—मैं कहूँगा, कालभैरव की पूजा है, इसी से राजा ने तुमको निमन्त्रण दिया है—मैं खूब लम्बे लम्बे अलङ्कार जोड़कर ही सँदेसा कहूँगा—सब बातें इस समय याद नहीं आतीं—राह में जाते जाते सोच लूँगा । हे हरि, तुम्हीं सत्य हो !

मन्त्री—जाने से पहले एक बार मुझसे मिल लीजिएगा ।

(प्रस्थान ।)

त्रि०—मैं निर्बोध हूँ, मैं बच्चा हूँ, मैं सीधा सादा हूँ, मैं तुम्हारा काम निकालनेवाला बैल हूँ ! पीठ पर बोरी, नाक में नकेल, कुछ समझूँगा नहीं, केवल पूँछ के मरोड़े खाकर चलता रहूँगा—और शाम को तुम मुझे थोड़ी सी खली खाने के लिए दे दोगे ! हे हरि, तुम्हारी इच्छा ! देखा जायगा, कौन कितना समझता है ! ओ, अभी तक पूजा की सामग्री नहीं दी ? देर हो रही है ! नारायण ! नारायण !

दूसरा अङ्क ।

पहला दृश्य ।

सिंहगढ़—जयसेन का महल ।

जयसेन, त्रिवेदी और मिहिरगुप्त ।

त्रिवे०—तो भैया, तुम जो इस तरह लाल लाल आँखें निकालोगे तो आत्मविश्रुति दोष घटित होगा !

भक्तवत्सल गोपाल ! देवदत्त और मन्त्री ने मुझको अच्छी तरह सिखला दिया है—क्या कह रहा था ?—हाँ, हमारे राजा ने कालभैरव की पूजा नाम का एक उपलक्ष करके—

जय०—उपलक्ष करके ?

त्रिवे०—हाँ, उपलक्ष ही सही, इसमें दोष क्या है ? मधुसूदन ! हाँ, सो तुमको चिन्ता हो सकती है । उपलक्ष शब्द कुछ काठिन्यकुण्ठित है—मैं देखता हूँ, उसके यथार्थ अर्थ को निराकार करने में अनेक लोग गड़बड़ में पड़ जाते हैं ।

जय०—वही तो, पण्डितजी ! उसके यथार्थ अर्थ का ही निर्णय कर रहा हूँ !

त्रिवे०—राम नाम सत्य है ! अच्छा उपलक्ष न कहो, उपसर्ग कहो । शब्दों की क्या कमी है भैया ? शास्त्र में लिखा है शब्द ब्रह्म है । अतएव चाहे उपलक्ष कहो, चाहे उपसर्ग कहो, अर्थ एक ही निकलेगा ।

जय०—ठीक है । राजा ने हम लोगों को बुलाया है, इसका उपलक्ष और उपसर्ग तक समझ में आगया—अब खुलासा करके यह कहो कि उसका यथार्थ कारण क्या है ?

त्रिवे०—यही तो मैं कह नहीं सकता भैया—यही तो मुझसे किसी ने समझा कर कहा नहीं । हे हरि !

जय०—ब्राह्मण, तुम बड़े कठिन स्थान में आये हो । छिपाओगे तो आफ़त में पड़ोगे ।

त्रिवे०—हे भगवान् ! हाँ देखो भैया, तुम क्रोध न करो । तुम्हारा स्वभाव तो मधुमत्त मधुकर का ऐसा नहीं जान पड़ता ।

जय०—बहुत बनो नहीं महराज, यथार्थ कारण जो जानते हो, कह डालो ।

त्रिवे०—वासुदेव ! सभी बातों का क्या यथार्थ कारण हुआ करता है ? और अगर रहता भी हो तो क्या सब लोग उसे जान सकते हैं ? जिन्होंने गुप्तरूप से सलाह की है वे ही जानें, मन्त्री जाने, और देवदत्त जाने । सो भैया, तुम अधिक चिन्ता न करो । जान पड़ता है, वहाँ पहुँचते ही यथार्थ कारण तुमको मालूम हो जायगा ।

जय०—मन्त्री ने तुमसे और कुछ नहीं कहा ?

त्रिवे०—नारायण, नारायण ! तुम्हारी सौगन्ध, कुछ नहीं कहा । मन्त्री ने यही कहा कि "पण्डितजी, जो मैंने कहा है, इसके सिवा और कुछ भी न कहना । देखो, तुम पर ज़रा भी सन्देह न कर सकें' । मैंने कहा—"हे राम ! सन्देह क्यों करेंगे ? तो भी कह नहीं सकता, शायद सन्देह करें । मैं तो सीधे स्वभाव से कह दूँगा । जिसको सन्देह करना होगा वह करेगा" । हे हरि तुम ही सत्य हो !

जय०—पूजा के उपलक्ष में निमन्त्रण दिया है, यह तो एक साधारण बात है,—इसमें सन्देह होने का क्या कारण हो सकता है ?

त्रिवे०—तुम लोग बड़े आदमी ठहरे, तुम लोगों में इसी तरह हुआ करता है । नहीं तो शास्त्र क्यों कहता—"धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः" । अगर कोई तुमसे आकर कहे कि "आ तो सही पाजी, तेरा सिर अभी धड़ से अलग किये देता हूँ," तो तुम लोग समझते हो कि और चाहे जो हो, यह आदमी धोखेबाज़ नहीं है—सचमुच सिर के ऊपर इसकी नज़र है । किन्तु जो कोई आकर कहे कि "आओ तो भैया, धीरे धीरे तुम्हारी पीठ पर हाथ फेरें", तो चट तुम्हारे मन में सन्देह उत्पन्न हो जाता है । जैसे सिर पर हाथ सफ़ा करने की अपेक्षा पीठ पर हाथ फेरना कठिन है । हे भगवान्, जो राजा स्पष्ट करके कहता कि ज़रा पास आओ तो, तुममें से एक एक को पकड़ कर राज्य से निकाल दूँगा, तो ये लोग कभी सन्देह न करते कि राजकन्या के साथ ब्याहने के लिए ही तो राजा ने नहीं बुला भेजा । किन्तु राजा ने यह कहला भेजा है न कि हे बन्धुओ, राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः, अतएव तुम लोग पूजा के उपलक्ष में यहाँ आकर मिष्टान्न भोजन करो । बस, सुनते ही तुमको सन्देह ने घेर लिया कि वह मिष्टान्न भोजन न जाने किस तरह का है ! हे मधुसूदन ! सो भैया, ऐसा होता भी है ! बड़े लोगों की साधारण बात में सन्देह होता है, और साधारण आदमी की बड़ी बातें सुन कर सन्देह होता है ।

जय०—त्रिवेदीजी, आप बड़े ही सरल स्वभाव के आदमी हैं । मुझको जो कुछ सन्देह भी था वह आपकी बातों से दूर होगया ।

त्रिवे०—तुमने ठीक कहा । मैं तुम लोगों के समान

बुद्धिमान् नहीं हूँ—सब बातों की तह तक नहीं पहुँच सकता—किन्तु भैया, मैं तो पुराणसंहिता के "अन्ये परे का कथा" इस वचन के अनुसार हूँ, अर्थात् औरों की बात में कभी नहीं रहता !

जय०—और किस किस को निमन्त्रण देने आप आये हैं ?

त्रिवे०—तुम लोगों का नाम तो मुझे याद ही नहीं रहता । तुम कश्मीरियों का जैसा स्वभाव है वैसे ही तुम लोगों के नाम भी श्रुतिकटु हैं । हाँ, इस राज्य में तुम्हारे दल का जो जहाँ है सबको निमन्त्रण दिया गया है । शूलपाणि ! कोई नहीं रह जायगा ।

जय०—जाइए त्रिवेदीजी, अब विश्राम कीजिए ।

त्रिवे०—तुम लोगों का सन्देह बिलकुल दूर हो गया, यह सुनकर मन्त्री बहुत प्रसन्न होगा । माधव-मुकुन्द-मुरारे !

(प्रस्थान ।)

जय०—मिहिर गुप्त, सब हाल तो तुमने समझ ही लिया । अब गौरसेन, युधाजित्, उदयभास्कर आदि के पास शीघ्र आदमी भेजो । कहो, शीघ्र ही सब लोग एक जगह पर जमा हों । इस तरह जमा होकर कुछ निश्चय करना चाहिए ।

मिहिर०—जो आज्ञा ।

दूसरा दृश्य ।

अन्तःपुर ।

विक्रमदेव और रानी के आत्मीय सभासद ।

१ सभा०—महाराज हैं धन्य !
२ सभा०— धन्य हैं !
३ सभा०— धन्य हैं !
विक्र०—क्यों इतने हैं धन्यवाद ?
१ सभा०— लक्षण यही
है महत्त्व का, दृष्टि सदा सब पर रहे ।
जो प्रवास में पड़े आपके भृत्य हैं—
शिलादित्य, जयसेन आदि, उनको किया
स्मरण आपने उत्सव में । आनन्द से
विह्वल हैं वे । शीघ्र आरहे सब प्रभो !
वि०—जाओ-जाओ ! तुच्छ बात, उसके लिए
यशोगान यह ! मेरा जाना भी नहीं
मिला निमन्त्रण किसे किसे इस यज्ञ में !
२ सभा०—सबको होता हर्ष उदय से सूर्य के,
सभी चराचर विश्व प्रकाशित हो उठे,
नहीं सूर्य को उसकी कुछ परवाह है—
हानि-लाभ भी नहीं । कहाँ, किस तृण तले,
उसकी किरणों से प्रसन्न हो खिल रहा
कौन जङ्गली फूल—सूर्य जाने नहीं ।
अवहेला के साथ कृपा-वर्षा करो,
कण भी मिलता जिसे वही नर धन्य है ।
विक्र०—ठहरो, ठहरो, खूब खुशामद हो चुकी ।
करता हूँ मैं कृपा, आप सब स्तुति करें ।
जो कविता की थी, सुना चुके सो, चलो
जाओ ! (सभासदों का प्रस्थान ।

सुमित्रा का प्रवेश ।

विक्र०— जाती कहाँ, सुनो—रानी सुनो !
फिर कर मेरी ओर तनिक तो देख दो !
मुझको राजा सभी लोग मानें, तुम्हीं
दीन समझतीं; बाहर विस्तृत हो रहा
मेरा राज्यैश्वर्य, तुम्हारी दृष्टि में
वह क्षुधार्त्त कङ्काल-सार है वासना ।
इससे ही क्या घृणा-दर्प से जारहीं
मुझे छोड़ इस तरह राजराजेश्वरी ?
सुमि०—महाराज, जो प्रेम प्रजा सब चाहती,
कभी न उसके योग्य अकेली मैं ।
विक्र०— प्रिये,
दीन कापुरुष मैं हूँ ! मैं अपदार्थ हूँ !
अन्तःपुर में पड़ा रहूँ ! कर्त्तव्य से
विमुख हुआ ! पर यह तो रानीजी कहो,
मेरी क्या थी प्रकृति यही ? मैं क्षुद्र हूँ,
तुम महीयसी ? तुम हो ऊँचे पर खड़ी,
और धूल में लोट रहा मैं ? यह नहीं ।
अपनी क्षमता मैं जानूँ । इस हृदय में
है दृढ़ दुर्जय शक्ति । प्रेम के रूप से
दी मैंने वह तुम्हें । वज्र के अग्नि की

विद्युन्माला बना पिन्हा दी कण्ठ में
प्रिये, तुम्हारे ।

सुमि०— घृणा करो, मुझको घृणा,
वह भी अच्छा नाथ । भुला दो जो मुझे
सह लूँगी तो उसे, किन्तु तिय के लिए
पौरुष तज कर्त्तव्य-विमुख मत होइए ।

विक्र०—इतना ऐसा प्रेम, जो कि अप्राप्य है,
उसका ऐसा हाय अनादर ! चाहतीं
नहीं प्रेम यह ? किन्तु उसे माँगे बिना
लेती हो तुम छीन, दस्यु ज्यों द्रव्य को ।
चला रही हो छुरी उपेक्षा की अहो
रक्तसिक्त इस तप्त प्रेम के मर्म में !
देती हो फिर फेंक धूल में यों उसे !
निर्मम निष्ठुर प्राणहीन पाषाण की
प्रतिमा हो तुम । तुमसे मैं अनुरागवश
जितना लिपटूँ, उतना ही घायल करो ।

सुमि०—चरणों में है पड़ी हुई दासी, प्रभो,
जो चाहो सो करो, मुझे 'नाहीं' नहीं ।
तिरस्कार किसलिए आज यह नाथ है ?
कठिन वचन के बाण आज क्यों मारते ?
कितने ही अपराध क्षमा जिसके किये
बिना दोष क्यों उस पर ऐसा रोष है ?

विक्र०—उठो, उठो, प्रियतमे, हृदय से आ लगो;
दीप्त हृदय की ज्वाला को तुम दो बुझा ।
उज्ज्वल आँसू सुधाबिन्दु से ये गिरें;
इनमें कितनी क्षमा, प्रेम कितना भरा;
कैसा आश्रित भाव भक्ति से पूर्ण है ?
अर्जुन के अति तीक्ष्ण बाण की चोट से
ज्यों धरती फट गई और जल बह चला,
वैसे तीखी बात लगे से हृदय में
अश्रुरूप से प्रेम-फुहारा छूटता ।

नेपथ्य में—रानी जी !

सुमि०—(आँसू पोंछकर) हाँ आर्य, कार्य क्या होगया ?

देवदत्त का प्रवेश ।

देव०—नहीं, निमन्त्रण में आवेंगे वे नहीं;
करने को विद्रोह सभी तैयार हैं !

सुमि०—महाराज, सुन लिया ?

विक्र०— पुरोहितजी, सुनो,
अन्तःपुर का महल मन्त्रणागृह नहीं !

देव०—नहीं मन्त्रणामन्दिर अन्तःपुर, प्रभो,
इसी लिए तो कभी वहाँ दर्शन नहीं
मिलें आपके ।

सुमि०— कुत्ते ये सिर चढ़ गये !
जूठन खाकर पले राज्य की ! आज यों
करने को विद्रोह हुए तैयार हैं !
कैसा है यह अहङ्कार ? हुङ्कार से
कर दो चटपट चूर्ण पूर्ण उत्पात को ।
क्या अब भी है समय मन्त्रणा के लिए ?
व्यर्थ मन्त्रणा । महाराज, यह यन्त्रणा
यों न मिटेगी । सेना लेकर शीघ्रही
रक्त चूसनेवाले कीड़े पैर से
मल डालो !

विक्र०— यह बात सहज इतनी नहीं ।
सेनापति है स्वयं शत्रु के पक्ष का !

सुमि०—नाथ, आपही सेना लेकर जाइए ।

विक्र०—क्या तुम मुझको अपना कण्टक जानतीं ?
मैं न हिलूँगा कभी यहाँ से । सन्धि का
भेजूँगा प्रस्ताव । उपद्रव यह कभी
होने दूँगा नहीं । सर्प था सो रहा;
ब्राह्मण, नारी, दोनों ने मिलकर उसे
जगा दिया; यह भी क्या कोई खेल है !
अपनी रक्षा न कर सकें जो मूढ़, वे
बेखटके आपत्ति और पर डाल दें !

सुमि०—राजन्, ऐसी बुद्धि ! तुम्हें धिक्कार है !
मुझको भी धिक् !

(प्रस्थान ।)

विक्र०— देवदत्त, बन्धुत्व का
पुरस्कार है यही ? वृथा, आशा वृथा !
प्रणय लिखा ही नहीं भाग्य में भूप के ।
छाया-संगी-हीन शैल ज्यों हो खड़ा,
वैसे महिमा प्रेम-हीन रूखी यहाँ

महाशून्य में खड़ी अकेली; (जल रहा
ऊँचा मस्तक तीव्र ताप-सन्ताप से !)
आँधी आकर करे आक्रमण वेग से,
करके आँखें लाल देखते सूर्य भी,
बिजली ऊपर गिरती है आकाश से,
पृथ्वी पकड़े पैर पड़ी रहती सदा !
किन्तु प्रेम है कहाँ ? भूप का हृदय भी
अन्य हृदय के लिए बिलख कर रो रहा ।
हाय मित्र, इस जीवन में राजत्व का
ढोंग दिखाना, बस, विडम्बना है निरी !
सिंहासन राजा का ऊँचा दम्भ से
अभी चूर्ण हो, पूर्णरूप से भूमि के
बने बराबर एक बार तो पा सकूँ
तुम लोगों को विकल हृदय के पासही ।
बाल्यसखा ! मैं राजा हूँ, यह भूल कर,
कैसी है यह व्यथा मित्र के हृदय की,
इसका अनुभव करो, मित्र के भाव से !

देव०—मेरा हृदय सखा, यह अपना जानिए ।
रीझ न केवल, स्व-कृत तुम्हारी खीझ भी
सहने को तैयार हृदय यह है सदा ।
सागर अतिगम्भीर, गगन के वज्र को
सहता ज्यों चुपचाप हृदय के बीच है
वैसे ही क्रोधाग्नि तुम्हारी, मैं करूँ
ग्रहण हृदय से ।

विक्र०— देवदत्त, यह किस लिए
करो रङ्ग में भङ्ग ? अरे सुख-स्वर्ग में
हाहाकार अपार किस लिए ला रहे ?

देव०—मित्र, लगी है आग भवन में; मैं यहाँ
लाया केवल समाचार ! सुख-नींद में
डाला मैंने विघ्न !

विक्र०— बुरा तुमने किया !
इससे तो सुख-स्वप्न देखते मृत्यु ही
अच्छी थी ।

देव०— यह समझ तुम्हारी ! शोक है !
महाराज, सब राज्य मृत्यु-मुख में पड़ा;
तुच्छ स्वप्न-सुख तब भी तुमको प्रिय लगे ?

विक्र०—योगासन-आसीन ध्यान में लीन जो
योगी, उसके निकट प्रलय भी विश्व का
क्या है ? यह संसार स्वप्न है ! कुछ दिनों
बाद, रहेगा याद किसे यह आज का
दुःख और सुख ? मित्र, जहाँ चाहो वहाँ
जाओ । छोड़ो मुझे । हृदय की सान्त्वना
है अपने ही पास । चलूँ, देखूँ, कहाँ
रानी करके घृणा गई है क्षोभ से ।

(प्रस्थान)

(असमाप्त)

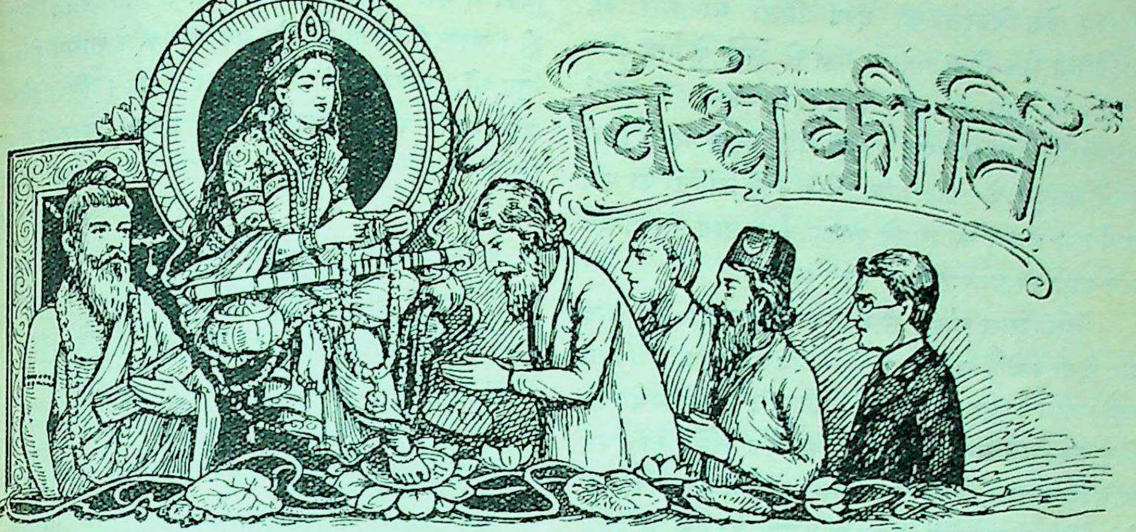

विश्वकीर्ति

मोशिये लेनिन ।

मोशिये लेनिन की मृत्यु हो गई । जब तक वह जीवित रहा तब तक उसकी शक्ति अदम्य रही । अँगरेज़ी में एक कहावत प्रसिद्ध है—

Before men made us citizen,
great Nature made us men.

अर्थात् मनुष्य-समाज के द्वारा नागरिक बनने के पहले हमें प्रकृति ने मनुष्य बनाया । इसका मतलब यह है कि संसार में सर्वत्र मानवीय भावों की प्रधानता रहती है । समाज की कृत्रिम मर्यादा के कारण मनुष्यों में पारस्परिक विद्वेष का प्रचार होता है । यदि समाज की वह कृत्रिम मर्यादा तोड़ दी जाय तो मनुष्य मनुष्य में कोई भेद न रहे । अपनी कृत्रिम उच्चता का अभिमान छोड़ कर सभी लोग परस्पर प्रेम-पूर्वक रहने लगें । लेनिन ने अपनी शक्ति से समाज की यही मर्यादा तोड़ी है । अभी यह कहना कठिन है कि उसकी शक्ति से संसार का कितना कल्याण-साधन हुआ । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी गणना संसार के शक्ति-शाली मनुष्यों में की जायगी । यहाँ उसका परिचय-मात्र दिया जाता है ।

मोशिये लेनिन का जन्म १० अप्रेल सन् १८७० को रूस के सिम्बरिस्क नगर में हुआ था । उसके माता-पिता भी खूब पढ़े-लिखे थे । उसके पिता रूस के सरकारी विश्वविद्यालयों के प्रधान सञ्चालक थे । उसकी माता भी उच्च कोटि की विदुषी महिला थी । लेनिन के और भी चार भाई-बहन थे । वे सबके सब शिक्षित थे । उसके बड़े भाई एलेक्ज़ान्डर को ज़ार ने फाँसी पर लटकवा दिया था, क्योंकि वह ज़ार को बम से मार डालने की कोशिश में पकड़ा गया था । उसने अपने समस्त अपराध स्वीकार कर लिये और हँसता हँसता फाँसी के तख़्ते पर चढ़ गया । लेनिन की अवस्था उस समय केवल १७ साल की थी । उसने सेंट पिटर्सबर्ग के विद्यालय में न्यायशास्त्र का अध्ययन करना चाहा, परन्तु वह एक बड़े भारी षड्यन्त्रकारी का भाई समझा गया और उसको वहाँ पढ़ने की आज्ञा नहीं मिली । वह विघ्नों से डरनेवाला आदमी नहीं था । उसने अन्त में बैरिस्टरी पास कर ही ली । परन्तु इस व्यवसाय में उसका मन न लगा । उसे अदालत की क़ानूनी कार्रवाई दिल्लगी ही मालूम पड़ती थी ।

लेनिन प्रसिद्ध जर्मन साम्यवादी कार्लमार्क्स का शिष्य था । उसने मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त पर आलोचनायें लिखीं, जिन्हें पढ़ कर योरप के बड़े बड़े अर्थशास्त्री दङ्ग रह गये । वह हमेशा मज़दूरों का और किसानों का सङ्गठन किया करता था । उसने मज़दूरों की माँगों को सरल और सीधी भाषा में लिखकर जनता के सामने पेश किया । वह मज़दूरों को हर तरह क्रान्ति करने के लिए उत्साहित करता था । अतएव सन् १८६०

में उसे देश-निकाले का दण्ड मिला था और वह साइबेरिया भेज दिया गया । वहां से छूटने के बाद उसने विदेशों की यात्रा की । सन् १९०३ में उसने "इस्क्रा" (चिन्गारी) नाम का एक पत्र निकाला । इस पत्र के द्वारा उसने मज़दूरों के आन्दोलन और रूसी क्रान्ति का पूरा कार्य-क्रम जनता के सामने रक्खा और साथ ही आन्दोलन-कार्य भी प्रचंण्डरूप से जारी रक्खा ।

किसी ख़ास कारण से लेनिन ने इस्क्रा को बन्द कर दिया । थोड़े समय बाद उसने "वेपरि ओड" (आगे बढ़ो) नाम का एक दूसरा पत्र निकाला । यह प्रथम बोल्शेविक पत्र था । सन् १९०५ में बोल्शेविक कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसे उस समय "रशियन सोशियल डेमोक्रेटिक लेबरपार्टी" कहते थे । सन् १९०७ में उसने फिर यात्रा की और फिर दो एक ग़ैरक़ानूनी पत्र निकाले । इन पत्रों की भाषा गाली-गलौज से भरी रहती थी । १९१० में बोल्शेविकों के हाथ में तीन पत्र थे उनके द्वारा वे लोग जनता को ग़दर और बग़ावत करने को भड़काते रहते थे । इन सब कार्यों में प्रधान थे—मोशिये लेनिन ।

सन् १९१४ में जब महासमर का आरम्भ हुआ तब लेनिन अपने प्रिय साथी एम० ज़ीनोवीक के साथ गेलेशिया के गांव में रहता था । लेनिन ने उस समय कहा था कि यह युद्ध पूँजीवाले राष्ट्रों का है । इसकी उत्पत्ति देश-भूमि-विजय के लिए हुई है ! इस युद्ध से मज़दूरों को अलग रहना चाहिए । जब वह स्वीज़लैंड गया तब स्विस-सरकार ने लेनिन को अपने देश से निकल जाने को कहा, पर लेनिन गुप्तरूप से दो वर्ष तक वहां ही रहा । सन् १९१७ में रूसी अमीरों ने ज़ारशाही के विरुद्ध बग़ावत की और ज़ार को सिंहासन से उतार कर उसे क़ैद कर लिया । रूस के अमीर साम्यवादियों की नवीन सरकार क़ायम हुई । इसका प्रधान मन्त्री एम० केरन्सकी था । इसके छः महीने बाद लेनिन ने क्रान्ति करने की पूरी तैयारी कर ली । रूसी सेना में लेनिन के क्रान्तिकारी पत्र और पर्चे बांटे गये । लेनिन स्विट्ज़रलैंड से अपने बलवान् बोल्शेविकों के साथ एक मोहरबन्द रेलगाड़ी में सवार होकर जर्मनी से रूस जा पहुँचा । लेनिन की वह विख्यात मोहरबन्द ट्रेन जर्मन-सरकार ने बनवाई थी । इन बोल्शेविकों ने रूस पहुँचकर वहां क्रान्ति की आग भड़का दी । सरकारी फ़ौजों को, जो नये शासक के शासन से असन्तुष्ट थीं, बोल्शेविकों ने भड़का दिया । सिपाहियों ने जहां तहां अपने अफ़सरों को मारना काटना शुरू कर दिया ।

मोशिये लेनिन ।

सन् १९१७ के अक्टूबर मास में बोल्शेविक महाक्रान्ति आरम्भ हुई । लेनिन ने मज़दूर, किसान, सैनिक और मल्लाहों को अमीरों का संहार करने का उपदेश किया । पेट्रोग्राड और मास्को में ख़ून की नदियां बहने लगीं । रूस के बड़े बड़े अमीर, रईस और धनाढ्यों के सिर काट कर तार और लालटेनों के खम्भों पर लटका दिये गये । लेनिन ने मज़दूरों के नाम आम तौर से यह घोषणा कर दी थी कि "समस्त भूमि और जायदाद तुम्हारी है । इन अमीरों को—लुटेरों को—मारो और छीन लो । इन्होंने तुम्हारे समस्त सुखों को नाश किया है ।" मज़दूर और किसानों ने लेनिन का एक एक वाक्य पूरा किया । अमीर रूसियों का निर्दयतापूर्वक संहार हुआ ।

सन् १९१८ के जनवरी महीने में बोलशेविकों ने एक स्थायी सरकार का सङ्गठन किया, जिसके प्रधान थे मोशिये लेनिन ।

लेनिन की पत्नी श्रीमती नेडजेडा रूस की सर्वोच्च विदुषी महिला हैं । लेनिन के समस्त कार्यों में उनकी पत्नी प्रधान सहायक थीं ।

लेनिन का रहन-सहन महात्मा गान्धी से बहुत कुछ मिलता-जुलता है । उसका रहन-सहन अत्यन्त दरिद्र मनुष्य के रहन-सहन से भी कठोर तपस्या का होता था । वह केवल रूस की रोटियाँ, मामूली शोरबा और फीकी चाय पिया करता था । केवल दो चार काठ की पुरानी कुरसियाँ उसके कमरे की सामग्री थीं । उसकी प्रत्येक बात नवीनता से पूर्ण हुआ करती थी ।

ब्रिटिश-पार्लामेंट के मज़दूर सदस्य मिस्टर जार्ज लेन्सबरी लेनिन से मिलने रूस गये थे । वे लिखते हैं—

“क्रेमलिन के महान् भवन के एक सादे कमरे में मैं लेनिन से मिला । लेनिन उस समय कड़ी बीमारी से उठा था । फिर भी वह खूब प्रसन्नचित्त दीख पड़ता था । वह प्रत्येक प्रश्न का उत्तर बड़ी ईमानदारी के साथ स्पष्ट देता था । वह कभी दोहरे अर्थ की भाषा नहीं बोलता और अपना मतलब बड़ी सीधी सादी भाषा में व्यक्त करता है । वह दबकर समझौता करने में बड़ी घृणा करता है । उसने मुझे यही समझाया कि अमीर लोग मज़दूरों को अपने से शत्रुता करने को मजबूर करते हैं । उसने कहा था तुम और मज़दूर चाहे लड़ने की इच्छा न करो, पर अमीर तुम्हें लड़ायँगे ।’’

मि० लेन्सबरी ने फिर लिखा था—

लेनिन में मानसिक और चरित्र-बल दिखलाई देता है । वह फांसी पर लटकने के लिए उसी शान्ति के साथ जायगा जैसे वह अपने मन्त्रि-मण्डल की बैठक में जाता है । वह रूस की एक उन्नतिशील आत्मा है । यदि मानव-जाति में धर्म कोई चीज़ है तो उसका बहुत सा अंश लेनिन में ही है । उसने मज़दूरों के साथ कष्ट सहन किया है । वह पूँजीपतियों को देश और जाति का कट्टर शत्रु समझता है । वह सारे संसार को अपना देश समझता है । लेनिन रूसियों का कल्याणकारी सच्चा बाप है, जो उन्हीं के सुख के लिए रात-दिन सोचा करता है । हज़ारों रूसी नर-नारी और बच्चे उसके लिए प्राण दे देंगे, क्योंकि लेनिन उनका सबसे प्यारा मित्र है ।’’

लेनिन पर कोई यह दोष भी नहीं स्थापन कर सकता कि उसने कभी देश-हित-साधन के सामने स्वार्थ-साधन की बात भी सोची है । घर का सब काम-काज उसकी पत्नी ही किया करती थी । उसने कभी प्रजा का पैसा लेकर एक बीघा भी ज़मीन अपने लिए नहीं ख़रीदी ।

लेनिन के सम्बन्ध में अभी सच्ची बातें जानने में समय लगेगा । कुछ लोगों की राय है कि वह मनुष्य-हित के लिए जीवित रहा और मरा । परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो लेनिन को संसार का शत्रु समझते हैं । काल ही यह सिद्ध कर देगा कि लेनिन की गणना किन लोगों में की जानी चाहिए ।

संसार में सभी तरह के लोग जन्म लेते हैं । कुछ के कृत्यों का परिणाम तुरन्त ही मालूम हो जाता है और कुछ के कार्यों का फल पाने के लिए हमें वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ती है । कभी कभी कुछ कार्यों का परिणाम प्रारम्भ में बड़ा भयङ्कर होता है, परन्तु अन्त में वही श्रेयस्कर हो जाता है । अतएव यह निश्चय-पूर्वक कभी नहीं कहा जा सकता कि किसका क्या फल होनेवाला है । संसार में जितने नये सिद्धान्त प्रचलित होते हैं उन्हें अपनी सत्यता की परीक्षा देनी पड़ती है । यह परीक्षा बड़ी कठोर होती है । परन्तु जब परीक्षा के द्वारा सत्य का स्वरूप प्रकट हो जाता है तब उससे संसार का कल्याण ही होता है । लेनिन भी एक सिद्धान्त के प्रवर्तक थे । अभी उनके सिद्धान्त की पूरी परीक्षा नहीं हुई है । उसमें सत्य का कितना अंश है, इसका निश्चय भविष्य ही करेगा । यदि वह सत्य है तो वह वर्तमान विभीषिकाओं को पार कर लेगा । यही नहीं, किन्तु इससे उसका निर्मलतम रूप उदित होगा । यदि वह स्वयं सत्य नहीं है तो वह जिन सत्य सिद्धान्तों के विरुद्ध लड़ रहा है उन्हीं की सत्यता की परीक्षा हो जायगी । सत्य की परीक्षा के लिए संसार के इतिहास में ऐसी अनेक घटनायें हो चुकी हैं । क्षणिक विजय किसी की हो, परन्तु अन्त में सत्य की ही स्थायी विजय होगी ।

भट्ट श्रीव्रजनाथ रमानाथ शास्त्री

१—नहीं।

"नहीं" कह दिया बस मौन फिर धार लिया,
होगा परिणाम क्या न तुमने विचारा है।
आशा का समूल नाश किया इस उत्तर ने,
रह गया हमको न कोई भी सहारा है।
विफलमनोरथों को अब है ठिकाना कहाँ,
जल गया हाय! क्या न मन भी हमारा है?
हुआ एक शब्द-द्वारा अतुल अनर्थ सारा,
हो गया हमारे भाग्य का ही निपटारा है॥ १॥

गोपालशरणसिंह

२—दर्शन की उपयोगिता।

जिस ज्ञान से मनुष्य आनन्द लाभ कर सके वह ज्ञान मनुष्य के लिए उपयोगी है। न्यूनाधिक आनन्द की प्राप्ति से ज्ञान की उपयोगिता का पता लगता है। इस नियम के आधार पर कुछ लोगों का कथन है कि शरीर के नीरोग होने पर ही मनुष्य अनेक कार्य कर सकता है, इसलिए जिस ज्ञान से शरीर दुःखी न रहे उस ज्ञान की मनुष्य को अधिक अपेक्षा है। शरीर में प्रायः रोगों की उत्पत्ति हो रहती है। यदि उनका निवारण न किया जाय तो श ही नहीं रहता, अतः रोगों के नाश के लिए वैद्यक प उपयोगी है। अन्नफलादि के बिना कोई भी जीवन-र नहीं कर सकता, अतः कृषि-विज्ञान की आवश्यकता है कृषि-विज्ञान-द्वारा थोड़ी भूमि में अच्छा अन्न बहु परिमाण में पैदा होने लगता है। रहने के लिए घर, व लोहा, पीतल आदि के बर्तनों की प्रतिदिन आवश्यक रहती है, अतः जिससे इन पदार्थों के बनाने में निपुण आजाय उस ज्ञान का उपार्जन प्रयत्न से करना चाहिए भाव यह कि भौतिक ज्ञान कल्याणकारी है। आज-क उसी की कृपा से जहाँ जाने में पहले महीनों लगते थे व रेल या वायुयान-द्वारा बहुत थोड़े समय में पहुँच जाते हैं बेतार के तार-द्वारा सैकड़ों मील की दूरी से वार्त्ता कर लेते हैं, बिजली के द्वारा क्षण भर में सारा न जगमगा जाता है, जिन कामों के हाथों से करने में बहु देर होती थी वे काम यन्त्रों-द्वारा पल भर में हो जाते हैं यह तो हुई भौतिक ज्ञान की बात।

दर्शनों के—न्याय आदि शास्त्रों के—ज्ञान से इ प्रकार का कोई लाभ नहीं। दार्शनिक विचार केवल शब्द

में रहते हैं । वास्तव में उनका वस्तु-तत्त्व से कोई सम्बन्ध नहीं होता । सोने के कुण्डल आदि तथा काष्ठ के सन्दूक़ आदि बनाये जाते हैं । मिट्टी आदि से मिले हुए सुवर्ण की शुद्धि कैसे होती है, सुवर्ण में चमक अधिक किस प्रकार हो सकती है, किस प्रकार के काष्ठ से सन्दूक़ दृढ़ तथा सुन्दर बन सकता है इत्यादि विचार करते हुए जो लोग वस्तुओं में नवीन सुखप्रद परिवर्तन करते हैं उनके विचारों से सब लोग लाभ उठाते हैं । परन्तु दार्शनिकों के—कुण्डल आदि कार्य सुवर्ण से भिन्न या अभिन्न हैं इत्यादि—विचारों से दार्शनिकों को या और लोगों को कुछ फल नहीं मिलता है । यह मत दार्शनिक-तत्त्वों का अच्छी तरह विचार न करने से स्थिर किया गया है ।

मनुष्य भौतिक-विज्ञान से भूतों को वश में करके अपनी इच्छा के अनुसार उनसे काम लेकर सुखी ही नहीं रहता, प्रत्युत वह भौतिक-शक्तियों-द्वारा भयानक उपद्रव खड़े करके मनुष्यता को नष्ट कर देता है । विद्युत् या विमानादि के ज्ञान से पीड़ितों के लिए सहानुभूति का उदय नहीं होता, इन्द्रियों का दमन करके उनके उचित उपयोग में भी कोई सहायता नहीं मिलती, अन्याय से पर-धन के उपभोग की लालसा का उच्छेद नहीं होता । इस प्रकार के कथन का यह अभिप्राय नहीं कि प्रकृति का विज्ञान अनर्थ का ही उत्पादक है, वह तो शरीर-सुखों का ही उत्तम साधन है । इतना होने पर भी दार्शनिक ज्ञान के बिना दया, दम, सन्तोष, क्षमा आदि गुणों से हीन मनुष्य उत्कृष्ट आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकता । जब मानवीय उदात्तगुणों की उपेक्षा करके मनुष्य-समाज भौतिक शक्तियों का साम्राज्य स्थापित कर लेता है तब शक्ति-सम्पन्न मनुष्य निरपराध निर्बल मनुष्यों के रक्त से हस्त रञ्जित करके प्रसन्न होकर नाचने लगते हैं । ऐसे क्रूर मनुष्य स्त्री, बाल, रोगी आदि की भी हत्या से नहीं चूकते । भाव यह कि केवल प्रकृति-विज्ञान से पशु-भाव की ही वृद्धि होती है । न्याय आदि के परिशीलन से शरीर से भिन्न आत्मा, जगत्कर्त्ता परमेश्वर, परलोक आदि की सत्ता में दृढ़ विश्वास पैदा हो जाता है, जिससे मनुष्य पापमार्ग से दूर रहने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है । जो दार्शनिक परमात्मा की सत्ता को नहीं मानते वे भी अहिंसा, सत्य, दया आदि धर्मों को मनुष्यों के लिए अत्यावश्यक समझते हैं । आत्मा आदि के सर्वदा चिन्तन से पवित्रहृदय दार्शनिक पापाचार से कोसों दूर रहता है । प्रकृति का आत्मा के साथ कैसा सम्बन्ध है, इत्यादि आलोचना को त्याग कर केवल जड़ पदार्थों के सम्मिलन से आविर्भूत अनेक परिवर्तनों में नितान्त आसक्त पुरुष में कल्याणकारी भावों की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं प्रतीत होता । आध्यात्मिक विचार-हीन जन-समाज भौतिक विज्ञान में निपुण हो या न हो, वह सदा युद्ध में ही लिप्त रहेगा । पल भर में अनन्तनरसंहारकारी यन्त्रों की रचना करके शान्ति की इच्छा धधकते अङ्गारों से तृषा-शान्ति की कामना के समान सर्वथा असङ्गत है । बन्नू, कोहाट आदि स्थानों के निवासी अफ़ग़ान, जिनमें उदात्तगुणों का अभाव है, सर्वदा मारपीट में लगे रहते हैं । सौ-पचास रुपये के लिए या तमाशा देखने के लिए ही निरपराध स्त्री-पुरुषों की भीषण यातनाओं-द्वारा हत्या इनके लिए साधारण बात है । जिन देशों में कपट-व्यवहार और प्रकृति-विज्ञान का उत्कर्ष प्रतिदिन बढ़ रहा है वे देश भी किस प्रकार निस्सङ्कोच होकर नर-संहार करते हैं, यह गत योरपीय युद्ध के समाचारों से स्पष्ट है । दर्शनों के अनुशीलन-द्वारा प्राणि-हित की इच्छा से हृदय के भरपूर होने पर भौतिक-विज्ञान अत्यन्त मङ्गलकारी है । प्रकृति-विज्ञान-रहित देश यदि उदात्त सद्गुणों से भूषित है तो पशु-बल-प्रधान देश से पीड़ित होकर भी रोमाञ्चकारी हत्याकाण्डों का आरम्भ नहीं करता । जीवन-यात्रा में यदि अन्याय के प्रहारों से रक्षा का कोई उपाय न हो तो मानस-शान्ति नहीं मिल सकती । इसलिए भौतिक विज्ञान होना अवश्य चाहिए, परन्तु दर्शन-विचारों के साथ । नहीं तो अनर्थ की प्रबल सम्भावना है ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि दार्शनिक पहले तो अन्याय में प्रवृत्त नहीं होता और यदि प्रवृत्त हो तो भी एक बार उसके हृदय में अनुताप की आग जल उठेगी । अन्याय-पूर्वक धन-हरण से समाज में द्वेष-विष फैलकर किस प्रकार क्लेश देता है, इत्यादि प्रतिदिन के विचारों के विरुद्ध यदि दार्शनिक कोई पाप कर बैठेगा तो वह

दैनिक विचारों की प्रबल तरङ्गों के आघात से अवश्य ही कुछ न कुछ ऊपर उठेगा। जीवन में ऐसे अवसर बहुधा आते हैं जिनमें काम, क्रोध, तृष्णा आदि से आक्रान्त होकर मनुष्य कुमार्ग में चलना चाहता है। उस समय यदि शुभ भावनायें निर्बल हुईं तो मनुष्य के स्खलित होने में कोई सन्देह नहीं। यदि आक्षेप किया जाय कि दार्शनिक भी युक्ति-प्रयोग में निपुण होकर सरल लोगों के मन में भ्रान्त विश्वास उत्पन्न करके धन-हरणादि निन्दनीय कार्य कर सकता है—युक्ति-चतुर पुरुष भोले-भाले लोगों के सामने असत्य को भी सत्य सिद्ध कर देता है—तो इस आक्षेप से दर्शनों का महत्त्व कुछ भी नहीं घटता। यद्यपि दार्शनिक की पापयुक्त प्रवृत्ति असम्भाव्य नहीं तो भी दार्शनिक विचारों से वह धर्म में लगाई जा सकती है। परन्तु विद्युत् आदि का विद्वान् यदि अपने ज्ञान का दुरुपयोग करे तो धार्मिक विवेचना के बिना कोई प्रबल प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। अतः दर्शन-ज्ञान से विशेष क्षति की आशङ्का ठीक नहीं। दर्शनों के साथ प्रकृति-ज्ञान हो तो निस्सन्देह सुख की ही अधिकाधिक वृद्धि होगी।

दार्शनिक-विवेचना से जो अनेक इहलोक तथा परलोक के लाभ होते हैं उनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

(१) दर्शनों का सिद्धान्त है कि आत्मा नित्य है। देह के समान उसका जन्म-मरण नहीं होता। इस सिद्धान्त का माननेवाला यदि अकेला शत्रुओं से घिर जाय अथवा अन्य किसी रीति से उसके जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाय तो वह मृत्यु से कभी नहीं डरेगा। आत्मा की नित्यता के विश्वासी गुरु तेग़बहादुर, बैरागी बन्दा तथा बालक हक़ीक़तराय ने निर्भय होकर मृत्यु को स्वीकार किया था, परन्तु कर्तव्य को नहीं छोड़ा।

(२) कर्मों का फल इस जन्म में या भावी जन्मों में अवश्य मिलता है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के न्याय में अव्यवस्था का लेश भी नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त के दृढ़ विश्वास से मनुष्य दुष्ट मनुष्यों को पाप-कर्मों से फलता-फूलता और सज्जनों को शुभ-कर्म करते हुए भी दुःखसागर में निमग्न देख कर शुभ प्रवृत्ति से उदासीन नहीं होता। वह जानता है कि धूर्त मनुष्य लोगों से छिप कर पाप करता हुआ अवश्य ही कभी न कभी इस जन्म में ही अथवा अन्य जन्म में किये हुए कर्मों का फल पायगा। सज्जन के भी शुभ कर्म व्यर्थ तो जाते नहीं, दुःखभोग पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। इस सिद्धान्तों का विश्वासी लोभ या भय के अधीन होकर धर्म का परित्याग नहीं करता। अनेक राजपूत-ललनायें मुसलमान बादशाहों-द्वारा लोभ या भय दिये जाने पर भी धर्म-पथ से विचलित नहीं हुईं। उनके मन में यह दृढ़ धारणा थी कि यदि पातिव्रत का त्याग करके कुछ दिन और शरीर-सुखों को भोगा तो परिणाम में भीषण यातनायें भोगनी पड़ेंगी।

(३) चक्षु आदि इन्द्रिय मन के अधीन हैं। मन के आत्म-चिन्तन करके चक्षु आदि के द्वारा मनुष्य विषयों में प्रवृत्त होता है। इस सिद्धान्त का ज्ञाता इन्द्रिय-जय की इच्छा से यम-नियम-द्वारा चित्त-निग्रह करेगा। इस तत्त्व से अनभिज्ञ लोग चक्षु आदि के विनाश से जितेन्द्रिय होना चाहते हैं। परन्तु इन्द्रिय-हीन जन का हृदय पूर्वसंस्कारों के उद्बुद्ध होने पर सर्वदा नाना दुःखों से परितप्त रहता है। अशुभ भावनाओं के विरोधी शुभ-भावना-समूह का उदय जब तक न हो तब तक क्लेशों का उच्छेद नहीं हो सकता।

(४) संस्कार किसी उद्बोधक से जागरित होकर स्मृति उत्पन्न करते हैं। इस सिद्धान्त का वेत्ता पूर्वानुभूत दुःख का चिन्तन नहीं करता। चिन्तन से क्लेश-स्मृति उत्पन्न होकर पुराने घाव को नया कर देती है।

(५) प्रत्यक्ष भ्रम युक्ति-द्वारा उन्मूलित नहीं होता। तत्त्व-साक्षात्कार के ही उदय से प्रत्यक्ष भ्रम विलीन होता जाता है। इस सिद्धान्त का वेत्ता पतित का उद्धार कर सकता है। जो युवा किसी चतुर वेश्या के पाश में इस कारण फँस गया है कि वेश्या का मुझ पर पतिप्राणता धर्म-पत्नी से भी अधिक स्नेह है, उसने मेरे लिए वेश्या-कर्म का परित्याग कर दिया है, अतः उसकी ओर उपेक्षा का भाव अनुचित है, वह हितैषी सज्जनों के समझाने से वेश्या का परित्याग नहीं करता। परन्तु पण्डित हितैषी वेश्यासक्त युवा को कृत्रिम-धन-हीन दशा में कुछ दिन वेश्या के पास भेजेगा। कुछ दिनों के अनन्तर जब वेश्या

अन्य कामुक पुरुषों के सामने उसका तिरस्कार करेगी तब वह स्वयं वेश्या से उदासीन हो जायगा। जिस सरोवर को वह शीतल, मनोहर जल से युक्त जानता था उसको भयङ्कर मकरों से युक्त देख कर उसके तट पर कैसे जायगा।

(६) भय से बुद्धि का सङ्कोच और आनन्द से विकास होता है। इस सिद्धान्त का ज्ञाता बालक को प्रेम से पढ़ायगा, ताड़ना से नहीं। जो अध्यापक अधिक ताड़ना से काम लेता है उसके सामने बालक याद किये पाठ को भी भूल जाता है। बालक का सारा ध्यान अध्यापक के पीटने की ओर खिँच जाता है। प्रेम-पूर्वक शिक्षा देने से बालक प्रसन्न होकर बिना प्रयास के ही पढ़ाया हुआ पाठ याद कर लेते हैं।

(७) उन्माद पूर्व संस्कारों का उद्बोधक है। उन्मत्त पुरुष पूर्वानुभूत अनेक भावों को कहने लगता है। इस सिद्धान्त से किसी पुरुष का गुप्त रहस्य जाना जा सकता है। जो पुरुष हत्या आदि सम्बन्धी रहस्य नहीं बतलाता वह मद्य आदि के पिलाने पर सब कुछ कह देगा।

(८) कारण में कार्य है। सहकारी कारणों के व्यापार से कार्य प्रकट हो जाता है। विरोधी निमित्तों से कार्य-स्वरूप के भग्न होने पर कार्य कारण में लीन हो जाता है। कारण से जिस कार्य को प्रकट करने की इच्छा हो वही कार्य अनुकूल सहकारी कारणों के व्यापार से अभिव्यक्त होता है अन्य कार्य अभिव्यक्त नहीं होते। मृत्तिका से घट बनाने के लिए प्रयत्न करने पर घट ही बनता है, प्याला आदि नहीं। इस सिद्धान्त का वेत्ता वृक्षों के विचित्रीकरण में प्रवृत्त होगा। अर्थात् जिन वृक्षों के फल गुठली से युक्त होते हैं उन फलों को गुठली से हीन उत्पन्न करेगा। लाल रुई या अकाल में फल-फूल उत्पन्न करेगा। जिस भाग की अभिव्यक्ति उपाय से रोक दी जायगी वह भाग वृक्ष में नहीं प्रकट होगा। आज-कल के वृक्ष-विद्या में पारङ्गत पाश्चात्य पण्डितों ने इस प्रकार के आविष्कार किये हैं। प्राचीन भारतीयों ने भी इस प्रकार का वैचित्र्य वृक्षों में उत्पन्न किया था। सबसे उत्तम लाभ दर्शन का यह है कि दर्शनों के अनुशीलन से विवेचनाशक्ति में वृद्धि होती है। और सब ज्ञानों में विवेचना की प्रबल आवश्यकता है।

खेद की बात है कि इतने उपयोगी दर्शन-ज्ञान की ओर हिन्दी-प्रेमी चिरकाल से उदासीन हैं। कहा जा सकता है कि दार्शनिक लेखों में काठिन्य रहता है, उनमें प्रवृत्ति कैसे हो। परन्तु विचारना चाहिए कि दर्शन कहानी नहीं है। सूक्ष्म विषय-सम्बन्धी विचार कुछ न कुछ कठिन रहेंगे ही। भाषा-काठिन्य हिन्दी-सेवी विद्वानों के ध्यान देने से दूर हो सकता है। आशा है, इस नम्र निवेदन पर हिन्दी-प्रेमी ध्यान देंगे।

ईश्वरचन्द्र ब्रह्मचारी

३—नाम।

लिखूँ तो लिखूँ भला क्या और,
करूँ मैं क्या यश का विस्तार।
तुम्हारा लिख सकता हूँ नाम,
वही लिखता हूँ बारम्बार ॥ १ ॥
विज्ञ से होगी महिमा-वृद्धि,
वही कर सकते ऐसा काम।
किन्तु हो जाता हूँ कृतकृत्य,
तुम्हारा लिख कर ही मैं नाम ॥ २ ॥
कल्पना का यह नहीं विलास,
न है यह तर्क, न तत्त्व-विवेक,
तुम्हारा नाम-मात्र है, सत्य
किन्तु मेरा है आश्रय एक ॥ ३ ॥
भेज देता हूँ मैं लिख नाम,
नहीं रहता है कुछ भी स्पष्ट।
बिना देखे ही तुम चुपचाप,
उसे कर देते क्षण में नष्ट ॥ ४ ॥
जिन्हें अक्षय कृति का है गर्व,
वही करते मेरा उपहास।
किन्तु तुम तो करके भी नष्ट,
स्वयं आ जाते मेरे पास ॥ ५ ॥
नहीं करते तुम कभी विलम्ब,
न करते हो कुछ सोच-विचार।
जान जाते हो, कोई आज,
प्रतीक्षा करता मेरे द्वार ॥ ६ ॥

करो तुम विज्ञों का सत्कार,
नहीं मुझको आदर की चाह।
न भूलो तुम इतनी ही बात,
कि कोई देख रहा है राह ॥ ७ ॥

हृषीकेश

४—प्रयाग का कुम्भ-मेला।

हिन्दुओं के प्रामाणिक धर्मग्रन्थों में कुम्भ का विशेष रूप से उल्लेख नहीं पाया जाता। जो पाया भी जाता है उसके सम्बन्ध में विद्वानों का एक-मत नहीं। धर्मग्रन्थों में पाये जानेवाले कुम्भ-सम्बन्धी प्रमाणों को कुछ लोग प्रक्षिप्त भी कहते हैं। तो वास्तव में कुम्भ है क्या? संस्कृत में कुम्भ घड़े को कहते हैं। इस आधार पर एक महात्मा ने बतलाया कि समुद्र-मन्थन के समय जो अमृत-पूर्ण कुम्भ निकला था उसका हिस्सा-बाँट प्रयाग में हुआ था और उसी की यादगार में कुम्भ पर्व मनाया जाता है। ठीक है, किन्तु कुम्भ कुछ एक प्रयाग में ही नहीं होता। होता तो और भी कई जगह है, किन्तु मुख्य स्थल चार हैं,—प्रयागराज, हरद्वार, उज्जैन और त्र्यम्बक-नाशिक। इनमें से प्रत्येक तीर्थ में हर बारहवें वर्ष कुम्भ पर्व होता रहता है तथा प्रयाग में प्रत्येक छठे वर्ष अर्धकुम्भ भी होता है*। तब, अमृत-विभाजन क्या इन चारों तीर्थों में हुआ था?

एक और सज्जन ने कहा कि कुम्भ बहुत प्राचीन समय से होता आया है। इतिहास में हर्षवर्द्धन का प्रयाग आकर दान-पुण्य इत्यादि करना बहुत प्रसिद्ध है। वह कुम्भ ही तो है। और, इस समय भी तो, कुम्भ में यही होता है। धर्मात्मा स्त्री-पुरुष सङ्गम में स्नान करते; साधु-महात्माओं और विद्वान् पण्डितों को दान-दक्षिणा देकर सन्तुष्ट करते; अन्न-वस्त्र देकर दीन-दुखियों का कष्ट-हरण करते और सत्सङ्ग में रह कर हरिगुण-गान करते हुए अध्यात्मचिन्तन करते हैं। वास्तव में कुम्भ का प्रचलन कब से है, इसका यथायथ पता लगाना कठिन है। यों तो कुम्भ अनादि काल से प्रचलित माना जाता है।

एक और व्यक्ति ने इसे बौद्धों की धर्म-परिषद् का अनुकरण बतला कर कहा कि हिन्दू-धर्म का प्रचार करने में सुभीते के लिए समय समय पर धर्म-प्रचारकों, साधु-सन्तों और विद्वान् पण्डितों के सम्मेलन की आवश्यकता हुआ करती थी जिसमें कि धर्म-प्रचार की योजना और नियमों में आवश्यक संशोधन-परिवर्तन आदि पर विचार हुआ करता था। और, उलझनों का सर्वसम्मति से जो निर्णय हो जाता था उसी के अनुसार देश भर में कार्य हुआ करता था।

एक परिव्राजक ने बतलाया कि अध्यात्म-प्रचारक साधु-महात्मा योग्य व्यक्ति को गुप्त अध्यात्म-मार्ग बतलाते हैं और यह प्रसिद्ध ही है कि गुरु को चेला नहीं ढूँढ़ता, बल्कि स्वयं गुरुदेव को ही सुपात्र चेले की खोज करनी पड़ती है। इसी लिए कुम्भ की सृष्टि की गई जिसमें कि देश भर के धर्मात्मा लोग बहुत बड़ी संख्या में—एक निर्दिष्ट स्थान और समय पर—एक महीने के लिए एकत्र हो जाया करें। और, इस प्रकार, एक ही स्थान से गुरु लोग उपयुक्त अधिकारियों का निर्वाचन कर लिया करें। इसके लिए उन्हें देश देश की ख़ाक़ न छाननी पड़े। इस पर शङ्का की जा सकती है कि पहुँचे हुए महात्मा तो किसी भी स्थान में रहते हुए, दिव्य दृष्टि के द्वारा, सहज ही पता लगा ले सकते हैं कि कौन अधिकारी पुरुष कहाँ पर है। इसके लिए उन्हें कहीं आने-जाने की ज़रूरत नहीं। कुछ भी हो, कुम्भ धार्मिक पर्व था और उसकी वह धार्मिकता—सोलहों आने न सही तो अंशतः—इस समय भी वर्तमान है।

एक महात्मा ने बतलाया कि कुम्भ का अधिष्ठान चार तीर्थों में भौगोलिक दृष्टि से निर्धारित हुआ है। यदि एक ही स्थान में सदा कुम्भ हुआ करता तो कुम्भ प्रदेशवालों को तो वहाँ पहुँचने में सुभीता होता और

---

* गोदावरी (नाशिक) के कुम्भ में अब नागे-साधु नहीं जाते। इस कारण वहाँ का कुम्भ फीका रहने लगा है। कहा जाता है कि वहाँ वालों ने नागे-साधुओं का नङ्ग-धड़ङ्ग रहना पसन्द नहीं किया और उनसे लँगोटी पहन रह कर जलूस निकालने की प्रार्थना की। किन्तु नागों ने अस्वीकार करके वहाँ की यात्रा बन्द कर दी और प्रयाग की अधकुम्भी मनाने लग गये। इस प्रकार प्रयाग में बारह वर्ष के बीच उनके दो चक्कर लग जाते हैं।

अनेक प्रदेशवालों को वहाँ पहुँचने में बहुत सी कठिनाइयाँ पड़तीं। फलतः बहुत से धर्मात्मा लोग अपने जीवन में कदाचित् एक बार भी कुम्भ पर्व से न तो स्वयं लाभान्वित हो सकते और न दूसरों को कर सकते। इसलिए उत्तर, दक्षिण, मध्य और पूर्व प्रान्तों के हिस्से में एक एक कुम्भ बाँट दिया गया कि जो लोग सुदूर प्रान्त के कुम्भ पर्व में सम्मिलित न हो सकें वे अपने स्थान के समीपवर्ती पुण्य-क्षेत्र के कुम्भ से अवश्य लाभ उठावें। इस दृष्टि से पञ्जाब, पहाड़ी प्रदेश और तराईवालों के लिए हरद्वार का; बङ्गाल, बिहार, युक्तप्रदेश और आधे मध्य प्रदेशवालों के लिए श्रीप्रयागराज का; गुजरात, दक्षिण, सिन्ध, राजपूताना, मध्यभारत और मध्यप्रदेश के एक प्रान्त वालों के लिए उज्जैन * तथा नाशिक के कुम्भ समीपवर्ती पड़ते हैं।

यह तो हुई कुम्भ के विभिन्न तीर्थों में सङ्क्रमित होने की व्यवस्था। अब देखना चाहिए कि कुम्भ के अवसर पर पहले क्या होता था और इस समय क्या होता है।

परम्परा से ज्ञात हुआ है कि धर्माकांक्षी गृहस्थ नर-नारियों और साधु-महात्माओं तथा अध्यात्म-विद्या-विशारद पण्डितों का कुम्भ में विशेषतया समागम होता था। धर्म-पिपासा के लिए कुम्भ एक प्रकार से प्रपा थी। विभिन्न स्थानों में रहनेवाले साधु-महात्मा जब कुम्भ पर्व के लिए अपने अपने स्थान से प्रस्थानित होते थे तब वे मार्ग में, बीच बीच में, ठहरते हुए गन्तव्य स्थान को जाते थे। इससे मार्ग में जो स्थान पड़ते थे वहाँ की जनता को साधु-समागम का लाभ अनायास हो जाता था और यह लाभ साधारण नहीं था। किन्तु अब भारत की जनता से रेलों ने यह सुभीता छीन लिया है। बहुतेरे साधु लोग भी पैदल चलना अब बहुत पसन्द नहीं करते; यद्यपि पैदल चलने से उन्हें स्वयं भी लाभ होता था—देश देश के स्थान देखने को मिलते, चलने-फिरने से स्वास्थ्य में सुधार होता—और दूसरों का भी भला होता था, उन्हें अच्छे पुरुषों से उपदेश सुनने का सुयोग मिलता था। जहाँ रेल से यह सुभीता है कि टके ख़र्च करने पर पैदल चलने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता और चटपट अभीष्ट स्थल पर पहुँच जाते हैं वहाँ ज़बर्दस्त घाटा यह है कि यदि रेल के विधाता चाहें तो उत्सवों के लिए रेलों को बिलकुल ही रोक दे सकते हैं। इस साल कुम्भ जो फीका रहा उसका कारण रेलों की इसी ढङ्ग की अनुकम्पा थी। स्पेशल गाड़ियाँ प्रायः रोक दी गई थीं और माघी अमावस्या के दो-चार दिन आगे-पीछे प्रयाग के लिए टिकट भी बन्द था। अस्तु, क्षेत्र में पहुँचने पर पर्व के समय स्नान होता था। सो यह कार्य इस समय भी होता है और वह भी बड़ी धूमधाम से। बल्कि यों कहना चाहिए कि अब कुम्भ का कार्य स्नान करना और 'भण्डारों' में माल छकना-छकाना ही रह गया है। प्राचीन समय में सबसे प्रथम स्नान करने का सम्मान उन योग्य व्यक्तियों को दिया जाता था जिनकी कृपा से समाज का उद्धार होता था, अध्यात्म-विद्या का प्रचार होता था और जिनका जीवन धर्म की उन्नति तथा देश की भलाई के लिए था। किन्तु अब इस कार्य—धूमधाम से किनारे जाकर सबसे पहले ग़ोता लगाने—के लिए साधुओं में सिर फोड़े जाने लगे और रुण्ड से मुण्ड जुदे होने तक की नौबत पहुँची। तब सरकार ने इस धर्म-कार्य में 'साधुओं' की सहायता की। उसने व्यवस्था कर दी कि किस तीर्थ के कुम्भ में किन 'साधुओं' की जमात पहले स्नान करेगी और किनकी पीछे। इसके लिए सरकारी प्रबन्ध रहता है। निर्दिष्ट मार्ग से, निर्दिष्ट समय पर, 'साधु' लोग अपने वैभव का—धर्म या भक्तिभाव का नहीं—प्रदर्शन करते हुए राजसी ठाठ से स्नान करने जाते हैं और पुलिस तथा फ़ौज नियन्त्रण रखती है कि उस समय घाट पर कोई भी न जाने पावे। घाटों पर साधुओं के अखाड़ों के जलूस पहुँचने के लिए—आने और जाने के—मार्ग पहले ही से निर्दिष्ट कर दिये जाते हैं। इनको

---

* उज्जैन में गवालियर के सेंधिया-नरेश का राज्य है। इसलिए वहाँ के कुम्भ में राज्य की ओर से एक महीने तक साधु-सेवा होती है। अर्थात् वहाँ साधुओं को भोजन की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। राजा की ओर से प्रति दिन साधुओं को टिकट मिल जाते हैं जिनके दिखाने पर उन्हें दूकानों से मुफ़्त सामान मिलता है। और, पन्द्रह दिन तक वहाँ की प्रजा की ओर से भी साधुओं को भोजन दिया जाता है। इस प्रकार उज्जैन का कुम्भ डेढ़ महीने का होता है।

छोड़ कर जो और कहीं से साधुओं के जलूस एकाएक निकल खड़े हों तो लाखों आदमी पैरों तले कुचल जायँ।

ज्ञात हुआ है कि एक बार हरद्वार के कुम्भ के समय परमपदलीन स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज ने कहा कि 'दण्डी संन्यासी तो हम लोग हैं, अखाड़ेवाले साधु संन्यासी नहीं,—गोसाईं हैं। इसलिए प्रथम स्नान हम लोग करेंगे।' इसके लिए कुछ संन्यासियों का समुदाय लेकर वे हरद्वार पहुँच भी गये। तब अखाड़ेवालों ने पुरानी परिपाटी का हवाला देकर इसका विरोध करते हुए सरकार से प्रबन्ध कर देने की प्रार्थना की और यह भी कहा कि यदि संन्यासी लोग पर्व में प्रथम स्नान करने की चेष्टा करेंगे तो अखाड़े उन्हें रोकेंगे। यानी पशुबल से काम लेंगे। धन और जन से बलीयान् अखाड़ों की बात मान ली गई और स्वामी विशुद्धानन्दजी के कैम्प पर तब तक पहरा रहा जब तक इन लोगों के जलूस स्नान करके लौट नहीं गये। नागे-साधु श्रीशङ्कराचार्यजी के चार प्रधान मठाधीशों की इज़्ज़त करते हैं और यदि उनमें से कोई कुम्भ के अवसर पर आ जाते हैं तो अखाड़ेवाले नागे उनकी अगवानी करते और अपने जलूस के आगे आगे ले जाकर उन्हें प्रथम स्नान का सम्मान देते हैं।

रह गया दान-धर्म, सो थोड़ा बहुत होता ही है और कई सम्प्रदायों के साधुओं के अखाड़े तो स्वयं लखपती-करोड़पती तक हैं। उनके यहाँ बड़े ठाठ से 'भण्डारे' होते हैं जिनमें प्रायः उन्हीं के फ़िरक़ेवालों को माल छकाया जाता है। इसके सिवा अन्यान्य लोग भी दान-दक्षिणा देते-लेते और भोजन कराते हैं। धर्मोपदेश भी होता है, भजन भी होता है और कुछ स्थानों पर कथावार्ता का भी प्रबन्ध रहता है।

लोगों की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए बाज़ार रहता, मनोरञ्जन के लिए तमाशेवाले रहते और प्रबन्ध आदि के लिए अफ़सर, पुलिस और सफ़ाई के कर्मचारी तैनात रहते हैं। शेषोक्त बातें पुराने समय के कुम्भ में न होती होंगी।

साधुओं में नागे-गोसाईं, संन्यासी, उदासी और वैरागी आदि कई भेद हैं। नागे-गोसाईं अपने सम्प्रदाय को अनादि बताते हैं और सनक-सनन्दन-शुक आदि को अपने सम्प्रदाय का आद्य-प्रवर्तक बता कर कहते हैं कि वे लोग दिगम्बर रहते थे इसलिए हम भी कपड़े नहीं पहनते। एक नागे-साधु से मालूम हुआ कि द्विजों के बालक इनके सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर बारह वर्ष तक विशेष प्रकार का अभ्यास किया करते हैं। सिद्ध नागे-साधु उनकी निगरानी रखते हैं। उन्हें अखाड़े के विशेष नियमों का पालन करना पड़ता है। बारह वर्ष बीतने पर मुखिया लोग साधक को यदि उपयुक्त समझते हैं तो उसकी लँगोटी उतार लेते हैं नहीं तो उसके लिए कपड़े पहने रहने की अवधि बढ़ा दी जाती है। परीक्षा में चौकस उतरने पर—सो भी बारह वर्ष से पहले किसी हालत में नहीं—नागे लोग लँगोटी से मुस्तसना कर दिये जाते हैं।

इनकी उत्पत्ति की कथा भी मज़ेदार है। कहा जाता है कि बादशाही ज़माने में मलङ्ग फ़क़ीर हुआ करते थे। ये बड़े उद्दण्ड होते थे। ये जिस बस्ती में पहुँच जाते वहाँ वालों का—ख़ास कर हिन्दुओं का—नाक में दम कर देते थे। इनके अत्याचार से स्त्रियों और पुरुषों को दूषित तक हो जाना पड़ता था। बादशाह के यहाँ नालिश करने जाने पर उत्तर मिला कि फ़क़ीर लोग ख़ुदा की गायें हैं। हम उनका कुछ बन्दोबस्त नहीं कर सकते। तब जयपुर-नरेश प्रभृति भूपालों ने सलाह करके द्विजों के चुने हुए तन्दुरुस्त ब्रह्मचारी पट्ठों की जमात बनाई और ये लोग भी शाही हुक्म से "ख़ुदा की गाय" मान लिये गये। इन्होंने धर्मतः और शरीरतः हिन्दू-जाति की रक्षा की। इनकी कृपा से मलङ्गों का उत्पात हट गया। किन्तु इनका बाना लड़ाई का हो जाने के कारण राजा लोग समय समय पर इनसे युद्धों में सहायता लेने लगे। इस कारण इनकी फ़ौजें कई रियासतों में रहने लग गईं। इनको वहाँ जागीरें दी गईं। अब समय बदल गया है। देशी राजाओं को फ़ौजों से उतना काम नहीं लेना पड़ता। इसलिए नागे साधुओं की जागीरें बहुत कुछ बन्धान में तबदील हो गई हैं। जयपुर, उदयपुर, गवालियर, इन्दौर और बड़ौदे में इस समय भी दरबार की ओर से नागे-साधुओं को नियमित वृत्ति मिलती है और बरसात के चार महीने इन लोगों को उक्त राज्यों में बिताने पड़ते हैं। हिन्दू राजाओं के यहाँ से तो इन्हें वृत्ति मिलती ही है किन्तु हैदराबाद के निज़ाम

के यहाँ से भी इनको बन्धान मिलता है। शायद यह किसी युद्ध का पुरस्कार है जिसमें कि गायकवाड़ और निज़ाम के बीच छेड़छाड़ हुई थी और नागों ने सुलह के समय अपने बन्धान की शर्त करा ली थी। नागे-साधुओं के प्रधान अखाड़े चार हैं,—अटल, निर्वाणी, जूना और निरञ्जनी। ये सभी पञ्चायती हैं। अखाड़े बड़े मालदार हैं। 'पञ्चों' की ओर से महन्त ज़मींदारी करते हैं, देन-लेन करते हैं, किराये पर मकान उठाते, मुक़द्दमे लड़ते और बढ़िया सवारियों में बैठ कर अफ़सरों से मुलाक़ातें करने जाते हैं। किसी किसी को सरकार से पदवियाँ तक प्राप्त हैं और दो-एक गोसाईं महन्त तो आनरेरी मजिस्ट्रेटी भी करते हैं। कहाँ तो "अश्वारूढं यतिं दृष्ट्वा" की व्यवस्था और कहाँ यह प्रपञ्च! इस प्रपञ्च के कारण यदि कोई महन्तजी को 'साधु' न मानना चाहे—माथा झुकाकर उन्हें 'नमो नारायण' न करे या जिसे वे वोट दिलाना चाहें उसे वोट न दे—तो यदि वह उनके मकान का किरायेदार हो तो फ़ौरन ही उसे मकान ख़ाली करना पड़े या लाचार होकर मुँह-माँगा किराया देना पड़े और जो क़र्ज़दार हो तो शरह-सूद बढ़ जाय। अस्तु, ये अखाड़े जिस प्रकार धन के उत्पादक हो गये हैं उस प्रकार जो कहीं धर्म और विद्या की साधना में पूरे पूरे सहायक हो जायँ तो क्या कहना है।

इस साल का कुम्भ पर्व कई बातों में अपूर्व हुआ। गङ्गाजी का सङ्गम ऐसा विचित्र था कि वहाँ यात्रियों को स्नान करने देना भयावह समझ कर प्रयाग के अधिकारियों ने निरी गङ्गा और निरी यमुना में स्नान का प्रबन्ध करके सङ्गम-स्नान में बाधा देनी चाही। इस पर उन महामना मालवीयजी ने 'सत्याग्रह' किया जो कि महात्माजी से 'सत्याग्रह' का क़िला भारत से कई हज़ार कोस के फ़ासले पर बनवाने का सदा अनुरोध करते रहे हैं। प्रयाग में 'सत्याग्रह' सफल तो हुआ पर रेलों ने जनता को कोरा अँगूठा बता दिया। एक विशेषता तो यह हुई। दूसरी यह हुई कि कई धर्माचार्यों ने प्रयाग पधार कर धर्म-प्रचार किया। इनमें दो पृथक् मठों के जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी, और श्रीकाञ्ची के प्रतिवादि-भयङ्कर श्रीवैष्णवाचार्य मुख्य थे। इन आचार्यों ने उदारतापूर्वक हिन्दुओं को कई सङ्कीर्णताएँ छोड़ देने और हिन्दू-जाति को सुधारने का आदेश दिया। तीसरी विशेषता यह हुई कि मेले के स्थान का निरीक्षण इस प्रान्त की सरकार के आचार्य (गवर्नर) महोदय भी कर गये। चौथी विशेषता यह थी कि पुलिस ने, अनेक अंशों में, अपनी उद्दण्ड मूर्ति को सँभाल कर यात्रियों के साथ भलमनसी का बर्ताव किया। मेलों में पुलिस अब तक जैसी कृपा करती रही है—यानी यात्रियों को डांट-डपट कर, धमका कर, गाली-गलौज देकर और पीट करके भी अब तक जो वह प्रबन्ध करती रही है उसको उसने, कई अंशों में, यहाँ बदल दिया। इस बार यह काम पुलिस के सिपाहियों ने 'बहुत कुछ' आरज़ू-मिन्नत से ही कर लिया। (बहुत कुछ इसलिए कि पुलिस आख़िर पुलिस ही है। वह अपनी आदत को सहज ही कब छोड़ सकती है। इसी से पत्रों में उसकी शिकायत भी प्रकाशित हुई है।) ख़ैर, इस तरह उसे इस साल प्रयाग के कुम्भ से यह शिक्षा मिल गई कि प्रबन्ध के लिए कुछ मार-पीट, गाली-गलौज और रोब-दाब की ही सर्वथा आवश्यकता नहीं है; अगर बुद्धि से काम लिया जाय तो भलमनसी से ही यह काम हो सकता है। वैसे तो मेले में आग का दौरा हर साल हुआ करता है किन्तु इस साल उसने नागे-साधुओं से भी छीना-झपटी कर डाली है। किसी बात पर वैरागियों का आपस में झगड़ा होगया और उसी गोलमाल के समय पहले तो निरञ्जनी अखाड़े में आग लगी किन्तु हवा का रुख़ बदल जाने से निर्वाणी में वह बहुत प्रचण्ड हो उठी। इस अखाड़े की बहुत सी फूस की झोपड़ियाँ स्वाहा होगईं जिनके साथ साथ लँगोटी तक न लगानेवाले नागों के क़ीमती शाल-दुशाले, और अन्यान्य चीज़ों समेत हज़ारों के नोट भी भस्म होगये। साधुओं के कामदार कपड़े और ज़रदोज़ी के मूल्यवान् झण्डे तक आग ने न छोड़े। इस तरह उनका हज़ारों का माल ख़ाक होगया। अन्त में लगे हाथ कोतवाली पर भी कृपा करके आग ने उस दिन छुट्टी ली।

इस नोट के लिखने में लेखक को स्वामी विद्यानन्दजी से आवश्यक बातें मालूम हुई हैं। एतदर्थ आपको साधु-वाद।

लल्लीप्रसाद पाण्डेय

——

५—अर्चना ।

निसि की गहन अँधेरी में जब
तिमिरावृत होता यह लोक,
तब इस क्षुद्र दीपिका से ही
करता हूँ गृह में आलोक ।
आशङ्का रहती है मन में
करने को तुम कुटी प्रवेश,
द्वार-देहरी पर आ जाओ
कब, किस पल, मेरे हृदयेश !
अर्धनिशा की नीरवता में
जब निद्रित होता संसार,
छिन्न-भिन्न इस वीणा के तब
झङ्कारित करता हूँ तार ।
सुन कर इन टूटे शब्दों को
आओगे गृह में प्राणेश,
तेरी पद-रज से भूषित हो
यह शोभित होगा सविशेष ।

राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह

६—अन्त्येष्टि-सत्कार ।

[१]

(राय बहादुर कामताप्रसाद मृत्युशय्या पर पड़े हैं। उनके तीनों पुत्र नन्दकिशोर, रामकिशोर और श्यामकिशोर सलाह में लगे हैं। डाकृर उपस्थित हैं । स्त्रियाँ आँखों में आँसू भरे हैं ।)

नन्द०—किस किसको लिखूँ ?

राम०—रेनाल्डस् साहब को लिखो ।

कामता०—(बड़े कष्ट से) क्या लिखोगे बेटा !

राम०—तुम्हारे मरने का समाचार ।

कामता०—अभी तो बेटा मैं मरा नहीं !

श्याम०—अभी नहीं मरे, लेकिन एक समय निश्चित करके लिखना तो पड़ेहीगा ।

नन्द०—जहाँ तक शीघ्र हो, साहबों से condolence letters प्राप्त करके अख़बारों में छपा देना चाहिए । इसके बाद मृत्युसंवाद बासी हो जाने पर छपाने से कु फल न होगा ।

कामता०—ठहरो बेटा, पहले मैं मर लूँ ।

नन्द०—ठहरने से काम न चलेगा पिताजी । शिम और दार्जिलिंग में जिन जिन साहबों को चिट्ठी भेजनी उनके नाम की एक लिस्ट बना डालनी चाहिए । (रा किशोर से) तुम नाम बोलो ।

राम०—लाट साहब, अल्बर्ट साहब, विलसन साह मेकाले, पिकाक, ब्रिगस्टाक—

कामता०—बेटा, इस समय ये कौन नाम ले रहे हो भगवान् का नाम लो । अन्त समय वही सहाय होते हैं हरे कृष्ण—

नन्द०—ख़ूब याद दिलाई । हैरिसन साहब तो भूल ही गये थे ।

कामता०—बेटा राम राम कहो ।

नन्द०—हाँ, रामजे साहब को तो भूल ही गया था

कामता०—नारायण नारायण !

राम०—नन्दकिशोर, हाँ नोरन साहब नाम लिखो ।

(कृष्णकिशोर का प्रवेश ।)

कृष्ण०—वाह, तुम लोग तो अच्छे हो । अस काम ही बाक़ी पड़ा है !

राम०—क्या ?

कृष्ण०—मसान जाने के procession में जो लो शरीक होंगे उनको तो पहले से ख़बर देनी चाहिए ।

कामता०—बेटा, असल काम मरना है या मरने प्रोसेशन ? पहले तो मैं मरूँगा, उसके बाद—

राम०—इसके लिए कुछ चिन्ता नहीं है । डाक् साहब !

डाकृर—जी ।

राम०—पिताजी अब कितनी देर के मेहमान हैं सब लोगों को किस समय आने के लिए बुलौआ दि जाय ?

डाकृर—जान पड़ता है—(औरतों का रोना ।)

कृष्ण०—(खीझकर) अम्मा तुम तो बड़ा रोन धोना मचाये हो । डाकृर से पूछ तो लेने दो । डाकृर कब ?

डाकृर—जान पड़ता है रात को—(फिर औरतों का रोना।)

नन्द०—यह तो बड़ी मुश्किल हुई। काम के वक्त यों करने से काम नहीं चल सकता। तुम लोगों के रोने से फल क्या है? हम लोग बड़े बड़े साहबों के शोक की चिट्ठियाँ अख़बारों में छपा देंगे। (औरतों को वहाँ से हटा देना।)

कृष्ण०—डाकृर साहब, क्या जान पड़ता है?

डाकृर—रङ्ग ढङ्ग देखने से तो जान पड़ता है कि रात को चार बजे ही सब समाप्त हो जायगा।

राम०—तब तो अब अधिक समय नहीं है। नन्दकिशोर, दौड़ जाओ, स्लिपें खड़े खड़े छपा लाओ।

डाकृर—लेकिन पहले दवा—

कृष्ण०—अरे तुम्हारा डाकृरख़ाना तो भागा नहीं जाता। प्रेस बन्द हो जायगा तो बड़ी मुश्किल होगी।

डाकृर—जी, रोगी तब तक—

राम०—इसी लिए तो जल्दी है—कहीं स्लिपें छपने के पहले ही रोगी——

नन्द०—लो मैं अभी स्लिपें छपाने जाता हूँ।

कृष्ण०—लिख देना, कल सवेरे आठ बजे के भीतर ही procession निकलेगा।

[२]

कृष्ण०—क्यों डाकृर, अब तो चार छोड़ सात बज गये!

डाकृर—(झेंप कर) वही तो मैं भी देख रहा हूँ। नाड़ी अभी तक कमज़ोर नहीं हुई।

राम०—वाह, तुम तो अच्छे डाकृर हो। अच्छी आफ़त में डाल दिया!

नन्द०—दवा लाने में देर करने से ही यह सब हुआ। डाकृर की दवा बन्द होने से ही पिताजी कुछ अच्छे हो गये हैं।

कामता०—(पुत्रों से) अभी तक तो तुम लोग खुश थे। एकाएक उदास क्यों हो गये? मैं तो पहले से अब अच्छा हूँ।

कृष्ण०—लेकिन हम लोग तो घाट जाने का engagement कर बैठे हैं।

कामता०—हाँ! तो मुझे मरना ही उचित था।

डाकृर—(खीझ कर) एक काम करो तो सब गड़बड़ मिट जाय।

राम०—क्या!

कृष्ण०—क्या!

श्याम०—क्या!

नन्द०—क्या!

डाक्टर—इनके बदले अगर तुममें से कोई ठीक समय पर मर सके!

[३]

(बाहर की बैठक में लोगों का जमा होना।)

कन्हैयालाल—अजी अब तो साढ़े आठ बज गये। देरी काहे की है?

नन्द०—बैठिए, ज़रा तमाखू पीजिए।

कन्हैया०—तमाखू तो सवेरे से पी रहा हूँ।

लल्लू—क्योंजी, रथी का सामान तो कुछ नहीं देख पड़ता।

श्याम०—सब तैयारी है—हम लोगों ने कुछ कसर नहीं रक्खी है—अब बस केवल—

चन्दू—नन्दकिशोर, अब तो देर करना अच्छा नहीं है।

नन्द०—सो क्या मैं समझता नहीं, मगर—

लछमन—देर काहे के लिए हो रही है? आफ़िस जाने का टाइम हो गया, मामला क्या है!

(कृष्णकिशोर का प्रवेश।)

कृष्ण०—घबराइए नहीं, बस अब सब समाप्त है। तब तक इन condolence letters को पढ़िए। (सबको बाँटना) यह लैंबर्ट साहब का है, यह हैरिसन साहब का है, यह सर जेम्स का है—

राम०—यह लीजिए, तब तक अख़बारों में पिताजी के मरने का हाल पढ़िए। यह स्टेट्समैन है, यह इँग्लिशमैन है।

मधुसूदन—(रघुवीर से) देखते हो भाई! जानते नहीं हो, इसी को हिन्दुस्तानी punctuality कहते हैं।

श्याम०—आप ठीक कहते हैं! मरने में भी हिन्दुस्तानी punctual नहीं हो सकते।

(अख़बार और condolence पत्र पढ़ते पढ़ते)

राधाकृष्ण—(आंखों में आँसू भर कर) हरे हरे !

कृष्णचन्द्र—हाय हाय, ऐसे आदमी पर भी ऐसी विपत्ति पड़ती है !

माधव—(सांस लेकर) प्रभो, जो तुम्हारी इच्छा !

दुर्गादत्त—"हृदयवृन्त में खिला कमल जो" उसके बाद क्या है, भूला जाता हूँ—

हृदय-कमल में खिले कमल जो,
उसे तोड़ता असमय काल।
हृदय-मृणाल डूबता, दुख के
सागर में, यह कैसा हाल॥

—यह भी ठीक वही है ! हृदय-मृणाल डूबता, दुख के सागर में यह कैसा हाल ! आहा !

ए० डी० एस्क्वायर—O tempora! O mores!

शास्त्रीजी—चलच्चित्तं चलद्वित्तं चलज्जीवन हाय हाय !

विशारदजी—यदुपतेः क्व गता मथुरापुरी, रघुपतेः—
(कण्ठरोध।)

रामभरोसे—हाय ! राय बहादुर कामताप्रसाद तुम कहाँ गये !

(नेपथ्य से क्षीण स्वर में)—मैं यहीं हूँ भैया। तुम्हें मेरी क़सम, इतना चिल्लाओ नहीं।※

["हास्य-कौतुक" से]

७—मेरे प्रेम !

सहज सुन्दर चित्रों से सजा तुम्हारा अनुपम चित्रागार
नेत्र ही नहीं, हृदय भी वहाँ किया करता सानन्द विहार।
सभी चित्रों में मिलती मुझे आपकी ही छवि की प्रतिछाप
अनोखा है यह कौशल, और अलौकिक चित्रकार हैं आप।
मान कर क्या मेरा अनुरोध करोगे एक चित्र तैय्यार,
तुम्हारे बाँये कर का खेल, मुझे होगा सन्तोष अपार।
बताना तुमको कुछ भी नहीं वेष-भूषा या स्थिति या स्थान
भाव देता उसके अनुकूल तुम्हीं चुन लो सारे सामान
गिर रहे हों मेरे प्रेमाश्रु आंख से झरझर बारम्बार
और वह भुवनमोहिनी हँसी हँस रहे हो तुम प्रेमाधार

श्रीरत्न

८—शिक्षा और नागरिकता।

व्यक्ति समाज का एक अंश है। समाज ही उसका पालन-पोषण करता है। समाज की ही सहायता से उसको अपने मानसिक और आत्मिक समुन्नति का सुअवसर प्राप्त होता है। जिस प्रकार के समाज में वह बचपन से पलता है उसी के अनुकूल उसकी रुचि, आचार-विचार और स्वभाव हो जाते हैं। यदि वह समाज से अलग कर दिया जाय तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाय और कालान्तर में उसकी समस्त शक्तियाँ नष्ट हो जायँ। समाज से इतना घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण समाज के प्रति प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह उसकी उन्नति के लिए तन, मन, धन से उद्योग करे और जितना समाज ने उसके लिए किया है, कम से कम उतना तो अवश्य ही उसके लिए कर जाय।

माता-पिता और कुटुम्ब ये सब समाज के ही अन्तर्गत हैं। इनका एक-मात्र कार्य बच्चों को समाज की आवश्यकता और नियमों के अनुसार तैयार कर देना है। ज्यों ज्यों समाज उन्नति करता जाता है, वह व्यक्ति को इस दायित्व से मुक्त करता जाता है। समाज को हानि पहुँचानेवाले को सरकार के सिवा—जो समाज की प्रतिनिधि है—कोई दूसरा दण्ड नहीं दे सकता। इसी प्रकार अपनी रक्षा, शिक्षा, रोग-चिकित्सा, यहाँ तक कि अपने पालन-पोषण का भार भी उसने अपने ही ऊपर ले लिया है। अतएव प्रत्येक मनुष्य का जितना सम्बन्ध अपने आत्मीयों से है उससे कहीं अधिक उसका समाज से है।

शिक्षा मनुष्य को अपने कर्तव्य-पालन में सुयोग्य और समर्थ बनाती है। इसके द्वारा मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क का पूरा विकास होता है। मनुष्य अपना और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध भली भांति अनुभव

※ डाकृर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की "हास्य-कौतुक" पुस्तक इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद से छः आने में मिल सकती है।

सकता है। अपनी जीविका के लिए समाज के सम्बन्ध को तो सभी समझते हैं, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित। किन्तु समाज से अपने अन्य व्यवहारिक सम्बन्ध समझना एक शिक्षित ही मनुष्य का काम है। यह प्रत्येक मनुष्य जानता है कि शिक्षा-द्वारा मनुष्य में अधिकार और कीर्ति के प्राप्ति की अपरिमित शक्ति आ सकती है। किन्तु देश की वर्तमान दशा का उत्तरदायित्व मुझ पर कहाँ तक है और इसके सुधारने की शक्ति मुझ में कितनी है, यह जानना एक साधारण मनुष्य का काम नहीं है।

किसी देश के उत्थान और पतन का मुख्य कारण उस देश की शिक्षा-प्रणाली और शिक्षा-प्रचार है। जिस देश ने अपने नागरिकों को शिक्षित बनाने में उदासीनता की उसका पतन निश्चित है। लगभग १०० वर्ष हुए जब फ्रांस ने जर्मनी को विजित किया था। तब जर्मनी के एक विद्वान् ने कहा था कि "जर्मनी केवल शिक्षा के द्वारा ही अपना पूर्व वैभव फिर प्राप्त कर सकता है"। और यह कथन अक्षरशः सत्य उतरा। जापान ने केवल ५० वर्ष में वह चमत्कार दिखा दिया कि देखनेवाले दङ्ग रह गये। इस अल्प समय में ही वह एक साधारण राज्य से प्रथम श्रेणी के राज्यों में गिना गया है। इसका कारण है शिक्षा का प्रचार। वहाँ प्रत्येक नागरिक को शिक्षित होना चाहिए, अन्यथा वह उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। जो काम जापान ने ५० वर्ष में कर दिखाया उसका पासंग भी भारतवर्ष ने १५० वर्ष में नहीं कर पाया। अमरीका इसका एक दूसरा उदाहरण है। शिक्षा ही के बल पर उसने भौतिक अभिवृद्धि की बागडोर अपने हाथ में ले रक्खी है। प्रति दिन नये अन्वेषण और नये आविष्कार दिखाई देते हैं। विज्ञान में, कलाकौशल में, इन्जीनियरिंग में, कृषि में एवं समस्त विभागों में इस समय संसार का वही अगुआ है। यह कहना अनुचित न होगा कि प्रकृति को उसने अपने वश में कर लिया है।

ज्यों ज्यों प्रजातन्त्र का प्रचार होता जाता है, शिक्षा का महत्त्व और भी बढ़ता जाता है। अब प्रत्येक नागरिक पर शासन-प्रबन्ध का कुछ न कुछ भार है। यदि उसको दक्ष राजनीतिज्ञों के हाथ का एक यन्त्र नहीं बनाना है, यदि उससे अपने देश की शासन-व्यवस्था से अनुराग रखने तथा उसका महत्त्व समझने की आशा की जाय तो उसे देश की वर्तमान स्थिति से अनभिज्ञ न रहना चाहिए। उसको अपनी सम्मति और अधिकारों का सदुपयोग करना चाहिए। उसको देश और काल का पूरा ज्ञान होना चाहिए और अपने देश के उन्नायकों में अपना स्थान जानना चाहिए।

शिक्षा का वास्तविक अर्थ केवल लिखना-पढ़ना तथा तथ्य का ज्ञान नहीं है, प्रत्युत लक्ष्य, उद्देश और कर्तव्य-परायणता हैं। शिक्षा मनुष्य में विचार करने की शक्ति और उनके अनुसार काम करने का स्वभाव पैदा करती है। यह मनुष्य को अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित करने में सहायता देती है। शिक्षित मनुष्य तर्क, विवेक, सहनशीलता तथा बुद्धि से काम करता है, उसको देश-काल की पूरी परख होती है। शिक्षा-द्वारा मनुष्य में सर्वोत्कृष्ट गुण नागरिकता, अर्थात् मानव-जीवन के उच्च सिद्धान्तानुसार समाज में रहने की कला का प्रादुर्भाव होता है। इसी कला का दूसरा नाम सेवा है। मानव-जीवन का यही एक लक्ष्य है। यह उस समय तक असम्भव है जब तक देश निवासियों की शक्ति तथा योग्यता का पूर्ण रूप से अन्वेषण और व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा समाज के कल्याणार्थ उनका यथेष्ट उपयोग न किया जाय। वह शिक्षा निष्फल है जो मनुष्य के हृदय में समाज-सेवा का भाव अङ्कुरित न कर सके, जिसके द्वारा मनुष्य, चाहे वह वकील हो या डाक्टर चाहे व्यापारी हो या कृषक, समाज पर अपना अवलम्बन और उससे अपना पारस्परिक सम्बन्ध अनुभव न कर सके, जिसके द्वारा वह यह न जान सके कि उसका व्यक्तिगत सुख-दुख और हित-अनहित उसी के परिश्रम की बदौलत नहीं है, बल्कि इसका बहुत कुछ श्रेय समाज को है। आज यदि समाज के नियम टूट जायँ, चोरी, डाका, बलात्कार आदि दुष्कर्म दण्ड के योग्य न समझे जायँ और समाज उनके दूर करने का उपाय न करे तो उसकी एक अकथनीय दशा हो जायगी। धन-दौलत की कौन कहे, मान-मर्यादा तक की रक्षा कठिन हो जायगी।

गेटे का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य या तो हथौड़े के

समान है या निहाई के समान । यदि वह शिक्षित है तो वह अशिक्षित पुरुषों का धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक नेता होता है । सामान्य पुरुषों को सामयिक उचित, उपयोगी और क्रियात्मक मार्ग दिखाने का भार उसके सिर पर है । बहुतों में यह गुण आजन्म होता है । देश की दशा बहुत कुछ ऐसे पुरुषों पर निर्भर होती है । देश की सम्पन्नता-विपन्नता, शान्तिमय समुन्नति और विप्लव के यही कारण हैं । वस्तुतः संसार की गति को देखने से यह निश्चित हो जायगा कि यदि प्राकृतिक संसार परमात्मा का बनाया है तो भौतिक संसार मनुष्य का बनाया है । समय समय पर प्रतापी पुरुषों के जन्म हुए और वे कुछ न कुछ अपनी छाप छोड़ गये । फ़्रांस को नेपोलियन ने, अमरीका को वाशिंगटन ने, जर्मनी को बिस्मार्क ने, रूस को टाल्स्टाय और लेनिन ने उनका वर्तमान स्वरूप दिया । इस देश के राष्ट्र-निर्माताओं के नाम पाठकों पर भली भाँति विदित हैं ।

समाज शिक्षणालय योग्य नागरिक तैयार करने ही के लिए स्थापित करती है । देश की शक्ति और उसके वैभव का यथेष्ट उपयोग करने के लिए देश के नागरिकों को शिक्षित होना चाहिए । कपड़ा, कोयला और अनाज तो दूसरे देशों से भी मँगाया जा सकता है, किन्तु नागरिक कहीं से नहीं लाये जा सकते । और इन्हीं पर शासन-व्यवस्था का पूरा भार है । पराधीन देशों में तो इनकी और भी अधिक आवश्यकता है । अन्यथा वह दूसरे ही देशों के लिए उपभोग की सामग्री बन जाता है । किन्तु वैपरीत्य तो देखिए कि वहीं इनका सबसे ज़्यादा अभाव है । विजेता प्रथम तो शिक्षा का प्रचार करना ही नहीं चाहता । क्योंकि शिक्षित प्रजा वश में नहीं रहती और यदि करता भी है तो अपने ही हित-साधन के लिए । उसकी पहली कोशिश यह होती है कि विजित लोग अपने को स्वतन्त्रता पाने के अयोग्य और देश की शासन-व्यवस्था सुचारु रूप में चलाने के लिए विजेता को अनिवार्य समझें, वह उनके स्वाभिमान आत्मगौरव और आत्मविश्वास को तोड़ देने का प्रयत्न करता है । उनको निरुत्साही निरुद्योगी भावशून्य पशु के समान कर देता है । इसके लिए वे पेट ही को सब कुछ समझने लगते हैं ।

शिक्षणालय शिक्षा-प्रचार का केवल एक साधन है । वह केवल पुस्तक की भूमिका के समान है । वहाँ शि का आरम्भ होता है । वास्तविक शिक्षा तो संसार प्रवेश करने पर मिलती है । इसकी उपमा एक अजायब या भ्रमण से दी जा सकती है । यहाँ मनुष्य को प्रभावि करनेवाली सारी बातों का साधारण ज्ञान हो जाता है आचार्य्यों-सहपाठियों के सम्पर्क, सत्सङ्ग और आलोच से उसे अपनी योग्यता, शक्ति, त्रुटि और बन्धन का थो बहुत ज्ञान हो जाता है । वह संसार का व्यवहार सी लेता है, समाज के हित के लिए अपने हित का समर्प करना जान जाता है, और समाज में अपने उचि स्थान का ज्ञान हो जाता है । मतलब यह कि उसकी दृ विस्तृत हो जाती है । किन्तु इस देश के शिक्षणालय लिए यह उपयुक्त नहीं है । यहाँ उनमें विदेशी भाव इतनी अधिकता है कि देश को बहुत कुछ लाभ होना सम्भ नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वहाँ जाकर विद्यार्थी ऐसे में रँग जाते हैं कि सारी आशाओं और आकांक्षाओं पर पा फिर जाता है । उनकी बुद्धि विदेशी भावों की अनुगामि हो जाती है और वे विदेशी सभ्यता के उपासक हो जाते हैं ऐसों को राष्ट्रीय भावों से शून्य कहना अनुचित न होगा क्या आश्चर्य, यदि इनके कारण लोगों का विश्वा शिक्षणालयों ही से उठ गया है ।

समाज-शिक्षा पाठशालाओं के पाठ्यक्रम का ए विषय होना चाहिए । बच्चे स्वभाव से समूह में रह पसन्द करते हैं । उनकी ग्राहिका-शक्ति भी अद्भुत होती है इसी अवस्था का उपार्जित ज्ञान स्थायी होता है । यदि इ अवस्था में उनकी ठीक देख-रेख न हुई तो बड़े होने प वही दुराचारों के केन्द्र बन जाते हैं । अतः आवश्यक है कि छुटपन ही से उनमें नागरिकता के भाव अङ्कुरि किये जायँ ।

उल्लिखित उद्देश्यानुसार सामाजिक शिक्षा प्रदान क की दो रीतियाँ हैं । प्रथम तो यह कि यह पाठ्यक्रम एक विषय की भाँति पढ़ाई जाय । लड़कों को अपने दे के शासन-व्यवस्था का संक्षिप्त ज्ञान कराया जाय औ अन्य देशों की शासन-प्रणाली से उसकी तुलना की जाय डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपलटी तथा अन्य सार्वजनि संस्थाओं का भी विस्तृत परिचय कराया जाय । और

सबके सम्बन्ध में अपने अधिकार और उनका उपयोग भी बतलाया जाय । जैसे प्रतिनिधि किसको और क्यों होना चाहिए और उनके क्या क्या कर्तव्य हैं । अपनी दुरवस्था के प्रतिकार के क्या साधन हैं ? किन्तु छोटे बच्चे इन सबको ठीक तरह समझ न सकेंगे । उनको छोटी छोटी कहानियों और कविताओं से इनका ज्ञान कराया जा सकता है । उनमें महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र-द्वारा यह भाव भरा जाना चाहिए कि संसार में नाम उन्हीं का अमर रहता है जो समाज के लिए अपने को मिटा देते हैं । ऐसे ही समाज-सेवियों की बदौलत हम सुख से अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं और अपनी आवश्यकता की समस्त सामग्रियां अपने द्वार पर प्रस्तुत पाते हैं । इतिहास और भूगोल से यह भाव पुष्ट किया जा सकता है ।

जर्मनी और अमरीका की पाठशालाओं में सामाजिक शिक्षा का विषय अनिवार्य है । वहां नगर की अपेक्षा देहात की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है । क्योंकि नगर-वासी तो बहुत कुछ अपने प्रतिदिन के जीवन-सङ्ग्राम से सीख लेता है । समाचार-पत्र और सभायें उन्हें देश-दशा से सूचित रखती हैं । किन्तु देहातवालों को यह अवसर कहां ? अभी तक विलायत इसकी ओर से उदासीन था, किन्तु इस युद्ध ने उसकी भी आंखें खोल दी हैं । अब वहां के पाठ्यक्रम में भी समाज-शिक्षा एक अनिवार्य विषय कर दिया गया है । यह आवश्यक नहीं कि इस प्रणाली के अनुसरण से अवश्य ही योग्य नागरिक बनेंगे । किन्तु एक योग्य नागरिक के सुयोग्य बन जाने में कोई सन्देह भी नहीं है ।

समाज-शिक्षा प्रदान करने की एक दूसरी भी अति-सुगम और व्यावहारिक रीति है, क्योंकि शिक्षालय और समाज का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है ।

वेल्हेम का कथन है कि "जिस बात को समाज में प्रचलित करना हो, पहले उसे शिक्षालयों ही में जारी करना चाहिए ।" विद्यार्थियों को पाठशालाओं ही में जीवन-सङ्ग्राम की कठिन समस्याओं से परिचित हो जाना चाहिए, जिसमें उनका संसार-प्रवेश एक नौसिखिये के समान न हो । अतः उनको अपनी शक्तियों तथा योग्यताओं से पूर्ण विज्ञ हो जाना चाहिए । इस हेतु साहित्यिक शिक्षा के साथ साथ उनको स्काउटिंग आदि द्वारा व्यावहारिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए । इस सम्बन्ध में खेल-कूद और ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा आदि भी बहुत लाभदायक साबित होंगे । भारतवर्ष में सेवा-समिति की उपयोगिता सिद्ध हुई है । हाल में अमरीका की पाठशालाओं में स्टूडेन्ट्स रिपब्लिक और लिटिल कामनवेल्थ नामक दो संस्थायें इसी प्रकार की खुली हैं । विद्यार्थि-गण अपनी पाठशालाओं की सफ़ाई, नियन्त्रण आदि का प्रबन्ध स्वयं कर लेते हैं । अध्यापकों को उनके कामों में हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता है । इस प्रकार उनको आवश्यकतानुसार नियम बनाने और उसके पालन करने की आदत लड़कपन ही से पड़ जाती है । यहां तक कि वे नियमों का उल्लङ्घन करना अति घृणित और अक्षम्य पाप समझने लगते हैं । यही कारण उनकी और उनके देश की उन्नति का है । अन्य देशों के लिए अपने पुनरुत्थान तथा उन्नति का एक-मात्र उपाय नागरिकों की समुचित शिक्षा है ।

भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव

९—अन्त ।

किया इन्दिरा ने उत्पात ।
समझाया मैंने, पर उसने सुनी न मेरी बात ।
मार दिया मैंने तब उसको, मुझको आया रोष ।
रोती चली गई वह भीतर, था उसका ही दोष ।
फिर सोचा—था उचित नहीं यों मुझको करना क्रोध ।
यह तो बच्चों का स्वभाव है, उन्हें कहां है बोध ।
यही सोच कर मुझको होने लगा बड़ा परिताप ।
काम छोड़ कर तब मैं भीतर चला गया चुपचाप ।
देखा, सोती थी वह लेकर गुड़िया अपने साथ ।
बड़े स्नेह से मैंने उस पर फेरा अपना हाथ ।
कहने लगा—तुम्हारी, प्रभुवर, हूँ मैं भी सन्तान ।
मुझसे भी होती हैं भूलें, मुझको है क्या ज्ञान ।
कितना ही दो दण्ड, तुम्हारा है तो स्नेह अगाध ।
तुम जाओगे भूल अन्त में मेरे सब अपराध ।

हरिवल्लभ जोशी

१—स्पेन की स्थिति।

योरप के दो प्रसिद्ध डिक्टेटर हाल में एक दूसरे से मिले हैं। इनमें एक तो स्पेन के जनरल प्रीमो डि रिवेरा हैं और दूसरे इटली के सिगनर मुसोलिनी हैं। इनकी यह भेट रोम नगर में हुई है। ये दोनों व्यक्ति योरप के वर्तमान राजनैतिक क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखते हैं। इन दोनों ने अपने देश की प्रचलित शासन-व्यवस्था की रक्षा के लिए नियम-विरुद्ध क्रान्ति करके अपने उद्योग में सफलता प्राप्त की है। क्रान्ति के पहले ये दोनों देश अशान्ति की ओर अग्रसर हो रहे थे। आर्थिक कठिनाइयों के कारण इटली बोलशेवी-सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र बन गया था। इसी समय मुसोलिनी और उनके फ़ैसिस्ट-दल का उदय हुआ। अपने सम्राट् की सलाह से उन्होंने बोलशेवी-प्रभाव को नष्ट कर अपने देश को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर किया।

जिस समय क्रान्ति करके जनरल प्रीमो ने स्पेन की अलहुकीमस-सरकार को उलट दिया था उस समय स्पेन की भी दशा इटली जैसी ही ख़राब हो गई थी। राजनीति को पेशा बना लेनेवाले राजनीतिज्ञों के हाथ में देश का प्रबन्ध हो जाने से शासन-प्रबन्ध में बड़ी ख़राबी आ गई थी, जिससे पीड़ित होकर प्रजा में घोर असन्तोष फैल गया था। इसी समय मराको में स्पेन की बड़ी बुरी हार हुई। इस पराजय से उसकी राष्ट्रीय मर्यादा को गहरी ठेस पहुँची। अतएव शासन-प्रबन्ध में सुधार करने के लिए जनरल प्रीमो उद्यत हुए। उन्होंने महाराज अल्फ़ोंसो की सहायता का वचन मिलने पर क्रान्ति कर दी। उस समय स्पेन में घोर असन्तोष फैला हुआ था। इटली की ही भांति स्पेन की क्रान्ति में भी रक्तपात नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि क्रान्ति ने शासन-पद्धति बदलने का उपक्रम नहीं किया था, किन्तु उसमें सुधार-मात्र करने का ही उसका उद्देश था और यह दुर्धर्ष कार्य उसने देश के कल्याण के विचार से किया था।

सिगनर मुसोलिनी साल भर से इटली के प्रधान मन्त्री के पद पर विराजमान हैं। इन्होंने अपने शासन के इस अल्पकाल में ही अधिकांश जटिल समस्याओं को हल कर लिया है। देश से बोलशेविकों का प्रभाव दूर हो गया, उसकी आर्थिक स्थिति भी सुधर गई और बेकारी का प्रश्न भी अधिक महत्त्व-पूर्ण न रह गया। इसके सिवा जहां पहले स्थानिक या प्रान्तिक देश-प्रेम की ही प्रधानता थी, वहां अब राष्ट्रीय जाग्रति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

परन्तु स्पेन के डिक्टेटर जनरल प्रीमो के सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। ये हाल में ही कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। इनके सामने भी बड़ी विकट समस्यायें उपस्थित हैं। स्पेन-सरकार के शासन-विभाग में बेईमानी और टालमटूल का बाज़ार ख़ूब गरम रहा है। सरकारी नौकरियों की नियुक्ति से भी लोगों को ख़ूब शि[illegible] रही है। इसे वर्षों से उदार तथा अनुदार दोनों दल बारी बारी से लेते रहे हैं। इसके लिए उनमें आपस में समझौता हो गया था। जब वहां के उच्च अधिकारियों का यह हाल रहा है तब निम्न कर्मचारियों की क्या दशा रही होगी, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है। इन त[illegible]

ऐसी ही दूसरी बुराइयों के दूर करने का भार जनरल प्रीमो ने उठा लिया है और वे सुधार-कार्य में दृढ़ता के साथ जुट भी गये हैं।

स्पेन में पार्लियामेंट के सदस्यों का चुनाव कुछ ख़ास लोगों के निरीक्षण में होता है। इस कार्य को करने के लिए सरकार ही इन्हें नियुक्त करती है। ऊपर जिस दूषित आय का उल्लेख हुआ है उसका दारमदार इन्हीं लोगों पर रहता है। इनमें अनेक लोग लेन-देन का काम करते हैं और अनेक कारख़ानेवाले हैं। अतएव देहात या छोटे नगरों में इनका बड़ा प्रभाव माना जाता है। देश की दशा सुधारने के लिए इनके प्रभाव को नष्ट करने की बड़ी ज़रूरत है। वास्तव में जनरल प्रीमो पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। उन्हें एक बड़ी भारी दूषित संस्था का ही संस्कार करना नहीं है, किन्तु एक सिरे से सेना और पुलिस का भी सङ्गठन तथा अनेक निरर्थक सरकारी विभागों को तोड़ कर सरकारी-व्यय को भी कम करना है। यदि वे स्पेन की राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति का संस्कार करने में नहीं सफल होंगे तो उनकी क्रान्ति व्यर्थ सिद्ध होगी। यही नहीं, किन्तु स्पेन फिर पुरानी बुराइयों के फन्दे में पड़ कर और भी अधिक शोचनीय स्थिति को पहुँच जायगा।

शासन प्रबन्ध-सम्बन्धी सुधार के प्रश्न के सिवा स्पेन सरकार के आगे और भी कई कठिन समस्यायें उपस्थित हैं। कैटोलोनिया-प्रान्त स्पेन का आयर्लैंड बन गया है। स्पेन से अलग हो जाने के लिए कैटोलोनियावासी बड़ा भारी आन्दोलन कर रहे हैं। इस प्रश्न को हल करने के लिए सरकार ने अब उग्र उपायों का अवलम्बन किया है। मराको-युद्ध की समस्या कम विकट नहीं है। इस सम्बन्ध में सरकार क्या करना चाहती है, यह अभी प्रकट नहीं हुआ है। परन्तु यदि यह युद्ध जारी नहीं किया गया तो इससे स्पेन की मर्यादा में बड़ा बट्टा लगेगा। इस सम्बन्ध में वह सांप-छछूँदर की दशा में पड़ गया है। शीघ्र या कुछ समय बाद जनरल प्रीमो इस सम्बन्ध में सरकारी मनोभाव अवश्य प्रकट करेंगे। सम्भवतः उन्हें राष्ट्र की मान-रक्षा के लिए फ़ौजी कार्रवाई भी करनी पड़ेगी। परन्तु मराको को विजय करना सन्देहजनक है। अतएव वे अब्दुल करीम तथा उसके साथियों से समझौता करके अपना पिण्ड इस झमेले से छुड़ाने का ही प्रयत्न करेंगे।

स्पेन की भूमि खनिज द्रव्यों से शून्य नहीं है। उनसे देश की साम्पत्तिक स्थिति बहुत कुछ समुन्नत की जा सकती है। परन्तु स्पेनवासी स्वभाव से आलसी होते हैं। वे इस ओर प्रवृत्त नहीं होते। इस सम्बन्ध में वहाँ जो थोड़ा-बहुत काम होता है, प्रायः वह सब विदेशी पूँजी के द्वारा होता है। देश की औद्योगिक परिस्थिति निराशाजनक है। मज़दूर एक तो कम मिलते हैं और जो मिलते हैं वे विश्वास-योग्य नहीं। वहाँ प्रायः हड़ताल होती रहती है। अतएव देश की प्राकृतिक सम्पत्ति के उपयोग में लाने के लिए मज़दूरों की कठिनाई हल करनी होगी।

स्पेन के डिक्टेटर जनरल प्रीमो डि रिवेरा, मारक्वीस डि इस्टीला के आगे यद्यपि ये विकट समस्यायें उपस्थित हैं तो भी वे इटली के उदाहरण से बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं।

२—जर्मनी की वर्तमान दशा।

लार्ड हाल्डेन जर्मनी के मर्मज्ञ समझे जाते हैं। इँग्लेंड के राजनीतिज्ञों में जर्मनी का जितना अधिक ज्ञान इनको है उतना वहाँ के किसी दूसरे राजनीतिज्ञ को नहीं है। जर्मनी की सैनिक शक्ति को जाँच कर उसे सन्धि के अनुसार नियमित करने के लिए मित्र-राज्यों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन नियत किया था। उस कमीशन के डिप्टी एडजूटेंट जनरल के रूप में ये भी उसके साथ जर्मनी गये थे। अभी हाल में ही लन्दन-यूनीवर्सिटी की एक सभा में ये सभापति बनाये गये थे। उस सभा में इन्होंने जर्मनी की वर्तमान दशा पर एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया था। उसका भावार्थ यहाँ दिया जाता है—

जर्मनी का इतिहास पढ़ने से मालूम होता है कि जब जब उसकी पराजय हुई है तब तब उसने अपनी उन्नति के सम्बन्ध में असाधारण स्फूर्ति प्रकट की है। उसकी पराजय उसके लिए सदा शुभप्रद ही सिद्ध हुई है। उसकी वर्तमान दशा से भी हमारे इस कथन का समर्थन होता है। पिछले युद्ध में पराजित होकर जर्मनी सदा की भाँति अपनी दशा सुधारने के लिए आतुर हो

रहा है। उसकी व्यग्रता उसकी प्रत्येक गति-विधि में परिलक्षित होती है। जर्मनी का नवीन साहित्य देश-भक्ति का साहित्य है जर्मनी का पद-गौरव फिर स्थापित करने के लिए फ्रेडरिक और ब्लूचर की विजयों की चर्चा से वह परिप्लुत हो रहा है। ऐसी रचनाओं की भी कमी नहीं है जिनमें जर्मनी के ही विजयी होने का समर्थन रहता है, उसकी हार यही कह कर स्वीकार की जाती है कि उसे धोखा दिया गया, विद्रोहियों ने अवसर पर विश्वासघात किया।

जर्मन लोग सङ्घ-प्रेमी होते हैं। उनकी जाति ही छोटे छोटे दलों का एक विशाल संङ्घ है। इसी का यह परिणाम है कि सम्पूर्ण जाति का राजनैतिक ढाँचा शहद की मक्खियों के छत्ते के छिद्रों के समान ही व्यवस्थित रूप से विभाजित है। जर्मनों के जातीय स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वे विचार के अनुसार कार्य भी करते हैं, सोच कर चुप नहीं रह जाते। अपनी वर्तमान शासन-व्यवस्था में उन लोगों का इस समय भी एक ही उद्देश और एक ही विचार रहता है, उनकी विचार और उद्देश-एकता अपना महत्त्व रखती है।

सन् १९१८ के राष्ट्रविप्लव से जर्मनी के राजवंश को भारी चोट पहुँची है। वह अधिकार-च्युत कर दिया गया। इससे राजनैतिक समाज का भी ढाँचा बदल गया। राजतन्त्र के स्थान में प्रजातन्त्र की स्थापना हो गई। परन्तु यह परिवर्तन स्थायी है या नहीं, यह भविष्य के गर्भ में निहत है। इससे राजा की सत्ता का सिद्धान्त अवश्य नष्ट हो गया है, पर राज्य-सत्ता का सिद्धान्त नहीं नष्ट हुआ। बरन राजतन्त्र की अपेक्षा वर्तमान शासन-व्यवस्था के समय में राज्य-सत्ता का सिद्धान्त अधिक दृढ़ता से स्थापित हो गया है। नागरिकों की स्वतन्त्रता स्थगित करने के लिए कैसर के विशेषाधिकार के सामने प्रजातन्त्र के सभापति की शक्तियाँ बहुत अधिक बढ़ी हुई हैं। वह अपने क़लम के एक ही झोंके में बात की बात में जर्मनी का फ़ौजी डिक्टेटर बन सकता है। देश के साधारण क़ानून में बहुत कम परिवर्तन हुए हैं। पुलिस के अधिकार पहले जैसे ही बढ़े चढ़े और निरङ्कुश नौकरशाही वैसी ही शक्तिसम्पन्न है, जैसी वह युद्ध पहले थी। इसके सिवा उसकी संख्या में भी बहुत हुई हैं। युद्ध-कालीन क़ानूनों में अधिकांश रद्द कर गये हैं। अतएव अब युद्धार्थ सैन्य-सङ्ग्रह शीघ्र किया जा सकता।

जर्मनी के शासन-प्रबन्ध में 'रीच-सभा' का महत्त्व पूर्ण स्थान है। युद्ध के पहले यह जर्मन-साम्राज्य थी और अब इसने प्रजातन्त्र-राज्य का अधिकार ग्रहण है। शायद भविष्य में यह फिर साम्राज्य का रूप धारण कर ले। देश के विशेष विशेष उद्योग-धन्धों, आवागमन के मार्गों, नये औद्योगिक साधनों एवं सर्वसाधारण सभी उद्योगों का सङ्गठन करने तथा उन्हें आर्थिक सहायता देने में रीच-सभा हिस्सेदार बन गई है।

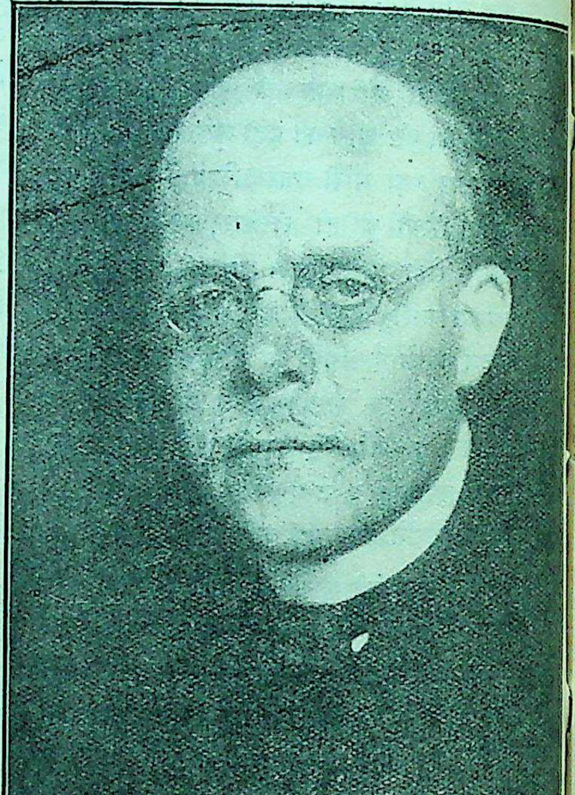

डाक्टर मार्क्स।

व्यवस्था का विचार शायद पहले कभी जर्मनी के राजवंश को भी न हुआ होगा। जर्मन-लेखकों की शिकायत है कि जर्मनी ने ज़बर्दस्ती सैनिक-शिक्षा की व्यवस्था करके सेना का सङ्गठन तो कर लिया था, पर उसने ऐसी ही व्यवस्था आर्थिक साधनों के सम्बन्ध में न करके बड़ी भारी भूल की थी। आज इस भूल का सुधार जर्मनी में हो रहा है। फ़ौजी जनरल स्टाफ़ के सदृश 'आर्थिक जनरल स्टाफ़' की रचना अब वहां हो गई है।

यह सारी प्रगति अगले युद्ध के लिए जर्मनी की तैयारी नहीं है। हाँ, एक प्रकार से इसका एक यह अर्थ भी लिया जा सकता है, परन्तु उसी प्रकार दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है कि एक विशाल, बलवान् और कट्टर जाति अपने जीवित रहने के स्वत्व की रक्षा का निश्चय रखती है। वास्तव में सन्धि की जो अभूतपूर्व आर्थिक दासता-सम्बन्धी शर्तें जर्मनी पर लादी गई हैं उनका यह स्वाभाविक परिणाम है। यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि यदि एक बार के लिए भी जर्मनों को इस बात का विश्वास हो जाय कि मित्र-दल उनके विनाश का इच्छुक है तो उनकी जो सारी शक्तियाँ अपने देश की स्थिति का सुधार करने के लिए इस समय एक साथ भिड़ी हुई काम कर रही हैं वे सरलता के साथ युद्ध की तैयारी की ओर लगा दी जा सकती हैं। जिस बात से कोई राज्य सङ्गठित हो सकता है और अपने भौतिक साधनों का उपयोग कर सकता है उसी से वह युद्ध के लिए भी भले प्रकार तैयार हो सकता है। वानडर गोल्ज़ ने कहा था कि अब युद्ध राष्ट्रों के बीच में नहीं, किन्तु जातियों के बीच में होने लगा है। भविष्य में यही बात होगी। आर्थिक परिस्थिति के कारण युद्ध की परिधि के भीतर जैसे सब वस्तुएँ खिँच आती हैं वैसे ही सब वर्गों के लोग भी। मित्र-दल के अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन को जर्मनी में जिन बड़ी बड़ी कठिनाइयों से सामना करना पड़ा था उनमें एक बात यह भी थी कि हम कौन वस्तु युद्धोपयोगी समझ कर नष्ट करें और कौन न करें। हम लोग इस समस्या को नहीं हल कर सके। क्योंकि हम लोगों को प्रत्येक बात में यह समझ पड़ता था कि इसके नष्ट करने से लोगों के आर्थिक जीवन पर चोट पहुँचती है। इस अवस्था से जर्मनी के अधिकारियों ने पूरा लाभ उठाया है।

डाक्टर स्ट्रैसमैन।

जर्मन अपने स्वाभाविक मार्ग से हटना पसन्द नहीं करता। वह आगे जाकर फिर अपने स्थान को लौट आता है। वह जितना ही परिवर्तित मालूम पड़ता है, उतना ही जैसा का तैसा बना रहता है। वह क्रान्तिवादी बिलकुल नहीं है, क्योंकि क्रान्ति परिवर्तनात्मक होती है। अनिवार्य सैनिक-शिक्षा को बन्द कर देने के लिए हमारे कमीशन ने जर्मनी पर ज़ोर डाला था, अतएव उसे बन्द करके उसने एक दूसरे ही मार्ग का अनुसरण किया है। देश के युवकों के लिए शारीरिक शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए जर्मनी में एक नई व्यवस्था का सूत्रपात हुआ है। पहले जिस उम्र और समय के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी उसी उम्र और समय में देश के प्रत्येक युवक में क़ानून-द्वारा शारीरिक शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य है।

सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता के बलवान् भावों

से सजग कोई विशाल जाति दासता की बेड़ियाँ सदा पहने नहीं रह सकती। आज जर्मनी में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी शक्तियाँ काम कर रही हैं। जर्मनों की स्फूर्ति का कारण उनके सिक्के की दर का गिर जाना है। उनकी प्रगति देख कर यही बात कहना ठीक है कि जर्मनी की राष्ट्रीय सजगता इस समय वैसी ही बलवान् है जैसी पहले कभी थी। मित्र-दल को इस बात के लिए सावधान रहना चाहिए कि कहीं उनकी घोर शत्रुता जर्मनों की जीवित रहने की सदिच्छा को विजय करने की इच्छा में न परिवर्तित कर दे।

सीलीसिया में युवराज का भवन।
(आज-कल जर्मनी के युवराज यहीं रहते हैं)

मैं उन भयातुर लोगों में नहीं हूँ जो म्यूनिच में उद्दण्ड युवकों को भर्ती कर अपनी सेना की रचना करते हैं और अपनी युद्ध-सामग्री तहख़ानों में छिपाते फिरते हैं। यह सच है कि हम लोग जर्मनी को पूर्णरूप से निरस्त्र नहीं कर सके हैं। इसका कारण यह नहीं था कि जर्मनी ने हमारे कार्य में ऐसी बाधायें डालीं जिनको हम पार नहीं कर सके। सच बात तो यह है कि किसी भी विशाल और उद्यमशील जाति को पूर्णरूप से निश्शस्त्र करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक उस जाति के सम्पूर्ण उद्योग-धन्धे बिलकुल विनष्ट न कर दिये जायँ। जर्मनी को सदा के लिए निश्शस्त्र करने का एक-मात्र उपाय उसे प्रसन्न रखना है। हमारी यह बात किसी को कड़ुवी लगेगी और किसी को बुरी, पर है सच यही।

इस समय जर्मनी में प्रत्येक व्यक्ति अधिकार के सिद्धान्त के पीछे पड़ा हुआ है। यह खोज पाँच वर्ष से जारी है। इस सम्बन्ध के साहित्य में इसी विचार-धारा का पूर्ण वेग है। यही नहीं, राजनैतिक कार्यों की परीक्षा भी की गई है। फलतः एक ऐसे जटिल शासन-विधान की रचना हुई है जैसा आज तक संसार में कहीं देखने में नहीं आया और जो अनेक बातों में स्वयं परस्पर-विरोधी है। इसी के अङ्ग 'रीच-सभा', भिन्न भिन्न राज्यों की शासन संस्थायें, कम्पनी-क़ानून, अर्थव्यवस्था, स्थानिक शासन, सरकार-द्वारा उद्योग-धन्धों का सङ्गठन आदि हैं। जर्मनी का राजनैतिक सङ्गठन पूर्णता के परे पहुँच गया है। अतएव अधिकार के सर्वत्र विभाजित हो जाने से वह कहीं भी नहीं रह गया है। जब कोई समाज व्यवस्था के रूप में अत्यन्त जटिल हो जाता है तब विधान विरोधी शक्तियों का जन्म होना स्वाभाविक हो जाता है।

इस समय जर्मनी में प्रजातन्त्र का प्रेसीडेंट 'आवश्यकता' के समय जर्मनी का सर्वे सर्वा हो जा सकता है। अतएव जो प्रत्येक बात जर्मनी को 'आवश्यकता' की दुरवस्था में बनाये रक्खेगी वह प्रेसीडेंट के निरङ्कुश अधिकार को जीवित रक्खेगी। ऐसी परिस्थिति राजतन्त्र को अपने अत्यन्त अधिक अनियन्त्रित रूप में फिर स्थापित

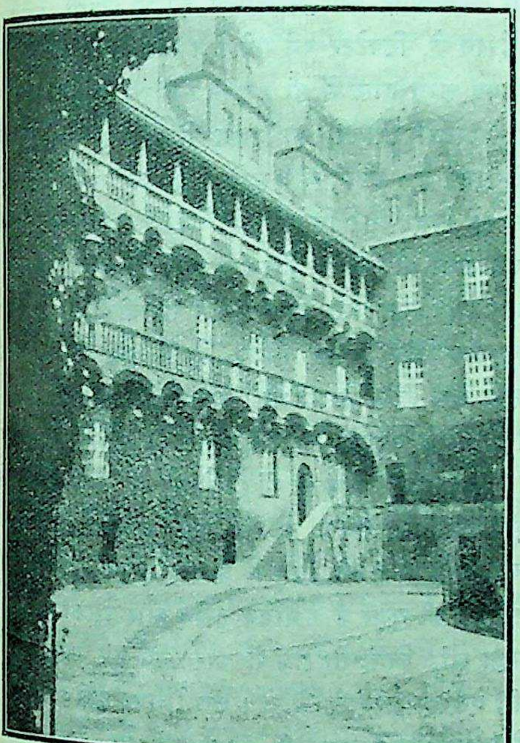

युवराज के भवन का भीतरी दृश्य।

र देगी। यदि जर्मनी की राजनैतिक स्थिरता को उसके पश्चिमाञ्चल के एक नगर के बाद दूसरे नगर और एक ज़िला के बाद दूसरे ज़िला पर अधिकार करके सदा चोट पहुँचाई जायगी तो वहाँ किसी व्यवस्थित सरकार की स्थापना न हो सकेगी। ज़ुल्म का ऐसा प्रत्येक कार्य व्यवस्था-विरोधी शक्तियों को बार बार उभाड़ता है। जर्मनी की वर्तमान राजनैतिक स्थिति में इन शक्तियों के प्रतिनिधि फ़ौजी सभायें और युद्धवादी समितियाँ हैं। पूँजीपतियों के सिवा यही इस समय सबसे अधिक क्षमताशाली हैं। इन सभाओं का ध्यान जर्मनी की नई पीढ़ी की ओर है। ये हाई-स्कूलों और विश्वविद्यालयों पर अपना पूरा प्रभाव डाल रही हैं। इस समय जर्मनी के प्रजातन्त्रवादी और युद्धवादी दोनों दल वृद्धों और नवयुवकों को, जो सैनिक-सेवा के उपयुक्त नहीं हैं, अपने अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह एक सच्ची बात है कि वही लोग युद्ध के प्रशंसक अभी तक बने हुए हैं जिन्होंने उससे बहुत कम हानि उठाई है। इन दोनों वर्गों के भीतर स्कूलों और विश्वविद्यालयों के अध्यापक और विद्यार्थी ही आते हैं। जर्मनी के अधिकांश विश्वविद्यालय राजकीय संस्थायें हैं। इनका प्रबन्ध सरकार का शिक्षा-मन्त्री करता है। इन्हीं में पढ़कर लोग ऊँची ऊँची सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करते हैं और इन्हीं की सनदों पर वे स्कूलों और विश्वविद्यालयों के अध्यापक होते हैं। अतएव लोकमत तथा शासन-व्यवस्था पर विश्वविद्यालयों का असाधारण प्रभाव पड़ता है और जर्मनी की शासन-व्यवस्था या नौकरशाही इस समय उसकी एकता का सबसे बलवान् सूत्र है। मन्त्री आते और जाते हैं। एक का कार्य-भार उससे लेकर दूसरे को सौंप दिया जाता है, परन्तु सिविल अधिकारी अपने स्थान में डटा रहता है। मन्त्री का कार्य-भार तक ग्रहण करने का अधिकार उसने प्राप्त कर लिया है, व्यवस्थापक सभा में वह उसका प्रतिनिधित्व करता है, राजसभा का सदस्य भी हो सकता है। इतने पर भी वह अपने पद पर बना रहता है। जर्मनी की वर्तमान शासन-व्यवस्था का यह एक अनोखा ढङ्ग है। ऐसी ही और भी अन्यान्य बातें हैं जिन्हें देख कर बुद्धि चकरा जाती है। यदि अख़बारों के पढ़नेवाले ऐसी ही गूढ़ बातों को न समझ कर यह कहने लगें कि जर्मनी में व्यवस्था नहीं है तो ऐसा कहने के लिए वे दोषी नहीं हैं। क्योंकि बाहर से देखने से वहाँ की सभी बातें अव्यस्थित और परस्पर-विरोधी समझ पड़ती हैं। जल की धारा एक ओर बह रही है तो वायु दूसरी ओर बह रहा है। यदि एक दिन बबेरिया या वर्टेम्बर्ग के सदृश प्रचण्ड राष्ट्रीय भावधारी या सैक्सनी या नवीन थुरिंगिया के सदृश बोल्शेवी भावधारी राज्य साम्राज्य से बिलग होते दिखाई देते हैं तो दूसरे दिन वे सहसा प्रजातन्त्र की आज्ञा के आगे नतमस्तक होते दिखाई देते हैं। वे कभी नहीं पृथक् होंगे विध्वंसक शक्तियों की अपेक्षा सम्बन्ध स्थापित रखनेवाली शक्तियाँ ही वहाँ अधिक प्रबल हैं। बिस्मार्क वहाँ के राज-घरानों को पुराने साम्राज्य को एकता में बाँधे रहने का मुख्य सूत्र समझता था, परन्तु सन् १९१८ में वे अधिकारच्युत कर दिये गये। उसने अपनी कुटिल नीति से प्रूशिया के राजा को जर्मनी

का सम्राट् और प्रशिया के प्रधान मन्त्री को इंपीरियल वायस चैंसलर के रूप में अभिषिक्त किया था। यही नहीं, जर्मनी की शासन-सभा में प्रशिया को शासन-सम्बन्धी विधानों को रद्द कर देने या उन्हें मंज़ूर कर लेने का विशेष अधिकार भी प्राप्त था। परन्तु सन् १९१८ के नवम्बर में यह सारी व्यवस्था दूर कर दी गई और उसके स्थान में जो व्यवस्था स्थापित हुई है वह उस ऐक्य को क़ायम रखने के लिए और भी अधिक बलवान् और जटिल है। आज रीच-सभा का टैक्स-कलेक्टर प्रत्येक नागरिक का दरवाज़ा खटखटाता फिरता है। पहले प्रत्येक राज्य के टैक्स-कलेक्टर अपने अपने रहते थे। रीच-सभा के नहीं रहते थे। एक जर्मन लेखक का कहना है कि पहले साम्राज्य राज्यों पर निर्भर था और अब राज्य साम्राज्य पर निर्भर हैं। अब टैक्स वसूल करने या उसके लगाने का अधिकार उनके हाथ से निकल गया है।

यह पहला ही अवसर है जब जर्मन-साम्राज्य के सारे सिविलियन रीच-सभा के अधीन हुए हैं। यह सभा भी अब साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध राज्यों की सरकारों के द्वारा नहीं करती। बिना किसी कठिनाई के प्रजातन्त्र के जासूस प्रत्येक राज्य में मुजरिम को हिरासत में ले सकते हैं। बवेरिया ने अनिच्छा के साथ रेल, डाक, तार, यहाँ तक कि अपनी सेना के सम्बन्ध के भी अपने विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया है। अमरीका के संयुक्त-राज्यों की भाँति वहाँ भी सभी पूँजी-पति और श्रमजीवी एक होकर उद्योग-धन्धे के क़ानून, बैंक, कम्पनियों की समुन्नति और सामाजिक क़ानून में एकता की माँग उपस्थित कर रहे हैं। सभी अप्रकट शक्तियाँ वहाँ के बड़े बड़े व्यवसायियों के प्रभाव के सहित इसी ओर लगी हुई हैं। जर्मनी को एकता के सूत्र में बाँधे रखने के काम में सबसे बड़ा प्रभाव वहाँ के कुबेर हर स्टिनीज़ का है। मित्र-दल की हरजाने की अत्यन्त भारी रक़म से इन सबको भारी धक्का लगा है उसका सारा भार जर्मनी को अपने ऊपर लादना पड़ा है और उसके लिए उसे बाध्य होकर राज्य की कर लगनेवाली सारी सम्पत्ति को अपने हाथ में लेना पड़ा है। अतएव वर्सेलीज़ की सन्धि से जर्मनी की शासन-व्यवस्था मज़बूत हो गई है। केवल उसकी भावना का पुष्ट होना शेष रह गया था, सो वह भी रूर प्रदेश अधिकार कर लेने से अब हो गई है।

३—ईरान का मुसोलिनी।

इटली की तरह ईरान में भी एक मुसोलिनी उदय हुआ है। ईरान के वर्तमान प्रधान मन्त्री सरदार स्वदेश की समुन्नति के लिए हाल में ही वहाँ के तिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। आज से ढाई वर्ष मुट्ठी भर सिपाहियों को लेकर इन्होंने तेहरान पर कार करके अपने देश में क्रान्ति की थी। उसी समय ये ईरान के डिक्टेटर बन गये हैं। राज्य के प्रधान का पद अभी हाल में ही इन्होंने स्वीकार किया है।

सरदार सिपह का नाम रिज़ा ख़ाँ है। ये वीर पुरुष हैं। ईरान वीर-भूमि है। वहाँ समय समय बड़े बड़े योद्धा और विजेता हो गये हैं। पर इधर पड़ने लगा था कि अब ईरान में सच्चे वीर जन्म ग्रहण करते। हाँ, यह बात ज़रूर रही है कि बीच बीच में एक कोई वीर उत्पन्न होकर ईरान की पूर्व कीर्ति स्मृति करा दिया करता था। फलतः इस बीसवीं सदी रिज़ा ख़ाँ के रूप में नादिरशाह ने फिर जन्म ग्रहण है। रिज़ा ख़ाँ लड़कपन से ही योद्धा रहे हैं। सैनिकों छावनियों के जीवन से वे पूर्ण अभ्यस्त हैं। व्यवस्था के प्रचलित रहने के कारण ईरान में अभी सरदारों की गुज़र है। नायब हुसेन और उसका पुत्र अल्ला ख़ाँ, जिन्हें तेहरान में चार वर्ष हुए फाँसी दी थी, ऐसे ही सरदारों में थे। जब नायब हुसेन ने के साथ फाँसी की तख़्ती पर अपना पैर रक्खा था उसकी उम्र अस्सी वर्ष के ऊपर ही रही होगी। कशन और कुम के प्रदेश में ये दोनों पिता-पुत्र डाला करते थे। ये सामान्य व्यक्ति नहीं थे। सत्तार जिसने चौदह वर्ष पहले तैब्रीज़ पर अधिकार शाही सेनाओं से मोर्चा लिया था और कास्पियन- के किनारे का निवासी वीरवर कुचिक ख़ाँ, जिसे सेना भी अपने वश में न ला सकी थी, उन बाग़ी सरदारों में थे जिनका सम्बन्ध राजनीति से रहा है जो महत्त्वाकांक्षी रहे हैं।

परन्तु सरदार सिपह दूसरे ढङ्ग के वीर-पुङ्गव हैं। ये न तो डाकू हैं और न छापा डालनेवाले महत्त्वाकांक्षी विद्रोही सरदार हैं। ये एक शिक्षित सैनिक हैं। इनका जन्म मजंजदारन में एक किसान के घर हुआ है। ये पहले ईरानी क़ज़्ज़ाक सेना के एक साधारण सिपाही थे। इस सेना का सङ्गठन रूसी अफ़सरों के निरीक्षण में हुआ था। इस सेना में भर्ती होकर रिज़ा ख़ां ने अपने नियमबद्ध आचरण और दृढ़ स्वभाव से रूसी अफ़सरों को प्रसन्न कर लिया। धीरे धीरे उन्नति कर ये कमीशन-अफ़सर हो गये। इस पद पर पहुँच कर ये अपनी सेना के भीतरी प्रबन्ध में महत्त्व-पूर्ण भाग लेने लगे। इस सेना पर रूस-सरकार का पूर्ण प्रभाव था और यही ईरान के शाह की शरीर-रक्षक सेना थी। परन्तु जब रूस में विप्लव हो गया और वहाँ कोई सरकार न रह गई तब ईरान में इस सेना के रूसी अफ़सरों के हितों की रक्षा का भार अँगरेज़-सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। कुछ वर्षों के बाद अँगरेज़-सरकार ने इस भार को अधिक व्यय-व्यापी समझ कर छोड़ दिया। अतएव उपर्युक्त सेना के रूसी अफ़सर पदच्युत कर दिये गये। इसी समय तेहरान के राजनीतिज्ञों के एक बलशाली किन्तु छोटे से समूह की सहायता पाकर क़ज़्ज़ाक सैनिकों ने रिज़ा ख़ाँ के नेतृत्व में कास्विन से तेहरान पर चढ़ाई कर दी और उस पर अधिकार कर लिया। शृगालों की तरह मन्त्री लोग भाग कर अपने घरों में जा छिपे। अतएव नई सरकार का सङ्गठन हुआ। उसने फ़ौजी क़ानून की घोषणा करके शासन-भार ग्रहण किया। इस अवसर पर रिज़ा ख़ाँ प्रधान सेनापति का पद लेकर ही सन्तुष्ट हो गये। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने युद्ध-मन्त्री का पद भी हथिया लिया और तीन महीने बाद प्रधान मन्त्री नवयुवक शेख़ सैयद ज़ियाउद्दीन को देश से निकाल बाहर किया। कहा जाता है कि इस व्यक्ति को प्रधान मन्त्री बनाने के लिए ही रिज़ाख़ाँ ने उपर्युक्त राज्य-क्रान्ति की थी। तब से भिन्न भिन्न व्यक्ति जल्दी जल्दी प्रधान मन्त्री बनाये गये। पर सरदार सिपह अपने युद्ध-मन्त्री के पद पर बराबर विराजमान रहे। इसे एक अपूर्व घटना समझना चाहिए। क्योंकि ईरान में किसी मन्त्रि-मण्डल के पराभव के बाद उसका कोई भी मन्त्री अपने पद पर कभी नहीं रहने पाया है।

दो वर्ष बीते, सरदार सिपह ने पार्लियामेंट सभा की एक बैठक की। पिछले ग्रीष्म काल में वह भङ्ग कर दी गई। दूसरी पार्लियामेंट का चुनाव अभी हाल में ही हुआ है। परन्तु न तो पार्लियामेंट का और न भिन्न भिन्न प्रधान मन्त्रियों में किसी एक प्रधान मन्त्री का राज्य-प्रबन्ध में कोई वास्तविक अधिकार रहा है। सारी शक्ति सरदार सिपह के हाथों में रही है, क्योंकि नव-सङ्गठित सेना पर एक-मात्र उन्हीं का अधिकार रहा है। सेना ही एक ऐसी वस्तु है जिससे उनका अनुराग है। अतएव उन्होंने प्रधान मन्त्रियों को स्वतन्त्रता से अपना काम करने को छोड़ दिया था। जब उनकी पार्लियामेंट से नहीं पटी या अपनी प्यारी सेना के लिए पर्याप्त धन उन्हें नहीं मिला तब उन्होंने मन्त्रियों को

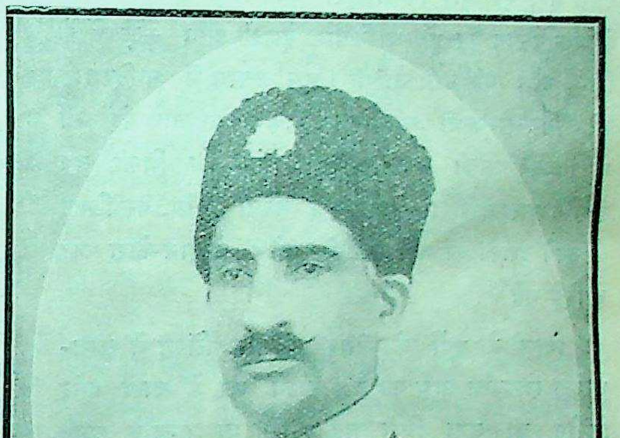

एच० एच० रिज़ाख़ाँ, सरदार सिपह, फ़ारस का प्रधान मन्त्री।

निकाल बाहर किया । परन्तु अब उन्होंने प्रधान मन्त्री बन कर प्रकटरूप से सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली है । उन्हें धूम धाम अधिक नहीं पसन्द है । उनके दबदबे के आगे ईरान के शाह का प्रभाव कुछ दब सा गया है । पिछली बार जब शाह योरप गये थे तब यह बात आम तौर से कही जाती थी कि सरदार सिपह उन्हें स्वदेश नहीं आने देंगे । परन्तु शाह के लौटते समय सरदार सिपह ने ज़रा भी बाधा नहीं दी, बरन वे राजसिंहासन की मर्यादा ज्यों की त्यों बनाये रखने में सदा सावधान रहते हैं । एक बार किसी मूर्ख आदमी ने उनकी संरक्षा में एक उत्सव का प्रबन्ध किया । इसकी आय क़ज़ाक़ों के लिए दान की जाने को थी । इस उत्सव में नादिरशाह की जीवन-सम्बन्धी बातों का नाटक किया जाने को भी था । जब इसकी सूचना सरदार सिपह को मिली तब इन्होंने उसका किया जाना बन्द करवा दिया, पर टिकट के रुपये दर्शकों को नहीं लौटाये गये । वे दान-कोश को दे दिये गये ।

पिछले दो वर्षों के भीतर सरदार सिपह ने असाधारण सफलता प्राप्त की है । राज्य भर में चारों ओर विद्रोह की घटा घिरी हुई थी । पर इन्होंने अपने सतत परिश्रम से उसे जहाँ का तहाँ ही दबा दिया । सन् १९२१ में ख़ोरासान ने विद्रोह का झण्डा गाड़ दिया था । सरदार सिपह ने वहाँ के नेता को मार कर उस प्रान्त में शाह की राज-सत्ता फिर स्थापित की । जिस कुचिकख़ाँ ने अँगरेज़ी और शाही सेनाओं को तृणवत् समझ कर गिलन प्रदेश के अधिकांश भाग पर कुछ वर्षों तक राज्य किया था और जिसने अन्त में रेस्ट को अपनी राजधानी बना कर अपने अधीन प्रदेश को सोवियट प्रजातन्त्र विघोषित किया था उसका भी वही हाल हुआ । जिस कुर्द-सरदार सिम्को के नाम से पश्चिमी सीमावर्ती देश सदा भयभीत रहता था उसका भी प्रभाव एकाएक नष्ट कर दिया गया । यही नहीं, अपने प्राणों की रक्षा के लिए उसे भाग कर ईराक़-राज्य में शरण लेनी पड़ी । जिस प्रसिद्ध बख़्तयारी जाति का तेहरान की राजनीति में पिछले समय में प्राधान्य रहा है उसे भी सरदार सिपह के आगे नतमस्तक होना पड़ा है । उन्होंने उसके चहार महल दुर्ग में अपने सैनिकों को भेजकर बख़्तियारी सरदारों से टैक्स तक वसूल कर लिया । अनेक वर्षों इन सरदारों ने अपने प्रभाव के कारण टैक्स देना कर दिया था । दक्षिण में काशगई जाति सदा सिर रहती थी । यह उद्दण्ड जाति भी राह पर लाई गई भविष्य में फिर किसी तरह का उत्पात न हो, इस भी पूरा प्रबन्ध सरदार सिपह ने कर लिया है । लोगों के कुछ प्रभावशाली लोगों को उन्होंने अपनी निगरानी में कर लिया है । ये सब लोग तेहरान में गये हैं ।

सरदार सिपह को सफलता सेना की बदौलत है । उसे इन्होंने ठीक समय पर वेतन देकर सदा रक्खा है । यही नहीं, इन्होंने सेना के लिए भोजन-वस्त्र की भी व्यवस्था कर दी है । अतएव भी इनकी आज्ञानुवर्तिनी है और इनके सङ्केत पर प्राण अर्पण करने को प्रस्तुत रहती है ।

इस समय ईरान विदेशी हस्तक्षेप से स्वतन्त्र है उसे रूसियों का भय बिलकुल ही नहीं रहा और की नीयत पर भी सन्देह नहीं है । उसका नई प्रजातन्त्र से सद्भाव है और अफ़ग़ान-सरकार के भी राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित है । पर नये ईराक़ के साथ उसकी मित्रता अभी अनिश्चित सी है । कारण ईराक़ में स्थित शिया-सम्प्रदाय के करबला नजफ़ नामक तीर्थस्थान हैं और ईरान प्रधान मुसलमान-देश है । अँगरेज़-ईरानी असफल होने पर अँगरेज़ी सेना ने ईरान ख़ाली कर था । उस समय इस बात की आशङ्का की गई थी कि में विद्रोह फैल जायगा और उस पर बोल्शेवी लोग दौड़ेंगे । परन्तु इस आशङ्का के विपरीत इस समय में ऐसी शान्ति विराजमान है जैसी उसे पिछले बीस से नहीं नसीब थी । प्रधान सरकार की सत्ता सर्वत्र पूर्वक मानी जाती है । राजपथ निष्कण्टक हो हैं । सब लोग बे-खटके आराम के साथ यात्रा सकते हैं ।

——

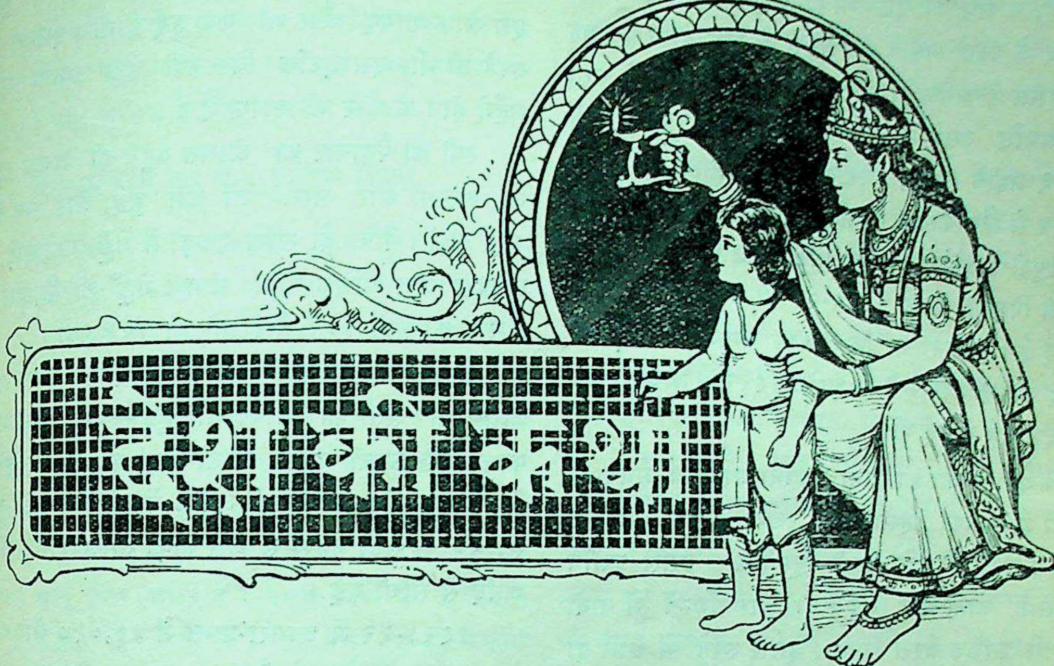

देश की कथा

१—अनाज की फ़सलों का विवरण ।

सरकार ने ज़मीन की नाप-जोख और फ़सलों इत्यादि का हिसाब रखने के लिए जो महकमा क़ायम कर रक्खा है उसका अँगरेज़ी नाम है—लैंडरिकार्ड्स का महकमा । हर तरह की ज़मीन से सबन्ध रखनेवाले काग़ज़ात और नक़शों आदि का काम भी इसी महकमे के सिपुर्द है । पटवारियों के रजिस्टर—जिन्सवार, ख़सरा, खतौनी इत्यादि—की जाँच भी यही महकमा करता है । इस महकमे के भी अध्यक्ष हर साल अपनी रिपोर्ट लिखते और प्रकाशित करते हैं ।

इस महकमे की रिपोर्ट में देहातियों, विशेष करके काश्तकारों, के जानने योग्य बहुत बातें रहती हैं । यदि वह ठीक तौर पर तैयार की जाय तो उससे और लोग भी फ़ायदा उठा सकते हैं । परन्तु, खेद है, इन रिपोर्टों को लिखने में सर्वसाधारण के सुभीते का बहुत कम ख़याल रक्खा जाता है । पहले तो ये रिपोर्टें प्रान्त की भाषा—हिन्दी या उर्दू में नहीं लिखी जातीं । फिर इनमें आराज़ी (ज़मीन) की नाप एकड़ों में दी जाती है । पटवारियों के काग़ज़ात में तो नाप बीघे, बिश्वे में दी जाय । लोगों को जो पट्टे और परचे मिलें उनमें भी बीघे, बिश्वे ही लिखे जायँ । पर सरकारी रिपोर्टों में एकड़ों का ही निष्कण्टक राज्य रहे ! इस नीति की बलिहारी ! फिर एक बात और भी है । कौन फ़सल कितने मन या कितने टन हुई, इसका लेखा इस रिपोर्ट में नहीं दिया जाता । सिर्फ़ औसत बता दिया जाता है । बताया जाता है यह कि गेहूँ की पूरी फ़सल की पैदावार यदि १०० मान ली जाय तो रिपोर्ट के साल वह ९० हुई, या ९९ हुई, या १०१ हुई ! बस । बताइए, इससे कैसे पता चल सकता है कि इस प्रान्त में हर साल कितना गेहूँ, जौ या बाजरा आदि हुआ । यदि यह मालूम हो जाता तो पता लग जाता कि प्रान्त की आबादी के हिसाब से फ़ी मनुष्य कितना अनाज पैदा हुआ । पर इस सुभीते की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं जाता और रिपोर्ट में वही एकड़, वही औसत, वही फ़ी सदी पैदावार के अङ्कों की भरमार रहती है ।

सरकारी हिसाब-किताब का साल न चैत्र से शुरू होता है, न मेष की संक्रान्ति ही से शुरू होता है और न सरकार के पहले महीने जनवरी से ही शुरू होता है। वह शुरू होता है अप्रेल से और ख़तम होता है मार्च के अन्त में। अर्थात् उसमें ९ महीने तो एक साल के रहते हैं और ३ महीने दूसरे, अर्थात् अगले, साल के। इसी हिसाब से लैंडरेकार्ड्स, अर्थात् काग़ज़ात देही, के महकमे के डिपुटी डाइरेक्टर, श्रीयुत ब्रिज (व्रज ?) लालजी, ने अपनी पिछली रिपोर्ट १९२२-२३ की लिखकर प्रकाशित कराई है। मतलब यह कि उसका सम्बन्ध उन फ़सलों आदि की पैदावारों से है जो अप्रेल १९२२ से मार्च १९२३ तक इस सूबे में हुई थीं।

अच्छी पैदावार का होना न होना महाराज मघवा के हाथ में है। उसका हिसाब-मात्र रखना डिपटी साहब के हाथ है। रिपोर्ट के साल पानी ख़ूब हुआ। इससे ज़मीन प्रायः सभी जोती-बोई गई। दो चार ज़िलों में पानी मतलब से अधिक बरस गया। इससे रुपये में आने दो आने ख़रीफ़ की फ़सल नहीं बोई जा सकी। पर वह कसर रबी की फ़सल से काफ़ी से भी अधिक निकल गई। वह जितनी बोई जानी चाहिए थी उससे भी ज़ियादह बोई गई। सो ख़रीफ़ की कमी रबी की अधिकता से पूरी ही नहीं हो गई; वह बढ़ भी गई। अतएव कहना चाहिए कि अनाज की पैदावार के लिहाज़ से पिछला साल बहुत अच्छा बीता। दो लाख एकड़ ज़मीन ख़रीफ़ बोने से रह गई थी। उसके कोई चौगुने रकबे, अर्थात् १५ लाख एकड़ में, रबी अधिक बोई गई।

१९२२ में बाजरा १०० के बदले ११५ एकड़ में बोया गया। मतलब यहाँ फ़ी सदी से है वह पहले फ़ी सदी १४७ तक में बोया जाता रहा है। सो वह कम हुआ, हाँ गन्ना ख़ूब हुआ—१०० की जगह ११३ में। कुल फ़सल के हिसाब से कोई तीन लाख एकड़ में बाजरा कम बोया गया, पर गन्ना दो लाख एकड़ में अधिक। परन्तु आश्चर्य यह है कि पिछले साल बाजरा तो महँगा रहा ही, गुड़-राब भी महँगी बिकी। बाजरा तो इस साल सस्ता है; गुड़ का हाल कुछ समय बाद मालूम होगा। आशा तो नहीं कि वह भी सस्ता बिके। ज्वार बहुत कम हुई और कपास उससे भी कम। कोई डेढ़ लाख एकड़ में कम बोई गई। उसकी पैदावार १०० में ४७ ही हुई इस साल शायद और भी कम हुई होगी। इसी से रुपये की नौ दस छटांक बिक रही है। तथापि महँगे होने के और भी कारण हैं।

रबी की पैदावार का औसत बहुत ही अच्छा रहा जौ, अलसी और सरसों तो कम हुईं, और सब ख़ूब हुईं। पौने दो लाख एकड़ में गेहूँ और साढ़े लाख में चना अधिक बोया गया। गेहूँ की पैदावार औसत फ़ी सदी १०२ और चने का १२५ पड़ा।

जोती-बोई गई ज़मीन में से १ करोड़ २ लाख ज़मीन की खेती की आबपाशी हुई—वह सींची परन्तु सब कितनी ज़मीन जोती-बोई गई, इसका रिपोर्ट में नहीं। सींची गई ज़मीन में से ५० सदी से, २५ फ़ी सदी नहरों से और बाक़ी तालाबों तथा आदि से सींची गई।

१९२१-२२ में आगरा-प्रान्त में ११,०५७ और में ३,८९२ पुख़्ता कुवे तैयार हुए थे। पर १९२२-२३ क्रम से ९,१६१ और ३,४५६ ही तैयार हुए। वर्षा होने से अधिक कुवे बनाने की ज़रूरत शायद नहीं हुई इसी से शायद कच्चे कुवे भी कम खोदे गये। १९२१- की अपेक्षा रिपोर्ट के साल उनमें फ़ी सदी १५ की हुई।

डिपटी डाइरेक्टर साहब ने अपनी रिपोर्ट में अनाज निर्ख़ की भी तालिका दी है। निर्ख़ कानपुर का है। चार चीज़ों का बाज़ार-भाव नीचे दिया जाता है। रुपये की कौन चीज़ का कब, क्या भाव था, इसका हिसा यह है—

महीना	गेहूँ	जौ	चना	मोटा चाव
जून २२—	५$\frac{१}{२}$ सेर	८$\frac{३}{४}$ सेर	७$\frac{१}{४}$ सेर	४$\frac{३}{४}$ सेर
सितम्बर २२—	६$\frac{१}{२}$	१०	८$\frac{१}{४}$	५$\frac{१}{४}$
जनवरी २३—	७$\frac{३}{४}$	१४	१२$\frac{१}{२}$	६$\frac{१}{२}$
मई २३—	८	१४$\frac{१}{२}$	१४$\frac{१}{५}$	५$\frac{३}{४}$

सो गेहूँ १२ महीने में ड्योढ़ा सस्ता होगया और चने का भाव तो दूने पर जा पहुँचा। जौ भी ख़ूब बढ़ा। चावल भी सस्ता हुआ, पर बहुत नहीं। वह ड्योढ़े

कम ही रहा । जनवरी २३ में कुछ अधिक सस्ता हुआ था । पर मई में उसका भाव फिर चढ़ गया । अस्तु । जौ और चना सस्ता होने से ग़रीब आदमियों को विशेष सुभीता हुआ, यह सन्तोष की बात हुई । क्योंकि उसी के खानेवाले यहां अधिक हैं, गेहूँ-चावल के कम ।

२—अफ़ीम की बे रोकटोक बिक्री ।

अफ़ीम विष है । विष अपना प्रभाव तुरन्त ही प्रकट करते हैं और काफ़ी मात्रा में खाये जाने से मनुष्य के प्राण शीघ्र ही हर लेते हैं । अफ़ीम खाने से भी यही होता है—मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है । पर थोड़ी अफ़ीम खाने से मृत्यु नहीं होती । उसे प्रति दिन खाने से आदत पड़ जाती है और फिर नहीं छूटती । अफ़ीमची तत्काल मृत्यु से तो बच जाते हैं, पर धीरे धीरे वे मृत्यु के मुख की ओर बराबर बढ़ते ही जाते हैं और किसी दिन उनकी अकाल मृत्यु ज़रूर होती है । उसके पहले भी वे जीवन-मृत ही से रहते हैं । शरीर के भीतर, रग रग में, अफ़ीम का विष पहुँच जाता है । शरीर किसी काम का नहीं रह जाता । वे जीते ही नाना प्रकार की यन्त्रणायें भोगते हैं । अफ़ीम न मिलने से उनकी जो दुर्गति होती है उसका वर्णन नहीं हो सकता । वह सर्वथा अवर्णनीय है ।

ऐसे दुरन्त विष के प्रभाव से अपनी सन्तति की रक्षा करना प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य है । राजा या शासनाधिकारी भी प्रजा के पितृस्थानीय हैं । अपायों और अकाल मरण से प्रजा को बचाना उनका भी धर्म्म है । इसी से सभ्य और शिक्षित देशों की गवर्नमेंटों ने अपने अपने देश में अफ़ीम की बिक्री बन्द कर दी है । उन्होंने कड़े क़ानून बना दिये हैं । उनको जो लोग तोड़ते हैं वे दण्ड पाते हैं । बिना डाक्टर का सर्टीफ़िकेट दिखाये वहां दवा के लिए भी अफ़ीम नहीं मिल सकती । हालेंड के हेग-नगर में जो अन्तर्जातिक सभा है उसने अफ़ीम के व्यवसाय के सम्बन्ध में एक कमिटी बना रक्खी है । जो देश उसके मेम्बर हैं वे वहां उस कमिटी में बैठ कर अफ़ीम के व्यवसाय और बिक्री के नियन्त्रण के विषय में विचार करते और नियम बनाते हैं । उन्हीं नियमों के अनुसार प्रत्येक देश में क़ानून बनते हैं । जिन देशों ने—उदाहरणार्थ इँगलेंड, अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र, फ़िलीपाइन, चीन, जापान, तथा अन्य अनेक सभ्य देशों ने—एक मत होकर वैसे नियामक क़ानून बनाये हैं वहीं अफ़ीम की बिक्री बन्द हो गई है अथवा उसका नियन्त्रण कर दिया गया है ।

बहुत समय हुआ, इस विषय में, हेग में जो निश्चय हुआ था उस पर अँगरेज़ी राज्यों के प्रतिनिधियों ने भी स्वीकृति-सूचक हस्ताक्षर किये थे । उस नियम का आशय यह है—

> “जो नियम इस सभा में निर्दिष्ट हुए हैं उनके अनुसार यदि अँगरेज़ी गवर्नमेंट काररवाई करेगी और इँगलेंड में कोई क़ानून बनावेगी तो वही क़ानून भारत, लङ्का, स्ट्रेट्स सेटेलमेंट, हांगकांग और वी-हुई-वी में भी बनाने को बाध्य होगी ।”

मतलब यह कि यदि विलायत में अफ़ीम की बिक्री बन्द कर दी जायगी तो भारत में भी बन्द करनी पड़ेगी । परन्तु इँगलेंड में तो बन्द कर दी गई, भारत में नहीं । वहां तो “dangerous Drugs act” नाम का क़ानून बना कर अफ़ीम बेचने का निषेध हो गया । अब सिवा दवा के वहां न तो खाने के लिए अफ़ीम मिल सकती है और न बेची ही जा सकती है ।

चाहिए तो था कि वचनबद्ध होने के कारण ब्रिटिश गवर्नमेंट वैसा ही क़ानून भारत में भी बना देती, परन्तु यहां अफ़ीम बोने और बेचने का इजारा उसने खुद ही ले रक्खा है और उससे उसे साल में कई करोड़ रुपये की आमदनी होती है । इधर फ़ौज, रेल वग़ैरह के लिए उसे रुपये की सदा ही बहुत ज़ियादह ज़रूरत रहती है । इसी से कुछ लोगों का ख़याल है कि गवर्नमेंट इस आमदनी को सहसा हाथ से नहीं जाने देना चाहती । इस विषय में भारत-प्रेमी श्रीयुत सी० एफ़० एँड्रूज़ साहब ने जनवरी २४ के “माडर्न-रिव्यू” में दो तीन नोट बड़े मार्के के लिखे हैं । उनमें अफ़ीम की बिक्री के विषय में जो दलीलें पेश की गई हैं वे सचमुच ही अखण्डनीय हैं ।

हेग में लिखे गये इक़रारनामे पर दस्तख़त करके अपने देश, इँगलेंड और आयरलेंड, में तो तुमने अफ़ीम की बिक्री बन्द कर दी, यहां भारत में क्यों नहीं बन्द की ?

इसका उत्तर दिया जाता है—यहाँ वैसा क़ानून बनाने की ज़रूरत ही नहीं। देखते नहीं कि सरकार अफ़ीम की क़ीमत बढ़ाती चली जा रही है। धीरे धीरे उसकी बिक्री आप ही बन्द हो जायगी। क़ानून बनाना ही न पड़ेगा। इस पर फिर सवाल किया जाता है—तो इस नीति से तुमने अपने देश में क्यों काम नहीं लिया? वहाँ के लिए वैसा क़ानून क्यों बनाया? उत्तर मिलता है—क़ानून बनाने से भारतवासियों को बहुत कष्ट मिलेगा। उससे उलटा उन्हीं की हानि होगी। क्योंकि वे लोग अफ़ीम इतनी थोड़ी खाते हैं कि उससे उन्हें हानि के बदले लाभ ही होता है। फिर वे अफ़ीम हुक्के या चिलम में नहीं पीते, घोल कर या यों हीं खा जाते हैं। और इस तरह खाना मुजिर नहीं। इन लचर दलीलों को सुन कर हँसी भी आती है और अपने दुर्भाग्य पर रोना भी आता है। जो हमारे शिक्षा-गुरु हैं और जो हमें राज्य करना और सभ्य बनाना सिखाने के लिए ही यहाँ टिके हुए हैं वे तो अपनी बढ़ी हुई शिक्षा की बदौलत थोड़ी मात्रा में अफ़ीम खाकर उससे लाभ न उठावें—क़ानूनन बिक्री रोकने की ज़रूरत समझें—पर बेचारे अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित भारतवासियों को संयमशील बताकर अपने से भी अधिक शिक्षित ठहराने की धृष्टता करें।

खेद तो इस बात का है कि हेग की कमिटी में अपने देश के धन्य और मान्य नेता श्रीनिवास शास्त्री ने भी भारतवासियों की संयमशीलता की प्रशंसा की थी और यह कहा था कि हम लोग बहुत ही थोड़ी मात्रा में अफ़ीम खाते हैं; इससे विशेष हानि नहीं होती। पर ऐंड्रूज़ साहब ने नामी नामी डाक्टरों की सम्मति उद्धृत करके सिद्ध किया है कि अफ़ीम खाने से पीने की भी अपेक्षा अधिक हानि होती है और वह चाहे जितनी कम खाई जाय उससे अपाय ज़रूर ही होता है।

एक बात और भी है। सरकार ने जो अफ़ीम के दाम बढ़ा दिये हैं उससे बिक्री में कमी भी तो नहीं हुई। हुई भी होगी तो बहुत कम। क़ीमत चाहे जितनी बढ़ जाय, अफ़ीमची बिना अफ़ीम खाये नहीं रह सकते। चाहे स्त्री का ज़ेवर बिक जाय और चाहे लोटा-थाली तक चला जाय वे अफ़ीम ज़रूर खायँगे। आदत पड़ जाने से फिर वह किसी तरह छूट ही नहीं सकती। सो सरकार की नीति—आमदनी अधिक, अफ़ीम की बिक्री कम—आगर नहीं हो सकती।

सरकार की पूर्व-निर्दिष्ट नीति नितान्त निष्फल है इसका प्रमाण आसाम प्रान्त है। इस नीति के रहते भी जब वहाँ वालों में अफ़ीम का चसका कम न हुआ, प्रत्युत बढ़ ही गया, तब नये कौंसिल के मेम्बरों ने अफ़ीम की बिक्री एक-दम बन्द कर देने के प्रस्ताव किये। उन्होंने कहा, केवल दवा के लिए अफ़ीम मिले, खाने के लिए नहीं। आजिज़ आकर वहाँ की गवर्नमेंट ने अब यह नियम कर दिया है कि अब से हर साल १० फ़ी सदी अफ़ीम कम बेची जाया करे। यदि इसका पालन हुआ तो अफ़ीम की बिक्री बिलकुल ही बन्द होने में दस पन्द्रह वर्ष ज़रूर लगेंगे। ख़ैर यही बहुत है। भारत के अन्यान्य प्रान्तों को भी कम से कम आसाम के कौंसिल के मेम्बरों का अनुसरण करना चाहिए।

३—भारत की दरिद्रता पर एक भारतीय विद्वान्

भारत की दरिद्रता लिखने पढ़ने की बात हो गई है। पिछले पचीस वर्षों में इस सम्बन्ध में कई विद्वानों ने बहुत कुछ जाँच-पड़ताल की है। इन सबसे यही सिद्ध हुआ कि घोर दरिद्र के चङ्गुल में पड़ कर इस देश की मूक जनता पिसी जा रही है। परन्तु इस कथन को भारत के राज-कर्मचारी मान्य नहीं करते। हाल में बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर सर जार्ज लायड ने अपने कार्यभार से अवसर ग्रहण करने के समय से कुछ ही पहले अपने एक भाषण में भारतीयों की औसत आमदनी आँकी थी और कहा था कि भारत दिन प्रति-दिन समृद्धिपूर्ण होता जा रहा है। आपकी इस अद्भुत युक्ति का खण्डन भारतीय पत्रों में तत्काल ही किया गया। मैसूर के भूतपूर्व दीवान सर एम० विश्वेशराय ने भारतीय आर्थिक सभा के सप्तम अधिवेशन के सभापति की हैसियत से जो भाषण दिया है उसमें भी सर जार्ज के मत की आलोचना की गई है। उस अंश का भावार्थ यहाँ दिया जाता है—

युद्ध के पहले भारत की सम्पत्ति ३६०० मिलियन पौंड या ५४०० करोड़ रुपये कूती जाती थी। इस हिसाब

से इस देश में उस समय प्रति आदमी १८० रुपये का औसत पड़ता था। उसी समय कनाडा में यह औसत ४४०० रुपये से भी ऊपर था और विलायत में ६००० रुपये। इस समय रुपये का मूल्य गिरा हुआ है। तो भी यहाँ आदमी पीछे वार्षिक आय ४५ रुपये से ६० रुपये तक ही पड़ती है। यदि आय का पूरे ६० रुपये ही औसत मान लिया जाय तो भी प्रति महीने आदमी पीछे ५ रुपये की आय पड़ती है। उधर कनाडा में प्रति आदमी वार्षिक आय ५५० रुपये और विलायत में ७२० रुपये है। भारत में व्यापार का औसत प्रति आदमी २० रुपये से २५ रुपये तक पड़ता है, पर कनाडा में ५१० रुपये और विलायत में ६४० रुपये का औसत है।

हीन श्रेणी की आय और जीवन-स्थिति के कारण भारत में मृत्यु-संख्या का परिमाण भी बढ़ गया है। यहाँ प्रति हज़ार आदमी पीछे ३० से भी अधिक आदमी मरते हैं। इसके विपरीत कनाडा और विलायत में उतने ही आदमियों में १४ से भी कम आदमियों की मृत्यु होती है। भारत में आयु का औसत २४ वर्ष और पाश्चात्य देशों में वही ४५ वर्ष है। शिक्षा का यह हाल है कि यहाँ सौ में केवल ६ आदमी साक्षर हैं।

भारतीयों की आय, उनके जीवन की स्थिति और उनकी शिक्षा का यही करुणापूर्ण हाल है और इसी परिस्थिति पर सर जार्ज लायड को नाज़ है।

उन्नतिशील सरकार उद्योग-धन्धों और व्यवसाय की वृद्धि तथा विज्ञान एवं कला और शिक्षा की उन्नति पर अभिमान करती है। पर सर जार्ज को इसकी परवा नहीं। वे भारत को समृद्धिपूर्ण सिद्ध करने के लिए कृषि के विस्तार का प्रमाण देते हैं। वे कहते हैं कि जहाँ पहले धान की खेती ५० मिलियन एकड़ भूमि में होती थी वहाँ अब उसका विस्तार ८० मिलियन एकड़ हो गया है। इसी प्रकार गेहूँ की खेती का विस्तार २५ मिलियन एकड़ भूमि से बढ़ कर ३० मिलियन एकड़ हो गया है। परन्तु यह वृद्धि जितने समय में यहाँ हुई है उतने ही समय में ब्रिटिश-साम्राज्य के दूसरे भागों में खेती की जो उन्नति हुई उसकी ओर उनका ध्यान जाता तो उनकी आँखें खुल जातीं। आस्ट्रेलिया में गेहूँ की खेती ३.६ मिलियन एकड़ से बढ़ कर अब ९ मिलियन एकड़ भूमि में होने लगी है और कनाडा में वह ४ मिलियन एकड़ से बढ़ कर २३ मिलियन एकड़ तक में जा पहुँची है। परन्तु खेती सबसे कम आय का पेशा है। कोई भी देश एक-मात्र खेती के द्वारा सभ्यतापूर्वक अपना अस्तित्व क़ायम नहीं रख सकता।

सर जार्ज ने भारत की वर्तमान दशा की तुलना उसकी भूतकालीन दशा से की है। इस देश को समुन्नत सिद्ध करने का यही सरकारी ढङ्ग है। इस प्रतियोगिता के ज़माने में हमें यह नहीं देखना है कि भूतकाल में हम कैसे रहे, किन्तु हमें यह देखना है कि दूसरों के मुक़ाबले में हमारी दशा कैसी है?

विविध विषय

१—मुँह में राम बग़ल में छुरा।

प्रायः सारा का सारा योरप ईसाई है। अमेरिका भी ईसाई है। वहाँ के निवासी ईसा मसीह (जीज़स् क्राइस्ट) के चलाये हुए धर्म्म को मानते हैं। अच्छा तो ये ईसा मसीह थे कौन? भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर एक छोटा सा देश है। उसका नाम है पालेस्टाइन या फ़िलिस्तीन। उसके गैलीली प्रान्त के नज़ारेथ नामक क़सबे में एक यहूदी लड़की रहती थी। नाम उसका था मेरी। उसकी माता का नाम था ऐनी और पिता का जेकिम। पेशा उनका बढ़ई का था। ईसाई-धर्म्म के माननेवालों का कथन है कि उसी मेरी नामक लड़की की कोख से ईसा मसीह पैदा हुए थे। परन्तु लड़की की शादी होने के पहले ही वे गर्भ में आगये थे। अर्थात् वे क्वारी कन्या के पुत्र थे। इन्हीं ईसा को ईसाई अपना पैग़म्बर मानते हैं। वे कहते हैं कि ईसा ईश्वर के साक्षात् पुत्र थे। उन्हें वे अँधेरे घर ही का नहीं, अँधेरे संसार का उजेला कहते हैं। वे कहते हैं कि ईसा मसीह Light of the world थे। दुनिया अन्धकार में डूबी हुई थी। उन्हीं ने उसे उस अन्धकूप से निकाल कर अपने धर्म्मरूपी प्रकाश को दिखाया। इसमें सन्देह नहीं कि ईसा मसीह पुण्यपुरुष थे। उनकी शिक्षायें, उनके उपदेश, उनके धार्म्मिक सिद्धान्त सर्व्वथा प्रशंसनीय हैं। इन ईसा को हुए कुछ कम दो हज़ार वर्ष हो चुके। इन्हीं के उपलक्ष में हर साल, दिसम्बर के महीने में, बड़ा दिन मनाया जाता है। तत्सम्बन्धी उत्सवों में उत्साह और आनन्द भी मनाया जाता है; खेलतमाशे भी किये जाते हैं और यत्र ईसा मसीह का यशोगान भी होता है। परन्तु लोग इन उत्सवों में शरीक होते हैं और जो लोग ई मसीह को मनुष्य-मात्र का पथप्रदर्शक समझते हैं वे ई की और सब बातें तो याद करते हैं; एक बात वे समूल ही भूल जाते हैं। वह है उनके जन्मस्थान स्थिति। फ़िलिस्तीन है कहाँ, आप जानते हैं? वह यो में नहीं। वह उसी एशिया-खण्ड में है जिसमें अभागा भारतवर्ष है। सो यदि ईसा ने संसार सचमुच ही ज्ञान-दीपक दिखाया तो उसका श्रेय न मदमत्त योरप को है और न धनमत्त अमेरिका को श्रेय और समस्त श्रेय एशिया ही को है—उसी एशि को जिसने ईसा ही को नहीं, मूसा को भी पै किया और राम-कृष्ण ही को नहीं, गौतमबुद्ध को जन्म दिया। जिस देश या महादेश की बदौलत प्रा समस्त संसार को धर्म्मलाभ हुआ, जिसकी बदौलत अनमोल धार्म्मिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों की प्रा हुई, और जिसकी बदौलत ही योरप को पहले पह नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल आभास मिला उसी देश—उसी महादेश—को अब योर असभ्य, अशिक्षित और अनुदार धर्म्म का अनुयायी रहा है! समय की गति तो देखिए।

अभी बहुत समय नहीं हुआ। ईसाई-धर्म्म प्रवर्तक और आचार्य्य भारतवासियों के देवी-देवताओं खुल्लम खुल्ला लाञ्छन लगाते फिरते थे। पुस्तकें तक लि लिख कर वे उनकी निन्दा करते थे। कहीं राम-परीक्षा, कहीं कृष्ण-परीक्षा, कहीं द्रौपदी-कथा बिकती थी। पर अब कुछ समय से यह लीला बन्द सी होगई है। अब तो

उलटा कभी कभी ईसाइयों ही के पैग़म्बर श्रौर उन्हीं के धर्म-ग्रन्थ बाइबल की कड़ी समालोचनायें होने लगी हैं। कलकत्ते के माडर्न-रिव्यू नामक मासिक पत्र में इस प्रकार की कितनी हीं श्रालोचनायें निकल चुकी हैं श्रौर कितने हीं श्राक्षेप प्रकाशित हो चुके हैं—ऐसे श्राक्षेप जिनका खण्डन, ईसाइयों के बहुत प्रयत्न करने पर भी, नहीं हो सका। ये सब श्रालोचनायें भारतवासियों ही की लेखनी से निकली हैं। परन्तु इस तरह की श्रालोचनायें श्रौर प्रत्यालोचनायें हानि के सिवा लाभजनक नहीं। इनसे द्वेष श्रौर वैमनस्य की वृद्धि होती है, स्नेह श्रौर सहानुभूति की उत्पत्ति नहीं। प्रायः सभी धर्म्मों के मूल तत्त्व या सिद्धान्त श्रच्छे हैं। श्रतएव श्रपने ही धर्म्म में रहकर मनुष्य बहुत कुछ श्रेयः-साधन कर सकता है। धर्म्म श्रच्छा होने पर भी यदि उसके सिद्धान्तों का श्रनुसरण न किया गया तो उसके श्रच्छेपन की दुहाई देने से कुछ भी लाभ नहीं। धर्म्म यदि कहता है कि सदा सच बोलो श्रौर उस धर्म्म का श्रनुयायी यदि सदाही असत्य में लिप्त रहता है तो उससे बढ़ कर पापात्मा श्रौर कोई नहीं। कोई धर्म्म ऐसा नहीं जो चोरी को बुरा न बताता हो। श्रतएव जो लोग दूसरों के समूचे देश तक को हड़प कर जाते हैं वे कदापि धार्म्मिक नहीं। उनके द्वारा की गई उनके धर्म्म की प्रशंसा उनके उस पाप कर्म्म का क्षालन नहीं कर सकती।

ईसा मसीह सचमुच ही महात्मा थे। क्षमा, दया, दीनता, श्रौदार्य्य, श्रात्मसंयम श्रादि के उपदेशों श्रौर श्राज्ञाश्रों से उनकी गाथायें भरी पड़ी हैं। परन्तु दृप्त, मदान्ध श्रौर श्रभिमानी योरप, श्रधिकांश में, श्रपने धर्म्म श्रौर धर्म्म-प्रवर्तक की प्रशंसा करके भी, उन श्राज्ञाश्रों का यथेष्ट पालन नहीं करता।

योरप को श्रपनी सभ्यता, सज्ञानता, विद्या श्रौर धार्म्मिकता का बहुत बड़ा श्रभिमान है। श्रपने सामने वह किसी श्रन्य महादेश को (श्रमेरिका को छोड़ कर) कोई चीज़ ही नहीं समझता। एशिया-महाखण्ड के कितने ही देशों को तो—उन देशों को जो उसके दीक्षागुरु या श्राचार्य्य-पदवी पर श्रधिष्ठित रह चुके हैं—वह श्रसभ्य श्रौर बर्बर बताता है। परन्तु श्रपनी श्रसभ्यता, दुर्वृत्तता श्रौर श्रत्याचार-परायणता की श्रोर कभी श्रांख उठा कर भी नहीं देखता। जर्मनी की श्रभिवृद्धि योरप के श्रन्य देशों से नहीं देखी गई। श्रतएव झूठी तुहमतें लगा कर कई देशों ने उसे किसी काम का न रक्खा। उसके साथ यह सलूक इसलिए किया गया जिससे योरप में कभी शान्ति-भङ्ग न हो। उसका विनाश इसलिए साधन किया गया—उसकी सेना इसलिए नष्ट करके कम कर दी गई—जिससे किसी श्रन्य देश को उससे भय न रहे। युद्ध के पहले जर्मनी में ५½ लाख सेना थी। उसे जर्जर कर डालने पर फ़्रांस ने श्रब ८ लाख सेना तैयार रक्खी है! १९१४ ईसवी में श्रास्ट्रिया-हंगरी की सेना की संख्या केवल ३ लाख थी। पर श्रब उसे काट-छांट कर जिन नये राज्यों की स्थापना हुई है उनकी श्रौर बढ़े हुए रूमानिया-देश की सेना १० लाख तक पहुँच गई है! श्रमेरिका के जो संयुक्तप्रान्त श्रपने को प्रतिनिधिसत्ताक राज्य के श्रादर्श समझते हैं उनकी सेना १ लाख से श्रधिक कभी नहीं रही। पर वे भी श्रब उसे बढ़ा रहे हैं श्रौर बहुत कुछ बढ़ा भी चुके हैं! यह है इनकी सभ्यता, धार्म्मिकता श्रौर उदारता का निदर्शन! इसी ढँग से ये संसार में शान्ति-स्थापना करना चाहते हैं! तैयारी तो परस्वापहरण की किये जा रहे हैं, ढोंग दिखाते हैं न्यायनिष्ठा श्रौर रामराज्य की स्थापना का! जिधर देखिए उधर ही, योरप में, सत्य का श्रपलाप, कपटाचरण, श्रन्याय, श्रत्याचार हो रहा है। पेट में कुछ मुँह में कुछ। इसी को कहते हैं, मुँह में राम बग़ल में छुरी नहीं, छुरा!

ईसा मसीह की श्राज्ञा है कि यदि तुम्हारे मुँह पर कोई चपत जमावे तो तुम सिर झुका दो श्रौर कहो—भाई, एक श्रौर। उसी ईसा के धर्म्मानुयायी श्रकारण ही निरीह, निरस्त्र, निर्बल मनुष्यों के साथ ऐसा बर्ताव कर रहे हैं जैसा कि पशुश्रों के भी साथ नहीं किया जाता। श्रमेरिका में यदि कोई काला हबशी किसी गोरे या गोरी का श्रपमान कर बैठे तो वह जीता ही जला दिया जाय या बलि-पशु की तरह निर्दयतापूर्वक मार डाला जाय। श्रफ़रीक़ा के वन्य मनुष्य पहले तो भेड़-बकरी के सदृश बेचे जाते थे। श्रब भी उनकी दशा दयनीयही है। वे श्रपने ही देश—श्रपने ही घर—में नहीं रहने पाते

उनकी भूमि छीनी जाती है; उनकी स्वतन्त्रता हरण की जाती है; उन पर तरह तरह के अत्याचार किये जाते हैं; उनसे ज़बरन मज़दूरी कराई जाती है और कराकर भी काफ़ी उजरत नहीं दी जाती। सभ्यशिरोमणियों की सभ्यता की इस लीला का निदर्शन उन्हीं के अनेक देश-भाई, समय समय पर, करते और धिक्कारते आये हैं; पर वह बन्द नहीं होती।

योरप के पिछले महायुद्ध के विषय में अँगरेज़ों की विलायत के वासी लार्ड लोरबर्न ने एक पुस्तक लिखी है। उसका नाम है—How the war came उसमें उन्होंने लिखा है कि योरप के सभ्यताभिमानी और सर्व-श्रेष्ठ ईसाई-धर्म्म के अनुयायी नीतिनिपुणों ने इस युद्ध के कारण योरप के अनेक हरे-भरे भू-भागों को नरक बना दिया; उन्हें श्मशान में परिणत कर दिया; उनमें क़त्ले-आम, लूट, भूख, शोक और विद्वेष का ताण्डव-नृत्य दिखा दिया। अपने ही महादेश—अपने ही योरप—के साथ उनके इस सलूक का विचार कीजिए और फिर अपनी वरिष्ठता, ज्ञान-गरिमा और सभ्यता के सम्बन्ध की उनकी घोषणाओं के मूल्य का निश्चय कीजिए।

अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेंड और दक्षिणी आफ़्रिका में पदार्पण करके योरप के धर्म्म-ध्वजियों ने जो कहर मचाया है उसका रोमाञ्चकारी हाल जानना हो तो विलायत ही के एक अन्यतम सज्जन, पादड़ी ऐंड्रूज़ की लिखी हुई पुस्तक—क्राइस्ट ऐंड लेबर—(Christ and Labor) पढ़ने की कृपा कीजिए। लोभ के वशीभूत होकर योरपवालों ने वहाँ जो अत्याचार किये हैं उनके स्मरण-मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ये अत्याचार वहाँ उन्होंने उन देशों के आदिम निवासियों के ऊपर करके उनमें से बहुतों का वंशनाश तक कर दिया। इस तरह के नृशंस कृत्यों और घटनाओं की उद्‌घाटक एक नहीं अनेक पुस्तकें, आज तक, प्रकाशित हो चुकी हैं।

यही लोग एशिया और आफ़्रिका के निर्बल देशों के निवासियों से शपथपूर्वक कहते हैं—भैया, तुम अभी नादान और ना समझ बच्चे हो। हम तुम्हें सभ्य, सच्चरित्र और सुशिक्षित बनाने आये हैं। अभी तुम शासन करने योग्य नहीं। हमसे सभ्यता सीखो और सुशिक्षा प्राप्त करो। तुम्हें राजकार्य्य-पटु करके हम स्वयं ही अपने घर चले जायँगे। निःसन्देह! मेषमण्डली की रक्षा और उन्नति करने का अधिकारी परम कारुणिक श्रीमान् वृकराज-बहादुर से बढ़ कर और कोई नहीं!

२—भारतीय कृषकों की दुरवस्था।

भारतीय कृषकों के सम्बन्ध में लखनऊ-विश्वविद्यालय में डाक्टर राधाकमल मुकर्जी ने अभी हाल में ही एक महत्त्व-पूर्ण भाषण दिया है। आपके भाषण का कुछ अंश इस प्रकार है—

भारत के देहात की आर्थिक स्थिति अब विकट अवस्था को पहुँच गई है। एक तो कृषकों के हाथ से भूमि निकलती जा रही है और दूसरे यहाँ की खेती का ढङ्ग अवैज्ञानिक है। उधर मज़दूरों-द्वारा खेती कराना अनुयुक्त और ख़र्चीला सिद्ध हुआ है। हाल की मनुष्य-गणना से प्रकट हुआ है कि पञ्जाब, मदरास, संयुक्त-प्रान्त और बङ्गाल में कृषकों और कृषि-मज़दूरों की संख्या में ह्रास हुआ है। यह ह्रास संयुक्त-प्रान्त में १२ प्रतिशतक और बङ्गाल में ५० प्रतिशतक जा पहुँचा है।

कृषकों के हाथ से भूमि निकल कर उन लोगों के हाथ पहुँचती जाती है जो स्वयं खेती नहीं करते और लगान का ही लाभ उठाते हैं। दीन कृषक अपनी भूमि से रहित होकर कृषि-मज़दूर बनते जाते हैं। इनकी बढ़ती हुई संख्या के भरण-पोषण का साधन कृषि के स्थान में मज़दूरी बनता जाता है। और भारत अभी ऐसा औद्योगिक देश नहीं हुआ है जो इनको अपने कारख़ानों में खपा सके। इसके सिवा द्वीपान्तरवास में हाल में ही नई अड़चनें खड़ी कर दी गई हैं। कृषि-मज़दूरों का प्रश्न पञ्जाब, संयुक्त-प्रान्त, बिहार और बङ्गाल में शीघ्रता से विकट रूप धारण करता जा रहा है। इनसे सर्वत्र अधिक समय तक कठिन अवस्थाओं में काम लिया जाता है जिससे इनकी दशा ग़ुलामों जैसी हो जाती है। दक्षिण भारत के पुलिशया और पश्चिमी भारत के दुबला लोगों की दशा अवलोकन करने से हमारे कथन की सत्यता प्रकट हो जाती है।

जर्मनी, हंगरी, यूगोस्लेविया, बल्गेरिया आदि देशों में

क़ानून-द्वारा कृषक की भूमि का क्षेत्रफल निर्दिष्ट रहता है, बड़ी बड़ी रियासतों को तोड़ कर वहाँ की भूमि छोटे छोटे नये नये भूखण्डों में विभाजित करके किसानों को दे दी गई हैं। यह काम या तो भूस्वामी की स्वीकृति या सरकारी अनुमति-पत्र-द्वारा किया गया है। आयर्लैंड और स्काटलैंड में भी उपर्युक्त विधि का अनुकरण किया गया है। जब तक कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता तब तक भारत में भूमिरहित कृषकों की दशा दिन प्रतिदिन विकट होती जायगी। यही नहीं, इनकी भी प्रवृत्ति नगरों के कारख़ानों के मज़दूरों जैसी हो जाने की सम्भावना है। इस परिस्थिति से सामाजिक उथला-पुथल होने का भी भय है और इससे हमारी आर्थिक स्थिति को घोर बाधा पहुँच सकती है। अतएव इसको सुधारने के लिए साहस-पूर्ण तथा रचनात्मक राजनीतिज्ञता की आवश्यकता है। वैज्ञानिक ढङ्ग की कृषि से बहुत कुछ लाभ हो सकता है, परन्तु यह आर्थिक सङ्कट तब तक रोका नहीं जा सकता जब तक भूमि के विभाजन और कृषकों की अधिकृत भूमि के सम्बन्ध में कोई नई योजना का प्रयोग नहीं होता।

३—विलायत में पार्लियामेंट का नया चुनाव।

हाल में ही पार्लियामेंट का नया चुनाव हुआ है। इससे एक नई समस्या उठ खड़ी हुई है। इस ओर अनेक विचारवानों का ध्यान गया है। इसी सम्बन्ध में रिव्यू आव् रिव्यूज़ में एक लेख प्रकाशित हुआ है। उससे विलायत की वर्तमान राजनैतिक समस्या बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। उसी का आशय आगे दिया जाता है—

दूरदर्शिता राजनीति का मूल है। दूरदर्शिता के लिए निश्चित विचार, दल का स्वार्थ, व्यक्तिगत अभिमान या मुख्य हित जैसी विक्षोभ उत्पन्न करनेवाली बातों से स्वतन्त्र होने की आवश्यकता है। पिछले कुछ वर्षों से ब्रिटिश-सरकार के शासक-मण्डल के राजनीतिज्ञों में दूरदर्शिता का अभाव रहा है, इसी लिए वे नेतृत्व के पद से भी वञ्चित रहे। युद्ध-काल में मिस्टर लायडजार्ज में उच्च कोटि की दूरदर्शिता थी। उन्हें प्रकट हो गया था कि विजय के बिना निस्तार नहीं है। परन्तु शान्ति-स्थापना के बाद ही वे नेतृत्व के पद से गिर गये, क्योंकि उनके चित्त की एकाग्रता नष्ट हो गई थी। लार्ड ग्रे अपनी दूरदर्शिता का परिचय सन् १९०६ से १९१४ तक समय समय पर बराबर देते रहे। परन्तु युद्ध के प्रारम्भ होते ही उस पर पर्दा सा पड़ गया। हाँ, अब वह फिर अपने अस्तित्व का परिचय देने लगी है। यूनाइटेड-स्टेट्स से लौट आने के बाद जब से उन्होंने लीग आव् नेशंस के आदर्श के समर्थन का बीड़ा उठाया है तब से वह फिर प्रकट हुई है। मिस्टर बोनरला की शक्तियाँ अस्वस्थता के कारण पहले ही नष्ट हो गई थीं, अवसर आने पर उनका वे उपयोग ही न कर सके। परन्तु कम से कम उन्होंने अपनी दूरदर्शिता तथा नेता बनने की योग्यता का परिचय दे दिया है। गत वर्ष के आक्टोबर में कार्लटन क्लब की सभा में उनकी प्रतिभा का परिचय मिला था। उसी समय संयुक्त-मन्त्रि-मण्डल भङ्ग हुआ था और मिस्टर ला के दल को विजय प्राप्त हुई थी। प्रतिनिधि-संस्थाओं और राजनैतिक उन्नति के पक्ष की सेवा उन्होंने न्यायसङ्गत उपायों से अपने प्राण होम कर की है। उनकी वह सेवा अपरिमित हुई होती, यदि उनके उत्तराधिकारी मिस्टर बालडविन की राजनैतिक चालें लोगों की निगाह में दलबन्दी की चालें न जँचतीं। इन्हीं के कारण पार्लियामेंट का यह नया चुनाव हुआ है। और इस चुनाव के लिए देश बिलकुल तैयार नहीं था।

ऐसे चुनाव का परिणाम विचारवानों को पहले ही मालूम हो गया था। चुनाव की चाल को समझ कर राष्ट्र ने अपने रोष का परिचय दिया। मिस्टर बाल्डविन एक सच्चे आदमी हैं। परन्तु वे दोनों हाथों से नहीं खा सकते। २५ वीं आक्टोबर के प्लीमथवाले भाषण में या तो उन्होंने अपने हृदय की सच्ची बातें कही हैं या उसमें राजनीति की कोई चाल छिपी हुई है। यदि उनके भाषण का यह उद्देश रहा हो कि कुछ दिनों के भीतर पार्लियामेंट को भङ्ग करनेवाला उनका निश्चित विचार उससे छिप जाय तो यह उनकी सरासर भूल थी। वह काम वैसा ही भ्रमपूर्ण था जैसा उस संयुक्त-मन्त्रि-मण्डल का कोई काम जिसे अधिकारच्युत करने में उनका भी हाथ था। परन्तु यदि उनका भाषण परिस्थिति की एक स्पष्ट घोषणा थी तो उसके परिणाम से यह सिद्ध

होता है कि मिस्टर बाल्डविन व्यर्थ स्कीम बनानेवालों के शिकार हुए हैं।

मिस्टर बाल्डविन की पराजय में एक बात प्रशंसनीय हुई है। पिछली सरकार में सचाई का अभाव सिद्ध हो जाने पर देश ने उसे पदच्युत किया था। तेरह महीनों के भीतर ही उसने अब अनुदार-दल की सरकार को निकाल बाहर किया है, क्योंकि इस सरकार ने टेढ़ी-मेढ़ी राह को सीधी राह बतलाने का प्रयत्न किया था। राजनैतिक सचाई के प्रति देश का कितना अनुराग है, यह उसकी इन बातों से सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाय कि अनुदार-दल की सरकार की हार मुक्तद्वार-वाणिज्य-नीति के कारण हुई है तो उसका उत्तर यह है। यदि मिस्टर बाल्डविन ने अपने प्लीमथवाले भाषण के अनुसार कार्य किया होता, यदि उस दशा में उन पर अनुचित आक्षेप किये जाते और वे पहले से ही भले प्रकार बतलाई हुई अपनी निश्चित बात को आगे रख कर देश से अपील करते तो वोटरों का निर्णय कुछ और ही होता। यदि अनुचित विदेशी प्रतियोगिता से राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों की रक्षा करनी थी तो उसके उपायों की बात सुनने के लिए अनेक उदार-दलवाले उस समय भी तैयार थे और इस समय भी हैं। परन्तु अनेक संयत विचारवाले अनुदार-दलवालों की भाँति ये लोग एक ऐसे विधान के विरुद्ध या पक्ष में भाग लेने के लिए तैयार नहीं हुए जिसे ये लोग या सरकार भी नहीं जानती थी कि भविष्य में उसका कैसा स्वरूप होगा। जब मिस्टर बाल्डविन ने अपना प्रश्न छेड़ा तब ये या तो निरपेक्ष हो गये या इन्होंने उनके विरुद्ध मत दिया। उनकी पराजय इन निरपेक्ष या संयत विचारवाले वोटरों के कारण हुई जिन्होंने पिछले साल मिस्टर बोनर ला को सहायता दी थी। इस बार इन लोगों ने मिस्टर बाल्डविन का साथ नहीं दिया और उन लोगों ने भी साथ छोड़ दिया या निरपेक्षता ग्रहण करली जो उनकी जल्दबाज़ी से रुष्ट हो गये।

मिस्टर बाल्डविन ने प्लीमथ में कहा था कि मिस्टर बोनर ला की प्रतिज्ञा के भीतर रहते हुए अर्थात् पिछली पार्लियामेंट के जीवनकाल में देश के आर्थिक प्रबन्ध में कोई मौलिक परिवर्तन न कर विदेशी प्रतियोगिता के विरुद्ध ब्रिटिश-उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिए सरकार अपने अधिकार भर सभी उपाय करने का विचार करती है और यदि इस व्यवस्था से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा के भङ्ग करने की चुनौती दी जायगी तो इस सम्बन्ध में देश का मत लिया जायगा।

राजनीति में चुनौती से क्या मतलब है? विरुद्ध पक्ष के अख़बारों के लेख या नेताओं के भाषण ही वास्तविक चुनौती नहीं माने जाते। कोई भी प्रधान मन्त्री इस बात की आशा नहीं कर सकता कि उसके सभी विरोधी उससे सहमत होंगे। राजनैतिक चुनौती का मतलब यह है कि देश में और हाउस आव् कामन्स में इस प्रकार का सङ्गठित तथा प्रभावपूर्ण विरोध खड़ा हो जाय जो पार्लियामेंट के बहुमत को अपना कार्यक्रम पूरा न करने दे। पर ऐसी कोई चुनौती नहीं दी गई थी। पार्लियामेंट की १३ वीं नवम्बर की बैठक होने के पहले ही पार्लियामेंट के भङ्ग किये जाने की घोषणा करके मिस्टर बाल्डविन ने चुनौती के लिए स्थान तक न रहने दिया था। अपने परामर्श-दाताओं के परामर्श के अनुसार उन्होंने एकाएक आर्थिक प्रश्न उपस्थित कर दिया, जो दलबन्दी के भावों का द्योतक था। जिन परिस्थितियों में देश ने पिछले वर्ष अनुदार-दल को बहुमत दिया था और उस दल के नेता को नेता ही नहीं बरन उसे अपना ट्रस्टी बनाया था, यह बात वे भूल गये थे। जब किसी सरकार का बहुमत है वोटरों की सहायता से होता है तब उसकी स्थिति वैसी ही नहीं रहती जैसी दिये गये वोटों के संख्याधिक्य से होती है। वह देश का ट्रस्टी ही रहती है। जो साधन ट्रस्टियों के हाथ में रहते हैं उन्हीं को लेकर वे अपना दाँव लगाते हैं। मिस्टर बाल्डविन भी दाँव लगाने के लिए प्रोत्साहित किये गये—और उन्हें तथा उन्हें प्रोत्साहन देने-वालों को समुचित दण्ड भी मिल गया है।

यद्यपि इस चुनाव ने आर्थिक प्रश्न के मामले को बिगाड़ दिया है तो भी उसके सम्बन्ध में एक बात कहनी है। अपने राष्ट्रीय उद्योग-धन्धे या राष्ट्रीय व्यवसाय को असली और साफ़ दिखाई देनेवाले ख़तरे में पड़ते देख कर कोई भी सरकार अपना बहुमत रखते हुए—चाहे वह अनुदार-दल, उदार-दल,

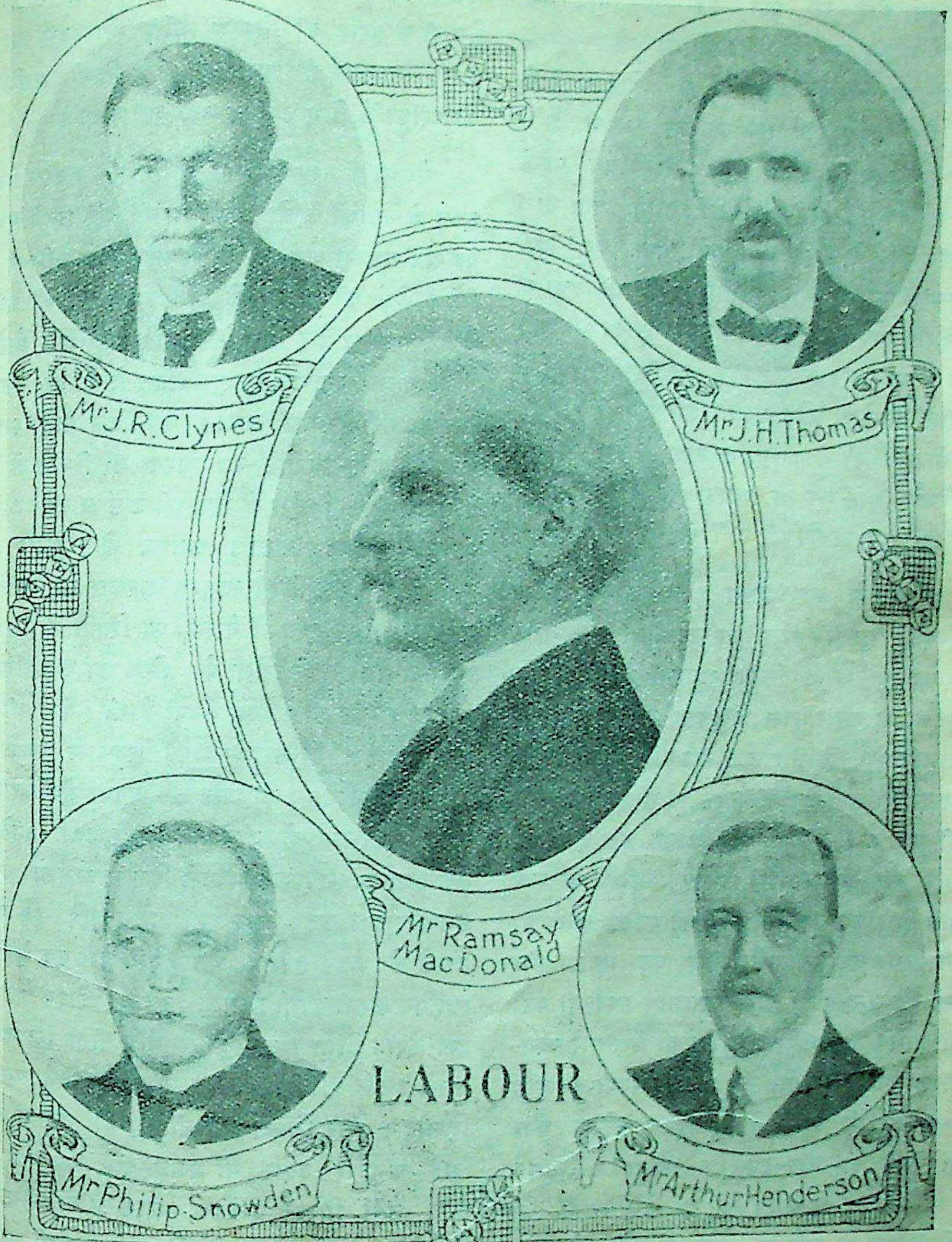
Mr J.R. Clynes
Mr J.H. Thomas
Mr Ramsay MacDonald
LABOUR
Mr Philip Snowden
Mr Arthur Henderson

लेबरदल।

जे० आर० क्लिनेस। जे० एच० टामस।

राम्से मैकडोनल्ड।

फिलिप स्नोडेन। आर्थर हेंडर्सन।

मज़दूर-दल या कोई भी दल हो—चुप नहीं रह सकती है और न उस ख़तरे के कारणों को नष्ट करनेवाले विधानों या विशेष प्रतिबन्धों का प्रयोग करने से कभी पीछे पैर रखने की हिम्मत कर सकती है। यह संरक्षण न हुआ तो क्या हुआ। बीस वर्ष पहले का शक्कर का कर भी इसी नीति से लगाया गया था। मिस्टर लायड जार्ज ने सन् १९०९ में 'पेटेंट एक्ट्' इसी उद्देश से पास किया था और उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिए जो विधान बाद को बनाया गया था उसका भी यही मतलब था। पर बात यह है कि जब मामला साफ़ रहता है तब अँगरेज़ लोग कभी विरोध नहीं करते। लेकिन इसके साथ ही वे सिद्धान्तिक या असिद्ध कल्पनाओं पर निर्भर मुक्त-द्वार या संरक्षण के किसी अर्थ-नीति-सम्बन्धी आडम्बर को भी नहीं पसन्द कर सकते।

परन्तु भविष्य में क्या होगा? बेकारी के जिस प्रश्न पर पिछला चुनाव हुआ था वह जैसा का तैसा पड़ा रहा। वह हल नहीं किया गया। युद्ध के बाद युद्ध की यह हमारी बुरी मीरास है। यह वह रोग है जो समाज और राष्ट्र को भयभीत कर रहा है। राजनीतिज्ञ और अर्थ-शास्त्री लाख कहा करें, पर अभी तक इसका निदान नहीं हुआ है। इसका एक कारण इस देश पर कर का भारी बोझ है। दूसरा कारण यह है कि रूस तथा योरपीय देशों की ख़रीद करने की शक्ति क्षीण हो गई, जिससे संसार का व्यवसाय मन्द पड़ गया। और व्यवसाय की यह मन्दता तो उन व्यवसाय-सम्बन्धी करों से और भी अधिक बढ़ गई है जो विदेशों में हमारे व्यवसाय के विरुद्ध लगाये गये हैं। देश में जन-संख्या की वृद्धि और देशान्तरवास के मार्ग में यूनाइटेड स्टेटस् और ब्रिटिश-उपनिवेशों का विघ्न उपस्थित करना भी इसके कारण हैं। योरप के विनिमय की दर के गिर जाने से विदेशी प्रतियोगिता को सुविधा मिल गई। जिस प्रकार इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का एक यह कारण है उसी प्रकार जर्मनी के गड़बड़ और फ़रासीसियों के रूर पर अधिकार कर लेने का प्रभाव है। परन्तु इनके सिवा ब्रिटिश-कृषकों का देहात छोड़ कर शहरों में जाकर बसना भी कुछ कम महत्त्व-पूर्ण कारण नहीं है। निस्सन्देह यही सब बातें बेकारी का कारण हैं और इनकी जटिलता के ही कारण बेकारी के प्रश्न की निष्पक्ष जाँच और उस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। वह किसी आर्थिक नीति की परीक्षा के लिए उपयुक्त नहीं रह जाता।

बेकारी के सम्बन्ध में चुनाव के अवसर पर सभी दलों के नेताओं ने जो बातें कही थीं उनमें एक बात पर सब सहमत थे। सभी ने यह बात स्वीकार की थी कि अँगरेज़ों की बेकारी के प्रश्न का योरप की अवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि योरप फिर सुस्थिर और सम्पन्न हो जाय तो व्यापार के पुनर्जाग्रत होते ही बेकारी की अवस्था पर अनुकूल प्रभाव पड़े। यह बात स्पष्ट है कि प्रत्येक ब्रिटिश-सरकार का योरप की स्थिति से सामना होगा और अपने देश के हित की दृष्टि से उसे उसके साथ व्यवहार करना पड़ेगा। अतएव कोई दूसरा शीघ्रतम चुनाव हुए बिना किसी स्वतन्त्र सरकार का बनना असम्भव है। ऐसी दशा में योरप की स्थिति को सुधारने के लिए सभी दल के लोगों को मिल का एक उचित और सुसङ्गत स्कीम की रचना करनी होगी। कोई भी विचारवान् अब इस विचार को अपने हृदय में जगह न दे कि हम लोग योरप की ओर से अपना मुँह फेर लें और उसे अपनी राख के नीचे तब तक सुलगते रहने दें जब तक हवा का कोई झोंका उसे फिर न भभका दे, जिससे हम सब जल कर भस्म हो जायँ। यदि हमें योरप के मसले को अपने हाथ में लेना है तो हमें एक ऐसी सरकार स्थापित करनी होगी जिसका उद्देश योरप का मसला हल करना होगा। उसका समर्थन तीनों दल करते हों, उसमें उनके प्रतिनिधि हों। उसका प्रधान मन्त्री कोई ज़िम्मेदार और निपुण राजनीतिज्ञ ही बनाया जाय, वह चाहे अनुदार, उदार या मज़दूर-दल का क्यों न हो। लार्ड डर्बी, मिस्टर एस्क्वीथ, लार्ड ग्रे या मिस्टर रामसे मेक्डानल पर्याप्त सहायता मिलने पर ऐसी सरकार के मन्त्री-पद के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। और इनमें भी लोग लार्ड ग्रे को सबसे अधिक पसन्द करेंगे। दल विशेष के नेताओं तथा दूसरे प्रसिद्ध व्यक्तियों से परामर्श करने के बाद बादशाह अपने अधिकारों का उपयोग कर यह निर्णय कर सकते हैं। परन्तु जिस किसी को ऐसे

UNIONIST
Lord Birkenhead
Sir Robert Horne
Mr Baldwin
Mr Neville Chamberlain
Mr Austen Chamberlain

यूनियनिस्ट-दल।

लार्ड बर्कनहेड। सर राबर्ट हार्न।

मिस्टर बाल्डविन।

नेविल चैम्बरलेन। आस्टीन चैम्बरलेन।

सरकार बनाने को कहा जायगा और जो अपने प्रयत्न में सफल होगा उसे एक ओर बाहर के भयङ्कर कार्य से मोर्चा लेना पड़ेगा, दूसरी ओर घर में उस पर कड़ी निगाह रक्खी जायगी।

इस प्रकार जिस सरकार की रचना होगी वह अवश्य ही रोक का काम देगी। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उसके कार्य भी बाधा डालनेवाले होंगे। यदि योरप मसला हल करने में उसे सफलता मिल सकी या कम से कम उसके लिए उसने क्षेत्र का ही निर्माण कर दिया तो सभी दल, जो कार्य में प्रत्यक्ष भाग लेकर या परोक्ष रूप से सलाह या उत्साह देकर उसकी सहायता करेंगे, समान रूप से यश के भागी होंगे। सचमुच कोई एक दल सारे यश का दावा नहीं कर सकेगा। राष्ट्र के इतिहास के इस सङ्कट पर जो दल एक सर्व-सम्मत विचार का विरोध करेगा वह मूर्खता करेगा। भले ही लोग कहा करें कि मज़दूर-दल के कुछ सिद्धान्त भ्रमपूर्ण हैं, परन्तु उन्हें उनकी देश-भक्ति पर सन्देह करने का अधिकार नहीं है। पिछले महायुद्ध में उसके अनुयायियों के एक विशाल-दल ने देश के लिए बहुत कुछ कर दिखलाया है। इसके सिवा ग्रेट ब्रिटेन और योरप के हित के विचार से यह बात अत्यधिक आवश्यक है कि योरप के सुधार के प्रति इस देश के भाव का अर्थ बाहर कुछ का कुछ न लिया जाय। उदाहरण के लिए अनुदार-दल की पराजय से जर्मन लोग आनन्द मना रहे हैं। वे समझते हैं कि उदार या मज़दूर-दल की सरकार के साथ फ़्रांस की वैसी गहरी मित्रता नहीं रहेगी। इसके सिवा यह हमारे साथ अधिक रियायत करेगी। उधर फ़्रांस अलग प्रसन्न हो रहा है, क्योंकि बाल्डविन की पराजय से विदेशी माल पर कर लगाने का प्रस्ताव गिर गया। यदि फ़्रांस, जर्मनी, इटली, बेलजियम, जुगोस्लेविया आदि राज्य यह बात जान जायँ कि अगली छमाही तक अधिकारारूढ़ कोई ब्रिटिश-सरकार वैदेशिक नीति में अपने सच्चे राष्ट्रीय मत को ही प्रकट करती है; यदि वैदेशिक नीति, जो पहले से भी अधिक राष्ट्र का मुख्य कार्य बन गई है, दलबन्दी के झमेले से एक बार फिर अलग कर दी जाय तो ग्रेट ब्रिटेन संसार पर अपने न्यायानुकूल प्रभाव का कुछ अंश फिर प्राप्त कर सकता है, उसे वह नेतृत्व फिर उपलब्ध हो सकता है जिसे राजनीतिज्ञों ने पेरिस की सन्धि-सभा में क्षणिक-सन्धि सिद्धान्तों की अवहेलना कर गँवा दिया है।

जब मिस्टर लायड जार्ज और जनरल स्मट ने हरजा की रक़म में पेंशन की मद भी शामिल करली थी समय से लेकर सन् १९२२ के अगस्त की बालफ़ोर विज्ञप्ति और इस वर्ष के अगस्त की कर्ज़न की विज्ञप्ति समय तक इस देश का नैतिक प्रभाव बाहर घट रहा है। जिन भूलों के कारण यह अवस्था उपस्थि हुई वे शोचनीय हैं। परन्तु इस समय यह अधि आवश्यक है कि हम अपनी मर्यादा फिर प्राप्त करें इसके लिए उच्च भावना और गम्भीर विचार से का क्षेत्र में अवतीर्ण हों। यदि यह देश आगामी कुछ महीनों के भीतर ऐसा ही कोई कार्य अपने हाथों में लेगा तो अगले कुछ वर्षों के भीतर ही योरप में दूसरे की घोषणा हो जाना अनिवार्य है। इस युद्ध के परिणा योरपीय सभ्यता के लिए भयङ्कर सिद्ध होंगे। यह भी स्पष्ट है कि ऐसे कार्य के श्रीगणेश की आशा यू इटेड स्टेटस् से नहीं है। यह बात नहीं है कि यूनाइ स्टेटस् के निवासी अपनी धुन के होते हैं, किन्तु संसार नेतृत्व ग्रहण करने के लिए उनके मार्ग में भौगोलिक बाधक है और उनको योरपीय मामलों का ज्ञान भी है। फ़्रांस के पोआंकारे योरप का नेतृत्व नहीं ग्रहण सकते। क्योंकि फ़्रांसवासी योरप को बलपूर्वक वश रखने के भाव से धीरे धीरे भयभीत होने लगेंगे। एक इँग्लेंड ही नेतृत्व ग्रहण कर सकता है। यह काम अपने लिए और उसी प्रकार फ़्रांस, जर्मनी, दूसरे छोटे राष्ट्रों तथा अन्त में रूस के लिए भी कर सकता है।

इँग्लेंड योरप को किस ओर लेजाय, हरजाने जटिल और असाध्य प्रश्न की मीमांसा वह कैसे करे, को भलाई का मार्ग कैसे बतावे और जर्मनी न्याय के विचार पर किस प्रकार ले आवे? प्रश्नों के उत्तरों को फ़रासीसियों का बहुमत जर्मनों का विशाल बहुमत स्वीकार कर लेगा, यदि विश्वास हो जाय कि इनका समाधान करनेवाले नियती से व्यवहार करेंगे। वस्तुतः समग्र योरपीय

ी मीमांसा नेकनियती पर ही निर्भर है। ब्रिटिश राज-ीतिज्ञों ने अपने कार्यों से मित्र-देशों तथा भूत-पूर्व शत्रु-शों के विश्वास का उन्मूलन कर दिया है। योरप दल-दल में गिर गया है। उन लोगों की सलाह से वह दलदल में शीघ्रता से धँसता गया जिन्होंने उसके रोग को आर्थिक समझा था और बैंकर के रुक्के से उसका

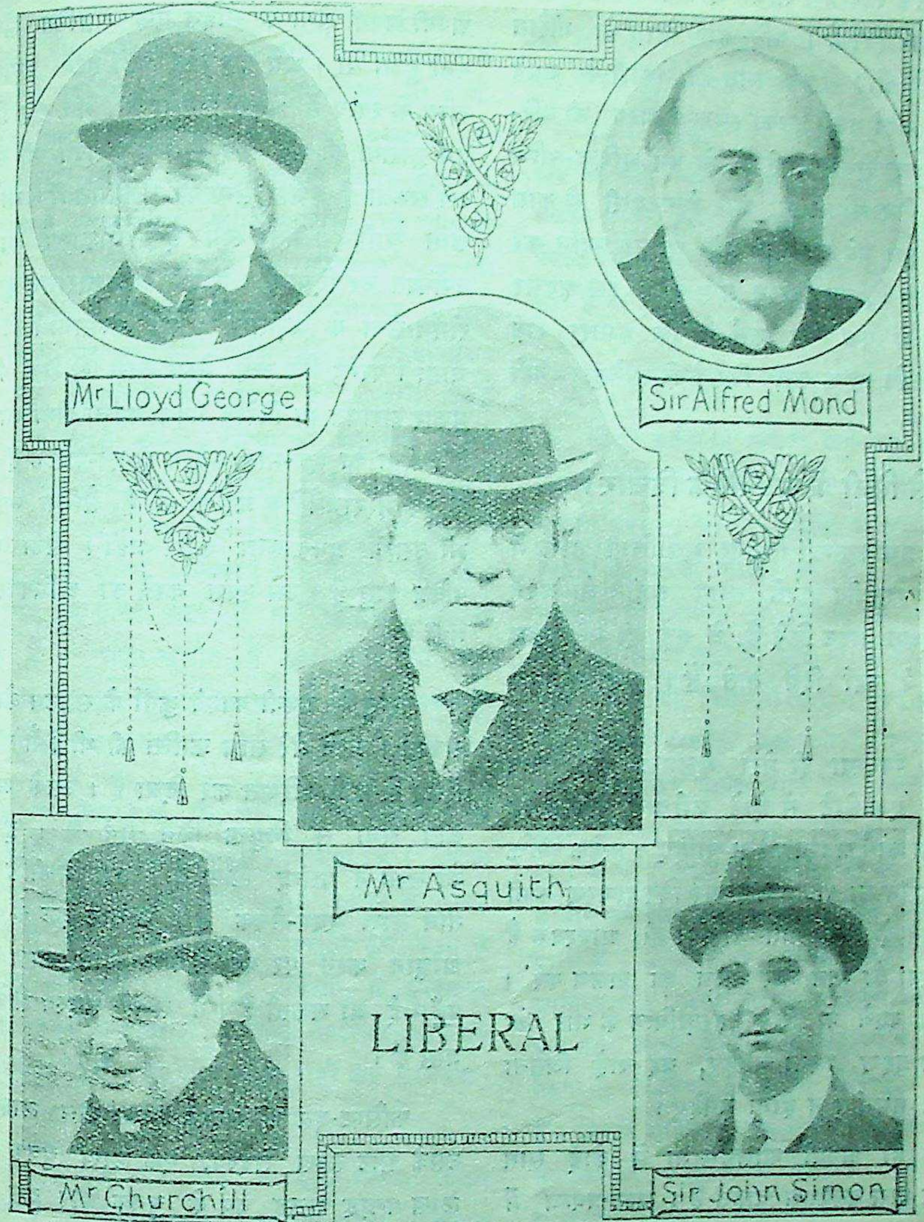
Mr Lloyd George
Sir Alfred Mond
Mr Asquith
LIBERAL
Mr Churchill
Sir John Simon

लिबरल-दल।

लायड जार्ज।

आल्फ्रेड मांड।

मिस्टर एस्क्विथ।

मिस्टर चर्चिल।

सर जान सिमन।

अच्छा हो जाना अनुमान किया था। हरजाने का प्रश्न मुख्यतः राजनैतिक रहा है। साधारण तौर से वह नैतिक और आर्थिक भी रहा है। यदि हम योरप को नीरोग करना चाहते हैं और उसके साथ ही बेकारी के अपने ख़ास रोग से, जहाँ तक उसका सम्बन्ध योरप की परिस्थिति से है, त्राण पाना चाहते हैं तो हमें क्षणिक-सन्धि की स्थिति को फिर लौट जाना और ईमानदारी से काम करना पड़ेगा। इस नये चुनाव ने हमें अवसर प्रदान कर दिया है। सम्भव है, यह फिर न प्राप्त हो। इस अवसर से लाभ उठाने में एक यह शर्त है कि हमारा राष्ट्र निःस्वार्थ दृष्टि को ग्रहण करे, जिसके बिना नेतृत्व नहीं मिल सकता है।

४—मुसोलिनी के राजनैतिक विचार।

इटली के प्रधान मन्त्री सिगनर मुसोलिनी हाल में पेरिस गये थे। बातचीत करते समय उन्होंने जो अपने राजनैतिक सिद्धान्त प्रकट किये हैं वे बड़े ही मनोरञ्जक हैं। संक्षेप में वे यहाँ दिये जाते हैं। मुसोलिनी ने कहा—

कार्य और व्यवस्था ही मेरा मूलमन्त्र है। प्रधान मन्त्री से लेकर एक छोटे से छोटे कर्मचारी तक प्रत्येक व्यक्ति को अपना कार्य अवश्य करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति सरकारी अनुशासन का पालन करे और विरुद्धाचरण कभी ज़रा भी न होने दे। यह बात अत्यन्त ही आवश्यक है कि लोग व्यवस्था को मानें और आज्ञा का पालन करें। देश का शासन करने के लिए उत्तरदायित्व के भार को साहस के साथ ग्रहण करना चाहिए, वह चाहे जितना भारी हो उससे भयभीत न होना चाहिए।

हम शीघ्र ही अपनी शासन-सभा में कोई सात मौलिक क़ानून पास करवाना चाहते हैं। राज्य-प्रबन्ध में सुधार करने की दृष्टि से ही इन नये क़ानूनों की सृष्टि होगी। हमने अपने कार्य का श्रीगणेश कर दिया है। युद्ध-काल में शासन-सभा में बीस मन्त्री और बीस ही अंडर-सेक्रेटरी थे—पूरी फ़ौज थी। परन्तु अब उन सबका काम केवल नौ मन्त्रियों और दो या तीन अंडर-सेक्रेटरियों के द्वारा ही सम्पन्न होता है।

पिछले वर्ष देश का प्रत्येक राजनैतिक दल कुर्ती, लाल कुर्ती, ख़ाकी कुर्ती और सफ़ेद कुर्ती नाम अपनी अपनी सेना के सहित एक सङ्गठित सैन्य-दल बना हुआ था। अब यह बात नहीं होने पायगी। राज्य के स्वत्व में धक्का लगता है। मैंने कह दिया है इन कुर्तियों की अब हद हो गई। राज्य ही सशस्त्र रख सकता है। और सैन्य को राजनीति में कभी भाग लेना चाहिए। मैंने स्वयं इस सिद्धान्त का उदाहर उपस्थित कर दिया है। जब मैं अधिकारारूढ़ हुआ था रोमन-सेना के अफ़सरों ने मेरे सम्मानार्थ उत्सव चाहा। परन्तु मैंने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। प्रकार सम्मति या विरोध प्रकट करना सेना का काम है। सेना का एक-मात्र कर्तव्य आज्ञा-पालन है। मैंने के पक्ष में राजनैतिक क्रान्ति की है, सैनिक नहीं और भी उसको अपने साथ लेकर नहीं। सेना एक पवित्र वस्तु है। उसे स्पर्श करने का अधिकार किसी नहीं है।

परन्तु मैं अपनी काली कुर्ती के सङ्गठन को नहीं सकता। उसने मेरे साथ क्रान्ति की थी। मैंने उसे मि शिया सेना में परिणत कर दिया है। उसके अफ़सर रा कीय सेना से नियुक्त किये गये हैं। इस व्यव को सभी ने पसन्द किया है। इस मिलीशिया सेना तीन लाख स्वयं-सेवक हैं। फ़ैसिस्ट-दल के सदस्यों आह्वान करने पर यह संख्या आठ लाख तक पहुँचाई जा सकती है। ये सभी सदस्य सैनिक शि प्राप्त हैं।

फ़ैसिस्ट-दल की सदस्य-संख्या बीस लाख है। उसके आठ लाख सदस्य, एक लाख युवक सदस्य, लाख पन्द्रह पन्द्रह वर्ष के युवक और दस लाख यूनियन के कर्मचारी शामिल हैं। ऐसे विशाल सङ्गठन प्रबन्ध में तरह तरह के प्रश्न अवश्य उठ खड़े होते पर ये जटिल नहीं होते। इनका सम्बन्ध व्यक्तिगत है। उदाहरण के लिए किसी की किसी पद पर नियु जब फ़ैसिस्ट-दल की कार्यकारिणी सभा और सेक्रेटरी-जनरल ने त्याग-पत्र दिये थे तब कोई विशेष अवस्था

उपस्थित हो गई थी । मैंने सभा से पद-त्याग करने के लिए कहा और उसने त्यागपत्र दे दिया ।

परम्परा और धर्म का भी सम्मान करना आवश्यक है । जो जाति धार्मिक होगी वह सदाचारपूर्ण भी होगी और यदि वह सदाचारपूर्ण होगी तो बलवान् भी होगी । इटली कैथोलिक-सम्प्रदाय-प्रधान ईसाई-देश है । मैंने प्रारम्भिक शालाओं में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था कर दी है । स्कूलों में पढ़ाई का श्रीगणेश 'प्रभु की प्रार्थना' से होता है और उसकी समाप्ति 'गास्पेल' के पाठ से । यह शिक्षा उन पादड़ियों या शिक्षकों-द्वारा कैथोलिक-सम्प्रदाय की शिक्षाओं के अनुकूल दी जायगी जिन्हें धर्म-मण्डल स्वीकार करेगा । शिक्षा की व्यवस्था में मैंने और भी सुधार किये हैं । मैं चाहता हूँ कि नार्मल-स्कूलों के सभी शिक्षक लैटिन पढ़ जायँ । मध्यवर्ती शिक्षा-क्रम में लैटिन और ग्रीक पढ़ना अनिवार्य कर दिया गया है । देश के लिए इन दोनों भाषाओं का सीखना नितान्त आवश्यक है । चरित्र-सुधार में इन दोनों का बड़ा प्रभाव पड़ता है । हाँ, औद्योगिक स्कूलों में इस व्यवस्था का प्रवर्तन नहीं किया गया है ।

कर्फ़्यू की घटना के जो परिणाम निकले हैं उनके लिए मैं अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ । उसका प्रश्न हल हो गया । मैं उसे लीग आव् नेशन्स के समक्ष उपस्थित नहीं करना चाहता था । क्योंकि इस सभा ने छोटे राज्यों को बड़े राज्यों के हितों में हस्तक्षेप, विवाद और उनके सम्बन्ध में व्यवस्था उपस्थित करने का अधिकार दे दिया है । तो भी उसमें राष्ट्रों का पुरोहिताधिपत्य है ।

रूर के मामले में फ़्रांस ने पूर्ण नैतिक विजय प्राप्त किया है । मेशियो पोआंकारे को भी इससे व्यक्तिगत बड़ी भारी सफलता प्राप्त हुई है । युद्ध के हरजाने के सम्बन्ध में मेरा मत पहले जैसा ही है, उसमें परिवर्तन नहीं हुआ है । उसका ऋणों की व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध है । हम लोग जर्मनी पर तभी दया कर सकते हैं जब हमारे महाजन हम पर दया करें । इस दृष्टि के सिवा यदि हरजाने पर किसी दूसरी दृष्टि से विचार किया जायगा तो वह नहीं स्वीकृत होगा । हमसे ऋण न वसूल किये जाने या उसके परिमाण में बहुत अधिक कमी की जाने पर ही हम जर्मनी के हरजाने की रक़म में कमी कर सकते हैं, न्याय की भी यही बात है ।

हमारी सरकार का पोप से आदरपूर्ण सम्बन्ध है । पोप की उपेक्षा करने में बड़ी भयङ्कर भूल होगी । एक तो उनका प्रभाव दो हज़ार वर्ष पुराना है । दूसरे वह चालीस करोड़ लोगों पर नित्य प्रति इस समय भी बढ़ता ही जा रहा है ।

५—जातीय भाषा और साहित्य ।

किसी जाति का स्वतन्त्र अस्तित्व है या नहीं, यह जानने के लिए हमें उस जाति के उद्योग-धन्धों को नहीं देखना पड़ेगा । आर्थिक उन्नति से जाति की समृद्धि बढ़ सकती है, उसकी क्षमता की वृद्धि हो सकती है, परन्तु उसकी उस विशेषता की, जिससे वह अपने अस्तित्व को चिरन्तन कर सकती है, पुष्टि उससे नहीं हो सकती है । यदि उसकी यह विशेषता लुप्त होजाय तो कहना चाहिए कि जाति की मर्यादा नष्ट होगई, उसका गौरव जाता रहा । इसीलिए प्रत्येक जाति अपने जातीय भावों की रक्षा करने के लिए सदैव सचेष्ट रहती है । जातीय भावों की रक्षा के लिए जातीय साहित्य की सृष्टि की जाती है और जातीय साहित्य की वृद्धि जातीय भाषा की पुष्टि से होती है । भारतवर्ष में जातीय जागृति के साथ जातीय साहित्य और भाषा की ओर विद्वानों का ध्यान गया है । अब प्रायः सभी विचारशील विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रीय भाषा हो सकती है । हिन्दी भाषा का प्रचार करने के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने बड़ा प्रयत्न किया है । मद्रास में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का विशेष अधिवेशन होना उसके सौभाग्य का सूचक है । इस अधिवेशन के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी चुने गये थे । उनका पूरा भाषण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की पत्रिका में प्रकाशित हुआ है । जातीयता के साथ साहित्य का क्या सम्बन्ध है, इसकी आपने बड़ी अच्छी विवेचना की है । आगे उसका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

"समस्त संसार के भिन्न भिन्न राष्ट्रों और जातियों के इतिहास देखने से मालूम हो जाता है कि राष्ट्रीयता का भाषा और साहित्य के साथ बहुत ही घनिष्ठ और गहरा सम्बन्ध है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि राष्ट्रीयता और जातीयता के अङ्गों में सबसे अधिक आवश्यक अंग एकता है, और वह एकता किसी विषय-विशेष में नहीं; वरन् वह एकता, जितनी व्यापक होगी, उतनी ही राष्ट्रीयता में स्थिरता होगी और वह शक्तिशाली होगी। भावों की एकता अन्य सब प्रकार की एकताओं का मूल है और यह भावों की एकता तभी हो सकती है, जब वे विभिन्न व्यक्ति, जिनके द्वारा राष्ट्रीयता का निर्माण होता है, अपने भावों को एक दूसरे पर व्यक्त कर सकें। इस महान् कार्य के लिए एक भाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। साहित्य क्या है? साहित्य मानव-जाति के उच्च से उच्च और सुन्दर से सुन्दर विचारों तथा भावों का वह गुच्छ है, जिसकी बाहरी सुन्दरता और भीतरी सुगन्ध दोनों ही मन को मोह लेते हैं। कोई जाति तब तक बड़ी नहीं हो सकती, जब तक उसके भाव और विचार उन्नत न हों। जब भाव और विचार उन्नत होंगे, तब उनका विकास उस जाति के साहित्य-रूप में ही हो सकता है; इसलिए जाति या राष्ट्र के उत्थान के साथ-साथ उस जाति या राष्ट्र के साहित्य की भी उन्नति और उत्थान होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार साहित्य की अवनति उस जाति के पतन का अटल और अटूट प्रमाण है।"

जातीय साहित्य की सृष्टि जातीय भाषा से हो सकती है। अतएव जातीय भाषा का भी उतना ही महत्त्व है। मातृभाषा के प्रचार के बिना जातीय जागृति नहीं हो सकती है। इस सम्बन्ध में बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने अपने व्याख्यान में आयर्लैंड के एक विद्वान् के कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं। उनसे मातृ-भाषा का गौरव अच्छी तरह प्रकट हो जाता है—वे वाक्य ये हैं:—

"मातृ-भाषा-हीन जाति, जाति नहीं कही जा सकती। मातृ-भाषा की रक्षा देश की सीमा की रक्षा से भी अधिक आवश्यक है। क्योंकि यह पर्वत और नदी से भी अधिक बलवती है। जब तक भाषा आयरिश रहेगी, हृदय और मर्म भी आयरिश रहेगा। यह निश्चय जान रखो, कि आयरिश भाषा-भाषी आयर्लैण्ड सर्वदा स्वतन्त्र रहेगा। क्या तुम जानते हो, कि हमारी मातृ-भाषा क्या है? यह निर्जीव शब्दों का कोष भी है, अपरिचित चिह्नों का भाण्डार भी है, यह जाति के जीवन की साक्षात् मूर्ति है, यह जातीय शक्ति की वह प्रतिमा है जो जाति के विचारों को और उसके हृदय-स्थित भावों को सुरक्षित रख कर उन्हें दूसरों पर प्रकट करती है। हमारे इतिहास, विचार और प्राचीन साहित्य-भाण्डार की यह कुञ्जी है। इससे भी अधिक यह उस प्रभावशाली साहित्य का दिग्दर्शन कराती है, जो माननीय विचार और प्रबल वासनाओं से परिपूर्ण हैं। हा! उसी को हम भुलाना चाहते हैं! वास्तव में, आयर्लैंड का भावी साहित्यिक और मानसिक गौरव मातृ-भाषा के भविष्य पर ही निर्भर है।"

खेद है कि अभी हमारे देश में ऐसे लोगों का अभाव नहीं है जो मातृभाषा का महत्त्व ही नहीं समझ सकते। जो मातृभाषा के प्रेमी कहे जाते हैं वे भी उसकी सेवा में कम ध्यान देते हैं। यदि हिन्दी के सभी शुभ-चिन्तकों की शुभ कामनायें कार्य-रूप में परिणत हो जायँ तो हिन्दी-साहित्य की भी उन्नति होजाय।

पुस्तक-परिचय

(१) गुजराती की पुस्तकें—१—महात्मा टाल्स्टाय बड़े आकार की बड़ी पुस्तक है। अच्छे काग़ज़ पर छपी है। ऊपर सुन्दर जिल्द है। पृष्ठ-संख्या ६०० से भी अधिक है। मूल्य सिर्फ़ २॥) है। प्रकाशक है—सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्य्यालय, अहमदाबाद और बम्बई। रूस के विश्वविश्रुत महात्मा टाल्स्टाय का नाम और यश हिन्दी-भाषा के पुस्तकप्रेमियों से छिपा नहीं। उनके चरित से सम्बन्ध रखनेवाली कितनी ही पुस्तकें आज तक हिन्दी में निकल चुकी हैं। पर उनमें से एक भी इतनी विस्तृत नहीं। इस चरित के मूल लेखक हैं पण्डित प्रभाकर श्रीपति मिसे। उनकी पुस्तक मराठी में है। गुजराती भाषा की यह प्रस्तुत पुस्तक उसी का अनुवाद है। मूल में कुछ अल्प-स्वल्प आवश्यक फेर फार करके इसे श्रीयुत गोवर्धनदास कहानदास अमीन ने लिखा है। इसमें २७ प्रकरण हैं। आरम्भ के कुछ प्रकरणों से प्रकट है कि रूस का यह ज़मींदार, अर्थात् कौंट टाल्स्टाय, पहले अत्यन्त उच्छृङ्खल था। परन्तु पूर्वार्जित संस्कारों की प्रेरणा से वही दुश्चरित्र पुरुष धीरे धीरे देवोपम हो गया। ऐसे असामान्य और सर्वत्यागी पुरुष-रत्न का जीवनचरित पढ़ कर सभी लाभ उठा सकते हैं। इस योगभ्रष्ट आत्मा ने अपने आरम्भिक जीवन का जो चित्र अपने ही हाथ से खींचा है वह इस पुस्तक में भी विद्यमान है। उससे सिद्ध है कि प्रयत्न करने पर मनुष्य कुछ से कुछ हो सकता है; वह दानव से देव बन सकता है। ऐसे महात्मा के अनुकरणीय चरित को सर्व-साधारण के लिए सुलभ करके, सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्य्यालय के सूत्रधार भिक्षु अखण्डानन्द ने बड़ा उपकार किया।

२—कैलास-मानसरोवर-दर्शन—पुस्तक मोटे काग़ज़ पर बड़े टाइप में छपी है। आकार मँझोला है। ऊपर काग़ज़ की पतली जिल्द है। पृष्ठ-संख्या कुछ कम २०० है। मूल्य है १० आने। स्वामी हंस नाम के किसी मराठी-भाषा-भाषी परिव्राजक ने, सन् १९०८ में, कैलास और मानसरोवर के दर्शन करके अपनी यात्रा का हाल अपनी भाषा में लिखा है। उसी का यह अनुवाद है। अनुवादक हैं गिरिजाशङ्कर भवानजी बधेका। नृसिंहप्रसाद कालिदास भट्ट, श्रीदक्षिणामूर्ति-विद्यार्थि-भवन, भावनगर से यह अनुवाद मिल सकता है। पर्य्यटन-विषयक यह पुस्तक यथेष्ट मनोरञ्जक है। "हंस" जी ने अपनी यात्रा का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। कैलास और मानसरोवर के यात्री इसे पढ़ कर मार्ग की कठिनाइयों और दृश्यों आदि का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पुस्तक का विषय प्रकरणों में विभक्त नहीं। यह कमी बहुत खटकनेवाली है।

३—महिला-संसार—मध्यमाकारवाली इस १०० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ८ आने है। कवि कहानजी धर्म्मसिंह, राजकोट, काठियावाड़, से प्राप्त हो सकती है। छपाई और काग़ज़ साधारण है। राजकोट में स्त्री-सुबोधिनी नाम की कोई सभा है। स्त्रियों का सुधार करना उसका उद्देश है। वह अपने उद्देश की पूर्ति के लिए पुस्तकें और लेख लिखाकर प्रकाशित करती है। अपने उद्देश-साधक और भी काम वह करती है। उसी के प्रयत्न से अस्तित्व में आये हुए कुछ लेखों और कविताओं का सङ्ग्रह इस पुस्तक में है। सभी लेख स्त्रियों से सम्बन्ध रखते हैं और शील, सदाचार आदि सद्गुणों की महत्ता के दर्शक हैं। डाक्टर रखमाबाई (एम० डी०) और

सौभाग्यवती माणेकबाई कहानजी कवि ने इस पुस्तक के लेखादि की रचना की है।

४—वीरपसली—छोटे आकार की यह एक छोटी सी पुस्तक है। काग़ज़ चिकना, मोटा और छपाई सुन्दर है। पृष्ठ-संख्या १०४ और मूल्य ६ आने हैं। प्रकाशक, श्रीजीवकोर-वनिताविश्राम, अहमदाबाद, से शायद मिलती है। सभी देशों, प्रान्तों और भाषाओं में स्त्रियाँ और लड़कियाँ कुछ विशेष प्रकार के गीत गाती हैं। वे अपने अपने धर्म्म, रिवाज और सामाजिक रीतियों आदि के द्योतक होते हैं। सरस और सरल भी होते हैं। ऐसे ही बहुत से गीतों का सङ्ग्रह इस पुस्तक में है। गीत ऐसे चुने गये हैं जो दस वर्ष तक की लड़कियों के गाने योग्य हैं। श्रीयुत चन्दुलाल काशीराम दवे ने इनका सङ्ग्रह किया है। ऐसे गीतों का सङ्ग्रह करके, लड़कियों को सिखाने और मनोरञ्जनार्थ उनसे उन्हें गवाने का उद्देश सर्वथा स्तुत्य है। कब, किस मौक़े पर और कैसे ये गीत गाने चाहिए, इसका भी निदर्शन इस पुस्तक में है। गीतों के ताल और मात्रायें भी दे दी ई हैं।

५—जैनधर्मनुं अहिंसातत्त्व—साधुओं और साध्वियों को भेट करने के लिए इस पुस्तिका का प्रकाशन, श्रीआत्मतिलक-ग्रन्थ-सोसायटी, भारत-जैन-विद्यालय, पूना, ने किया है। पृष्ठ-संख्या ३३ है। मूल्य कुछ नहीं। मुनि जिनविजय के एक हिन्दी-लेख का यह अनुवाद है। जैनियों के अहिंसातत्त्व पर कुछ लोग तरह तरह के दोषारोप करते हैं—यह तत्त्व अव्यवहार्य्य है; इसने कापुरुषता बढ़ा दी है; भारत की परावलम्बना का यही कारण है, इत्यादि। इन्हीं आरोपों का निरसन इसमें किया गया है और लिखा गया है कि किसी प्राणी को क्लेश न पहुँचाना ही अहिंसा है। जैनियों ने, ज़रूरत पड़ने पर, शस्त्र धारण करके युद्ध किये हैं, इसके भी उदाहरण दिये गये हैं। लेखक के किये हुए समाधान और तर्क-क्रम युक्तिपूर्ण हैं। पुस्तक के उत्तरार्द्ध में "दयाधर्म्म" पर भी एक निबन्ध है। वह महात्मा गाँधी के एक व्याख्यान का बोधक है। उसमें दयाधर्म्म का बहुत अच्छा विवेचन है।

(२) हिन्दी की पुस्तकें—१—नीति-विज्ञान—लेखक, श्रीयुत बाबू गोवर्धनलाल, एम० ए० बी० एल०, प्रकाशक, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गि. गाँव, बम्बई। मूल्य ३)

हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय ने अच्छी अच्छी पुस्तकें का अनुवाद प्रकाशित कर अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है। अब वह मौलिक ग्रन्थों का भी प्रकाशन करने लगा है। नीति-विज्ञान के लेखक ने अपनी कृति की मौलिकता के लिए उचित ही दावा किया है। इसमें सन्देह नहीं कि आपका ग्रन्थ पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आप अपने विषय के मर्मज्ञ हैं। विचारों में नवीनता न होने पर भी यह कहा जा सकता है कि ये विचार आपके चिन्तन और मनन के फल हैं। अतएव आपकी मौलिकता 'आपके विचारों के नयेपन में नहीं, वरन आपकी स्पष्टता, अध्यवसाय और वर्णित विषय पर स्वयं निश्चय विश्वास रखते और अपने विचारों में तल्लीन हो जाने में है।

नीति-शास्त्र का सम्बन्ध सदाचार से है और सदाचार का कारण है समाज। यदि मनुष्य संसार में अकेला ही रहे तो उसके लिए न कोई सदाचार है और न नीति-शास्त्र की ही आवश्यकता है। दूसरों के साथ उसका किस प्रकार सम्बन्ध होना चाहिए, इसी की विवेचना नीति-शास्त्र करता है। अन्य शास्त्रों और नीति-शास्त्र में भेद यही है कि दूसरे शास्त्र मनुष्य के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं और नीति-शास्त्र उसकी सामाजिकता से। आचार की एकता से ही समाज का सङ्गठन होता है और धर्म आचार की एकता पर ज़ोर देता है। इसी से भिन्न भिन्न धर्मावलम्बियों के समाज भिन्न भिन्न होते हैं। यदि एक ही समाज में भिन्न भिन्न मतावलम्बी रहने लगें तो आचार की एकता नहीं रह सकती। यही कारण है कि नीति-शास्त्र पर मनुष्यों के धार्मिक विचारों का प्राधान्य रहा है। सदाचार के सम्बन्ध में आशङ्का होने से मनुष्य अपने धर्म-शास्त्र को देखता है। धर्म-शास्त्र में सदाचार के जो नियम निर्दिष्ट हैं उन्हीं को मान कर चलने में वह अपना कल्याण समझता है। वह सदाचार को धर्म से पृथक् नहीं देख सकता। इसी से वह इस बात की सम्भावना नहीं कर सकता कि बिना मज़हब के भी सदाचार का अस्तित्व

हो सकता है। यह सच है कि धर्म के नाम से कितने ही दुराचार तक प्रचलित हो गये हैं। परन्तु यह भी सच है कि नीति-शास्त्र के नाम से एक भी सदाचार समाज में प्रचलित नहीं हो सका। धर्म से ही सम्मिलित होकर, धार्मिक अनुशासनों में ही परिगणित होकर, सदाचार सदाचार हो सकता है।

नीति-विज्ञान के लेखक ने मानव-आचार पर वैज्ञानिक विवेचन किया है। उन्होंने भिन्न भिन्न मज़हबों की ख़ूब कड़ी आलोचना की है। अन्त में उन्होंने बतलाया है कि मज़हब और सदाचार का क्षेत्र पृथक् है। परन्तु सदाचार का विकास मज़हब में ही हो सकता है। मनुष्यों की जो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं उनके भी विकास के लिए मज़हब की आवश्यकता है। मज़हब सदैव समाज की एकता पर ध्यान देता है, व्यक्ति-गत भिन्नता पर नहीं। यदि सदाचार का सम्बन्ध मज़हब से छूट जाय तो वह व्यक्तिगत हो जायगा और तब उसमें जो भिन्नता आयगी वह उस भिन्नता से भी अधिक अनिष्टकर होगी जो धर्मों के कारण संसार में फैली है।

हमें हर्ष है कि हिन्दी में अब ऐसे अच्छे विवेचना-पूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन होने लगा। यह उसका सौभाग्य-सूचक है।

२—हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी की दो पुस्तकें—(१) प्रेमपचीसी——छोटी छोटी कहानियाँ लिखने में श्रीयुत प्रेमचन्दजी अनन्वयालङ्कार के उदाहरण हो रहे हैं। हिन्दी के प्रायः सभी प्रसिद्ध पत्रों में आपकी कहानियाँ निकलती रहती हैं। उनकी कहानियों के कई संग्रह निकल चुके हैं। हिन्दी में उनका आदर भी अच्छा हुआ है। यह उनकी नई कहानियों का संग्रह है। इनमें पच्चीस कहानियों का संग्रह है। कहानियाँ मनोरञ्जक तो हैं ही वे भिन्न भिन्न भावों के उद्दीपक भी हैं। भाषा सरल और सुन्दर है। मूल्य २॥।)।

(२) हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी अपनी एक ग्रन्थमाला निकाल रही है। उसमें २५-३० ग्रन्थ गूँथे जा चुके हैं। इसके सिवा वह एक सस्ती ग्रन्थमाला भी प्रकाशित कर रही है। उपयोगी और अलभ्य पुस्तकों को स्वल्प और सुलभ मूल्य में पहुँचाना उस माला का उद्देश है। उसमें ४-५ ग्रन्थ निकल चुके हैं। अब उसने एक नन्द-ग्रन्थमाला निकाली है। उसका दूसरा पुष्प गोस्वामी तुलसीदास रचित **रामचरितमानस** है। इसके सम्पादक बाबू रामदास गौड़ हैं। प्रारम्भ में गोस्वामीजी की जीवनी है और अन्त में शब्द-कोष। पृष्ठ-संख्या ६३५ और मूल्य १) है। छपाई अच्छी है। काग़ज़ की ज़िल्द भी है।

३—साहित्य-सिद्धान्त—लेखक, विद्या-मार्तण्ड पण्डित सीताराम शास्त्री। प्रकाशक, हिन्दी निरुक्त कार्यालय, ब्रह्मचर्याश्रम भिवानी (पञ्जाब)। पृष्ठ-संख्या २८१। मूल्य २)।

इसमें साहित्य-शास्त्र के सभी अङ्गों की विवेचना की गई है। काव्य के लक्षण, गुण, दोष, रस, भाव, अलङ्कार आदि विषयों की विशद व्याख्या की गई है। विषय को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत के कितने ही श्लोक उद्धृत किये गये हैं और हिन्दी में उनकी व्याख्या की गई है।

४—समाज-सङ्गठन——भाषान्तरकार, श्रीयुत छविनाथ पाण्डेय, प्रकाशक भारत बुकडिपो, अलीगढ़। पृष्ठ-संख्या ६२ और मूल्य ॥=) है। प्रकाशक से प्राप्य।

यह पुस्तक बाबू भगवानदास एम० ए० की 'सोशल-रीकन्स्ट्रक्शन' नामक पुस्तक का अनुवाद है। इसमें समाज के सङ्गठन के लिए समाजगत दूषित प्रथाओं के त्याग की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। हिन्दुओं की विवाह-प्रणाली, पर्दा, स्त्रियों की दशा, विधवाओं की दुरवस्था, अछूत, जात-पाँत का भेदभाव, खानपान का विचार और समुद्र-यात्रा आदि बातें लेखक की दृष्टि में हिन्दू-समाज के उत्कर्ष के बाधक हैं। इनके परित्याग का उपदेश तथा उसे देश-काल के अनुरूप लोकोपयोगी बनाने का उपदेश इस पुस्तक में दिया गया है। अनुवाद की भाषा सरल है।

५——हिन्दू-सङ्गठन——लेखक, देवस्वरूप भाई परमानन्दजी। इसका आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या २११ और मूल्य १) है। पता—मैनेजर, हिन्दी आकाशवाणी, लाहौर रोड, लाहौर।

हिन्दू-सङ्गठन पर यह एक अच्छी पुस्तक है। भूतकाल

में हिन्दू-सङ्गठन का कैसा रूप रहा है और समय समय पर उसे सुदृढ़ करने के लिए हिन्दुओं ने क्या उद्योग किया इसकी संक्षिप्त, किन्तु स्पष्ट विवेचना इस पुस्तक में की गई है। हिन्दू-सङ्गठन के सम्बन्ध में लेखक ने जहाँ आर्य-समाज का महत्त्व प्रकट किया है वहाँ देश के दूसरी सस्थाओं की कृति की उपेक्षा की है। परन्तु इस त्रुटि से विषय-विवेचन को बाधा नहीं पहुँचती। पुस्तक समयोपयोगी और पढ़ने योग है।

६—विधवोद्वाह-मीमांसा—लेखक, श्रीयुत बदरीदत्त जोशी, मुरादाबाद हैं। आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या २२६ और मूल्य १।) है।

इस पुस्तक में विधवा-विवाह का मण्डन किया गया है। शास्त्रीय और लौकिक प्रमाणों का यथास्थान सङ्ग्रह कर लेखक ने अपने मत को पुष्ट किया है। विरुद्ध पक्ष की दलीलों का उल्लेख कर उनका भी समुचित खण्डन किया गया है। इस प्रश्न से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी बातों की विवेचना इस पुस्तक में की गई है। समाज-सुधार से प्रेम रखनेवालों के काम की है। गंज, मुरादाबाद के पते पर वैदिक पुस्तकालय के मैनेजर को लिखने से मिल सकती है।

७—रेल से माल भेजने का क़ायदा—लेखक, श्रीयुत रघुनाथ नरसिंह काले हाईकोर्ट वकील (बाम्बे), उज्जैन (सी० आई०) आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या ७+४-१८+६+४८५ और मूल्य ३) है। लेखक से प्राप्य।

यह पुस्तक जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है रेल से माल भेजने आदि से सम्बन्ध रखनेवाले क़ायदों की है। यह अपने ढङ्ग की हिन्दी में एक अच्छी किताब निकली है। जो व्यापारी अँगरेज़ी नहीं जानते और जिनका रेलवे-माल गुदाम से सम्बन्ध रहता है उन्हीं की कठिनाइयों को दृष्टि में रख कर इसकी रचना की गई है। रेल-द्वारा माल मँगाने, उसके छुड़ाने, मार्ग में नष्ट हुए माल-सम्बन्धी झगड़े-झञ्झटों आदि तरह तरह की अनेक बातों के नियम आदि का उल्लेख इसमें किया गया है। भारत की भिन्न भिन्न रेलवे लाइनों-द्वारा माल मँगाने तथा उनके महसूल आदि के क़ानून-क़ायदों का यथास्थान विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। व्यापारियों के काम की पुस्तक है। इसकी हिन्दी अँगरेज़ी मिश्रित है। रेल के बाबू लोग जो अँगरेज़ी मिश्रित हिन्दी बोलते हैं उसी मे यह लिखी गई है। पुस्तक बहुत अशुद्ध छपी है। छः पृ का शुद्धि-पत्र लगाना पड़ा है।

८—सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह—य तीन सौ पच्चीस पृष्ठों की पुस्तक है। इसमें वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र, काव्य आदि शास्त्रों के प्रतिपाद्य पदार्थों के लक्षण संगृहीत किये गये हैं। संग्रहकार हैं—भिक्षु गौरीशङ्कर। इसमें सन्देह नहीं कि आपने यह संग्रह बड़े परिश्रम से तैयार किया है। हिन्दू-शास्त्रों के प्रेमियों के लिए यह बड़े काम की पुस्तक है। भिक्षुजी इस पुस्तक को बिना मूल्य ही सबको भेंट करते हैं। उनकी य उदारता प्रशंसनीय है। आपका पता है—मनभरी देवी, ग्राम पुट्ठी, पोस्ट जमालपुर, ज़िला हिसार।

९—वनलता—हिन्दी में स्त्रियों के लिए क मासिक पत्रिकायें निकल रही हैं। उन्हीं के लिए यह ए नई पत्रिका है। अन्य पत्रिकाओं से इसमें विशेषतायें हैं। पत्रिका में प्रतिमास कविता, कहानी, उपन्यास आदि मनोरञ्जक लेखों के अतिरिक्त सामाजिक विषयों प गम्भीर लेख भी प्रकाशित होते हैं। मनोरञ्जन के साथ साथ ज्ञान-वृद्धि का भी यह अच्छा साधन है। हमें विश्वास है कि इस पत्र से स्त्रियों में सत्साहित्य-प्रेम, विद्यानुराग और सुरुचि की वृद्धि होगी। वार्षिक मूल्य ३॥) है। पता—जैनहोस्टल, इलाहाबाद।

१०—संघ-व्यायाम—लेखक और प्रकाशक श्रीयुत प्रोफ़ेसर माणिकराव, श्रीजुम्मादादा व्यायाम-मन्दिर, बड़ोदा हैं। मूल्य ‒)॥ है।

यह क़वायद की किताब है। इसमें अँगरेज़ी बोलों के स्थान में हिन्दी बोलों का प्रयोग किया गया है। यह इसकी पाँचवीं आवृत्ति है। स्वयंसेवक संस्थाओं और छोटे स्कूलों में हिन्दी बोलों-द्वारा क़वायद सिखलाने के काम की है।

———

Printed and published by K. Mittra at The Indian Press, Ltd , Allahabad.

सचित्र मासिक पत्रिका

भाग २५, खण्ड १] मार्च १९२४—फाल्गुन १९८० [संख्या ३, पूर्ण संख्या २६१

शिशु ।

(१)

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ?
अये अभिनव, अभिराम !

मृदुलता ही है बस आकार,
मधुरिमा—छवि, शृङ्गार;
न अङ्गों में है रङ्ग, उभार,
न मृदु-उर में उद्गार;

निरे सांसों के से सञ्चार !
कौन हो तुम अकलङ्क, अकाम ?

(२)

कामना-से मा की सुकुमार
स्नेह में चिर-साकार;

मृदुल-कुड्मल-से, जिसे न ज्ञात
सुरभि का निज संसार;
स्रोत-से नव, अवदात,
स्खलित अविदित-पथ पर अविचार;

कौन तुम गूढ़, गहन, अज्ञात ?
अहे निरुपम, नवजात !

(३)

मधुर-तन्त्री-से, जिसकी तान
छिपी हो अन्तर में अनजान;

विरल-उडु-से सरसी में तात !
इतर हो जिसका वासस्थान;

लहर से लघु, अज्ञान
कम्प अम्बुधि की एक महान;

विमल-हिमजल-से एक प्रभात
कहाँ से उतरे तुम, छबिमान !

(४)

गीतिका के-से सरस-विधान
भाव जिसके अस्पष्ट, अजान;

सुरभि-से, जिसे विहान
उड़ा लाया हो मृदु-पवमान;

स्वप्न-से—निद्रित, सजग समान—
सुप्ति में जिसे न अपना ज्ञान;

रश्मि-से शुचि-रुचिमान
वीचि में बिखरी अचिर, वितान;

स्वीय स्मिति-से ही हे नादान !
दिव्यता का निज तुम्हें न ध्यान !

(५)

खेलती अधरों पर मुसकान
पूर्व-सुधि-सी अम्लान;

सरल-उर की सी मृदु-आलाप
अनवगत जिसका गान;

कौन सी अमर-गिरा यह प्राण !
कौन से राग, छन्द, आख्यान ?

स्वप्न-लोकों में किन चुपचाप
विचरते तुम इच्छा-गतिवान !

(६)

न अपना ही न जगत का ज्ञान
न परिचित हैं निज नयन, न कान;

दीखता है जग कैसा तात !
नाम, गुण, रूप अजान ?

तुम्हीं सा हूँ मैं भी अज्ञात !
वत्स ! जग है अज्ञेय, महान।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

तीर्थ-रेणु ।

(नेपोलियन)

जो कर्तृत्व का राजटीका लेकर जन्म ग्रहण करते हैं, जिनमें कर्तृत्व-शक्ति है, वे किसी दूसरे का मुँह नहीं ताकते। वे अवसर नहीं ढूँढ़ते, सिर्फ़ अवस्था देखते हैं, और जैसी स्थिति रहती है उसी की गुरुता के अनुसार वे व्यवस्था करते हैं।

उद्योगशील ही विजय प्राप्त करते हैं। इस्लाम-धर्म ने दस वर्ष में ही पृथ्वी के अर्ध भाग पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। ईसा-धर्म तीन सौ वर्ष में भी थोड़ी ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका।

मानव-समाज स्वभाव से मन्द नहीं है। यदि अधिकांश भाग दुर्वृत्त हो जाय और कमर कस कर कुकर्मों में लिप्त हो जाय तो उसका दमन कौन करेगा।

जातीय शिल्पशाला में युद्ध का जो अनुष्ठान किया जाता है वह शत्रु-विनाश के लिए अव्यर्थ है। फिर इस युद्ध में रक्तपात का नाम तक नहीं रहता।

विवाह सभी समय प्रेम का स्वाभाविक परिणाम नहीं है। जब सन्तान होती है तभी विवाह सार्थक होता है।

राजा का प्रेम धात्री का प्रेम नहीं है।

शहर के कोतवाल जितने चोर-बदमाश खोज कर बाहर निकालते हैं उससे अधिक तो वे तैयार करते हैं।

राज-नीति के प्रचलित नियम से यही प्रकट होता है कि वचन देना एक बात है और उसके अनुसार काम करना दूसरी बात है। इन दोनों में विशेष सम्बन्ध कुछ भी नहीं है।

राजसिंहासन है क्या वस्तु। वह तो सिर्फ़ लकड़ी है, मख़मल से मढ़ी हुई ज़रूर है।

सिर्फ़ एक ही तुच्छ घटना से युद्ध में जय-पराजय का निर्णय हो जाता है और इसी प्रकार एक छोटे युद्ध से साम्राज्य का भाग्य निश्चित हो जाता है।

यदि मैं सभी तरह की सुविधाओं की प्रतीक्षा करता रहता तो कोई भी बड़ा काम मेरे हाथ से नहीं हो सकता था।

खिलौने का लोभ देकर हम मनुष्य से सभी काम ले सकते हैं। सभी अवस्थाओं के उपयुक्त खिलौने हैं।

ख़िताब और सम्मान से सभी लोग ख़ुश किये जा सकते हैं। परन्तु साथही साथ कुछ नक़द पुरस्कार की भी व्यवस्था करना उचित है।

प्रेम अकर्मण्यों का नशा है, वीरों का कौतुक और सम्राट् के पथ का काँटा है।

हो सकेगा तो आज्ञा करूँगा। नहीं तो मुँह बन्द कर चुप बैठा रहूँगा।

विचारशक्ति की अपेक्षा स्मृति-शक्ति को हम विशेष महत्त्व देते हैं।

जो देना नहीं जानता वह ले भी नहीं सकता।

पृथ्वी के लिए जैसे वायु है वैसे ही मनुष्य के लिए उच्च अभिलाषा है। यदि इनमें किसी को भी छोड़ दोगे तो जीवन के सभी लक्षण लुप्त हो जायँगे।

जो कुछ प्राचीन है वह अन्याय होने पर न्याय-सङ्गत समझा जाता है।

जिस जाति में हम किसी प्रकार के अनुयोग या अभियोग नहीं सुनते, समझ लेना कि वह जाति अपनी चिन्ता-शक्ति खो बैठी है।

राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य को सर्वदा एक बाह्य धर्म-बुद्धि स्वीकार कर व्यवहार करना पड़ता है।

यदि हमें निर्वाचन का अवसर है तो दूसरे से ग्रस्त होने की अपेक्षा हमें अपने को ही ग्रास कर लेना अच्छा है।

स्मरण रक्खो कि छः ही दिनों में संसार की सृष्टि हुई है। और जो कुछ चाहो मैं दे सकता हूँ किन्तु समय को नहीं बढ़ा सकता। यह मेरी क्षमता के बाहर की बात है।

देश में बुद्धिमानों की संख्या यथेष्ट है। इसलिए योग्यता के अनुसार प्रत्येक को उपयुक्त कर्म में नियुक्त करना चाहिए। सम्भव है कि जो हल चलाता है वह तो मन्त्रणा-गृह में आसन पाने योग्य हो और जो मन्त्री है उसे हल चलाने देना ही अच्छी व्यवस्था हो।

बाजाओं में जय का डङ्का ही सबसे श्रेष्ठ है। यह कभी बे सुरा नहीं बजता।

योद्धा का धर्म युद्ध है। इसलिए मैं धर्म-त्यागी नहीं हूँ। संसार जो धर्म कहा करता है वह तो स्त्रियों और पुरोहितों का कर्म है। मैं जिस देश का शासन करता हूँ उसी देश का धर्म मेरा धर्म है। मिस्र में मैं मुसलमान हूँ। फ़्रांस में मैं ईसाई हूँ। यदि मैं कभी यहूदी जाति का शासक होऊँ तो मैं सोलोमन के नष्ट मन्दिर के पुनर्निर्माण की व्यवस्था करूँ।

मानव-जाति के हृदय-पटल पर जो स्मृति अङ्कित कर दी जाती है वही, मेरी समझ में, अमरता है।

धर्म भाग्य का—अदृष्ट का—अंश है। वही समाज की मर्यादा का रहस्य है।

प्रत्येक पुरुष को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी स्त्री को यह आदेश दे सके कि तुम बाहर नहीं जा सकतीं, न तुम किसी नाट्यशाला में जा सकती हो और न सभी पुरुषों से मिल सकती हो। इसी से देवदूतों ने ईव से कहा कि तुम अपने पति की आज्ञानुवर्तिनी हो। सभी धर्मों में यह सदाचार का नियम माना गया है।

स्त्रियों को अपने ही कर्तव्यों की चिन्ता करनी चाहिए। राजनीति उनका कार्य-क्षेत्र नहीं है।

मनुष्यों में जो दूषित अंश होता है उसे वह बाहर निकाल सकता है, परन्तु अनुशासनों की शुद्धि के लिए ऐसा कोई साधन नहीं।

जब हम मनुष्यों की अन्तरात्मा पर प्रभाव डालते हैं तभी उनमें स्फूर्ति आती है।

अनुशासनों में सरलता, सूक्ष्मता नहीं है।

राजनीति में उदारता मूर्खता है।

राजनैतिक संस्थायें एक ही चक्र में घूमती रहती हैं। पहले जो हो चुका है उसी पर वे पुनः लौट कर आती हैं।

दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता और निपुणता से ही विघ्नों का अतिक्रमण किया जाता है और उद्देशों की पूर्ति होती है। सिद्धि से एक ही पग में पतन हो सकता है।

जातीयता के आधार पर शासन-संस्था का निर्माण होना चाहिए, जिसमें उसकी जाति की अन्तरात्मा प्रकट हो सके ।

समाज का केन्द्र शासनसंस्था है । समाज की अन्य संस्थायें अपने अपने निर्दिष्ट पथ में रहकर उसी की प्रदक्षिणा करती हैं ।

जिनसे कार्य-सिद्धि की सम्भावना है, राजा उन्हीं को चाहता है । जब तक यह सम्भावना बनी रहती है तब तक उनका प्रेम भी बना रहता है ।

मनुष्यों की सृष्टि करना मनुष्य के हाथ में नहीं है, परन्तु जैसे आदमी मिलते हैं उन्हीं को काम में लगाना होगा ।

अव्यवस्थितचित्त नेता और पक्षाघातग्रस्त रोगी, दोनों की एक ही अवस्था है । उनमें इच्छा रहती है, परन्तु गति नहीं रहती ।

मित्र की इष्ट-चेष्टा की अपेक्षा शत्रु की अनिष्ट-चेष्टा अधिक प्रबल होती है ।

युद्ध और राज्य-शासन दोनों के लिए कुशलता चाहिए ।

केवल नाच-कूद कर कोई मनुष्य मनुष्य नहीं हो सकता ।

नष्ट करने का काम तो एक ही क्षण में हो सकता है, परन्तु निर्माण करने में बड़ा समय लगता है ।

देश के पुनरुत्थान के लिए, उसको उन्नत करने के लिए, जितनी आवश्यकता सुमाताओं की है उतनी अन्य किसी की नहीं हैं । सन्तान का चरित्र माता के ही चरित्र पर निर्भर रहता है ।

किसी जाति को दण्ड देने के लिए जितनी दैवी आपत्तियाँ होती हैं उनमें एक राज्य-क्रान्ति है ।

जो लोग दूसरों पर शासन करना चाहते हैं उनके लिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि वे लोग पहले ज्ञान प्राप्त करें ।

समय का मूल्य न समझने के कारण आस्ट्रियन जाति का पराजय हुआ ।

न्याय और सन्धि का अनुसरण ही दो जातियों के बीच एकता का सूत्र हो सकता है ।

प्राच्य देश विशाल साम्राज्यों की रङ्गभूमि है । संसार में जितने बड़े आन्दोलन हुए हैं उन सबका उद्भव यहीं हुआ है । यहीं ज्ञान का आविर्भाव हुआ है । यही सब धर्मों की जन्म-भूमि है । अब भी यही साठ करोड़ मनुष्यों की आवास-भूमि है ।

धर्म जीवन की आशा है । वही आत्म-रक्षा का अवलम्ब है । उसी के द्वारा दुष्प्रवृत्तियों से मुक्ति होती है ।

विलासिता से सद्गुणों का नाश होता है और दुर्गुणों की वृद्धि । वह रोग की तरह समाज के सभी अङ्गों में फैल जाती है । वही जाति के अधःपतन का फल है ।

जो मनुष्यों को भ्रम में डालना चाहते हैं, उन्हें धोखा देना चाहते हैं और अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उन पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं वही उनको अज्ञानावस्था में रखना चाहते हैं । प्रजा में ज्ञान-विस्तार ऐसी ही शासन-संस्था के लिए भयावह है ।

अनुवादक, सुशीलकुमार

दण्ड-देव का आत्म-निवेदन।

हमारा नाम दण्ड-देव है। पर हमारे जन्मदाता का कुछ भी पता नहीं। कोई कहता है कि हमारे पिता का नाम वंश या बाँस है। कोई कहता है, नहीं; हमारे पूज्यपाद पितृ-महाशय का नाम काष्ठ है। इसमें भी किसी किसी का मतभेद है। क्योंकि कुछ लोगों का अनुमान है कि हमारे बाप का नाम बेत है। इसी से हम कहते हैं कि हमारे जन्मदाता का नाम निश्चयपूर्वक कोई नहीं बता सकता। हम भी नहीं बता सकते। सबके गर्भधारिणी माता होती है; हमारे वह भी नहीं। हम तो ज़मींतोड़ हैं। यदि माता होती तो उससे पिता का नाम पूछ कर आप पर अवश्य ही प्रकट कर देते। पर क्या करें, मजबूरी है। न बाप, न माँ। अपनी हुलिया यदि हम लिखाना चाहें तो कैसे लिखावें। इस कारण हम सिर्फ़ अपना ही नाम बता सकते हैं।

हम राज-राजेश्वर के हाथ से लेकर दीन-दुर्बल भिखारी तक के हाथ में विराजमान रहते हैं। जराजीर्णों के तो एक-मात्र अवलम्ब हमीं हैं। हम इतने समदर्शी हैं कि हममें भेद-ज्ञान ज़रा भी नहीं—धार्म्मिक-अधार्म्मिक, साधु-असाधु, काले-गोरे सभी का पाणिस्पर्श हम करते हैं। यों तो हम सभी जगह रहते हैं, परन्तु अदालतों और स्कूलों में तो हमारी ही तूती बोलती है। वहाँ हमारा अनवरत आदर होता है।

संसार में अवतार लेने का हमारा उद्देश दुष्ट मनुष्यों और दुर्वृत्त बालकों का शासन करना है। यदि हम अवतार न लेते तो ये लोग उच्छृङ्खल होकर मही-मण्डल में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न कर देते। दुष्ट हमें बुरा बताते हैं; हमारी निन्दा करते हैं; हम पर झूठे झूठे आरोप करते हैं। परन्तु हम उनकी कटूक्तियों और अभिशापों की ज़रा भी परवा नहीं करते। बात यह है कि उनकी उन्नति के पथप्रदर्शक हमीं हैं। यदि हमीं उनसे रूठ जायँ तो वे लोग दिन-दहाड़े मार्गभ्रष्ट हुए बिना न रहें।

विलायत के प्रसिद्ध पण्डित जॉनसन साहब को आप शायद जानते होंगे। ये वही महाशय हैं जिन्होंने एक बहुत बड़ा कोश, अँगरेज़ी में, लिखा है और विलायती कवियों के जीवन-चरित, बड़ी बड़ी तीन जिल्दों में भर कर, चरित-रूपिणी त्रिपथगा प्रवाहित की है। एक दफ़े यही जॉनसन साहब कुछ भद्र महिलाओं का मधुर और मनोहर व्यवहार देख कर बड़े प्रसन्न हुए। इस सुन्दर व्यवहार की उत्पत्ति का कारण खोजने पर उन्हें मालूम हुआ कि इन महिलाओं ने अपनी अपनी माताओं के कठिन शासन की कृपा से ही ऐसा भद्रोचित व्यवहार सीखा है। इस पर उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा—

"Rod! I will honor thee for this thy duty."

अर्थात् हे दण्ड, तेरे इस कर्तव्य-पालन का मैं अत्यधिक आदर करता हूँ। जॉनसन साहब की इस उक्ति का मूल्य आप कम न समझिए। सचमुच ही हम बहुत बड़े सम्मान के पात्र हैं। क्योंकि हमीं तुम लोगों के—मानव-जाति के—भाग्य-विधाता और नियन्ता हैं।

संसार की सृष्टि करते समय परमेश्वर को मानव-हृदय में एक उपदेष्टा के निवास की योजना करनी पड़ी थी। उसका नाम है विवेक। इस विवेक ही के अनुरोध से मानव-जाति पाप से धर-पकड़ करती हुई आज इस उन्नत अवस्था को प्राप्त हुई है। इसी विवेक की प्रेरणा से मनुष्य, अपनी आदिम अवस्था में, हमारी सहायता से पापियों और अपराधियों का शासन करते थे। शासन का प्रथम आविष्कृत अस्त्र, दण्ड, हमीं थे। परन्तु कालक्रम से हम अब नाना प्रकार के उपयोगी आकारों में परिणत हो गये हैं। हमारी प्रयोग-प्रणाली में भी अब बहुत कुछ उन्नति, सुधार और रूपान्तर हो गया है।

पचास साठ वर्ष के भीतर इस संसार में बड़ा परिवर्तन—बहुत उथल-पथल—हो गया है। उसके बहुत पहले भी, इस विशाल जगत् में, हमारा राजत्व था। उस समय भी रूस में, आज-कल ही की तरह, मार-काट जारी थी। पोलैंड में यद्यपि इस समय हमारी कम चाह है, पर उस समय वहाँ की स्त्रियों पर रूसी सिपाही मनमाना अत्याचार करते थे और बार बार हमारी सहायता लेते थे। चीन में तब भी वंश-दण्ड का अटल राज्य था। टर्की में तब भी

डण्डे चलते थे। श्यामवासियों की पूजा तब भी लाठी ही से की जाती थी। अफ़रीक़ा से तब भी मम्बो-जम्बो (गैंड़े की खाल का हण्टर) अन्तर्हित न हुआ था। उस समय भी वयस्का भद्रमहिलाओं पर चाबुक चलता था। पचास-साठ वर्ष पहले, संसार में, जिस दण्ड-शक्ति का निष्कण्टक साम्राज्य था, यह न समझना कि अब उसका तिरोभाव हो गया है। प्राचीन काल की तरह अब भी सर्वत्र हमारा प्रभाव जागरूक है। इशारे के तौर पर हम जर्मनी के रूर-प्रान्त में वर्तमान अपनी अखण्ड सत्ता का स्मरण दिलाये देते हैं। परन्तु वर्तमान वृत्तान्त सुनाने की अपेक्षा पहले हम अपना पुराना वृत्तान्त सुना देना ही अच्छा समझते हैं।

प्राचीन काल में रोम-राज्य योरप की नाक समझा जाता था। दण्ड-दान या दण्ड-विधान में रोम ने कितनी उन्नति की थी, यह बात शायद सब लोग नहीं जानते। उस समय हम ३ भाई थे। रोमवाले साधारण दण्ड के बदले कशा-दण्ड (हण्टर या कोड़े) का उपयोग करते थे। इसी कशा-दण्ड के तारतम्य के अनुसार हमारे भिन्न भिन्न तीन नाम थे। इनमें से सबसे बड़े का नाम फ्लैगेलम (flagellum), मँझले का सेंटिका (Sentica), और छोटे का फेरूला (ferula) था। रोम के न्यायालय और वहाँ की महिलाओं के कमरे हम इन्हीं तीनों भाइयों से सुसजित रहते थे। अपराधियों पर न्यायाधीशों की असीम क्षमता या प्रभुता थी। अनेक बार प्रभु या प्रभु-पत्नियाँ, दया के वशवर्ती होकर, हमारी सहायता से अपने दासों के दुःखमय जीवन का अन्त कर देती थीं। भोज के समय, आमन्त्रित लोगों को प्रसन्न करने के लिए, दासों पर कशाघात करने की पूर्ण व्यवस्था थी। दासियों को तो एक प्रकार से नङ्गी ही रहना पड़ता था। वस्त्राच्छादित रहने से वे शायद कशाघातों का स्वाद अच्छी तरह न ले सकें। इसी लिए ऐसी व्यवस्था थी। यहीं पर तुम हमारे प्रभाव का कहीं अन्त न समझ लेना। दासियों को एक और भी उपाय से दण्ड दिया जाता था। छत की कड़ियों से उनके लम्बे लम्बे बाल बाँध दिये जाते थे। छत से लटक जाने पर उनके पैरों से कोई भारी चीज़ बाँध दी जाती थी, ताकि वे पैर न हिला सकें। यह प्रबन्ध हो चुकने पर उनके अङ्गों की परीक्षा करने के लिए हमारी योजना होती थी। यह सुन कर शायद तुम्हारा दिल दहल उठा होगा और तुम्हारा बदन काँपने लगा होगा। पर हम तो बड़े ही प्रसन्न हैं। ऐसा ही दण्ड दासों को भी दिया जाता था। परन्तु बालों के बदले उनके हाथ बाँधे जाते थे।

इससे तुम समझ गये होगे कि रोम की महिलायें हमारा कितना आदर करती थीं। परन्तु यह बात वहाँ के कर्तृपक्ष को असह्य हो उठी। उन्होंने कहा—इस दण्ड-देव का इतना आदर! उन्होंने हमारी इस उपयोगिता में विघ्न डालने के लिए कई क़ानून बना डाले। सम्राट् आड्रियन के राजत्व-काल में इस क़ानून को तोड़ने के अपराध में एक महिला को पाँच वर्ष का देश-निर्वासन-दण्ड मिला था। अस्तु।

अब हम जर्मनी, फ्रांस, रूस, अमेरिका आदि का कुछ हाल सुनाते हैं। ध्यान लगा कर सुनिए। इन सब देशों के घरों, स्कूलों और अदालतों में भी पहले हमारा निश्चल राज्य था। इनके सिवा संस्कार-घरों (Houses of Correction) में भी हमारी षोडशोपचार पूजा होती थी। इन संस्कार-घरों अथवा चरित्र-सुधार-घरों में चरित्र और व्यवहार-विषयक दोषों का सुधार किया जाता था। अभिभावक जन अपनी दुश्चरित्र स्त्रियों और अधीनस्थ पुरुषों को इन घरों में भेज देते थे। वहाँ वे हमारी ही सहायता—हमारे ही आघात—से सुधारे जाते थे।

जर्मनी में तो हम पहले अनेक रूपों में विद्यमान थे। हमारे रूप थे कशादण्ड, वेत्रदण्ड, चर्म्मदण्ड आदि। कोतवालों और न्यायाधीशों को कशाघात करने के अख़्तियारात हासिल थे। संस्कार-घरों में हतभागिनी नारियों ही की संख्या अधिक होती थी। वहाँ बहुधा निरपराधिनी रमणियों को भी, दुष्टों के फन्दे में फँस कर, कशाघात सहने पड़ते थे। पहले वे नङ्गी कर डाली जाती थीं। तब उन पर बेत पड़ते थे। जर्मन-भाषा के ग्रन्थ-साहित्य में इस कशाघात का उल्लेख सैकड़ों जगह पाया जाता है।

फ्रांस में भी हमने मनमाना राज्य किया है। वहाँ के विद्यालयों में, किसी समय, हमारा बड़ा प्रभाव था। विद्यालयों में कोमलकलेवरा बालिकाओं को भी हमें चूमना

पड़ता था। यहाँ तक कि उन्हें हमारा प्रयोग करनेवालों का अभिवादन भी करना पड़ता था। फ्रांस में तो हमने पवित्रहृदया कामिनियों के कर-कमलों को भी पवित्र किया था। आपको इस बात का विश्वास न हो तो एक प्रमाण लीजिए। "रोमन डि-लारोज़" नामक काव्य में कविवर क्रुपिनेले ने स्त्रियों के विरुद्ध चार सतरें लिख मारी हैं। उनका भावार्थ कवि पोप के शब्दों में है—

"Every woman is at heart a rake"

इस उक्ति को सुन कर कुछ सम्माननीय महिलायें बेतरह कुपित हो उठीं। एक दिन उन्होंने कवि को अपने कब्ज़े में पाकर उसे सुधारना चाहा। तब यह देख कर कि इनके पञ्जे से निकल भागना असम्भव है, कवि ने कहा—"मैंने ज़रूर अपराध किया है। अतएव मुझे सज़ा भोगने में कुछ भी उज़्र नहीं। पर मेरी एक प्रार्थना है। वह यह कि उस उक्ति को पढ़कर जिस महिला को सबसे अधिक बुरा लगा हो वही मुझे पहले दण्ड दे"। इसका फ़ैसिला कोई स्त्री न कर सकी। फल यह हुआ कि कवि पिटने से बच गया।

रूस में भी हमारा आधिपत्य रह चुका है। वहाँ तो सभी प्रकार के अपराध करने पर साधारण दण्ड या कशा-दण्ड से प्रायश्चित्त कराया जाता था। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या राजकर्म्मचारी, क्या साधारण जन सभी को, अपराध करने पर, हमारा अनुग्रह ग्रहण करना पड़ता था। किसान तो हमारी कृपा के सबसे अधिक पात्र थे। उन पर तो, जो चाहता था वही, निःशङ्क और निःसङ्कोच, हमारा प्रयोग करता था। हमारा प्रसाद पाकर वे बेचारे चुपचाप चल देते थे और अपना क्रोध अपनी पत्नियों और पशुओं पर प्रकट करते थे। रूस के अमीरों और धनवानों से हमारी बड़ी ही गहरी मित्रता थी। दोष-दमन करने में वे सिवा हमारे और किसी की भी सहायता, कभी भूल कर भी, न लेते थे। उनका ख़याल था कि अपराधियों को अधमरा करने के लिए ही भगवान् ने हमारी सृष्टि की है।

रूस में तो, पूर्वकाल में, दण्डाघात प्रेम का भी चिह्न माना जाता था। विवाहिता वधुयें अपने पतियों से हमीं को पाने के लिए सदा लालायित रहती थीं। यदि स्वामी, बीच बीच में अपनी पत्नी का, दण्ड-दान-नामक आदर न करता तो पत्नी समझती कि उसके स्वामी का प्रेम उस पर कम होता जा रहा है। यह प्रथा केवल नीच या छोटे लोगों ही में प्रचलित न थी; बड़े बड़े घरों में भी इसका पूरा प्रचार था। बर्कले नाम के लेखक ने लिखा है कि रूस में दण्डाघातों की न्यूनाधिक संख्या से ही प्रेम की न्यूनाधिकता की माप होती थी। इसके सिवा स्नानागारों में भी हमारा प्रबल प्रताप छाया हुआ था। स्नान करनेवालों का समस्त शरीर ही हमारे अनुग्रह का पात्र बनाया जाता था। टिफेंस साहब ने इसका विस्तृत विवरण लिख रक्खा है। विश्वास न हो तो उनकी पुस्तक देख लीजिए।

हमारे सम्बन्ध में तुम अमेरिका को पिछड़ा हुआ कहीं मत समझ बैठना। वहाँ भी हमारा प्रभाव कम न था। बालकों और बालिकाओं का गार्हस्थ जीवन वहाँ हमारे ही द्वारा नियन्त्रित होता था। प्यूरिटन नामक क्रिश्चियन धर्म्म-सम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रभुत्व के समय लोगों को बात बात में कशाघात की शरण लेनी पड़ती थी। क्वेकर-सम्प्रदाय को देश से दूर निकालने में अमेरिका के निवासियों ने हमसे ख़ूब ही सहायता ली थी। हमारा प्रयोग बड़े ही अच्छे ढङ्ग से किया जाता था। काठ के एक तख़्ते पर अपराधी बाँध दिया जाता था। फिर उस पर सड़ासड़ बेत पड़ते थे।

अफ़रीका की तो कुछ पूछिए ही नहीं। वहाँ तो पहले भी हमारा अखण्ड राज्य था और अब भी है। यहाँ एक देश ऐसा है जिसने हमारे महत्त्व को पूर्णतया पहचान पाया है। बच्चों की शिक्षा से तो हमारा बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ के लोगों का विश्वास था कि हमारा आगमन स्वर्ग से हुआ है और हम ईश्वर के आशीर्वाद-रूप हैं। हम नहीं, तो समझना चाहिए कि परमेश्वर हमसे रूठा है। मिस्रवाले तो इस प्रवाद पर आँख-कान बन्द करके विश्वास करते थे। वहाँ के दीनवत्सल महीपाल प्रजावर्ग को इस आशीर्वाद का स्वाद बहुधा चखाया करते थे। इस राज्य में बिना हमारी सहायता के राज-कर वसूल होना प्रायः असम्भव था। मिस्र के निवासी राजा का प्राप्य अंश, कर, अदा करना न चाहते थे। इस कारण हमें उन पर सदाही कृपा करनी पड़ती थी।

उनकी पीठ पर हमारे जितने ही अधिक चिह्न बन जाते थे वे अपने को उतने ही अधिक कृतज्ञ या कृतार्थ समझते थे।

आफ़रीक़ा की असभ्य जातियों में स्त्रियों के ऊपर हमारा बड़ा प्रकोप रहता था। ज्योंहीं स्वामी अपनी स्त्री के सतीत्व-रत्न को जाते देखता था त्योंहीं वह हमारी पूर्ण तृप्ति करके उस कुलकलङ्किनी को घर से निकाल बाहर करता था। कभी कभी स्त्रियां भी हमारी सहायता से अपने अपने स्वामियों की यथेष्ट ख़बर लेती थीं। आफ़रीक़ा के पश्चिमी प्रान्तों में यद्यपि बालक-बालिकाओं पर हमारा विशेष प्रभाव न था तथापि उन्हें हमसे भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों का सामना करना पड़ता था। नटखट और दुष्ट लड़कों और लड़कियों की आंखों में लाल मिर्च मल दी जाती थी। वे बेचारे इस योजना का कष्ट सहन करने में असमर्थ होकर घंटों छटपटाते और चिल्लाते थे। वयस्कों को तो इससे भी अधिक यातनायें भोगनी पड़ती थीं। वे पहले पेड़ों की डालों से लटका दिये जाते थे। फिर वे ख़ूब पीटे जाते थे। देह लोहू-लोहान हो जाने पर उस पर सर्वत्र लाल मिर्च का चूर्ण मला जाता था। याद रहे, ये सब पुरानी बातें हैं। आज-कल की बातें हम नहीं कहते। क्योंकि हमारे प्रयोग में यद्यपि इस समय कुछ परिवर्तन हो गया है, तथापि हमारा कार्य-क्षेत्र घटा नहीं, बढ़ा ही है।

तुम्हारे एशिया-खण्ड में भी हमारा राज्य दूर दूर तक फैला रहा है। एशिया कोचक (एशिया माइनर) के यहूदियों में, किसी समय, हमारी बड़ी धाक थी। वहाँ हमारा प्रताप बहुतही प्रबल था। ईसाई धर्म्म फैलाने में सेंटपाल नामक धर्म्माचार्य्य ने बड़े बड़े अत्याचार सहे हैं। वे ४६ दफ़े कशाहत और ३ दफ़े दण्डाहत हुए थे। बाइबिल में हमारे प्रयोग का उल्लेख सैकड़ों जगह आया है।

यहूदियों की तरह पारसियों में भी हमारा विशेष आदर था। क्या धनी, क्या निर्धन सभी को, यदा कदा, डण्डों की मार सहनी पड़ती थी। यह चाल बहुत समय तक जारी रही। तदनन्तर वह बदल गई। तब माननीय मनुष्यों के शरीर की जगह उनके कपड़ों पर कोड़े लगाये जाने लगे।

चीन में तो हमारा आधिपत्य एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैला हुआ था। ऐसा एक भी अपराधी न था जिसे सज़ा देने में हमारा प्रयोग न होता रहा हो। उच्च राज-कर्मचारीयों से लेकर दीन-दुखी भिखारियों तक को, अपराध करने पर, हमारे अनुग्रह का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से करना पड़ता था। डण्डे की मार खाने में, उस समय, चीनी लोग अपना अपमान न समझते थे। हाँ, हमारे कृपा-कटाक्ष से उन्हें जो यन्त्रणा भोगनी पड़ती थी उसे वे ज़रूर नापसन्द करते थे। बड़े बड़े सेना-नायक और प्रान्तशासक हमारे कठोर अनुग्रह को प्राप्त करके भी अपने उच्च पदों पर प्रतिष्ठित रहते थे। चीन में अपराधियों ही तक हमारे कोप की सीमा बद्ध न थी। कितने ही निरपराध जन भी हमारे स्पर्श-सुख का अनुभव करके ऐसे गद्गद हो जाते थे कि फिर जगह से उठ तक न सकते थे। हमारी पहुँच बहुत दूर दूर तक थी। चोरों, डाकुओं और हत्यारों आदि को जब कोतवाल और पुलिस के अन्य प्रतापी अफ़सर न पकड़ सकते थे तब वे हमारी शरण आते थे। उस समय हम उन पर ऐसा प्रेम दरसाते थे कि उछल उछल कर उनकी देह पर जा पड़ते थे। चीन की पुरानी अदालतों में जितने अभियुक्त और गवाह आते थे वे बहुधा बिना हमारा प्रसाद पाये न लौट सकते थे।

चतुर और चाणाक्ष चीन के अद्भुत क़ानून की बात कुछ न पूछिए। वहाँ अपराध के लिए अपराधी ही ज़िम्मेदार नहीं। उसके दूर तक के सम्बन्धी भी ज़िम्मेदार समझे जाते थे। जो लोग इस ज़िम्मेदारी का ख़याल न करते थे उन्हें स्वयं हम पुरस्कार देते थे। चीन में एक सौ परिवारों के पीछे एक मण्डल की स्थापना होती थी। उसकी ज़िम्मेदारी भी कम न होती थी। अपने फ़िरक़े के सौ कुटुम्बों का यदि कोई व्यक्ति कोई अपराध करता तो उसके बदले में मण्डल सज़ा पाता था। देव-सेवा के लिए रक्खे गये शूकर-शावक यदि बीमार या दुबले हो जाते तो प्रति-शावक के लिए तत्त्वावधायक पर पचास डण्डे लगते थे।

चीन की विवाह-विधि में भी हमारी विशेष प्रतिपत्ति थी। पुत्र-कन्या की सम्मति लिये बिना ही उनका पहला पाणिग्रहण कराने का अधिकार माता-पिता को प्राप्त था।

परन्तु दूसरा विवाह वे न करा सकते थे। यदि वे इस नियम का उल्लङ्घन करते तो उन पर तड़ातड़ अस्सी डण्डे पड़ते थे। विवाह-सम्बन्ध स्थिर करके यदि कन्या का पिता उसका विवाह किसी और वर के साथ कर देता तो उसे भी अस्सी डण्डे खाने पड़ते। जो लोग अशौच-काल में विवाह कर लेते थे उनकी पूजा पूरे एक सौ दण्डाघातों से की जाती थी। स्वामी के जीवन-काल में ही जो रमणियाँ सम्राट् द्वारा सम्मानित होतीं वे, विधवा होने पर, पुनर्विवाह न कर सकती थीं। यदि कोई अभागिनी इस क़ानून को तोड़ती तो उसे पुरस्कृत करने के लिए हमें सौ बार उसके कोमल कलेवर का चुम्बन करना पड़ता।

ये हुईं पुरानी बातें। अपना नया हाल सुनाना हमारे लिए, इस छोटे से लेख में, असम्भव है। अब यद्यपि हमारे उपचार के ढँग बदल गये हैं और हमारा अधिकार-क्षेत्र कहीं कहीं सङ्कुचित हो गया है, तथापि हमारी पहुँच नई नई जगहों में हो गई है। आज-कल हमारा आधिपत्य केन्या, ट्रांसवाल, केपकालनी आदि विलायतों में सबसे अधिक है। वहाँ के गोरे कृषक हमारी ही सहायता से हबशी और भारतवर्षी कुलियों से बारह बारह सोलह सोलह घंटे काम कराते हैं। वहाँ काम करते करते, हमारा प्रसाद पाकर, अनेक सौभाग्यशाली कुली, समय के पहले ही, स्वर्ग सिधार जाते हैं। फीजी, जमाइका, गायना, मारिशश आदि टापुओं में भी हम खूब फूल फल रहे हैं। जीते रहें गन्ने की खेती करनेवाले गौरकाय विदेशी। वे हमारा अत्यधिक आदर करते हैं; कभी अपने हाथ से हमें अलग नहीं करते। उनकी बदौलत ही हम भारतीय कुलियों की पीठ, पेट, हाथ आदि अङ्गप्रत्यङ्ग छू छू कर कृतार्थ हुआ करते हैं—अथवा यह कहना चाहिए कि हम नहीं, हमारे स्पर्श से वही अपने को कृतकृत्य मानते हैं। अण्डमन टापू के क़ैदियों पर भी हम बहुधा ज़ोर-आज़माई करते हैं। इधर भारत के जेलों में भी, कुछ समय से, हमारी विशेष पूछ-पाछ होने लगी है। यहाँ तक कि एम० ए० और बी० ए० पास क़ैदी भी हमारे संस्पर्श से अपना परित्राण नहीं कर सकते। कितने ही असहयोगी क़ैदियों की अक्ल हमीं ने ठिकाने लगाई है।

हम और सब कहीं की बातें तो बता गये; पर इँगलेंड के समाचार हमने एक भी नहीं सुनाये। भूल होगई। क्षमा कीजिए। ख़ैर तब न सही अब सही। सूद में अ हम भारतवर्ष का भी कुछ हाल सुना देंगे। सुनिए—

लक्ष्मी और सरस्वती की विशेष कृपा होने से इँग लेंड अब उन्नत और सभ्य हो गया है। ये दोनों स्त्रियाँ। और स्त्रियाँ बलवानों ही को अधिक चाहती हैं निर्बलों को नहीं। सो बलवान् होना बहुत बड़ी बात है सभ्यता और उन्नति का विशेष आधार पशुबल ही है। हमारी इस उक्ति को सच समझिए और गांठ में मज़बू बाँधिए। सो सभ्य और समुन्नत होने के कारण इँगलें में अब हमारा आदर कम होता जाता है। तिस पर कशादण्ड का प्रचार वहाँ अब भी खूब है। कोड़े व अब भी खूब बरसते हैं। वहाँ के विद्यालयों में हमारी मूर्ति की पूजा बड़े भक्ति-भाव से होती है। हमारा प्रभा घोड़े की पीठ पर जितना देखा जाता है उतना अन्य नहीं। इसके सिवा सेना में भी हमारा सम्मान अभी त थोड़ा बहुत बना हुआ है।

भारतवर्ष में तो हमारा एकाधिपत्य ही सा है। भार अपाहिज है। इसी लिए भारतवासी हमारी मूर्ति को आदर से अपनी छाती से लगाये रहते हैं। वे डरते हैं कि ऐसा न हो जो कहीं धन-मान की रक्षा का एक-मात्र ब खुचा यह साधन भी छिन जाय। इसी से हम पर लोगों का असीम प्रेम है। भारतवासी असभ्य और अनुन्न होने पर भी विलासप्रिय कम हैं। इसी लिए वे ऋषियों और मुनियों द्वारा पूजित हम दण्डदेव के आश्रय में रहना श्रेयस्कर समझते हैं। शिक्षकों का बेत या क़मचं सवारों का हण्टर, कोचमैनों का चाबुक, गाड़ीवानों क सोंगी या छड़ी, शुहदों के लट्ठ, शौक़ीन बाबुओं क पहाड़ी लकड़ी, पुलिसमैनों के डण्डे, बूढ़े बाबा की कुबड़ी भँगेड़ियों के भवानीदीन और लठैतों की लाठियाँ आदि क्या हैं? ये सब हमारे ही तो रूप हैं। ये सभी शासन कार्य्य में सहायक होते हैं। भारत में ऐसे हज़ारों आदमी हैं जिनकी जीविका के आधार एक-मात्र हम हैं। था नाम के देवस्थानों में हमारी ही पूजा होती है। हमारी कृपा और सहायता के बिना हमारे पुजारी (पुलिसमैन) एक दिन भी अपना कर्तव्यपालन नहीं कर सकते। भार

में तो एक भी पहले दरजे का मैजिस्ट्रेट ऐसा न होगा जिसकी अदालत के अहाते में हमारे उपयोग की योजना का पूरा पूरा प्रबन्ध न हो। जेलों में भी हमारी शुश्रूषा सर्वदा हुआ करती है। इसी से हम कहते हैं कि भारत में तो हमारा एकाधिपत्य है।

बहुत समय हुआ, हमने अपने अपूर्व, अलौकिक और कौतूहलोद्दीपक चरित का सारांश "प्रदीप" के पाठकों को सुनाकर उन्हें मुग्ध किया था। उसे बहुत लोग शायद भूल गये हों। इससे उसकी पुनरावृत्ति आज हमें "सरस्वती" में करनी पड़ी। पाठक, हम नहीं कह सकते कि हमारा यह चारु चरित सुन कर आप भी मुग्ध हुए या नहीं। कुछ भी हो, हमने अपना कर्तव्य कर दिया। आप प्रसन्न हों या न हों, पर इससे हम कितने प्रसन्न हैं, यह हम लिख नहीं सकते।

श्रीकण्ठ पाठक

साहित्य का आदर्श।

साहित्य में दो प्रकार की रचनायें देखी जाती हैं। कुछ रचनायें ऐसी होती हैं जिनमें देश और काल का इतना प्रभाव विद्यमान रहता है कि वे देश और काल की ही वस्तु हो जाती हैं। परन्तु कुछ ऐसी भी रचनायें होती हैं जिनका विकास तो देश और काल में ही होता है परन्तु जो स्वयं देश और काल को अतिक्रमण कर सार्वदैशिक और सार्वकालीन हो जाती हैं। ऐसी रचनाओं में साहित्य के आदर्शों की सृष्टि होती है। ये आदर्श चिरन्तन होते हैं। वे अक्षय हैं। इनका नाश होने का नहीं। मानव-समाज में सदैव परिवर्तन होता रहता है। उसकी कल्पनायें, धारणायें, भावनायें बदलती रहती हैं। जिनको वह कभी सत्य समझता था उनको वह असत्य मानने लगता है। उसकी रुचि परिवर्तित हो जाती है। परन्तु विश्व-कवियों की रचनाओं में वह अपने जीवन के आदर्श को देखता रहता है। उसके धार्मिक आदर्श बदल जाते हैं, सामाजिक आदर्श दूसरे हो जाते हैं। परन्तु साहित्य के इन आदर्शों पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसका कारण क्या है? इसका एक ही कारण है और वह कारण यह है कि इनमें हम मनुष्य-जीवन की पूर्णता देखते हैं। यह पूर्णता अलौकिक नहीं, लौकिक है। इस पूर्णता में उच्च और नीच दोनों सम्मिलित हैं। सभी अवस्थाओं में मनुष्य का जो मनुष्यत्व बना रहता है उसी का चित्र इन आदर्शों में अङ्कित रहता है। सभ्यता की अन्तिम सीमा पर स्थित समाज में जो मानवीय भावनायें काम करती हैं वही भावनायें असभ्य जातियों में भी विद्यमान रहती हैं। उनकी अभिव्यक्ति में भेद अवश्य है, परन्तु उनमें स्वयं भेद नहीं है। मनुष्य की

मिस एलेन टेरी और सर हेनरी इरविंग।

ये भावनायें चिरन्तन हैं। किन्तु इनको एक स्थिर रूप देकर विश्व की सामग्री बनाने की कुशलता विश्व-कवियों में है। शेक्सपियर विश्व-कवि है। उसकी कृतियों में विश्व की यही चिरन्तन भावनायें व्याप्त हो रही हैं। यहाँ हम उसी की विवेचना करना चाहते हैं। इससे हम यह जान सकेंगे कि साहित्य के आदर्श धार्मिक नहीं, जातीय नहीं, किन्तु लौकिक और मानवीय हैं।

हिन्दी में शेक्सपियर के विषय में कितनी ही बातें लिखी जा चुकी हैं। कितने ही विद्वानों ने संस्कृत और हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों से शेक्सपियर की तुलना की है। प्रायः सभी की तुलना में जातीय और धार्मिक संस्कारों को प्राधान्य दिया गया है। इन संस्कारों को दूर कर यदि हम उसकी कृति की आलोचना करें तभी हम उसका महत्त्व समझ सकेंगे। शेक्सपियर के सम्बन्ध में जितनी बातें लिखी गई हैं उतनी किसी भी कवि के सम्बन्ध में नहीं लिखी गई हैं। बात यह है कि—संसार में कुछ पुरुष ऐसे महान् होते हैं कि या तो हम उनके पक्ष में हो जाते हैं या विपक्ष में। इनके प्रति उदासीन रहना गुरुतर अन्याय होता है। आवश्यकता से अधिक उत्साह दिखलाना उतना अनुचित नहीं होता जितना कि उनसे एक-दम अपरिचित रहना। शेक्सपियर भी ऐसे ही महान् पुरुषों में से एक हैं। अतएव इनकी प्रशंसा और निन्दा करनेवालों की भी कमी नहीं। किन्तु सच बात तो यह है कि इनकी निन्दा करने से भी इनका गौरव ही बढ़ता है।

डाक्टर जानसन ने शेक्सपियर पर बहुत से आक्षेप किये हैं, किन्तु वास्तव में कविता की समालोचना करना प्रत्येक मनुष्य का काम नहीं। डाक्टर जानसन समालोचना के लिए कहाँ तक योग्यता रखते थे यह सन्दिग्ध है, क्योंकि यह कहा जाता है कि अच्छा समालोचक बनने के लिए मनुष्य कवि हो या न हो किन्तु बुरा कवि कदापि न हो। डाक्टर जानसन केवल वही कविता पसन्द कर सकते थे जिसको कवि ने कविता लिखने के ही अभिप्राय से लिखा हो। डाक्टर जानसन गद्य के एक बड़े प्रसिद्ध सुलेखक थे, अतएव वे चाहते थे कि पद्य भी पिङ्गल के जटिल और सङ्कीर्ण नियमों से जकड़ा रहे। किन्तु शेक्सपियर में उच्छृङ्खलता का अभाव नहीं। डाक्टर साहब को सौन्दर्य की प्रचुरता भी अप्रिय मालूम होती है, उसका उज्ज्वल प्रकाश उनकी कल्पना को चका-चौंध कर देता है। कल्पना की परिवर्तनशील किरणें इन्द्रधनुष के रङ्गों की भाँति उनके हृदय पर कोई प्रभाव नहीं डालतीं, वे संसार की ठोस और स्थायी चीज़ों को पकड़ना चाहते हैं। साधारण आदमी संसार की केवल उन्हीं घटनाओं पर विचार कर सकता है जिसको उसने मनुष्य-जीवन में हज़ारों बार घटित होते देखा है, जिनकी कार्यकारण-प्रणाली उसको बहुत कुछ ज्ञात हो चुकी है। किन्तु साधारण नियमों में बहुत से अपवाद हुआ करते हैं। जो मनुष्य तीव्र मनोवेग के

ओफीलिया, अभिनेत्री—जरट्रूड इलियट।

धाराप्रवाह में बह कर, विचार और कल्पना की सनक से पागल होकर या विचित्र घटनाचक्र से बाध्य होकर साधारण नियमों का उल्लङ्घन करके असाधारण मार्ग का पथिक बनता है वही ठीक ठीक कविता या नाटक का विषय बन सकता है। किन्तु डाक्टर साहब कल्पना को तर्क की अधीनता के अतिरिक्त और मनोवेग को बुद्धि के शासन के अतिरिक्त और कहीं नहीं देखना चाहते। प्रश्न यह है कि क्या वास्तविक जगत् में यह बात सत्य उतरती है। कुछ भी हो, डाक्टर जानसन मनुष्य-जीवन को कार्य-कारण-भाव-सम्पन्न एक सुडौल चित्र के रूप में देखना चाहते हैं। इसलिए उनकी धारणा है कि शेक्सपियर का प्रत्येक पात्र इस जीते जागते संसार का साधारण व्यक्ति नहीं है, सम्भव है, वे कवियों के काल्पनिक जगत् के सुन्दर उदाहरण हों।

दूसरी ओर एक बार पोप ने कहा था कि यदि हम कभी किसी लेखक को मौलिक कह कर पुकार सकते हैं तो वह एक शेक्सपियर ही है। यद्यपि होमर की लेखन-शैली भी सर्वथा अपूर्व है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसको अपने पूर्ववर्त्ती साहित्य से यथेष्ट सहायता नहीं मिली। साहित्य का एक आदर्श उसके सामने उपस्थित था, उसने उसको एक सर्वथा भिन्न साँचे में अवश्य ढाल दिया है, किन्तु प्रकृति के निर्मल स्रोत से उसकी कविता का प्रवाह नहीं बहा है। इसके विरुद्ध शेक्सपियर की सारी कविता उसके हृदय की स्फूर्ति मालूम होती है, उसने प्रकृति को अनुकरण करने की चेष्टा नहीं की। वह प्रकृति देवी का अनुचर नहीं है, बरन ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति ही उसकी वाणी के द्वारा प्रकट होना चाहती है।

वास्तव में, जिन पात्रों का उसने चरित्राङ्कण किया है वे एक-दम नैसर्गिक हैं, उनको प्रकृति की प्रतिध्वनि या प्रतिलिपि का नाम देना भी उनके साथ अन्याय करना है। अन्य कवियों के पात्रों में इतना अधिक सादृश्य मिलता है कि उनका परस्पर आदान-प्रदान बहुत स्पष्ट हो जाता है। एक ही मूर्ति को उन्होंने कई साँचों में गढ़ा है, एक ही विचार को कई रूपों में व्यक्त किया है। किन्तु शेक्सपियर का प्रत्येक पात्र हमको उसी प्रकार अलग अलग व्यक्ति मालूम होता है जिस प्रकार वे इस कठोर जीवन में हमको अलग अलग दिखाई देते हैं। उसने कभी एक ही पात्र को दो रूपों में व्यक्त नहीं किया है। सम्भव है, किसी को सरसरी तौर से देखने से उसके दो पात्रों में अत्यधिक सादृश्य या एकता तक दिखाई दे, किन्तु ध्यानपूर्वक चरित्र-विश्लेषण करने से यह भ्रम तुरन्त मिट जायगा। उसका प्रत्येक नाटक वास्तविक जीवन और वैचित्र्य से प्रारम्भ होता है और बड़ी ख़ूबी के साथ उनमें यह विशेषता अन्त तक निभाई गई है। उदाहरण के लिए यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि यदि नाटक की वक्तृताओं के ऊपर से पात्रों के नाम उड़ा दिये जायँ तो भी साधारण आदमी यह आसानी से बता सकता है कि अमुक वक्तृता किस पात्र की हो सकती है।

कार्डीनल वूलसे, अभिनेता—सर हर्बर्ट ट्री।

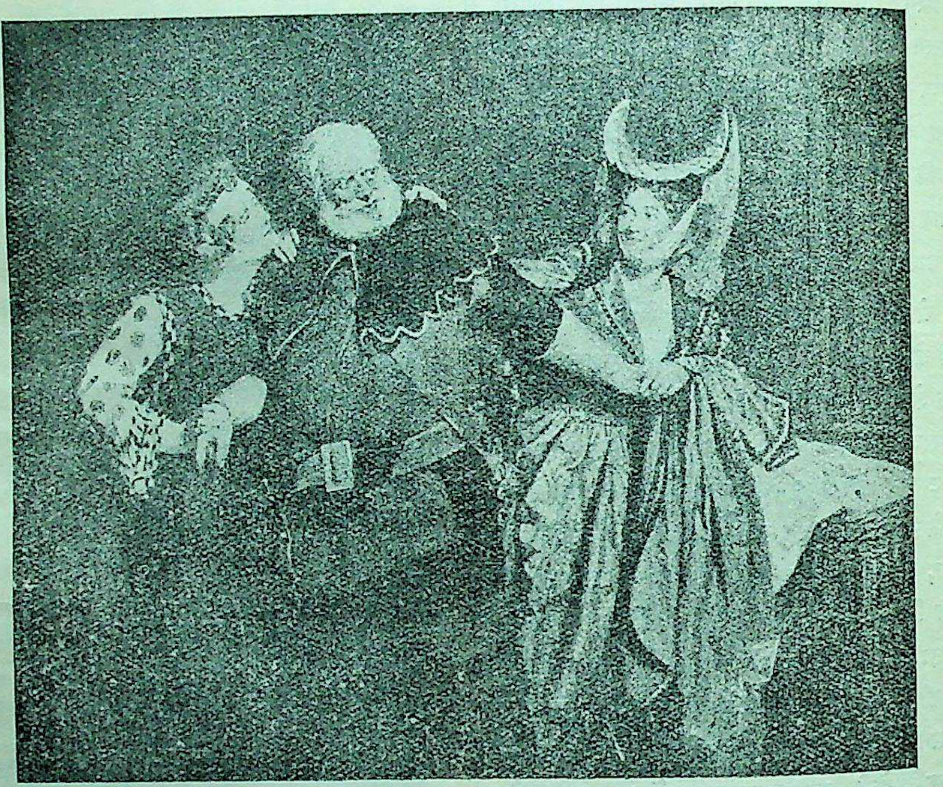

'दी मेरी वाइफ़ूस आफ विंडसर' नाटक में सर हर्बर्ट ट्री, एलन टेरी और मिसेज़ किंडेल ।

शेक्सपियर ने सभी श्रेणी के मनुष्यों, स्त्री और पुरुषों, बाल-वृद्ध और युवा सभी के हार्दिक भावों का यथार्थ चित्र खींचा है । क्या राजा और क्या रङ्क, क्या शूरवीर और क्या चोर, क्या महात्मा और क्या धूर्त्त सभी के हृदय को उसने खोल कर रख दिया है । उसे न केवल अपने ही देश और अपने ही समय का अनुभव है, बरन ऊपरी चाल-ढाल की दो एक गौण बातों को छोड़ कर उसने बड़ी यथार्थता के साथ प्राचीन रोमन-जाति से लेकर उस समय सभ्य कहलानेवाली दक्षिण योरपीय जातियों एवं युद्ध में सन्नद्ध अँगरेज़ और फ़रासीसियों अथवा भिन्न भिन्न कालों में अँगरेज़ों के विचारों और भावनाओं का दिग्दर्शन कराया है । उसके पात्रों की ऊपरी सज-धज में ही भिन्नता नहीं है, उनके व्यक्तित्व के मूल में अनिवार्य भिन्नता विद्यमान है । इस महान् कवि ने केवल मनुष्यों का ही निर्माण नहीं किया है, प्रत्युत प्रेतलोक के द्वार खोलकर सोते हुए प्रेतों को जगा दिया है । अनेक अस्पर्श रहस्यमय एवं गूढ़ भावनाओं से आवृत पिशाच और पिशाचनियों का ऊपरी पर्दा उठा कर उनका हृदय भी हमको दिखा दिया है । यद्यपि ये सब कल्पना-राज्य के प्राणी हैं तो भी उनके जीवन में ऐसी स्वाभाविकता और नियमबद्धता पाई जाती है जिससे हम कह सकते हैं कि यदि संसार में ऐसे प्राणी अवतीर्ण हों तो अवश्य वे इसी प्रकार का आचरण करेंगे । उदाहरण के लिए 'केलीवन' का चरित्र पर्याप्त है । एक शब्द में, एक ओर प्रकृति के विश्लेषण में उसने उच्च कल्पना से काम लिया है, जिसकी ऊँची उड़ान से हम एक-दम स्तम्भित हो जाते हैं और दूसरी ओर कल्पना-राज्य में बड़ी कुशलता से नैसर्गिक नियमों का समावेश किया है ।

यदि एक ओर हम उसके पात्रों पर मुग्ध होते हैं तो दूसरी ओर मनोविकारों के चमत्कार दिखाने के लिए हमें उसकी प्रशंसा करनी पड़ती है । प्रत्येक मानसिक अवस्था—हर्ष या शोक, उदासीनता या नैराश्य, क्रोध या आत्म-विस्मृति आदि सभी भावनाओं—का सूक्ष्म विश्लेषण किया

गया है। उसने हमारे अन्तःकरण के विकास का सच्चा इतिहास लिखा है। किसी भी विकार का चित्र खींचते समय वह उस विकार में सहायक होनेवाले सभी भावों का दिग्दर्शन कराता है। उसके नाटकों में आपको कोई ऐसा प्रचण्ड मनोवेग नहीं मिलेगा जिसके परिपक्व होने के लिए उसकी पूर्ववर्ती परिस्थिति में यथेष्ट सामग्री न प्रस्तुत की गई हो। बहुत से नाट्यकार शृङ्गाररस के पण्डित होने के कारण प्रेम का वर्णन केवल साहित्यिक नियमों के अनुसार करते हैं। किन्तु शेक्सपियर की शैली बिलकुल निराली है। वह पहले प्रत्येक आवेग का अङ्कुर ढूँढ़ता है, किस प्रकार यह छोटा सा अङ्कुर धीरे धीरे हमारे हृदय में पलता रहता है और किस प्रकार अज्ञात रूप से दिन प्रतिदिन परिपक्वावस्था को पहुँचता रहता है, फिर वह कैसे अन्य भावनाओं को अपना गुलाम बना लेता है और अन्त में हमारे राग-द्वेषों के साथ किस निर्दयता से खेल खेलता है, इसका विशद वर्णन शेक्सपियर के नाटकों में खूब मिलता है अन्धकारमय नैराश्य अथवा हृदय का दौर्बल्य या पागलपन आदि। जैसे मानसिक रोगों का जितना यथार्थ और सच्चा विश्लेषण शेक्सपियर ने किया है उतना शायद ही कोई दूसरा कवि कर सका हो। यह कहना किसी प्रकार अत्युक्ति न होगा कि डाक्टर लोग इस विषय में उसके वर्णनों से उतना ही लाभ उठा सकते हैं जितना जीवित रोगियों की मानसिक अवस्था से।

इतना होने पर भी जानसन सरीखे समालोचकों का मत है कि शेक्सपियर के मानसिक विश्लेषण में बहुत कुछ अस्वाभाविकता और बनावट आगई है। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं कहीं उसकी रचना में ऐसे सन्दर्भ हैं जहाँ बातचीत का ढङ्ग कल्पना की उड़ान या चातुर्य्य के बाहुल्य से वास्तविकता का अतिक्रमण कर गया है और वहाँ शेक्सपियर स्वयं पात्रों के बीच में खड़ा हुआ बातें करता दिखाई देता है। किन्तु ऐसे स्थल संख्या में बहुत थोड़े हैं। अन्य स्थलों के सम्बन्ध में सच बात तो यह है कि कुछ लोग जो बात उन्हें पसन्द नहीं आती है उसे अस्वाभाविक कह देते हैं। कुछ लोग सर्वथा कल्पना-शून्य भाव-समुच्चय को ही, जिसमें केवल रोटी-दाल का प्रश्न हो, साधारण अथवा स्वाभाविक समझते हैं। किन्तु ऐसे प्रचण्ड और उग्र मनोवेगों के अस्तित्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता जिनसे सारा मानसिक क्षेत्र कुछ देर के लिए आलोकित होने लगता है। जिनके कारण कभी कभी मनुष्यों की जीवनधारा ही पलट जाती है। कभी क्रोध से चातुर्य का आविर्भाव होता है, कभी नैराश्य हँसी के रूप में परिणत हो जाता है और कभी उससे विरोधात्मक व्यङ्ग करने की आदत पड़ जाती है। एक और भी बात है। अभी तक कविता का रूप ठीक ठीक स्थिर नहीं हुआ है। शेक्सपियर सदैव अपने लक्ष्य को ध्यान में रखता था और कुशलतापूर्वक वहाँ पहुँच भी सकता था, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि उसने कभी कभी जान बूझ कर शोकाकुल परिस्थिति की उत्तेजना को कम करने के लिए अपनी स्वतन्त्र और कुछ अस्वाभाविक कल्पना से काम लिया है। जैसे बीच बीच में हमारी समवेदना के भार को हलका करने के लिए सङ्गीत का समावेश कर दिया है। एक प्राचीन रोमन व्याख्यानदाता का कहना है कि करुण-रस का कभी आवश्यकता से अधिक वर्णन नहीं करना चाहिए, क्योंकि आँसू बहुत जल्दी सूख जाते हैं। शेक्सपियर ने अज्ञात रूप से इसी उक्ति का अनुसरण किया है।

शेक्सपियर के प्रति दूसरा आक्षेप यह है कि उसने घृणोत्पादक नैतिक दुराचरणों का वर्णन किया है, जिससे हमारा हृदय घबरा उठता है, कहीं कहीं तो उसने बे-सिर पैर के अथवा जघन्य पापों के बीभत्स दृश्य अङ्कित किये हैं। इस आक्षेप में कुछ सचाई मालूम होती है क्योंकि उसने कभी जङ्गली और रक्तपिपासु मनोवेगों पर सुनहला पानी चढ़ाने की चेष्टा नहीं की है। पाप को पाप के ही रूप में दिखलाना ठीक समझा है। उसने सिद्धान्तहीनता को आत्मा की महत्ता का चिह्न ठहराना उचित नहीं समझा और इस विषय में उसे कोई दोष भी नहीं दे सकता है। उसने दो घोर पापियों का चित्र भी खींचा है, किन्तु किस कौशल से कि उनके घृणात्मक पापों का प्रभाव हमारे हृदय पर नहीं पड़ने पाता है, यह यागो और रिचर्ड के चरित्र से ही ज्ञात हो सकता है। एक तुच्छ और डरपोक जाति के बीच में रहने से कवि का साहस कम हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु शेक्सपियर के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि उसके समकालिक उच्च और नम्र भावनाओं के अच्छे पर-

खैया थे; एक प्राचीन बलवान् जाति की सन्तान होने के कारण वे उग्र और उद्दण्ड मनोवेगों के अवलोकन से घबरा नहीं सकते थे। किन्तु आज-कल वह समय आगया है जब किसी नाटक के अन्त में किसी प्रेमासक्त राजकुमारी का व्याकुल होकर बेहोश हो जाना ही नाटक को दुःखान्त बना देता है। शेक्सपियर की भयङ्कर घटनाओं को कोई चाहे अनुचित कहे, हम तो उसे बल का ही सूचक समझते हैं। इस चिन्ताशील नाट्यकार में यदि एक ओर संसार में तूफ़ान फैलाने की धुन है, पृथ्वी को भूकम्प से उथल-पुथल करने का शौक़ है, जिनकी भयङ्करता देखकर हमारे रोंगटे खड़े होते हैं, जिनकी बीभत्सा से हमारा ख़ून सूख जाता है, तो दूसरी ओर मनोहर काव्य का माधुर्य्य भी मौजूद है। वह बच्चे की तरह प्रेम से खेलता है, उसका सङ्गीत जीवित मनुष्य की एक आह है।

वह कभी पर्वत के शिखर पर चढ़ता है तो कभी समुद्र के अन्तस्तल में पैठ जाता है। एक ही व्यक्ति में इतने विचित्र और बेमेल गुणों का सम्मिलन बड़ा ही विस्मयजनक मालूम होता है, ऐसा भान होता है कि प्रकृति देवी ने अपना सारा अमूल्य कोष उसके हाथों अर्पित कर दिया है! शक्ति में देवता-तुल्य, भविष्यद्वाणी में पैग़म्बर के समान, ज्ञान में एक उत्कृष्ट अनुभवी होने पर भी उसने अपने आपको इस मृत्युलोक में घसीटा है, मानो उसको अपनी प्रतिभा की कुछ भी सुध नहीं है, सदैव एक नन्हें से बच्चे के समान हँसमुख और निरभिमान दिखाई देता है।

पञ्चम हेनरी, अभिनेता—सर एफ़ आर वेनसन।

करुणरस के साथ साथ शेक्सपियर हास्यरस के वर्णन में भी बड़ा प्रवीण है। इस क्षेत्र में भी उसकी शैली उतनी ही उच्च, उतनी ही विस्तृत, उतनी ही प्राञ्जल है। यद्यपि वह हास्यरस के लिए उपयुक्त परिस्थिति जुटाने में

ड़ा सिद्धहस्त था, किन्तु उसमें इस रस की प्रधानता नहीं थी। उसकी हास्यरस की उक्तियाँ एक-दम मौलिक हैं, पूर्ववर्त्ती साहित्य में उनका कोई चिह्न नहीं दिखाई देता है। इसके विरुद्ध गम्भीर अंश का आधार ढूँढ़ने से पूर्ववर्त्ती साहित्य में आसानी से मिल जाता है। उसके हँसमुख पात्र चिन्ताशील पात्रों के समान ही नैसर्गिक, और वैचित्र्यपूर्ण हैं। उसका हास्य कभी भद्दा नहीं होता है, कहीं कहीं तो उसने ऐसी सूक्ष्म और मधुर चुटकी ली है कि उसको स्टेज पर ठीक ठीक दिखाना साधारण अभिनय करनेवालों का काम नहीं है। साधारण दर्शक उसकी बारीकी के समझ भी नहीं सकता है, हमारे देश में तो रंग-मञ्च की ओर अभी लोगों का विशेष ध्यान नहीं है। जिस दिन यहाँ भी यूरोप के समान दर्शक और अभिनेता होंगे, शायद वह दिन अभी दूर है। यूरोप में साधारण मनुष्यों की कौन कहे समाज के प्रतिष्ठित मनुष्य भी रंग-मंच पर कौशल दिखाना अपना गौरव समझते हैं। वास्तव में ज्यों ज्यों अभिनय में उन्नति होती जाती है त्यों त्यों नाटकों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होता जाता है। और जनता के उत्साह के अनुसार ही दृश्य-काव्य में उन्नति होती है।

ग्रुमियो, अभिनेता—हैरी केन।

शेक्सपियर के पक्षपातियों और विरोधियों ने उसके विषय में क्या कहा है इसका कुछ उल्लेख हमने ऊपर किया है। अब हम यहाँ उसके दो एक नाटकों का सिंहावलोकन करना चाहते हैं। शेक्सपियर का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है, सभी विषयों पर उसने क़लम चलाई है। उसकी कला और प्रतिभा का परिचय उसके दुःखान्त नाटकों में मिलता है। ओथेलो का कथानक बिलकुल सीधा-सादा है तो किंगलियर का कथानक विशाल और विस्तीर्ण है। यदि जुलियस सीज़र का धाराप्रवाह बिलकुल स्वाभाविक है तो मेकबेथ जटिल और काल्पनिक सङ्कीर्णता से भरा हुआ है। दुःखान्त नाटक विशेषकर हृदयग्राही होते हैं, क्योंकि उसमें एक महान् आत्मा के उद्योगों और यातनाओं का वर्णन होता है, स्वाभाविक विकास में रुकावट पड़ने के कारण अथवा उसके अन्तःकरण में आवश्यक सामञ्जस्य न होने के कारण किसी विशेष परिस्थिति में पड़ने से एक साथ ही उसकी महत्ता, उसकी कमज़ोरी और उसका अवश्यम्भावी दुष्परिणाम प्रकट हो जाता है।

जुलियस सीज़र—नाटक के अन्त में नायक के सबसे कट्टर शत्रु ने नायक की प्रशंसा इस भाँति की है—यह रोमन-जाति का मुकुटमणि है, इसका जीवन उदार है। प्रकृति ने इसमें चुन चुन कर ऐसे गुण एकत्र किये हैं कि हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि यह एक सच्चा मनुष्य है। इससे नायक की महत्ता में कोई सन्देह नहीं

रह जाता है, किन्तु नायक की अध्यक्षता में जो महान् आन्दोलन उठाया गया था वही अन्त में सर्वथा विफल हुआ है, नायक और उसके साथियों को ही अन्त में हार खानी पड़ी है। कार्य-प्रणाली को देखने से ब्रूटस ही इस सर्वनाश का एक-मात्र कारण मालूम होता है। ऐतिहासिक ब्रूटस एक बहुत ही योग्य राजनीतिज्ञ हो गया है, किन्तु शेक्सपियर ने अपने ब्रूटस को एक ऐसी परिस्थिति में लाकर खड़ा किया है जहाँ वह एक-दम अयोग्य सिद्ध होता है। शेक्सपियर ने इसके द्वारा वह महान् आदर्श दिखाया है जिसमें लौकिक सफलता अथवा विफलता से विशेष प्रयोजन नहीं रहता, जहाँ हृदय प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने को तैयार हो जाता है, जहाँ असफलता से घबराहट नहीं बरन एक प्रकार का प्रेम उत्पन्न हो जाता है।

'टेमिंग आव् दी श्रु' नाटक में मिस्टर मैथेसन लैंग और मिस हैटिन ब्रिटेन।

ब्रूटस एक दार्शनिक आदर्शवादी के रूप में दिखाया गया है, वह शत्रु के पाश में उतनी ही शान्ति के साथ प्रवेश करता है जितने डर के साथ स्वार्थी प्राणी वहाँ से भागते हैं। नाटक दुःखान्त अवश्य है, किन्तु स्वयं ब्रूटस में शोक या पश्चात्ताप के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते। वह अपने महत् उद्देश का प्रारम्भिक अंश बड़ी आसानी के साथ पूरा कर लेता है, मित्र किन्तु अन्यायी सीज़र का वध बहुत जल्दी हो जाता है। इसकी मृत्यु से जो आपदायें उठती हैं उनके लिए ब्रूटस के दिल में कभी पछतावा नहीं होता, प्रत्युत वह उनको अनिवार्य समझ कर धैर्य के साथ सहन करता है। अर्द्धरात्रि के समय बाग़ में टहलते हुए उसके हृदय से जो उद्गार निकले हैं उनसे प्रकट होता है कि उसके मनोविकार तर्क-द्वारा संयतरूप में आ गये थे, उसके मनोवेगों में परस्पर सङ्घर्ष नहीं दिखाई देता है। जब सीज़र की आत्मा भूत के रूप में ब्रूटस के सामने आती है तब वह घबराता या डरता नहीं है। हाँ, उसको इस बात से अचम्भा अवश्य होता है कि सीज़र अब भी राज्य कर रहा है। जो ब्रूटस कभी किसी से डरनेवाला नहीं था वह भूतात्मा से कहता है, तू महत् है, तू निस्संदेह महत् है।

हेमलेट—हेमलेट के पिता को, जो बादशाह था, उसके चाचा ने मार डाला था, इस पर उसके पिता की प्रेतात्मा ने हेमलेट को अपने चाचा से बदला लेने के लिए प्रेरित किया था। यही कथा नाटक का आधार है। इस प्रसिद्ध कहानी के आधार पर अन्य कई नाटक

हेमलेट, अभिनेता—मिस्टर फार्ब्स रोबर्टसन।

चे गये हैं। किसी किसी में दिखाया गया है कि हत्याकारी बादशाह हेमलेट के सामने अपनी सफ़ाई दे रहा है और हेमलेट दरबारियों के षड्यन्त्रों के द्वारा अपने चाचा से बदला लेने के लिए कमर कसता है। किन्तु शेक्सपियर ने अपने नाटक में षड्यन्त्रों को कोई महत्त्व नहीं दिया है। उसके सामने यह प्रश्न भी नहीं है कि हेमलेट बदला लेने में समर्थ होता है या असमर्थ। हेमलेट भी ब्रूटस की भाँति आदर्शवादी है, वास्तविक अवस्था और आदर्शावस्था के कठोर अन्तर को खूब अच्छी तरह से समझता है। उसकी दृष्टि में किसी व्यक्तिविशेष के राज्य से संसार का रोग दूर नहीं हो सकता। उसको तो बुराई चारों ओर घुसी हुई दिखाई देती है। वह संसार को उस बाग़ से तुलना करता है जो केवल प्रकृति के सहारे घट बढ़ रहा है जिस पर कभी माली की कतरनी नहीं चलाई गई है। ब्रूटस ने सोचा था कि वह तलवार के एक ही वार से इस रोग को दूर कर देगा। इसके विरुद्ध सर्वव्यापिनी बुराई के बाहुल्य से हेमलेट नैराश्य के गर्त्त में इतने नीचे उतर गया था कि उसकी कार्यशक्ति ही नष्टप्राय हो रही थी। यदि उसका परम प्रिय मित्र हुरेशियो या उसके पिता की पवित्र स्मृति उसके साथ न होती तो शायद वह भलाई में विश्वास करना ही छोड़ देता। जन्म से ही वह इस प्रकार नैराश्यपूर्ण नहीं था, क्योंकि नाटक के दूसरे गर्भाङ्क में हम उसको संसार और संसार की सर्वोत्तम वस्तु मनुष्य के गौरव से आह्लादित होते देखते हैं। किन्तु उसमें नैराश्य की ओर थोड़ी बहुत प्रवृत्ति अवश्य विद्यमान थी और जब उसका प्यारा बाप एकाएक गुप्त रीति से मार डाला गया और जब उसकी माता उसके पिता के हत्याकारी की प्रियतमा बन गई तब तो मनुष्य के गौरव की झलक उसके सामने से अदृश्य हो गई। आदमी उसको केवल मिट्टी और पानी का पुतला मालूम होने लगा, जीवन की एक से एक बहुमूल्य वस्तुएँ उसको अरुचिकर और अमङ्गलदायक मालूम होने लगीं। किन्तु इसके बाद जब उसको अपने पिता का अद्भुत सन्देश मिला तब तो पाठकों को आशा होती है कि अब हेमलेट पितृवियोग के

हार्दिक शोक और जघन्य पाप के प्रति उत्कट घृणा से प्रेरित होकर अवश्य बदला लेने के लिए उठ खड़ा होगा। क्षण भर के लिए उसका शरीर दहल जाता है, किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी कार्यशक्ति का क्षणिक आवेग ठण्ढा पड़ जाता है। उसका तीव्र मस्तिष्क नये नये विचारों में तल्लीन हो जाता है। बार बार सोचता है कि कल ऐसी युक्ति करूँगा जिससे बड़ी सुन्दरता के साथ बदला लिया जा सके, किन्तु आज तो यह कार्य अवश्य स्थगित कर देना चाहिए। कल आने पर फिर कल के लिए इसी सोच-विचार में काम टाल दिया जाता है। कभी कभी आवेग से थोड़ी बहुत तीव्रता उसमें आ जाती है, किन्तु वह अधिक देर के लिए नहीं टिकती है, धीरे धीरे कार्यशक्ति की क्षुद्रता का अनुभव उसको घोर नैराश्य के अन्धकार में घसीट ले जाता है। हेमलेट का हृदय बहुत ही विशाल है, किन्तु जिस प्रकार इस उदार हृदय की पराजय हुई वह बहुत ही हृदयद्रावक है। जिस काम को उसके साधारण साथियों ने बिना किसी आवेग के धैर्य्य के साथ सम्पन्न कर दिया उसके विषय में निश्चय पर पहुँचने के लिए हेमलेट रात-दिन चिन्ता ही करता रहा।

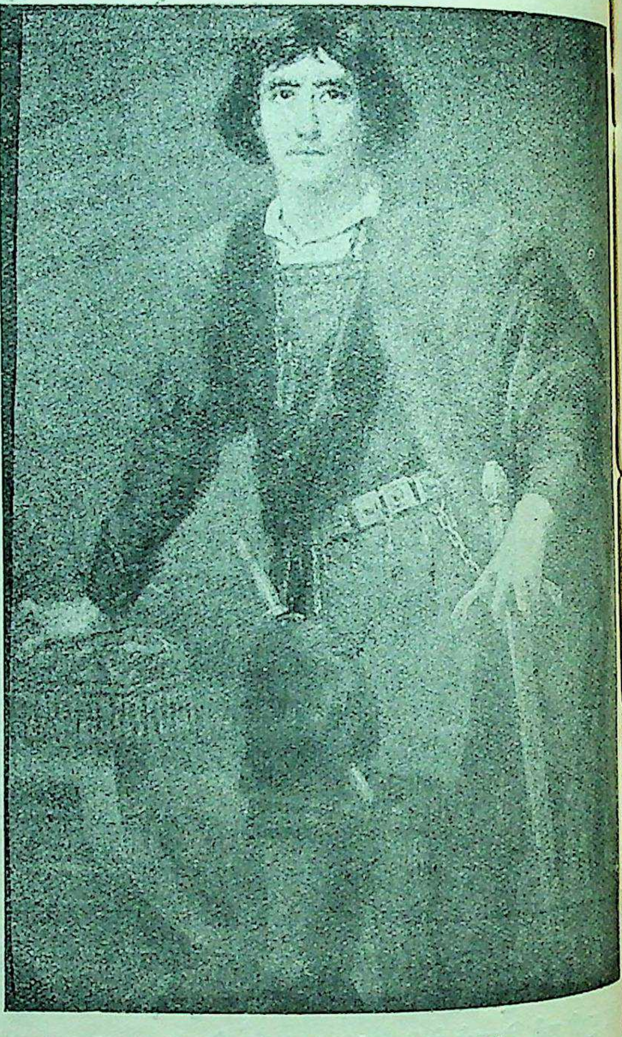

हेमलेट, अभिनेता, सर हेनरी इरविंग।

ओथेलो—यह शेक्सपियर का तीसरा दुःखान्त नाटक है। इसके कथानक में कोई प्रभावशाली घटना नहीं है, किन्तु जिस कुशलता से शेक्सपियर ने साधारण बातों के आधार पर बुद्धिगम्य और युक्तिपूर्ण घटनाचक्र का निर्माण करके नाटक को अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचा दिया है वह सर्वथा सराहनीय है। इसके नायक में हेमलेट की भाँति अनन्त विचारशीलता नहीं है। एक छोटी सी इटेलियन कहानी के आधार पर तत्कालिक समाज के रहस्यमय छलछिद्रों का चित्र खींचने के लिए इसका प्रणयन किया गया है। नाटक के तीन पात्रों—ओथेलो, डेस्डीमोना और यागो के परस्पर सङ्घर्षण से नाटक भीषण दुःख और करुणा की सीमा पर पहुँच जाता है। तीनों में केवल नायक ओथेलो हमारी करुणा का पात्र होता है। ओथेलो एक साहसी वीर है, सहज ही उदार है, सहसा किसी पर श करना तो जानता ही नहीं—ऐसे एक निश्छल व्यक्ति एक मानवी पिशाच ने अपनी शैतानी का शिकार बना है। यदि ओथेलो में ज़रा सी भी व्यवहार-कुशल होती तो यागो का षड्यन्त्र एक घड़ी भर भी नहीं टि सकता था। वह तो यागो को हमेशा सत्यव्रत यागो का कर पुकारा करता था। ओथेलो को किसी प्रकार संश- यालु करना आसान काम नहीं था, किन्तु एक बार संश- यालु होने पर उस संशय को मिटा देना तो हज़ार गुना

कठिन था। अपनी नवविवाहिता स्त्री के लिए, जिसके हृदय से वह एक-दम अपरिचित सा मालूम होता है, उसके हृदय में ऐसा अगाध प्रेम था मानो वह उसी के लिए जीवन धारण किये हुए है। किन्तु जब एक बार यागो के षड्यन्त्र में फँस कर उसकी यह धारणा पक्की होगई कि डेस्डीमोना पतिवञ्चक है तब तो वह एक-दम पागल हो गया। एक पतिपरायणा स्त्री की उसके स्वामी के हाथ अकारण हत्या, एक सती के प्रति कुलटा होने का दोषारोपण उतना भयङ्कर और करुणाजनक नहीं प्रतीत होता जितना ओथेलो का अज्ञान के वशीभूत होकर डेस्डीमोना सरीखी स्त्री को पतिवञ्चक समझ कर अपने हाथों उसका अन्त कर देना। साधारणतः नाटक के प्रारम्भ में कोई इस अमङ्गल का अनुमान भी नहीं कर सकता। ओथेलो और डेस्डीमोना ने रोमन-राज्य की सीनेट के सामने जिस तर्क और गम्भीरता के साथ अपना विवाह युक्तिपूर्ण सिद्ध किया था वह दृश्य सचमुच बड़ा कौशलपूर्ण है। भला, संसार में दो प्रेमी-हृदयों को मिलने से कौन रोक सकता है? सीनेट के दृश्य के समय कोई अन्तिम सर्वनाश का आभास भी नहीं पा सकता। किन्तु जब हम नाटक पर पुनः दृष्टिपात करते हैं, तब ज्ञात होता है कि यह सर्वनाश एक प्रकार से अनिवार्य था। नायक और नायिका के स्वभाव में और उस परिस्थिति में जिसमें उनका सम्मिलन हुआ है इस अमङ्गल के अङ्कुर विद्यमान दिखाई देते हैं। ओथेलो सीनेट के सामने कहता है—वह मुझे इसलिए प्यार करती है कि मैंने अपने जीवन में बड़े भयङ्कर सङ्कटों का सामना किया है और उनको धैर्य के साथ झेला है और मैं इसलिए प्यार करता हूँ कि उसने मेरी आपदाओं को सुनकर मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की है। इस वक्तव्य में हम देख सकते हैं कि उनके प्रेम की भित्ति कैसे क्षणिक आवेग की नींव पर स्थापित की गई थी।

ओथेलो, अभिनेता—मिस्टर ओस्कर ऐश।

ओथेलो डेस्डीमोना के लिए ही जीवित रहना चाहता था, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु प्रेम का बन्धन कितना सन्दिग्ध था, यह ओथेलो के कथन से बिलकुल स्पष्ट है। डेस्डीमोना में ऐसे दो गुण आकर मिले थे जिनके कारण उसका भयङ्कर दण्ड कुछ भी विस्मयजनक नहीं मालूम होता है। जो निश्छल और साथ ही साहस-प्रिय हो उसका धोखा खा जाना कुछ विलक्षण नहीं। यदि डेस्डीमोना में ज़रा सी भी लौकिक बुद्धि होती तो यागो का भण्डाफोड़ हो जाना कुछ कठिन काम नहीं था।

किंगलियर—यह शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों में सबसे अधिक विशाल और सबसे अधिक वात्सल्यपूर्ण है। नाटक के प्रारम्भ में ही किंगलियर की महान् शक्तियाँ बुढ़ापे के कारण बहुत कुछ क्षीण पड़ गई हैं। अपना राज्य अपनी तीनों बेटियों में बाँट कर अपने जीवन के अन्तिम दिवस अपनी सबसे छोटी किन्तु सबसे प्यारी लड़की कोरडीलिया की देखरेख में बिताने की इच्छा करना लियर के लिए बिलकुल स्वाभाविक है। किन्तु उसका

अपनी लड़कियों से पूछना कि कौन उसे सबसे अधिक प्यार करती है, उसके स्वभाव का सबसे अच्छा परिचायक है। कोरडीलिया जो अपने हृदयस्थित प्रेम को मुख-द्वारा नहीं वर्णन कर सकती थी, अपने पति फ़्रांस के बादशाह के साथ चली आती है। और लियर अपनी दोनों बड़ी लड़कियों के पास जाकर उनके मौखिक प्रेम का कटु अनुभव करता है। लियर ने राजमुकुट तो अपने सिर से उतार दिया था, किन्तु फिर भी स्वभावजन्य राजापन की बू उसके रग रग में समा रही थी। उसकी लड़कियों में भी इस आत्माभिमान की कमी नहीं थी। गौनरील और रीगन में तो वह कठोर किन्तु गुप्त एवं कौशलपूर्ण रूप से प्रकट हो रहा था और कोरडीलिया में वह उसकी हार्दिक भक्ति को और भी दृढ़तर बना रहा था। इसी लिए कोरडीलिया अपनी बहनों की अपेक्षा अपने पिता के अधिक अनुरूप थी। क्योंकि यद्यपि लियर में राजा होने के कारण अपनी बात को सर्वोपरि रखने की भयङ्कर आदत पड़ गई थी तो भी इस आत्मगौरव के नीचे बहनेवाली प्रेम और विचार की धारा बिलकुल सूख नहीं गई थी, यातनाओं की आँच से पिघल कर वह धीरे धीरे फिर बाहर निकल पड़ी। चारों ओर से भीषण तूफ़ान उठ रहा है, समुद्र के किनारे नङ्गे सिर खड़े होकर लियर इन्द्र से कह रहे हैं—हे देव! जल्दी से वज्रपात करो, पृथ्वी के टूक टूक कर दो, जिससे मेरी लड़कियों को अपनी कृतघ्नता का बदला मिल जाय। कैसा भीषण आवेग है! लियर का आत्माभिमान पात्रापात्र का विचार न करके कैसे विलक्षण रूप में प्रकट हो रहा है। गृहविहीन अवस्था में होने के कारण उसको ग़रीबों के साथ भी सहानुभूति हो जाती है। और तब वह बड़प्पन से आवृत बड़े लोगों के भावों की धज्जियाँ उड़ाकर मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखता है। उसका मस्तिष्क अस्तव्यस्त होने पर भी उसमें एक विशेष प्रकाश झलकता है। क्रोध थोड़ी देर में अपने आप शान्त हो जाता है। जब कोरडीलिया उसकी बग़ल में आ खड़ी होती है तब वह कहता है कि हम दोनों पिँजड़े में बन्द होने पर भी आनन्द के गीत गाया करेंगे। कैसा विलक्षण परिवर्तन है। हृदय के और शरीर के इस अन्तिम सम्मिलन से अन्तिम सर्वनाश की भयङ्करता और भी हृदयवेधक हो गई है।

मेकबेथ—यद्यपि भयङ्करता में यह नाटक भी किंगलियर के समान है, किन्तु इसका कथानक सीधा-सादा है। इस नाटक में शेक्सपियर ने नायक को ही षड्यन्त्री बनाया है और नायक के ही दुष्कर्मों के कारण नाटक दुःखान्त हो गया है। इन दुष्कर्मों के लिए कोई विशेष कारण भी नहीं है, केवल बड़प्पन की लालसा से प्रेरित होकर नायक ने ऐसा अनाचार किया है। अतएव नाटक में आदि से अन्त तक नीचता ही नीचता के दृश्य हैं। यह सब होने पर भी शेक्सपियर ने कथानक को महत्ता प्रदान कर दी है। मेकबेथ प्रारम्भ में एक वीर, साहसी और लोकप्रिय सिपाही की भाँति हमारे सामने आता है। अपने सीधे-सादे बादशाह के सिंहासन को हड़प जाने का उड़ता हुआ विचार उसके दिल में एक बार उठ चुका था, किन्तु जब जङ्गल के सुनसान में प्रेतात्माओं ने उसको बादशाह कह कर सम्बोधित किया तब उसकी इच्छा इतनी प्रबल हो गई कि उसकी पूर्ति के बिना उसको घड़ी भर चैन लेना दुर्लभ हो गया। इसलिए यद्यपि राज्य के लोभ से उसने भयङ्कर पाप का बोझ अपने सिर पर उठाने के लिए कमर कस ली तो भी उसमें हेमलेट की भाँति गम्भीर विचार की एक रेखा दिखाई देती है। वह काम करने जाता है, किन्तु उसको अपना सारा जीवन एक डरावना स्वप्न मालूम होने लगता है। बादशाह की हत्या करने के लिए जाते समय उसको डर मालूम होता है, हत्या करते समय उसका हाथ काँपता है, और जब हत्या कर चुकता है तब भीषण वेदना से पीड़ित होता है। एक हत्या के बाद दूसरी हत्या करनी पड़ती है। प्रत्येक हत्या के बाद उसका हाथ दृढ़तर होता जाता है और आन्तरिक मर्म-वेदना कम होती जाती है। इतना करने पर भी जब प्रेतात्माओं की भविष्यद्वाणी सच नहीं होती है तब वह घोर से घोर अमङ्गल की परवा न करके अपने लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। इस दृढ़ता से उसकी महत्ता प्रकट होती है।

मेकबेथ की स्त्री प्रारम्भ में अधिक आकर्षक मालूम होती है। उसका स्वभाव सीधा-सादा होने पर भी तीव्र है। जिस हत्या में मेकबेथ का हाथ काँपता है, वह वहाँ

उसको सँभाल लेती है। किन्तु इससे उसका साहस प्रकट नहीं होता है, बरन जैसे बात लगने पर कोई कष्ट सहकर भी उसे पूरा करना चाहता है, उसी प्रकार वह भी अपना आत्माभिमान स्थिर रखना चाहती है। उसमें न मेकबेथ के समान कल्पना है और न करुणा। मेकबेथ की भाँति राजा डनकन की मृत्यु पर सफलता के चिह्न दिखाई देने से उसको भी आनन्द का आभास नहीं मिलता है। किन्तु इसका कारण भिन्न भिन्न है। पहिली हत्या के बाद मेकबेथ का हाथ दृढ़ होता जाता है और उसकी स्त्री का कमज़ोर। इसके पहले शेक्सपियर ने स्त्रीपात्रों के जितने चित्र अङ्कित किये हैं उन सबमें स्त्री कहीं पुरुष की अनुगामिनी, कहीं एक लाचार कृपापात्र, कहीं सुन्दर परामर्शदात्री और कहीं भयङ्कर शत्रु के रूप में प्रदर्शित की गई है। यह पहला स्थल है जहाँ उसको मनुष्य की सहकारिणी होने का गौरव दिया गया है। वह भी मनुष्य को अपने व्यक्तित्व, आवेग और लालसा के द्वारा अपनी ओर खींच रही है।

रोमिओ और जुलियट—इस दुःखान्त नाटक का आधार एक प्रेमगाथा है। इसकी प्रत्येक लाइन में नव-जीवन की छाप लगी हुई है। कहीं आशा का उन्माद है तो कहीं नैराश्य का अन्धकार। रोमिओ और जुलियट एक दूसरे से प्रेम करते हैं, किन्तु प्रेमान्ध नहीं हैं। उनकी प्रत्येक बात से आनन्द झलकता है, उनका मनोवेग सर्वदा उच्च और आशाप्रद रहता है। उनका प्रेमालाप केवल मौखिक नहीं है, जिसको नवयुवक कविताओं और नाटकों में सीखते हैं, बरन उनके हृदय की उमङ्ग है। इस नाटक के विषय में बहुधा यह आक्षेप किया जाता है कि ऐसे अनुभवहीन बालक और बालिका की भावनाओं के आधार पर इसकी सृष्टि की गई है जिनको जीवन की भलाई और बुराई का कुछ भी ज्ञान नहीं है, अतएव इनका प्रेम, इनकी परस्पर सहानुभूति या आदर युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता है। सुतरां इनकी आशायें और निराशायें भी निर्मूल और विचित्र हैं। किन्तु वास्तव में शेक्सपियर ने नैसर्गिक मानव-जीवन का चित्र खींचा है, क्योंकि प्रेम का अङ्कुर किशोरावस्था में ही जम जाता है। अनुभूत आनन्द के आधार पर निस्सन्देह इन प्रेमियों के प्रेम की सृष्टि नहीं हुई है, बरन परस्पर प्रेम करने से इनको असीम आनन्द का स्रोत खोलने की आशा थी और इसी प्रयास में इन्होंने जो आनन्द उठाया था उसी से वे विह्वल हो रहे थे। उनको अपनी अपनी भावनाओं और इन्द्रियों का पूरा पूरा ज्ञान था। उनकी आशा तो हवा के समान थी और इच्छा अग्नि के सदृश। इच्छा की सीमा इच्छा ही हो सकती है। प्रेम और आनन्द की आशा सदैव अनन्त और अगाध हुआ करती है। केवल प्रत्यक्ष अनुभव कभी कभी इसमें बाधा डाला करता है। नवयुवकों की इच्छा और आशा जैसी तीव्र होती है, उनकी निराशा भी वैसीही हृदयविदारक हुआ करती है। नायक और नायिका नाटक में आनन्द के उच्चतर शिखर से उठाकर नैराश्य के निम्नतर गड्ढे में डाले गये हैं। शेक्सपियर की जुलियट केवल १४ वर्ष की है, वह प्रेम के नाम से भी अनभिज्ञ है। किन्तु ज्योंही रोमिओ की मूर्त्ति देखती है, त्योंही वह युवा स्त्री बन जाती है

'मेकबेथ' नाटक में मिस्टर मैथेसन लैंग और मिस हैटिन ब्रिटन।

और इधर रोमिओ का हृदय जिसने अभी तक स्त्रियों को आदर की दृष्टि से देखना भर सीखा था, जुलियट को देखते ही प्रेम से सराबोर हो जाता है। किन्तु इन दोनों में जुलियट ही अधिक आकर्षक मालूम होती है, क्योंकि उसने अपने प्रियतम के लिए अपूर्व साहस और त्याग किया है। इस नाटक में अन्य दुःखान्त नाटकों की भाँति नायक की दो बेमेल भावनाओं में सङ्घर्ष नहीं दिखाया गया है। उनका सारा शरीर और मन एक दूसरे के प्रेम से इस प्रकार भरा हुआ था कि उसमें दूसरी भावना के लिए स्थान ही न था। जब जुलियट को यह भ्रम होता है कि उसका यात्री रोमिओ नहीं बरन मोनटेग है तब उसका दिल दहल उठता है, वह चिल्ला उठती है—ओ रोमिओ, रोमिओ, तू कहाँ है! वह अँधेरी रात्रि के सन्नाटे में इस प्रकार चिल्लाती है माना उसका प्रेमी बड़ी उत्सुकता से उसकी पुकार सुन रहा हो। ज्योंही उसको मालूम होता है कि उसके प्रेमपात्र के हृदय में भी प्रेम की आग भड़क रही है, त्योंही उसके आचरण में एक अनुपम स्वच्छन्दता और आत्मविश्वास आजाता है, मानो वह प्रेम के उन्माद में लौकिक प्रथाओं और चालढाल को बिलकुल भूल गई है। वह अपने प्रियतम की मृत्यु की ख़बर धैर्य के साथ सुनती है उसके हृदय में भय का नाम नहीं रहता, यहाँ तक कि ज़हर का प्याला पीने में भी उसको कुछ हिचकिचाहट नहीं मालूम होती। केवल मरणस्थल की भयङ्करता कभी कभी उसकी कल्पना को डाँवाडोल कर देती है, किन्तु उसका प्रण सदैव अटल बना रहता है। रोमिओ की स्मृति और उसके दुःख की कल्पना इस भयङ्करता को भावी मिलाप के असीम आनन्द की अटूट आशा से धो डालती है। "लो रोमिओ, ठहरो, मैं भी आती हूँ," कह कर वह विष का प्याला पान कर लेती है।

रोमिओ का भी विकास हुआ है। पहले उसको आपदाओं की भट्टी में खूब तपना पड़ा था और तब कहीं जुलियट की विशुद्धता की थोड़ी सी झलक उसमें भी दिखाई देने लगी थी। वह भी जुलियट की अँधेरी क़ब्र पर, जहाँ जुलियट की अलौकिक ज्योत्स्ना चारों ओर फैली हुई थी, अपने प्राण विसर्ज्जन कर देता है।

अन्त में, चाहे हम शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक देखें और चाहे सुखान्त। एक बात प्रत्यक्ष है कि उसने सदैव जीवन के भिन्न भिन्न दृश्यों को अङ्कित किया है। जीवन, क्षण क्षण पर बदलने पर भी, अनादि और अनन्त है। शेक्सपियर ने इसी प्रत्यक्ष जीवन को अपना विषय बनाया है। इसीलिए शेक्सपियर के नाटकों में विचार-धाराओं का इतना अधिक वैचित्र्य है। मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों का चरम विकास दिखा देना ही श्रेष्ठ कवि का धर्म है। यही काम शेक्सपियर ने किया है। उसके प्रत्येक नाटक के पढ़ने से जीवन की अनन्तता की ओर, एक अनन्त, अज्ञात शक्ति की ओर सहसा हमारा ध्यान खिंच जाता है।

दीनदयालु श्रीवास्तव

विनय।

हम जीवित हैं पर नाथ! हमें
इस जीवन में कुछ सार नहीं।
उठता जगदीश! न शीश कभी
हिलता तक है दुख-भार नहीं।
अपने दिन ये किस भाँति कटें
अब आपस में कुछ प्यार नहीं?
हम रोक रहे फिर भी दृग से
रुकती अब है जल-धार नहीं॥१॥

निज पूर्व-दशा हम भूल गये
हमको अपना अब ज्ञान नहीं।
सब गौरव खो कर बैठ रहे
निज उन्नति का कुछ ध्यान नहीं।
भगवान! भला हम जायँ कहाँ
जग में जब है निज मान नहीं?।
हमको अपना अभिमान नहीं
हममें अब है कुछ आन नहीं॥२॥

बल-वैभव का किस भाँति प्रभो!
इस भाँति समूल विनाश हुआ?।

कुछ ज्ञान नहीं पड़ता हमको
अब क्या वह दिव्य प्रकाश हुआ ?।
अपना कुछ भी न रहा अपना
सपना वह पूर्व-विकास हुआ।
इतना अपना अब ह्रास हुआ
जगतीतल में उपहास हुआ ॥३॥
वह स्वच्छ उदार विचार कहाँ
वह है गुण-ग्राम ललाम कहाँ ?।
वह नीति तथा वह रीति कहाँ
वह प्रीति महा मुद-धाम कहाँ ?।
वह शील तथा वह शौर्य कहाँ
वह सज्जनता अभिराम कहाँ ?।
अब है वह ज्ञान प्रकाम कहाँ
जग में अपना वह नाम कहाँ ? ॥४॥
हममें अब पौरुष नेक नहीं
ममता न रही अपने जन में।
तन में बल का अब नाम नहीं
दृढ़ता कुछ भी न रही मन में।
हम हैं इस भाँति अबोध हुए
फँसते अति क्षुद्र प्रलोभन में।
तुमको प्रभु ! क्या यह ज्ञात नहीं
हम दीन फँसे किस बन्धन में ॥५॥
हम डूब रहे दुख-सागर में
अब बाँह प्रभो ! धरिए धरिए।
अखिलेश ! विशेष कहें हम क्या
बस शीघ्र कृपा करिए करिए ?।
यह भारत ग़ारत हो न कहीं
धन-धान्य यहाँ भरिए भरिए।
बस हो अब नेक विलम्ब नहीं
यह दीन दशा हरिए हरिए ॥६॥

गोपालशरणसिंह

रण-मन्दिर के देवी-देवता।

मनुष्यों के चिन्तन के लिए युद्ध एक अप्रतिम और गम्भीर विषय है। यह सत्य है और दुःख का भी विषय है कि हमारे उद्योग और आविष्कार का अधिकांश युद्ध की ओर झुकता है—उसे एक विचित्र दर्पण का स्वरूप देता है जिसमें हमारी सभ्यता की उन्नति की प्रतिच्छाया उलटी दिखाई पड़ती है। इसमें सन्देह नहीं कि अदृश्य शक्ति पर हम जितना विजयी हो रहे हैं उतना ही अधिक हम उसके अधीन हो रहे हैं। जब जब हम प्रकृति का रहस्य अथवा उसकी बाह्य निद्रा में उसकी कोई नवीन प्रकाश-तरङ्ग या उसका कोई नूतन शक्ति-द्वार देखते हैं तब तब हम उसका दासत्व स्वीकार करके उसका आहार बन जाते हैं और स्वयं स्वतन्त्र होने के हेतु प्रयत्न करने में अपने भीषण शत्रुओं को स्वतन्त्र कर देते हैं। यह सत्य है कि अन्त में ये शत्रु हमें अपनी सेवा अर्पित करते हैं जो हमें सर्वदा के लिए ग्राह्य होती है और जिसके त्याग करने में हमें सङ्कट प्रतीत होता है। परन्तु बहुधा देखा गया है कि उनमें प्रायः हर एक हमारी अधीनता स्वीकार करते ही हमें किसी न किसी महा भयङ्कर शत्रु के समक्ष उपस्थित कर देता है, जिससे हमारा भविष्य जितना अधिक वैभव-सम्पन्न होने लगता है उससे कहीं अधिक वह अस्थिर भी होता जाता है। इसका कारण यह है कि वे दूसरों की अपेक्षा हमारी दुर्बुद्धि तथा नैसर्गिक दुष्प्रेरणाओं को भलीभाँति जानते हैं। परिणाम यह होता है कि हमें अपनी बुद्धि को पूर्णतः विकसित करने के लिए कई शताब्दियाँ बितानी पड़ती हैं।

युद्ध-सम्बन्धी अधिकांश आविष्कारों के सम्बन्ध में ये सब बातें सत्य प्रतीत होती हैं। इसका प्रमाण भी गत योरपीय भीषण समर में यथार्थ रूप से मिल गया है। इतिहास के प्रारम्भ से नूतन और विचित्र शक्तियाँ, जो अन्त में परिपक्व होती जाती हैं, पहले पहल परीक्षा-द्वारा सिद्ध होकर प्रकृति के रहस्य से जाग्रत हुई हैं और रण-क्षेत्र में मनुष्यों के बदले आई हैं। गत युद्ध के पूर्व तक वे शक्तियाँ बहुत पीछे थीं और दूर से अपना कार्य सम्पा-

दन करती थीं। जान पड़ता है कि उन्हें प्रकट होने की इच्छा नहीं थी, परन्तु उनके अप्रकट और मनुष्यों के प्रकट कृत्यों में सम्बन्ध रहता था। तात्पर्य यह है कि बन्दूक़ की गोली की दूरी उतनी ही रही जहाँ तक मानव-दृष्टि की पहुँच थी और भीषण तथा नाशकारी तोपों की उत्पात-शक्ति उतनी ही रही जितनी मनुष्य को अपने कार्य-साधनार्थ आवश्यकता थी। इस संशोधन का परिणाम यह हुआ कि प्रकृति की वे सब भीषण और गुप्त शक्तियाँ जिन्हें हमने शोध निकाला था इतनी प्रबल हो गईं कि उन्होंने हमें पदच्युत कर दिया और हमारे अधिकार से निकल कर हमें पद-दलित कर दिया।

रण-क्षेत्र में उतर कर मनुष्यों ने जो अपना कौशल दिखाया उससे वह युद्ध का अन्त नहीं कर सका। होमर के समय में ओलिम्पस के देवता ट्राय की रण-भूमि में मनुष्यों की सहायता के लिए रजक-रङ्ग रञ्जित बादलों का कवच धारण करके युद्ध में सम्मिलित हुए थे। यद्यपि वे अदृश्य थे तो भी उन्होंने अपने आश्रितों की शक्ति भर सहायता की, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके पराक्रम से शत्रु-पक्ष के योधा भयभीत हो गये। परन्तु इन देवताओं की भी शक्ति और इनका रहस्य नियमित था। यद्यपि इनकी सहायता अलौकिक थी तथापि उस सहायता का स्वरूप मानुषीय ही था। उनका रहस्य मानुषीय शक्ति की सङ्कुचित कक्षा की परिधि के परे नहीं था। उनका अवतरण भी उसी स्वर्ग से हुआ था जिसका निर्माण मनुष्य की कल्पना से हो सकता था। उनके मानसिक विकार, उनके दुःख, उनके विचार मनुष्यों के मानसिक विकार, दुःख और विचारों से किञ्चित् परिमाणों में उच्च थे। इसके अनन्तर ज्यों ज्यों मनुष्यों की आत्मोन्नति होती गई, अज्ञानता की मात्रा घटती गई। आत्म-जाग्रति बढ़ती गई और संसार-रहस्य स्पष्ट होता गया, त्यों त्यों देवताओं की शक्ति-महिमा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और मनुष्यों से उनका अन्तर अधिकाधिक होने लगा। इसके अतिरिक्त मनुष्यों के ज्ञान की जैसे जैसे वृद्धि हुई, वैसे वैसे उन्हें यह भास होने लगा कि देवताओं के सम्बन्ध में उनकी अज्ञानता विशेष परिमाण में है। और जब उन्होंने सेना का सङ्गठन और उसकी वृद्धि की, अस्त्र-शस्त्रों में सुधार किये और विज्ञान-द्वारा प्राकृतिक तत्त्वों पर विजय पाया तब जो पहले युद्ध के देवता कहलाते थे वे सब धीरे धीरे संयोग, भावी और प्रारब्ध के रूप में परिणत होते गये और युद्ध में विजय पाना आकस्मिक घटना हो गई।

महर्षि टालसटाय ने बोरोडिनो और मोस्कोव के युद्ध का वर्णन करते हुए जो चित्र खींचा है उस पर विचार करने से प्रकट होता है कि वीर-शिरोमणि कुटुसाफ़ और नेपोलियन ने युद्ध-सम्बन्धी महत्त्व-पूर्ण बातों पर ध्यान नहीं दिया। केवल तुच्छ और छोटी छोटी बातों की ओर उनका मन आकर्षित हुआ। वे इस बात से भी अनभिज्ञ थे कि लड़ाई में क्या हो रहा है। कुटुसाफ़ केवल भाग्य पर भरोसा रखता था, सैनिक बल पर नहीं। नेपोलियन अपने को युद्ध का शासक और अपने पराक्रम को युद्ध की घटनाओं का कारण समझता था। यद्यपि नेपोलियन पराक्रमवादी था, परन्तु युद्ध की घटनाओं पर विचार करने से कहना पड़ता है कि उसे भी कुटुसाफ़ के समान आकस्मिक घटनाओं के सम्मुख अपनी युक्तियों का पराभव देखना ही पड़ता था। युद्ध का सञ्चालक बनते हुए भी वह अपरोक्ष रूप से भाग्य पर ही अवलम्बित था। होनहार घटनायें आपसे आप घटती थीं, परन्तु वह अपने युद्ध-कौशल, अग्रविचार और पूर्व निश्चित युक्तियों को ही उन सब घटनाओं का कारण समझता था। वास्तव में युद्ध अपनी स्वाभाविक धारा में ही प्रवाहित होता है। मनुष्य भले ही उसकी गति को शासित करने तथा उस पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करे, वह कभी किसी की नहीं सुनता।

यद्यपि नेपोलियन के समय की बाह्य शक्तियाँ, जिससे उसकी सेना को अपने कार्य में सहायता मिलती थी, बाल्यावस्था में थीं तथापि आधुनिक सेनाध्यक्षों में एक नेपोलियन ही इस बात पर दृढ़ बना रहा कि युद्ध का शासन मनुष्य के अधिकार में है। परन्तु वर्तमानकाल में भला उससे क्या बन पड़ता? क्या वह युद्ध पर अपने उस अधिकार का शतांश प्रभाव भी डाल सकता था, जिससे वह युद्ध की हार-जीत को नियन्त्रित करने का दम भरता था? उन रहस्यमय देवताओं का, जिनका

प्रादुर्भाव उसके समय में हुआ था, अब नाम-निशान नहीं रहा। अब अन्य रणदेवताओं का आविर्भाव हो गया है। रण में गुप्त रीति से सहायता करना इन देवताओं का काम नहीं है। प्रकट रूप से युद्ध में भाग लेना अर्थात् सैन्यपङ्क्ति को छिन्न भिन्न करना, सवारों के समुदाय को विच्छेद करना, जङ्गी जहाज़ के बेड़े को जल-मग्न करना और क़िलों को तहस-नहस करके धूल में मिलाना, इनका मुख्य कर्तव्य हो गया है। ये देवता उस अगम्य लोक से अवतरित होते हैं जो इनके पूर्वाधिकारी देवताओं के लोक के उस पार हैं। इनके विधान, इनकी शक्ति और इनके अभिप्राय की धारा उस अगोचर संसार से प्रवाहित होती है जो मनुष्य के जीवन और बुद्धि से परे है। वह संसार गुप्त और स्वरूपहीन है तथा मानव-लोक का संहारकर्ता है। उस भीषण और अन्धकारपूर्ण लोक का सञ्चालन भी उसी शक्ति से होता है जो ब्रह्माण्ड के अन्यान्य नक्षत्रों का शासन करती है। उसी अगम्य और अकुण्ठित शक्ति को, जिसका स्वरूप भीषण और जिसके कृत्य राक्षसी हैं, हम लोगों ने न्याय से अन्याय का निर्णय करने का भार सौंप दिया है।

अब देखना है कि जिन्हें हमने अन्याय से न्याय को पृथक् करने का अधिकार दे दिया है वे कौन कौन सी शक्तियाँ हैं। मान लो कि कोई मनुष्य यह देख सकता है कि हमारे चारों ओर क्या क्या उतरा रहा है। वह यह भी निर्णय कर सकता है कि उतरानेवाले ईथर में, जो हमें पारदर्शक और शून्य प्रतीत होता है, कौन कौन से पदार्थों का समावेश है। यदि ऐसी दिव्य दृष्टि का मनुष्य इस बिल्लौरी पिण्ड को, जहाँ हम सब विचरते हैं, जहाँ हमारे भाव, हमारी चेष्टा और हमारे विचार के प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, वेधन करे और उसके भीतरी रहस्य या दृश्य की सत्यता तथा उस अदृश्यता का अवलोकन करें जो हमें बन्धन में डालता है, जय-पराजय प्रदान करता है, पीछे हटने का आदेश देता है और इस असीमता की ओर अग्रसर होते देख कर हमारी गति को कुण्ठित कर देता है जो कल्पना से बाहर है, प्राकृतिक नियमों के वशीभूत है और मनुष्यों को अपना खिलौना जानता है, तो उसे प्रकट होगा कि वह दृश्य या रहस्य जितना भीषण है उतना ही आश्चर्यजनक है और उसके सम्मुख मानुषीय शक्ति कुछ नहीं के समान है। अब यह देखना है कि अदृश्य शक्तियों पर विजय प्राप्त करने की जो हमारे मन में भ्रान्ति है उसमें सत्यता की कितनी मात्रा है। उदाहरणार्थ ऐसे दो जङ्गी जहाज़ों के विषय में विचार करिए जो रण-साज से सुसज्जित हैं। इन जहाज़ों में कुछ सैनिक-दल भी हैं, जिनको गर्व है कि हमने विश्व के अपरिमित तथा अत्यन्त भयङ्कर शक्तियों पर अपना अधिकार जमा लिया है। अब यदि हम इन भीषण शक्तियों का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न करें तो प्रकट होगा कि उन शक्तियों की खोज में हमें ऐसे स्थान में भटकना पड़ता है जो शून्य है, अनन्त है, तत्त्वमय ग्रहों से परे है और विश्व-सीमा से इतनी दूर है, जहाँ बुद्धि, तर्कणा और कल्पना की गति ही नहीं है।

जब उन शक्तियों के अन्वेषण में हमारी बुद्धि, तर्कणा और कल्पना चक्कर खाती हैं, हताश होकर लौट आती हैं, तब हम किसी ऐसी क्षुद्र और परिमित शक्तियों पर विचार करें जो हमारे समीप हैं और जिन पर अधिकार पाने का हम पूर्ण दावा करते हैं। स्फोटन शक्ति इसी प्रकार की शक्ति है। इस शक्ति का, इस नवीन और सर्वोच्च देवी का, जिसने भूतकालीन सम्पूर्ण देवताओं को उनके रणमन्दिर से पदच्युत कर दिया है, जब हम स्वरूप निर्धारित करना चाहते हैं तब फिर हमारी बुद्धि, तर्कणा और कल्पना व्याकुल हो जाती हैं। यह उनकी समझ में ही नहीं आता कि उस देवी को, उस शक्ति को, कैसा भीषण और वृहत् स्वरूप दिया जाय। हे विभिन्न स्वरूप-धारिणी शक्ति! हे अकथनीय देवी! तुम्हारे समक्ष विचारी प्राचीन और कृश बारूद जो किसी समय हमारे पूर्वजों के भय का कारण थी और जिसका मेघ-तुल्य गर्जन देवताओं के भयङ्कर कोप का सूचक था, इस समय वैसी ही है जैसी कि बड़बड़ानेवाली सीधी-सादी बूढ़ी स्त्री। तुम्हारे अगणित भेदों में किसी एक का भी किञ्चित् पता पाना मनुष्य के लिए दुस्साध्य है। रसायनज्ञ, जो तुम्हें निद्रित अवस्था में परिणत करते हैं, और इञ्जीनियर तथा गोलन्दाज़, जो तुम्हें निद्रा से जाग्रत अवस्था में लाते हैं, तुम्हारे स्वभाव, तुम्हारे जन्म-स्थान,

तुम्हारी आत्मा, तुम्हारी अनन्त सीमा और तुम्हारे अदृश्य विधानों से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। क्या तुम उन वस्तुओं के फलस्वरूप हो जो काल के प्रारम्भ में गुप्त थे ? क्या तुम मृत्यु के रूपान्तर हो या घृणा के फुफकार हो ? भयङ्कर आनन्द की धड़कती हुई शून्यता हो या आनन्द की अधिकता हो ? क्या तुम जीवन के कोई नूतन स्वरूप हो जो बीसवीं सदी की पुराने धैर्य्य को पल भर में समाप्त कर देना चाहती हो अथवा शान्तता के परकोट के छिद्र में से प्रवाहित होनेवाली संसार की गूढ़ समस्या हो ? क्या तुम पृथ्वी को आकाश-मण्डल में आधार देनेवाली शक्ति भाण्डार से प्राप्त हुए ऋण हो अथवा आत्मा, वस्तु या ऐसी कोई तीसरी बात हो जिसे आज तक कोई नहीं जान सका है ? अच्छा, तुम कुछ भी हो, परन्तु इतना तो बताओ कि तुम्हारे नाशकारी क्रोध का आविर्भाव कहाँ से होता है ? तुम अपने कल की कला कहाँ रखती हो, जिससे बड़े बड़े महाद्वीपों का विध्वंस हो जाता है ? तुम्हारी गति-शक्ति जो नक्षत्रों के कटिबन्ध से भी बड़ी है और जिस पर तुम्हारी माता अपनी इच्छा का प्रयोग करती है, कहाँ से आविष्कृत होती है ?

सम्भव है कि इन सब प्रश्नों के उत्तर में तुम्हारे जन्मदाता और विज्ञान के आचार्य यह कहेंगे कि वायु-मण्डल की तली की सङ्कुचित कक्षा में अपरिमित गैस के बृहत् भाण्डार की अचानक उत्पत्ति तुम्हारी शक्ति का कारण है।

यही युद्ध-मन्दिर के देवी-देवताओं की भयङ्कर कथा है, जो जगत्-प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी मेटरलिङ्क के 'युद्ध के देवता' के आधार पर लिखी गई है।

वनमालीप्रसाद शुक्ल

नबी का नीति-निर्वाद।

(१)

हज़रत मुहम्मद को इलहाम हुए थोड़े ही दिन हुए थे, दस पाँच पड़ोसियों और निकट-सम्बन्धियों के सिवा अभी और कोई उनके दीन पर ईमान न लाया था। यहाँ तक कि उनकी लड़की ज़ैनब और दामाद अबुल-आस भी, जिनका विवाह इलहाम से पहले ही हो चुका था, अभी तक नये धर्म में दीक्षित न हुए थे। ज़ैनब कई बार अपने मैके गई थी और अपने पिता के ज्ञानोपदेश सुने थे। वह दिल से इसलाम पर श्रद्धा रखती थी, लेकिन अबुलआस के कारण दीक्षा लेने का साहस न कर सकती थी। अबुलआस विचार-स्वातन्त्र्य का समर्थक था। वह कुशल व्यापारी था। मक्के से खजूर, मेवे आदि जिनसे लेकर बन्दरगाहों को चालान किया करता था। बहुत ही ईमानदार, लेन-देन का खरा, श्रमशील मनुष्य था, जिसे इहलोक से इतनी फ़ुरसत न मिलती थी कि परलोक की चिन्ता करे। ज़ैनब के सामने कठिन समस्या थी, आत्मा धर्म्म की ओर थी, हृदय पति की ओर; न धर्म को छोड़ सकती थी, न पति को। घर के अन्य प्राणी मूर्त्तिपूजक थे और इस नये सम्प्रदाय के शत्रु। ज़ैनब अपनी लगन को छुपाती रहती, यहाँ तक कि पति से भी अपनी व्यथा न कह सकती। वे धार्मिक सहिष्णुता के दिन न थे। बात बात पर ख़ून की नदियाँ बहती थीं, ख़ानदान के ख़ानदान मिट जाते थे। अरब की अलौकिक वीरता पारस्परिक कलहों में व्यक्त होती थी। राजनैतिक सङ्गठन का नाम न था। ख़ून का बदला ख़ून, धनहानि का बदला ख़ून, अपमान का बदला ख़ून—मानवरक्त ही से सभी झगड़ों का निबटारा होता था। ऐसी अवस्था में अपने धर्मानुराग को प्रकट करना अबुलआस के शक्तिशाली परिवार को मुहम्मद और उनके गिने गिनाये अनुयायियों से टकराना था। उधर प्रेम का बन्धन पैरों को जकड़े हुए था, नये धर्म में प्रविष्ट होना अपने प्राणप्रिय पति से सदा के लिए छुड़ जाना था। क़ुरैश जाति

लोग ऐसे मिश्रित विवादों को परिवार के लिए कलङ्क समझते थे। माया और धर्म की दुविधा में पड़ी हुई ज़ैनब कुढ़ती रहती थी।

(२)

धर्म का अनुराग एक दुर्लभ वस्तु है, किन्तु जब उसका वेग उठता है तब बड़े प्रचण्ड रूप से उठता है। दोपहर का समय था। धूप इतनी तेज़ थी कि उसकी ओर ताकते हुए आँखों से चिनगारियाँ निकलती थीं। हज़रत मुहम्मद अपने मकान में चिन्तामग्न बैठे हुए थे। निराशा चारों ओर अन्धकार के रूप में दिखाई देती थी। ख़ुदैजा भी पास ही बैठी हुई एक फटा कुर्ता सी रही थी। धन-सम्पत्ति सब कुछ इस लगन के भेट हो चुकी थी। विधर्मियों का दुराग्रह दिनों दिन बढ़ता जाता था। इसलाम के अनुयायियों को भाँति भाँति की यातनायें दी जा रही थीं। स्वयं हज़रत को घर से निकलना मुश्किल था। ख़ौफ़ होता था कि कहीं लोग उन पर ईंट-पत्थर न फेंकने लगें। ख़बर आती थी कि आज अमुक मुसलमान का घर लूटा गया, आज फलाँ को लोगों ने आहत किया। हज़रत ये ख़बरें सुन सुन कर विकल हो जाते थे और बार बार ख़ुदा से धैर्य और क्षमा की याचना करते थे।

हज़रत ने फ़रमाया—'मुझे ये लोग अब यहाँ न रहने देंगे। मैं ख़ुद सब कुछ झेल सकता हूँ' पर अपने दोस्तों की तकलीफ़ नहीं देखी जाती।

ख़ुदैजा—हमारे चले जाने से तो इन बेचारों को और भी कोई शरण न रहेगी। अभी कम से कम आपके पास आकर रो तो लेते हैं। मुसीबत में रोने का सहारा कम नहीं होता।

हज़रत—तो मैं अकेले थोड़े ही जाना चाहता हूँ। मैं अपने सब दोस्तों को साथ लेकर जाने का इरादा रखता हूँ। अभी हम लोग यहाँ बिखरे हुए हैं। कोई किसी की मदद को नहीं पहुँच सकता। हम सब एक ही जगह एक कुटुम्ब की तरह रहेंगे तो किसी को हमारे ऊपर हमला करने की हिम्मत न होगी। हम अपनी मिली हुई शक्ति से बालू का ढेर तो हो ही सकते हैं जिस पर चढ़ने का किसी को साहस न होगा।

सहसा ज़ैनब घर में दाख़िल हुई। उसके साथ न कोई आदमी था, न आदमज़ात। ऐसा मालूम होता था कि कहीं से भागी चली आ रही है। ख़ुदैजा ने उसे गले लगा कर कहा—"क्या हुआ ज़ैनब, ख़ैरियत तो है?"

ज़ैनब ने अपने अन्तर्द्वन्द्व की कथा सुनाई और पिता से दीक्षा की प्रार्थना की। हज़रत मुहम्मद आँखों में आँसू भर कर बोले—"ज़ैनब, मेरे लिए इससे ज़्यादा ख़ुशी की और कोई बात नहीं हो सकती। लेकिन डरता हूँ कि तुम्हारा क्या हाल होगा।

ज़ैनब—या हज़रत, मैंने ख़ुदा की राह में सब कुछ त्याग देने का निश्चय कर लिया। दुनिया के लिए अपनी आक़बत को नहीं खोना चाहती।

हज़रत—ज़ैनब, ख़ुदा की राह में काँटे हैं।

ज़ैनब—लगन को काँटों की परवा नहीं होती।

हज़०—ससुराल से नाता टूट जायगा।

ज़ैन०—ख़ुदा से तो नाता जुड़ जायगा।

हज़०—और अबुलआस?

ज़ैनब की आँखों में आँसू डबडबा आये। कातर स्वर में बोली—"अब्बाजान, इसी बेड़ी ने इतने दिनों मुझे बाँध रक्खा था, नहीं तो मैं कब की आपकी शरण में आ चुकी होती। मैं जानती हूँ, उनसे जुदा हो कर जीती न रहूँगी और शायद उनको भी मेरा वियोग दुस्सह्य होगा; पर मुझे विश्वास है कि एक दिन ज़रूर आयगा जब वे ख़ुदा पर ईमान लायँगे और मुझे फिर उनकी सेवा का अवसर मिलेगा।"

हज़०—बेटी, अबुलआस ईमानदार है, दयाशील है, सत्यवक्ता है; किन्तु उसका अहङ्कार शायद अन्त तक उसे ईश्वर से विमुख रक्खे। वह तक़दीर को नहीं मानता, आत्मा को नहीं मानता, स्वर्ग और नरक को नहीं मानता। कहता है—"सृष्टि-सञ्चालन के लिए ख़ुदा की ज़रूरत ही क्या है? हम उससे क्यों डरें। विवेक और बुद्धि की हिदायत हमारे लिए काफ़ी है।" ऐसा आदमी ख़ुदा पर ईमान नहीं ला सकता। अधर्म को जीतना आसान है, पर जब वह दर्शन का रूप धारण कर लेता है तो अजेय हो जाता है।

ज़ैनब ने निश्चयात्मक भाव से कहा—"हज़रत, आत्मा का उपकार जिसमें हो मुझे वही चाहिए। मैं किसी इन्सान को अपने और खुदा के बीच में न रहने दूँगी।

हज़०—खुदा तुझ पर दया करे बेटी। तेरी बातों ने दिल खुश कर दिया। यह कह कर उन्होंने ने ज़ैनब को प्रेम से गले लगा लिया।

(३)

दूसरे दिन ज़ैनब को जामामसजिद में यथाविधि कलमा पढ़ाया गया।

कुरैशियों ने जब यह ख़बर पाई तब वे जल उठे। ग़ज़ब खुदा का। इसलाम ने तो बड़े बड़े घरों पर हाथ साफ़ करना शुरू किया। अगर यही हाल रहा तो धीरे धीरे उसकी शक्ति इतनी बढ़ जायगी कि उसका सामना करना कठिन होगा। लोग अबुलआस के घर पर जमा हुए। अबूसिफ़ियान ने, जो इसलाम के शत्रुओं में सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति था (और जो बाद को इसलाम पर ईमान लाया), अबुलआस से कहा—"तुम्हें अपनी बीबी को तिलाक़ देना पड़ेगा।"

अबुल०—हर्गिज़ नहीं।

अबूसि०—तो क्या तुम भी मुसलमान हो जाओगे?

अबु०—हर्गिज़ नहीं।

अबूसि०—तो उसे मुहम्मद ही के घर रहना पड़ेगा?

अबु०—हर्गिज़ नहीं। आप मुझे आज्ञा दीजिए कि उसे अपने घर लाऊँ।

अबूसि०—हर्गिज़ नहीं।

अबु०—क्या यह नहीं हो सकता कि वह मेरे घर में रह कर अपने मतानुसार खुदा की बन्दगी करे?

अबूसि०—हर्गिज़ नहीं।

अबु०—मेरी क़ौम मेरे साथ इतनी सहानुभूति भी न करेगी?

अबूसि०—हर्गिज़ नहीं।

अबु०—तो फिर आप लोग मुझे अपने समाज से पतित कर दीजिए। मुझे पतित होना मंज़ूर है। आप लोग चाहे जो सज़ा दें वह सब मंज़ूर है, पर मैं अपनी बीबी को तिलाक़ नहीं दे सकता। मैं किसी की धार्मिक स्वाधीनता का अपहरण नहीं करना चाहता, वह भी अपनी बीबी का?

अबूसि०—कुरैश में क्या और लड़कियाँ नहीं हैं?

अबु०—ज़ैनब की सी कोई नहीं।

अबूसि०—हम ऐसी लड़कियाँ बता सकते हैं जो चाँद को लज्जित कर दें।

अबु०—मैं सौन्दर्य का उपासक नहीं।

अबूसि०—ऐसी लड़कियाँ दे सकता हूँ जो गृहप्रबन्ध में निपुण हों, बातें ऐसी करें जो मुँह से फूल झड़ें, भोजन ऐसा बनायँ कि बीमार को भी रुचि हो। और सीने-पिरोने में इतनी कुशल कि पुराने कपड़े को नया कर दें।

अबु०—मैं इन गुणों में किसी का भी उपासक नहीं। मैं प्रेम, और केवल प्रेम का भक्त हूँ। और मुझे विश्वास है कि ज़ैनब का सा प्रेम मुझे सारी दुनिया में नहीं मिल सकता।

अबूसि०—प्रेम होता तो तुम्हें छोड़ कर दग़ा न करती।

अबु०—मैं नहीं चाहता कि प्रेम के लिए कोई अपने आत्म-स्वातन्त्र्य का त्याग करे।

अबूसि०—इसका आशय यह है कि तुम समाज में समाज का विरोधी बन कर रहना चाहते हो। अपने आँखों की क़सम समाज अपने ऊपर यह अत्याचार न होने देगा। मैं समझाये जाता हूँ; न मानोगे तो रोओगे।

(४)

अबूसिफ़ियान और उनके टोली के लोग तो धमकियाँ दे कर उधर गये। इधर अबुलआस ने लकड़ी सँभाली और वे ससुराल जा पहुँचे। शाम हो गई थी। हज़रत अपने मुरीदों के साथ मग़रिब की नमाज़ पढ़ रहे थे। अबुलआस ने उन्हें सलाम किया और जब तक नमाज़ होती रही ग़ौर से देखते रहे। आदमियों की क़तारों का एक साथ उठना, बैठना और सिजदे करना देख कर उनके दिल पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। वह अज्ञात भाव से सङ्गत के साथ बैठते, झुकते और खड़े हो जाते थे। वहाँ का एक एक परमाणु इस

समय ईश्वर-मय हो रहा था। एक क्षण के लिए अबुल-आस भी उसी भक्ति-प्रवाह में आ गये।

जब नमाज़ ख़तम हो गई तब अबुलआस ने हज़रत से कहा—"मैं ज़ैनब को विदा कराने आया हूँ।"

हज़रत ने विस्मित होकर कहा—'तुम्हें मालूम नहीं कि वह ख़ुदा और रसूल पर ईमान ला चुकी है।

अबु०—जी हाँ, मालूम है।

हज़०—इसलाम ऐसे सम्बन्धों का निषेध करता है।

अबु०—क्या इसका यह मतलब है कि ज़ैनब ने मुझे तिलाक़ दे दिया?

हज़०—अगर यही मतलब हो तो?

अबु०—तो कुछ नहीं। ज़ैनब को ख़ुदा और रसूल की बन्दगी मुबारक हो। मैं एक बार उससे मिल कर घर चला जाऊँगा और फिर कभी आपको अपनी सूरत न दिखाऊँगा, लेकिन उस दशा में अगर कुरैश-जाति आपसे लड़ने के लिए तैयार हो जाय तो इसका इलज़ाम मुझ पर न होगा। हाँ, अगर ज़ैनब मेरे साथ जायगी तो कुरैश के क्रोध का भाजन मैं हूँगा। आप और आपके मुरीदों पर कोई आफ़त न आयगी।

हज़०—तुम दबाव में आकर ज़ैनब को ख़ुदा की तरफ़ से फेरने का तो यत्न न करोगे?

अबु०—मैं किसी के धर्म में विघ्न डालना लज्जाजनक समझता हूँ।

हज़०—तुम्हें लोग ज़ैनब को तिलाक़ देने पर तो मजबूर न करेंगे?

अबु०—मैं ज़ैनब को तिलाक़ देने के पहले ज़िन्दगी को तिलाक़ दे दूँगा।

हज़रत को अबुलआस की बातों से इतमीनान हो गया। आस को हरम में ज़ैनब से मिलने का अवसर मिला। आस ने पूछा—"ज़ैनब, मैं तुम्हें साथ ले चलने आया हूँ। धर्म के बदलने से कहीं तुम्हारा मन तो नहीं बदल गया?"

ज़ैनब रोती हुई पति के पैरों पर गिर पड़ी और बोली—"स्वामी धर्म बार बार मिलता है, हृदय केवल एक बार। मैं आपकी हूँ। चाहे यहाँ रहूँ, चाहे वहाँ। लेकिन समाज मुझे आपकी सेवा में रहने देगा?"

अबु०—यदि समाज न रहने देगा तो मैं समाज ही से निकल जाऊँगा। दुनिया में रहने के लिए बहुत स्थान हैं। रहा मैं; तुम ख़ूब जानती हो कि किसी के धर्म में विघ्न डालना मेरे सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

ज़ैनब चली तो ख़ुदैजा ने उसे बदख़्शा के तालों का एक बहुमूल्य हार विदाई में दिया।

(५)

इसलाम पर विधर्मियों के अत्याचार दिन दिन बढ़ने लगे। अवहेलना की दशा से निकल कर उसने भय के क्षेत्र में प्रवेश किया। शत्रुओं ने उसे समूल नाश करने की आयोजना करना शुरू की। दूर दूर के क़बीलों से मदद माँगी गई। इसलाम में इतनी शक्ति न थी कि शस्त्रबल से शत्रुओं को दबा सके। हज़रत मुहम्मद ने अन्त को मक्का छोड़ कर मदीने की राह ली। उनके कितने ही भक्तों ने उनके साथ हिज़रत की। मदीने में पहुँच कर मुसलमानों में एक नई शक्ति, एक नई स्फूर्त्ति का उदय हुआ। वे निःशङ्क हो कर धर्म का पालन करने लगे। अब पड़ोसियों से दबने और छिपने की ज़रूरत न थी। आत्मविश्वास बढ़ा। इधर भी विधर्मियों का सामना करने की तैयारियाँ होने लगीं।

एक दिन अबुलआस ने आकर स्त्री से कहा—"ज़ैनब, हमारे नेताओं ने इसलाम पर ज़िहाद करने की घोषणा कर दी।"

ज़ैनब ने घबरा कर कहा—"अब तो वे लोग यहाँ से चले गये फिर ज़िहाद की क्या ज़रूरत?"

अबु०—मक्का से चले गये, अरब से तो नहीं चले गये। उनकी ज़्यादतियाँ बढ़ती जा रही हैं। ज़िहाद के सिवा और कोई उपाय नहीं। मेरा उस ज़िहाद में शरीक़ होना बहुत ज़रूरी है।

ज़ैन०—अगर तुम्हारा दिल तुम्हें मजबूर कर रहा है तो शौक़ से जाओ, लेकिन मुझे भी साथ लेते चलो।

अबु०—अपने साथ?

ज़ैन०—हाँ, मैं वहाँ आहत मुसलमानों की सेवा-शुश्रूषा करूँगी।

अबु०—शौक़ से चलो।

(६)

घोर सङ्ग्राम हुआ। दोनों दलों ने ख़ूब दिल के अरमान निकाले। भाई भाई से, मित्र मित्र से, बाप बेटे से लड़ा। सिद्ध हो गया कि धर्म का बन्धन रक्त और वीर्य के बन्धन से सुदृढ़ है।

दोनों दलवाले वीर थे। अन्तर यह था कि मुसलमानों में नया धर्मानुराग था। मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की आशा थी, दिलों में वह आत्म-विश्वास था जो नव-जात सम्प्रदायों का लक्षण है। विधर्मियों में बलिदान का यह भाव लुप्त था।

कई दिन तक लड़ाई होती रही। मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी, पर अन्त में उनके धर्मोत्साह ने मैदान मार लिया। विधर्मियों में अधिकांश काम आये, कुछ घायल हुए और कुछ क़ैद कर लिये गये। अबुलआस भी इन्हीं क़ैदियों में थे।

ज़ैनब को ज्यों ही यह मालूम हुआ उसने हज़रत मुहम्मद की सेवा में अबुलआस का फ़दिया (मुक्तिधन) भेजा। यह वही बहुमूल्य हार था जो ख़ुदैजा ने उसे दिया था। वह अपने पिता को उस धर्म-सङ्कट में न डालना चाहती थी जो मुक्तिधन के अभाव की दशा में उन पर पड़ता। हज़रत ने यह हार देखा तो ख़ुदैजा की याद ताज़ी होगई। मधुर स्मृतियों से चित्त चञ्चल हो उठा। अगर ख़ुदैजा जीवित होती तो उसकी सिफ़ारिश का असर उन पर इससे ज़्यादा न होता जितना इस हार से हुआ, मानो स्वयं ख़ुदैजा इस हार के रूप में आई थी। अबुलआस के प्रति हृदय कोमल होगया। इसे सज़ा दी गई, यह हार ले लिया गया तो ख़ुदैजा की आत्मा को कितना दुख होगा। उन्होंने क़ैदियों का फ़ैसला करने के लिए एक पञ्चाइत नियुक्त कर दी थी। यद्यपि पञ्चों में सभी हज़रत के इष्ट-मित्र थे, पर इसलाम की शिक्षा उनके दिलों से पुरानी आदतें, पुरानी चेष्टायें न मिटा सकी थी। उनमें अधिकांश ऐसे थे जिनको अबुलआस से पारिवारिक द्वेष था, जो उनसे किसी पुराने ख़ून का बदला लेना चाहते थे। इसलाम ने उनमें क्षमा और अहिंसा के भावों को अंकुरित न किया हो, पर साम्यवाद को उनके रोम रोम में प्रविष्ट कर दिया था। वे धर्म-विषय में किसी के साथ रू-रिआयत न कर सकते थे, चाहे यह हज़रत का निकट सम्बन्धी ही क्यों न हो। अबुलआस सिर झुकाये पञ्चों के सामने खड़े थे। और क़ैदी पेश होते थे, उनके मुक्तिधन का मुलाहज़ा होता था और वे छोड़ दिये जाते थे। अबुलआस को कोई पूछता ही न था, यद्यपि वह हार एक तश्तरी में पञ्चों के सम्मुख रक्खा हुआ था। हज़रत के मन में बार बार प्रबल इच्छा होती थी कि सहाबियों से कहें यह हार कितना बहुमूल्य है। पर धर्म का बन्धन, जिसे उन्होंने स्वयं प्रतिष्ठित किया था मुँह से एक शब्द भी न निकलने देता था। यहाँ तक कि समस्त बन्दीजन मुक्त होगये, अबुलआस अकेला सिर झुकाये खड़ा रहा— हज़रत मुहम्मद के दामाद के साथ इतना लिहाज़ भी न किया गया कि बैठने की आज्ञा तो दे दी जाती। सहसा ज़ैद ने आबुलआस की ओर कटाक्ष करके कहा—

‘देखा, ख़ुदा इसलाम की कितनी हिमायत करता है। तुम्हारे पास हमसे पँचगुनी सेना थी, पर ख़ुदा ने तुम्हारा मुँह काला किया। देखा या अब भी आँखें नहीं खुलीं?’

अबुलआस ने वितर्क भाव से उत्तर दिया—‘जब आप लोग यह मानते हो कि ख़ुदा सबका मालिक है तब वह अपने एक बन्दे को दूसरे की गर्दन काटने में मदद न देगा। मुसलमानों ने इसलिए विजय पाई कि ग़लत या सही उन्हें अटल विश्वास है कि मृत्यु के बाद हम स्वर्ग में जायँगे। ख़ुदा को आप नाहक़ बदनाम करते हैं।’

ज़ैद—तुम्हारा मुक्तिधन काफ़ी नहीं है।

अबुलआस—मैं इस हार को अपनी जान से ज़्यादा क़ीमती समझता हूँ। मेरे घर में इससे बहुमूल्य और कोई वस्तु नहीं है।

ज़ैद—तुम्हारे घर में ज़ैनब हैं, जिन पर ऐसे सैकड़ों हार क़ुर्बान किये जा सकते हैं।

अबु०—तो आप का मंशा है कि मेरी बीबी मेरा फ़दिया हो। इससे तो यह कहीं बेहतर है कि मैं क़त्ल कर दिया जाता। अच्छा अगर मैं वह फ़दिया न दूँ तो?

ज़ैद०—तो तुम्हें आजीवन यहाँ ग़ुलामों की तरह

रहना पड़ेगा। तुम हमारे रसूल के दामाद हो, इस रिश्ते से हम तुम्हारा लिहाज़ करेंगे, पर तुम गुलाम ही समझे जाओगे।

हज़रत मुहम्मद निकट बैठे हुए ये बातें सुन रहे थे। वे जानते थे ज़ैनब और आस एक दूसरे पर जान देते हैं। उनका वियोग दोनों ही के लिए घातक होगा। दोनों घुल घुल कर मर जायँगे। सहाबियों को एक बार पञ्च चुन लेने के बाद उनके फ़ैसले में दख़ल देना नीति-विरुद्ध था। इससे इसलाम की मर्यादा भङ्ग होती थी। कठिन आत्मवेदना हुई। यहाँ बैठे न रह सके, उठकर अन्दर चले गये। उन्हें ऐसा मालूम हो रहा था कि ज़ैनब की गरदन पर तलवार फेरी जा रही है। ज़ैनब की दीन, करुणापूर्ण मूर्ति आँखों के सामने खड़ी मालूम होती थी। पर मर्यादा, निर्दय, निष्ठुर मर्यादा यह बलिदान माँग रही थी।

अबुलआस के सामने भी विषम समस्या थी। इधर गुलामी का अपमान था, उधर वियोग की दारुण वेदना थी।

अन्त में उन्होंने निश्चय किया, यह वेदना सहूँगा, अपमान न सहूँगा। प्रेम को गौरव पर समर्पित कर दूँगा। बोले—"मुझे आपका फ़ैसला मंज़ूर है। ज़ैनब मेरा फ़िदिया होगी।"

(७)

निश्चय किया गया कि ज़ैद अबुलआस के साथ जायँ और आबादी से बाहर ठहरें। आस घर जाकर तुरन्त ज़ैनब को वहाँ भेज दें। आस पर इतना विश्वास था कि ये अपना वचन पूरा करेंगे।

आस घर पहुँचे तो ज़ैनब उनसे गले मिलने दौड़ी। आस हट गये और कातर स्वर से बोले—'नहीं ज़ैनब, मैं तुमसे गले न मिलूँगा। मैं तुम्हें अपने फ़िदिये के रूप में दे आया। अब मेरा तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तुम्हारा हार है, लेलो, और फ़ौरन यहाँ से चलने की तैयारी करो। ज़ैद तुम्हें लेने को आये हैं।"

ज़ैनब पर वज्र सा गिर पड़ा। पैर बँध गये, वहीं चित्र की भाँति खड़ी रह गई। वज्र ने रक्त को जला दिया, आँसुओं को सुखा दिया, चेतना ही न रही, रोती और बिलखती क्या। एक क्षण के बाद उसने एक बार माथा ठोंका—निर्दय तक़दीर के सामने सिर झुका दिया। चलने को तैयार होगई। घोर नैराश्य इतना दुखदाई नहीं होता जितना हम समझते हैं। उसमें एक रसहीन शान्ति होती है। जहाँ सुख की आशा नहीं, वहाँ दुख का कष्ट कहाँ?

मदीने में रसूल की बेटी की जितनी इज़्ज़त होनी चाहिए उतनी होती थी। वह पितागृह की स्वामिनी थी। धन था, मान था, गौरव था, धर्म था, प्रेम न था। आँख में सब कुछ, केवल पुतली न थी। पति के वियोग में रोया करती थी। ज़िन्दा थी मगर ज़िन्दा दर गोर। तीन साल तीन युगों की भाँति बीते। घण्टे दिन, और वर्ष साधारण व्यवहारों के लिए हैं। प्रेम के यहाँ समय का माप कुछ और ही है।

उधर अबुलआस द्विगुण उत्साह के साथ धनोपार्जन में लीन हुआ, महीनों घर न आता, हँसना-बोलना सब भूल गया। धन ही उसके जीवन का एक-मात्र आधार था, उसके प्रणय-वञ्चित हृदय को किसी विस्मृति-कारक वस्तु की चाह थी। नैराश्य और चिन्ता बहुधा शराब से शान्त होती है, प्रेम उन्माद से। अबुलआस को धनोन्माद हो गया। धन के आवरण में छिपा हुआ वियोग-दुख था, माया के परदे में छिपा हुआ प्रेम-वैराग्य।

जाड़ों के दिन थे। नाड़ियों में रुधिर जमा जाता था। अबुलआस मक्का से माल लाद कर एक क़ाफ़िला के साथ चला। रक्षकों का एक दल भी साथ था। क़ुरैशियों ने मुसलमानों के कई क़ाफ़िले लूट लिये थे। अबुलआस को संशय था कि मुसलमानों का आक्रमण होगा, इसलिए उन्होंने मदीने की राह छोड़ कर एक दूसरा रास्ता अख़्तियार किया। पर दुर्दैव, मुसलमानों को टोह मिल ही गई! ज़ैद ने ७० चुने हुए आदमियों के साथ क़ाफ़िले पर धावा कर दिया। धन के भक्त धर्म के सेवकों से क्या बाज़ी ले जाते। ७० ने ७०० को मार भगाया। कुछ मरे, अधिकांश भागे, कुछ क़ैद हो गये। मुसलमानों को अतुल धन हाथ लगा। क़ैदी घाते में मिले। अबुलआस फिर क़ैद हो गया।

(८)

क़ैदियों के भाग्य-निर्णय के लिए नीति के अनुसार पञ्चायत चुनी गई।

ज़ैनब को यह ख़बर मिली तो आशायें जाग उठीं, आशा मरती नहीं, केवल सो जाती है। पिँजरे में बन्द पत्ती की भाँति तड़फड़ाने लगी, पर क्या करे, किससे कहे, अब की तो फ़दिये का भी कोई ठिकाना न था। या ख़ुदा! क्या होगा!

पञ्चों ने अब की हज़रत मुहम्मद ही को अपना प्रधान बनाया। हज़रत ने इनकार किया, पर अन्त में उनके आग्रह से विवश होगये।

अबुलआस सिर झुकाये बैठे हुए थे। हज़रत ने एक बार उस पर करुणासूचक दृष्टि डाली। फिर सिर झुका लिया।

पञ्चायत शुरू हुई। अन्य क़ैदियों के घरों से मुक्ति-धन आ गया था। ये मुक्त किये गये। अबुलआस के घर से मुक्ति-धन न आया था। हज़रत ने हुक्म दिया इनका सारा माल और असबाब ज़ब्त कर लिया जाय और ये उस वक़्त तक बन्दी रहें जब तक उन्हें कोई छुड़ाने न आये। उनके अन्तिम शब्द ये थे।

'अबुलआस, इसलाम की रणनीति के अनुसार तुम ग़ुलाम हो। तुम्हें बाज़ार में बेचकर रुपये मुसलमानों में तक़सीम होना चाहिए था। पर तुम ईमानदार आदमी हो, इसलिए तुम्हारे साथ इतनी रिआयत की गई।

ज़ैनब दरवाज़े के पास आड़ में बैठी हुई थी। हज़रत का यह फ़ैसला सुनकर रो पड़ी। तब घर से बाहर निकल आई और अबुलआस का हाथ पकड़ कर बोली—अगर मेरा शौहर ग़ुलाम है तो मैं उसकी लौंडी हूँ। हम दोनों साथ बिकेंगे या साथ क़ैद होंगे।

हज़रत—ज़ैनब मुझे लज्जित मत करो। मैं वही कर रहा हूँ जो मेरा कर्तव्य है। न्याय पर बैठनेवाले मनुष्य को प्रेम और द्वेष दोनों ही से मुक्त होना चाहिए। यद्यपि इस नीति का संस्कार मैंने ही किया है, पर अब मैं उसका स्वामी नहीं, दास हूँ। अबुलआस से मुझे जितना प्रेम है यह ख़ुदा के सिवा और कोई नहीं जान सकता। यह हुक्म देते हुए मुझे जितना मानसिक और आत्मिक कष्ट हो रहा है उसका अनुमान हर एक पिता कर सकता है। पर ख़ुदा का रसूल न्याय और नीति को अपने व्यक्तिगत भावों से कलङ्कित नहीं कर सकता।

सहाबियों ने हज़रत की न्याय-व्याख्या सुनी तो मुग्ध हो गये। अबूजफर ने अर्ज़ की—हज़रत आपने अपना फ़ैसला सुना दिया, लेकिन हम सब इस विषय में सहमत हैं कि अबुलआस जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए यह दण्ड न्याय होते हुए भी अति कठोर है और हम सर्वसम्मति से उसे मुक्त करते हैं और उसका लूटा हुआ धन लौटा देने की आज्ञा माँगते हैं।

... ...

अबुलआस हज़रत मुहम्मद की न्यायपरायणता पर चकित हो गये। न्याय का इतना ऊँचा आदर्श! मर्यादा का इतना महत्त्व! आह! नीति पर अपना सन्तानप्रेम तक न्योछावर कर दिया! महात्मा तुम धन्य हो। ऐसे ही ममता-हीन सद्पुरुषों से संसार का कल्याण होता है। ऐसे ही नीतिपालकों के हाथों जातियाँ बनती हैं, सभ्यतायें परिष्कृत होती हैं।

मक्के आकर अबुलआस ने अपना हिसाब-किताब साफ़ किया, लोगों के माल लौटाये, ऋण चुकाये, और घर-बार त्याग कर हज़रत मुहम्मद की सेवा में पहुँच गये।

ज़ैनब की मुराद पूरी हुई।

प्रेमचन्द

अन्योक्तिमणिमाला।

(१)

ध्यानी निज सम रूप लखि बकहिं जानि बरवंस।
मिलि तासों भ्रमवस कहूँ कीन्ह मिताई हंस॥
कीन्ह मिताई हंस ताहि लै गयो मानसर।
करि स्वागत सम्मान, दीन्ह मोती मृनाल[1] वर॥
विहँसि कह्यो बक मोहि चाहिए सम्बुक-पानी।
'जनसीदन' अब हंस जानिगो जैसो ध्यानी॥

(२)

कीन्हों बक कों स्वच्छ लखि, सचिव विहङ्गमराज[2]।
राजहंस आयो मिलन निज समाज के काज॥

---

१ कमलनाल। २ गरुड़।

निज समाज के काज गरुड़ यह जानि सुखी भौ ।
स्वागत को आदेश पाय बक अधिक दुखी भौ ॥
लै हंसहि निज सङ्ग वास पल्वल[1] मह दीन्हों ।
'जनसीदन' निज भक्ष्य भेजि भल आदर कीन्हों ॥

(३)

कह्यो कीर ने काग कों चलहु हंस के पास ।
आयो तो सों मिलन को करि तुअ हित की आस ॥
करि तुअ हित की आस, आप चलि कै सनमानहु ।
चरन धूर सिर डारि भाग निज नीको जानहु ॥
'जनसीदन' मुँह फेरि लियो सुनि काग वीर ने ।
लग्यौ तीर सो विसद बैन जो कह्यौ कीर ने ॥

(४)

जनि विहँसहु पिक काग कों, सुनि कटु कर्कस बैन ।
परि पालक तेरो वही बाल वयस दिन रैन ॥
बाल वयस दिन रैन, मानि सन्तति सुख दीन्हों ।
मात पितहुँ तें बाढ़ि प्यार करि पालन कीन्हों ॥
ताको नित गुन गाय पाँय आदर सों परसहु ।
'जनसीदन' कलकण्ठ[2] कबहु ताको जनि विहँसहु ॥

(५)

कोयल ! तुअ अरु काग में कछु न वरन को भेद ।
द्विज[3] दोनों द्वै पच्छयुत फिरहु सुतन्त्र अखेद ॥
फिरहु सुतन्त्र अखेद सरसफल के दोउ भच्छक ।
अहै एक जगदीश सदा दोउन के रच्छक ॥
'जनसीदन' पिक लेत मोहि मन क्यों दुनिया को ।
कारन कछु न विशेष ! भेद इक वचन क्रिया को ॥

(६)

मन में भरी प्रवीनता, फुरती हू पुनि गात ।
स्वजन सनेही, स्याम रुचि, कहत सगुन की बात ॥
कहत सगुन की बात, प्रात उठि सबहि जगावत ।
खगपतिगुरुकुलजात[4] काग ! को नहि गुन गावत ॥
इक आमिष[5] तजि देहु, कौन तो सों द्विजगन[6] में ।
'जनसीदन' इक वार विचारहु तो यह मन में ॥

(७)

रे अरण्यचर, क्षुद्रमति, खल, उलूक ! अविचार ।
दुर्मुख, द्विजकुलनिन्द्य अति अपकृति को अवतार ॥
अपकृति को अवतार, अधम बादर के सङ्गी ।
करत विविध उत्पात सरस नव फल के भङ्गी ॥
'जनसीदन' कटु शब्द, सुनावत औगुन धारे ।
रुचत न रुचिर प्रकाश घोरतम विहरनवारे ॥

(८)

चमगादर के सङ्ग मिलि उल्लू महा मलीन ।
करत हंस के दोष की पञ्चायत मतिहीन ॥
पञ्चायत मतिहीन, अन्धतम विचरनवारे ।
लखत न निज दुश्चरित छिद्र विच विहरनवारे ॥
'जनसीदन' तमरासिहरन[1] को करत निरादर ।
मिले पुराने मीत भले तों को चमगादर ॥

(९)

विचरत सङ्ग समाज लै चहु दिसि निसि खद्योत[2] ।
अन्धकार मेटन चहत, जिय सङ्कोच न होत ॥
जिय सङ्कोच न होत कबहु कछु ज्योति जगावै ।
जा सों है प्रत्यक्ष, आप, निज दाप दिखावै ॥
या ही को वह धन्य मानि क्यों धीरज न धरत ।
'जनसीदन' लखि लेत लोग वाकों तम विचरत ॥

(१०)

लखि नभ नव श्यामल घटा सुनि जलधर धुनि धीर ।
मोर उमगि आनन्द सों नाचत अति गम्भीर ॥
नाचत अति गम्भीर जानि तेहि जीवनदाता[3] ।
सुखद, सरस अनुमानि होत अति पुलकित गाता ॥
'जनसीदन' स्वच्छन्द फिरत नित दुष्ट भुजग[4] भखि ।
यातें हरि गहि लियो पच्छ सिखि[5] स्वच्छ हृदय लखि ॥

(११)

सुमनन सों रस चूसि कै मधु सञ्चय बहु कीन्ह ।
आप न खायो मोहबस नहि काहू को दीन्ह ॥
नहि काहू को दीन्ह, लीन्ह अपयस जग भारी ।
मधुमाखी दिन रैन करी मधु की रखवारी ॥

---

[1] गढ़ा । [2] कोयल । [3] पच्छी । [4] गरुड़ के गुरु काकभुशुण्डि के कुलोत्पन्न । [5] अमेध्य वस्तु, मांस आदि । [6] पच्छिगण ।

[1] सूर्य्य । [2] जुगनू । [3] जल । [4] सर्प, कुटिल । [5] मयूर ।

लीन्हे भील निकारि सबै मधु बड़े यतन सों।
'जनसीदन' भौ कहा सरस रस लै सुमनन सों॥

(१२)

दै कमला जगदीश को सुरन सुधा सुखकन्द।
इन्द्रहि दै पुनि कल्पतरु पायो सुयस अमन्द॥
पायो सुयस अमन्द चन्द दै शिवहि रिझायो।
जलनिधि बहुविध रतन बाँटि निज नाम बढ़ायो॥
'जनसीदन' जन दीन तृषित तट जाहिँ आस कै।
तोषत ताहि न हाय! धन्य तू जल सुपास दै॥

(१३)

जब दिन आवै विपति को होत न कोउ सहाय।
देखत आँखि पसारि सब इष्ट बन्धु समुदाय[१]।
इष्ट बन्धु समुदाय यदपि सब गुन के आगर।
कियो न कछु उपकार कष्ट पायो बहु सागर॥
रहे मौनगहि इन्द्र, इन्दु[२] इन्दिरा[३] आदि सब।
'जनसीदन' करि कोप लग्यौ कुम्भज सोखन जब॥

(१४)

करिवर हरि[४] के त्रास ते मन में अति अकुलात।
ससक[५] ओट में आपनो चहत छिपावन गात॥
चहत छिपावन गात बात कछु समुझि न आवै।
करि अनुनय बहु विनय दीन ह्वै विपति सुनावै॥
'जनसीदन' सिर धरत चरणरज ताको निजकर[६]।
ससक रह्यौ दबि भूमि, भयो पागल यह करिवर॥

(१५)

करिवर सर औघट धस्यौ फँस्यौ पङ्क में आय।
चाहत बाहर होन को सूझत कछु न उपाय॥
सूझत कछु न उपाय हाय! व्याकुल ह्वै रोवै।
सुहृद स्यार[७] की आस राखि ताको मुख जोवै॥
विन गजेन्द्रबल पाय अहै उद्धार कठिनतर।
'जनसीदन' टुक सोचु आपनी गुरुता[८] करिवर॥

(१६)

सुनिलै मेरी बात को कहूँ तिहारे काज।
पुनि मनभावै सो करो महामत्त गजराज॥
महामत्त गजराज घोर जंगल को वासी।
जिहि मानुष मत मानि भयो नृपद्वार बिलासी॥
तिहि ह्वै दाँतन दाबि आज तुम करत धीरधुनि।
'जनसीदन' जग अहै दुखी यह तुअ अनीति सुनि॥

(१७)

सुरपति[१] को अति प्रिय यदपि ऐरावत गजराज।
तदपि तोहि करिबो न भल यह अनरथ को काज॥
यह अनरथ को काज भलो करि कौन मानि है।
बरु कृतघ्न गिनि तोहि विबुधगन[२] घृना ठानि है।
नन्दन[३] की श्री[४] नष्ट करत छिपि कल्पलता हति[५]।
'जनसीदन' का कियो सहस लोचन लै सुरपति॥

(१८)

आलसबस मृगराज तुम बैठ्यौ साहस खोय।
करो वृथा बलगर्व जनि रहो भले नित सोय॥
रहो भले नित सोय, कछू जिय जानहु नाँही।
अनरथ अकथ अनेक होत जो कानन माँही॥
वन शासन को भार लियो कौरव[६] ने बरवस।
'जनसीदन' यह उचित कहा? सोचहु तजि आलस॥

(१९)

वनशासन के हेतु विधि[७] रच्यौ तोहि मृगराज!
तू विषयन में भूलि कै करत न अपनो काज॥
करत न अपनो काज रहत सिंहिन मुख जोये।
यह न उचित है तोहि वृथा गौरव क्यों खोये॥
विचरहु कढ़ि इक बार गुफा तें करि उछाह मन।
'जनसीदन' कछु तबै जानिहौ देखि दसा बन॥

(२०)

करि कपोलमदहरन की सक्ति, अतुलबल पाय।
कहा बड़ाई! ससक ढिग निजबल गर्व जनाय॥
निजबल गर्व जनाय वृथा ताकों न सताओ।
जो तोंको लखि डरै अहा! तिहि भय न दिखाओ॥
करत करी[८] वनग्रास पास तुम देखि रहे हरि[९]।
'जनसीदन' कहु कहा! कियो बहुबल घमण्ड करि॥

---

१ समूह। २ चन्द्रमा। ३ लक्ष्मी। ४ सिंह। ५ खरहा। ६ सूँड़। ७ गीदड़। ८ भारीपन, श्रेष्ठता।

१ इन्द्र। २ देवता, पण्डितगण। ३ इन्द्र-कानन। ४ शोभा। ५ नाश करके। ६ गीदड़। ७ ब्रह्मा। ८ हाथी। ९ सिंह।

(२१)

केहरि ! साहस हीन ह्वै करत न कछू विचार ।
गहि खर पुच्छ पयोधि[१] के उतरन चाहत पार ॥
उतरन चाहत पार बैन आरत ह्वै बोलै ।
ताकी धुनि सुनि मुग्ध संग लगि जिततित डोलै ॥
'जनसीदन' यह देखि भये निर्भय हरि के अरि[२] ।
निज बल विक्रम भूलिभले भ्रम उलभ्यौ केहरि[३] ॥

(२२)

को न सराहत जगत में लखि अद्भुत यह काज ।
विहरत ससक सृगाल मिलि निजबस करि मृगराज ॥
निजबस करि मृगराज आज मृगगनहि सुनावै ।
खबरदार ! बिन हुकुम कोउ नहि पूँछ हिलावै ॥
'जनसीदन' सिर नाय चले करिवर गुन गावत ।
धन्य ससक अरु स्यार भाग जग को न सराहत ॥

(२३)

हरि परवस मृगराज तुम निज प्रभुत्व विसराय ।
ससक स्यार की चाल चलि दीन्हों महत गँवाय ॥
दीन्हों महत गँवाय हाय ! यह फेर दिनन को ।
कुञ्जर[४] के डर काँपि चहत तजि देन गहन को ॥
मृगगन शासनहेतु वृक[५] हि विनवत अनुनय करि ।
'जनसीदन' भौ कठिन प्रान पालन परबस परि ॥

(२४)

गरजत है केहरि कहा बझे पींजरा माँहि ।
अब वह प्रभुता मृगन पै रही तिहारी नांहि ॥
रही तिहारी नांहि तनिक हिय मांहि विचारो ।
चलि न सकहु स्वच्छन्द मन्द भौ तेज तिहारो ॥
पावत कछु सुख हंरि फेरि असन[६] हु हित तरसत ।
'जनसीदन' गहु मौन कौन पै रिस करि गरजत ॥

(२५)

मृगपति को तेरे सरिस वन्यजन्तु वन मांहि ।
गजताड़न करिबो चहत जो प्रमादबस नांहि ॥
जो प्रमादबस नांहि कान हाथी के ऐठहु ।
सो पुनि ध्यान लगाय जाय तीरथ में बैठहु ॥
सकै तोहि कछु भाषि पास अस कौन अभयमति ।
'जनसीदन' वनवीर धीर तू आपहि मृगपति ॥

जनार्दन झा

अमरीका के सार्वजनिक पुस्तकालय ।

अमरीका के संयुक्त-राज्यों में जब हम किसी एक बड़े पुस्तकालय में प्रवेश करते हैं तब हम उसके वाचनालय में क्या देखते हैं ? खुदी हुई लकड़ी का एक विशाल कमरा है । उसमें मेज़ों तथा कुर्सियों की अनेक पङ्क्तियां लगी हुई हैं. छायावान् बिजली के अनेक लम्प चित्रित छत से लटक रहे हैं, पते और ठिकाने ढूँढ़ने के सहस्रों ग्रन्थ ऐसी अलमारियों में रक्खे हैं जहां प्रत्येक मनुष्य का हाथ आसानी से पहुँच जाता है । खिड़कियों के चौड़े पत्थरों पर हरी हरी लताओं तथा पीतल के गमलों में फूलदार छोटे छोटे पौधों पर जब मनुष्य की दृष्टि पड़ती है तब ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह घर में बैठा हुआ है । क्लब से लौटी हुई कुछ स्त्रियां भिन्न भिन्न पुस्तकों से कुछ नक़ल कर रही हैं । विश्वविद्यालय के किताबी-कीड़े—विद्यार्थी—जिनके सामने की मेज़ें पुस्तकों से लदी हैं, पुस्तकों के पन्ने उलट पलट रहे हैं । थके हुए परन्तु फुर्तीले व्यापारी अपने मतलब की पुस्तकों को अलग देख भाल रहे हैं । छोटे बच्चे और स्त्रियां नवप्रकाशित उपन्यास देख रही हैं । एक क्षण में एक मनुष्य चुपके से वाचनालय में प्रवेश करता है । दूसरे क्षण में एक दूसरा आदमी अपने स्थान से धीरे से उठ जाता है । अमरीका के कई पुस्तकालयों के वाचनालयों के बड़े दरवाज़े पर सुनहरे अक्षरों में यह आदर्श-वाक्य लिखा होता है—

"संसार की नीव विचारों तथा भावों पर स्थित है, रुई या लोहे पर नहीं ।"

पुस्तकालय-सञ्चालन ।

साधारणतया अमरीका के प्रत्येक सार्वजनिक पुस्तका-

---

[१] समुद्र । [२] सिंह के शत्रु, हाथी । [३] सिंह । [४] हाथी । [५] भेड़िया । [६] भोजन ।

लय में एक वाचनालय होता है। वाचनालय में सब पुस्तकें दीवार के साथ लकड़ी के बड़े बड़े तख़्तों पर रक्खी रहती हैं, हर एक आदमी बिना किसी से पूछे जो पुस्तक चाहे देख सकता है। इन तख़्तों पर कोषों तथा विश्व-कोषों के अतिरिक्त—इतिहास, क़ानून, दर्शन, धर्म, काव्य, नाटक, उपन्यास, जीवन-चरित तथा विज्ञान आदि विषयों की भी बहुत सी पुस्तकें रहती हैं—पाठक इच्छानुसार उनका उपयोग कर सकता है—चाहे वह वहीं खड़ा होकर उनका अवलोकन करे या जितनी चाहे वहाँ से उठा कर किसी मेज़ पर रख ले और कुर्सी पर बैठ कर मौज से पढ़ता रहे। वाचनालय के अतिरिक्त यहाँ ललित-कला (चित्र-चित्रण आदि)-प्रदर्शन तथा सङ्गीत के लिए अलग विशेष कमरे रहते हैं। दैनिक, अर्धसाप्ताहिक, साप्ताहिक एवं मासिक पत्र-पत्रिकाओं के लिए भी भिन्न भिन्न कमरे होते हैं। ये सब प्रत्येक मनुष्य के लिए खुले रहते हैं। नये पुस्तकालयों में अध्ययन करने के लिए अब विशेष कमरे बनाये जाते हैं। इनमें वे विद्यार्थी बैठते हैं जो विशेष विषय की खोज करना चाहते हैं और जिनके लिए कई पुस्तकें लगातार कई दिन या सप्ताह तक दरकार होती हैं।

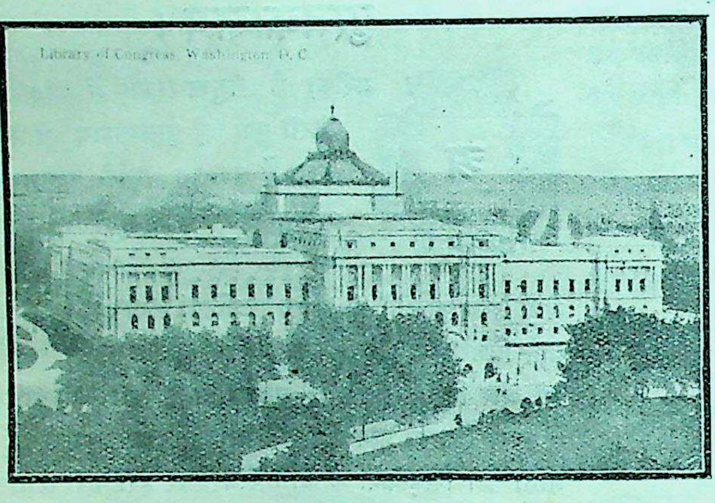

वाशिंगटन का सार्वजनिक पुस्तकालय।

बड़े नगरों के सार्वजनिक पुस्तकालयों में अन्धों के लिए भी विशेष स्थान होते हैं, जहाँ वे पुस्तकें तथा मासिक पत्र-पत्रिकायें पढ़ते हैं। उनकी पुस्तकों में अक्षर ऊपर उठे होते हैं और वे इन्हें उँगलियों से छूकर पढ़ते हैं। वाशिंगटन के कांग्रेस-पुस्तकालय में, जो अमेरिका में सबसे बड़ा पुस्तकालय है और पुस्तक-संख्या की दृष्टि से संसार भर में तीसरा है, 'अँधेरे में बैठनेवालों' के लिए असाधारण प्रबन्ध है। उनके लिए कांग्रेस के सदस्यों के विशेष व्याख्यान होते हैं। उन्हें बड़े बड़े लेखकों की कृतियाँ पढ़ कर सुनाई जाती हैं। व्याख्यानों के बीच में उन्हें गायकों और अन्धों के गायन भी सुनाये जाते हैं।

घर पर ले जाने के लिए पुस्तकों की संख्या नियत है। साधारणतया एक मनुष्य को दोही पुस्तकें दी जाती हैं। स्कूल के अध्यापकों और विद्यार्थियों को कई बार विशेष कार्ड दे दिये जाते हैं, जिनसे उन्हें अधिक संख्या में पुस्तकें मिल जाती हैं। नियत समय के बाद पुस्तक लौटानेवाले को दो या चार पैसे प्रति दिन का ज़ुर्माना देना पड़ता है। न्यूयार्क के सार्वजनिक पुस्तकालय को, जिसकी पुस्तकें एक वर्ष में साठ लाख से अधिक मनुष्यों के हाथ पहुँचती हैं, पचहत्तर हज़ार रुपये के लगभग केवल ज़ुर्माने में आते हैं।

जिस मनुष्य का नाम नगर की डाइरेक्टरी में लिखा रहता है वह वहाँ के सार्वजनिक पुस्तकालय से पुस्तकें प्राप्त कर सकता है। जो पुस्तकों के गुम न होने की ज़मानत देता है या जो इस बात का सर्टिफ़िकेट पेश करता है कि वह एक उत्तरदायी मनुष्य है वह भी अपने घर पुस्तकें ला सकता है। आज-कल सब पुस्तकालय इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि जहाँ तक हो सके यह रोक कम कर दी जाय।

बहुत से पुस्तकालयों में "खुली अलमारी" का तरीक़ा बर्ता जाता है, जिससे देखनेवाले को पुस्तकें देखने में ज़रा भी तकलीफ़ नहीं होती। इनमें सूचीपत्र देखने और क्लर्क से पूँछने की कोई ज़रूरत नहीं रहती। स्वयं जाकर अलमारियों में इच्छानुसार पुस्तक खोज

ो। कुछ पुस्तकाध्यक्षों का मत है कि इस तरीक़े से कुछ पुस्तकें इधर-उधर हो जाती हैं। अन्य यह कहते हैं कि बात तो ठीक है, परन्तु इसके द्वारा इतनी हानि नहीं होती जितना जनता को लाभ होता है; जैसा कि वहाँ के एक अनुभवी पुस्तकाध्यक्ष ने कहा है कि "इस ढङ्ग से पुस्तकें रखने से वर्ष भर में कुछ पुस्तकें गुम अवश्य हो जाती हैं, परन्तु उन सबका मूल्य एक अधिकारी के एक मास के वेतन से अधिक नहीं होता। दूसरी ओर जहाँ यह तरीक़ा नहीं बर्ता जाता उन पुस्तकालयों में बहुत से वेतनभोगी पुस्तक-निरीक्षक रखने पड़ते हैं। और इससे जनता को पहले की अपेक्षा एक तिहाई लाभ भी नहीं पहुँचता।"

बड़े नगरों के सार्वजनिक पुस्तकालय प्रतिदिन प्रातःकाल ८ बजे से लेकर रात में १० बजे तक खुले रहते हैं, और रविवार या छुट्टी के दिन मध्याह्न के बाद २ बजे से लेकर रात में १० बजे तक केवल ८ घण्टे के लिए खुले रहते हैं। निस्सन्देह इनके इतनी देर खुले रहने से जनता को बहुत लाभ होता है।

जनता को पुस्तकालयों में लाना।

पुस्तकालयों के सञ्चालकों को जिन बड़े प्रश्नों की चिन्ता लगी रहती है उनमें एक यह है कि किस प्रकार जनता को पुस्तकालय की ओर आकृष्ट किया जाय। क्योंकि पुस्तकों का ढेर लगाना ही पुस्तकालय का काम नहीं है। सेंट लुई सार्वजनिक पुस्तकालय के स्वामी ने एक बार कहा था कि "पुस्तकालय को चाहिए कि वह हर एक पुस्तक के लिए पाठक और हर एक पाठक के लिए पुस्तक प्रस्तुत करे। इसके साथ ही वह ऐसा प्रबन्ध करे कि हर सूरत में पुस्तक और पाठक दोनों वहाँ नियत समय पर पहुँच जायँ। आज-कल अमरीका में पुस्तकालयाध्यक्ष, जो एक तरह पुस्तक-प्रचारक भी होता है, प्रतिदिन लोगों को अपने यहाँ बुलाने के लिए नये नये ढङ्ग सोचता रहता है। कई एक तो ऐसी लाखों चिटें छपवा लेते हैं जिनमें लिखा रहता है—"आप अपना ख़ाली समय किस तरह बिताते हैं? क्यों नहीं + + + पुस्तकालय में आकर लाभ उठाते?" वे इन चिटों को दूकानदारों को दे देते हैं। वह जो वस्तु किसी को बाँध कर देता है उसमें पुस्तकालय की एक चिट भी डाल देता है। अपने यहाँ सर्वसाधारण को निमन्त्रण देने का यह एक अच्छा तरीक़ा है!

पुस्तकालय के द्वार पर महत्त्वपूर्ण बातों के पोस्टर या बड़े विज्ञापन भी लगा दिये जाते हैं, जिससे उन्हें पढ़ कर लोग पुस्तकालय में बैठ कर पत्र आदि पढ़ें। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जिस दिन नोबल प्राइज़ मिला था उस दिन वहाँ के कई पुस्तकालयों और वाचनालयों के द्वार पर लकड़ी के तख़्तों पर इस बात का पोस्टर लगाया गया—

"नोबल प्राइज़" प्रतिवर्ष उस मनुष्य को दिया जाता है जो निम्नलिखित विषयों में किसी एक पर सर्वोत्तम रचना करता है—

भौतिक विज्ञान
चिकित्सा
रसायन
अन्तर्जातीय शान्ति
भावप्राधान्यवादी साहित्य।"

ऊपर दिये विज्ञापन के साथ मॉरिस मेटरलिंक, ब्जॉर्सन रूज़वेल्ट, किपलिंग और ठाकुर के चित्र भी थे। रवीन्द्रनाथ के चित्र के नीचे मोटे अक्षरों में ये शब्द चमकते थे—

"नोबल प्राइज़ इन्हें मिल रहा है।
अपने भावयोग के कारण ये
मेटरलिंक के साथी बन गये हैं।"

अन्य उपाय।

अमेरिकन पुस्तकालयाध्यक्ष अपने कमरे में बैठ कर एकान्तवास नहीं करता और न वह लोगों की राह ही देखता है। वह 'हज़रत मुहम्मद' और जनता 'पर्वत' होती है। यदि पर्वत आप से आप हज़रत के पास नहीं पहुँचता तो यह हज़रत का काम है कि वे पर्वत के पीछे हो लें। जनता की प्रतीक्षा करने के स्थान में वहाँ के पुस्तकालय ही लोगों के पास पहुँचते हैं। वहाँ ज़िले के भिन्न भिन्न स्थानों में सार्वजनिक पुस्तकालयों की शाखायें, थातीस्थान, घरेलू पुस्तकालय और चलतू पुस्तकालय खुले रहते हैं।

अमरीका के बड़े नगरों में किसी बड़े सार्वजनिक पुस्तकालय की कई एक शाखायें भी होती हैं। प्रत्येक शाखा अपने हर एक पाठक की माँग के पूरा करती है। प्रत्येक शाखा में काम करनेवाले भी पर्याप्त संख्या में होते हैं। इनमें अधिकतर स्त्रियाँ होती हैं। हाँ, ये शाखायें मुख्य पुस्तकालय से पुस्तकें मँगाती भी रहती हैं, जिसमें उससे दूर रहनेवाले लोग भी उनसे लाभ उठा सकें। न्यूयार्क के सार्वजनिक पुस्तकालय की ४१ शाखायें हैं। उनके द्वारा वह प्रति वर्ष ३० लाख से अधिक पुस्तकें जनता को पढ़ाता है।

इर्द-गिर्द के इलाक़े के लोगों के लिए, जो पुस्तकालय की शाखा का खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकते, दवाख़ानों और आटा-दाल की दूकानों के मध्य में 'थाती-स्थान' खोल दिये जाते हैं। यहाँ दो सौ से लेकर पाँच सौ तक पुस्तकें रहती हैं, जो प्रायः बदल दी जाती हैं। शिकागो के सार्वजनिक पुस्तकालय की तरह इनमें परिवर्तन में बड़ी आसानी होती है। मुख्य पुस्तकालय से पुस्तक लेनेवाला किसी शाखा या थाती-स्थान के पुस्तक लौटा सकता और वहाँ से पुस्तकें ला भी सकता है। यदि कोई पुस्तक किसी को लेनी होती है तो वह उसका नाम आदि टिकट पर भर कर किसी शाखा में दे आता है। उसी दिन वे पुस्तकें, यदि वहाँ नहीं होतीं तो, मुख्य पुस्तकालय से मँगवा कर माँगनेवाले को दे दी जाती हैं।

पिट्स्बर्ग के कारनेगी के सार्वजनिक पुस्तकालय ने सर्वसाधारण को पुस्तकें पहुँचाने के लिए घरेलू पुस्तकालय खोल रक्खे हैं। एक बक्स में कुछ पुस्तकें बन्द करके नियत अधिकारी उन्हें ग़रीबों के घरों में बाँट देते हैं। जहाँ कहीं बालक किसी के घर पर इकट्ठे होते हैं, पुस्तकालय के अधिकारी वहाँ पुस्तकें बाँटने लग जाते हैं। इस प्रकार हर सात दिन के बाद वे पुस्तकें बदल दी जाती हैं।

चलतू पुस्तकालय का तरीक़ा नया निकाला गया है। इसका प्रबन्ध इस प्रकार होता है। लगभग पाँच सौ अच्छी अच्छी पुस्तकें गाड़ियों पर रख कर उनकी सूची तैयार कर ली जाती है। तत्पश्चात् उस इलाक़े के किसी उत्तरदायी मनुष्य के पास वे भेज दी जाती हैं। वह उन्हें क़बों, कारख़ानों, पुलिस-स्टेशनों, छोटे गाँवों, स्कूलों और खेतों में रहनेवालों के पास पहुँचाता है। कुछ मास के बाद सब पुस्तकें इकट्ठी करके वह उन्हें मुख्य पुस्तकालय को लौटा देता है और उनके स्थान पर उसे नई पुस्तकें मिल जाती हैं। न्यूयार्क के सार्वजनिक पुस्तकालय के 'चलतू पुस्तकालय-विभाग' की पुस्तकें रखने और बाँटने के ६०० स्थान हैं।

उपर्युक्त प्रणाली वहाँ की सरकार ने भी अवलम्बन कर ली है। इसके द्वारा वह ग्रामीण लोगों में, शहरों से बहुत दूर रहनेवालों में और उनमें जो पुस्तकालय का भार सहन नहीं कर सकते पुस्तकों-द्वारा यात्रा-वर्णन, कथा-कहानियाँ, इतिहास, जीवन-चरित्र, उपयोगी कलाओं और अन्य विषयों का ज्ञान फैलाती है। ऐसे ही कई पुस्तकालय कई व्यक्तियों तथा सोसाइटियों ने खोल रक्खे हैं। परन्तु सरकार से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैसा कि पहले कहा गया है अमरीका के पुस्तकालय केवल पुस्तकों का बड़ा भारी ढेर और उसका अध्यक्ष उसका रक्षक ही नहीं होते, प्रत्युत वे एक महान् कार्य करते हैं। पुस्तकालय-कार्य एक भारी काम होता है। इसका अनुभव तो एक क्षण में हो सकता है। पुस्तकालय के अन्दर जाकर यदि कोई मनुष्य पूँछ-ताँछ की मेज़ के निकट एक मिनट के लिए खड़ा हो जाय तो वह देखेगा कि वहाँ का क्लर्क एक को उद्धरण-पुस्तकें बताता है, दूसरे को उसके लेख की सामग्री बताता है, तीसरे को विशेष पुस्तकों की व्यर्थ खोज से बचाता है और चौथे को उसके विषय की पुस्तकों की अलमारियाँ बताता है।

जो आदमी किसी कारण से स्वयं वहाँ आकर पुस्तकें नहीं ले सकते वे डाक या टेलीफ़ोन-द्वारा पुस्तकों के लिए प्रार्थना करते हैं। वास्तव में टेलीफ़ोन वहाँ के पुस्तकालय का एक आवश्यक अङ्ग है। इसके द्वारा भिन्न भिन्न आदमी भिन्न भिन्न प्रश्न पूछते हैं। मौण्ट एवरस्ट कितना ऊँचा है? क्रिस्मस-उपहार के लिए कौन सी पुस्तकें अच्छी हैं? क्या आप बता सकते हैं कि सङ्गीत के विषय पर अमरीका का कौन सा मासिक पत्र सर्वोत्तम है? क्या आप अमुक पुस्तक अगले सप्ताह के लिए मेरे ही नाम पर रहने देंगे? क्या आप मुझे 'सहयोग' के विषय पर पुस्तकों और प्रकाशित लेखों की सूची तैयार करके दे

कते हैं ? और पुस्तकालय में बैठी हुई एक अथक चतुर महिला इन सबका सन्तोषजनक उत्तर देती रहती है। हाल में ही न्यू-यार्क के सार्वजनिक पुस्तकालय ने प्रकाशित किया है कि एक मास में यह पुस्तकालय केवल टेलीफ़ोन-द्वारा किये गये लगभग पांच सहस्र प्रश्नों का उत्तर दिया करता है।

अमरीका में पुस्तकालय को सर्वप्रिय बनाने का एक और तरीक़ा भी बर्ता जाता है। सेंट लुई के सार्वजनिक पुस्तकालय में एक कमरा इस मतलब के लिए बना हुआ है कि सर्वसाधारण वहां बैठकर अपनी चिट्ठी-पत्री लिख सकें। वहां मेज़-कुर्सियां लगी हैं। मेज़ों पर क़लम, दावात, चिट्ठी लिखने के साधारण काग़ज़ और लिफ़ाफ़े भी रक्खे रहते हैं। लिखनेवाले को इनके लिए दाम नहीं देने पड़ते। पास के ही कमरे में मूल्यवान् लेटरपेपर और चिट्ठियों पर लगाने के पोस्टेज स्टाम्प भी बिकते हैं। यही नहीं, वहीं बाज़ारू रेट पर त्वरा-लेखन (शार्ट हैण्ड), टाइप राइटिङ्ग तथा विदेशी भाषाओं में अनुवाद भी करा लिया जा सकता है।

अमरीका के पुस्तकालय केवल पढ़नेवाली जनता के लिए ही नहीं होते या यों कहिए कि केवल पठित लोग ही उनसे लाभ नहीं उठाते, प्रत्युत कई तो पूर्णरूप से सामाजिक स्थान होते हैं, जिनसे सर्वसाधारण पूरा पूरा लाभ उठाते हैं। उनमें जन-साधारण के लिए व्याख्यान, भिन्न भिन्न संस्थाओं के अधिवेशन, युवक-दलों के पारस्परिक वाद-विवाद तथा अन्य नागरिक संस्थाओं की बैठकें होती हैं। ऐसा करने में एक का दूसरे पर अनुग्रह या उपकार नहीं होता। पुस्तकालयाध्यक्ष वहां अधिवेशन करनेवाली संस्थाओं का अतिथियों के समान आदर करता है। वहां लोग इस प्रकार आते जाते हैं मानो वे अपने घर में बैठे हैं।

पुस्तकालय और बालक।

चालीस पचास वर्ष पहले बच्चों को प्रायः सभी पुस्तकालयों ने बहिष्कृत कर रक्खा था। इनकी ओर किसी का ध्यान ही न जाता था। तब यदि कोई बालक पुस्तकालय में जाता तो बहुत थोड़ी पठन-सामग्री उसके हाथ लगती। शनैः शनैः बच्चों के लिए पुस्तकालय में आने की रोक-टोक दूर कर दी गई; प्रवेश के लिए आयु की अवधि १८ कर दी गई; फिर १२ की गई, तत्पश्चात् १० रह गई; उसके बाद ६ हुई; और अब यह भी नहीं रही। आज हर एक बालक पुस्तकालय के बाल-विभाग में बे-खटके चला जाता है। बाल-विभाग में जाना मनुष्य के लिए सदा ही आनन्ददायक होता है। 'छोटों' के कमरे खूब सजे होते हैं। दीवारों पर रङ्ग-बिरङ्गे चित्र और झँझरीदार खूबसूरत चिकें बड़ी भली मालूम पड़ती हैं। छोटी छोटी मेज़ें, कुर्सियां और किताबों की आलमारियां

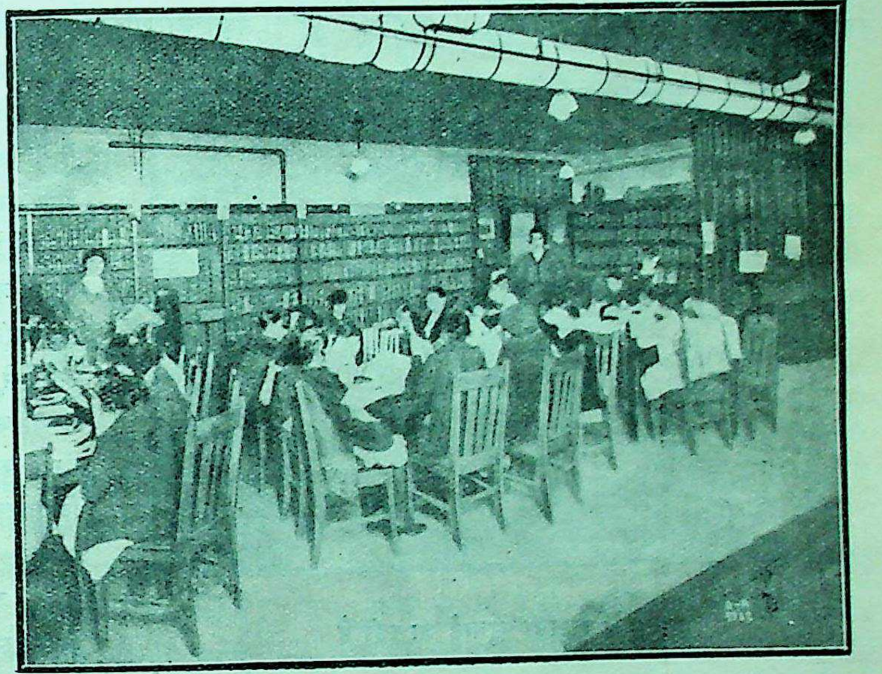

पुस्तकालय का एक दृश्य।

आँखों को बड़ी सुहावनी प्रतीत होती हैं। छत से लटके हुए बिजली के लैम्पों और फ़ानूसों की कुछ अजब ही बहार होती है। मेज़ों पर 'छोटे पाठकों' के लिए उनकी आयु और रुचि के अनुसार पुस्तकें और पत्र-पत्रिकायें रक्खी रहती हैं। कहीं कहीं तो इनके अतिरिक्त उनके लिए 'अध्ययन-स्थान' हैं। उनमें मेज़ों पर अटलसें, पृथ्वी के गोले और दीवारों के साथ बड़े बड़े मानचित्र लटकते रहते हैं। शहर की तङ्ग गलियों में रहनेवाले विद्यार्थी घण्टे दो घण्टे के लिए यहाँ एकान्त में आकर अपने स्कूल का पाठ याद कर चले जाते हैं।

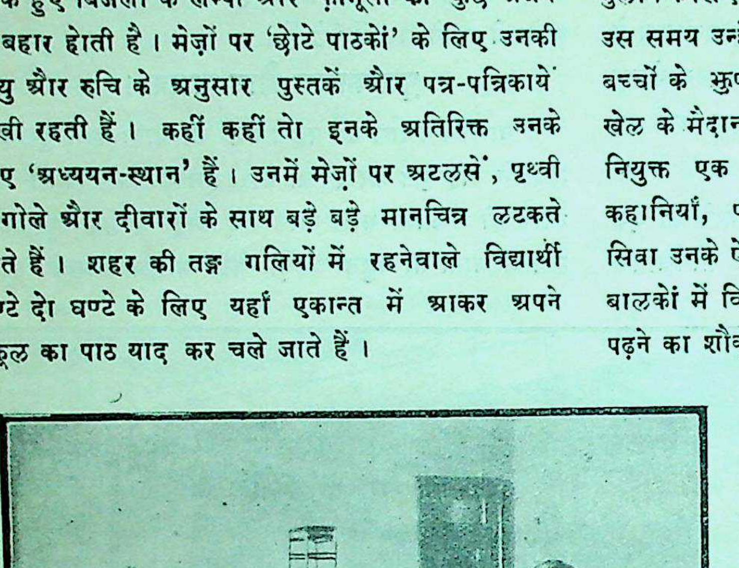

बच्चों को कहानी सुनाई जा रही है।

बाल-विभाग में काम करनेवाले भी मुख्य पुस्तकालय से भिन्न होते हैं। ये या तो युवतियाँ होती हैं या कालेजों के ग्रेजुएट, जिन्हें पहले बाल-पुस्तकालय के कार्य की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है।

एक और अच्छी बात जो अमरीका के पुस्तकालय में होती है वह यह है कि वहाँ बहुत से ऐसे चित्रदर्शक यन्त्र होते हैं जिनके द्वारा साधारण चित्र घने दीखते हैं। सिनसिनटी के सार्वजनिक पुस्तकालय में बालक बालिकाओं को चलते फिरते चित्र भी दिखाये जाते हैं। वहाँ बैठे बिठाये बच्चे मुफ़ में जापान, भारतवर्ष, स्विट्ज़रलेंड, फ्रांस तथा अन्य बड़े बड़े देशों की यात्रा कर लेते हैं।

छोटे बड़े सब तरह के बालकों को पुस्तकालय में बुलाने के लिए बाल-विभाग में 'कहानी-घण्टे' भी होते हैं। उस समय उन्हें कहानियाँ सुनाई जाती हैं। सर्दियों में बच्चों के झुण्ड पुस्तकालय के भीतर और गर्मियों में खेल के मैदान में बैठ जाते हैं। पुस्तकालय की ओर से नियुक्त एक विशेष कहानी-शिक्षक वहाँ उन्हें कथायें, कहानियाँ, पहेलियाँ और गीत सुनाता है। आनन्द के सिवा उनके ऐसा करने का एक अन्य उद्देश भी होता है: बालकों में विजिगीषा, अभ्युदयेच्छा, नैतिक साहस और पढ़ने का शौक़ डालने का प्रयत्न किया जाता है। कहानी के समाप्त होने पर यह भी कह दिया जाता है कि "ऐसी ही कई अन्य कहानियों की पुस्तकें तुम्हें पुस्तकालय में मिल सकती हैं।"

सार्वजनिक पुस्तकालय अमरीका के शिक्षा-क्रम का एक अवयव है। बाल-पुस्तकालय-विभाग का सार्वजनिक विद्यालयों से साक्षात् सहयोग होता है, जिससे बच्चों की रुचि अच्छे साहित्य के पठन में हो। कई बार विद्यालय के सञ्चालक विद्यालय की इमारत के साथ पुस्तकालय के लिए एक कमरा बनवा देते हैं। उसमें पुस्तकें और पुस्तकाध्यक्ष रखना सार्वजनिक विद्यालय का काम होता है। इसके अतिरिक्त पुस्तकालय के अधिकारी विद्यालय के हितैषियों के रूप में विद्यालय के कमरों में चले जाते हैं और वहाँ विद्यार्थियों को व्याख्यान देते हैं कि किस प्रकार की पुस्तकें पढ़नी चाहिए, पुस्तकालय के क्या लाभ होते हैं और मुख्य पुस्तकालय में जाने के लिए वे उनसे अनुरोध करते हैं।

रूसो ने एक बार कहा था कि "बालक के विचारने, देखने और अनुभव करने का अपना ही ढङ्ग होता है।" अमरीका के सार्वजनिक पुस्तकालय के बाल-विभाग के बनवाने की तह में यही भाव काम करता है। यदि बच्चों के पढ़ाने का अर्थ यह है कि वे सब प्रकार से फलें-फूलें तो उनके पथ-प्रदर्शक का काम उनके ही दृष्टि-कोण से

रना चाहिए। इस बात के जानने के लिए अर्थात् ालकों की रुचि का पता लगाने के लिए पुस्तकालय की ी-पुस्तकाध्यक्षा और उसके सहायक लोगों के घरों ें जाते हैं। एक सार्वजनिक पुरतकालय ने अपने ार्षिक विवरण में लिखा है कि "उसके अधिकारियों को लोगों के घरों में जाने से बहुत लाभ पहुँचा है। उन्होंने न केवल उन माता-पिताओं को, जिन्हें पहले सन्देह था, यह मना किया है कि 'पुस्तकालय में जाना लाभदायक होता है', प्रत्युत अधिकारी-वर्ग के संसर्ग से पुस्तकालय में बालक और बालिकायें पहले से अधिक संख्या में आने लग गये हैं।"

पुस्तकालय की आर्थिक स्थिति।

अमरीका के संयुक्त-राज्यों में लगभग ८० हज़ार पुस्तकालय हैं, जो नियमपूर्वक चल रहे हैं। इनके लिए धन या तो गवर्नमेंट से लिया जाता है या धनियों से या दोनों से। प्राचीन काल में योरप आदि पश्चिमी देशों में मृत्यु-शय्या पर लेटा हुआ मनुष्य केथॉलिक पादड़ी से वह पूछता था कि वह अपना धन किसके पास जमा करे, जिसमें परलोक में उसे सुख प्राप्त हो। परन्तु आज-कल अमरीका में यह एक रीति सी चल पड़ी है कि जो कोई मरता है वह चर्च का तो कुछ ख़याल नहीं करता, हाँ जितना उससे बन पड़ता है वह किसी विश्व-विद्यालय या पुस्तकालय को दान कर देता है। क्योंकि वह समझता है कि इनके द्वारा ही इस लोक में सर्वसाधारण को सबसे अधिक सुख पहुँचता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अमरीका के पुस्तकालयों को छोड़ कर अन्य बहुत थोड़ी संस्थायें हैं, जो धनाढ्यों के धन को अपनी ओर खींचती हैं। अमरीका के प्रत्येक नगर में एक न एक स्मारक पुस्तकालय है। संयुक्त-राज्य का सबसे बड़ा पुस्तकालय—र्वजनहितैषी करोड़पति ऐंड्रू कारनेगी था। उसने २ सहस्र संस्थाओं को लगभग ३६ करोड़ रुपये दान किया है। उस महादानी के ये शब्द, जो सेंट लुई के सार्वजनिक पुस्तकालय में एक शिला पर खुदे हुए हैं, बड़े सुन्दर हैं—मैं समझता हूँ कि पुस्तकालय ही सर्वसाधारण की न्नति के साधन हैं, क्योंकि ये केवल उन्हीं की सहायता रते हैं जो अपनी आप सहायता करते हैं। ये मनुष्य को दरिद्री नहीं बनने देते। पढ़ने का शौक़ मनुष्य की कुरुचियों को नष्ट कर देता है।

धर्म्मवीर बी० ए०

शीला देवी।

[१]

राजसभा में।

ठण्ड का समय है। चारों ओर कुहरा फैला हुआ है। अभी अभी सवेरा हुआ है। किन्तु कुहरे के मारे कुछ भी नहीं सूझ पड़ता। एकाएक आँख खुलने पर मुराद बिस्तर पर बैठ गया और बड़े अचरज के साथ विजयसिंह की ओर देखने लगा। उसे इस दशा में देख कर विजयसिंह ने मुसकुरा कर पूछा—"कहो मित्र, कुशल तो है?" मुराद ने गम्भीरता से उत्तर दिया—यह कैसी पहेली है? क्या मैं सपना देख रहा हूँ! मैं यहाँ किस तरह आया?

"मैं भी तो यही सोच रहा हूँ कि तुम यहाँ क्योंकर आ गये। मुझे यह भी पता न था कि अब तक तुम थे कहाँ पर।"

"भाई विजय! मैं तो जीता-जागता नरक में पड़ा था। उसकी याद आते ही छाती फटने लगती है। वहाँ की बदबू इस समय तक मेरी नाक में भरी हुई है। ज़िन्दगी में ऐसी तकलीफ़ मुझे कभी नहीं भोगनी पड़ी। नहीं कह सकता कि मैं यहाँ किस तरह आ गया—सोते में मुझे उठा कर यहाँ पर कौन रख गया। कोई भी हो, इस विपदा से जिसने मेरा उद्धार किया है उसे सैकड़ों धन्यवाद हैं। विजय, मैं मौत के मुँह से लौट कर वापिस आया हूँ। तुम तो आराम से रहे?"

"हाँ, अच्छी तरह था। दो ही तकलीफ़ें थीं; एक तो थी तुमको न देख सकने की और दूसरी थी लगातार सारी रात की एक दारुण विभीषिका जिसने मुझे बेचैन कर रक्खा था। इस कमरे में मैंने कई विचित्र अभिनय देखे हैं। मालूम नहीं, वे क्या बलाएँ थीं। न जाने किस जादूगर ने रात को मुझे अपनी करामात दिखाई थी।"

"विजय, क्या तुम्हें यह मालूम नहीं कि गढ़ महास्थान शत्रुओं से भरा हुआ है । और, अभागे बूढ़े महाराज उच्छृङ्खल राजकर्मचारियों के हाथ की कठपुतली हो रहे हैं । महास्थानगढ़ रहस्य-पूर्ण है और सबसे बढ़कर रहस्यमय है यह मुँह-मीठा सेनापति । महास्थान में हम लोगों के आजाने से जिन जिन के स्वार्थ में धक्का लगने की सम्भावना है उन्होंने हमें अपना शत्रु समझ लिया है—अब समझे न ?"

"जो हो, जब यहां आगये हैं तब राजा के दर्शन किये बिना लौटने के नहीं । इसके पश्चात् इन रहस्यों की जड़ उखाड़ने की चेष्टा की जायगी ।"

" मैं तो अब इस नगरी में पल भर भी नहीं रहना चाहता"

"नहीं राजा, मेरे मन में एक कुतूहल है । मैं अन्त तक देखना चाहता हूँ । यदि मुझ पर थोड़ी सी भी राजा की कृपा हो गई तो देख लेना कि मिरज़ामुराद ने चिह्लन को चारों ख़ाने चित कर दिया । राजा, मैं वापिस न जाऊँगा । जब मुझे साथ लाये हो तब समझ लो—मुराद वापिस जाने के लिए यहाँ नहीं आया ।"

"जिस पर मेरी इतनी श्रद्धा थी—जिसे मैंने देवी के आसन पर बिठाया था—वह महास्थान राजकुमारी हम लोगों को युक्ति से इतनी यातना दे रही है— क्या यह भूल जाना होगा ?"

"राजा ! तुम राजकुमारी को नाहक़ दोष देते हो । उनका रत्ती भर भी दोष नहीं । पीछे से तुम्हें मालूम हो जायगा कि शीला देवी को इस घटना की ख़बर तक नहीं थी । हम लोगों की यह संवर्द्धना बड़ी चतुराई से की गई है ।"

"तो क्या राजकुमारी से भेंट न हो सकेगी ?"

"मित्र, इतना उतावलापन न करो । तुम्हारे मनोमन्दिर में विराजमान देवी की प्रतिमा सचमुच गौरवमयी है । मेरी बात पर विश्वास करो । मित्र आओ, दोनों सखा मिल कर बरेन्द्रभूमि के समस्त यश और गौरव को प्राप्त करें । यह अमूल्य रत्न किसी न किसी दिन तुम्हारे कण्ठ में ज़रूर शोभित होगा । मैं अपनी जान लड़ा कर तुम्हारे गले में वह हार पहनाने की कोशिश करूँगा ।"

"मुराद, आकाश-कुसुम की इच्छा न करो । यह स्वप्न सच्चा न होगा । भिखारी की आशा मन में ही विलीन हो जायगी ।"

एकाएक दोनों की बातचीत बन्द हो गई । दोनों ने अचरज के साथ देखा कि बाहर से दरवाज़ा खुल गया । सेनापति चिह्लन धीरे धीरे पैर उठाता हुआ वहां आया । प्रेम जतलाते हुए उसने मुसकुरा कर कहा—"राजा साहब को नमो नमः । आप मज़े में तो हैं ? अतिथि को प्रसन्न करना ही मेरे जीवन का प्रधान कर्त्तव्य है । आज मैं एक शुभ समाचार लेकर आपके पास आया हूँ । खालता-पति ! मिरज़ा साहब ! आप दोनों के सम्मानार्थ आज महाराजाधिराज नरसिंह परशुराम महती सभा का अधिवेशन करेंगे । उस सभा में आप उपस्थित हों और राज-दर्शन करें ।

विजयसिंह ने कहा—हमारे लिए यह परमसौभाग्य और परमगौरव की बात है । इस समाचार के पहुँचानेवाले को भी धन्यवाद । किन्तु एक बात है जब साधारण प्रजा को भी हुक्मनामा दिया जाता है तब, राजा का आज्ञापत्र प्राप्त हुए बिना हम लोग कैसे—

सेनापति ने कहा—राजा का आज्ञापत्र साधारण प्रजा के लिए ही होता है । आप लोग इस राज्य के परम हितैषी हैं । महाराज के हृदय के अत्यन्त एकान्त स्थल में जो आनन्द है उसी को आज आप लोग राज-सभा में प्राप्त करेंगे । ठीक समय पर हमारा सिपाही आपको सूचना दे जायगा । उसके पीछे पीछे आप बड़े सम्मान के साथ सभा में पहुँचाये जायँगे ।

मुराद ने कहा—आपका बर्ताव निस्सन्देह सराहना करने योग्य है । अब यह विचार करना है कि हम लोग सभा में जायँगे या नहीं ।

"यह आपने क्या कहा ! आपको तो सभा में चलना ही होगा । यदि आप सभा में उपस्थित न होंगे तो राजकुमारी को मैं क्या कैफ़ियत दूँगा ?"

"सो तो आप ही समझ सकते हैं । ऐसी अच्छी अभ्यर्थना पाकर भी यदि हम लोग राज-सभा में उपस्थित न हों तो धर्माधिकरण की दृष्टि से हम लोग दोषी नहीं।"

"महाशय सोच-विचार कर लीजिए । यदि आप

उपस्थित न होना चाहेंगे तो विवश होकर मुझे दूसरा प्रबन्ध करना पड़ेगा।"

"अच्छा, हम विचार करेंगे।"

अच्छी बात है। बारह घटिका के समय आप लोगों को राजसभा में ले चलने के लिए मैं स्वयं प्रस्तुत होकर आऊँगा। आप लोग अपने कर्तव्य का निर्णय कर रखिए।" यह कह कर सेनापति बड़ी ऐंठ के साथ वहाँ से चला गया।

विजयसिंह पर कटाक्ष करके मुराद ने कहा—कुछ समझ में आया ?

"सब समझ लिया। आज हमारा मामला सुना जायगा। इसके बाद या तो क़ैद होगी नहीं तो सूली तैयार समझो। तक़दीर में जो लिखा होगा वह, एक न एक, ज़रूर होगा।"

"उपस्थित हो जाना ही ठीक है। जब इनकी पकड़ के भीतर हम लोग स्वयं आ गये हैं तब राज-सभा में भी जाकर परिणाम देख लेना चाहिए।"

"इसके बाद ?"

"आगे की व्यवस्था बिना किये मैं शत्रुओं से परिपूर्ण महास्थान गढ़ में नहीं चला आया हूँ। मेरी सेना गुप्त वृन्दावन में छिपी हुई है। ठीक समय पर, वेश बदल कर राज-सभा में पहुँचेगी।"

"अच्छी बात है। तो अब तैयारी कर लेनी चाहिए।"

[[illegible]]

अब दोनों ने राज-सभा के योग्य पोशाक पहन ली और राज-दरबार में जाने के लिए दोनों मित्र तैयार होकर सेनापति की बाट जोहने लगे। ठीक समय पर सेनापति आया। उसने मुसकुरा कर कहा—अच्छा, आप लोग तो बिलकुल तैयार बैठे हैं; आइए, अब विलम्ब करना वृथा है।

विजयसिंह ने खालतेश्वरी को मन में प्रणाम किया। मुराद ने हँस कर विजयसिंह का हाथ पकड़ लिया। अब दोनों मित्र, सेनापति के पीछे पीछे, ताम्रद्वार की ओर चलने लगे। उन्होंने देखा कि राजमार्ग के दहने और बायें भाग फूल-पत्तों से सँवारे गये हैं। चारों ओर एक नये उत्सव का ठाठ-बाट है। ऊँचे मञ्च पर नक्क़ारे बज रहे हैं। नफ़ीरी का करुण स्वर पृथ्वी में नवीन मिलन की मधुर तान ले रहा है। सभामण्डप में अच्छी अच्छी पोशाकें पहने हुए अनेक श्रेणियों के लोग डटे बैठे हैं। सभामण्डप के बीचोंबीच सङ्गमर्मर की ऊँची वेदी पर राजसिंहासन रक्खा हुआ है। वेदी के दहने प्रान्त में महामन्त्री का आसन है। वेदी से कुछ उतर कर, आधे कङ्कण के आकार में, बहुमूल्य आसन एक क़तार में रक्खे हुए हैं। शान्तिरक्षक लोग दोनों ओर की भीड़ हटा कर राजा के आने के लिए रास्ता कर रहे हैं। अकस्मात् बाजे बजने लगे।

राज-पुरुषों के लिए जहाँ जो आसन निर्दिष्ट था वे उस पर जा बैठे। वेदपाठी ब्राह्मण लोग वेदध्वनि करते हुए आगे आगे आये। उनके पीछे सशस्त्र सेनापति, सेनापति के पीछे स्वयं महाराज परशुराम शस्त्रधारी शरीररक्षकों से घिरे हुए, धीरे धीरे, राजसभा की ओर बढ़ने लगे। राजा के पीछे सफ़ेद पोशाक पहने महामन्त्री थे—उनके पीछे सुन्दर सुवेशधारी दो युवक और उनके पीछे राजसभा के सदस्य एक एक करके सभास्थल में उपस्थित हुए और अपने अपने लिए निर्दिष्ट आसन पर बैठ गये। बाजों का बजना बन्द हो गया। अब चारण और बन्दीजन उपस्थित होकर राजगुण-गान करने लगे। इसके पश्चात् सुन्दरी सुवेशधारिणी देवनर्त्तकियों ने अपने नाच और गान के द्वारा राजा के गुणों का बखान किया।—अब सभा का कार्यारम्भ हुआ।

राजा की आज्ञा से महामन्त्री खड़े होकर कहने लगे;—उपस्थित जनता, माननीय राष्ट्रपतिगण और राजकर्मचारी-वृन्द, सभी लोग सुनें—विख्यात विजयसिंह और मिर्ज़ा मुराद नामक दोनों वीर, अपने आचरण की भूल को समझ करके खेद प्रकट करते हुए, महास्थानराज के छत्र की छाया में अपनी मर्ज़ी से आत्मसमर्पण करने आये हैं। महास्थान राजाधिराज बारेन्द्रकुल-तिलक परममाहेश्वर परशुराम ने पुराने झगड़े का कुछ भी ख़याल न करके दोनों वीरों का सम्मान और गौरव ज्यों का त्यों बना रहने दिया है। इनको पुराने अपराध का कुछ भी दण्ड न देकर और भी अधिक सम्मानित एवं गौरवमय आसन प्रदान करने के लिए ही महाराज ने सभा में इन्हें बुलवाया है।

अब सब लोगों की सम्मति मिलते ही महाराज, राज्य के भले के लिए, दोनों वीरों को सम्मानित करेंगे ।

सब लोगों ने एक स्वर से महाराज का जय जयकार करके महामन्त्री के प्रस्ताव का अनुमोदन किया । तब महाराज नरसिंह ने धीर गम्भीर भाव से कहा—वत्स विजय ! वीरश्रेष्ठ मुराद ! तुम्हारी वीरता से मैं बहुत प्रसन्न हूँ । मैं चाहता हूँ कि तुम लोग अपनी शक्ति का उपयोग महास्थानराज्य के भले के लिए किया करो । मेरा विश्वास है कि यदि तुम मन-वाणी और कार्य-द्वारा महास्थान की भलाई करने को उतारू हो जाओ तो महास्थान एक दिन गौरवमय साम्राज्य माना जाने लगेगा । वत्स विजय ! प्रभुभक्त मुराद ! मेरे पुत्र नहीं है—क्या तुम्हारे द्वारा मेरी यह कमी दूर न होगी ?

विजयसिंह ने उठ कर और हाथ जोड़ कर कहा—"महाराज ! मेरे भी पिता नहीं हैं । यह बिना-बाप का लड़का अब तक भाग्यदोष से पितृ-स्नेह से वञ्चित था । आज आपका स्नेह प्राप्त करके मैं धन्य हूँ—तृप्त हूँ ।" यह कह कर विजयसिंह ने मियान से तलवार निकाल कर राजसिंहासन के नीचे रख दी । माथे से पगड़ी उतार कर राजा के चरणों के नीचे रख कर कहा—महाराजाधिराज ! मैं आपके चरणों को माथा झुकाता हूँ; मेरा सैन्य-बल और मेरा छोटा सा राज्य—जो कुछ भी है सब—आपका है । जब तक मेरी देह में रक्त का एक भी बिन्दु रहेगा तब तक मैं महास्थानराज्य का कल्याण करने से मुँह न मोड़ूँगा ।

महाराज परशुराम ने अत्यन्त पुलकित होकर कहा—वत्स विजय ! राज-भक्ति के पुरस्कार में तुम्हें सामन्त राजा का गौरवमय आसन दिया जाता है । आज से तुम, सबकी सम्मति से, खालता के अधिपति हुए । वत्स, आसन पर बैठो ।

विजयसिंह आसन पर जा बैठे । अब मिर्ज़ा मुराद ने कोर्निस टेक करके कहा—महाराज, आज से मुराद भी आपका गुलाम है । खुदा हाज़िर नाज़िर है—मुझे अपने ईमान की क़सम है जो अपनी इस बात से टलूँ ।

राजा के चेहरे से प्रसन्नता प्रकट होने लगी । उन्होंने कहा—वीरवर ! तुम आज से विशालगढ़ महास्थान-राज्य के एक सेनापति हुए ।

"महाराज, मैं बड़ी प्रसन्नता से इस कार्य को स्वीकार करता हूँ । आपकी आज्ञा का पालन करना ही आज से मेरे जीवन का प्रधान कर्त्तव्य होगा ।"

सब लोगों ने एक स्वर से जयजयकार किया । सभा विसर्जित होने को थी कि इसी समय राजकुमारी की सखी चञ्चला धीरे धीरे सभा-स्थल में आई और हाथ जोड़ कर बोली—महाराज ! मुझे कुछ निवेदन करना है ।

महाराज ने कहा—बेटी, क्या कहना चाहती हो ? कहो ।

"विजयसिंह को राजकुमारी कुछ पुरस्कार देना चाहती हैं । आपकी आज्ञा हो तो दे दूँ ।"

"इसके लिए बेटी आज्ञा की क्या ज़रूरत है ?"

अब चञ्चला ने विजयसिंह की ओर आगे बढ़ कर—नम्रतापूर्वक कहा—वीरवर ! राजकुमारी शीला देवी ने आपको राजभक्ति के पुरस्कार-स्वरूप यह मूल्यवान् हार और विजय नामक तलवार प्रदान की है । ग्रहण कीजिए ।

विजयसिंह ने माथा झुका कर राजकुमारी का भेजा हुआ उपहार बड़े आदर से ग्रहण कर लिया ।

जनता ने "राजकुमारी शीलादेवी का जय-जयकार" किया । बस, सभा का कार्य समाप्त हो गया ।

[१०]

दो संन्यासी ।

करतोया के तट पर एक पीपल के पेड़ के नीचे बैठे हुए दो संन्यासी बात-चीत कर रहे हैं । सामने एक सैनिक वेशधारी व्यक्ति इन संन्यासियों की बात-चीत सुन रहा है । संन्यासी लोग बिलकुल बूढ़े हैं । उनके सिर के बाल सफ़ेद हो गये हैं । बात-चीत कर रहे संन्यासियों में से एक ने दूसरे से कहा—तो क्या तुमने मुझे पहले ही पहचान लिया था ?

"महाराज, पहचानूँगा नहीं ? ये आजानुलम्बित भुजाएँ, विशाल वक्षःस्थल और चौड़े माथे में यह त्रिशूल-चिह्न भाग्यवान् परशुराम को पहचनवा देता है ।"

"मेरे बचपन के साथी ! तुमको मैं कभी भूला नहीं। बचपन में हम-तुम इसी करतोया के किनारे खेलते थे। मुझे खूब याद है। हाँ, यह आशा न थी कि जीवन के अन्त समय—बिलकुल बुढ़ापे—में तुम्हारे दर्शन होंगे।"

"महाराज, मैंने जिस दिन गढ़ महास्थान को छोड़ा है उसी दिन से भाग्य के साथ जूझना आरम्भ कर दिया है। न जाने कितनी घटनाओं के बीच होकर जीवन-स्रोत प्रवाहित होने लगा। विवाह किया, गृहस्थ हुआ—लेकिन यह कौन जानता था कि जीवन के अन्तिम भाग में संन्यासी बनना होगा—फिर तुम्हारी ही शरण में आना होगा!"

"भाई परमानन्द ! अब क्यों उस बात का स्मरण करके मेरा जी दुखाते हो ?"

"महाराज, मैंने अभिमान को निकाल बाहर कर दिया है। यदि उससे न बचता तो फिर तुम्हारी शरण में आता ही क्यों ? द्वन्द्वयुद्ध में पराजित होने से क्रुद्ध होकर मैंने प्रतिज्ञा करके गढ़ महास्थान का परित्याग कर दिया था—उस मित्रता और उस प्रीति के बन्धन को मैंने पल भर में तोड़ डाला था। आज मुद्दत के बाद तुम्हारे चरणों के समीप खड़े होने में लाज लगती है। किन्तु क्या करूँ, तुम तो बरेन्द्र-भूमि के भाग्यविधाता हो,—तुम्हारे सिवा बरेन्द्र-सन्तान को शरण देनेवाला और कौन है ?"

"तुम क्या कुछ कहना चाहते हो ?"

"हाँ महाराज, नालिश करने आया हूँ। तुम न्यायाध्यक्ष से न्याय चाहता हूँ। जयशहर में तुम्हारा राज्य है। अगणित मुसलमान आत्रेयी-तीर पर फैले हुए हैं। मेरे स्त्री-पुत्र सभी को जातिभ्रष्ट कर दिया है। मेरे रहने का घर जलाकर ख़ाक़ कर दिया गया—कोई भी चीज़ ठिकाने पर नहीं रहने पाई। मित्र, महाराज! आज परमानन्द संन्यासी है—उसका सर्वस्व लुट गया, अब वापिस मिलने का नहीं। बड़ी साध की हाट टूट गई, अब न लगेगी। महाराज! मैं अपने लिए नहीं आया, मैं तो समग्र बरेन्द्र-भूमि की ओर से फ़रियाद सुनाने आया हूँ।"

"अयँ ! मुसलमान आ गये हैं ?"

"बौद्ध राजा लोग उन्हें बुला लाये हैं। और महाराज ! तुम्हीं ने तो चौपट कर डाला है। आग तो तुम्हीं ने लगाई है। क्यों महाराज ! इस बुढ़ापे में गौड़ेश्वर का अपमान किस लिए किया है ?"

"यह बात तुमसे किसने कही ?"

"गौड़दूत अपमानित होकर महास्थान से लौट कर चला गया है।"

"झूठ बात है। हाँ, सलाह ज़रूर हुई थी। लेकिन उस सलाह के माफ़िक काम नहीं किया गया। गौड़ नगरी में, बङ्गेश्वर के पास, नियमानुसार 'कर' भेज दिया जाता है।"

"तो फिर दक्षिण-पश्चिमाञ्चल में लूट-खसोट करता हुआ फ़कीर बे-रोक-टोक आत्रेयी तीर पर कैसे आ गया ? गौड़ेश्वर ने उसे रोका क्यों नहीं ? सुनो महाराज ! मारे डर के बरेन्द्रभूमि थरथर काँप रही है। धन और प्राणों के लिए प्रजा हाहाकार कर रही है—और राजा साहब, तुम अपने घरेलू झगड़ों में उन्मत्त होकर बिलकुल लापरवा हो रहे हो। भला यह दुःख कैसे सहा जायगा !"

"तो क्या, तुम गौड़ नगरी गये थे ?"

"गौड़ ही क्यों, मैं तो प्रत्येक राजा के द्वार पर चक्कर लगा आया हूँ। किसी ने भी मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया। हेमन्तसेन ने गौड़ पर आक्रमण किया है। गौड़राज अपनी रक्षा की चिन्ता में हैं—कौन किसकी सुने। तुम्हारे पास आया था, सोचा था कि कुछ उपाय होगा। किन्तु वह आशा भी विफल है। तुम इस धुन में हो कि इस मौके पर किस प्रकार स्वाधीन बन बैठें। महाराज ! अब तुरुक तुम्हारे ही राज्य में आ रहा है। तुमने प्रजा की रक्षा का कुछ प्रबन्ध तो किया ही नहीं, अरे अपनी रक्षा का प्रबन्ध तो कर लेते। अपने राज्य को तुम स्वयं लूट रहे हो – दरिद्रता से सताई हुई प्रजा तुम्हें कोसती है। महाराज ! विपत्ति में तुम्हारी सहायता कौन करेगा ?"

परमानन्द की बात का कुछ भी उत्तर महाराज परशुराम ने नहीं दिया। सैनिक की ओर मुड़ कर कहा—मुराद !

"सरकार।"

"तुम मुसलमान हो और मेरा शत्रु भी मुसलमान है।"

"आपको यक़ीन है ?"

"मेरा विश्वास पहले की तरह अटल है। बेटा, अब तुरन्त राजधानी को चलो। यह मौक़ा पाकर चिह्लन न जाने क्या कर बैठेगा।"

परमानन्द ने कहा—महाराज ! मेरी नालिश का उत्तर !

राजा ने परमानन्द की ओर घूम कर कहा—इस समय तुम्हें क्या उत्तर दिया जाय। मित्र, परमानन्द ! मेरे चारों ओर विपत्तियाँ हैं। गढ़ महास्थान में शत्रुओं की कमी नहीं। शत्रु भीतर भी हैं और बाहर भी। निश्चय नहीं कि कौन सा शत्रु किस मौके पर क्या कर बैठेगा। मैं इतने बड़े राज्य का राजा हूँ किन्तु इतना बड़ा संवाद मुझे इस समय तक नहीं सुनाया गया। मेरा बुढ़ापा देख कर सभी शत्रुओं ने सिर उठाया है—यह कह कर उन्होंने अनुचर की ओर लक्ष्य करके कहा—मुराद !

"सरकार।"

"बहुत जल्द खालता को ख़बर भेजो। हालत समझ गये न ?"

"हाँ महाराज ! आप बेखटके रहें। मैं कुल इन्तज़ाम करता हूँ।"

"अब ऐसा इन्तज़ाम करो जिसमें शत्रु आत्रेयी को पार न कर सके।"

"बहुत अच्छा। मैं जाता हूँ। आदाब अर्ज़।" यह कह कर सैनिक चला गया।

अब दोनों खड़े होने को थे कि एक बौद्धभिक्षु वहाँ आया जिसका सिर मुँड़ा हुआ था। उसकी हड्डियों का ढाँचा (कङ्काल) देख कर परमानन्द ने कहा—महाराज ! अपने सुविचार (न्याय) का यह स्मृतिचिह्न देखिए।

"यह कौन है ? इस आदमी के सिर में गहरा घाव क्यों है ?"

"बतलाऊँ कि अभागे भिक्षु की यह दशा क्यों हुई है ? महाराज ! इस बात पर किसे विश्वास होगा कि तुम्हारी राजधानी के बिलकुल समीपवर्ती ग्राम में योगी का घर लूटा जाता है, और तुम्हें इसकी ख़बर भी नहीं। क्या यह भी नहीं सुना कि 'मङ्गलनाथ' आश्रम से चञ्चला नाम की एक युवती उड़ा ली गई है ?"

"अच्छा, याद आई। राजकुमारी के आश्रय में एक ब्राह्मण-बालिका है उसका नाम चञ्चला है। इसके सिवा और कुछ मालूम नहीं।"

"क्यों मालूम नहीं महाराज ! प्रजा को आपसे न्याय नहीं मिलता, क्या यह आपके लिए गौरव की बात है ? क्या आप चिह्लन का दमन नहीं कर सकते ?"

"भैया परमानन्द ! सब समझता हूँ, सब जानता हूँ। किन्तु करूँ क्या—मेरी दशा का ख़याल करके तुम मुझे क्षमा करो।"

"तो क्या इस दरिद्र भिक्षु को आपसे न्याय न मिलेगा ?"

परमानन्द का चेहरा और आँखें सुर्ख़ हो गईं। उसने अपने को सँभाल कर कहा—समझ लिया महाराज ! राज्य सेनापति का नहीं, तुम्हारा है। तुम यदि अत्याचार की सहायता न करो तो सेनापति की बिसात ही क्या है ? नरसिंह ! बुढ़ापे के मारे तुमने विवेक को खो दिया है। मालूम होता है, तुममें अब सोचने-समझने की भी शक्ति नहीं।

"भैया, रहने दो। अब और तिरस्कार न करो। किसका राज्य और किसका ऐश्वर्य ! यदि इस राज्य की प्रजा के दुःख का मैं हिस्सेदार न हो सकूँ—उनके दुःख को दूर न कर सकूँ—तो मेरा राजा नाम क्योंकर सार्थक हो सकता है ? ऐश्वर्य रसातल में चला जाय !"

"हाँ महाराज ! ऐश्वर्य कुछ भी नहीं है। असार ऐश्वर्य के मोह में, पाखण्ड में, मनुष्य अपनी असलियत को भूल जाता है। कीर्तिमान् महाराज परशुराम ! न्याय करो, सुविचार करो। अत्याचारी को दण्ड दो, राज्य में शान्ति-रक्षा करो। चारण लोग युग-युगान्तर तक तुम्हारे गुणों का गान किया करेंगे।"

"बौद्ध संन्यासी, तुम्हारी क्या फ़रियाद है ?"

भिक्षु ने कहना प्रारम्भ किया—महाराज ! मुझे कई शिकायतें हैं। दुरात्मा चिह्लन ने तीन तीन बार मङ्ग

ाय सङ्घाराम को लूटा है। संन्यासी चन्द्रदेव की जान लेकर वह चञ्चला नाम की ब्राह्मण-कुमारी को चुरा ले गया है। महाराज ! न्याय कीजिए।

"अच्छी बात है। तुम कल सबेरे दरबार में हाज़िर होओ।"

"जो आज्ञा।"

"तुम्हारा नाम ?"

"नरनाथ।"

दुबला-पतला भिक्षु वहाँ से धीरे धीरे चला गया। परमानन्द ने कहा—महाराज ! अब आधा दिन बीत गया। क्या आप आज भी राजधानी को न लौटेंगे ?

"हाँ, विचार तो यही है। भूख-प्यास से निस्तार पाने के लिए किसी के घर भिक्षा कर लूँगा।"

"यह शकल देखते ही, राजधानी के समीप होने के कारण, आपको सभी पहचान लेंगे।"

"तो मालूम होता है, आज कुछ भी नसीब न होगा।"

"तो क्या तीर्थयात्रा करने में भूख-प्यास के लिए पक्के नहीं हुए हो ?"

"मित्र ! इस छद्मवेष में मुझे जैसी कुछ शान्ति मिली है वैसी राज्य के ऐश्वर्य में नहीं जँचती। इस स्वच्छ निर्मल आकाश के नीचे घास की कोमल शय्या पर कई दिन आनन्द से बिताये हैं। नदी के विमल जल और भिखारी की मेहनत से प्राप्त भीख से मैंने हृदय में अमृत का मज़ा पाया है। ऐसा मालूम होता है कि मुझसे प्रेमपूर्वक चिपटने के लिए विश्व-मानव दौड़े आरहे हैं। मैं अपने प्राण को विश्व के उदार प्राणों के साथ मिला कर एक अभिनव वास्तव राज्य में उपस्थित हुआ हूँ।"

"अच्छा आओ मित्र, आज यों भूखे रह कर ही विश्व-प्रकृति की शोभा देखें—भूख-प्यास दूर भाग जायगी।"

"वह क्या है ? मरघट के कोने से रोना सा सुन पड़ता है न ?"

"हाँ महाराज ! न जाने यह कौन अभागिनी है। हृदय-आकाश की गोद से किसकी सान्त्वना का तारा टूट गया है ! यह सुनिए महाराज।"

"चलो मित्र, देख आना चाहिए।"

दोनों धीरे धीरे मरघट की ओर गये।

यह पुस्तक वितरित न की जाय

गुप्त-मन्त्रणा।

कुचक्री हरपाल के डेरे के एक बड़े से लम्बे चौड़े बढ़िया कमरे में आधी रात को रोशनी हो रही है। फ़र्श पर क़ीमती कालीन बिछा हुआ है। एक ओर बढ़िया पलँग पड़ा है जिस पर मुलायम गद्दा बिछा हुआ है। हरपाल उसी पलँग पर लेटा हुआ ऊँघ रहा है। इसी समय छद्मवेशी चिह्नन कमरे में आया। उसने हाथ पकड़ कर हरपाल को उठाया। हरपाल चौंक पड़ा। उसकी नींद टूट गई। उसने अकचका कर आगन्तुक की ओर मुख़ातिब होकर कहा—इतनी रात को ?

"सत्यानाश हो गया हरपाल ! मतिया पकड़ ली गई।"

"खुलासा बात क्यों नहीं कहते !"

"कहूँ क्या, हमारा सब करा-कराया चौपट होगया।"

"सो किस तरह ?"

"तुमने जो विष दिया था उसे मतिया ने दूध में घोल दिया था। किन्तु वह दूध धोखे से रानी को पिला दिया गया। अब वे मृत्यु की सेज पर अब-तब में हैं।"

"अब क्या किया जाय ?"

"कुछ समझ में नहीं आता। मालूम पड़ता है, क़िस्मत ने सारी तैयारी चौपट कर दी।"

"भाई साहब, क्या से क्या हो गया" !

विशेष चिन्ता का कुछ कारण नहीं है। हाँ, एक स्त्री की जान नाहक़ गई।"

"अफ़सोस ! रानी का कुछ भी दोष न था। उसकी हत्या करने से हमें क्या लाभ हुआ ? बालक राजकुमार के जीवित बच जाने से हमारी एक भी आशा सफल होने की नहीं।"

"हाँ, सिंहासन का मार्ग निष्कण्टक नहीं हुआ। मुफ़्त में एक बड़े भारी पाप का बोझ कन्धों पर लद गया।"

"मतिया कहाँ है ?"

"राजकुमारी के महल में बन्दिनी है। चारों ओर सन्तरियों का सख़्त पहरा है।"

"अब क्या किया जाय ? भण्डा फूट जायगा।"

"मतिया को वहाँ से हटाने की चेष्टा करनी होगी। इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है।"

"एक उपाय और है।"

"एक कौन सा?"

"भाग जाना।"

"अभी उस मार्ग पर चलने की आवश्यकता नहीं। हरपाल, तुमको समझ लेना चाहिए कि दूर हट जाने पर कार्य-सिद्धि एक प्रकार से असम्भव हो जायगी। मतिया सहज ही भण्डाफोड़ करनेवाली औरत नहीं।"

"सिंहिनी के पञ्जे में पड़ कर उसे स्वीकार करना ही होगा।"

"तो क्या दूसरा उपाय नहीं है?"

"है क्यों नहीं? एक उपाय है और वही सबसे बढ़िया है।"

"मैं भी सुन लूँ।"

"चञ्चला फन्दे में फँस चुकी है।"

"मित्र! कहीं विश्वास न कर लेना। स्त्री-चरित्र बड़ी विकट चीज़ है।"

"प्रेम के मोह में असम्भव भी सम्भव हो जाता है। समझे मित्र! चञ्चला मुझे प्रेम की दृष्टि से देखने लगी है।"

"तो क्या मित्र, तुम उसे प्यार नहीं करते?"

"हरपाल, मित्र! चञ्चला ने सचमुच मेरे दिल को चुरा लिया है। किन्तु मेरी बात अलग है। सुन्दरी का विलोल कटाक्ष भी मुझे कर्त्तव्य से भ्रष्ट नहीं कर सकता।"

"कार्य के आरम्भ ही में एक स्त्री-हत्या होगई। इससे मेरा तो जी खट्टा हो गया।"

"अभी से इस तरह करोगे तो काम किस तरह बनेगा? देखो हरपाल, तुम्हारे ही लिए मैं इतना आगे बढ़ गया हूँ। तुम्हारा अपमान होता है तो मेरे दिल में बरछी सी छिद जाती है। नहीं तो मैं क्या पाखण्डी हूँ! आख़िर मेरे भी तो हृदय है, मेरे जी में भी तो दया-मया सब कुछ है।"

"मित्र! दुःखित मत होना। मेरे ही लिए तुम अपने माथे भयङ्कर पाप का बोझा ले रहे हो, इसे मैं जानता हूँ। हज़ार हो, तुम्हारे आगे मैं कम उम्र हूँ। इसी से कुछ घबरा जाता हूँ।"

"हरपाल! भाई, धीरज रक्खो। भविष्यत् की ओर देखो। रक्त की धारा के बीच में राजसिंहासन की नींव रहती है। तुम्हारे लिए सिंहासन प्राप्त होने का शुभ मुहूर्त्त दिन पर दिन समीप आता जाता है।"

"मैं सिंहासन नहीं चाहता—जिसके लिए मैंने तुम्हारे चरणों का आश्रय लिया है मेरी वही इच्छा पूर्ण करो। मैं और कुछ भी नहीं चाहता।"

"उससे बेखटके रहो, उद्योग अवश्य ही सफल होगा। गर्विता शीला देवी एक दिन तुम्हारे वाम भाग में बैठकर महास्थान-सिंहासन की शोभा बढ़ावेगी।"

"मित्र! जीवन में क्या ऐसा शुभ दिन कभी होगा?"

"कोई अँदेशा नहीं है। बूढ़े राजा दिन-ब-दिन मौत के दरवाज़े की ओर बढ़ रहे हैं। हाँ, बालक-राजकुमार एक काँटा है। सो आज हो या दस दिन बाद, उसे दुनिया से हटा दूँगा! रानी के मर जाने पर शोकार्त बूढ़े राजा के मरने में कुछ अधिक विलम्ब न होगा।"

"होशियारी से काम करना। किसी को स्वप्न में भी पता न लगने पावे।"

"इसी लिए तो चञ्चला को अपनी मुट्ठी में कर लिया है। समझ गये हर! हँस-मुख चेहरा दुनिया में बहुत सी मुश्किलों को आसान कर देता है।"

"अच्छा तो इस समय का क्या कर्त्तव्य है?"

"यदि मतिया को अपने हाथ में न कर सका तो मुझे अवश्य ही उलझन में फँसना पड़ेगा, यह तो स्पष्ट है। जो अचानक कोई घटना हो जाय तो उसी ढँग से काम करना जिसकी कि सलाह हो चुकी है।

"चन्द्रदेव की हत्या की ख़बर राजा साहब तक पहुँच जाय तो?"

"मैंने उसका काफ़ी प्रबन्ध कर लिया है।"

"मित्र! मुझे एक-मात्र आप ही का भरोसा है। खूब सोच-समझ कर काम करना जिससे कि किसी मुसीबत में न फँसना पड़े। भैया, जो कहीं तुम फँस गये तो बिना कर्णधार की नाव को कौन पार लगावेगा?"

"हरपाल! घबराने की ज़रूरत नहीं। और मैं

कई काम पड़े हैं। उनको करना होगा। नरसिंह का भाग्य धीरे धीरे अँधेरे में छिपता जाता है। घबराना मत, दृढ़ता से मेरी सलाह के माफ़िक काम करो। इस मामले से राजपुरी में बड़ा ख़ून-ख़राबा हो सकता है।"

"तो क्या मुराद की पलटन राजधानी में आगई ?"

"अभी नहीं। राजधानी में महाराज के आते ही मुराद भी अपनी फ़ौज ले आवेगा। इससे डर मत जाना। गढ़ महास्थान की विपुलवाहिनी, रुपये के लालच से, मेरी मुट्ठी में है।"

"तो मैं इस समय क्या करूँ ?"

"पहले जो ख़बर मिली है उसकी जाँच करो। वह सच है या झूठ। वे लोग कहाँ पर किस हालत में हैं, उनका अगुवा कौन है, और उनके पास कितनी सेना है,—सब बातों का रत्ती रत्ती पता लगा लाओ।"

"पिताजी ने इस विषय में सम्मति नहीं दी है।"

"किसने ! महाराज माधव ने ? उन्हें सम्मति देनी ही होगी। उनकी सहायता के बिना कृतकार्य होना कठिन है। समझ गये न ?"

"अच्छी बात है, जैसे बनेगा उन्हें राज़ी कर लिया जायगा।"

"देखो हरपाल ! कहीं वचन का पालन करना न भूल जाना। तुम्हीं लोगों के भले के लिए मैंने इस काम में हाथ डाला है।"

"मैं इस काम में अपनी सारी शक्ति लगा दूँगा। रुपये की तुम तनिक भी फ़िक्र न करना। एक मैं ही नहीं, सारे सामन्त राजा गुप्तरूप से आपको बहुत कुछ सहायता देंगे।"

"मालूम नहीं होता कि हिन्दू राजा लोग विश्वासघात करेंगे।"

"कोई हर्ज नहीं। अगर हम और तुम ठीक रहें और भगवान् मौक़ा दें तो शायद किसी और की सहायता की आवश्यकता ही न हो।"

"अच्छा, तो अब मैं जाता हूँ। एकाएक मुझे अपनी जगह पर न देख कर लोगों को सन्देह हो सकता है।"

"अच्छी बात है। सबेरे मैं भी रवाना हो जाऊँगा।"

"एक दिन और ठहर जाओ। देखो, क्या होता है।"

"बहुत अच्छा" कहकर चिह्लन फ़ुर्ती से चला गया। हरपाल उसी पलँग पर लेट रहा।

[क्रमशः

आत्म-कथा ।

(१)

हम जङ्गली थे, कँगले थे, वानरेश्वर बन गये,
फिर तो नरेश्वर बन नरेशेश्वर बने, मद-सन गये।
फिर क्या रहा, हम चाहते हैं अब सुरेश्वरता मिले,
या वह बने हम, लख जिसे देवेश्वरासन भी हिले ॥

(२)

दबने लगे पर हम स्वयं सबको दबाने जब लगे,
हम ही स्वयं सोने लगे सबको सोलाने जब लगे।
जो थी हमारी वृद्धि वह हा ह्रास में परिणत हुई,
श्लाघा हमारे कर्म की उपहास में परिणत हुई ॥

(३)

पर सर्वथा नैराश्य के तो भी न अनुगामी हुए,
हम भूमितल से व्योमतल तक चढ़ गये, नामी हुए।
पर अब हमारा भी पतन है सन्निकट सन्देह क्या ?
सच है परस्वों का पचाना अति विकट सन्देह क्या ?

(४)

जलजन्तुओं से भी अधिक जल में हमारी गति हुई,
नौ-शक्ति ही मानो हमारी सिद्धि की सम्पति हुई।
पर शोक ! पूर्वी वायु ऐसी प्रखर चलने लग गई;
सब शक्तियों की जड़ उभड़ कर हाय हिलने लग गई ॥

(५)

पीड़ा हमारे करों जब भू को अपरिमित हो गई,
तब शीघ्र जाग्रज्ज्योति भी जग में विनिर्मित हो गई।
अत्यधिक उत्पीड़न मलय भी देखिए सहता नहीं,
प्रकटे बिना पावक प्रबल को देखिए रहता नहीं ॥

(६)

ज्यों ज्यों कपट को हम छिपा कर प्रेम दिखलाने लगे,
अपने प्रलोभन-जाल में संसार को लाने लगे।
हमसे सजग हो कर जगत त्यों त्यों अलग रहने लगा,
हो अभय, कपटागार हमको प्रकट ही कहने लगा ॥

(७)

हम क्रुद्ध हो, अवरुद्ध कर जिन पर कड़ाई कर चले,
वे निज बड़ाई के लिए हमसे लड़ाई कर चले।
सत्याग्रही वे बन गये हम थे दुराग्रह में पड़े,
अनुचर रहे जो, वे हमारे हो गये सम्मुख खड़े॥

(८)

मुँह मोड़ कर, सब छोड़ कर हमको, किनारे हट गये,
विश्वास वे हम पर करें क्यों बात से हम कट गये।
आदर मिला जिनसे हमें उनसे निरादर भी मिला,
सरसिज खिला था जिन सरों में विष-कुसुम उनमें खिला॥

(९)

चिरकाल से बन कर प्रतिष्ठित हम अधिष्ठित थे जहाँ,
रहने लगे मन मार कर बन कर विनिन्दित हम वहाँ।
फिर भी हमारी संशयित स्थिति हो रही है देखिए,
चारा हमारा कुछ नहीं चलता वहीं है देखिए॥

(१०)

मद-फूल कर, अपने करों हमने बड़ी ही भूल की,
स्वार्थान्ध हो हमने वृथा अपनी बड़ाई धूल की।
अब भीखते हैं सीख पा कर आत्म-अत्याचार से,
उपकारियों के साथ में अपकार के व्यापार से॥

(११)

मारी हमारी सङ्गिनी है फूट भी है साथ में,
नृपनीति भी है कूट की रहती हमारे हाथ में।
शिक्षा मिले हमसे जिसे भिक्षा न क्यों माँगे वही,
जो रो रहा है आज हमसे था हँसा आगे वही॥

(१२)

सब पर हमारा भेद कैसे खेद है प्रकटित हुआ?
अघटित रहा जो कार्य एकाएक वह सुघटित हुआ।
कुछ वश न चलता है विवश हम हो गये आकर यहाँ,
हम लोभ-वश हो मोह-निशि में सो गये आकर यहाँ

(१३)

हम मिल मिलाकर उजबकों से द्रव्य ले लेते रहे,
केवल उन्हें हम पदवियों का दान दे देते रहे।
पर हा ख़िताबी हाट मद्दी अब हमारी होगई,
बे दाम भी चलती न वह महिमा हमारी खो गई॥

(१४)

बेगार वे बनते रहे बेकार जो रहते रहे,
डरते रहे हमसे हमें सरकार भी कहते रहे।
व्यापार सब करने लगे छुट कर हमारे जाल से,
दुर्गत नहीं सहते, हुए अवगत हमारी चाल से॥

(१५)

थे सर्वदा हम काम लेते न्याय का अन्याय से,
हम आय अपना थे बढ़ाते सर्वदा दुरुपाय से।
पर क्या करें बेढब हमारा ढङ्ग अब चलता नहीं,
अपने करों अपना पतन कैसे किसे खलता नहीं॥

(१६)

आशा न अपनी दुर्दशा की स्वप्न में भी थी हमें,
आसन हमारा हिल गया फिर पूर्ववत् कैसे जमें?
हम लोचनों को मीच कर हैं सोचते निज मुक्ति के—
पथ, पर अभी तक हम नहीं हैं पा सके सद्युक्ति के।

(१७)

अनुमान हम किस विधि करें अपने अमित अपमान का?
मानो समय है सन्निकट अब आत्म के अवसान का।
सत्कार्य भी यदि हम करें अपकार्य है जग मानता,
सच्चा शपथ यदि हम करें झूठा उसे जग जानता॥

(१८)

कोई कभी साथी न होगा हम पड़ें यदि क्लेश में,
जो मित्र थे अब शत्रु हो कर हैं भरे आवेश में।
जो साथ देते थे उन्हीं के हाथ थे हम काटते,
जो थे कटाते माथ हम पर, थे उन्हें हम डाँटते॥

(१९)

हमने रटा डाला निजाश्रित देश को दाने बिना,
हम हो गये दुर्दम्य थे भवितव्य को जाने बिना।
अब तो हमारे भी दृगों के सामने तम छा गया,
केवल हमारे ही लिए मानो प्रलय सा आगया॥

(२०)

बहु बार जैसे बच गये इस बार भी वैसे बँचे,
चिर काल से हैं सोचते हम जाल कुछ ऐसे रचें।
कृत्कार्य होना है कठिन हमको न अब आशा रही,
देकर दिलासा हम थके पर हाथ कुछ आता नहीं॥

(२१)

मानी बनें किस भाँति, मनमानी करें यदि हम नहीं ?
हो हानि चाहे लाभ इसका है हमें कुछ ग़म नहीं ।
हम कर न सकते हैं उसे कहता जिसे संसार है,
अपकार के हम केन्द्र हैं, करते नहीं उपकार हैं ॥

(२२)

अब तो परीक्षा भाग्य की हम कर रहे हैं देखिए,
हम तो परों को मार कर के मर रहे हैं देखिए ।
हठ से कभी हटते न हम हठ-धर्म ही हैं मानते,
सत्कर्म हम करते नहीं, दुष्कर्म ही हैं जानते ॥

रामचरित उपाध्याय

साहित्य में दूत ।

जासूसी एक विद्या है । इस विद्या से बड़ा लाभ है । जासूस का मुख्य कर्म अपराधी की खोज है । जासूस के भय से अपराध की वृद्धि रुकी रहती है। पहले तो अपराधी के चित्त में जासूस का इतना भय रहता है कि वह बहुत से अपराध करने की हिम्मत नहीं करता । जब तक टल सके तब तक वह अपराध कर्म को टालता है । परमेश्वर का भय दूर है, परमेश्वर अदृष्ट है, इस कारण से अशिक्षित अपराधी उससे कम भयभीत रहते हैं । जो दण्ड दूसरे जन्म में मिलेगा उसका प्रभाव अपराधी पर इतना विशेष नहीं पड़ सकता । दूसरा जन्म होता है या नहीं, पहले तो यह शङ्का है, फिर दूसरे जन्म में होकर क्या होगा यह मालूम नहीं । सम्भव है कि एक पाप का प्रायश्चित्त दूसरे पुण्य से हो जाय, एक के घर डाका डाल कर सत्यनारायण की कथा कहला देने से पाप शायद दूर हो जाय । अतएव चोरों को परलोक का उतना भय नहीं रहता जितना इहलोक का । उन्हें सबसे अधिक डर रहता है राज-दण्ड का । राज-दण्ड के लिए यह आवश्यक है कि न्यायालय में अपराध का पूर्ण प्रमाण दिया जाय ।

छिपे हुए अपराधी को न्यायालय में पहुँचाना और न्यायालय में उसके अपराध का प्रमाण देना जासूस का काम है । जासूस और अपराधी एक दूसरे के शत्रु हैं । अपराधी चेष्टा करता है कि अपराध छिपा रहे । जासूस यत्न करता है कि अपराध छिपा न रहे । जिस देश में अपराधी चतुर होते हैं उस देश में जासूस भी चतुर होना चाहिए । जासूस जितनी चतुराई अपराधी के जानने के लिए निकालता है अपराधी उतनी ही चतुराई जासूस को धोखा देने की और उसको चक्कर में डालने की सोचता है । देश और काल के अनुसार जासूस और अपराधी की चतुरता साथ साथ घटती बढ़ती है और यह चतुरता सभ्यता का एक मूल अंश है । यदि एक असभ्य देश का जासूस एक सभ्यतापूर्ण देश में भेज दिया जाय तो शायद वह छोटे से छोटे अपराधी के धोखे में आजाय और उसकी युक्ति को न पहचान सके । इसी प्रकार यदि एक बड़े सभ्य देश के जासूस कम सभ्य देश में आजाएँ तो या तो अपराध बन्द हो जाय या वहाँ के अपराधी अधिक चतुराई दिखाने लगें । जासूस कई प्रकार के होते हैं—एक तो गुप्तचर होते हैं, जो राजा के पास शान्त प्रजा के सुख-दुःख का हाल लाते हैं और युद्धकाल में शत्रु का हाल बतलाते हैं । श्रीरामचन्द्रजी के समय जिस प्रतिहारी ने धोबी का उलहना राजा को सुनाया जिसके कारण सीता का त्याग हुआ वह एक गुप्तचर था । शान्ति-समय में इनका काम इतना कठिन नहीं है, परन्तु इनका धर्म है कि सच्ची ख़बर राजा तक पहुँचावें, दिल से बातें न गढ़ें, केवल उन बातों की रिपोर्ट करें जिनसे राजा प्रजा दोनों का उपकार हो—युद्धकाल में इनका काम कठिन है । शत्रु की सेना में पहुँचना ही कठिन है फिर वहाँ का हाल जान सकना और भी कठिन है । असत्य ख़बर देने से बहुत नुक़सान होता है । जब पिछली लड़ाई में गुप्तचर हवाई जहाज़ में जाने लगे तब उनको पकड़ने के लिए नई तोपें आविष्कृत हुई थीं । गुप्तचरों की कृतियों के सूचक कितने ही उपन्यास लिखे गये हैं । दूत के और जासूस के काम में फ़र्क है । हनूमान् जासूस थे, अङ्गद दूत थे । हनूमान् इसलिए लङ्का गये थे कि सीता का पता लगावें और लङ्का की ख़बर लावें । अङ्गद रामचन्द्रजी की तरफ़ से

रावण के पास सन्धि करने का सन्देश लेकर गये थे। ऐसे गुप्तचर प्रायः सब राजाओं और बादशाहों के समय में रहते थे। इनकी विद्या की बहुत बहुत विचित्र बातें सुनी गई हैं। सुना जाता है कि कोई कोई गुप्तचर गगनचर होते थे। जासूसी विद्या जाननेवालों का एक रूप 'बहुरुपिया' भी होता है, जिनकी कुशलता के विषय में कितनी ही आश्चर्यजनक बातें प्रसिद्ध हैं। और आज-कल भी कोई कोई 'बहुरूपिया' साधारण काम करने में अच्छी चतुरता दिखाते हैं। परन्तु सर्वसाधारण को जो लाभ पहुँचाते हैं वे जासूस हैं, जो अपराध की खोज का काम करते हैं। भारतदेश में यह काम प्रायः सरकारी कर्मचारी, पुलिसवालों का ही है। परन्तु अन्य देशों में सरकारी पुलिस से पृथक् और जासूस भी रहते हैं, जो खोज का काम करते हैं। इन जासूसों को कभी कभी पुलिस के साथ भी काम करना पड़ता है। तब इनकी बुद्धि और पुलिस की जासूसी में फ़र्क दिखाई पड़ता है। फ्रांस, इँग्लेंड, आदि देशों में अनेक इतिहास तथा अन्य पुस्तकें लिखी गई हैं, जो पढ़ने में बड़ी रोचक और शिक्षाप्रद हैं। हमारे यहाँ भी कुछ जासूसी उपन्यास लिखे गये हैं। परन्तु वे केवल उपन्यास ही हैं, सच्चे क़िस्से नहीं हैं। जासूसी उपन्यास के लिखने में और सच्चे क़िस्से लिखने में बड़ा भेद है। उपन्यास-लेखक अपने लेख को रोचक बनाने की चेष्टा में उन बातों को लिख जाता है कि जिनकी सम्भावना तक सच्ची घटना में नहीं की जा सकती।

हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ाने के विचार से कुछ ऐसे जासूसी उपन्यास लिखे गये थे जिनमें इस बात का कोई विचार नहीं रक्खा गया कि जासूस भी मनुष्य है और उसमें मनुष्य से अधिक शक्ति नहीं है। उसकी बुद्धि और विद्या का वर्णन ऐसा होना चाहिए जो मानवीय प्रतीत हो। जासूस कोई जादूगर नहीं है, वह कोई देव नहीं है। वह पशु-पक्षी होकर अगम्य स्थल पर नहीं पहुँच सकता। उसकी शक्ति परिमित है। परन्तु हिन्दी-साहित्य में इसकी उपेक्षा की गई है। ऐसे उपन्यासों से साहित्य का गौरव नहीं बढ़ता। वे परियों के क़िस्से मालूम होते हैं, उनसे कोई शिक्षा नहीं होती, न कोई उपकार होता है। उनसे पाठकों का मन बहल भी नहीं सकता, क्योंकि वह समझता रहता है कि क़िस्सा निराधार है। मिथ्या है, काल्पनिक है। इसका कारण केवल यह है कि जासूसी उपन्यास केवल सङ्कलिपत कथाओं पर निर्धारित होते हैं, असली घटना पर निर्धारित नहीं किये जाते। सच्ची घटना में जो जासूसी होती है उसका वर्णन जासूस की विद्या बुद्धि का परिचय देकर शिक्षा देता है कि सुयोग्य लेखक एक सच्ची घटना पर पूर्ण विचार करने के बाद उसके सहारे कितने ही क़िस्से लिख सकता है जो मनोरञ्जक हों और शिक्षाप्रद भी हों।

डाक्टर कानन डायल के उपन्यास पढ़ने से एक अद्भुत रुचि उत्पन्न होती है। उनका नायक शरलकहोम्स है। शरलकहोम्स ने जासूसी को एक विद्या बना लिया है, जिसके नियम बन सकते हैं—कानन डायल का क़िस्सा कहने का ढङ्ग कुछ अवश्य निराला है। एक तो सरकारी कर्मचारियों से उनके नायक को एक प्रकार का विरोध है। अर्थात् वे हमेशा यह दिखाते हैं कि जिस मामले का पता—स्काटलेंड यार्ड का कप्तान नहीं लगा सका उसका पता शरलकहोम्स ने लगाया। दूसरी बात यह कि शरलकहोम्स चुपचाप बैठे बैठे पता लगा लेते हैं। फिर जब अपने दोस्त डाकृर को समझाते हैं कि पता कैसे लगा उस वक़्त पाठक को यह मालूम होता है कि तिनके की ओट पहाड़ था। यदि अपराधी के पैरों के दाग़ देखने को मिल सकते हैं तो शरलकहोम्स यह फ़ौरन बतला सकते हैं कि अपराधी कितना लम्बा मनुष्य होगा, क्योंकि लम्बे आदमी और नाटे आदमी के पगों में भेद रहता है। शरलकहोम्स बीस प्रकार के चुरट की राख़ पहचानते हैं। बहुधा शरलकहोम्स अपनी जासूसी से अपराधी का पता लगा लेते हैं और उस पर हाथ रखकर कह देते हैं कि तुमने अपराध किया है और प्रमाणों से उसके अपराध को सिद्ध करके उससे उसको स्वीकार करवा लेते हैं। ऐसे स्वीकार में वह शक नहीं रह सकती जो प्रायः यहाँ के स्वीकारों पर प्रकट की गई है कि पुलिस का अधिकारी तहक़ीक़ात का सबसे सीधा मार्ग यही समझता है कि अपराधी से उसका अपराध स्वीकार करा दे।

ऐसे बहुत से मुक़द्दमे अदालत में पाये गये हैं जिनमें अपराधी ने लालच में आकर या भयवश होकर या झूठी

तिज्ञा के वश होकर इस आशा से कि वह दण्ड से बच जायगा अपराध स्वीकार कर लिया है। यह भी देखा गया है कि निरपराध होते हुए भी उसने अपराध स्वीकार करके तहक़ीक़ात से अपना पीछा छुड़ाया है। फिर अदालत में आकर अपना बयान बदल दिया है। अतएव जजों ने क़ायदा कर दिया कि केवल अपराधी के स्वीकार पर उसको दण्ड नहीं दिया जायगा। उस स्वीकार के समर्थन में कुछ प्रमाण चाहिए। यहाँ तक क़ायदा है कि सङ्गीन अपराधों में जब अपराधी कहे कि मैंने अपराध किया है तब अदालत लिखती है कि मैं निरपराधी हूँ। इसके बाद वह पुलिस से प्रमाण माँगती है। हाईकोर्ट के जज सर प्रमदाचरण बैनर्जी ने, जिनका अनुभव बहुत विस्तृत है, यह साफ़ कह दिया कि यह ख़याल करते हुए कि मुलज़िम बहुधा पुलिस की दाब और चापलूसी के कारण इक़बाल कर बैठते हैं। इस बात का ख़ूब विचार कर लेने की ज़रूरत है कि इक़बाली बयान सच्चा है या नहीं और जब तक सन्देह रहे बयान नहीं मानना चाहिए।

सरकार ने भी सरक्यूलर निकाले हैं कि पुलिस की यह कार्रवाई निन्दनीय है कि और प्रमाण ढूँढ़ने की जगह वह पहले अपराधी से स्वीकार कराने की ही चेष्टा करती है। सबसे बढ़िया मुक़द्दमा मैनपुरी में अभी थोड़े दिन हुए देखा गया था। एक मनुष्य पर हत्या का अभियोग लगाया गया और उसने स्वीकार किया। जज (मिस्टर पुलन) ने उसको छोड़ दिया। थोड़े दिन पीछे वह स्त्री, जिसका क़त्ल होने का अभियोग था स्वयं मेहता मिस्टर जंट साहब के सामने उपस्थित हुई। उस थानेदार पर जिसने चालान किया था मिथ्या स्वीकार कराने का अभियोग लगाकर कमीशन बैठाया गया। ऐसे स्वीकार ठीक नहीं होते जब तक प्रमाण मौजूद न हो। यह अवश्य देखा गया है कि अपराध का पता चलाने में सबसे बड़ा जासूस, सबसे बड़ा भेदिया स्वयं अपराधी होता है। मनुष्य के स्वभाव में कुछ ऐसा प्रभाव है कि काम करके चुप नहीं रह सकता। या ईश्वर का न्याय ऐसा अटल है कि अपराधी के लाख छिपाने पर भी कुछ न कुछ चूक रह ही जाती है। किसी उर्दू शायर ने कहा है !! ‘‘क़रीब है यार रोज़ महशर छिपेगा ‘‘कुश्तों का ख़ून क्योंकर, जो चुप रहेगी ज़बान खंजर लहू पुकारेगा आस्तीं का’’ !! मेकबेथ की हत्या की बात स्वयं लेडी मेकबेथ चिल्ला चिल्ला कर कहती फिरी।

नायिका-भेद में दश दशा-वर्णन करनेवाले चतुर कवि इसको उन्माद भले ही कहें, परन्तु वास्तव में इस चित्र के उदाहरण बहुत दिखाई देते हैं —

अरि कै वह आज अकेली गई!
खरि कै हरि के गुन रूप लुही!
उनहूँ अपनो पहिराय हरा!
मुसक्याय कै गाइ कै गाय दुही!
कविदेव कह्यो किन काहु कछू!
जब ते उनके अनुराग छुही!
सब ही सों यही कहै बालवधू!
यह देखो री माल गुपाल-गुही!

न्याय परमात्मा है, अपराध शैतान है। न्याय और अपराध के सङ्ग्राम में अन्त में विजय न्याय की होती है। बड़े बड़े होशियार अपराधी ऐसी मूर्खता कर बैठते हैं कि उनका पकड़ा जाना अतीव आसान हो जाता है। एक मुक़द्दमा इटावे में हुआ था। तीन ठग हैदराबाद के सेठ बनकर हाथरस से डाकगाड़ी में सवार हुए। उसमें एक मुसलमान सौदागर बैठा हुआ था। इन लोगों ने आपस में व्यवहार की लम्बी चौड़ी बात शुरू की। सौदागर भी बात करने लगा। बातों में इन्होंने यह जान लिया कि उसके पास, नोट, गिन्नी, आदि मौजूद हैं। वह कलकत्ता जा रहा है। सफ़र रात भर का था, आपस में ओसरा बाँध लिया। जब सौदागर सो गया, उसका सन्दूक़ तोड़ कर माल निकाल लिया। वे रेल से सुबह होते होते निकल गये। निकलने में एक ठग रेल से गिर गया और स्टेशन बलरई के क़रीब कट गया। दूसरा ठग बैलगाड़ी किराये कर चल दिया। किसी गाँव में छिप कर भागना चाहता था। इतने में इटावे की पुलिस को सौदागर ने रिपोर्ट कर दी थी और वे खोज में गये। एक बैलगाड़ी बेराह जाती देख पुलिसवालों ने पूँछा कहाँ जाते हो। ठग गाँव का नाम तो जानता ही न था। इधर के देश से बिलकुल अपरिचित था। सन्देह-पूर्ण उत्तर देने लगा। पकड़ गया, बलरई स्टेशन पर लाया गया। वह

कटे हुए ठग के शव को देख कर फूट फूट रोने लगा। तलाशी से माल उन दोनों के कपड़ों में मिला। परन्तु अपराधी के स्वीकार, उसकी मूर्खता या इत्तिफ़ाक, से भेद लगना और बात है और जासूसी बुद्धि दूसरी वस्तु है। जासूस को पहले मामला का पूर्ण वृत्तान्त जानना चाहिए। जो बात छोटी मालूम होती है उसी से कभी कभी पूरा पता चल जाता है। फिर जासूस को बुद्धिमान् होना चाहिए। काम में सावधानी रखना चाहिए। जासूस विद्वान् होना चाहिए। मुख्य मुख्य चोर-बदमाश आदि अपराधियों के नाम, पता, उनकी कार्रवाई की पहचान की ख़बर रखना चाहिए। बहुधा अपराधियों के दर्जे पृथक् पृथक् होते हैं। कोई रेल के चोर हैं, कोई सेंध लगाते हैं, कोई सेंध में धँसते हैं, कोई विष देकर बेहोशी में घात लगाते हैं। कोई डाका डालते हैं। कोई मेला आदि में जेब काटते हैं।

यह आश्चर्य सा प्रतीत होता है। एक प्रकार का चोर दूसरी प्रकार की चोरी नहीं करता और शायद कर भी न सकता हो। प्रवीण जासूस इन सबसे वाकिफ़ होता है और सदैव अपनी दृष्टि इन पर रखता है। पुराने ज़माने के राजा को शास्त्र में आज्ञा थी कि इन जासूसों से अपराधियों की ख़बर रक्खे। "संध्यामुपास्य शृणुयाच्चाराणां गूढभाषितम्।" ऐसा भी कहा है कि "चारतस्करदुर्वृत्तमहासाहसकादिभिः। पीड्यमानाः प्रजाः रक्षेत् ......श्च विशेषतः॥" याज्ञवल्क्य ने तीन प्रकार के दूत बतलाये हैं। निष्ठार्थ, सन्दिष्टार्थ, शासनहारी।

१. जो देश काल में उचित राजकार्य्य स्वयं कहते हैं।
२. जो कहे हुए को दूसरे के प्रति निवेदन करें।
३. जो राजा के पत्रादि ले जायँ।

दूतः सुभाषितरत्नभाण्डागारम्।

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः परचित्तोपलक्षकः।
धीरो यथोक्तवादी च एष दूतो विधीयते॥
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा।
सदैवाबध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः॥
भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी।
ब्राह्मणः परमर्मज्ञो दूतः स्यात्प्रतिभानवान्॥
साकारो निस्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः।
परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते॥

दूत के गुण ये बतलाये जाते हैं:—

यथोक्तवादी दूतः स्याद्देशभाषाविशारदः।
शक्तः क्लेशसहो वाग्मी देशकालविभागवित्॥
विज्ञातदेशकालश्च दूतः स्यात् स महीक्षितः।
वक्ता न यस्य यः काले स दूतो नृपतेर्भवेत्॥
इति मत्स्यपुराणम्

अन्यच्च—

परेङ्गितज्ञः परवाग्व्यङ्ग्यार्थस्यापि तत्त्ववित्।
सदोत्पन्नमतिर्धीरो दूतः स्यात् पृथिवीपतेः॥
दूतञ्चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गितज्ञं तथा सभ्यं दक्षं सत्कुलसंभवम्॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥
दूत एव हि सम्मतो भिनत्त्येव हि सङ्गतान्।
विमृष्यार्थी मितार्थश्च तथा शासनहारकः॥
दूतास्त्रयोऽमात्यगुणैः समैः पादार्द्धवर्जितैः।
विमृश्यार्थं कार्य्यवशात् शासनं न करोति यः॥
मितार्थः कार्यमात्रोक्तौ न कुर्यादुत्तरोत्तरम्।
यथोक्तवादी सन्देशहारको लेखहारकः॥
तत्र दूतो व्रजन्नेव चिन्तयेदुत्तरोत्तरम्।
वार्ताविशेषं भूपाय झटितीत्यङ्गवेश्मनि॥
दूतो हि न लिखेत् किञ्चित् निर्णीता विनिसंशयम्।
पृच्छ्यमानोऽपि न ब्रूयात् स्वामिनः क्वापि वैशसम्॥
इति युक्तिकल्पतरुः

अथ दूते वर्णनीयानि। निजप्रभुतेजः श्रीविक्रमौ त्यकरवाक्यम् १ शत्रुक्षोभकरचेष्टा २ अधर्षणीयता ३ दक्षता ४ निर्भयत्वम् ५ इति कविकल्पलता—

रामचन्द्रजी जब रावण के पास सँदेशा भेजने लगे तब इसके उपयुक्त दूत तलाश करके अङ्गद से बोले—

बालि तनय बुधि बल गुण धामा।
लंका जाहु तात मम कामा॥
बहुत बुझाइ तुमहि का कहहूँ।
परम चतुर मैं जानत अहहूँ॥
काज हमार जासु हित होई।
रिपुसन करहु बतकही सोई॥

इस चतुराई को पूर्णरूप से अङ्गद ने सिद्ध कर दिया। जो वाक्पटुता और योग्यता अङ्गद-रावण-भाषण में अङ्गद ने दिखलाई वह रामायण के पाठकों को ज्ञात है। कभी धमकी देना, कभी शिक्षा देना, सन्धि को चलाना, अपना ज़ोर दिखाना, आदि सब बातें उसमें यथारूप से पाई जाती हैं—जब पैर रोपा और रावण के सभा के सदस्यों के पैर उठाने में असमर्थ हो जाने पर रावण ने स्वयं पैर हटाने को हाथ बढ़ाया तब देखिए किस निपुणता से स्थिति को बचाया।

"मम पद गहेहु न तोर उबारा"

हनुमान् जी जासूसी के लिए भेजे गये थे। वे रूप धरने में बहुत सिद्धहस्त थे—

"विप्र रूप धरि कपि तँह गयेऊ, माथ नाय पूँछत अस भयऊ'

पुनः सुरसा के साथ जो रूप बदलने का काम उन्होंने किया वह स्मरणयोग्य है। लङ्का पहुँच कर—

"अति लघुरूप धरेउ हनुमाना, पैठा नगर सुमिर भगवाना"

जब विभीषण के घर पहुँचे और राम-नाम अङ्कित घर देखा तब तुरन्त आप विप्र बन गये, जिससे विभीषण पर प्रभाव पड़े—

"विप्ररूप धरि वचन सुहाये, सुनत विभीषण उठि तहँ आये"

अशोक-वाटिका में जब सीता को भ्रम हुआ कि यह तुच्छ बन्दर है, ऐसे बन्दरों से राक्षस-दल कैसे जीता जायगा, तब हनूमान्जी ने अपना रूप बदल कर दिखाया—

"कनक भूधराकार शरीरा,
समर भयङ्कर अतिबल धीरा।
"सीता मन भरोस तब भयऊ,
पुनि लघुरूप पवनसुत लहेहू॥

जब मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र चलाया तब हनूमान् का बँध जाना एक दूतचाल थी।

"जासु नाम जपि सुनहु भवानी,
भव-बन्धन काटहिं नर ज्ञानी।
"तासु दूत कि बंध तर आवा,
प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा॥
ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह विचार।
जो न ब्रह्म सर मानहूँ, महिमा मिटै अपार॥

राजा को दूतों से बहुत अच्छा बर्ताव करना चाहिए। श्रीरामचन्द्रजी का मन्तव्य स्मरणीय है। जब रावण के भेजे हुए दूतों को वानरों ने पकड़ लिया और मारना चाहा तब कहते हैं:—

"न दूतान्घ्नन्ति काकुत्स्थ वार्यन्तां साधुवानराः"

वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड
२० सर्ग

तुलसीकृत रामायण में लेख है—

बहु प्रकार मारन कपि लागे

× × × ×

सुनि लक्ष्मण सब निकट बुलाये
दया लागि हँसि तुरत छुड़ाये
तुरत नाय लक्ष्मण पद माथा
चले दूत वरणत गुण गाथा

परिणाम यह हुआ कि जब वे दूत अपने स्वामी रावण के पास पहुँचे और उसने हाल पूछा तब दूतों ने रामचन्द्र की बहुत प्रशंसा की और उसकी हिम्मत को तोड़ना चाहा—

नाथ कृपा करि पूँछहु जैसे
मानहु कहा कोप तजि तैसे
राम तेज बल बुधि विपुलाई
सेष सहस सत सकहिं न गाई

दूतों के उपयोगी लक्षण शास्त्रों में अच्छी तरह से वर्णन किये गये हैं।

खड्गजीत मिश्र

ज्वालाजी की यात्रा।

संसार में एटना, वेसूवियस आदि अनेक ऐसे पर्वत हैं जिनसे ज्वाला निकला करती है। इन ज्वालामुखियों के वृत्तान्त पुस्तकों और पत्रिकाओं में प्रायः प्रकाशित होते रहते हैं। हमारे देश में भी ऐसा ही एक पर्वत है जिससे ज्वाला की लपटें निकलती हैं। प्रकृति का यह अद्भुत चमत्कार दर्शनीय है। परन्तु

बहुत थोड़े व्यक्ति ऐसे हैं जो प्रकृति की इस विचित्रता को देखने के लिए इस पर्वत पर जाने का कष्ट सहन करते हों। वे पुस्तकों में ही ज्वालामुखी का वर्णन पढ़ कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। गत भाद्रपद में मुझे ज्वालाजी—इस पर्वत को हिन्दू लोग ज्वालाजी कहते हैं—जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। उसका कुछ वृत्तान्त, पाठकों के मनोरञ्जनार्थ, यहाँ देता हूँ।

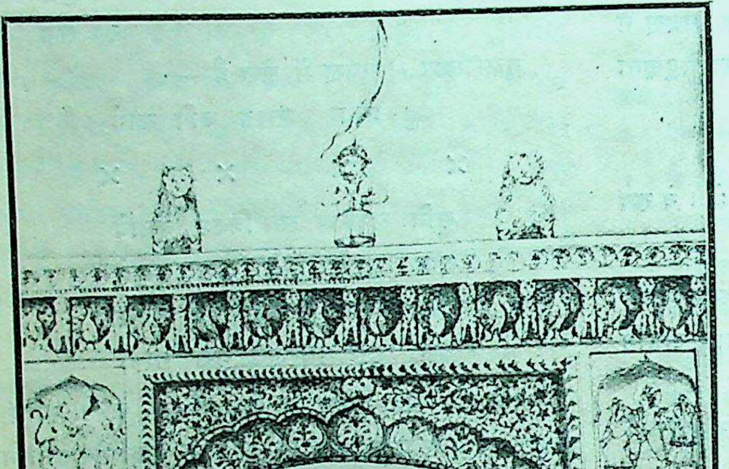

चिन्तापूर्णी देवी का मन्दिर।

मेरे भतीजे श्री चिरञ्जीव ने इस वर्ष पंजाब-विश्वविद्यालय की ऐंट्रेन्स परीक्षा पास की थी। अभी तक वह ज्वालाजी नहीं गया था। उसके मन में ज्वालाजी जाने की बड़ी लालसा थी। उसके आग्रह करने पर हम तीन जन—मैं, चिरञ्जीव तथा वेदव्रत—१४ भाद्रपद संवत् १९८० रविवार को सायङ्काल ४ बजे, अपने गाँव, पुरानी बस्ती, से पैदल चल पड़े। पुरानी बस्ती होशियारपुर से ढाई मील पूर्व है। यहाँ से कोई पाँच मील दूर जाने पर शिवालक की पहाड़ियाँ मिलती हैं। रात्रि को हमने ९ मील चल कर मंगूवाल के पड़ाव पर विश्राम किया। मंगूवाल से कोई डेढ़ मील पहले शाहनूर जमाल नामक एक मुसलमान फ़क़ीर की ख़ानकाह है। वहाँ प्रति वर्ष एक भारी मेला लगता है। यह सड़क से कुछ फ़र्लाङ्ग हट कर दाईं ओर है परन्तु हम वहाँ न जा सके। सोमवार तड़के उठ कर हम आगे चले। ७ मील चल कर पर गगरेट मिला। यहाँ थाना है और सराय बहुत सुन्दर है। पर हम उषःकाल से पहले ही वहाँ से आगे निकल गये। गगरेट तक प्रायः चढ़ाई ही चढ़ाई है। रास्ते के दोनों ओर शुष्क चट्टानें खड़ी हैं परन्तु गगरेट के आगे मार्ग बिलकुल चौरस था। कोई डेढ़ मील के अन्तर पर सुआँ नदी मिली। पर इस समय इसमें जल नाम-मात्र ही को था। उसके आगे कोई तीन मील चलने पर फिर चढ़ाई आरम्भ होती है और ८ मील भरवाईं के बँगले तक बराबर चली जाती है। हम लोग दो पहर को भरवाईं जा पहुँचे। यह स्थान बहुत ऊँचा होने के कारण ठण्डा है। होशियारपुर का डिपटी कमिश्नर गरमियों में यहीं रहता है। यहाँ का पड़ाव भी साफ़-सुथरा है। दूकानें भी अच्छी हैं। हमने दो पहर यहीं काटी।

यहाँ से बायें हाथ को दो मील के अन्तर पर चिन्तापूर्णी देवी का मन्दिर है। यह हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ है। वर्षाकाल में यहाँ बड़ा भारी मेला होता है।

लोग दूर दूर से यहाँ आते हैं । इस समय मेले के दिन नहीं थे, परन्तु फिर भी दिल्ली के एक वकील साहब परिवार-सहित बहलियों में सवार होकर देवी के दर्शनार्थ जा रहे थे । सायङ्काल हम भी टहलते टहलते चिन्तपुरनी—क्योंकि मन्दिर के इर्द-गिर्द की बस्ती का यही नाम है—जा पहुँचे ।

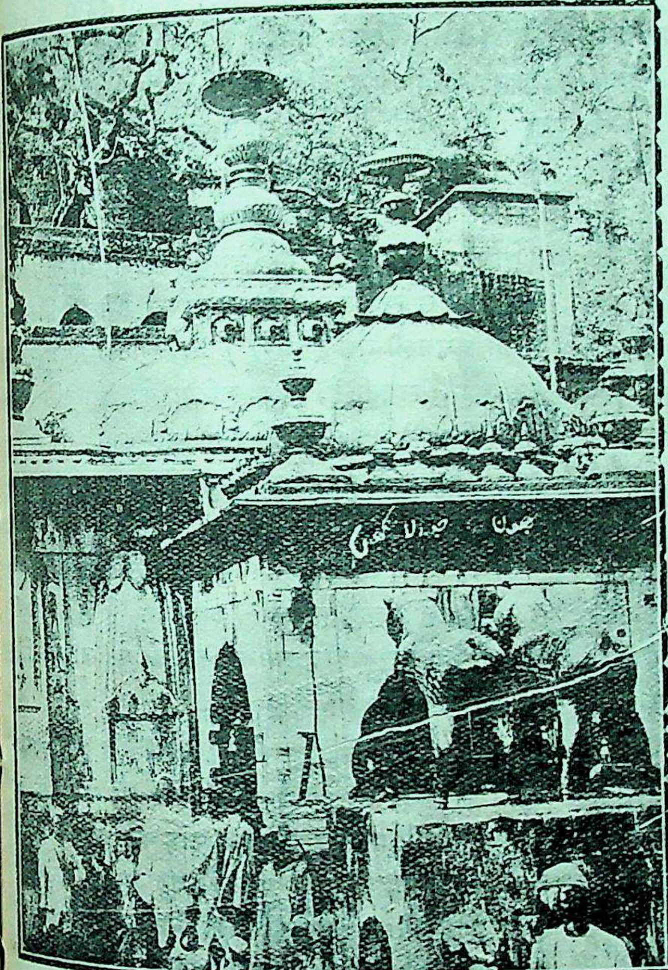

ज्वालाजी के भवन का बाह्य दृश्य ।

देवी का मन्दिर बड़ा विशाल है । यह पत्थर का बना हुआ है । सिंहद्वार पर देवी-देवताओं के चित्र चित्रित हैं । चार पाँच पैड़ियाँ चढ़कर सिंहद्वार में प्रवेश करते ही सामने देवी की शय्या है । चित्र में यह सिंहद्वार के भीतर स्पष्ट दिखाई दे रही है । मन्दिर के विस्तीर्ण हाते के मध्य में एक पाषाण-निर्मित सुन्दर गुम्बददार चबूतरा सा है । इसी में देवी की मूर्ति पुष्पों की शय्या में लेटी रहती है । उसके आगे बारी बारी से पुजारी लोग बैठते हैं । बाहर परिक्रमा में कुछ लड़कियाँ और स्त्रियाँ भी बैठी रहती हैं । ये यात्रियों से दान माँगा करती हैं । यह देवी बड़ी शक्तिशालिनी मानी जाती है । लोग दूर दूर से मन्नतें मान कर अपने बच्चों को यहाँ लाते हैं । सारी बस्ती में एक भी खाट नहीं, और न तेल का पकवान ही मिलता है । कारण यह कि इन दोनों से देवीजी कुपित हो जाती हैं ।

हम मन्दिर देखने के पश्चात् साँझ को भरवाईं लौट आये । रात्रि को यहाँ ख़ासी ठण्ड थी ।

१६ भाद्रपद मङ्गलवार को हम बहुत तड़के उठ कर आगे चले । अब मार्ग में उतार ही उतार था । पर्वत हरी वृक्ष-माला से ढँके हुए थे । हम दिन निकलने तक १२ मील की यात्रा करके गोपीपुर देहरा नामक स्थान में जा पहुँचे । यह नगर काङ्गड़ा ज़िले के अन्तर्गत है और व्यास-नदी के दायें तट पर अवस्थित है । नदी पर पहुँच कर, कुछ विश्राम करने के पश्चात्, हमने स्नान किया । व्यास का जल अतीव निर्मल और हिम के समान शीतल था । स्नान करके बहुत आनन्द प्राप्त हुआ । फिर सन्ध्या-वन्दन करने के पश्चात् कुछ खा-पी कर हम नाव पर सवार हो पार उतर गये ।

यहाँ से ज्वालाजी, छोटे मार्ग से, ८ मील है । रास्ता ऊँचा-नीचा है । हम कोई दस बजे वहाँ पहुँच गये और एक धर्म्मशाला में जाकर हमने डेरा किया । इस समय, कोई बीस मील की यात्रा करने के पश्चात्, भूख खूब लग रही थी । पकवान खाते खाते जी ऊब गया था । रोटी को मन ललचा रहा था । परन्तु कोई भोजन-शाला न थी, जहाँ पैसे देकर भोजन कर लेते । भोजन

बनाना मालूम नहीं था। पर भूख तो भूख। लाचार होकर धर्म्मशाला के चौकीदार से रसोई के बर्तन लिये और भोजन बनाना आरम्भ कर दिया। सौभाग्य से वेदव्रत शाक-भाजी बनाना और आटा गूँधना जानता था। इसकी शिक्षा उसे अपनी माता से मिली थी। चपातियाँ चिरञ्जीव ने बना लीं। अपने हाथ की बनी रसोई को खा कर इतना आनन्द आया कि अनारकली में हिन्दुस्तानी हलवाई की मिठाई उसके सामने नीरस मालूम होती थी। यात्रा करने की इच्छा रखनेवाले सज्जनों को रोटी बनाना अवश्य सीख लेना चाहिए।

खा-पी कर हम लोगों ने कुछ काल विश्राम किया और फिर ज्वालाजी के दर्शनार्थ मन्दिर को चले। मन्दिर पर्वत के एक उच्च स्थान पर है। वहाँ पहुँचने के लिए बस्ती के बाज़ार से होकर क्रमशः ऊपर चढ़ना पड़ता है। अन्य पहाड़ी नगरों के सदृश यह नगर भी पत्थर का ही बना है। भक्तजन जब ज्वालाजी के दर्शन को चलते हैं तब रास्ते में—रेल में, छकड़ों में, बहलियों में, पैदल—ज्वाला मैया की जय! लाटाँवाली की जय! सोने के छत्रवाली की सदा ही जय! इत्यादि जयकार करते रहते हैं। पंजाब की अपेक्षा पूर्व के लोगों में 'माता' की भक्ति अधिक है। वे लाल लाल झण्डियाँ लिये, गले में मौली (लाल और सफ़ेद धब्बोंवाला कच्चा सूत) पहने, सिर और पैर नङ्गे, देवी का स्तोत्र-गान करते दल के दल स्त्री-पुरुष आते हैं। पुजारियों को अधिकतर इन्हीं से आय होती है। जो सन्तानहीन हों या जिनके सन्तान हो कर जीवित न रहती हो वे 'लाटाँवाली माई के दरबार' में मन्नतें लेकर आते हैं। पर हमारी यात्रा का उद्देश केवल प्रकृति माता का साक्षात् दर्शन करना था।

बाज़ार समाप्त होते ही सामने देवी का विस्तीर्ण भवन दिखाई दिया। सिंहद्वार से बाहर दरिद्र भिखमँगे बैठे थे। भीतर एक ओर एक बड़ा नगाड़ा रक्खा था। हाते के मध्य में देवी का भवन है। इसके स्वर्णमण्डित गुम्बद, ऊँचे झण्डे, और प्रभावशाली इमारत दूर से ही देख पड़ती है। डेवढ़ी में एक बहुत बड़ा घण्टा लटक रहा है। भवन के फाटक चाँदी के पत्रों से मढ़े हुए हैं। भीतर प्रवेश करने पर पहले एक बड़ा हवन-कुण्ड मिलता है। यह पृथ्वी के भीतर खोदा हुआ एक गहरा गड्ढा सा है। इसके एक दो स्थान से आग की छोटी टेम निकलती है। चित्र में भवन का जो भीतरी दृश्य दिखलाया गया है उसमें कुण्ड के किनारों पर पुजारी बैठे हुए हैं। कुण्ड के बिलकुल साथ ही, सामने की दीवार में, एक छोटा सा आला है। चित्र में वह सामने दिखाई दे रहा है। इसमें एक छोटी सी नैसर्गिक टेम सदा जलती रहती है। यही टेम महामाया ज्वालामुखी है। सब पूजा-भेंट इसी पर चढ़ाई जाती है। इसके बाईं ओर एक कोने में 'हिङ्गलाज' है। सारे भवन में यही सबसे बड़ी अग्निशिखा है। चित्र में यह स्पष्ट दिखाई दे रही है। पुजारी लोग यात्रियों की प्रार्थना पर एक छोटी सी लुटिया में थोड़ा सा दूध, या गङ्गाजल, अथवा पानी ही डाल कर इस अग्निशिखा के अधोभाग से स्पर्श कराते हैं। तब पृथ्वी के पेट से निकलनेवाली अधजली गैस (वाष्प) उस लुटिया में प्रविष्ट हो कर जलने लगती है, और लुटिया को अग्निशिखा से बाहर निकाल लेने पर भी उसमें कुछ काल तक बराबर जलती रहती है। भक्तजन समझते हैं कि मैया हमारा चढ़ाया हुआ दुग्धपान कर रही है। इस प्रकार यात्री लोग पेड़े आदि मिठाई लेकर हिङ्गलाज से स्पर्श कराते हैं। यह देवी से 'जूठा कराना' कहलाता है। यह 'जूठी' मिठाई देवी का प्रसाद समझ कर घर ले जाने के लिए रख ली जाती है।

जनश्रुति है कि दिल्लीपति अकबर ने इस ज्वालाशिखा को बन्द कर देने के लिए इस पर लोहे के तवे लगवा दिये थे, परन्तु यह उनको फाड़ कर निकल आई। तब उसने पानी की एक नहर लाकर इसमें डलवाई। परन्तु फिर भी यह न बुझी। यह नहर अब तक मौजूद है। यह ऊपर कोई आध मील की दूरी से एक पर्वत के नीचे से आती है।

मन्दिर के हाते में एक ओर देवी का भाण्डार है। इसमें अकबर के वे तवे, देवी के खाने-पीने के सुन्दर बर्तन, गरमियों में हवा करने के लिए एक बड़ा पङ्खा इत्यादि अनेक दर्शनीय वस्तुएँ रक्खी हैं। रात्रि को यहाँ से देवी के लिए भोग लगने जाता है। इस समय खूब भजन-कीर्तन होता हैं। भक्त स्त्रियाँ देवी की स्तुति के गीत

जाती हैं और नगाड़े और नफ़ीरी की आवाज़ से सारा मन्दिर शब्दायमान हो जाता है ।

भवन के निकट ही उसी हाते में एक स्थान पर सिक्खों का ग्रन्थ साहिब खुला रहता है । इसके पुजारी को, जो 'भाई' कहलाता है, देवी के भण्डार से प्रतिदिन एक रुपया मिलता है । जान पड़ता है, सिक्खों के राजत्व-काल में देवी के मन्दिर में 'गुरु-ग्रन्थ' को स्थान दिलाया गया था । चाँदी के पत्र से मढ़े हुए भवन के किवाड़ पर गुरुमुखी में लिखा हुआ एक ऐतिहासिक लेख इस बात को सिद्ध कर रहा है कि सिक्खों का राजपरिवार ज्वालामुखी का पूजन करता था । वह लेख यह है—

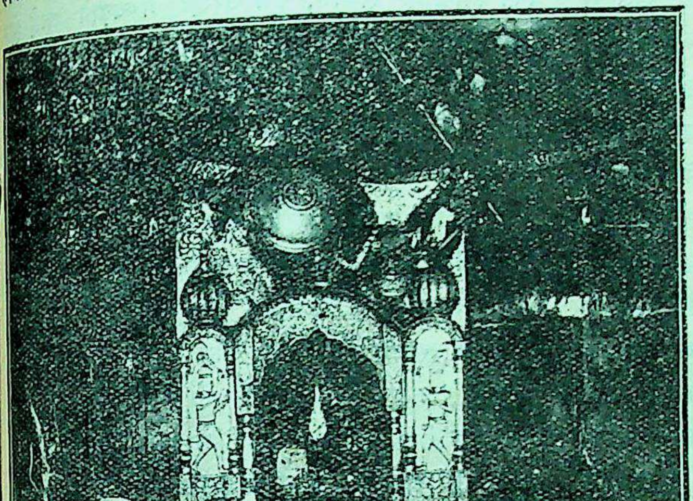

मन्दिर का भीतरी दृश्य ।

१ ओंकार दोहरा ।

छत्रपति जय भगवती उज्ज्वल राज दरबार ।
राजनपत राजा कहो, कौर खलोंते द्वार ॥

संवत् १८९१ चैत्र सुदी बाई टहल करवाई कौर (कुँवर) नौनिहालसिंहजी ।

इससे कुछ ऊपर गोरख-टिब्बी है । यह भूमि में एक छोटा सा पानी का सोता है । इसके पानी से गैस के बुद-बुदे उठते रहते हैं । पानी के तल के कुछ ऊपर दीवार में एक छिद्र से गैस निकल रही है । इसको आग लगाने से यह ज्वाला-शिखा बराबर जलती रहती है । इस पर्वत पर जहाँ तहाँ, तीन चार स्थानों पर, पृथ्वी के पेट से ज्वाला निकलती दिखाई देती है । वास्तव में वहाँ पृथ्वी के भीतर से आग नहीं, बरन गैस (एक प्रकार की हवा) ही निकलती है । पुजारी लोग उसको आप आग लगा कर जलाते हैं । ये अग्निशिखायें बुझ भी जाती हैं, और इनको पुनः जला दिया जाता है । परन्तु पुजारी लोग देवी के श्रद्धालु भक्तों को यह बात नहीं बताते, क्योंकि उनमें इससे श्रद्धा के कम हो जाने का डर है । कुछ वर्ष पहले, मेले के अवसर पर, यहाँ बड़ा उपद्रव हुआ करता था । कई भक्त देवी की सत्ता की परीक्षा लेने के लिए देवी के सामने अपनी जीभ का अग्रभाग काट देते थे और कहते थे कि यदि देवी सच्ची है तो हमारी जीभ फिर जोड़ देगी । उस समय भवन के किवाड़ बन्द कर दिये जाते थे और कोई बालिका 'भाव' खेलने लगती थी । वह उसी आवेश की अवस्था में बताती थी कि देवी इस समय अमुक भक्त का जहाज़ डूबने से बचाने के लिए गई है ।

तुमने देवी को भारी कष्ट दिया है। अब वह इतने घण्टों के पश्चात् आकर तुम्हारी जिह्वा को जोड़ेगी। तुमने देवी की परीक्षा लेकर अच्छा काम नहीं किया। परन्तु अब सरकार ने इस पाखण्ड-लीला को बिलकुल रोक दिया है। गोरख-टिब्बी के कुछ दूर ऊपर अर्जुन नागा का स्थान है। यहाँ पत्थर की एक मूर्ति बनी हुई है।

मन्दिर के सिंहद्वार के बाईं ओर नीचे खड में खारे जल के दो सोते हैं। इनका पानी बहुत खारी है। इनके किनारों पर नमक की पपड़ी भी जमी हुई है।

ज्वालाजी में दूध अच्छा और अपेक्षाकृत सस्ता मिलता है। फलतः यहाँ का खोया, रबड़ी और पेड़े प्रसिद्ध हैं।

देवी के दर्शन करने के बाद हम लोग अपने विश्राम-स्थान को लौट आये। दूसरे दिन सवेरे उठ कर एक दूसरे ही मार्ग से घर की ओर चल पड़े। इधर हमें 'चम्बे के घाट' पर व्यास-नदी को पार करना पड़ा। यह घाट गोपीपुर के घाट से अधिक भयास्पद है। यहाँ नदी का पाट बहुत छोटा और प्रवाह बहुत प्रखर है। हम लोग ज्वालामुखी से चल कर साँझ को गगरेट जा पहुँचे। रास्ते में चीलों के पेड़ों से गन्दाबरोज़ा बनाने के लिए रस इकट्ठा करने की क्रिया देखी। गगरेट से अगले दिन सवेरे चलकर कोई दस बजे हम घर जा पहुँचे।

सन्तराम

राजा-रानी।

तीसरा दृश्य।

मन्दिर।

मर्दाने लिबास में रानी सुमित्रा
और बाहर अनुचर।

सुमि०—जगदम्बे! मैया! दुर्बल हृदयवाली बालिका को क्षमा करना! आज सब पूजा व्यर्थ हुई—केवल वही सुन्दर मुख, वही प्रेमपूर्ण दोनों आँखें, वही पलँग पर अकेले सोये हुए महाराज याद आते हैं! हाय मैया, स्त्री का हृदय क्या ऐसा पोढ़ा है? दक्ष के यज्ञ में जब तुम गई थीं सतीजी, तब क्या पग पग पर तुम्हारे हृदय ने तुम्हारे दोनों पैरों को पकड़ कर यह नहीं कहा था कि तुम अपने पति के घर लौट जाओ? उस कैलास की राह में फिर वे तुम्हारे चरण-कमल नहीं लौटे! मैया! उस दिन की बात स्मरण कर लो! जननी! मैं स्त्री-हृदय की बलि देने आई हूँ—स्त्री का प्रेम, तोड़े हुए रक्त कमल के समान, इन चरणों में चढ़ाने आई हूँ। तुम स्त्री हो, स्त्री के हृदय का हाल जानती हो। मैया! मुझको बल दो! रह रह कर मुझे राजभवन की ओर से उसी प्रेमपूर्ण परिचित पुराने स्वर में सुनाई पड़ रहा है—

"लौट आओ, लौट आओ रानी"। तुम अपना खाँड़ा लेकर आओ, राह रोक कर खड़ी होओ। कहो—'तुम जाओ, राजधर्म जग उठे, राजा धन्य हो, प्रजा सुखी हो, राज्य में कल्याण फिर आवे, सब अत्याचार दूर हों, राज्य के यश की किरणों से कलङ्क की कालिमा मिट जाय। तुम स्त्री हो, पृथ्वी में एक किनारे जहाँ स्थान पाओ वहाँ अकेली बैठी बैठी छाती फाड़ कर अपने दुःख में मरो!" पिता के सत्य की रक्षा करने के लिए रामचन्द्र वन को गये—पति के सत्य धर्म का पालन करने के लिए मैं भी जाऊँगी। महाराज राजलक्ष्मी के प्रति अपने कर्त्तव्य के जिस सत्य में बँधे हुए हैं वह कभी एक साधारण स्त्री के कारण व्यर्थ न होगा।

बाहर एक पुरुष और स्त्री का प्रवेश।

अनुचर—तुम कौन हो? खड़े होओ यहाँ।

पुरुष—क्यों बाबा? यहाँ भी क्या जगह नहीं है?

स्त्री—मैया री! यहाँ भी वही सिपाही!

सुमित्रा का बाहर आना।

सुमि०—तुम कौन हो जी?

पुरु०—मिहिरगुप्त ने हमारे लड़के को पकड़ रक्खा है और हमको निकाल दिया है। हमारे पास न कुछ खाने को है, और न चूल्हा-चक्की है—मरने के लिए जगह तक नहीं है—इसी से हम देवी के मन्दिर में आये हैं—मैया के आगे हत्या देंगे—देखें वह हमारी क्या गति करती है।

स्त्री—सो क्यों जी, तुमने यहाँ भी सिपाही रख दिये

है? राजा का द्वार बन्द है, और मैया का द्वार भी रोक रक्खा है ?

सुमि०—नहीं, मैया, तुम लोग आओ। यहाँ तुम लोगों को कुछ भी भय नहीं है। किसने तुम पर अत्याचार किया है ?

पुरु०—इसी जयसेन ने। हम राजा के पास अपना दुखड़ा रोने गये, राजा के दर्शन नहीं मिले—वहाँ से लौट आकर देखा, हमारे घर को जला दिया है और हमारे लड़के को पकड़ ले गये हैं।

सुमि०—(स्त्री से) हाँ जी, तो तुमने रानी से जाकर क्यों नहीं कहा ?

स्त्री—अजी, रानी ने ही तो राजा पर जादू डाल रक्खा है! हमारा राजा अच्छा है; राजा का दोष नहीं है, यह जो एक विदेश से रानी आई है उसने अपने कुटुम्ब के लोगों को ही अगुआ बना रक्खा है। वे सब प्रजा का खून चूसे लेते हैं!

पुरु०—चुप रह! तू रानी का हाल क्या जाने? जो बात जानी न हो उसे कभी न कहना चाहिए।

स्त्री—मैं जानती हूँ, अच्छी तरह जानती हूँ! यह रानी ही राजा के पास बैठे बैठे हम लोगों की बुराई करती है!

सुमि०—ठीक कहती हो मैया! यह रानी ही तो सब अनर्थों की जड़ है! सो अब वह बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। उसकी पाप की नाव भर गई है! यह लो, अपनी शक्ति भर मैं तुमको कुछ देता हूँ—सब दुःख नहीं दूर कर सकता।

पुरु०—आहा, तुम ज़रूर किसी राजा के लड़के हो—तुम्हारी जय हो! (दोनों का प्रस्थान।)

सुमि०—बस, अब देर नहीं—अभी जाऊँगी।

(प्रस्थान।)

त्रिवेदी का प्रवेश।

त्रि०—हे हरि, मैंने क्या देखा! मर्दाने लिबास में रानी सुमित्रा घोड़े पर चढ़ कर चली गईं। मन्दिर में देवीपूजा का बहाना करके राज्य छोड़ कर भाग गईं! मुझको देखकर बहुत प्रसन्न हुईं! मधुसूदन! रानी ने सोचा, ब्राह्मण बहुत ही सीधे स्वभाव का है। सिर पर जैसे एक बाल नहीं है वैसे ही हृदय के भीतर बुद्धि का लेश भी नहीं है। इसके द्वारा एक काम करा लो। इसके मुँह से राजा को दो एक मीठी बातें कहला भेजो! बाबा, तुम लोग जीते रहो। जब तुमको कुछ ज़रूरत पड़े, बूढ़े त्रिवेदी को ढूँढ़ो, और दान-दक्षिणा के समय देवदत्त हैं। दयामय! सो मैं रानी की मीठी बातों को और भी मीठे स्वर में सुनाऊँगा। मेरे मुँह में आकर मीठी बातें और भी मीठी हो उठती हैं! कमललोचन! राजा सुन कर कैसे प्रसन्न होंगे! बातों को जितना बढ़ा बढ़ाकर मैं कहूँगा उतना ही राजा का मुँह उत्कण्ठा से फैलेगा। मैंने कई बार देखा है, मेरे मुँह से बड़ी बड़ी बातें सुनने में अच्छी लगती हैं। लोगों को बड़ा मज़ा आता है। वे कहते हैं, ब्राह्मण बहुत ही सरल स्वभाव का आदमी है! पतितपावन! कह नहीं सकता, अब की कितना मज़ा मालूम होगा! किन्तु मैं शब्द-शास्त्र को एक-दम मथ कर उलट-पुलट डालूँगा। आः कैसा दुर्योग आ पड़ा! आज दिन भर देव-पूजा नहीं की, अब ज़रा पूजा-पाठ में मन लगाता हूँ। दीनबन्धो, भक्तवत्सल!

(प्रस्थान।)

——

चौथा दृश्य।

महल।

विक्रमदेव, मन्त्री और देवदत्त।

विक्र०—भागना! राज्य छोड़ कर भागना! इस राज्य में जितनी सेना, जितने गढ़, जितने क़ैदख़ाने, जितनी लोहे की शृङ्खलाएँ हैं, वे सब क्या दृढ़ बल से एक क्षुद्र स्त्री के हृदय को नहीं बाँध कर रख सकते? यही राजा और उसकी महिमा है? बड़ा भारी प्रताप, लोकबल और धनबल को लिये, शून्य सोने के पिंजड़े की तरह पड़ा रहता है, क्षुद्र पक्षी उड़ कर चला जाता है।

मन्त्री—हाय हाय, महाराज! लोकनिन्दा, बाँध टूटने पर जल के प्रवाह की तरह, चारों ओर फैलती है।

विक्र०—चुप रहो मन्त्री। क्या सदा लोकनिन्दा

लोकनिन्दा किया करते हो ! अलस लोगों की जीभ निन्दा के बोझ से गिर पड़े ! दिन अगर गया तो क्षुद्र कीचड़ के गढ़े से गन्दी भाफ उठने दो; उससे कुछ मेरा अन्धकार बढ़ न जायगा । लोकनिन्दा !

देव०—मन्त्रीजी, परिपूर्ण सूर्य की ओर कौन आँख उठा कर देख सकता है ? इसी से ग्रहण के समय सब लोग दौड़ आते हैं और दीनदृष्टि से दुर्दिन के दिननायक की ओर निहारते हैं । अपने कज्जललिप्त काचखण्ड से आकाश के प्रकाश को काला देखते हैं । महारानी ! जननी ! यही क्या तुम्हारे भाग्य में बदा था ? तुम्हारा नाम धूल में लोटे ? तुम्हारा नाम हर एक की ज़ुबान पर फिरे ? यह आज कैसा दुर्दिन है ? तब भी तुम तेजस्विनी सती हो ! ये सब राह के कङ्गाल हैं ।

विक्र०—त्रिवेदी कहाँ गये ? मन्त्री, उन्हें बुला लाओ ! उनकी सब बातें नहीं सुनीं; मेरा ध्यान और तरफ़ था ।

मन्त्री—जाता हूँ, बुलाये लाता हूँ ! (प्रस्थान)

विक्र०—अभी समय है; पता लग जाय तो उसे लौटा सकता हूँ ! फिर पता ? इसी तरह क्या सदा जीवन बीतेगा ? वह ढूँढ़े न मिलेगी, और मैं पीछे पीछे फिरूँगा ? प्रेम की ज़ञ्जीर हाथ में लिये राज्य और काम-काज को छोड़ कर केवल स्त्री के भागे हुए हृदय का ही पता लगाता फिरूँगा ? भागो, भागो नारी, सदा दिन रात भागती फिरो । गृहहीन, प्रेमहीन, विश्रामहीन, खुली हुई पृथ्वी में केवल अपनी छाया को पीछे लिये भागती फिरो ।

त्रिवेदी का प्रवेश ।

विक्र०—चले जाओ, दूर हो, तुमको किसने बुलाया है ? प्रगल्भ ! ब्राह्मण ! मूर्ख ! बार बार उसकी बात कौन सुनना चाहता है ?

त्रि०—हे मधुसूदन ! (जाने का नाट्य करता है ।)

विक्र०—सुनो, सुनो, दो एक बातें पूछनी हैं । उसकी आँखों में आँसू थे ?

त्रि०—चिन्ता नहीं है भैया ! मैंने आँसू नहीं देखे ।

विक्र०—झूठ ही कहो ! बहुत नहीं, अतिक्षुद्र सकरुण दो झूठी बातें ! हे ब्राह्मण, तुम बूढ़े हो, तुम्हारी दृष्टि कमज़ोर है, तुमने किस तरह यह जाना कि उसकी आँखों में आँसू नहीं थे ? अधिक नहीं, एक बूँद आँसू! नहीं तो डबडबाई हुई आँखें ही बताओ; कम्पित कातर कण्ठ में आँसुओं से रुँधी हुई वाणी का ही कथन करो ! वह भी नहीं ? सच कहो—झूठ कहो ! कुछ न कहो, कुछ न कहो, चले जाओ !

त्रि०—हे हरि, तुम ही सत्य हो, (प्रस्थान ।)

वि०—अन्तर्यामी देव ! तुम जानते हो, मेरे जीवन का सब अपराध यही है कि मैं उसे चाहता था । पुण्य गया, स्वर्ग गया, राज्य भी जाना चाहता है, अन्त को वह भी चली गई ! तो फिर मेरा वही क्षात्रधर्म, वही राजधर्म 'लौटा दो' या 'फिर मुझे दो' ! इस विश्व की रङ्गभूमि में पुरुष-हृदय को खोल दो ! कर्मक्षेत्र कहाँ है! जनसमूह कहाँ है ! जीवन-मरण कहाँ है ! वह मनुष्यों का अविराम सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, जीवन की लहरों का उच्छ्वास कहाँ है—

मन्त्री का प्रवेश ।

मन्त्री—महाराज, रानीजी का पता लगाने के लिए मैंने चारों ओर सवारों को भेजा है ।

विक्र०—लौटाओ लौटाओ मन्त्री ! मोह की नींद में मैं सपना देख रहा था—अब आँख खुल गई है! सवार लोग कहाँ उसको पावेंगे ? सब सेना तैयार करो, मैं युद्धयात्रा करूँगा, विद्रोह को मिटाऊँगा !

(प्रस्थान ।)

मं०—जो आज्ञा !

विक्र०—देवदत्त, क्यों मुँह लटकाये हुए हो ? क्षुद्र सान्त्वना की बात मत कहो । मुझे छोड़कर चोर चला गया—मैं बच गया ! मित्र, आज आनन्द का दिन है! आओ, गले से लग जाओ ! (देवदत्त को गले से लगा कर) मित्र, मित्र, झूठ बात है—मेरा यह ढोंग झूठा है! रह रह कर मानो हज़ारों वज्र एक साथ इस हृदय पर गिर रहे हैं । आओ, आओ, ज़रा गले से लगकर आँसू बहावें ! ये शोक के काले बादल हट जायँ ।

तीसरा अङ्क ।

पहला दृश्य ।

कश्मीर—राज-महल के सामने सड़क ।

द्वार पर शङ्कर ।

शङ्कर—इतना सा था, मेरी गोद में खेला करता था। जब केवल चार दांत निकले थे तब मुझे वह 'सङ्कल दादा' कहता था । अब बड़ा हो गया है। अब सङ्कल दादा की गोद नहीं, सिंहासन चाहिए। स्वर्गीय महाराज मरते समय तुम दोनों भाई-बहनों को मेरी गोद में छोड़ गये थे । बहन तो चार दिन बाद अपनी सुसराल चली गई । मैंने सोचा था, कुमारसेन को अपनी गोद से एक-दम सिंहासन पर बिठा दूँगा । किन्तु कुमार के चाचा साहब सिंहासन छोड़ना ही नहीं चाहते। कितनी ही बार शुभ मुहूर्त्त टल गया। आज-कल करके इन्होंने अनेक बार टाल दिया। कितने ही हीले-बहाने करते हैं !

दो सैनिकों का प्रवेश ।

एक सै०—हमारे युवराज कब राजा होंगे ! भाई ? उस दिन मैं तुम सब लोगों को महुआ खिलाऊँगा ।

दूसरा—अरे तू तो महुआ खिलाएगा—मैं जान दूँगा। मैं लड़ाई करता फिरूँगा—मैं पांच गांव लूट लाऊँगा। मैं अपने महाजन साले का सिर तोड़ दूँगा। मैं अपने मालिक युवराज के आगे खड़े-खड़े ही खुशी के मारे मर जाऊँगा !

पहला—यह क्या मैं नहीं कर सकता ? मरने की बात क्या कह रहा है । अगर मेरी उमर सवा सौ साल की हो तो मैं नित्य सवेरे और शाम युवराज के लिए जान दे सकता हूँ !

दूसरा—अरे युवराज तो हमारे ही हैं। स्वर्गीय महाराज कुँअर को हमें ही सौंप गये हैं। हम लोग उन्हें कन्धे पर चढ़ा कर ढोल-नगाड़े बजाकर राजा बना देंगे। हम किसी से न डरेंगे।

पहला—हम कुँअर के चाचा महाराज से जाकर कहेंगे कि तुम सिंहासन से उतर पड़ो—हम राजकुँअर को सिंहासन पर बिठा कर आनन्द मनाना चाहते हैं।

दूसरा—तूने सुना है, अब की पूनो को युवराज का ब्याह है ।

पहला—यह तो पांच साल से सुन रहा हूँ ।

दूसरा—अब की पांच साल पूरे हो गये । त्रिचूड़ के राजघराने में यह पुरानी चाल है कि वर को पांच साल कन्या को प्रसन्न करने में बिताने पड़ते हैं । उसके बाद कन्या के राज़ी होने पर ब्याह होता है ।

पहला—वाह, यह कैसी चाल है ? हम क्षत्रिय हैं । हम लोगों के यहां सदा से यही चली आती है कि ससुर के गाल में थप्पड़ मार कर स्त्री के झोंटे पकड़ कर हम लोग उसे ले आते हैं । दो घण्टे में सब साफ़ हो जाता है । उसके बाद दस ब्याह करने की फ़ुरसत मिल जाती है !

दूसरा—जोधमल, भला उस दिन तुम क्या करोगे ?

पहला—मैं भी उस दिन और एक ब्याह कर डालूँगा ।

दूसरा—शाबास, ठीक कहा भाई ।

पहला—अर्जुनसिंह की लड़की है ? देखने-सुनने में बहुत अच्छी है । इतनी इतनी बड़ी आंखें हैं । उस दिन वितस्ता में पानी भरने आई थी । मैंने देखा, उसकी आंखों में मोहनी है । चटपट वहां से गाता हुआ खिसका ।

दूसरा—क्या गाया था ?

पहला—सुनोगे ? सुनो—

गान । (कजली)

(धुन—घुँघट में गोरिया मारे सान)

करत बरजोरी तेरे नैन ।
घायल करत, तानि हिय मारत पैने सर से सैन ॥ करत०॥
मन हरिलेत दूर से देखत, चलत कछू बस है न ॥ करत०॥
ज्ञान सयान छीनि छिन ही में करि डारत बेचैन ॥ करत०॥

दूसरा—शाबास भैया !

पहला—वह देखो, शङ्कर दादा बैठे हैं ! युवराज यहां नहीं हैं—तब भी बूढ़ा दरवाज़े पर सजधजकर बैठा हुआ है । पृथ्वी चाहे उलट-पुलट हो जाय, मगर बूढ़े का नियम नहीं टल सकता ।

दूसरा—आओ भाई, इससे युवराज की दो एक बातें पूछें।

पहला—पूछने से वह जवाब ही नहीं देता। भरत के राज्य में रामचन्द्र की खड़ाउँओं की तरह पड़ा रहता है—मुँह से बोलता तक नहीं।

दूसरा—(शङ्कर के पास जाकर) हां दादा, बताओ, युवराज कब राजा होंगे?

शङ्कर—तुम लोगों को इससे क्या मतलब?

पहला—नहीं नहीं, हम यह कहते हैं कि युवराज तो अब सयाने हुए—बूढ़े राजा सिंहासन से उतरते क्यों नहीं?

शङ्कर—इसमें बुराई क्या है? हज़ार हो, वे चाचा हैं।

दूसरा—सो तो ठीक है। किन्तु हमारे देश की रीति तो यह है—

शङ्कर—रीति को तुम लोग माना, हम लोग मानें, बड़े लोगों के लिए रीति क्या है? अगर सभी नियम को मानेंगे तो नियम को बनाएगा कौन?

पहला सै०—अच्छा दादा, यह हमने मान लिया—किन्तु यह तो बताओ, पाँच साल तक ब्याह के लिए स्त्री के आगे नाक रगड़ना कैसा नियम है? मैं तो कहता हूँ, ब्याह करना तीर खाने के समान है; चटपट तीर लग गया और जन्म भर के लिए बिँधा रहा। चिन्ता नहीं रह गई। किन्तु दादा! पाँच साल तक आराधना कैसी?

शङ्कर—क्या इसी लिए किसी देश का नियम उलट जायगा कि तुम लोगों को वह आश्चर्यजनक जान पड़ता है, नियम को तो कोई छोड़ नहीं सकता। यह संसार नियम पर ही चल रहा है। जाओ-जाओ, बकबक न करो। ये बातें तुम लोगों के मुँह को नहीं सोहतीं।

पहला—अच्छा जाता हूँ दादा। आज-कल हमारे दादा का मिज़ाज अच्छा नहीं है। एक-दम सूखकर खड़-खड़ करने लगा है!

(प्रस्थान)

पुरुषवेशी सुमित्रा का प्रवेश।

सुमि०—तुम्हीं क्या शङ्कर दादा हो?

शं०—तुम कौन हो? पुराने परिचित स्नेहपूर्ण स्वर में मुझको पुकारनेवाले तुम कौन हो? बटोही, बोलो, तुम कौन हो?

सुमि०—मैं विदेश से आया हूँ।

शं०—यह क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ? किसी मन्त्र के बल से क्या मेरा कुमार बालक बनकर मेरे पास आया है? मानो वही पहले की तरह सन्ध्या को खेल से थक कर आया है! पैरों में धूल भरी है, चेहरा उतरा हुआ है। थका हुआ बालक-हृदय मानो शङ्कर की गोद में विश्राम माँग रहा है।

सुमि०—मैं जालन्धर से समाचार लेकर कुमार के पास आया हूँ।

शङ्कर—कुमार का बचपन रूप धरकर आपही कुमार के पास आया है। छोटी बहन ने बचपन की याद दिलाने के लिए उसे भेजा है! दूत, तुमने यह स्वरूप कहाँ पाया? मैं बेकार बकबक कर रहा हूँ। मुझे क्षमा करो। कहो, कहो, क्या ख़बर है? मेरी रानी बेटी अच्छी हैं? सुख से हैं? पति के आदर और रानी के गौरव को पाकर प्रसन्न हैं? सुखी प्रजा उन्हें माता कहकर आशीर्वाद देती है? राजलक्ष्मी अन्नपूर्णा बन कर वह राज्य में कल्याण की वर्षा करती हैं? धिक्कार है मेरी बुद्धि को! पहले तुमसे कुशल-प्रश्न ही करने लगा। तुम राह चलने से थक गये हो। चलो, मेरे घर में चलो। विश्राम करने के उपरान्त धीरे धीरे एक एक करके सब समाचार कहना। घर चलो।

सुमि०—शङ्कर, क्या अभी तक तुमको रानी की याद बनी है?

शङ्कर—वही कण्ठ का स्वर है! वही स्नेह के भार से झुकी हुई गम्भीर दृष्टि है! यह क्या मायामरीचिका है? क्या तुम मेरी सुमित्रा की छाया को चुरा लाये हो? तुम शायद मेरे हृदय से निकल कर मुझे छलने आई उसकी अतीतस्मृति हो। हे युवक! मैं बूढ़ा हूँ; इस बकबक के लिए मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ! बहुत दिनों से चुप था—आज न जाने कितनी बातें हृदय से आप ही आप निकलती चली आरही हैं, आँखों में आँसू भरे आते हैं! नहीं जानता, क्यों इतना स्नेह उमड़ा पड़ता है तुम्हारे ऊपर! मानो तुम मेरे चिरपरिचित हो! मानो तुम मेरे चिरजीवन के आदर के धन हो!

दूसरा दृश्य ।

त्रिचूड़—क्रीड़ा-कानन ।

कुमारसेन, इला और सखियाँ ।

इला—जाना होगा ? किस कारण ? युवराजजी !
इला न अच्छी लगे दो घड़ी से अधिक ?
छिः छिः चञ्चल हृदय तुम्हारा ।
कुमा०— सब प्रजा—
इला—मुझसे भी क्या अधिक, तुम्हें देखे बिना
व्याकुल होती प्रजा ? राज्य में जब चले
जाते हो तुम, जान पड़े, मैं हूँ नहीं ।
जब तक मेरी याद बनी रहती तुम्हें
तब तक मैं हूँ; और अकेली कुछ नहीं !
कितने ही हैं लोग आपके राज्य में—
कितनी चिन्ता, कामों की भरमार है—
बहुत राजसी ठाटबाट पीछे लगे—
सब कुछ है, यह क्षुद्र इला केवल नहीं !
कुमा०—सब है, तब भी वहाँ कुछ नहीं है प्रिये,
और न होने पर भी तुम हो प्रियतमे !
इला—झूठी बातें बोलो नहीं कुमारजी !
तुम हो राजा, जहाँ तुम्हारा राज्य है;
इस वन में मैं रानी हूँ, तुम हो प्रजा !
जाओगे तुम कहाँ ? तुम्हें जाने नहीं
दूँगी । सखियो, इन्हें बाँध लो फूल की
माला से; फिर नाचो गाओ, हो ख़ुशी;
दूर हटा दो सारी चिन्ता राज्य की ।

सखियों का गान

कहाँ यह सीखी चाल नई ।
जो आवत तो जान चहत क्यों, ह्वै निरदई दई !
आँखिन ओट होत दरसन है, चूक कौनसी भई ?
मेल बढ़ाय सेल जनि हनिए, कोमल नारि नई ।

कुमा०—प्यारी, क्या कर दिया मुझे ?
इला— जादू किया !
कुमा०—सचमुच तूने मुझे लीन ही कर लिया ।
जीवन, तन, मन, नयन, वचन तेरे हुए ।
मैं अपना अस्तित्व मिटा कर चित्त से
मानो हूँगा लीन तुझी में हे प्रिये !
होकर सुख का स्वप्न तुम्हारी दृष्टि में
मिला रहूँगा—लगा रहूँगा ओठ से
बन कर मृदु मुसकान—ललित लावण्य सा
लिपट रहूँगा विमल बाहुओं बीच में—
व्याप्त रहूँगा इष्ट-मिलन-सुख के सदृश
स्वच्छ हृदय में ।
इला— फिर उसके उपरान्त यह
छुट जावेगा मोह स्वप्न का, आपको
होगा अपना चेत, और मैं भूमि में
पड़ी रहूँगी चुप के टूटी बीन सी—
गुनगुन करते आप अनमने भाव से
चले जायँगे । नहीं, नहीं, सुनिए, सखा !
स्वप्न नहीं है, मोह नहीं है यह कभी ।
जीवन, लोचन, हृदय, भुजाओं का मिलन—
बन्धन—होगा कभी ?
कुमा०— देर उसमें नहीं ।
आज सप्तमी, अर्धचन्द्र यह पूर्ण हो
देखेगा सम्पूर्ण हमारा वह मिलन ।
क्षीण विरह की बाधा रखकर बीच में
कम्पित आग्रहपूर्ण मिलन सुख का, प्रिये,
आज अन्त होगया । निकटता दूर की ।
और दूरता निकट रहे की मिट गई ।
सहसा होना भेंट और विस्मय बड़ा,
सहसा मिलना और अचानक, प्रियतमे,
विरह-व्यथा का होना—वन के मार्ग से
धीरे धीरे सूने घर को लौटना—
सुखस्मृति लेकर साथ स्मरण करना वहाँ
बातों को सौ बार—मिटा सब आज से ।
प्रथममिलन के समय, प्रिये, हर बार वह
लज्जा, रहना मौन, और हरबार ही
आँसू गिरना बिदा-समय का—अब गया !
इला—ऐसा ही हो ! ऐसी सुख की छाँह से
सुख अच्छा है, दुःख मिले, वह भी भला ।
मृगतृष्णा से तृष्णा ही होती भली ।
पाऊँगी मैं तुम्हें, मिलोगे तुम नहीं,—

दुबधा मन में रहे; सोचती हूँ कभी
निकल न जाओ नाथ, फँसा कर, हाथ से ।
कभी अकेले बैठे बैठे सोचती—
प्यारे, तुम हो कहाँ और क्या कर रहे ?
विकल कल्पना इस जङ्गल के छोर से
फिर आती है । वन के बाहर मैं तुम्हें
नहीं जानती, नहीं मिले इससे पता ।
अब तो मैं सब जगह रहूँगी साथ ही;
कुछ न रहेगा कहीं अपरिचित आपका ।
नाथ, कहो, क्या हाथ न आना चाहते ?
कुमा०—जान बूझ कर पड़ा तुम्हारे हाथ हूँ—
फिर यह बन्धनपाश किसलिए है प्रिये ?
क्या न मिला ? किसका अभाव है ? कुछ कहो ।
इला०—बहन सुमित्रा की बातें जब तुम करो
तब होती है व्यथा हृदय में सोच यह—
उसने मुझसे चुरा लड़कपन आपका
रक्खा अपने पास । सोचती हूँ कभी
बाल्यसहचरी वह जो आवे फिर यहाँ,
सुखशैशव के उसी मनोहर राज्य में
तुम्हें बुला ले, तो तुम उसके हो वहाँ !
मेरा है अधिकार वहाँ पर कुछ नहीं !
बीच बीच में, प्यारे, यह जी चाहता—
बहन सुमित्रा कैसी हैं, देखूँ ज़रा ।
कुमा०—वह जो आती कहीं यहाँ पर, आज तो
सुख पर चढ़ता रङ्ग सौ गुना प्रियतमे ।
उत्सव की आनन्द-किरण बन कर, अहो,
पितृभवन में—शैशवगृह में—सोहती ।
गहनों से वह तुम्हें सजा कर, प्रेम से
गले लगाती; फिर छिप कर हँसती हुई
मिलन देखती । किन्तु हमारी क्या उसे
आती होगी याद ? पराये घर गई
हुई पराई ! उसका ही है दोष क्या ?

इला का गान ।

ग़ज़ल सोहनी ।

ये करें ग़ैरों को अपना, ग़ैर अपने को बना ।
और का दुख दूर करते, आप दुख सहते घना ॥
सुनके बाहर तान वंशी की चलें बस उस तरफ़,
छोड़ कर घरबार सारा, देखना पागलपना ॥
सुख हो अथवा दुःख हो, ये प्यार करते हैं सदा।
हँसते हँसते ही किया करते व्यथा का सामना ॥

कुमा०—दुःख-गान किसलिए ? करुण स्वर क्यों हुआ ?
क्यों उदास है दृष्टि ? हुआ क्या प्रियतमे ?
इला—दुःखगान यह नहीं; बहुत गम्भीर जो
सुख होगा, वह दुःख सदृश ही सर्वथा
जान पड़ेगा उदासीन औदार्य से ।
स्त्री का सुख है, सुख दुख सब कुछ छोड़ कर
करना आत्मत्याग !
कुमा०— धन्य प्राणेश्वरी !
पाकर ऐसा प्रेम तुम्हारा, विश्व को
वशीभूत कर रक्खूँगा; आनन्द से
जीवन मेरा विश्व बीच उच्छ्वसित हो !
शान्ति न जिसमें ऐसा सुमधुर कर्म-सुख
चाहे, दौड़े उसी ओर मेरा हृदय,
कीर्त्ति कमाकर चिरस्थायिनी मैं, प्रिये,
तुमको उसकी अधीश्वरी देवी बना
रक्खूँगा । इस तरह, अकेले, सुन्दरी,
भोग न सकता हूँ इस प्रेमानन्द को
अलस पुरुष की तरह ।
इला— नाथ, वह देखिए,
उपत्यका से मेघ घने होकर उठे,
पर्वत का वह शिखर घेरते जा रहे;
विश्व-सृष्टि के अतिविचित्र इस अंश को
कर लेंगे ज्यों लीन पीन निज अङ्ग में ।
कुमा०—देखो दक्षिण ओर; अस्त होते हुए
रवि की आभा से, सुवर्ण-सागर-सदृश
समतल पृथ्वी चली गई है दूर तक
किसी लापता दुनिया को ज्यों प्रियतमे !
अन्नखेत, वन-वृक्ष, नदी, बस्ती, सभी
देख पड़े अस्पष्ट—जिस तरह स्वर्ण के
चित्रफलक में, तरह तरह के रङ्ग ही
भरे गये हैं; रेखायें फूटीं नहीं ।

आकांक्षा या मेरी बहुविस्तृत हुई,
लिये हृदय में खिँचा सुनहले रङ्ग से
छाया-चित्र विशाल कल्पना का, चली
छोड़ पहाड़ी-घाटी पृथ्वी की तरफ़ ।
कितने ही नव दृश्य देश होंगे वहाँ,
कितनी ही नवकीर्ति और कितनी नई
रङ्गभूमि भी होंगी !

इला— प्यारे, मेघ वह
रख अनन्त की मूर्ति आ रहा है, हमें
ग्रस लेने को ! नाथ, निकट आओ ! कहीं
हम तुम दोनों इसी मेघ में सर्वदा
लुप्त विश्व के बीच रहा करते ! सुखी
होते ! होता महामेघ का घोसला
दो पक्षी हम रहते उसमें । तुम वहाँ
रह सकते क्या ? मेघ-आवरण तोड़ कर
पृथ्वी का आह्वान पहुँचता कान में;
मुझे छोड़ कर प्रलय बीच, तुम उस घड़ी
चल देते ! क्यों नाथ ?

दासी का प्रवेश ।

दासी— गुप्त संवाद ले
जालन्धर से दूत एक कश्मीर में
आया है ।

कुमा०— तो अब जाना ही चाहिए ।
जाता हूँ प्रियतमे, पूर्णिमा को यहाँ
फिर आऊँगा, ले जाऊँगा साथ ही
नित्य पूर्णिमा अपने हृदयाकाश की ।
हृदय-देवता हो, पर अब शीघ्र ही
गृहलक्ष्मी हो मुझे मिलोगी ।

इला— जाइए ।
पकड़ रख सकूँ तुम्हें अकेली किस तरह ?
हाय, क्षुद्र मैं कितनी—कितनी क्षुद्र हूँ !
कैसा विस्तृत बड़ा विश्व-ब्रह्माण्ड है—
कैसा है उद्दाम तुम्हारा हृदय भी !
जानेगा, प्रिय, कौन विरह की वेदना !
कौन गिनेगा आँसू मेरे दुःख के !
किसको होगा स्मरण—विजन वन प्रान्त में
एक बालिका शून्य हृदय अपना लिये
सहती है चुपचाप भयानक यन्त्रणा !

[असमाप्त

१—शुभाभिलाष।

नहीं पाप की स्पर्सिनी प्रीति हो;
नहीं छद्म की सङ्गिनी नीति हो।
न सद्भाव की भञ्जिनी भीति हो;
नहीं रूढ़ि की रञ्जिनी रीति हो ॥१॥
सभी का सदा सत्य ही वर्म हो;
न आडम्बरों से घिरा धर्म हो।
सदा सर्व-सम्मान्य सत्कर्म हो;
सदाचार ही धर्म का मर्म हो ॥२॥
सभी बन्धनों से परे ज्ञान हो;
सदा सत्य-सौजन्य का मान हो।
सभी को स्व-कर्तव्य का ध्यान हो;
गुणी के गुणों का गिरा गान हो ॥३॥
जहाँ शक्ति का बोलबाला रहे;
वहाँ न्याय का भी उजाला रहे।
गले में पड़ी नीति-माला रहे;
किसी को न कोई कसाला रहे ॥४॥
नहीं निर्बलों को सतावे , बली;
स्वयं ही छला नित्य जावे छली।
रहे शान्ति की बेलि फूली फली;
खिली ही रहे सद्गुणों की कली ॥५॥
नहीं सम्पदा आपदा से तने;
सखी दुष्टता की न शिक्षा बने।
नहीं दम्भ को भाग्य-लक्ष्मी जने;
नहीं शूरता क्रूरता में सने ॥६॥
भला दैव दुष्कीर्ति से तो डरे;
नहीं क्रूर को शक्तिशाली करे।
नहीं सूम के कोष ही को भरे;
नहीं इन्दिरा मूर्ख ही को वरे ॥७॥
खलों की नहीं चाल कोई चले;
किसी को कभी भी न कोई छले।
नहीं दाल अन्यायियों की गले;
सुखी हो सदा विश्व फूले फले ॥८॥

गोपालशरणसिंह

२—विज्ञापन-विमर्श।

अपने देश में यह रोग बिलकुल ही नया है। पाश्चात देशों के निवासियों के सङ्घर्ष से जैसे उनके और कित ही दोषों का स्वीकार हम लोगों ने कर लिया है वैसे इसका भी कर लिया है। अँगरेज़ों के सम्पर्क के पहले इस दोष से हम लोग सर्वथा निर्मुक्त थे। अपनी वस्तु का विज्ञापन देना और उस विज्ञापन में अतिरञ्जना से

म लेना तो दूर रहा, पुराने पण्डित अपनी रचित स्तकों में बहुधा अपना नाम तक न देते थे। और, जो लोग नाम देते थे वे अपना और कुछ भी अधिक परिचय देने की आवश्यकता न समझते थे। किसी किसी ने अपनी कृति की प्रशंसा में भी कुछ उक्तियाँ लिख दी हैं; परन्तु उनकी मात्रा या विस्तार बहुत ही परिमित है। दूसरों को धोखा देकर अपना काम निकालने—उनको ठगने—की किसी ने कभी चेष्टा नहीं की। उस समय इसकी आवश्यकता भी न थी। क्योंकि छापे के अभाव के कारण अपनी पुस्तकें कोई बेचता भी न था और अखबार न होने से विक्रेय वस्तुओं के विज्ञापन देने के साधन भी न थे।

परन्तु अब वह समय नहीं। अब तो नक़्क़ाली का ज़माना है। दूसरों के गुणों की नक़ल करना दोषावह नहीं; स्तुत्य है। पर औरों के दोषों की नक़ल करना सर्वथा निन्द्य है। फिर, जो लोग दूसरों को धोखा देने ही के लिए औरों के दोषों की नक़ल करते हैं वे तो सर्व-साधारण की दृष्टि में पूरे अपराधी, अतएव दण्डनीय हैं। जिनके पूर्वजों का सिद्धान्त था—

इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः

वे यदि लोभ के वशीभूत होकर अपने विज्ञापनों में काँच के टुकड़े को हीरा और कानपुर के कम्बलघर (ऊलन मिल्स) की लोई को शाल या दुशाला बताकर ग्राहकों के साथ विश्वासघात करें तो कठोर दण्ड पाने के पात्र हैं।

पहले तो यहाँ केवल पुस्तकों ही के विज्ञापन दिये जाते थे। कुछ समय बाद दवाओं के विज्ञापनों का भी प्रचार हुआ। अब तो चूल्हे, चिराग़, क़लम, दावात, काग़ज़, पेंसिल, कपड़े-लत्ते और आटा-दाल तक के विज्ञापनों से पत्रों और पत्रिकाओं का कलेवर पूर्ण रहता है।

पुस्तकों के विज्ञापनों में जो अतिरञ्जना और यदा कदा मिथ्यालाप रहता है, सो तो रहता ही है, उनका महत्त्व बढ़ाने और ग्राहकों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए एक और भी अनुचित उपाय किया जाता है। कुछ लोग अपनी पुस्तकों की एक एक (यदि दो प्रकार के संस्करण हुए तो बुरे संस्करण की बेजिल्दवाली) कापी ऐसे सज्जनों को भेजते हैं जिनकी सम्मति की क़दर सर्व-साधारण करते हैं। कापी पर और अलग चिट्ठी में भी वे सज्जन "श्रद्धास्पद," "पूज्यपाद" और "आदरास्पद" आदि विशेषणों से याद किये जाते हैं और वह कापी उन्हें "भेंट" या "उपहार" में दी जाती है। परन्तु ये स्वार्थरत दुकानदार वहीं "समालोचनार्थ" भी लिखकर तत्कालही सदाचार का संहार कर देते हैं। ये लोग इस बात को भूल जाते हैं कि उपहार दी गई वस्तु के भी क्या गुण-दोष दिखाये जाते हैं? भेंट किया गया तुच्छ पदार्थ भी भले आदमी बहुमूल्य समझ कर स्वीकार कर लेते हैं।

कभी कभी "श्रद्धास्पद" जनों की समालोचना न सही, पत्रद्वारा सम्मति ही माँगी जाती है। और, यदि वह मिल गई तो उसी का उपयोग विज्ञापनवत् हो जाता है। वह उसी पुस्तक के साथ छाप दी जाती है, अथवा अलग एक सम्मति-पत्रक में वह शामिल हो जाती है। यदि यह भी न हुआ तो किसी विज्ञापन के भीतरही समाविष्ट हो जाती है। ये सत्य के मूर्तिमान् अवतार एक बात और भी कर डालते नहीं हिचकते। पत्रद्वारा दी गई किसी की सम्मति में यदि कोई बात प्रतिकूल हुई तो उसे ये लोग समूल ही निकाल डालते हैं और उसकी जगह तारका-चिह्न लगा देते हैं। कोई कोई सदाचारशील महाशय तो यहाँ तक हस्तलाघव दिखाते हैं कि तारका-चिह्नों की भी ज़रूरत नहीं समझते। वे कड़ुवा कड़ुवा हज़म कर जाते हैं, मीठा मीठा सबको दिखाते फिरते हैं। सज्जनों और महात्माओं का धर्म्म भी यही है—

शिरसा श्लाघते मिष्टं परं कण्ठे नियच्छति

दो एक शहरों में तो कोक-कला-विशिष्ट पुस्तकों के अनेकानेक भाण्डार से खुले हुए हैं। उनकी संख्या में बराबर बढ़ती होती जाती है। इनके मालिक इतने बहुज्ञ हैं कि ताज़ीरातहिन्द की अश्लील पुस्तकोंवाली दफ़ा की पकड़ में तो अपने को नहीं आने देते; परन्तु विज्ञापनों में प्रकारान्तर से वही सब बातें लिखते हैं जिनकी चाह नवल नागरों को रहती है। अब कुछ समय से कुछ

चिकित्सा-चक्रवर्तियों ने भी सिर उठाया है। वे भी गन्दे रोगों की दवाओं के विज्ञापन, खूब नमक-मिर्च लगाकर, प्रकाशित करने लगे हैं। इन उपायों से इन लोगों के हाथ माल तो ज़रूर ही लगता है, क्योंकि न लगता तो इनकी इतनी वृद्धि कैसे होती, पर सदाचार का सत्यानाश होता है, विलासिता बढ़ती है और इनके जाल में फँसे हुए युवकों की निःसीम हानि होती है। जिन पत्रों और पत्रिकाओं के स्वामी इस तरह की पुस्तकों और ओषधियों के विज्ञापन प्रकाशित करते हैं वे भी, इस विषय में, बहुत कुछ अदूरदर्शिता दिखाते हैं।

अतिरञ्जित ही नहीं, निरे झूठे विज्ञापन भी, बहुधा निकलते हैं। उनके झूठेपन और सरासर धोखेबाज़ी की शिकायतें भी, कभी कभी, अख़बारों में निकलती हैं। परन्तु फिर भी ये लोग अपनी आदत से बाज़ नहीं आते। लोभ बुरा होता है। वह अनेक दुष्कर्म्मों का उत्पादक है। स्वदेश-भक्त, सदाचारशील, सत्यप्रेमी सम्पादकों और पत्रस्वामियों को चाहिए कि बहुत सोच समझ कर विज्ञापन लें और जब उन्हें ज्ञात हो जाय कि विज्ञापन झूठा या हानिकर है तब उसे तुरन्त निकाल कर बक़ाया रुपया विज्ञापनबाज़ को लौटा दें।

मतलब यह नहीं कि विज्ञापन दिये ही न जायँ। विज्ञापन लिखना और देना तो आज-कल कला की सीमा के भीतर आ गया है। विज्ञापनों ही की बदौलत योरप और अमेरिका के बड़े बड़े अख़बारों का अधिकांश ख़र्च चलता है और अपने देश के भी अख़बारों की आमदनी का वह एक बहुत बड़ा साधन है। इसके सिवा, हर मनुष्य या हर दुकानदार को अधिकार भी है कि वह ग्राहक सङ्ग्रह करने और अपना माल बेचने के लिए उसकी काफ़ी तारीफ़ करे। परन्तु उस तारीफ़ की कोई हद भी तो होनी चाहिए। सोलहो आने झूठे विज्ञापन देकर ख़रीदारों को धोखा देना किसी भी नीति, नियम, या धर्म्म से समुचित नहीं कहा जा सकता। यदि किसी अख़बार में शिलाजीत के ५ विज्ञापन निकलें और हर विज्ञापनदाता अपने शिलाजीत को सर्वश्रेष्ठ बतावे तो बेचारे ग्राहक या पाठक किसे सच्चा समझें?

इस रोग ने अब इस देश में भी जड़ जमा ली है। इसका विषाक्त विकार तभी दूर हो सकेगा जब विज्ञापन-दाता और विज्ञापनप्रकाशक दोनों ही सत्य की महिमा के क़ायल होंगे और धन की अपेक्षा सत्य का अधिक आदर करेंगे।

सहदेवसिंह वर्मा

३—मारवाड़ी भाषा में मनोरञ्जक पद्य।

(१)

तीन काने।

जोधपुर-राज्य में एक जगह काणाणा है। वह एक ठिकाना माना जाता है। ठिकाने से मतलब एक छोटी सी रियासत, तअल्लुक़ा या जागीर से है। यह जगह कर्णावत् खाँप (अल्ल) के राठोड़ों के अधिकार में है। वहाँ का एक ठाकुर काना था। एक दफ़े एक चारण जाति का कवि उसके पास माँगने गया। वह भी काना था। उसने ठाकुर से एक घोड़ा माँगा। ठाकुर ने कहा, तबेले में जाकर कोई घोड़ा पसन्द कर लो। चारण तबेले में गया। वहाँ उसे एक काना घोड़ा देख पड़ा। उसने उसी काने घोड़े को पसन्द किया और ठाकुर के पास लौटकर हँसते हँसते बोला—

कवि कोणो जाचण गयो काणो काणाणे।
काणो काणे माँगियो दे काणो काणे॥

यह सुन कर ठाकुर भी हँसा और वह घोड़ा उस काने कवि को ख़ुशी से दे दिया। दोहे का अर्थ है—काना कवि माँगने के लिए काने (ठाकुर) के पास काणाणे गया। वहाँ काने (कवि) ने काना (घोड़ा) माँगा। उसने कहा—हे काने (ठाकुर), काने (कवि) को काना (घोड़ा) देने की कृपा कर।

(२)

फ़क़ीर और ठीकरा।

मारवाड़ में एक परगना मेड़ता है। उसमें ठीकरा नाम का एक गाँव है। किसी समय वहाँ के एक ठाकुर थे। उनका नाम फ़क़ीरदास था। एक चारण-कवि एक बार उनके यहाँ गया और कुछ माँगा। पर ठाकुर ने उसे कोरा जवाब दिया। इस पर कवीश्वरजी जल भुन गये और

उनका कविता-नद उफना उठा। उन्होंने ठाकुर फ़क़ीरदास को तत्काल ही यह पद्य सुनाया—

आपरो रूप कद धारशो ठाकुरां
गामरो नाम कद हाथ लेशो

और अपना रास्ता लिया। इस पद्य में ठाकुर साहब और उनके गाँव के नाम में ही चमत्कार है। उन्हीं दोनों से चारण ने अभिशापरूप ध्वनि निकाली है। वह इस तरह—हे ठाकुर साहब, आप अपना रूप कब धारण करोगे अर्थात् निर्धन होकर कब फ़क़ीर बन जावगे और कब अपने गाँव के सम नामधारी ठीकरे को हाथ में लोगे अर्थात् भीख माँगोगे। कवि के देश में ठीकरा हाथ में लेने से भीख माँगने की ध्वनि निकलती है।

किसी ने कहा भी है—

जो नहिँ मानै बड़ों की सीख।
ले ठीकरा माँगे भीख॥

द्वि०—

४—कबीर की विद्वत्ता।

कबीर साहेब ने लिखा है

"मसि कागद तो छुयो नहिँ कलम गही नहिँ हाथ।"

इससे कुछ लोग अनुमान करते हैं कि "कबीर-सम्प्रदाय के जितने प्रामाणिक ग्रन्थ हैं उन्हें कबीर साहेब के पीछे उनके शिष्यों ने रचा।" हमारी समझ में नहीं आता कि अनपढ़ गुरु की महिमा बढ़ाने के लिए किसी को क्या पड़ी थी जो सूफ़ियों के धर्म, योग-विद्या आदि की इतनी छान-बीन करके ग्रन्थ रचता और उन पर अपना नाम तक न देता! मसि कागद न छूना और क़लम न पकड़ना तो व्यासजी के विषय में भी प्रसिद्ध है जिनके लेखक गणेशजी थे। हमारे लड़कपन में श्रीअवधपुरी में एक प्रसिद्ध महात्मा पण्डित युगुलअनन्यशरणजी बड़े पण्डित और असाधारण कवि थे। उन्होंने भी अपने हाथ से क़लम बहुत कम पकड़ा था। एक लेखक से अपनी रचना बोल कर लिखाया करते थे। आज हम कबीर के अरबी-फ़ारसी-ज्ञान की बानगी सरस्वती के पाठकों को भेंट करते हैं।

छोड़ि नासूत, मलकूत, जबरूत, लाहूत, हाहूत बाजी।
और साहूत, राहूत, इहँ डारिदे कूदि आहूत, जाहूत, जा जी।
जाय जाहूत में खुद खाविंद जहँ वही मक़ान साकेत साजी।
कहै कब्बीर ह्वाँ भिस्त दोजख थके बंद कीताब क़ाहूत काजी॥

इस छन्द को समझने के लिए प्रसिद्ध सूफ़ी महात्मा शम्स तब्रेज़ के वचन सुनिए—

बराये तरबियत् पीरां बशारत्।
ब दादः चार मंज़िल् बा इबारत्॥
यके मंज़िल् कि आं नासूत नामस्त।
पुर-अज़् अवसाफ़े इनसानी तमामस्त॥
अज़ां मंज़िल् अगर खुद बिगुज़रद् कस्।
दोअम् मंज़िल् रसद ओ बा मलक् बस्॥
दरां आलम् चु ऊ मारूफ़ गरदद्॥
मलायक वास्मां मकशूफ़ गरदद्॥
चू बगीरद् क़दम् रा ऊ ज़े मलकूत।
रसद् दर मंज़िले सोअम् ब जबरूत॥
मुक़ामे रूह बरमन् हैरत् आमद्।
निशां अज़् वे ब गुफ़्तन् ग़ैरत् आमद्॥
दरां मंज़िल बुअद क़श्फ़ो करामात्।
वले बायद् गुज़श्तन् जां मुक़ामात्॥
बनूरे ज़िक्र बायद् दर गुज़श्तन्।
ब आबे तोब बायद दिल बशुस्तन्॥
चु गरदद् जानोदिल अज़् ग़ैर हक़ पाक।
रसद दर आलमे लाहूत बेबाक॥
मुक़ामे कुर्ब मंज़िल् बेनिशानस्त।
बजुज़ कौनोमकां दीगर जहानस्त॥

शम्स तब्रेज़ ने सूफ़ी सम्प्रदाय के "पीरों" की "तरबियत" की चार मंज़िलें रक्खी हैं, जिनका ब्योरा यह है:—

१ नासूत—(= दुनिया—रूढ़ अर्थ ज़ाहिरी इबादत)

जब तक मनुष्य का चित्त ईश्वर में पूर्णतया लीन नहीं होता, कितनी ही इबादत (उपासना-पूजा) और संयम करे वह दुनियादार समझा जाता है और यह कहा जाता है कि वह आलमे नासूत में है।

२ मलकूत—(= फ़िरिश्तों का आलम, लोक)

जब मनुष्य उन्नति करके अपने धर्म के पथ पर आरूढ़ होकर संयम से रहता और उपासना में मग्न होजाता है,

पाप की प्रवृत्ति दूर करके शुद्ध हो जाता है तब कहते हैं कि उसमें फ़िरिश्तों के गुण आ गये। अब उससे धर्म के प्रतिकूल कोई काम न होगा। उसे आलमे मलकूत में पहुँचा हुआ मानते हैं।

३ जबरूत—(= बड़ाई, तेज—परमज्योति)

जब संयम और उपासना से मनुष्य इस दशा को पहुँच जाय कि क्रोध, मत्सर, मद आदि नष्ट होकर उसका अन्तःकरण शुद्ध होजाय और उसमें परले सिरे की दीनता आजाय, ईश्वर की महिमा के आगे अपने को तुच्छ जाने और यह समझे कि सारी विभूति ईश्वर की है तब वह आलमे जबरूत में आ जाता है।

४ लाहूत—(= आलम ज़ात-ईश्वर की व्यक्ति)

जब मनुष्य धर्मनिष्ठा, संयम, नियम, उपासना से और भी उन्नति करता है और उसकी यह दशा हो जाती है कि अपने को कुछ भी नहीं समझता और उसके मस्तिष्क में, उसके हृदय में और उसकी दृष्टि में ईश्वर को छोड़ और कोई वस्तु नहीं रह जाती है तब वह आलमे लाहूत में पहुँच जाता है।

५ हाहूत—जब मनुष्य की यह दशा हो जाती है कि सब सुधबुध भूल कर ईश्वर में लीन हो जाता है और मूर्छित सा प्रतीत होता है तब कहते हैं कि वह आलमे हाहूत में पहुँच गया।

सो कबीरजी पहली पंक्ति में कहते हैं कि इन श्रेणियों के पार करने की आवश्यकता नहीं है, यह सब बाज़ी खेल हैं। इन्हें छोड़ दे और साहूत (ساحت) चौड़ा आँगन, राहूत (راحت) सांसारिक सुख को यहीं डाल दे और आहूत (عادت आपद्) जाहूत (= زهد) संयम को कूद जा और उस जाहूत (= جاهت) मरतबे को पहुँच जहाँ ख़ुद आपरूप ख़ाविंद (ईश्वर) ने साकेत सजा है, वहाँ बिहिश्त (वैकुण्ठ) और दोज़ख़ (नरक) दोनों थके, नहीं पहुँच सकते; वह लोक दोनों से परे है। वेद और किताब (क़ुरान) से का हूत क्या होता है अथवा काह (کاه) घास हैं।

साकेत वह स्थान वैकुण्ठ के ऊपर है, जहाँ श्रीरघुनाथजी अब भी विराजमान हैं "वही साहेब को लोक रह्यो है, ताही को परम अयोध्या कहे हैं और सत्यलोक सन्तानकलोक नापैदलोक आदि दै दै नाना नाम हैं तीने लोक में जे हंस हंसिनी हैं, गुल्मलता वृक्ष आदि दैके ते सब चिन्मय हैं और परमपुरुष श्रीरामचन्द्र सबके मालिक हैं :—

तामें प्रमाण—

"राजाधिराजः सर्वेषां राम एव न संशयः।"

"यत्र वृक्षलतागुल्मपत्रपुष्पफलादिकम्।"

यत्किंचित् पक्षिभृंगादि तत्सर्वं भाति चिन्मयम्।

नह्यत्र शोको न जरा न मृत्यु-
र्न कालमायाप्रलयादिविभ्रमः॥
रमेत रामेत स तत्र गत्वा
स्वरूपतां प्राप्य चिरं निरन्तरम्॥"

इति वशिष्ठसंहितायाम्

श्रीसाकेतविहारीजी की उपासना स्वामी रामानन्द की शिक्षा का फल है।

यह बातें अनपढ़ जुलाहे के मुख से नहीं निकल सकतीं।

—श्रीअवधवासी सीताराम

५—जन्म-भूमि।

[१]

जगद्बन्धु—जननी जन्म-भूमि सचमुच है
भुक्ति मुक्ति से भी प्यारी।
सेवक हैं जो सच्चे उसके
सुर हैं वे नर-तनु-धारी॥
है परन्तु वह ऐसी माता।
जिसके हैं बिरले ही ज्ञाता॥

[२]

जातिबन्धु—जन्मे हम जिस जगह, हमारी
जन्म-भूमि क्या वहाँ नहीं?
उसके दर्शन-हित क्या हमको
जाना होगा और कहीं?
जगद्बन्धु—यह आवश्यक नहीं, वहीं हो।
सम्भव है, वह और कहीं हो॥

[३]

जातिबन्धु—तो वह अनुपम भूमि कहाँ है
र्ग-लोक स्वसे भी उत्तम?

रहें जहाँ आजन्म प्रबन्धित
उसे वहीं समझें क्या हम ?
जगद्बन्धु—नहीं सखे ! वह वहाँ भी नहीं ।
जन्मभूमि है और ही कहीं ॥

[४]

जातिबन्धु—भाषा, भोजन, भेष जहाँ हों
राष्ट्र-भाव से परिपूरित ।
जननी जन्म-भूमि उसको भी
क्या बतलाना नहीं उचित ?
जगद्बन्धु—नहीं नहीं, फिर भी भूले हो ।
भ्रम के झूले में झूले हो ॥

[५]

जातिबन्धु—जन्म-सिद्धि के अर्थ जहाँ हम
जन्म-सिद्ध खोजें अधिकार ।
जननी जन्म-भूमि अपनी क्या
करें न उसको भी निर्धार ?
जगद्बन्धु—यह भी तो सर-ब-सर ग़लत है ।
सुनिए, जो सन्तों का मत है :—

[६]

"जन्मे जहाँ ज्ञान यह मन में
सभी जातियाँ हैं अपनी ।
जन-सेवा ही जन्म-सिद्धि है;
जगदम्बा ही, सज्जननी ॥
जन्म-भूमि है वही हमारी ।
हमको जननी-सम ही प्यारी" ॥

'सत्कविदास'

६—हिन्दी भाषा पर फ़ारसी और अरबी शब्दों का प्रभाव ।

हर्षवर्द्धन के बाद उत्तर भारत में कोई चक्रवर्ती राजा नहीं हुआ । उसकी मृत्यु सन् ६४६ ई० में हुई । मृत्यु के हले ही वह थानेश्वर से अपनी राजधानी कन्नौज को ठा ले गया था । उसके समय तक सारा उत्तर-भारत क ही साम्राज्य के अन्तर्गत था । उसके पश्चात् यह म्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया । काश्मीर, पञ्चनद, गुज-, मेवार, कलिंजर, मालवा, अजमेर, कन्नौज, मगध तथा बङ्गाल में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए । उत्तर भारत छोटे छोटे राज्यों में विभक्त होने के कारण निर्बल हो गया । इन सब राज्यों के आपस में सदा लड़ते-झगड़ते रहने के कारण यह निर्बलता दिन प्रतिदिन बढ़ती गई ।

इस समय एक नूतन वीर जाति का उदय हुआ । उस जाति के लोग राजपूत कहलाते थे । उन्होंने उत्तर-भारत के कई एक राज्यों पर अधिकार कर लिया । चौहानवंश के राजपूतों के अधिकार में अजमेर, राठोर-वंश के अधिकार में कन्नौज, प्रमर-वंश के अधिकार में मालवा, गिहलोट-वंश के अधिकार में मेवार, पंवर-वंश के अधिकार में गुजरात और चन्देल राजपूतों के अधिकार में कलिंजर आ गया था । इनके अलावा और भी कई एक छोटे बड़े राज्य राजपूतों के दख़ल में थे । ये हमेशा आपस में लड़ते थे और जब मौक़ा पाते तब दूसरों का राज्य छीन लेते थे । राजपूत लोग बड़े वीर होते थे और उनमें सभी वीरोचित गुण पाये जाते थे । वे हिन्दू धर्म्म का पूरा पालन करते थे, देवताओं पर भक्ति रखते थे और स्वदेशानुरागी थे । वे धर्म-युद्ध करते थे और स्त्री-जाति तथा बालक-वृद्धों की रक्षा करते थे । जब विदेशियों का आक्रमण होता था तब वे परस्पर मिल जाते और शत्रु का दृढ़ता के साथ सामना करते थे । परन्तु पीछे ऐसी अवस्था हुई कि एकता असम्भव हो गई और आपस की फूट के कारण वे निर्बल हो गये ।

ईसवी सप्तम शताब्दी ही से हिन्दुओं का मुसलमानों से सङ्घर्ष शुरू हुआ । कई आक्रमणों के बाद महम्मद बिन क़ासिम ने सिन्ध के राजा दाहिर को मार कर सिन्ध छीन लिया । ३०० वर्ष तक सिन्ध मुसलमानों के अधीन रहा । १००० ईसवी के लगभग भारतवर्ष पर ग़ज़नी के मुसलमान राजाओं की चढ़ाइयाँ शुरू हुईं । इस समय जयपाल पञ्चनद प्रदेश का राजा था । कई बार के युद्ध के बाद वह सुबुक्तगीन से हार गया और सिन्धु नदी के किनारे तक का देश सुबुक्तगीन के अधिकार में हो गया । कुछ वर्ष के । बाद सुबुक्तगीन के बेटा महमूद ने पंजाब पर आक्रमण किया उस समय भी जयपाल ही वहाँ का राजा था । उसका बेटा अनङ्गपाल महमूद से हार गया और लाहोर पर मुसलमानों का राजत्व स्थापित हुआ ।

अतएव देखा जाता है कि भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिम सीमा के लोगों के साथ मुसलमानों का सम्बन्ध ईसवी सातवीं शताब्दी ही से था। सिन्ध उनके दख़ल में पहले ही से था। वाणिज्य के लिए वे हमेशा हिन्दुस्तान आया करते थे। इस प्रकार मुसलमानों के साथ पंजाब तथा सिन्ध के लोगों का हेलमेल हो गया था। राजपूताना और दिल्ली भी निकट ही थे।

उन दिनों हर एक राजा के दरबार में भाट कवि रहा करते थे। चन्दबरदाई पृथ्वीराज के पास रहते थे। उनका पृथ्वीराजरासो हिन्दी का सबसे पुराना काव्य गिना जाता है। परन्तु ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि उससे भी पहले (अर्थात् सन् ११९२ के पहले) राजपूताना के राज-सभाओं के कई एक राज-कवियों ने काव्य बनाये थे। ऐतिहासिक लोग पुष्य, अनन्यदास, केदार, मसौद, कुतुब-अली तथा अकराम फ़ैज़ आदि नाम बताते हैं। शेषोक्त तीन कवियों के नामों से मालूम होता है कि वे मुसलमान थे। यदि उन दिनों हिन्दू-मुसलमानों में ख़ूब हेलमेल न हुआ होता तो कैसे ये राज-कवि होते और कैसे देशी भाषा में काव्य-रचना करते।

फिर देखिए चन्दबरदाई के पृथ्वीराजरासो में हज़ारों फ़ारसी शब्द हैं, यथा निसान, साद हजार उम्मर, बाग, महल, साह, साहब, जंजीर, असव्वार, सहन्नाय, कग्गर, मीर, जङ्ग, जालिम, खबर, अवाज़, सुलतान, तेग, हुरब, बाज, हुजर, कम्मान। यदि ये शब्द उस समय दिल्ली और अजमेर में प्रचलित नहीं थे तो चन्द ने इनको कहाँ पाया और जिनके लिए यह पुस्तक लिखी गई थी वे कैसे इनको समझते? अतएव यह स्पष्ट है कि उन दिनों बहुतेरे विदेशी शब्द राजपूताना तथा दिल्ली के आस-पास की भाषा में मिल गये थे।

सन् ११७० ई० में राठोर वंशीय राजा जयचन्द कन्नौज के सिंहासन पर विराजमान था। अजमेर और दिल्ली का चैाहान राजा पृथ्वीराज उसका प्रतिद्वन्द्वी था। पृथ्वी-राज और जयचन्द में जो विरोध था वह दिन-प्रति-दिन बढ़ता गया। मुसलमान लोग हिन्दुस्तान के साधारण शत्रु थे। उस समय शहाबुद्दीन महम्मद अफ़ग़ानिस्तान घोर-राज्य का अधीश्वर था। वह लोलुप दृष्टि से हिन्दुस्तान की तरफ़ ताक रहा था। ग़ज़नवी और घोरी वंशों में बहुत दिनों से विरोध चला आता था। लाहोर ग़ज़नी राज्य के अन्तर्गत था, यह पहले ही कहा गया है। शहाबुद्दीन ने लाहोर पर आक्रमण कर सारे पंजाब पर दख़ल कर लिया। पंजाब पर दख़ल करने के बाद मुहम्मद घोरी ने देखा कि पृथ्वीराज और जयचन्द में फूट है, अतएव पृथ्वीराज के राज्य पर आक्रमण करने का यही उपयुक्त समय है, उसने चढ़ाई की। पर पहले युद्ध में हार कर भाग गया। दो वर्ष के बाद (सन् ११९३ ई० में) एक भारी सैन्य लेकर वह फिर आया। थानेश्वर के निकट तिरौरी नामक स्थान में लड़ाई हुई। इस लड़ाई में असंख्य राजपूत वीर मारे गये। पृथ्वीराज बन्दी हुआ और आख़िरकार मारा गया। दिल्ली मुहम्मद गोरी के दख़ल में आ गई। मुहम्मद गोरी ने अजमेर पर भी दख़ल कर लिया और कलिंजर पर आक्रमण किया। अगले साल उसने जयचन्द को मार कर कन्नौज पर अधिकार किया। मुसलमान लोगों ने सन् ११९७ में गुजरात पर आक्रमण किया, पर वे सफल नहीं हुए। सन् ११९९ में बख़्तियार ख़िलजी ने बङ्गाल पर अधिकार किया। अतएव थानेश्वर के विजय के ६ ही वर्ष के भीतर क़रीब क़रीब सारा उत्तरभारत मुसलमानों के अधिकार में आ गया।

अब अफ़ग़ानिस्तान और फ़ारस के बहुत लोग भारतवर्ष के बाशिन्दे होने लगे। वे उत्तरभारत में सर्वत्र फैल गये। उन्होंने बहुत से हिन्दुओं को मुसलमान कर लिया। हिन्दू और मुसलमान एक ही शहर और एक ही गाँव के बाशिन्दे हुए। परस्पर पड़ोसी का सम्बन्ध हुआ। जब आपस में मिलते थे तब बातचीत करते थे। मुसलमान लोग देशी भाषा हिन्दी बोलने लगे, परन्तु उन हिन्दी में अपनी फ़ारसी ज़बान के बहुत से शब्दों को मिलाये बिना अपना भाव प्रकाश नहीं कर सकते थे। उनके मित्र हिन्दू लोग इन फ़ारसी शब्दों को समझने लगे और धीरे धीरे ख़ुद व्यवहार करने लगे, यहां तक कि कुछ वर्षों में ये फ़ारसी-शब्द माने हिन्दी भाषा के शब्द हो गये। जो देश दिल्ली से अधिक दूर थे वहाँ की भाषा में फ़ारसी शब्द कम घुसे। फ़ारसी-भाषा राजसभा की भाषा थी और सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में फ़ारसी

का व्यवहार था । इसलिए भी हिन्दी-भाषा में बहुत फ़ारसी के शब्द आ गये ।

अब हिन्दी-साहित्य में फ़ारसी-शब्दों के व्यवहार की कुछ आलोचना आवश्यक है । हमने दिखाया है कि पृथ्वीराजरासों में हज़ारों फ़ारसी-शब्द मिलते हैं । कबीर की रचनाओं में भी फ़ारसी-शब्दों का कुछ प्रयोग है जैसे दौलत, फ़क़ीर, ज़ंजीर, दुनिया, सुलतान, जहाज़, तलवार, हुशियार, साहिब, निवाजई । मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत में भी फ़ारसी-शब्द हैं । सूरदास में भी कुछ फ़ारसी-शब्द हैं । तुलसी के लेखों में फ़ारसी-शब्द पाये जाते हैं, जैसे गरीब-निवाज, साहेब, जहाज, बराबरी, अस्वार, बकसीस, बजार, लायक, बाग, हाल, फ़ौज, सारे, हवाले, बजाज, सराफ, हुनर सक्क, गुमान, ख़बर, दरबार, दरबार, गर्द, जोर, कागद, ग़रीब, जिनिसि, दाम, बाद, लगाम, जीन इत्यादि ।

परन्तु पीछे के कवियों में (केशव, भूषण, बिहारी, इत्यादि के लेखों में) अधिक फ़ारसी-शब्दों का व्यवहार दृष्ट होता है ।

दूर देहातों में भी फ़ारसी-शब्दों का व्यवहार होता है । साधारण लोगों के साथ बातचीत करने में फ़ारसी शब्दों को छोड़ कर बोलना मुश्किल है । बहुत साधारण शब्द ये हैं—गरीब, खबर, जहाज, बजार, बाग, जोर, कागज, बाद, दाम, साहब, हाल, जमीन, अकल, मालूम, निमक, दर इत्यादि ।

नलिनीमोहन सान्याल

७—कुछ ।

शक्ति ।

सुखमय जीवन के लिए प्रार्थना न करो; प्रार्थना करो शक्तिमान् बनने के लिए ।

कामों को अपने सामर्थ्य के अनुकूल बनाने के लिए प्रार्थना मत करो; प्रार्थना करो अपने सामर्थ्य को कामों के अनुकूल बनाने के लिए ।

तब तुम्हारा काम अलौकिक नहीं होगा, प्रत्युत तुम अलौकिक होगे ।

तब प्रतिदिन तुम्हें अपने आप पर, अपनी बड़ाई पर आश्चर्य होगा ।

× × ×

सुख ।

सर्वोत्तम वस्तुएँ तुम्हारे पास हैं; श्वास तुम्हारी नाक में, प्रकाश तुम्हारी आँखों में, पुण्य तुम्हारे चरणों में, कर्त्तव्य तुम्हारे सिर पर, धर्म-मार्ग तुम्हारे सामने ।

अब आकाश की ओर मत देखो, बल्कि दिन के कामों को पूरा करो ।

निश्चय जानो, दैनिक धर्मों का पालन और पेट-पूर्त्ति इन्हीं दो में जीवन है ।

× × ×

निरिच्छ ।

जहाँ विश्वास है, वहाँ प्रेम है । जहाँ प्रेम है, वहाँ शान्ति है । जहाँ शान्ति है, वहाँ ईश्वर है । जहाँ ईश्वर है, वहाँ कोई इच्छा नहीं ।

× × ×

एकान्त ।

यहाँ आराम मिलता है, इसलिए इधर आने को दिल चाहता है ।

और कुछ ! यहाँ आने पर आत्मा के स्वाभाविक सांसारिक बन्धन ढीले पड़ जाते हैं । यहाँ चारों ओर शान्ति का राज्य होता है । सांसारिक अनुभव से परे होकर मैं यहाँ ईश्वर के साथ होता हूँ ।

× × ×

कर्त्तव्य ।

जितना अधिक हमारा जीवन गुज़रता है उतना अधिक हम इस सत्ज्ञान का अनुभव करते हैं कि किस क्षेत्र में, किस रूप में, किस उद्देश को लेकर हम अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं, यह कुछ बात नहीं ।

यह भी जानना कुछ बात नहीं है कि हमारा कर्त्तव्य क्या है, महान् है या लघु, व्यक्त है या अव्यक्त ।

किसी न किसी तरह से अपने कर्त्तव्य को ढूँढ़ लेना और उसे अन्त तक निभाना हमें अच्छा, बलवान्, सुखी और उपयोगी मनुष्य बनाता है ।

यही हमको ईश्वरीय जीवन का भाग बनाता है।

× × × ×

विश्वास।

आज ही अपने गिर्द विश्वास का एक जँगला बना लो। उसे कर्मशीलता से भर कर अब वहीं रहो।

कल पर न देखो। ईश्वर तुम्हारी सहायता करेगा। दुःख या सुख, जो सिर पर आता है सभी झेलो।

× × × ×

एकस्वरता।

थोड़े में सन्तोष से रहना; आराम-पसन्द की जगह सफ़ाई-पसन्द होना; सुयोग्य बनना पर मानी न होना; समुन्नत होना किन्तु अमीर न होना; स्वाध्याय करना, मीठा बोलना, सच कहना; सितारे और पक्षि को, बच्चे और बूढ़े को खुले दिल से सुनना; सिर पर आई को ख़ुशी और दलेरी से सहन करना; समय की प्रतीक्षा करना, जल्दी न करना—इसके साथ मेरा जीवन एकस्वर हो, परमदेव से यही प्रार्थना करता हूँ।

× + × ×

पर्याप्त शक्ति।

अरे तुम क्यों पूछते हो कि कल का भार कैसे सिर पर रख पाऊँगा, जब कि परमात्मा आनेवाले कष्टों के लिए पर्याप्त शक्ति भी देगा?

× × × ×

आज के लिए।

देव, मैं कल की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए आपसे प्रार्थना नहीं करता, केवल यही चाहता हूँ कि आज के दिन मुझसे कोई पाप न हो!

नाथ, मैं दिल लगा कर काम करूँ और मन, वचन तथा कर्म में एक होऊँ, यही मेरी याचना है। *

धर्म्मवीर

---

*सङ्कलित।

८—घर का दीपक।

[क]

अनेक देवी-देवताओं की पूजा और अनेक साधु-सन्तों की सेवा ने उन्हें वृद्धावस्था में एक पुत्र दिया। जीवन के सन्ध्याकाल में वृद्ध दम्पति ने उसे अपने घर का दीपक समझा। उन्होंने उसका नाम रक्खा—"दीपक"।

[ख]

रात्रि को अपने गृह में उजाला करने के लिए "दीपक" के रहने पर भी वे कोने में एक मिट्टी का दीपक जलाया करते थे। जब "दीपक" सो जाता था तो मिट्टी का दीपक सारी रात जाग कर उससे कहता था—"दीपक! तू भी मेरी ही तरह मिट्टी का बना है; मैं जीता जलता हूँ, तू मर कर जलता है। हम दोनों भाई भाई हैं।"

[ग]

रात्रि थी। माता-पिता-पुत्र तीनों सो रहे थे। कोने में दीपक जल रहा था। ऊपर आमने-सामने की दीवारों में दो कीलों के सहारे एक रस्सी बँधी थी, उसके एक सिरे को एक चूहा चुपचाप कुतर रहा था। जब चूहे ने उसे पूरा कुतर दिया तब वह सिरा निराधार होकर फ़र्श की तरफ़ लटक गया। कहाँ?—ठीक उस दीपक की शिखा के पास! दीपक ने उस नवीन अतिथि के आदर-सत्कार में कुछ बाक़ी न रक्खा—उसे अपना "स्नेह" देकर "जलाना" आरम्भ किया। रस्सी का दूसरा सिरा, जो ऊपर कील में बँधा था, यह देख कर अधीर हो उठा। रस्सी जलनी शुरू हुई। क्रमशः नीचे से ऊपर तक समस्त रस्सी जल गई। जब जलने के लिए उसके पास कुछ नहीं रहा तब वह अपना कार्य भार उस फूस की छत को सौंप गई जिसकी शरण में उसका जीवन व्यतीत हुआ था। कुछ ही क्षण में अग्निशिखा ने आकाश को चूमना आरम्भ किया। पिता चौंक कर उठे। उन्होंने जल्दी से कैशबाक्स को खोज कर बग़ल में दाबा, फिर आवाज़ दी—"दीपक!"

माता भी जागी, पागल की तरह दौड़ी। रास्ते में उसके ज़ेवरों का सन्दूक़ पड़ा था। उसने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया, उसे ठोकरों से मार कर अपना रास्ता

फ़ किया और जाकर दीपक का हाथ पकड़ा—से जगाया।

तीनों सकुशल मकान के बाहर निकले। किन्तु—

[ब]

किन्तु ज्यों ही वे तीनों मकान के बाहर आये, योंही दीपक ने माता से कहा—"मा, एक चीज़ रह गई।"

माता ने पूछा—"क्या ?"

बालक दीपक इसका उत्तर देने के बदले तड़ित्गति से उस जलते हुए मकान के अन्दर चला गया। माता उसे पकड़ने को दौड़ी, न पकड़ सकी—एकाएक जलते हुए द्वार की चौखट और दीवार उसके सामने गिर पड़े। दीपक अन्दर चला गया था। वृद्धा ने निराशा और करुणामिश्रित स्वर में पुकारा—"दीपक !"

दीपक ने दूसरे मंज़िल की खिड़की से सिर बाहर निकाल कर कहा—"मिल गया मा! लो यह है।" उसने एक सफ़ेद चीज़ बाहर फेंकी।

माता ने उस पर ध्यान नहीं दिया, विह्वल होकर पुकारा—"दीपक !"

दीपक ने अन्दर से उत्तर दिया—"आया मा !"

माता ने उसी स्वर में कहा—"आये ?"

दीपक ने क्षीण स्वर में उत्तर दिया—"कैसे आऊँ मा! हमारे घर का द्वार नहीं मिलता, आग की लपटों में द्वार नहीं है।"

माता ने सिर पटक कर पुकारा—"दीपक !"

इस बार कोई उत्तर नहीं मिला।

माता ने पछाड़ खाकर कहा—"कोई मेरे दीपक की रक्षा करो।" भगवान्! मेरे दीपक की रक्षा करो! उसने आकाश की ओर देखा, सतत हास्य-मयी नक्षत्रराशि हँस रही थी; भूमि की तरफ़ देखा, दीपक का अत्यन्त प्रिय चीनी मिट्टी का खिलौना दूसरी मंज़िल से कठोर भूमि पर फेंके जाने के कारण चूर चूर होगया था।

वृद्ध दम्पति ने छाती पर वज्र रख कर देखा, जब उनका घर जल रहा था तब घर का दीपक बुझ रहा था।

गोविन्दवल्लभ पन्त

९—भारत के इतिहास पर एक दृष्टि।

भारतवर्ष का इतिहास विधायक तथा उत्पादक शक्ति की चढ़ा-ऊपरी का इतिहास है। इन दोनों विरुद्ध शक्तियों में जो चढ़ा-ऊपरी तथा युद्ध हुआ करता है उसी का इतिहास भारत का इतिहास है।

हम नहीं जानते कि जब आर्यों और अनार्यों में झगड़े चल रहे थे तब उनके नेता कौन कौन थे। पर आर्यों-अनार्यों में मेल करा कर जिस आन्दोलन ने दोनों को एक-हृदय कर दिया था उस आन्दोलन के नेताओं में तीन के नाम हमें रामायण में मिलते हैं। जनक, विश्वामित्र और रामचन्द्र आपस में केवल रिश्तेदारी के सम्बन्ध से ही सम्बन्धित नहीं हैं, किन्तु उनमें एक ही सा आदर्श रखने का उच्चतर सम्बन्ध भी है।

यदि इतिहास को हम कुछ घटनाओं का समूह-मात्र न समझ कर उसे सिद्धान्त रूप से देखें तो उसका कोई भी महापुरुष अपनी जाति के लिए एक आदर्श के रूप में रह जाता है—उसका व्यक्तित्व उस आदर्श में डूब जाता है। आर्यों के इतिहास में जनक, विश्वामित्र तथा राम ये तीन महापुरुष व्यक्ति-विशेष नहीं हैं, किन्तु वे एक ही आदर्श के तीन ऐतिहासिक चिह्नों के रूप हैं।

चतुर्मुखधारी ब्रह्मा यज्ञ के पात्रों तथा नियमों सहित चारों वेदों के प्रतिरूप हैं। प्राचीन काल के एक पुरोहित भृगु की उत्पत्ति ब्रह्मा के हृदय से बतलाई गई है। इसका अर्थ यह है कि वे वैदिक कर्म-काण्ड के प्रधान पुरोहित थे। भागवत पुराण में यह कथा है कि क्षत्रिय राजा कार्तवीर्य ने भृगुवंशी पुरोहित यमदग्नि की एक गाय चुरा ली। इसलिए उसके पुत्र परशुराम ने सारी क्षत्रिय-जाति के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। गाय की चोरी का अवश्य कोई गूढ़ अर्थ है। अन्यथा एक गाय के पीछे सारी क्षत्रिय-जाति से युद्ध छेड़ देने का कुछ अर्थ नहीं होता। संभव है, बहुत से क्षत्रियों के भाव वैदिक कर्म-काण्ड के विरुद्ध हो गये हों इसी कारण ब्राह्मण-क्षत्रियों के बीच युद्ध का सूत्रपात हुआ हो।

यह बात मार्के की है कि परशुराम की लड़ाइयों

का अन्त तब हुआ जब रामचन्द्र के हाथ से उन्होंने हार खाई। राम के साथ महाराज जनक का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध को भी हम एक से आदर्शों और विचारों का ही सम्बन्ध समझते हैं। जनक अपने कर्मयोग के कारण भारतवर्ष में राजर्षि की पदवी से विख्यात हुए। भगवद्गीता में उनके विषय में कहा गया है—

कर्मणैवहि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः ।

अर्थात् जनक तथा उन सरीखे अन्य लोगों ने कर्मयोग के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की है।

कर्म-मार्ग पर विशेष करके इसलिए ज़ोर दिया गया है कि यह मार्ग प्राचीन कट्टर मार्ग से भिन्न था, जिसमें स्वार्थ-साधन करने अथवा आपत्तियों से बचने के लिए यज्ञ-याग पर ज़ोर दिया गया था। यह नया मार्ग एक प्रकार का क्रान्तकारी आन्दोलन था, जिसके नेता जनक थे। राम ने इन्हीं से उद्बोधन ग्रहण किया। अतः जब हम देखते हैं कि क्षत्रिय वीर श्रीराम ने ब्राह्मण-वंशज परशुराम को हरा दिया तब यह निश्चित हो जाता है कि यह लड़ाई दो विरुद्ध सिद्धान्तों की थी।

स्थिर अथवा जड़ संस्थायें अपने चारों ओर विभिन्नता की मज़बूत दीवारें उठा रखती हैं।

समाज के विषय में जड़तावादी ब्राह्मणों ने कर्म-काण्ड के विभेदों को और भी बढ़ाया तथा जाति जाति के बीच में मतों और पन्थों की दीवारें उठा दीं। प्राचीन भारतीय आर्यों के दो प्राचीन उपास्य देवता थे—सूर्य और अग्नि। इनमें अग्नि से ब्राह्मणों का कर्म-काण्ड धर्म सूचित होता है। यज्ञयागों के भेदों और उपभेदों की संख्या बढ़ने लगी और उन में विशेष प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग विहित किया गया। इसी के साथ साथ अनेक देवताओं की पूजा का भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया, क्योंकि अग्नि के द्वारा ही भिन्न भिन्न देवताओं को बलि दी जाती थी।

इधर क्षत्रियों ने मानुषिक और प्राकृतिक सब प्रकार की कठिनाइयों को पार कर अपने जीवन में विकास तथा सर्व-ग्रहण के सिद्धान्तों की उन्नति की। जीवन के विरोधी शक्तियों के लोम-हर्षण सङ्घर्ष के क्षेत्र में धार्मिक उपासना के दिखाऊ तथा ऊपरी रूप की उलझनें उन्हें न फँसा सकीं। उनके साथ सूर्य भगवान् का विशेष सम्बन्ध बतलाया जाता है। उन्हीं से स्मृतिकार मनु भगवान् तथा रघुवंश (जिसमें श्रीराम भी एक थे) की उत्पत्ति बतलाई जाती है। धीरे धीरे कुछ काल के बाद सूर्य भगवान् क्षत्रियों तथा भागवतधर्मावलम्बियों के आराध्यदेव विष्णु के रूप में पूजे जाने लगे। विष्णु-पूजा ने सूर्य-पूजा का स्थान ले लिया।

ब्रह्मा के चारों मुखों से चारों वेदों की उत्पत्ति हुई थी, जो प्रत्येक युग के लिए बराबर मान्य हैं। ये वेद भी स्वयं समाधिस्थ ब्रह्मा के ही समान अपरिवर्तनीय हैं। बाहरवालों से इनकी बड़ी सावधानी से रक्षा की गई। यही ब्राह्मणत्व का आदर्श था। गूढ़ ज्ञान के भाण्डार से ओत-प्रोत भरा हुआ यही उनका शान्त तथा अपरिवर्तनीय आदर्श था। किन्तु इस आदर्श के विरुद्ध विष्णु के चारों कर्मशील हाथ सन्तों की श्रेष्ठता की घोषणा करने, ऐक्य चक्र को बढ़ाने, न्याय और धर्म का शासन करने तथा सौन्दर्य और ऐश्वर्य को ऊपर उठाने में व्यस्त थे। विष्णु के सारे आयुध तथा अन्य प्रतीक क्षात्र-धर्म के भिन्न भिन्न स्वरूपों को सूचित करते हैं।

ब्रह्म-विद्या का जन्म भारत के प्राचीन एकान्त तपोवन में हुआ था। इस ब्रह्म-विद्या की दो धारायें हो गईं। एक में तो लोकातीत विश्वात्मा सत्यस्वरूप से दर्शाया गया है, दूसरे मार्ग में परमात्मा के दो रूप माने गये हैं। (उत्पत्ति की कल्पना में वह द्वैत हो जाता है—असल में है एक ही।) बिना द्वैत-भाव के उपासना हो ही नहीं सकती। किन्तु उसके साथ ही यदि उसकी यथार्थ अद्वैतता का अनुभव न किया जाय तो वह उपासना प्रेममय तथा घनिष्ठ नहीं हो सकती।

आरम्भ काल में वैदिक देवगण मनुष्य से अलग माने जाते थे। वे केवल ऐसी बलि-पूजा पाते थे जो ऊपरी कर्म-काण्ड-द्वारा होती थी। किन्तु अद्वैत सिद्धान्त में जब ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध आत्मिक एकता का सम्बन्ध माना जाने लगा तभी प्रेममय उपासना सम्भव हो सकी। यह स्पष्ट है कि आरम्भ में एक समय ऐसा था जब

इस भक्ति-प्रधान धर्म तथा यज्ञ-प्रधान धर्म में सङ्घर्ष हुआ था। विष्णु भगवान् के हृदय में शोभायमान भृगुलता उस सङ्घर्ष का पौराणिक अवशिष्ट चिह्न है।

पुरोहित-मत के विरोधी क्षत्रिय-दल ने जिन सिद्धान्तों को अपना आदर्श बनाया वे भगवद्गीता में ग्रथित हैं। उनकी परम्परा राजर्षियों से चली आती है—

कृष्ण-द्वारा पुनर्जीवित किया हुआ यह कर्म-योग-मार्ग वैदिक मत के अनुकूल नहीं था। यह बात स्वयं प्रभु के वचन से सिद्ध होती है—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

श्रीकृष्ण वैदिक कर्मकाण्ड का निश्चयरूप से विरोध करते हैं, जो उनके वचनानुसार हमें ब्रह्मानुभव से वञ्चित रखता है। वे कहते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मनः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तथापहृतचेतसां ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

ये शब्द उन्हीं महापुरुष के हैं जिनका विरोधी प्राचीन लकीर का पीटनेवाला तथा वैदिक कर्म-काण्ड में विश्वास रखनेवाला कट्टर दल है।

महाभारत में वर्णित कुरु-क्षेत्र का सङ्ग्राम उन दो दलों के बीच हुआ था जिनमें एक ने तो कृष्ण को लेने से इनकार कर दिया था और दूसरे ने कृष्ण को अपना सहायक और नेता बनाया था। जिस सङ्ग्राम में सारे भारत के राजे एक न एक दल का पक्ष लेकर लड़े थे उस भारी महाभारत का कारण केवल चचेरे भाइयों के बीच का भूमि-सम्बन्धी झगड़ा नहीं हो सकता। महाभारत के बाद के संस्करण में यह बात दबाई गई है कि कृष्ण के नेतृत्व में यह नवीन धार्मिक आन्दोलन ही था जो इतने बड़े भारी देशव्यापी सङ्ग्राम का कारण हुआ। कृष्ण अर्जुन के सारथि थे। इसी एक बात से सिद्ध है कि यह सङ्ग्राम दो विरोधी सिद्धान्तों के बीच था।

भारत की जनता ब्राह्मणों तथा ब्रह्मर्षियों को पूरा आदर देती रही है। किन्तु उन्होंने जीवन में उच्च-नैतिक आदर्शों को कार्य के रूप में परिणत करनेवाले दैवीशक्ति-सम्पन्न क्षत्रियों को ही अपना आदर्श बनाया। ब्राह्मणों में केवल परशुराम को चौबीस अवतारों में स्थान दिया गया है। इन्होंने भी लोगों के हृदय में स्थान नहीं पाया। इससे मालूम होता है कि भारतवर्ष में ईश्वरी शक्ति का काम नैतिक बल के द्वारा विभिन्न जातियों में सामञ्जस्य स्थापित करना है, न कि सैनिक अथवा पाशविक बल से दूसरों पर अपना अधिकार जमाना।

श्रीरामचन्द्रजी के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग (जिसके कारण वैष्णवों ने उन्हें भगवान् का अवतार माना है) आधुनिक रामायणों ने छोड़ दिया है। इन रामायणों में राम केवल आज्ञाकारी आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श गृहस्थ तथा सर्वत्यागी प्रजा-रञ्जक राजा के रूप में चित्रित किये गये हैं। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि उनके जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता (जो समय के प्रभाव से तथा बाह्य धर्म के प्रचार के कारण भुला दी गई है) उनका नीच जातियों के साथ प्रेम और गिरे हुओं के साथ सहानुभूति है। इसी गुण के कारण वे भारत के मूल-निवासियों के भी आदर्श बन गये। उस जाति के नेता हनूमान् उनके सेवक बन गये।

विष्णु के तृतीय मानवी अवतार भगवान् बुद्ध ने जिस धर्म का प्रचार किया था उसमें भी वही नैतिक गुण है जो राम और कृष्ण के उपदेशों में है।

तपोवन-निवासी ब्राह्मणों तथा नगर-निवासी क्षत्रियों में आदर्श-भिन्नता के कारण सदैव सङ्घर्ष होता रहता था। विश्वामित्र तथा वशिष्ठ के झगड़े से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। इसमें सारे ब्राह्मण एक तरफ़ नहीं हैं और न सारे क्षत्रिय ही एक ओर हैं। बहुत से क्षत्रिय वीर ब्राह्मणों के सहायक हैं। यह भी कथा है कि ब्राह्मणों की तीन विद्याओं का दुरुपयोग विश्वामित्र ने किस प्रकार किया और वीर राजा हरिश्चन्द्र ने किस प्रकार उन तीनों को सब कुछ त्याग कर बचाया। फिर, कृष्ण ने भी पाण्डवों की सहायता से दुष्ट जरासन्ध को

मार कर राजाओं को क़ैद से छुड़ाया। यह जरासन्ध स्वयं क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणों की तरफ़ था। उसके क़िले के भीतर जाने के लिए श्रीकृष्ण और पाण्डवों को भी ब्राह्मणों का छद्मवेष धारण करना पड़ा था। कृष्ण ने जो आध्यात्मिक आन्दोलन शुरू किया था उसमें कुछ ऐसी बात थी जो कट्टर ब्राह्मण-दल की पद्धति से भिन्न थी। इसका कुछ इशारा इस कथा में मिलता है जिसमें कृष्ण अहीर-जाति का पक्ष लेकर वैदिक देवता इन्द्र के विरुद्ध लड़े थे और उनके गोवर्धन पर्वत को बचाया था।

जब महाराज युधिष्ठिर ने इस भेद-भाव को मिटाने के लिए तथा ब्राह्मण-क्षत्रियों में कृष्ण की श्रेष्ठता स्थापित करने के उद्देश से राजसूय यज्ञ का विराट् आयोजन किया तब राजा शिशुपाल ने प्रकटरूप से यज्ञ-भङ्ग करने की असफल चेष्टा की थी। कुरुक्षेत्र के सर्वसंहारक सङ्ग्राम का मुख्य कारण जातियों के बीच का यही आन्तरिक मनमुटाव था। कृष्ण के विरोधी दल ने प्रसिद्ध ब्राह्मण योद्धा द्रोणाचार्य को अपना सेनापति बनाया तथा उनके सम्बन्धी कृपाचार्य और उनके लड़के अश्वत्थामा को भी शामिल किया। यह बात ध्यान में रखने की है कि स्वयं द्रोण परशुराम के शिष्य थे तथा कृष्ण के विरोधी दल के मुख्य योद्धा कर्ण भी परशुराम के शिष्यों में थे।

इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि रामायण तथा कुरुक्षेत्र की घटनाओं के बीच बहुत समय का अन्तर था। अतः हमें यह मान लेने के सिवा दूसरा उपाय नहीं है कि इन दोनों घटनाओं में भाग लेनेवाले परशुराम एक चिरकाल स्थायी क्षत्रिय-विरोधी आन्दोलन के प्रतिनिधि रूप हैं तथा राम और कृष्ण दोनों ही एक से ही आदर्श रखनेवाले थे, जिसके प्रचार तथा विकास के लिए बहुत समय लगा।

इन कथाओं से पता लगता है कि रामायण और महाभारत दोनों ही महाकाव्य किसी एक ही सामाजिक क्रान्ति या आर्यजाति के भीतर होनेवाले प्राचीन तथा नवीन सङ्घर्ष से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं।

रामायण जिस युग का वर्णन करता है उसमें श्रीराम इस नवीन दल के नेता थे। राम का जन्म इस प्राचीन मार्ग के अनुयायी वंश में हुआ था, जिसके कुल-पुरोहित वशिष्ठ थे। किन्तु बालपन से ही उन पर वशिष्ठ के विरोधी विश्वामित्र ने अपना प्रभाव जमा लिया था। इन्हीं क्षत्रिय राजर्षि के द्वारा राम ने उस मार्ग में पदार्पण किया जिस पर प्राचीन काल में कई महापुरुष चल चुके थे।

राजर्षि जनक आदर्श क्षत्रिय तथा राजधर्म के मूर्त्तिमान् अवतार समझे जाते हैं। आर्यों ने जब भारत को अपना उपनिवेश बनाया था उस समय के इतिहास में जनक के जीवन ने अवश्य ही बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया होगा। राम ने जनक से ही जीवन का आदर्श ग्रहण किया था। मूलकथानक के चारों ओर जो अन्धकार जमा हो गया है, यदि उसके भीतर से हम देखें तो पता लगेगा कि सीता-स्वयंवर उस काल के समस्त क्षत्रियों को एक प्रकार के युद्ध की ललकार के समान था।

सीता साधारण मानवी स्त्री न थीं। जनक के हल जोतने में सीता पृथ्वी से उत्पन्न हुई थीं। जनक ने इस अवनितनया का ब्याह उसी के साथ करना निश्चय किया था जो शिव के धनुष को भङ्ग कर सके। विश्वामित्र ही राम को इस परीक्षा-क्षेत्र में लाये। राम धनुष के तोड़ डालने में सफल हुए और तब वे सीता को पाने के योग्य समझे गये।

जनक अपनी आन्तरिक आत्मा में ब्रह्म-विद्या का अनुभव करने के साथ ही साथ खेती भी करते थे। इससे यह सूचित होता है कि क्षत्रिय-नरेश कृषि-विद्या की उन्नति में निरत थे, जिस पर प्राचीन आर्य-सभ्यता का मूल आधार था। आरम्भ-काल में पशु-पालन ही आर्य-जाति का प्रधान व्यवसाय था। यह पशु-पालन भारत के जङ्गली विभागों के भी अनुकूल था। ब्राह्मण अपने तपोवनों में गोधन को ही अपना प्रधान धन मानते रहे हैं। पशु-पालन का व्यवसाय घूमने फिरनेवाले दलों या जङ्गलों में रहनेवाले व्यक्तियों के समूहों के लिए ही उपयुक्त था। नगरों में एकत्र हुए बृहत् जन-समुदाय के लिए सङ्गठित रूप से अन्नोत्पादन की आवश्यकता पड़ी। इसी

लिए हम आदर्श राजर्षि जनक के जीवन में ब्रह्म-विद्या और कृषि-विद्या दोनों का एक ही साथ समावेश देखते हैं।

राजा जनक मिथिला में राज्य करते थे, जिससे पता लगता है कि आर्यों के उपनिवेश भारत की अन्ततम पूर्वी सीमा तक पहुँच चुके थे। परन्तु तब भी विन्ध्य-पर्वत दुर्गम ही था। उसके दक्षिण के जङ्गली प्रदेश तब तक अपरिचित थे। यहाँ द्रविड़-सभ्यता सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी तथा आर्यों की सभ्यता के विरोध में वह भयानक रूप धारण कर रही थी। यहीं रावण ने इन्द्रादि वैदिक देवताओं के विरुद्ध द्रविड़-देवता शिव को प्रधान स्थान दे रक्खा था।

अब आर्य-जाति में यह प्रश्न उठा कि ऐसा कौन है जो शिव-धनु-भङ्ग करके आर्य-सभ्यता के नेतृत्व के लिए अपने को योग्य सिद्ध कर सके। (शिव-धनु-भङ्ग का अर्थ इसी प्रकार समझना होगा)। जो पुरुष दक्षिण के शिव-उपासकों के दल को भङ्ग करके ब्रह्मविद्यात्मक कृषि-प्रधान आर्य-सभ्यता का झण्डा वहाँ गाड़ सके वही राजा जनक की अवनि-कुमारी सीता के ग्रहण करने के योग्य है।

जब रामचन्द्र अपने गुरु विश्वामित्र के साथ निकले तब अपनी उस छोटी अवस्था में भी वे तीन कठिन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। पहले उन्होंने रास्ते में सतानेवाले राक्षस का वध किया। दूसरे उनके कार्य-कुशल स्पर्श से मरुभूमि, जो वर्षों से न जोते जाने के कारण (अहल्या का अर्थ है "जो जोती न जा सके") पत्थर-सरीखी कड़ी पड़ी हुई थी, उर्वरा हो गई। उस जड़ भूमि में जीवन आ गया। यह वही भूमि थी जिसे दक्षिण-भूमि के जोतने का प्रयत्न करनेवाले प्राचीन आर्यों के अग्र-खोजी ऋषि गौतम ने बेकाम जान कर छोड़ दिया था। तीसरा काम राम ने यह किया कि क्षत्रिय-जाति के विरोधी आन्दोलन को (जो ब्राह्मण परशुराम में मूर्त्तिमान हो रहा था) दमन किया।

रामायण और महाभारत दोनों में ही वीरों के विवाह का सम्बन्ध एक एक प्राथमिक परीक्षा से है। दोनों में यह समता एक अचानक ही हो जानेवाली समता नहीं है, किन्तु जाति की स्मृति में यह एक युगान्तर करनेवाला तथ्य है। दोनों दशाओं में उस परीक्षा का अर्थ एक कठिन आदर्श को स्वीकृत करना तथा उसे सब अवस्थाओं में, सब कठिन विरोधों के बीच में भी, उच्च रखने की ज़िम्मेदारी लेना था। दोनों में कन्या मामूली मानवी स्त्री नहीं थी, किन्तु एक आदर्शरूप थी। स्वयंवर में वर्णन की गई कन्या का अर्थ एक उच्च आदर्श है। एक घूमते हुए चक्र के बीच में लटकती हुई मछली को उसकी छाया पानी में देख कर वेध करना महाभारतवर्णित परीक्षा है। इसका आध्यात्मिक अर्थ ऊपर प्रकट है। संसार के घूमते हुए चक्कर के बीच सत्य का केन्द्र स्थिर है, जो हमारे शरीर में प्रतिबिम्बित हो रहा है। वह एक लक्ष्ययुक्त ध्यान-योग के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। क्या गीता का यही सिद्धान्त नहीं है? लक्ष्य-वेध का यह रूपक हमारे शास्त्रों में बहुत प्रचलित है।

उपनिषद् में कहा गया है—

"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।"

अर्थात्—ओंकाररूपी धनुष है, आत्मा बाण है तथा ब्रह्म लक्ष्य है।

यद्यपि अर्जुन ने कृष्णा को जीता था, किन्तु पीछे सब भाइयों ने उसके साथ व्याह कर लिया। इस पर यह कल्पना की जा सकती है कि पाण्डव लोग हिमालय के रहनेवाले थे, जहाँ बहु-विवाह की यह प्रथा प्रचलित है। किन्तु असल में यह बहु-विवाह का एक उच्च आदर्श था, जिसमें सब भाइयों ने बराबर बराबर भाग लिया। कृष्ण-द्वारा उपदिष्ट सत्य की प्रति-मूर्त्ति ही "कृष्णा" (द्रौपदी) थी, जिसका सम्बन्ध सूर्य-उपासना अथवा बाद में विष्णु-उपासना से होगया। महाभारत में एक कथा है कि जब कृष्णा सूर्य का आवाहन कर थाली में भोजन बनाती थी तब वह कभी घटता ही न था। इसका अर्थ अनन्त अपरिमित आध्यात्मिक आयोजन के सिवा कुछ नहीं हो सकता, जो अतिथियों के उपभोग के लिए सर्वदा तैयार रहता है।

पाञ्चाल-देश क्षत्रियों-द्वारा प्रचारित इस नवीन मार्ग का केन्द्र था। इसी पाञ्चाल-देश में ब्राह्मण-कुमार श्वेतकेतु क्षत्रिय राजा प्रवाहन जाबालि के पास इस तत्त्व की शिक्षा लेने आया था कि पृथ्वी मनुष्य तथा नक्षत्रादि में होनेवाला

उत्पत्ति-क्रम एक महायज्ञ रूप ही है, जिसके लिए यज्ञ की अग्नि भिन्न भिन्न रूपों और आकारों में प्रकाशित होती है। हमें यह कथा भी ज्ञात है कि ब्राह्मण द्रोण को पाञ्चाल राजा द्रुपद से इसलिए ईर्ष्या थी कि वह अपने राज्य का आधा भाग अपने सहपाठी को नहीं देता था। बहुत सम्भव है कि इसी कथा में उस महायुद्ध का इतिहास छिपा हो जो ब्राह्मणों की शक्ति और क्षत्रियों के नवीन मार्ग के बीच हुआ था।

यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इसी पाञ्चाल-देश से (जो मथुरा के समीप ही है) पाण्डवों ने कृष्ण-प्रचारित धर्म का उपदेश ग्रहण किया हो। यह बात भी महत्त्व की है कि वही द्रोणाचार्य, जो द्रुपद से लड़े थे, कौरवों के प्रथम सेनापति थे। कौरवों ने द्रौपदी का अनादर किया था और रावण ने सीता का। कृष्ण ने द्रौपदी को इस अपमान से बचाया था। जिन लोगों ने उसे विवस्त्रा करने का उद्योग किया था उनको यह मालूम हो गया कि उसकी मर्यादा की साड़ी उसी प्रकार अपरिमित है जिस प्रकार उसकी थाली का भोजन अक्षय है। इसी प्रकार यह भी सिद्ध हो गया कि यद्यपि थोड़े समय के लिए सीताजी रावण के अधिकार के नीचे आगई थीं तो भी उसमें उन्हें कलुषित करने की शक्ति न थी। क्योंकि सत्य अनन्त और अक्षय है, चाहे वह थोड़े काल के लिए भले ही छिपा रहे।

यह बात भी रहस्यमय है कि सीता के रक्षक और रामायण के वीर श्रीराम तथा कृष्णा के मित्र तथा महाभारत के योद्धा श्रीकृष्ण ने बाद के वैष्णव-सम्प्रदाय में प्रधान स्थान पाया।

छान्दोग्योपनिषद् में यह कथा है कि ऋषि घोर ने अपने शिष्य कृष्ण को पहले उस संस्कार की शिक्षा दी जिसके द्वारा मनुष्य नवीन आत्मिक पुनर्जन्म प्राप्त करता है और जिसमें तप, दान, अहिंसा और सत्य यही पुरोहितों की दक्षिणा में दिये जाते हैं। अपनी शिक्षा के अन्त में उन्होंने कहा।—अन्तकाल में मनुष्य को तीन विचारों की शरण लेनी चाहिए, यथा—"तुम अमर हो, तुम स्थिर हो, तुम जीवन के तत्त्व हो।" यहाँ हम उस धर्म का बीज पाते हैं जिसे कृष्ण ने आगे चलकर वासना-त्याग-रूप पराभक्ति-युक्त धार्मिक आन्दोलन के रूप में प्रचलित किया।

भारतीय इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यही है कि विष्णु के जितने अवतार हुए हैं सभी ने अपने जीवन और उपदेशों-द्वारा ब्राह्मण-दल के बन्धनों को तोड़ा है और ऊँच तथा नीच समझी जानेवाली जातियों में समता स्थापित की है! एक समय आता है जब राजकुलोद्भव रामचन्द्रजी नीच से नीच अछूत चाण्डाल निषाद को अपना मित्र और सखा बनाते हैं। यह एक ऐसी घटना है जो आज तक श्रीराम की उदारता के समर्थन में उद्धृत की जाती है। जब सङ्कीर्ण विचारवाले दल ने एक बार फिर ज़ोर पकड़ा तब रामायण में एक अध्याय जोड़ कर राम की उदारता के इस दृष्टान्त को दबाने का प्रयत्न किया गया। इतना ही नहीं किन्तु अपने आदर्श के अनुकूल करने के लिए उन लोगों ने राम की पवित्र स्मृति को अपमानित करने का यहाँ तक प्रयत्न कर डाला कि महाकाव्य के नये संस्करण में यह कथा जोड़ दी कि राम ने अपने हाथों से शूद्रराज शूद्रक को मारा जो आत्मिक उन्नति में ब्राह्मणों की बराबरी करना चाहता था। यह उसी प्रकार है जैसे क्रिस्तान-धर्म के अनुयायियों ने गत महायुद्ध में महात्मा ईसा के नाम पर नर-रक्त-प्लावन का समर्थन किया था।

जनकराज के प्राचीन स्थान में दो और क्षत्रिय धर्म संस्थापकों (बुद्ध और महावीर) ने जन्म लेकर सरलता के आदर्श को जन्म दिया। देश को जिन धार्मिक सिद्धान्तों ने गड़बड़ और अन्धकार में डाल कर भौंचक तथा अन्ध आदर्श प्राप्त करने में असमर्थ बना रक्खा था उनके विरुद्ध लड़ने में इन महापुरुषों ने अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं। इन दो क्षत्रिय संन्यासियों ने यह भावना अस्वीकार कर दिया कि एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में कुछ भी स्वाभाविक या स्थायी अन्तर है। उनके उपदेशानुसार मनुष्य का कल्याण केवल सत्य के पहचानने से ही हो सकता है, न कि सामाजिक स्थिरता या नीति-विरुद्ध आचरणों से। यह बात बहुत आश्चर्यजनक है कि थोड़े ही समय में इन क्षत्रिय धर्मोपदेशकों ने परम्परागत तथा स्वभाव-निबद्ध कठिनाइयों

ो दूर करके अपनी विजय सारे देश में घोषित र दी।

बौद्ध-धर्म की क्रान्ति के समय एक ब्राह्मण-दल ही ऐसा था जो अपना अस्तित्व क़ायम रख सका, क्योंकि सबसे अलग अलग रहना ही ब्राह्मणों का स्वभाव रहा है। किन्तु क्षत्रिय लोग शेष जन-समाज में एकाकार होगये थे और इसी लिए हम देखते हैं कि बौद्ध-काल के बाद के युग में अधिकांश राजे क्षात्रकुल के न थे। फिर शक और हूण जाति के दल के दल भारत में आये और यहाँ के पूर्व-निवासियों में मिल गये। तब मर्माहत आर्य-सभ्यता ने फिर से अपने पुनर्जन्म के लिए सारी शक्तियाँ लगा दीं। उसका पहला प्रयत्न यही था कि जो जातीय विशेषता का ज्ञान इस प्रकार लुप्त हो गया है उसका पुनरुद्धार किया जाय। अपनी प्राचीन सभ्यता की बुनावट को पूरा करने के लिए उसने अपनी पूर्वकालीन सम्पत्ति के धागे की खोज की। इस प्रकार सामग्री-सङ्ग्रह करना तथा उसे यथा-स्थान रखना ही इस नवीन युग का विशेष कार्य था; न कि नवीनता उत्पन्न करना। इस काल के महर्षि व्यास माने जाते हैं। और उन्हीं ने इस कार्य को किया था। चाहे वे कोई व्यक्तिविशेष न भी रहे हों, पर वे इस युग के आदर्शों के प्रतिरूप अवश्य हैं।

वेदों का सङ्ग्रह या सङ्कलन करना इस आन्दोलन का काम था। अब यह आवश्यक था कि कोई ऐसा सामान्य साधन हो जो सब बातों को एकीकरण करे। वेद सबसे ऊपर रख दिये गये थे (जिससे चारों ओर घूमने के लिए स्थायी केन्द्र मिल जाय)। वेदों को केन्द्र बनाकर जाति उसके चारों ओर घूमने लगी।

इस युग का दूसरा महान् कार्य ऐतिहासिक सामग्री को जमा करना था। यह काम बहुत दिनों तक चलता रहा और इस काल में सब फैली हुई कथाओं और इतिहासों का सङ्ग्रह किया गया। इतना ही नहीं, किन्तु सब प्रकार के विश्वास तथा मतमतान्तरों की बातें भी जमा की गईं, जो उस समय तक जातीय स्मृति-पटल पर बाक़ी थीं। इस तरह प्राचीन भारत की एक साहित्यिक मूर्त्ति गढ़ी गई, जिसका नाम "महाभारत" हुआ। "महाभारत" नाम ही सूचित करता है कि ज़ाति में राष्ट्रीय-एकता के विचार पुनरुज्जीवित हो रहे थे तथा जनता उसका विकास तथा उसे स्थायी स्मृति बनाने का प्रयत्न कर रही थी।

प्राचीन इतिहास के सब भग्नावशेष एकत्र करने के इस प्रयत्न का यह फल हुआ कि असली कथानक बहुत सी यहाँ वहाँ की अनावश्यक और व्यर्थ की बातों से भारी हो गया। समय की आवश्यकता के कारण विश्वसनीय बातों के सङ्ग्रह की इच्छा को त्याग देना पड़ा। एक अमर काव्य की रचना ही समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी।

एक और बात मार्के की यह है कि इस युग में ब्राह्मणों तथा ब्राह्मणों की रचनाओं की पवित्रता पर बड़ी अतिशयोक्ति के साथ बार बार ज़ोर दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि लोगों के विचार उस समय कठिन विरोधियों से लड़ रहे थे तथा यह भी सिद्ध होता है कि लोगों के मस्तिष्क से आत्म-ज्ञान तथा स्वातन्त्र्य-प्रियता की भावनायें बिलकुल जाती रही थीं। आज-कल योरप के कुछ बुद्धिमानों में प्रजातन्त्र के विरुद्ध जो अविश्वास हो रहा है वह इसी प्रकार का उदाहरण है।

इसका कारण यह है कि ब्राह्मण-क्षत्रियों की चढ़ा-ऊपरी के काल में जो एकीकरण हुआ था उस समय आर्यत्व की आत्मा एक थी—ब्राह्मण-क्षत्रिय कितना भी लड़ते थे, किन्तु वे दोनों आर्य ही थे। किन्तु बौद्ध-काल में न केवल अनार्यों ने ही भारत में प्रवेश पा लिया था, किन्तु अभारतीय लोग भी घुस आये थे। तब यह एकता ज्यों की त्यों रखना कठिन हो गया। जातियों के मिलन तथा धार्मिक एकीकरण की गुप्त धारा भीतर ही भीतर ज़ोरों से बह रही थी। जब दूसरी जातियाँ और उनके विश्वासों का प्रभाव ज़ोर पकड़ने लगा तब आर्य-जाति को इसका अनुभव हुआ। अपनी सभ्यता को और अधिक लूट-खसोट से बचाने के लिए चारों ओर दीवार के बाद दीवार उठनी शुरू हुई। इतने पर भी जो प्रभाव रोके न रुक सके वे दीवार के भीतर सम्मिलित कर लिये गये।

इससे यह न समझना चाहिए कि आर्येतर सभ्यता की बातें केवल बल-प्रयोग के द्वारा ही स्वीकृत हुईं अथवा उनमें कोई गुण न था। असल में प्राचीन काल

की द्रविड-सभ्यता कोई उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। आर्य-सभ्यता के साथ उसके मेल होने से ही हिन्दू-सभ्यता का उदय हुआ और उसमें द्रविड-सभ्यता के मेल के ही कारण महत्त्व तथा गूढ़ता आ गई है। द्राविड लोग आन्तरिक दृष्टि-सम्पन्न और तत्त्वज्ञानी चाहे न भी रहे हों, पर वे सङ्गीत, चित्रकला तथा स्थापत्य-कला में निपुण थे। आर्यों के उच्च विचारों तथा द्राविडों के मानसिक तथा उत्पादक आदर्शों का जब सम्मिलन हुआ तब उनसे एक सन्तान उत्पन्न हुई जो न तो पूरी "आर्य" थी और न पूरी "द्राविड," किन्तु दोनों के मिश्रण से बनी हुई "हिन्दू" थी।

हमें यह भी याद रखना चाहिए कि केवल द्राविड-सभ्यता की वस्तुएँ ही आर्य-सभ्यता में नहीं घुसीं, किन्तु अनार्य जातियों की बातें भी इसमें स्थान पा गई हैं और इन्हीं नवागत वस्तुओं में सामञ्जस्य न होने के कारण वे बाद को हिन्दू-समाज के लिए बड़ी अन्यायपूर्ण सिद्ध हुई हैं।

जब आर्यों के देव-समूह में अनार्यों के देवताओं ने स्थान पाया तब इस मिश्रण के प्रतिनिधि-रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति उपस्थित हुई। ब्रह्मा प्राचीन परम्परा तथा बाह्यरूपता के चिह्न-स्वरूप थे। विष्णु उस बीच की स्थिति के प्रतिनिधि-स्वरूप थे जिसमें वैदिक देवता सूर्य धर्म-ग्रन्थों के जड़-कारागार से निकल कर मानव-हृदयों में विराजमान हुए थे। शिव उस काल के प्रतिनिधि हैं जब अनार्यों ने आर्यों के सङ्गठन में स्थान पाया। यद्यपि आर्य और अनार्य इस प्रकार मिले तथापि वे बिलकुल एक दूसरे में घुल कर अपना अपना अस्तित्व नहीं खो बैठे। सङ्गम-स्थान पर गङ्गा और यमुना के समान दोनों सभ्यताओं की धारा मिलती गई और साथ ही साथ बहने भी लगी तो भी उनकी धारायें बिलकुल अलग अलग पहचानी जा सकती हैं।

यद्यपि शिव आर्य देवताओं में मिला लिये गये तो भी आर्यों के शिव और अनार्यों के शिव की विशेषतायें अलग ही अलग रहीं। आर्यों के शिव संन्यासियों के आदर्श हैं, जो सब वासना त्याग कर निर्वाण के आनन्द में मग्न बैठे हैं तथा जिस प्रकार वे वस्त्र से रहित हैं उसी प्रकार सांसारिक बन्धनों से भी रहित हैं। किन्तु अनार्यों के शिव भयङ्कर हैं। वे शोणितमय व्याघ्रचर्म-परिच्छन्न हैं और भङ्ग के वश में मस्त हैं। आर्यों के शिव बिलकुल बुद्ध भगवान् के समान होने के कारण बहुत से बौद्ध-मन्दिरों में भी विराजमान हो गये हैं। किन्तु अनार्यों के शिव भूत, प्रेत आदि भयानक जीवों के श्मशानवासी राजा—भूतनाथ—हैं। इसी से साँप, वृक्ष आदि के पूजनेवाले लोग भी इन शिव की पूजा करने लगे। आर्यों के शिव शान्त समाधिस्थ मुद्रा में पूजे जाते हैं और अनार्यों के शिव भयानक आत्मक्लेशदायक क्रियाओं के द्वारा।

इसी प्रकार वैष्णव-मार्ग के श्रीकृष्ण अनार्यों की धार्मिक कथाओं में स्थान न पाकर एक नवीन कृष्ण बन गये। उसमें वे अर्जुन के मित्र, उपदेशक, गीता-गायक तथा द्वारका के वीर और राजाधिराज न रहकर गड़रियों और ग्वालों के कृष्ण बन गये हैं। गीता-गान के उच्चादर्शों के साथ साथ अहीरों की धार्मिक कथायें भी जोड़ दी गईं।

इतना सब कुछ होते हुए भी आर्यों के लिए यह असम्भव था कि वे असंख्य अनार्य जातियों की कथाओं, विश्वासों और प्रथाओं के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर सकते। इस जाति-सम्मिलन में आर्येतर-जातियों के सिद्धान्त उत्तरोत्तर इतने प्रबल होते गये कि आर्यों ने उन्हें परस्पर-विरोधी होने पर भी केवल अपने में पड़ा रहने ही नहीं दिया, किन्तु उनका स्वागत तक किया। इससे इस धार्मिक सिद्धान्त का उद्भव हुआ कि जो धर्म किसी विशेष जाति के उपयुक्त हो वही उसके लिए मुक्ति का मार्ग है।

इसका फल यह हुआ कि जो सामञ्जस्य का प्रयत्न चल रहा था वह केवल कुछ प्रथाओं की समानता तथा ऊपरी कर्म-काण्ड के दोहराने में ही रह गया। और यह सिर्फ़ इसलिए कि दोनों विभिन्न जातियाँ मिली रहें। जिस हृदय से शक्ति चली गई है उसकी केवल बाहरी आदतें बड़ी अन्यायपूर्ण हो उठती हैं। मालूम होता है कि उन्हीं के प्रभाव से भारत प्रथाओं के बन्धन से, जो केवल बाहरी चीज़ है, इतना अधिक कस गया है कि वह ज़रा ज़रा सी बातों में भी हिलडुल नहीं सकता।

तः लोगों को अपनी जातिविशेष की परम्परागत ाओं की रक्षा की बड़ी चिन्ता हो गई और एकता के त्र में बाँधनेवाले अपने नैतिक दायित्व का उन्हें विस्मृत हो गया।

बौद्ध-धर्म के पतन के बाद ब्राह्मण-प्रभुत्व-काल की भी अकर्मण्यता के कारण उत्पन्न हुए जातिभेदों के कुल में एक नवीन मार्ग निकालना कैसे आवश्यक हुआ, इसका उल्लेख हो चुका है। बौद्ध-धर्म की प्रबल धारा अपने अन्त समय में मलिन और आदिम अन्धविश्वासों, मिश्रित पन्थों तथा प्रथाओं के दलदल में (जिसकी ड़ें अनार्यों की मूढ़ प्रथाओं में थीं) लुप्त हो गई थीं। उस सरिता ने, जिसका उद्गम-स्थान आर्यों का मस्तिष्क था अपने तत्त्वज्ञान की गहराई तथा मनुष्यता की विशालता को गर्व दिया था।

इसलिए उस विषमता के समय में किसी आदर्श की एकता को स्थापित करके अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर ब्राह्मणों को फिर मिला। ऐसे आदर्श को रक्षित रखने का सौभाग्य सदा से उन्हीं को प्राप्त था। इस बार उनका सामना ज़रा कठिन काम से हुआ था। क्योंकि भारतीय जन-समाज में बहुत सी जातियाँ मिल कर एक हो गई थीं। अतः अपने आदर्श को इस विषमतामय जीवन के आक्रमणों से बचाने के लिए उन्हेंाने उसे स्थायी जड़ता में आबद्ध कर दिया। इसका उलटा परिणाम यह हुआ कि स्वयं उनके आदर्श जड़ हो गये और समयानुसार परिवर्तन के लायक़ न रहे। दूसरी ओर जो जातियाँ भारतीय समाज में मिल चुकी थीं उन्हें अपने स्वतन्त्र भावों की विचारहीन निर्बाध बढ़ती का अवसर मिल गया। इसका फल यह हुआ कि प्रथायें, विश्वास तथा धार्मिक क्रियायें एक में मिल कर गड्डमगड्ड हो गईं। प्रथाओं में कुछ तो प्राचीन प्रथाओं की बची-खुची निशानी थी और कुछ नई बढ़ी हुई प्रथायें थीं, जो उनमें चिपट कर उनकी सूरत-शकल बिगाड़ रही थीं।

तो भी राष्ट्रीय प्रतिभा जनता के टूटे हुए हृदय की बाधा को पार करती हुई अपना काम करती गई। वैदिक काल में जब जब जनता के विचार-रूपी वातावरण में वायु की स्थिरता के चिह्न दीख पड़ते थे तब तब क्षत्रिय लोग ही नवीन विचारों की आँधी चलाते थे। किन्तु वैदिक काल के युगों में जब क्षत्रिय अपने व्यक्तित्व को भूल गये थे तब समाज के अज्ञाततल से नीच तथा घृणित समझी जानेवाली जातियों में से ही महापुरुष उत्पन्न होकर आत्मिक स्वातन्त्र्य तथा मानव-ऐक्य का सन्देश लाने लगे। यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ता है कि मध्यकाल में भी पहले पहल ब्राह्मण-कुलोत्पन्न रामानन्द ने ही एकता की आवाज़ उठाई थी और उसके फलस्वरूप उन्होंने अपने गुरुपन के आदरणीय अधिकार से भी हाथ धो दिया था, तो भी यह उतना ही सत्य है कि उस काल के अधिकांश सन्त-महात्मा, जिन्होंने उस आवाज़ को अपने जीवन, उपदेश तथा भजनों-द्वारा प्रचारित किया वे नीच जातियों में ही उत्पन्न हुए थे। उनमें एक मुसलमान जुलाहा भी था।

जिस युग में हम रहते हैं उसका असली रूप हम भीतर से उतनी अच्छी तरह नहीं देख सकते जितना बाहर से देख सकते हैं। तो भी हम अनुभव करते हैं कि आधुनिक भारत भी एक बार फिर अपने सत्य, अपने सामञ्जस्य, अपने ऐक्य की केवल अपने भीतर ही नहीं, किन्तु सारे विस्तृत संसार में खोज करने के लिए जाग पड़ा है। भारतीय सभ्यता ने आरम्भकाल से ही अपने ऊपर जो बड़े भारी दायित्व का भार ले लिया है उसे पाश्चात्य समालोचक नहीं समझते। सारे संसार की पीठ पर केवल भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जिसमें आर्यों को उपनिवेश बनाते समय ऐसी ऐसी जातियों के साथ सामञ्जस्य करना पड़ा है जो संख्या में उनसे बहुत अधिक थीं, शारीरिक तथा मानसिक बातों में उनसे बिलकुल भिन्न थीं और अधिकांश मामलों में उनसे बिलकुल हीन श्रेणी में थीं।

इस देश के ब्राह्मणों को ही इसका श्रेय है कि जिन्होंने चारों ओर तूफ़ान के चलते रहने पर भी अपना प्रकाश प्रज्वलित रक्खा। उनका यह सदा प्रयत्न रहा है कि वे विरोधी सामग्री की बृहत् राशि को अपने शीघ्रगामी आदर्श से ओतप्रोत भर दें जिससे वह उनकी मिश्रित सभ्यता का एक जीवित अङ्ग हो जाय। यही इन ब्राह्मणों का सदा प्रयत्न रहा है।

हमारे लिए सचमुच यह दुर्भाग्य की बात है कि हम "अन्न ब्रह्म" के तत्त्व को भूल गये जो अनन्त ब्रह्म का एक पार्थिव रूप-मात्र है। उसका फल हम भोग रहे हैं। अब तक हमने आध्यात्मिक ज्ञान की गूढ़ता में अव्यक्त अनन्त परमात्मा के अनुभव का लम्बा रास्ता पकड़ा था, जिसके कारण हमने विकासात्मक संसार में अनन्त का अनुभव करने के महत्त्व को भुला दिया था। इस क्षेत्र में उद्योग करके पश्चिम ने सफलता प्राप्त कर ली है, जिसके लिए मनुष्य-समाज सदा उसका ऋणी रहेगा।

किन्तु सच्ची शान्ति तथा सुख पश्चिम की सन्तान की तपस्या की राह देख रहा है। जिस तपस्या के द्वारा आत्मा में ब्रह्म का अनुभव होता है, जिससे प्रकाशमान आन्तरिक दृष्टि उत्पन्न होती है, और जिसके द्वारा अमृतत्व का दृश्य आँखों के सामने नाचने लगता है उसी तपस्या की पश्चिम को आवश्यकता है। यदि पश्चिमी संसार चढ़ा-ऊपरी करनेवाले व्यापार राजनीति तथा सर्वभक्षक लालच और ईर्ष्या के नाशकारी पदाघात से रसातल जाने से बच गया—यदि कभी ऐसा समय आया—तो संसार उन ब्राह्मणों का सदा ऋणी रहेगा जिन्होंने विरुद्ध परिस्थितियों में भी आत्मा के अमरत्व तथा अनन्तत्व पर विश्वास रक्खा तथा जो इस युद्ध में काम आ जानेवाले वीरों के लिए दुःख तक न कर आगे ही बढ़ते गये।—

मैं भारत को इसलिए प्रेम नहीं करता कि मैं भूगोल की मूर्त्ति पूजा करता हूँ और न इसलिए प्यार करता हूँ कि मेरा जन्म इसकी ज़मीन पर हुआ है, किन्तु इसलिए प्यार करता हूँ कि उसने अपने वीर सन्तानों की प्रबुद्ध बुद्धि से निकले हुए इन जीवनमय शब्दों की रक्षा की है कि "ब्रह्म ही ज्ञान है, ब्रह्म ही अनन्त है, ब्रह्म ही में शान्ति है। ब्रह्म ही में कल्याण है और ब्रह्म ही में सब प्राणी हैं।"※

ब्योहार राजेन्द्रसिंह

※ रवीन्द्र बाबू के एक लेख के आधार पर।

१—मज़दूर-दल का सङ्गठन।

पार्लियामेंट के मज़दूर-दल का जन्म सन् १८९९ के ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन से समझना चाहिए। उस अवसर पर रेलवे-कर्मचारियों के प्रतिनिधियों ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि पार्लियामेंट में मज़दूरों के स्वतन्त्र प्रतिनिधि भेजे जायँ। उक्त कांग्रेस में यह प्रस्ताव केवल बारह वोटों के अधिक होने से पास हो सका था। इस समय तक ट्रेड यूनियन सभाओं के अधिकारियों ने कार्य-क्षेत्र में राजनीति को नहीं घुसने दिया था। उनके राजनीति-सम्बन्धी कामों के लिए एक अलग कमिटी बनी हुई थी। और पार्लियामेंट में तत्सम्बन्धी उनका सारा व्यावहारिक कार्य उदारदल कर दिया करता था। ट्रेड यूनियन के अधिकांश पुराने नेताओं का सम्बन्ध उदारदल के नेताओं से बना रहता था।

जब सन् १९०० की फ़रवरी में पूर्वोक्त कांग्रेस का विशेष अधिवेशन मेमोरियल हाल में हुआ था तब उसमें ट्रेड यूनियन सभाओं के प्रतिनिधियों के साथ साथ साम्यवादी संस्थाओं के प्रतिनिधि भी शामिल हुए थे। इस अवसर पर मज़दूरों को पार्लियामेंट में प्रतिनिधित्व दिलानेवाली एक सभा की गई थी और उसके मन्त्री का पद मिस्टर राम्से मैक्डानल को दिया गया था। इस पद का कार्य-भार मिस्टर मैक्डानल सन् १९११ तक सँभाले रहे। सन् १९०० में पार्लियामेंट का जो चुनाव हुआ था उसके लिए इस सभा ने अपने पक्ष के १५ उम्मेदवार खड़े किये थे। यद्यपि ये मज़दूर उम्मेदवार उस समय के बोअर-युद्ध के विरुद्ध थे तो भी मिस्टर केरहार्डी, रेलवे-नौकरों की सोसायटी के मन्त्री मिस्टर रिचर्ड बेल, मिस्टर डी० जे० शेकल्टन, स्वर्गीय मिस्टर विल क्रुक्स और मिस्टर आरथर हेंडर्सन आदि मज़दूर-सदस्य पार्लियामेंट में पहुँच गये। इस प्रकार वहाँ मज़दूर-सदस्यों का एक गुट्ट बन गया। परन्तु मज़दूर-दल का ट्रेड-यूनियन सभाओं से जो मैत्री-सम्बन्ध था उसका पल्ला भारी पड़ता था। इसके सिवा स्वयं प्रतिनिधित्व दिलानेवाली उपर्युक्त सभा में ऐसे लोग थे जिनके कुछ विचार उदार-दल जैसे और कुछ मज़दूर-दल जैसे थे। परन्तु सन् १९०३ की इस सभा की तीसरी बैठक में यह निश्चय हुआ कि उसकी कार्यकारिणी सभा के सदस्यों को उदार या अनुदार-दल के किसी भाग के हितों का समर्थन करने या उसके प्रति सहानुभूति दिखलाने से सदा दूर रहना चाहिए। इसके साथ ही उन्हें इस बात का अधिकार दिया गया कि वे पार्लियामेंट के मज़दूर उम्मेदवारों तथा सदस्यों की सहायता के लिए एक फ़ंड खोलें।

सन् १९०६ के सार्वजनिक चुनाव के अवसर पर उपर्युक्त सभा ने अपना नाम बदल डाला और वह मज़दूर-दल कहलाने लगी। इस बार इस दल ने अपने पचास उम्मेदवार खड़े किये थे। इनमें इक्कीस सदस्यों ने सफलता प्राप्त की। लगभग इतने ही ट्रेड यूनियन सभाओं के सदस्य भी उदार-मतवादी सदस्यों के रूप में सफल हुए। सन् १९१० के दोनों चुनावों में मज़दूर-दल की शक्ति और भी बढ़ गई। जनवरी के चुनाव में उसके ४० उम्मेदवार चुने गये और दिसम्बर के चुनाव में ४२ उम्मेदवार। उधर उदार-मज़दूर-सदस्यों की संख्या में छः की कमी हो गई। इस ह्रास का कारण यह था कि खानवालों का सङ्घ मज़दूर-दल से मिल गया था।

सन् १९१० से लेकर सन् १९१८ के दिसम्बर के पहले तक मज़दूर-दल ने अपनी प्रबलता कभी नहीं प्रकट की। परन्तु जब सन् १९१८ में पार्लियामेंट का नया चुनाव हुआ तब उसने अपने दल के ३६१ उम्मेदवार खड़े किये। यद्यपि इस बार के चुनाव में उसे २२,४४,९४५ वोट मिले तो भी उसके केवल ५७ उम्मेदवार ही मनोनीत हो सके। सन् १९१० के चुनाव में उसे केवल ५,०६,६९० वोट मिले थे। चार वर्ष बाद सन् १९२२ के चुनाव में मज़दूर-दल ने ४१४ उम्मेदवार खड़े किये। इस बार उसे ४२,३६,७३३ वोट मिले और उसके १४२ सदस्य मनोनीत हुए। अभी हाल के चुनाव में उसके ४२३ उम्मेदवार थे, जिनमें १९१ को सफलता प्राप्त हुई और उसको ४३,४८,३७९ वोट मिले। इस प्रकार धैर्यपूर्वक उन्नति के मार्ग पर पुरस्सर होते हुए आज मज़दूर-दल ब्रिटिश पार्लियामेंट का एक प्रधान दल बन गया है।

यदि भूतपूर्व प्रधान मन्त्री मिस्टर बाल्डविन ने सार्वजनिक चुनाव के बाद शीघ्र ही त्याग-पत्र दे दिया होता तो मज़दूर-दल को कठिनाई से सामना करना पड़ता। अपनी सरकार की रचना करने के सम्बन्ध में उसे तुरन्त निर्णय करना पड़ता। अतएव असन्तोष की उत्पत्ति होती और सम्भवतः आपस में ही विरोध उठ खड़ा होता। परन्तु एक महीने का समय मिल जाने से उसने अपनी सरकार क़ायम करने के निश्चय को दृढ़ कर लिया और वह बाज़ी मार ले गया।

मज़दूर-दल के शासन-भार ग्रहण करने पर विलायत का राजनीति-क्षेत्र विक्षुब्ध सा हुआ था। परन्तु इससे क्या? मज़दूर तथा साम्यवादी नेता एवं उनके अनुयायी हम सबकी भाँति मनुष्य ही हैं, वे भी भूल कर सकते हैं। पार्लियामेंट के पुराने सुदृढ़ दलों की अपेक्षा उनकी परम्पराओं की संख्या अल्प है, अतएव उनके कार्यों में बाधा भी उसी तारतम्य के अनुसार कम पहुँचती है। साधारणतया उनके कार्य भी अधिक स्पष्ट होते हैं। अपने समाजों के श्रमजीवी लोगों की आर्थिक स्थिति सुधारना उनका मुख्य धेय है। वे अपना यह उद्देश या तो क्रान्ति-द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं या वर्तमान मार्गों से राजनैतिक शक्ति को अपने हाथ में कर लेने आदि जैसे विकासात्मक साधनों द्वारा। क्रान्ति की अपेक्षा इस पिछली प्रक्रिया की ओर ही प्रायः उनका ध्यान विशेषरूप से लगा रहा है।

मज़दूर-दल का सिद्धान्त-वाक्य 'अधिक लोगों की अधिक भलाई करना है'। अनुदारदल के संरक्षण-सिद्धान्त की श्रेष्ठतापूर्वक व्याख्या की जा सकती है। उदारदल अपने दल के उदार विचारों का पक्ष समर्थन निर्मल मन से कर सकता है। पर ये दोनों मज़दूर-दल के सिद्धान्त पर धूल नहीं उड़ा सकते। मज़दूर-नेता न तो अपने सङ्गठन की श्रेष्ठता का गर्व कर सकते हैं और न अधिक उच्च राजनैतिक

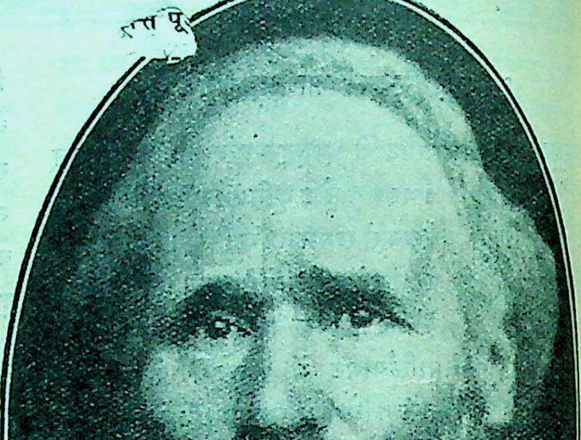

स्वर्गीय मिस्टर केरहार्डी।

शिक्षा प्राप्त करने का ही उनका दावा है। पार्लियामेंट के इन दलों में वास्तविक भेद राजनैतिक प्रणालियों की अपेक्षा उनके अन्तिम उद्देशों तथा विचारों में है और इन्हीं के आधार पर हमें उनकी स्थिति की आलोचना करनी चाहिए। यह सत्य है कि उदार-दल के अनेक लोगों को मज़दूर-दल की सरकार के विधानों का समर्थन तथा परस्पर सहयोग स्थापित करना सरल और साध्य प्रतीत होगा तो भी उसी प्रकार यह भी सत्य है कि मज़दूरों या साम्यवादियों का राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त जितना अधिक अनुदार-दलवालों के परम्परागत सिद्धान्त से मेल खाता है उतना उदार-दल के सिद्धान्त से नहीं।

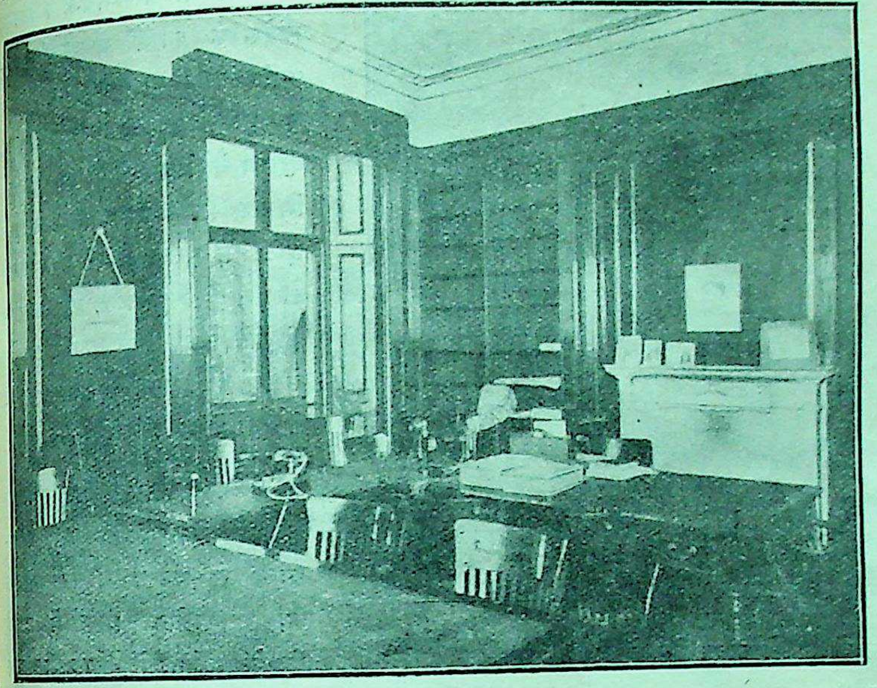

मज़दूर-दल के मन्त्री और कार्यकारिणी समिति का कार्यालय।

यह मान लेना भूल है कि मज़दूर-दल में एक मत है। राजनीतिज्ञों की यह धारणा है कि मज़दूर-दल में भी कई एक विचार-धाराओं का अस्तित्व है। मिस्टर राम्से मैक्डानल और क्लाइड-समूह के मज़दूर-नेताओं में मतैक्य होना कठिन है। इसी प्रकार व्यवसाय-सङ्घ के सभी सदस्यों में भी एक मत नहीं है। दूसरे लोग भी प्रकट या अनिश्चित-रूप से गरम विचार रखते हैं। मिस्टर फ़िलिप स्नोडन या मिस्टर ब्रेल्सफ़ोर्ड जैसे विद्वान् सदस्यों की स्थिति वेल्स के खानवालों के समान नहीं है। और न वेल्स के खानवालों की दशा यार्कशायर के खानवालों से ही मिलती-जुलती है। अतएव अन्त में यही बात समझ में आती है कि व्यावहारिक समझौता केवल सामान्य विधानों पर ही हो सकता है, जिनको अस्थायी रूप से सभी लोग स्वीकार कर सकते हैं।

मज़दूर-दल के कार्यालय का संगठन-विभाग।

इस परिस्थिति में मज़दूर-सरकार कोई साम्यवादात्मक विधान या शासन-सम्बन्धी कार्य एकाएक कर डालने का

साहस नहीं कर सकती। एक यह भी बात है कि पार्लियामेंट में उसका बहुमत नहीं है। मज़दूर-दल के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि पार्लियामेंट में विरोधी दल के रूप में एक तो उसे पूर्ण शिक्षा न मिल सकी और दूसरे उसका बहुमत न हो सका। ऐसी ही परिस्थिति में उसे शासन-भार ग्रहण करना पड़ा। परन्तु राजनीति जीवन के सदृश है। ऐसे अवसर आ उपस्थित होते हैं जब उनकी बहुत कम आशा रहती है। सभी जोखिमों और त्रुटियों को देखते हुए भी उनका उपयोग किया ही जाता है या मूर्खता से इस विश्वास पर उन्हें गँवा देना पड़ता है कि अधिक सुविधाजनक समय पर वे फिर आयँगे।

मज़दूर-दल के कार्यालय का प्रेस-विभाग।

मज़दूर-दल के कार्यालय का खोज-विभाग।

ऐसे ही अवसर का उपयोग मिस्टर राम्से मैक्डानल को करना पड़ा है। दूसरे दलों के विरुद्ध उनकी सरकार के लिए विवादास्पद विधानों की रचना करनी असम्भव है। अतएव स्वदेश के कार्यों में पुरानी परिपाटी के त्याग की बहुत कुछ सम्भावना है। परन्तु उसकी परीक्षा वैदेशिक नीति में होगी। मिस्टर राम्से मैक्डानल ने एक छोटी सी पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने मज़दूर-दल की सरकार की वैदेशिक नीति का दिग्दर्शन कराया है। उन्होंने अपनी पुस्तक में एक जगह लिखा है—

> अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का पालन मज़दूर-दल बड़ी सावधानी से करेगा। राजनैतिक और औद्योगिक मामलों में उसके ज़िम्मेदार नेताओं ने यह बात बार बार प्रकट कर दी है कि वे सन्धि को सन्धि मानते हैं। हमारे

ज़दूर-आन्दोलन की यह प्रवृत्ति कभी नहीं रही है कि हज़ारों मील लम्बे टेढ़ मेढ़े मार्ग को पार करने के लिए किसी सीधे मार्ग से निकला जाय। यदि ऐसा होता तो इस का उदाहरण उसके लिए पर्याप्त था।

योरपीय राजनीति के सम्बन्ध में मिस्टर राम्से मैक्डानल के विचार प्रायः अनुदार-दल जैसे ही हैं। वे कहते हैं—जब सारा संसार पूर्णरूप से अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित है तब कोई भी ज़िम्मेदार राजनीतिज्ञ इस देश को निशस्त्र होने का उपदेश कभी न देगा। जब तक संसार सशस्त्र है तब तक अँगरेज़ों की सामरिक नीति पूर्ववत् बनी रहेगी। यदि किसी एक शक्ति का प्राधान्य योरप में स्थापित हो जायगा तो हम अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकते। अतएव योरप में शक्ति-सामञ्जस्य की नीति ही हमारे लिए श्रेय है।

राष्ट्रीय मज़दूर-दल—मिस्टर आरथर हेंडर्सन का कार्यालय और उसके मन्त्री।

परन्तु मिस्टर राम्से मैक्डानल शक्ति-सामञ्जस्य की नीति के प्रेमी नहीं हैं। उन्हें आशा है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए कोई ऐसा साधन मिल जायगा जो इससे बिलकुल भिन्न होगा। परन्तु जब तक वर्तमान गड़बड़ दूर नहीं होती तब तक इस नीति को जारी रखना ही होगा। राष्ट्र-सङ्घ को वे अपने योरपीय सम्बन्धों का दृष्टि-बिन्दु समझते हैं और कहते हैं कि किसी के साथ विशेष सन्धियाँ न की जायँ। पर उनका यह भी मत है कि जब तक सभी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रों की श्रद्धा राष्ट्र-सङ्घ पर भले प्रकार स्थापित न हो जाय तब तक हमें उसके भक्तों के हाथ का खिलौना न बना रहना चाहिए।

मिस्टर राम्से मैक्डानल पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। उन्होंने अपने दल के नेता की हैसियत से अँगरेज़ी साम्राज्य का शासन-भार ग्रहण किया है। यदि वे अपने उग्रविचारवाले साथियों को रोक रखने में सफल हुए, यदि उन्होंने समझदारी से काम लिया, तो वे अपने कार्यों से अपने उदार और अनुदार साथियों को भी चकित कर देंगे। अन्यथा वे विफलमनोरथ होंगे और उनका दल भी नष्टभ्रष्ट हो जायगा। वे अपने शुभ अवसर का उपयोग भले प्रकार कर सकते हैं। रूस में बोल्शेवी

लोगों के कृत्य उनके उग्र साथियों की आँखें खोलने के लिए पर्याप्त हैं। इसी प्रकार इटली के फ़ैसिस्ट दल के क्रान्तिकारी कार्य भी उनके तथा वैसे ही विचार रखनेवाले उनके साथियों के लिए उपयोगी उदाहरण हैं। इनसे उनको पूर्ण शिक्षा मिल जाती है और वे अपनी कार्य-व्यवस्था निश्चित करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

२—राष्ट्र-सङ्घ और योरप की वर्तमान स्थिति।

त्तणिक सन्धि के बाद से अब तक योरप में पाँच नई सन्धियाँ हुई हैं। जर्मनी ने वर्सेलीज़ में, आस्ट्रिया ने सेंट जर्मन में, हङ्गरी ने ट्रिआनन में, बल्गेरिया ने न्यूली में और तुर्की ने लासेन में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये हैं। प्रायः इनमें किसी न किसी सन्धि का योरप के प्रत्येक राज्य पर प्रभाव पड़ता है। यद्यपि नार्वे, स्वीडन, स्पेन और हालेंड इस कथन के अपवाद हो सकते हैं तो भी इनका भी सम्बन्ध उनकी श्रमजीवी-सम्बन्धी शर्तों से हो ही जाता है। और इनमें भी कुछ या सभी उन सभाओं में आ फँसते हैं जिनकी रचना की चर्चा उनमें अन्तर्राष्ट्रीय नदियों, बन्दरगाहों के प्रबन्ध जैसे मामलों के सम्बन्ध में की गई है। उन सन्धियों से पुराने राज्यों का अङ्गच्छेद और नये राज्यों का निर्माण हुआ है। उनसे किसी किसी राज्य का क्षेत्र-फल बढ़ गया है और दूसरों का घट गया है। उन्होंने योरप के चार राष्ट्रों की सैन्य-संख्या भी परिमित कर दी है, करोड़ों की आबादी एक राज्य के हाथ से लेकर दूसरे राज्य को सौंप दी है। इस प्रकार उन्होंने पुराने योरप का रूप बदल कर उसे एक नया रूप प्रदान किया है। अतएव वे सन्धियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काग़ज़ हैं। लेखक, कूटनीतिज्ञ या राजनीतिज्ञ के रूप में जिन लोगों का योरप के राष्ट्रों से सम्बन्ध है उन्हें उन सन्धियों में एक या अधिक की प्रतिलिपियाँ अपने पास अवश्य रखना चाहिए। सीमा, हरजाना, नदी में नाव चलाना, युद्ध-सामग्री या व्यापारीय विधान-सम्बन्धी उनकी शर्तों से योरप के प्रत्येक दस अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों में नौ के उत्तर दिये जा सकते हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि जो उत्तर दिये जा सकते हैं वे भले प्रकार दिये जा सकते हैं। तो भी उन्हें इस बात का महत्त्व प्राप्त है कि वे योरप के सार्वजनिक क़ानून का आधार हैं। वे सन्धियाँ भङ्ग की जा सकती हैं। परन्तु आज जो थोड़ी बहुत व्यवस्था योरप में देख पड़ती है वह भी उनके साथ लुप्त हो जायगी। जो व्यक्ति इस मूल तथ्य को जानता है और इससे आवश्यक परिणाम निकालता है उसे यह बात कहने की ज़रूरत नहीं है कि वे सन्धियाँ निर्दोष हैं और उनकी रचना निर्भ्रान्त और दैवी शक्ति-सम्पन्न लोगों ने की है। निस्सन्देह प्रत्येक सन्धि भारी दोषों से युक्त है। यह बात जैसे वर्सेलीज़ की सन्धि के सम्बन्ध में सत्य है वैसे ही लासेन की सन्धि के सम्बन्ध में भी है। वर्सेलीज़ की सन्धि एक ऐसे शत्रु पर लादी गई थी जिसे अपना पक्ष तक समर्थन करने के लिए अनुमति नहीं दी गई थी और लासेन की सन्धि एक आत्मनिर्भर शत्रु के साथ की गई थी, जिसने यह जानकर कि अब हमारे शत्रु हमारे विरुद्ध अस्त्र ग्रहण नहीं कर सकते सन्धि की शर्तें निश्चित होने में हठधर्मी प्रकट की और प्रत्येक प्रकार की बाधायें डालीं।

सन्धियों का विरोध सारयुक्त है। उनके कुछ अंशों के विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है वह और भी अधिक सारयुक्त है। परन्तु वर्सेलीज़ की सन्धि को एक-दम बदल डालने की जो माँग उपस्थित की गई है उसका सन्धि की अव्यवहारिकता से बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। वह एक ऐसी बात का आन्दोलन है जो किसी प्रकार न्याययुक्त नहीं माना जा सकता। प्रोफ़ेसर गिल्बर्ट मरे जैसे क्रान्तिवादी व्यक्ति तक ने कहा है कि इस सन्धि की ४४० शर्तों में कम से कम ४०० शर्तें पूर्णरूप से उचित और विचारपूर्ण हैं। 'सन्धि की पुनरावृत्ति' नामक पुस्तक में मिस्टर मेनार्ड केनीज़ ने एक-मात्र हरजाने की शर्तों का ही खण्डन किया है। ऐसी दशा में उपर्युक्त माँग कितनी विचारणीय है, यह बात ध्यान देने योग्य है।

वस्तुतः सन्धि की हरजाने की शर्तें उसके दूसरे अंशों की अपेक्षा रद्दोबदल करने की कम आवश्यकता रखती हैं। क्योंकि उनकी रचना ही ऐसी है कि जर्मनी से पावने की रक़म में किसी भी प्रकार का परिवर्तन इच्छा करते ही किया जा सकता है। उसकी अदाई की तारीख़ें बदली जा सकती हैं, रक़म का परिमाण घटाया जा सकता है,

ी नहीं वह सबका सब रद तक किया जा सकता है। वास्तव में सन्धि में हरजाने की शर्तों का भाग अत्यन्त ही अधिक लचीला है। हाँ, हरजाने की शर्तों के नाम पर जो ार्य अब तक किये गये हैं उनका विरोध किया जा सकता है। परन्तु यह दूसरी बात है। इसके आधार पर सन्धि ुराइयों की जड़ नहीं कही जा सकती। भिन्न भिन्न सन्धियों की दूसरी शर्तों के सम्बन्ध में इतना भी नहीं कहा जा सकता। हंगरी-राज्य का शीघ्रता से किया गया बँटवारा, बल्गेरिया को समुद्र के किनारे तक न पहुँचने देना, पोलैंड की माँगों को न्यायानुकूल समझ बैठना एवं ऐसी ी अनेक दूसरी बातें भी न्यायतः अपवादरूप मानी ा सकती हैं। सीमा की अपेक्षा अन्य दूसरी बातों की शर्तों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

परन्तु यदि वर्तमान अन्यायों की अपेक्षा उनकी मात्रा वस्तुतः और भी अधिक होती तो भी यह समझ कर कि सन्धियों का फिर से संशोधन करने से योरप की कैसी परिस्थिति हो जायगी ऐसी माँग को रोक देना ही समुचित होता।

मान लो, योरप के सार्वजनिक क़ानून का मसविदा फिर से बनाया जाय, मान लो कि नीमेन दी के किनारे से डोवर के मुहाने तक बसनेवाले ाष्ट्रों की निर्धारित सीमाओं में फिर से रद्दोबदल िया गया, तो क्या यह मान लेने को भी कोई ारण बताया जा सकता है कि पाँच वर्ष पहले ी अपेक्षा अब सन् १९२४ की सन्धि-रचना के काम ें अधिक बुद्धिमानी, उदारता तथा दूरदर्शिता े काम लिया जायगा। निस्सन्देह कुछ भूलें इतनी ्ट हैं कि उनका सुधार करने में किसी प्रकार के विवाद ी सम्भावना नहीं है। पर १९१९ के अधिकांश समझौतों ें रद्दोबदल करने में ऐसी घोर शत्रुता के जाग्रत हो ाने की सम्भावना है जिससे योरप की शान्ति के ष्ट हो जाने का डर है। क्या मिस्टर बाल्डविन या िस्टर राम्से मैक्डानल या मिस्टर एस्क्वीथ को मोशियो ंकारे और सिग्नर मुसोलिनी के साथ समझौता ने में अधिक सरलता प्राप्त हो सकती है? क्या वे स समय की अपेक्षा जब लायड जार्ज, क्लीमेंसू और अरलैंडो पाँच महीने तक सन्धि रचने में लगे रहे थे अपने समय का उपयोग उनसे अधिक सफलता के साथ कर सकेंगे? सन्धियों का संशोधन करके योरप की दशा सुधारी जा सकती है। परन्तु इसके साथ इस संशोधन से उसकी दशा और भी अधिक ख़राब हो सकती है। अतएव ऐसे प्रयत्न में बड़ी भारी जोखिम है।

तब क्या हम योरप के उस सार्वजनिक क़ानून से, जो सन्धियों में लिपिबद्ध है, सन्तुष्ट होकर चुप हो जायँ? बात तो ऐसी ही है, क्योंकि उसमें फेरफार करने से और भी अधिक जोखिम की सम्भावना है। सन्धियाँ तब तक बदली नहीं जा सकतीं जब तक योरप उसके लिए तैयार नहीं है। उन्हें रज़ामन्दी के साथ बदलना होगा, समग्र योरप-व्यापी दूसरे महायुद्ध-द्वारा नहीं।

पेरिस की सन्धि-सभा में राष्ट्र-संघ के व्यवस्था-पत्र पर विचार।

जब वह समय आयगा तब उनके परिवर्तन के ढङ्ग के प्रश्न की कठिनाई नहीं उपस्थित होगी। उसके सभी साधन पहले से ही मौजूद हैं। जब प्रेसीडेंट विलसन सन्धि-सभा के अवसर पर पेरिस में मौजूद थे तब उन्होंने एक दिन बातचीत करते हुए कहा था कि आज सवेरे मैं क्रोटियन लोगों के एक प्रतिनिधि-दल से मिला। उसने अपने देश के टुकड़े को इटली के सिपुर्द करने का विरोध किया। मैंने उससे कहा कि मैं आपके मामले के सम्बन्ध में कुछ नहीं कर सकता। हाँ, राष्ट्र-सङ्घ अलबत्ता इस बात का ध्यान रक्खेगा कि इटली की

अधीनता में आप लोगों पर किसी प्रकार का अन्याय नहीं हो। जापान को शांटुंग अर्पण करते समय प्रेसीडेंट ने यही बात चीनवालों से भी कही थी।

राष्ट्र-सङ्घ के व्यवस्था-पत्र की १६ वीं शर्त का सम्बन्ध सन्धियों पर पुनर्विचार करने से है। पर वह तभी कार्यान्वित की जा सकती है जब संसार ऐसी स्थिति में आ जाय जो उसके अनुकूल हो। हमारी दृष्टि विस्तृत होनी चाहिए। हमें उसकी यह शर्त या वह शर्त न देखनी चाहिए, किन्तु समग्र व्यवस्था-पत्र को ग्रहण करना चाहिए और यह समझना चाहिए कि राष्ट्रसङ्घ का अस्तित्व है। उपर्युक्त पाँचों सन्धियाँ आज योरप का सार्वजनिक क़ानून बनी हुई हैं, यह कथन बिलकुल सत्य है। प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भिक भाग में इस व्यवस्थापत्र की प्रथम २६ शर्तें ज्यों की त्यों उद्धृत हैं। प्रेसीडेंट विलसन का यह विश्वास था कि ऐसा करने से एक के साथ दूसरा अंश भी सङ्घ की सीनेट-सभा में उपस्थित हो सकेगा। परन्तु जब तक युद्ध के पहले के समझौते बिलकुल नष्ट नहीं हो जाते तब तक योरप का सार्वजनिक क़ानून राष्ट्र-सङ्घ के सिद्धान्तों पर ही निर्भर करेगा।

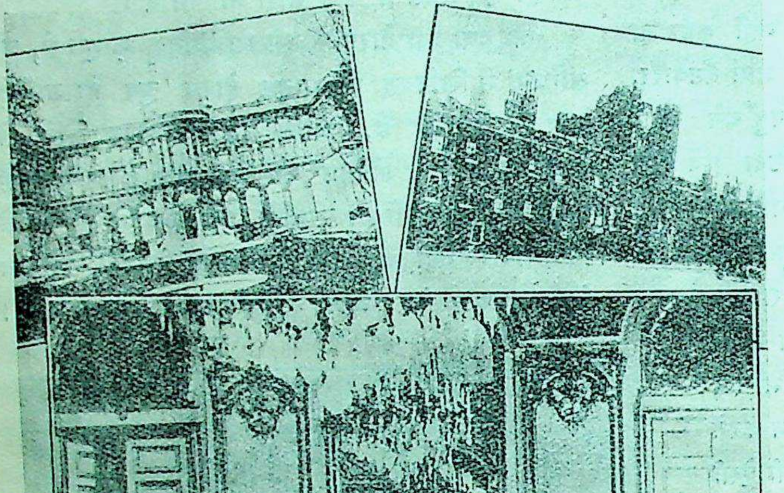

भिन्न भिन्न स्थानों के राष्ट्र-संघ के अधिवेशन-भवन।

राष्ट्रसङ्घ के व्यवस्थापत्र की शर्तों में योरप की जीवन-प्रणाली का विधान निर्दिष्ट किया गया है। वह कोरा विधान-मात्र ही नहीं है, उस व्यवस्था-पत्र पर जिन राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किये हैं उन्होंने उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया है। उपर्युक्त पाँचों सन्धियों की १० वीं से लेकर १ वीं शर्त तक के अनुसार उन पर हस्ताक्षर करनेवाले राष्ट्र अपने झगड़े किसी न किसी रूप में पञ्चायत में उपस्थित करने को बाध्य हैं और उसके निर्णय के तीन महीने बाद तक उन्हें युद्ध जैसे अनर्थकारी कार्यों से विरत रहना पड़ेगा। ये शर्तें उसी प्रकार स्पष्ट और निश्चित हैं जिस प्रकार वे शर्तें जिनके अनुसार जर्मनी से फ़्रांस को अल्सेस लोरेन दिलाया गया है या पोलेंड को स्वाधीनता प्रदान की गई है या रूमानियाँ का राज्य दूना कर दिया गया है या पराजित राज्यों पर हर्जाने की रक़में नियत की गई हैं। इटली के जटिल मामले के सम्बन्ध में राष्ट्र-सङ्घ की बैठक के अवसर पर लार्ड राबर्ट सेसिल ने बड़ी ही गम्भीर बात कही थी।

उन्होंने कहा था कि इस सभा में वर्सेलीज़ के सन्धि-पत्र की १० वीं, १२ वीं और १५ वीं शर्तें पढ़ी जायँ, क्योंकि ये शर्तें पाँचों सन्धियों में सन्निविष्ट हैं। उन्होंने कहा था कि यदि इन सन्धियों की उपेक्षा की जायगी तो नये योरप के सारे प्रबन्ध की ही जड़ हिल जायगी।

अपने जीवन के इन पहले चार वर्षों में राष्ट्र-सङ्घ को सफलता और असफलता दोनों प्राप्त हुई हैं और इन दोनों में वह सफल अधिक मात्रा में हुआ है। यह बात उसके प्रयत्नों का निरीक्षण कर निस्सङ्कोच कही जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह बात विचार करने की नहीं है कि राष्ट्रसङ्घ ने आस्ट्रिया, ऊपरी सिलीशिया, आर्मेनिया, विलना या ऐसी ही छोटी बड़ी अन्य सैकड़ों बातों के सम्बन्ध में क्या काम किया है। ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि विजयी राष्ट्रों को, जिन्होंने सन् १९१९ में पेरिस में सन्धि-पत्र लिखवा लिया, योरप से ही नहीं किन्तु संसार के सार्वजनिक क़ानून के आगे राष्ट्रसङ्घ के व्यवस्थापत्र को रखना चाहिए। सभी ने उस पर हस्ताक्षर कर इस बात की प्रतिज्ञा की है कि हम उसकी सभी शर्तों को स्वीकार करते हैं और तदनुसार हम आपस में व्यवहार करेंगे और अपनी प्रतिज्ञाओं को कार्यान्वित करने के लिए नियत अवसर पर सभा में एकत्र होंगे। वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कार्य भी कर रहे हैं।

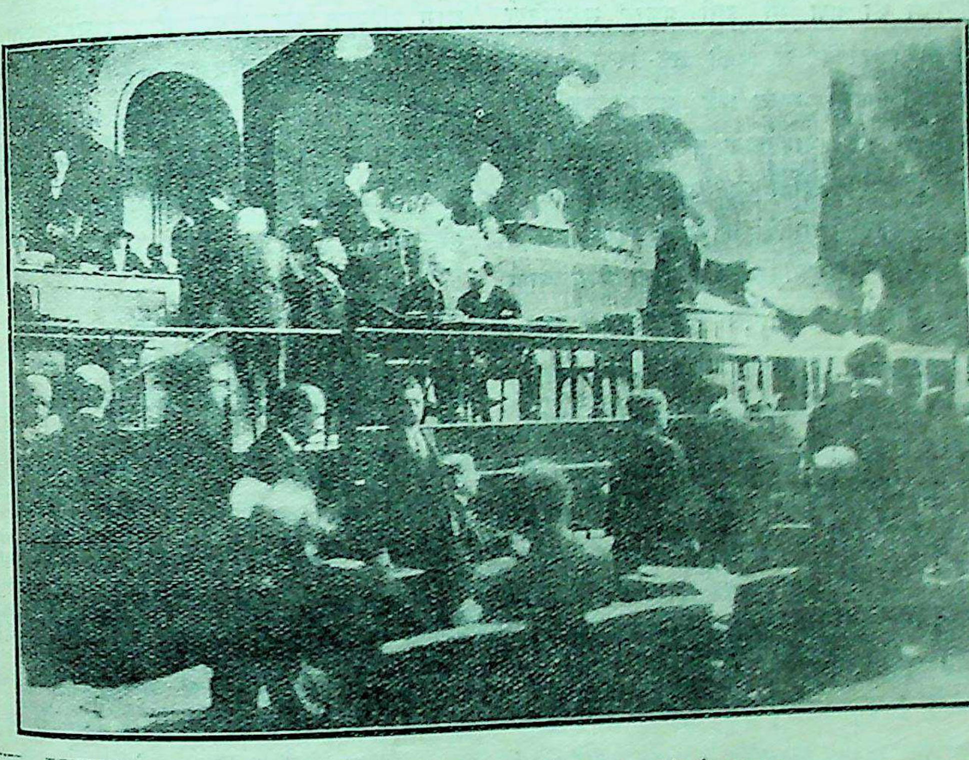

लार्ड राबर्ट सेसिल की अध्यक्षता में राष्ट्र-संघ की पंचायत।

राष्ट्रसङ्घ की उपयोगिता के सम्बन्ध में एक बार बालकन-राज्यों की ही ओर दृष्टि डालिए। महायुद्ध का सूत्र-पात वहीं हुआ था। इस समय भी दूसरी जगह की अपेक्षा वहीं युद्ध की चिनगारी सुलगती हुई सी जान पड़ती है, जिसके ज़रा से भभक उठने पर सारे योरप में युद्ध की आग लग जा सकती है। परन्तु ऐसी घटना नहीं हुई है। तुर्क-यूनान-युद्ध को अपवाद मान कर जब हम विचार करते हैं तब यही देख पड़ता है कि युद्ध की पुनरावृत्ति की सम्भावना सन् १९१८ में ही जाती रही थी, यहाँ तक कि उस प्रसिद्ध प्रायद्वीप में ऐसे भी स्थानिक युद्ध नहीं हुए जिनकी गिनती युद्धों में की जासके। इसका श्रेय राष्ट्र-सङ्घ को ही है, जिसका सदस्य बालकन

का प्रत्येक राज्य है। इन राज्यों ने उसके व्यवस्थापत्र को स्वीकार कर लिया है और ये सब आदर के साथ उसका पालन कर रहे हैं। उसने इटली और जुगोस्लेविया के हाथों से अल्बेनिया की रक्षा की है। विद्रोही गिरोहों-सम्बन्धी झगड़े को राष्ट्र-सङ्घ के सामने उपस्थित करने से जुगोस्लेविया और बल्गेरिया में युद्ध नहीं ठन सका। यूनान के भगोड़ों का प्रश्न वही हल कर रहा है, क्योंकि यूनान बल्गेरिया से अपना सीमा-सम्बन्धी झगड़ा आपस में नहीं निपटा सका। अल्पसंख्यक जातियों के स्वत्वों की रक्षा का प्रश्न भी उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है। किसी किसी राज्य में उनकी जन-संख्या ३० से ४० प्रति शतक है। उनके स्वत्व उन्हें दिलाने तथा उन्हें विद्रोह न करने देने का भार अब तक राष्ट्रसङ्घ ने ही वहन किया है। उनके विद्रोह करने पर उनके सजातीय शक्तिशाली राष्ट्र अपने सजातीयों का पक्ष ग्रहण करने से कैसे विरत रह सकते हैं? ऐसी स्थिति में समग्र योरपव्यापी युद्ध अनिवार्य हो जाता। परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

यदि कभी आवश्यकता होगी तो उपर्युक्त निश्चित सन्धियों का अर्थ राष्ट्रसङ्घ के सिद्धान्तों के आधार पर फिर किया जा सकता है। सन्धियों और सङ्घ में कभी विरोध नहीं हो सकता। या तो दोनों जीवित रहेंगे या दोनों मर जायँगे, पर जो कुछ होगा, साथ ही साथ। सन्धियों की अपेक्षा राष्ट्रसङ्घ की मर्यादा बढ़ी-चढ़ी है। सन्धियों में विशेष विशेष शर्तें-मात्र हैं, पर उसके व्यवस्था-पत्र में राष्ट्रों का जीवन-क्रम निर्दिष्ट किया गया है। उसके द्वारा योरप अनिश्चित भविष्य के लिए अपना मार्ग परिष्कृत कर सकता है। राष्ट्रों ने जो प्रतिज्ञा की है उसके अनुसार व्यवहार करने की ओर वे धीरे धीरे अपने मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। यदि वे अपनी प्रतिज्ञा को भङ्ग करेंगे, यदि वे सङ्घ को परित्याग कर देंगे, उसे अपने उद्देश में असफल होने देंगे, तो शान्ति दुराशा-मात्र ही समझना होगा।

———

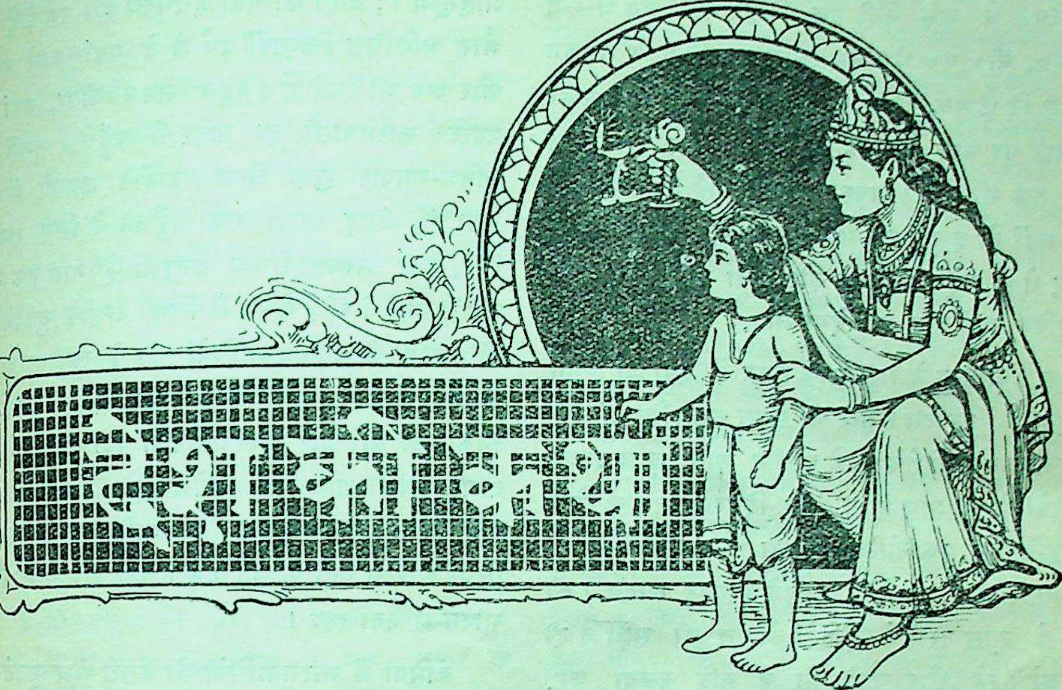

१—क़ैदियों का सौभाग्योदय।

सभ्य देशों में अपराधियों को जो दण्ड दिया जाता है उसका उद्देश चरित्र-सुधार होता है। चोर को यदि ६ महीने का जेल हुआ तो जेल के अधिकारियों का कर्तव्य है कि उन ६ महीनों में उसे इतना सुधार दें कि फिर कभी वह चोरी न करे। जितने दण्ड दिये जाते हैं सबका हेतु यही होता है और यही होना भी चाहिए। परन्तु भाग्यहीन भारत के जेल इस सम्बन्ध में अपवाद हैं। वहाँ जो क़ैदी रहते हैं उनके चरित्र सुधरने के बदले बहुधा और भी बिगड़ जाते हैं। न उनके लिए धर्मोपदेश की योजना, न उनके साथ दया और औदार्य्य के व्यवहार का प्रबन्ध। इस विषय पर जानकार जनों ने जो कुछ लिखा और वक्तृताओं में जो कुछ कहा है उससे जान पड़ता है कि वहाँ क़ैदी पशुओं से भी हीन समझे जाते हैं। उन्हें नाना प्रकार की शारीरिक यन्त्रणायें भोगनी पड़ती हैं, मिट्टी-कङ्कड़ मिला हुआ भोजन पचाना पड़ता है, पशुओं के योग्य वनस्पतियों की उबली हुई तरकारी खानी पड़ती है, उनकी मानसिक उन्नति के लिए तो रत्ती भर भी चेष्टा नहीं की जाती। जेलों में क़ैदी बहुधा अनेक प्रकार के घृणित विकारों और विचारों के शिकार हो जाते हैं। मतलब यह कि वहाँ रहने से उनका चरित्र और भी बिगड़ जाता है, सुधरता नहीं।

कुछ समय हुआ, जानकारों की एक कमिटी गवर्नमेंट ने बना दी थी। उसने जेलों का निरीक्षण करके अपनी रिपोर्ट में अनेक त्रुटियों का उल्लेख किया, जिनमें से, सुनते हैं, कुछ का दूरीकरण अथवा संशोधन भी सरकार ने कर दिया है। एक दण्ड यहाँ जो क़ैदियों को दिया जाता है वह बड़ा ही भीषण और सन्तापजनक है। उसे यद्यपि कितने ही सभ्य देशों ने उठा दिया है तथापि यहाँ वह अब तक जारी है—विशेष करके जेलों में। वह है बेत की सज़ा। इस पैशाचिक दण्ड के कारण क़ैदियों के मन और शरीर, दोनों पर, बड़ा ही घातक प्रभाव पड़ता है। परन्तु दयावती सरकार इसे बन्द नहीं करना चाहती।

अख़बार देखनेवालों ने पढ़ा होगा कि बङ्गाल के कुछ सुशिक्षित क़ैदियों पर भी, वहाँ के कुछ जेलों के अधिका-

रियों ने, बेतों के प्रहार करके उनका चरित्र सुधारा था। शायद उनमें से कुछ क़ैदी उच्च शिक्षा पाये हुए थे—वे एम० ए०, बी० ए० थे। इस कारण क़ैदियों ने अनशन भी, कुछ दिनों तक, किया था। इस दण्ड की बात बाहर सुनी जाने पर बड़ा कोलाहल मचा था और सरकार के दरबार तक भी उसकी ख़बर पहुँचाई गई थी। यदि हम भूलते नहीं तो इस विषय में कौंसिलों में प्रश्न और प्रस्ताव भी हुए थे और इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि यह अमानुषिक दण्ड बन्द कर दिया जाय।

इस हाय हाय ने सरकार के हृदय में दया का सञ्चार कर दिया है। पर उस सञ्चार की सीमा सङ्कुचित ही है। उसका फल-भोग विशेष करके स्पेशल क्लास (ख़ास दरजे) के क़ैदियों को ही प्राप्त होगा। २६ दिसम्बर २३ के गैज़ट आव् इंडिया में एक नोटिस निकला है। उसमें लिखा है कि बिना लोकल गवर्नमेंट (सूबे के लाट साहब) की आज्ञा के ख़ास दरजे के क़ैदियों को बेत की सज़ा न दी जाया करे। रहे और क़ैदी सो वे यदि बलवा करें, या जेल के नियमों को बुरी तरह तोड़ें, या जेल के अधिकारियों या निरीक्षकों पर हमला करें तभी उन पर बेत पड़ें। इन अपराधों को करने के लिए किसी को उभाड़ने या और सज़ायें निष्फल जाने पर भी यह दण्ड दिया जाय। इसकी रिपोर्ट जेलों के इन्स्पेक्टर जनरल को भेजनी पड़ेगी।

इससे सिद्ध है कि ख़ास दरजे के क़ैदियों पर सरकार ने विशेष दया दिखाई है, साधारण क़ैदियों पर साधारण ही। ख़ैर, इतनी भी रियायत ग़नीमत है। परन्तु जैसे और प्रकार के दण्ड गुपचुप दिये जाते हैं वैसे ही यदि बेत का दण्ड भी दिया जाय और उसकी रिपोर्ट न की जाय तो? तो क़ैदियों का दुर्भाग्य!

२—प्रवासी भारतीयों की करुण कथा।

अफ़रीका के पूर्वी समुद्र-तट से मिला हुआ एक छोटा सा देश या प्रान्त है। वह पहले ब्रिटिश ईस्ट अफ़रीक़ा, अर्थात् अँगरेज़ों का पूर्वी-अफ़रीक़ा-प्रान्त, कहाता था। अब यह केनिया नामक उपनिवेश कहाता है। नैरोबी उसका प्रधान नगर है। वह अफ़रीक़ा ही के निवासी हबशियों का देश है; उन्हीं की वह जन्मभूमि या मातृभूमि है; उन्हीं का वहाँ आधिक्य है। पर वे हैं असभ्य और अशिक्षित। हज़ारों वर्ष से वे वहाँ रहते आये हैं, और अब भी रहते हैं। बहुत समय बीता, वहाँ पहले पहल भारतवासी ही बाहर से पहुँचे। उन्हीं ने वहाँ बनिज-व्यापार शुरू किया। उन्होंने जङ्गलों में बस्तियाँ बसा दीं, बीहड़ जगहों तक पहुँचने के लिए रास्ते बना दिये; जहाँ सभ्यता-सूचक वस्तुओं के नाम तक न सुने गये थे वहाँ वे चीज़ें बेचने के लिए उन्होंने दुकानें खोल दीं। वहाँ के काले हबशियों को वे ख़ूब भाये; उनसे उनकी ख़ूब पटी; कभी परस्पर लड़ाई-झगड़े नहीं हुए। उनकी वहाँ धीरे धीरे ख़ूब प्रतिपत्ति बढ़ी। सैकड़ों भारतवासी, अपने उद्योग और परिश्रम से, अमीर हो गये। इन भारतवासियों ने उस देश कोही अपना देश समझ लिया और वे वहीं के हो गये। पर अनेकों का सम्बन्ध भारत से बना रहा।

केनिया में भारतवासियों को बसते और फूलते-फलते देख योरप के गौरकाय मनुष्य भी वहाँ पहुँचे। धीरे धीरे वहाँ उनकी भी संख्या बढ़ने लगी। उनके साथ ही उनके पादड़ी साहब और बाइबिल नामक धर्मग्रन्थ की कापियाँ भी पहुँची। बन्दूकें, मैशीनगनें और तोपें भी पहुँचीं। भारतवासियों ही की सहायता से वहाँ रेलें बनने लगीं। शेरों, रीछों, भेड़ियों ने यद्यपि अनन्त भारतवासियों को यमराज का अतिथि बना दिया, तथापि सभ्यता-प्रचार का काम उन्होंने जारी ही रक्खा। बड़े बड़े नगर बस गये। जगह जगह योरपवालों की कोठियाँ खुल गईं। इन गोरे आगन्तुकों ने बड़े पैराये में खेती भी करना शुरू किया।

कुछ समय के बाद केनियाप्रान्त अँगरेज़ों का उपनिवेश बन गया और वहाँ एक गवर्नर रहने लगा। केनिया के हबशी और वहाँ बसे हुए भारतवासी सभी उसकी अधीनता में आ गये।

मितव्यय और सुप्रबन्ध के कारण व्यापार और दुकानदारी में भारतवासियों से गोरे हार खाने लगे। तब उनके नियन्त्रण की योजनायें निकाली जाने लगीं। कहा गया, इन लोगों की चाल-ढाल और रीति-रवाज

अच्छे नहीं। ये साफ़-सुथरे नहीं रहते । ये शोरोगुल बहुत मचाते और लड़ाई-झगड़े किया करते हैं । इससे ये अलग रहा करें, हम अलग । ये अपनी दुकानें भी हमारी दुकानों के पास न लगाया या खोला करें। इन नियन्त्रणों ने यद्यपि पूर्ण व्यापकता नहीं पाई, तथापि कहीं कहीं इनके अनुसार कारवाई ज़रूर होने लगी । यहाँ तक कि इस विषय के क़ानून तक बन गये—ऊँची ऊँची अच्छी जगहों में गोरे रहें; नीची और ख़राब जगहों में गैरेतर ।

भारतीयों ने बहुत हो-हल्ला मचाया, पर उनकी चली नहीं। शासन-सूत्र जिनके हाथ में था वे मनमानी करते ही गये। पर इतने ही से उन्हें सन्तोष न हुआ । उन्होंने देखा कि संख्या में भारतवासी हमसे कई गुना अधिक हैं; व्यापार-व्यवसाय चलाने में भी वे हमसे अधिक योग्यता रखते हैं। यदि वे इसी तरह बढ़ते गये और शासनाधिकार में भी दख़ल देने लगे तो हमारी ख़ैर नहीं । यह सोच कर गौरकाय निवासियों ने नाना प्रकार के प्रतिबन्ध करके भारतवासियों का आवागमन कम करने और बसे हुओं को फिर भारत लौटा देने की योजनायें कर दीं। इससे उन्हें कुछ थोड़ी सी कामयाबी तो हुई, पर उससे उन्हें यथेष्ट सन्तोष न हुआ । अतएव वे काँटे की तरह खटकनेवाले भारतीयों की जड़ ही धीरे धीरे काट देने का अब उपक्रम कर रहे हैं ।

भारतीय कहते हैं कि अरे भाई, हम यहाँ तुमसे सैकड़ों साल पहले आकर बसे थे । हमारा भी कुछ स्वत्व यहाँ है । हमें अपनी जन-संख्या के अनुमान से शासन में अधिकार मिलना चाहिए । तुम तो अभी कल आये हो । गोरे कहते हैं, नहीं, तुम्हें उतना अधिकार नहीं मिल सकता । शासन-सभा में हमारे ही प्रतिनिधियों की संख्या अधिक रहेगी । हाँ सलाह-मशविरे के लिए चार पाँच भारतवासी भी रख लिये जायँगे, अधिक नहीं । भारतवासी यदि पूछते हैं कि क्यों ? तुम्हारा आधिक्य क्यों होना चाहिए ? जवाब मिलता है कि हमीं तो यहाँ के आदिम निवासी हबशियों के संरक्षक हैं । उनकी हितचिन्तना करने का अधिकार हमीं को है । तुम कौन होते हो ? शासन में यदि तुम दख़ल देने लगोगे तो अफ़रीक़ावालों का सत्यानाश कर डालोगे । हम उनको पालेंगे, पोसेंगे, शिक्षा देंगे और राज्य-कार्य्य में पटु करके उनका देश उन्हीं को देकर अपने घर चले जायँगे । तुमसे यह बात थोड़े ही हो सकेगी । भारतवासी हज़ारों दलीलें इसके ख़िलाफ़ पेश करते हैं, पर उनकी नहीं सुनी जाती । अफ़रीक़ावाले ख़ुद भी कहते हैं कि भारतवासी हमारे मित्र और हमारे हितचिन्तक हैं । हम चाहते हैं कि उनके लिए सब तरह के सुभीते कर दिये जायँ; हमारी उनकी, तुम्हारी अपेक्षा, अधिक पटती है । परन्तु, उनका भी हो-हल्ला हवा में उड़ा दिया जाता है । यदि उनका कोई प्रतिनिधि कुछ अधिक तङ्ग करता है तो वह उस देश ही से निकाल बाहर किया जाता है ।

उस दिन डाकृर सप्रू ने, विलायत की एक राजकीय सभा में, अपनी वक्तृत्वशक्ति का परिचय देते हुए, केनिया के हिन्दुस्तानियों की तरफ़ से बहुत वकालत की । आपने कहा, केनिया के भारतवासी उसी राजा की प्रजा हैं जिसकी प्रजा केनिया के गोरे हैं । उन्हें बराबर बराबर अधिकार मिलने चाहिए । उपनिवेशों के मन्त्री ने फ़रमाया—केनिया का मामला तै हो चुका । अब उसमें रद्दोबदल नहीं हो सकता । हाँ भारतवर्ष से यदि डाकृर सप्रू की निर्दिष्ट कमिटी केनिया जायगी तो उसकी सूचनाओं पर ध्यान अवश्य दिया जायगा ।

सो डाकृर साहब की सूचना के अनुसार कमिटी बनकर केनिया के भारतीयों के विषय में सूचनायें आगे पीछे करती रहेगी । केनिया के गवर्नर और उपनिवेशों के मन्त्री उसकी ताक में बैठे रहनेवाले नहीं । गवर्नर साहब ने विदेशियों के आवागमन का और भी कड़ा नियन्त्रण करने के लिए एक क़ानून का मसविदा प्रकाशित भी कर दिया और वह यहाँ के गैज़ट आव् इंडिया में छप भी गया । उस पर भारत के बड़े लाट, लार्ड रीडिङ्ग, क्या राय देंगे सो तो वही जानें । लक्षणों से तो यही प्रकट होता है कि यह क़ानून बाक़ायदा बन जायगा और केनिया के भारतवासियों की एक न सुनी जायगी । जिस दशा में वहाँ उन्हें गोरे रक्खें उस दशा में उन्हें रहना हो तो रहें । नहीं तो अपना बोरिया-बँधना बाँध कर जहाँ चाहें चले जायँ । जिस जाति के मनुष्यों को अपने ही देश में

समान अधिकार नहीं उसका वैसे अधिकार अफ़रीक़ा में माँगना अपने को उपहासास्पद बनाने के सिवा और कुछ नहीं। निर्बलों को अधिकार माँगने का क्या हक़?

सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को दीपहि देत बुझाय॥

सहदेवसिंह वर्म्मा

३—मर्दुमशुमारी से ज्ञात हुई कुछ हृदय-विदारक बातें।

अभी कुछ महीने पहले बम्बई के जो गवर्नर इस देश में गवर्नरी करके अपने घर विलायत गये हैं उन्होंने जाते जाते एक बड़ी ज़बरदस्त वक्तृता की थी। उसमें आपने यह कहने का साहस किया था कि इस देश का वैभव बढ़ गया है और बढ़ता जाता है, क्योंकि यहाँ ज़मीन पहले से बहुत अधिक बोई जाती है और ख़ूब ग़ल्ला पैदा होता है। मतलब यह कि ग़ल्ले का अधिक पैदा होना अथवा काश्तकारी का बढ़ना धन-सम्पत्ति की वृद्धि का प्रमाण है। आपके इस कथन का खण्डन लगे हाथ कितने ही भारतीय पत्रों और लेखकों ने कर दिया। अनाज का अधिक पैदा होना ही किसी देश की उन्नतावस्था का प्रमाण नहीं। यदि महँगी की मात्रा बढ़ जाय—सभी चीज़ें महँगी बिकने लगें—मज़दूरी का निर्ख़ दूना-तिगुना हो जाय और दोही तीन साल के भीतर करों में चालीस पचास करोड़ रुपये की वृद्धि हो जाय तो अनाज की बढ़ी हुई उपज कहाँ तक सम्पत्ति-वृद्धि का कारण हो सकेगी, यह साधारण समझ का आदमी भी अच्छी तरह जान सकता है।

पौष्टिक भोजन मिलने से ही मनुष्य की शक्ति बढ़ सकती है। बढ़ती नहीं तो पेट भर खाने को मिलने से घटती तो नहीं। और शरीर में शक्ति होने ही से बीमारी का डर कम रहता है। शक्तिमान् मनुष्य यदि बीमार भी हो जाता है तो जल्द अच्छा हो जाता है। ऐसे आदमी बहुत कम मरते हैं। परन्तु १९२१ ईसवी की, पिछली, मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट से यह सूचित होता है कि भारतवासियों में जीवनी शक्ति बहुत ही कम है। वे इतने अशक्त हैं कि किसी गहरी बीमारी का धक्का बहुत ही कम सह सकते हैं।

१९१८-१९ के इनफ़्लुएंज़ा की याद कीजिए। उसका दौरा सिर्फ़ तीन ही चार महीने रहा था। परन्तु इतने ही थोड़े समय में उसने कोई १ करोड़ ३० लाख आदमी मार गिराये। इसका मतलब आप समझे? मतलब यह हुआ कि ३२ करोड़ भारतवासियों का १/२५ अंश तीन ही चार महीने में यमालय पहुँच गया! अर्थात् १८९८ से १९१८ ईसवी के बीच, २० वर्षों में, प्लेग से जितने आदमी मरे थे उससे भी कोई २० लाख अधिक आदमियों का कलेवा इनफ़्लुयंज़ा ने कर डाला। और लीजिए। १८९७ से १९०१ ईसवी के बीच जितनी मौतें दुर्भिक्ष के कारण हुई थीं उनसे दूनी मौतें इनफ़्लुयंज़ा के पल्ले पड़ गईं! भारत की जीवनी शक्ति और धन-वैभव-वृद्धि के और प्रमाण लीजिएगा? क्या और देशों में इनफ़्लुयंज़ा का दौरा नहीं हुआ? बहुतों में हुआ। पर क्या और भी किसी देश में उसने करोड़ों आदमियों पर हाथ साफ़ किया? मनुष्यों ही से देश आबाद है। मनुष्यों ही की बदौलत अरबों रुपया कर के रूप में आता है; जिससे बड़ी बड़ी फ़ौजें रक्खी जाती हैं, बिकट पहाड़ी प्रान्तों में रेलें बिछाई जाती हैं, मसऊदों और वजीरियों को शान्त रहने के सबक़ सिखाये जाते हैं। परन्तु उन्हीं मनुष्यों—उन्हीं देहातियों—की शिक्षा का काफ़ी प्रबन्ध करने, उनके लिए दवा-पानी और डाक्टर हकीम सुलभ कर देने और उनके सुख-चैन के सामान प्रस्तुत कर देने के लिए काफ़ी रुपया नहीं मिलता। इनफ़्लुयंज़ा से जितने आदमी बीमार हुए थे उनमें से फ़ी सदी १० मर गये। यदि यह हिसाब ठीक समझा जाय तो कहना चाहिए कि ३२ करोड़ भारतवासियों में से कोई १२½ करोड़ आदमी इस रोग से ग्रस्त हुए थे! भारतवासियों की शक्तिमत्ता का क्या कहना है।

सख़्त बीमारी भोगने पर भी जो लोग बच जाते हैं वे वर्षों तक अपनी पूर्व स्थिति को नहीं पहुँचते—कमज़ोर बने ही रहते हैं। अतएव वे अपना काम-काज भी तब तक ठीक ठीक नहीं कर सकते। इस कारण इनफ़्लुयंज़ा से बचे हुए मरीज़ों को कितनी हानि उठानी पड़ी होगी और गवर्नर साहब की बतलाई हुई वृद्धिगत कृषि की निगरानी में कितनी बाधा आई होगी, इसका अनुमान सहज ही किया

जा सकता। यह तो हुई अनुमान की बात। अब एक प्रमाण की भी बात सुन लीजिए—

साल में जितने आदमी मरते हैं उससे अधिक पैदा होते हैं। यह साधारण नियम है। इसी से हर दसवें साल मर्दुमशुमारी करने पर प्रायः सभी देशों की आबादी बढ़ी हुई पाई जाती है। परन्तु अत्यन्त कमज़ोर या रुग्ण मनुष्य प्रजोत्पादन नहीं कर सकते। इसी से इनफ़्लुयंज़ा के दौरे के सालों में—१९१८-१९ में—यहाँ जन्म-संख्या यहाँ तक घट गई कि मृत्युओं की संख्या उससे अधिक हो गई। इतना ही नहीं, इसका असर १९२० पर भी पड़ा। उस साल भी बच्चे बहुत कम पैदा हुए—इतने कम कि मृतों की संख्या से उनकी संख्या यों ही कुछ अधिक निकली। यदि इनफ़्लुयंज़ा का दौरा न होता तो १९२१ की मर्दुमशुमारी के समय आबादी और भी बढ़ी हुई मिलती।

पिछले ४९ वर्षों में इस देश की मनुष्य-संख्या में ५ करोड़ ४० लाख की वृद्धि हुई है। इसका औसत १० लाख साल की अपेक्षा कुछ ही अधिक हुआ। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि हर साल फ़ी सदी १/२ से भी कम की वृद्धि हुई। यदि इसी गति से आबादी बढ़ी तो भारत की मनुष्य-संख्या दूनी होने में कोई २०० वर्ष लग जायँगे। जो देश की दशा न सुधरी—जो यहाँ के निवासियों की सुख-समृद्धि के यथेष्ट उपाय न किये गये—तो अगली मर्दुमशुमारी का नतीजा इससे भी बुरा होगा। भगवान्, भारत को बचाइए।

४-ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबिल का बहुल प्रचार।

हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की आख्या धर्म्मप्राण है। धर्म्म ही उनके प्राण हैं। धर्म्म के अभाव में वे अपने को निष्प्राण समझते हैं। बात बात में वे धर्म्म की दुहाई देते हैं। खाने में धर्म्म, पीने में धर्म्म, बैठने-उठने में धर्म्म, सोने-जागने में धर्म्म—उनके हर काम में धर्म्म-महाराज अपनी सत्ता चलाते हैं। धर्म्म ही के लिए वे जीते और धर्म्महीके कारण वे मरना तक ख़ुशी ख़ुशी क़बूल कर लेते हैं। कुछ भी क्यों न हो, कर्म्मठ हिन्दू धर्म के लिए सब कुछ सहने और सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। उनका धर्म्म मौखिक नहीं। अधिकांश हिन्दू धार्मिक नियमों पर अमल भी करते हैं।

पर ईसाई-धर्म्म के अनुयायियों को देखिए। उनमें से अधिकांश का धर्म्म केवल मौखिक है। मुँह से तो वे अपने धर्म्म और अपने धर्म्मप्रवर्त्तक की स्तुति और प्रशंसा करते हैं। गिरजाघर जाकर धर्म्मोपदेश सुनते हैं। बग़ल में या पाकेट में बाइबिल की पुस्तक लिये घूमते हैं। पर अपने धार्मिक नियमों का परिपालन बहुत ही कम ईसाई करते हैं। ईसाइयों से हमारा मतलब, यहाँ पर, योरप के ईसाइयों से है। नम्र और उदार होना, मनुष्य-मात्र पर दया करना, सबको अपना भाई समझना, दूसरों पर अत्याचार करने का कभी स्वप्न तक न देखना—ये उनके धर्म्म के सिद्धान्त हैं। परन्तु इन नियमों के पालन करनेवाले ईसाई दुनिया में बहुत ही थोड़े होंगे। अधिकतर ईसाई उन लोगों पर घोर से भी घोर अत्याचार करते हैं जो उनके धर्म्म के अनुयायी नहीं। एशिया और अफ़रीक़ा में सैकड़ों वर्ष से जो उत्पीडन हो रहा है उसके अधिकांश कारण यही हैं। योरप के पिछले महायुद्ध में ख़ून की जो नदियाँ बही थीं उनके बहानेवाले यही थे। बात यह कि अपने धर्म्म को सर्वश्रेष्ठ समझ कर भी ये लोग बहुधा उसके सिद्धान्तों पर नहीं चलते। अर्थात् इनकी धार्म्मिकता की घोषणा इनकी वचन-विदग्धता-मात्र है। तथापि ये लोग अपने धर्म्म के प्रचार के लिए करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाया करते हैं। ये अपना धर्म्म-प्रचार अपनी धर्म्मपुस्तक, बाइबिल, के व्यापक वितरण से भी करते हैं और अन्यान्य उपायों से भी करते हैं।

यह तो हुई उन ईसाइयों की बात जिनके धार्म्मिक सिद्धान्त प्रायः मौखिक हैं। अब हमारे उन धर्म्मप्राण हिन्दुओं को देखिए जो बात बात पर धर्म्म की दुहाई देते हैं। वे अपने धर्म्म के प्रचार-कार्य्य से सोलहों आने विमुख हो रहे हैं। अपने वेद, पुराण, गीता और उपनिषदों के अनुवाद सैकड़ों भाषाओं में कराना तो दूर रहा, अपने ही देश की भिन्न भिन्न भाषाओं में भी तो उनके रूपान्तर कराने की हम चेष्टा नहीं करते। हमारी इस अविवेकता की जितनी निन्दा की जाय कम है। च—

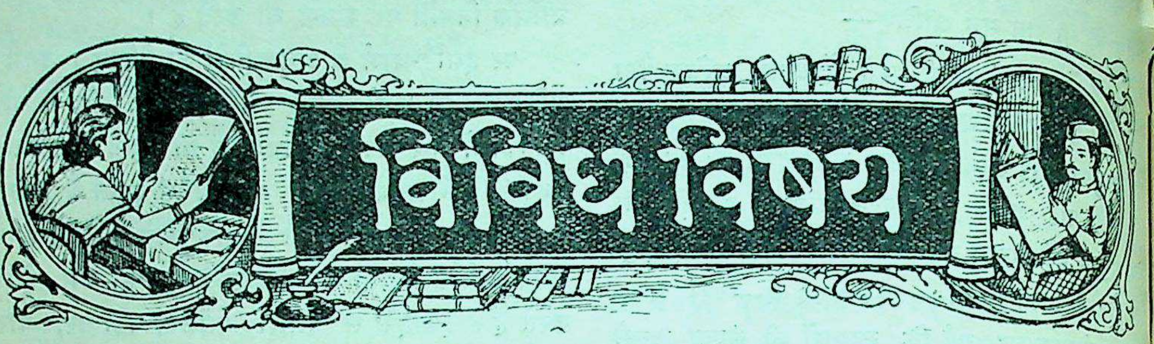

विविध विषय

१—देशी भाषाओं के द्वारा माध्यमिक शिक्षा ।

जिन देशों में कुछ भी जान होती है, जो अपने अस्तित्व को बना रखना चाहते हैं और जो अपनी जातीयता को बहुत बड़े महत्त्व की चीज़ समझते हैं वे अपनी भाषा को हृदय से प्यार करते हैं। जहाँ तक उनकी चलती है वे उसी के प्रचार, उसी के विस्तार और उसी के उन्नयन की सदा चेष्टा करते हैं। वे उसी के द्वारा अपने हृद्गत भाव प्रकट करते हैं, उसी में ग्रन्थ-रचना करते हैं और उसी के द्वारा स्कूलों और कालेजों में बच्चों और नवयुवकों को शिक्षा-प्रदान करते हैं। वहाँ जितने सरकारी दफ़र होते हैं सभी में वहीं की भाषा की तूती बोलती है। अपनी भाषा को वे प्राणोपम समझते हैं; उसके अपमान को अपना अपमान समझते हैं; उसके तिरोभाव को वे अपने अस्तित्व नाश के सदृश समझते हैं।

जिस भाषा की महत्ता का यह हाल है उसी की दुर्गति इस अभागे भारत में चिरकाल से होती आ रही है। इस विषय में अन्यान्य प्रान्त कुछ सँभले हैं; वे अपनी मातृभाषा का स्वीकार, किसी हद तक, कर चुके हैं। परन्तु इस प्रान्त के जन-कर्णधारों ने, जिनमें अधिक संख्या यहीं के निवासियों की है, अपनी मातृभाषा की बेहद अवहेलना की है। पहले तो उन्होंने अँगरेज़ी स्कूलों में अपनी भाषा का प्रवेशद्वार एक-दम ही बन्द कर रक्खा था। बड़ी मुश्किलों में, अनेक प्रयत्न होने पर, राम राम करके, आठवें दरजे तक घुसने के लिए उसे आज्ञा मिली। इस पर अनेक देशभक्तों ने हाहाकार मचा दिया—हाय अब अँगरेज़ी मरी! हाय अब शिक्षा बिगड़ी! हाय अब नौकरी का वसीला बन्द हुआ! तथापि समझदार सज्जनों ने उनके इस रोने-धोने को व्यर्थ बहाना अथवा अकारण आक्रोशमात्र समझा। ख़ैर, उनकी कुछ न चली और बात जैसी की वैसी ही रही। हिन्दी-उर्दू की पढ़ाई आठवें दरजे तक जारी रक्खी गई।

खुशी की बात है, अब इन दोनों भाषाओं के प्रसार का क्षेत्र कुछ अधिक विस्तृत कर दिया गया है। कुछ ही समय हुआ, इस प्रान्त की माध्यमिक शिक्षा (हाई स्कूल और इंटरमिडियट) के बोर्ड ने एक प्रस्ताव "पास" करके इन भाषाओं पर विशेष कृपा करने का निश्चय किया है। फ़ैसला यह हुआ है कि हाई स्कूल की परीक्षा तक स्कूलों में हिन्दी-उर्दू का अबाध प्रवेश रहे। मतलब यह कि छात्र सभी विषयों की शिक्षा इन भाषाओं के द्वारा प्राप्त करने का अधिकार रक्खें। उनका जी चाहे उर्दू में सब विषय सीखें, उनका जी चाहे हिन्दी में। यही नियम परीक्षाओं में भी चरितार्थ होगा। प्रश्नपत्रों का उत्तर अपनी अभीष्ट देशी भाषा में देने के लिए छात्रों को स्वतन्त्रता रहेगी। कल्पना कीजिए कि हिसाब या इतिहास का प्रश्नपत्र यदि अँगरेज़ी में उन्हें दिया जाय तो उसका उत्तर वे अपनी मातृभाषा—हिन्दी या उर्दू—में दे सकेंगे। जो अँगरेज़ी में ही देना चाहें वे उसमें भी दे सकेंगे। रही अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा, सो वह एक स्वतन्त्र विषय के सदृश पढ़ाई जायगी। वह रहेगी ज़रूर, पर यह न होगा कि सब विषयों की पढ़ाई या पुस्तकें उसी में हों। यह बहुत बड़े सुभीते की बात हुई।

जो बात बहुत पहले ही होनी चाहिए थी उसे कार्य्य में परिणत होने के लिए सौ नहीं, तो पचास साठ वर्ष ज़रूर लग गये। अस्तु। इन प्रान्तों का यह सौभाग्य ही समझिए जो इतने दीर्घतम समय के बाद भी उनकी दुर्बुद्धि दूर हो गई।

पूर्व निर्दिष्ट बोर्ड ने एक बात और भी करने की उदारता दिखाई है। वह यह कि इंटरमीडियट, अर्थात् एफ़० ए०, की परीक्षा के लिए भी उसने हिन्दी, उर्दू, मराठी और बँगला भाषाओं को पाठ्य विषयों में स्थान दे दिया है। उन्हें पढ़ना उसने छात्रों की इच्छा पर छोड़ दिया है। इन भाषाओं की शिक्षा ऐच्छिक होगी। छात्रों को स्वतन्त्रता रहेगी। वे इन भाषाओं में से जिस भाषा को चाहें ऐच्छिक विषय के तौर पर पढ़ें। अतएव आशा है, अब अपने प्रान्त की भाषाओं का विशेष आदर होगा, उनका प्रचार बढ़ेगा, उनमें और भी अच्छे अच्छे ग्रन्थों का निर्म्माण होगा।

यह सब तो हुआ, पर इलाहाबाद का विश्वविद्यालय इस विषय में पूर्ववत् ही अटल है। उसके अहाते में देशी भाषाओं का-"यथापूर्व" बहिष्कार बना हुआ है। वहाँ वे अछूत जातियों के सदृश ज्यों की त्यों अस्पृश्य मानी जा रही हैं। बनारस और लखनऊ के विश्वविद्यालय उनकी क़दर करें तो किया करें। प्रयाग का विश्वविद्यालय उनके प्रवेश की परवा नहीं करता। उसकी इस उदारता—उसके इस देश-भाषा-प्रेम—का दृश्य मनुष्यों ही के नहीं, देवताओं के भी देखने योग्य है। सुनते हैं कि अब उसने भी हिन्दी को विश्वविद्यालय में स्थान देने का निश्चय किया है। यदि उसका यह निश्चय कार्य-रूप में परिणत हो जाय तो इसे हिन्दी का सचमुच सौभाग्य कहना चाहिए।

२—जापान के अन्त्यज।

अन्त्यजों का प्रश्न केवल भारत में ही नहीं है। उनकी विकट स्थिति संसार के दूसरे सभ्य देशों में भी देखी जाती है। जापान जैसे उन्नत देशों में भी अन्त्यजों की स्थिति भारत की अपेक्षा कुछ कम विकट नहीं है। एक वहीं के सामयिक पत्र में वहाँ के अन्त्यजों का जो वर्णन प्रकाशित हुआ है उसका भावार्थ यहाँ दिया जाता है—

अभी पिछले समय तक मीजी-युग में जापान में चार श्रेणियाँ या जातियाँ थीं। वे क्षत्रिय, कृषक, कारीगर तथा व्यवसायी कहे जा सकते हैं। इनके सिवा और भी एक वर्ग के लोग थे, पर उनकी गणना मनुष्य-समाज में नहीं की जाती थी। वे नीचातिनीच समझे जाते थे। वे जापान के ईटा लोग हैं।

जब सम्राट् मीजी ने अपने नये सुधारों का प्रचलन किया तब उपर्युक्त चार वर्ग तोड़ कर उनके दो वर्ग कर दिये गये। एक क्षत्रिय और दूसरा साधारण जन कहा जा सकता है। इसी पिछले वर्ग में ईटा लोगों को समावेश करने का विचार किया गया था। परन्तु अतीत काल के सामाजिक दोष इस प्रकार सहज ढङ्ग से नहीं दूर किये जा सकते। फलतः ईटा लोग आज भी समाज के बाहर ही हैं।

जापान में ईटा लोगों की संख्या तीस लाख है। उनके निवास के लिए ख़ास ख़ास ज़िले निर्धारित हैं। कहा जाता है कि जैसा उन लोगों के साथ दुर्व्यवहार किया गया है वैसा योरप में यहूदियों के साथ भी न किया गया होगा। अनेक वर्षों से समाज-सुधारकों का ध्यान उनकी स्थिति का सुधार करने की ओर रहा है। अब उनकी स्थिति इतनी उन्नत ज़रूर हो गई है कि उनके कहने का प्रभाव पड़ सकता है। जो असुविधायें उन्हें झेलना पड़ती हैं और ऊँची जाति के लोग उनके प्रति जो दुर्व्यवहार करते हैं उनके विरुद्ध वे अब अपनी आवाज़ ऊँची करने लगे हैं और कभी कभी वे अपने उद्देश में सफल भी होते हैं।

ईटा लोगों के साथ होनेवाले दुर्व्यवहारों का एक उदाहरण लीजिए। एक बार किसी गाँव से दस युवक सेना में भर्ती होने के लिए भेजे गये। संयोगवश उनमें दो युवक ईटा जाति के थे। जब वे नव नियुक्त सैनिक सेना में शामिल होने के लिए जाने लगे तब ग्रामवासियों ने उनकी बिदाई का समारोह किया। इस अवसर पर उन्हें सैनिक वर्दियाँ उपहार के रूप में दी गईं। पर इस उत्सव में वे दो ईटा युवक नहीं बुलाये गये और न उन्हें वर्दियाँ ही मिलीं। उनमें एक धनवान् का लड़का था। वह अपनी वर्दी मोल ले सकता था। पर दूसरा इतना ग़रीब था कि वह वैसा नहीं

कर सकता था। अतएव वह अपने साथियों के साथ बिना वर्दी के ही जाने लगा तब गाँववालों ने कहीं से एक फटी-पुरानी वर्दी लाकर उसे दी और घृणा के साथ कहा कि जब एक ईटा भी सेना में ले लिया गया है तब उसे भी एक वर्दी मिलनी चाहिए। गाड़ी के छूटने के समय उस ईटा-युवक ने अपने ग्राम-वासियों से क्रोधपूर्वक चिल्ला कर कहा—अब मैं इस गाँव में लौट कर नहीं आऊँगा। मैं अपने देश की रक्षा के लिए भेजा जा रहा हूँ तो भी एक विदेशी से भी अधिक बुरा मेरा अपमान किया गया है।

सहनशीलता की भी हद होती है। अब ईटा लोग ऊँची जातियों के दुर्व्यवहार सहते सहते आजिज़ आ गये हैं। अनुकूल अवसर पाकर वे कभी कभी अपने विक्षोभ का परिचय दे ही डालते हैं। एक गाँव की बात है। एक ईटा बालक स्कूल से घर आ रहा था। सड़क पर एक पैरगाड़ी खड़ी देख कर कौतुकवश वह उसके पास चला गया और उसकी घण्टी बजा दी। पैरगाड़ीवाला घण्टी की आवाज़ सुन कर मकान से बाहर निकल आया। ईटा-बालक को अपनी पैरगाड़ी के पास खड़ा देख कर उसने गाली दी और उसे धक्का देकर गिरा दिया। वह बालक अपने घर गया और अपने घरवालों से राह की घटना का हाल कहा। ईटा लोग बड़े क्रुद्ध हुए, सारा गाँव का गाँव बिगड़ उठा। लोगों ने जाकर पैरगाड़ीवाले का घर घेर लिया और वे उसे मार डालने की धमकी देने लगे। अन्त में उसने एक पत्र में क्षमा-प्रार्थना लिख कर अपना पिंड छुड़ाया।

जब ईटा लोगों को अवसर मिल जाता है तब वे इसी ढङ्ग से अपने अन्याय का प्रतिशोध करते हैं। परन्तु कभी कभी इससे भी विकट अवस्था उठ खड़ी होती है। ऊपर का ही मामला जटिल हो गया था। गाँववाले ईटा लोगों की सीनाज़ोरी देख कर बड़े नाराज़ हुए। उन्होंने कहा कि लिख कर माफ़ी माँगना ठीक नहीं हुआ। अतएव क्षमा-पत्र लौटा लेने के लिए उन लोगों ने ईटा लोगों पर सशस्त्र आक्रमण करने का उपक्रम किया। एक रात को कोई तीन सौ आदमी तलवारों, भालों और बन्दूकों से सज्जित होकर ईटा लोगों की बस्ती पर आक्रमण करने को रवाना हुए। ईटा लोगों की संख्या केवल ७० थी। उन्होंने भी आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा करने के लिए तैयारी की। उनकी ओर से यह भी प्रबन्ध किया गया कि बाहर से ईटा लोगों की सहायता के न आने के पहले यदि शत्रु आक्रमण कर बैठे तो उसकी बस्ती में आग लगा दी जाय, जिसमें उनका ध्यान बँट जाय। वे दोनों विरोधी-दल उस रात को एक दूसरे के आमने-सामने एक बजे से तीन बजे तक जमे बैठे रहे। अन्त में मार पीट अनिवार्य देख कर एक प्रभावशाली व्यक्ति गुप्त-रीति से आगे आया और उसने दोनों पक्ष के नेताओं से बातचीत कर मामले को ठण्डा कर दिया। वह क्षमा-पत्र ईटा लोगों से लेकर गाँव के सङ्ग्रहालय में जमा कर दिया गया।

ईटा लोगों के मनस्ताप का एक और भी उदाहरण यहाँ दे देना अनुचित न होगा। यह घटना दो वर्ष की है। एक दिन कुरी नगर के स्टेशन के बाहर एक ईटा-बालक रेलगाड़ी के नीचे दबकर मर गया। उसके पास एक पत्र मिला। उसमें लिखा था—प्रिय पिता, मैं तेरह वर्ष से अधिक नहीं जी सकता। मुझे अपने जन्म लेने का दुःख है। ऐसे निर्दय संसार में मेरा जन्म ही क्यों हुआ। बात यह थी कि वह ईटा-बालक पढ़ने-लिखने में तेज़ था। ईटा-जाति का होने के कारण स्कूल के दूसरे लड़के उस पर घृणित आक्षेप करते थे। शिक्षक भी उसकी रक्षा नहीं करते थे। अन्त में दुःखित होकर उसने आत्महत्या करली।

—३—पाश्चात्य-सभ्यता का भविष्य।

पाश्चात्य-सभ्यता अपनी उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच गई है, सारे भूमण्डल पर उसकी छाप लग गई है, संसार की प्राचीन सभ्यतायें उसके प्रताप के आगे हतप्रभ हो गई हैं। ऐसी अभूतपूर्व सभ्यता के सम्बन्ध में इधर कुछ समय से लोग निराशा का भाव व्यक्त करने लगे हैं। यहाँ तक कि कुछ लोग उसकी अनिवार्य मृत्यु तक की भविष्यवाणी करने लगे हैं। 'फ़्री मैन' में एक विद्वान् पाश्चात्य-सभ्यता के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखता है—

राजनीतिज्ञ और लेखक प्रायः कहा करते हैं कि हमारी सभ्यता का विनाश अवश्यम्भावी है। इस प्रकार की भयङ्कर भविष्यवाणी से वे हमारे मन में उद्वेग

तन किया करते हैं। परन्तु इस बात में बड़ा सन्देह है कि पाश्चात्य-सभ्यता आत्महत्या करके सहसा लोप हो जायगी। हाँ, यह बात बहुत कुछ सम्भव है कि आभ्यन्तरिक कारणों से वह छिन्न भिन्न अवश्य हो जायगी और अपना पुनर्निर्माण करेगी। यह कल्पना असङ्गत है कि हमारी सभ्यता में स्थिरता के तत्त्व निहत हैं। यदि हम मिसीनाई, टिरीनिस या क्रीट की पुरानी सभ्यताओं के इतिहास का अवलोकन करें तो हमारे कथन की सत्यता प्रकट हो जायगी। वही सभ्यता अक्षुण्ण रह सकती है जो मनुष्य की आत्मा की सारी माँगों की पूर्ति कर सकती है। उसमें विचक्षणता, ज्ञान, सामाजिक जीवन और रहन-सहन, धर्म, सौन्दर्य और कविता आदि बातें सभी पूर्ण और समान मात्रा में होनी चाहिए। हमारी सभ्यता पहली माँग की पूर्ति भले प्रकार करती है, दूसरी माँग की पूर्ति जैसी तैसी होती है और शेष की पूर्ति वह बिलकुल नहीं कर पाती। तब क्या यह बात अवश्यम्भावी नहीं है कि जो सभ्यता इनमें अधिक माँगों की पूर्ति करेगी वह हमारी सभ्यता को स्थान-च्युत कर उसके स्थान पर आ विराजेगी ?

४–चतुर्दश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन।

इस बार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन दिल्ली में हुआ। सभापति हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्यायजी थे। आप कवि हैं और साहित्य के आचार्य भी। अतएव आपके वक्तव्य में साहित्य की अच्छी विवेचना थी। नीचे उसका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

साहित्य शब्द का जो शाब्दिक अर्थ है, वह स्वयं बहुत व्यापक है, उसको सङ्कुचित अर्थ में ग्रहण करना सङ्गत नहीं। साहित्य समाज का जीवन है, वह उसके उत्थान-पतन का साधन है, साहित्य के उन्नत होने से उन्नत, उसके पतन से समाज पतित होता है। साहित्य वह आलोक है जो देश को अन्धकार-रहित, जाति-मुख को उज्ज्वल, और समाज के प्रभाहीन नेत्रों को सप्रभ रखता है। वह सबल जाति का बल, सजीव जाति का जीवन, उत्साहित जाति का उत्साह, पराक्रमी जाति का पराक्रम, अध्यवसायशील जाति का अध्यवसाय, साहसी जाति का साहस, और कर्तव्यपरायण जाति का कर्तव्य है।

वह धर्मभाव जो भव भावनाओं का विभव है, वह ज्ञान-गरिमा जो गौरव-कामुक को सगौरव करती है, वह विचारपरम्परा जो विचारशीलता की शिला है, वह धारणा जो धरणी में सजीव जीव धारण का आधार है, वह प्रतिभा जो अलौकिक प्रतिभा से प्रतिभासित हो, पतितों को उठाती है, लोचनहीन को लोचन देती है और निरवलम्ब का अवलम्बन होती है। वह कविता जो सूक्तिसमूह की प्रसविता हो संसार की सारवत्ता बतलाती है, वह कल्पना जो कामद कल्पलतिका बन सुधाफल फलाती है, वह रचना जो रुचिर रुचि-सहचरी है, वह ध्वनि जो स्वर्गीय ध्वनि से देश को ध्वनित बनाती है। वह सजीवता जो निर्जीवता-सञ्जीवनी है, वह साधना जो समस्त सिद्धि का साधन है, वह चातुरी जो चतुर्वर्ग-जननी है, वह चारु चरितावली जो जाति-चेतना और चेतावनी की परिचालिका है—जब हमारे साहित्य का सर्वस्व थी, उस समय हम पर पवित्र वेदों का आविर्भाव हुआ, हमने अनुपम उपनिषदों की रचना की, दर्शनों के दर्शन कराये, सूत्रों को रचकर समाज को एक सूत्र में बाँधा, आदर्श चरित के आदर्श रमणीय वाल्मीकि रामायण को बनाया, और अशेष ज्ञान-भाण्डार महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ को निर्मित कर भारत का मुख उज्ज्वल किया।

हमारे त्रिदेवों में त्रिलोकपति की सृजन, पालन, संहार-सम्बन्धिनी त्रिशक्ति का अद्भुत विकास है। ब्रह्मदेव चतुर्मुख अथवा चतुर्वेद-रचयिता, ललाट-फलक-लिपि विधाता, और समस्त विधि विधान सर्वस्व हैं। उनकी शक्ति वीणा झङ्कार जीवनमृत जीवन सञ्चारिणी, और उनकी वाग्देवी विविध विद्या स्वरूपा है। भगवान् विष्णु चतुर्भुज हैं, चार हाथों से समस्त लोक का लालन पालन करते हैं, वे क्षीरनिधिनिकेतन हैं, इसी लिए स्तनपायी जीवमात्र को प्रति दिन क्षीर पान कराते हैं, वे विश्वम्भर हैं, इसी लिए उनकी विश्वम्भरी शक्ति ब्रह्म-स्तम्भ-पर्यन्त का प्रति पल पालन-पोषण करती है, भगवान् भूतनाथ की मूर्ति बड़ी भावमयी है, वह बतलाती है, संसार-हित के लिए अवसर आने पर गरल पान कर लो, परन्तु

जो कुसुम-शायक बनकर मर्मवेधी बाण प्रहार करता है उसका संहार अवश्य करो, लोक-लाभ के निमित्त आकाश-निपतित कठोर जलपात शिर पर वहन करो, पर उरगों की उरगता निवारण करने से मत चूको। शक्ति कितनी ही प्रचण्ड हो, उसको दश भुजायें क्यों न हों, परन्तु अपने साधन-बल से उसे भी अङ्ग-भुक्त किये बिना मत छोड़ो। हमारा साहित्य जब इन मर्म की बातों को मर्म्मभरी भाषा में बतलाता था, और जब हममें उसके समझने की मार्मिकता थी—उस समय हम पृथ्वी को दुहते थे, समुद्र को मथकर चौदह रत्न निकालते थे, पञ्च भूत पर शासन करते थे, व्योमयानों-द्वारा आकाश में उड़ते थे, समुद्र पर पुल बनाते थे, पहाड़ को कानी उँगली पर नचाते थे, देह होते विदेह थे, राजप्रासाद में रहकर गृह-संन्यासी थे, काया-कल्प करते थे, और राज-त्यागी भी कृपापात्र को राज-पद पर प्रतिष्ठित कर देते थे। अध्यात्म-शक्ति इतनी प्रबल थी कि असीम पयोधि-जल को गण्डूष-जल समझते थे, पर्वत को नतमस्तक कर देते थे, और चक्रवर्ती भूपाल के रत्नमण्डित मुकुट को पद-रज-द्वारा आरञ्जित बनाते थे।

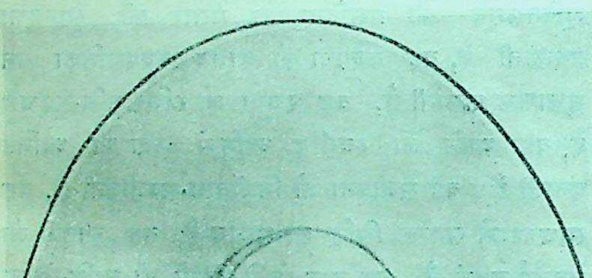

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय।

कहते व्यथा होती है कि कुछ कालोपरान्त हमारे वे दिन नहीं रहे—हममें प्रतिकूल परिवर्तन हुए—और हमारे साहित्य में केवल शान्त और शृङ्गार-रस की धारा प्रबल वेग से बहने लगी। शान्त-रस की धारा ने हमको आवश्यकता से अधिक शान्त और उसके संसार की असारता के राग ने हमें सर्वथा सारहीन बना दिया। शृङ्गार-रस की धारा ने भी हमारा अल्प अपकार नहीं किया, उसने भी हमें कामिनी-कुल शृङ्गार का लोलुप बनाकर समुन्नति के समुच्च शृङ्गार से अवनति के विशाल गर्त में गिरा दिया। इस समय हम अपनी किंकर्तव्य-विमूढ़ता, अकर्मण्यता, अकार्य्यपटुता को साधुता के परदे में छिपाने लगे—और हमारी विलासिता, इन्द्रियपरायणता, मानसिक मलिनता, भक्ति के रू में प्रकट होने लगी। इधर निराकार की निराकारता में रत होकर कितने सब प्रकार बेकार हो गये, उधर आराध्यदेव भगवान् वासुदेव और परम आराधनीया श्रीमती राधिका देवी की आराधना के बहाने पावन प्रेम-पन्थ कलङ्कित होने लगा। न तो लोकपावन भगवान् श्रीकृष्ण लौकिक प्रेम के प्रेमिक हैं, न तो वन्दनीया वृषभानुनन्दिनी कामनामयी प्रेमिका, न तो भुवनाभिराम वृन्दावन-धाम अवैध विलास-वसुन्धरा है, न कलकलवाहिनी कलिन्दनन्दिनी-कूल काम-केलि का स्थान। किन्तु अनधिकारी हाथों में पड़ कर वे वैसे ही चित्रित किये गये हैं। कतिपय महात्माओं और भावुक जनों को छोड़ कर अधिकांश ऐसे अनधिकारी ही हैं, और इसी लिए उनकी रचनाओं से जनता पथच्युत हुई। केहरिपत्नी के दुग्ध का अधिकारी स्वर्ण-पात्र है, अन्य पात्र उसको पाकर अपनी अपात्रता प्रकट करेगा। मध्य-काल से लेकर इस शताब्दी के आरम्भ तक का हिन्दी-साहित्य उठाकर आप देखें, वह केवल विलास का क्रीड़ाक्षेत्र और काम-वासनाओं का उद्गार-मात्र है। सन्तों की वानी और कतिपय दूसरे

ग्रन्थ अवश्य इसके अपवाद हैं। ऐसा ग्रन्थ जो हिन्दू-जाति का जीवनसर्वस्व, उन्नायक और कल्पतरु है, जो आदर्शचरित का भाण्डार, और सद्भाव रत्नों का रत्नागार है, जो आज दस करोड़ से भी अधिक हिन्दुओं का सत्पथप्रदर्शक है, यदि है तो रामचरित-मानस है, और वह गोस्वामीजी के महान् तप का फल है। कुछ ग्रन्थ हिन्दी भाषा में नीति और सद्विचार-सम्बन्धी और हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है।

न वह साहित्य साहित्य है, न वह कल्पना कल्पना जिसमें जातीय भावों का उद्गार न हो। जिन काव्यों, ग्रन्थों को पढ़ कर जीवनी शक्ति जागरित नहीं होती, निर्जीव धमनियों में गरम रक्त का सञ्चार नहीं होता, हृदय में देशप्रेम-तरङ्गें तरङ्गित नहीं होतीं, वे केवल निस्सार वाक्यसमूह-मात्र हैं। जो भाव देश को, जाति को, समाज को स्वर्गीय विभव से भर देते हैं, उनमें अनिर्वचनीय ज्योति जगा देते हैं, उनको स्वावलम्बी स्वतन्त्र, स्वधर्म्मरत, और स्वकीय कर देते हैं, यदि वे भाव किसी उक्ति की सम्पत्ति नहीं, तो वह मौक्तिक-हीन शुक्ति है। जिसमें मनुष्यजीवन की जीवन्त सत्ता नहीं, जो प्रकृति के पुण्यपाठ की पीठ नहीं, जिसमें चारु चरित चित्रित नहीं, मानवता का मधुर राग नहीं, सजीवता का सुन्दर स्वाग नहीं, वह कविता सलिलरहित सरिता है। जिसमें सुन्दरता विकसित नहीं, मधुरता मुखरित नहीं, सरसता विलसित नहीं, प्रतिभा प्रतिफलित नहीं, वह कवि-रचना कुकविवचनावली है। जो गद्य अथवा पद्य जाति की आँखें खोलता है, पते की सुना राह पर लगाता है, मर्म्मवेधी बातें कह सावधान बनाता है, चूकें दिखा चौकन्ना करता है, चुटकियाँ ले सोतों को जगाता है, वह इस योग्य है कि सोने के अक्षरों में लिखा जावे, वह अमृत है जो मरतों को जिलाता है।

सौभाग्य की बात है कि दृष्टिकोण बदला है, परम कमनीयकलेवरा शृङ्गार-रस की कविता सुन्दरी कवि-मानस समुच्च सिंहासन से धीरे धीरे उतर रही है और उस पर लोकोत्तर कान्तिवती जातीय राग-रञ्जिता कविता देवी सादर समासीन हो रही है। ललित-लीला-निकेतन वृन्दावनधाम अब भी विमुग्धकर है, किन्तु सुजला सुफला शस्यश्यामला भारत-वसुन्धरा आज दिन अधिक आदरवती है। तरल-तरङ्गमयी तरणितनया उत्फुल्लकरी है, किन्तु प्रवहमान देश-प्रेम पावन प्रवाह समान सर्वप्रिय नहीं। भगवान् मुरलीमनोहर की मधुमयी मुरलिका आज भी मोहती है, मोहती ही रहेगी, किन्तु अब हम उसके माधुर्य्य में देश-प्रेम का पुट, ध्वनि में जातीयता की धुन और सुरीलेपन में सजीव स्वरलहरी होने के कामुक हैं। प्रेम-प्रतिमा राधिका देवी की आराधना आज भी होती है, किन्तु पुष्पाञ्जलि अर्पण कर बद्धाञ्जलि हो अब यही प्रार्थना की जाती है, माता तू जिसकी हृदयेश्वरी है उससे गम्भीर भाव से कह दे—भारत भूतल फिर भाराक्रान्त है।

५—ही और कभी का प्रयोग।

ही और कभी के विषय में हिन्दी के वयोवृद्ध लेखक श्रीयुत गङ्गाप्रसाद जी ने भी एक नोट भेजने की कृपा की है। नीचे वह ज्यों का त्यों दिया जाता है।

सुदर्शनजी लिखते हैं कि "महाराज रामचन्द्र ने ही बाली को मारा था। यहाँ "ही" के प्रयोग का प्रयोजन केवल यह है कि रामचन्द्र पर ज़ोर दिया जाय, ताकि पढ़नेवाला सहज ही में यह समझ जावे कि बाली को किसी अन्य वीर ने नहीं मारा, किन्तु रामचन्द्र ही ने मारा है।" आपके उक्त उदाहरण में केवल श्रीरामचन्द्रजी का ही नाम है। ऐसी अवस्था में, समझ में नहीं आता कि उक्त वाक्य से 'ने' के साथ 'ही' को देख कर पढ़नेवाला यह कैसे समझ लेगा कि बाली को मारनेवाले वीर श्रीरामचन्द्रजी के अतिरिक्त कोई अन्य थे। हाँ, आपकी सम्मति के अनुसार "ने" भी किसी वीर का नाम हो तो पढ़नेवाले को अवश्य सन्देह हो सकता है कि बाली को श्रीरामचन्द्रजी ने मारा वा किसी "ने" नामक वीर ने। हम जैसे साधारण पाठकों की समझ में तो यही आता है कि श्रीसुदर्शनजी के उक्त वाक्य में "ने" किसी वीर का बोधक नहीं है, किन्तु वह उस विभक्ति का चिह्न है जिसके बिना "मारा" क्रिया का कर्त्ता श्रीरामचन्द्र न पद ही कहा जा सकता है और न उस वाक्य के अभीष्ट अर्थ को ही प्रकट कर सकता है। तात्पर्य्य यह कि उक्त वाक्य में "ने" स्वयं न किसी क्रिया का कर्त्ता ही बन सकता है

और न किसी अर्थ को ही प्रकट कर सकता है। जब वह श्रीरामचन्द्रजी के नाम के साथ संलग्न होगा तभी वह उक्त वाक्य में 'श्रीरामचन्द्र ने' शब्द को पद बनावेगा और तभी उन्हें मारा क्रिया के अर्थ को सम्पन्न करनेवाला बनावेगा। ऐसी अवस्था में 'ने' के पश्चात् 'ही' का लिखा जाना युक्तियुक्त और व्याकरण-सम्मत बोध होता है।

श्रीयुत सुदर्शनजी की युक्ति के अनुसार किसी संज्ञा को अलग करने वा उस पर ज़ोर देने के अभिप्राय से यदि 'ही' शब्द का उसके विभक्ति-चिह्न के पूर्व ही लिखा जाना उचित समझा जाय तो आदरसूचक 'जी' आदि शब्दों के भी पूर्व ही उसे लिखना पड़ेगा। यथा, श्रीसुदर्शन ही जी की उक्त सम्मति है। पर ऐसा प्रयोग न प्रचलित ही है और न उसका प्रचार में लाना आवश्यक और वाञ्छनीय ही जान पड़ता है।

जिस प्रकार अभीष्ट शब्द पर ज़ोर देने के लिए "ही" का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार दूसरे शब्द के प्रथम के साथ सम्मिलित करने के लिए "भी" का प्रयोग किया जाता है। श्रीसुदर्शनजी की सम्मति के अनुसार उसका प्रयोग किया जाय तो वह इस प्रकार होगा।

'अकेले श्रीलक्ष्मण ही जी ने श्रीपरशुरामजी के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया था, किन्तु श्रीरामचन्द्र भी जी ने उन्हें उत्तर दिया था।' कहना नहीं होगा कि इस प्रकार का प्रयोग न कोई करता ही है और न उसे प्रचलित करना वाञ्छनीय ही है।

"ही" के प्रयोग के विषय में जिस प्रश्न को श्रीसुदर्शनजी ने उपस्थित किया है उसका एक-मात्र कारण विभक्ति-प्रत्ययों का उनकी प्रकृतियों से अलग लिखा जाना है। जो लोग उनके अलग लिखे जाने के पक्षपाती और समर्थक हैं उनकी यह भी एक प्रबल युक्ति है कि प्रकृति और प्रत्यय के बीच में 'ही, जी, लाल', आदि अव्यय तथा आदरसूचक अक्षर आ जाया करते हैं अतः प्रत्यय प्रकृति से अलग ही लिखा जाना चाहिए। इस विषय में हमारा विनम्र निवेदन यह है कि हिन्दी के पद्य में कवियों ने "ही" को प्रकृति और प्रत्यय के बीच में, कहीं कहीं इसी लिए रख दिया है कि वैसा करने से उनका अन्त्यानुप्रास सिद्ध हो जाता है—यथा,

बोली अपर कहेहु सखि नीका।
यह विवाह अतिहित सब ही का॥
तु० कृ० रामायण

उक्त प्रयोग को आवश्यक मान कर गद्य में उसका अनुकरण करने की तादृश आवश्यकता नहीं बोध होती। जो लोग 'मतलब' को 'मतबल' 'लखनऊ' को 'नखलऊ' तथा 'लकड़ी' को 'नकड़ी' कहा करते हैं। जैसे उनके उन प्रयोगों को साहित्यिक जन साधु प्रयोग नहीं मानते, उसी प्रकार "ही" के उक्त प्रयोग को भी उन्हें नहीं मानना चाहिए। "ही" को प्रकृति और प्रत्यय के बीच में रखने से उसमें कोई विशेषता नहीं आती। यथा,

'गुरू भये घर घर में डोलैं, नाम धनी का बेंचैं'।
'परमारथ सपने नहिं जानैं, पैसन को ही खैंचैं'॥
'कबहुँ क बकता ह्वै बनि बैठैं, कथा भागवत गावैं'।
'अर्थ अनर्थ कछू नहिं भाखैं, पैसन को ही धावैं'॥

उक्त अवतरण में जो अर्थ 'पैसन को ही' पद से प्रकट होता है वही अर्थ 'पैसन ही को' पद से भी प्रकट होता है। हाँ, उक्त प्रयोग में कुछ भेद है तो वह यही है कि प्रथम पद व्याकरण के अनुसार शुद्ध है और दूसरा अशुद्ध है। ऐसी अवस्था में गद्य में शुद्ध प्रयोग का करना ही अत्यन्त आवश्यक बोध होता है।

६—चित्र-परिचय।

सरस्वती के इस अङ्क में यज्ञ-समारोह नामक जो रङ्गीन चित्र निकला है उसमें प्राचीन-कालीन भारतीय तपोवन का शान्तिमय दृश्य दिखलाया गया है। दूसरे चित्र का नाम है परित्राण। जब मनुष्य विपन्नावस्था में पड़ कर अपने को सर्वथा निस्सहाय समझने लगता है तभी उसके परित्राण के लिए कोई दैवी शक्ति प्रकट होती है। इसी से एक कवि ने लिखा है—

प्रभो तुम्हें हम कब पाते हैं?
जब इस जनाकीर्ण जगती में एकाकी रह जाती हैं।

पुस्तक-परिचय

१—अशोक के धर्मलेख—लेखक, पण्डित जनार्दन भट्ट, एम० ए०, प्रकाशक, ज्ञान-मण्डल कार्यालय, काशी और मूल्य २॥।) है। पुस्तक पर खद्दर की जिल्द है।

काशी के ज्ञान-मण्डल से समय समय पर महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित होते रहते हैं। आलोच्य पुस्तक उसकी ग्रन्थमाला का २१ वाँ ग्रन्थ है। यह पुस्तक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसे हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पण्डित जनार्दन भट्ट ने लिखा है। भारतीय इतिहास की प्रामाणिक बातों का श्रीगणेश इतिहास के एतद्देशीय तथा पाश्चात्य विद्वान् सम्राट् अशोक के समय से ही मानते हैं। बात भी यथार्थ है। क्योंकि सम्राट् अशोक के समय से पहले के शिलालेख नहीं उपलब्ध हैं। इस पुस्तक में अशोक के उन्हीं शिलालेखों की प्रतिलिपि तथा उनका संस्कृत एवं हिन्दी में अनुवाद सङ्कलित किया है। सारी पुस्तक दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में मौर्यवंश का संक्षिप्त किन्तु पूरा इतिहास दिया गया है। इससे अशोक की प्रशस्तियों का महत्त्व समझने में पूरी सहायता मिलती है। दूसरे भाग में अशोक की प्रशस्तियाँ और उनका संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद है। प्रशस्तियों के पाठान्तरों का उल्लेख जगह जगह पाद-टिप्पणियों में कर दिया गया है। पुस्तकान्त में ६ परिशिष्ट हैं। एक परिशिष्ट में पाली-भाषा का व्याकरण दिया गया है। शेष परिशिष्ट भी उपयोगी हैं। मतलब यह कि पुस्तक को सब प्रकार से उपयोगी बनाने में लेखक ने कोई कोर-कसर बाक़ी नहीं रक्खी। इतिहास के प्रेमियों को इसका सङ्ग्रह करना चाहिए।

२—विनय-पत्रिका—टीकाकार पण्डित महावीरप्रसाद मालवीय, वैद्य, उपनाम "वीरकवि", प्रकाशक, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग और मूल्य सजिल्द पुस्तक का ३) और बिना जिल्द का २॥) है।

विनय-पत्रिका गोस्वामी तुलसीदास की उत्कृष्ट कृति है। भक्तजनों में इसका भी ख़ासा प्रचार है। दो एक प्रेसों से इसके भी सटीक संस्करण निकल चुके हैं। अब इसे 'वीरकवि' की टीका से अलङ्कृत कर प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस ने प्रकाशित किया है। प्रारम्भ में टीकाकार का एक चित्र तथा गोस्वामीजी के दो काल्पनिक रङ्गीन चित्र दिये गये हैं। छपाई और काग़ज़ सुन्दर है। टीका की भाषा सरल और बोधगम्य है।

३—ज्ञानप्रकाशग्रन्थमाला की तीन पुस्तकें—मेरठ के माछरा नामक स्थान में कोई ज्ञान-प्रकाश-मन्दिर है। इस मन्दिर का उद्देश देवोपासना नहीं, साहित्योपासना है। इसी उद्देश से यह एक ज्ञान-प्रकाश-ग्रन्थमाला का प्रकाशन कर रहा है। इस ग्रन्थमाला में, व्यवस्थापक के कथनानुसार—संसार-प्रसिद्ध पुस्तकों के अनुवाद तथा प्रतिभाशाली लेखकों की मौलिक पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। हमें इस ग्रन्थमाला के तीन ग्रन्थ मिले हैं—(१) **मुगलों के अन्तिम दिन**—यह उर्दू के प्रसिद्ध लेखक मुसव्विरे फितरत श्रीयुत ख्वाजाहसन निज़ामी के अन्तिम मुग़ल राजकुमार तथा राजकुमारियों से सम्बन्ध रखनेवाले लेखों का हिन्दी समानान्तर है। अनुवादक श्रीयुत उमरावसिंह कारुणिक बी० ए० हैं। मूल्य ॥=) सभी कथायें करुण-रस से पूर्ण हैं। प्रारम्भ में बहादुरशाह का मृत्यु से कुछ समय पूर्व रङ्गून में लिया गया चित्र दिया गया है। (२) **टाल्स्टाय की आत्मकहानी**—यह टाल्स्टाय की एक पुस्तक—माई कन्फ़ेशन—का अनुवाद है। इसके भी अनुवादक उमरावसिंहजी हैं। मूल्य

॥=)। (३) उपयोगितावाद—यह स्टुअर्ट मिल की प्रसिद्ध पुस्तक युटिलेटिरियनिज़्म का अनुवाद है। यह भी उमरावसिंहजी की कृति है। अनुवाद अच्छा हुआ है। मूल्य १)। उपर्युक्त तीनों पुस्तकें ऐसी हैं जिनके अनुवाद से हिन्दी-साहित्य को लाभ ही होगा।

४—गिरिराज का सन्देश—अनुवादक श्रीयुत बैजनाथ जगन्नाथ महोदय, प्रकाशक, तालुक़दार प्रेस, लखनऊ है। पृष्ठ-संख्या ३६ और मूल्य ।=) है।

प्रसिद्ध दार्शनिक पाल रिशार के एक निबन्ध का यह भाषान्तर है। भारत के उद्बोधन के लिए लेखक ने अपने भाव-पूर्ण विचारों को इस निबन्ध में व्यक्त किया है। पाल महोदय की रचना कवित्व-पूर्ण होती है। उसकी छटा इस निबन्ध में पद पद पर देख पड़ती है। अनुवाद साधारण हुआ है।

५—पत्र-पुष्प—इस पुस्तक में पदों का सङ्ग्रह है। पद-संख्या ६७ है। सभी पद भगवद्भक्तिपरक हैं और चेतावनी, उद्बोधन, विनय, प्रेम, और अद्वैत प्रकीर्ण शीर्षक प्रकरणों में विभक्त हैं। गायनाचार्य पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने प्रत्येक पद पर ताल सहित राग का नामोल्लेख किया है। पुस्तक पर रचयिता का नाम नहीं दिया गया है। इस पुस्तक के अन्त में एक परिशिष्ट है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसमें शास्त्रों और महापुरुषों के वाक्यों के आधार पर हेय, उपादेय और ज्ञेय विषयों की संक्षिप्त सूचियाँ हैं। पुस्तक की छपाई और काग़ज़ सुन्दर है। दो रङ्गीन चित्रों से विभूषित है। एक चित्र विष्णु और एक कृष्ण का है। इसका मूल्य ।) है। पता—सत्सङ्गभवन, सेठ शिवनारायण नेमाणी की बाड़ी, ठाकुरद्वार रोड, बम्बई।

६—पत्र-लेखन—लेखक, श्रीयुत पन्नालाल बी० ए०, एल-एल० बी०, वकील हाईकोर्ट, इलाहाबाद और प्रकाशक पाल ब्रादर्स, अलीगढ़। पृष्ठ-संख्या २३६ और मूल्य २) है। पुस्तक सजिल्द है। प्रकाशक से प्राप्य।

इस पुस्तक में जैसा कि इसके नाम से सूचित होता है चिट्ठी-पत्री लिखने की विधि नहीं किन्तु हिन्दी में क़ानूनी ढङ्ग से दस्तावेज़ लिखने की विधि बतलाई गई है। लेखक की उर्दू पुस्तक का यह भाषान्तर है। इसकी सहायता से भिन्न भिन्न प्रकार के दस्तावेज़ हिन्दी में भले प्रकार लिखे जा सकते हैं तमस्सुक, रहननामा जैसे कोई उन्नीस प्रकार के दस्तावेज़ों को हिन्दी में लिखने की विधि इस किताब में बताई गई है। यथास्थान दस्तावेज़ों के उदाहरण और तत्सम्बन्धी क़ानून-क़ायदों का उल्लेख किया गया है। हिन्दीवालों के लिए यह एक उपयोगी पुस्तक है। इस पुस्तक में अरबी-फ़ारसी शब्दों के जो पर्याय दिये गये हैं उनमें अनेक चिन्त्य हैं।

७—सत्य हरिश्चन्द्र—अनुवादक, पण्डित रामचरित उपाध्याय, प्रकाशक, श्रीआत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी, अम्बाला। मूल्य ।=) है।

यह इसी नाम के एक प्राचीन संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। प्रसिद्ध प्राचीन जैन कवि रामचन्द्र की रचना है। उपाध्यायजी ने इसका हिन्दी में भावानुवाद किया है और इसे रङ्ग-भूमि पर खेले जाने का रूप दे दिया है। यह करुण-रस-प्रधान नाटक है।

८—ईश-उपनिषद्—लेखक, श्री पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार 'शान्त', प्रकाशक, श्रीजयनारायण रामचन्द्र सेठ, १४ बी० सेंट्रल एवेन्यू रोड, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या ६ + ४६ और मूल्य धर्मार्थ =) है।

यह पुस्तक उपनिषद्-ज्ञान-कथा की पहली संख्या है। इसमें विद्यालङ्कारजी ने ईशोपनिषद् की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। प्रत्येक मन्त्र का अर्थ कर दिया गया है, साथही, प्रश्नोत्तररूप में मनोरञ्जक ढङ्ग से जहाँ तहाँ उदाहरण भी देकर उसका आशय समझाया गया है। मन्त्र का आशय समझने में कोई कठिनाई नहीं मालूम पड़ती। वेद-भक्तों को इसे मँगा कर पढ़ना चाहिए। पता—जायसवाल इतिहासकार्यालय, ७ मिशन रोड, कलकत्ता।

Printed and published by K. Mittra at The Indian Press, Ltd , Allahabad.

सचित्र मासिक पत्रिका

भाग २५, खण्ड १] एप्रिल १९२४—चैत्र १९८१ [संख्या ४, पूर्ण संख्या २९२

अनङ्ग ।

(१)

अहे विश्व-अभिनय के नायक !
अखिल सृष्टि के सूत्राधार !
उर उर के कम्पन में व्यापक !
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार !
ऐ असीम-सौन्दर्य-सिन्धु की
विपुल वीचियों के शृङ्गार !
मेरे मानस की तरङ्ग में
पुनः अनङ्ग ! बनो साकार ।

(२)

आदि काल में बाल-प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत् , हत-ज्ञान,
शस्य-शून्य वसुधा का अञ्चल,
निश्चल जलनिधि, रवि-शशि म्लान;
प्रथम हास-से, प्रथम-अश्रु-से,
प्रथम-पुलक-से, हे छविमान !
स्मृति-से, विस्मय-से, तुम सहसा
विश्व स्वप्न-से खिले अजान ।

(३)

प्रथम कल्पना कवि के मन में,
प्रथम प्रकम्पन उड़गन में,
प्रथम प्रात जग के आँगन में,
प्रथम वसन्त-विभा वन में;
प्रथम वीचि वारिधि-चितवन में,
प्रथम तड़ित-चुम्बन घन में,
प्रथम गान, तब, शून्य-गगन में,
फूटा था, यौवन तन में ।

(४)

फूल जगत के उर-कम्पन में,
पुलकावलि में हँस अविराम,
मृदुल-कल्पनाओं से पोषित,
भावों से भूषित अभिराम,
तुमने भौंरों की गुञ्जित-ज्या,
कुसुमों का लीलायुध थाम,
अखिल विश्व के रोम रोम में
केशर-शर भर दिये सकाम ।

(५)

नव-वसन्त के सरस-स्पर्श से
पुलकित वसुधा बारम्बार
सिहर उठी स्मित-शस्यावलि में
विकसित हो यौवन के भार ।
फूट पड़ा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार,
गन्ध-मुग्ध हो अन्ध-समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार ।

(६)

अगणित-बाँहें बढ़ा उदधि ने
इन्दु-करों से आलिङ्गन
बदले, विपुल चटुल-लहरों ने
तारों से फेनिल-चुम्बन;
अपनी ही छवि से विस्मित हो
जगती के अपलक-लोचन
सुमनों के पलकों पर सुख से
करने लगे सलिल-मोचन ।

(७)

सौ सौ साँसों में पत्रों की
उमड़ी हिमजल-सस्मित-भोर
मूक-विहग कुल के कण्ठों से
उठी मधुर सङ्गीत-हिलोर;
विश्व-विभव-सी बाल-उषा की
उड़ा सुनहली अञ्चल-छोर
शत-हर्षित-ध्वनियों से आहत
बढ़ा गन्ध वह नभ की ओर ।

(८)

शून्य-शिराओं में संसृति की
हुआ विचारों का सञ्चार,
नारी के गम्भीर-हृदय का
गूढ़-रहस्य बना साकार ।
मिला लालिमा में लज्जा की
छिपा एक निर्मल-संसार,
नयनों में निस्सीम-व्योम औ'
उरोरुहों में सुरसरि-धार !

(९)

अम्बुधि के जल में अथाह-छवि,
अम्बर में उज्ज्वल-आह्लाद,
ज्योत्स्ना में अपनी अजानता,
मेघों में उदार-संवाद,
विपुल कल्पनायें लहरों में,
तरु-छाया में विरह-विषाद,
मिली तृषा सरिता की गति में,
तम में अगम, गहन-उन्माद ।

(१०)

सुमन-हास में, तुहिन-अश्रु में,
मौन-मुकुल, अलि-गुञ्जन में,
इन्द्र-धनुष में, जलद-पङ्ख में,
अस्फुट बुद्बुद-क्रन्दन में,
खद्योतों के मलिन-दीप में,
शिशु की स्मिति, तुतलेपन में,
एक भावना, एक रागिनी,
एक प्रकाश मिला, मन में ।

मृगियों ने चञ्चल-अवलोकन,
औ' चकोर ने निशाभिसार,
सारस ने मृदु-ग्रीवालिङ्गन,
हंसों ने गति, वारि-विहार;
पावस-लास प्रमत्त शिखी ने,
प्रमदा ने सेवा, शृङ्गार,
स्वाति-तृषा सीखी चातक ने,
मधुकर ने मादक-गुञ्जार ।

(११)

शून्य-वेणु-उर से तुम कितनी
छेड़ चुके तब से मृदु-तान,
यमुना की नीली-लहरों में
बहा चुके कितने कल-गान
कहाँ मेघ औ' हंस ? किन्तु तुम
भेज चुके सन्देश अजान,
तुड़ा मरालों से मन्दर-धनु
जुड़ा चुके तुम अगणित-प्राण ।

(१२)

जीवन के सुख-दुख से सुरभित
कितने काव्य-कुसुम सुकुमार,
करुण-कथाओं की मृदु-कलियाँ—
मानव-उर के-से शृङ्गार—
कितने छन्दों में, तालों में,
कितने रागों में अविकार,
फूट रहे हैं, अहो विश्वमय !
तब से जगती के उद्गार ।

(१३)

विपुल कल्पना से, भावों से
खोल हृदय के सौ सौ द्वार,
जल, थल, अनिल, अनल, नभ से कर
जीवन को फिर एकाकार,
विश्व-मञ्च पर हास, अश्रु का
अभिनय दिखला बारम्बार
मोह-यवनिका हटा, कर दिया
विश्व-रूप तुमने साकार ।

हे त्रिलोकजित् ! नव-वसन्त की
विकच पुष्प-शोभा सुकुमार
सहम, तुम्हारे मृदुल-करों में
झुकी धनुष-सी है साभार ।
वीर ! तुम्हारी चितवन-चञ्चल
विजय-ध्वजा में मीनाकार
कामिनि की अनिमेष नयन-छवि
करती है नव-बल सञ्चार ।

(१४)

बजा दीर्घ-साँसों की भेरी
सजा सटे-कुच कलशाकार ।
पलक-पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित-प्रतिहार,
बाल युवतियाँ, तान कान तक
चल-चितवन के बन्दनवार,
देव ! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत उत्सुक-दृग-द्वार ।

(१५)

पाकर अबला के पलकों से
मदन ! तुम्हारा प्रखर-प्रहार,
जब निरस्त्र त्रिभुवन का यौवन
गिरकर प्रबल-तृषा के भार
रोमावलि की शर-शय्या में
तड़प तड़प करता चीत्कार,
हरते हो तब तुम जग का दुख
बहा प्रेम-सुरसरि की धार ।

(१६)

ऐ त्रिनयन की नयन-वह्नि के
तप्त-स्वर्ण ! ऋषियों के ज्ञान !
नव-जीवन ! षड्ऋतु-परिवर्तन !
नव रसमय ! जगती के प्राण !
ऐ असीम-सौन्दर्य-राशि में
हृत्कम्पन-से अन्तर्धान !
विश्व-कामिनी की पावन-छवि
मुझे दिखाओ करुणावान !

श्रीसुमित्रानन्दन

तीर्थ-रेणु ।

(साक्रेटीज़)

आत्म-परीक्षा से बढ़ कर आवश्यक और कुछ भी नहीं है। आत्म-परीक्षा से यह प्रकट हो जाता है कि हम सचमुच कितना जानते हैं और कितना जानने का सिर्फ़ ढोंग करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अपने जीवन के कर्तव्यों का पालन करने के लिए हमारे लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि हम अपनी अन्तः-स्थिति से अवगत हो जायँ। हम यह जान लें कि हमारे ज्ञान की सीमा कितनी है, हमारी शक्ति की इयत्ता कितनी है, हममें दोष कितने हैं और हमारी आवश्यकतायें क्या हैं।

सर्व-साधारण की धारणा यह है कि कितने ही सद्गुण होते हैं। परन्तु यह उनका भ्रम-मात्र है। सच पूछो तो सद्गुण एक है। मनुष्य मनुष्य में भेद है, अवस्था अवस्था में भेद है, वर्ग वर्ग में भेद है। परन्तु इस भिन्नता से यह प्रमाणित नहीं होता कि सद्गुणों में भेद है। सभी अवस्थाओं में सदाचार के निर्माण के लिए एक ही भावना काम करती है। व्यक्ति-मात्र में, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, सदाचार के प्रति एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होनी चाहिए। तभी उसका आचरण सत् होगा। शिक्षा के द्वारा इसी प्रवृत्ति को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। किसी विशेष कार्य के लिए कुछ लोगों में अधिक बुद्धि होती है और कुछ में कम। परन्तु शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता सभी को है। जिनकी तीक्ष्ण बुद्धि होती हैं उन्हें तो शिक्षा और अभ्यास की विशेष आवश्यकता है। ऐसे ही लोगों के भ्रम में पड़ने की सम्भावना अधिक रहती है।

सत् ज्ञान की प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक है मिथ्या ज्ञान। कितने लोग ज्ञान न रहते हुए भी ज्ञान की कल्पना कर लेते हैं। इसी कल्पना के कारण वे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति की चेष्टा नहीं करते। इसी लिए आत्म-परीक्षा की आवश्यकता है, क्योंकि तभी हमारा ज्ञानाभास दूर हो सकता है और तभी हम अपने अभावों को जान कर उनकी पूर्त्ति की चेष्टा कर सकते हैं।

सत् कर्म सत् ज्ञान का परिणाम है। ज्ञान होने से ही हम अच्छे कृत्य कर सकते हैं। इसी प्रकार ज्ञान न होने से हम बुरे कृत्य ही करेंगे। जो अपने को अच्छी तरह जानता है, जिसे आत्म-ज्ञान है, वह सदैव सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होगा। जिसे आत्म-ज्ञान नहीं उसकी प्रवृत्ति दुष्कर्मों की ओर होगी। ज्ञानवान् ही ऐसे कृत्य कर सकता है जो क्षय-हीन हों। वही समाज के लिए आवश्यक है। वही आदर का पात्र है। सच तो यह है कि सदाचार का एक-मात्र प्रमाण ज्ञान है। समस्त दुर्गुणों का कारण है ज्ञान का अभाव। हम तो यहाँ तक कहते हैं कि ज्ञान रख कर दुष्कृत्य करना उतना बुरा नहीं जितना ज्ञान न रखते हुए बुरा काम करना। ज्ञान के अभाव से वह मानसिक स्थिति ही असम्भव हो जाती है जो सदाचार के लिए आवश्यक है। परन्तु ज्ञान रहने से दुष्प्रवृत्ति क्षणिक ही होती है, क्योंकि वह मन की क्षणिक विकृतावस्था का ही परिणाम है।

जितना सत् है सब ज्ञान है। जितने सद्गुण हैं सभी ज्ञान के अन्तर्गत हैं। वही मनुष्य सद्गुण-सम्पन्न, न्यायवान्, धैर्यशील और स्थिरमति हो सकता है जो प्राज्ञ है, जो यह जानता है कि सत् क्या है।

सत् वही है जो श्रेय है। सौन्दर्य वही है जो शिव है। वस्तु-मात्र की उत्तमता और सुन्दरता इसी में प्रकट होती है कि जिनसे उनका सम्बन्ध है उनके वे सर्वथा उपयुक्त हैं।

हमें सदैव जितेन्द्रिय होना चाहिए। जो जितेन्द्रिय हैं उन्हीं का जीवन अधिक सुखमय होता है। जो इन्द्रियों के वशीभूत हैं वे सुखी नहीं हैं।

हममें कष्ट-सहिष्णुता होनी चाहिए। जो कष्ट सह सकते हैं वे आपत्ति को सुगमता से दूर कर सकते हैं। यही नहीं, किन्तु वे कीर्ति और आदर भी पाते हैं।

हमें विनम्र होना चाहिए। अहङ्कार से हानि ही होती है और अपकीर्ति भी मिलती है।

हमें सार्वजनिक कृत्यों में सदैव सम्मिलित होना चाहिए, क्योंकि समष्टि की उन्नति में व्यष्टि की ही उन्नति है।

हमें अपने राज्य के अनुशासनों को मानना चाहिए। इससे व्यक्तिगत लाभ है और राज्य का कल्याण है।

हमें असत् पथ का अवलम्बन कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे हम अन्त में दण्डनीय अवश्य होंगे। हमें सदाचार का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि सदाचार ही सबसे श्रेष्ठ फल देता है, क्या पृथ्वी पर और क्या स्वर्ग में।

हमारे अधिकार में जितनी वस्तुएँ हैं उनमें सबसे अधिक मूल्यवान् अवकाश का समय है।

जब मनुष्य अपनी इच्छाओं से स्वतन्त्र रहता है और अपनी शक्तियों का उपयोग करता है तभी वह अपने को अपना स्वामी कह सकता है। जो शारीरिक स्थितियों और सुखों के आश्रित रहता है वह यथार्थ में दास है।

जो बुद्धिमान् हैं वे ज्ञान में ही कल्याण की पराकाष्ठा देखते हैं और इसी से वे ज्ञान के अनुसन्धान में ही अपने मन को लगाना चाहते हैं। सत्य की अपेक्षा कोई वस्तु उनको इष्ट नहीं है। वे इन्द्रियजन्य वासनाओं से अपने चित्त को विकृत करना नहीं चाहते। बाह्य वस्तुओं की जितनी ही अधिक उपेक्षा वे करते हैं और जितने ही अधिक सुख का अनुभव मनुष्य की ज्ञानमय स्थिति में करते हैं उतना ही अधिक वे अपने आचरण में इन सिद्धान्तों का प्रयोग करने के लिए प्रवृत्त होते हैं और अन्त में वे बाह्य संसार से सर्वथा स्वतन्त्र हो जाते हैं।

आत्मा स्वयं अदृश्य है, परन्तु शरीर पर उसका प्रभाव प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार संसार पर ईश्वर का भी प्रभाव विद्यमान है। जिस प्रकार अपने एक परिमित क्षेत्र—शरीर—पर आत्मा का निर्बाध अधिकार रहता है उसी प्रकार समस्त विश्व पर ईश्वर की अखण्ड सत्ता है। जिस प्रकार समस्त शरीर में आत्मा व्याप्त है उसी प्रकार समस्त विश्व में ईश्वर विद्यमान है।

किसी कार्य को अच्छी तरह आरम्भ करना साधारण बात नहीं है, फिर भी वह साधारण बात के बहुत आगे नहीं है।

मैं वैसी वस्तु की कामना ही नहीं करता जिसके खो जाने से मुझे दुःख हो।

जो लोग असमय अत्यधिक मूल्य देकर कोई वस्तु ख़रीदते हैं उन्हें यह आशा नहीं रहती कि वे उस वस्तु का समय आने तक जीवित रह सकेंगे।

नवयुवकों का प्रधान गुण यह है कि वे 'अतिशय' का सदैव वर्जन करें।

जिनमें सौन्दर्य है उन्हें ऐसे कृत्य करने का प्रयत्न करना चाहिए जो उनके सौन्दर्य के उपयुक्त हों। जिनमें सौन्दर्य नहीं है उन्हें ऐसे गुणों की प्राप्ति करनी चाहिए जो उनकी कुरूपता को उज्ज्वल कर सके।

दूसरों के आक्षेपों को प्रसन्नतापूर्वक सह लेना अच्छी बात है। यदि दूसरों के कथन में कुछ सार है तो उससे लाभ ही होगा और यदि उनका कथन सर्वथा निस्सार है तो उससे कोई क्षति नहीं हो सकती।

सद्गुण और सत्कर्म तभी सम्भव हैं जब वे आत्मप्रत्यय से उद्भूत हों। अतएव बुद्धिमान् को यह चाहिए कि सत् के सम्बन्ध में जो प्रचलित विचार हैं उनकी वह सदैव परीक्षा करता रहे। उसे यह देखते रहना चाहिए कि उनमें सत्य का कितना अंश है और उनके कारणों का भी उसे अनुसन्धान करना चाहिए।

जो मनुष्य दूसरों के और समाज के कृत्यों की आलोचना में प्रवृत्त होता है उसे पहले अपने सदाचार के विषय में सर्वथा संशय-हीन हो जाना चाहिए।

अनुवादक, सुशीलकुमार

किफ़ायती कमिटी की रिपोर्ट।

ख़र्च बढ़ जाने पर उसका घटाना मुश्किल हो जाता है। रुपया पास होने से आराम-तलबी की आदत पड़ जाती है। वह आदत धीरे धीरे बढ़ती ही जाती है, घटती नहीं। सवारी के लिए रबर-टायरवाली फ़िटन या "विकृोरिया" होने से मोटरकार रखने की इच्छा तो होती है, उसकी जगह पर इक्का या ताँगा रखने की नहीं। जब तक आमदनी का मार्ग बन्द नहीं हो जाता या तङ्ग नहीं हो जाता, और ऐसा होने पर भी जब तक मनुष्य बिलकुल ही लाचार नहीं हो जाता तब तक वह अपना ख़र्च नहीं घटाता—तब तक वह अपने अमीरी ठाट को नहीं छोड़ना चाहता।

यही हाल राजों और राज्यों का भी है। जिन राज्यों के अधिकारियों को ख़र्च की मंज़ूरी प्रजा से नहीं लेनी पड़ती या कुछ ही मदों के ख़र्च की मंज़ूरी लेनी पड़ती है वे भी फ़िज़ूलख़र्ची करने लगते हैं। इस देश के राज्याधिकारी भी ऐसे ही हैं। अभी कुछ समय पहले तक तो वे, इस विषय में, यथेच्छ ही मनमानी करते थे। तीन चार वर्षों से उनके ख़र्चीलेपन की रोक-टोक होने लगी है। यह रोक-टोक प्रजा के चुने हुए मेम्बर करते हैं, जिनके सामने, मंज़ूरी के लिए, कौंसिल में आमदनी और ख़र्च के चिट्ठे पेश किये जाते हैं। परन्तु कुछ मदें ऐसी हैं जिनके विषय में मेम्बरों को किन्तु-परन्तु तक करने का हक़ नहीं। उनमें मनमाना ख़र्च करने का अधिकार अधिकारियों ही को है। जिन मदों के ख़र्च की मंज़ूरी प्रजा-पक्ष के मेम्बरों से ली जाती है उनके सम्बन्ध में भी एक पेच रक्खा गया है। वह यह कि उनकी बात मानने के लिए राज्य के अधिकारी अफ़सर बाध्य नहीं। कल्पना कीजिए कि गाँजा, भङ्ग और शराब के महकमे का ख़र्च १० लाख रुपया है। प्रजा के प्रतिनिधियों ने राय दी कि वह घटा कर पाँच ही लाख कर दिया जाय। अब यदि राज्य के कर्त्ता यह कहें कि इतने से महकमे का ख़र्च नहीं चल सकता और १० लाख से एक पाई भी कम न ख़र्च करना चाहें तो प्रजा-पक्ष के मेम्बरों की राय ताक़ पर रक्खी रह जाय। ख़र्च उतना ही

किया जायगा जितना कि गर्वनर साहब और उनके सलाहकार करना चाहेंगे। अतएव यह कहना चाहिए कि इस विषय में ख़र्च करनेवाले अधिकारियों पर प्रजा का अङ्कुश है भी और है भी नहीं। क्योंकि आख़िरी फ़ैसिला अधिकारियों ही के हाथ में है। इस दशा में यदि आमदनी से ख़र्च अधिक हो जाय, जैसा कि इस प्रान्त में, कई साल से, प्रायः हो रहा है तो आश्चर्य्य की बात नहीं। क्योंकि गवर्नमेंट का शाही ख़र्च, जो बहुत समय से चला आ रहा है, सहसा कैसे घट सकता है? मोटर छोड़ कर तांगे पर सवार होना मुश्किल काम है।

अधिक ख़र्च फ़ौज रखने, रेलें बनाने, पश्चिमोत्तर प्रान्त की सरहद में सड़कें निकालने और बड़े बड़े अफ़सरों को बड़ी बड़ी तनख़्वाहें देने में होता है। कौंसिलों में बैठ कर प्रजापक्ष के मेम्बर कहते हैं कि यह सब ख़र्च कम कर दो। पर सरकार ठहरी भारत में अमनचैन रखने की ज़िम्मेदार। वह उनकी बात कैसे मान सकती है? मेम्बर महाशय तो ज़िम्मेदार हैं नहीं। वे भले ही अनाप-शनाप बातें किया करें। सरकार उनकी हां में हां नहीं मिला सकती। फ़ौज कम कर दे और रूस, अफ़ग़ानिस्तान या कहीं भारत भर चढ़ दौड़े तो! तो क्या हो? तो फिर मेम्बर महाशयों और उनके भाई-बन्दों पर आफ़त आजाय या नहीं? यदि सरहद की पहाड़ियों, खोहों और दर्रों की हिफ़ाज़त न की जाय, सड़कें न निकाली जायँ, जगह जगह मोर्चे न लगाये जायँ और सरहद्दी पठान पञ्जाब के पश्चिमी ज़िलों में लूट-मार मचाने लगें तो क्या हो? यही समझ कर सरकार फ़ौज-फाटे से चुस्त-दुरुस्त रहती है और उसे कम नहीं कर सकती। पर यह इतनी सीधी बात हम लोगों की समझ में नहीं आती। इस पर हम लोग यह दलील पेश करते हैं कि इतनी गोरी फ़ौज और इतने गोरे अफ़सर क्यों रखते हो। कम कर दो या बरख़ास्त कर दो। हम लोगों की एक सहायक सेना रक्खो। कोई चढ़ दौड़ेगा तो अपने देश की रक्षा हम करेंगे। क्यों करोड़ों रुपया बेकार ख़र्च कर रहे हो? परन्तु ये लोग यह नहीं सोचते कि स्वदेशी सेना और स्वदेशी अफ़सर कुछ एक दिन में थोड़े ही तैयार हो सकते हैं। धीरे धीरे यह भी हो रहा है। साल में दस पांच अफ़सर देहरादून में, दस पांच इन्दौर में, दस पांच विलायत में सिखला कर तैयार किये ही जा रहे हैं। सहायक सेना भी कुछ थोड़ी सी तैयार की जा रही है। इन कामों में—सीखने-सिखाने और तैयार होने में—सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं। यह कुछ मुँह का कौर नहीं। घबराइए नहीं। धीरे धीरे सरकार सब काम आपही ठीक कर देगी। भाई, उसे भी तुम्हारी फ़िक्र है।

रही रेलों के ख़र्च की बात। सो यदि रेलें न होंगी तो, ज़रूरत पड़ने पर, ख़तरे की जगह फ़ौज किस तरह फ़ौरन पहुँच सकेगी। कुछ वायुयानों से तो वह जा न सकेगी? रेलें और सड़कें जो ख़ैबरघाटी के आस पास बनी हैं और बन रही हैं वे इँगलिस्तान के फ़ायदे के लिए नहीं, भारतवासियों ही के फ़ायदे के लिए हैं। समझे साहब। उनके लिए ख़र्च करना बहुत ज़रूरी है।

गवर्नमेंट का कहना है कि बड़ी बड़ी तनख़्वाहों पर जो बड़े बड़े अँगरेज़ अफ़सर रक्खे गये हैं वे इसलिए कि कम तनख़्वाह पर वे लोग आंवां के समान तपनेवाले इस उष्ण देश में आने के लिए राज़ी ही नहीं। फिर उनको आराम से रखने की भी ज़रूरत है। वे सन्तुष्ट न रहेंगे तो काम क्या करेंगे ख़ाक। जितनाही गुड़ डालिएगा उतनाही मीठा होगा। अच्छी तनख़्वाह मिलेगी तो काम भी अच्छा होगा। तुम लोग अभी इस क़ाबिल नहीं कि कलेक्टरी, कमिश्नरी और गवर्नरी एक-दम से करने लगो। कुछ को ये काम दे भी दिये गये हैं। धीरे धीरे उनकी संख्या बढ़ा दी जायगी। जो गुण विलायती अफ़सरों में हैं उनका उपार्जन करो। धर्म्मराज के सदृश हृदयहीन होकर न्याय करना सीखो; घोड़ों की प्रदर्शिनी के लिए कोई चन्दा न दे तो उसका नाम दरबारियों की फ़ेहरिस्त से ख़ारिज करना सीखो; दौरे में अफ़सरों को मांस-मछली न मिले तो लोगों से मछलियां और मुर्ग़ियां पालने के लिए हुक्म जारी करना सीखो। सभी गुणों से सम्पन्न हो जाने पर तुम्हीं लोगों को ये पद मिला करेंगे। परन्तु जल्दी न करो। याद रक्खो, जल्द काम शैतान का होता है।

अच्छा साहब, विषयान्तर सा हो गया। क्षमा कीजिए।

ख़र्च यद्यपि बढ़ा है, तथापि यह न समझना चाहिए कि सरकार उससे बेख़बर है। जिन ज़रूरी मदों का ख़र्च नहीं घट सकता उनको छोड़ कर और मदों के ख़र्च में सरकार ख़ुदही किफ़ायत कर रही है। यहाँ तक कि फ़ौज तक का ख़र्च उसने कुछ घटा दिया है और कुछ फ़ौज कम भी कर दी है। प्रजा के प्रतिनिधियों ने तो ख़र्च कम करने की आवाज़ कुछ ही समय से उठाई है; सरकार तो उसके भी पहले से कुछ कुछ ख़र्च कम कर चुकी थी और उससे भी अधिक कम करने की तजवीज़ें सोच चुकी थी। दो तीन साल हुए उसने दो अफ़सर इस काम पर तैनात कर दिये थे कि हर महकमे के ख़र्च की जाँच करें और बतावें कि कौन ख़र्च कितना कम किया जाय। उनकी रिपोर्ट पर सरकार ने कितनेही ख़र्च रोक दिये, कितने ही कम कर दिये और कितनों हीं में किफ़ायत करने के मसले को ज़ेर-तजवीज़ रक्खा।

ख़र्च में किफ़ायत करने के लिए यह इतना भगीरथ प्रयत्न करने पर भी सरकार को कौंसिल के कुछ मेम्बरों ने एक किफ़ायती कमिटी मुक़र्रर करने के लिए बाध्य किया। यह घटना, इस प्रान्त के लेजिस्लेटिव कौंसिल में, १३ दिसम्बर १९२२ को हुई। सरकार ने मेम्बरों की बात कृपा करके मान ली। एक कमिटी बना दी गई। उसमें सरकार ने अपने आदमी तो सिर्फ़ ३ रक्खे और प्रजापक्ष के रक्खे ६। यह इसलिए हुआ, क्योंकि जिस महाशय ने कौंसिल में यह प्रस्ताव किया था उसने इसमें यह शर्त भी रक्खी थी कि प्रजापक्ष के मेम्बर अधिक रहें। कमिटी के मेम्बरों की नामावली नीचे दी जाती है—

(१) एस० एच० फ़्रीमेंटल, प्रेसीडेंट

मेम्बर

(२) आर० ओकडन
(३) ए० एच० सिलबर
(४) ज़फ़रहुसैन
(५) हृदयनाथ कुँजरू
(६) नानकचन्द
(७) एस० जाफ़रहुसैन
(८) नवाबज़ादा मुहम्मद यूसुफ़
(९) सीताराम
(१०) आई० डी० इलियट, सेक्रेटरी

इस कमिटी ने ख़ूब छानबीन करके जो रिपोर्ट लिखी है उसे प्रान्तिक गवर्नमेंट ने, अपनी राय के साथ, अपने गैज़ट में प्रकाशित कर दिया है। उसकी कुछ मुख्य मुख्य बातों का सारांश नीचे दिया जाता है। गवर्नमेंट ने कमिटी की बातों को कहाँ तक माना है, इसका भी उल्लेख किया जाता है।

मेस्टन साहब ने एक रिपोर्ट की। उसमें उन्होंने सिफ़ारिश की कि संयुक्त-प्रान्त २ करोड़ ४० लाख रुपया भारतीय गवर्नमेंट को उसके ख़र्च के लिए हर साल दिया करे। उन्होंने कहा कि इतना रुपया देने बाद १ करोड़ ५७ लाख रुपया बच रहेगा जो प्रान्तिक गवर्नमेंट के ख़र्च के लिए काफ़ी से भी ज़ियादह होगा। परन्तु यह उनका अनुमान ग़लत निकला। कैसे, सो सुन लीजिए—

१९१९-२० के आरम्भ में गवर्नमेंट के पास २ करोड़ ५२½ लाख रुपया बच रहा था। उस साल बड़े बड़े मुलाज़िमों की तनख़्वाहें ख़ूब बढ़ीं। नतीजा यह हुआ कि वर्षान्त में बची हुई रक़म में से २ करोड़ २१ ही लाख रुपया रह गया। दूसरे साल (१९२०-२१ में) छोटे छोटे मुलाज़िमों की तनख़्वाहें बढ़ीं। इससे उस साल के अन्त में गवर्नमेंट के ख़ज़ाने में करोड़ों के बदले सिर्फ़ ८९ लाख रुपया रह गया। १९२१-२२ में कई मदों में—विशेष करके जङ्गलात और आबकारी में—घाटा आया। आमदनी आमदनी बहुत कम हुई। उधर ख़र्च ख़ूब बढ़ा। आमदनी कम, ख़र्च अधिक। फल यह हुआ कि कहाँ पहले लाखों रुपये, ख़र्च बाद देकर, बचते थे, कहाँ ५१ लाख रुपये कम हुए। अर्थात् पुरानी बचत भी उड़ गई और इतना रुपया और अधिक ख़र्च किया गया। १९२२-२३ का साल इससे भी बुरा रहा। उसके अन्त में ५६ लाख के बदले १ करोड़ २४ लाख रुपये का घाटा रहा। १९२३-२४ में ख़ूब कर-वृद्धि हुई। तब कहीं आमदनी और ख़र्च बराबर रहा। परन्तु बचत कुछ भी न हुई। अतएव पिछले घाटे का सवा करोड़ रुपया ज्यों का त्यों देना रहा।

अच्छा यह घाटे का रुपया आया कहाँ से? क्या कहें

लेना पड़ा ? नहीं। इस प्रान्त की गवर्नमेंट ने प्रजा से बहुत सा रुपया एक और काम के लिए कर्ज़ लिया है। वह काम है नहरें और सड़कें आदि निकाल कर प्रजा के लिए कुछ अधिक सुभीता करना। सो उसमें से रुपया निकाल निकाल कर गवर्नमेंट ने अपना मामूली ख़र्च चलाया। देखा आपने। जिस गवर्नमेंट को करोड़ों की आमदनी वह, कुछ बचा रखना तो दूर रहा, अपना मामूली ख़र्च भी नहीं चला सकी !

मेस्टन साहबवाली कमिटी ने अन्दाज़ा किया था कि प्रान्त की आमदनी १२ करोड़ से भी अधिक होगी और ख़र्च होगा कोई १०$\frac{३}{४}$ करोड़ रुपया। अर्थात् कोई १$\frac{१}{२}$ करोड़ रुपया बच जायगा। उससे गवर्नमेंट इस सूबे की मनमानी तरक्क़ी कर सकेगी। परन्तु ख़र्च कोई २ करोड़ ८४ लाख रुपया बढ़ गया। इससे वह बचत भी चली गई और उधारवाले रुपये से भी बहुत कुछ रुपया उड़ गया। मुलाज़िमों की तनख़्वाहों में जो वृद्धि हुई वही अकेले १$\frac{१}{२}$ करोड़ रुपया खा गई! जेलों ने और महकमे तालीम ने मिलकर कोई ६५ लाख रुपया अधिक हज़म कर डाला! इन्हीं ख़र्चों से घबरा कर गवर्नमेंट ने ख़ुद ही कुछ कुछ किफ़ायत करनी शुरू की। कौंसिल के मेम्बरों ने जब बहुत कुछ हो-हल्ला मचाया तब तो उसे मजबूर होकर किफ़ायती कमिटी ही बनानी पड़ी। समालोच्य रिपोर्ट उसी का फल है।

कमिटी ने सभी महकमों की आमदनी और ख़र्च पर विचार किया है। जहाँ तक सम्भव था वहाँ तक उसने ख़ूब कतर-ब्योंत करने और ख़र्च कम करने की सिफ़ारिशें की हैं। उसका कहना है कि उसकी सिफ़ारिशों के अनुसार तख़फ़ीफ़ करने और ख़र्च घटाने से भी काम न चलेगा। क्योंकि सूबे की गवर्नमेंट ने बहुत सा रुपया और मदों से उठा कर ख़र्च कर डाला है। परन्तु उसका ख़याल है कि किसी दिन २ करोड़ ४० लाख रुपया, जो प्रान्तीय गवर्नमेंट भारतीय गवर्नमेंट को हर साल देती है वह, न देना पड़ेगा। या यदि देना भी पड़ेगा तो इतना नहीं। इसके सिवा अवध और आगरे के सूबों में जो जितने ही ज़िलों का नया बन्दोबस्त हो रहा है उसकी बदौलत सरकारी आमदनी बहुत बढ़ जायगी अर्थात् मालगुज़ारी में बहुत इज़ाफ़ा हो जायगा। बन्दोबस्त होता ही इसलिए है। उससे यदि सरकार मालामाल न हो जाय तो बन्दोबस्त का व्यापार ही व्यर्थ जाय। इसके सिवा कमिटी को आशा है कि छोटे बड़े मुलाज़िमों की तनख़्वाहें बढ़ाने से जो ख़र्च इतना बढ़ गया है वह अब और न बढ़ेगा। वह अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच गया है। यदि कमिटी के ये सभी अनुमान ठीक उतरें तो उसका ख़याल है कि बचत के जो तरीक़े उसने बताये उनसे काम चल जायगा। अर्थात् सूबे की आमदनी और ख़र्च बराबर रहेगा। परन्तु कमिटी के बेचारे मेम्बरों को स्वप्न में भी शायद यह ख़याल न आ होगा कि बड़े बड़े साहब लोग इतने लम्बे पैर फैलावेंगे जितने कि वे ली-कमिशन के सामने फैला रहे हैं और अपने बालबच्चों को विलायत भेजने तथा उनको पढ़ाने-लिखाने का भी ख़र्च माँग रहे हैं। उनकी और भी कितनी ही माँगें तो बातें ही में समझी जानी चाहिए। यदि उन सबकी पूर्ति हो गई तो हज़ार किफ़ायत करने पर भी आमदनी से ख़र्च अधिक ही होगा। अस्तु। तब की बात तब देखी जायगी। अभी तो कमिटी की कारपरदाज़ी के कुछ नमूने सुन लीजिए। किफ़ायत करने की युक्तियाँ तो उसने सभी महकमों के ख़र्च में निकाली हैं। परन्तु सबके उल्लेख के लिए यहाँ जगह कहाँ। हाँ, कुछ ख़ास ख़ास महकमों की ख़ास ही ख़ास मदों में वह किस तरह और कितनी किफ़ायत कराना चाहती है, इसका बहुत ही संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे देखिए। साथ ही सरकारी आज्ञाओं की भी बानगी देखते चलिए—

शासन-विभाग—

इस सूबे में पहले ११० मैजिस्ट्रेट थे। यह १० वर्ष पहले की बात है। अब केवल १०७ हैं। पर ख़र्च इन १०७ का ३६ फ़ी सदी बढ़ गया है। डिपटी कलेक्टर पहले थे २४५, पर अब हैं ३५५ ! उनके ख़र्च में १०६ फ़ी सदी की वृद्धि हुई है !!! तहसीलदार और उनके नायब प्रायः ज्यों के त्यों हैं। पर तनख़्वाहें उनकी भी ४० फ़ी सदी बढ़ गई हैं। क्लार्क साहबान की संख्या में १०० का इज़ाफ़ा हुआ है। अतएव सबका ख़र्च १२५ फ़ी सदी बढ़ गया है !!! इन लोगों की संख्या ज़िले की कचहरियों

में भी बढ़ी है और तहसीलों में भी। मगर इन बेचारों को काम बहुत करना पड़ता है। इस कारण इनमें तख़फ़ीफ़ करने की गुंजायश नहीं। बहुत ठीक। बने रहें। अपने अपने हक़ लिये जायँ। यदि कोई देहाती कोई काग़ज़ दिखाना चाहे तो शेर की तरह ग़ुर्रा उठें और कहे—"क्या आईना है जो इसे देख लें?" और यदि अभीष्ट-सिद्धि हो जाय तो काग़ज़ का वही टुकड़ा सचमुच ही आईना बन जाय। बने चाहे न बने, पर मुंशीजी या बाबूसाहब अपना मुखमण्डल उसके सामने ज़रूर कर दें।

सो क्लर्कों की संख्या तो कम नहीं हो सकती, पर मैजिस्ट्रेटों और तहसीलदारों की हो सकती है। क्योंकि यह कहाँ का न्याय है कि इतने बड़े ज़िले कानपुर में भी उतनी ही तनख़्वाह का मैजिस्ट्रेट और ज़रा से ज़िले जालौन में भी उतने ही का। इसी तरह बहुत बड़ी तहसील गाज़ियाबाद में भी एक तहसीलदार और नन्हीं सी माठ में भी वही। तुर्रा यह कि तनख़्वाह दोनों की प्रायः वही। अतएव इनमें तख़फ़ीफ़ होनी चाहिए। छोटे छोटे ज़िले तोड़ दिये जायँ और उनकी तहसीलें पड़ोस के ज़िलों में मिला दी जायँ। तहसीलें भी कितनी ही तोड़ी जायँ। ऐसा होने से ख़र्च में बहुत बचत होगी। छोटे ज़िलों के मैजिस्ट्रेटों और छोटी तहसीलों के तहसीलदारों आदि को फ़ुरसत के वक़्त मक्खियाँ न मारना पड़ेगा। इस तजवीज़ से जो क्लर्क बचेंगे उनके लिए काम का प्रबन्ध अन्यत्र किया जा सकता है। वे फालतू न पड़े रहेंगे।

किसी ज़िले को तोड़ देने से मैजिस्ट्रेट, सिविल सर्जन, पुलिस सुपरिंटेंडेंट, डिपटी कलेक्टरों वग़ैरह की तनख़्वाहें सभी बच जायँगी। जेल का ख़र्च भी बच जायगा। पर एक सब डिविज़नल अफ़सर बना रहेगा। छोटा ख़ज़ाना भी रहेगा। इससे रिआया को कुछ भी कष्ट न होगा। छोटे छोटे मुक़द्दमे फिर भी वहीं हुआ करेंगे। अतएव जो लोग यह समझते हैं कि ज़िला टूट जाने से ज़िले का सदर मुक़ाम उजड़ जायगा, सो ठीक नहीं। इमारतें भी सब बहुत करके ज्यों की त्यों रहेंगी।

इस तरह की दलीलों के आधार पर कमिटी ने राय दी है कि पीलीभीत, बलिया, मैनपुरी, बाराबंकी, प्रतापगढ़ और देहरादून ये छः ज़िले तोड़ दिये जायँ और हमीरपुर भी झाँसी और जालौन में बाँट दिया जाय। इससे लाखों रुपये की—कम से कम ९ लाख की—बचत होगी। डिपटी कलेक्टर मतलब से बहुत ज़ियादह हैं। इस कारण २८ डिपटी कलेक्टर कम करने की भी राय कमिटी ने दी है। उसने २६ तहसीलें भी तोड़ देने की सिफ़ारिश की है। वे यदि तोड़ दी जायँ तो सिर्फ़ तहसीलदारों और नायब तहसीलदारों की तनख़्वाहों की मद में कोई ७८ हज़ार रुपये की बचत हो जाय।

ज़िले और तहसीलें तोड़ने से क्लर्कों वग़ैरह के भी ख़र्च में बहुत कमी हो जायगी। ये हुईं ख़ास ख़ास सिफ़ारिशें।

इनमें से सरकार ने किसी भी सिफ़ारिश को ज्यों का त्यों मंज़ूर नहीं किया। ज़िलों और तहसीलों को तोड़ने के सम्बन्ध में वह ख़ुद जाँच करेगी और सर्व-साधारण जनों तथा कौंसिल के मेम्बरों को अपनी राय ज़ाहिर करने का मौक़ा देगी। और सिफ़ारिशों में से किसी को उसने ठीक नहीं बताया, किसी के विषय में फिर जाँच करने का पचड़ा लगाया है और किसी को अपनी दलीलों से काटने का कष्ट उठाया है।

न्याय-विभाग।

कमिटी की राय है कि अवध के लिए जो चीफ़ कोर्ट खुलनेवाला है वह न खुले। इससे १ लाख ६२ हज़ार की बचत होगी। सरकार का जवाब है कि यह नहीं हो सकता। बात तय होगई है। कुछ कारवाई भी हो चुकी है। अब चीफ़ कोर्ट का खुलना रुक नहीं सकता।

कमिटी की सिफ़ारिश है कि मुफ़्त में काम करनेवाले आनरेरी मुंसिफ़ बढ़ा दिये जाएँ और दीवानी कचहरियों के अख़्त्यारात अधिक कर दिये जायँ। गवर्नमेंट की आज्ञा है कि यह बात विचाराधीन रक्खी गई है। वह हाई-कोर्ट और जुडीशल कमिश्नर से सलाह कर रही है।

कमिटी की और सिफ़ारिशें भी गवर्नमेंट को अभी मंज़ूर नहीं। किसी के विषय में कोरा इनकार है; किसी के विषय में पुनर्विचार की पख़ है; किसी के विषय में मुक़र्रर की जानेवाली नई जाँच-कमिटी की रिपोर्ट का इन्तज़ार है।

शिक्षा-विभाग ।

इस महकमे के ख़र्च को कमिटी के मेम्बरों ने बड़ी ही क्रूर दृष्टि से देखने की कृपा की है । उन्होंने सिफ़ारिश की है कि अमुक अमुक ख़र्चों की जाँच-पड़ताल करने के लिए कमिटियाँ नियत की जायँ । उनके मेम्बर बड़ी बारीकी से जाँच करें कि ख़र्च में कुछ किफ़ायत हो सकती है या नहीं और हो सकती है तो कितनी । उसकी कुछ सिफ़ारिशें ये हैं—

(१) कुछ हाईस्कूल तोड़कर इमदादी स्कूल कर दिये जायँ ।

(२) अँगरेज़ी के मिडिल स्कूलों को जो इमदाद दी जाती है वह, ख़ास ख़ास हालतों में, बन्द कर दी जाय ।

(३) ऊँचे दरजों के छात्रों से जो फ़ीस ली जाती है वह बढ़ा दी जाय । कमिटी के अधिकांश मेम्बरों की राय है कि छोटे दरजों की भी फ़ीस में इज़ाफ़ा कर दिया जाय ।

(४) ट्रेनिङ्ग कालेजों के छात्रों को जो वज़ीफ़े दिये जाते हैं उनकी संख्या घटा दी जाय । नार्मल स्कूलों और ट्रेनिङ्ग क्लासों के छात्रों के साथ भी यही सलूक किया जाय ।

(५) स्कूलों के इन्स्पेक्टरों की संख्या कम कर दी जाय ।

(६) संस्कृत-पाठशालाओं के इन्स्पेक्टर का पद तोड़ दिया जाय । मुसलमानों के मदरसों के इन्स्पेक्टरों की भी ज़रूरत न रक्खी जाय ।

यदि ये सब तजवीज़ें और सिफ़ारिशें मान ली जातीं और इनके अनुसार कारवाई होती तो इस प्रान्त के शिक्षा-प्रचार पर बुरा असर पड़े बिना न रहता । इमदाद बन्द कर देने, वज़ीफ़े कम देने और फ़ीस बढ़ाने से हज़ारों छात्रों की शिक्षा बन्द हो जाती । कितने परिताप की बात है कि शिक्षा की अधोगति को रोकने का प्रयत्न करने के बदले उसे और भी गहरे गड़े में ढकेलने के लिए कमिटी ने ज़ोर लगाया । जिन कारणों से ख़र्च बढ़ा है उनका मूलोच्छेद करने का सामर्थ्य हम लोगों में नहीं । इसी से वे तो पूर्ववत् ही बने रहें; शिक्षा-प्राप्ति के मार्ग में बाधा पहुँचा कर कौड़ियाँ जमा की जायँ । क्या ख़ूब ! इस तरह दो-चार हज़ार रुपये की जो बचत हो सकती है वह उस हानि को देखते कुछ भी नहीं जो फ़ीस बढ़ाने से निर्धन छात्रों को पहुँच सकती है । बड़े ही खेद की बात है कि इस तरह की सिफ़ारिशें करनेवालों में इसी प्रान्त के निवासी, कई हमारे ही भाई, शामिल हैं ।

ख़ुशी की बात है, गवर्नमेंट ने इनमें से कितनी ही सिफ़ारिशों को नामंज़ूर कर दिया है । उसका कहना है कि शिक्षा के साधनों को बढ़ाने की ज़रूरत है, घटाने की नहीं । हाँ उसने दो एक कमिटियाँ ज़रूर बना दी हैं । वे फिर से जाँच करेंगी । सरकार ख़ुद भी कुछ बातों पर विचार कर रही है । इन्स्पेक्टर कम करने का मामला भी उसके यहाँ ज़ेर-तजवीज़ है । बहुत दुरुस्त ।

सफ़ाई, तन्दुरुस्ती और डाक्टरी विभाग ।

इस महकमे के ख़र्च से सम्बन्ध रखनेवाली सिफ़ारिशों में से कुछ नीचे दी जाती हैं—

(१) अस्पतालों के इन्स्पेक्टर जनरल का पद तोड़ दिया जाय ।

(२) टीके के काम के लिए सिविल सर्जनों को जो अलौंस मिलता है वह कम कर दिया जाय ।

(३) देहरादून में इस महकमे के अफ़सरों और अहलकारों वग़ैरः के लिए जो ख़र्च करना पड़ता है वह भारतीय गवर्नमेंट दिया करे । इस सूबे की गवर्नमेंट एक पाई भी न दे, क्योंकि वे लोग इस सूबे में रहनेवालों के सुभीते के लिए नहीं रक्खे गये ।

मंसूरी के सिविलसर्जन के लिए मददगार (असिस्टंट) सर्जन रखने की ज़रूरत नहीं ।

इनमें से नम्बर (१) सिफ़ारिश को सरकार ने मान लिया है । और भी कुछ थोड़ी सी तख़फ़ीफ़ करना उसने मंज़ूर किया है । बस । औरों के विषय में कमिटी की किसी दलील को उसने भ्रम कह दिया है; किसी के सम्बन्ध में उसने लिख दिया है कि यह बात वह ख़ुद सोच रही थी; पर उसके अनुकूल काम करना मुनासिब नहीं ।

कृषि-विभाग ।

कमिटी की रिपोर्ट है कि इस विभाग के सरकिल कम करके केवल ८ रक्खे जायँ और दो दो सरकिलों के लिए एक एक डिपटी डाइरेक्टर रक्खा जाय, हर सरकिल के लिए एक एक नहीं । इस पर सरकार की आज्ञा है कि

ये बातें सहसा नहीं की जा सकतीं। खूब गहरा विचार करना होगा। अभी तो हम इस विषय में कृषि के डाइरेक्टर साहब की राय लेने जाते हैं।

कमिटी की सम्मति है कि एंजिनियर के कारख़ाने में मतलब से ज़ियादह सामान है। उसे कम कर देना चाहिए। गवर्नमेंट ने इस बात को मान लिया है। एंजिनियर साहब अभी छुट्टी पर हैं। उनके लौटने पर उनको आज्ञा दी जायगी कि अपने कारख़ाने की फालतू मैशीनें, औज़ार और लोहा-लङ्गर कम करने के विषय में जो कुछ कहना हो, कहो। तब यदि मुनासिब समझ पड़ा तो अनावश्यक सामान कम कर दिया जायगा। अभी नहीं।

कमिटी का ख़याल है कि पशुचिकित्सक सुपरिन्टेंडेंटों में से दो एक का पद तोड़ देना चाहिए और कोआपरेटिव सोसायटीज़ के डिपटी रजिस्ट्रार को भी हटा देना चाहिए। सरकार ने इस पर इतना ही कह कर पिण्ड छुड़ाया है कि ये बातें विचाराधीन हैं।

उद्योग-धन्धे और बारिक-मास्टरी के विभाग।

इन महकमों के ख़र्च में बचत करने की कितनी ही तजवीज़ें कमिटी के मेम्बरों ने पेश कीं। परन्तु फल विशेष नहीं हुआ। दो चार हज़ार रुपये बचा लेना तो गवर्नमेंट ने मंज़ूर कर लिया है, अधिक नहीं। कुछ सिफ़ारिशों के विषय में उसने कह दिया है कि ठहरो; अभी नहीं; मामले ज़ेर-तजवीज़ हैं। कुछ के विषय में लिखा है कि उसके अफ़सरों ने जितनी कमी कर देने की सिफ़ारिश की थी उतनी पहले ही कर दी गई। कुछ के विषय में कमिटी की दलीलों को उसने अपनी दलीलों से काट दिया है।

जेल और पुलिस।

जेलों के सम्बन्ध में कमिटी ने दो तीन सूरतें ऐसी बताईं जिनसे कुछ बचत हो सकती है। परन्तु कमिटी की उन सिफ़ारिशों के उत्तर में अपनी सीधी सादी उक्ति—"विचाराधीन"—लिखकर गवर्नमेंट आगे बढ़ गई है।

पुलिस के महकमे में बड़े बड़े कतर-ब्योंत करने के विचार कमिटी के मेम्बरों को सूझे। इस इन्स्पेक्टर जनरल को निकालो, उस सुपरिंटेंडेंट को बरख़ास्त करो, इतने इन्स्पेक्टरों को उनके घर भेज दो, बचे-खुचे चौकीदारों को भी एक-दम बरख़ास्त कर दो, इत्यादि। परन्तु दयामयी सरकार इतने मुलाज़िमों—और बड़े बड़े मुलाज़िमों—के पेट की रोटी कैसे छीने। उसने कमिटी की एक भी सिफ़ारिश नहीं मानी। उसने साफ़ कह दिया कि इस महकमे का ख़र्च पहलेही बहुत कुछ घटाया जा चुका है। अब और नहीं घटाया जा सकता। ठीक ही है, पुलिस ही तो किसी हद तक सरकार के हाथ-पैर और आँख-कान का काम देती है। उसे यदि तरक़्क़ी न दी जाय तो थोड़ा तख़फ़ीफ़ भी न होनी चाहिए। मुलाज़िम और अधिक घटा देने से रियाया के जानोमाल की रक्षा कौन करेगा? कमिटी के मेम्बर? हाँ, एक बात गवर्नमेंट मान लेती तो बेहतर होता। उसे चौकीदारों को एक-दमही बरख़ास्त कर देना चाहिए था। जिसके घर में कोई मरे या बच्चा पैदा हो वह ख़ुदही थाने में क्यों न रिपोर्ट कर आवे? चोरी और डाकेज़नी, ज़रर शदीद और क़त्ल के हादसों की रिपोर्ट करने की ज़िम्मेदारी भी देहातियों हीं के सिर पर लाद देनी चाहिए थी। ये लोग अकसर बेकारही बैठे रहते हैं। दो चार कोस दौड़ कर यदि थाने चले जायँगे तो कौन बड़ी बात होगी। ये लोग सरकार को जो कर देते हैं वह चौकीदारों के टेंट में न जाकर सरकार के किसी और अच्छे काम आजाता तो अच्छा होता। क्यों न?

शासन-सम्बन्धी प्रधान विभाग।

गवर्नर के कौंसिल के मेम्बरों को शायद ६०००) के लगभग तनख़्वाह मिलती है। कमिटी का वक्तव्य है कि वह घटा कर ४०००) कर दी जाय। पर गवर्नमेंट को यह मंज़ूर नहीं। क़ानून बनानेवाले कौंसिल के प्रेज़िडेंट की भी तनख़्वाह कम करने की सिफ़ारिश कमिटी ने की है। पर उसके भी मान लिये जाने में सन्देह है। गवर्नमेंट का कथन है कि वर्तमान प्रेज़िडेंट की अवधि का अन्त शीघ्र होनेवाला है। तब देखा जायगा। गवर्नमेंट के सेक्रेटरियों के उहदे बराबर कर देने और चीफ़ सेक्रेटरी का उहदा तोड़ देने के लिए कमिटी की सिफ़ारिश को भी मानने के लिए सरकार तैयार नहीं। लाट साहब के दफ़्तर के बाबुओं के सम्बन्ध में की गई सिफ़ारिश सरकार को मंज़ूर है। अब वे लोग बहुत समझ-बूझ कर रक्खे

आयँगे और उनकी योग्यता का सर्टिफिकेट एक कमिटी (स्टाफ सिलेकशन बोर्ड) से लिया जाया करेगा ।

इसी तरह कमिटी की दो एक छोटी छोटी सिफ़ारिशों को और भी दाद देकर गवर्नमेंट ने अपने कर्तव्य का पालन कर दिया है ।

अन्यान्य विभाग ।

कमिटी की सूचना के अनुसार महकमे जङ्गलात के कमायूँ सरकिल के दो डिवीज़न मिलाकर उनका एकाकार कर दिया गया । इस तरह ३,२३६) की सालाना बचत होगी ।

कमिटी ने राय दी कि कोई ५० सब रजिस्ट्रार कम कर दिये जायँ और रजिस्ट्री का काम तहसीलदारों और नायब तहसीलदारों की निगरानी में हो । इस पर गवर्नमेंट की आज्ञा है कि एक-दम से इतना बड़ा परिवर्तन नहीं किया जा सकता । हाँ, धीरे धीरे, इस सिफ़ारिश के अनुसार काररवाई करने की चेष्टा की जायगी । वह भी परीक्षा के तौर पर होगी ।

आबपाशी के महकमे में, कमिटी की सिफ़ारिश पर, गवर्नमेंट ने अपने एक अंडर सेकटरी के उहदे को तोड़ दिया है । चार के बदले तीन सुपरिन्टेंडिंग इंजिनियर रखने की सिफ़ारिश भी सरकार ने मान ली है । शर्त यह रक्खी है कि आला हाकिम यदि मंज़ूरी देंगे तभी यह बात हो सकेगी । भोगनीपुर नाम के डिवीज़न को भी, कमिटी की सिफ़ारिश पर, गवर्नमेंट ने तोड़ दिया है ।

गाँजा, भङ्ग और शराब के महकमे के डिपुटी कमिश्नर का उहदा तोड़ दिया गया । बीस के बदले बारह इन्स्पेक्टर भी कम कर दिये गये । ये दोनों बातें कमिटी की सूचना के अनुसार हुईं ।

महकमे माल की मद में कमिटी की कई सिफ़ारिशें किसी हद तक मंज़ूर कर ली गई हैं और कोई ८०००) साल की बचत हुई है । सदर क़ानूनगोई का काम करनेवालों और पटवारियों की संख्या पहले ही कम की जा चुकी है । और अधिक तख़फीफ़ करने की बात ज़ेर-तजवीज़ है । कमिटी की कुछ और भी सिफ़ारिशों पर सरकार ग़ौर कर रही है ।

किफ़ायती कमिटी की सिफ़ारिशों और गवर्नमेंट की काररवाइयों का यह संक्षिप्त सार सुना दिया गया । इससे सिद्ध है कि बचत की बड़ी बड़ी मदों के सम्बन्ध में कमिटी ने जो सूचनायें की थीं वे अधिकांश नामंज़ूर होगईं । ख़ैर, महीनों की मिहनत और जाँफिशानी की बदौलत कुछ, योहीं थोड़ी सी, बचत जो हुई उसी को ग़नीमत समझ कर सन्तोष करना चाहिए ।

सहदेवसिंह वर्म्मा

चन्द्र-ग्रहण ।

(१)

आज भी मैं गया और ख़ूब साहस करके गया, पर कुछ न हो सका । क्या सब आशायें इसी तरह रह जायँगी ? सब दिन इसी तरह निकल जायँगे ? अनर्थ हो जायगा । मैं कुछ कर बैठूँगा । संसार फिर शोर मचावेगा । मा-बाप, भाई-बहन, मुँह बना कर कहेंगे—यह क्या किया । तुम भी उस समय कहोगे—वाह जी, ख़ूब किया ! नाम इसी तरह पैदा करते हैं । धिक्कारने को सब तैयार हैं, बिगड़ी पर हँसनेवाले हज़ारों हैं । पर कोई रास्ता भी बताता है ? कोई आँसू रोकने का उपाय भी सुझाता है ? ऐसे संसार से कोई क्या सम्बन्ध रक्खे ? जी तो करता है, इसके सब नियमों को तोड़ दूँ, इसकी एक न सुनूँ । हवा की तरह स्वच्छन्द हो जाऊँ; कूँज की तरह अवारा गर्द होकर फिरूँ । जब यह मेरे शोक में दूर खड़ा है तब मुझे इससे क्या लेना है । शोर करेगा, मेरी बला से । बगुले की सी स्वच्छता कहाँ से लाऊँ ? हृदय तो क्षण भर के लिए नहीं मानता । आँखें मेरे व्याकुल जीवन को डुबा देना चाहती हैं । इतनी प्रतीक्षा कौन करे ? कौन एक टाँग के भार, चुपचाप घात लगाये खड़ा रहे ? जो बगुलों की तरह दो हृदय रखते हैं उनको रहने दो । यहाँ तो एक ही हृदय है । देखा जायगा । झपटने दो । इस फटते हुए हृदय को बाज़ की तरह ही झपटने दो । अगर इसको आग में ही गिरना है तो गिरने दो । मैं तो समझा

कर थक गया। मैं इसका कुछ नहीं लगता। यह मेरा मन नहीं। अब यह उसका होगया है, जिसकी शेख़ी में आकर यह सारे संसार को तुच्छ समझ रहा है। जलने दो। फिर इसे सीधे मुँह जलने दो। दीवाने परवाना को कौन समझाय? तुम दया करके कहो—अरे भाई जल मरेगा, उस दीपशिखा में तेरे लिए प्रेम नहीं। वह तो तेरी मौत की तीखी मुसकान है! नन्हा सा परवाना अभिमान में आकर कहेगा—तुम तो पशु हो। तुम क्या समझो, वह क्या है। मेरे जलते हृदय के लिए वह तो अमृत का फ़व्वारा है! बस तो जब संसार के और परवाने के देखने में इतना भेद है, फिर समझाने की बात कहाँ! अब क्या सोचना है। दीपशिखा चमक रही है! परवाना जी तोड़ रहा है। कौन शक्ति है जो उसे समझा दे—प्रतीक्षा कर! लाओ, संसार की भारी जंज़ीरें उसके नन्हें पङ्खों पर बाँध दो। सारा संसार एक स्वर में चिल्लाकर उसके उन्मत्त हृदय को समझा दे। परवाना, दीपशिखा के दाह में अमृत की घूँट भरेगा!

मैं उस पर नाराज़ था, और कई दिनों से उसको समझा देने के ख़याल में था। पर आज बात चली तो उसके शब्दों ने मेरे ऊपर जादू कर दिया। तर्क-शक्ति अपना सा मुँह लेकर रह गई। मालूम देता था जैसे कोई राजकुमार भावावेश में आकर ख़ाली हाथ शेर पर झपटने जा रहा है और नौकर उसको नहीं रोक सकता। उसने बड़ी हिम्मत करके राजकुमार के कपड़े का एक कोना पकड़ लिया, राजकुमार ने कपड़ा ज़रा सा खींचा, उसने डर के मारे छोड़ दिया। उसका अधिकार छोटा था—पर वह काँप गया, उसके हृदय ने कहा—ईश्वर! तो क्या यह राजकुमार बस, यों चला जायगा!

(२)

शेखर! यह उमर इतनी गहराइयों में घुसने लायक़ नहीं हुई है। अभी तो होठों में मा के दूध की मिठास है। प्रेम के दूत तुम्हें कहाँ से बहका गये। यदि हम अभी से उससे डर गये तो आगे क्या होगा? उदासी के दिन आयँगे। चिन्ता की प्रलयकारी रात्रियाँ आयँगी। ये दिन और रातें तो केवल दिन और रातों के लिए ही हैं। ये तो आनेवाले प्रचण्ड मध्याह्न और मलिन रात्रियों की सुहावनी उषायें हैं! बस, इसी एक उषा के मुग्धालोक में स्वर्ग और मर्त्य का मधुर आलिङ्गन है। निर्व्याज सौन्दर्य का, बस यही एक अखिन्न उन्मेष है! भौंरों की कर्णकटु चिरचिराहट से अनभिज्ञ पुष्पों को मीठी नींद सोने का यही समय है!! उषा के बाद तो सूर्य की भीषण अग्नि है, रात्रियों का अनन्त अन्धकार है। क्या उस कवि की सृष्टि में—भोली उषा के—अधसोये हृदय को नीरव रात्रि का कातर हुङ्कार तोड़ सकता है? जिस आँख को अभी आँख भी नहीं देखनी आती उसमें गरम आँसू क्यों?

जिसने अभी आशा को ही नहीं पहचाना उसकी निर्मल आह में निराशा का दाह क्यों? कवि की रचना में इतनी अधीरता! कली का ओठ मुसकराने भी नहीं पाता, आँसू पहले ही आने लग जाते हैं!!

अधीरता से उसने कहा—

सुनो तुम्हें सुनाता हूँ। पर झगड़ा तो यह है कि तुम मेरे जीवन-काव्य पर अरसिक की तरह तर्क लड़ाने बैठ जाते हो। जहाँ मैं पूर्ण रस देखता हूँ, तुम उसे रसाभास बना देते हो। मेरे शृङ्गार-नाटक में शान्तरस को स्थायी बनाने की कोशिश क्यों करते हो? सुनो, रस की विडम्बना ब्रह्महत्या से कम नहीं। काव्य का महत्त्व आपने ही समझाया है। पर उसका निर्मल विकास मेरे ही हृदय में हुआ है।

अच्छा, सुनो आगे क्या हुआ। मैं उसी तरह उपासना में लगा रहा। पर उपासक के पुष्प उन चरणों में न पहुँच सके। भक्त की अक्षुण्ण उपासना का सन्देश पहुँचाने के लिए उनकी सुगन्धि भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकी। पर आज मैं ऐसा गया जैसे कोई बहुत दिनों तक तङ्ग होकर किसी से अपनी चीज़ लेने जाता है। मेरी चाल में पूर्ण स्थिरता थी। हृदय गम्भीर था। आँखों में कोई भय न था। निर्भीकता से पैर उठाता जा रहा था। मन में दृढ़ निश्चय था कि सीधे वहाँ पहुँच कर दरवाज़ा खटखटाऊँगा और कह दूँगा कि मेरी चीज़ को क्यों रोक रक्खा है? मेरी चीज़ को क़ैद रखने का उन्हें क्या अधिकार है? शोर मचेगा, झगड़ा होगा। होने दो। लोग अपनी चीज़ के लिए हथियार खींचते हैं तो मैं क्यों चुप रहूँ? और देखो—

यह कहते हुए उसने अपनी जेब से पिस्तौल निकाला। पिस्तौल चाँदनी में चमक उठा जैसे किसी भीषण परिणाम के ख़याल से वह अट्टहास कर उठा। मेरी आँखें न ठहर सकीं। मैं डर गया। मेरा हृदय भीरु था इसलिए नहीं, किसी अज्ञात आशङ्का से। एक धुँधला सा चित्र मेरी आँखों के आगे नाच गया। मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए उसने कहा—

देखो, पिताजी को इसका पता नहीं। हाँ, देखना कहीं मेरे वीर संवलित शृङ्गार में बीभत्स रस न खड़ा कर देना। ज़रा सी ध्वनि पड़ते ही पिताजी रौद्र पर ही विश्राम नहीं करेंगे वे तो बीभत्स रस की पूर्ण सीमा भी, पार कर जायँगे। यह मधुर-मिलन का ललित-नाटक आरम्भावस्था में ही नष्ट हो जायगा। दुधमुँहा उत्तर कुमार कौरवों पर विजय पाने जा रहा है; उसे अर्जुन की ज़रूरत है। शल्य की तरह कर्ण के हृदय को न तोड़ देना—

पिस्तौल को जेब में रखते हुए उसने विचित्र भावना से गाया—

तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के ननु धन्विनोऽन्ये।

मेरा शरीर हिल गया मानो पिस्तौल चल गया हो। मेरा मन कह उठा—बूढ़े ब्रह्मा की सृष्टि में यह रत्न बहुत दिन तक नहीं चमकेगा। इतना अधिकार, इतनी रसिकता, यह रूप और यह प्रतिभा! हो नहीं सकता। स्वर्लोक की ईर्ष्या में जलते हुए मर्त्यलोक के हृदय का यह तो एक उत्पादित स्वप्न है! निराश हृदय की कल्पना का मधुर आह्वान है। यह जो कुछ भी है, इस लोक के लिए नहीं। किसी शै की नज़र इसको अभी से लग गई। पर अपनी भावना में मस्त रसिक कुसुमायुध को क्या पता था कि कपाली भूतनाथ एक-दम ऐसा अरसिक निकलेगा। अधीरता से उसने कहा—कैसी चाँदनी है! लज्जालु नलिनियों ने भी ओठ खोल दिये हैं। और तुम मेरी ही उमर में स्थाणु की तरह खड़े हो। पुरुष हो या अन्दर किसी पशु का हृदय भरे बैठे हो।

मैं उसके संयोगान्त स्वप्न में वियोगान्त की क्लिष्ट कल्पना करके रस-विडम्बना नहीं करना चाहता था। अपनी दार्शनिकता की सनक को दबा कर कहा—नहीं, शेखर! तुम्हारा स्पर्श पाकर कोई भी पशु नहीं रह सकता। मैं तो तुम्हारे नेत्रों में किसी दिव्य सन्देश का अध्ययन कर रहा था। लज्जा के मारे उसकी आँखें न टिक सकीं। मेरी बाँह पकड़ कर उसने कहा—अब तुम कवि हो और कवि का ललित काव्य सुनने के अधिकारी हो। लो सुनो, मेरा हृदय अधीर हो रहा है। मैं वहाँ गया, पर न जाने क्यों मेरे बूट खटका करने से बन्द हो गये। लाख यत्न करने पर भी मैं अपने को मालिक की तरह न समझ सका। मेरा हृदय हठात् कहने लग गया—मैं कोई निराधार आगन्तुक हूँ, शायद चोर हूँ। चोर की सब भावनायें मुझमें आगईं। मेरी आँखों ने वह सहस्र-तोमुखी लज्जा न जाने कहाँ से सीख ली। विद्रोही की तरह मैं अपने आपको कहने लगा था—हटो क्या है। मैं मालिक हूँ। पर मेरे हृदय ने डाँट कर कहा—चुप! मैं बोल न सका। आख़िर मैं चोर के ही अधिकार से आगे बढ़ने लगा। जैसे चित्रकार को अपनी प्रेयसी का सर्वाङ्ग सुन्दर चित्रण करने में अनन्त समय चाहिए, इसी तरह अनाहूत प्रेमी को अपनी प्रेयसी के कमरे तक जाने में शायद लाखों वर्षों की ज़रूरत है। उस अन्धकार में छिपकर एक एक पैर हिलाने के लिए वर्षों का अवकाश चाहिए। बराण्डे के घने अन्धकार में कुत्ता पड़ा है या चौकीदार बैठा है, इतनी सी मीमांसा के लिए उत्पातभीरु प्रेमी के पास सदियों का विलम्ब चाहिए। मर्त्यलोक की रात्रि काफ़ी न थी। मर्त्यलोक को लांघ कर गन्धर्वलोक में उस गन्धर्वी के पास न पहुँच सका। अँधेरा डरपोक साथी की तरह साथ छोड़ कर भागने लगा। मैंने देखा, चाँद, जो मेरे से पीछे आया था, मेरी तरह निराश होकर लौटा जा रहा था। आः, असहाय मानवहृदय के लिए इस क्षण में जितनी यन्त्रणा है! पता नहीं, मेरे या चाँद के टूटे हुए हृदयों में से किसने अधिक आँसू बहाये। संसार आँसुओं में भीगा पड़ा था!

(३)

आज चाँद सोलहों शृङ्गार करके आया था। प्रकृति के सौन्दर्य की यदि कोई सीमा हो सकती है तो वह उस दिन थी। ललनाओं के आकर्षण की पूर्णता यदि सोलहवाँ वर्ष है तो उस दिन सोलहवें वर्ष का पूर्ण

उन्मेष था । युवाओं के निर्व्याज जीवन का पूर्ण विकास यदि प्रणय की प्रथम विजय में होता है तो वह दिन पूर्ण विकास का था । यदि विधाता की सृष्टि में स्वर्ग और मर्त्य के भेद-भाव को भुला देने का कोई उत्सव हो सकता है तो वह उस दिन था । मर्त्यलोक की यन्त्रणाओं में फँसा हुआ मानव-हृदय, यदि देवताओं की महिमा को तुच्छ समझने का साहस कर सकता है तो वह दिन उस साहस का था । यदि मनुष्य का लावण्य, षोडशी की तरह मनुष्य को आकर्षित कर सकता है तो मानव-इतिहास में वह घटना उस आकर्षण की पूर्णिमा थी । संसार में कुछ और ही रङ्ग था । जिधर से वह आया, संसार की आँखें उधर ही फँसी रह गईं । आँख उठाई तो ओः, पूर्णचन्द्र मेरे सामने था, स्वर्ग की अप्सराओं का लावण्य भी उसके सामने क्या था । रत्नों की धूलि या विश्व भर के पुष्पों का पराग उसके मुँह से बरस रहा था । सारा विश्व उस निरन्तर पराग-वर्षा से रञ्जित हो उठा । पता नहीं, यह मेरे जीवन का व्यामोह था या लावण्य के कृष्ण का मैंने विराट्रूप देखा था । मैंने मन में कहा—किस जन्म के यज्ञों का फल मेरी आँखों को मिला है, जो मैं इसको सामने देख रहा हूँ । मैं योगी की तरह संज्ञाहीन हो गया । अपनी नश्वरता को भूल कर मेरा हृदय बोल उठा—

लो, मैं तो अमर होगया ! मनुष्य-लोक का अन्धकार अब मुझे नहीं घेरेगा !

प्रसन्नता के आवेश में उसने कहा—मित्र, आज बातों का समय नहीं । आज इस शृङ्गारनाटक के मधुर-मिलन का अभिनय है । इतनी ही ख़बर देने आया हूँ । आज उत्तरकुमार कौरवों को जीत कर आया है । विजय कैसे हुई, यह अभी नहीं बताऊँगा । अँगरेज़ों की स्वच्छन्दता आख़िर कुछ मतलब रखती है । उसमें बहुत कुछ गुंजायश है । आज उसके पिता ने उसको आज़ाद कर दिया है । अब वह उसको कुछ नहीं कहेगा । वह मेरी हो चुकी । ७ बज गये ! आज आठ बजे वह मेरे साथ घूमने जायगी । बस, चलो—कह कर उसने मेरा हाथ खींचा । मैं कहाँ था ! कहीं पाताल की तह में से उठ कर दो शब्द मेरे कण्ठ में आये ।

मैंने कहा—तुम्हारी मोटर बाहर गई है और उस में तो एक ही सीट ख़ाली है ।

बिजली की तरह झटका देते हुए उसने कहा—कोई चिन्ता नहीं, पैदल चलेंगे, साइकलों पर चलेंगे, किराये की मोटर में चलेंगे । बस, चलो । आठ बजते हैं । जगह दूर है ।

मेरे हृदय ने धीरे से कहा—घोंसला बाँधते हुए पक्षी को सामने से देखना पाप है । आँख में एक समय एक ही आँसू उदित हो सकता है !

जिसने मुझसे कभी असत्य नहीं कहा था, जिसको मैंने कभी नहीं बहकाया था, उससे मैंने झूठ बोला । उसको धोखा दिया ! झूठ की पूरी बनावट से मैंने कहा—शेखर ! अच्छा, तुम चलो । मैं मा से एक बात कर लूँ । मैं तुमको ठीक वहीं मिलूँगा ।

बड़े अभिप्राय से मेरी पीठ पर हाथ मार कर उसने कहा—अच्छा तो ज़रूर । हम वहाँ प्रतीक्षा करेंगे ।

मैंने कहा—ज़रूर ।

+ × +

मैंने मन को समझाया, पर कुछ न हो सका । मन वश में नहीं था । उसने कहा—जब संसार में एक भारी विजय का अभिनय होने को है तब क्या तू इसी तरह घर बैठा रहेगा ? इस विजय से तेरे प्राणसूत्र का पक्का सम्बन्ध है ।

मैं चल पड़ा । ठीक स्थान पर जाकर, सड़क की एक ओर बैठ गया । सिनेमा देखनेवालों की बेशुमार भीड़ थी । निर्मल चन्द्रिका में कम्पनी का गैस, गहरी पुनरुक्ति कर रहा था । मालूम होता था इतनी भीड़ में एक भी ऐसा सहृदय कवि नहीं था जो उस पुनरुक्ति पर आपत्ति करता । मोटरों, गाड़ियों का शोर था । स्त्री और पुरुष तितलियों की तरह उतरा रहे थे । सैकड़ों ही स्त्री-पुरुष आते थे, पर सब कम्पनी के मकान में समा जाते थे जैसे विराट् के मुँह में सृष्टि समा रही हो । पर हैं ! यह क्या ! गन्धर्वलोक की सी आकृतिवाली एक गौराङ्ग युवती किसी युवक की बाँह पकड़े हुए अन्दर जाना चाहती है और दो गोरे उनको अन्दर नहीं जाने देते । रिबन हट जाने से युवती के बाल बिखरे जा रहे थे और उसका

हुई अग्नि से भी अधिक लाल हो रहा था। वह इधर-उधर देखती थी और अन्दर जाने का बार बार प्रयत्न करती थी। मेरे रोंगटे खड़े हो गये!

हिन्दुस्तानी और योरपियन तमाशा देख रहे थे। कुछ हिन्दुस्तानी दूसरे दरवाज़े से अन्दर घुसते चले जा रहे थे। मैंने देखा कि लड़की ने ज़ोर से धक्का मारा, पर फ़ौजी गोरे उससे न हिल सके। मैंने उसी भीड़ के बीच में गैस की चमक के नीचे क्षणभर के लिए देखा—असहाय द्रौपदी की सी आँखों से उसने इधर-उधर देखा और इतनी भीड़ में मैंने उस युवक का हाथ उठते देखा। मेरी ओर उसकी पीठ थी। मैं अपनी साइकल उठा कर उधर को दौड़ा। पर भीड़ के गोलमाल में ही रह गया। लोग इसी तरह अन्दर जा रहे थे। बाजा बज रहा था। भीड़ में से शोर करती हुई एक कार निकली। मैं उधर दौड़ा। पर मेरी साइकल उसका पीछा न कर सकी। मैं भीड़ भी पार न कर सका। हक्का बक्का सा रह गया। ये कौन थे, मुझे कुछ भ्रम सा ही रहा। कोई हिन्दुस्तानी तटस्थ की तरह कह रहा था—एक हिन्दुस्तानी को योरपियन गैलरी में नहीं जाने दिया। दूसरे ने कहा—यार, आगे बढ़ो; कहीं टिकिट ही न ख़तम हो जायँ।

ओफ़! यदि मैं ऐन्टनी होता तो वहीं कुछ कर गुज़रता। मैं जलते हुए से हृदय से घर को चल पड़ा। एक आवाज़ उठ रही थी—नहीं जी यह तो भ्रम है। ऐसा नहीं हो सकता। शेखर के घर जाने लगा था, पर कुछ सोच कर उस समय उधर जाना मैंने उचित नहीं समझा। जी कड़ा करके अपने हृदय से कहा—तू तो सब जगह रसाभास ही देखता है। क्या संसार तेरी विक्षिप्त कल्पनाओं के आधार पर ही चल रहा है?

मन में बड़ा युद्ध उठा। उस युद्ध को शान्त करने का सीधा सा उपाय उस समय अपने घर चला जाना था। परीक्षा की फ़िक्र और घर का प्रभाव कुछ इस तरह पड़ा कि मैं प्रायः एकाग्रभाव से अपने काम में लग गया। कुछ गरमी थी। ऊपर जाकर पढ़ने लग गया। चन्द्रिकामयी रात्रि थी। कोई कविता पढ़ने को जी ललचाया। कविता की पुस्तक उठाकर खोली तो उसमें निकला—

I was so chill, and overworn and sad,
To be a lady was the only joy I had,
I walked the street as silent as a mouse,
Buying fine clothes, and fittings for the house.

पढ़ते ही मैं अपनी हँसी न रोक सका। आङ्गल कवि की नायिका बाज़ार से चीज़ें ख़रीदे जारही है। अपने प्रेमी के विरह में व्याकुल है। गली में वह किस तरह जारही है जैसे चुपचाप कोई चूहा जा रहा हो! क्या लुभानेवाली उपमा है! कालिदास भी अपनी उपमाओं को समेट कर पीछे हट गया। मैंने कहा—यदि मेरे देश के लोग भी ऐसी उपमाओं से प्रसन्न हो जाया करें तो मैं अपने देश का सबसे बड़ा कवि हो जाऊँ। श्वेतद्वीप की श्वेताङ्ग नायिका के लिए आङ्गल कवि ने क्याही प्यारी उपमा दी है। मम्मट भट्ट इसको सुनें तो न जाने क्या कर डालें। मेरे चन्द्र-चुम्बित हृदय में यह उपमा कुछ इस तरह घुस पड़ी कि पीछा छुड़ाना कठिन हो गया। कवि-लोक की घाटियों में चक्कर लगाते हुए मैं थक गया। नींद ने आकर इस शास्त्रार्थ को जैसे तैसे बन्द कर दिया। मैं सो गया।

अपनी घोर निद्रा में मैं जगा हुआ था। निद्रा की गम्भीरता को पार करती हुई आवाज़ आई। सोई हुई आँखों ने देखा—वह मेरे पास खड़ा है। उसके नेत्र मेरी ओर न उठ सके। ओः क्या कातर खिन्नता थी! मैं बाणाहत मृग की तरह तड़प कर जाग उठा। आँखें खुलने के पहले ही जो शब्द मेरे कानों में पड़े वे थे—ग्रहण लग गया! ग्रहण लग गया!

मैं सीढ़ियों का कुण्डा लगाकर ऊपर सोया था। इसलिए मा सीढ़ियों में खड़ी कह रही थी—बेटा! उठ ग्रहण लग गया। जल्दी उठ कुण्डा खोल।

+ \+ \+

लोग नींद में स्वप्न देखते हैं। मैं क्या कहूँ, जागते हुए मैंने स्वप्न देखा। एक अच्छे मकान की खुली छत पर जितनी भीड़ हो सकती थी उससे कहीं अधिक थी। भीड़ पर कोई नियन्त्रण नहीं था। पर सब निर्जीव प्रतिमाओं की तरह कुछ कह रहे थे। उस भीड़ में सबसे पीछे पहुँचनेवाला शायद मैं ही था। वह चन्द्रिका जैसे सफ़ेद बिस्तरे पर पड़ा था। उसका लावण्य उस समय से भी अधिक था। पर उसके ओठों पर एक गहरी छाया

दीख रही थी ! मेरी आँखों को विश्वास न हुआ । मेरी समझ में ही कुछ न आया । मेरी नींद से उठी हुई आँखों के लिए यह कुछ ऐसी चकाचौंध थी कि कुछ भी समझ में न आया । मैं स्तब्धभाव से खड़ा रहा । पर उस कालिमा को भ्रम सिद्ध करने के लिए मैं जितना ही देखता था वह और भी दुगुनी चौगुनी होती दीख रही थी । भीड़ न होती या मेरे बस की बात होती तो मैं दौड़कर उससे पूछता—यह क्या ! पर उसका दुःख पूछने के लिए उसके कान के पास पहुँचना असम्भव था ! अब वह सृष्टि के एक कोने की ओर ज़मीन की सतह से नहीं उदित हो रहा था कि हम नदी के ऊँचे किनारे पर खड़े होकर निर्बोध बातें करते । अब वह बहुत ऊँचे आकाश में पहुँच चुका था । वह अब किसी एक की गोद का देवता नहीं था । सबकी आँखें उस पर पड़ रहीं थीं । पर अधिकार का उन्माद भी एक ही चीज़ है । वह समय किसी के आदर-सत्कार का नहीं था । किसी को विशेषता नहीं दी जा रही थी । बस, अकेला वही संसार की व्यग्रता का केन्द्र था ! मैं धीरे से एक ओर होकर उसकी आँखों के सामने जा खड़ा हुआ । मैंने देखा, उन आँखों में प्रलयाग्नि की ज्वाला थी । अभिज्ञान और परिचय वहाँ नहीं थे । जैसे पक्षी अचानक घोंसले से उड़ जाता है, मेरे प्राण हृदय से उड़ गये । शून्य हृदय में उनके पङ्खों की हवा गूँज रही थी । उसकी प्रतिध्वनि बार बार कहने लगी—Too-late ! It is too-late !

मेरे हज़ारों कानों ने सुना, संसार एकस्वर होकर कह रहा था—ग्रहण लग गया है ! देखो, चाँद आधा रह गया है ! धर्म करो । अनर्थ हो गया । कैसा बुरा ग्रहण है । ईश्वर का भजन करो—

भूमण्डल पर क्या कोलाहल था ! कैसा सन्नाटा और घबराहट थी !

अभी तक वह चुपचाप पड़ा था ! केवल छाया-विकार व्यक्त थे। जैसे कोई अपमानित और......खिसिआना बच्चा, लाखों मन क्रोध को छिपाये बैठा हो ! उसकी यन्त्रणा बढ़ रही थी । उसके मूर्छित हृदय का क्रोध ज्वालामुखी की तरह अचानक फट कर निकलने लगा ।

एक सन्नाटा छागया । वह बिस्तरे में पड़ा इस तरह भड़क रहा था जैसे समुद्र में बड़वानल की ज्वाला धधक रही हो !

आः अगर मैं परशुराम होता तो दुनिया को इक्कीस हज़ार बार खून में डुबा देता । अगर मैं भीमसेन होता तो कीचक की तरह चीर कर उसके चीथड़ों को दिशाओं में फेंक देता और आकाश को भी रँग देता । दुःशासन के खून से रँगे हुए हाथों से उसके बालों को बाँधता ! अगर मैं अश्वत्थामा होता तो इसी रात में रुधिर की कीच उड़ा कर बदला ले लेता............

क्या बात है बेटा ? किसका बदला ?

हाय ! हमारे हाथों की ताक़त कहाँ है ? क्या असहाय अभिमन्यु के सिर पर मारी हुई लात का बदला चुकाने को अर्जुन नहीं गरजेगा ? क्या अठारह अक्षौहिणियों के बीच में पड़ा हुआ अपमानित अभिमन्यु एक भी शब्द नहीं सुनेगा ? क्या साहसी अभिमन्यु का अपमान महाभारत के उज्ज्वल इतिहास में एक भी हुङ्कार नहीं पैदा करेगा ? क्या उसके अपमान की अग्नि एक कोने में पड़ी बुझ जायगी ? सिसकते हुए उसके अपमानित मस्तक पर क्या किसी के शङ्ख का नाद नहीं गूँजेगा ?

द्वन्द्व युद्ध में जैसे दो तलवारें टकरा कर शब्द करती हैं, उस तरह दाँतों को पीसते हुए उसने कहा—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपा-
दुःशासनस्य रुधिं न पिबाम्युरस्तः
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू

+ × ×

बेटा शेखर ! बता तो तुझे क्या होगया ? बेटा ?

आः यदि मैं आधे दिन के लिए नादिरशाह या अलेक्ज़ेण्डर हो जाता ! अगर आधे घण्टे के लिए भी नेपोलियन की सेना मेरे कमाण्ड में होती !

अपनी तुच्छता का अनुभव करके मुझे उससे अधिक पीड़ा हो रही थी । ओः यदि सचमुच मेरे बाहुओं में अश्वत्थामा की सी ताक़त होती ! उस छाया की रेखा बुरी तरह बढ़ रही थी । भारत का अपमानित अभिमन्यु अन्तिम साँस ले रहा था । अर्जुन का शङ्ख उसके कानों में न गूँजा । अठारह अक्षौहिणियों का रौद्र हुङ्कार उसकी

पीठ पर नहीं था! एक भी हथियार की झनकार उसके पीछे नहीं थी। उसके कानों में शायद ये दीनताभरे शब्द पड़ रहे हों—चांद का ग्रहण है। धर्म करो। लो, चांद आधा भी नहीं रहा.........

उसके जीवन की अग्नि शीघ्रता से निकल रही थी। आवाज़ डूब रही थी। क्लिष्ट स्वर से उसने कहा—

जहां तैंतीस करोड़ में एक भी भुजा अपने लिए न उठे, वहां रहना नरक में रहना है।

मैं मर तो न सका, पर मेरा हृदय हमेशा के लिए फट गया। मैं इधर-उधर देख कर रह गया। मेरे हृदय ने क्या कहा, कुछ ठीक पता नहीं।

इससे तो लङ्का के राक्षस भी अच्छे थे। मैंने शहद की एक मक्खी को छेड़ा था। पर मेरे साथ क्या हुआ, मैं जन्म भर नहीं भूलूँगा। शहद की मक्खियो! तुम छोटी हो, पर इस संसार में तुम रहने लायक़ हो। इस देश का मनुष्य न बन कर यदि मैं शहद की मक्खी बना होता तो मुझे अधिक अभिमान होता।

बेटा शेखर! हैं तू बताता क्यों नहीं क्या बात है? तुझे किसी ने क्या कह दिया?

अर्जुन, अश्वत्थामा और परशुराम की जन्मभूमि! भारतदेश? जा नष्ट हो जा! अब तुझ में क्या रक्खा है। हिमालय! तेरा मस्तक किस बात पर ऊँचा है? अपमान का सताया हुआ कोई अर्जुन अब तपस्या करने के लिए तेरी गोद में नहीं आवेगा! उसके क्रोधान्ध उच्छ्वासों से अब तेरी छाती गरम नहीं होगी! अपनी अनन्त हिम-राशि में मुँह छिपाये पड़ा रह!

ज्यों ज्यों उपचार हो रहा था, ग्रहण की छाया बढ़ती जा रही थी।

कुरुक्षेत्र! प्यारे कुरुक्षेत्र! जा अपने अभिमान-सहित नष्ट हो जा! क्यों दूसरों की ठोकरें खा रहा है? समाधिस्थ बूढ़े पिता का सिर कट जाय, अश्वत्थामा नहीं बोलेगा। अपमानित अभिमन्यु के लिए सारथि कृष्ण का रथ कौरवों के मस्तकों को चूर्ण नहीं करेगा। उस घोर अपमान की रात्रि में, कराहते हुए दुर्योधन के लिए, ख़ून से भीगा हुआ अश्वत्थामा कोई ख़बर नहीं लावेगा!

ओ ईश्वर ही जानता है, उस समय क्या हो रहा था। शब्द उसके ओठों से कुछ ही बाहर निकले—

मैं अकेला ही बहुत कुछ था, पर जब मेरी आंखों में आग चमकी तब, तैंतीस करोड़ भुजाओं के प्रतिनिधियों ने सामने से हँस दिया। धिक्कार है ऐसे देश में जन्म लेना। महान् भारत की गोद में खड़े हुए मेरी आंखें झुक गईं। मुझे इतना बड़ा देश एक श्मशान की तरह दिखाई दिया। मेरा मूर्च्छित हृदय कहने लगा—किसका अपमान है! यह किसका तिरस्कार है!

किस अभिमान पर पृथ्वीराज ने संयोगिता का बुलाना मान लिया था? किस अभिमान पर साहसी चन्द्रगुप्त ने अभिमानिनी ग्रीक-जाति की हेलेन को अपनी गोद में बैठा लिया था? चलो, यह देश अपना नहीं। यहां क्या रहना। उसकी कातर आंखों को मैं कोई जवाब न दे सका!

उसकी आंखें बन्द हो चुकी थीं। उसने टूटते शब्दों में कहा—

देखो वह आ रही है। उसे दरवाज़े पर ही ठहरा दो। मेरी आंख उसके आगे नहीं उठती। दरवाज़े पर ही उसको कह दो—वह मर गया! वह यहां नहीं। मैं उसकी कातर आंखों को कोई जवाब न दे सका!

जैसे चांदनी संसार से एकबारगी उठ गई। लोग कह रहे थे—लो, पूरा ग्रस्त हो गया। ग्रस्तास्त भी हो गया!

कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक का देश, ठण्डे पानी से नहा कर ग्रहण से उऋण हो गया!

प्रो॰ शैवाल

भाषा की उत्पत्ति।

भाषा मनुष्य के लिए विचार-विनिमय का एक सुगम साधन है। इसी के द्वारा मनुष्य सुगमता से अपने भावों को दूसरों पर प्रकट करता है। यद्यपि सङ्केत, लिपि आदि अन्य साधनों से भी विचार प्रकट किये जा सकते हैं तथापि जितनी सुगमता से वे भाषा द्वारा

सम्पादित हो सकते हैं उतनी सुगमता से अन्य उपकरणों द्वारा नहीं। भाषा के न रहने पर मनुष्य की सभ्यता की क्या अवस्था होगी, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। मनुष्य के लिए ऐसी आवश्यकीय वस्तु की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह विषय विचारणीय है। प्राचीन काल में प्रायः सभी जातियों ने धर्मादि वस्तुओं को ईश्वर-प्रदत्त माना था। जिन वस्तुओं की उत्पत्ति आदि के विषय में वे कुछ न जान सकते थे उन्हें वे ईश्वर या देवता के सिर मढ़ देते थे। भाषा के साथ भी यही व्यवहार हुआ। प्राचीनों के मतानुसार मनुष्य का एक जोड़ा ईश्वर ने उत्पन्न किया, जिससे संसार में मनुष्य-जाति की उत्पत्ति हुई और उनके आपस में विचार-विनिमय के लिए उन्हें 'भाषा' भी प्रदान की। इससे अधिक भाषा के विषय में प्राचीनों ने कुछ नहीं सोचा। क्रमशः मनुष्यों के अधिक तार्किक होने पर उन्हें उपर्युक्त मत में शङ्कायें उत्पन्न हुईं। तब उन्होंने एक दूसरे प्रकार से भाषा की उत्पत्ति की कल्पना की। उनके मतानुसार मनुष्यों ने आपस में परामर्श करके भाषा की कल्पना की और तदनुसार उसका रूप निश्चय किया। इन तार्किकों के मत में एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि इन्होंने भाषा को ईश्वर-प्रदत्त वस्तु न मान कर 'मानव-कृति' निश्चय किया।

विज्ञान तथा वैज्ञानिक अन्वेषण-रीति के विकास के साथ साथ लोगों ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में भी अन्वेषण किया और उन्होंने अन्त में यह निश्चय किया कि भाषा न तो ईश्वर ने मनुष्य को दी और न मनुष्य ने ही परामर्श करके उसकी उत्पत्ति की। इन लोगों के मतानुसार 'ईश्वर-प्रदत्त' मत केवल कल्पना-मात्र था। दूसरे मत में सबसे भारी शङ्का तो यह है कि भाषा की उत्पत्ति के पूर्व उसका स्वरूप निश्चय करने के लिए मनुष्यों ने एक दूसरे से बातचीत किस प्रकार की। यदि यह कहा जाय कि यह कार्य 'सङ्केतों'-द्वारा सम्पादित हुआ तो यह असम्भव है, क्योंकि सङ्केतों द्वारा 'नाद' के स्वरूप का बोध नहीं कराया जा सकता। अतः विकासवादियों ने यह निश्चय किया कि भाषा मनुष्यों की 'कृति' अवश्य है, पर उसकी उत्पत्ति सहसा नहीं हुई। वह (भाषा) क्रमशः कालान्तर में परिस्थितियों के अनुसार विकसित होकर इस रूप को प्राप्त हुई है। इन विकासवादियों के मतानुसार मनुष्य की उत्पत्ति सहसा नहीं हुई। उनका विकास किसी ऐसे प्राणी से हुआ है जो बन्दरों से अधिक सादृश्य रखता था। क्रमशः वह परिस्थितियों में पड़ कर सभ्य हुआ। उसकी सभ्यता, उसकी भाषा, उसका धर्म, उसके सामाजिक आचरण इत्यादि सभी कालान्तर में विकसित हुए हैं। ये सब मनुष्य के उद्योग के फल हैं। वास्तव में बात भी ऐसी ही जान पड़ती है। किसी वस्तु का सहसा उत्पन्न हो जाना विचार-सङ्गत नहीं जान पड़ता। भाषा भी सहसा नहीं उत्पन्न हो गई। उसका भी क्रमशः विकास हुआ है।

आदिम अवस्था में जब मनुष्य असभ्यावस्था में था, वह पशुओं की भाँति जङ्गलों में रहता था। उस समय उसकी कोई 'भाषा' न थी, वह कुछ 'व्यक्त चेष्टाओं' तथा 'अव्यक्त ध्वनियों' की सहायता से अपने मनोवेगों को दूसरों पर प्रकट करता था। इनके अतिरिक्त उनके पास और कोई साधन न था। चेष्टाओं और अव्यक्त ध्वनियों का प्रादुर्भाव स्वभावतः होता है। प्रायः पशु-मात्र में यह देखा जाता है कि जब उनके मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है तब साथ ही साथ उनकी बाह्य आकृति में भी परिवर्तन होता है। कितने आकृतिक परिवर्तन तो इतने स्पष्ट होते हैं कि उनसे मानसिक विकारों के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ किसी मनुष्य के मुख की आकृति में अमुक अमुक परिवर्तन देख कर हम तत्क्षण जान लेते हैं कि वह रुष्ट है। इसका कारण यह है कि मानसिक क्रियाओं तथा शारीरिक चेष्टाओं में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के उपस्थित होने पर दूसरा अवश्य प्रकट होता है। शारीरिक चेष्टाओं को मानसिक विकारों का बाह्यरूप कहना चाहिए। यों तो प्रत्येक मानसिक विकार के साथ आकृति में परिवर्तन होगा। पर जब जब मनोवेग अति तीव्र होंगे अथवा जब जब वे अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचेंगे तब तब बाह्य आकृति में कुछ ऐसे परिवर्तन होंगे जो अधिक स्पष्ट और इन्द्रियग्राही होंगे। इन चेष्टाओं-द्वारा मानसिक अवस्था का पूर्ण परिव

निकलता है। जैसे भिन्न भिन्न स्वाद के फलों को खाने से (उनके स्वादों के चखने से) उत्पन्न 'चेष्टा' को हम (उन फलों के चखे बिना) यह जान सकते हैं कि अमुक का स्वाद 'मीठा' है, अमुक का 'कडुआ' अथवा 'खट्टा'। ये चेष्टायें प्रायः दो प्रकार से उत्पन्न हुईं, कुछ तो स्वाद के चखने से और कुछ मनोवेगों की तीव्रता से। 'क्रोध,' 'विषाद' आदि की अवस्था में स्वभावतः मनुष्य की (पशु की भी) आकृति में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन होता है। ये चेष्टायें इतनी स्वाभाविक हैं कि प्रायः सभी मनुष्यों में समान होती हैं। स्वादु-जनित अथवा 'मनोवेग-जनित' चेष्टायें प्रथमावस्था में आपसे आप उत्पन्न होती हैं। पर क्रमशः अभ्यास से मनुष्य का उन पर अधिकार हो जाता है और वह यह जानकर कि अमुक चेष्टा अमुक भाव का द्योतक है, इच्छानुसार उन भावों को प्रकट करने के लिए इन चेष्टाओं को उत्पन्न करने लगता है। इन चेष्टाओं में क्रमशः वृद्धि भी होती है। दो प्रकार की और चेष्टायें उनमें मिल जाती हैं। एक तो वे चेष्टायें जो किसी ईप्सित-वस्तु को ग्रहण करने के उद्देश से हस्तपादादि में उत्पन्न होती हैं और दूसरी वे जो अनुकरण से उद्भूत होती हैं। मनुष्य स्वभावतः अनुकरण-शील होता है। एक बालक किसी अन्य को रोते देख कर बिना उसका कारण जाने ही रोने लगता है। यह उसका रोना केवल अनुकरण-जनित होता है। क्रमशः उसे अनुभव से इस बात का ज्ञान हो जाता है। 'रोना' अथवा अन्य अनुकरण-जनित चेष्टायें अमुक मानसिक अवस्था की द्योतक हैं। मानसिक विकारों और चेष्टाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ये चेष्टायें आदि-अवस्था में स्वयं उत्पन्न होती हैं, पर क्रमशः इनकी उत्पत्ति मनुष्य के अधीन हो जाती है। मनुष्य के अधीन होने पर ये चेष्टायें उसके भाव-प्रकाशन में सहायता करती हैं। स्वयम्भूत चेष्टाओं और मनुष्य की इच्छा से उत्पन्न हुई चेष्टाओं में भेद करने के लिए एक को 'चेष्टा' और दूसरे को 'व्यक्त चेष्टा' कहना उचित होगा।

व्यक्त चेष्टायें क्रमशः विकसित होकर सङ्केतों का रूप धारण करने लगीं। सङ्केतों के विकसित होने पर मनुष्य इन्हीं के द्वारा अपने भावों को प्रकट करने लगा। सङ्केत दो प्रकार के हुए, निदर्शक और आलेखक। निदर्शक सङ्केत उन चेष्टाओं के विकसित रूप थे जो हस्त-पादादि के परिचालन से उत्पन्न हुए थे। इनके द्वारा वस्तुओं को निर्दिष्ट करने अथवा 'पास', 'दूर' इत्यादि भावों का बोध होता था। इन सङ्केतों-द्वारा 'मैं' 'तू' 'वह' 'यहाँ' 'वहाँ' 'नीचे' 'ऊपर' इत्यादि भावों का प्रकाशन होता था। आलेखक सङ्केतों-द्वारा वस्तुओं और साधारण भावों का बोध होता था। निर्देशक सङ्केतों में अधिक विकास नहीं हुआ, पर आलेखक सङ्केतों का विकास होता रहा। पहले पहल वे केवल 'प्रतिरूप' थे। उनके द्वारा या तो वस्तुओं की बाह्य आकृति का बोध कराके उनका ज्ञान कराया जाता था अथवा भिन्न भिन्न भावों से उत्पन्न चेष्टाओं का प्रदर्शन करके उन भावों का ज्ञान कराया जाता था। उदाहरणार्थ 'झोपड़ी' का बोध कराने के लिए आकाश में उनकी बाह्य आकृति अङ्कित करना। 'निद्रा' सूचित करने के हेतु 'आँख मूँद कर सिर लटका लेना'। क्रमशः सङ्केत और विकसित हो कर अधिक प्रबोधक होते गये। इन व्यञ्जक सङ्केतों-द्वारा वस्तुओं के मुख्य लक्षण अथवा स्पष्ट आकृति का सङ्केत करके उन वस्तुओं का ज्ञान कराया जाता था। मनुष्य ने क्रमशः भाव-साहचर्य्य के कारण एक सङ्केत को उससे मिलते हुए दूसरे भाव के लिए मित प्रयोग करना सीखा, जैसे 'बकरी' का बोध कराने के लिए 'दाढ़ी' का सङ्केत करना। 'व्याघ्र' के लिए 'मुख फाड़ कर भयानक आकृति बना लेना। (अभी तक हम बालकों को प्रायः ऐसे आचरण करते पाते भी हैं) इन्हीं व्यञ्जक सङ्केतों-द्वारा 'भूख' 'प्यास' 'भागना' 'मारना' 'काटना' 'पेड़ पर चढ़ना' 'खोदना' आदि प्रत्येक भावों का प्रकाशन होता रहा होगा। ज्यों ज्यों मनुष्य के अनुभवों में वृद्धि होती गई, उसके भावों में भी जटिलता आती गई। उसे अपने अनेक ऐसे भावों को प्रकट करने की आवश्यकता पड़ी जिनका प्रदर्शन न तो 'प्रतिरूपक' सङ्केतों-द्वारा हो सकता था और न व्यञ्जक सङ्केतों से ही। ऐसी अवस्था में मनुष्य क्या करता? उसे किसी न किसी प्रकार अपने भाव प्रकट करने का उद्योग करना पड़ा। उसने देखा कि अनेक भावों की मानसिक क्रियाओं में

एक प्रकार का साहचर्य्य है। इसी साहचर्य्य के आधार पर उसने एक भाव के प्रदर्शक सङ्केत से उससे मिलते हुए अन्य नूतन भाव को प्रकट करना आरम्भ किया। इस प्रकार लाक्षणिक सङ्केतों की सृष्टि हुई। इन लाक्षणिक (Symbolical) सङ्केतों-द्वारा एक साधारण भाव की चेष्टा करके अन्य सूक्ष्म भाव का बोध कराया जाता था। उदाहरणार्थ जैसे 'भूख' का सङ्केत करके 'इच्छा' प्रकट करना, 'दुर्गन्ध' की चेष्टा से 'घृणा का भाव प्रकट करना। पीछे की ओर सङ्केत करके 'भूत' काल का और 'आने' का सङ्केत करके 'भविष्य का बोध कराना। इन 'लाक्षणिक सङ्केतों'-द्वारा मनुष्य अपने भावों को कुछ काल तक सुगमता से प्रकट करता रहा होगा, पर क्रमशः अनुभवों की वृद्धि के साथ साथ भावों में वृद्धि होने के कारण उसका काम उनसे भी पूर्णतया न चला। भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए वह सङ्केतों के साथ साथ भूमि पर उन वस्तुओं की आकृति-स्वरूप रेखायें अङ्कित करने लगा, जिनका बोध उसे कराना अभीष्ट होता था। इसके अतिरिक्त उसके मुख से कुछ अव्यक्त ध्वनियाँ भी निकल पड़ती थीं। ध्वनियों से भाव-प्रकाशन में इतनी सहायता न मिलती थी जितनी रेखाओं के अङ्कित करने से। यही रेखायें अङ्कित करना क्रमशः उन सङ्केतों तथा उनके द्योतक भावों की प्रतिलिपि हुई। यही आगे चलकर चित्रलिपि और तत्पश्चात् आधुनिक वर्णलिपि के रूप में परिणत हुई। सङ्केतों के साथ साथ जो ध्वनियाँ होती थीं वही क्रमशः व्यक्त होकर भाषा के रूप में प्रकट हुईं।

हम यह पहले ही कह आये हैं कि पहले पहल मनुष्य अपने मनोवेगों को अव्यक्त ध्वनियों और व्यक्त चेष्टाओं के द्वारा प्रकट करता था। हम यह भी देख चुके हैं कि पहले पहल ये ध्वनियाँ और चेष्टायें स्वयम्भूत थीं। मनुष्य का उनके उत्पादन में किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न न था। मनोवेगों की तीव्रता अथवा उनके पराकाष्ठा पर पहुँचने के कारण उनकी उत्पत्ति हुई थी। अतः यह निश्चय है कि आदिम चेष्टाओं की भाँति स्वयम्भूत ध्वनियों का भी मनोविकारों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। जिस प्रकार चेष्टायें मनोविकारों के बाह्य रूप थीं, उसी प्रकार ध्वनियाँ भी मनोवेगों के बाह्य रूप थीं। अन्तर केवल इतना ही था कि एक का बोध चक्षुओं से होता था और दूसरे का कानों से। ध्वनियों का मनोवेगों के कारण उत्पन्न होना स्वाभाविक है। प्रायः सभी पशु-पक्षियों में यह बात देखी जाती है कि 'भय', 'क्रोध' आदि की अवस्थाओं में उनके मुख से अव्यक्त ध्वनि निकल पड़ती है। पालतू पशुओं में यहां तक देखने में आता है कि वे 'भूख' 'प्यास' को प्रकट करने के लिए 'अपने बच्चे अथवा साथी को पुकारने के लिए भी भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनि करते हैं। बन्दर, कुत्ता, घोड़ा आदि पशु तो अपने स्वामी को पहचान कर मुख से ध्वनि करते हैं। पर ये प्रवृत्तियाँ अधिक विकसित हो गई हैं। आदिम अवस्था में मनोवेगों की तीव्रता के ही कारण ध्वनियों की उत्पत्ति हो सकती है। मूकावस्था में मनुष्य के मुख से उसी समय ध्वनियों का प्रादुर्भाव हुआ होगा जब उसके मनोवेगों में 'भय', 'क्रोध', 'पीड़ा' आदि के कारण अधिक तीव्रता उत्पन्न हुई होगी। ये ध्वनियाँ प्रायः वैकारिक होती हैं। वैकारिक ध्वनियाँ इतनी स्वाभाविक हैं कि प्रायः सभी जातियों की भाषाओं में उनके लिए समान शब्द हैं। वैकारिक ध्वनियाँ प्रत्येक व्यक्ति के मुख से समान ही उत्पन्न हुई थीं। अतः मनुष्य को अभ्यास से इस बात का ज्ञान हो गया कि अमुक ध्वनि अमुक भाव अथवा मानसिक अवस्था को प्रकट कर सकती है। तदनन्तर उन ध्वनियों की सहायता से वह अपने भावों को प्रकट करने लगा। पहले पहल इन ध्वनियों की सहायता से मनुष्य अपने इने-गिने भावों को प्रकट कर सकता था। अन्य भावों को प्रकट करने के लिए उसे सङ्केतों से सहायता लेनी पड़ती थी। ध्वनियों और चेष्टाओं का प्रादुर्भाव प्रायः साथ ही साथ हुआ था। पर चेष्टाओं और भावों में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण तथा उनके अधिक स्पष्ट होने के कारण उनका विकास ध्वनियों की अपेक्षा शीघ्र हुआ।

सङ्केतों के विकास के साथ साथ ध्वनियों का भी विकास होता गया। पहले पहल ये ध्वनियाँ केवल 'वैकारिक' थीं, पर क्रमशः इन ध्वनियों के अतिरिक्त कुछ अनुकर्णिक ध्वनियों की भी सृष्टि हुई। जैसे जैसे मनुष्य को वाक्-यन्त्रों पर अधिकार होता गया, वह ध्वनियों का अनुकरण करना भी सीख गया। इन 'अनुकर्णिक' तथा

'वैकारिक' ध्वनियों का प्रयोग सङ्केतों के साथ साथ होता था। सङ्केतों के साथ इनका प्रयोग प्रथम इस उद्देश से होता था कि उन सङ्केतों-द्वारा जिन भावों को मनुष्य प्रकट करना चाहता था वे अधिक स्पष्ट हो जायँ। जैसे जब उसे 'कौए' का बोध कराना अभीष्ट होता था तब वह 'पक्षी' का सङ्केत करके मुख से 'का' 'का' शब्द करता था। 'का' 'का' करने का अभिप्राय यही था कि अन्य पक्षियों का बोध न होकर केवल 'कौए' का ज्ञान हो। सङ्केत के द्वारा केवल 'पक्षी' का ज्ञान कराया जा सकता है। पर 'पक्षी' के सङ्केत से अन्य पक्षियों का भी बोध हो सकता है, केवल 'कौए' का ही नहीं। 'कौए' को अन्य पक्षियों से निर्दिष्ट करने के लिए उसके शब्द का अनुकरण करके 'का' 'का' करना आवश्यक था। अतः यह स्पष्ट है कि पहले पहल ये ध्वनियाँ सङ्केतों की सहायक-मात्र थीं। पर क्रमशः सङ्केतों के लोप हो जाने पर वे भावों को प्रकाश करने लगीं। सङ्केतों का लोप क्यों हुआ? कारण यह था कि सङ्केतों की अपेक्षा ध्वनियाँ अधिक उपयोगी थीं और उनको उत्पन्न करना सुगम था। सङ्केतों के उत्पन्न करने में जितना शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है उतना ध्वनियों को उत्पन्न करने में नहीं। इसके अतिरिक्त सङ्केतों-द्वारा रात्रि में दूर से अथवा अदृष्ट स्थान से भाव-विनिमय नहीं हो सकता। नेत्रों से कर्णेन्द्रियों की शक्ति अधिक प्रबल है। जहाँ आँखों से काम नहीं ले सकते वहाँ कानों से सुनकर काम चलाते हैं।

इन्हीं कारणों से ध्वनियों के विकास के साथ साथ सङ्केतों का ह्रास होता गया। अब तो एक प्रकार से सङ्केतों का प्रयोग बहुत ही सङ्कुचित हो गया है। वैकारिक और अनुकर्णिक ध्वनियाँ व्यक्त होकर वैकारिक तथा अनुकर्णिक शब्दों के रूप में परिणत हुई हैं। पहले पहल इन शब्दों की संख्या इनी-गिनी थी। इन्हीं थोड़े से शब्दों की सहायता से मनुष्य अपने आवश्यक भावों को प्रकट करता था। क्रमशः भाव-साहचर्य्य के कारण एक शब्द अनेक भावों को प्रकट करने लगा। शब्दों के संयोग से अनेक नये शब्दों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार कालान्तर में मनुष्य की भाषा ऐसी अवस्था को प्राप्त हुई जब उसमें आवश्यक भावों को प्रकट करने के लिए शब्दों की कमी न थी। अतः यही मानना पड़ेगा कि मनुष्य की भाषा क्रमशः विकसित होकर वर्तमान अवस्था को पहुँची है। न तो उसे ईश्वर ने मनुष्य को प्रदान किया है और न मनुष्य ने स्वयं आपस में परामर्श करके उसकी रचना की है।*

सत्यजीवन वर्म्मा, बी० ए०

पूर्व-भारत।

(१)

जिसने जग को था मुक्ति-मार्ग दिखलाया,
जिसने उसको था कर्म-योग सिखलाया।
था जिसका दिव्यालोक लोक में छाया,
जिसका गुण सबने मुक्तकण्ठ से गाया।
था जिसका सारा विश्व सदैव पुजारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी? ॥

(२)

गौतम कणाद से जहाँ हुए थे ज्ञानी,
जिसमें दधीचि शिवि सदृश हुए थे दानी।
जो मानी गई सदैव विश्व की रानी,
था जग में कोई देश न जिसका सानी।
जिसके अधीन थीं ऋद्धि-सिद्धियाँ सारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी?

(३)

बलराम अतुल बल-धाम हुए थे जिसमें,
निज-नाम-धन्य श्री राम हुए थे जिसमें।
घनश्याम महा अभिराम हुए थे जिसमें,
मुनिवर्य निपट निष्काम हुए थे जिसमें।
सीता सी साध्वी हुईं जहाँ थीं नारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी?

---

* यह लेख प्रोफ़ेसर लीवोनार्ड ब्लूमफ़ील्ड के एक लेख के आधार पर लिखा गया है—लेखक।

(४)

था जिस सा कोई देश न गौरवशाली ।
थी जिसमें सब सम्पदा सुरपुरीवाली ।
थी फैली जिसमें अतुल ज्ञान की लाली,
थी जिसकी बातें सभी नितान्त निराली ।
जो रही सर्वथा तीन लोक से न्यारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ?

(५)

मालिन्य, मोह, मद, द्वेष नहीं था जिसमें,
छल-छद्म पाप का लेश नहीं था जिसमें ।
पाखण्ड कपट का वेश नहीं था जिसमें,
कुछ कहीं किसी को क्लेश नहीं था जिसमें ।
था धर्म-कर्म ही वर्म जहाँ का भारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ?

(६)

रहता था जहाँ सुकाल सदा सुखकारी,
थे सुखी स्वस्थ सब मनुज जहाँ के भारी ।
थी जहाँ न कोई प्लेग, आदि बीमारी,
डरती थीं जिससे आधि-व्याधियाँ सारी ।
अत्याचारी थे जहाँ नहीं अधिकारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ?

(७)

अपने वश में ही जहाँ सभी का मन था—
तन हृष्ट-पुष्ट था और विमल आनन था ।
धन के रहते भी जहाँ सरल जीवन था,
सब जन थे जहाँ स्वतन्त्र, न कुछ बन्धन था ।
रक्षक थे जिसके देव-वृन्द सुखकारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ?

(८)

अति धीर वीर थे मनुज जहाँ के सारे,
नर-नाथ जहाँ के न्याय-मूर्ति थे प्यारे ।
नीतिज्ञ जहाँ के रहे कपट से न्यारे,
फिरते थे याचक जहाँ न मारे मारे ।
थे जहाँ भीष्म से ब्रह्मचर्य व्रतधारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ?

(९)

थीं सुखी सती शिक्षिता जहाँ की नारी,
रहते थे मालामाल जहाँ व्यापारी ।
शुभ शुक्ल-पक्ष की चन्द्र-कला सी न्यारी,
बढ़ती थी विद्या-कला जहाँ की सारी ।
था जहाँ न कोई क्रूर कुटिल अविचारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ?

(१०)

मन निर्मल सबका जहाँ प्रेम निश्चल था,
पीड़क निर्बल का जहाँ कभी न सबल था ।
दाम्पत्य अटल था जहाँ न विधवा-दल था,
जिसके गीतों से गूँज रहा जल-थल था ।
आराध्य जहाँ थे एक त्रिलोक-विहारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ?

(११)

जिसमें आध्यात्मिक अतुल प्रकाश हुआ था,
जिसमें विकास का स्वयं विकास हुआ था ।
सब विभूतियों का जहाँ विलास हुआ था,
लक्ष्मी-निवास का जहाँ निवास हुआ था ।
जो अशरण-शरण सदैव रही दुखहारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ?

(१२)

जो थी विज्ञों की जन्म-भूमि मनभाई,
ले जन्म जहाँ सभ्यता बढ़ी सुखदायी ।
सुरपुर तक जिसकी विमल कीर्ति थी छाई,
जिसका सदैव सब विश्व रहा अनुयायी ।
रहती थी जिसमें भक्ति विशेष हमारी,
वह भरत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ?

गोपालशरणसिंह

यारकन्द ।

आज-कल हम लोगों का जितना ध्यान पश्चिमी देशों की ओर है उसका दशांश भी एशियाई देशों की ओर नहीं। हम आये दिन प्रवासी भारतीय विद्यार्थियों के लिखे हुए योरपीय और अमेरिकन नगरों के सचित्र वृत्तान्त मासिक पत्रिकाओं में पढ़ते हैं। हम जर्मनी के एक्सलाशापल, इँग्लंड के सौथम्पटन और अमरीका के बर्कले के विषय में जितना कुछ जानते हैं उसका चतुर्थांश भी अपने निकटवर्ती काबुल या पेकिन या तेहरान के विषय में नहीं जानते। ल्हासा तो अभी तक हमारे लिए एक रहस्यमय नगर है। काबुल और नैपाल के समाचार हमें विलायती समाचार-पत्रों द्वारा ज्ञात होते हैं। हम यह मानते हैं कि पश्चिम ने राजनीति, पदार्थ-विज्ञान और व्यापार में असीम उन्नति की है। वहाँ के नगरों के वृत्तान्त हम [illegible]ों को अवश्य जानने चाहिए। परन्तु साथ ही हमें यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि पूर्वी नगरों का सौन्दर्य अपना निराला ही है। जो आकर्षक हमारी आत्मा के लिए इन नगरों में है, जो आत्मीयता हमें इन एशियाई पुरियों में देख पड़ती है, वह पश्चिमी नगरों में नहीं। इसलिए आज हम एक एशियाई नगर का कुछ वृत्तान्त पाठकों की भेंट करना चाहते हैं। यद्यपि मैंने स्वयं यारकन्द नहीं देखा, परन्तु उसके सम्बन्ध में जो कुछ मैं आगे लिखने को हूँ वह किसी पुस्तक से नहीं लिया गया। मेरे भाई, भतीजे और कई मित्र व्यापार के लिए प्रति वर्ष वहाँ जाते हैं। यारकन्द के विषय में उनसे जो कुछ सुना है वही यहाँ दिया गया है। इसमें दिये गये चित्र भी उन्हीं की कृपा से प्राप्त हुए हैं।

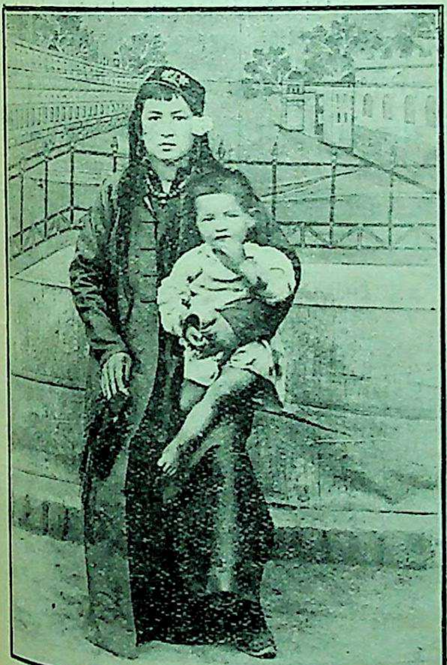

काशगर की एक फ़ैशनेबिल रूपवती रमणी।

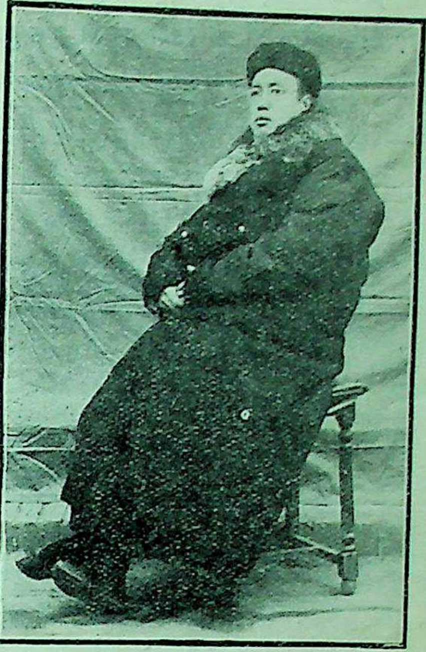

काशगर का खताई (चीनी) फोटोग्राफ़र।

यारकन्द मध्य-एशिया के अन्तर्गत चीनी तुर्किस्तान में व्यापार की एक बड़ी मण्डी है। यहाँ रूस, चीन, अफ़ग़ानिस्तान, बलख़, खुतन, फ़ारस और भारत के व्यापारी रहते हैं। भारत में चरस और रेशम अधिकतर यहीं से आता है। मध्य-एशिया को जानेवाले भारतीय हिन्दू व्यापारी पंजाब के केवल दो ज़िलों के रहनेवाले हैं—एक होशियारपुर के और दूसरे अमृतसर के। इन

में भी सौ पीछे ६५ होशियारपुर के ही हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कश्मीरी मुसलमान भी वहाँ व्यापार करते हैं। परन्तु उनके लिए वहाँ रहना कुछ कठिन नहीं, क्योंकि यारकन्द की सारी की सारी जनता तुर्क-मुसलमान है। हिन्दू व्यापारी वहाँ सबके सब मिल कर एक सराय में रहते हैं। यह सराय न्याज़बेग नामक एक यारकन्दी की है। इस समय वहाँ हिन्दुओं की संख्या ७५ के लगभग है।

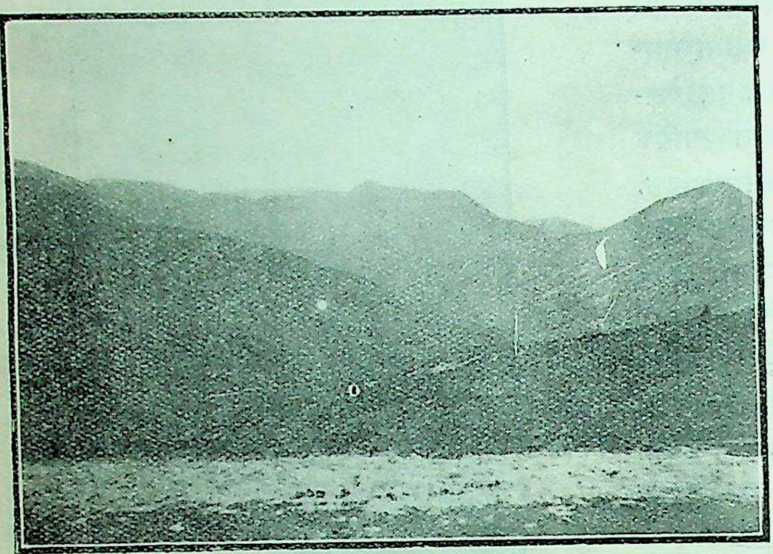

रुमेटी पर्वत।

यारकन्द के विषय में कुछ लिखने के पहले यहाँ पंजाब से यारकन्द तक के मार्ग का कुछ वृत्तान्त देना उचित जान पड़ता है।

श्रीनगर (काश्मीर) से यारकन्द के लिए दो मार्ग हैं। एक गिलगित से होकर जाता है। यह सीधा मार्ग है। भारत से जो डाक यारकन्द को जाती है वह इसी मार्ग से जाती है। पर यह रास्ता निर्जन है। अतएव व्यापारियों के लिए ठीक नहीं है।

व्यापारी लोग श्रीनगर से पहले लद्दाख़ जाते हैं। वहाँ वे कोई बारह तेरह दिन में पहुँच जाते हैं। रास्ता बड़ा बीहड़ और बर्फ़ानी है। मार्ग में ये पड़ाव पड़ते हैं—श्रीनगर—गाँधरवाल—कङ्गन—गुण्ड—नील बराट अथवा बालतल—मटैन—धरास—शमसक खरबू—श्रगल—युलवा—भोट खरबू—लामा यूरो—बिरला—ससफुल—निम्मो—लेह-लद्दाख।

लद्दाख़ काश्मीर-राज्य के अन्तर्गत है। यह बहुत ही ठण्डी जगह है। यह व्यापार की एक बड़ी मण्डी है। ला से लोग यहाँ व्यापार के लिए आते हैं। लद्दाख़ सारे इलाक़े का नाम है। मुख्य नगर का नाम लेह है। यहाँ के लोग भोट कहलाते हैं। ये बौद्ध-धर्म के अनुयायी हैं। श्रीनगर से लेह तक घोड़े पर आना पड़ता है।

लेह से यारकन्द के लिए फिर दूसरे घोड़े किराये पर लेने पड़ते हैं। व्यापारी लोग यहाँ से यारकन्द तक पहुँचने के लिए खाद्य सामग्री साथ ले लेते हैं, क्योंकि रास्ते में आबादी नहीं के बराबर है और खाद्य पदार्थ नहीं मिल सकते। लेह से प्रायः क़ाफ़िला तीसरे पहर चलता है और रात्रि को गङ्गला नामक स्थान में जा ठहरता है। यह स्थान खर्दुङ्ग पर्वत के ठीक नीचे है। इसकी ढलान बहुत भयानक है। इस पर सदा बर्फ़ जमी रहने के कारण मनुष्य और घोड़े प्रायः फिसल कर गिर पड़ते हैं। इस पर्वत के

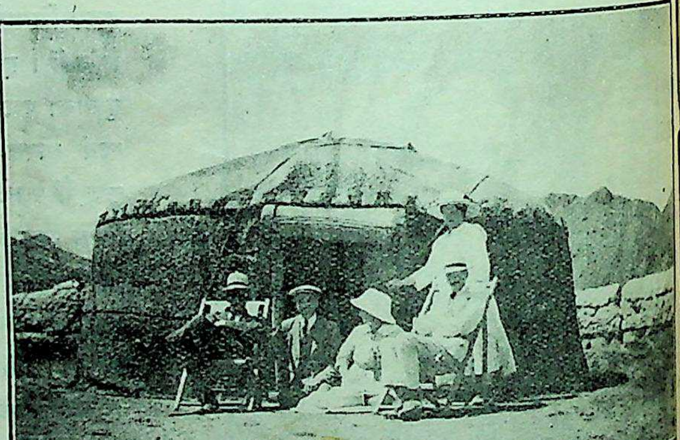

पामीर में ईसाइयों का एक तम्बू।

नीचे जाकर यारकन्द की ओर एक बड़ा तालाव है। यह सदा जमा रहता है। इसके ऊपर से यात्री गुज़रते हैं,

चीनी कुलीन स्त्री और उसकी मुसलमान दासी।

परन्तु बर्फ़ के टूट जाने से इसमें गिर पड़ने का डर रहता है।

गङ्गला से अगला पड़ाव 'खर्दुङ्ग की कोठी' है। यहाँ दाना, भूसा, दूध और इंधन मिल जाता है। तीसरा पड़ाव तिरी गाँव है। चौथा नगर और पाँचवाँ पनामीक है। यहाँ आबादी समाप्त हो जाती है। लोग पनामीक से चार पाँच मील आगे 'स्पाङ्गू' पर ठहरते हैं। इस पहाड़ को लाँघने पर दूसरी ओर 'तुलम भोटी' का पड़ाव पड़ता है। तुलम भोटी की चढ़ाई के ३४ फेर हैं। यारकन्द की ओर से पंजाब आते हुए 'तुलम भोटी' खींच कर स्पाङ्गू पहुँचने पर हवा बदल जाती है और तबीयत ख़ुश होने लगती है। इस पर्वत के शिखर पर भोट लोगों की एक झण्डी गड़ी हुई है।

इससे अगला पड़ाव 'तूती उलाग' (अर्थात् ससेरी पर्वत का पाँव) अथवा ऐङ्कड़ शहर है। यह निशान्त निर्जन हिममय स्थान है। ससेरी पर्वत के तीन माथे हैं। यहाँ एक कोठी है। यहाँ तक रास्ता पगडण्डी सा है, बहुत अच्छा नहीं। ऐङ्कड़ शहर से चल कर लोग ससेरी के दूसरी ओर जा ठहरते हैं। इससे अगला पड़ाव यपचन है। यह मैदान है। पड़ाव का अर्थ पाठक यह न समझें कि वहाँ कोई सरायें या दूकानें हैं। वहाँ तो बिलकुल उजाड़ है। केवल एक दिन की यात्रा करके जहाँ विश्राम किया जाता है उसे ही यहाँ पड़ाव कहा गया है। यपचन से चल कर 'चाह जोश यिलगा' अर्थात् कराकुरम पर्वत के पैर पर ठहरते हैं। यह एक नाला है। यहाँ इतनी सरदी होती है कि चाय बनाना भी कठिन होता है। यहाँ जल नहीं मिलता, बर्फ़ ही बर्फ़ पड़ी रहती है। घोड़े बाँधने के लिये यहाँ बर्फ़ में खूँटा नहीं गाड़ा जा सकता। घोड़ों से रस्से बाँध कर तम्बू लगाये जाते हैं। कराकुरम के शिखर पर काश्मीर और चीनी तुर्किस्तान की सीमायें मिलती हैं। वहाँ दो छोटे छोटे स्तूप बने हुए हैं। इस जगह साङ्गू नाम का एक जङ्गली जन्तु पाया जाता है और कौए बहुत हैं।

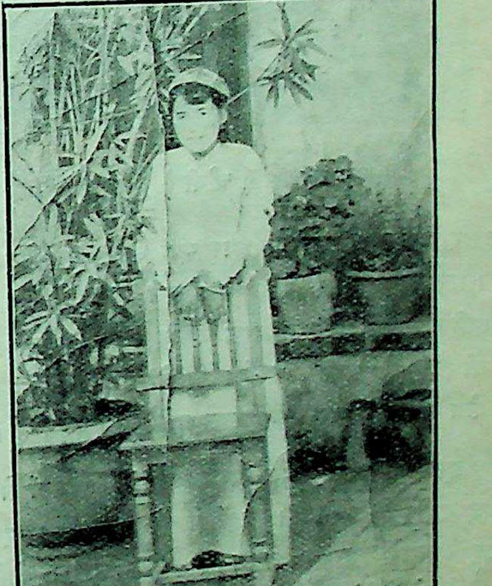

नये फ़ेशन की यारकन्दी लड़की।

कराकुरम लाँघ कर क़ाफ़िला 'बल्ती भरांसा' या 'बड़सन बलक' पर पड़ाव करता है। ये दोनों स्थान बड़े कष्टदायक हैं। यहाँ दिन रात अत्यन्त शीतल पवन चला करता है। क्या मनुष्य और क्या घोड़े सब ठिठुर जाते हैं। सरदी के मारे मुँह मुड़ जाते हैं। बात नहीं हो सकती। साँस के साथ जो भाफ निकलती है वह मूँछों पर जम जाती है, मुँह सूज जाते हैं। आँखों को छोड़ कर शरीर के शेष सब अङ्ग गरम कपड़ों से ढके रखने पड़ते हैं।

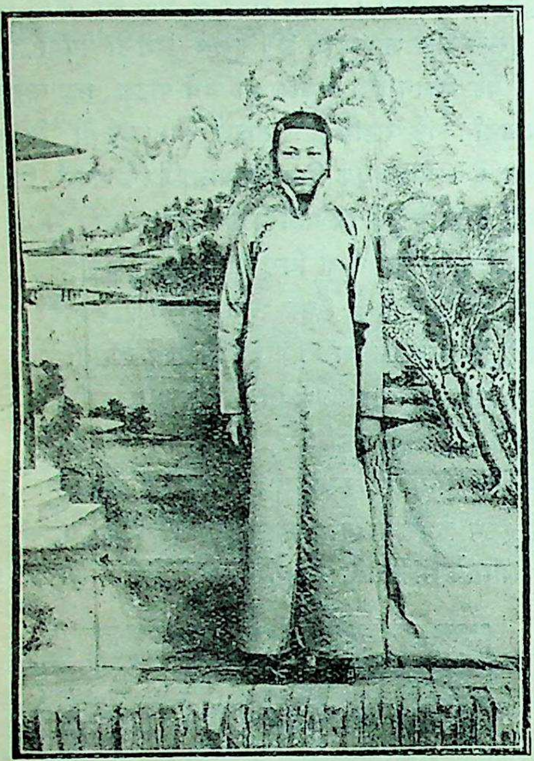

एक खताई (चीनी) युवती।

इससे अगला पड़ाव मलकशाह है। यहाँ से यारकन्द नदी निकली है। यहाँ से दो रास्ते हैं। एक तो संजू कल्याण होकर जाता है और दूसरा कोकियार होकर। ये दोनों करग़लक नामक स्थान पर मिल जाते हैं। व्यापारी प्रायः मलकशाह से खपलुङ्ग नामक पड़ाव पर जाते हैं। यहाँ लकड़ी बिलकुल नहीं मिलती। इसके आगे 'ईगर सल्दी' का पड़ाव है। इस पद का अर्थ है काठी रक्खी हुई। यहाँ लकड़ी मिल जाती है।

यहाँ से चल कर कुकताश और तत्पश्चात् कलानोलदी का पड़ाव है। यह निपट जङ्गल है। यहाँ यारकन्द नदी का सङ्ग छोड़ कर एक नाले में पड़ जाते हैं और यङ्गी दवान (नया पहाड़) के उस पार पहुँच जाते हैं।

इसके आगे ख़ुद मज़ार का पड़ाव है। यहाँ बस्ती का आरम्भ हो जाता है। इसके एक ओर मैदान है और नाला है और गोचर-भूमि है। इससे अगला पड़ाव इलाक़ा खलास्तान है। अब क़ाफ़िला सजल प्रदेश में पहुँच जाता है। फिर सुकतलिश है। आगे थोपा दवान अर्थात् मिट्टी का पर्वत है। इसकी चढ़ाई बहुत सख़्त है। चढ़ते समय साँस बहुत फूलती है। मनुष्य और घोड़े कुत्ते के सदृश हाँफने लगते हैं। इसके आगे 'अक-मशीत' पर पड़ाव पड़ता है। फिर कोकियार ग्राम मिलता है। यहाँ अच्छी बस्ती है। यहाँ से पाँच मील की दूरी पर, लद्दाख़ की ओर, पहाड़ बन्द हो जाते हैं। यहाँ से चल कर बैशतरक में ठहरते हैं। वहाँ से आगे पोस गाम में और पोस गाम से स्वयं यारकन्द नगर में जा पहुँचते हैं।

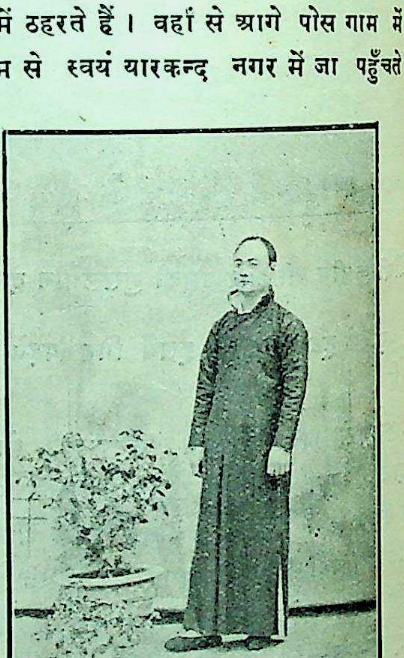

यारकन्द का चीनी पोस्टमास्टर।

इस प्रकार लद्दाख़ से यारकन्द तक पहुँचने में तेईस चौबीस दिन लग जाते हैं। मार्ग बड़ा ही विकट और भयावह है।

एक बात लिखनी रह गई । यारकन्द जाने के लिए श्रीनगर में ब्रिटिश रेज़ीडेण्ट से अनुज्ञापत्र (पासपोर्ट) लेना पड़ता है । इसके बिना जाने नहीं दिया जाता ।

यारकन्द बड़ा सुन्दर नगर है । यह उच्च समभूमि पर स्थित है । जल-वायु बड़ा स्वास्थ्यवर्धक है । पंजाब से जितने लोग वहाँ जाते हैं, प्रायः सब तगड़े ही होकर आते हैं । कई एक के मुखमण्डल तो सेब के सदृश लाल हो जाते हैं । शीतकाल में कभी कभी यहाँ बर्फ़ भी गिर जाती है । परन्तु साथ ही ग्रीष्म में पसीना भी आने लगता है । फल बहुत होते हैं । अङ्गूर, सेब, अनार, बादाम, नाशपाती, खुबानी, गलास, ज़मिस्ताँ और बड़ा खरबूज़ा इतनी कसरत से होते हैं कि एक पैसे में मनुष्य पेट भर सकता है । यदि किसी बाग़ में चले जाइए तो फिर पैसा ख़र्च करने की भी आवश्यकता नहीं । फलोद्यान का स्वामी आपको मुफ़्त में ही फलों से पेट भर लेने की आज्ञा दे देगा ।

करगिज़ या पहाड़ी लोग ।

यारकन्द में गन्ना, सन्तरा, आम, केला और अमरूद नहीं होता । यहाँ वर्षा बहुत कम होती है । नदी की नहरों से खेतों और बाग़ों की सिँचाई होती है ।

यारकन्द नगर के दो भाग हैं—एक कुहना शहर अर्थात् पुराना नगर और दूसरा यंगी शहर अर्थात् नया नगर । कुहना शहर में मुसलमान लोग रहते हैं । यंगी शहर में शासक जाति के चीनी व्यापारियों की दूकानें हैं । बाज़ार खुले नहीं, किन्तु छतवाले हैं ।

तीरा बाग़।

यारकन्द में तीरा बाग़ एक बड़ी प्रसिद्ध जगह है । यह किसी वाटिकाविशेष का नाम नहीं, वरन नगर के एक विशेष भाग को ही तीरा बाग़ कहते हैं । यह नगर की कच्ची फ़सील के बाहर दक्षिण-पश्चिम की ओर है । यह समतल भूमि का एक टुकड़ा है । इस प्रान्त में सारी भूमि लगभग छब्बीस सौ मोह (१ मोह = २ कनाल) है । इसमें चालीस पचास बाग़ हैं । सारे प्रान्त की सिँचाई यारकन्द नदी की मशाह नामक नहर और उसकी शाखाओं-द्वारा होती है । तीरा बाग़ में सबसे प्रसिद्ध फलोद्यान अताउल्ला बाई हाजी के पुत्र आलम जान का है । ये महाशय अन्धजान के रहनेवाले हैं । फलोद्यान के चारों ओर कच्ची दीवार का आकार है । इसमें दो बड़े दरवाज़े हैं । उद्यान में टहलने के लिए सुन्दर सड़कें हैं । मध्य में दो बड़ी विशाल कोठियां हैं । इनमें दो दो कमरे अतिथियों के लिए हैं । कोठियों के सामने ही पानी का एक बड़ा तालाब है ।

फागुन में नदी से जल लाकर इसमें भर दिया जाता है । शीत-काल में यह जम कर बर्फ़ बन जाता है । पौष मास में छोटे छोटे बालक इस बर्फ़ पर खेलते फिरते हैं । तालाब के इर्द गिर्द रङ्ग-बिरङ्गे सुन्दर फूल लगे रहते हैं ।

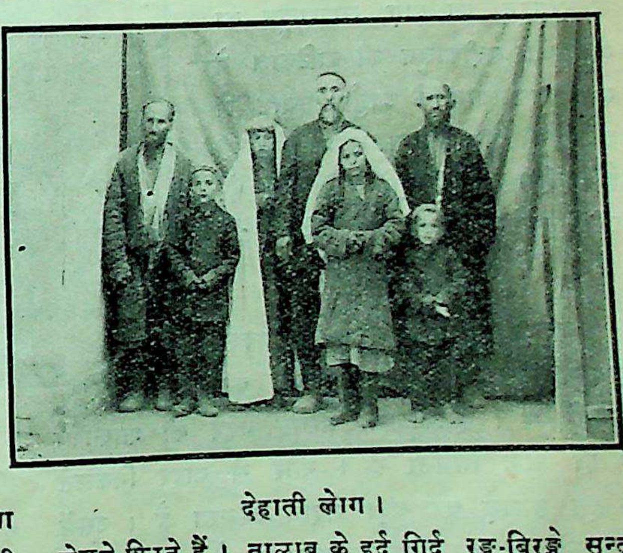

देहाती लोग ।

शीतकाल में यारकन्दी लोग नगर में रहते हैं, परन्तु

वसन्त के आने पर वे उद्यानों में चले आते हैं। फलों के पकते ही वे अपने इष्ट-मित्रों को निमन्त्रित कर उद्यानों में फल-भोज करते हैं। ऐसे अवसरों पर गाना-बजाना भी ख़ूब होता है। इस तालाब के सामने वृक्षों की छाया में लकड़ी की एक बारहदरी है। इसे 'शी पङ्ग' कहते हैं। इसकी कुर्सी ३ फ़ुट है। वसन्त-ऋतु में नहर से काटी हुई छोटी छोटी नालियाँ जल से भरी हुई इसके गिर्द बहती रहती हैं। शीपङ्ग में बैठ कर यारकन्दी लोग फल खाते और सायङ्काल की ठण्डी वायु का आनन्द लूटते हैं। इस उद्यान में फलों के अतिरिक्त खेती भी की जाती है। मक्का, गेहूँ, मटर, अलसी, भङ्ग, रुई और लूसरन ख़ूब होता है। दूसरी बार इसे चैत्र में बोते हैं। भूमि को जोतने और भार ढोने का काम बैलों के स्थान में प्रायः घोड़ों और गधों से लिया जाता है।

तीरा बाग़ में, इसके अतिरिक्त, और भी कई दर्शनीय उद्यान हैं, जैसा कि अब्दुल सैताखून का उद्यान, अब्दुल कादिराख़ून का बाग़, साबराख़ून का बाग़, और सदीकाख़ून की बाटिका। ये सब आलमज़ान के उपर्युक्त उद्यान से छोटे हैं। परन्तु नमूना सबका एक ही है। तीरा बाग़ की भूमि बड़ी उर्वरा है, इसलिए यहाँ के लोग अच्छे पैसेवाले हैं।

जाम बाग़।

यारकन्द नगर से उत्तर-पूर्व, अकसू दरवाज़े की ओर, जाम बाग़ का इलाक़ा है। इसको भी मशाह नहर की शाखाओं से ही जल मिलता है। नगर से बाहर निकलते ही इस इलाक़े का बड़ा मैदान मिलता है। उसमें एक छोटे से बराण्डेवाला एक घर है। यहाँ माघ मास के अन्त में प्रतिवर्ष स्त्री और पुरुषों का एक भारी मेला होता है। यह मेला एक मास तक रहता है। मेले में पाँच सात भोजनालय खुल जाते हैं। उनमें मुसलमान लोग प्रायः चाय पीते हैं। इस मेले में गणिकाओं का नाच होता है। अकसू और काशगर आदि दूसरे नगरों से भी स्त्रियाँ आती हैं। मेले में एक बड़ा स्तम्भ भूमि में गाड़ कर उस पर छकड़े का एक पहिया लगा दिया जाता है। इस पहिये से बड़े बड़े रस्से बाँध दिये जाते हैं। यारकन्दी स्त्रियाँ बड़े बड़े सुन्दर 'चप्पन' अर्थात् रङ्ग-बिरङ्गे लम्बे लम्बे कोट पहन कर इन रस्सों से झूला झूलती हैं। उस समय वे हवाई परियाँ सी जान पड़ती हैं।

चीनी फ़ैशन में एक तुर्क सुन्दरी।

इस मेले में नगर के अफ़ग़ान लोग घोड़ों पर सवार लेकर 'ओग़लक़' का खेल खेलते हैं। इसमें एक बकरा मार कर भूमि पर फेंक दिया जाता है। एक मनुष्य उसे लेकर दौड़ जाता है। दूसरे उसे पकड़ कर छीनने का यत्न करते हैं। यदि उसे दूसरा कोई न पकड़ सके तो वह जीत गया समझा जाता है। जीतनेवाले को अम्बान अर्थात् नगर का चीनी मजिस्ट्रेट दस बारह रुपये पारितोषिक देता है। नर्तिकाओं को भी थोड़ा थोड़ा पारितोषिक मिलता है।

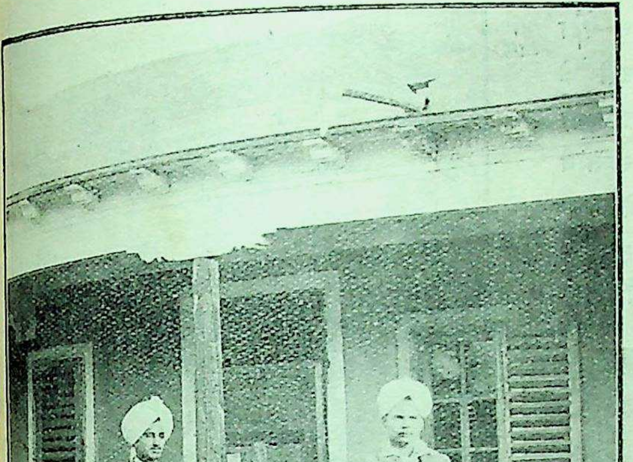

काशगार में नई हिन्दू सराय के सामने दो पंजाबी युवक व्यापारी।

बृहस्पतिवार को प्रति सप्ताह तोखा बाज़ार (कुक्कुट बाज़ार) में मुर्ग़ों का मेला लगता है।

यारकन्द में स्वीडन के ईसाई-मिशन का खोला हुआ एक स्कूल है। नगर से तीन मील दूर बहिश्त बाग़ में इनका एक अनाथालय भी है। इनके डाक्टर भी यहाँ रहते हैं। ये अब तक कई वर्ष के प्रयत्न के पश्चात् तीस चालीस लोगों को ईसाई बना सके हैं।

यारकन्दी लोग बड़े हँसमुख और सुन्दर होते हैं। खाने-पीने और प्रसन्न रहने के सिवा इन्हें किसी बात की चिन्ता नहीं। स्त्रियाँ परम सुन्दरी हैं। परन्तु इनमें 'तलाक़' को बुरा न समझने के कारण आचारहीनता बहुत आ गई है। शायद ही कोई स्त्री ऐसी होगी जिसने दस-बारह पति न किये हों। कई एक के पतियों की संख्या तो पचास पचास तक पहुँच जाती है। जिसने जितने अधिक पति किये हों वह उतनी ही अधिक प्रतिष्ठित और गौरवान्विता समझी जाती है।

पंजाब में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। इसलिए अन्य स्थानों से आकर यहाँ गुप्तरूप से स्त्रियाँ बिकती भी हैं। हिन्दू व्यापारी, जो यारकन्द जाते हैं, अपनी स्त्रियाँ साथ नहीं ले जाते। उन्हें साथ ले जाने में कठिनाई भी है। व्यापारियों के साथ उनके नौकर भी रहते हैं। उनमें अनेक ऐसे भी होते हैं जिनको जन्म-भर कभी विवाह होने की आशा ही नहीं। अतएव प्रायः वे सब यथेष्ट संयमशील नहीं होते। उनमें कोई कोई यारकन्दी स्त्रियों के साथ सम्बन्ध पैदा कर लेते हैं। उनसे बाल-बच्चे भी हो जाते हैं। बात प्रकट हो जाने पर दूसरे हिन्दू ऐसे हिन्दू से इस अनुचित कर्म का परित्याग कर देने को कहते हैं। पर प्रेम का काँटा भला कभी निकलता है। वह देखता है कि हिन्दू रहते हुए मेरा विवाह कभी हो ही नहीं सकता, मुसलमान बनने से जोरू और ज़मीन दोनों मिलते हैं। वह झट मुसलमान हो जाता है। मेरे ही गाँव का एक मनुष्य जो एक व्यापारी के साथ नौकर होकर यारकन्द गया था वहाँ मुसलमान हो गया है। उसे जोरू और ज़मीन

दोनों मिल गये हैं। ख़रबूज़ा छुरी पर गिरे या छुरी ख़रबूज़े पर गिरे दोनों अवस्थाओं में कटता ख़रबूज़ा ही है। इसी प्रकार हिन्दू पुरुष का मुसलमान स्त्री से सम्बन्ध हो जाय या हिन्दू स्त्री का मुसलमान पुरुष से सम्बन्ध हो जाय, दोनों अवस्थाओं में, हिन्दू स्त्री या पुरुष ही स्वधर्म-च्युत होगा। मुसलमान और ईसाइयों की दशा इसके सर्वथा विपरीत है। ब्रह्मा में मुसलमानों ने ब्रह्मी स्त्रियों के साथ विवाह करके सहस्रों की संख्या में मुसलमान पैदा कर दिये, परन्तु वहाँ के हिन्दू-प्रवासी जात-बिरादरी के डर से अपनी ब्रह्मी स्त्री तथा उससे उत्पन्न हुई सन्तान को धोखा देकर स्वदेश भाग आते हैं और उनकी सन्तान फिर बौद्ध की बौद्ध बन जाती है। मैंने सुना है कि एक रूपवती यारकन्दी स्त्री अपने हिन्दू प्रेमी से कहती रही कि मैं हिन्दू बनने को तैयार हूँ। मेरी एक शर्त है कि मेरे शव को जलाना नहीं। इससे मुझे डर लगता है। वह भारत आने को भी उद्यत थी। परन्तु हिन्दू महाशय आप मुसलमान हो गये, किन्तु बिरादरी के डर से हिन्दू न बना सके।

लद्दाख़ की ओर से खदुँग पर्वत का दृश्य।

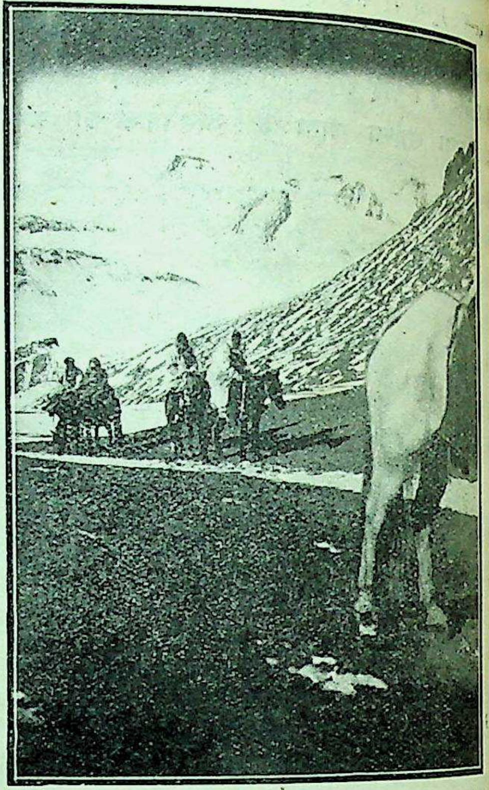

कराकुर्म को लाँघ कर यारकन्द जा रहे हैं।

हमारे उपर्युक्त शब्दों का यह अर्थ न समझिए कि यारकन्द को जानेवाले हिन्दू व्यापारी आचरणहीन हो जाते हैं। स्वयं व्यापारियों में तो सौ पीछे एक भी मनुष्य इस प्रकार पतित नहीं होता होगा। आचार की दृष्टि से, दूसरे धर्म्मवालों की अपेक्षा वे बहुत उच्च हैं। केवल उनके सेवकों और कर्मचारियों में ही ऐसा पातित्य-दोष आ जाता है।

पंजाबी हिन्दू व्यापारियों के अतिरिक्त चीनी तुर्किस्तान में शिकारपुरी (सिंधी) हिन्दू महाजन भी पहुँच गये हैं। ये लोग बड़े मनचले हैं। पंजाबी तो यारकन्द, काशगर और खुतन आदि बड़े बड़े नगरों में ही व्यापार करते हैं, परन्तु ये शिकारपुरी छोटे छोटे गाँवों में भी फैले हुए हैं। ये लोग व्याज पर रुपया देकर सूद खाने का व्यापार करते हैं। पंजाबी व्यापारी तो दूसरे तीसरे वर्ष स्वदेश

ट आते हैं, परन्तु ये पन्द्रह पन्द्रह बीस बीस वर्ष वहीं ते हैं। इनमें कुछ तो स्वदेश लौटने का नाम ही हीं लेते। इन लोगों को मुसलमानों के साथ खान-पान ने में भी बहुत कम परहेज़ है। अनेकों ने मुसलमान र्यां कर ली हैं। इनके बच्चे मुसलमान होते हैं। लोग अपने बच्चों को हिन्दू रखना तो चाहते हैं, परन्तु जात-पांत की कड़ी शृङ्खला में जकड़े होने के कारण दूसरे हिन्दू उनके साथ ब्याह-शादी करने को तैयार नहीं होते। अतः उन्हें विवश होकर मुसलमानों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध करना पड़ता है। केवल एक शिकारपुरी श्रीयुत शोभराज ऐसे हैं जिन्होंने अपनी तुर्क-स्त्री-सम्भूत सन्तान हिन्दू रख कर भारत भेजी है। ये महाशय काशगर में व्यापार करते हैं। इनकी एक कन्या गङ्गादेवी का पंजाब में एक हिन्दू के साथ विवाह हुआ है। दूसरी कन्या आज कल शिक्षा के लिए पंजाब आनेवाली है। एक पुत्र भी पंजाब में पला है और दो वर्ष से अन्य हिन्दू व्यापारियों के सदृश पंजाब से माल ले जाकर तुर्किस्तान में व्यापार कर रहा है। क्या ही अच्छा हो यदि दूसरे शिकारपुरी भी श्रीयुत शोभराज का अनुकरण कर सकें। यारकन्दी लोग बड़े आतिथ्य-शील हैं। प्रत्येक घर में अतिथि-सत्कार के लिए एक विशेष कमरा रहता है। वह गालीचों आदि से खूब सुसज्जित होता है। यदि किसी के पास गालीचा न हो तो वह चादर या नमदा ही बिछा देता है।

ये लोग अपने से बड़ों का बहुत सम्मान करते हैं। उनके सामने घोड़े पर नहीं बैठते। यदि घोड़े पर सवार हों भी तो उनको देखते ही नीचे उतर आते हैं। इस डर से कि बाज़ार में किसी सम्मान्य व्यक्ति के मिल जाने पर घोड़े से उतरना पड़ेगा, ये लोग प्रायः गधों पर सवार होकर बाज़ार जाते हैं। गधे से उतरने की आवश्यकता नहीं होती। स्त्रियां भी गधों पर सवार होकर बाज़ार आती हैं। वे गधे के सिर में एक सूआ चुभो कर खी खी शब्द करती हुई उसे दौड़ाती हैं।

यारकन्द में चीनियों का राज्य है। जैसे हमारे यहां प्रत्येक बात में अँगरेज़ों की नक़ल करना सुशिक्षित और सभ्य कहलाने के लिए कुछ लोग आवश्यक समझते हैं, वैसे ही यारकन्द के तुर्क-मुसलमान प्रत्येक बात में अपने चीनी शासकों की नक़ल करते हैं। पढ़ी-लिखी भारतीय स्त्रियां खाने-पीने, पहनने और चलने-फिरने में अँगरेज़ स्त्रियों का अनुकरण करके प्रसन्न होती हैं। शौक़ीन स्त्री-पुरुष तो प्रत्येक जाति और प्रत्येक युग में होते हैं। अँगरेज़ों के आगमन के पूर्व भी भारत में शौक़ीन स्त्रियों का अभाव न था। पर उनकी शौक़ीनी दूसरे ढङ्ग की थी। उसका नमूना अब कहीं कहीं ग्रामीण युवतियों में देखा जा सकता है। वह शुद्ध भारतीय शौक़ीनी थी।

मध्य-एशिया के प्रधान हिन्दू व्यापारी श्रीयुत सेठ शिवरामदासजी गोहिल।

परन्तु अँगरेज़ों के प्रभाव से भारतीय स्त्रियों में जो शौक़ीनी आई है वह एक निराले ढङ्ग की है। वह अच्छी है या बुरी, इस पर यहाँ कुछ नहीं कहना। यदि आप आज-कल की एक पढ़ी लिखी नागरिक सुन्दरी की वेष-भूषा देखेंगे तो आपको उसमें पश्चिम और पूर्व का एक विचित्र मिश्रण देख पड़ेगा। पाँव में ऊँची एड़ी का बूट, केश-पाश में क्लिप, सिर पर एक भड़कीला रूमाल, शरीर पर पुरुषों के सदृश कोट, और नीचे साड़ी। वेश से वह न तो मेम साहब जान पड़ती है और न भारतीय रमणी ही। शुद्ध भारतीय पहनावा चाहे कितना ही सुन्दर और लुभावना क्यों न हो, पर वह अब 'आऊट आव् फ़ैशन' है। इसी प्रकार चीनी प्रभाव से यारकन्द में तुर्की सुन्दरियों के पहनावे ने भी एक विचित्र रूप धारण किया है। वह न तो शुद्ध चीनी है और न तुर्किस्तानी ही है। दासत्व का यह एक अवश्यम्भावी परिणाम है।

एक मुसलमान और चीनी।

यारकन्द का सबसे बड़ा सिविल अफ़सर अम्बान कहलाता है। इसकी कचहरी यामन कहलाती है। अदालत प्रायः रात्रि को होती है। अम्बान चाहे यारकन्द की भाषा जानता भी हो तो भी सदैव चीनी भाषा का ही व्यवहार करता है। अदालत में दुभाषिया मौजूद रहता है। उसे तुङ्गची कहते हैं। वह चीनी से यारकन्दी में और यारकन्दी से चीनी भाषा में अनुवाद करता है। कोई भी राजकर्म्मचारी और वादी-प्रतिवादी आँख उठा कर अम्बान की ओर नहीं देख सकता। सब नीचे मुँह किये खड़े या घुटने टेक कर बैठे रहते हैं।

अपराधियों को बहुत कड़े दण्ड दिये जाते हैं। कई बार उनके पाँवों की बेड़ियाँ कटवा दी जाती हैं। क़ैदियों को उनके गले में एक बड़ा सा तख़्ता बाँध कर या उनके पैरों को शिकञ्जे में कस कर बाज़ार में फेंक दिया जाता है। वहाँ वे बेचारे माँग कर पेट भरते हैं। जिस स्थान पर चोरी हो जाय वहाँ के चौकीदार, थानेदार और नम्बरदार आदि पकड़ लिये जाते हैं और उनसे कहा जाता है कि यह हो नहीं सकता कि तुम्हें चोरों का पता न

हो । या तो चोरों को पकड़वा दो, नहीं तो तुम्हारे पास से सारा नुक़सान भर लिया जायगा । कहते हैं, इस प्रकार के कठोर दण्डों के प्रभाव से वहाँ चोरी बहुत कम होती है ।

अम्बान के नीचे भिन्न भिन्न इलाक़ों के लिए बेग अर्थात् तहसीलदार नियुक्त हैं। उदाहरणार्थ तीरा बाग़ के प्रान्त का बेग हिन्दू सराय का स्वामी न्याज़बेग है। इसके अधीन तीन चार दारोग़ा और मुल्ला अर्थात् मुंशी हैं। अम्बान प्रजा के लिए जो आज्ञा निकालता है उसे बेग दारोग़ा के हाथ लिख भेजता है । अपने इलाक़े के मुक़द्में प्रायः बेग ही सुनता है । भूमि-विक्रय के समय एक कुर्म (लगभग डेढ़ सौ रुपये) मूल्य की भूमि पर कोई पाँच रुपये बेग को और ६० तंगे (= सवा ग्यारह रुपये) सरकारी अम्बान को मिलते हैं। भूमि की उपज पर अम्बान कर लेता है। एक मोह (=दो कनाल) भूमि से वह ५ जिंग (३ जिंग = २ सेर) भूसा, ६ जिंग गेहूँ, और ३ जिंग मक्की लेता है। बहुधा वह इन के स्थान में पैसा ही ले लेता है। हाँ, यदि अन्न की आवश्यकता हो तो वह अन्न भी ले लेता है।

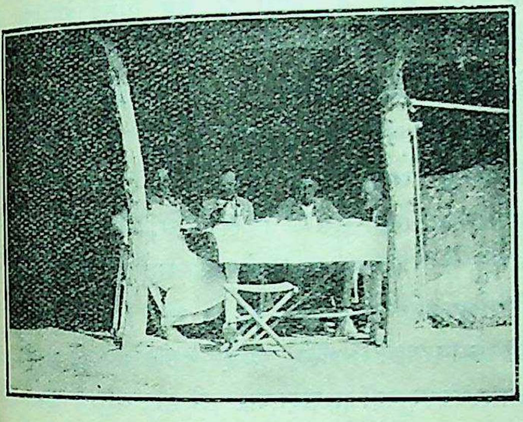
काशगर में ईसाई ।

ब्रिटिश-प्रजा की रक्षा और व्यापार की वृद्धि के लिए काशगर में अँगरेज़ी कौंसल रहता है। हिन्दू व्यापारियों के मुक़द्मे वही सुनता है। भारत से व्यापारियों की जो डाक यारकन्द को जाती है वह पहले कौंसल के पास काशगर होकर फिर व्यापारियों को यारकन्द में मिलती है। इसे वहाँ पहुँचने में लगभग चालीस दिन लग जाते हैं। चीनी अम्बान को कोई नियत वेतन नहीं मिलता। एक प्रकार के ठेके पर उसे शासन दे दिया जाता है। उसे धन की एक विशेष मात्रा राज-कोष में देनी पड़ती है। शेष राजस्व से वह अपना वेतन निकाल लेता है।

उर्मची में दू दू या गवर्नर रहता है। वही अम्बान को नियुक्त करता है। दू दू के नीचे काशगर में दुताई अर्थात् कमिश्नर रहता है। इन सिविल मजिस्ट्रेटों के अतिरिक्त सैनिक मजिस्ट्रेट भी हैं। इनको लाँजा कहते हैं। काशगर में ऐसा ही एक लाँजा रहता है। ये सेनापति लोग प्रजा पर अपना अलग शासन करते हैं और अमीर लोगों से बलात् धन भी छीन लेते हैं।

सिक्के ।

यारकन्द में सबसे छोटा सिक्का दालचीन या दो फुल होता है। यह हमारे पैसे के आकार का है। इसके मध्य में एक छिद्र है। खुतन नगर में इसे एक फुल कहते हैं, परन्तु काशगर, यारकन्द, अकसू, कुचियार और उर्मची में यह दो 'फुल' ही कहलाता है। २५ 'दालचीन' या ५० फुल का एक 'तंगा' होता है। चार सौ दालचीन को एक रस्सी में पिरो लेते हैं तो एक 'और' बन जाता है।

दालचीन से ऊपर एक पाँच दालचीन या दस फुल का, फिर दस दालचीन या बीस फुल का, फिर २० दायन या ४० फुल का एक सिक्का है।

४० दायन की एक मिसकाल होती है।

१६ तंगे या १० मिसकाल का एक सेर होता है।

ये सब ताँबे के सिक्के हैं।

इनके अतिरिक्त काग़ज़ी नोट भी हैं। नोट को तीज़ा कहते हैं। एक चार तंगे का नोट है। यह हमारे एक रुपये के नोट के बराबर लम्बा चौड़ा होता है। दूसरा एक सेर का नोट है। यह उससे बड़ा होता है। यह काशगर के दुताई के अधीन चलता है। इस पर चीनी और तुर्की भाषा में लिखा है कि यह तीज़ा ४०० दाचन को चलेगा। पर 'एक सेर' के सिक्के का वज़न, जो कि चाँदी का होता है, हमारे ३ रुपये २ आने के बराबर होता है। सो एक सेर अर्थात्

३ रुपये २ आने भर चाँदी का मूल्य आज-कल के भाव पर निकालें तो ढाई तीन रुपये तक पहुँचता है ।

कुर्स सोने का एक रूसी सिक्का था । इसका मूल्य कोई डेढ़ सौ रुपया तक था । व्यापारी लोग पहले भारत को कुर्स ले आया करते थे । इनसे उन्हें अच्छा लाभ हो जाता था । परन्तु जब से रूस की राजनैतिक अवस्था बिगड़ी है तब से कुर्स का अभाव ही हो गया है ।

यारकन्द में एक खताई अर्थात् चीनी डाक-घर है । यहाँ तारघर नहीं । काशगर, जहाँ ब्रिटिश कौंसल रहता है, यारकन्द से चार पांच दिन के रास्ते पर है । यह नगर यारकन्द से बड़ा है । यहाँ चीनियों का तार-घर है । यह तार उर्मची से आता है । चीन की राजधानी पीकिन से कदाचित् तार-द्वारा काशगर का सम्बन्ध है । यहाँ रेल आदि कुछ भी नहीं । कुछ दिन से अफ़ग़ानी कौंसल भी यारकन्द में गया है । परन्तु उसकी अभी वहाँ कुछ प्रतिपत्ति नहीं । हिन्दू व्यापारियों ने काशगर में भी कुछ दिन से एक सराय किराये पर ले ली है । अब काशगर में रहनेवाले हिन्दू उसी में इकट्ठे रहते हैं ।

सन्तराम

भगवान् बुद्ध का उपदेश और उनकी शिष्यमण्डली ।

भगवान् बुद्ध के समय में भारतवर्ष में आज-कल की भाँति धर्म का ह्रास तो नहीं हुआ था; परन्तु धर्म की ग्लानि अवश्य हो रही थी। आज-कल दरिद्रता के कारण देश में जैसे पापाचार बढ़ रहे हैं, वैसे उस समय नहीं थे। परन्तु इतिहास से मालूम होता है कि भारतवर्ष के अनेक आर्य-राजाओं में परस्पर कलह और एक दूसरे का वध करके राज्य पर अधिकार जमाना, इत्यादि बातें उस समय भी प्रचलित थीं । धर्म के नाम पर हिंसा का बाज़ार बहुत गर्म था । यज्ञों में पशु बलिदान करना धर्म का एक मुख्य अङ्ग माना जाता था । इन्हीं सब अत्याचारों को देख कर भगवान् बुद्ध को धर्म-प्रचार की आवश्यकता मालूम हुई।

भगवान् बुद्ध का धर्म कोई नवीन धर्म नहीं था। प्राचीन वैदिक या आर्य-धर्म से यदि 'ईश्वर' और 'वेद' का नाम निकाल दिया जाय तो वही भगवान् बुद्ध का धर्म हो जाय । उन्होंने धर्म के लिए ईश्वर अथवा वेद का आधार लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। एक शब्द में उनका धर्म 'सदाचार' था । मनुष्य यदि सदाचारपूर्वक संसार में रहता है—किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता और न किसी से कष्ट पाता है—तो वह धार्मिक है—फिर वह चाहे ईश्वर और वेद को मानता हो और चाहे न मानता हो । भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में कहीं ईश्वर अथवा वेद का खण्डन नहीं किया है; परन्तु उनका मण्डन करने की भी उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी । संक्षेप में, उनका धर्म "नक़द धर्म" था । सदाचार से ही मनुष्य शान्ति अथवा निर्वाणपद पा सकता है । मोक्ष के लिए मरने की आवश्यकता नहीं, कोई कठोर जप-तप करने की आवश्यकता नहीं । सदाचार से ही मनुष्य जन्म-जरा-मरण-व्याधि इत्यादि के कष्टों से मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त कर सकता है । यही भगवान् बुद्ध के उपदेश का सार है । स्वयं बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद—सदाचार की पराकाष्ठा तक पहुँच जाने के बाद—उन्होंने इसी धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया । अपने पूर्वाश्रम के साथी कौडिन्य, भद्रजित्, वाष्प, महानाम और जब वे अश्वजित् नामक पाँच संन्यासियों से मिलने के लिए वाराणसी को जा रहे थे तब मार्ग में उपाक नामक एक संन्यासी उनको मिला । उसने भगवान् बुद्ध से पूछा कि आप किस सम्प्रदाय के संन्यासी हैं ? उन्होंने उत्तर दिया—"मैं किसी सम्प्रदाय का नहीं हूँ । जाति, वर्ण, इत्यादि भेदों से मुझे कोई मतलब नहीं । सम्पूर्ण मानवजाति के दुःखों का नाश जिस मार्ग से हो वही मेरा मार्ग है; और उस मार्ग को मैंने जान लिया है।"

इतना कहने के बाद भगवान् बुद्ध आगे चल दिये। कुछ दूर पर मृगदाव नामक तपो-भूमि में उनको उपर्युक्त पाँचों संन्यासी मिले । उन संन्यासियों ने पहले तो उन्हें

तिरस्कार की दृष्टि से देखा। उन्होंने समझा कि यह वही तपोभ्रष्ट साधु है जो पहले हमारे साथ तप करता था और फिर बीच से ही उसको छोड़ कर चला गया; परन्तु जब उन्होंने बुद्धदेव की ओर ध्यानपूर्वक देखा तब उनकी तेजस्विता का उन संन्यासियों के मन पर एक विचित्र प्रकार का प्रभाव पड़ा। उन्होंने भगवान् बुद्ध का बड़ा आदर-सत्कार किया। वार्तालाप होने पर बुद्धदेव ने उन साधुओं से कहा कि धर्म का सच्चा मार्ग हमको मालूम हो गया है। वास्तव में मनुष्य को प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का अत्यन्त सेवन न करना चाहिए। उसी बीच के मार्ग से जाना चाहिए। अर्थात् न तो मनुष्य को ऐसे कठोर व्रतों का आचरण करना चाहिए जिनसे शरीर को अत्यन्त कष्ट हो और न विषय-सुखों में ही अत्यन्त निमग्न हो जाना चाहिए। उस समय उन्होंने उक्त भिक्षुओं को यह उपदेश दिया—

वास्तव में इस मध्यम-मार्ग के अतिरिक्त निर्वाण-प्राप्ति का और कोई भी साधन नहीं है। इस मार्ग में आठ बातों की साधना करनी चाहिए—(१) सम्यक् दृष्टि अर्थात् यथार्थ ज्ञान; (२) सम्यक् सङ्कल्प अर्थात् उचित कार्य के विषय में मन का दृढ़ निश्चय; (३) सम्यक् वाक् अर्थात् उचित भाषण; (४) सम्यक् कर्मान्त अर्थात् उचित कार्य्य; (५) सम्यक् आजीव अर्थात् जीविका का उचित साधन; (६) सम्यक् व्यायाम अर्थात् उचित प्रकार के प्रयत्न और परिश्रम; (७) सम्यक् स्मृति अर्थात् उचित प्रकार के विचार; (८) सम्यक् समाधि अर्थात् उचित प्रकार की चित्तशान्ति की स्थिति। यही आठ बातें हैं जिनका नाम बौद्ध-धर्म में "आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग" रक्खा गया है।

इसके बाद बुद्धदेव ने जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय संयोग, और प्रियवियोग, ये छः बातें दुःख का कारण बतलाईं। पुनर्जन्म का कारण तृष्णा बतलाई। यही दुःख की जननी है। तृष्णा से निवृत्त होने पर ही दुःख का नाश होता है; और उससे निवृत्त होने के लिए ही उपर्युक्त आर्य-अष्टांगिक मार्ग बतलाया गया है।

बुद्ध भगवान् ने उन तपस्वियों को चार आर्य-प्रमेय भी बतलाये, जो इस प्रकार हैं—(१) दुःख अर्थात् जो हेय है; (२) अज्ञान अर्थात् जो हेय हेतु है; (३) दुःखनिरोध अर्थात् दुःख से दूर होने की इच्छा और (४) दुःखनिरोधकारिणी वृत्ति, जिसको 'हान' कहते हैं और जिसके द्वारा दुःख के नाश होने का उपाय सूझता है।

यही पहला उपदेश है जिसे भगवान् बुद्ध ने अपने उपर्युक्त पाँचों साथियों को किया। इस उपदेश से उनको बहुत सन्तोष हुआ और वे बुद्ध के शिष्य बन गये। बौद्धग्रन्थकारों ने इस उपदेश को "धर्मचक्रप्रवर्तन" की संज्ञा प्रदान की है।

वाराणसी से भगवान् बुद्ध उरुवेला अर्थात् गयाजी को गये। वहाँ उन्होंने उरुवेला काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप नामक तीन बड़े कट्टर ब्राह्मणों को अपने धर्म की दीक्षा दी। फिर वे गयाशीर्ष पर्वत पर गये, जहाँ एक हज़ार अग्निहोत्री यज्ञ और तप का अनुष्ठान कर रहे थे। इन सबको उन्होंने आदित्यपर्यायसूत्र का उपदेश करके अपना शिष्य बनाया। इसके बाद राजगृह जाकर वहाँ के राजा बिम्बसार को अपने धर्म की दीक्षा दी। यह राजा उस समय उत्तरभारत के राजाओं में सर्वश्रेष्ठ गिना जाता था। भगवान् बुद्ध ने जब गृहत्याग किया तब बिम्बसार ने उनको राज्यसुख को फिर से ग्रहण करने के लिए बहुत कुछ समझाया बुझाया था पर भगवान् बुद्ध ने उसके कथन को स्वीकार नहीं किया था। जब दूसरी बार बुद्धदेव से बिम्बसार की भेंट हुई तब बिम्बसार स्वयं उनका शिष्य बन गया। बिम्बसार उनका बड़ा भक्त था।

राजगृह के पास सञ्जय नामक एक परिव्राजक रहता था। उसके ढाई सौ शिष्य थे। इनमें सारिपुत्र और मौद्गलायन नामक दो बड़े विद्वान् ब्राह्मण थे। इन दोनों ने परस्पर निश्चय किया था कि, जिसको मोक्षमार्ग पहले प्राप्त हो वह दूसरे को भी उससे परिचित करे। संयोग की बात है कि एक बार भगवान् बुद्ध का अश्वजित् नामक शिष्य भिक्षाटन करता हुआ राजगृह की ओर आया। उसको देख कर उपर्युक्त सारिपुत्र नामक ब्राह्मण ने उससे पूछा—

"भाई, आपकी मूर्ति प्रशान्त और कान्ति-शुद्ध

तथा उज्ज्वल दिखाई देती है । कहिए, आप किसके शिष्य हैं ? आपका धर्मपन्थ कौन सा है ?''

अश्वजित् ने उत्तर दिया, ''शाक्यवंशी गौतम बुद्ध हमारे गुरु हैं; उन्हीं का धर्म हमने ग्रहण किया है ।

सारिपुत्र ने पूछा, ''आपके धर्म का क्या सिद्धान्त है ?'' इस पर अश्वजित् ने यह श्लोक कहा—

ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसां तथागतो ।
तेसां च यो निरोधो एवं वादी महासमनो ॥

अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुएँ जिस कारण से उत्पन्न हुई हैं वह कारण तथागत (बुद्धदेव) ने हमको बतला दिया है । उस कारण का नाश किस प्रकार किया जाय, से भी उस महाश्रमण ने हमको बतला दिया है ।

अब सारिपुत्र को बुद्धदेव के दर्शन की अभिलाषा हुई । वह अपने साथी मौद्गलायन तथा अन्य सहपाठियों के साथ बुद्धदेव के दर्शन को गया । बुद्धदेव ने निम्नलिखित श्लोक में अपने धर्म का सार बतला कर उनको अपना शिष्य बना लिया—

सर्वपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानसासनम् ॥

अर्थात् किसी प्रकार का भी पाप न करना, कल्याणकारक कर्म करना और चित्त शुद्ध रखना ही बुद्ध का धर्म है ।

सारिपुत्र और मौद्गलायन, ये दोनों बुद्धदेव के प्रमुख शिष्यों में से थे । इनके विषय में यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि एक बार बुद्धदेव ने अपने देवदत्त नामक शिष्य को, जो पीछे से गुरुद्रोही बन गया था, समझाने के लिए सारिपुत्र और मौद्गलायन को भेजा । देवदत्त के मित्रों ने उन दोनों का वध करने के लिए बहुत प्रयत्न किया । परन्तु जब यह बात राजा अजातशत्रु को मालूम हुई, तब उसने वधिकों को क़ैद कर लिया और मौद्गलायन से कहा, ''आप बड़े प्रभावशाली अर्हत हैं । क्या आप अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते ?'' मौद्गलायन ने उत्तर दिया, ''महाराज, यह काम कुछ कठिन नहीं है । परन्तु इस झगड़े में पड़ने की मुझे कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि अपने पूर्वकर्मफलानुसार अब मुझे स्वयं ही इस सप्ताह में अपनी देह त्याग करनी पड़ेगी ।'' कहते हैं कि मौद्गलायन ने सचमुच ही उस सप्ताह में अपनी देह त्याग कर दी । अपने गुरुभाई मौद्गलायन की निर्वाण-यात्रा सुन कर सारिपुत्र ने भी अपनी देह त्याग कर दी । सारिपुत्र नालन्द में रहता था । भगवान् बुद्ध के ये दोनों बड़े प्रसिद्ध शिष्य थे; वे इनको अग्रश्रावक कहते थे ।

भगवान् बुद्ध का पुत्र राहुल भी उनके मुख्य शिष्यों में था । इसको उन्होंने किस प्रकार धर्म की दीक्षा दी, इसकी कथा बड़ी विचित्र और करुणोत्पादक है । कहते हैं कि एक बार जब भगवान् बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करते हुए अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु में पहुँचे तब उनके पिता राजा शुद्धोदन राजसी ठाट-बाट के साथ उनसे मिलने आये । उस समय राजा शुद्धोदन ने जब अपने पुत्र को भिक्षा-पात्र लिये हुए भिक्षुक के रूप में देखा तब वे बहुत लज्जित और क्रोधित होकर बोले, ''वत्स, तुमने हमारे राजकुल को कलङ्क लगाया है। क्या तुम समझते हो कि हम तुमको और तुम्हारे शिष्यों को अन्न देने का सामर्थ्य नहीं रखते, जो तुम भिक्षुक बने फिरते हो ?''

बुद्ध ने उत्तर दिया, ''महाराज, भिक्षा माँगना हमारा कुल-धर्म है ।'' यह उत्तर सुन कर शुद्धोदन बड़े चकित हुए; उन्होंने पूछा, ''सो कैसे ?'' भगवान् बुद्ध ने उत्तर दिया:—

''पहले जो बुद्ध अवतीर्ण हो चुके हैं वही हमारे पूर्वज हैं । उन्होंने भिक्षा माँगने की जो परिपाटी चला दी है उसी का पालन हम करते हैं । कहा है कि यदि किसी को कोई गुप्त धन प्राप्त हो तो उसमें जो उत्तम रत्न हो उसे वह अपने पिता को अर्पण करे । सो मुझको जो अमूल्य रत्नसङ्ग्रह प्राप्त हुआ है उसमें एक दो सुन्दर रत्न मैं आपको अर्पण करता हूँ । उन रत्नों को आप स्वीकार करें । वे रत्न ये हैं—

उत्तिट्ठे न प्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे ।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परं हि च ॥
धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे ।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परं हि च ॥

अर्थात् उठो, आलसी मत बनो, सद्धर्म का आचरण करो, धर्माचरण करनेवाले को इस लोक और परलोक में सुख मिलता है। सत्कर्म करो, असत्कर्म मत करो, धर्माचरण करनेवाले को इहलोक और परलोक में सुख होता है।''

यह उपदेश सुन कर राजा शुद्धोदन का चित्त बहुत प्रसन्न हुआ और वे बुद्धदेव को अपने महलों में ले गये। वहाँ उनके दर्शनों के लिए राजपरिवार के सब लोग, सरदार और दरबारी आये पर बुद्धदेव की धर्मपत्नी यशोधरादेवी नहीं आईं। यह देखकर पिता की आज्ञा से भगवान् स्वयं यशोधरा के महलों में गये। यशोधरा उस समय अत्यन्त दुःख से व्याकुल पृथ्वी पर पड़ी थीं। उनकी दशा को देखकर बुद्धदेव ने उनको पूर्वजन्म की याद दिलाई और उपदेश देकर उनका समाधान किया। इसके बाद वे महलों से वापस चले गये। कुछ देर बाद यशोधरादेवी ने अपने पुत्र राहुल को बुला कर कहा, "बेटा, जाओ। बस्ती के बाहर एक संन्यासी ठहरा है, वह तुम्हारा पिता है। उसके पास जाकर अपनी पूर्वजोपार्जित सम्पत्ति का भाग माँगो।''

बेचारा राहुल माता की आज्ञा के अनुसार बुद्धदेव के पास जाकर पैत्रिक धन माँगने लगा। यह देख कर तथागत बुद्ध ने अपने शिष्य सारिपुत्र से कहा, "भिक्षुको, राहुल को प्रव्रज्या (संन्यासव्रत) दो।'' सारिपुत्र ने वैसा ही किया। राहुल के घुँघराले सुन्दर केश काट कर उसका मुण्डन करवाया और उसको पीले वस्त्र पहनाये। राहुल ने सब भिक्षुओं को प्रणाम किया और इस मन्त्र का तीन बार उच्चारण किया—

"बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि ॥''

राहुल के संन्यासव्रत लेने पर राजा शुद्धोदन को बड़ा दुःख हुआ। बुद्ध के पास जा कर उन्होंने अपना शोक प्रकट किया और उनसे यह वचन सदा के लिए ले लिया कि अब आगे से माता-पिता की अनुमति के बिना किसी बालक को संन्यास-दीक्षा नहीं देंगे; और यदि ऐसा करें तो बड़ा पातक हो।

राहुल भगवान् बुद्ध के मुख्य शिष्यों में था।

कोसलराज प्रसेनजित् भी बुद्धदेव के अत्यन्त प्यारे शिष्यों में था। इसका स्वभाव बहुत नम्र और भावुक था। इस राजा ने लड़कपन में तक्षशिला के विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी। भगवान् बुद्ध के उपदेश सुनने के लिए यह सदा आतुर रहता था। इसने अपनी बहन के साथ बुद्धधर्म स्वीकार किया। यह राजा मगधराज बिम्बसार का साला था। यह प्रति दिन पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओं को सुन्दर भोजन कराता था। कहते हैं कि इसके सुस्वादिष्ट भोजनों से भी जब भिक्षुओं को तृप्ति न होने लगी तब एक दिन इसने भिक्षुओं से पूछा—

"भिक्षुओ, आप लोग दरिद्री लोगों के साधारण भोजन से तो तृप्तिलाभ करते हैं, पर हमारे उत्तम भोजन से आपको पूरी पूरी प्रसन्नता क्यों नहीं होती ?'' इस पर भिक्षुओं ने उत्तर दिया—

"महाराज, श्रद्धा एक ऐसी वस्तु है कि उसी से हमको भोजन में स्वाद आता है। दरिद्री मनुष्य हमको जो भोजन दान देते हैं उसमें श्रद्धा का अंश विशेष रहता है, इसी लिए उनके दिये हुए भोजन में हमको विशेष रुचि है।'' इस उत्तर से राजा प्रसेनजित् बहुत प्रसन्न हुआ। भिक्षुओं के प्रति उसकी श्रद्धा और भी अधिक बढ़ गई। कहते हैं कि इस राजा ने मल्लिका नामक एक मालिन की सुन्दरी पुत्री से विवाह किया था और उसको अपनी पटरानी बनाया था। यह लड़की भगवान् बुद्ध के उपदेशों में पहले से ही बहुत श्रद्धा रखती थी।

जीवक नामक एक प्रसिद्ध वैद्य भी बुद्धदेव का शिष्य था। यह राजा बिम्बसार का नाती था। इसने पहले ही से सोच लिया था कि हमारे भाई हमको राजगद्दी नहीं मिलने देंगे, इसलिए अपनी जीविका के लिए इसने वैद्यक का व्यवसाय बड़ी बुद्धिमानी से चुना था। इसने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में आचार्य अत्रेय से आयुर्वेद का उत्कृष्ट अध्ययन किया था। कहते हैं कि जब जीवक अपना अध्ययन समाप्त कर चुका तब आचार्य ने अपने शिष्य की परीक्षा लेने के लिए यह आज्ञा दी, "इस

विश्वविद्यालय के आसपास सोलह मील तक भ्रमण करके तुम ऐसी कोई वनस्पति ले आओ जो किसी ओषधि के उपयोग में न आ सके।'' जीवक इधर-उधर बहुत घूमता रहा। पर जब उस प्रकार की कोई भी वनस्पति उसको नहीं प्राप्त हुई तब वह ख़ाली हाथ अपने गुरु के पास लौट आया। उसने कहा, ''हमको कोई भी निरुपयोगी वनस्पति नहीं दिखाई दी।'' आचार्य अत्रेय उस पर बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद देकर उसको घर लौटने की आज्ञा दी।

जीवक एक बहुत ही यशस्वी वैद्य था। असाध्य से असाध्य रोगी को वह अपने कौशल से आरोग्य कर देता था। उसकी चिकित्सा के अनेक चमत्कार-पूर्ण कार्यों का उल्लेख बौद्ध-ग्रन्थों में हुआ है। उसकी कीर्ति सुन कर राजा बिम्बसार ने उसको अपने दरबार का राजवैद्य बनाया था। बुद्धदेव पर वैद्यराज जीवक की बहुत श्रद्धा थी। उसने अपना एक आम्रवन बुद्धदेव को अर्पण किया था। राजा अजातशत्रु को बौद्धधर्म की ओर उसी ने प्रवृत्त किया था।

कहते हैं कि एक बार राजा अजातशत्रु अपने दरबार के कार्यों से निवृत्त होकर रात को उद्यान में बैठे हुए विश्राम कर रहे थे। शुभ्र चाँदनी छिटकी हुई थी। पुष्करिणी में कुमुद प्रफुल्लित हो रहे थे। सुगन्धित पुष्पों के परिमल से सब दिशायें व्याप्त हो रही थीं। सुन्दर सुन्दर फ़ौवारे उद्यान की शोभा बढ़ाते हुए सम्पूर्ण जीवों के मन को हरण कर रहे थे, पर राजा अजातशत्रु को उस रमणीय उपवन में भी चैन नहीं मिल रहा था। बात यह थी कि राजा अपने दुष्कार्यों पर पश्चात्ताप करता हुआ मन ही मन अत्यन्त खिन्न हो रहा था। उसका मन ही उसको भीतर से बेचैन कर रहा था। ऐसी दशा में बाह्यरमणीयता से उसको सुख कैसे मिल सकता था? राजवैद्य जीवक राजा के पास ही बैठा था। उसने राजा के मन की दशा को ताड़ कर बहुत ही शान्तिपूर्ण शब्दों में राजा के सामने बुद्धदेव की महिमा का वर्णन किया तथा उनके शरण में जाने का राजा को उपदेश किया। राजा तुरन्त ही हाथी पर सवार होकर बुद्धदेव के दर्शन को गया और भगवान् बुद्ध के उपदेश से उसको अनुपम शान्ति का लाभ हुआ। इस प्रकार राजा अजातशत्रु ने बुद्धदेव की शिष्यता स्वीकार की।

वैद्यविद्या में जीवक अत्यन्त ही कुशल था। अपस्मार, यक्ष्मा, कुष्ट, इत्यादि असाध्य रोगों से पीड़ित सैकड़ों रोगी दूर दूर से उसके पास आया करते थे। धनाढ्य रोगी द्रव्य की बड़ी बड़ी राशियां उसके सामने रख देते थे, पर राजवैद्य जीवक को द्रव्य की क्या परवा? बौद्धधर्म पर उसकी विशेष श्रद्धा थी, अतएव पहले वह बौद्ध-भिक्षुओं को ही देख कर उनका इलाज मुफ़्त में करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक रोगी कपट से बौद्ध-भिक्षु बन जाते और जीवक के इलाज से रोगमुक्त होते ही बौद्ध-धर्म का त्याग कर देते। इससे बौद्धमठों में संसर्गज रोगों की वृद्धि होने लगी। अतएव बुद्धदेव को यक्ष्मा, अपस्मार, कुष्ट इत्यादि रोगों से पीड़ित लोगों के लिए सङ्घ में प्रवेश करने का कठोर निबन्ध करना पड़ा।

अनाथपिण्डक नामक श्रावस्ती नगर का एक अत्यन्त धनवान् श्रेष्ठी भी भगवान् बुद्ध की शिष्यमण्डली में था। बुद्धदेव के उपदेशों को सुन कर यह उन पर इतना प्रसन्न हुआ कि इसने उनके रहने के लिए बस्ती के बाहर, किन्तु निकट ही, एक उपवन चौदह करोड़ रुपये में राजकुमार जेत से ख़रीदा; और उसमें एक उत्तम विहार बनवा कर बुद्धदेव को अर्पण किया। यह उपवन ''जेतवन'' के नाम से बौद्धग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इस जगह रह कर भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को अनेक बार सुन्दर उपदेश दिये हैं।

अनाथपिण्डक ने विपुल सम्पत्ति के द्वारा ही भगवान् बुद्ध के धर्म-प्रचार में सहायता नहीं दी, वरन महासुभद्रा और चुलसुभद्रा नामक अपनी दो कन्यायें भी बौद्ध-सङ्घ की सेवा के लिए अर्पण कीं।

पूर्ण नामक एक और श्रद्धालु व्यापारी भगवान् बुद्ध का शिष्य हुआ था। यह सुरापरान्त देश से श्रावस्ती नगर में व्यापार के लिए आया था। उपर्युक्त जेठवन में उसको भगवान् के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उसने बौद्धधर्म की दीक्षा ली। वहाँ कुछ काल व्यतीत करने के बाद बौद्धधर्म का

प्रचार करने के उद्देश से जब वह अपने देश को जाने लगा तब भगवान् बुद्ध ने उससे कहा—

"हे शिष्य, तू जिस देश में धर्म-प्रचार के लिए जा रहा है, वहाँ के लोग बहुत ही दुष्ट, कट्टर और अत्याचारी हैं। वे जब तेरी निन्दा करने लगेंगे अथवा तुझको अपशब्द कहने लगेंगे तब तू क्या करेगा ?" पूर्ण ने उत्तर दिया—

"मैं बिलकुल चुप रहूँगा ।"

"और यदि वे पकड़ कर तुझको पीटेंगे तो तू क्या करेगा ?"

"मैं उनको बदले में नहीं मारूँगा ।"

"अच्छा, यदि वे तुझे पकड़ कर तेरा वध करना चाहें तो ?"

"मैं उनको धन्यवाद दूँगा क्योंकि इससे मैं संसार के त्रिविध तापों से अनायास ही मुक्त हो जाऊँगा । अतएव मैं उनके प्रयत्न में बाधा नहीं डालूँगा ।"

पूर्ण के उत्तर सुन कर बुद्धदेव बहुत प्रसन्न हुए। यह सोच कर कि धर्मप्रचार करने के लिए ऐसे ही दृढ़ और सहनशील पुरुष की आवश्यकता है । उन्होंने पूर्ण को आशीर्वाद देकर विदा किया ।

पूर्ण अपने कार्य में पूर्णतया सफल हुआ और धर्म-प्रचारक का कार्य बड़ी योग्यता के साथ उसने किया ।

अब बुद्धदेव के एक पट्ट शिष्य का कुछ वृत्तान्त देकर हम यह लेख समाप्त करेंगे । इस शिष्य का नाम था आनन्द । आनन्द ने भगवान् बुद्ध से किस समय और कैसे दीक्षा ली, इसका हाल नहीं मिलता है, पर इतना सर्वप्रसिद्ध है कि आनन्द सब बौद्ध-भिक्षुओं में एक प्रमुख भिक्षु था। बुद्धदेव की इस पर अत्यन्त कृपा थी । यह शाक्यवंशी क्षत्रिय था और स्वयं भगवान् बुद्ध के भाई-बन्दों में था । यह लगातार पचीस वर्ष तक बुद्धदेव के साथ रहा और अत्यन्त श्रद्धा के साथ इसने उनकी सेवा की । बुद्धदेव का कोई भी रहस्य इससे छिपा नहीं रहता था । भगवान् से मिलने के लिए, उनका उपदेश लेने के लिए अथवा उनसे कोई प्रश्न करने के लिए, चाहे जो कोई आवे, आनन्द सदैव उनके निकट रहता था । भगवान् बुद्ध ने अपने हृद्गत सम्पूर्ण विचार आनन्द से प्रकट कर दिये थे । बुद्धदेव के पश्चात् धर्मविषयक जो शास्त्रार्थ होते थे उन सबमें कोई रहस्यमय प्रश्न उपस्थित होने पर आनन्द जब इस बात का खुलासा कर देता कि इस विषय में भगवान् बुद्ध का ऐसा अभिप्राय था तब उस शास्त्रार्थ का निर्णय होता था ।

ऊपर भगवान् बुद्ध के जिन मुख्य मुख्य शिष्यों का वर्णन आया है उनके अतिरिक्त और भी उनके अनेक शिष्य थे । विस्तारभय से यहाँ उनका वर्णन नहीं किया गया है । बुद्धदेव के शिष्यों में सब जाति के लोग सम्मिलित थे । सारिपुत्र, मौद्गलायन और कात्यायन के समान तेजस्वी और विद्वान् ब्राह्मण उनकी शिष्यमण्डली में थे; आनन्द, राहुल, अनिरुद्ध के समान उच्च कुलीन क्षत्रिय भी थे; इसी प्रकार यश, अनाथपिंडक, पूर्ण के समान श्रेष्ठी भी उनके शिष्य थे । यही नहीं, बल्कि उनके शिष्यों में सुनीत नाम का एक भङ्गी था; अंगुलीमाल नामक एक औधिया (चोरी का व्यवसाय करनेवाला), स्वाति नामक एक मछुवा, नन्द नामक एक ग्वाला और उपाली नाम का एक नाई था । इसी प्रकार अनेक निम्न श्रेणी के लोग उनके उपदेशों से कृतार्थ हुए थे ।

भगवान् बुद्ध के शिष्य दो श्रेणियों में विभक्त थे । एक तो वे लोग जो गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यासदीक्षा लेते थे । इनको भिक्षु कहते थे । दूसरे वे लोग जो गृहस्थाश्रम में रह कर ही उनके उपदेशों का पालन करते थे । इनको उपासक कहते थे । राजा बिम्बसार, कोसलराज प्रसेनजित्, वैद्यराज जीवक, श्रेष्ठी अनाथपिंडक, इत्यादि द्वितीय श्रेणी के शिष्य थे ।

पुरुषों की भाँति अनेक स्त्रियाँ भी बुद्धदेव के शिष्य-सम्प्रदाय में सम्मिलित हुई थीं । वे भी बड़े उत्साह से बौद्धधर्म का प्रचार करती रहती थीं । इनका वृत्तान्त किसी स्वतन्त्र लेख में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जायगा ।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

—०—

शीला देवी ।

(१२)

विसर्जन ।

काल-रात्रि सहज में नहीं कटती । राज-महलों में आधी रात के समय आज सब लोग क्यों जाग रहे हैं ? इतनी दौड़-धूप किस लिए हो रही है ? रानी के कमरे और बरामदे में इतनी भीड़-भाड़ क्यों है ? बरामदे में कुशासन पर बैठे हुए मन्त्री पुण्डरीक, हाथ पर गाल रक्खे, किस उधेड़-बुन में हैं ? क्या यह काल-रात्रि है ! महारानी शुभदेवी कमरे में रोगशय्या पर पड़ी हैं । एकाएक आधी रात को उन्हें क्या हो गया है ?

शय्या के एक पार्श्व में बैठे हुए राजवैद्य महारानी की नाड़ी देख रहे हैं । राजकुमारी शीला देवी शोक-गम्भीर मुँह किये, टकटकी लगाये, अपनी मा का मुँह देख रही हैं । रानी को होश नहीं । चञ्चला ने खल में दवा डाल कर वैद्यराज की ओर देखा । वैद्यराज ने कहा—"तनिक ठहरो । मैं दूसरी दवा देता हूँ । माथे में इसका लेप कर दो । ऐसा करने से रोगी को चेत हो सकता है ।" अब कविराज ने एक कटोरी में दवा उँड़ेल दी । रानी के माथे में चञ्चला दवा की मालिश करने लगी ।

राजकुमारी ने ठण्ढी साँस लेकर पूछा—वैद्यराज, क्या मालूम हुआ ?

"मालूम क्या होगा बेटी ! महारानी की देह में ज़हर का असर हो रहा है । बहुत तेज़ ज़हर पी लेने से महारानी बेहोश हुई हैं ।"

शीला देवी ने कम्पित होकर पूछा—विष ! विष कहाँ से आया ! वैद्यराज ! यह सत्यानाश किसने किया ? तो क्या मेरी माता के बचने की आशा नहीं ?

"बेटी, किसी के प्राण बचा लेना मनुष्य का काम नहीं । मैं अपने सामर्थ्य भर उपाय करता हूँ । यदि इन्हें होश आ जाय तो कुछ किया भी जा सके । अभी जो दवा दी है इस दवा से मैंने, इसी ढङ्ग के, बहुत से रोगियों को चङ्गा किया है ।"

मन्त्री पुण्डरीक ने फ़ुर्ती से कमरे में आकर कहा—क्या कहा ? विष ! महारानी ने विष पी लिया है !

शीला देवी ने टूटी हुई आवाज़ में कहा—मन्त्री काका ! मैंने सब समझ लिया । कोई बात छिपी नहीं रही । विश्वासघातिनी मतिया ने मा को, मेरे ही हाथ से, विष दिलवाया है । अब मेरी समझ में आया कि बाबूजी ने इतने दिन से सचमुच दूध पिला पिला कर काल-सर्प पाल रक्खा है । हाँ काकाजी, क्या अब धर्म नहीं है ? अगाध विश्वास का क्या यही परिणाम है ? वैद्य-राज ! यदि आप मेरी मा के प्राण बचा दें तो आपको मुँह-माँगा पुरस्कार दिया जायगा ।

"बेटी, घबराने से काम न बनेगा । मैं अपनी समझ के अनुसार कोई बात उठा न रक्खूँगा ।"

नाड़ी की परीक्षा करने पर वैद्यराज के नेत्रों से हर्ष प्रकट होने लगा । उन्होंने कहा—"मेरी दवा कारगर हो गई । महारानी अभी होश में आती हैं ।" यही हुआ । आधी घड़ी में रानी ने आँखें खोल दीं ।

रोगिणी के मुँह में चञ्चला धीरे धीरे दवा देने लगी । वैद्यराज ने कहा—अब इस दवा का असर होने पर रोगिणी अपनी मज़ा से बातचीत कर सकती हैं ।

राजवैद्य की अद्भुत ओषधि के गुण से मुमूर्षु महारानी थोड़ी ही देर में ठहर ठहर कर बातें करने लगीं । राजवैद्य ने स्वयं दुबारा ओषधि की एक ख़ुराक पिला दी । निर्वाणोन्मुख जीवन-प्रदीप दुबारा जलने लगा ।

महारानी ने क्षीण स्वर में कहा—यह क्या ? मेरे कमरे में ये कौन कौन हैं ?

शीला देवी ने तुरन्त ही उत्तर दिया—मा ! ये राज-वैद्य हैं । इन्होंने तुम्हारी जान बचाई है । मा ! मैं तो तुम्हें सदा के लिए खो बैठी थी ।

महारानी ने निराशभाव से कहा—कौन ? बेटी शीला ! बेटी, यह भयङ्कर शत्रुपुरी है—किस प्रकार तुम्हारा बचाव होगा । मेरे मन में यह दुःख बना रहा कि मैं अन्त समय में उनके चरणों में माथा रख कर न

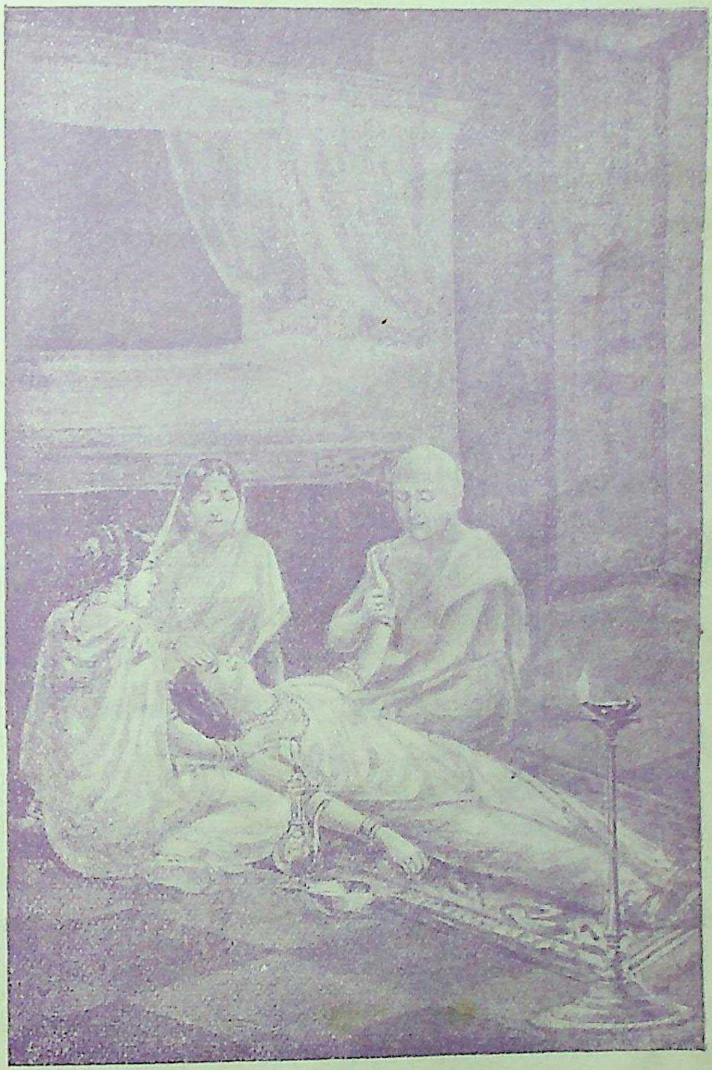

वैद्यराज, क्या मालूम हुआ ?

र सकी । मेरी सारी इच्छायें मन में ही रह गईं । मेरे बेटे-बेटी को काल-सर्प के मुँह से कौन बचावेगा ? शीला ! तुम्हारे मन्त्री काका कहाँ हैं ?

रोते हुए पुण्डरीक ने कहा—माता, मैं यहीं तो हूँ ।

महारानी ने बड़े कष्ट से करवट बदल कर क्षीण स्वर में कहा—मन्त्री, पुत्र ! तुम ब्राह्मण के बेटे हो । तुम्हारी मा न रहने पर इस क्षत्रियाणी ने तुम्हें अपना दूध पिला कर पाला है । पालन करने के कारण तुम पर मेरा मातृत्व का दावा है । तुम्हारे पिता का ख़याल करके महाराज, तुम्हारे साथ, अपने छोटे भाई का सा बर्ताव करते हैं । इसी कारण शीला तुमको काका कहा करती है । बेटे ! मैं अपने बेटे-बेटी को तुम्हें सौंपे जाती हूँ । इस भीषण शत्रु-पुरी के भीतर मैं और किसका भरोसा करूँ ?

पुण्डरीक रोने लगे । उन्होंने कहा—माताजी, तुम्हारे स्नेह और तुम्हारे हिफ़ाज़त करते रहने से मुझे अब तक यह नहीं मालूम हुआ कि मेरे माता नहीं हैं । आज मुझे रुला कर, स्नेहमयी शीला देवी को रुला कर, अब कहाँ जाती हो ?

"रोना मत बेटे ! यह तो दुनिया का पुराना दस्तूर है । बेटी शीला, मुझे अब समय नहीं है । बहुत सी बातें कहनी हैं, लेकिन कहने का सामर्थ्य नहीं । मेरी जीभ क़ाबू में नहीं है । थोड़ा सा पानी—"

महारानी की दशा देख वैद्यराज ने निराश होकर कहा—परिणाम कुछ का कुछ हुआ । महारानी को गङ्गाजल दीजिए ।

शीला देवी ने महारानी को पतितोद्धारिणी गङ्गाजी का थोड़ा सा जल पिलाया । रानी दुबारा बड़े कष्ट से क्षीण स्वर में कहने लगीं—बेटी शीला, रोओ मत । रोने को तो ज़िन्दगी पड़ी है । मैं बिदा होती हूँ—महाराज हैं । विश्वासघातक विद्रोहियों से गढ़ परिपूर्ण है—महाराज का जीवन निरापद नहीं है । कुँवर है, उसकी रक्षा करना । महाराज ! और देखो—

रानी फिर अचेत हो गईं । राजकुमारी की आँखों में आँसू नहीं रहे । पलकों का गिरना भी बन्द हो गया । वे पत्थर की पुतली की तरह निश्चल खड़ी खड़ी अपनी मुमूर्षु माता के मुँह की ओर देखने लगीं । चञ्चला ने शीला देवी का हाथ थाम कर कहा—देवी, अधीर न हो । असल में रानी के पुत्र-स्थान में आप ही हैं । आप पुत्र का कार्य करें । इस समय तक रानी माता का जीवन-प्रदीप ठण्डा नहीं हुआ है ।

शीला देवी ने कातर दृष्टि से पुण्डरीक की ओर मुड़ कर कहा—मन्त्री काका ! राजेन्द्र की रक्षा सावधानी से कीजिए । मैं माता को नदी-किनारे ले जाना चाहती हूँ ।

मन्त्री पुण्डरीक ने शोक के आँसुओं से रुँधे हुए स्वर से कहा—अच्छा देवी ! मैं कुँवर को गोद में लेकर आता हूँ ।

चटपट कुछ श्मशान यात्री उस स्थान में आ गये और रानी की मुमूर्षु देह को लेकर करतोया के किनारे मसानघाट की ओर चल खड़े हुए । कुछ शस्त्रधारी सैनिक, मशालची और लकड़ी ढोनेवाले तथा जनता का झुण्ड कोलाहल करता हुआ राजमार्ग होकर गया ।

पुण्डरीक ने भरोसे के सिपाहियों को राजमहल के पहरे पर तैनात किया, शीला देवी को मसानघाट तक नहीं जाने दिया । बालक राजकुमार राजेन्द्र माता का दाह करेंगे । इसके लिए पुण्डरीक उन्हें गोद में लेकर श्मशान ले गये ।

कुछ लोगों ने मिल कर महारानी की मरणोन्मुख देह को करतोया के पवित्र जल में आधा डुबो दिया । रानी के कान में कोई ज़ोर ज़ोर से रामनाम कहने लगा । उस समय भी देह में प्राणों के स्पन्दन का अनुभव हो रहा था । इसी समय एक गेरुवावस्त्रधारी संन्यासी जल्दी जल्दी पैर उठाता हुआ वहाँ पर उपस्थित हुआ । मन्त्री पुण्डरीक ने उस मूर्ति को देख कर अचरज के साथ कहा—महाराज ! यह क्या ? इतनी देर में ! यह तो हमारी मातृ-प्रतिमा के विसर्जन का समय है !

संन्यासी ने हताशभाव से रानी की मरणासन्न देह की ओर देख कर कहा—रानी, मुझे अकेला छोड़ चलीं !

कदाचित् उस स्वर ने मुमूर्षु देवी-प्रतिमा के अन्तस्तल को स्पर्श किया । निर्वाणोन्मुख जीवन-प्रदीप तेज़ी से बलने लगा । नेत्रों ने धीरे धीरे ऊपर को दृष्टि की ।

महारानी ने मानो नज़र उठा कर संन्यासी के चेहरे की ओर देखा। इसके बाद सब स्थिर हो गया। फिर पलकों ने उस दृष्टि को छिपाया नहीं।

संन्यासी! संयमी! महापुरुष! तुम्हारी आँखों में पानी किस लिए?

घी और चन्दन की लकड़ी के संयोग से चिता की आग धायँ धायँ जलने लगी। धीरे धीरे महारानी की देह को भस्म करके अग्निदेव ने अपनी लपलपाती जीभ को संयत कर लिया।

मन्त्री पुण्डरीक ने राजा का हाथ थाम कर कहा—प्रतिमा-विसर्जन तो हो गया, अब चलिए महाराज! यहाँ का काम हो गया।

"चलूँगा पुण्डरीक! चलूँगा। मैं राजा हूँ, मैं वरेन्द्रभूमि का अधीश्वर हूँ—प्रियतमा पत्नी के लिए एक बूँद आँसू गिराने का भी मुझे अवसर कहाँ है? चलो पुण्डरीक, इस जराग्रस्त देह को लेकर फिर राज-काज में चित्त लगाऊँ। महारानी चली गईं—मैं तो जीवित हूँ। इस बूढ़े का वक्षःस्थल सैकड़ों शैलाघातों को सहन करेगा। निरीह उत्पीड़ित प्रजा का समुदाय इस पतनोन्मुख वृक्ष की छाया में आश्रय लेने को दौड़ा आ रहा है। मैंने आँख उठा कर चारों ओर देखा, बिना ही भोजन किये अथवा आधा पेट खाकर दरिद्र लोग जीवन बिता रहे हैं, और उनके मुँह का अन्न छीन कर चिह्लन-प्रमुख अत्याचारी दोनों हाथों से अपना पेट भर रहे हैं। मन्त्री! यह राज्य मेरा नहीं, सेनापति का है। मेरा परशुराम नाम निरर्थक है। लो, यह मुराद आ रहा है। आओ मुराद, कहो, क्या ख़बर है?"

सहायक-सेनापति मिर्ज़ा मुराद बुरी ख़बर पाकर मरघट में दौड़ा आया है। शोक-कातर मुराद ने राजा को सलाम करके कहा—जनाब, समाचार बिलकुल अशुभ नहीं है। मैंने कुछ विश्वस्त अनुचरों को ठीक ठीक ख़बर लाने के लिए आत्रेयी-तीर पर भेजा है।

"और?"

"खालता को शीघ्रगामी दूत भेजा है।"

"सरकारी आज्ञापत्र भेज दिया है न?"

"जी हाँ जनाब। उन्हें पूरे तौर से तैयार होकर आने के लिए सरकारी हुक्मनामा भेज दिया है।"

"अच्छी बात है। मन्त्री, चलो अब सीधे मरघट से चल कर मैं मन्त्रणागार में सबको बुलाता हूँ। इससे पहले मेरी एक और आज्ञा सुनो। मुराद, तुम आज से महास्थान राज्य के प्रधान सेनापति हुए। सारा काम मैंने तुम्हारे सुपुर्द किया।"

"सरकार को सलाम है। दास पर आपकी बेहद मेहरबानी है। मैं ख़ुदा से दुआ माँगता हूँ जिससे कि मैं अपने ओहदे की इज्ज़त बचा कर अपनी ज़िन्दगी बसर कर सकूँ।"

"सेनापति! तुम्हारी सुशिक्षित सेना कहाँ है?"

"आगई है महाराज! मेरी सेना इसी नगरी में है। सेनापति ने उसे गढ़ में नहीं धँसने दिया।"

"मेरा हुक्म सुना दिया था?"

"जी हाँ।"

"फिर भी उसने ध्यान नहीं दिया! यह विद्रोहाचरण की प्रथम सूचना है। मुराद! सेनापति के लिए समुचित सम्मान प्रकट करते हुए तुम पापी चिह्लन को इसी दम क़ैद कर लो।"

मुराद ने म्यान से तलवार निकाल कर और माथा झुका कर अभिमानपूर्वक कहा—"जो हुक्म।" अब वह फ़ुर्ती से चिह्लन को गिरफ़्तार करने चला गया।

पुण्डरीक ने मामले को आद्योपान्त समझ लिया। इस विषय में महाराज से कुछ पूछ-ताछ करने का उन्हें साहस न हुआ।

राजा ने कहा—पुण्डरीक! पास ही इस वृक्ष के नीचे एक बूढ़े ब्राह्मण-देवता बैठे हैं। उनको तो बुला लाओ।

पुण्डरीक चले गये। राजा ने ठण्ढी साँस लेकर अपने मन में कहा—हाय रे मनुष्य! तुम प्राण से भी प्रिय, श्रेय से भी श्रेय, आत्मीयों को मरघट में छोड़ कर संसार-मार्ग में किस तरह दौड़ पड़ते हो!

(१३)

नारी-चरित्र।

"अजी तुम भाग जाओ।"

"भाग जाऊँ! क्यों?"

"तुमको पकड़ने आ रहा है !"

"कौन ?"

"क्या तुमने सुना नहीं ?"

"हाँ, सुन लिया होगा। लेकिन इससे तुमको क्या चञ्चला ?"

"मेरा क्या ? मेरा क्या सो तो मैं स्वयं भली भाँति नहीं समझ सकती। देखो, बातचीत की ज़रूरत नहीं है। तुम जल्द भाग जाओ।"

"भाग जाओ ? कौन भाग जावे ? मैं ! यह असम्भव है। सुन्दरी ! तुम जाओ। मेरे जैसे पापी के लिए तुम्हारे कोमल हृदय में दर्द है—यह मैंने समझ लिया। लेकिन मैं भागूँगा नहीं। तुम चली जाओ। अभी सरकारी अफ़सर आजायँगे। उस समय की दशा की एक बार कल्पना करो। मैं तो बेखटके बैठा हूँ। चञ्चला ! कोई देख लेगा—मैं विनती करता हूँ। तुम चली जाओ। मैं खूब सावधान हूँ।"

"तो तुम सुनोगे नहीं ? मैंने गुप्त-द्वार खोल रक्खा है। इसी मार्ग से तुम निकल जाओ। किसी को कानों कान ख़बर न होगी। तुम समझते नहीं हो। न्यायालय से तुम्हें प्राणान्त का दण्ड दिया जायगा।"

"घबराना मत। घबरा कर मेरा सर्वस्व नष्ट न कर डालना। तुम बेखटके रहो, मेरी जान लेने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। लो, अब तुम चली जाओ। आवश्यक समय पर क्या फिर तुम्हारे दर्शन मिलेंगे ?"

"नहीं कह सकती। जो तुम यहाँ से निकल कर चले जाते तो मुझे चिन्ता न रहती। फिर तुम्हारी नज़र के आगे मैं खड़ी न रहती। चिह्लन ! तुम समझते नहीं, मैं न जाने क्या से क्या होती जा रही हूँ। मैं दिन ब दिन—और सिफ़ यह कि मुझे स्वयं मालूम नहीं होता—न जाने कहाँ उतरती जा रही हूँ। तुम चले जाओ तो मेरा सङ्कट टल जाय। मेरा ही क्यों,—मैं तो समझती हूँ कि सारे महास्थान-राज्य का सङ्कट दूर होजाय। मैं तुम्हारे पैर छूती हूँ, तुम चले जाओ—सबका भला होगा।"

"अच्छी बात है। राज्य का शत्रु—तुम्हारा परमशत्रु मारा जायगा। यह तो तुम्हारे भले की बात है—फिर इसके लिए तुम्हें इतना दर्द क्यों है ? क्यों छटपटा रही हो ? सुन्दरी ! धीरे धीरे—इतने आगे न बढ़ो। फन्दे में पैर डाला है। जाओ, लौट जाओ। तुम्हारी सरलता ने मुझ पर जादू डाल दिया है। इसी से मैं तुम्हें छोड़ता हूँ। तुम्हारे हाथ से मेरे बहुतेरे कार्य सिद्ध हो जाते, लेकिन अब मैं उस आशा से हाथ धोता हूँ। लो, अब यहाँ से चल दो।"

"चिह्लन ! तुमने जिस समय चन्द्रदेव की हत्या की थी उसी समय मैंने आत्महत्या क्यों नहीं करली ? तब तो, उसी समय, सारा मामला तय हो जाता। मेरी करतूत देख देख कर उनकी प्रेतात्मा दाँत निकाल करके हँसती है। बतलाओ चिह्लन, मनुष्य की दशा ऐसी क्यों हो जाती है ? अमानुषिक क्रोध, जीती-जागती प्रतिहिंसा की आग किस जादू-टोने से बुझ गई ? जिन आँखों ने तुम्हें घृणा की दृष्टि से देखा था वही अब तुम्हारा मुखड़ा देखने से ठण्डी होती हैं। मैं अपने आप जल रही हूँ—जो तुम यहाँ से चले जाते तो मैं बच जाती, मुझे शान्ति मिलती।"

"चञ्चला ! तो क्या तुम मुझे चाहती हो ? यह तुमने बड़ी भूल की। सुन्दरी ! मेरा कलेजा तो पत्थर का है, उसमें भला कोमलता को जगह कहाँ ? मनुष्यत्व-हीन हत्यारे पर तुम्हारी इतनी कृपा—सो भी अयाचित—क्यों है ? तुम देवी की प्रतिमा हो, तुम बीभत्स नरकोत्सव में सहायता करने क्यों आईं ? तुम सरला बालिका हो। ख़बरदार, अपात्र को हृदय का दान मत करना। अनन्त छल-कपट, असंख्य दग़ाबाज़ियों से भरे हुए अँधेरे हृदय में तुम जैसी देवी प्रतिमा के लिए स्थान नहीं है।"

"तुमको प्रेम की दृष्टि से देखा है इसी लिए क्या मैं तुम्हारे पास इस समय आई हूँ ? नहीं—नहीं, यह मत समझो। तुम मरोगे किस लिए ? तुम कुत्ते की मौत मारे जाओगे—और मुझसे यह देखा न जायगा। चिह्लन ! कौन कहता है कि मैं तुम को चाहती हूँ ! मैं तो तुम पर दिल से नफ़रत करती हूँ।"

"पगली ! यह तुरही की धुतकार सुनो। एक बार सोचो तो सही कि इस दशा में यदि कोई तुम्हें देख लेगा तो तुम्हारी क्या गति की जायगी।"

"मैं जाती हूँ। मैं तुम्हें देख न पाऊँगी। अब तुम्हारे आगे न आऊँगी। अब मैं मरूँगी।"

"मरना मत—आत्मघात न कर बैठना। सुन्दरी, यदि तुम मुझे सचमुच चाहती हो तो पक्का समझ लो कि कोई मेरी जान नहीं ले सकता। इतनी ताक़त किसी में है नहीं। जाओ, अब बेफ़िक्री से चली जाओ।"

करुणदृष्टि से चिह्लन का मुँह देख कर चञ्चला, बड़ी सावधानी से, धीरे धीरे गुप्तद्वार से—सेनापति के कमरे से निकल कर—चली गई। चिह्लन ने विस्मित होकर उसके गमन-मार्ग की ओर थोड़ी देर तक देख कर कहा—वाह, बड़ी विचित्र बात है! मुझे स्वप्न में भी मालूम न था कि मेरे कमरे में गुप्तद्वार है।

दुनिया पर अँधेरे की चादर फैली हुई है। चिह्लन अपने कमरे से निकल कर बाहर, अँगनाई में, टहल रहा है और न जाने क्या सोच-विचार कर रहा है। वह सोचता है कि किस रास्ते पर चलूँ। सुमार्ग और कुमार्ग, दोनों में से एक को मनुष्य अपनी मर्ज़ी से चुन लेता और अपने जीवन की गति को स्थिर करता है। सुमार्ग—अच्छा विचार कर न लूँ। तो जो सुगम और सुखबोध्य है क्या वही सुमार्ग है? कौन जानता है? जिस मार्ग को मुद्दत से छोड़ दिया है उस मार्ग पर सीधे सादे आदमी की तरह अब कहाँ चल सकता हूँ? मेरे लिए तो अब वह सपना है। भलेमानस की तरह रहने से भला किसी की उन्नति हुई है! अपनी आँखों तो देख रहा हूँ कि साधु, सदाशय, परहित-निरत व्यक्ति दरिद्रता की चपेट से जर्जरित रहते हैं! महामना पुण्डरीक, महास्थान के मन्त्री होने पर भी, दिन प्रतिदिन दरिद्र होते जा रहे हैं; और मैं कुटिल मार्ग पर चलने से अतुल धन का अधिपति हो गया हूँ। मैं दरिद्र ब्राह्मण था। ख़र्च की तङ्गी के मारे अपनी जन्मभूमि छोड़ कर महास्थान में आया। ब्राह्मण होने पर भी मैं क्षत्रिय का पेशा करने लगा। कारण-अकारण सैकड़ों आदमियों के सिर धड़ से अलग कर चुका हूँ। आशा पूर्ण होगई—ख़ूब धन बटोरा। फिर भी तृप्ति नहीं हुई। फिर नई आशा-कल्पना ने पीछा किया। प्रभु, आश्रयदाता महास्थानराज! तुमको बड़ा धोखा हुआ; भूल से तुमने काल-सर्प को अपने घर में पाल रक्खा है। अब उसके डँसने की यन्त्रणा सहन करो। तुम मेरी जान न ले सकोगे। विजयसिंह और मिर्ज़ा मुराद, कोई भी, मेरे सङ्कल्प में बाधा देने योग्य नहीं! मुराद! वीरता और साहस में तुम भले ही मुझसे बढ़ कर रहो, और अगणित सेना का भी तुम्हें सहारा है, फिर भी मेरी चालबाज़ियों के मुक़ाबिले में तुम कुछ भी नहीं। अब तनिक पीछे हटना पड़ा—आशा के पूर्ण करने में थोड़ी देर होगी। कुछ सामन्त राजा लोग तो मेरे क़ाबू में हो गये हैं—किन्तु एक प्रबल शक्ति चाहिए। गौड़ेश्वर जयपाल तो हेमन्तसेन के आत्म-विद्रोह से उन्मत्तप्राय हैं, उनसे मुझे कार्यसिद्धि में सहायता नहीं मिल सकती। दो दो काँटों को मुझे जड़ से उखाड़ फेंकना है। काँटा निकालने के लिए दूसरा काँटा चाहिए; किन्तु मुझे वह मिले कहाँ पर! हाँ, एक आशा अवश्य है। देखना चाहिए क्या होता है। उस रास्ते पर मैं सहज ही नहीं चलना चाहता। हरपाल पागल है। महास्थान-सिंहासन और शीला देवी को प्राप्त करने की आशा से वह सेवक की तरह मेरा काम करता है। मैं भी यही चाहता हूँ। उसे स्वप्न में डुबाकर अपना काम सिद्ध कर लूँगा। कौन कह सकता है कि भविष्यत् में दुर्गन्धमय अँधेरे कारागार में उसको स्थान न दिया जायगा? शीला देवी विजयसिंह की अङ्कलक्ष्मी होगी! तो फिर मैं किस लिए कण्टकाकीर्ण मार्ग पर आगे बढ़ रहा हूँ? सरलता और सद्गुण के अधिकारी होने से दुनिया किसी को भी सौभाग्य का अधिकारी नहीं बना देती। इसी से तो मैं उस अँधेरे मार्ग पर दौड़ रहा हूँ जिसमें कि विपत्ति-बिभीषिका और मृत्यु तक का भय है।

एकाएक चिह्लन की अगाध विचारधारा में रुकावट पड़ी। उसने देखा कि सामने कुछ शस्त्रधारी सैनिक खड़े हैं। इससे चिह्लन को अचरज नहीं हुआ। उसने कठोर स्वर में पूछा—तुम लोग कौन हो? क्या चाहते हो?

"हम लोग अभी अभी आये हुए महास्थान-सैनिक हैं।"

"यहाँ, तुम्हारा क्या काम है?"

"सेनापति चिह्लन क्या आप ही हैं?"

"हाँ।"

"महाराज की आज्ञा सुनिए।"

"मैं सुन चुका हूँ। तो मुझे गिरफ़्तार करने आये हो?"

"क्या करें सेनापतिजी, राजा की आज्ञा है।"

"अच्छी बात है। राजा की आज्ञा का पालन करो। तुम्हारा मालिक कौन है?"

"यदि आप अपनी मर्ज़ी से गिरफ़्तार न होंगे तो लाचार होकर मालिक को ख़बर देनी होगी।"

"मैं साधारण सैनिक के हाथ गिरफ़्तार न हूँगा। अपने मालिक को भेजो।"

कुछ सिपाहियों ने चिह्लन को घेर लिया। सेनापति मुराद को ख़बर देने एक सिपाही गया। थोड़ी देर में कोई बीस सशस्त्र सैनिक पुरुष वहाँ पर आगये।

चिह्लन ने पूछा—तुम लोग दुबारा क्यों आये?

एक सैनिक ने उत्तर दिया—राजा की आज्ञा का आप पालन नहीं करते।

"मैं सिर्फ़ एक बार सेनापति मुराद से मिलना चाहता हूँ।"

"मुलाक़ात न हो सकेगी। हमारे मालिक राजपुरी में नहीं हैं।"

"कहाँ हैं?"

"बन्दी को सारी बातें नहीं बताई जा सकतीं। ऐसी बातचीत रीति के विरुद्ध है। आप बातचीत किये बिना ही राजा की आज्ञा का पालन कीजिए और अस्त्र-शस्त्र रखकर बन्दी का वेश धारण कर लीजिए।"

सेनापति चिह्लन ने दम भर में सारा मामला समझ लिया। फिर उसने बातचीत नहीं की, चुपचाप अपनी पदोचित वेश-भूषा उतार कर रख दी और बन्दी के योग्य कपड़े पहन लिये। सिपाही लोग उसे अपने बीच में करके कारागार की ओर ले गये।

[१४]

कारागार।

महास्थानराज का प्रधान सेनापति चिह्लन, राजा की आज्ञा से, कारागार में बन्द किया गया। कल दरबार में उसके सारे अभियोग सुने जायँगे, यह समाचार चारों ओर बात की बात में फैल गया। प्रजा के लोग, सैकड़ों-हज़ारों की संख्या में,—कोई तो फ़ैसला सुनने और कोई दरबार में चिह्लन पर नालिश करने को—राजधानी में आने लगे। चिह्लन की अन्तिम दशा देखने को सभी उत्सुक हैं।

आधी रात है। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ है। आधी रात के सन्नाटे को चीर कर बीच-बीच में केवल पहरुओं की ज़ोरदार आवाज़ सुन पड़ती है। सरकारी घण्टे ने टन्टन् करके बारह बजा दिये। कारागार की जिस कोठरी में चिह्लन क़ैद था उसके चारों ओर चार सिपाही बड़ी मुस्तैदी से पहरा दे रहे थे। बारह का घन्टा बजने पर पहरा बदल गया। उन सिपाहियों के स्थान पर अन्य सन्तरी तैनात किये गये। ये लोग जल्दी जल्दी पहरा देकर अपनी कुशलता दिखाने लगे। इन चारों सन्तरियों में हरपाल वेश बदले हुए मौजूद था। चिह्लन का जिगरी दोस्त, माधवपुर का राजकुमार, हरपाल सन्तरी का अपूर्व वेश धारण कर आया है। एक सन्तरी ने उससे पूछा—क्यों भाई, जमुहाई क्यों लेते हो?

"अरे भाई, आज गहरा नशा हो गया है—खड़े नहीं रहा जाता। सिर में चक्कर आते हैं।"

"वाह वाह! तो इतनी शराब पी क्यों ली? बेहोश हो रहे हो।"

हरपाल ने एक बार कै करने का अभिनय किया और मतवाले की तरह नशे की नक़ल करके जड़ित कण्ठ से कहा—प-प-पहरा देना और झख मारना एक ही बात है। जेल के सिपाही क्या भाड़ झोंकने को हैं जो चुन चुन कर फ़ौज के अच्छे सिपाही इस काम पर तैनात किये गये हैं। वाह री अक़्! बड़ी इ-इज़्ज़त का काम सौंपा गया है। बुड्ढे रा-राजा की अक़्ल तारीफ़ करने लायक़ है। अरे भाई राजाराम, यहाँ तो लोहे की मोटी मोटी छड़ें लगी हुई हैं—भाई, अब क़ै-क़ैदी कहाँ भाग सकते हैं। खुटका छोड़ दो। जेलख़ाने में क़ैदी आराम करें और हम यहाँ सोवें। हरे राम।

एक पहरेदार की ख़ाली चारपाई पर हरपाल लेट गया। थोड़ी ही देर में ज़ोर ज़ोर से उसकी नाक बजने लगी।

दूसरे पहरेदार का नाम रामराजा है। हरपाल की दशा देख कर रामराजा ने अपने मन में कहा—इन नमकहरामों का, चुन चुन कर, यदि महाकाली के मन्दिर में बलिदान कर दिया जाय तो इनके साथ ठीक सलूक हो।

रामराजा लम्बे चौड़े डील-डौल का बलवान् और साहसी योधा है। अपने दोनों साथियों समेत, नङ्गी तलवार लिये हुए, वह फुर्ती से पहरा देने लगा। वह बीच-बीच में देख लेता है कि क़ैदी भीतर क्या करता है। जेल की कोठरी के एक कोने में एक मिट्टी का दिया टिमटिमा रहा है। उस धुँधले उजेले में रामराजा ने देखा कि चिह्लन घुटनों पर सिर रक्खे उदास बैठा हुआ है। उसकी यह दशा देखने से रामराजा के मन में किञ्चित् करुणा का उद्रेक हुआ। रामराजा ने धीमे स्वर में कहा—सेनापति महाशय! चिह्लन ने अचरज के साथ उसकी ओर देखा और कहा—रामराजा, तुम्हारी तैनाती पहरे पर है,—क्या और आदमी न थे?

रामराजा ने व्यङ्ग के स्वर में कहा—नहीं सेनापति महाशय, यह कोई ओछा काम नहीं है; यह तो कर्तव्य ही है। यदि आप बन्दी न होते तो हम लोगों को जेलख़ाने का पहरा न देना पड़ता। जब स्वयं सेनापति बन्दी हैं तब रामराजा जैसा आदमी पहरा न देगा तो कौन देगा! इसके लिए मुझे चिन्ता नहीं। इसी तरह मैं राजा से उऋण हो सकता हूँ।

रामराजा की बात का मतलब चिह्लन समझ गया। उसने समझ लिया कि यह मीठी फटकार है। उसने अब और कुछ न कहा। माथा झुका कर चुप हो गया।

रामराजा ने कहा—बन्दी से बातचीत करने की मुमानियत है। किन्तु आपकी यह दशा देखने से मन में बड़ा दुःख होता है, इसी से दो बातें कहे बिना मुझसे रहा नहीं जाता। जिन्होंने जीवन के सारे सुखों की उपेक्षा करके महास्थान-राज्य की अनेक बातों में उन्नति की है—महाराज को जिन पर अटूट विश्वास था उन्हीं के लिए एकाएक ऐसी कठोर आज्ञा क्यों हुई? क्या आप कृपा कर इसका कारण बतावेंगे?

चिह्लन ने मुँह ऊँचा करके कहा—रामराजा, यह तो बताओ कि महास्थान को गौरवमय साम्राज्य में किसने परिणत कर दिया है! मलद्, विराट्, कामता और सुन्य प्रभृति के पराक्रमी राजाओं को किसने बाहु-बल से परास्त करके दासराजा नरसिंह के चरणों में माथा झुकाने के लिए बाध्य किया है!

रामराजा ने कहा—सो मैं जानता हूँ। आपके बिना कदाचित् यह असाध्य साधन और कोई सैनिक न कर सकता। महास्थान-राज्य की यह उन्नति आपही के गौरव को द्योतित करती है।

चिह्लन ने गर्वित स्वर में कहा—तो जो असाध्य को साध्य करदे वह क्या नीच है? यह चौड़ा माथा और ये विशाल भुजाएँ क्या भिखारी लड़के की हैं या हीनवीर्य कायर की हैं?—नहीं, ऐसा नहीं है।

चिह्लन की यह गर्वोक्ति रामराजा को अच्छी नहीं लगी। फिर भी उसने कुछ-कुछ सहानुभूति के स्वर में कहा—मुझे स्वप्न में भी ख़बर नहीं थी कि आपके भाग्य में ऐसा शोचनीय परिणाम लिखा हुआ है।

रामराजा की इस बात ने चिह्लन के कलेजे को चीर दिया। उसने कहा—मैं नहीं जानता कि मेरी तक़दीर में क्या लिखा है; और अन्त में क्या परिणाम होगा। मुझे तो ऐसा जँचता है कि मेरे सौभाग्य ने ही मुझे इस जेलख़ाने में भेजा है।

चिह्लन की यह बात रामराजा के प्राणों के गम्भीरतर अंश में जाकर चुभ गई। उसने अपने अभिप्राय को छिपा कर कहा—इस आकस्मिक विपत्ति में फँस जाने से आपके मस्तिष्क में कुछ विकार तो नहीं होगया है?

चिह्लन ने उत्तर दिया—नहीं रामराजा, मैं पहले की ही तरह भला-चङ्गा हूँ। मुझे आशा ने धोखे में डाल रक्खा है; मैं प्यासे हिरन की तरह दौड़ रहा हूँ—क्या मेरी यह प्यास शान्त न होगी? न मालूम भाग्य में क्या बदा है!

चिह्लन की यह अभिमान-पूर्ण बात सुन कर रामराजा ने मन में हँस कर कहा—भगवान् का स्मरण कीजिए। अवश्य ही विपत्ति से आपका छुटकारा होगा।

चिह्लन ने कहा—भगवान्! वे हैं कहाँ? मैं तो समझता हूँ कि उनका ईश्वरत्व गुम हो गया है। यदि उनमें ईश्वरत्व होता तो मेरे प्रत्येक काम में रुकावट होती। मेरा रास्ता इस तरह साफ़ न हो जाता। मेरी आँखों की यह दानवी दीप्ति, हर घड़ी-पल में, मुझे महास्थान-राज्य को चौपट करने की नई नई युक्तियां दिखला रही है, फिर भी वे रोक-टोक करने नहीं आते।

भगवान् के प्रति अविवेकी चिह्लन का ऐसा अविश्वास देख कर रामराजा ने कहा—अब तो मैं स्पष्ट देखता हूँ कि आपकी अक़्ल मारी गई है। सेनापति महाशय, क्षमा कीजिए। अब मेरा पहरा बदलने को है। दूसरा सिपाही आ रहा है। प्रणाम।

चिह्लन ने कहा—रामराजा, अब मैं भी तुमसे बिदा होता हूँ। मैं तो अब मौत का मेहमान हूँ। शायद दुनिया से यह मेरी अन्तिम बिदा हो।

इसी समय उस कोठरी का दिया बुझ गया। वहाँ घना अँधेरा हो गया।

रामराजा और अन्य दोनों सिपाहियों ने, वहाँ से जाते समय, हरपाल को आवाज़ दी। उसने करवट बदल कर अलसाई हुई आवाज़ से कहा—क्यों भाई, नाहक़ क्यों तङ्ग करते हो! सोने नहीं देते। जाओ, मैं अच्छी तरह सँभल कर सारी रात पहरा देता हूँ। जाओ, आराम करो।

रामराजा और अन्य दो सिपाही चले गये।

रात के तीन पहर बीत गये। अब एक पहर बीतने पर सबेरा होगा। पहरा बदलने को फिर चार सिपाही आये। इन सिपाहियों में से एक व्यक्ति ने सोये हुए हरपाल का हाथ पकड़ कर उठाया। हरपाल ने आँखें मल कर देखा कि सिपाही लोग उसकी जान-पहचान के हैं। उनसे क्षणिक ठहरने के लिए कह कर हरपाल ने एक बार चारों ओर अच्छी तरह देख-भाल लिया, फिर जेल की कोठरी के दरवाज़े पर जाकर उसने पुकारा—सेनापति!

चिह्लन ने धीमे स्वर में कहा—कौन, हरपाल?

"हाँ, मैं ही हूँ। आप तैयार हो जायँ।" हरपाल ने हलके स्वर में सीटी बजाई। चटपट जेल की उस कोठरी की छत से कुछ ईंटें हटा दी गईं। बात की बात में, उस सेंध में होकर, एक सीढ़ी नीचे कोठरी में लटका दी गई। उसी सीढ़ी के सहारे चिह्लन धीरे धीरे छत पर आया और मकान के पीछे आ खड़ा हुआ। उसने अँधेरे में टटोल कर देखा कि लोहे की कील से एक लम्बी सी रस्सी बँधी हुई है। उसी रस्सी को पकड़ कर चिह्लन, आहट बचा कर, नीचे उतर गया। प्रत्येक दरवाज़े पर जो पहरेदार थे उन्हें हरपाल ने, रुपया देकर, अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था। चिह्लन टेढ़े मेढ़े रास्तों से होकर, प्रसिद्ध तोरण ताम्रद्वार के समीप बेरोक-टोक आ गया। चिह्लन के सौभाग्य से, ताम्रद्वार के विश्वस्त पहरेदार उस समय बेख़बर पड़े सो रहे थे। इसलिए वह आसानी से महास्थान गढ़ के बाहर निकल गया। उसे रोकने में कोई भी समर्थ नहीं हुआ।

अब सबेरा होने पर है। चिह्लन बड़ी .फुर्ती से पार जाने के लिए घाट पर आया। यहाँ उसने देखा कि हरपाल ने बढ़िया बन्दोबस्त कर रक्खा है। घाट पर एक मकरमुखी नाव बँधी है। उस पर किसी सवार को न देख कर चिह्लन बेखटके सवार होगया। नाव खुलते समय देखा कि एक काली सी मूर्ति नाव पर सवार हो रही है। इससे चिह्लन का कलेजा धड़कने लगा। उसके हाथ-पैर फूलने लगे। सवार होनेवाले ने कुछ कहा नहीं, सिर्फ़ नाव खोलने का सङ्केत कर दिया।

चिह्लन ने समझा कि यह व्यक्ति भी हरपाल का ही आदमी है। चटपट नाव खोल दी गई। प्राणों की बाज़ी लगाकर डाँड़ चलाये जाने लगे। छोटी सी किश्ती जिस .फुर्ती से बहती जा रही थी उस हिसाब से वह सूर्योदय से पहले ही बहुत दूर निकल जायगी।

[क्रमशः

प्रचुर प्रश्न।

(१)

कहाँ स्थान है आपका क्या कहोगे ?
कहाँ ध्यान है आपका क्या कहोगे ?
कृपा भूरि होगी मुझे जो बता दो।
कृती जीव-कर्तव्य को भी जता दो।

(२)

नहीं देखता मैं, मुझे देखते हो ?
मुझे क्या अकिञ्चन नहीं लेखते हो ?
मुझे भूल क्यों आप ऐसे गये हो ?
चले चित्त से आप कैसे गये हो ?

(३)

वही आप हैं या नये हो गये हो ?
जगे क्रूर हैं, आप क्यों सो गये हो ?
कहो चक्रपाणे ! न क्यों चक्र लेते ?
न क्यों दृष्टि दुष्टान्त-कृत वक्र देते ?

(४)

कहाँ हाथ है दास का त्राणकारी ?
खलों के बलों का सदा प्राणहारी।
पड़ा मैं पराधीनता-जाल में हूँ,
दुरे क्रूर कैसे बुरे हाल में हूँ।

(५)

दयालो, बचा लो बचा जो सको तो,
उठा लो बड़ा बोझ है ढो सको तो,
प्रतिज्ञा तुम्हारी तुम्हें याद है क्या ?
सुना देश में क्लेश-संवाद है क्या ?

(६)

पता एकता का लगे नाथ कैसे ?
रहें सिद्धियाँ हाथ के साथ कैसे ?
गिरा जा रहा हूँ, उठूँगा कभी क्या ?
कहूँ क्या, दुखों को सहूँगा अभी क्या ?

(७)

कभी क्या न उद्धार मेरा करोगे ?
यहाँ भी कभी आप फेरा करोगे ?
सदा यामिनी क्या करेगी बसेरा ?
सवेरा करो संहरो दुःख मेरा॥

(८)

विधाता हुआ वाम, त्राता न कोई।
न आता कभी काम आता न कोई।
पिता ! कष्ट से काँपता ही रहूँ क्या ?
कहो आप ही, आपसे मैं कहूँ क्या ?

(९)

हरे ! लोक के शोक-हर्त्ता तुम्हीं हो,
विकर्त्ता तुम्हीं, विश्व-भर्ता तुम्हीं हो।
नहीं आज भी लाज आती तुम्हें है,
भले भक्त की भीति भाती तुम्हें है॥

(१०)

कभी चक्रपाणे ! कृपाणी बनोगे ?
धरा-हेतु क्या धर्म्म-प्राणी बनोगे ?
हमें एक ही है सहारा तुम्हारा,
न सम्बन्ध क्या है हमारा तुम्हारा ?

(११)

हमें प्रीति के स्थान में भीति देते,
यही रीति है, नीति है, ईति देते।
कहें क्या तुम्हें, हो रहे मौन कैसे ?
सदा ही सहे त्रास को कौन कैसे ?

(१२)

बचाओ हमें या हँसाओ नचाओ,
रुलाओ हमें या उजाड़ो बसाओ।
प्रभो, आपके दास का ह्रास जो हो,
न क्यों त्रास हो, क्यों नहीं हास तो हो ?

(१३)

सुना आपने, प्रश्न मैंने किया क्या ?
क्रिया को किया क्या लिया या दिया क्या ?
सदाचार का चारु व्यवहार जो हो,
नहीं हार होगी, न संहार तो हो॥

(१४)

सुनो तो सुना दूँ दशा देह की क्यों ?
कहानी कहूँ, हानि क्या स्नेह की क्यों ?

कहूँ क्या कथा, व्यर्थ विस्तार होगा ?
तुम्हारे करों नाथ ! निस्तार होगा ॥

(१५)

प्रथा माधुरी साधु-रीत्या सिखा दो,
लिखा मन्त्र को यंत्र को भी दिखा दो ।
कही क्या नहीं नाथ मेरी सही है ?
पृथक् प्रश्न से प्रार्थना भी नहीं है ॥

रामचरित उपाध्याय

कलकत्ता।

देहली, आगरा, लाहोर, लखनऊ के गौरव-काल में कलकत्ता केवल तीन छोटे छोटे ग्रामों का समूह-मात्र था। परन्तु देखते देखते कुछ ही वर्षों में उसने इतनी उन्नति की कि आज ब्रिटिश-साम्राज्य में लन्दन नगर के बाद कलकत्ते का ही नम्बर है। पहले पहल सन् १७७२ में यह नगर अँगरेज़ी भारत की राजधानी बनाया गया। साथ ही यह बङ्गाल-प्रान्त की भी राजधानी बना रहा। छोटी बड़ी दोनों सरकारों के सभी दफ़्र, हाईकोर्ट, विश्वविद्यालय तथा अन्यान्य बहुतेरी संस्थायें यहीं स्थापित की गईं। अतएव इसकी जन-संख्या शीघ्रता के साथ बढ़ने लगी। जब तक यह नगर भारतवर्ष की राजधानी था, यहाँ गवर्नर जनरल निवास करते रहे। परन्तु अब यहाँ प्रान्तीय गवर्नर ही निवास करते हैं।

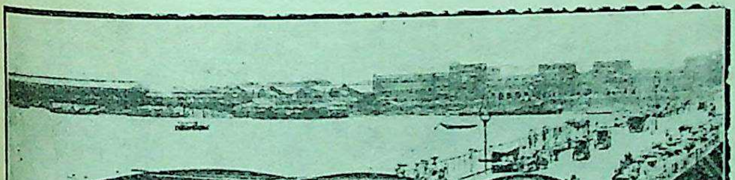

हावड़ा का पुल।

कलकत्ते की उन्नति का कारण इसकी भौगोलिक स्थिति भी है। यद्यपि ऊपर कही हुई बातें ही इसकी उन्नति के लिए पर्याप्त थीं, चाहें यह मरुभूमि में ही क्यों न आबाद होता तो भी इतना शीघ्र इसकी उन्नति का एक मुख्य कारण 'वाणिज्य' भी है। इसकी भौगोलिक स्थिति से लाभ उठाकर इस नगर के वाणिज्य ने अपनी उन्नति की और साथ ही साथ इसे भी एक विशाल नगर बना दिया। वाणिज्य की दृष्टि से बम्बई और मदरास की भौगोलिक स्थिति अच्छी नहीं है। बम्बई को 'पश्चिमी-घाट' नाम की पर्वतश्रेणी शेष भारत से पृथक् करती है और मदरास उस कर्नाटक प्रदेश से घिरा हुआ है जो अकाल का आगार हो गया है। उधर करांची से लेकर देश के भीतर और दूर तक मरुभूमि ही है। इन कारणों से इन नगरों की विशेष उन्नति को बाधा पहुँचती है। पर कलकत्ते की बात न्यारी है। एक तो इसके पश्चिम भारत के सीमा-प्रान्त तक मैदान ही मैदान है, यहाँ की पृथ्वी भी सुजला-सुफला है। द्वितीय यह कि भारत के, विशेषकर उत्तरी भारत के, मुख्य मुख्य स्थानों से यहाँ को रेलें या सड़कें सुगमता से लाई गई हैं। जलमार्ग भी सुविधा-जनक है, कई एक नदियाँ प्राकृतिक जलमार्ग बनाये हुए हैं। इस कारण वाणिज्य के लिए कलकत्ते माल-असबाब लाने में बहुत कुछ सरलता होती है। समुद्र के समीप होने के कारण यह एक प्रसिद्ध बन्दरगाह है। भिन्न भिन्न स्थानों से आकर रेलें और सड़कें यहाँ मिलती हैं। देश की उपज का बहुत बड़ा भाग यहीं से अन्य देशों को भेजा जाता है।

इस नगर में लोहा, काग़ज़, रस्सी, शक्कर और विशेष कर सन कातने के कारख़ाने हैं। इसके समीप रानीगञ्ज

की प्रसिद्ध कोयले की खान होने के कारण यहाँ का व्यवसाय बहुत बढ़ गया है। इस विषय में बम्बई के बाद इसी की गिनती है। सन के कातने और उसके बोरे बनाने का व्यवसाय तो यहाँ सबसे बढ़ा चढ़ा है। साल भर में हज़ारों टन सन यहाँ काता जाता है और बोरे बना कर लगभग दुनिया के सभी देशों को भेजे जाते हैं। इसका कारण एक यह भी है कि सन विशेषकर बङ्गाल-प्रान्त में ही बहुतायत से उत्पन्न होता है।

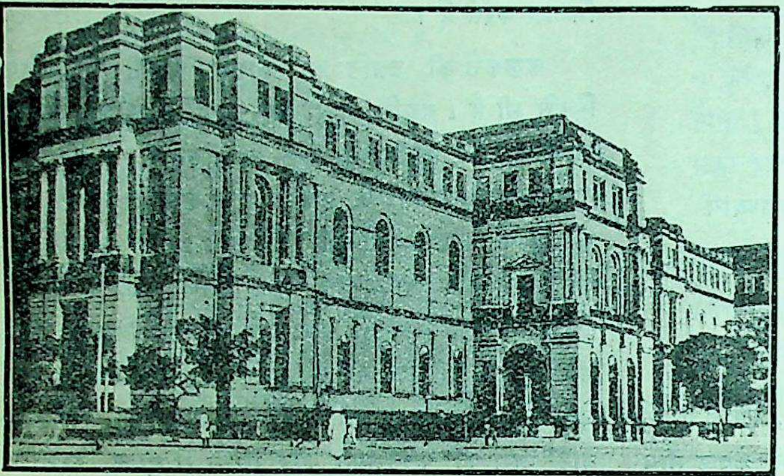

अजायबघर।

कुछ झोपड़ों से इस नगर का इतना वैभवपूर्ण हो जाना सचमुच आश्चर्यजनक है। इसका इतिहास सन् १६९० की २४ अगस्त से प्रारम्भ होता है। इसी तारीख़ को ईस्ट-इन्डिया कम्पनी के प्रसिद्ध कर्मचारी जाब चार्नक स्थायी रूप से यहाँ आकर ठहरे थे। इससे पहले भी कुछ अँगरेज़ यहाँ आकर दो-तीन बार बसे थे, पर किसी न किसी कारणवश उनको यहाँ से हटना पड़ता था। परन्तु जाब चार्नक के उद्यम तथा धैर्य्य के कारण इस बार इस नगर का निर्माण दृढ़ नीव पर किया गया। अँगरेज़ों ने अपनी बस्ती हुगली नदी के बायें किनारे पर क़ायम की। वह कलिकता नाम के ग्राम तक फैली हुई थी। इसी छोटे गाँव के चारों ओर बाहर से लोग आ आकर बसने लगे और क्रमशः बस्ती का विस्तार बढ़ने लगा। यहाँ तक कि आज उसने अपनी इस आधुनिक दशा को प्राप्त किया है। सन् १६९८ में अँगरेज़ों ने सुतानती और गोविन्दपुर नाम के गाँव औरङ्गज़ेब के पुत्र आज़म से मोल ले लिये। कलिकता को मिलाकर ये तीनों ग्राम अब बड़ी नगरी के प्रासादों और उद्यानों में परिणत हो गये हैं। इस नगर के इतिहास में सन् १७५६ में एक प्रसिद्ध घटना सङ्घटित हुई थी। इस नगर और यहाँ के फ़ोर्ट विलियम नामक क़िले को तत्कालीन नवाब सिराजुद्दौला की फ़ौज ने लूट कर उस पर क़ब्ज़ा कर लिया था। परन्तु सन् १७५७ की जनवरी में वाट्सन और क्लाईब ने इस नगर को फिर अपने क़ब्ज़े में कर लिया था।

कलकत्ते का मुख्य रेलवे स्टेशन हवड़ा है।

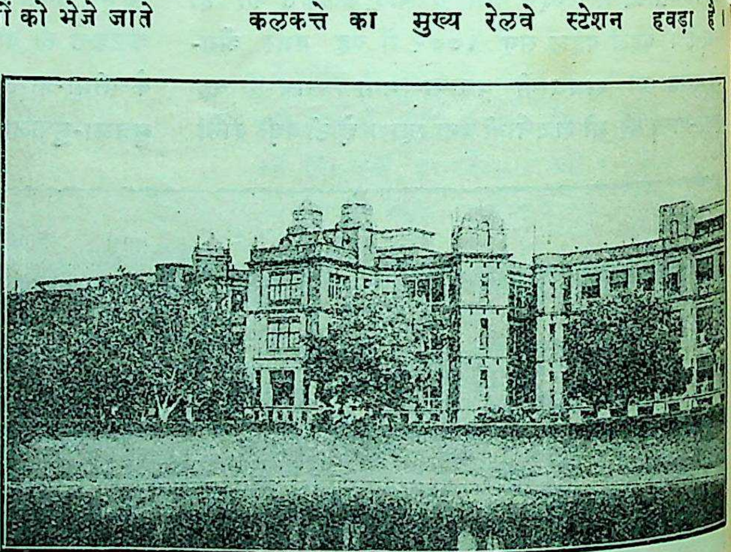

बड़ा अस्पताल।

यथार्थ में यह कलकत्ता से पृथक् हुगली नदी के दाहने किनारे पर एक अलग नगर है। इसकी जन-संख्या और इसका कारबार ख़ूब बड़ा-चढ़ा है। बम्बई के विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन को छोड़ कर भारत में हवड़ा-स्टेशन

जैसा दूसरा स्टेशन नहीं है । इस स्टेशन में दस प्लेटफ़ार्म हैं । दिन-रात्रि में न जाने कितनी सवारी तथा माल-गाड़ियाँ यहाँ आया-जाया करती हैं । रेल-कर्मचारियों, सैकड़ों कुलियों और सहस्रों यात्रियों के कारण यहाँ चौबीसों घण्टे कोलाहल मचा रहता है । प्लेटफ़ार्म से मिली हुई सड़कें हैं । यात्री रेल से उतर कर ही सवारी भाड़े पर कर सकते हैं । उन्हें पुल को पार करके पहले नम्बर के प्लेटफ़ार्म तक पहुँच कर सवारी करने की आवश्यकतर नहीं । टिकट और माल की जाँच एक स्टेशन पहले ही लिलुआ में कर ली जाती है । हवड़ा और कलकत्ते के मध्य में हुगली का प्रसिद्ध पुल है । यह नावों पर बना है । बड़े जहाज़ों के आने के समय इसका एक भाग नदी के एक

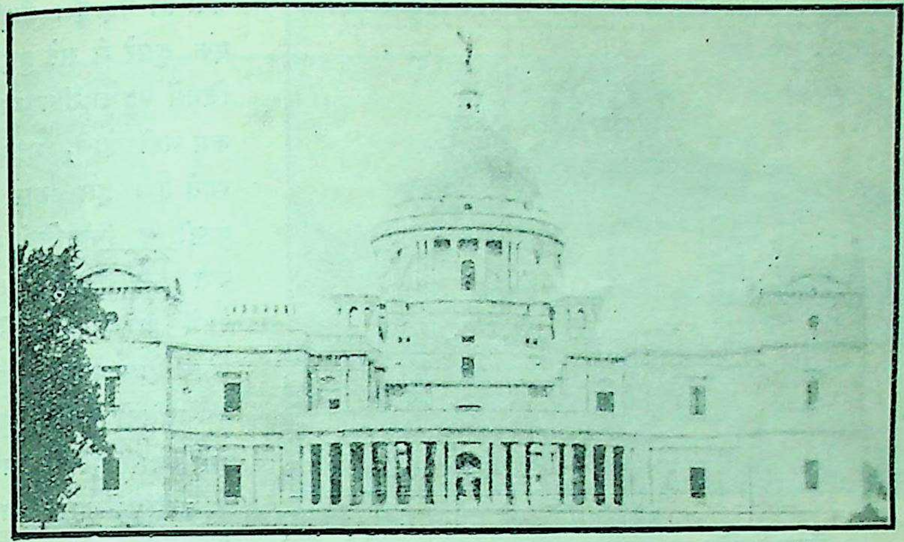

विक्टोरिया मेमोरियल हाल ।

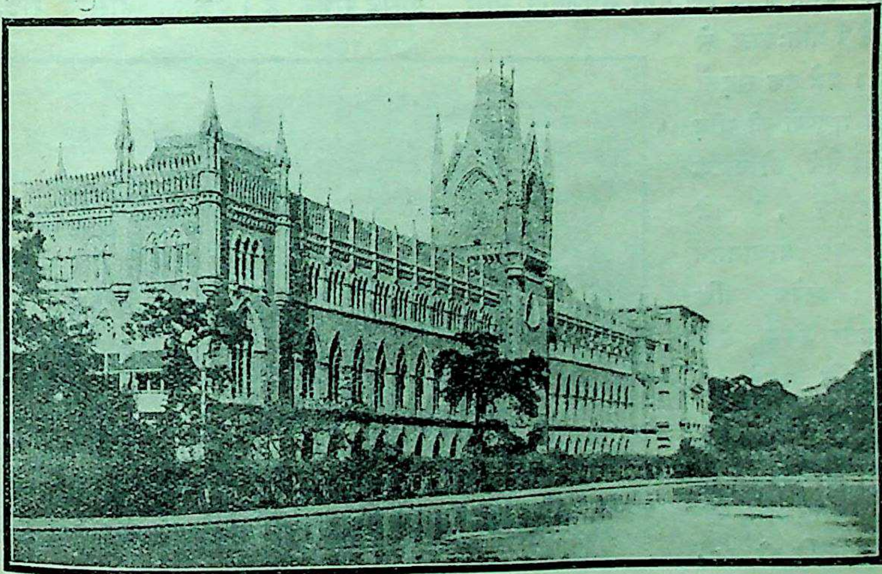

हाईकोर्ट ।

किनारे को हट जाता है और वे सुगमता से निकल जाते हैं। बहुधा सवेरे ५ या ६ बजे ये जहाज़ आते जाते हैं।

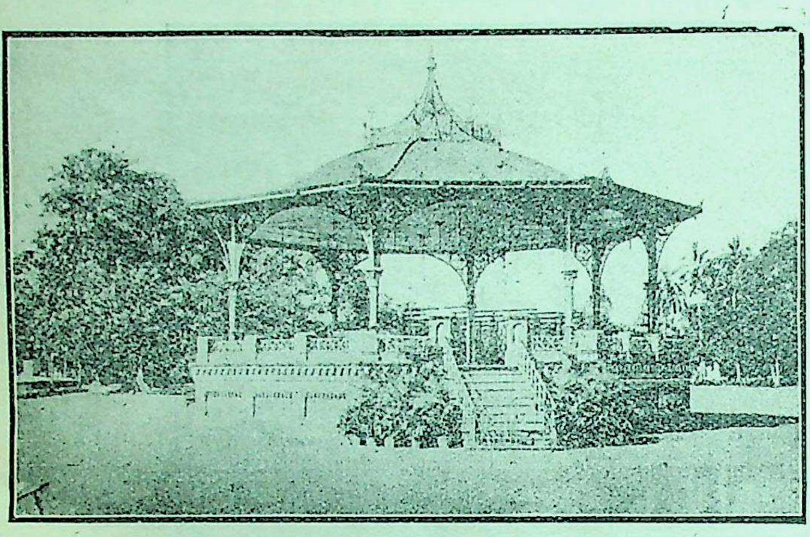

ईडन गार्डन का एक दृश्य ।

उस समय पुल से आना जाना बन्द हो जाता है। स्टीमर से नदी को पार करना पड़ता है।

स्टेशन पर उतरते ही वहाँ की भीड़ और चहल पहल से ज्ञात हो जाता है कि इस नगर में कितना भारी कारबार होता है। प्रातःकाल से प्रायः रात्रि के ११ बजे तक सड़कों और दूकानों पर मनुष्यों की भीड़ लगी रहती है। वैसे तो नाटक और सिनेमा के कारण २, ३ बजे तक भी सड़कों पर आवागमन होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी धुन में लगा रहता है। सवेरा हुआ नहीं कि सड़कों पर गाड़ी, मोटर, ट्राम कार तथा 'रिक्शा के ताँते बँध जाते हैं। यहाँ आलस्य और आलसी को स्थान नहीं। गाड़ी इत्यादि की घरघराहट और मनुष्यों के कलरव से नगर गूँजा करता है। कभी कभी इस कोलाहल से मन बहुत ही घबरा उठता है। पर यहाँ के निवासी इन सब बातों के आदी हो गये हैं, उनको इनसे व्याकुलता नहीं होती।

जन-संख्या की शीघ्र वृद्धि के कारण कलकत्ते की बस्ती, विशेष कर जहाँ देशी व्यवसायी रहते हैं, बहुत घनी हो गई है। थोड़ी सी जगह में एक दूसरे से सटे हुए बड़े बड़े घर जिनमें बहुधा तीन या चार खण्ड से कम नहीं होते, मनुष्यों से परिपूर्ण रहते हैं। इस प्रकार की जनाकीर्ण बस्ती के निवासियों के स्वास्थ्य का क्या हाल कहना है। इसके सिवा उनमें अनेक सामाजिक दोष भी उत्पन्न हो गये हैं। बड़े बड़े धनाढ्य मारवाड़ियों की कोठियाँ भी नगर के इसी भाग में हैं। यद्यपि उनके गृह बहुत ही विशाल और लाखों की लागत के हैं तो भी उनके रहन-सहन में कोई बहुत विशेषता नहीं देखी जाती। इस तरफ़ की सड़कें भी बहुत चौड़ी नहीं हैं। इन्हीं बातों के कारण नगर में यह भाग सबसे ज़्यादा गन्दा भी है। यहाँ दो प्रसिद्ध सड़कें हैं। एक तो हैरिसन रोड, दूसरी चितपुर रोड। सड़कों के दोनों ओर चौखण्डे और कहीं कहीं पचखण्डे मकान बने हुए हैं। नीचे के खण्ड तथा दूसरे खण्ड में दूकानें हैं। ऊपरवाले खण्डों में किरायेदार गृहस्थ अन

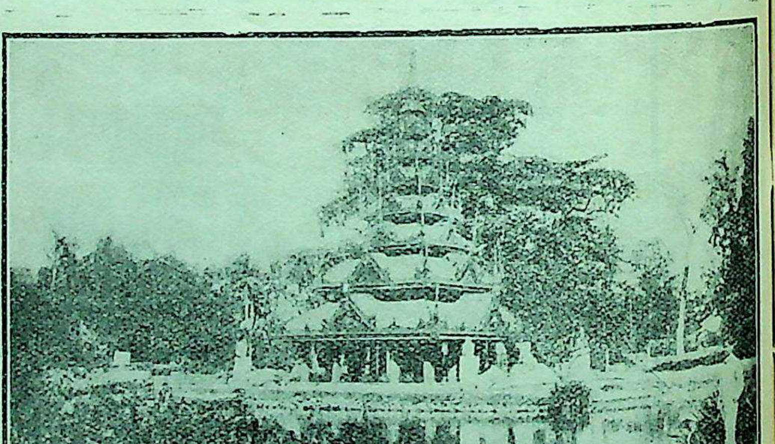

ईडन गार्डन में पैगोडा ।

था वेश्यायें रहती हैं। यहाँ वेश्याओं की संख्या सहस्रों पर है और दिन दिन बढ़ती ही जाती है। इनके अस्तित्व से नगर-निवासियों के सदाचार का पूर्ण परिचय मिलता है।

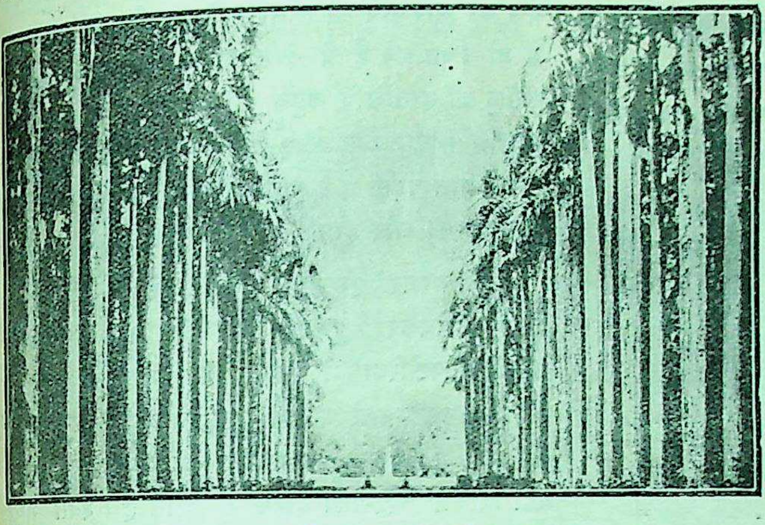

बोटैनिकल गार्डन में ताड़-वृक्षों की पंक्ति।

दूसरी ओर अर्थात् नगर के दूसरे भाग की दशा विपरीत है। इधर विदेशियों की बस्ती है। स्वभाव से ही अँगरेज़-जाति स्वच्छताप्रिय है। अँगरेज़ों को जितना अपने गृह और अपने शरीर की स्वच्छता का ध्यान रहता है, उतना कदाचित् दूसरी बातों की ओर न रहता होगा। अतएव इस भाग में सभी गृह और दूकानें स्वच्छ हैं। यहाँ बहुत ज़्यादा कोलाहल भी नहीं रहता। अँगरेज़ व्यापारियों की दूकानें और उनकी कोठियाँ नगर के इसी भाग में हैं। दूकानें क्या हैं, राजप्रासाद जान पड़ती हैं। सन्ध्या-समय बिजली के तीव्र प्रकाश में इनकी अपूर्व ही छटा हो जाती है। इन दूकानों में सबसे अधिक सजधज की दूकान ह्वाइटवे लेडला की है। भारतवर्ष और इँगलिस्तान दोनों देशों में यह कम्पनी प्रसिद्ध है। इसकी चार खन की इमारत बहुत ही विशाल है। यहाँ अधिक भीड़ रहती है, जिसमें मोल लेनेवाले कम और दर्शक अधिक होते हैं। चैारंगी तथा एसप्लनेड विशेष दर्शनीय स्थान हैं। यहाँ सन्ध्या समय दर्शकों की बड़ी भीड़ रहती है विशेषकर जाड़े में जब अँगरेज़ लोग पहाड़ से लौट आते हैं।

एसप्लनेड के सामने से ही यहाँ का प्रसिद्ध 'मैदान' प्रारम्भ होता है। यह बहुत दूर तक चला गया है। इसी में क्रिकेट, फुटबाल, हाकी, टेनिस इत्यादि खेलने के स्थान बने हुए हैं। इसके एक सिरे पर घुड़दौड़ का चक्कर बना हुआ है। यहाँ का स्टैंड, जहाँ से दर्शक-गण घुड़दौड़ देखते हैं, बहुत बड़ा है। घुड़दौड़ के समय सहस्रों मनुष्य यहाँ ठसाठस भर जाते हैं। मैदान में लार्ड राबर्ट और लार्ड लैन्सडाउन की भीमकाय अश्वारोही मूर्तियाँ तथा और कई एक प्रसिद्ध व्यक्तियों की मूर्तियाँ भी स्थापित हैं। अमीर व्यक्ति सन्ध्या समय मैदान के किनारेवाली सड़कों पर मोटर या फ़िटन पर वायुसेवन को निकलते हैं।

बोटैनिकल गार्डन में वट-वृक्ष।

विकृोरिया मेमोरियल, अजायबघर, हाईकोर्ट, इम्पीरियल लायब्रेरी, चिड़ियाख़ाना, कम्पनीबाग़ तथा राजा राजेन्द्र मल्लिक का महल कलकत्ते के दर्शनीय स्थान हैं।

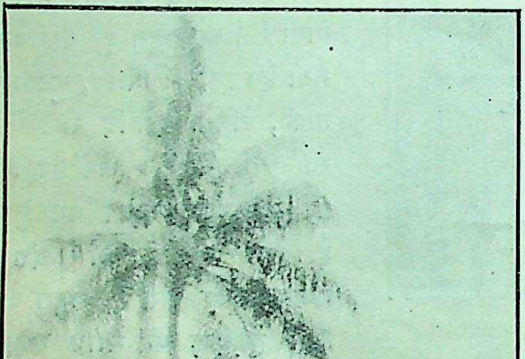

कलकत्ते की आस-पास की बस्ती।

'विकृोरिया मेमोरियल' महारानी विकृोरिया के स्मारकस्वरूप बनाया गया है। जब सन् १९०६ में वर्तमान सम्राट् युवराज के रूप में भारत पधारे थे तब उन्होंने इस स्मृति-मन्दिर की नींव रक्खी थी। यह इमारत अब बन कर तैयार हो गई है। 'मैदान' के पूर्वी कोने में यह सङ्गमरमर की इमारत बहुत सुन्दर है। इसमें मुसलमानकाल की कुछ विशेष वस्तुएँ प्रदर्शन के लिए रक्खी हुई हैं। मुग़लसम्राट्, शाहज़ादों तथा बेगमों के चित्र देखने योग्य हैं। ये चित्र अपने समय की चित्र-कला की उन्नत दशा के द्योतक हैं। प्राचीनकाल के बहुत से शस्त्र भी रक्खे हुए हैं। प्लासी-युद्ध का मिट्टी का बनाया हुआ नमूना देखने योग्य है। अबुल-फ़ज़ल-द्वारा 'नल-दमयन्ती' का फ़ारसी अनुवाद और उसके चित्र व छोटे अक्षरों में हस्तलिखित क़ुरान को देख कर आश्चर्य्य की सीमा नहीं रहती। 'नल-दमयन्ती' में जो चित्र बने हैं वे असाधारण सुन्दर हैं। क़ुरान-शरीफ़ की हस्तलिपि बहुत ही बारीक़ होने पर अत्यन्त सुघर है। आज-कल के छापे की लिपि से वह अधिक सुन्दर जान पड़ती है। यहाँ की सभी वस्तुएँ अपने पिछले इतिहास की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं।

अजायबघर एस्प्लनेड के किनारे है। यहाँ देखने योग्य विशेषकर बहुमूल्य पत्थर हैं। यहाँ की बहुत सी वस्तुएँ विक्टोरिया मेमोरियल को भेज दी गई हैं। संसार में अलभ्य से अलभ्य वस्तु का यहाँ सङ्ग्रह किया गया है। खिदिरपुर के समीप ही चिड़ियाख़ाना है। यहाँ विचित्र पशु-पक्षी देखने में आते हैं। श्वेत मयूर, शुतुरमुर्ग़, गैंडा, हंस, दरियाई घोड़े ऐसे ही अद्भुत जन्तु हैं। भिन्न भिन्न जाति के बन्दरों, सर्पों और पक्षियों की तो गिनती ही नहीं। यहाँ का कम्पनीबाग़ बहुत ही विस्तृत है। इसे देखने के लिए लोग स्टीमर से आते हैं। रविवार को यहाँ बड़ी भीड़ रहती है। अँगरेज़ लोग उस दिन यहाँ की सैर करने आते हैं। यहाँ वे आनन्द-भोज भी करते हैं। यहाँ के ताड़ के ऊँचे वृक्षों की पङ्क्ति और वट-वृक्ष विचित्र हैं। वट-वृक्ष कोई १५० वर्ष का है। इसकी सैकड़ों जटायें पृथ्वी में प्रवेश कर गई हैं। इस प्रकार उनका एक वन सा हो गया है। राजा राजेन्द्र मल्लिक का महल चोरबाग़ान नामक महल्ले में है। यह इमारत बहुत बड़ी नहीं, पर भीतर के कमरों की सजावट बहुत ही अपूर्व है। विशेषकर प्रसिद्ध देशी और विदेशी (जैसे रैफ़ल, रेंब्राड या रेनाल्डस़्) चित्रकारों के बनाये हुए तैल-चित्र उनकी शोभा-वृद्धि कर रहे हैं। इनमें किसी किसी चित्र का मूल्य बीस, तीस तथा पचास हज़ार रुपये तक है। यहाँ का दृश्य बहुत ही मुग्धकारी है।

कलकत्ते की शिक्षा-संस्थायें विशेषरूप से उल्लेख-योग्य हैं। कलकत्ता-विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १८५७ में हुई थी। भारतवर्ष का यह एक उत्तम विश्वविद्यालय है। इसके अतिरिक्त यहाँ एक प्रेसीडेन्सी कालेज है। ईसा-

ाँ के तीन कालेज तथा चार अन्य कालेज हैं। इनके सिवा कई एक हाईस्कूल और कन्याओं के लिए स्कूल और बेथून कालेज अलग हैं। यहां का मेडिकल कालेज भारतवर्ष में सर्वोत्तम गिना जाता है। इन सबकी इमारतें विशेष अच्छी नहीं हैं। स्थानाभाव के कारण थोड़ी सी जगह में दबी सी खड़ी हैं।

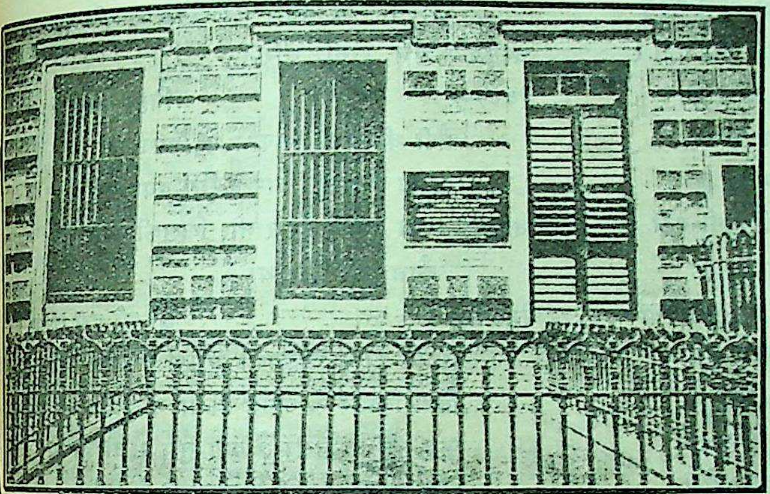

ब्लैक होल का स्मारक।

अन्यान्य उल्लेखनीय बातों में यहां का गवर्नमेन्ट हाउस है। पहले भारत के वाइसराय महोदय इसी भवन में रहते थे। अब इसमें बङ्गाल के गवर्नर रहते हैं। यह सन् १७९९ में बना था। लार्ड कार्नवालिस ने इसे इँग्लिस्तान के डर्बी शायर के किडेल्स्टन हाल के नमूने पर बनवाया था। नगर के भीतर हाईकोर्ट के समीप इडनगार्डन है। इस उद्यान में हवाख़ोरी के निमित्त नगरनिवासी सन्ध्या-समय आते हैं। इसमें बर्मा-निवासियों का पगोदा मन्दिर बना हुआ है। प्रत्येक शुक्रवार को बैण्ड भी बजता है। होटलों में दो होटल बहुत बड़े और प्रसिद्ध हैं। एक तो ग्रान्ड तथा दूसरा ग्रेट ईस्टर्न होटल। कलकत्ते का काली-मन्दिर बहुत ही प्रसिद्ध है। प्रत्येक हिन्दू 'काली कलकत्तेवाली' के नाम से परिचित है। वास्तव में देवी की मूर्ति बहुत विशाल है और दर्शनीय है। थिएटर और बायस्कोप तो यहाँ दस पन्द्रह हैं और सभी में दर्शक भरे रहते हैं। कोई ख़ाली नहीं रहता।

कलकत्ता का जैसा आश्चर्यजनक वृत्तान्त सुना था, यथार्थ में उसे वैसाही देखा। इतने बड़े नगर की स्वच्छता इत्यादि की देख-भाल स्थानीय म्युनिसपल्टी, जिसे वहाँ कारपोरेशन कहते हैं, भले प्रकार करती है। इस का जन्म सन् १८९९ में हुआ था। यहां की सड़कें बहुत चौड़ी और अच्छी दशा में हैं। धूल नाम-मात्र को भी नहीं उड़ती। और शहरों में यदि किसी सड़क (ठण्डी सड़कों के अतिरिक्त) से एक भी मोटर निकल जाय तो आँख-नाक धूल से भर जाती है। यहाँ की सड़कों पर तारकोल का छिड़काव रहता है, अर्थात् सड़क बनाते समय उस पर तारकोल की एक मोटी तह सी फैला दी जाती है। सूखने पर वह कड़ी और चिकनी हो जाती है। यहाँ तक कि कुछ शौकीन गोरी स्त्रियाँ इस पर पहियेदार जूते पहनकर फिसलती चली जाती हैं। दिन-रात घड़ी की मशीन की भाँति यहां काम जारी रहता है। लोगों को मरने का भी अवकाश नहीं रहता, यद्यपि मरते सभी हैं।

एक लखनऊ-वासी

प्रतीक्षा।

क्षुद्र प्रदीप जलाकर गृह में, संध्या से बैठा हूँ, नाथ।
तेरे पद-स्पर्श-मात्र को, व्याकुल हैं ये मेरे हाथ॥
देख रही हैं आँखें मेरी, प्रेमातुर हो द्वार-कपाट।
आओगे कब तक तुम गृह में, हे मेरे जीवन-सम्राट॥
विकल हुआ जाता हूँ प्रतिपल, बीत चली यह आधी रात।
मिटे जा रहे भाव हृदय के, शिथिल हुआ जाता यह गात॥
मलिन हुई जाती प्रदीपिका, और हो रहा क्षीण प्रकाश।
किन्तु हृदय में बनी हुई है, अब तक प्रभु मिलने की आश॥

राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह

राजा-रानी ।

तीसरा दृश्य ।

कश्मीर—युवराज का महल ।

कुमारसेन और मर्दाने लिबास में सुमित्रा ।

कुमा०—अपने मन का भाव, बहन, मैं किस तरह
तुम्हें दिखाऊँ ? मुझको कल पड़ती नहीं ।
जाना चाहूँ अभी सैन्य सब साथ ले,
करना चाहूँ दुष्ट दस्युदल का दमन,
मेटा चाहूँ जन्मभूमि कश्मीर का
यह कलंक । पर आज्ञा ही मिलती नहीं
चाचा जी की । इस बनावटी वेष को
दूर करो अब बहन ! चलो, हम तुम चलें,
राजा के चरणों में गिर कर सब कहें ।
इला—भाई, यह क्या बात ? तुम्हारे पास मैं
आई हूँ निज व्यथा जताने के लिए—
तुम भाई, मैं बहन, इसी सम्बन्ध से ।
जालन्धर की रानी भिक्षुकरूप से
भीख माँगने आई क्या कश्मीर में ?
छिपकर रहना छद्मवेश में अब यहाँ
है असह्य । हा इतने दिन के बाद मैं
जन्मभूमि में छिपकर आई, इस तरह !
कई बार शंकर को देख उमङ्ग के
अश्रुभार से भर आया मेरा गला ।
कई बार जी चाहा, रोकर यों कहूँ—
"शंकर, शंकर, वही तुम्हारी लाड़ली
खड़ी सुमित्रा; आई तुमको देखने !"
हाय वृद्ध, जब बिदा हुई थी उस घड़ी
रोई थी जी खोल; आज वह भी नहीं ।
कन्या केवल नहीं आज कश्मीर की,
जालन्धर की रानी हूँ मैं !
कुमा०— ठीक है;
समझ गया मैं बहन ! कार्य की सिद्धि का
कोई और उपाय निकालेंगे, चलो ।

चौथा दृश्य ।

कश्मीर का महल—अन्तःपुर ।

रेवती और चन्द्रसेन ।

रेव०—जाने दो—क्या महाराज तुम सोचते ?
क्यों चिन्ता कर रहे ? युद्ध में जाय तो,
लौटेगा फिर नहीं, मुझे निश्चय यही ।
चन्द्र०—धीरे, रानी, धीरे !
रेव०— बिल्ली ताक में
बैठी थी अपने शिकार के, आज तो
आया अवसर, चोट करेगी क्या नहीं ?
चन्द्र०—क्या कहती हो रानी, किसकी ताक में,
कौन कहाँ बैठा था ?
रेव०— छी-छी इस तरह
छिपते हो ? चालाकी मुझसे ? किस लिए ?
किस विचार से ब्याह किया न कुमार का
अब तक ? बोलो ? क्यों तुम राज़ी होगये
नीच प्रथा पर, जो त्रिचूड़-नृप ने कही—
पाँच वर्ष तक कन्या की आराधना
वर कर ले, फिर उन दोनों का ब्याह हो ।
चन्द्र०—चुप चुप रानी, कौन जानता है भला
किसका क्या है अभिप्राय ?
रेव०— तो देख लो,
खूब समझ लो; जो कुछ करना चाहते
उसको अच्छी तरह सोच लो—जाँच लो ।
अपने ही से तुम अपने उद्देश्य को
छिपा न रक्खो । देखो, लक्ष्य अलक्ष्य है ।
अवसर पाओ, अपने हाथों ताक कर
तीर चलाओ ठीक निशाने पर । सुनो,
जमा हो रहा कुविचारों का पाप है;
क्यों असिद्धि का क्लेश और उस पर सहो ?
रण में भेजो बस कुमार को ।
चन्द्र०— प्रियतमे,
बाहर है उत्पात अभी कश्मीर का,
अन्य राज्य में वह अपना विष क्षय करे,
फिर तुम उसको यहाँ बुलाना चाहतीं ?

रेव०—समय बहुत है यह विचारने के लिए,
अभी भेज दो बस कुमार को युद्ध में ।
उत्कण्ठित है प्रजा, देखना चाहती
जल्दी से अभिषेक कुँवर का । इस तरह
कोई भी कुछ कह सकता तुमको नहीं ।
सोचा करना फिर, इतने अवकाश में
क्या हो सकता है ।

कुमार का प्रवेश ।

रेव०— सुत, जाओ युद्ध में;
आज्ञा चाचा की है ऐसी ही तुम्हें ।
देर करो मत, मौक़ा जाने दो नहीं ।
फिर विवाह का उत्सव होगा धूम से ।
चढ़ी जवानी के इस बढ़ते तेज को
क्षय न करो यों घर बैठे आलस्य में ।

कुमा०—जय हो, जय हो, जननी; जय हो आपकी
बड़ी हुई मुझको प्रसन्नता इस घड़ी ।
अपने मुख से मुझको आज्ञा दीजिए,
चाचा जी !

चन्द्र०— तो बेटा, जाओ युद्ध में ।
देखो, रहना सावधान । अतिगर्व से
जानबूझ कर आफत में पड़ना नहीं ।
जय पाओ तुम, एक बाल बाँका न हो;
गद्दी पर आकर बैठो निज बाप की !
मेरा आशिर्वाद यही तुमको सदा ।

कुमा०—जननी, तुम भी मुझको आशिर्वाद दो !

रेव०—क्या होगा इस मिथ्या आशिर्वाद से !
अपनी रक्षा करतीं अपनी ही भुजा !

पाँचवाँ दृश्य ।

त्रिचूड़—क्रीड़ा-कानन ।

इला की सखियाँ ।

१ सखी—कहाँ कहाँ रोशनी करोगी बहन ?

२ सखी—मैं रोशनी के बारे में नहीं सोचती। रोशनी तो केवल एक रात होगी । मैं यही सोच रही हूँ कि कुमार की वंशी अभी तक क्यों नहीं बजी ? वंशी बजे बिना सब उत्सव फीका है !

३ सखी—वंशी कश्मीर में है । आती ही होगी । उसके बिना चैन नहीं । कब बजेगी ?

१ सखी—बजेगी, सखी बजेगी । तेरे भाग्य में भी एक दिन बजेगी !

३ सखी—वाह रे तुम्हारी बातें ! कहाँ की कहाँ लगाती हो ! मैं क्या उसी सोच में सूख रही हूँ ?

पहली सखी का गान ।

ग़ज़ल ।

बजेगी, ए सखी, वंशी बजेगी ।
भजेगी, प्राणपति को तू भजेगी ॥
विराजेगा हृदय में भाग्यशाली,
हृदय-रञ्जन, हमें तब तू तजेगी ।।
अरी आनन्द के आँसू बहेंगे ।
सुखी हो साज दुलहिन का सजेगी ।।
उसी धुन में मिला कर राग अपना,
बजेगी, यह हृदयतन्त्री बजेगी ।।

२ सखी—तू अपना गाना रहने दे ! बार बार हृदय जैसे धड़क उठता है । जान पड़ता है, केवल एक रात को रोशनी, हँसीखुशी, वंशी और गाने-बजाने की धूम हो जायगी । उसके बाद सर्वत्र अन्धकार छा जायगा !

१ सखी—रोने के लिए समय बहुत है बहन । इन दो-चार दिनों में तो हँसी-ख़ुशी मना लें । फूल अगर सूख न जाते तो मैं आज से ही कुमार को ब्याह के दिन पहनाने की माला गूँथने लगती ।

२ सखी—मैं कुमार का शृङ्गार करूँगी ।

१ सखी—मैं अपनी सखी का शृङ्गार करूँगी ।

३ सखी—और मैं क्या करूँगी ?

१ सखी—वाह, तू अपना शृङ्गार करना । देख, शायद युवराज को रिझा सके ।

३ सखी—तू तो बहन इसकी भी चेष्टा करके देख चुकी है । सो भई, जब तेरे किये कुछ नहीं हुआ तब मैं क्या कर सकूँगी ? बात तो यह है कि जो हमारी सखी को देख चुका है वह इस तरह राह चलते किसी पर रीझ नहीं सकता ।—वह सुनो, वंशी आगई—बज रही है ।

पहली सखी का गान ।

बाजि रही वंशी वह सजनी, वन में या मन में ?
राजि रही सुन्दर सुख-रजनी, वन में या मन में ?
कहाँ चले यह वायुवसन्ती, शीतल और सुगन्धित;
कहाँ खिले ये फूल मनोहर, वन में या मन में ?
जायँ-न-जायँ वृथा यह दुबधा, को जाने, वह विरही
कर अभिसार कहाँ आता है, वन में या मन में ?

२ सखी—अरी चुप रह—वह देख, कुमार आरहे हैं ।

३ सखी—चलो चलो बहन, हम लोग आड़ में चलें । तुम लोग तो जाती हो, लेकिन क्या जाने बहन, युवराज के सामने जाने में मेरा हृदय क्यों उछलने लगता है !

२ सखी—भला बहन, युवराज आज ही कैसे आ गये ?

१ सखी—आना तो था ही, कुछ दिन पहले ही आगये । हमारी सखी के बिना उनको ही कब चैन पड़ता है ? राजकुमार हैं तो क्या कामदेव उनसे दब जायगा ?

३ सखी—चलो भाई आड़ में चलें ।

(गमन ।)

कुमारसेन और इला का प्रवेश ।

इला—रहने दो नाथ, मुझसे और अधिक न कहो । काम है, राज्य छोड़कर जाना होगा, इसी से कुछ दिन तक ब्याह रुका रहेगा, इससे अधिक और क्या सुनूँगी ?

कुमा०—मुझ पर सदा ऐसा ही विश्वास रखना । मन से ही मन पहचाना जाता है; गहरा विश्वास नीरव हृदय की बात को खींच लाता है ! इस उपवन में, इस झील के किनारे, इसी लताकुञ्ज में, इसी सन्ध्या के प्रकाश में, पश्चिम आकाश के छोर पर इसी सन्ध्यातारे को ताकती हुई इस प्रवासी को स्मरण करना । समझना कि मैं भी इसी समय परदेश में पेड़ के नीचे अकेला बैठा हुआ इसी तारे में तुम्हारी आँखों का तारा देख रहा हूँ । समझना कि इस नील आकाश में पुष्प की सुगन्ध के समान तुम्हारा और मेरा प्रेम व्याप्त हो रहा है—दोनों की विरह-रात्रि में एक ही चन्द्रमा उदय हुआ है !

इला—जानती हूँ, जानती हूँ, नाथ, मैं तुम्हारे हृदय को जानती हूँ !

कुमा०—तो जाता हूँ प्रियतमे ! हृदयसर्वस्व ! जीवनेश्वरी !

(प्रस्थान ।)

सखियों का प्रवेश ।

२ सखी—हाय, यह क्या सुना ?

३ सखी—सखी, क्यों जाने दिया ?

१ सखी—अच्छा ही किया । अपनी इच्छा से न छोड़ देने से बन्धन तोड़ कर सदा के लिए मनुष्य चला जाता है । हाय सखी, हाय, अन्त को क्या उत्सव का दीपक बुझाना पड़ा ?

इला—सखियो, तुम चुप रहो, मेरा हृदय टूट गया ! उस दीपमालिका को बुझा दो ! बताओ, सखियो, लज्जा-हीन पूर्णिमा के प्रकाश को कौन बुझावेगा ? क्यों आज यह जान पड़ता है कि मेरे इस जीवन का सुख दिन के साथ ही पश्चिम में डूब गया ? हाय, वह अस्त होने की राह में अपनी इला को छाया की तरह साथ ही क्यों न लेगया ?

चौथा अङ्क ।

पहला दृश्य ।

जालन्धर—युद्धभूमि—सेना की छावनी ।
विक्रमदेव और सेनापति ।

सेना०—शिलादित्य के साथ उदय भास्कर हुआ
कैद; युधाजित भाग गया, स्वामी, कहीं—
सेना लेकर साथ ।

विक्र०— चलो फिर शीघ्र ही
उसके पीछे; अभी उठा दो छावनी !
व्यग्रभाव से उग्रभाव से की गई
मानव-मृगया यह मुझको अच्छी लगे !
एक गाँव से और गाँव में, वन-नदी
और पहाड़ों में भी घुस कर घूम कर
दिनोंरात यह कौशल की क्रीड़ा भली !
—बाक़ी अब है कौन और विद्रोह का
करने वाला ?

सेना०— बस केवल जयसेन है ।
सेना सबसे अधिक उसी के साथ है ।

विक्र०—सेनापति, तो चलो उसी को ढूँढ़ने ।
हृदय हृदय का, बाहु बाहु का, तीव्रतम
प्रेमालिंगन-तुल्य उग्र संग्राम ही
मैं चाहूँ । यह हलके हाथों से हुआ
समर सुहाता नहीं—क्षुद्र रण, क्षुद्र जय !

सेना०—ख़बर मिली थी, सहसा सेना शत्रु की
गुप्तरूप से आकर, पीछे से, प्रभो,
हम पर हमला करनेवाली है । मगर
जान पड़े, डर गया शत्रु आपत्ति के
भय से, अब प्रस्ताव करेगा सन्धि का ।

विक्र०—धिक् है उसको ! वह कायर, डरपोक है !
सन्धि नहीं, संग्राम ! रक्त से रक्त के
मिलने का उन्माद ! शस्त्र से शस्त्र का
बजना ! लेकर सैन्य चलो, पीछा करो ।

सेना०—जो आज्ञा ! (प्रस्थान ।)

विक्र०— यह कैसी अच्छी युक्ति है !
यह कैसा है परित्राण ! आनन्द की
यह उमंग कैसी है मेरे हृदय में !
अबला के कमज़ोर हाथ अब तक मुझे
बन्दर ऐसा नचा रहे थे गेह में—
यह प्रचण्ड सुख मिलने देते थे नहीं !
मेरा यह उद्दाम हृदय क्रमशः घनी
अन्धकारमय गम्भीरता की खोज में
चला जा रहा था मानों पाताल को !
छुटकारा होगया ! मुक्ति मुझको मिली !
भाग गई है आप शृङ्खला, छोड़कर
क़ैदी को ! इस विश्व बीच अब तक, अहो,
कितने ही रण हुए, सन्धि कितनी हुईं,
कीर्त्ति कमाली कितनी लोगों ने यहाँ ।
अन्तःपुर में पड़ा हुआ था मैं, यथा
बंद कली में चंपे की हो सो रहा
कोई कीड़ा ! कहाँ लोकलज्जा, कहाँ
वीर पराक्रम चला गया था ! था कहाँ
यह बहुविस्तृत विश्व ! आज मुझको भला
स्त्रीजित, कायर, कौन कहेगा ! मंद मृदु
पवनवेग से आज बना तूफ़ान की
हवा । प्रबल यह हिंसा अच्छी है मुझे,
क्षुद्र प्रेम से । प्रलय चरम आनन्द है
विधना का । यह हिंसा ही है हृदय के
छुटकारे का सुख ! हिंसा ही जानना !
हिंसा ही स्वातन्त्र्य !

सेनापति का प्रवेश ।

सेना०— सैन्य ले आरहा
विद्रोही ।

विक्र०— तो चलो ।

गुप्तचर का प्रवेश ।

गुप्तचर— शिविर के पास ही
पहुँच गई है सारी सेना शत्रु की ।
पर बाजे हैं नहीं, पताका भी नहीं,
और न तर्जन-गर्जन है कुछ युद्ध का ।
जैसे आता क्षमाप्रार्थना के लिए
शत्रु ।

विक्र०— क्षमा की बात सुनूँगा मैं नहीं ।
अपने अपयश को पहले मैं रक्त से
धोऊँगा । बस चलो शत्रु के सामने;
सेनापति !

सेना०—मैं महाराज ! तैयार हूँ ।

दूसरे गुप्तचर का प्रवेश ।

२ चर—शिविका आई एक शिविर से शत्रु के,
शायद उसमें दूत आरहा है यहाँ
लेकर के प्रस्ताव सन्धि का ।

सेना०— तो प्रभो,
ठहर जाइए ज़रा, शत्रु का दूत क्या
कहता है; पहले सुन लेना चाहिए ।

विक्र०—अच्छा, उसके बाद युद्ध ।

सैनिक का प्रवेश ।

सैनि०— जयसेन को
और युधाजित को रानी जी क़ैद कर
लाई हैं, आई हैं सेवा में, प्रभो ।

विक्र०—क्या ? आया है कौन ?

सै०— महारानी स्वयं ।

विक्र०—रानी ! कैसी ? कौन महारानी ?
सै०— वही
हम लोगों की ।
विक्र०— पागल है ! क्या बक रहा ?
सेनापति तुम देखो जाकर, कौन है
आया मेरे पास ?
(सेनापति आदि का प्रस्थान ।)
विक्र०— महारानी यहाँ
कर लाई हैं क़ैद युधाजित आदि को !
सपना यह क्या देख रहा हूँ ! युद्ध की
भूमि नहीं है यह क्या ? यह क्या राज्य का
अन्तःपुर है ? इतने दिन तक युद्ध का
सपना क्या मैं देख रहा था ? आज फिर
सहसा जगकर देखूँगा रनिवास का
वही बाग़ क्या ? वही महारानी, वही
फूल-सेज, वे ही सुदीर्घ दिन अति अलस,
वे ही रातें बड़ी ? क़ैद ? किसको किया
क़ैद ? सुना क्या ? क्या सुनना था, क्या सुना ?
क्या करने को क़ैद मुझे आई यहाँ ?
दूत ! नहीं, सेनापति ! आया कौन है ?
किसको करके क़ैद ?
सेनापति का प्रवेश ।
सेना०— महारानी स्वयं
आई हैं, है साथ सैन्य कश्मीर की ।
रानीजी के भाई भी हैं साथ ही ।
मिला राह में विद्रोही जयसेन है,
और युधाजित भी, उनको बन्दी बना
लाई हैं, हैं खड़ी शिविर के द्वार पर
मिलने को ।
विक्र०— मिलने को ! सेनापति अभी
भागो, भागो, चलो, चलो सब सैन्य ले—
और कहीं क्या शत्रु नहीं है ? क्या कहीं
और नहीं विद्रोही है कोई बचा ?
मिलना ? किससे ? रमणी से साक्षात का
समय नहीं यह !
सेना०— महाराज—
विक्र०— बस, चुप रहो ।
मेरी आज्ञा सुनो, बन्द कर लो अभी
द्वार; शिविर में शिविका जा सकती नहीं ।
कह दो ।
सेना०— आज्ञा शिरोधार्य है देव की !

— — —

दूसरा दृश्य ।

देवदत्त का घर ।

देवदत्त और नारायणी ।

देव०—प्रिये, तो अनुमति दो—दास बिदा हो ।

नारा०—तो जाओ न, मैं क्या तुमको पकड़े हुए हूँ ?

देव०—इसी से तो—इसी से तो कहीं जाना नहीं होता—बिदा होने में भी सुख नहीं है । जो मैं करता हूँ सो करो । यहाँ पर पछाड़ खाकर गिर पड़ो । कहो, हा हतास्मि, हा भगवति भवितव्यते ! हा भगवन् मकरकेतन !

नारा०—बेकार बको नहीं ! तुम्हें मेरे सिर की क़सम, सच कहो, कहाँ जाओगे ?

देव०—राजा के पास ।

नारा०—राजा तो लड़ाई करने गये हैं । तुम क्या युद्ध करोगे ? द्रोणाचार्य हो गये हो ?

देव०—तुम्हारे रहते मैं युद्ध करूँगा ? ख़ैर, अब जाता हूँ ।

नारा०—तब से यही एक बात कह रहे हो । सो जाओ न । किसने तुम्हें सिर की क़सम देकर रोक रक्खा है ?

देव०—हाय मकरकेतन, यहाँ तुम्हारे पुष्पशर का काम नहीं है—एक-दम समूची शक्ति की सेल हने बिना मर्मस्थल तक चोट नहीं पहुँच सकती ! मैं कहता हूँ, तन्वी ! श्यामा ! शिखरदशना ! पक्वबिम्बाधरोष्ठी ! आँखों से कुछ आँसू-वाँसू निकलेंगे या नहीं ? जल्दी से आँसू-वाँसू निकाल डालो—मैं उठूँ ।

नारा०—वाह रे अभाग । कौन दुःख ऐसा आ पड़ा है, जो मैं आँसू बहाऊँ ? हांजी, तुम्हारे गये बिना क्या

राजा का युद्ध चल नहीं सकता ? तुम क्या महावीर धूम्रलोचन होगये हो ?

देव०—मेरे गये बिना राजा का युद्ध बन्द नहीं हो सकता । मन्त्री ने कई बार लिख भेजा है कि राज्य मिट्टी में मिला जाता है, किन्तु महाराज किसी तरह युद्ध छोड़ना नहीं चाहते । इधर विद्रोह भी बिलकुल थम गया है ।

नारा०—विद्रोह ही जो थम गया तो फिर महाराज किससे युद्ध करने जायँगे ?

देव०—महारानी के भाई कुमारसेन के साथ ।

नारा०—वाह, यह क्या बात है ! साले के साथ युद्ध ? जान पड़ता है, राजा लोगों में इसी तरह दिल्लगी हुआ करती है । हम लोग होते तो ज़रा काजल और सेंदुर लगा देते—सुई से बिछौने के साथ दावन सी देते । क्यों न ?

देव०—यह दिल्लगी नहीं है । महारानी अपने भाई कुमारसेन की सहायता से जयसेन और युधाजित् को युद्ध में क़ैद करके महाराज के पास ले आई थीं । महाराज ने उनको अपने डेरे के भीतर आने नहीं दिया ।

नारा०—तुम कहते क्या हो ! तुम अब तक गये क्यों नहीं ? यह ख़बर सुनकर भी बैठे हुए हो ? जाओ, जाओ, अभी जाओ । हमारी रानी सती लक्ष्मी हैं; उनका भी अपमान ! राजा के शरीर में कलियुग समा गया है ।

देव०—क़ैदी विद्रोहियों ने महाराज से कहा है कि "महाराज, हम आप ही की प्रजा हैं—हमसे अपराध बन पड़ा हो तो आप उसका दण्ड दीजिए । एक विदेशी ने आकर जो हमारा अपमान किया तो उससे आपका ही अपमान हुआ । इसके माने तो यह हुए कि आपमें अपने राज्य का शासन करने की क्षमता ही नहीं है । एक साधारण युद्ध, उसके लिए कश्मीर से सेना आई—इससे बढ़कर उपहास और क्या हो सकता है ?" यह सुनकर महाराज आग हो उठे । उन्होंने दूत के मुख से कुमारसेन को बहुत कुछ बुरा-भला कहला भेजा । कुमारसेन भी उद्धतस्वभाव का नवयुवक ठहरा । वही कैसे सह लेता ? जान पड़ता है, उसने भी इनके द्वारा कुछ कड़ी बातें कहला भेजी हैं ।

नारा०—तो अच्छी बात है, कुमारसेन तो कोई ग़ैर नहीं है । अगर बातचीत चल रही है तो चलने दो । तुम अगर पास नहीं रहते तो क्या राजा को दो बातें भी नहीं सूझती हैं ? बातचीत बंद करके शस्त्र चलाने की क्या ज़रूरत है ! इससे तो हमारे राजा की ही हार समझी जायगी ! दिल्लगी में बातचीत बन्द करके लड़ने लगना ही तो हार जाने का लक्षण समझा जाता है ।

देव०—असल बात यह है राजा ने युद्ध करने का यह एक बहाना निकाल लिया है । इस समय राजा-साहब किसी तरह युद्ध को छोड़ना नहीं चाहते । युद्ध के लिए अनेक ढङ्ग निकाला करते हैं । राजा के पास इस समय कोई ऐसा आदमी नहीं है कि जो उनको समझाने का साहस करे । मुझसे तो अब रहा नहीं जाता । मैं जाता हूँ ।

नारा०—तुम्हारी इच्छा हो तो जाओ, किन्तु मैं अकेले तुम्हारी घर-गिरिस्ती का काम-काज न कर सकूँगी । यह कहे देती हूँ । यह लो, सब तुम्हारा पड़ा हुआ है । मैं किसी बैरागी की चेली होकर चली जाऊँगी ।

देव०—ठहर जाओ, पहले मैं लौट आऊँ, फिर जाना । कहो तो मैं न जाऊँ ।

नारा०—नहीं नहीं, तुम जाओ ! मैं क्या तुमसे रहने के लिए कहती हूँ ? तुम्हारे चले जाने से मैं एक-दम छाती फाड़कर मर न जाऊँगी—इसके लिए चिन्ता न करो ।

देव०—सो क्या मैं जानता नहीं ? मलय-पवन तुम्हारा कुछ भी न कर सकेगा । विरह तो साधारण बात है, वज्रपात से भी तुम्हारा कुछ बिगड़ नहीं सकता ।

(जाने के लिए तैयार होता है ।)

नारा०—हे भगवान्, राजा को सुमति दो !

देव०—यह घर छोड़ कर कभी कहीं गया नहीं । हे भगवान्, इन सबके ऊपर तुम अपनी दृष्टि रखना ।

(प्रस्थान)

तीसरा दृश्य ।

जालन्धर—कुमारसेन का डेरा ।
कुमारसेन और सुमित्रा ।

सुमि०—क्षमा करो राजा को; भाई, रोष जो
करना हो तो कर लो मुझ पर । बीच में
मैं जो होती नहीं, युद्ध में तो अभी
तुम दिखलाते बहादुरी—बल बाहु का !
ललकारा लड़ने को राजा ने तुम्हें
तो भी तुम चुप रहे बहन के स्नेह से ।
मैं क्या जानूँ नहीं, सेल अपमान की
दो टुकड़े कर देती मानी का हृदय ।
उससे अच्छी मौत । अभागिन मैं बड़ी ।
निज भाई के हृदय बीच अपमान का
भाला जैसे मारा अपने हाथ से
मैंने ! भाई, इससे अच्छी मौत थी !

कुमा०—तुम तो जानो बहन, वीर का धर्म है
युद्ध, किन्तु है क्षमा कहीं उससे बड़ी—
लड़ने से वीरता क्षमा में है अधिक ।
तुच्छ समझता कौन तीव्र अपमान को
मानी नर के सिवा ?

सुमि०— धन्य हो, धन्य हो
भाई तुम ! यह जीवन अर्पण कर दिया
मैंने तुमको । ऋणी तुम्हारी यह बहन
चुका न सकती बदला ऐसे स्नेह का
तुम हो सच्चे वीर, धीर गंभीर हो,
नर-समाज में नरपति तुम हो ।

कुमा०— हूँ, बहन,
तेरा भाई ! तू प्रसन्न जिसमें रहे
वही मुझे करना है । चल प्यारी बहन,
उसी हमारे शैल-भवन में; हैं जहाँ
शुभ्र सुशीतल हिममंडित गिरि के शिखर;
दो झरनों की तरह जहाँ भाई-बहन
हम दोनों ही प्रकट हुए—खेला किये;
अब क्या फिर फिर सको नहीं उस ओर तुम ?
शैशव के उस उच्च शिखर पर ?

सुमि०— हाँ चलो
जिस घर में हम दोनों प्रिय भाई बहन
खेला करते थे पहले आनन्द से,
उस घर में प्रेयसी सुन्दरी ब्याह कर
ले आओ । मैं उसे बिठा कर शाम को—
तुमको जैसा रुचे उसी ही ढंग का—
कर दूँगी शृङ्गार; बता दूँगी उसे—
कौन फूल, क्या गान, कौन रस काव्य का
तुमको अच्छा लगे । सुनाऊँगी उसे
बाल्यावस्था की विचित्र बातें सभी—
बाल-हृदय का वह महत्त्व ।

कुमा०— प्यारी बहन,
याद मुझे भी है पहला प्यारा समय ।
हम दोनों थे बीन बजाना सीखते ।
लगता था जी नहीं, ऊबकर भागता
था मैं । पर, तुम केश-वेशभूषा सभी
भूल, पलँग पर अपने बैठी शाम को
बीन बजाया गाया करती थीं सदा ।

सुमि०—याद मुझे भी है; भाई, तुम खेल कर
जब आते थे, मुझे सुनाते थे नई
अद्भुत कल्पित कथा-कहानी स्नेह से;
देखी थी अज्ञात नदी तुमने कहीं,
स्वर्ण-स्वर्गपुर उसके तट पर, और वह
कल्पवृक्ष का कुञ्ज अलौकिक; फल फलें
सुधा-मधुर जिस जगह, रत्न-दीपक जलें।
विस्मित होकर सुनती थी; फिर स्वप्न में
किन्नर-कानन वही देखती थी ।

कुमा०— स्वयं
वही कल्पना, कहते-कहते, अन्त को,
अपने ही को छलती थी । सच झूठ सब
होता एकाकार; यथा गिरि और घन ।
पर्वत के उस पार स्वर्ग का दृश्य ही
खिँच जाता था इन आँखों के सामने ।
—शंकर आता है, देखो, लौटा हुआ;
समाचार क्या है, सुन लेना चाहिए ।

[असमाप्त

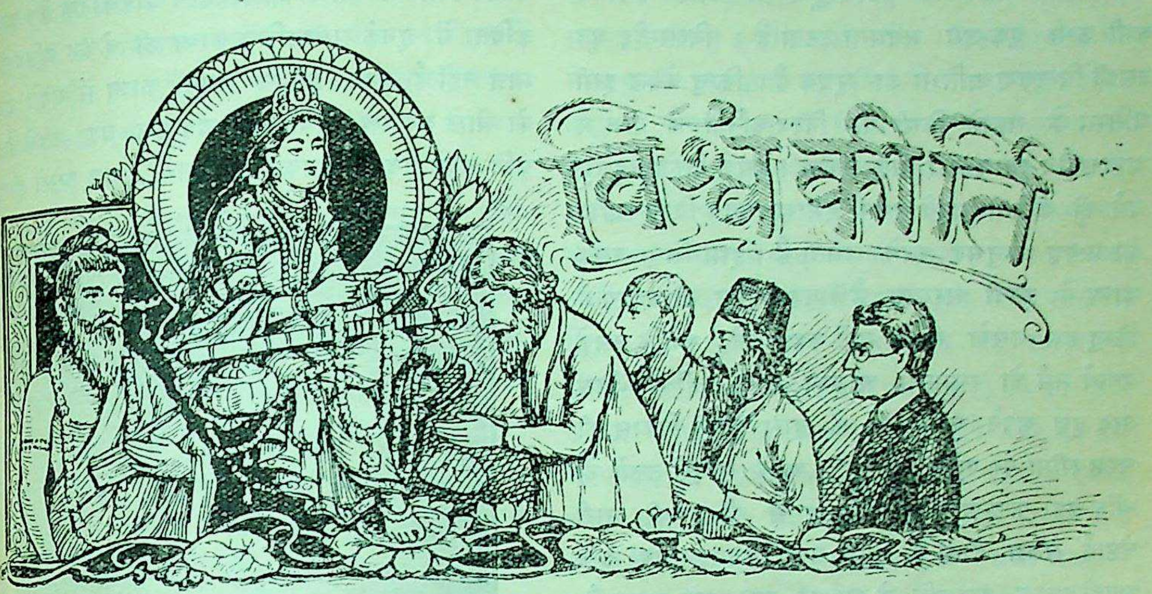

कविवर ईट्स।

[नोबल प्राइज़ पाने के कारण कविवर ईट्स की चर्चा हिन्दी के भिन्न भिन्न पत्रों में की गई है। कुछ समय पहले रवीन्द्र बाबू ने ईट्स की कविता की आलोचना की थी। उसी का सारांश हम यहाँ प्रकाशित करते हैं। इससे हिन्दी के पाठक समझ सकेंगे कि क्यों ईट्स को यह विश्व-कीर्ति प्राप्त हुई है।]

इँग्लेंड के आधुनिक कवियों की कविता पढ़ते समय अधिकांश कवियों के विषय में हमारे मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि वे इस जीते-जागते संसार के कवि नहीं हैं, केवल साहित्य-जगत् से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इँग्लेंड में बहुत दिनों से काव्य और साहित्य की सृष्टि हो रही है, अतएव अँगरेज़ी काव्य की भाषा, उपमा, अलङ्कार आदि का रूप बहुत कुछ स्थिर हो गया है, वहाँ बहुत से कवियों ने कवित्व के मूलस्रोत की उपेक्षा करके केवल प्रचलित काव्य-प्रणाली के आधार पर कविता का निर्माण किया है। फिर भी वहाँ सच्चे कवियों का एक-दम अभाव नहीं। सच्चे कवि हृदय की स्फूर्ति से प्रेरित होकर गीत का प्रणयन करते हैं, केवल कुछ न कुछ गाने की इच्छा से वे कभी कोई गीत नहीं बनाते। जिस समय हृदय की प्रेरणा के बिना कोई कथा कही जाती है, केवल कथा कहने के उद्देश से कथा गढ़ी जाती है, उस समय कथा की शैली सापेक्ष रीति से जटिल और सुघड़ होती जाती है। जब कविता का भाव हृदय की स्पष्ट किन्तु गम्भीर तह से नहीं उठता, तब उसमें सरलता नहीं रह जाती। हृदय की स्फूर्त्ति का आधार न होने से कवि को स्वयं अपने ऊपर विश्वास नहीं होता, वह अपनी बुद्धि की तीव्रता से चारों ओर हाथ-पैर फैलाता है। नई बात कहना एक प्रकार से उसके लिए असम्भव है, इसलिए अपनी अपूर्वता सिद्ध करने के लिए वह अपने काव्य में कुछ न कुछ अद्भुत ढङ्ग अवश्य लाना चाहता है।

उदाहरण के लिए यदि हम वर्ड्स्वर्थ और स्विन्बर्न की कविताओं की तुलना करें, तो उपर्युक्त बात बहुत आसानी से हमारी समझ में आजाय। जो इस प्रत्यक्ष विश्व के कवि नहीं हैं, केवल साहित्य-क्षेत्र के कवि हैं, उनके बीच में स्विन्बर्न का स्थान बहुत ऊँचा है। उसके काव्य में पद-लालित्य और शब्द-विन्यास का ऐसा चातुर्य्य है कि उसकी छटा से कभी कभी हम मतवाले हो उठते हैं, ध्वनि और प्रतिध्वनि के सामञ्जस्य से अथवा

चित्र-विचित्र दृश्यों के चरित्राङ्कण से उसका कथानक कभी कभी एक-दम जगमगा उठता है। निस्सन्देह यह उसकी विलक्षण प्रतिभा का सूचक है। किन्तु केवल इसी प्रतिभा के सहारे किसी को विश्व-कवियों के बीच में आदरणीय स्थान नहीं मिल सकता। इसके विरुद्ध वड्स्वर्थ की कविता पढ़ते समय हमारा हृदय विश्व-सङ्गीत का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है। इसी लिए उसके काव्य में इतनी सरलता है। वह सरल तो अवश्य है किन्तु हम उसको सहज नहीं कह सकते, क्योंकि उसके यथार्थ मर्म को समझना आसान काम नहीं है। जिस तरह वृक्ष अपने फल-फूलों के द्वारा अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, अपने सम्पूर्ण तत्त्वों को खींच कर फल-फूल की परिपुष्टि में ही उसकी सारी चेष्टायें संलग्न होती हैं, उसी प्रकार जिस समय कवि अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर काव्य रचता है, उस समय उसका काव्य एक विकसित फूल के समान होता है। अपनी कृति की व्याख्या करने, उसे मनोरम बनाने अथवा किसी प्रकार दूसरों को हृदयङ्गम कराने की चेष्टा उसके हृदय से कोसों दूर रहती है। अपने अनुभव की वास्तविक स्थिति दिखलाने के लिए वह अपने हृदय को खोल कर रख देता है। अनुभूति और अनुभूति के विकास के बीच में किसी तीसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि किसी दूसरे विचार के आते ही विकास में बाधा पड़ने लगती है। ऐसे उत्कृष्ट स्वभाव के मनुष्य संसार में विरले ही होते हैं। ऐसे कवि अनुभूति के द्वारा विश्व एवं मानव-जीवन के रहस्य को निःसंशय होकर हृदय की भाषा में व्यक्त करते हैं। वे अपने समकालिक काव्य-साहित्य के कृत्रिम नियमों का अतिक्रमण करने में कदापि हिचकते नहीं।

एक दिन अँगरेज़ी-साहित्य की कृत्रिमता को दबाने के लिए बर्न्स का जन्म हुआ था। वह अपने सम्पूर्ण हृदय से विश्व-सङ्गीत को सुना करता था और फिर उसके रहस्य को अपनी भाषा में प्रकट करता था। उसके काव्य-साहित्य में स्काटलैंड के हृदय का स्पष्ट चित्र हमको दिखलाई देने लगता है। आज-कल काव्य-साहित्य के क्षेत्र में कविवर ईट्स ने विशेष नाम प्राप्त किया है। उनकी ख्याति का भी ठीक यही रहस्य और कारण है। इनकी कविता में इनके समकालिक काव्य की केवल प्रतिध्वनि-मात्र नहीं है, वरन इन्होंने अपने काव्य में अपने हृदय को खोल कर रख दिया है। जब हम यह कहते हैं कि कवि अपने हृदय को प्रकट कर रहा है, तब उससे हमारा क्या अभिप्राय होता है? हीरा जिस प्रकार अन्धकार में आकाश के आलोक को दिखलाता हुआ स्वयं अपने आपको प्रकट कर देता है, उसी प्रकार कवि जब अपने आपको समर्पित करके अपने से गुरुतर हृदय को समझने की चेष्टा करता है, उसी समय उसका हृदय आलोक से भर जाता है और फिर उसी प्रकाश से वह विश्व-हृदय एवं अपने हृदय को प्रकाशित करता है। कविवर ईट्स अपने हृदय के द्वारा आयलैंड का हृदय व्यक्त कर रहे हैं और उससे विश्व-हृदय को।

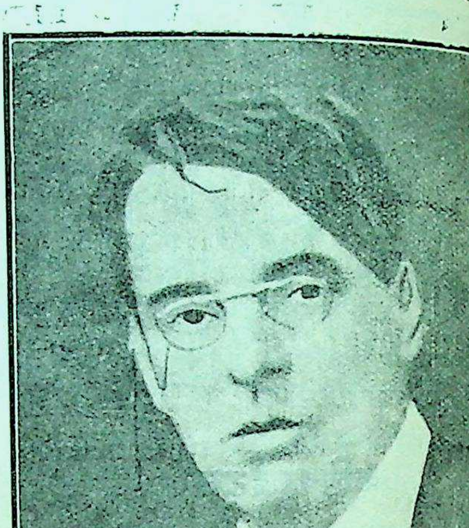

कविवर ईट्स।

यही बात दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही जा सकती है। एक ही सूर्य का प्रकाश बहुत से मेघों पर पड़ता है। मेघों की स्थिति और अवस्था भिन्न भिन्न होने के

कारण एक ही प्रकाश अनेक-रङ्ग धारण कर लेता है। यद्यपि रङ्गों में भिन्नता पाई जाती है, तथापि उनमें विरोध नहीं है। इनमें वैचित्र्य अवश्य है, किन्तु सम्मिश्रण के समय ये रङ्ग एक दूसरे के साथ अभिन्न रूप से मिल जाते हैं। हम चाहे प्राणपन से इस रङ्ग-वैचित्र्य की नक़ल करना चाहें, किन्तु यह सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार चाहे आयर्लेंड हो, चाहे स्काटलेंड हो, या चाहे और कोई देश हो, सभी देशों के जन-साधारण के चित्त पर विश्व-हृदय का प्रकाश सामान्य रूप से पड़ा करता है, किन्तु हमारे चित्त की अवस्था भिन्न भिन्न होने के कारण एक ही प्रकाश विभिन्न रङ्ग धारण कर लेता है। एक ही विश्व-हृदय का प्रकाश हमारे हृदयों पर पड़ कर वैचित्र्य उत्पन्न करता है, इसी लिए यह वैचित्र्य हमें इतना सुन्दर मालूम होता है।

कवि अपने देश के भावों को केवल व्यक्त ही करता हो, सो बात नहीं है। जिस देश में उसका जन्म होता है, वह उसके हृदय पर सुन्दर रङ्ग चढ़ाता है, उसको मनोरम बना देता है। इसका यह मतलब नहीं कि सभी कवि ऐसा कर सकते हैं, किन्तु जो इस काम में समर्थ होते हैं, वे वास्तव में धन्य हैं। हमारे देश का वैष्णव-काव्य भी इसी कोटि का काव्य है, भारतवर्ष का होने पर भी वह विश्व-काव्य है। उसमें कवियों ने विश्व की चीज़ विश्व को ही समर्पित कर दी है। व्यक्त करते समय उसको एक पात्र में भरना आवश्यक था और पात्र में रहने के कारण उस पर पात्र का रङ्ग चढ़ना भी अवश्यम्भावी था। इसलिए विश्व-काव्य होते हुए भी उसमें भारतीयपन की झलक दिखाई देती है।

जो मनुष्य लड़ाई के उद्देश से समरभूमि में जाना चाहता है, उसको कवच धारण करने की बड़ी आवश्यकता है, संसार के मोटे से मोटे आवरण भी उसके लिए उपेक्षणीय नहीं, अन्यथा पद पद पर चारों ओर से लोग उस पर आक्रमण करने लगेंगे। किन्तु सम्पूर्ण रूप से हृदय को खोल कर रख देना जिसका काम है, उसको तो एक एक करके सभी आवरण उतार फेंकना चाहिए। तभी उसकी यथोचित सजावट हो सकती है। कविवर ईट्स से वार्तालाप करते समय यह बात हमारी समझ में भली भाँति आजाती है। यह भी हमारे समान एक मनुष्य हैं किन्तु इन्होंने अपने और विश्व-हृदय के बीच में से सभी व्यवधान उठा लिये हैं। जब मनुष्य विश्व-हृदय को नाना प्रकार की शिक्षाओं से अथवा महत् जनों के सङ्केत और अनुकरण के द्वारा देखने की चेष्टा करता है, तब उसका असली रूप नहीं दिखलाई पड़ता। किन्तु जब कवि सभी प्रकार के परदों को परे हटाकर विश्व-हृदय का आलिङ्गन करता है और हमें उसका कुछ रहस्य बतलाता है, तब हमको ऐसा भान होता है कि यह बात हमारी चिरपरिचित सी है, किन्तु इसको हम भूल से गये थे। उससे हमारा पुरातन योग मालूम होता है। फिर जब हम सरल दृष्टि से संसार की ओर देखते हैं, तब हमको उसका वही सरल रूप प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है। हमारे वैदिक ऋषियों को तो जल-थल में—सभी जगह—प्राण का सञ्चार दिखाई देता था, हृदय की स्फूर्ति का अनुभव होता था। नदी, मेघ, अग्नि, उषा, वर्षा आदि की जो वैज्ञानिक चर्चा आज-कल की जाती है, उनके लिए इसका कोई मूल्य नहीं था। उन्होंने अपने आत्म-प्रकाश के द्वारा उनका इच्छामय रूप देखा था। मनुष्य के जीवन में सुख-दुःख की भावनाओं के द्वारा जो अनुभव व्यक्त हो रहा है, वही अनुभव नाना प्रकार के रूपों से भूलोक के जड़-पदार्थों में भी अपनी लीला कर रहा है। जिस प्रकार मनुष्य में हृदय है, उसी प्रकार प्रकृति में भी हृदय है। जिस प्रकार हर्ष और शोक, राग और द्वेष, उत्थान और पतन का द्वन्द्व-युद्ध हमारे छोटे से चित्त में हुआ करता है, ठीक उसी प्रकार का द्वन्द्व-युद्ध एक बड़े भारी परिमाण में निरन्तर प्रकृति के रङ्गमञ्च पर खेला जाता है। इस खेल का रूप वास्तव में इतना वृहत् है कि हम इस समूचे खेल को एक साथ नहीं देख सकते, इसलिए हम इसके खण्ड खण्ड कर डालते हैं, जल को अलग देखते हैं और थल को अलग देखते हैं। किन्तु प्रकृति के विशाल शरीर के भीतर जल-थल का क्या स्थान है, विश्व के महान् खेल में वे क्या भाग ले रहे हैं, हम उसको नहीं देख सकते। जिस समय कवि शिक्षा और सभ्यता के परिधान को हटा कर अपने भीतर देखता है, जब वह अपनी समस्त शक्तियों के मनोयोग से अपने

सम्पूर्ण हृदय को देखता है, तब उसको सर्वत्र एक समान, क्या चैतन्य में और क्या जड़ में, एक ऐसी द्वन्द्व-लीला का अनुभव होता है, जिसको वह किसी रूपक या कथानक का रूप दिये बिना कभी व्यक्त कर नहीं सकता है। जब कवि को प्रकृति के व्यापारों में एक बृहत् आकार-प्रकार में अपने ही हृदय का प्रतिरूप दिखाई देने लगता है, तब उसको यह विश्वास हो जाता है कि समस्त ब्रह्माण्ड में जो चीज़ नहीं है, वह उसके भीतर नहीं है और जो कुछ उसके भीतर है, वही एक बहुत बड़े आकार-प्रकार में विश्व के भीतर विद्यमान है। विश्व के इस रूप में देखने को ही हम कवि की दृष्टि, हृदय की दृष्टि अथवा जीवन की दृष्टि कहते हैं। यह चर्मचक्षुओं की अथवा स्नायुमण्डलयुक्त मस्तिष्क की दृष्टि नहीं है। इसके अनुभव को हम हाथ से नहीं पकड़ सकते, हृदय के द्वारा ही उसका अनुभव हो सकता है। हृदय के लिए उसका अनुभव उसी प्रकार ठोस और स्थूल है जिस प्रकार हाथ के लिए पेड़ या पत्थर। इस अनुभव की भाषा भी दूसरे प्रकार की होती है। स्वर के द्वारा, रूप के द्वारा वह व्यक्त हुआ करता है। मानव-साहित्य की भाषाओं की अपेक्षा यह भाषा कहीं प्राचीन है। इसलिए आज भी यदि कोई कवि हृदय से विश्व का अनुभव करता है, तो उसकी और मनुष्य-जाति की इस प्राचीनतम भाषा में बहुत सादृश्य पाया जाता है। यद्यपि इस वैज्ञानिक युग में हमारी पौराणिक कथा-कहानियाँ किसी काम की नहीं रह गई हैं, तथापि कवियों के लिए वे बिलकुल नवीन हैं, क्योंकि वे अब भी उसी भाषा का प्रयोग करते हैं। कथा-कहानियों के इसी प्राचीन पथ पर मनुष्य की नवीन विश्वानुभूति अपने चिह्न अङ्कित कर देती है। अनुभूति की नवीनता से जो हृदय जाग्रत हो उठता है, वह स्वतः इसी पुरातन पथ का रसिक बन जाता है।

कविवर ईट्स ने आयर्लैंड की पौराणिक प्रणाली का अवलम्बन कर अपनी काव्यधारा बहाई है। अनुभूति-सम्पन्न होने के कारण यह उनके लिए बिलकुल स्वाभाविक बात थी। इसी लिए उन्होंने इस पथ में अद्वितीय ख्याति उपार्जन की है। उन्होंने विश्व को भली भांति पिया है, इन चर्मचक्षुओं के द्वारा नहीं और न ज्ञान-विज्ञान के द्वारा, वरन अपने जीवन के मनोयोग से उन्होंने इसका अनुभव किया है। वे इस जगत् को भिन्न भिन्न वस्तुओं का समूह-मात्र नहीं समझते हैं। आयर्लैंड की पर्वत-मालाओं में उनको एक ऐसी रहस्यमय सत्ता के दर्शन हुए हैं जिसका ध्यान के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। आधुनिक साहित्य में भावों की अभिव्यक्ति के लिए जो प्रणाली प्रचलित हो रही है; यदि उसी के द्वारा यह अनुभव व्यक्त किया जाय, तो उसका प्राणरूप रस बिलकुल नष्ट हो जाय। वास्तव में जिसको हम नवीनता का नाम देते हैं, वह कोई नवीन या मौलिक चीज़ नहीं है बल्कि बहुत पुरानी है।

साधारण इतिहास-प्रेमी यह बात जानते हैं कि हाल ही में आयर्लैंड में राष्ट्रीयता की प्रबल लहर उठी है। इँग्लैंड का शासन आयर्लैंड के हृदय को चारों ओर से पीसने की चेष्टा करता था, इसलिए स्वतन्त्रता की इच्छा दिन-प्रतिदिन प्रबल होती जाती थी। बहुत दिनों तक यह लहर प्रधानतः राजनैतिक विद्रोहों के रूप में प्रकट होती रही किन्तु कुछ दिनों में उसके साथ एक और प्रवृत्ति दिखाई दी। आयर्लैंड ने अपने हृदय की स्वतन्त्रता के लिए उसका उपयोग करना प्रारम्भ किया। आयर्लैंड की स्थिति का विचार करते ही सहसा हमें अपने देश की दशा याद आ जाती है। हमारे देश में भी बहुत दिनों से राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए शिक्षित समाज में एक प्रबल आन्दोलन हो रहा था। प्रारम्भ में जो इस आन्दोलन के नेता थे, उनमें से अधिकांश देश की भाषा, साहित्य, आचार-विचार आदि से प्रायः अनभिज्ञ थे। देश की साधारण जनता से उनका कोई सम्पर्क नहीं था। देश की उन्नति के साधनों का विचार वे अधिकतर अँगरेज़ी भाषा के द्वारा किया करते थे, जातीय उत्थान के लिए वे जनता से नहीं, बरन ब्रिटिश गवर्नमेंट से परामर्श करना चाहते थे। देश की सच्ची भलाई के लिए जनता से मिल कर काम करना होगा—यह बात उनकी समझ में नहीं आती थी।

किन्तु धीरे धीरे हमारा सौभाग्य-सूर्य उदय हुआ। हम लोग अपने साहित्य के द्वारा हृदय की स्वतन्त्रता की खोज करने लगे। उदाहरण के लिए बङ्गाल के साहि-

यकों को लीजिए। बङ्किमचन्द्र ने तत्कालिक वङ्गीय साहित्य की धारा ही पलट दी, उनके साहित्य को पढ़ कर बङ्गाल के युवकों को मालूम हुआ कि अपनी मातृ-भाषा बोलना और पढ़ना अनादर की वस्तु नहीं है। अन्यथा जहाँ स्कूलों में लड़कों ने अँगरेज़ी के दो चार शब्द सीख लिये और उनको तुरन्त अपनी भाषा से घृणा हो गई। ठीक यही हाल दूसरे प्रान्तों में दिखाई दिया। बङ्किम के बङ्ग-दर्शन से लोगों को अपने दिल में एक नई शक्ति का अनुभव हुआ। उनको मालूम हुआ कि हमारे देश में भी एक साहित्य है, उसी के यथाविधि पारायण से हमारी क्षुधा मिट सकती है, विदेशी साहित्य में हम चाहे जितने पारङ्गत हो जायँ, उससे हमारी प्यास कदापि नहीं बुझ सकती।

इस जाग्रति ने हमारे सामने एक विस्तृत मार्ग का द्वार खोल दिया। फिर नैसर्गिक नियमों के अनुसार उत्थान-पतन का चक्र प्रारम्भ हुआ। कुछ लोगों को यह सन्देह हुआ कि हमारे पास वास्तव में गर्व करने की कोई चीज़ नहीं है, यह सब मिथ्या गर्व्व है। कुछ लोग अपने विस्मृत बड़प्पन की खोज में तल्लीन हो गये। कुछ लोगों ने कहा—भारतवर्ष के लिए एक ही मार्ग है, वह है हर बात में योरपीय देशों की स्पर्धा करना। कुछ लोगों ने कहा—नहीं, भारतवर्ष में नया जीवन लाने के लिए हमको पुनः अपने प्राचीन धर्म के झण्डे को फहराना चाहिए। मतलब यह कि धीरे धीरे इस आन्दोलन की बीसों शाखाएँ-उपशाखाएँ हो गईं। सब अपने अपने उपाय में व्यस्त हुए। किसी ने कहा—व्यवस्थापक और कार्यकारिणी समितियों में हिन्दुस्तानी सदस्यों की संख्या बढ़ाने से काम चल जावेगा। किसी ने सोचा—सरकार का व्यय घटाने से भारतवर्ष को बड़ा लाभ होगा। किन्तु यह सब अपने बस की बातें तो थीं नहीं, हमको इनके लिए बार बार दूसरों का मुँह ताकना पड़ता था। किन्तु हमारे पास एक ऐसी वस्तु थी जिसको हम मनचाही रीति पर उन्नति के पथ पर अग्रसर कर सकते थे, वह था हमारा मन। इसको उन्नत करने के लिए हम स्वतन्त्र ही नहीं थे, वरन इस ओर से अधिक उदासीन रहना हमारा बड़ा भारी दोष होता, क्योंकि इस क्षेत्र में कोई बाहिरी शक्ति रत्ती भर भी हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। बस, कुछ लोग इसी काम के लिए कटिबद्ध हो गये। उनके हृदय में असीम आत्म-विश्वास की ज्योति जाग्रत हुई और वास्तव में इसी आत्म-विश्वास ने थोड़ा-बहुत हमको उन्नति के पथ पर आगे बढ़ाया है। आत्म-विश्वास के द्वारा हमें बहुत आनन्द मिलता है, हममें एक नई शक्ति का सञ्चार होता है। किन्तु दूसरी ओर शक्ति के प्रादुर्भाव से हृदय में अहङ्कार का अङ्कुर जमता है। उससे सत्य के अनुसन्धान में बाधा पहुँचती है। हम अपने आपको शिक्षित बनाने की अपेक्षा उल्टा मूर्ख बनाने का उद्योग करने लगते हैं। अहङ्कार के वश होकर सत्य और झूठ का अन्तर भूल जाते हैं। सत्य का निरादर होने लगता है। हम इस बात को भूल जाते हैं कि क्या केवल हमारे जान लेने से हमें कभी किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। इसी एक बात के स्पष्ट ज्ञान से हमें शक्ति प्राप्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। अहङ्कार के कारण हम आत्म-विश्वास की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। आत्मोन्नति के पथ से च्युत होकर दुर्बलता और विनाश के मार्ग पर चलने लगते हैं। आत्मगौरव या आत्म-विश्वास सत्य के द्वारा प्राप्त होता है, अहङ्कार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक उन्नति की ओर ले जानेवाला है और दूसरा अवनति की ओर। सत्य की खोज करते करते जब हम अहङ्कार का समूल नाश कर देते हैं, तभी हम अपने वास्तविक रूप को पहचान सकते हैं।

हमारे देश की तरह आयलैंड में भी अपनी हार्दिक स्वतन्त्रता के लिए कुछ दिनों से प्रयत्न हो रहा था। स्वभावतः ऐसे उद्योगों के प्रारम्भ काल में बड़ा उत्साह दिखाई देता है। किन्तु थोड़े दिनों बाद यह उत्साह मन्द पड़ जाता है, और तब आन्दोलनकारी हास्यास्पद बन जाते हैं। इस आन्दोलन का विशद वर्णन आयलैंड के प्रसिद्ध लेखक जार्ज मूर ने अपनी एक पुस्तक में दिया है। वहाँ भी वही घटना-क्रम उपस्थित हुआ, जैसा हमारे देश में हुआ था। वहाँ भी लोगों का ध्यान अपनी भाषा, साहित्य और पौराणिक कथाओं

की ओर गया। जिसकी जिस विषय में अभिरुचि थी वह उसी में संलग्न हो गया। किसी किसी ने अपने क्षेत्र में विलक्षण प्रतिभा दिखलाई। कविवर ईट्स भी उन्हीं प्रतिभाशाली लेखकों में से एक हैं। उन्होंने आयर्लैंड की भाषा में काव्य-रचना की और वह विश्व-साहित्य में समादृत हुई। विश्व-साहित्य में आयर्लैंड का नाम ऊँचा हुआ। कविवर ईट्स के पहले आयर्लैंड में साहित्य-चर्चा बहुत कम थी। उस समय आयर्लैंड-वासी राजनैतिक विद्रोहों में असफल हो रहे थे, कूटनीति और षड्यन्त्रों की ओर उनका झुकाव हो रहा था, साहित्य में उदार विचारों का ह्रास हो रहा था।

कविवर ईट्स के विषय में एक समालोचक इस प्रकार लिखता है—"हाल में एक और वीर रणक्षेत्र में उतरा है। उसमें विद्युत् के समान दुर्दमनीय और चमत्कारिक हृदयावेग है, किन्तु मेघों का गर्ज्जन और प्रलयकारी वज्रध्वनि उसमें नहीं है। उसकी वाणी से समाज का हृदय परिष्कृत हो जाता है, किन्तु किसी प्रकार की क्रान्ति का डर नहीं रहता। उस वीर का सन्देश है कि मनुष्य अपनी आत्मा का साक्षात् करके समस्त संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है। ऐसे मनुष्य संसार के छोटे बड़े सभी रहस्यों को अपने आप समझ जाते हैं, उसको अपने हृदय के भीतर असीम शान्ति मिलती है, फिर उसको और किसी की प्यास नहीं रहती। कविवर ईट्स ने अपने हृदय को सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त कर लिया है। अपनी गम्भीर और सूक्ष्म शैली से उसने पुनः वर्तमान प्रणाली के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई है।

इस बार कवि का ध्यान संसार के बाहरी कोलाहल में नहीं उलझ गया है, कवि ने मानवात्मा के अन्तरङ्ग क्षेत्र का रहस्योद्घाटन किया है। यही आयर्लैंड का इतिहास है, मानव-जाति का असली मर्म है। ईट्स ने बड़े गम्भीर विचार के बाद उस कवित्व-रचना-शैली का विरोध किया है जो उससे पचास वर्ष पहले साहित्य में सर्वमान्य हो चुकी थी। किन्तु वास्तव में उसने खण्डन नहीं किया है, बरन उसको अधिकाधिक उच्च और समुन्नत बना दिया है। उसने प्रकृति के भीतर सूक्ष्मातिसूक्ष्म सौन्दर्य का दर्शन किया है, विश्वध्वनि के भीतर जो निरन्तर एक सङ्गीत हो रहा है, उसने उसका खूब ही रस-पान किया है। उसने इन विचारों को अपनी प्रारम्भिक कविता में ही व्यक्त किया है और वास्तव में वे सर्वथा अतुलनीय हैं। वह इस जीती-जागती प्रकृति के हृदय में धँस गया है, वहाँ पर उसने एक-दम प्रकृति, मनुष्य और देवताओं का असली रूप पहचान लिया है। पहले पहल सन् १८८९ में Wanderings of Oisin के प्रकाशन से लोगों का ध्यान ईट्स की ओर आकर्षित हुआ था। तत्कालिक उच्च कवियों के बीच में इस काव्य के प्रकाशन से खलबली मच गई थी, क्योंकि उसमें उनको एक नवीन अजेय प्रतिद्वन्द्वी की छाया दिखाई देती थी। लोगों का विचार है कि उसने विश्व-साहित्य में अपना नाम अजर-अमर कर लिया है। ईट्स की सफलता के तीन मुख्य कारण कहे जाते हैं—(१) मधुर सङ्गीत (२) दूरदर्शिता और (३) लौकिक और अलौकिक दृश्यों का वास्तविक ज्ञान।

किन्तु हमारी समझ में उसकी दूरदर्शिता उसका सबसे प्रधान गुण है। यही उसका सबसे बड़ा गौरव है। उसकी दूरदर्शिता केवल कल्पना नहीं है जो क्षण भर के लिए हमारा मनोरञ्जन भर करे किन्तु उसके प्रकाश से हमें जीवन का सच्चा ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में, अन्य कवियों की भाँति कल्पना उसके लिए काव्य-व्यवसाय की ऊपरी सामग्री नहीं है। बरन वह उसके जीवन का अंश है। जिस प्रकार अन्न-जल हमारे शरीर के लिए खाद्यपदार्थ हैं, उसी प्रकार कल्पना उसकी आत्मा के लिए आवश्यकीय सामग्री है। जितनी ही बार आप कविवर ईट्स के साथ वार्तालाप कीजिए, उतनी ही बार आपको ईट्स की उस कल्पना का आभास मिलेगा, जो एक ओर सूक्ष्म है तो दूसरी ओर महान् है।

समीक्षक

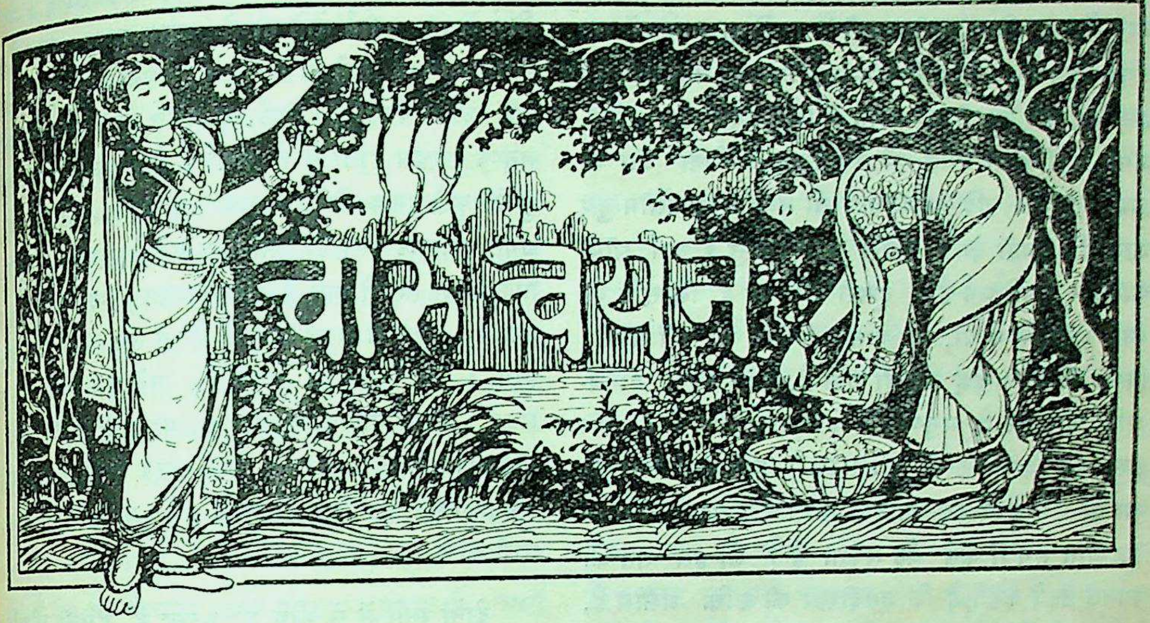

१—सोऽहम् ।

सोऽहम्—वही मैं हूँ ।

यह बात भारत के हिन्दू के सिवा कभी किसी ने नहीं कही । यह बात कहने के कारण ही हिन्दू हिन्दू हैं—इसी बात से हिन्दू का हिन्दूत्व है, हिन्दू का हिन्दू-धर्म है । सोऽहम हिन्दू का लक्षण है, हिन्दूत्व का लक्षण है और हिन्दू-धर्म का लक्षण है ।

यह क्या बात है, यह समझना चाहिए ।

ब्रह्म और ब्रह्माण्ड, सृष्टिकर्ता और सृष्टि—इन दोनों में क्या भेद है, क्या सम्बन्ध है; इस विषय में प्रधानतः दो मत हैं । एक मत तो यह है कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्म, सृष्टिकर्ता और सृष्टि एकही पदार्थ है । अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड का उपादान है, सृष्टिकर्ता ही सृष्टि का उपादान है । उपादान किसे कहते हैं ?—जिसके द्वारा कोई वस्तु बने, वही उस वस्तु का उपादान है—जैसे मट्टी घड़े का उपादान है । अतएव इस मत के अनुसार ब्रह्म जो पदार्थ है, ब्रह्माण्ड उसी पदार्थ से बना है । ब्रह्माण्ड ब्रह्म से पृथक् नहीं है । इस मत के सम्बन्ध में यही मोटी बात है—ख़ास बात है । जो और बातें होंगी वे आगे कही जायँगी । दूसरा मत यह है कि ब्रह्म ब्रह्माण्ड से, सृष्टिकर्ता सृष्टि से बिलकुल पृथक् है । सृष्टि से पहले सृष्टि का कुछ उपादान ही न था । सृष्टि के समय सृष्टिकर्ता ने अपनी असीम शक्ति के द्वारा, न जाने किस तरह, जगत् की सृष्टि की थी । सृष्टिकर्ता स्वयं जो वस्तु है, सृष्ट जगत् वह वस्तु नहीं है । वह उस वस्तु से बिलकुल भिन्न प्रकृति की वस्तु है । दोनों मतों में से पहला तो हिन्दुओं का है और दूसरा ईसाई आदि का है । पहले मत का भारत के सिवा और कहीं प्रचार न हुआ हो, यह बात नहीं । किन्तु भारतवर्ष में जितना प्रबल है, उतना और जगह नहीं । इसी लिए यह भारत के हिन्दुओं का मत कहा जाता है ।

इन दोनों मतों में से कौन सा सत्य है, कौन सा ग्रहण करने योग्य है ? इस प्रश्न की मीमांसा दो तरह की जा सकती है और दोनों तरह हिन्दू-मत ही पक्का मालूम होता है । पहली बात तो यह है कि यदि जगत् से जगदीश्वर भिन्न हैं तो जगदीश्वर ससीम हुए जाते हैं, असीम नहीं रह सकते । जहाँ दो वस्तु होती हैं वहाँ दो में से कोई भी असीम नहीं रह सकती, दोनों ही ससीम हो

जाती हैं। ईसाई आदि दूसरे धर्मवाले यह कहते हैं कि जगत् से पृथक् होते हुए भी जगदीश्वर जगत में विराजमान हैं, इसलिए ससीम नहीं हैं। किन्तु जगत् में सब जगह विद्यमान रहना और जगत् होना एक बात नहीं है। इसलिए यदि जगदीश्वर जगत् में सिर्फ़ विद्यमान रहते हैं, जगत् नहीं हैं तो जगत् में जगदीश्वर के सिवा और भी कुछ है। और यदि यह बात है तो जगदीश्वर ससीम हुए जाते हैं। जहाँ दो या इससे ज़्यादा वस्तु हैं वहाँ सीमा का ज्ञान अपरिहार्य है। दूसरी बात यह है कि सृष्टि का कोई उपादान न था, यह बात हम सोच भी नहीं सकते। किसी चीज़ की कुछ जड़ ही नहीं है, यह कल्पना मानव-शक्ति के बाहर है, मनुष्य-मन के लिए असाध्य है। मनुष्य इस बात को समझ ही नहीं सकता, धारणा ही नहीं कर सकता। जिसका कुछ उपादान न था और वह हो पड़ा—यह बात मन में कैसे बैठ सकती है? जो इस मत को मानते हैं वे कहते हैं कि जगदीश्वर की शक्ति असीम है, उनके लिए कुछ असाध्य नहीं है। मनुष्य जिस बात को समझ भी नहीं सकता, उसे वे अनायास ही कर सकते हैं। इसलिए मनुष्य जिस बात की धारणा नहीं कर सकता वह बात असम्भव या असत्य है—यह बात ठीक नहीं। ठीक है। किन्तु जगदीश्वर सब कुछ कर सकते हैं इसलिए वे सभी कुछ करेंगे, यह बात भी तो नहीं। वे चाहें तो सब कुछ कर सकते हैं, यही उनका प्रकृत असीमत्व और अनन्तत्व है। किन्तु असीम और अनन्त होने के कारण वे सभी कुछ करेंगे, इसकी तो कुछ आवश्यकता नहीं है। इसलिए जिस प्रणाली की सृष्टि को मनुष्य समझ नहीं सकता, उस प्रणाली से जगदीश्वर ने सृष्टि नहीं की है—यह बात कहने से जगदीश्वर की अनन्तता और असीमता में तो बट्टा नहीं लगता। अब विचारणीय बात यह है कि जिस मत के अनुसार मनुष्य सृष्टि-क्रिया को नहीं समझ सकता उस मत को अवलम्बन करने की आवश्यकता है या नहीं। इसके प्रत्युत्तर में सब यही कहते हैं कि सृष्ट जगत् सृष्टिकर्त्ता जगदीश्वर से इतना अधम और निकृष्ट है कि जगत् और जगदीश्वर को एक पदार्थ मानना जगदीश्वर की बड़ी अवमानना करना है, उन्हें नितान्त अधम बनाना है। किन्तु जगदीश्वर अधम पदार्थ के बनानेवाले हैं, यह कहने से क्या जगदीश्वर का कुछ कम अपमान होता है, वे कम अधम ठहरते हैं। क्या सिर्फ़ अधम पदार्थ होने ही से अधम हुआ जाता है? अधम काम करने से या अधम वस्तु बनाने से क्या अधम नहीं होना पड़ता? सिर्फ़ दुश्चरित्र होने ही से क्या मनुष्य अधम होता है? सच्चरित्र होकर भी यदि कोई दुर्नीतिपूर्ण पुस्तक लिखे तो क्या वह अधम नहीं होगा? जगत् अपकृष्ट वस्तु है, इसी लिए वह जगदीश्वर का रूप, विकाश या विवर्त्त नहीं है बल्कि उनका सृष्ट पदार्थ है—क्या यह कहने से जगदीश्वर के गौरव तथा मान की रक्षा होगी? जो ऐसी बात कहते हैं, उन्हें हम नहीं समझ सकते। उनका नीतिशास्त्र कैसा है, यह वही जानें। उनके मानमर्यादाविषयक संस्कार किस तरह के हैं, यह वही बतला सकते हैं। इस विषय में हमें जो कुछ कहना है, आगे कहेंगे।

दोनों मतों में से कौन सा अच्छा है, इसकी मीमांसा करने का एक और भी उत्तम उपाय है। ज़रा गौर से देखें तो मालूम होगा कि दोनों मतों में कुछ ज़्यादा भिन्नता नहीं है। जगत् जगदीश्वर का रूप, विकाश या विवर्त्त है, इसका जो मतलब है, जगत् जगदीश्वर की सृष्टि है इसका भी प्रायः वही मतलब है। सृष्टि और सृष्टिकर्ता में क्या सम्बन्ध है, यह बात एक पार्थिव दृष्टान्त से बहुत कुछ समझी जा सकती है। शेक्सपीअर अथवा शेक्सपीयरत्व एक पदार्थ है। शेक्सपीयर का बनाया हुआ हेमलेट-चरित्र एक और पदार्थ है। शेक्सपीयर से हेमलेट एक पृथक् पदार्थ है, सन्देह नहीं। हेमलेट-चरित्र जिन सब उपकरणों से बना है, स्वयं शेक्सपीयर के चरित्र में शायद वे सब उपकरण न थे। इस अर्थ में शेक्सपीयर और हेमलेट यद्यपि दो पृथक् पदार्थ हैं किन्तु एक दूसरी दृष्टि से देखें तो दोनों में कुछ अधिक भिन्नता नहीं है—अर्थात् जो शेक्सपीयर है, वही हेमलेट है। यद्यपि हेमलेट शेक्सपीयर से भिन्न है तथापि हेमलेट में कुछ ऐसी चीज़ है जो शेक्सपीयर के सिवा किसी दूसरे आदमी में नहीं पाई जाती। उस कुछ ऐसी चीज़ का नाम ही शेक्सपीयरत्व है, शेक्सपीयर की धातु है, शेक्सपीयर की अस्थिमज्जा या शेक्सपीयर का शेक्सपीअर है जो शेक्सपीयर का

कोई एक भाव या कार्यविशेष नहीं है, जो शेक्सपीयर के सब भावों और कामों में है, जिसके गुण से शेक्सपीयर के सब भाव शेक्सपीयर के ही भाव हैं, और किसी के या और किसी तरह के भाव नहीं हैं। शेक्सपीयर के सब कार्य्य शेक्सपीयर के ही हैं, किसी और के या और किसी तरह के कार्य्य नहीं हैं। वह कुछ ऐसी चीज़ अर्थात् वह शेक्सपीयरत्व, शेक्सपीयर की धातु, शेक्सपीयर की अस्थिमज्जा या शेक्सपीयर का शेक्सपीयर सिर्फ़ हेमलेट में ही नहीं है बल्कि शेक्सपीयर-रचित अच्छे बुरे सब चरित्रों में है—लीयर में, मीरन्दा में, फ़ालस्टाफ में, वारेन में, मैकबेथ में, मैकडक में, शाइलाक में, सब चरित्रों में है। मिल्टन के बनाये हुए किसी चरित्र में वह शेक्सपीयरत्व नहीं है और न शेक्सपीयर के बनाये हुए किसी चरित्र में मिल्टनत्व है। यही सब बातें मानव-सृष्टिकर्ता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। इसका मतलब यही है कि जो जिसकी सृष्टि या रचना करता है, उसमें उसका कुछ अपनापन रहता ही है। जिस परिमाण में वह अपनापन रहता है कम से कम उसी परिमाण में मानव-स्रष्टा और मानव-सृष्टि के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि दोनों एकही पदार्थ हैं, और मानव-सृष्टि या मानव-सृष्ट पदार्थ मानव-स्रष्टा को लक्ष्य करके कह सकता है—सोऽहम्। शेक्सपीयर का हेमलेट काल्पनिक सृष्टि न होकर यदि हमारी तुम्हारी तरह सजीव या सचेतन सृष्टि होता तो जिस तरह हम तुम ब्रह्म को लक्ष्य करके सोऽहम् कह सकते हैं उसी तरह वह भी शेक्सपीयर को लक्ष्य करके कह सकता था—सोऽहम्। कार्य से कारण भिन्न होने पर भी कार्य में कारण होगा ही होगा। ईसाई योरप के दार्शनिक भी इस बात को मानते हैं। इसलिए सृष्टि में सृष्टिकर्ता अवश्य हैं, बिल्कुल अलग नहीं हो सकते। सृष्टिकर्त्ता को कम से कम सृष्टि का आंशिक उपादान तो मानना ही पड़ेगा। कम से कम इतने अंश में सृष्ट पदार्थ सृष्टिकर्त्ता को लक्ष्य करके कह सकता है—सोऽहम्। कहने में दोष ही क्या है, कहना ही चाहिए। न कहना सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व को अस्वीकार करना है। और सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व को न मानने का नाम ही नास्तिकता है। इसलिए ईसाई आदि द्वैतवादियों के मत के अनुसार भी ब्रह्म से ब्रह्माण्ड पृथक् नहीं है, सृष्टिकर्त्ता से सृष्टि पृथक् नहीं है। दार्शनिक श्रेष्ठ फ़ेरियर ने कहा है...* The only absolute existence is an eternal mind in permanent synthesis with matter. अर्थात् प्रकृति के साथ अच्छेद्य भाव में संयुक्त केवल एक अनन्त चैतन्य है, और कुछ नहीं। इसलिए सृष्टि से सृष्टिकर्त्ता को भिन्न कहने पर भी और इसके युक्तिसिद्ध होने पर भी यह बात माननी पड़ेगी कि सृष्टि में जो कुछ है वही सृष्टिकर्त्ता को लक्ष्य करके कह सकता है सोऽहम्। अतएव विकाशवाद और सृष्टिवाद—दोनों से ही सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता की एकता निश्चित है।

अब एक और ख़ास बात का विचार करना आवश्यक है। जो लोग द्वैतवादी हैं, वह कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड में जब अच्छे बुरे दोनों प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं तब किस तरह हम सारे ब्रह्माण्ड को ब्रह्म कहें? कड़वे और मीठे को, दुर्गन्धि और सुगन्धि को, सौन्दर्य और कदर्य्य को, दया और निर्दयता को किस तरह हम एक कहें? इस बात का पहला उत्तर तो यह है कि जब विकाशवाद और सृष्टिवाद दोनों से ही सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता की एकता प्रमाणित होती है तब कोई इस तरह की आपत्ति नहीं कर सकता। दूसरा और प्रधान उत्तर यह है कि यह सब विभिन्नता प्रकृत विभिन्नता नहीं है। यह सब विभिन्नता मनुष्य की एक विशेष अवस्था का फल या उपलब्धि-मात्र है। मनुष्य जिस चीज़ को कड़वा कह कर फेंक देता है, एक पशु उसे ही मीठा मान कर उससे अपना पेट भरता है। मनुष्य की दृष्टि में जो लाल है एक पक्षी की दृष्टि में वह काला है। स्थूल अवस्था में भिन्न भिन्न द्रव्यों का भिन्न भिन्न आकार और स्वाद होता है। रासायनिक विश्लेषण के द्वारा यदि उन सब द्रव्यों का सूक्ष्म रूप किया जाय तो वह सब प्रायः एक ही आकार और स्वाद के हो जाते हैं। स्थूल आकार में एक ही वस्तु स्थूल इन्द्रिय को भिन्न भिन्न रूप में मालूम होती है। योरपीय वैज्ञानिकों ने इस बात को प्रमाणित किया

---

* Ferrier, *Institute of the Metaphysics* नामक पुस्तक देखिए।

है। ताप, बिजली, प्रकाश आदि सब स्थूल पदार्थ स्थूल इन्द्रियों को भिन्न भिन्न मालूम देते हैं, परन्तु सूक्ष्माकार में सब एकही पदार्थ हैं। इसलिए जगत् में जो विभिन्नता मालूम होती है वह प्रकृत विभिन्नता नहीं है, स्थूल-इन्द्रिय-सम्पन्न स्थूल अवस्था की स्थूल उपलब्धि-मात्र है। जो स्थूल इन्द्रियों के शासन को अतिक्रम करके, स्थूल अवस्था से उन्नत होकर सूक्ष्मरूप में दर्शन करने को सक्षम होगया है, उसके नज़दीक जगत् में भले और बुरे में भेद नहीं है, प्रकृत विभिन्नता नहीं है, उसके लिए कड़वे मीठे में, सौन्दर्य्य कदर्य में और पाप पुण्य में कुछ भेद नहीं है। जो स्थूल इन्द्रिय के शासन में रहकर स्थूल दृष्टि से देखता है, केवल वही कड़वे मीठे में और पाप पुण्य आदि में विचित्रता देखता है और वही उन विभिन्नताओं के अधीन होकर नाना क्लेश भोगता है और उसी की अवनति होती है। हम जो जड़ पदार्थ में और चैतन्य में भेद करते हैं, क्या यह ठीक है? आधुनिक योरप का विज्ञान कहता है कि जड़ जगत् ही चिन्मय जगत् के रूप में फूटा है। हम भी रोज़ देखते हैं कि जितने जड़ पदार्थ हम खाते हैं वह सिर्फ़ हमारे जड़ शोणित और जड़ हड्डियों को ही नहीं बढ़ाते बल्कि हमारी चिन्ताशक्ति को भी बढ़ाते हैं। शुक्र और शोणित से उत्पन्न हुई सन्तान केवल जड़ ही नहीं है, चैतन्यसम्पन्न भी है। इसी कारण हमारे गुरु-तुल्य एक ग्रन्थकार ने लिखा है कि 'जड़ जगत् चिन्मय है'। अतएव हम किस तरह कहें कि जड़ और चैतन्य भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। हम स्थूल अवस्था में स्थूल इन्द्रियों के शासन में हैं, इसी लिए जड़ और चैतन्य की एकता नहीं देख सकते—इस बात से हम किस तरह इनकार करें? हम कैसे न कहें कि जड़त्व चैतन्य की एक अवस्था-मात्र है? कैसे न कहें कि ब्रह्म अथवा स्थूलताशून्य चैतन्य के लिए जड़ और चैतन्य एक ही पदार्थ है?

यद्यपि ब्रह्माण्ड में प्रकृति विभिन्नता या वैषम्य नहीं है तथापि हम यह कहने से मुँह नहीं मोड़ सकते कि ब्रह्माण्ड की एक स्थूल अवस्था है। ब्रह्माण्ड में प्रकृत विभिन्नता न सही किन्तु एक तरह की विभिन्नता है। वह विभिन्नता स्थूलत्व का फल अथवा स्थूलत्व का अङ्ग या लक्षण है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्माण्ड में एक स्थूलत्व है। यदि यह बात है तो फिर ब्रह्माण्ड और ब्रह्म को एक किस तरह कहा जा सकता है? यदि ब्रह्माण्ड में स्थूलत्व है तो ब्रह्माण्ड और ब्रह्म को एक कहना ब्रह्म को भी स्थूल कहना है। ब्रह्म को स्थूल कहना मानो उसे पाप-पुण्यरूप विभिन्नता और वैशम्य के विषयीभूत या अधीन करना है। इसका उत्तर यही है कि ब्रह्माण्ड की स्थूलता ब्रह्माण्ड का नित्यगुण या नित्य अवस्था नहीं है—क्षणस्थायी गुण या अवस्था-मात्र है। और वह गुण या अवस्था प्रकृत भी नहीं है—क्षणिक अवस्था की क्षणिक उपलब्धि-मात्र है। वह गुण या अवस्था प्रकृत अस्तित्व नहीं है, यह बात आसानी से समझी जा सकती है। मनुष्य की राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि कई स्थूल प्रवृत्ति हैं। मनुष्य जितनी देर उन स्थूल प्रवृत्तियों के वश में रहता है, उतनी देर वह केवल कुछ गिने चुने क्षणस्थायी और विभिन्न भावों का आधार या रङ्गक्षेत्र सा मालूम पड़ता है। वह भी उन विभिन्न क्षणस्थायी भावों के अधीन होकर अपने को प्रतिमुहूर्त विभिन्न भाव में अनुभव करता है। उसका अपना पहला जो एक सुदृढ़, सुनिश्चित, सुस्थिर और समतामय अस्तित्व है, उसे वह अनुभव नहीं करता या कर नहीं सकता। स्वच्छ जल में एक के बाद एक बादलों की छाया पड़ने से जैसी आकृति जल की हो जाती है, उसकी आध्यात्मिक आकृति भी वैसी ही हो जाती है। किन्तु बादलों की छाया के पड़ने से पैदा हुई आकृति जिस तरह स्वच्छ जल की प्रकृत आकृति या अस्तित्व नहीं है, उसी तरह विभिन्न भावों के अधीन होकर मनुष्य की जो आकृति या अस्तित्व हो जाता है, वह भी उसकी प्रकृत आकृति या अस्तित्व नहीं है। मनुष्य जब लोभ, मोह, मात्सर्य आदि स्थूल इन्द्रिय मूलक स्थूल प्रवृत्ति के शासन को अतिक्रम कर लेता है तब वह सदा एक सुदृढ़, सुनिश्चित, सुस्थिर, सुन्दर, सुनिर्मल और समान आकार को धारण कर लेता है। जगत् की कोई वस्तु भी उस आकार में परिवर्तन या विकार नहीं पैदा कर सकती। उस समय मनुष्य का आकार या अस्तित्व बादलों की छाया से विमुक्त स्वच्छ जल के आकार या अस्तित्व की तरह हो जाता है। इससे

मालूम पड़ता है कि ब्रह्माण्ड में जो स्थूलता है वह क्षणस्थायी अवस्था-मात्र है, प्रकृत अस्तित्व नहीं। इसलिए ब्रह्म के आंशिक मायामय क्षणस्थायी रूप के ब्रह्म से उद्भूत या प्रक्षिप्त होने पर भी उससे ब्रह्म दूषित नहीं होते। क्योंकि ब्रह्म नित्यतामय हैं, अतएव अनित्य से पराभूत होनेवाले नहीं। ब्रह्म उसके अधीन नहीं हैं, वही ब्रह्म के अधीन है। कारण कि वही ब्रह्म की इच्छा से पैदा हुई है। जिस तरह इन्द्रजाल ऐन्द्रजालिक की इच्छा से होता है, इसी तरह वह भी ब्रह्म की इच्छा से हुआ है। इन्द्रजाल जिस तरह ऐन्द्रजालिक के प्रकृत अस्तित्व को स्पर्श नहीं कर सकता, उसी तरह वह भी ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकता। फिर वह क्यों स्थूल रूप धारण करते हैं, यह वही जान सकते हैं। चाहे वह किसी कारण से करें, परन्तु जब वह अपने को ही स्वयं इस तरह करते हैं तब और कोई बात ही नहीं उठ सकती। किसी दूसरे के साथ कोई अच्छा बुरा काम किया जाय तो कोई कुछ कह सकता है किन्तु अपने साथ ही कोई अच्छा बुरा काम करने पर किसी को कुछ कहने का क्या मौक़ा है। अतएव ब्रह्माण्ड में स्थूलता रहने पर भी ब्रह्माण्ड और ब्रह्म एक हैं—यह कहने में कुछ दोष नहीं। अतएव यदि ब्रह्माण्ड ब्रह्म को लक्ष्य करके कहता है कि सोऽहम् तो क्या गुनाह करता है।

हममें से जो लोग ऐसे हैं कि अपने शास्त्रों को न पढ़कर सिर्फ़ अँगरेज़ी शास्त्रों को ही पढ़ते हैं, अब उनकी दो चार बातों के हल करने की यहाँ कोशिश करते हैं। उनमें से कुछ यह कहते हैं कि यदि ब्रह्माण्ड ब्रह्म है तो ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं सभी ब्रह्म हैं। हम भी ब्रह्म, तुम भी ब्रह्म, पेड़ भी ब्रह्म, पत्थर भी ब्रह्म, सभी ब्रह्म, हैं। जगदीश्वर एक नहीं हैं, जगत् में जितने पदार्थ हैं उतने ही जगदीश्वर हैं। किन्तु इससे अधिक हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है। जो लोग ऐसा तर्क करते हैं वह यही नहीं जानते कि ब्रह्म किसे कहते हैं और सोऽहम् किसे। वह यह नहीं जानते कि ब्रह्म एक पदार्थ है, विभाज्य नहीं। ब्रह्म केवल ज्ञान के द्वारा समझा जा सकता है, चक्षु या किसी और इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। इसलिए जब वह कहते हैं कि जगत् में जितने पदार्थ हैं उतने ही ब्रह्म हैं तब वह इन्द्रियातीत पदार्थ को इन्द्रिय से प्रत्यक्ष करनेवाला पदार्थ बना डालते हैं। उनकी दूसरी भूल यह है कि जहाँ प्रकृत संख्या नहीं है, वहाँ वह संख्या का आरोप या कल्पना कर लेते हैं। स्थूल इन्द्रिय से देखने पर ही यह भ्रम होता है कि जगत में पदार्थों की संख्या है। प्रकृत ज्ञान-चक्षु से देखने पर जगत् में भिन्न भिन्न या बहुसंख्यक पदार्थ दिखाई नहीं पड़ते, भिन्न भिन्न पदार्थ एक ही पदार्थ की भिन्न अवस्था या आकार मालूम पड़ते हैं। आधुनिक सूक्ष्म और उन्नत विज्ञान भी इस बात की सूचना अब करने लगा है। इसलिए जब ब्रह्म स्थूल चक्षु से देखने की चीज़ नहीं है बल्कि ज्ञान-चक्षु से देखने की चीज़ है तब ब्रह्म के साथ ब्रह्माण्ड या जगत् का सम्पर्क निर्णय करते समय जगत् को भी स्थूल चक्षु के बजाय ज्ञानचक्षु से देखना चाहिए। ज्ञानचक्षु से देखने पर जगत् में न एक से ज़्यादा पदार्थ दिखाई पड़ेंगे और न ब्रह्म।

दूसरी बात यह है कि ज्ञानचक्षु को छोड़ कर स्थूल चक्षु से देखने पर भी जगत में जितने पदार्थ हैं, उतने ब्रह्म दिखाई नहीं देंगे। सोऽहम् का मतलब यही है कि ब्रह्म जो पदार्थ है, मैं (जगत्) भी वही पदार्थ हूँ। इससे यह मतलब तो कहीं नहीं निकलता कि मैं ही ब्रह्म हूँ। फिर तुम कैसे कहते हो कि ब्रह्म और ब्रह्माण्ड को एक पदार्थ कहना, पेड़, पत्ता, ईंट, पत्थर सभी को जगदीश्वर कहना है? सारा समुद्र जो पदार्थ है, एक बूँद पानी भी वही पदार्थ है। किन्तु ऐसा होने से क्या एक बूँद पानी समुद्र हो गया? एक बूँद पानी में क्या समुद्र की सी लहरें उठती हैं? क्या उसमें समुद्र का सा महाप्रलय उठता है? एक उँगली जो पदार्थ है, सारा शरीर भी वही पदार्थ है। किन्तु यह कहने से क्या एक उँगली सारा शरीर हो गई? मन का एक भाव जो पदार्थ है, मन भी वही पदार्थ है। किन्तु यह कहने से क्या मन का एक भाव ही मन हो गया? फिर तुम कैसे कहते हो कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वानन्द ब्रह्म को और जगत् को एक पदार्थ कहने पर हम, तुम, पेड़, पत्ता, ईंट, पत्थर सभी एक एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वानन्द ब्रह्म हैं? सोऽहम् का अर्थ समझने की चेष्टा नहीं करते, इसी लिए इस तरह प्रलाप करते हो।

जिनकी बात हम कह रहे हैं उनमें से बहुत से यह भी कहते हैं कि ब्रह्म अति महत् पदार्थ है। जब हम देखते हैं कि मनुष्य के सिवा और कुछ भी प्रकृत महत् नहीं है, क्योंकि प्रकृत महत् कार्य नहीं करते, तब किस तरह हम जगत् और जगदीश्वर को एक मान कर जगत् के सब पदार्थों को महत् कहें ? वह कहते हैं कि जितने अचेतन पदार्थ हैं वह तो कुछ काम ही नहीं करते, जितने सचेतन हैं उनमें से भी मनुष्य के सिवा और कोई महत् काम नहीं करता—केवल आत्म-सेवा में ही लगे रहते हैं। क्या यह बात ठीक है ? क्या कोई समय ऐसा नहीं हुआ कि जब जगत् में मनुष्य न था ? क्या उसी मनुष्य-शून्य जगत् ने मनुष्य को प्रसव नहीं किया ? यदि किया है तो फिर तुम किस मुँह से कहते हो कि मनुष्य के सिवा और कोई महत् कार्य नहीं करता ? शायद तुम कहो कि हम योरपीय विज्ञान का विवर्त्तवाद नहीं मानते। अच्छा, न सही। तुम मनुष्य हो, इसलिए महत् हो, यह तो मानते हो ? यह तो जानते हो ? अच्छा बताओ तो कि तुम जो आहार करते हो, अर्थात् जो मनुष्य नहीं है, वह तुम्हारे देह में बल का सञ्चार करता है या नहीं ? और इसी लिए तुम जगत् में महत् कार्य कर सकते हो या नहीं ? यदि यही बात है तो फिर तुम कैसे कहते हो कि जगत् में जो मनुष्य नहीं है वह महत् कार्य नहीं करता ? तुम जिस योरप पर इतने लट्टू हो, उस योरप का विज्ञान आज क्या कह रहा है ? क्या वह यह नहीं कहता कि पृथ्वी के कीटाणुकीट, अणु, परमाणु, क्षुद्र महत्, सचेतन-अचेतन सभी पदार्थ जगदीश्वर के बनाये हुए विपुल ब्रह्माण्ड के विशाल उद्देश्य-साधन में नियुक्त हैं ? तुम आत्मप्रधान, आत्मसर्वस्व प्रकृत ब्रह्मज्ञानी* नहीं हो। तभी तो यह समझते हो कि तुम जो कुछ करते हो वही जगत् का काम है तुम्हारा जो उद्देश्य है, विपुल ब्रह्माण्ड का भी वही उद्देश्य है और अनन्त ब्रह्म का भी वही उद्देश्य है। इसी लिए तुम नहीं समझते कि तुम असीम तथा अनन्त ब्रह्म के नज़दीक एक कण बराबर भी नहीं हो। इसी लिए तुम नहीं जानते कि असीम तथा अनन्त ब्रह्म का असीम तथा अनन्त ब्रह्माण्ड न जाने किस असीम, अनन्त उद्देश्य में तुम्हें, हमें, राजा, प्रजा, पेड़-पत्ता, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग—सब पदार्थों को समभाव में उसी एक उद्देश्य का साधक बनाकर असीम तेज से अनन्त पथ में जा रहा है। क्या तुम आज नहीं कहते कि जगत् में मनुष्य के सिवा और कुछ महत् नहीं है, मनुष्य के सिवा और कोई महत् काम नहीं करता ! तुम तो भारत के हिन्दू नहीं हो। सोऽहम् भारत के हिन्दू की बात है, तुम तो भारत के हिन्दू नहीं। तुम तो क्या भारत और क्या योरप किसी भी देश के प्रकृत मनुष्य नहीं हो।

बहुत से यह शङ्का करते हैं कि मनुष्य यदि अपने को ब्रह्म समझेगा तो उसके गर्व की सीमा न रहेगी। हम कहते हैं—नहीं। मनुष्य जब अपने को ब्रह्म समझेगा तभी उसका अहंकार दूर होगा। जो हिन्दू कहता है सोऽहम् वही मैं हूँ, वही हिन्दू कहता है कि जगत् में सिर्फ़ मैं ही वही नहीं हूँ, जो कुछ भी है सब वही है। जहाँ सभी ब्रह्म हैं वहाँ किसी एक को ब्रह्म कह कर अभिमान या अहंकार करने का मौक़ा ही कहाँ है ? जहाँ मनुष्य अपने आप ही अपने को कहता है सोऽहम्, वहाँ अहंज्ञान तो हो ही नहीं सकता, वहाँ अहंज्ञान का स्थान ही कहाँ है ? भारत के साहित्य में भी इस बात का प्रमाण नहीं है। किसी समय योरप में धर्म के नाम पर बड़े अत्याचार और हत्याकाण्ड हो चुके हैं। प्रोटेस्टेन्ट तथा अन्य सम्प्रदायों के अनेक महापुरुषों ने आनन्द के साथ प्राण छोड़ दिये हैं तथापि अपना अपना धार्मिक मत नहीं बदला या छोड़ा। वह महान् इतिहास पढ़ने से बड़ा विस्मय होता है। किन्तु उसमें एक ऐसी बात पाई जाती है जो भारत के इतिहास में नहीं मिलती। वह बात यह है कि उन सब महापुरुषों ने धर्म के नाम पर धर्मच्युत होना अस्वीकार किया हो यह बात नहीं—आत्मस्वाधीनता (individual judgment) के नाम पर अस्वीकार किया है। उस असाधारण वीरत्व और महत्त्व की जड़ में आत्म या अहम् दिखाई पड़ता है। हिन्दू-साहित्य में प्रह्लाद की कथा इसी तरह की है—उतनी ही या उससे अधिक वीरत्व और महत्त्व की है।

---

*साम्प्रदायिक अर्थ में इस शब्द का व्यवहार नहीं किया है।

किन्तु उस कथा में अहं या आत्म का लेशमात्र भी नहीं है। उस कथा में विष्णु-विद्वेषी हिरण्यकशिपु ही अहं या आत्म की प्रतिमूर्ति है—प्रह्लाद में अहं या आत्म बिल्कुल नहीं है । प्रह्लाद ने अपने नाम पर या आत्म स्वाधीनता के नाम पर सब यन्त्रणायें सह कर आख़िर तक वैष्णव-धर्म क़ायम नहीं रक्खा । किन्तु विष्णु के नाम पर ही सब यन्त्रणायें सह कर वह आख़िर तक वैष्णव-धर्म पर अटल रहे। जहां सब विष्णु ही हैं, वहां फिर प्रह्लाद का क्या ज़िक्र ? यह बात झूठ है या सच—यह बात विष्णुपुराण में प्रह्लाद-चरित पढ़ने से मालूम हो जायगी । इसी लिए हिन्दू-साहित्य में, धर्म के इतिहास में, महत्त्व और वीरत्व की कहानी में अहं या आत्म की कहीं गन्ध तक नहीं है। ईसाई योरप के साहित्य में, धर्म के इतिहास में, वीरत्व और महत्त्व की कहानी में अहं या आत्म बड़ा ही प्रबल है । भारत के सोऽहम् ने भारत और योरप में यह अपूर्व भेद कर दिया है, भारत को योरप की अपेक्षा इतना श्रेष्ठ बना दिया है । भारत का सोऽहम् भारत के हिन्दू के लिए बड़े गौरव की चीज़ है । मनुष्य वही परब्रह्म है—हिन्दू को छोड़ कर कोई इतनी ऊँची भावना नहीं कर सका है, और न किसी को यह बात सोचने का साहस हुआ है, ऐसी विशाल बात मन में धारण करे इतनी मानसिक विशालता भी और किसी में नहीं हुई है। किन्तु यह कह कर अभिमान न करना । यदि समझ जाओगे कि सोऽहम् किसे कहते हैं तो अभिमान कर ही न सकोगे । अभिमान या अहङ्कार के बिना नष्ट हुए कोई 'सोऽहम्' का अधिकारी नहीं होता । सूक्ष्मदर्शी विराट्पति हिन्दू के सूक्ष्मतम अति विराट् सोऽहम् का अर्थ है—प्रकृत ब्रह्मज्ञान, प्रकृत आत्मज्ञान, अपरिसीम मन और अपरिमित साहस—सबका सामञ्जस्य, सबका महत्त्व, सब एकत्व और अत्युच्च विश्वव्यापी कवित्व ।

हिन्दू का सोऽहम् कह रहा है कि हिन्दू के सदृश ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मदर्शी, ब्रह्मभक्त, ब्रह्माण्डग्राही, अपरिमित साहसवाला और विराट् मनवाला मनुष्य पृथ्वी में और कहीं दिखाई नहीं देता ।*

कैलाशचन्द्र गुप्त

२—अमेरिका में भारतीय विद्यार्थी ।

दिन प्रति दिन भारतीय विद्यार्थी अमेरिका आने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहे हैं । ज्यों ज्यों जीविका का प्रश्न जटिल होता जा रहा है, त्यों त्यों स्वभावतः मनुष्यों की प्रवृत्ति विदेशों में जाने के लिए बढ़ती जा रही है । वास्तव में कहना यह चाहिए कि अमेरिका आने के लिए लोगों का प्रयास बढ़ रहा है, क्योंकि प्रायः विद्यार्थी या मज़दूर योरप के किसी भी भाग में जीवन-निर्वाह के साधन नहीं उपलब्ध कर सकते—इँग्लेंड, फ्रांस और जर्मनी स्वयं ही लाचार बैठे हैं कि अपने श्रम-जीवियों को क्या काम दें और कैसे उनका जीवन-निर्वाह करने के उपाय बतायें । जर्मनी जाने से तो स्वदेश में ही भूखों मरना अच्छा है—वहां की दशा तो हृदय-विदारक है । अभिप्राय यह कि सभ्यता का अभिमानी योरप आज बाहर की सहायता का याचक है ।

बस, अमेरिका के सिवा और कोई देश नहीं जहां स्वावलम्बी विद्यार्थी या मज़दूर अपनी मनोकामना पूरी कर सकें । यही कारण है कि भारतीय विद्यार्थियों का समुदाय अमेरिका की ओर दृष्टि लगाये रहता है । यहां हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि इस विशाल समृद्ध देश में भी हमारा प्रवेश प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है । वह समय दूर नहीं जब भारतीय विद्यार्थियों का भी इस देश में आना सर्वथा निषिद्ध हो जायगा । यदि रुपये-पैसेवालों का नहीं तो स्वावलम्बियों का तो अवश्य ही—मज़दूरों की तो बात ही नहीं । समय समय पर लेखक स्वावलम्बी विद्यार्थियों की कथायें समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं, परन्तु प्रत्येक का अनुभव एक दूसरे से अवश्य भिन्न होता है । इसमें किसी का दोष नहीं । समय की गति भी सदा बदलती रहती है और उसी के अनुसार अनुभव भी भिन्न भिन्न होते हैं—कुछ नये मार्ग खुल जाते हैं और कई पुराने अवरुद्ध हो जाते हैं । प्रायः जो विद्यार्थी स्वावलम्बन करते हैं और साथ ही विश्व-विद्यालयों में पढ़ते हैं उनके निर्वाह के साधन प्रत्येक भिन्न भिन्न केन्द्रों में भिन्न भिन्न हैं । न्यूयार्क, बोस्टन और वाशिंगटन इत्यादि स्थानों में, जहां रङ्ग का प्रश्न उतना कठिन नहीं है, प्रायः विद्यार्थी होटलों में या

---

*श्रीयुत चन्द्रनाथ वसु-प्रणीत 'हिन्दूत्व' के एक निबन्ध का अनुवाद ।

टेलिग्राफ़-आफ़िसों में पढ़ाई के बाद अपने अवकाश के समय में काम करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। परन्तु केलिफ़ोर्निया और ओरेगन इत्यादि स्टेटों में भिन्न व्यवस्था है। वहाँ विद्यार्थियों को खेतों में काम मिल जाते हैं। अन्य प्रकार के काम कम हैं और जो हैं वे हम लोगों के लिए बन्द हैं। शिकागो की तरफ़ फेरी का काम अच्छा चलता है। विद्यार्थी लोग बड़ी दूकानों से साबुन, तेल, क्रीम वग़ैरह ख़रीद लेते हैं। फिर उन्हें वे घर घर घूम घूम कर बेचते हैं। हमारी समझ में यह काम अन्य कामों से अच्छा है। इसमें पैसा भी अच्छा मिल जाता है। एक डालर का सामान बेचने पर बेचनेवाले को ५० सेंट का मुनाफ़ा होता है, क्योंकि वहाँ फेरीवालों को कमीशन बहुत मिलता है, ४० फ़ी सदी से कम तो कहीं भी नहीं मिलता। इस प्रकार विद्यार्थी पढ़ाई के बाद अपने अवकाश के समय में काम करके पर्याप्त धन उपार्जन कर लेते हैं। कोई कोई शनिवार के दिन सारा दिन काम करते हैं जिससे वे सारे सप्ताह के लिए निश्चिन्त हो जाते हैं। यह सब व्यापार हबशी लोगों की बस्तियों में ही होता है।

चौथे प्रकार का विद्यार्थी-समूह अपना निर्वाह फ़ैक्टरियों में काम कर के चलाता है। यह काम अन्य सब कामों की अपेक्षा अधिक कठिन है, कहीं कहीं फ़ैक्टरियों में अनवरत दस घण्टे काम करना होता है और काम भी बड़े परिश्रम का है। इन सब अवस्थाओं को देखते हुए प्रश्न यह होता है कि क्या कोई और उपाय नहीं है जिससे विद्यार्थी लोग यहाँ अपना निर्वाह सुभीते से कर सकें?

यह अवस्था सुधर सकती है और अनेक सुभीते प्राप्त हो सकते हैं यदि हमारे देश के व्यापारी इस देश में आकर व्यापार करें। यदि कोई ऐसा देश है जिसके व्यापारी अमेरिका में नहीं हैं तो वह भारतवर्ष ही है। यदि दस पाँच छोटा-मोटा व्यापार करनेवाले सारे अमेरिका में निकल भी आयँ तो उनसे क्या। छोटी छोटी आटा-दाल की दूकान से लेकर लाखों का व्यापार करनेवालों के लिए यहाँ अवसर है। करोड़ों रुपयों का कच्चा माल भारत से हर साल यहाँ मँगाया जाता है, जिसे हम मिट्टी के दामों में बेच देते हैं और उसी को सोने के मोल से फिर ख़रीदते हैं। हमें एक बार पार्क डेविस एंड को—जो संसार की सबसे बड़े फ़र्मों में से एक है—निरीक्षण करने का अवसर प्राप्त हुआ। जब हमने उनके बड़े बड़े भाण्डार भारतवर्ष की जड़ी-बूटियों और खालों से भरे देखे तब हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। प्रदर्शक ने साफ़ साफ़ कह दिया कि उनका हमारा यह सामान भारत के जङ्गलों और पहाड़ों में सङ्ग्रहीत हुआ है। यह भी उसने बताया कि हिन्दुस्तान में ही हमारी दवाइयों की बहुत खपत है। यदि वही व्यापारी जो कच्ची दवाइयाँ बेचते हैं स्वयं एक बार यहाँ आकर देखें कि उनका मिट्टी के भाव बेचा हुआ माल किस प्रकार सोने में परिवर्तित हो सकता है तो सम्भव है उनकी आँखें खुल सकें। ओषधियों के अतिरिक्त लाख, अदरक और चमड़े का व्यापार बहुत ही लाभकारी है। वास्तव में लाख तो केवल भारतवर्ष में ही उपलब्ध होती है। संसार में यह और कहीं नहीं प्राप्त होती है। इस प्रकार व्यापार में लगे हुए हमारे देश के व्यापारी स्वयं लाभ उठा सकते हैं और साथ ही साथ स्वदेश के स्वावलम्बी विद्यार्थियों को सहायता पहुँचा सकते हैं।

कच्चे माल के व्यापार के सिवा भारत की नक़्क़ाशी, सलमे-सितारे का काम और रेशम का कसीदा इत्यादि का यहाँ बहुत सम्मान है। इनका व्यापार बहुत अच्छा चल सकता है। यदि कोई विद्यार्थी इनमें से कोई काम जानता हो तो उसके लिए यहाँ बहुत काम है। हम यह बात स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हमारे कहने का कोई यह अभिप्राय न समझ ले कि हिन्दुस्तानी साड़ियाँ या दुपट्टे यहाँ अच्छे चलेंगे—इन वस्तुओं का चलन यहाँ नहीं है—परन्तु इसी प्रकार की यहाँ की बहुतेरी चीज़ों पर उनका जैसा काम हो सकता है। इस प्रकार का व्यापार करनेवाले को यहाँ पूरा निरीक्षण करना चाहिए कि किस वस्तु की माँग है। तब वह बनवा कर भारत में मँगाई जाय। कुछ दिन हुए हमारे एक मित्र ने हमारे पास काश्मीर का कुछ रेशम का काम दिखाने के लिए भेजा था। जिस जिसने उसे देखा उनके आश्चर्य की सीमा न रही। सबने प्रशंसा की—परन्तु एक बड़ी भारी त्रुटि थी कि उनमें से कोई भी चीज़ सम्पूर्ण नहीं समझी गई—क्योंकि उस वस्तु के साथ चलनेवाली चीज़ें साथ न थीं। जैसे एक

ल कवर था। इस पर काम बहुत ही उत्तम था, परन्तु इसके साथ चलनेवाले छोटे छोटे रूमाल जिसे नैप्किन कहते हैं नहीं थे। इसलिए कोई भी आदमी इसको उपयोग में नहीं ला सकता था। इसी प्रकार बिस्तर-पोश था, परन्तु उसके तकियों के गिलाफ़ नहीं थे।

कहने का अभिप्राय यह कि यहाँ व्यापार करने के लिए यहाँ आकर देख-भाल करना बहुत आवश्यक है।

अमेरिका आनेवाले विद्यार्थियों में उनकी एक बड़ी संख्या केवल इञ्जीनियरिङ्ग सीखने आती है। यदि उनमें से कोई हिन्दुस्तान की किसी ऐसी कम्पनी से जो अमेरिका से मशीन इत्यादि मँगाती रहती हो, परिचायक पत्र प्राप्त कर सके तो उसका यहाँ सुगमता से फ़ैक्टरी में प्रवेश हो सकता है और वह काम भी सीख सकता है—इस प्रकार सीखा हुआ काम उसको यूनीवर्सिटी में भी सहायक होगा।

प्रत्येक विद्यार्थी को भारत छोड़ते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि संसार-सङ्ग्राम अत्यन्त कठिन है। सब प्रकार के समय देखने पड़ते हैं। विशेष करके अमेरिका जैसे देश में, जहाँ रङ्ग का प्रश्न बहुत ही कठिन समस्या उपस्थित करता है, कभी कभी घोर अपमान तक सहन करने का समय आ जाता है। परन्तु क्या किया जा सकता है।

एस० बहादुर

३—उन्मादिनी।

मेरे मित्र डाक्टर बनेट ने कितने ही दिनों से रायांते आने के लिए निमन्त्रण दे रक्खा था। परन्तु काम के कारण मुझे वहाँ जाने का कभी मौक़ा नहीं मिला। अन्त में एक दिन वहाँ जाना मैंने निश्चय किया। जिस दिन मैं रायांते पहुँचा उस दिन खूब कुहरा था। प्लेटफ़ार्म पर मेरे मित्र डाक्टर बनेट मेरी प्रतीक्षा में खड़े थे। उनके साथ गाड़ी पर बैठ कर मैं उनके घर गया। काफ़ी पी लेने के बाद मेरे मित्र ने कहा—चलो, थोड़ा घूम आवें।

छोटे छोटे पहाड़ों के किनारे घूम कर रास्ता गया था। बीच बीच में दो चार घर थे। उनके आस-पास फलों और पेड़ों के उद्यान थे। दृश्य सचमुच रमणीय था। एक मकान के पास खड़े होकर डाक्टर ने कहा—यहाँ थोड़ा रुक जाओ। मैं एक रोगी को देख आऊँ। इतना कहकर वह घर के भीतर चला गया।

उस घर की बनावट में कुछ विलक्षणता थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानो वह गम्भीरता की मूर्ति है। वह जीर्ण हो गया था। उसमें एक भी खिड़की नहीं थी। दीवारें बीच बीच में टूट-फूट गई थी। घर को देखने से यही भाव उदित होता था कि मानों किसी ने किसी को इसमें बन्द कर रक्खा है। उसे बाहर के किसी भी मनुष्य को देखने की आज्ञा नहीं है। जब डाक्टर लौटकर आया तब मैंने उससे उस घर के विषय में पूछा। डाक्टर ने कहा—तुम्हारा अनुमान बहुत कुछ ठीक है। अब इस घर की बन्दिनी बाहर के किसी भी आदमी को नहीं देख सकती। वह बिलकुल पगली होगई है। उसमें अब ज़रा भी ज्ञान नहीं है। उसकी कहानी सुनोगे? मेरे राज़ी होने पर डाक्टर कहने लगा—

* * * *

बीस वर्ष पहले की बात है। मैंने डाक्टरी शुरू ही की थी। उसी समय इस घर के स्वामी ने आकर मुझे अपनी लड़की की चिकित्सा करने को कहा। लड़की का नाम था बार्था। उसकी उम्र सात-आठ साल की थी। वह बड़ी सुन्दर थी, परन्तु वह बिलकुल नहीं बोल सकती थी। यही उसका रोग था। जब वह बहुत छोटी थी तभी वह चलना-फिरना सीख गई थी। परन्तु उसके मुख से कभी कोई शब्द स्पष्ट नहीं निकला। लोगों ने समझा कि वह कानों से सुन नहीं सकती। परन्तु परीक्षा करने पर मालूम हुआ कि वह सुन तो अच्छी तरह लेती है। उसकी वाक्-शक्ति-हीनता का कारण था मस्तिष्क का विकार।

क्रमशः बार्था बड़ी होने लगी। मैंने चिकित्सा-शास्त्र के सभी बड़े बड़े ग्रन्थ छान डाले और उसको कितनी ही दवायें दीं परन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ। पहले वह अपनी धाई को पहचान लेती थी, परन्तु अवस्था बढ़ने पर उसका वह ज्ञान भी लुप्त होगया। माँ को पहचानना तो दूर रहा, उसने कभी अपने मुँह से मा भी नहीं कहा। कभी कभी वह कुछ बोलने की चेष्टा करती थी। परन्तु उसके मुख से केवल अर्थ-हीन शब्द निकलता था।

परन्तु एक विषय में मैंने उसकी कुछ विशेषता देखी। वह विशेषता यह थी कि प्रकृति की भिन्न भिन्न अवस्थाओं से उसके भावों का सामञ्जस्य था। जब आकाश स्वच्छ रहता तब वह पक्षी की तरह आनन्द से बोलती थी। परन्तु यदि आकाश मेघाच्छन्न हुआ तो वह उदास हो जाती थी। जब सूर्य की किरणें घर में प्रवेश करतीं तब वह ताली पीट कर उछलती थी।

अन्त में मैंने उसकी बुद्धि को बढ़ाने के लिए एक दूसरा ही उपाय सोचा। जब वह खाने के लिए बैठती तब उसको दूसरा कुछ भी ज्ञान नहीं रहता था। वह दिन-रात खाना चाहती थी। कब खाने का समय आयगा, इसके लिए वह सदैव व्यग्र रहती थी और इसी से अन्त में वह खाने का घंटा पहचान गई। तब मैंने उसे घड़ी का काँटा दिखलाकर यह बतला दिया कि किस जगह काँटा आने पर खाने का समय आता है। इस तरह वह घड़ी देखना सीख गई। तब से उसका यह काम हो गया कि वह घड़ी की ओर बराबर ताकती रहती थी। कब किस घड़ी का काँटा बजने से खाने का समय आगया, इसे वह अच्छी तरह समझ गई थी। एक बार एक घड़ी के बजने का स्प्रिङ्ग बिगड़ गया। इसी से वह नहीं बजा। तब वह सब कुछ छोड़कर उसी घड़ी को लेकर देखने लगी। जब वह किसी प्रकार नहीं बजा तब उसने उस घड़ी को तोड़ डाला। यह देख कर मैं समझ गया कि उसमें धारणा-शक्ति है, परन्तु वह बहुत क्षीण है।

कुछ समय के बाद बार्था में एक परिवर्तन हुआ। वह अब लड़की नहीं रही, युवती हो गई। यौवन के उन्मेष से उसके स्वभाव में परिवर्तन न होने पर भी उसके शरीर में बड़ा परिवर्तन हो गया। यों तो बाल्यावस्था में ही वह सुन्दर थी। परन्तु अब उसके शरीर से लावण्य फूटने लगा। उसका सुगठित अङ्ग-सौष्ठव, दृढ़ और चपल गति, उज्ज्वल और भीरु नेत्रों की शून्य और चञ्चल दृष्टि देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाता ने सुन्दरता को मूर्तिमती कर पृथ्वी पर घूमने के लिए छोड़ दिया है।

एक दिन बार्था के पिता ने आकर मुझसे कहा कि मैं बार्था का विवाह कर देना चाहता हूँ। पहले तो उसका यह प्रस्ताव सुन कर मैं अवाक् हो गया। परन्तु बार्था के पिता ने कहा—देखिए, मैंने सब कुछ करके देख लिया। किसी से कुछ नहीं हुआ। सम्भव है कि विवाह हो जाने पर स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न होने पर उसका ज्ञान बढ़े। मैंने वर भी ठीक कर लिया है। उसका नाम है गास्तों लूसेल। वह राज़ी हो गया है। इस में सन्देह नहीं कि रुपये और रूप के लोभ से वह विवाह के लिए तैयार हुआ है। परन्तु किया क्या जाय। आपकी क्या राय है?

मैं क्या उत्तर देता, चुप रहा। परन्तु जब बार्था का पिता चला गया तब मैंने देखा कि उसका कथन उचित ही है। परन्तु इतना मैं समझ गया कि गास्तों बिलकुल पशु है।

अन्त में एक दिन बार्था का विवाह हो गया। विवाह में धूमधाम नहीं हुई। बार्था को विवाह के समय कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। उस समय वह घड़ी देखने में और भोजन के समय खाने में व्यस्त रही। पोशाक देख कर भी उसे कुछ कौतूहल नहीं हुआ।

विवाह के बाद मैं प्रायः उनके घर जाया करता था। गास्तों ने अपनी स्त्री के आदर-सत्कार में कोई त्रुटि न की। वह उसे सदैव प्रसन्न रखने की चेष्टा करता। पहले पहल तो बार्था ने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया। किन्तु दो चार महीनों के बाद उसके स्वभाव में कुछ परिवर्तन होने लगा। वह अपने पति को पहचानने लगी। अच्छे भोजन की ओर उसका जिस प्रकार का आग्रह देखा जाता था कुछ कुछ वैसा ही भाव गास्तों के प्रति होने लगा। जान पड़ता था कि यहीं प्रेम का सूत्रपात हुआ। इसके बाद वह अपने पति के हाव-भाव और रङ्ग-ढङ्ग को बड़ी उत्सुकता से देखने लगी। सीढ़ी पर उसके पैर की आहट पाते ही वह व्यग्र होकर दरवाज़े की ओर ताकने लगती थी। प्रेम की ज्योति से उसकी शून्य दृष्टि उज्ज्वल हो गई और सुख और स्नेह के कारण उसके शरीर की एक नई शोभा हो गई।

बार्था अपने पति को अपना सर्वस्व देकर चाहने लगी। पति-प्रेम में उसकी दुर्बल आत्मा का अस्तित्व विलुप्त हो गया। मुझे एक दिन की बात याद है। उस दिन आकाश में मेघ खूब घिर आये थे। सन्ध्या के समय अन्धकार बढ़ने

लगा। उस समय बार्था भयभीत हो गई। गास्तों ने उसे सान्त्वना देने के लिए अपना हाथ फैलाया। तब बार्था ने उसकी छाती में अपना मुख इस प्रकार छिपा लिया जिस तरह पक्षी का बच्चा अपनी मा के परों में अपना मुख छिपा लेता है। उस समय उसके मुख पर एक असीम तृप्ति का भाव उदित होता था। उसका नीरव और निर्बोध हृदय आनन्द के आवेश में तन्मय हो गया था। उसके इस मूक प्रेम की सरलता देख कर प्रेमिकाओं का हाव-भाव बिलकुल तुच्छ प्रतीत होता था, क्योंकि उस हाव-भाव में प्रेम की वह गम्भीरता नहीं रहती जो उसके प्रेम में प्रकट होती थी।

किन्तु थोड़े ही दिनों में गास्तों का प्रेम घटने लगा। इस मूक नारी की लीला-हीन सरलता से उसे विरक्ति होने लगी। वह आमोद-प्रमोद के लिए शहर जाने लगा। अन्त में यह हुआ कि उस निस्सहाय अबला के पास वह एक घण्टे से अधिक नहीं ठहरता था। परंन्तु इससे बार्था का प्रेम बढ़ने लगा। वह रात भर घड़ी लेकर अपने स्वामी की प्रतीक्षा में बैठी रहती थी। कोई भी शब्द होने पर वह चौंक कर बड़ी उत्सुकता से दरवाज़े की ओर दौड़ कर जाती। अभागिनी यह नहीं जानती थी कि उसका भाग्य फूट गया है।

क्रमशः वह रोग-ग्रस्त होने लगी। न वह खाती और न सोती थी। उसके मन में कोई दूसरी अनुभूति नहीं थी। सभी आशाओं, सभी चिन्ताओं और सभी वासनाओं के अतीत वह एक-मात्र अपने स्वामी को ही अचल जानती थी। स्वामी का यह अदर्शन उसे असह्य हो गया। कभी कभी रात के अन्त होने पर गास्तों घर लौटता था। उस समय बार्था का अनिद्रा और अनाहार से शुष्क मुख आनन्द से खिल उठता था। उसने अपराधी पति से कभी कुछ नहीं कहा, केवल मूक, कातर, तिरस्कार-युक्त दृष्टि से वह घड़ी की ओर देखती।

इसके बाद एक दिन मैंने सुना कि गास्तों ने उसे बिलकुल ही छोड़ दिया है। अपनी स्त्री को छोड़ कर वह न जाने कहां चला गया। विरह की तीव्रता से वह पगली हो गई। उसका यह पागलपन अभी तक दूर नहीं हुआ है। परन्तु अभी तक वह अपने स्वामी को नहीं भूली है। वह सभी समय एक घड़ी को ताकती बैठी रहती है। एक बार परीक्षा के लिए मैंने उस घड़ी को हटाने की चेष्टा की। उस समय वह इतनी विकल हो गई कि मैंने घड़ी को जहां का तहां रख दिया। उसके मुख की कान्ति नष्ट हो गई। वह बिलकुल बूढ़ी सी जान पड़ती है।

+ + + +

डाक्टर इतना कह कर रुक गया। मैंने पूछा कि उसके मा-बाप कहां हैं। डाक्टर ने कहा कि वे पहले ही मर गये।

हम लोग एक पहाड़ की चोटी पर जाकर बैठ गये। मैंने नीचे देखा, हरी-भरी पृथ्वी दूर तक फैली हुई थी। दूसरी ओर दृष्टि फेरी तो पर्वतों की श्रेणी दिखलाई दी। एक ओर निस्तब्ध पृथ्वी थी और दूसरी ओर मूक पर्वत-श्रेणी। मुझे ऐसा जान पड़ा कि इस निस्तब्ध भूमि में उस मूक उन्मादिनी की व्यथित आत्मा का नीरव आर्तनाद व्याप्त हो रहा है *।

हृषीकेश

४—वेदान्त-रहस्य।

(१)

एक वेदाभिज्ञ यति करते तपोवन-वास थे,
वेदमय वेदान्त में वह अन्य वेदव्यास थे।
शिष्य भी उनके कई रहते निरन्तर पास थे
जो वहां सध्यान करते नित्य विद्याभ्यास थे॥

(२)

थी वहां, अतएव, होती धर्म्म-चर्चा सर्व्वदा,
और श्रीगुरुदेव-पद-जलजात-अर्चा भी सदा।
थे महात्मा प्रण किये नर-मात्र के उपकार का,
पर नियम भी मानते थे 'पात्र' के 'अधिकार' का॥

(३)

प्रौढ़ शिष्यों से, जिन्हें सत्पात्र थे वे जानते,
थे यथाविधि प्रायशः वेदान्त-मर्म्म बखानते।
गुरु-कथन-पीयूष-नद का तो अकथ विस्तार है,
पर स्वयं गुरुदेव-कृत यह गुरु-कथन का सार है:—

---

* मो पांसा की एक कहानी।

(४)

"सत्य केवल ब्रह्म है, मिथ्या जगत् का खेल है,
है बसा सबमें वही, जैसे तिलों में तेल है।
कीट-कुञ्जर, चर-अचर, सबमें समाया है वही;
व्यास-कृत वेदान्त-दर्शन का प्रदर्शन है यही ॥

(५)

अन्य शास्त्रों के वचन नर हैं तभी तक मानते,
हैं न वे वेदान्त का सिद्धान्त जब तक जानते।
शोर होता है तभी तक तो शृगाल-समाज का,
घोष सुन पड़ता नहीं जब तक उसे मृगराज का ॥"

(६)

ओट से सुन कर वहाँ इस भाँति स्तुति वेदान्त की,
जान कर उपयोगिता वेदान्त के सिद्धान्त की।
शङ्कु नामक शिष्य ने उसकी महत्ता मान ली,
और उसके सीखने की बात मन में ठानली।

(७)

एक दिन आचार्य्य का जब कार्य्य था कुछ कर रहा,
गुरु-चरण छूकर वहाँ उसने विनय-युत यों कहा—
"है विनय श्रीमान से, मुझ पर कृपा यह कीजिए,
वेदमय वेदान्त-शिक्षा अब मुझे भी दीजिए!

(८)

आयु का है क्या ठिकाना, शास्त्र-सिन्धु अपार है,
इसलिए ज्ञातव्य है जो सर्व्व-शिक्षा-सार है।
'जानकर वेदान्त को कुछ जानना रहता नहीं'
सुन चुका हूँ सूक्तियाँ इस भाँति की बहुधा यहीं!

(९)

हों सुलभ व्यञ्जन जिसे रुचिकर सुधा-रस में सने
नित्य क्यों चाबा करे वह मूर्ख लोहे के चने?
बोध से वेदान्त के, स्वयमेव ही, इस भृत्य का
छूट जावेगा अरुचिकर अध्ययन भी नित्य का।"

(१०)

स्मित-सहित गुरुदेव बोले "श्लाघ्य है यह कामना,
पर अभी सीखो बहिर्मुख इन्द्रियों का थामना।
है उचित तुमको अभी संयम-नियम-पालन करो
और विद्याभ्यास के तप से तनिक भी मत डरो।

(११)

'पात्रता' वेदान्त की उपलब्ध होगी जब तुम्हें,
तब सहज ही ब्रह्मविद्या प्राप्त होगी सब तुम्हें।
'पात्रता' ही प्राप्त करनी चाहिए तुमको अभी;
छिद्र-युत घट में तुम्हीं क्या नीर भरते हो कभी?"

(१२)

'पात्रता' की बात सुन कर शिष्यजन भी हँस पड़े,
जानते थे शङ्कु की क्षमता सभी छोटे बड़े।
हो न जिसको बोध निज 'पात्रत्व' या 'अधिकार' का।
क्यों न हो उपहास जग में उस अबोध गँवार का?

(१३)

देख कर उपहास अपना वह हुआ क्रोधित महा,
क्रोध से अभिभूत उसका बोध भी जाता रहा।
रुष्ट हो, कहने लगा—"भगवन्! रहे मुझ पर दया;
व्यर्थ है रहना यहाँ अब; लीजिए, मैं यह गया!

(१४)

था अकेला, मार्ग में वन भी महा घनघोर था,
और हिंसक जन्तुओं का त्रास चारों ओर था।
इसलिए गुरुदेव ने निज शिष्यगण से यों कहा—
"रोक लो इसको यहीं—है इस समय क्यों जा रहा?"

(१५)

शिष्य बोले—"ठहरिए, हे शङ्कुजी! क्या बात है?
आज आपे में नहीं हो, क्या तुम्हें यह ज्ञात है?
शान्त हो जावो; कहो किस हेतु ऐसा रोष है?
गुरुजनों को रोष दिखलाना बड़ा ही दोष है॥

(१६)

रीछ मिल जावे न कोई, होगई अब शाम है;
साथ जाना कल किसी के, आज ही क्या काम है?"
यों उसे गुरुभाइयों ने था यदपि वर्ज्जन किया,
शङ्कु ही ठहरा, न माना, हाय! चल ही तो दिया!

(१७)

और बोला "क्या इसी का नाम ब्रह्मज्ञान है?
रीछ भी समदर्शियों को क्या न ब्रह्म समान है?
कीट-कुञ्जर, चर-अचर, जब तत्त्व में हैं ब्रह्म ही,
भीति की शङ्का भला फिर आपको क्यों हो रही?

(१८)

था मनोरथ, सीखलूँ वेदान्त मैं आचार्य्य से,
पर, अहो पाया उन्हें मैंने रहित औदार्य्य से।
क्यों रहूँ फिर मैं यहाँ ? नर वे सभी मतिहीन हैं,
जो स्वयं रहते निरन्तर अन्य के आधीन हैं॥

(१९)

क्रोध के आवेग में कुछ और भी कहता हुआ,
भ्रान्ति-नद में चल दिया वह वेग से बहता हुआ!
शीघ्र ही वह शिष्यगण की दृष्टि से ओझल हुआ
और उसके रोकने का यत्न सब निष्फल हुआ!!

(२०)

शिष्यगण गुरुदेव-प्रेरित शङ्कु के पीछे चले;
क्या कभी निज सद्गुणों को छोड़ते हैं नर भले ?
दूर से वन में उन्हें चीत्कार-सा कुछ सुन पड़ा;
हो गया विश्वास उनको, है कहीं जोखिम बड़ा॥

(२१)

सुन पड़ा फिर साफ़ उनको—"हाय रे! मारा गया!"
इसलिए वह दौड़ कर आगे बढ़े सत्वरतया।
देखते क्या हैं कि ऊपर रीछ विकटाकार है;
शङ्कु उसके दाँव में नीचे पड़ा लाचार है॥

(२२)

रीछ, उनका आगमन लख, शीघ्र ही चलता बना;
शिष्यगण को शङ्कु ही केवल मिला शोणित-सना।
पहुँच कर उसको वहाँ देने लगे सब सान्त्वना,
और की सबने प्रदर्शित सब तरह शुभ-कामना॥

(२३)

शङ्कु बोला—"भाइयो! तुम व्यर्थ मुझको मत छलो;
हो सके तो घर हमारे शीघ्र मुझको ले चलो।
देखलूँ जननी-जनक को जन्म जिनसे है मिला;
व्यर्थ की बातें कभी मुझको नहीं सकतीं जिला॥

(२४)

किन्तु गुरुवर की कृपा से घाव भारी थे नहीं,
मर्मभेदी नख नहीं थे लग सके उसके कहीं।
देख कर क्षत नासिका के वह तदपि रोने लगा,
और अपनी बुद्धि पर लज्जित बहुत होने लगा॥

(२५)

घर पहुँच कर भी वही फिर अश्रुओं की निम्नगा,
और यों बोला कि "है वेदान्त ने मुझको ठगा।
चर-अचर सब ब्रह्म हैं तो रीछ कैसा ब्रह्म है ?
जानलें अब ब्रह्मविद् भी 'जीव' जैसा 'ब्रह्म' है"॥

(२६)

शङ्कु की मा ने कहा—"हा! तुम बड़े ही अज्ञ हो!
खेद यह भी है कि तुम ऐसे बड़े अकृतज्ञ हो।
चर-अचर सब ब्रह्म हैं तो पूज्य गुरुवर कौन हैं ?
और ये सहचर तुम्हारे सर्वहितकर कौन हैं ?

(२७)

गुरु-चरण ही की कृपा से आज तुम जीवित रहे;
हों क्षमा, ईश्वर करे, थे जो वचन तुमने कहे।
ब्रह्म-विषयक भ्रान्तियों से चित्त जिनके भ्रान्त हों
भ्रान्तिहर उनको हमारे शङ्कु का वेदान्त हो"।

तथास्तु!

'सत्कविदास'

५—प्रेम।

दुख से जब मैं घबराती हूँ, अवलम्ब नहीं कुछ पाती हूँ,
साहस को पीठ दिखाती हूँ, जब दृढ़ता से हट जाती हूँ,
प्रियतम! तब तुम आजाते हो,
करुणाकर! प्राण बचाते हो।
विपदाओं से जब घिरती हूँ, दुखसागर में मैं तिरती हूँ,
मारी मारी जब फिरती हूँ, मैं कण्टकवन में गिरती हूँ,
प्रियतम! तुम हाथ बढ़ाते हो,
काँटों से मुझे उठाते हो।
मन मेरा चञ्चल होता है, आशा दर्शन की खोता है,
जब हाथ धैर्य से धोता है, खाता दुख-सर में गोता है,
तब, प्रियतम! तुम मिल जाते हो,
अपने जन को अपनाते हो।
चिन्ता की चिता धधकती है, जब उसकी लपट लपकती है,
आशा आशा-पथ तकती है, हो विकल बुद्धि भी थकती है,
प्रिय! प्रेमजलद बरसाते हो,
तुम उर की दाह मिटाते हो।

जब भूख-प्यास हर जाती है, नयनों में नींद न आती है,
जब व्यथा और बढ़ जाती है, अपनी कुछ थाह न पाती है,
स्मृति में तुम मुझे सुलाते हो,
प्रिय! अपने पास बुलाते हो।
पीछा जग का छुट जाता है, जब कोई काम न आता है,
जो चार दिनों का नाता है, वह आप अलग हो जाता है,
जब एक तुम्हीं रह जाते हो
प्रिय! तब हँस गले लगाते हो।

निर्म्मला देवी

९—वसन्त।

इस मैदान के उस पार शाल-वन की नई कोपलों के बीच वसन्त की हवा डोलने लगी है।

अभिव्यक्ति के इतिहास में मनुष्य का एक अंश वृक्षों के साथ जकड़ा हुआ है। किसी समय हम लोग शाखामृग (बन्दर) थे, जिसका यथेष्ट परिचय आज भी हम लोगों के स्वभाव से मिलता है। परन्तु इससे भी बहुत पहले किसी आदि-युग में हम लोग निःसन्देह वृक्ष थे, यह क्या हम भूल सके हैं? उस आदि-काल के जनहीन मध्याह्न में हम लोगों की शाखाओं के बीच से जब वसन्त का वायु किसी को किसी प्रकार की सूचना दिये बिना अकस्मात सर सर करता हुआ आता था तब क्या हम प्रबन्ध लिखने बैठते थे या देश के उद्धार के लिए प्रयत्न करते थे? उस समय हम लोग दिन भर खड़े रह कर गूँगे और मूर्ख के समान कांपते रहते थे; हम लोगों का सारा शरीर झरझर-मरमर करता था, जो पागलों के गाने के समान मालूम पड़ता था। जड़ से लेकर छोटी छोटी टहनियों और पत्तों तक में उस समय रस-प्रवाह के कारण चञ्चलता उपस्थित हो जाती थी। उस आदि-काल के फागुन और चैत इसी प्रकार अधिक रस-प्रवाह के कारण आलस्य और अर्थहीन प्रलाप में ही बीत जाते थे। उस समय हमको किसी के आगे कोई भी कैफ़ियत नहीं देनी थी।

यदि कहो कि पीछे दुःख के दिन आते थे—वैशाख-जेठ की कड़ी धूप सिर झुकाकर चुपचाप सहनी पड़ती थी, तो यह बात हम मानते हैं। जिस दिन का जो सुख-दुःख है वह उस दिन इसी तरह ग्रहण करना पड़ता है। सुख के दिनों में भोग को और दुख के दिनों में धैर्य को यदि कोई सहज ही ग्रहण कर सके तो जब सान्त्वना की वारि-धारा दसों दिशाओं को प्लावित करना आरम्भ करती है तब उसे सर्वत्र भरपूर भर रखने की शक्ति रहती है।

किन्तु इन सब बातों को मैं यहाँ कहना नहीं चाहता था। लोग सन्देह कर सकते हैं कि मैं रूपक के द्वारा उपदेश देने बैठा हूँ। यह सन्देह एक-दम बेजड़ नहीं है। परन्तु किया क्या जाय, अभ्यास ही ख़राब हो गया है।

मैं यह कह रहा था कि अभिव्यक्ति की अन्तिम सीमा पर पहुँचने के कारण मनुष्य के बहुत से भाग हो गये हैं। जैसे, जड़भाग, उद्भिद्भाग, पशुभाग, बर्बरभाग, सभ्य-भाग और देवभाग इत्यादि। ये भिन्न भिन्न भाग भिन्न भिन्न ऋतुओं में उत्पन्न होते हैं। किस ऋतु में कौन भाग उत्पन्न होता है, इस बात का निर्णय करने का भार हम लेना नहीं चाहते। किसी एक सिद्धान्त को अन्त तक निबाहने की प्रतिज्ञा करने से बहुत झूठ बोलना पड़ता है। झूठ बोलने को भी राज़ी हूँ, पर आज उतना परिश्रम न कर सकूँगा।

आज पड़े पड़े, सामने देख देखकर, जो बातें सहज ही मन में आ रही हैं उन्हीं को मैं लिखने बैठा हूँ।

लम्बे जाड़े के बाद आज दोपहर को नवीन वसन्त की हवा डोलते ही मुझे मानव-जीवन में भी एक भारी असामञ्जस्य देख पड़ रहा है। विपुल के साथ—समग्र के साथ—उसका सुर नहीं मिलता। शीत-काल में जो जो काम हमको करने पड़ते थे, आज भी वही सब काम करने पड़ते हैं। ऋतु विचित्र है, पर कामों में भेद नहीं है। ऋतु के परिवर्तनों पर मन को विजयी बनाकर निश्चेष्ट कर देने में जैसे कोई बहादुरी है! मन बड़ा बहादुर है, वह क्या नहीं कर सकता! वह दक्षिण-पवन की कुछ भी परवा न कर बड़े वेग से बड़े बाज़ार की ओर दौड़ा जा सकता है। माना कि कर सकता है, किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि उसको वह काम करना ही चाहिए! तब तो दक्षिण-पवन अपने डेरे में जाकर जान न दे देगा; किन्तु हानि किसकी होगी?

अभी यही थोड़े दिनों की बात है कि हम लोगों के

आँवला, साखू आदि वृक्ष अपने पत्ते गिरा रहे थे; किन्तु दूर से आये पथिक के समान फागुन का महीना ज्योंही द्वार पर आकर उपस्थित हुआ त्योंही वृक्षश्रेणी ने पत्ते गिराने का काम बन्द करके रात ही भर में कोपल निकालने का काम शुरू कर दिया।

हम मनुष्य हैं। हमसे वह होने का कोई उपाय नहीं है। बाहर चारों ओर जब हवा बदलती है, रङ्ग बदलता है, पत्ते बदलते हैं, तब भी हम बैलगाड़ी के बैल की तरह पीछे के पुराने बोझ को घसीटते धीरे धीरे राह में धूल उड़ाते चले जा रहे हैं। गाड़ीवान उस समय जो डंडा पसलियों में हूलता था वही डंडा आज भी हूल रहा है।

पास पञ्चाङ्ग नहीं है। अनुमान से जान पड़ता है कि आज फागुन की अमावस या पड़िवा है। आज वसन्त-लक्ष्मी षोडशी किशोरी है। परन्तु तो भी प्रति सप्ताह समाचार-पत्र निकलते हैं, और उनमें हम पढ़ते हैं कि हमारे शासक हम लोगों के कल्याण के लिए क़ानून बनाने में उसी तरह लगे हुए हैं, और दूसरा पक्ष मन लगा कर उसी के विचार में प्रवृत्त है। किन्तु संसार में यही सबसे आवश्यक बातें नहीं हैं। बड़े लाट, मँझले लाट, छोटे लाट, सम्पादक, सहकारी सम्पादक आदि की तत्परता को कुछ भी न समझ कर दक्षिण समुद्र की तरङ्गोत्सव-सभा की ओर से प्रतिवर्ष वह पुराना संवाद देनेवाला, नवजीवन का आनन्द-समाचार लेकर, उसका प्रचार करने के लिए इस पृथ्वी पर आता है। उस संवाद को पाकर मनुष्य का आत्मा नये आश्वास से आश्वासित होता है। यह मनुष्यों के लिए साधारण बात नहीं है। पर इन बातों को सोचने के लिए हमको छुट्टी नहीं।

पुराने समय में मेघ-गर्जन से पढ़ने का अनध्याय होता था, वर्षा के समय परदेशी अपने अपने घर लौट आते थे। मैं यह नहीं कह सकता कि वर्षा के दिनों में पढ़ा नहीं जा सकता अथवा विदेश में रह कर काम करना असम्भव है। मनुष्य स्वाधीन है, स्वतन्त्र है, वह जड़ प्रकृति का अनुयायी नहीं है; परन्तु इससे क्या विशाल प्रकृति के साथ उसको बराबर विद्रोह करके ही चलना चाहिए। क्या यह कोई नियम है? यदि मनुष्य संसार के साथ अपनी कुटुम्बिता स्वीकार करे, आकाश में काले काले मेघों का आगमन होते ही पढ़ना और काम करना बन्द कर दे, दक्षिण पवन के प्रति श्रद्धा रख कर उस समय क़ानून की समालोचना करना छोड़ दे, तो मनुष्य का संसार के साथ कुछ असामञ्जस्य न हो। पञ्चाङ्ग में भिन्न भिन्न तिथियों को बैंगन, सेम, कुँभड़ा आदि खाना निषिद्ध है। मेरी समझ में और भी कई कामों का निषेध होना चाहिए। किस ऋतु में संवाद-पत्र का पढ़ना निषिद्ध है, किस ऋतु में आफ़िस का काम बन्द न करना महापाप है, इन बातों के निर्णय का भार अरसिकों की बुद्धि पर न छोड़ कर शास्त्रकारों को ही इस बारे में नियम बाँध देना चाहिए।

वसन्त के दिनों में विरहिणियों के प्राण व्याकुल हो जाते हैं, यह बात हमने प्राचीन काव्यों में ही पढ़ी है। आज यह बात लिखते सङ्कोच मालूम होता है कि इसे सुन कर लोग उपहास करेंगे। इस प्रकार हम लोगों ने प्रकृति के साथ अपने मन का सम्बन्ध तोड़ दिया है। वसन्त में वन-उपवन आदि के बीच फूलों के फूलने का समय उपस्थित होता है। उस समय उनके हृदय के स्वाभाविक विकास का महोत्सव उपस्थित होता है। उस समय आत्म-दान करने के आनन्द में वृक्ष-लता आदि पागल हो उठते हैं। उस समय विधि-विधान की ओर उनका ध्यान नहीं रहता। जहाँ दो फल लगने को होते हैं वहाँ पचीस कलियाँ निकल आती हैं। तो क्या मनुष्य ही इस प्रवाह को रोक देगा? मनुष्य अपने को न फूलने देगा और न फलने देगा, और आत्म-दान करना भी न चाहेगा! तो क्या वह घर झाड़ेगा, बर्तन मलेगा? और जिनके पास यह बला नहीं है वे क्या बैठे बैठे चार बजे तक ऊन का गुलूबन्द बुनेंगे? मनुष्य क्या इतना कोरा मनुष्य है? वसन्त के गूढ़ रससञ्चार के द्वारा विकसित तरु-लता-पुष्प-पल्लव आदि से क्या हम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं है? जो हम लोगों के घर के आँगन को छाया से छिपाये, गन्ध से परिपूर्ण किये और शाखारूपी हाथों से घेरे खड़े हैं वे क्या हमारे इतने ग़ैर हैं कि जिस समय वे फूल उठेंगे उस समय हम अचकन पहन कर आफ़िस जाने के लिए तैयार होंगे—उस समय किसी एक

अनिर्वचनीय वेदना से हम लोगों का हृदय वृक्ष-पल्लव की तरह कांप न उठेगा ?

मैं तो आज वृक्षों के साथ अपनी बहुत प्राचीन काल की आत्मीयता स्वीकार करूँगा। इस बात को आज मैं किसी तरह न मानूँगा कि व्यग्रता के साथ काम करते फिरना ही हमारे जीवन की सार्थकता है। आज हम लोगों की युग-युगान्तर की बड़ी बहन वनलक्ष्मी के यहाँ भाई-दूज का निमन्त्रण है। आज वहाँ तरु-लताओं के साथ बहुत ही सगे की तरह मिलना होगा। आज का दिन वृक्षों की छाया में रह कर बिताना होगा। जिस समय वसन्त की हवा चलेगी उस समय उसके आनन्द को मैं अपने हृदय की प्रत्येक तह में अनायास प्रवेश करने दूँगा और इसका ध्यान रक्खूँगा कि वह आनन्द वहाँ ऐसी कोई ध्वनि न उत्पन्न करे जिसकी भाषा को वृक्ष आदि न समझ सकें। इस प्रकार चैत्र के अन्त तक मिट्टी, हवा और आकाश के बीच अपने जीवन को इस प्रकार कच्चा—हरा—बना कर छोड़ दूँगा कि वह प्रकाश और छाया में चुपचाप पड़ा रह सके; प्राकृतिक आनन्द का उपभोग कर सके।

किन्तु हाय, कोई भी काम बन्द नहीं रह सका। हिसाब का खाता वैसे ही खुला हुआ है। नियम की कल में, कर्म के फन्दे में पड़ गया हूँ। इस समय वसन्त के आने और जाने से क्या होता है!

मनुष्य-समाज के आगे मेरा यही सविनय निवेदन है कि यह अवस्था ठीक नहीं है। इसका संशोधन होना उचित है। संसार के साथ अपना कोई सम्बन्ध न रखने से ही मनुष्य का गौरव नहीं हो सकता। संसार की सभी विचित्रतायें मनुष्य में हैं, इसी कारण मनुष्य बड़ा समझा जाता है। मनुष्य जड़ के साथ जड़, वृक्ष-लता के साथ वृक्ष-लता और मृग-पक्षी आदि के साथ मृग-पक्षी है। प्रकृति महारानी के राजभवन के भिन्न भिन्न महलों के सभी द्वार उसके लिए खुले हैं। परन्तु उनके खुले रहने से क्या होगा ? प्रत्येक ऋतु में प्रकृति के एक एक महल से जब उत्सव का निमन्त्रण आता है तब यदि मनुष्य उस निमन्त्रण को अस्वीकार करके अपनी आदत की गद्दी पर ही पड़ा रहे तो उसने इतना बड़ा अधिकार क्यों पाया ? पूर्ण मनुष्य होने के लिए मनुष्य को सब कुछ होना होगा,—इस सत्य सिद्धान्त को भूल कर मनुष्य ने मनुष्यत्व को विश्व-विद्रोह का झण्डा बना कर क्यों खड़ा कर रक्खा है ? क्यों मनुष्य घमण्ड के साथ बार बार यही कहता है कि हम जड़ नहीं हैं, वृक्ष नहीं हैं, पशु नहीं हैं; किन्तु मनुष्य हैं। हम केवल काम करते हैं, समालोचना करते हैं, शासन करते हैं, और विद्रोह करते हैं। वह क्यों नहीं यह कहता कि हम सभी हैं, संसार के सभी पदार्थों के साथ हमारा सम्बन्ध है,—स्वतन्त्रता का झण्डा हमारा नहीं है!

हाय रे समाज के पिंजड़े में रहनेवाले पक्षी! आकाश की नीलिमा आज विरहिनी की—स्वप्न के आवेश से पूर्ण—दोनों आँखों के समान है, पत्तों का हरा रङ्ग आज तरुणी के कपोलों के समान नवीन है, वसन्त की हवा आज मिलन के आग्रह के समान चञ्चल है, तो भी आज तेरे दोनों पङ्ख बँधे हुए हैं—तो भी आज तेरे पैरों में कर्म की जंज़ीर झन झन करके बज रही है। यही क्या मानव-जन्म है!*

("विचित्र प्रबन्ध" से)

७—अर्पण।

(१)
निश्चल गति से निशाकाल में किधर जारहे ये सारे
अन्त-हीन इस अन्तरिक्ष में चन्द्र और इतने तारे॥
(२)
अपनी अपनी स्वल्प ज्योति का ले लेकर ये लघु उपहार
अर्पित करने चले जा रहे अपने इष्टदेव के द्वार॥
(३)
जिस अनन्त से स्वल्प ज्योति ले ये निज रूप बनाते हैं
उसी ज्योति में अपनी भी ये ज्योति मिलाने जाते हैं॥

+ + +

(४)
इसी तरह से मैं भी अपने जीवन का लेकर उपहार
अपने प्रभु के चरणों में अर्पित करने को हूँ तैयार॥

श्रीग्राही

---

* डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर-प्रणीत "विचित्र प्रबन्ध" (मूल्य २) पुस्तक इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद से २) में मिल सकती है।

१—आधुनिक युग का उद्देश।

फ्रेंच राज्यक्रान्ति से मनुष्य-जीवन का ध्येय पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया था। स्वतन्त्रता का एक शब्द में अर्थ था आत्मोन्नति। मनुष्य को बहुत दिनों के सङ्ग्राम के बाद अपना पूरा स्वत्व प्राप्त हुआ था। केवल आत्मत्याग का शुष्क आदर्श अब मनुष्यों को शान्ति नहीं दे सकता था। मनुष्य को संसार में आजन्म दरिद्र बन कर, ब्रह्मचर्य धारण कर और सबसे नम्र बन कर रहने से शान्ति नहीं मिल सकती थी। अतएव आत्मत्याग के साथ आदर्श में आत्म-विकास को भी स्थान दिया गया। हीगल का विश्वास था कि मनुष्य की विचार-धारा के प्रवाह के आगे कोई नहीं टिक सकता, विचारधारा वज्र के किवाड़ों से भी अधिक कठोर है। एक विद्वान् की धारणा थी कि मनुष्य में एक ऐसी शक्ति का अङ्कुर विद्यमान है कि उसका विकास होने से वह उसको मनुष्य-मात्र के साथ एक-हृदय कर देगी और साथ ही उसके व्यक्तित्व को भी परम विकास पर पहुँचा देगी। कोम्ट नामक एक दार्शनिक विद्वान् का मत था कि मनुष्य अपने भाइयों से मिल कर उन्नति के उस अनन्त शिखर पर पहुँच सकता है जिसकी वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता। मेजिनी को आशा थी कि यदि राष्ट्रों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय और उनको अपना अपना कर्त्तव्य बतला दिया जाय, तो वे अपनी अपनी उन्नति भी कर लेंगे और संसार में शान्ति का साम्राज्य छा जायगा। नीट्शे ने बतलाया कि जीवन धारण करने की साधारण इच्छा में ही महान् कार्य-कारिणी शक्ति सन्निहित है जो कायरों को पुंसकत्व प्रदान कर सकती है, अविश्वासियों में श्रद्धा भर सकती है, रोग-शोक को दूर भगा सकती है। इसी विराट् इच्छा-शक्ति की प्रेरणा से जर्मन-साम्राज्य की सृष्टि हुई और उसको कला-कौशल के महत् पद की ओर अग्रसर कर दिया। सोपनहार के नैराश्यवाद का खण्डन करके इसने वीरता-पूर्वक अदृश्य के साथ युद्ध करने का परामर्श दिया, क्योंकि हर हालत में इस प्रयास का परिणाम होगा उच्च और दृढ़-प्रतिज्ञ जाति का निर्माण। फ्रेंच विद्वानों में अग्रगण्य वर्गसन की धारणा थी कि कार्यवाहिनी शक्ति के निरन्तर प्रवाह ही का नाम जीवन है, विकासवाद का जीवन-सङ्ग्राम बिल्कुल उद्देश्य-हीन नहीं है। इससे हमें कार्य के लिए स्फूर्ति मिलती है। यदि इससे वर्तमान समाज का उद्धार नहीं हो सकता, तो कम से कम भावी जाति का अभ्युदय तो अवश्य होगा। टाल्स्टाय का आदर्श वही आत्मत्याग का पुरातन आदर्श था जिसमें सबसे अधिक सार्वजनिक भ्रातृ-प्रेम की उपयोगिता बतलाई गई थी, किन्तु उससे नवयुग के लोगों को यथेष्ट प्रोत्साहन नहीं मिला। और भला, इस सन्तोष के आदर्श से लोगों को सन्तोष मिलता भी कैसे? नवयुग की दो सबसे बड़ी विशेषताएं हैं, एक लालसा और दूसरी आशा। लालसा जब अधोगामिनी हो जाती है, शक्ति और वैभव की अटूट चाह मनुष्य को उन्मत्त कर देती है, पाशविक वृत्तियों का ताण्डव नृत्य होने लगता है, रणभेरी बजने लगती है, एक-देशीय युद्ध सार्वदेशीय हो जाता है। उच्चतर और आध्यात्मिक वृत्तियों का एक-दम लोप हो जाता है। किन्तु फिर आशा सहायता करती है, उच्च वृत्तियों का लोप भर होता है, नाश नहीं हो सकता। आत्मा की

महत्ता मनुष्य की रक्षा करती है, नीचातिनीच प्रवृतियाँ क्षण भर में दब जाती हैं, वीभत्स दृश्यों के मध्य में सौन्दर्य्य का विकास होने लगता है, ईर्ष्या-द्वेष के तुमुल घोष में प्रेम का नाद सुनाई देता है, मृत्यु की अनन्तता और अनिवार्यता के बीच में अक्षय जीवन की झलक दिखाई देती है। हम युद्ध से कुछ पाठ पढ़कर आगे बढ़ते हैं। यदि हम स्वदेश-प्रेम के नाम से संसार का अहित करना चाहते हैं, तो हमारे स्वदेश-प्रेम में अवश्य कुछ त्रुटि है। युद्ध के बाद लोगों के हृदय में यही भाव रहना चाहिए थे। किन्तु जब तक लोगों को युद्ध के विषैले घावों की याद रही, तब तक तो विल्सन के आदर्शवाद की खूब चर्चा रही, किन्तु घाव मिटते ही फिर राष्ट्रों में जल-सेना बढ़ाने की स्पर्द्धा, जीते हुए देशों के बटवारे में लड़ाई झगड़ा, कमज़ोर और पददलित जातियों को अपने समाज से पृथक् करने का प्रस्ताव पुनः योरप में चल पड़ा। युद्ध के धक्के से अन्तर्राष्ट्रीय भाव जाग्रत हुआ था, किन्तु फिर लालसा ने उसको सुला दिया। किन्तु आशा है कि जब एक बार लोगों ने नवयुग का सन्देश सुन लिया है तब वह उनके हृदय-पटल से कभी नहीं धुलेगा। स्त्री-समाज ने अपनी उन्नति के लिए जो आन्दोलन उठाये हैं, वे भी स्वतन्त्रता और शक्ति के महान् युद्ध के अङ्ग हैं। मनुष्य स्वयं अपना और इस महत् संसार का उद्धार करनेवाला है, यही इस नवयुग की एक-मात्र आशा है। मनुष्य के अन्तःतल में एक ऐसी आत्मा है, जहाँ से इस आशा का उद्गम हुआ है, यह आत्मा मनुष्य से कहीं अधिक महत् है। परमात्मा को भी अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य की आवश्यकता होती है, मनुष्य के बिना वह कुछ भी नहीं कर सकता है। बर्गसन ने अपने उन्नतिशील विकासवाद का प्रतिपादन करने के अनन्तर एक ऐसी अनिर्वचनीय प्रभा की ओर सङ्केत किया है जिसका अभी जन्म नहीं हुआ है किन्तु जो जन्म लेने के लिए विकल हो रही है—उसका जन्म इसी जड़ और चैतन्य के द्वन्द्वयुद्ध से होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार अभी कारीगर के कारख़ाने से बनकर बाहर नहीं निकला है, हम सब इस ब्रह्माण्ड के कारीगर हैं। जीवन सचमुच हमको एक घोर सङ्ग्राम प्रतीत होता है, मानो हमारा कोई प्रचण्ड प्रतिद्वन्द्वी बैठा हुआ हम से युद्ध कर रहा है जिसको अपने महत् उद्देश्य और अचल विश्वास से सीधे रास्ते पर लाना होगा। एक समय हम इस ब्रह्माण्ड को सर्वाङ्गपूर्ण मानते थे और आज हम इसको बिल्कुल अधूरा। कैसी करुणाजनक अवस्था है। किन्तु नहीं, हमें इसके अवश्यम्भावी विकास में दृढ़ विश्वास है, अटूट आशा है, जिसका हम स्वयं पता नहीं लगा सकते। राजनैतिक क्षेत्र में या सामाजिक क्षेत्र में इस आशा पर चाहे जितने कुठाराघात किये जायँ, किन्तु इस आशा का वेग कम नहीं हो सकता है। हम देख रहे हैं कि संसार धीरे धीरे विकसित हो रहा है और उसका सौरभ चारों ओर फैल रहा है।

२—पाश्चात्य देशों में ऊँच-नीच की भावना।

इस समय पाश्चात्य देशों में ऊँच-नीच के भेद-भाव की बुराई की ओर लोगों का ध्यान विशेषरूप से गया है। अब वे इस भेदभाव को दूर कर देना चाहते हैं। कार्ल-मार्क्स के साम्यवाद से उनकी इस प्रवृत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध देख पड़ता है। परन्तु अब यह साम्यवाद के विचार-क्षेत्र के भीतर ही परिमित नहीं है। इस समय वहाँ ऐसे लोगों का अभाव नहीं है जो संसार का उद्धार निम्न-श्रेणी के ही लोगों द्वारा संगठित सरकार से ही सम्भव समझते हैं। इस कारण वे भविष्य में राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति के समुन्नत होने के लिए ऊँच-नीच के भेद-भाव को हटा देना श्रेय समझते हैं। परन्तु इसके साथ ही वहाँ ऐसे भी लोग कम नहीं हैं जो साम्यवाद पर कम से कम उसके अधिक उग्ररूप पर ज़रा भी श्रद्धा नहीं रखते। उनका यही विश्वास है कि श्रेणी या जाति-विशेष की अपेक्षा समाज के प्रति भी उनका कुछ कर्तव्य है। जहाँ तक उग्र साम्यवादियों से सम्बन्ध है उनके इस ऊँच-नीच-सम्बन्धी-सिद्धान्त के विषय में इतनी बढ़ कर बातें कही जाती हैं कि उसकी असम्भवता अपने आप स्पष्ट हो जाती है।

कुछ अत्यन्त उग्र क्रान्तिकारियों का यह दावा है कि मज़दूरों और शेष समाज के बीच बौद्धिक सम्बन्धों का पूर्ण विच्छेद हो जाना चाहिए। वे चाहते हैं कि उनकी साधारण सामाजिक मीरास तथा कला एवं विज्ञान के

भाण्डार के स्थान में एक विशेष सङ्गठित ज्ञान का वायु-मण्डल तैयार किया जाय जो नीच जनों की सरकार को एक विशेष प्रकार के अस्त्र का काम दे। इस प्रकार का प्रचण्ड नूतन ज्ञान स्पष्टरूप से उन सब वस्तुओं का संहारक प्रतीत होता है जिन पर वर्तमान सभ्यता निर्भर करती है। यही नहीं, किन्तु सभ्यता के संहार के साथ ही कर्तव्य-प्रेम और सत्य-निष्ठा भी तिरोहित हो जायँगे। यदि कभी इस प्रकार का जाति-गत विशेष ज्ञान विजयी होगा तो मानव-जाति की वर्तमान विभूति में जो कुछ श्रेष्ठ अंश है उसका भी तिरस्कार अनिवार्य है।

विलायत में मज़दूर-दल की विजय से यह बात प्रकट होती है कि लोगों का सन्देह वर्तमान सामाजिक पद्धति की न्यायता पर बढ़ने लगा है। जो लोग अपने को साम्यवादी कहलाना पसन्द नहीं करते उनमें भी अनेक लोगों का यह दृढ़ मत है कि यदि विशाल समाज जीवित रहना चाहता है तो आर्थिक समानता सर्वथा आवश्यक है। इसके सिवा अब चारों ओर यह बात फैली हुई है कि जब तक समग्र सभ्य संसार के उद्योग-धन्धों के मज़दूरों और कारबारियों के बीच कोई समझौता नहीं होता तब तक राष्ट्रीय और जाति-गत विद्वेष से उत्पन्न होनेवाले भयङ्कर फल अनिवार्य हैं। यह बात सर्वथा मान्य है कि आर्थिक समानता स्थापित हो और सर्वसंहारक युद्ध बन्द हो जायँ। परन्तु इस उद्देश की सिद्धि के लिए जो समानता-सम्बन्धी विधान सामने उपस्थित किया गया है उसका उपर्युक्त दोनों बातों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा होता तो आर्थिक समानता की प्राप्ति किसी विशेष श्रेणी के लोगों के प्रयत्नों पर ही क्यों निर्भर की जाती। इसके साथ ही यह बात भी क्यों न्यायपूर्ण समझी जाती कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौते भी एक-मात्र नीचजनों की सरकार-द्वारा ही तय किये जायँ। सच बात यह है कि आर्थिक और सामाजिक सुधार की सारी बातों का सम्बन्ध, चाहे वे राष्ट्रीय हों या अन्तर्राष्ट्रीय, एक ही श्रेणी के लोगों से है, अतएव अब वे सङ्कुचित होती जा रही हैं। इतिहास यह बतलाता है कि किसी राष्ट्र या सभ्यता की उन्नति किसी एक श्रेणी के लोगों के द्वारा नहीं हुई है, किन्तु सभी लोगों की सम्मिलित शक्ति के द्वारा ही हुई है।

ऊँच-नीच की भावना के सिद्धान्त पर अधिक विचार करते समय जिस पहली कठिनाई से सामना पड़ता है वह है ऊँच-नीच श्रेणियों की व्याख्या। सामाजिक दृष्टि से हम समाज को रईस, मध्य-श्रेणी और नीच लोगों में विभक्त करते हैं। आर्थिक दृष्टि से हम उसे पूँजीपतियों और मज़दूरों में विभाजित करते हैं। परन्तु किसी ऐसे विभाजन की वास्तविकता पर समाज की दो बातों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। एक तो श्रेणी की रचना है। क्योंकि व्यक्तियों एवं समाजों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति के उन्नत और अवनत होते रहने के कारण श्रेणी की अवस्था लगातार बदलती रहती है। दूसरे यह कि किसी सामान्य आर्थिक हित की ऐसी बात मिलना प्रायः असम्भव है जो किसी मुख्य श्रेणी के लोगों को दूसरी श्रेणी के लोगों के साथ ऐक्य-सूत्र में बाँध देने की अपेक्षा उन्हीं को परस्पर अधिक घनिष्ठता के साथ ऐक्य-सूत्र में बाँध दे। आज-कल के व्यवसाय-सङ्घों का इतिहास बतलाता है कि श्रमजीवी समाज के अन्तर्गत भिन्न भिन्न समाजों के बीच जितना अधिक स्वार्थ-विरोध है उतना उनकी दूसरी बातों में नहीं है। वस्तुतः समाज की भिन्न भिन्न श्रेणियों के हितों और उनकी रचना पर जितना ही अधिक विचार किया जाता है उतना ही अधिक आश्चर्य यह देख कर होता है कि ऊँच-नीच के भेद का आधार मन की भावना को छोड़ कर और कोई नहीं है। अनुमानतः उसको वर्तमान महत्त्व अधिकतर पुराने भेदों की स्मृति से प्राप्त हुआ है। ये भेद-भाव उस समय से चले आते हैं जब प्राचीनकाल में समाज की रचना जन्म और रहन-सहन के अनुसार की गई थी। इन भेद-भावों को उन लोगों ने उपयोगी समझा है जिन्होंने समुन्नत स्थिति की प्राप्ति के लिए, चाहे वह सामाजिक हो या आर्थिक, समाज के कुछ भागों को एकता के सूत्र में बाँधकर सम्पूर्ण समाज की जाग्रति का रूप दे देने का बीड़ा उठा लिया है।

यह बात अस्वीकृत नहीं की जा सकती कि ऊँच-नीच की भावना ने अनेक देशों में मज़दूरों की दशा सुधारने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वहाँ यह विभिन्न प्रकार के

सहयोग और सम्मिलन का आधार बना दी गई है और इस उद्योग का सुफल समाज की भलाई के रूप में प्रकट हुआ है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ऊँच-नीच की भावना की उपयोगिता बिलकुल नष्ट नहीं हो गई है? असल बात यह है कि अब वह वास्तविकता से बहुत थोड़ा सम्बन्ध रखती है। यही नहीं किन्तु जो लोग उसके सम्बन्ध में सिरपच्ची किया करते हैं उन्हें इस बात को भूल जाने को प्रवृत्त करती है कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के साथ कुछ बातों के द्वारा घनिष्ठ सम्बन्ध में बँधा हुआ है। ये बातें किसी श्रेणी के लोगों के सङ्कीर्ण विचारों से श्रेष्ठ हैं। इन पर सामाजिक भलाई ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण समाज की उपयोगिता और सुरक्षा निर्भर करती है।

३—चीन की औद्योगिक उन्नति।

चीन एक प्राचीनतम सभ्य देश है। कला-कौशल के लिए वह ज़माने से प्रसिद्ध है। हुज्जते बङ्गाल और हिकमते चीन का मसला हमारे देश में लोग घर घर जानते हैं। अतएव चीन में उद्योग-धन्धों की वृद्धि का होना एक स्वाभाविक बात है। परन्तु उसके उद्योग-धन्धों की वृद्धि को देख कर उन्नतिशील पाश्चात्यों का सजग होना भी उसी प्रकार स्वाभाविक है। 'दि वर्ल्ड टुमारो' नामक सामायिक पत्र में एक लेखक लिखता है—

पिछले चालीस वर्षों में चीन के उद्योग-धन्धों तथा व्यापार की गति में कुछ वैसा चमत्कार नहीं था। परन्तु इधर कुछ समय से वहाँ अण्डे के कारबार की आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। इसके सिवा गेहूँ, सूखे फल आदि खाद्य वस्तुएँ विदेशों को अत्यधिक परिमाण में भेजी जाने लगी हैं। पिछले कुछ वर्षों के भीतर चीन की जो चीज़ें बाहर भेजी जाती रही हैं उनके परिमाण में वृद्धि हुई है। पहले चीन से लगभग २८००० पिकल सूत बाहर जाता था। अब वह बढ़कर ७०००० पिकल के लगभग पहुँच गया है। चीनी टोपियों की संख्या भी दूनी हो गई है। सीगार और सिगरट जहाँ पहले २० लाख टैल भेजे जाते थे वहाँ अब वे ८० लाख टैल भेजे जाते हैं। मतलब यह कि अपने बलवान् पड़ोसी जापान की भाँति चीन ने भी धीरे धीरे अपने उद्योग-धन्धों की उन्नति की है और अपना व्यापार बढ़ाया है।

चीन की औद्योगिक गति-विधि को देख कर पाश्चात्य देशों के अर्थ-शास्त्री चौकन्ने हुए हैं। उपर्युक्त लेख में यह प्रश्न किया गया है कि यदि अगली पीढ़ी तक चीन एक व्यवसायी राष्ट्र हो जाय और तलवार के बल से संसार में अपने व्यवसाय का प्रसार करने लगे तो योरप और अमरीका की कैसी दशा होगी? वह लिखता है—चीन की विशाल जन-संख्या सिखाई-पढ़ाई जाकर निपुण की जा सकती है। सहयोग-पद्धति से उसकी सम्पत्ति का पूर्ण रूप से उपयोग किया जा सकता है और इस प्रकार वहाँ के उन्नतिशील उद्योग-धन्धों की समुचित सहायता की जा सकती है। यही नहीं, अपने प्रयत्न में सफल होकर वह विदेशी आर्थिक-दासता से मुक्त हो सकता है। यह कोरी कल्पना-मात्र नहीं है, किन्तु उसकी औद्योगिक गति-विधि से प्रकट होता है कि वह अपने उद्धार के पथ पर अग्रसर है।

वस्तुतः संसार के सामने यह एक विकट समस्या है। चीन की इस व्यावसायिक उन्नति से दूसरे देशों में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं उनमें एक का उल्लेख यहाँ किया जाता है। चीन के व्यवसाय के कारण उन देशों में बेकारों की वृद्धि हुई है, क्योंकि उन देशों को चीन के माल के आगे अपने देश में उत्पन्न हुए माल का मूल्य कम करना पड़ा है।

अब चीन संसार के औद्योगिक क्षेत्र में कूद पड़ा है। अतएव प्रचलित औद्योगिक पद्धति में परिवर्तन करना आवश्यक है। यदि लाभ की अपेक्षा उपयोग के लिए चीज़ें तैयार की जायँ, यदि नौकर और मालिक के बीच तथा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच सहयोग हो, यदि इस व्यवसाय के संसार में सेवा का उद्देश और व्यक्तिगत महत्त्व का विचार प्रधान स्थान ग्रहण करें, तो केवल तभी कोई बड़ी भारी नई बात सम्पूर्ण संसार की स्थिति को बिना उलटे-पुलटे प्रचलित की जा सकती है। इस प्रस्ताव को चीन भी स्वीकार कर सकता है। परन्तु ऐसे लक्षण नहीं देख पड़ते कि दूसरे देश इस महत्त्वपूर्ण बात की ओर इतना शीघ्र ध्यान देंगे और आगामी वर्षों में होने वाली

त्वपूर्ण प्रतियोगिता से साफ़ बच निकलने के लिए प्रयत्नशील होंगे।

४—अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न और अमरीका की स्त्रियाँ।

युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय मसला है। संसार से उसका अस्तित्व मिटा देने के लिए साधन भी अन्तर्राष्ट्रीय ही होना चाहिए। अमरीका शुतुर्मुर्ग़ की तरह बालू में अपना सिर गाड़कर यह सोचने का बहाना नहीं कर सकता कि जिसका मुझे डर है और जिससे मैं घृणा करता हूँ वह अस्तित्व में ही नहीं है। युद्ध करा देनेवाली बातें इस समय भी संसार में अपना काम बराबर कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय घृणा, महत्त्वाकांक्षा, प्रलोभन, नासमझी, प्राचीन अपराध तथा नवीन क्रान्तिकारी विचार अभी अपने दुष्ट उद्देश से विरत नहीं हुए हैं। कोई नहीं कह सकता कि इनके अस्तित्व से युद्ध का तूफ़ान कब उठकर सारे संसार को न आवृत कर ले। क्या उस समय हमारा हिचकिचाहट से किया गया विरोध कारगर हो सकेगा? हमें तो उसके प्रतीकार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साधन का ही उपयोग करना पड़ेगा।

युद्ध एक प्रकार का दावानल है। जब कोई साधारण यात्री जङ्गल में अधबुझी आग भूल से छोड़ कर चला जाता है तब वहाँ वह चुपचाप धीरे धीरे सुलगती रहती है। उसके अस्तित्व का ज्ञान किसी को नहीं रहता। सहसा वायु की सहायता से वह एक दिन भभक उठती है और कुछ ही समय के भीतर सारे जङ्गल में आग लग जाती है, आग के लकूटे आकाश में उछलने लग जाते हैं और चारों ओर हाहाकार मच जाता है। अन्त में जङ्गल का सारा सौन्दर्य नष्ट होकर वहाँ धूल उड़ने लगती है। इसी प्रकार ईर्ष्या-द्वेष और लड़ाई-झगड़े की छोटी छोटी बातें संसार की भिन्न भिन्न जातियों में धीरे धीरे अपना काम करती रहती हैं। कभी कभी संसार के किसी दूर के कोने में वे उग्ररूप भी धारण कर बैठती हैं। अन्त में सहसा कोई घटना उपस्थित होकर पहले से विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय ईर्ष्या-द्वेष को और अधिक भड़का देती है। तब संसार में युद्ध का दावानल प्रज्वलित हो जाता है और वह चारों ओर फैल कर उसकी सम्पत्ति और उसके सौन्दर्य को भस्मसात् कर डालता है। और जब वह एक बार भभक उठता है तब उस समय उसको शान्त करने के साधन मौक़े पर हाथ में नहीं रहते। ऐसी दशा में जहाँ तक सम्भव हो हमें उन छोटे छोटे झगड़ों को उनके प्रारम्भिकरूप में ही शमन करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। ईर्ष्या-द्वेष और नासमझी की एक-मात्र ओषधि न्याय और सदिच्छा ही है।

इस महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न की मीमांसा स्त्रियाँ, यदि वे चाहें तो, भले प्रकार कर सकती हैं। अमरीका के प्रधान न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश एच० क्लार्क महोदय ने इस सम्बन्ध में हाल में यही बात कही है। उनका कहना है कि इस काम को वहाँ की स्त्रियाँ बख़ूबी कर सकती हैं। निस्सन्देह यह प्रश्न अमरीका के आदर्शों के अनुकूल भी है। यही नहीं, किन्तु यह व्यावहारिक राजनीति का भी प्रश्न है।

अमरीका की स्त्रियाँ एक एक दो दो करके, नहीं सहस्रों और लाखों की संख्या में प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति को, स्टेट-सेक्रेटरी को, तथा राजसभा के अपने सदस्यों को अपनी सदिच्छा की सूचना भले प्रकार दे सकती हैं। वे उनसे दृढ़ता के साथ कह सकती हैं कि हमारा देश अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न की मीमांसा में व्यावहारिक भाग लेगा। वह उसकी मीमांसा छोटी छोटी बातों या व्यक्तिगत या दल-विशेष के प्रभाव के द्वारा नहीं होने देगा। और यदि छोटे छोटे मामलों का निपटारा आवश्यक प्रतीत होगा तो वे कह सकती हैं कि हमारी सरकार उन कठिनाइयों को हल करेगी, वह चुपचाप आलस्य में बैठी नहीं रहने पायगी, उसका कोई हीला-हवाला नहीं सुना जायगा।

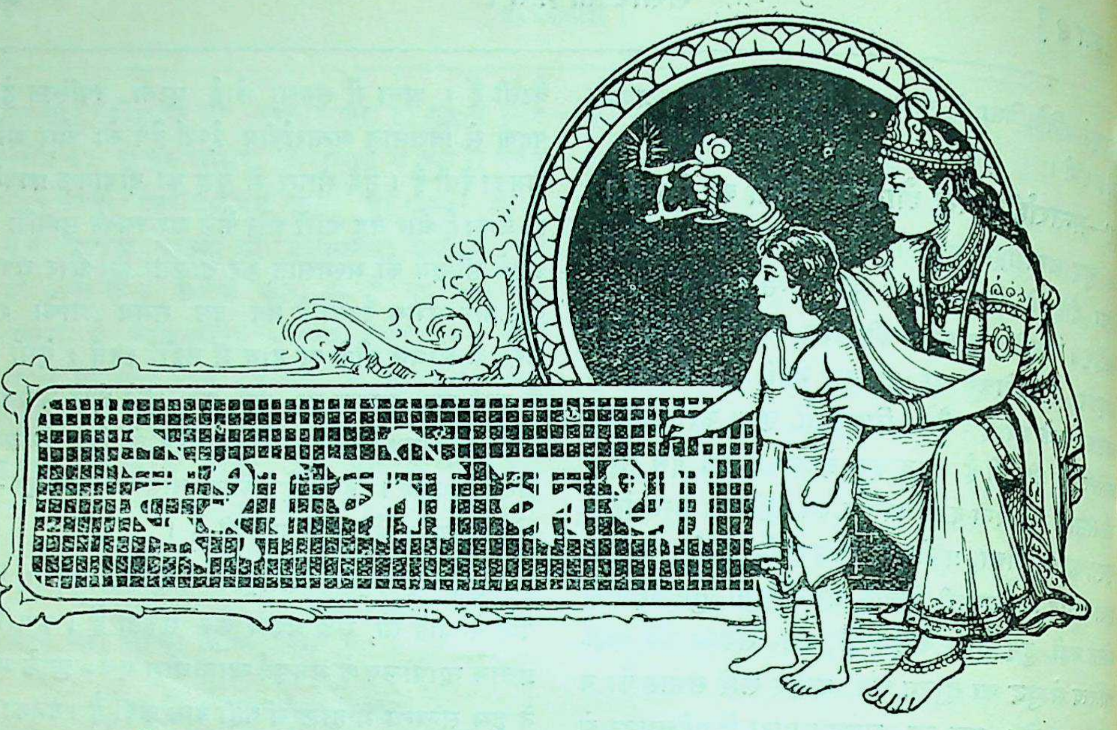

१—१९२१ ईसवी की मनुष्य-गणना।

हर दस वर्ष बाद मर्दुमशुमारी होती है। उस दफ़े १९२१ ईसवी में हुई थी। पिछली दफ़े १८ मार्च १९२१ को। इस मर्दुमशुमारी से सम्बन्ध रखनेवाली प्रान्तीय रिपोर्टें तो पहले ही निकल चुकी हैं और उन पर कुछ नोट भी सरस्वती में प्रकाशित हो चुके हैं। सार्वदेशिक रिपोर्ट अब कहीं निकली है। उसका सम्बन्ध सारे भारत से है। उसमें हँसने का मसाला कम, रोनेही का अधिक है। इस रिपोर्ट में लिखा है कि सारे भारत की आबादी ३१,८९,४२,४८० है। अर्थात् पिछली मर्दुमशुमारी से कुछ अधिक है। इस अधिकता का अनुपात फ़ी सदी १२ है। यदि जूड़ी, प्लेग, बुख़ार और इनफ़्लुयंज़ा इत्यादि को रोकने की यथेष्ट चेष्टा की जाती तो यह आधिक्य और भी अधिक हो जाता। कम से कम उतनी आबादी तो अवश्य ही बढ़ती जितनी १९०१ की अपेक्षा १९१० में बढ़ी थी। परन्तु ईश्वर को यह मञ्जूर न था। उसने शायद यह सोचा होगा कि आधे पेट रहने या भूखों मरने से रोगाक्रान्त होकर चल बसना ही अच्छा है। अस्तु—

राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।

धर्म्म के अनुसार आबादी का हिसाब रिपोर्ट के लेखक ने इस प्रकार बताया है—

हिन्दू	२१,६७,३४,५८६	अर्थात् फ़ी सदी ६८.५६
मुसलमान	६,८७,३५,२३३	,, २१.७४
क्रिश्चियन	४७,५४,०६४	,, १.५

बाक़ी और धर्म्मवाले—पारसी, बौद्ध, जैन आदि—हैं। कुल आबादी में से २८ करोड़ ६० लाख आदमी देहात में रहते हैं, केवल ३ करोड़ २० लाख शहरों और क़सबों में। अर्थात् सौ में कोई दस ही आदमी शहरों में रहते हैं और ९० रहते हैं देहात में। परन्तु इन ९० ही की अधिक दुर्दशा है। अतएव यह कहना चाहिए कि देश यद्यपि इन्हीं से आबाद है—यद्यपि इन्हीं के अस्तित्व से देश का अस्तित्व है—तथापि इन्हीं के सुखचैन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। न इनकी शिक्षा का काफ़ी प्रबन्ध है और न इनकी आरोग्य-रक्षा ही का है। इसी से पिछले दस वर्षों में बढ़ने के बदले ये कुछ घट गये हैं। उधर शहर में रहनेवाले ६ फ़ी सदी बढ़े हैं। क्योंकि सड़कों, अस्पतालों, दवाख़ानों, कल के पानी और बिजली या गैस की रोशनी के मुस्तहक़ वही समझे गये हैं!

किस धर्म्म के अनुयायी कितने बढ़े या घटे, इसका भी हिसाब सुन लीजिए। पहले देखिए, बढ़े कौन कितने हैं—

क्रिश्चियन	२२.७	सिक्ख	७.४	बौद्ध	७.६
पारसी	१.७	मुसलमान	३.१		

अब रहे अपने को सर्वश्रेष्ठ मानने वाले हिन्दू-देवता, सो वे बढ़े नहीं। वे तो उलटा कोई $\frac{१}{२}$ फ़ी सदी घट गये हैं। प्याज़ न खाएँगे, लहसुन न खायँगे, बिना स्नान किये अन्न-जल न ग्रहण करेंगे। फिर घटे कौन? घटने की उन्हें परवा भी नहीं; परवा है खाने-पीने में छानबीन करने की, फूँक फूँक कर पैर रखने की, चौके चूल्हे की, और छुवाछूत की। चाहे हिन्दू नाम निःशेष हो जाय; पर अपनी रहन-सहन में सुधार करने की वे मुतलक़ ज़रूरत नहीं समझते। धार्म्मिक जो ठहरे। पद पद पर धर्म्म की ठेंस जो उन्हें लगती है। फल भी इसका उन्हें लगे हाथ मिल रहा है। १८८१ ईसवी की मनुष्य-गणना में उनका अंश, कुल आबादी में, फ़ी सदी ७४ था। चालीस ही वर्ष में अब वे घट कर फ़ी सदी ६८ ही रह गये हैं। बेचारे करें क्या, लाचार हैं। चाहे हफ़्ते दो हफ़्ते भूखे रहें या कच्चे चने चाब कर रह जायँ, पर रेल या जहाज़ पर धार्म्मिक हिन्दू भोजन नहीं कर सकते। जैनी भी बहुत कुछ उन्हीं का पदानुसरण करते हैं। इस कारण वे भी, पिछले दस वर्षों में, फ़ी सदी ५$\frac{१}{२}$ के हिसाब से भी कुछ अधिक घट गये हैं। अलबत्ते आर्य्यसमाजी और ब्राह्मो ख़ूब बढ़े हैं। पहले ९२ फ़ी सदी और दूसरे १६ फ़ी सदी अधिक हो गये हैं। इसका कारण शायद यह है कि यह वृद्धि हिन्दुओं ही के एक अंश के कट कर मिल जाने से हुई है। और इसी लिए शायद हिन्दुओं की संख्या बढ़ने के बदले घटी है। तथापि उनके ह्रास के और भी कारण हैं। एक बात और भी है। हिन्दुओं में चार वर्ण के आदमी हैं। उनमें से सबसे अधिक ह्रास ब्राह्मण-देवताओं ही का हुआ है। यह बात ख़ूब याद रखने लायक़ है, विशेष कर काशी के धर्म्मशास्त्रियों के।

इस देश में जो ३१ करोड़ आदमी रहते या रह गये हैं उनमें से १६ करोड़ ४० लाख तो पुरुष हैं और १५ करोड़ ५० लाख स्त्रियां। बात यह कि स्त्रियां कम, पर पुरुष अधिक हैं। स्त्री-पुरुषों की संख्या में सब कहीं वैषम्य होता है ज़रूर; पर इतना नहीं जितना कि इस देश में है। स्त्रियों को यथेष्ट अच्छा भोजन न मिलने, बीमारी में दवा-पानी का ठीक प्रबन्ध न होने और प्रसूतिकाल में उनकी सेवाशुश्रूषा अच्छी तरह न की जाने ही का यदि यह फल हो तो आश्चर्य नहीं।

विवाहित स्त्री-पुरुषों की संख्या, १९२१ ईसवी में, ७ करोड़ १० लाख थी। १० करोड़ अपत्नीक और २$\frac{३}{४}$ करोड़ विधवायें भी थीं। क्वारों और क्वारियों की संख्या क्रमशः ८ करोड़ १० लाख और ५ करोड़ ५० लाख थी। विधवाओं की तफ़सील नीचे दी जाती है—

५ वर्ष से कम उम्र की	१५,१६९
५ से १० वर्ष तक की	१,०२,२९३
१० से १५ वर्ष तक की	२,७९,१२४
१५ से २० वर्ष तक की	५,१७,८९८

अधिक उम्र की विधवाओं की संख्या जान कर क्या कीजिएगा। जिनकी संख्या जानने से बालविवाह के पक्षपातियों का हृदय शीतल हो सकता है उन्हीं की तफ़सील देना काफ़ी है।

रह गई पढ़े लिखे आदमियों की संख्या। जनाबे मन शिक्षा ने अब इस देश में इतनी तरक्क़ी की है कि सौ में कोई ८ आदमी चिट्ठी या पोस्टकार्ड अपनी भाषा में गोदगाद लेते हैं। क्यों, हुई है न ख़ूब तरक्क़ी? आलिम-फ़ाज़िलों की बात हम नहीं कहते। इस हिसाब में वे ज़रूर शामिल हैं। पर उनका अनुपात दाल में नमक के बराबरही समझना चाहिए।

२—अफ़ीम की बिक्री।

इस देश की गवर्नमेंट यहाँ राज्य भी करती है और एक प्रकार का व्यापार या व्यवसाय भी करती है। इस व्यवसाय का सम्बन्ध शराब, गाँजा, भङ्ग, चरस, अफ़ीम आदि नशीली चीज़ों से है। नमक का भी इजारा गवर्नमेंट ने ही ले रक्खा है। अफ़ीम एक प्रकार का विष है। दवा के काम में वह ज़रूर आती है; परन्तु लोग उसे खाते भी हैं और हज़ारों लाखों आदमी खाते हैं। अफ़ीम खानेवालों का आरोग्य नष्ट हो जाता है; वे किसी काम के नहीं रह जाते; वे घर की चीज़-वस्तु तक बेचकर अफ़ीम खा जाते हैं। अन्त में उनकी अकाल-मृत्यु हो जाती है। ऐसी विषाक्त वस्तु यदि देश में कहीं न पैदा की जाय या आने न पावे तो देशवासियों के एक अंश-विशेष की असामयिक मृत्यु टल जाय और अन्य भी कितने ही लाभ हों। यही समझ कर अनेक सभ्य राज्यों ने, कड़े क़ानून बना कर, अफ़ीम की बिक्री बन्द कर दी है। वह केवल दवा के लिए ही, थोड़ी मात्रा में, मिल

सकती है। लीग आफ़ नेशन्स, अर्थात् संसार के भिन्न भिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों की सभा, ने मिल कर अफ़ीम की बिक्री रोकने का बहुत प्रयत्न किया है, और, सुनते हैं, उसका फल भी अच्छा हुआ है।

भारत में अफ़ीम अर्थात् पोश्त बोने और अफ़ीम बेचने का इजारा गवर्नमेंट ने ले रक्खा है। ख़ास ख़ास शर्तों पर काश्तकारों से वही पोश्त की काश्त कराती है और अफ़ीम तैयार होने पर मोल ले लेती है। उसने अफ़ीम की कोठियाँ क़ायम कर रक्खी हैं। वहाँ उसकी रासायनिक परीक्षा होती है। फिर बक्सों में बन्द होकर वह विदेश को, बिक्री के लिए, भेजी जाती है। अफ़ीम चीन में भी बहुत होती है। वहाँवाले बड़े अफ़ीमची हैं। अतएव भारत की अफ़ीम की खपत वहाँ सबसे अधिक है। इस व्यवसाय से गवर्नमेंट को करोड़ों रुपये की आमदनी होती है।

लीग आफ़ नेशन्स की आज्ञा है कि अफ़ीम की बिक्री का यथेष्ट नियन्त्रण होना चाहिए। भारतवासी भी यही चाहते हैं। इस कारण गवर्नमेंट पर, समय समय पर, दबाव भी डाला जाता है। गवर्नमेंट ने किसी हद तक दाद भी दी है। उसने अफ़ीम के दाम बढ़ा दिये हैं और उसकी काश्त कम कर दी है। वह कहती है, एकदम अफ़ीम की बिक्री बन्द कर देना अच्छा नहीं। धीरे धीरे अफ़ीम खाने की आदत छुड़ाना चाहिए। उसकी नीति यह है कि दाम बढ़ाते जायँगे। इससे आमदनी एक-दम ही न बन्द हो जायगी। जब क़ीमत बहुत अधिक हो जायगी तब लोग आपही अफ़ीम खाना छोड़ देंगे। सहसा बिक्री बन्द कर देने से खानेवालों को कष्ट भी पहुँचेगा और जो रुपया अफ़ीम की बिक्री से आता है वह भी न आवेगा। नतीजा यह होगा कि रुपये की कमी के कारण सरकार के और काम अच्छी तरह न हो सकेंगे। पर उसकी इस नीति का उद्देश सफल होता नहीं दिखाई देता। क्योंकि लोग अब भी अफ़ीम खाना नहीं छोड़ते।

गत वर्ष लीग आफ़ नेशन्स के मेम्बरों की चौथी बैठक हुई। उसमें नवानगर के जाम साहब, श्रीयुत हसन-इमाम और लार्ड हार्डिङ्ग भी शामिल थे। जो कमिटी अफ़ीम की बिक्री के नियन्त्रण का विचार करने के लिए सङ्गठित की गई थी उसने भारतीय अफ़ीम के विषय में कुछ प्रतिकूल आलोचना की। इस पर लार्ड हार्डिङ्ग ने, २३ सितम्बर १९२३ को, भारतीय गवर्नमेंट की तरफ़ से, अपनी सफ़ाई इस तरह पेश की—

भारत में अफ़ीम का महकमा प्रान्तीय गवर्नमेंटों के अधीन है। उन्होंने इस महकमे को भारतीय मन्त्रियों ही के सिपुर्द कर दिया है। ये मन्त्री प्रजा के ही प्रतिनिधि हैं। कौन्सिल में प्रजा-पक्ष के ही मेम्बरों की संख्या अधिक है। अतएव गवर्नमेंट की वर्तमान नीति में यदि वे लोग कुछ फेरफार करना चाहें तो ख़ुशी से कर सकते हैं। चाहे वे अफ़ीम की उत्पत्ति और बिक्री का और भी कड़ा नियन्त्रण कर दें, चाहे बिलकुल ही बन्द कर दें। उन्हें रोकनेवाला कौन है। आसाम में यह महकमा मन्त्रियों के अधीन नहीं। और सब कहीं अफ़ीम की बिक्री की ज़िम्मेदारी प्रजापक्ष के ही मुखियों पर है।

इसी अर्थ की द्योतक स्पीच देकर लार्ड हार्डिङ्ग अलग हो गये। उन्होंने अफ़ीम की बिक्री का पाप अथवा नियन्त्रण का पुण्य भारतीयों ही के मस्तक पर मढ़ दिया। इसमें सन्देह नहीं कि अफ़ीम का महकमा (Excise Department), जो गाँजा, भाँग, शराब आदि की भी देख भाल करता है, मन्त्रियों ही के अधीन है। उन्हें भी अब अपनी सफ़ाई पेश करना चाहिए कि क्यों वे, और कितने ही देशों की तरह, अफ़ीम का कड़ा नियन्त्रण नहीं करते? अथवा खाने के लिए उसकी बिक्री बन्द नहीं करते? जो आमदनी कम हो जाने के डर से वे ऐसा न करते हों तो और किसी मद से वे उसकी पूर्ति क्यों न करें?

३—आबकारी के महकमे की रिपोर्ट।

अफ़ीम, गाँजा, भङ्ग, चरस और शराब आदि बेचने और ठेकेदारों से बिक्री का रुपया वसूल करने तथा उन्हें बेचने की इजाज़त देने वग़ैरह का काम जिस महकमे के सिपुर्द है वह एक्साइज़ डिपार्टमेंट कहाता है। साधारण जन उसे महकमा परमट कहते हैं। उसके बड़े साहब कमिश्नर कहाते हैं। उन्होंने मार्च १९२३ तक के पिछले १२ महीनों की जो रिपोर्ट लिखी है वह और उस पर की गई लाट साहब की आलोचना दोनों ही प्रकाशित हुए अभी कुछ ही समय हुआ।

जैसा कई दफ़े लिखा जा चुका है, सरकार नशीली चीज़ों की बिक्री एक-दम नहीं बन्द करना चाहती। उसने उनकी क़ीमत और लैसंस-फ़ीस बढ़ा दी है, बिक्री की दुकानें भी कम कर दी हैं और बेचने के समय में भी कतर-ब्योंत किया है। पहले इन चीज़ों की दुकानें देर तक खुली रहती थीं। अब उतने समय तक नहीं रहतीं। उसने एक बात और भी की है। पहले गांजा, भङ्ग, शराब आदि बेचने का ठेका दिया जाता था। ज़िले ज़िले में नीलाम होता था—बोली बोली जाती थी। जो अधिक रुपया लगाता था वही ठेकेदार क़रार दिया जाता था। इस कारण ठेकेदार लोग नशीली चीज़ों की ख़ूब बिक्री करते थे। अब वह बात नहीं रही। अब सरकार चुने हुए मुअज़्ज़िज़ आदमियों ही को नशीली चीज़ें बेचने का लैसंस देती है। वही सब चीज़ों की बिक्री का निर्ख़ भी नियत कर देती है। ऐसा करने में वह ठेकेदार के मुनाफ़े का भी ख़याल रखती है और अपनी आमदनी का भी।

१९२१-२२ में इस महकमे की आमदनी कोई डेढ़ करोड़ रुपया हुई थी। १९२२-२३ में घट कर वह १ करोड़ ३४ लाख ही रह गई। अर्थात् कोई ९½ फ़ी सदी का घाटा रहा। देशी शराब की मद में १३ और अफ़ीम की मद में १ लाख रुपया कम आया। मगर ताड़ी और गांजा, भङ्ग, चरस की बिक्री से आमदनी, पिछले साल की अपेक्षा, कुछ अधिक ही हुई। सरकार को इस महकमे से जो आमदनी हुई वह यदि कुल सूबे के निवासियों में बांट दी जाय तो उसका औसत फ़ी आदमी ४ आने १० पाई पड़े। यह औसत पिछले साल के मुक़ाबले में १ पाई अधिक है। इसका कारण कमिश्नर साहब यह बताते हैं कि १९२१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार सूबे की जन-संख्या घट गई है। इसी से औसत में १ पाई बढ़ी है। यह बात नहीं कि नशीली चीज़ें पहले से अधिक बिकी हों।

देशी शराब, १९२१-२२ में, ५,७६,८८१ गैलन बिकी थी। पर रिपोर्ट के साल केवल ४,७३,०७७ ही गैलन बिकी। शुक्र है। इसलिए कि शादी-ब्याह के दिनों में भी नीच जाति के आदमियों ने कम शराब ख़र्च की। उन दिनों शराब की बिक्री सदा अधिक होती रही है। पर इस दफ़े नहीं हुई। इस पर कमिश्नर साहब की राय है कि शराब पीने की यह पुरानी चाल शायद अब बन्द होना चाहती है। कम से कम रिपोर्ट के साल वह स्थगित ज़रूर कर दी गई थी। सम्भव है यह बात असहयोगियों के सदुपदेश का फल हो। ईश्वर करे, यह सत्यानाशिनी चाल अब फिर न अपना सिर उठावे।

विदेशी शराब बेचने के लिए जो लैसन्स दिये जाते हैं उनसे, १९२१-२२ में, ९५,२८१ ही रुपये की आमदनी हुई थी। पर १९२२-२३ में १,१४,६७८ रुपये उससे प्राप्त हुए। कारण इसका लैसंस-फ़ीस का बढ़ जाना बताया गया है। पर क्या यह सम्भव नहीं कि देशी शराब की क़ीमत बढ़ जाने और बिक्री के घंटों का भी सङ्कोच न होने से कुछ लोगों ने विलायती ही शराब पी कर अपनी पिपासा शान्त की हो? क्योंकि वह स्टेशनों और होटलों वग़ैरह में बहुधा समय कुसमय पर भी मिल जाती है।

गांजा, भङ्ग, चरस आदि से बहुत ख़ासी आमदनी हुई। उससे ३७ लाख से ऊपर, रुपया आया। अर्थात् १९२१-२२ से भी कई हज़ार अधिक। याद रखिए भङ्ग कोई ४॥=) सेर और गांजा तथा चरस १००) सेर के हिसाब से बिकता है। परन्तु पीनेवालों ने इसकी भी परवा नहीं की। सम्भव है, बहुतों ने पेट काट कर भङ्ग छानी और चिलम फूँकी हो।

लुक-छिपकर देशी शराब ख़ूब बनाई गई। इस कारण सैकड़ों आदमियों पर मुक़द्दमे चले। उनकी संख्या पिछले साल से फ़ी सदी ९६ बढ़ गई। कोकेन खाने की आदत लोगों में बढ़ रही है। रिपोर्ट के साल इस सम्बन्ध में १५५ आदमियों का चालान हुआ और कोई १० सेर कोकेन पकड़ी गई। रही अफ़ीम सो वह कोई १६ मन बरामद की गई। परन्तु चोरी से अफ़ीम बेचने या रखनेवाले पहले की अपेक्षा कम पकड़े गये। १९२१-२२ में उनकी संख्या २६३ थी। रिपोर्ट के साल घट कर वह २३६ ही रह गई।

विविध विषय

१—आधुनिक युग का विशेषत्व।

कहा जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। यदि हम किसी युग के साहित्य पर दृष्टि डालें तो हमें उसमें तत्कालीन समाज की भावना मिल जायगी, हम जान लेंगे कि उस समय समाज का चिन्ता-स्रोत किधर बह रहा था। उसी से हम यह भी पता लगा लेंगे कि समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा था अथवा अवनति की ओर जा रहा था। उन्नतिशील समाज की आकाङ्क्षायें सदैव ऊँची होती हैं। वह विघ्न और बाधाओं को अतिक्रमण करने के लिए उद्यत रहता है। उसकी ज्ञान-लिप्सा बढ़ी रहती है और वह सत्य के अनुसन्धान में लगा रहता है। उसकी आशा भविष्य में रहती है। परन्तु जब समाज की मानसिक शक्ति का ह्रास होने लगता है तब वह अपने अतीत गौरव को ही दृढ़ता से पकड़ना चाहता है। वह भविष्य की चिन्ता छोड़ कर वर्तमान में ही सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी आकांक्षायें परिमित हो जाती हैं। एक सङ्कुचित क्षेत्र में ही वह अपने ज्ञान का विकास देखना चाहता है। उस क्षेत्र के बाहर जाने का साहस उसे नहीं होता। समाज की यही दो अवस्थायें हैं, एक उसकी तरुणावस्था कही जा सकती है और दूसरी उसकी वृद्धावस्था। वृद्धावस्था में समाज की दृष्टि अतीत में ही आबद्ध रहती है और तरुणावस्था में वह भविष्य की ओर देखता है। साहित्य में मर्यादा की रक्षा और प्राचीन परम्परा की अभिज्ञता वृद्धावस्था का फल है। तरुणों का शास्त्र है उनकी आशा, उनका आदर्श, उनकी आकाङ्क्षा और उनका उत्साह। वृद्ध सदैव प्राचीन शास्त्रों की दुहाई देते हैं। वे यही कहते रहते हैं कि देखो, इस पथ को आज तक किसी ने ग्रहण नहीं किया। अतएव यह दूषित पद्धति है। इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। परन्तु तरुण उनकी बात नहीं सुनते। फल न मिलने पर भी उनकी आशा नहीं टूटती, क्योंकि उनकी दृष्टि भविष्य की ओर लगी रहती है। इन्हीं दो अवस्थाओं में साहित्य की सृष्टि होती है। पहली अवस्था में ज्ञान की पुनरावृत्ति होती है और दूसरी अवस्था में नवीन ज्ञान का प्रचार होता है। पहला साहित्य परीक्षा करता है और दूसरा साहित्य सृष्टि करता है। एक समाज पर अवलम्बित होता है और दूसरे पर समाज को अवलम्बित होना पड़ता है। जो साहित्य समाज के भविष्य पथ को निर्दिष्ट करता है वही यथार्थ में अपने युग के विशेषत्व का द्योतक है। उसी में युग की उच्चतम आकांक्षा प्रकट होती है। वही उन आदर्शों की सृष्टि करता है जो समाज में प्रचलित होते हैं। आधुनिक युग में जो नवीन चिन्ता-स्रोत बह रहा है उसी की समीक्षा करने से हम आधुनिक युग का विशेषत्व जान सकेंगे।

आधुनिक युग की एक विशेषता प्रत्यक्ष है। वह है योरप का प्राबल्य। अतएव हम यहाँ पाश्चात्य विचार-परम्परा की समीक्षा करेंगे। सन् १८७० से १९१४ ईसवी तक का समय योरप के इतिहास में उन्नति का युग है। इस युग में जो वैज्ञानिक उन्नति हुई है, वह सर्वथा अद्वितीय है। राजनीति की दृष्टि से हम इसको साम्राज्यवाद का युग कह सकते हैं। 'अन्त में सदैव सत्य की विजय होगी' यह इस युग की प्रबल आशा रही है। मनुष्य-मात्र को ऐक्यभाव से प्रेरित करके कन्धे से कन्धे मिलाकर सार्वजनिक कल्याण के लिए काम करने का पाठ पढ़ाना इस युग का सबसे

बड़ा गौरव है। मनुष्य का हृदय पहले की अपेक्षा उदार है; पृथ्वी के एक कोने में होनेवाली घटना अब उसकी चहारदीवारी में आबद्ध नहीं रहती, बरन सारे संसार का आलोच्य विषय बन जाती है। समस्त विश्व का एक ही इतिहास बनने का श्रीगणेश हो गया है। किन्तु इस उन्नति का कारण क्या है? पाश्चात्यों की दृष्टि में इसका एक-मात्र कारण है योरपीय जातियों का सारे संसार पर अपना आधिपत्य जमा लेना और निरीह लोगों की संरक्षकता का भार उठाकर संसार का पथ-प्रदर्शक बनना। एक साधारण योरपियन इससे इतर कोई उत्तर नहीं दे सकता। अस्तु, यदि मनुष्य का हृदय सचमुच गम्भीर और विशाल हो रहा है, नागरिक के ज्ञान और सत्सङ्कल्प में वृद्धि हो रही है, मनुष्य-जाति की समस्त शक्ति अच्छी तरह विकसित हो रही है, तो इससे बढ़कर और कोई सन्तोष का विषय नहीं हो सकता। कहा जाता है कि कवि, नाट्यकार और औपन्यासिक अधिकाधिक अन्तर्जीवन की समस्याओं को सुलझाने में संलग्न हो रहे हैं, प्रत्येक प्रश्न के आध्यात्मिक अथवा मानसिक पहलू पर सबसे पहले विचार किया जाता है; सारांश यह कि योरप में मनुष्य के असली स्वरूप को समझने और आत्मा की समस्त शक्तियों को जाग्रत करने की बड़ी उत्कट इच्छा हो रही है। इस जिज्ञासा और विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि से योरप के भविष्य का अनुमान किया जा सकता है। विज्ञान तो एक-दम आशा से परिपूर्ण है, इसलिए योरप भी सर्वथा आशावादी है। किन्तु इस आशावाद के मधुर सङ्गीत को यदा कदा लाखों-करोड़ों गृह-विहीन श्रमजीवियों एवं पददलित और असहाय राष्ट्रों का भीषण चीत्कार अत्यन्त कर्कश बना देता है। गत योरपीय महायुद्ध ने तो इस आशावाद को एक बार जड़ से हिला दिया, साफ़ साफ़ यह प्रमाणित कर दिया कि जब स्वदेश-प्रेम के मनोमोहकरूप से आवृत होकर राष्ट्रीय स्वार्थ एक दूसरे से टकराते हैं तब हमारी हृदय की महत्ता और विशालता कुछ काम नहीं देती, हृदय घृणा का आह्वान करने लगता है, पाशविक वृत्तियों का ताण्डव-नृत्य होने लगता है, मानों मनुष्य साक्षात् पशु का रूप धारण करता है। गौराङ्ग जातियों का विस्तीर्ण साम्राज्य ही उनको युद्ध के लिए उत्तेजित करता है, एक दूसरे का कट्टर शत्रु बना देता है, उसके लिए वे अपना खून बहाते हैं और दूसरों का गला घोंटने के लिए तत्पर हो जाते हैं। सभ्यता—वैज्ञानिक सभ्यता—धराशायी होकर रक्तपिपासु मनुष्य-जाति के आगे क्षमा की याचना करती है। सारे वायु-मण्डल में साम्राज्यवाद का उन्माद, जातिगत घृणा, अन्तर्राष्ट्रीय ईर्ष्या के काले बादल छा जाते हैं। सभ्यता थोड़ी देर के लिए भग्नमनोरथ हो जाती है। मनुष्य अथवा राष्ट्र को सुन्दर और बीभत्स का ज्ञान हो, हर्ष और शोक से उसका हृदय उद्वेलित होता हो और समस्त मानसिक शक्तियाँ पूर्ण रूप से जाग्रत हों, किन्तु जब तक उसको अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता तब तक उसके उज्ज्वल भविष्य की आशा करना व्यर्थ है। दुर्भाग्यवश हमें अभी तक योरप के अन्तःकरण में कर्त्तव्य-ज्ञान के कोई शुभ लक्षण नहीं दिखाई देते। इस युग में सभ्यता की विचार-धारा के मुख्य मुख्य विभागों में क्या क्या उन्नति हुई है, यहाँ संक्षेप में उनका उल्लेख किया जाता है।

२—दर्शन की गति।

पाश्चात्य साहित्य में दर्शन के लिए फ़िलासफ़ी शब्द प्रयुक्त होता है। इसका मूल अर्थ है ज्ञान-लिप्सा। दर्शन-शास्त्र के विकास में इसी ज्ञान-लिप्सा ने, इसी जिज्ञासा ने काम किया है। हिन्दू शास्त्रकारों ने अधिकारियों को ही ज्ञान देने के लिए आदेश दिया है। ये अधिकारी जिज्ञासु ही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि किसी मनुष्य को किसी शास्त्र के जानने की इच्छा पहले से न हो तो वह उस शास्त्र के ज्ञान को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव दर्शनशास्त्र में सदा थोड़े ही लोगों का प्रवेश होता है। परन्तु दार्शनिक विचारों का प्रभाव कम नहीं होता। सच तो यह है कि जिन तथ्यों पर समाज का अस्तित्व निर्भर है उनका अस्तित्व दर्शन-शास्त्र पर अवलम्बित है। यहीं धर्म और दर्शनशास्त्र का सम्मिलन होता है, यहीं समाज-नीति और व्यक्ति-नीति का सामञ्जस्य होता है और यहीं राजनीति आचार-शास्त्र का अनुगमन करती है।

दर्शन की गति की विवेचना आगस्ट कोम्ट नामक

एक विद्वान् ने बड़ी सुन्दर रीति से की है। उसका कथन है कि शास्त्र का विवेचन पहले Theological पद्धति से होता है, फिर Metaphysical पद्धति से होता और अन्त में उसको Positive स्वरूप मिलता है। लोकमान्य तिलक ने गीता-भाष्य में इन पद्धतियों को आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक कहा है। आधुनिक दर्शनशास्त्र में अन्तिम पद्धति का अवलम्बन किया गया है।

कितने उदाहरणों की पृथक् पृथक् परीक्षा करके एक व्यापक सिद्धान्त पर पहुँचने की जो वैज्ञानिक प्रणाली प्रचलित की गई थी, इस युग में उसकी पूर्णरूपेण परिपुष्टि हो गई। किन्तु धर्मशास्त्र के विषय में अब भी बाह्य अनुभव की अपेक्षा अन्तः प्रेरणा ही सचाई का मुख्य स्रोत समझा जाता है।

कान्ट ने जो सबसे महत्त्वपूर्ण यह सिद्धान्त स्थिर किया था कि मनुष्य को स्वतः कर्त्तव्य का ज्ञान होता है, उस की प्रतिष्ठा ज्यों की त्यों बनी रही। ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण वस्तुओं के अस्तित्व और मूल्य निर्धारण के लिए मनुष्य का ध्यान पुनः एक सर्वव्यापक और अनन्त ईश्वर की ओर जा रहा है, गत महायुद्ध ने भी जीवन में आस्तिक भाव लाने में बहुत कुछ सहायता की है। किन्तु मौखिक प्रभाव के अतिरिक्त योरप के राजनीतिज्ञों पर कभी इस आस्तिक दर्शन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि साम्राज्य-वर्द्धन के महत् उद्देश में इससे सहायता की अपेक्षा रुकावट पड़ने की अधिक सम्भावना रहती है। अतएव ये लोग दर्शन-शास्त्र को केवल पण्डितों का खिलौना-मात्र समझते हैं। साधारण शिक्षित समुदाय भी इस प्रकार के आस्तिक दर्शन की ओर अधिक नहीं झुकते, क्योंकि उसमें प्राचीनता की गन्ध आती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि आज-कल जन-साधारण की प्रायः यह धारणा मालूम होती है कि जो कुछ प्राचीन है वह सब असत्य और अनुपयुक्त है, जो कुछ नवीन है वही सत्य और उपादेय है। किन्तु क्या सचमुच सचाई नवीनता और प्राचीनता पर निर्भर रहती है? प्रत्येक युग में हमको स्वयं सचाई का अनुसन्धान करना होगा। प्राचीन परम्परायें चाहे जितनी यथार्थ क्यों न हों, यदि वे केवल परम्परागत होने के कारण मान्य हो रही हैं तो हमको हानि के सिवा लाभ नहीं पहुँचा सकतीं। अरिस्टाटल के सभी सिद्धान्त तो असत्य थे नहीं, किन्तु जब लोगों ने बिना समझे-बूझे उनको दुहराना प्रारम्भ कर दिया तो बौद्धिक ह्रास प्रारम्भ हो गया। उसके थोड़े से काल्पनिक सिद्धान्तों को छोड़ कर अधिकांश तो इतने यथार्थ और भले प्रकार प्रमाणित थे कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी ने उनसे एक इंच आगे उन्नति नहीं कर पाई, यहाँ तक कि वर्तमान हीगल-वादियों ने केवल उनके मर्म की दूसरे प्रकार से ही मीमांसा कर दी है। असली बात यह है कि बिना समझे-बूझे बारम्बार किसी सिद्धान्त को रटते रहने से उसका वास्तविक अभिप्राय ध्यान से उतर जाता है। जो मस्तिष्क स्वयं किसी प्रश्न को हल नहीं करना चाहता, वरन् पूर्ववर्ती दार्शनिकों के तद्विषयक प्रतिपादित सिद्धान्तों को योंही अङ्गीकार कर लेता है, उसको सचाई का कभी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य को, प्रत्येक युग को स्वयं सचाई का अनुभव करना होगा।

३—धर्म की गति।

क्या व्यक्ति, क्या जाति, क्या समाज, क्या देश, सभी के लिए जो मङ्गलकर है, श्रेयस्कर है, वही धर्म है। धर्म निश्चेष्ट, निष्क्रिय, जड़, भाव-मात्र नहीं है। वह एक सजीव और सक्रिय चेतना-शक्ति है। समाज की स्थिति और मनुष्यों की एकता का मूल कारण धर्म है। परन्तु आधुनिक युग में धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति से हो रहा है, वह व्यक्ति-विशेष की कुछ धारणाओं का दूसरा नाम हो रहा है। प्रायः लोगों की यह धारणा होती है कि हमारे जीवन का विकास एक सीधी रेखा में हो रहा है, किन्तु अधिक ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि एक ही केन्द्र से भिन्न भिन्न दिशाओं में विकास की किरणें फूट रही हैं। धर्म की वैज्ञानिक परीक्षा होने के कारण धर्म के विषय में भी लोगों का साधारणतः यह मत हो रहा है कि शायद सबसे पहले मनुष्य ने भूत-प्रेत की पूजा करना सीखा, उसके बाद बहुत से देवी-देवताओं का विकास हुआ, फिर धीरे धीरे इन सब देवताओं का एक ब्रह्म के रूप में एकीकरण हो गया। किन्तु इस

प्रकार के विकास की कल्पना यथार्थ नहीं मालूम होती। वास्तव में कभी एक वृत्ति के बाद या उसके कारण दूसरी वृत्ति का विकास नहीं हुआ और न तीन में से कभी किन्हीं दो का परस्पर सम्मिलन हुआ। वास्तव में धर्म का सबसे पहला स्तम्भ है प्रेम, चाहे प्रेम अपने पड़ोसियों के प्रति हो चाहे अपने ईश्वर के प्रति। प्रेम के द्वारा ही मनुष्य स्वार्थ-त्याग करने के लिए तत्पर हो जाता है। प्रेम के वशीभूत होकर प्रार्थना करना मानो ईश्वर से वार्तालाप करना है। स्वार्थत्याग मानो प्रेम का जीता-जागता चित्र है। विकासवाद की कल्पना का यह तार बाँधा गया कि धर्म की उत्पत्ति सबसे पहले जादू से हुई है, जादूगर ने पुरोहित का रूप धारण कर लिया है और जादू के मन्त्रों ने ईश्वर की प्रार्थनाओं का। किन्तु क्या इससे बढ़ कर और कोई भ्रमात्मक विचार हो सकता है। न तो धर्म की उत्पत्ति जादू से हुई है और न विकास। हाँ, दोनों एक ही स्रोत से बह कर निकल रहे हैं, मनुष्य का हृदय दोनों का जन्मदाता है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य ने दोनों युक्तियों का आविष्कार किया है। अब हमको अनुभव-द्वारा ज्ञात हुआ है कि जादू या मन्त्र पढ़कर हम प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते, प्रत्युत उसका अनुसरण करके, उसके नैसर्गिक नियमों का पालन करके सहज में उसको अपना आज्ञानुवर्त्ती बना सकते हैं। इसी प्रकार अपनी इच्छा के ज़ोर से नहीं, बरन ईश्वरीय इच्छा का पालन करके मनुष्य परम शान्ति लाभ कर सकता है। यही धर्म का असली रहस्य है।

देह और आत्मा, इन दोनों से मनुष्य का जीवन है। जिस प्रकार अन्न से देह पुष्ट होती है, उसी प्रकार धर्म से आत्मा की पुष्टि होती है। धर्म आत्मा को सबल कर मनुष्य-जीवन से सम्पूर्णता की ओर लेजाता है। धर्म-हीनता आत्मा की दरिद्रता है। पृथ्वी का समस्त ऐश्वर्य धर्म-हीन आत्मा की इस दरिद्रता को दूर नहीं कर सकता। धर्म का पथ सुविधा-जनक नहीं है। हम लोग प्रायः सर्वत्र सुविधा ही खोजते हैं। इसी लिए धर्म के पथ को भी सरल बनाने की चेष्टा की जा रही है। परन्तु यह तो 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' है। यह तो साधना का पथ है। इसमें निष्ठा और प्रेम चाहिए। व्यावहारिक नीति यहाँ सफल नहीं हो सकती।

४—काव्य की गति।

उन्नीसवीं शताब्दी की कविता में प्राचीन काल की कविता की अपेक्षा अर्थ-गाम्भीर्य अधिक है। उसका अधिकांश भाग मनुष्य के असली मर्म और प्रकृति की पर्यालोचना से आविर्भूत हुआ है। तात्कालिक योरप की दो विशेषतायें, एक विज्ञान की उन्नति और दूसरी प्रजातन्त्र शासन का विकास, काव्य में सर्वत्र दृष्टि-गोचर हो रही हैं। इनके अनुभव के लिए गत साठ वर्षों के केवल फ़्रेंच काव्य का अध्ययन करना पर्याप्त होगा; क्योंकि विद्वानों की सम्मति में फ़्रांस योरप का साहित्यिक केन्द्र है, मानो योरप की मानसिक अवस्था का पता लगाने के लिए सबसे अच्छा थरमामीटर है। स्वयं उसका मस्तिष्क भी इतना अधिक उपजाऊ है कि योरप में नये नये विचार और फ़ैशन फैलाने का ठेका एक प्रकार से उसी को मिला हुआ है। इतना ही नहीं, फ़्रेंच की प्रत्येक राष्ट्रीय कविता में फ़रासीसियों की अप्रतिम और जन्मसिद्ध वीरता की छाप लग रही है। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि सन् १८६० से १८८० तक फ़्रांस में जिस कोटि के कवियों का विकास हुआ है, उनके प्रभाव की झलक तात्कालिक योरपीय साहित्य में सर्वत्र पाई जाती है। ये कवि अधिकतर विज्ञान के भावों का अनुसरण करते थे। काव्य की सार्थकता का यह अर्थ था कि कवि संसार के सौन्दर्य और अनिवार्य विनाश को अधिक से अधिक सचाई, यथार्थता और आत्मविस्मृति के साथ अङ्कित कर सके। एक दूसरी ही कोटि के कवि, जिन्होंने स्वतन्त्रता और सचाई की खोज करना अपना उद्देश ठहराया था, अन्त में विचारहीन भावुकता, अज्ञेय स्फूर्ति और अन्ध कल्पना के ऐसे चक्कर में पड़े कि अपने उद्देश को ही भूल बैठे। मिल्टन के काल से लेकर आज तक उपर्युक्त फ़्रेंच कवियों के अतिरिक्त उत्कृष्ट पाण्डित्य एवं निष्कलङ्क कला के आधार पर रचना करनेवाले और कोई कवि नहीं हुए हैं, वर्ड्सवर्थ की अपेक्षा इन कवियों ने कहीं अधिक आवेग-शून्यता से विज्ञान के अनुसार अपने भावों को अभिव्यक्त किया है। एक विद्वान् का

कथन है कि एक उच्च कवि और एक निर्दोष कला-विशारद में रत्ती भर अन्तर नहीं है, दोनों एक हैं। एक उच्च कवि अपनी वर्णनशैली के चमत्कार से संयत बुद्धि के द्वारा अपने शब्द और सङ्केतों के अगाध भाण्डार का उपयोग करता हुआ किसी भी विषय को महत्ता प्रदान कर देता है। इनका सिद्धान्त था कि शब्द-कोष और शब्द-विन्यास की मनमानी सामग्री होने से प्रत्येक विषय सुन्दर रूप में व्यक्त किया जा सकता है। उस समय वैज्ञानिकों का भी यह कहना था कि प्रयोग और गणना की प्रचुर सामग्री होने से प्रत्येक समस्या की ठीक ठीक मीमांसा की जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं, व्यक्तिगत भावनाओं और मौलिक वैचित्र्य के बहिष्कार से, नैसर्गिक काव्य के बहुत से जौहर लुप्त हो गये, किन्तु केवल हृदय पर अवलम्बित न होने वाली एक स्वतन्त्र शान्ति की खोज से इन कवियों ने अपनी प्रतिभा के द्वारा उस छवि का दर्शन कराया जिसको हमने पहले कभी नहीं देखा था। विज्ञान की भांति तात्कालिक काव्य भी पाश्चात्य धर्म से शून्य और कुछ अंशों में उसका विरोधी है। उस समय लोगों का विश्वास लुप्त हो रहा था; अतएव देवताओं का अस्तित्व ही लोप हो रहा था। इसी विशाल घटना को लेकर उन्होंने गम्भीर, भयङ्कर, किन्तु सौंदर्यमय काव्य का निर्माण किया है।

सत्रहवीं शताब्दी के पहले साधारणतः लोगों के हृदय में एक अक्षय शान्ति और रक्षा का साम्राज्य जमा हुआ दिखाई देता था, किन्तु उसके अन्तिम काव्य में दुःखमय स्वप्न की भांति एक अजीब घबराहट परिलक्षित हो रही है। क्योंकि उनका संसार उनकी समझ से कहीं बड़ा, कहीं जटिल, कहीं प्रबल हो रहा था। न धीरवीर वैज्ञानिक ही उसका पार पा सकते हैं और न कला-निष्णात अथवा साहित्य-मर्मज्ञ ही उसके वास्तविक स्वरूप की एक झलक हमको दिखा सकते हैं। हम धीरे धीरे प्राकृतिक क्षेत्र से मानसिक क्षेत्र की ओर अग्रसर होते हैं, मनोविज्ञान का पद और महत्त्व बढ़ने लगता है। विज्ञान की प्रतिस्पर्द्धा में एक आदर्शवाद अथवा सङ्केतवाद का जन्म होता है। विज्ञान को हार मान कर यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह तो केवल दृश्य-मात्र का अवलोकन करके कामचलाऊ सिद्धान्त स्थिर कर सकता है, संसार के असली रूप को समझने और समझाने की शक्ति उसमें बिलकुल नहीं है। सङ्केतवादियों को बाहर और भीतर अगोचर शक्तियों का अनुभव होता था, किन्तु वे भाषा के द्वारा उनका वर्णन नहीं कर सकते थे। पर उनको ये अज्ञात शक्तियां उन तथ्यों की अपेक्षा जिनको हम कान से सुनते हैं, हाथ से छूते हैं, कहीं अधिक सच मालूम होती थीं। ये शक्तियां विराट् और सर्वथा अज्ञेय थीं, केवल एक अस्पृश्य आत्मा सङ्केतों और इशारों से हम से बातचीत करती हुई मालूम होती थी। कभी कभी इनका अतुलनीय सौन्दर्य, जो फूट फूट कर प्रत्येक फूल में से निकल रहा है, हमको बिलकुल तन्मय कर देता है। किन्तु इस सौन्दर्य का केवल रसास्वादन-मात्र किया जा सकता था, वर्णन नहीं। हम स्वयं अपनी ऐसी मानसिक परिस्थितियों का विश्लेषण नहीं कर सकते थे। हमको सौन्दर्य और चमत्कार का अनुभव अवश्य होता था, किन्तु अपूर्ण। इस जगत् के आधारभूत एक और अस्पृश्य किन्तु अधिक सच्चा संसार है, जिसका हम इन इन्द्रियों के द्वारा अनुभव नहीं कर सकते। केवल सङ्केत, प्रतिमा, चित्र आदि के सङ्केतों के द्वारा उसका थोड़ा बहुत ज्ञान हो सकता है। कवियों ने सिद्ध किया है कि ऐसे अनुभव शब्दों-द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं, किन्तु उनके अर्थ से नहीं, वरन उनके रङ्ग-ढङ्ग, स्वर, लय, ताल, ध्वनि, आलाप अथवा योजना में ही उस अनुभव की किरण दिखाई दे सकती है। हमारी संवेदनाओं के कैसे कैसे प्रभाव और सङ्केत हो सकते हैं, इनका आविष्कार करने में निस्सन्देह ये सङ्केतवादी सर्वप्रथम थे। प्राकृतिक दृश्य को भी वे आत्मा की एक अवस्थाविशेष मानते थे। वे अपने इस प्रकार के आध्यात्मिक जीवन के द्वारा सचाई का अनुभव करना चाहते थे। दार्शनिकों ने इनको विनाशवादी के पद से विभूषित किया है; वास्तव में, इनमें कुछ तो अवश्य इस पद के सर्वथा उपयुक्त थे।

बीसवीं शताब्दी के काव्य को किसी एक परिभाषा के अन्तर्गत लाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमें अधिकतर विरोधी विचार-धाराओं का सम्मिलन हुआ है। विज्ञान के साथ इसकी पूर्ण सहानुभूति है। इसका क्षेत्र दृश्य-मात्र

जगत् है, इसमें एक आदर्श की कल्पना की गई और उसका उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। आदर्श मनुष्य-जीवन में है, मनुष्य के उत्तरोत्तर विकास में है, स्थूल जीवन के अटूट प्रेम में है, कर्म-क्षेत्र के उद्योग में है, ज्ञान के चमत्कार में है, निरन्तर जीवन-धारा के अन्तर्लीन होने में है। स्वतन्त्रता की पुकार—जिसकी तराज़ू से संसार की और सब वस्तुयें तोली जाती हैं, जिसके विषय में वाल्ट-ह्विटमैन ने कहा है कि वहां पहुँच कर नवजीवन अनन्त हो जाता है, बलवान् का उत्थान और निर्बल का पतन—जिसकी घोषणा किपलिंग ने 'पूर्व और पश्चिम कभी नहीं मिल सकते' इस मूलमन्त्र के द्वारा की है, राष्ट्रवाद—जिससे उच्च श्रेणी के कवियों को अच्छी स्फूर्ति मिली है, और प्रजातन्त्र-वाद—जिसके द्वारा विलियम मारिस और वाल्ट-ह्विटमैन ने जनता को आशा की किरण दिखाई है—यही तथ्य बीसवीं शताब्दी के काव्य के जीवन-प्राण हैं।

५—इतिहास की गति।

एक शताब्दी पहले बर्लिन के विश्वविद्यालय में वैज्ञानिक प्रणाली से इतिहास का अध्ययन करना प्रारम्भ किया गया था। इस क्षेत्र में प्राचीन पूर्वी सभ्यता का आविष्कार सबसे महत्व-पूर्ण है। इसके पहले पाश्चात्य विद्वान् समझे बैठे थे कि ग्रीस और रोम की सभ्यता आदिम सभ्यता है, किन्तु अब उनको पता चला है कि इनके पहले कई सभ्यतायें संसार में जन्म ले चुकी थीं, यूनान और रोम की सभ्यतायें उनकी उत्तराधिकारी-मात्र कही जा सकती हैं। टाइग्रिस और यूफ़्रेटीज़ नदियों के बीच में जो देश स्थित है, कोई पचास वर्ष पहले उसके इतिहास के विषय में एक बात भी ज्ञात न थी। किन्तु आज अनुमान से उस देश के इतिहास का एक सुसम्बद्ध ढांचा तैयार किया जा सकता है। जो जो सरकारी काग़ज़, न्यायाधीशों के फ़ैसले, क़ानूनी कार्रवाई-सम्बन्धी काग़ज़-पत्र प्राप्त हुए हैं उन्हें देख कर हमें चकित होना पड़ता है, क्योंकि वे वर्तमान समुन्नत कार्यप्रणाली से टक्कर लेते हैं। तात्कालिक धर्म, विज्ञान और कला से उस सभ्यता की महत्ता प्रदर्शित हो रही है। अनुमान से हज़ार दो हज़ार वर्ष पहले इस सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ होगा। प्राचीन काल में योरप की यह पक्की धारणा थी कि इसराइल की सभ्यता प्राचीनतम और सर्वाङ्गपूर्ण सभ्यता थी, किन्तु बैबीलोनिया की सभ्यता का पता लग जाने से वह भ्रम मिट गया, क्योंकि बैबीलोनिया की सभ्यता प्राचीन भी है और व्यापक भी है। इसरायल की सभ्यता ने इसी से धर्म-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण की होगी, इसमें सन्देह नहीं है। विद्वानों ने कई वर्षों के कठिन परिश्रम से बैज़ंनटाइन नगर को भी, जो कि पूर्वीय रोमन-साम्राज्य की राजधानी था, अँधेरे से निकाल कर सूर्य के प्रकाश में खड़ा किया है। यह वही देश है जिसने पश्चिमीय और मध्य योरप को, जब वह जङ्गलीपन में डूब रहा था, अरबों और तुर्कों के आक्रमण से बचाया था, जिसने सैकड़ों धुरन्धर राजनीतिज्ञ और पण्डित पैदा किये हैं, जिसने स्लाव जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाया था। एक दो नहीं, इस प्रकार के सैकड़ों चमत्कारिक आविष्कार और अनुसन्धान हो रहे हैं। किन्तु इनके लिए अगाध पाण्डित्य, विचार-पूर्ण कल्पना और सूक्ष्म आलोचना के अतिरिक्त पक्षपातरहित अध्यवसाय तथा दृढ़ता की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यदि निष्पक्ष बुद्धि न हुई तो काम मिट्टी में मिल जाता है। कुछ ऐसे विद्वान् हैं कि वर्तमान काल के अतिरिक्त अन्यत्र महत्ता देखना उनकी कल्पना से बाहर है। कितने ही लोग विदेशी सभ्यता की घटना नहीं देख सकते। कुछ लोग धार्मिक विद्वेष से दूसरे धर्मों का बीभत्स चित्र अङ्कित करते हैं। क्या यह सब रागद्वेष का परिणाम नहीं है? एक विद्वान् ने प्राचीन काल के इतिहास के अध्ययन में वर्तमान रागद्वेषों से काम लेना सर्वथा अनर्थकारी बतलाया है। किन्तु जोशीले देश-प्रेमी इतिहासाध्ययन की इस शान्तिमय प्रणाली को एक-दम अपर्याप्त समझते हैं। उनकी सम्मति में इतिहासकारों का यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वे अपने अपने देशवासियों को वर्तमान राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में सहायक और उत्तेजक हों। यदि वास्तव में, इतिहासकारों का कर्त्तव्य राष्ट्र को कार्य के लिए उत्तेजित करना है तो उपर्युक्त विद्वान् की गणना उच्च कोटि के इतिहासकारों में नहीं हो सकती; किन्तु यदि इतिहास का सर्वोच्च उद्देश है सचाई के साथ मनुष्य-जाति के उद्योगों के हाल ज्ञात करना, तो ऐसे ही विद्वान् अवश्य सबसे बड़े इतिहासकार कहलायँगे।

इतिहास का क्षेत्र भी दिन प्रति दिन विस्तीर्ण होता जाता है, मनुष्य-जीवन के प्रत्येक पहलू का अवलोकन करना उसका कर्त्तव्य हो गया है, मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर निरन्तर दृष्टि रखना ऐतिहासिक का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। मनुष्य पर प्रकृति का क्या प्रभाव पड़ रहा है, अर्थ-सम्बधी घटनाओं का उसके लिए क्या मूल्य है, कौन कौन नये नये विचार प्रकट हो रहे हैं, प्राचीन विचार किस प्रकार नया परिधान धारण कर लेते हैं, विज्ञान और कला, धर्म और दर्शन, साहित्य और सङ्गीत से क्या सहायता मिल सकती है, मनुष्य को दैनिक जीवन में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, सर्वसाधारण का जीवन सुखमय है या दुखमय, आदि बातें इतिहास का आलोच्य विषय हैं। इतिहासज्ञ भी एक आदमी है, साधारण आदमी की भाँति उसमें भी राग-द्वेष हो सकते हैं, उसमें भी अपने देश के प्रति उत्कट अनुराग हो सकता है। किन्तु यदि उसको सच्चा ऐतिहासिक बनने की अभिलाषा है तो राग-द्वेष और पक्षपात को समूल अपने हृदय से निकाल देना चाहिए, तभी उसका सचाई के मन्दिर में प्रवेश करना सम्भव हो सकता है। वर्तमान समय में योरप की विभिन्न जातियों ने जो इतिहास लिखे हैं उन्हें पढ़ते समय यह बात हम को सदैव ध्यान रखनी चाहिए कि योरपीय महायुद्ध ने केवल बेलजियम और फ़्रांस के उपजाऊ खेतों का ही सत्यानाश नहीं किया है, बरन विद्या और कला के क्षेत्र को भी खूब उजाड़ा है। युद्ध में भाग लेनेवाले देशों के प्रायः सभी ऐतिहासिकों की समता-बुद्धि लुप्त हो गई है, उन्होंने स्वयं कोई न कोई पक्ष ग्रहण कर लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता के बिना न तो विज्ञान की ही उन्नति हो सकती है और न इतिहास की। सत्य की खोज के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की परमावश्यकता होती है। किन्तु तोपों की भयानक झन-कार में इसका रहना कठिन हो जाता है। कुछ संयत-बुद्धि इतिहासकारों को छोड़ कर बहुत कम इतिहासकारों ने अपने मित्रों की निर्बलता दिखाने में स्पष्टवादिता और शत्रुओं के व्यवहार के वर्णन में उदारता से काम लिया है। शान्त वायुमण्डल में ही सत्य की खोज उत्तम रूप से हो सकती है।

६—अर्थ-शास्त्र की गति।

अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त अब बहुत व्यापक हो गये हैं। उसका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। राजनीति और समाज-नीति से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। आज-कल जितने आन्दोलन होते हैं उनके मूल में अर्थ-शास्त्र के व्यापक सिद्धान्त काम करते हैं। प्रायः देशहित के लिए जितने आन्दोलन होते रहते हैं उनको जनता स्वयं अपनी इच्छा से उठाती है। गवर्नमेंट न तो उनको उचित ही समझती है और न उनके सञ्चालन में योग ही देती है, स्वयं ऐसे आन्दोलनों को उठाना तो बड़ी दूर की बात है। अतएव उनकी बहुमूल्य सफलताओं से गवर्नमेंट का कोई सम्पर्क नहीं। यद्यपि राजनीतिज्ञों की यह सतत इच्छा रहती है कि गवर्नमेंट सामाजिक सुधार के काम से उदासीन न रहे, बरन स्वयं उसकी प्रवर्तक बने। किन्तु अभी तक इस प्रकार की गवर्नमेंट मरीचिका के समान कल्पना में विद्यमान है। वर्तमान गवर्नमेंटों का काम है जनता के व्यवस्थित सङ्गठनों की माँगों को सुन लेना और जो सफलतायें उन्होंने प्राप्त कर ली हैं उन पर चुपचाप अपनी स्वीकृति दे देना। यही उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक आन्दोलनों की उल्लेखनीय विशेषता है। भारतवर्ष के विषय में यह बात और भी अधिक सचाई के साथ चरितार्थ हो रही है।

७—प्राणि-शास्त्र की गति।

डारविन आदि वैज्ञानिकों का मत था कि विकास-मार्ग में प्राकृतिक निर्वाचन का सिद्धान्त सर्वत्र उपयुक्त होता है। इसकी व्यापकता में लोगों को कुछ दिनों से सन्देह हो रहा है, क्योंकि विकास-शृङ्खला में बहुत सी उल्लेखनीय कड़ियाँ छूटी हुई हैं, जिनका अभी तक कोई पता नहीं चलता है। विशेषकर मनुष्य के आदिम स्वरूप से लेकर वर्तमान स्वरूप तक की जो विभिन्न अवस्थायें कल्पित की गई थीं वे ठीक ठीक प्रमाणित नहीं हुई हैं; जिनको हम पहले मनुष्य का पूर्वज समझते थे वे एक प्रकार से सहयोगी सिद्ध होते हैं। वास्तव में मनुष्य-विकास की समस्या उतनी जटिल प्रतीत नहीं होती जितनी हम पहले समझते थे। प्राणि-शास्त्र का सबसे बड़ा प्रश्न कि प्राण का असली स्वरूप क्या है और उसका असली

उद्देश क्या है, अब भी बिलकुल हल नहीं हुआ है। पहले विज्ञान का भिन्न भिन्न शाखाओं में अध्ययन करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था, किन्तु अब प्रवृत्ति यह हो रही है कि ये शाखायें भिन्न भिन्न होती हुई भी सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं, बिना एक दूसरे की सहायता के किसी भी शाखा की समस्यायें ठीक तरह से हल नहीं हो सकतीं। ज्यों ज्यों विद्या का भाण्डार बढ़ता जाता है, त्यों त्यों इस सीधे-सादे शरीर की जटिलता बढ़ती जाती है, यद्यपि विभिन्न भागों की कार्य्यप्रणाली अधिकाधिक समझ में आती जाती है, किन्तु उनका आधार—प्राण—वास्तव में क्या वस्तु है, यह विद्वानों की समझ में अभी तक नहीं आया है। इस केन्द्रीभूत समस्या के हल न होने का एक कारण यह मालूम होता है कि शारीरिक प्राण समस्त शारीरिक भागों की क्रियाओं का समुदायरूप नहीं है। यद्यपि प्रत्येक विभाग की क्रिया जड़ जगत् के नियमों से सिद्ध की जा सकती है, किन्तु एक सजीव शरीर में उनका इस प्रकार सम्मिलन होता है कि उसकी पूर्णता और स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, वे व्यष्टि के केवल अङ्ग-मात्र रह जाते हैं और वह व्यष्टि अङ्गों का केवल समुच्चय-मात्र नहीं है, वरन उसमें एक आत्मा है, और उसके समस्त अङ्ग उसकी अधीनता में अपना अपना काम करते हैं। सम्प्रति प्राणि-शास्त्र के अन्वेषणों का सबसे बड़ा उद्देश यह है कि किसी प्रकार जड़ और चेतन जगत् के बीच की भयङ्कर खाईं भर जाय। इसकी पूर्ति के लिए तीन प्रकार की कल्पनायें की जा रही हैं। पहली जड़वाद की कल्पना है कि जड़ और चेतन में कोई वास्तविक भेद नहीं है, केवल इतना अन्तर है कि एक सादा है और एक जटिल। एक दूसरी कल्पना यह है कि शरीर के जड़ कल-पुर्ज़े एक चेतन शक्ति के द्वारा, जो जड़ से सर्वथा भिन्न है, चलाये जाते हैं। तीसरी कल्पना है कि जड़ और चेतन दोनों एक ही शक्ति के दो पहलू हैं। इतने दिनों के परिश्रम से प्राणि-शास्त्र की सबसे बड़ी समस्या का रूप स्पष्ट हो गया है। गत साठ वर्षों की वैज्ञानिक उन्नति का शायद सबसे बड़ा परिणाम यह है कि उसने हमारे सामने एक अनन्त क्षेत्र खोल कर रख दिया है, जिसकी हमको खोज करनी है।

८—कला की गति।

हमें कलाओं से क्यों इतना अधिक प्रेम है? क्योंकि उनसे महारा जीवन व्यापक बनता है। हमारा जीवन तभी अधिक व्यापक होता है जब हम अधिक से अधिक लोगों से विचार-परिवर्तन करते हैं, अन्तःकरणों से अन्तःकरणों का अधिकाधिक सम्मिलन होता है, तब हम सबमें एकही आत्मा की वाणी सुनाई देती है। कलाविशारद अपनी कला के द्वारा किसी विशिष्ट जन-समुदाय से बातचीत नहीं करता, किन्तु सम्पूर्ण मनुष्य-जाति से। वह हमसे अपनी चर्चा नहीं करता है, किन्तु उस समष्टि आत्मा का दर्शन हमको कराता है जिसकी न्यूनाधिक अनुभूति उसको होती है। कला और सदाचार का क्या सम्बन्ध है, यह पेचीदा प्रश्न कभी कभी बड़ी कठिनाई उपस्थित करता है। यद्यपि कला का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथापि वह नैतिक विद्याओं में परिगणित नहीं हो सकती। कलाविशारद इस उद्देश से अपनी कृति लेकर हमारे सामने उपस्थित नहीं होता कि वह कुछ हमारा भला करना चाहता है, यह कहना कि उसको ऐसा उद्देश रखना चाहिए, सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि यदि वह अपना यही उद्देश बना ले तो उसकी कला का सौन्दर्य बहुत कुछ नष्ट हो जाय। कला का उद्देश और भलाई करने की इच्छा साथ साथ नहीं चल सकती। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि कला से कोई भलाई नहीं हो सकती, प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि अपने सामने भलाई का उद्देश न रखने से वह अज्ञात रूप से हमारी कहीं अधिक भलाई कर सकता है।

कुछ समय पहले एक विदुषी ने आधुनिक कला के सम्बन्ध में यह लिखा था कि कलाओं में सम्मिलन हो रहा है। यह मिलन कितने सुन्दर ढङ्ग से हो रहा है यह कलकत्ता की नवीन चित्रकला-पद्धति से विदित होता है। अवनीन्द्र-नाथ ठाकुर ने प्राचीन भारतीय पद्धति का अवलम्बन अवश्य किया है, परन्तु पाश्चात्य सङ्घर्षण से ही यह भाव जाग्रत हुआ है। पाश्चात्य और भारतीय में पार्थक्य अवश्य है, परन्तु सम्मिलन से इनके आदर्श नष्ट होने के नहीं। विचारशील विद्वान् स्वीकार करेंगे कि आदर्शों के विच्छेद से विपत्ति की सम्भावना है। यदि प्राच्य देश की ध्यान-

परायणता अथवा पाश्चात्य देश की शिल्प-निपुणता अति हो जाय तो उससे दुर्गति ही होती है। यही बात सङ्गीत के विषय में कही जासकती है। भिन्न भिन्न जातियों के संयोग से ही इसकी श्री-वृद्धि हो सकती है।

९—सङ्गीत की गति।

योरप की ललित कलाओं में सङ्गीत-कला सबसे नई है, इसके जन्म को शायद ५०० वर्ष से अधिक न हुए हों। जिस समय भारतीय सङ्गीत-कला का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, उस समय योरपीय सङ्गीत का जन्म हुआ था। योरपीय सङ्गीत दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक ध्वनि-सङ्गीत, जिसमें गानेवाला केवल शब्दों की ध्वनि के अलाप से श्रोताओं को मोहित करना चाहता है और दूसरा सङ्गीत, जिसमें शब्दों के अर्थ या अभिप्राय, नाटकीय हावभाव या कटाक्ष के द्वारा श्रोताओं पर प्रभाव डाला जाता है। दूसरे प्रकार के सङ्गीत में लोगों की परिष्कृत बुद्धि ने सङ्गीतकार का यह कर्त्तव्य बना दिया है कि वह अपने सङ्गीत में चुन चुन कर ऐसे शब्द रक्खे जो न केवल गाते समय मधुर मालूम हों किन्तु साधारण पाठक को पढ़ते समय भी कर्णकटु न लगें। सङ्गीत-प्रेमियों की कल्पना और विद्वत्ता का बहुत विकास हो जाने के कारण सङ्गीत का साहित्य एवं अन्य ललित-कलाओं से दिन प्रति दिन गहरा सम्बन्ध होता जाता है। मधुर सङ्गीत और उत्तम शब्द-योजना से जो रस पैदा होता है उसकी टेनीसन ने बड़ी प्रशंसा की है। उदाहरण के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाने के उद्देश से जिन कविताओं का निर्माण किया है उनमें उक्त रस पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। किन्तु यह सब होने पर भी केवल सङ्गीत के द्वारा—केवल ध्वनि-सङ्गीत के द्वारा ही किसी गायक की सफलता या असफलता पाई जा सकती है। गायक इसके अतिरिक्त अन्य गुणों से श्रोताओं को भले ही अपनी ओर खींच ले, किन्तु वह एक सफल गायक नहीं कहला सकता। सङ्गीत के सहायक गुणों में वृद्धि होने के कारण लोगों का विचार है कि हमारे सङ्गीत-स्रोत पहले की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण हो गये हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या उतने गहरे भी हुए हैं। यदि नहीं, तो इस विस्तीर्णता से कोई लाभ नहीं हो सकता। कुछ लोगों की यह भी राय है कि नवीन ग्रामोफ़ोन और पियानो आदि से, यदि उनके रिकर्ड धन-लिप्सा के सङ्कुचित उद्देश से प्रेरित न होकर कला की दृष्टि से तैयार किये जायँ, तो बहुमूल्य सङ्गीत-शिक्षा मिल सकती है। किन्तु विरोधी दल की राय है कि इन नवीन आविष्कारों से कला की दृष्टि से सङ्गीत-कला का ह्रास हुआ है, क्योंकि सङ्गीत-रसिकों को इन रिकार्डों के गान से कोई आनन्द नहीं मिलता, वे केवल अमीरों के मनोरञ्जन की सामग्री हैं। वास्तविक सङ्गीत की इनसे कोई उन्नति नहीं हो सकती। सङ्गीत की ओर थोड़ा बहुत आकर्षण सभी को होता है, जो सङ्गीत-कार किसी प्रकार अपने श्रोताओं को नहीं मोह सकते, वे अन्त में उपदेशक का स्वाँग रचकर उसी ढङ्ग से अपनी कविता करते हैं। लोगों को ऐसा सङ्गीत अरुचिकर न हो, किन्तु उस सङ्गीत का सङ्गीत की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं हो सकता। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो सङ्गीत की उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। या तो वे आध्यात्मिक विषयों का रसास्वादन ही नहीं कर सकते या उसके विरोधी होते हैं। एक जनता का सङ्गीत होता है, जिससे तात्कालिक जनता की मानसिक अवस्था का परिचय मिलता है। अच्छी से अच्छी कोटि का जनता का सङ्गीत बच्चों के खेल के समान होता है। सम्भव है, लड़कों का खेल न भी हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसमें बराबर लड़कपन की बू रहती है। किन्तु जनता का सङ्गीत भी भव्य हो सकता है। जब वह भव्य होता है तब अन्य सङ्गीतों की भाँति वह भी विश्व-भाषा के द्वारा व्यक्त होता है, किसी लौकिक भाषा के द्वारा नहीं।

बाइबिल में आदेश है कि जब सङ्गीत या अन्य किसी कला का निदर्शन हो रहा हो तब बातचीत मत करो। यह आदेश बड़े महत्त्व का है। क्योंकि बातचीत, चाहे जितनी बहुमूल्य क्यों न हो, तन्मय होकर गाना सुनने में बाधा डालती है और जो सङ्गीत तल्लीन होकर सुनने के लिए नहीं गाया जा रहा है वह वास्तव में सङ्गीत ही नहीं है और न उसको गाने की आवश्यकता है। यदि हम सब इस छोटी सी बात को उसी प्रकार समझ लें जिस प्रकार २००० वर्ष पहले ईसामसीह ने समझा था तो सङ्गीत उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

पुस्तक-परिचय

१—**वैदिक कोष**—लाहोर में, दयानन्द-ऐंग्लो वर्नाकुलर नाम का एक कालेज है। उससे सम्बन्ध रखनेवाला एक अनुसन्धान-विभाग है। उसके पुस्तकाध्यक्ष महाशय हंसराज ने एक वैदिककोश का सङ्ग्रह किया है और उसे वे खण्डशः प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक उसी कोश के पहले भाग का पहला अङ्क है। इसकी पृष्ठ-संख्या १००, आकार बड़ा, टाइप और काग़ज़ अच्छा और मूल्य ॥) है। इस कोश में आज तक प्रकाशित हुए ब्राह्मण-ग्रन्थों के वैदिक शब्दों का सङ्ग्रह, उनके अर्थ और निर्वचन, वैदिक देवताओं के विशेष कर्म तथा यज्ञविषयक विशेष वक्तव्य आदि दिये जायँगे। सङ्ग्रहकार का कहना है कि इस कोश के प्रकाशित हो जाने पर स्वामी दयानन्द की उस पद्धति का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा जिसका अवलम्बन करके उन्होंने वेदों पर भाष्य-रचना की है। सो यह कोश स्वामीजी के वेदार्थयत्न का परिपोषक होगा। यह बड़ी बात होगी। इससे बहुत करके सायण और महीधर के भाष्यों के पक्षपातियों की आंखें खुल जायँगी। क्यों न? यही मतलब है न? पर इस पहले अङ्क को देखने से तो जान पड़ता है कि सभी पद्धतियों के अनुयायियों का काम इससे निकल जायगा क्योंकि कौन वैदिक शब्द, कहां, किस अर्थ में प्रयुक्त है, इसके प्रमाण इसमें दिये गये हैं। उदाहरणार्थ अग्नि शब्द को लीजिए। उसके सैकड़ों प्रयोग इसमें हैं—यथा

(१) अग्ने पृथिवीपते
(२) ब्रह्माग्निः
(३) पर्जन्यो वाग्निः
(४) पुरुषोऽग्निः
(५) अग्निर्वै देवानां यष्टा
(६) अग्निर्वै गायत्री
(७) अग्निरेव ब्रह्म
(८) अग्निमतिथिं जनानाम्

अतएव प्रसङ्ग देखने से ही ज्ञात हो जायगा कि किस शब्द का कौन सा अर्थ कहां पर अपेक्षित है।

२—**वाल्मीकीय-रामायणम्**—लाहोर के दयानन्द-ऐंग्लो वर्नाकुलर कालेज के अधिकारियों ने इस रामायण का संशोधित संस्करण निकालना आरम्भ किया है। इसका सम्पादन पण्डित रामलभाया, एम० ए०, नाम के एक महाशय कर रहे हैं। प्रकाशक है उसी कालेज का अनुसन्धान-विभाग (Research Department) उसी के सुपरिंटेंडेंट साहब को लिखने से इसकी प्राप्ति हो सकती है। पुस्तक खण्डशः निकलती है। प्रति खण्ड में १०० पृष्ठ रहते हैं। काग़ज़ अच्छा लगाया जाता है। और टाइप बड़ा और स्वच्छ। शायद इसका बालकाण्ड प्रकाशित हो चुका है। क्योंकि जो तीन खण्ड हमारे पास "समालोचनार्थ" आये हैं वे अयोध्या-काण्ड के हैं। इन तीनों खण्डों का मूल्य डेढ़ डेढ़ रुपया है। दस बारह हस्तलिखित पुरानी पुस्तकों का मिलान करके इसका पाठ ठीक किया जाता है और पाद-टीकाओं में पाठान्तर भी दिये जाते हैं। पश्चिमोत्तर प्रान्त की प्राचीन पुस्तकों में जो पाठ मिलता है उसी को आधार मान कर इसका सम्पादन किया जाता है। पाठ विश्वसनीय जान पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक के समग्र निकल जाने पर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो जायगी। खेद है, इसके सम्पादक केवल मूल पाठ ही का सम्पादन करते हैं। यदि मूल की टीका या हिन्दी-अनुवाद भी प्रकाशित किया जाता तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती।

३—**ऋग्वेद पर व्याख्यान**—लाहोर के दयानन्द-कालेज से एक संस्कृत-ग्रन्थमाला निकलती है। पूर्वनिर्दिष्ट

वैदिक कोश और वाल्मीकीय रामायण उसी के दो पुष्प हैं। यह व्याख्यान भी उसी माला का नम्बर २ फूल है। इसकी पृष्ठ-संख्या १००, मूल्य १) और आकार मँझोला है। ऊपर कपड़े की पतली जिल्द है। काग़ज़ अच्छा पर टाइप बहुत साधारण है। यह व्याख्यान संस्कृताध्यापक पण्डित भगवद्दत्त, बी. ए. की कृति है। कालेज के अनुसन्धान-विभाग के अध्यक्ष को लिखने से मिलती है। यह पुस्तक या व्याख्यान सदोष हिन्दी-भाषा में है। इसमें इस बात का विचार किया गया है कि ऋग्वेद कोई शाखा है या नहीं और वेद की रचना किसने की है। निष्कर्ष यह निकाला गया है कि ऋग्वेद शाखा नहीं, और वेद किसी मनुष्य की कृति नहीं। वेद "मानव-रचना से परे" है। ऋषियों में प्रविष्ट हुई किसी और ही की वाणी ने उसकी रचना की है। "उस वाणी में होनेवाले वेद मनुष्य-रचित कैसे हो सकते हैं?" मतलब यह कि जैसे व्याख्याताजी "भगवद्दत्त" हैं वैसे ही वेद भी भगवद्दत्त हैं। व्याख्याता महोदय ने एक-मात्र दयानन्द सरस्वती को वेदों के सच्चे अर्थ का ज्ञाता बताया है। औरों की आपने बुरी तरह ख़बर ली है। पश्चिमी देशों ही के वेदज्ञों की अल्पज्ञता और भ्रम का निदर्शन आपने नहीं किया, सायण तक को आपने वेदार्थज्ञान में बिलकुल ही कोरा बताया है। शायद बिना ऐसी लताड़ के स्वामीजी महाराज और आपकी वेदज्ञता साबित ही न होती। ख़ैर, अभागी भारत के सौभाग्य से एक सच्चे वेदज्ञ का अवतार तो हो गया। आर्य्यसमाज को बधाई!

४—अर्द्धमागधी रीडर—इसका आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या २०० के लगभग, छपाई और काग़ज़ उत्तम और मूल्य ४) है। ऊपर बड़ी सुन्दर (सुवर्णवर्णाङ्कित) जिल्द है। इसका प्रकाशन पञ्जाब के विश्वविद्यालय ने किया है और लाहोर के ओरियंटल कालेज के प्रधानाध्यापक ने इसकी एक कापी भेजने की कृपा की है। लाहोर के कुतुबफरोश, राय साहब मुंशी गुलाबसिंह ऐंड सन्स को लिखने से यह मिलती है। इसकी रचना श्रीयुत बनारसीदास जैन, एम० ए०, ने की है। इसके आरम्भ में पहले तो अर्द्धमागधी प्राकृत का संक्षिप्त व्याकरण है। फिर जैनों के धर्म्म-ग्रन्थादि से, उसी भाषा में, १३ अवतरण हैं। पुस्तकान्त में उन अवतरणों का अँगरेज़ी-अनुवाद है। बीच में जैन-धर्म्म के अनुयायियों के आगमों—सिद्धान्तों और अङ्गों—आदि के अतिरिक्त और भी कई विषयों के विवरण हैं। अर्द्धमागधी प्राकृत प्राचीन मागधी से अलग है। उसमें पूर्वकाल की अन्य प्राकृत-भाषाओं का भी मिश्रण है। जैनों के प्रथम तीर्थङ्कर महावीर ने इसी अर्द्ध-मागधी भाषा का आश्रय लेकर अपने नये धर्म्म का उपदेश किया था। इसी से जैनों के पुराने धर्म्म-ग्रन्थ इसी भाषा में हैं। बिना इस भाषा के व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किये उन ग्रन्थों की भाषा समझ में नहीं आ सकती। यही कारण है जो उनके ज्ञाता बहुत ही थोड़े पाये जाते हैं। इस रीडर के निर्म्माता ने अर्द्ध-मागधी की यह संक्षिप्त पाठ्य पुस्तक लिखकर बड़ा काम किया। इसे परिश्रम-पूर्वक आयत्त करनेवाले अब जैनों के प्राचीन धार्म्मिक ग्रन्थों को सहज ही समझ सकेंगे। इस दृष्टि से यह पुस्तक बड़े महत्त्व की है। ऐसी पुस्तक की बड़ी आवश्यकता थी।

रमेश शर्मा

५—हरिऔधजी के दो नये काव्य-ग्रन्थ—हरिऔधजी के इन दो नये काव्यों में एक का नाम **चोखे चौपदे** अथवा हरिऔध-हज़ारा और दूसरे का नाम **चुभते चौपदे** अथवा देश-दशा है। प्रत्येक का मूल्य १॥) है, यद्यपि इनमें चुभते चौपदे का आकार छोटा और पृष्ठ-संख्या भी कम है। इनका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर ने किया है। इनकी छपाई और रूप-रङ्ग अच्छा है।

हरिऔधजी ने अपने इन दोनों ग्रन्थों को स्वरचित 'बोलचाल' नामक महाकाव्य से सङ्कलित किया है। आपके इस महाकाव्य की रचना से सामयिक पत्रों के पाठक भले प्रकार परिचित हैं। समय समय पर उसके अंश-विशेष मासिक पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं। उसकी पद्य-संख्या साढ़े तीन हज़ार से ऊपर हो गई है। अतएव उसका आकार छोटा करने के विचार से आपको इन उपर्युक्त ग्रन्थों का सङ्कलन करना पड़ा है।

पूर्वोक्त महाकाव्य बोलचाल के मुहाविरों का काव्य है। नख से शिखा तक शरीर के प्रायः सभी अङ्गों पर आपने सूक्तियाँ कही हैं, साथ ही भाषा के मुहाविरों के

प्रयोग भी दिखलाये हैं। इस प्रकार आपके इस अनूठे काव्य से काव्य-रसिकों को काव्यानन्द के साथ साथ बोलचाल के मुहाविरों के प्रयोग का भी ज्ञान हो जाता है। इन आलोच्य ग्रन्थों के पद्यों में भी मुहाविरों के प्रयोगों की कुछ कम बहार देखने में नहीं आती। तो भी इनमें कुछ विशेषता भी है। एक तो यह कि पूर्वोक्त महाकाव्य के बढ़िया बढ़िया पद्य चुनकर इनमें सङ्ग्रह किये गये हैं और दूसरे यह कि ये हरि-औधजी के कथनानुसार 'स्थायी' साहित्य हैं।

हरिऔधजी के इन ग्रन्थों में उनकी रचना-चातुरी का पूरा परिचय मिलता है। भाव और भाषा दोनों सरस और सरल हैं। आपने दबे हुए व्यङ्ग्य-द्वारा मनुष्य-गत दोषों की चुटकियाँ लेते हुए इन ग्रन्थों में बिलकुल सीधे सादे ढङ्ग से नीति का उपदेश किया है। आपने अपने वक्तव्य में आशा की है कि इनके अध्ययन से हिन्दू-जाति का उद्बोधन और मानव-जाति का कल्याण हो।

हरिऔधजी के इन ग्रन्थों की रचना समास-बहुल तथा संस्कृत-शब्दों से पूर्ण नहीं है। इनमें बोलचाल की भाषा की प्रधानता है। प्रिय-प्रवास की तरह इनमें संस्कृत या हिन्दी के छन्द का उपयोग नहीं किया गया है, किन्तु सारा काव्य उर्दूवज़न पर चौपदों में लिखा गया है। इसके सिवा इनमें यत्र तत्र ब्रजभाषा और अरबी-फ़ारसी आदि के जो अनेक अप्रचलित शब्द प्रयोग किये गये हैं वे बहुत खटकते हैं। तलक, वां, बिग इत, तुमारी, बे जागतों, परा, पयाम, बरमला, बेब्रहा, सग, खँगालनेवाले, सबील, लब, दुगूना, बिलसें, दीठ, रीस, तिलोक, चिरोरी आदि शब्द बोलचाल में नहीं सुनाई पड़ते। इसी प्रकार मुआदें, चलाते हैं चपत, कोस काले चल, छरछराती नहीं अगर छाती, और बातें भूल दें तो भूल दें, काम है जाँघ की कमाई का, हाथ का आवला न है अवसर, सैकड़ों छीक क्यों न पीछे हो, गुन अनूठे हाथ से छन छन छिने, सुजस सेहरा, दूसरा जाति लग नहीं लगता जैसे मुहाविरे भी चिन्त्य हैं।

हम हरिऔधजी की इन नई रचनाओं का सहर्ष स्वागत करते हैं।

समीक्षक

६—मिश्रजी की तीन पुस्तकें—पण्डित रामदहिन मिश्रजी का नाम हिन्दी के पाठकों के लिए अपरिचित नहीं है। आप सचमुच 'अनेक संस्कृत-हिन्दी ग्रन्थों के रचयिता' हैं। अभी हाल में आपने तीन किताबें भेजने की कृपा की है, (१) मेघदूत-विमर्श, (२) साहित्यालङ्कार, (३) हिन्दी-मुहाविरे।

मेघदूत-विमर्श—इन्दौर की मध्यभारत हिन्दी-साहित्य-समिति से यह प्रकाशित हुआ है। पृष्ठ-संख्या २३५ और मूल्य २॥)।

पुस्तक के दो भाग किये जा सकते हैं। पहले भाग में मेघदूत की आलोचनायें रक्खी जा सकती हैं, दूसरे में उसका गद्य और पद्य में अनुवाद। पद्यात्मक अनुवाद पण्डित रामचरित उपाध्याय की कृति है। यह सरस और सरल है। आलोचनात्मक लेख भी अच्छे हैं। उनमें कितनी ही बातों पर विचार किया गया है। मेघदूत का सौन्दर्य, मेघदूत में विज्ञान, मेघदूत में भौगोलिक वर्णन, मेघदूत का आधार, मेघदूत की तीस टीकायें आदि शीर्षक देकर उनके नीचे उन विषयों पर मार्मिकता से विचार किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि मेघदूत के सम्बन्ध में प्रायः सभी जानने योग्य बातों का समावेश इसमें हो गया है।

साहित्यालङ्कार—इसमें अलङ्कारों पर विचार किया गया है। अलङ्कारों के लक्षण सरल गद्य में दिये गये हैं। उदाहरण प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं से सङ्गृहीत हुए हैं। पृष्ठ-संख्या ६१, मूल्य ॥) है। इसके प्रकाशक पण्डित रामप्रकार मिश्र, ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर हैं।

हिन्दी-मुहावरे—इसमें हिन्दी के प्रचलित मुहावरों और कहावतों का सङ्ग्रह किया गया है। यह स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह उनके काम की किताब है। पृष्ठ-३११ मूल्य २।)। यह भी ग्रन्थमाला-कार्यालय, बांकीपुर से प्रकाशित हुआ है।

७—भारतीय प्रार्थी—यह पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसके प्रणेता माहेश्वरी-सम्पादक सोनिंगराव, कवि कर्ण हैं। इसमें १२१ षट्पदी छन्द हैं। उनमें एक भारतीय की आकांक्षायें व्यक्त की गई हैं। भाव स्पष्ट और भाषा सरल है। इसके प्रारम्भ का एक छन्द सुनिए—

मङ्गल मूल महेश, याद मेरी न भुलावे।
मङ्गल मेरा करे, अमङ्गल मार भगावे।
जन्म जन्म के लिए मुझे वह सुखी बनावे।
अलग पड़ा रक्खे न, उठाके, कण्ठ लगावे
उसकी ही मुझ पर चाहिए, दयादृष्टि रखनी बनी।
समझे अपने ही हाथ वह, सब मेरी बिगड़ी बनी।

सभी पद्य इसी तरह के भावों से पूर्ण हैं। इसका मूल्य ॥) है। इसके प्रकाशक हैं भागीरथदासजी भूतड़ा, माहेश्वरी प्रेस, दिल्ली।

८—घरकट सूम—लेखक और प्रकाशक, श्रीयुत हरद्वारप्रसाद जालान, सेठ रामनारायण सागरमल की कोठी, चौक, आरा। पृष्ठ-संख्या ६४ और मूल्य ॥=) है।

यह एक साधारण प्रहसन है। इसमें एक सूम पिता की उसके पुत्र-द्वारा छीछालेदर कराई गई है।

९—गोपालप्रकाश—लेखक, श्रीयुत श्रीनारायण, जलेसर, एटा। पृष्ठ-संख्या ७४ और मूल्य ।।) है।

यह किताब ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी है। एक कहानी के रूप में लेखक ने ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये हैं।

१०—जीवन का सद्व्यय—अनुवादक श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्याय, तन्त्री हिन्दी नवजीवन और प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद। ११ + १४६ पृष्ठ-संख्या और मूल्य ।।।) है।

यह अँगरेज़ी की 'इकानोमी आव् ह्यूमेन लाइफ़' नामक प्रसिद्ध पुस्तक का अनुवाद है। चरित्र-सुधार पर यह एक श्रेष्ठ पुस्तक समझी जाती है। इसमें मनुष्य के व्यक्तिगत, कुटुम्बगत तथा समाज-गत कर्तव्यों एवं उसके चरित्र-सम्बन्धी दूसरी उपयोगी बातों का उल्लेख साधु और हृदयग्राही भाषा में किया गया है। हिन्दी में इसका अनुवाद हो जाने से अब यह हिन्दीवालों के लिए भी सुलभ हो गई। अनुवाद की भाषा भी सरल और सरस है।

गिरिजाशङ्कर वाजपेयी

११—मराठी की एक पुस्तक—नमस्कार—इस पुस्तक की भाषा मराठी, आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या लगभग १००, मूल्य १) है। टाइप छोटा, परन्तु कागज़ अच्छा है। इसकी रचना सांगली (दक्षिण) के रहनेवाले गणेश पाण्डुरङ्ग पराञ्जपे वैद्य ने की है। उन्हीं से यह मिल सकती है। वैद्य महाशय एक आरोग्य-संवर्धक माला निकालते हैं। उसी का यह पाँचवाँ पुष्प है। इसमें नमस्कार नामक कसरत की प्रणाली और उससे होनेवाले लाभों का वर्णन है। महाराष्ट्र देश में स्नानोत्तर सूर्य को नमस्कार करने की चाल है। यह नमस्कार-क्रिया हमारी तरफ़ की उस कसरत के प्रायः सदृश है जिसे हम लोग दण्ड कहते हैं। लेखक ने इस पुस्तक में धार्मिक, शारीरिक और आध्यात्मिक आदि कई दृष्टियों से सूर्यदेव को नमस्कार करने की महत्ता दिखाई है और कई डाक्टरों, वैद्यों और विद्वानों की पोषक सम्मतियाँ उद्धृत की हैं। पुस्तक में नमस्कार से सम्बन्ध रखनेवाली कई बैठकों के चित्र भी हैं। साष्टाङ्ग नमस्कार अपने नामानुसार, आठ प्रकार का होता है—

उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा।
पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोष्टाङ्ग उच्यते॥

इस अष्टाङ्ग-प्रणाम का सम्बन्ध योग से भी है और शरीरारोग्य से तो है ही। लेखक ने धार्मिक भावों का भी सम्बन्ध बताकर इस क्रिया को और भी महत्त्व दे दिया है। उन्होंने अनेक वैदिक मन्त्र उद्धृत करके इस प्रणाम या नमस्कार की रीति को सूर्योपासना का एक अङ्ग भी सिद्ध किया है। बच्चों से लेकर बूढ़े तक यह कसरत कर सकते हैं। इससे धार्म्मिकों को धर्म्मलाभ, साधारण जनों को आरोग्य-लाभ और योग-मार्ग का अनुसरण करने की इच्छा रखनेवालों को मनोनिग्रह-लाभ हो सकता है।

१२—गुजराती की पुस्तकें—(१) हिन्द-स्वराज्य—यह महात्मा गान्धी की लिखी हुई प्रसिद्ध पुस्तक है। १९०८ ईसवी में जिस समय वे लन्दन से "किल्डोनन कैसल" नामक जहाज़ पर दक्षिणी अफ़रीका को लौट रहे थे उस समय जहाज़ पर ही उन्होंने इसे, जहाज़ी कम्पनी के ही नोट पेपर पर, लिखा था। इस देश के स्वराज्य-सम्बन्धी विषय पर, गान्धीजी ने इसमें अपने विचार व्यक्त किये हैं और पुस्तक को २० प्रकरणों में बाँटा है। इसका हिन्दी-अनुवाद हो गया है। तथापि गुजराती भाषा न जाननेवाले इस

प्रान्त के भी पुस्तक-प्रेमियों और गांधीजी के भक्तों को इसे, महात्माजी की यादगार समझकर, लेना चाहिए। क्योंकि इसमें उनकी लिखी हुई पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ का फ़ोटो है। यह टाइप में नहीं छपी। यह उनके हाथ के लेख का फोटो चित्र है। यह इसकी बहुत बड़ी विशेषता है। इसमें बड़े आकार के २७१ पृष्ठ हैं। काग़ज़ खूब मोटा है। ऊपर सादी जिल्द है। मूल्य १॥।) है। मिलने का पता है—नवजीवन-प्रकाशन-मन्दिर, अहमदाबाद।

(२) स्वामी विवेकानन्द, भाग १० मो, राजयोग—अहमदाबाद और बम्बई का सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्यालय स्वामी विवेकानन्द के सभी ग्रन्थों और लेखों आदि का गुजराती-अनुवाद प्रकाशित कर रहा है। प्रस्तुत पुस्तक उसी लेखमाला का दसवाँ भाग है। इसका आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या २८० और मूल्य १।) है। ऊपर सुन्दर और दृढ़ जिल्द है। अनुवादक का नाम है—नर्मदाशङ्कर बालाशङ्कर पण्ड्या। पुस्तक में दो विभाग हैं। पहले में स्वामीजी के राजयोग-सम्बन्धी ८ लेख या व्याख्यान हैं। ये व्याख्यान उन्होंने अमेरिका में दिये थे। दूसरे विभाग में पातञ्जल-योग-सूत्रों का भावार्थ और विवेचन है। स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में राजयोग-विषयक जो बातें कही या लिखी हैं उनसे सूचित होता है कि इस विषय में उनका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। सूत्रों के विवेचन की रीति से तो यह बात और भी अधिक प्रमाणित हो जाती है। उनके व्याख्यानों और विवेचनों में वह विशेषता है जो योगसूत्रों पर की गई व्यासजी की टीका में भी नहीं। व्यासजी की टीका या भाष्य पुराने ढङ्ग का है। स्वामीजी के विवेचन बिलकुल ही नये ढङ्ग के हैं। उनमें उन्होंने अपने अनुभव से अनेक ऐसी बातें कही हैं जो अन्यत्र कहीं भी प्राप्य नहीं। पुस्तक के दिव्य होने में सन्देह नहीं।

(३) जैनदर्शन—इस पुस्तक को प्रकाशित हुए दो तीन वर्ष हो चुके। यह श्रीपण्डित बेचरदास जीवराज की कृति है। आपका पता है—गुजराज-पुरातत्व-मन्दिर, एलिस-ब्रिज, अहमदाबाद। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या ३०० के ऊपर है। छोटे टाइप में छपी है। जिल्ददार है। मूल्य इसका २) है। शायद लेखक ही से मिल सकती है। जैनधर्म्म के अनुयायी हरिभद्र-सूरि नाम के एक आचार्य्य हो गये हैं। उन्हें हुए कोई एक हज़ार वर्ष बीते। उनकी लिखी हुई एक छोटी सी पुस्तक है। नाम है—षड्दर्शनसमुच्चय। वह संस्कृत में है। उसमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध दर्शनों के सिद्धान्तों का उल्लेख है। पुस्तक में केवल ८७ अनुष्टुप् श्लोक हैं। कुछ श्लोकों में जैनदर्शन का भी वर्णन है। मूल पुस्तक की टीका भी है। उसके कर्ता हैं—श्रीगुणरत्न-सूरि। प्रस्तुत पुस्तक में श्रीयुत बेचरदास ने हरिभद्र-सूरि के मूल ग्रन्थ को, देवनागरी-लिपि में देकर, गुणरत्न-सूरि की उस टीका का अनुवाद किया है जिसका सम्बन्ध जैन-दर्शन से है। टीका बहुत विस्तृत है। अतएव अनुवाद भी वैसा ही है। मूल १४ श्लोकों की टीका ने कोई २०० पृष्ठ घेर लिये हैं। इसी से इस बात का अनुमान किया जा सकेगा कि अपने दर्शन के सिद्धान्तों के प्रकटीकरण के लिए टीकाकार ने कितना श्रम उठाया है और कितना ऊहापोह किया है। इस टीका को अच्छी तरह समझ लेने पर जैनधर्म्म के तत्त्व और उसकी विशेषता अच्छी तरह अवगत हो सकती है। परन्तु इस पुस्तक में इस टीका के सिवा और भी अनेक महत्त्वपूर्ण विषय हैं। पहले तो मूल पुस्तक के कर्ता हरिभद्र-सूरि का जीवनचरित है। उसमें लेखक ने उनके सम्बन्ध की प्रायः सभी बातें बड़ी खोज से लिखी हैं। इसी तरह मूल पुस्तक के टीकाकार गुणरत्न-सूरि पर भी उन्होंने एक लम्बा लेख लिखा है। इसके अतिरिक्त गुणरत्न-सूरि की टीका में जिन ग्रन्थों का नामोल्लेख हुआ है उनसे भी आपने परिचय कराया है। इतने ही से आपको सन्तोष नहीं हुआ। कई परिशिष्ट भी जोड़ कर आपने इस पुस्तक का महत्त्व बढ़ा दिया है। पुस्तक की सामग्री एकत्र करने और उसे बहुत अधिक उपयोगी बनाने में आपने कोई कसर नहीं की। यह जैन-दर्शन निःसन्देह जैन-धर्म्म के अनुयायियों के लिए सङ्ग्रहणीय है। और लोग भी इसके अवलोकन से कितनी ही अज्ञात बातों का ज्ञान-सम्पादन कर सकते हैं।

(४) सत्याग्रह—इस मँझोले आकार की ६८ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ४ आने हैं। अच्छे काग़ज़ पर अच्छे टाइप में छपी है। आरम्भ में महात्मा गांधी का एक रङ्गीन चित्र है। इसका प्रकाशन—नगीनदास अमुलख-

राय ने किया है। आपका पता है—३०, हनुमान बिल्डिङ्ग, होमजी स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई। सत्याग्रह पर आज तक गांधीजी ने, भिन्न भिन्न दृष्टियों से, जो विचार प्रकट किये हैं उन्हीं का सङ्ग्रह इस पुस्तक में है। इसमें सोलह लेख हैं। लेखों के नाम हैं—सत्य, सत्याग्रह का अर्थ, सत्याग्रह का बल, सत्याग्रह का समय आदि। प्रकाशक का कथन है कि जो कुछ इस पुस्तक में है गांधीजी ही के शब्दों में है। वे शब्द उन्होंने गांधीजी के लिखे हुए भिन्न भिन्न लेखों से उद्धृत किये हैं। उनकी आज्ञा है कि जो कोई चाहे ख़ुशी से इस पुस्तक को छाप सकता है अथवा इसका अनुवाद कर सकता है। आपकी यह उदारता प्रशंसनीय है।

(५) सुन्दर भेंट—यह पुस्तक खुरदरे, पर मोटे, काग़ज़ पर, बड़े टाइप में छपी है। ऊपर बड़ी अच्छी जिल्द है। पृष्ठ-संख्या पौने दो सौ के लगभग है। आकार छोटा है। मूल्य १० आने है। मैनेजर, दक्षिणामूर्ति, विद्यार्थिभवन, भावनगर से मिल सकती है। इसमें छोटे छोटे बच्चों के पढ़ने और कण्ठ करने लायक़ ६५ गीत और कवितायें हैं। वे सब सङ्गृहीत हैं। सङ्ग्रहकार हैं—गिरिजाशङ्कर भगवानजी बधेका। कविताओं इत्यादि के विषय भिन्न भिन्न हैं। ईश्वर की स्तुति, प्रकृति-दर्शन, देशप्रेम, खेल-कूद आदि अनेक विषयों की कवितायें देकर सङ्ग्रहकार ने इस "सुन्दर भेंट" को यथेष्ट सुन्दर बना दिया है। इससे बच्चों का मनोरञ्जन भी हो सकता है और उन्हें किसी अंश तक शिक्षा भी मिल सकती है।

(६) उषा अने अरुण—इस पुस्तक का आकार कुछ बड़ा, पृष्ठ-संख्या ३६० और मूल्य ३) है। अच्छी छपी है। जिल्द विशेष मनोमोहक है। ऊपर के आवरण-पृष्ठ पर एक सुन्दर रङ्गीन चित्र है। भीतर भी एक रङ्गीन और कई सादे चित्र हैं। इसके लेखक का नाम है—श्रीयुत भानुप्रसाद मणिराय व्यास। प्रकाशन इसका मदरास से श्रीमणिलाल उमीया शङ्कर पंड्या ने किया है। मिलने का पता है—ज्योतिविनोद-कार्यालय, पोष्टबाक्स नं० ७१, मदरास। यह एक उपन्यास है। लेखक का कथन है कि इसमें वर्णन की गई कुछ घटनायें तो सत्य और कुछ कल्पित हैं। समाज की वर्तमानकालिक दुर्दशा का सजीव चित्र दिखाने और उसे दूर करने के उपाय बताने के लिए ही इस उपन्यास की रचना हुई है। उपन्यासकार इस उद्देश में कहाँ तक सफल होंगे, यह तो हम नहीं कह सकते। परन्तु जिन पात्रों की कल्पना उन्होंने की है वे सचमुच ही सजीव से मालूम होते हैं। उनके कार्यकलाप में अस्वाभाविकता बहुत कम दिखाई देती है। पुस्तक की भाषा सुन्दर और शैली सरस है। चरित्रचित्रण के ढङ्ग से लेखक की सहृदयता प्रकट होती है। गुजराती समाज के जो चित्र इसमें दिखाये गये हैं वे यदि अतिरञ्जित नहीं तो उनमें सुधार की सचमुच ही आवश्यकता है। भानु महाशय का कथन है कि "उषा और अरुण के आने पर ही सूर्योदय होगा" यह सच है। क्योंकि हम लोग रोज़ ही प्रातःकाल उषा और अरुण के आने पर सूर्योदय देखा करते हैं। उनकी नायिका उषा और नायक अरुण भी देशोदय कर सकते हैं।

च—

१३—ग्राम्य-पञ्चायत-एक्ट—लेखक, पण्डित श्रीकृष्ण तिवारी, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०। मुद्रक द्विवेदी प्रेस, कानपुर। मूल्य ॥) है।

ग्राम्य-पञ्चायत-एक्ट का सम्बन्ध ग्रामीणों से है। अतएव हिन्दी में उसके एक अनुवाद की बड़ी आवश्यकता थी, जिससे जनता अपने स्वत्व एवं अधिकारों को भली भाँति समझ सके और उसका प्रयोग कर सके। तिवारीजी के अनुवाद से अब हिन्दी-भाषा-भाषी ग्रामीणों के लिए ग्राम्य-पञ्चायत-एक्ट का ज्ञान सुलभ होगया। भाषा सरल और शुद्ध है। व्याख्या भी स्पष्ट है। छपाई अच्छी है।

१४—धर्मवीर हक़ीक़त राय—यह बालक हक़ीक़त राय की जीवनी है, पद्यों में लिखी गई है। लेखक प्रभुपुर-निवासी ठाकुर गदाधरसिंह भृगुवंशी हैं। आप ही इसके प्रकाशक हैं। पृष्ठ-संख्या ४६। मूल्य ॥) है।

पद्य-रचना सर्वत्र शिथिल है। कवित्व-पूर्ण वाक्य तो एक भी नहीं।

१५—कीचक—झाँसी से एक स्वाधीन-ग्रन्थ-माला प्रकाशित होती है। उसी का यह पहला पुष्प है। यह नाटक है। इसके लेखक श्रीयुत भगवतनारायण भार्गव हैं। प्रकाशन का श्रेय श्रीयुत बालाप्रसाद वर्मा, स्वाधीन प्रेस, झाँसी को है। मूल्य ॥।) है।

इस नाटक का कथा-भाग महाभारत से लिया गया है। परन्तु उसमें आपने यथेष्ट परिवर्तन कर दिया है। इससे कथा-भाग की रोचकता घटी नहीं, किन्तु बढ़ गई है। भाषा सुन्दर है। बीच बीच में जो पद्य दिये गये हैं वे भी बुरे नहीं हैं।

१६—**ज्योतिषप्रवेशिका**—लेखक श्रीचैतनदास जैन, बी० ए०, हेडमास्टर गवर्नमेंट हाई स्कूल, मथुरा; हिन्दी-साहित्य-भण्डार, पो० आ० मल्हीपुर, ज़िला सहारनपुर, से प्राप्य। पृष्ठ-संख्या ६२, कई ज्योतिषसम्बन्धी नक़शों एवं दो आकाश-मण्डल के चित्रों से विभूषित, मूल्य १॥) है।

हिन्दी-साहित्य में ज्योतिष-सम्बन्धी पुस्तकों का बाहुल्य नहीं है। ऐसी दशा में यह छोटी सी पुस्तिका भी इस विषय के पाठकों के लिए विशेष उपयोगी हो सकती है।

पुस्तक में ३२ अध्याय हैं। यद्यपि विषय की आलोचना वर्णनात्मक और गणनात्मक दोनों रूपों से की गई है तथापि जिनका इस विषय में कुछ भी प्रवेश नहीं है उनको इसका वर्णनात्मक भाग ही अधिक रोचक मालूम होगा। इसलिए यदि वर्णनात्मक आलोचना का अधिक समावेश किया गया होता तो पुस्तक की रोचकता बढ़ जाती। ज्योतिष-शास्त्र का विषय अद्भुत होने के कारण वह हमारी कल्पना को विशेष रूप से उत्तेजना देता है, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में इस बात का अभाव है।

पुस्तक का गणनात्मक भाग आर्य-सिद्धान्त के अनुसार लिखा गया है, जो लोग पञ्चाङ्ग का ठीक ठीक उपयोग करना सीखना चाहते हैं, उनको इससे सहायता मिल सकती है। किन्तु भिन्न भिन्न तारा-गणों की पहचान के लिए इस पुस्तक में कुछ नहीं बतलाया गया है, यह पुस्तक का सबसे बड़ा अभाव कहा जा सकता है। किन्तु सब बातों का विचार करते हुए पुस्तक सुन्दर और रोचक कही जा सकती है। यदि लेखक महाशय अधिक विस्तार के साथ इस विषय की चर्चा अपनी किसी रचना में करें तो साधारण लोगों को आकाश के रहस्यों का बहुत कुछ पता लग सकता है। विषय को यथार्थ रूप से समझाने के लिए चित्रों का होना परमावश्यक है।

जितेन्द्रनाथ सान्याल, बी० ए०

१७—**नव प्रकाशित पत्रपत्रिकायें**—**साप्ताहिक पत्र**—(१) **मतवाला**—इसके सम्पादक और प्रकाशक श्रीयुत महादेव सेठ हैं। २३ शङ्करघोष लेन, कलकत्ता से निकलता है। वार्षिक मूल्य २) है। काग़ज़-सफ़ाई दोनों सुन्दर हैं। यह अपरिवर्तनवादी राजनैतिक पत्र है, हँसी-मज़ाक़ के लेखों से अपने मत की पुष्टि करता है।

(२) **अभय**—इसके सम्पादक स्वामी विचारानन्द सरस्वती हैं। इसका वार्षिक मूल्य ३॥) है। यह पत्र गढ़वाली प्रेस, देहरादून से प्रकाशित होता है। इसकी नीति इसके सिद्धान्त-वाक्य से प्रकट है। वह है 'हिन्दू-धर्म की जय जो बोले सो अभय'। इस नीति का समर्थन इस पत्र में दृढ़ता के साथ किया जाता है।

(३) **भारतधर्म**—इसके सम्पादक श्रीयुत गोविन्द शास्त्री दुगवेकर हैं। इस पत्र का प्रकाशन भारत-धर्म-महामण्डल के तत्त्वावधान में हुआ है। इसका वार्षिक मूल्य ३) है। आकार-प्रकार सुन्दर है। इसमें राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षा, विज्ञान आदि विषयों की चर्चा रहती है। इस पत्र में विषयों का सङ्कलन सुचारु रूप से रहता है।

(४) **गोलमाल**—यह पत्र पटना से निकलता है। सम्पादक श्रीयुत दीनानाथ सगतिया हैं। वार्षिक मूल्य १॥) है। इस पत्र का भी उद्देश वही है जो मतवाले का है।

(५) **मौजी**—यह पत्र हाल में ही कलकत्ते से निकला है। इसके सम्पादक श्रीयुत महादेवसिंह शर्मा एम० ए० हैं। यह पत्र होनहार मालूम पड़ता है। इसमें हँसी-दिल्लगी की प्रधानता रहती है, परन्तु विचार गम्भीर होते है और भाषा संयत रहती है। इसी तरह के जो अन्य पत्र प्रकाशित होते हैं उनमें प्रायः सुरुचि का संहार हो जाता है। पर इस पत्र की सभी टिप्पणियाँ सुरुचिपूर्ण हैं। इसका वार्षिक मूल्य ३) है।

मासिक पत्र—(१) **धन्वन्तरिः**—इसके सम्पादक वैद्य बाँकेलाल गुप्त हैं। इसका वार्षिक मूल्य दो रुपया है। इसका प्रकाशन विजयगढ़ से होता है। पिछले वर्ष से निकलने लगा है। हमारे सामने जो अङ्क है वह कार्तिक के महीने का और सो भी श्रीधन्वन्तरि

महोत्सवाङ्क । इसमें सङ्कलित प्रायः सभी लेख सुपाठ्य और उपयोगी हैं । परन्तु पत्र की दशा अच्छी नहीं मालूम पड़ती । प्रायः वैद्य-विद्या-सम्बन्धी सभी पत्रों का यही हाल है । इस सम्बन्ध का एक भी पत्र आज तक अच्छी दशा में न चल सका । यह खेद की बात है ।

(२) **मालव-मयूर**—इसके सम्पादक श्रीयुत हरिभाऊ सिद्धनाथ उपाध्याय हैं । इसका वार्षिक मूल्य ३।।।) है । हिन्दी-साहित्य-मन्दिर, काशी से इसका प्रकाशन होता है । इसमें मध्य-भारत के रजवाड़ों के सिवा राजपूताने के राज्यों की भी काफ़ी चर्चा रहती है । इसका सम्पादन अच्छे ढङ्ग से होता है । उपर्युक्त राज्यों की राजनैतिक तथा सामाजिक आदि सभी सामाजिक बातों की मीमांसा करना ही इस पत्र का मुख्य उद्देश है । इसका आकार-प्रकार और छपाई-काग़ज़ आदि सभी सुन्दर हैं ।

(३) **दिगम्बर जैन**—यह दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय का १६ वर्ष का पुराना पत्र है । जो अङ्क हमारे सामने है वह उसका 'सचित्र ख़ास अङ्क' है। इस अङ्क में कुल ४१ लेख और २१ चित्र हैं । लेखों में १ अँगरेज़ी, १ संस्कृत और कोई ११, १२ गुजराती में हैं । सभी लेख सुपाठ्य हैं ।

(४) **कल्पवृक्ष**—इसके सम्पादक श्रीयुत दुर्गाशङ्कर नागर और श्रीयुत पन्नालाल रामगोपाल वर्मा हैं, 'कल्पवृक्ष'-कार्यालय, उज्जैन से प्रकाशित होता है । इसका वार्षिक मूल्य २।।) है । इसमें आध्यात्मिक, मनोविज्ञान, योग, वेदान्त, थियासोफ़ी, मेस्मेरिज़्म जैसी बातों की चर्चा की जाती है । इन बातों के प्रेमियों को इस पत्र से लाभ उठाना चाहिए । वर्तमान अङ्क दूसरे वर्ष का छठा अर्थात् फागुन का अङ्क है ।

(५) **भ्रमर**—इसके सम्पादक श्रीयुत रामनारायण पाठक हैं । श्रीराधेश्याम प्रेस, बरेली से प्रकाशित होता है । यह इसके दूसरे वर्ष का छठा अङ्क अर्थात् चैत्र का अङ्क है । इसके लेख मनोरञ्जक रहते हैं ।

(६) **वैदिक धर्म**—इसके सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर हैं । यह स्वाध्याय-मण्डल, औंध, से प्रकाशित होता है । इसका वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से ३॥) और वी० पी० से ४) लिया जाता है । यह पांचवें वर्ष का प्रथम अङ्क है । इस अङ्क के लेख प्रायः सभी अधूरे हैं । कोई कोई तो २ ही पृष्ठ में समाप्त हो गया है। यह आर्यसमाजी पत्र है ।

संस्कृत के पत्र—(१) **मित्रम्**—इसके सम्पादक गोस्वामी भैरवगिरि हैं । यह पाक्षिक पत्र है। मुज़फ़्फ़रपुर से निकलता है । इसका वार्षिक मूल्य २) है, पर असमर्थ छात्रों से १) लिया जाता है ।

(२) **गीर्वाण**—इसके सम्पादक श्रीयुत त्र्यम्बकेश्वर जागेश्वर जोशी काव्यतीर्थ, शास्त्री हैं । गीर्वाण-कार्यालय, अपाचित रोड, नागपुर, सी० पी० से प्रकाशित होता है। यह मासिक पत्र है । साल भर से निकल रहा है। वार्षिक मूल्य २) है ।

(३) **संस्कृत-रत्नाकर**—यह मासिक पत्र संस्कृत सम्मेलन का मुखपत्र है । इसने अब अपने ग्यारहवें वर्ष में पदार्पण किया है। पटना से प्रकाशित होता है । इसका वार्षिक मूल्य ३) है ।

(४) **सुप्रभातम्**—यह नव प्रकाशित मासिक पत्र सारस्वत-भवन, काशी, से अभी हाल में ही प्रकाशित हुआ है । काशी के संस्कृत-समाज का मुखपत्र है। इसके सम्पादक श्रीदेवीप्रसाद शुक्ल कविचक्रवर्ती हैं ।

रमाशङ्कर उपाध्याय, बी० ए०

Printed and published by K. Mittra at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

सरस्वती
सचित्र मासिक पत्रिका

भाग २५, खण्ड १] मई १९२४—वैशाख १९८१ [संख्या ५, पूर्ण संख्या २९३

वीचि-विलास ।

(१)

अरी सलिल की लोल-हिलोर !
यह कैसा स्वर्गीय-हुलास ?
सरिता की चञ्चल दृग-कोर !
यह जग को अविदित-उल्लास ?

आ, मेरे मृदु-अङ्ग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर ।

(२)

गूढ़-श्वांस-सी अति-गति-हीन,
अपने ही कम्पन में लीन;
सजल-कल्पना-सी साकार,
पुनः पुनः प्रिय, पुनः नवीन;

तुम शैशव-स्मिति-सी सुकुमार,
मर्म-रहित, पर मधुर अपार,
खिल पड़ती हो बिना विचार ।

(३)

वारि-वेलि-सी फैल अमूल,
छा अपात सरिता के कूल,
विकसा औ, सकुचा नवजात
बिना नाल के फेनिल-फूल;

छुईमुई-सी तुम पश्चात्,
छूकर अपना ही मृदु-गात,
मुरझा जाती हो अज्ञात!

(४)

स्वर्ण-स्वप्न-सी कर अभिसार
जल के पलकों में सुकुमार;
फूट आप ही आप अजान
वीणा की-सी मृदु-झङ्कार;

तुम इच्छाओं-सी असमान,
छोड़ चिह्न उर में गतिवान
हो जाती हो अन्तर्धान!

(५)

मुग्धा की-सी मृदु-मुसकान,
खिलते ही लज्जा से म्लान;
स्वर्गिक-सुख की-सी आभास
अतिशयता में अचिर; महान—

दिव्य-भूति-सी आ तुम पास,
कर जाती हो क्षणिक-विलास,
आकुल-उर को दे आश्वास।

(६)

ताल ताल में थिरक अमन्द,
सौ सौ छन्दों में स्वच्छन्द
गाती हो निस्तल के गान,
सिन्धु गिरा-सी अगम, अनन्त;

कुमुद-करों से लिख अम्लान,
तारों के रोचक-आख्यान,
अम्बर के रहस्य द्युतिमान!

(७)

चला मीन-दृग चारों ओर,
गह गह चञ्चल अञ्चल-छोर,
रुचिर रुपहरे-पङ्ख पसार,
अरी वारि की परी किशोर!

तुम जल थल में अनिलाकार,
अपनी ही लघिमा पर वार,
करती हो बहु रूप-विहार।

(८)

अङ्ग-भङ्गि में व्योम मरोर,
भौंहों में तारों के झौंर
नचा, नाचती हो भरपूर,
तुम किरणों की बना हिंडोर;

निज अधरों पर कोमल, क्रूर,
शशि से दीपित प्रणय-कपूर,
चाँदी का चुम्बन कर चूर।

(९)

खेल मिचौनी-सी निशि भोर
कुटिल काल का भी चित चोर;
जन्म-मरण से कर परिहास,
बढ़ असीम की ओर अछोर;

तुम फिर फिर सुधि-सी सोच्छ्वास,
जी उठती हो बिना प्रयास,
ज्वाला-सी, पाकर वातास।

(१०)

ओ अकूल की उज्ज्वल-हास!
अरी अतल की पुलकित-साँस!
महानन्द की मृदुल-उमङ्ग!
ओ अमेय की मञ्जुल-लास!

मेरे मन की विविध-तरङ्ग,
रङ्गिणि! सब तेरे ही सङ्ग,
एक रूप में मिलें अनङ्ग।

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

तीर्थ-रेणु ।

(रामतीर्थ)

भारतवर्ष का प्रत्येक बच्चा यह समझ कर भारत-भूमि की सेवा के लिए तैयार हो जाय कि भारतवर्ष के प्रत्येक बच्चे में सम्पूर्ण भारतवर्ष समाया हुआ है।

व्यक्ति-गत और एकदेशीय धर्म को सार्वदेशिक और राष्ट्रीय धर्म से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। इनके उचित सामञ्जस्य से ही यथार्थ विकास हो सकता है।

संन्यास-भाव के बिना ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। संन्यास-भाव का अर्थ है कि हमारी व्यक्तिगत आत्मा मातृभूमि की बृहत् आत्मा के साथ एकाकार हो जाय।

ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए सच्चे ब्राह्मण बनने की आवश्यकता है। सच्चा ब्राह्मण वही है जो सदैव राष्ट्र के हित-चिन्तन में अपने विचार लगाया करता है।

आत्म-साक्षात्कार के लिए सच्चे क्षत्रिय बनने की आवश्यकता है। सच्चा क्षत्रिय वही है जो अपने देश के लिए प्राणों की भेंट चढ़ाने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहता है।

ईश्वर-दर्शन के लिए सच्चे वैश्य बनने की आवश्यकता है। सच्चा वैश्य वही है जो अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की धरोहर समझता है।

किसी भी देश में उस समय तक एकता और प्रेम का जन्म नहीं हो सकता है जब तक लोग एक दूसरे के अवगुणों पर आँख गड़ाया करते हैं।

आसमान से बातें करनेवाले, उज्ज्वल संगमरमर के मन्दिर या पत्थर की प्रतिमायें अब तुम्हारे हृदय की जलन को नहीं मिटा सकतीं। इसके लिए देश के भूखे-प्यासे नारायणों और दुबले-पतले विष्णुओं की पूजा करनी होगी।

सबसे बड़ी भलाई जो तुम मनुष्य के साथ कर सकते हो वह विद्या दान है। आज के खाना खिलाने से उसकी कल की भूख नहीं मिट सकती। किन्तु उसको कोई हुनर सिखाने से आजन्म वह सुखी रह सकता है।

भारत के दारिद्र्य का सबसे बड़ा कारण यह है कि हम लोग कूड़ा-करकट से घृणा करते हैं, मुर्दा जानवरों की हड्डियाँ छूने से नाक-भौं सिकोड़ते हैं।

जो मनुष्य सचमुच नेता बनने के योग्य है वह कभी अपने साथियों की बुद्धिहीनता, अपने अनुयायियों की विश्वासघातकता, मनुष्य-जाति की कृतघ्नता अथवा जनता की उदासीनता का रोना नहीं रोता है।

प्रत्येक मनुष्य को अपना विकास करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। वह अपना सिर चाहे जितना ऊँचा उठा ले, किन्तु पैर उसके सार्वभौमिक पृथ्वी पर ही रहना चाहिए। दूसरों के कन्धों या गर्दन पर लात रखना अन्याय है, चाहे वह कमज़ोर हो या स्वयं लात सहने को तैयार हो।

जो मनुष्य देश के सार्वजनिक जीवन में सहायता पहुँचा रहा है उसके वैयक्तिक जीवन में झाँकने का तुम्हें क्या अधिकार है? क्या ईश्वर ने तुम्हें अपनी खुफ़िया पुलिस में नियुक्त किया है?

यदि तुम्हें किसी चीज़ में अथवा किसी धर्म में गुण मालूम होते हैं तो उन्हें अङ्गीकार करो। पहले स्वयं परीक्षा कर लो, अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर लो।

अगर संसार में तीस करोड़ ईसा, मुहम्मद, बुद्ध या राम जन्म लें तो भी तुम्हारा उद्धार नहीं हो सकता। जब तक तुम स्वयं अपने अज्ञान को दूर करने के लिए कटिबद्ध नहीं होते तब तक कोई तुम्हारा उद्धार नहीं कर सकता। इसलिए दूसरों का भरोसा मत करो।

सभी धर्म तुम्हारा परदा उठाने के लिए, आत्मा का ज्ञान कराने के लिए चेष्टा कर रहे हैं।

जब तक हमारे ऊपर किसी बाह्य शक्ति का दबाव रहता है अथवा इस प्रकार आदेश दिये जाते हैं कि तुमको यह करना होगा, यह न करना होगा, तब तक सच्ची आध्यात्मिक पवित्रता का विकास नहीं हो सकता।

व्यक्तियों की पूजा, नाम-रूप की पूजा, विद्या और गुणों की पूजा, धन और उपाधियों की पूजा—सब मूर्तिपूजा के अन्तर्गत हैं।

सचमुच वह चौका-धर्म हमारे करुणा का पात्र है जिसके विचार में हमारी अनन्त और अजर आत्मा किसी विदेशी की परछाई से कलुषित हो जाती है।

वेदान्त कहता है—जितना तुम अपने शरीर को सत्य समझते हो, उसी परिमाण में तुम दूसरे के शरीरों को सत्य समझते हो।

यदि तुम किसी चित्र के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर चित्र की पूजा करते हो और जिसका चित्र है उसकी अवहेलना करते हो तो क्या तुमको मूर्तिपूजक कहना अनुचित है।

प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। हमारे देश का रूप-रङ्ग बदल गया, सरकार बदल गई, भाषा बदल गई और मनुष्यों का स्वभाव भी बदल गया। किन्तु हमारे वैदिक युग के देवता अब भी स्वर्ण-हिंडोले में झूला करते हैं। वे नीचे उतर कर स्वतन्त्रतापूर्वक हमारे साथ क्यों नहीं खेलते हैं?

जो तुम्हें पतित दिखाई देते हैं उनका उद्धार करनेवाले तुम कौन हो? क्या तुम अपना उद्धार कर चुके हो?

यदि तुम चाहो तो आज ईसा या बुद्ध का जन्म हो सकता है।

मन्त्रों के गुनगुनाने का नाम ही प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना का अर्थ है ब्रह्म का अनुभव या साक्षात्कार।

'हे ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो', इसके स्थान में प्रसन्नतापूर्वक कहो, मेरी इच्छा पूरी हो रही है, मेरी इच्छा पूरी हो रही है।

चलने-फिरने, उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने, हँसने-रोने, बोलने-चालने सोने-जागने में स्वतन्त्रता न होनी और दूसरों का अनुकरण करना प्रमाद नहीं है तो और क्या है?

हम दूसरों की दृष्टि में अच्छा बनना चाहते हैं, यही समाज की सबसे बड़ी बुराई है, यही सच्चे धर्म का घातक है।

संसार के सभी धर्मों के पवित्र ग्रन्थ हमें उसी दृष्टि से पढ़ना चाहिए, जैसे हम रसायनशास्त्र पढ़ते हैं। हमारा निजी अनुभव ही उसमें अन्तिम प्रमाण माना जाता है।

प्रायः लोग कहते हैं कि धर्म का सांसारिक प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु राम कहता है—

है, अवश्य है। सांसारिक प्रेम के उचित प्रयोग से ही हमें ब्रह्म-साक्षात् हो सकता है।

तत्त्वदृष्टि से इन्द्रिय-सुख भी धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह आनन्दानुभूति उसी प्रकार घृणित है, जैसे किसी नाली की मुहरी से दरबार का दृश्य देखना।

जङ्गल के सुनसान में कोई पाप करो। तुम देखोगे कि थोड़ी देर में तुम्हारे नीचे की घास उठकर तुम्हारे ऊपर अभियोग चलायगी। पत्थर, निर्जीव पत्थर, हरे-भरे वृक्षों के ज़बान लग जायगी, वे तुम्हारे विरुद्ध आवाज़ उठायँगे। तुम प्रकृति को—ईश्वर को—धोखा नहीं दे सकते।

गुरुत्वाकर्षण के नियम से लड़ने की आवश्यकता नहीं। सँभल कर चलो, फिर गिरने का मौक़ा न आयगा। तुम्हारी चिन्तायें, तुम्हारे दुःख, शोक, वेदनायें या पतन सब तुम्हारी किसी न किसी कमज़ोरी के कारण पैदा हुए हैं। उसको दूर कर दो।

दूसरों के प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है? यदि कोई आदमी बीमार है तो जैसे तुम अपने शरीर के स्वास्थ्य के लिए प्रयत्न करते हो, उसी प्रकार उसके शरीर के लिए उद्योग करो।

जो किसी मनुष्य को घृणा की दृष्टि से देखता है वह उतना ही घातक है जितना दूसरों के शरीर में छुरी भोंकनेवाला व्यक्ति।

यदि सत्य के लिए प्राणों को त्यागना पड़े तो त्याग दो। यही मनुष्य का सबसे बड़ा मोह है।

सत्य का असली मर्म क्या है? संसार के विरुद्ध, समस्त ब्रह्माण्ड के विरुद्ध अपने व्यक्तित्व को ऊँचा रखना।

जब तक लोगों से हमारा काम चलता है, चाहे वह हमारा पुत्र हो, पिता हो, स्त्री हो या पति हो, तब तक हम उसे प्यार करते हैं। जब काम निकल जाता है तब उन्हें त्यागने में हमें कोई सङ्कोच नहीं होता।

जिसको हम आँख के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा मन के द्वारा नहीं अनुभव कर सकते, किन्तु जो इन्द्रियों का, मन का चलानेवाला है, वही ब्रह्म है।

ओ घोर नास्तिक, क्यों चिन्तित होता है, क्यों दुःखी होता है। भला तेरे सिवा तेरी मधुर आत्मा के सिवा इस ब्रह्माण्ड में और किसका राज्य हो सकता है।

ब्रह्म सत्य है, दृश्य अथवा संसार मिथ्या है।

क्या तुम्हें अपने ब्रह्म होने में सन्देह है? हृदय में सन्देह होने की अपेक्षा गोली मार लेना अच्छा है।

तुममें कोई ऐसी चीज़ है जो सुषुप्ति की अवस्था में भी जाग्रत रहती है। वही तुम्हारी असली आत्मा है और वही परमात्मा है, ब्रह्म है।

जहाँ न कोई दूसरी चीज़ दिखाई देती है, न सुनाई देती है, न समझने के लिए रह जाती है, वही अनन्त अवस्था है। जब तक तुम्हारे पास और कोई दूसरी चीज़ मौजूद है तब तक तुम परिच्छिन्न हो, परिमित हो।

जो कोई तुम्हारे पास आवे उसे भगवान समझो, किन्तु साथ ही अपने आपको अपनी नज़रों में न गिराओ। यदि आज तुम जेल में हो तो तुम्हीं कल राज्य-सिंहासन पर बैठाये जाओगे।

यह नियम है कि यदि तुम किसी सांसारिक पदार्थ से आसक्ति जोड़ते हो, उस वस्तु को ही

प्यार करने लगते हो, उसके द्वारा आनन्द अनुभव की आशा रखते हो, तो तुम धोखा खाओगे।

भूख और प्यास शरीर की वस्तुएँ हैं, मन के द्वारा उनका अनुभव होता है। किन्तु असली आत्मा को वे स्पर्श नहीं कर सकतीं। जो अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, ब्रह्म से ऐक्य प्राप्त करता है, उसको भूख-प्यास, सुख-दुख नहीं छू सकते।

मन को हमेशा शान्त रक्खो, पवित्र विचारों को अपने हृदय में स्थान दो। फिर संसार में कोई तुम्हारा विरोध नहीं कर सकता।

हमको जीवात्मभाव अथवा अहङ्कार निकाल कर फेंक देना चाहिए। यही सब पापों की जड़ है।

मैं कब मुक्त हूँगा? जब मैं मैं न रहूँगा।

तुम्हारे सामने कौन खड़ा है? जब तुम किसी से आँख से आँख मिलाते हो तब तुम्हारी आँख में कौन देखता है—ईश्वर, तुम्हारे भीतर का ईश्वर।

एक छोटा सा बीज है। थोड़े दिनों में उससे अगणित बीज पैदा हो जाते हैं, किन्तु उसके अनन्त गुणों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ब्रह्म अगणित रूपों में व्यक्त हो रहा है, किन्तु उसकी अनन्तता में कोई अन्तर नहीं आता।

ब्रह्म मनुष्य का असली स्वरूप है। यदि ऐसा न होता तो संसार में कभी किसी सन्त अथवा अवतार का प्रकट होना सम्भव न होता।

वेदान्त कहता है कि संसार में जो कुछ आनन्द है वह देने में है, माँगने या लेने में नहीं है।

वेदान्त के अनुसार व्यक्तिगत रूप से किसी चीज़ पर आधिपत्य करना या उसे अपनी समझना अपनी सच्ची आत्मा के विरुद्ध सबसे बड़ा पाप है।

अगर वेदान्त से तुम्हें शान्ति नहीं मिलती, तुम्हारा डर नहीं छूटता, तो ऐसे वेदान्त को लात से ठुकरा दो।

यह हमारा जीवात्मभाव है—मैं यह काम करता हूँ, मैं यह भोग करता हूँ। बस, इसी भाव-समुच्चय को सबसे पहले छोड़ना चाहिए।

त्याग का अर्थ लाचारी या कमज़ोरी नहीं है और न संसार से व्यर्थ लापरवाही दिखाना ही त्याग है। जङ्गली भेड़ियों से शरीर की रक्षा न करना त्याग नहीं कहला सकता।

हृदय की पवित्रता का अर्थ है सांसारिक पदार्थों की आसक्ति छोड़ देना।

इच्छाओं से मन की एकाग्रता में बाधा पहुँचती है। जब तक हृदय की पवित्रता और आत्म-ज्ञान न होगा तब तक सच्ची एकाग्रता नहीं हो सकती। वेदान्तिक एकाग्रता का अर्थ है कि हम अपने आपको सूर्यों का सूर्य अनुभव करें।

जिस शरीर को तुम अपना कहते हो, यदि वह बीमार पड़ गया है तो उसको परे हटा दो, उसकी बात ही मत सोचो। बस, अपने आपको मूर्त्तिमान् स्वास्थ्य समझो। तुरन्त तुम्हारा शरीर स्वस्थ हो जायगा।

तुम पाशविक भावनाओं को तब तक नहीं जीत सकते जब तक सांसारिक वैभव और चमत्कार का भ्रम नहीं छोड़ देते।

आत्म-साक्षात्कार कोई ऐसी वस्तु नहीं है

जिसे तुम्हें प्राप्त करना है। वह तो तुम्हारा सच्चा रूप है। अपनी इच्छाओं के जाल से तुमने परदा फैला दिया। बस, उसके हटाने की देर है, फिर तुम्हें झट ईश्वर के दर्शन होंगे।

यदि वेदान्त का साक्षात् करना है तो तुम इसी भीड़-भाड़ में कर सकते हो, संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ झञ्झट न हो।

अपने आपको दूसरों की आँखों से मत देखो। तुम्हारी आत्मा सदैव तुम्हें संसार की सबसे बड़ी आत्मा बतलायगी। स्वयं अपना आदर करो, संसार आप तुम्हारा आदर करने लगेगा।

प्रेम की एक ऐसी स्थिति आती है जिसमें मनुष्य पिता में, माता में, स्त्री में, समस्त संसार में ईश्वर के दर्शन करता है। इसी के द्वारा तुम इच्छाओं से ऊपर उठ सकते हो।

घृणा क्या है, ईर्ष्या क्या है? यह भी प्रेम का परिणाम है। जब किसी वस्तु पर आसक्त होते हैं तभी दूसरी से घृणा कर सकते हैं।

मुक्ति केवल ज्ञान के द्वारा सम्भव है। वर्तमान कर्त्तव्यवाद अथवा सभ्य स्वार्थ-वाद मनुष्य को चिन्ता और दुख से नहीं बचा सकता।

अविवाहित पुरुष की अपेक्षा एक विवाहित ब्रह्म-साक्षात् आसानी से कर सकता है। स्त्री एक आइना है, जिसमें पुरुष भगवान् का दर्शन करता है। यदि यह बात नहीं है तो स्त्री साक्षात् नरक का द्वार कही जा सकती है।

मैं न किसी को अपना शिष्य बनाना चाहता हूँ, न अनुयायी। मैं सिर्फ़ सत्य का अनुभव करना चाहता हूँ।

चाहे अँगरेज़ हो चाहे अमेरिकन, चाहे हिन्दू चाहे मुसलमान, चाहे बौद्ध चाहे पारसी, राम के लिए सब आत्मरूप हैं।

यदि कोई मुझसे एक शब्द में मेरा समस्त तत्त्वदर्शन सुनना चाहे तो मैं कहूँगा—स्वावलम्बन और आत्मज्ञान।

वेदान्त की दृष्टि में दया या करुणा कमज़ोरी है।

वेदान्त-प्रचार का सबसे उत्तम उपाय वेदान्त का अनुभव करना है। इसके अतिरिक्त और कोई राज-मार्ग नहीं।

निरन्तर काम करके जीवात्मभाव को भुला दो। काम के लिए काम करो। सूर्य और चन्द्र की भाँति अहङ्कार-शून्य होकर काम करो। सफलता की आशा छोड़ दो। दर्शक की भाँति तमाशा देखो। तब सफलता हाथ जोड़े तुम्हारे सामने खड़ी रहेगी।

दूसरे तुमको कर्मयोगी कहेंगे, तुम स्वयं अपूर्व शान्ति का अनुभव करोगे।

यदि तुम योग्य हो तो तुम्हें इच्छा करने की आवश्यकता नहीं, इच्छित वस्तु स्वयं तुम्हारे पास दौड़ती आयगी।

इच्छाओं का त्याग कर दो। तुम्हें उससे दोहरा लाभ होगा। एक तो तत्काल शान्ति मिल जायगी और दूसरे अन्त में इच्छा की पूर्ति होगी। याद रक्खो, जब ज्ञात रूप से अथवा अज्ञात रूप से तुम ब्रह्मानन्द में डूब जाते हो, तुच्छ चिन्तायें छोड़ देते हो, तभी सफलता होती है।

विचार ही भाग्य बन जाता है।

जैसा तुम सोचते हो, वैसे ही बन जाते हो। पाप सोचोगे, पापी बन जाओगे। अपने को बेवक़ूफ़ समझोगे, बेवक़ूफ़ बन जाओगे। कमज़ोर

समझोगे, फिर संसार की शक्ति तुम्हें नहीं उठा सकेगी। सर्वशक्तिमान् समझोगे, सर्वशक्तिमान् बन जाओगे।

मनुष्य पशुओं से ऊँचा समझा जाता है, क्योंकि उसकी इच्छायें बुद्धि के वश में हो सकती हैं।

पश्चिमीय दर्शन केवल जाग्रत अवस्था का विचार करता है, स्वप्न और सुषुप्ति का नहीं। जब उसका आधार ही अधूरा है तब परिणाम कैसे ठीक हो सकता है।

मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है।

प्रेम का अर्थ है अपने साथियों के साथ एकता का अनुभव करना। सच्चा प्रेम हृदय को विकसित करता और मोह हृदय को सङ्कुचित कर देता है। इन्द्रिय-लिप्सा निकाल देने से प्रेम शुद्ध आध्यात्मिक प्रकाश हो जाता है।

प्रेम का अर्थ है सौन्दर्य का अनुभव। इच्छा प्रेम का रूपान्तर है। प्रेम ही ईश्वर है। इसलिए तुम भी ईश्वर हो।

जिस मनुष्य ने कभी प्रेम नहीं किया, वह कभी ब्रह्मसाक्षात् नहीं कर सकता।

ओ भलेमानुस! तू ही तो अपनी निगाहों से वस्तुओं को आकर्षक बना देता है, बार बार देख कर उन पर सौन्दर्य का परदा चढ़ा देता है और फिर तू ही उनके प्रेम में फँस जाता है।

वह धन्य है जिसकी सम्पत्ति लुट गई हो, वह तो और भी धन्य है जिसकी स्त्री भाग गई है, किन्तु यदि इससे उसको असली प्रेम-स्रोत का पता लग गया हो।

इच्छा छोड़ कर जो काम किया जाता है वही त्याग कहलाता है।

त्याग अपनी सबसे प्यारी और सबसे नज़दीक की वस्तु से प्रारम्भ होना चाहिए। सारा संसार मेरा घर है और भलाई करना मेरा धर्म है।

मैं इस दृश्य संसार का केवल द्रष्टा हूँ। इससे मेरा अधिक सम्बन्ध नहीं। प्रकृति के पहिये के अनुसार संसार में उत्थान-पतन हुआ करते हैं।

सभा-समाजों पर कभी आश्रित मत हो। सबको अपने अपने पैरों खड़ा होना चाहिए।

दूसरों को प्रसन्न करने के लिए कभी कोई काम मत करो। जो 'न' कह सकता है वह बहादुर है।

इच्छा रोग है, उससे मनुष्य चिन्ता में पड़ा रहता है।

दीनदयालु श्रीवास्तव

दिक्पालों की विरह-वेदना।

निषध-देश का राजा नल बड़ा प्रतापी और अनेक गुणों का आकर था। रूप में वह प्रत्यक्ष मार-महाराज को भी मात करनेवाला था। एक दिन वह शिकार खेलने गया। घूमते घामते एक पुष्करिणी के तट पर उसने एक बड़ा विलक्षण हंस देखा। वह परम सुन्दर था। उसके शरीर की कान्ति तप्त सुवर्ण के सदृश थी। हंस श्रान्त था और आँखें बन्द किये बैठा था। नल दबे पैरों उसके पास गया और उसे पकड़ लिया।

राजा के द्वारा पकड़े जाने पर हंस ने मनुष्य-वाणी में बड़ा विलाप किया। उसने राजा को बहुत फटकारा भी। वह बोला—मैं मुनियों की तरह कन्द-मूल खाकर रहता हूँ, किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देता। माँ मेरी जरा-जर्जर है। पत्नी सगर्भा है। हे भगवान्, अब उनकी क्या दशा होगी! राजा, तू क्षत्रिय है। दुर्बलों की रक्षा करना

यह पुस्तक वितरित न की जाय

तेरा धर्म्म है। उनको पकड़ना और उन पर अत्याचार करना तेरा धर्म्म नहीं। भुज-बल के दर्प से यदि तू दृप्त हो और अपना बल-वैभव दिखाने के लिए तेरे बाहु यदि खुजलाते हों तो अपने किसी समकक्ष सुभट को ढूँढ़। मुझ निरीह पक्षी पर तू क्यों अपना क्षत्रियत्व प्रकट कर रहा है? तुझ अविवेकी को धिक्कार!

हंस का हृदयद्रवकारी विलाप सुन कर नल को दया आई। उसने उसे छोड़ दिया। इस पर हंस बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—मुझे छोड़ कर तूने मुझ पर जो उपकार किया है उसका बदला मैं देना चाहता हूँ। विदर्भदेश के राजा भीम की कन्या दमयन्ती परम सुन्दरी है। सुरूपता में उसकी बराबरी करनेवाली और कोई भी कामिनी त्रिलोक में नहीं। मैं उसके साथ तेरा विवाह करा देने की चेष्टा करूँगा। मुझे सामान्य पक्षी मत समझ। मैं ब्रह्मा का वाहन हूँ। मैंही उनका रथ खींचता हूँ। एक बार मैंने अपने स्वामी के मुख से सुना भी है कि दमयन्ती नल ही के योग्य है। यह कह कर हंस उड़ गया और दमयन्ती के पिता की राजधानी कुण्डिनपुर जा पहुँचा।

वहाँ दमयन्ती को एकान्त में पाकर उसने नल की बड़ी प्रशंसा की और उस पर दमयन्ती को अनुरक्त करा दिया। वहाँ से लौट कर हंस ने कार्य्यसिद्धि की सूचना नल को दी।

इस तरह नल और दमयन्ती दोनों प्रेमपाश से परस्पर आबद्ध हो गये। तब से दमयन्ती दिन-रात नल के ही चिन्तन से चिन्तित रहने लगी। धीरे धीरे उसकी नींद-भूख जाती रही। वियोग में जो दशा प्रेमियों की होती है उसकी पराकाष्ठा को वह पहुँच गई। नौबत यहाँ तक आई कि एक रोज़ वह बेहोश होगई। इसकी ख़बर पाते ही उसका पिता भीम उसके पास दौड़ आया। लक्षणों से रोग का कारण वह समझ गया और शीघ्र ही उसके विवाह की योजना में वह लग गया। उसने स्वयंवर की तैयारी कर दी।

दमयन्ती की रूपराशि का हाल इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण, इन चारों दिक्पालों ने भी सुन रक्खा था। स्वयंवर का समाचार पाकर वे भी, दमयन्ती की प्राप्ति की कामना से, चले। इधर नल ने भी, इसी निमित्त, अपने नगर से प्रस्थान किया। मार्ग में दिक्पालों से उसकी भेंट होगई। दिक्पालों को यह ज्ञात होगया था कि दमयन्ती नलही पर अनुरक्त है। अतएव, उन्होंने यह सोचा कि नल के सदृश रूप-लावण्ययुक्त युवा और विश्वविश्रुत राजा को छोड़ कर वह हम लोगों में से किसी को शायद ही पसन्द करे। इस कारण उन्होंने एक बड़ी ही निर्लज्जता का काम करने का निश्चय किया।

दिक्पालों ने नल की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। उन्होंने कहा—तुम ऐसे हो, तुम वैसे हो। तुम्हारे पूर्वज—तुम्हारे बाप-दादे—ऐसे थे। परोपकार की बड़ी महिमा है। उसके बराबर धर्म्म नहीं। दूसरों के लाभ के लिए परोपकार-व्रत के व्रती प्राण तक देते नहीं सकुचते। हम लोग आपसे एक याञ्चा करते हैं। ज़रा हमारे लिए कष्ट उठाकर दमयन्ती के पास तक चले जाव और हमारी दूतता कर दो। हम जो सन्देश कहें उसे दमयन्ती को सुना आवो और जी लगाकर इस तरह हमारी वकालत कर दो जिससे वह हमी में से किसी एक के गले में वर-माल्य डाल दे।

यह सुनकर नल को बड़ा दुःख हुआ। उसने उन चारों की स्वार्थ-परता को मनही मन बहुत धिक्कारा। उसने कहा, मैं तो स्वयं ही दमयन्ती की प्राप्ति के लिए स्वयंवर में जा रहा हूँ। यह बात इन देवताओं से छिपी नहीं। फिर भी ये इतने नीच हैं कि मुझसे ऐसा गर्हित काम कराना चाहते हैं। ख़ैर, कुछ भी हो। ये मेरे याचक हैं। मैं इनको निराश न करूँगा। मैं दिखा दूँगा कि चन्द्रवंशी राजा अपना सर्वस्व खोकर भी याचकों को विमुख नहीं करते।

यह सोचकर नल ने दिक्पालों के कथन का यथोचित उत्तर दिया और पूछा कि मैं दमयन्ती के पास तक कैसे पहुँच सकूँगा। देवताओं ने कहा, अजी इसकी चिन्ता न करो। लो, हम तुम्हें तिरस्करिणी विद्या सिखाये देते हैं। उसके प्रभाव से तुम भीम भूपाल के महलों के भीतर, अन्तःपुर तक, बेधड़क चले जा सकोगे। तुम सबको देखोगे; तुम्हें कोई न देखेगा।

वह विद्या सीख कर और दिक्पालों का सन्देश

सुनकर नल ने तो कुण्डिनपुर में प्रवेश किया। दिक्पाल वहीं, उस नगर के पास ही, कहीं बाहर, किसी बाग़ में ठहर गये।

राजा भीम के महलों के भीतर नल निर्बाध घुसते चले गये। उन्हें किसी ने न देखा। ठेठ दमयन्ती के कमरे में पहुँचने पर वे प्रकट हो गये। उन्हें इस तरह घुस आया देख दमयन्ती और उसकी सहेलियाँ सन्नाटे में आ गईं। किसी से कुछ करते धरते न बना। वे सब उठ खड़ी हुईं और काठ की तरह इधर-उधर खड़ी रह गईं। सखियों की यह दशा देखकर दमयन्ती ही ने साहस का सहारा लिया। वह बोली—

आप कौन हैं? मनुष्य हैं या देवता हैं या नागलोक के निवासी हैं? किस देश को छोड़कर आपने उसे उजाड़ कर दिया? आपके नाम का आश्रय पाकर वर्णमाला के किन अक्षरों के सौभाग्य का परमोदय हुआ? आपका रूप देखकर नेत्र तो मेरे सफल होगये। नाम बताकर अब मेरे कानों में भी सुधावृष्टि कर दीजिए। खड़े आप कब तक रहेंगे? आपको देखते ही मैंने अपना आसन जो छोड़ दिया है उसी पर बैठ जाइए। बताइए तो, आपके इस साहस का कारण क्या? आप किसे कृतार्थ करने के लिए यहाँ पधारे हैं?

नल ने दमयन्ती के आसन पर बैठना तो मुनासिब न समझा। पर उसकी एक सखी के आसन को खींचकर उसी पर बैठ गये। आपने अपना नाम-धाम कुछ न बताया। बोले, मैं दिक्पालों के पास से आ रहा हूँ। आप मुझे अपना ही अतिथि समझिए। मैं अपने मालिकों—दिक्पालों—का कुछ सन्देश सुनाने आया हूँ। हो चुका। बहुत आव-भगत की ज़रूरत नहीं। आगत-स्वागत की बातों के फेर में न पड़िए। बैठ जाइए। आसन क्यों छोड़ दिया? मैं जिस कार्य के निमित्त आया हूँ उसे यदि आप सफल कर देंगी तो मैं उसी को बहुत बड़ा आतिथ्य समझूँगा—मैं समझूँगा कि आपने मेरी षोडशोपचार पूजा कर दी। कहिए, आप अच्छी तो हैं? शरीर तो आपका स्वस्थ है? मन तो मलिन नहीं? अब विलम्ब न कीजिए। सावधान होकर मेरा निवेदन सुन लीजिए—

मैं आज की बात नहीं कहता। उस समय की बात कहता हूँ जब आपकी शैशवावस्था थी। तभी से आपके गुणगणों की गाथा दूर दूर तक पहुँच गई थी और तभी से इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि आप पर अनुरक्त हैं। इन चारों को आप साधारण देवता न समझें। ये दिक्पाल हैं—ये अपनी अपनी दिशा (उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम) के स्वामी हैं। इनका स्वामित्व यहीं समाप्त नहीं। इन्द्र देव-समूह के अधीश्वर हैं, वरुण सलिलाधिप हैं, यम धर्मराज हैं और अग्नि यज्ञभाग के प्रधान अधिकारी हैं। इससे आप इनके प्रभुत्व का अनुमान अच्छी तरह कर सकती हैं। यही, इतने प्रभुताशाली दिगीश, आपके शैशव-काल से ही, आपके अनुरागी हो चुके हैं।

इनका इस समय का हाल तो कुछ पूछिए ही नहीं। आपमें अनुरागशील होने के कारण इस समय तो इन पर बड़ा ही अत्याचार हो रहा है। बात यह है कि पहले तो आपकी शैशवावस्था थी। पर अब शैशव और यौवन, इन दोनों ही से आपका सम्बन्ध हो गया है। क्योंकि इस समय आप वयःसन्धि को प्राप्त हैं (अतएव आपकी वही दशा है जो दशा, इस समय, भारतवर्ष की है। आप पर भी द्विचक्री शासन हो रहा है और भारत पर भी। बङ्गाल में डाके पड़ रहे हैं; पञ्जाब में सत्याग्रह हो रहा है; मदरास में राज-कर न देने की तैयारियाँ हो रही हैं। सरकार कहती है, मैं अपना शासन अक्षुण्ण रक्खूँगी; प्रजा कहती है, यह मुझे मंज़ूर नहीं) इधर तो शैशव आप पर अपना अधिकार अक्षुण्ण रखना चाहता है; उधर यौवन उसकी एक नहीं सुनता। वह कहता है—न, अब यहाँ मेरा आधिपत्य होगया है। ऐसे द्विचक्री शासन में डाकुओं, चोरों और बदमाशों की बन आती है। ऐसे राज्य में रहने अथवा विचरण करनेवालों का जान-माल सलामत नहीं रह सकता। दिक्पालों को भी इसका कुफल भोगना पड़ा। उनका मन आपके इसी शैशवयौवनात्मक द्विचक्री राज्य से सम्बन्ध रखनेवाले भावों में चिरकाल से विचरण कर रहा था। नतीजा यह हुआ कि वियोगियों की कान्ति के लुटेरे मार नाम के डाकू ने उनका सारा धैर्य्य-धन छीन लिया। इससे उनके मन को

इस समय जो सन्ताप हो रहा है उसका ठीक ठीक अन्दाज़ा वही कर सकता है जिसका सर्वस्व चोर या डाकू लूट लेते हैं। यह इतनी सङ्गीन डाकेज़नी आप ही की बदौलत हुई है!

अपनी पत्नी का आदर-सत्कार करना सभी का धर्म्म है। इन दिक्पालों की भी पत्नियाँ विद्यमान हैं। पूर्वादि आशायें (दिशायें) क्या हैं? वे इनकी पत्नियाँ ही हैं। पहले ये लोग अपनी इन आशाओं पर यथेष्ट अनुरक्त थे। पर अब? अब कुछ न पूछिए। अब तो उनकी ओर उनके स्वामी दिगीश्वरों का ध्यान तक नहीं जाता। अब तो एक-मात्र आपकी प्राप्ति की आशा ने उनके हृदय पर अधिकार कर लिया है। वहाँ अब अन्य के लिए जगह ही नहीं। आपके सदृश उदार और अपूर्व नायिका की ओर आकृष्ट हो जाने के कारण ये दिक्पाल पूर्वादि आशाओं (दिशाओं) के परिपालनाधिकार को अब भूल सा गये हैं। अपूर्व वस्तुओं की प्राप्ति की आशा पूर्व-वर्तिनी सामान्य आशाओं को यदि दबा दे तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं।

× + × +

आपका यौवन दिन दूना बढ़ता आ रहा है। जैसे जैसे वह उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है वैसे ही वैसे कुसुमशायक भी अपने शरासन पर रोदे को चढ़ाता गया है। साथ ही सुराधिप इन्द्र का प्रेम भी आप पर उसी अनुपात से वृद्धि को प्राप्त होता गया है। अब तो यह हाल है कि इधर तो आपका यौवन पराकाष्ठा को पहुँच गया है उधर पुष्पधन्वा के धनुष की प्रत्यञ्चा पूरी खिंच कर पराकाष्ठा को पहुँच गई है और साथ ही सुरेश्वर का अनुराग भी आप पर पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

इस समय तो इन्द्र की कुछ अजीब ही हालत हो रही है। उसकी विवेक-बुद्धि मारी सी गई है। वह कुछ का कुछ समझने लग गया है। चन्द्रदर्शन से उसे बहुत सन्ताप होता है। वह उस पर बेतरह कुपित है। उसका यह कोप बेजा नहीं। परन्तु सूर्य्य ने उसका क्या बिगाड़ा है? तथापि वह उसके विषय में भी क्रोधान्ध हो रहा है। बात यह है कि उदित होने पर प्रातःकाल सूर्य्य का बिम्ब भी चन्द्रमा ही के बिम्ब के सदृश लाल होता है—चन्द्र-बिम्ब से वह भी मिलता-जुलता है। और, सन्ताप तो वैसी हृदयाह्लादिनी वस्तु से होता ही है। अतएव इन्द्र समझता है कि यह सूर्य्य नहीं, यह तो चन्द्रमा ही है। इस कारण क्रोध से उसकी वे हज़ारों ही आँखें अरुण हो जाती हैं और वह उनसे सूर्य्य की तरफ़ इस तरह देखता है जैसे वह उसे खा जाना चाहता हो। अपराध करे कोई, क्रोधदृष्टि का निशाना बनाया जाय कोई और ही! यह पागलपन नहीं तो क्या है? सच तो यह है कि क्रोधान्ध की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती।

मैं कहता हूँ कि इस दुर्विनीत काम को हो क्या गया है। इन्द्र यदि अन्धे के सदृश व्यवहार करे तो इसे क्यों वैसा व्यवहार करना चाहिए। यह तो अपने अविवेक का फल एक दफ़े चख भी चुका है। जिनके तीन ही आँखें हैं उन त्रिनेत्र (शङ्कर) को तङ्ग करने के कारण इसे जो सज़ा एक दफ़े मिल चुकी है उसी से इसका पिण्ड अभी तक नहीं छूटा। वह सज़ा यह अभी पूरी नहीं भुगत पाया। वह घाव इसका अभी तक बना हुआ है। क्रुद्ध होने पर शङ्कर ने इसे जलाकर जो अनङ्ग कर दिया था वह अनङ्गता इसकी अभी तक ज्यों की त्यों है। पर यह फिर भी अपनी शरारत से बाज़ नहीं आता। तीन ही आँखवाले के कोप से तो इसकी यह दुर्गति हुई है; अब इसने एक हज़ार आँखवाले इन्द्र से भी छेड़छाड़ शुरू कर दी है। यदि कहीं वह भी शङ्करही के सदृश इस पर क्रुद्ध हो उठा तो भगवान् ही जाने इस अविवेकी अनङ्ग की क्या दशा हो!

त्रिनेत्रमात्रेण रुषा कृतं य-
त्तदेव योऽद्यापि न संवृणोति।
न वेद रुष्टेऽद्य सहस्रनेत्रे
गन्ता स कामः खलु कामवस्थाम्॥

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि सुरेश पर स्मर यदि इतना घोर अत्याचार कर रहा है तो वह उसे सज़ा क्यों नहीं देता? इन्द्र तो सुरेश्वर है; बड़ा बली भी है। साथही उसका अस्त्र वज्र इतना भीषण है कि उसकी एक ही चोट से वह पर्वतों को भी चकनाचूर कर सकता है। फिर बात क्या है जो वह अपाहिज बना बैठा है और अपने शत्रु मनसिज का अत्याचार चुपचाप सह रहा है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन्द्र इतना नादान या

अपाहिज नहीं। वह अपनी शक्ति का यथेष्ट ज्ञान रखता है। पर वह करे क्या ? भगवान् भोलानाथ (महेश्वर) ने मनसिज को अनङ्गता का अभेद्य कवच जो पहना रक्खा है। हाय ! यदि यह बात न होती तो इन्द्र ने काम का काम कब का ख़तम कर दिया होता—वज्र की एक ही चोट से उसने उसे नामशेष कर डाला होता। वज्र भौतिक पदार्थों और शरीरधारी प्राणियों ही पर आघात कर सकता है। परन्तु काम के शरीर ही नहीं। इसी से वज्र का होना, न होना तुल्य है। हवा में वज्र चलाने से क्या लाभ ? निशाने के अभाव में वज्र बेचारा कर ही क्या सकता है ? इस दुर्व्यवस्था के घटक कपर्दी कैलासनाथ की बुद्धि की बलिहारी ! अफ़सोस !

शरैः प्रसूनैस्तुदतः स्मरस्य
स्मर्तुं स किं नाशनिना करोति।
अभेद्यमस्याहह वर्म न स्या-
दनङ्गता चेद्गिरिशप्रसादः॥

शरीर सन्तप्त और मन मलिन होने पर, किसी फूल-बाग़, या उद्यान, या उपवन में क्षण भर बैठने से बहुत आराम मिलता है। और, इन्द्र के नन्दन-वन से बढ़ कर सुन्दर और मनोरम उद्यान संसार में और नहीं। परन्तु अभाग्यवश इन्द्र बेचारे को, घड़ी भर दिल बहलाने के लिए, वहाँ भी जाना नसीब नहीं होता। बात यह है कि कोकिल का आलाप उसके कानों को असह्य है। वह यदि इन्द्र को सुनाई दे तो उसे इतना कष्ट हो जैसे किसी ने उसके कानों को सुई से छेद दिया हो। इसी से वह भूल कर भी नन्दनोद्यान के भीतर पैर नहीं रखता। उसे वहाँ जाने का साहस ही नहीं होता। लोक में यदि कोई किसी का अपकार हाथ, पैर या शरीर के और किसी अवयव से करता है तभी वह उसे पर्याप्त अपराधी समझता है। पर इन्द्र तो पिक की वाणी-मात्र को भी बहुत बड़ा अपराध समझ रहा है !

सन्तप्त मनुष्य को शीतोपचार से बहुत सुख मिलता है। इस उपचार के साधन भी इन्द्र के पास बहुत हैं। हिमांशुशेखर हर उसी के राज्य में रहते हैं और सन्तापहारी चन्द्र उनके मस्तक पर विराजमान है परन्तु उसका आश्रय लेना तो दूर रहा, इन्द्र ने तो शिवाराधन तक छोड़ दिया है। वह इस समय शिव को पूजा का पात्र ही नहीं समझता। वह तो उन्हें इसलिए अपराधी समझ रहा है कि उन्होंने बाल चन्द्रमा को अपने भालस्थल में स्थान दे रक्खा है। बात यह है कि पूर्ण या आधे चन्द्रमा ही को नहीं, अत्यन्त छोटे प्रतिपच्चन्द्र के भी दर्शन से उसका सन्ताप घटता तो नहीं, उलटा बढ़ जाता है—

पिकस्य वाङ्मात्रकृताद् व्यलीका-
न्न स प्रभुर्नन्दति नन्दनेऽपि।
बालस्य चूडाशशिनोऽपराधा-
न्नाराधनं शीलति शूलिनोऽपि॥

आपके वियोग में सुरेश्वर इन्द्र की जो दुर्गति हो रही है उसका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ। धैर्य्य ने तो उसका साथ बिलकुल ही छोड़ दिया है। वह अत्यन्त अधीर हो रहा है। शरीर-सन्ताप उसका बढ़ता ही जाता है। उसे कम करने के लिए भाँति भाँति के उपचार किये जाते हैं। परन्तु लाभ किसी से रत्ती भर भी नहीं होता। उलटा औरों की हानि ज़रूर होती है। अमरावती में अनेक कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो कुछ माँगा जाय, सभी दे सकते हैं। वे दूसरों का दारिद्र्य दूर करने में सर्वथा समर्थ हैं। परन्तु इन्द्र ने, इस समय, ख़ुद उन्हीं को महा-दरिद्र कर दिया है। उसके लिए शीतोपचार की आवश्यकता होने के कारण उसके नौकर-चाकर रोज़ ही उसके लेटने के लिए कोमल कोमल पत्तों की आर्द्र शय्यायें तैयार किया करते रहे हैं। ये पत्ते उन्हीं कल्पपादपों से तोड़ तोड़ कर लाये जाते थे। परन्तु वे अनन्त समय तक थोड़े ही मिल सकते थे। ख़र्च बहुत, आमदनी कम। फल यह हुआ कि कुछ ही दिनों में उनके समस्त पल्लव नुच गये। अब तो वे बेचारे ठूँठ बने खड़े हैं; उनमें पत्ते का नाम तक नहीं। उनके इस प्रवालदारिद्र्य को देख कर कहना पड़ता है—औरों का दारिद्र्य दूर करने की शक्ति रखनेवाले कल्पपादपों को भी दारिद्र्य भोग करना पड़ा ! वाम विधि चाहे जो करे !

इन्द्र की दुर्दशा का यह हाल सुनकर शायद आप अपने मन में कहें—अजी इस अविवेकी इन्द्र की अक़्ल ठिकाने लानेवाला क्या इसके यहाँ एक भी समझदार उपदेशक नहीं ? इसके गुरु बृहस्पति किस मर्ज़ की दवा

हैं ? क्यों नहीं वे इसे समझा देते कि इन्द्राणी के रहते अन्य नायिका के कारण क्यों इतना कष्ट उठा रहे हो ? धीर धरो। मिलेगी तो मिल जायगी। न मिलेगी तो क्या उसके लिए जान दे दोगे ? आपकी यदि ऐसी ही कल्पना हो तो मुझे कहना पड़ेगा कि आपका वस्तुज्ञान यथार्थ नहीं। गुरुवर बृहस्पति उदासीन नहीं। वे अनवरत सदुपदेश करते ही रहते हैं। और उनके उपदेश भी कुछ ऐसे वैसे नहीं होते। यदि उनकी भनक कान में एक बार भी पड़ जाय तो स्मरान्धों की भी मोहनिद्रा एक मिनट में खुल जाय। पर वह कान के भीतर पड़े भी तो। इन्द्र तो बहरा हो रहा है—एक कान से नहीं, दोनों से। बात यह है कि उसका शत्रु स्मर, उसके सम्मुख ही खड़े होकर, दिन-रात, अपने धन्वा की प्रत्यञ्चा का घोर टङ्कार-नाद किया करता है। इस दशा में इन्द्र के कान कब तक प्रकृतिस्थ रह सकते थे। धनुष्टङ्कार सुनते सुनते उनके परदे फट गये और अब वह श्रवण-शक्ति खोकर पूरा बहरा बन गया है—

रवैर्गुणास्फालभवैः स्मरस्य
स्वर्णार्थकर्णौ बधिरावभूताम् ।
गुरोः शृणोतु स्मरमोहनिद्रा-
प्रबोधदक्षाणि किमक्षराणि ॥

* * *

भगवान् रुद्र की आठ मूर्तियों में से जो मूर्ति अत्यन्त देदीप्यमान है और जिसकी उपासना आहिताग्नि जन नित्य ही बड़े भक्ति-भाव से करते हैं उसे भी आप जानती ही होंगी। वह अग्निदेव भी एक दिशा का स्वामी है। आपका कैङ्कर्य्य करने के लिए उसे भी आज्ञा हो चुकी है—उसके नाम भी हुक्मनामा जारी हो चुका है कि जा, तू भी दमयन्ती का दास हो जा। यह हुक्म किसी ऐसे वैसे का नहीं जो टाला जा सके। इसे तो स्वयं स्मर महाराज ने दिया है। अतएव इसे अनुल्लङ्घनीय समझ कर अग्नि भी आपका दास हो गया है।

कन्दर्प, आपका आश्रय लेकर, अग्नि को बहुत ही कड़ी सज़ा दे रहा है। आपकी दासता कराकर अग्नि को वह उसकी निर्दयता का बदला सा दे रहा है—उसे वह इस बात का सबक़ सा पढ़ा रहा है कि देख जलने से कितना दाह और तज्जन्य कितनी पीड़ा होती है। अग्नि सदा ही दूसरों को जलाया करता है; परन्तु जलन कितनी सन्तापकारिणी होती है, इसका उसे स्वयं अनुभव नहीं। आपकी वियोग-ज्वाला में जलने से उसे अब उसका पूरा पूरा अनुभव हो जायगा। अतएव भविष्यत् में वह औरों को जलाने का कभी साहस न करेगा। इसी लिए ही स्मर ने यह अद्भुत योजना कर दी है। आशा है अब वह यथेष्ट विनयसम्पन्न हो जायगा—

त्वद्गोचरस्तं खलु पञ्चबाणः
करोति सन्ताप्य तथा विनीतम् ।
स्वयं यथास्वादितत्तप्तभूयः
परं न सन्तापयिता स भूयः ॥

घटना यद्यपि पुरानी है तथापि—आपने उसे अवश्य ही सुना होगा। वह यह कि त्रिलोचन की तीसरी आँख के भीतर सुरक्षित बैठ कर अग्नि ने एक बार कुसुमायुध को भस्म कर दिया था। अग्नि का यह अत्याचार काम को अब तक नहीं भूला। तब से वह उसे अपना पक्का शत्रु समझता है और सदा इसी ताक में रहता आया है कि कब मौक़ा मिले और कब मैं इससे उस पुराने वैर का बदला लूँ। वह मौक़ा अब कहीं उसके हाथ आया है। अतएव जब से कुसुमायुध के लिए आपकी आँखों के भीतर घर बना कर रहने की योजना हुई तभी से उसने अग्नि को जलाना आरम्भ कर दिया। यद्यपि इस दाह-कार्य्य का आरम्भ हुए बहुत समय हो गया और तब से बेचारा अग्नि बराबर जलता ही चला आ रहा है तथापि मनसिज महाराज को अभी सन्तोष नहीं हुआ। वे कहते हैं कि अभी तक वैर का यथेष्ट बदला नहीं चुकता हुआ। अभी इसे और कुछ दिन जलाना बाक़ी है—

अदाहि यस्तेन दशार्द्धबाणः
पुरा पुरारेर्नयनालयेन ।
सनिर्दहंस्तं भवदक्षिवासी
न वैरशुद्धेरधुनाधमर्णः ।

मैं सच कहता हूँ, अग्नि की हालत बहुत ही बुरी है। वह बेचारा अत्यन्त ही दयनीय दशा को प्राप्त हो रहा है। आपके कारण, उस पर कन्दर्प्प-देव के सुमनशरों की अजस्र वर्षा हो रही है। वह अब उससे बेतरह

घबरा गया है—यहाँ तक कि साधारण भी सुमनों (फूलों) को देखते ही उसका हृदय कँपने लगता है। इसी से उसकी पूजा करनेवाला कोई भक्त भी यदि कुसुमाञ्जलि लेकर उसके सामने उपस्थित होता है तो वह पीछे हट जाता है। उस समय वह ऐसा व्यवहार करता है जैसे वह उन पुष्पों से भयभीत हो गया हो—

शरैरजस्रैः कुसुमायुधस्य
कदर्थ्यमानस्तव कारणाय ।
अभ्यर्चयद्भिर्विनिवेद्यमाना-
दप्येष मन्ये कुसुमाद्बिभेति ॥

* * * * *

सरोरुहों के सखा सूर्य्य जिससे पुत्रवान् हैं और चारु चन्दन के सौरभ से सुवासित दक्षिण दिशा जिसकी प्रेयसी है उस दक्षिण-दिक्पाल यम का भी बुरा हाल है। आपही के कारण वह भी अनन्त यातनायें भोग रहा है। स्मराग्नि की जलती हुई ज्वाला में गिर कर उसका धैर्य्य तो एकदम ही स्वाहा हो गया है। वह भी अहर्निश हाय हाय करता हुआ तड़प रहा है।

यम इस समय स्मराग्नि का ईंधन हो रहा है। वह आग उसके सारे शरीर को जला रही है। मलयाचल से उसका यह ज्वाला-जात दाह नहीं देखा जाता। इससे वह अपने कोमल कोमल पत्तों से, उसकी जलन कम करने के लिए, शीतोपचार किया करता है। इसे आप कोई सहल काम न समझें। यम के जलते हुए शरीर से सम्पर्क होने के कारण यद्यपि मलय के पल्लव-रूपी हाथ भी जला करते हैं तथापि वह इस दाह-व्यथा को किसी तरह सह रहा है। बात यह है कि जिस दक्षिण दिशा का स्वामी यम है उसी में मलय-पर्वत का भी वास है—वह उसी के राज्य में रहता है। इसी से वह यम के इस विपत्काल में उसका साथ दे रहा है। विपत्ति में अपने आश्रयदाता की सेवा और सहायता करना ही आश्रित जन का धर्म है—

* * * * *

तं दह्यमानैरपि मन्मथैधं
हस्तैरुपास्ते मलयः प्रवालैः ।
कृच्छ्रेऽप्यसौ नोज्झति तस्य सेवां
सदा यदाशामवलम्बते यः ॥

* * * * *

पश्चिम दिशा बड़ी शौक़ीन है। वह अरुणिमारूप कुङ्कुम से सायङ्काल नित्य ही अपने शरीर का प्रसाधन किया करती है—वह उस पर कुङ्कुम का लेप सा लगाया करती है। इस कौतुकप्रिय दिशा का स्वामी वरुण भी आपका अनुरागी हो रहा है। उससे एक भूल बहुत बड़ी हो गई। ज्योतिषशास्त्र के किसी ज्ञाता से पूछे बिना ही उसने अपने मन को आपके पास रवाना कर दिया। पर जिस घड़ी वह रवाना हुआ वह बहुत ही बुरी घड़ी थी। क्योंकि तब से वह लौटा ही नहीं। वह यहीं आपही के पास रह गया है। इससे सूचित होता है कि उसका प्रस्थान चित्रा या स्वाती नक्षत्र में ही हुआ होगा। क्योंकि जो जन इन नक्षत्रों में अपने घर से निकलता है वह फिर नहीं लौटता। वह तो जहाँ जाता है वहीं रम रहता है।

वरुण भी दिक्पाल है। वह उदधियों का अधीश्वर है और वहीं रहता भी है। ये उदधि भूखे वडवाग्नि को अनन्त काल से अपने हृदय में धारण किये हुए हैं। वह आग ऐसी वैसी नहीं; बड़ी ही भीषण है। पर उसके कारण उत्पन्न हुए ताप को वे किसी तरह सह लेते हैं। तथापि अब एक और आग उनसे नहीं सही जाती। क्योंकि वह उससे भी अधिक दाहक है। वह आग है उनके—समुद्रों के—स्वामी वरुण की विरह-ज्वाला। बात यह है कि जब से वह आप पर अनुरक्त हुआ तभी से वह अत्यन्त तीव्र स्मराग्नि के ताप से दहक रहा है। उसके उस दाहक शरीर से दग्ध उदधि त्राहि त्राहि कर रहे हैं—

तथा न तापाय पयोनिधीना-
मश्वामुखोत्थः क्षुधितः शिखावान् ।
निजः पतिः सम्प्रति वारिपोऽपि
यथा हृदिस्थः स्मरतापदुःस्थः ॥

पश्चिम-दिक्पति वरुण जब आपके विरह-ताप से बहुत ही विह्वल हो जाता है तब सन्ताप-शान्ति के लिए अत्यन्त शीतल बाल मृणालियों का आश्रय लेता है। परन्तु फल इसका उलटा ही होता है। उनका आश्रय लेते ही वरुण को आपकी मृदुल बाहुवल्ली याद आ जाती है। इस कारण सन्ताप का शमन या न्यून होना तो दूर रहा वह और भी उल्वण हो उठता है। तब वह व्याकुल होकर अपने सन्तप्त हृदय पर मृणाल-दण्डों के खण्ड

उठा उठाकर रखने लगता है। पर उसके चित्त में पञ्चशर के पैने पैने असंख्य शर धँसे रहने के कारण उनकी नोकों से उन मृणाल-खण्डों के भीतर छेद ही छेद हो जाते हैं। वे किसी काम के नहीं रह जाते (मृणाल-दण्डों के भीतर जो छेद होते हैं वे इन शरों ही के किये हुए हैं)

* * * * *

ये चारों दिक्पाल यद्यपि त्रिलोकी के तिलक हैं तथापि आपके कारण इस समय ये बड़ी ही विपन्नावस्था को प्राप्त हैं। उन पर मदन देव अपने विक्रम का दुरुयोग कर रहा है। कारण यह है कि आप उसे अमोघ अस्त्र के सदृश जो मिल गई हैं। यदि उसे आपका सहारा न मिला होता तो न तो वह इतना मन्दान्ध ही हो जाता और न दिक्पालों के सम्बन्ध में वह इतनी अनर्गल चपलता ही करने का साहस करता।

ऐसी दुःस्थिति के समय इन चतुर्दिक्पाल-देवताओं ने अकस्मात् यह सुना कि कल दमयन्ती का स्वयंवर है। इस समाचार ने उनके कानों में सुधारस के सार की सरिता सी प्रवाहित कर दी। उनकी मुरझाई हुई हृत्कलिका कुछ कुछ खिल उठी। बस फिर क्या था। उधर तो भावी सापत्न्य-भाव के अत्यन्त तीक्ष्ण दुःख के ख़याल से उनकी पत्नियों की नासिकाओं से ऊर्ध्वश्वास निकले और इधर अनङ्ग के शौर्य्यानल-ताप से सन्तप्त, उनके पति, दिक्पाल आपके नगर में पहुँचने के लिए, अपनी अपनी राजधानियों से निकल पड़े।

जब कोई कहीं बाहर जाता है तब राह में खाने-पीने के लिए पाथेय साथ लेता है। दिक्पालों के यहाँ खाने-पीने के सामान की कमी नहीं। वे चाहते तो घड़े दो घड़े अमृत ही अपने साथ ले लेते। परन्तु उन्होंने पाथेय लेने की ज़रा भी ज़रूरत न समझी। भूख-प्यास की उन्होंने परवाह ही न की। आपकी प्राप्ति से सम्बन्ध रखनेवाले मनोरथ ही को उन्होंने सुधा से भी अधिक स्वादिष्ट समझा। बस उसी का आस्वादन करते हुए उन्होंने इतनी लम्बी यात्रा सुख से समाप्त कर डाली। न उन्हें प्यास ने सताया, न भूख ने।

आपके कारण अपनी प्रियतमा पत्नियों को मनोभव के बाणों की दहकती हुई आग में झोंक कर ये चारों सुरोत्तम दिक्पाल अब अपने पदार्पण से इस भूमि का सौभाग्य बढ़ा रहे हैं। वे इस नगर के बाहर पास ही पहुँच गये हैं और वहीं ठहरे हुए उस स्थान को अलङ्कृत कर रहे हैं। वे आपको अपनी अपनी प्रेम-पत्रिकायें अवश्य ही अर्पण करते। परन्तु उनके पत्र देव-लिपि में होते, जिसे आप पढ़ न सकतीं। इससे उन्होंने मुझको ही अपना जङ्गम (चलता-फिरता) पत्र सा बनाकर आपकी सेवा में भेजा है और आपका कल्पनामय गाढ़ालिङ्गन करके, सन्देश के रूप में, आपसे प्रत्येक ने, अलग अलग, यह निवेदन करने की आज्ञा दी है—

हे दमयन्ति, स्मर नामक भील ने हमारे हृदय में ऐसे बाण मारे हैं कि वे टूट कर वहीं रह गये हैं। उनके घावों की पीड़ा से हम लोग मूर्च्छित हो रहे हैं। बाणों के उन टूटे हुए टुकड़ों को निकालने और घावों को अच्छा करने की एक-मात्र विशल्यौषधि-लता आप हैं। और कोई दवा कारगर नहीं। अतएव हम पर कृपा करके हमारी जान बचा लीजिए—

एकैकमेते परिरभ्य पीन-
स्तनोपपीडं त्वयि सन्दिशन्ति।
त्वं मूर्च्छतान्नः स्मरभिल्लशल्यै-
र्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि ॥

[नैषधचरित से
महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य एडम स्मिथ और हिन्दुस्तान की तत्कालीन स्थिति।

इँग्लैंड के आदि अर्थशास्त्रज्ञ या इस शास्त्र के वर्तमान रूप के जन्मदाता एडम स्मिथ ने परोक्षरूप से भारतवर्ष की कुछ साम्पत्तिक परिस्थितियों के विषय में विचार प्रकट किये थे। हमारे देश की दशाओं के विषय में इस आचार्य के क्या सिद्धान्त थे, इसका ज्ञान हमारे लिए हितकर है। विशेषकर उससे हमारे इतिहास के उस युग की दशाओं पर प्रकाश पड़ता है

जिसका चित्र जान बूझ कर हमारे लिए झूठा खींचा जाता है, जिसकी सच्ची स्थिति पर कितने वर्तमान इतिहास-लेखकों ने परदा डालने का कलुषित प्रयत्न किया है। एडम स्मिथ के लेखों की दो बड़ी विशेषतायें ये हैं कि उसने न्याय का पक्ष बड़ी दृढ़ता के साथ लिया है। भिन्न भिन्न देशों और पक्षों के प्रचण्ड आर्थिक युद्ध में जहाँ जहाँ अन्याय और निर्दयता का व्यवहार किया जा रहा था उन सबका उसने विरोध किया, शास्त्रीय विचार से सिद्ध किया कि बहुत से अनुचित साधनों का आश्रय लोग केवल क्षुद्र बुद्धि के कारण कर रहे थे, अन्त में उनका फल अपने स्वार्थ पर कुल्हाड़ी चलाना है। इस प्रकार बहुत से स्थलों में जहाँ लोग आर्थिक स्वार्थ और न्यायोचित व्यवहार में विरोध समझते थे आचार्य एडम स्मिथ ने उनकी एकता सिद्ध की। उन्होंने बतलाया कि आर्थिक अभ्युदय के हेतु निर्बलों पर अन्याय करना, उन्हें सताना और ठगना आवश्यक नहीं किन्तु अन्त में बहुधा हानिकारक होता है। दूसरी विशेषता यह है कि आज से १५० वर्ष पूर्व—उस समय जब अर्थशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ ही हुआ था—एडम स्मिथ ने जो सिद्धान्त स्थिर किये थे वे मुख्य रूप से आज तक भी पलटे नहीं जा सके हैं। शास्त्रों के जन्मदाताओं और आचार्यों की प्रतिभा और दीर्घदृष्टि का यह द्योतक हुआ करता है कि वे विचारों की धारा की प्रगति जिस ओर कर देते हैं, सहस्रों वर्ष पश्चात् परिवर्तित स्थिति में भी वह उसी ओर बहा करती है। इस प्रकार एडम स्मिथ ने अर्थशास्त्र-सम्बन्धी प्रश्नों का जो निरूपण किया था वह बहुधा उस समय की स्वीकृत नीति और सिद्धान्तों के खण्डन में था, परन्तु उसका इतना प्रभाव पड़ा कि उसके समय के राजनीतिज्ञों और शासकों ने एडम स्मिथ को अपने गुरु-तुल्य माना और उनकी शिक्षाओं के अनुसार राष्ट्रीय व्यवसाय का सञ्चालन प्रारम्भ किया।

भारतवर्ष के विषय में एडम स्मिथ ने जो सिद्धान्त प्रकट किये थे उनमें बहुत सत्यता थी और उनसे भारतवर्ष का बहुत कुछ उपकार होने की आशा थी। उस समय के हमारे अँगरेज़ शासकों की यदि बहुत सङ्कुचित दृष्टि न होती तो वे उसे समझ लेते। परन्तु यहाँ तो जड़ ही में कीड़ा लगा था। सोने की चिड़िया एक चिड़ीमार के हाथ लग गई थी। इतने बड़े समृद्धिशाली साम्राज्य पर व्यापारियों की एक कम्पनी का आधिपत्य हो, ऐसा दृश्य संसार में और कभी देखा नहीं गया। स्थिति वैसी ही थी जैसी सोने का अण्डा देनेवाली चिड़िया के मालिक का अधैर्य्य। एक अण्डे रोज़ की प्रतीक्षा क्यों की जाय, मुर्ग़ी को मार कर सब अण्डे एक साथ ही क्यों न निकाल लिये जायँ। एडम स्मिथ ने लिखा है—"राज्याधिकारी की हैसियत से ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टरों का लाभ इस बात में है कि योरप का जो माल उनके हिन्दुस्तान के राज्य में आता है वह जहाँ तक सम्भव हो सस्ता बेचा जाय और हिन्दुस्तान का जो माल योरप भेजा जाता है वह ऊँचे से ऊँचे दामों में बिके। परन्तु व्यापारियों की हैसियत से उनका लाभ इसके प्रतिकूल है। राज्याधिकारी की हैसियत से उनका स्वार्थ वही है जो उनके अधीन देश का है। परन्तु व्यापारियों की हैसियत से ये दोनों स्वार्थ एक दूसरे के विरोधी हैं।" राजा की आय प्रजा के समृद्धिशाली होने से बढ़ती है। अतएव यदि राजसत्ता स्वाभाविक हो तो वह उन्हीं साधनों का आश्रय लेती है जिनसे प्रजा की सम्पत्ति बढ़े, जिनसे देश के उद्योग-धन्धों की रक्षा और उन्नति हो, देश के माल के ख़ूब अच्छे दाम वसूल हों। परन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी को तो यह फ़िक्र थी कि वह हिन्दुस्तान का माल जहाँ तक हो सस्ता ख़रीद कर योरप में तेज़ भाव पर बेचे। यही नहीं, किन्तु केवल इतना माल देश में तैयार हो पावे जिससे अन्य सौदागरों को माल मिले ही नहीं और वे योरप में उनका मुक़ाबला न कर सकें। आचार्य स्मिथ ने लिखा है—"व्यापारियों की कम्पनी राज्याधिकारी हो जाने पर भी अपनी इस हैसियत को पहचानने में असमर्थ जान पड़ती है। व्यापार, अर्थात् ख़रीद कर बेचना, ही व्यापारी अपना मुख्य कार्य मानते हैं और अपूर्व भ्रम के वश अपनी बादशाही को सौदागरी का पुछल्ला-मात्र समझते हैं, जिसकी सहायता से वे हिन्दुस्तान में कम दामों में ख़रीद सकें और योरप में अधिक मुनाफ़ा उठा सकें।" निष्पक्ष इतिहास-लेखकों ने अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि बङ्गाल के अनेक उद्योगों को ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के ज़माने में बड़ी निर्दयता और क्रूर स्वार्थ के वश मटिया-

मेट कर देने में कोई उपाय उठा नहीं रक्खा गया । इँग्लैंड के राजा से पूर्ण स्वत्व-प्राप्त कम्पनी भारत सरीखे देश के शासन के सर्वथा अयोग्य थी । पुर्तगाल इत्यादि की अन्यत्र ऐसी ही कम्पनियों को जहाँ कहीं छोटे छोटे प्रान्तों पर भी राज्याधिकार मिल गया वहाँ उनको उजाड़ देनेवाली नीति का प्रयोग किया गया । पूर्ण-स्वत्वप्राप्त कम्पनियों के हाथ में राज्यशासन की बागडोर आ जाने से इस प्रकार के अत्याचारों की सृष्टि स्वभावसिद्ध है । "इस प्रकार के शासन का अधिकार व्यापारियों की सभा के हाथ में रहता ही है । व्यापारियों का पेशा निस्संदेह अत्यन्त आदरणीय है, परन्तु संसार में कहीं भी उसका वह प्रभाव नहीं होता जिससे लोग भयभीत रहते हैं और बिना बलप्रयोग किये ही अपनी इच्छा से आज्ञाकारी बन जाते हैं । व्यापारियों के समाज केवल अपने सैनिक बल के द्वारा—जो उनके अधीन होता है—प्रजा को अपना आज्ञाकारी बना सकते हैं । अतएव उनका शासन अवश्यमेव सेना-प्रधान और स्वेच्छाचारपूर्ण हो जाता है । परन्तु उनका मुख्य कार्य्य व्यापार करना है—अपने मालिकों की ओर से वह माल बेचना जो योरप से भेजा जाता है और बदले में योरपीय बाज़ार के लिए हिन्दुस्तान का माल ख़रीदना । अतएव राज्य-प्रबन्ध निर्विरोध व्यापार कर सकने का साधन बनाया जाता है और अधीन देश के माल की पैदावार को इतना घटाने का प्रयत्न किया जाता है जिससे वह केवल कम्पनी के व्यापार के लिए काफ़ी हो" । मलक्का इत्यादि मसाला उत्पन्न करनेवाले द्वीपों (spice islands) में हालैंडवालों का राज्य था और अब भी है । वहाँ डच लोग मसाले की जिस फ़सल में प्रचुरता से पैदावार होती थी उसे जला दिया करते थे, केवल इतना रहने देते थे जितना वे स्वयं योरप में बेच सकते थे और जो मुनाफ़ा वाजिब समझें उस भाव पर बेंच सकें, क्योंकि अधिक माल होने से उसके अच्छे दाम न वसूल होते । उन्हें यह भय रहता था कि कहीं देश-निवासी चुरा छिपा कर माल दूसरे राष्ट्रवाले व्यापारियों को न बेच दें । अतएव जला देना ही सबसे सुगम उपाय था । यही नहीं, किन्तु अनेक प्रकार के अत्याचारों से डच लोगों ने मलक्का-द्वीपों की आबादी को घटा कर केवल इतना रख छोड़ा था जिससे उनका काम चलता जाय । इस क्रूर व्यापार-नीति को जितना ही धिक्कारें उतना कम है । एडम स्मिथ ने लिखा है—"अँगरेज़ी कम्पनी को बङ्गाल में अभी तक इतना अवकाश नहीं मिला है कि इसी प्रकार विनाशकारी राज्य-व्यवस्था जमा पावें । परन्तु उनकी शासन-व्यवस्था की प्रवृत्ति भी इसी भाँति की है । मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि प्रायः फ़ेक्टरी का बड़ा साहब किसानों को हुक्म दे देता है कि पोस्त के अच्छे खेत को जोत कर चावल या और कोई अनाज उसमें बो दे । बहाना यह किया जाता है कि खाद्य पदार्थों की न्यूनता न होने पावे, परन्तु असली कारण यह होता है कि बड़े साहब को यह मौक़ा मिले कि जो अफ़ीम बेचने को तैयार है उसके अच्छे दाम खड़े हों । दूसरे अवसरों पर अन्य प्रकार का हुक्म दे दिया जाता है, अर्थात् चावल आदि के खेतों को जोत कर पोस्त बोया जाय जब कि फ़ेक्टरी के अध्यक्ष को अफ़ीम में अच्छा मुनाफ़ा मिलने की आशा होती है । बहुत से अवसरों पर कम्पनी के नौकरों ने न केवल भारत के विदेशीय किन्तु अन्तर्देशीय व्यापार के मुख्य मुख्य विभागों पर भी अपना सोलहों आने अधिकार जमाने की चेष्टा की है । यदि रोक-टोक न की जाती तो यह निश्चय है कि आगे-पीछे वे जिस वस्तु के व्यापार पर अधिकार जमा चुके हैं उसकी पैदावार को घटाने का प्रयत्न करते, न केवल उतने तक जितना वे स्वयं ख़रीद सकते थे, बल्कि उस हद तक जितना वे मनमाने मुनाफ़े पर बेंच सकते थे । इस प्रकार एक या दो शताब्दी में अँगरेज़ी कम्पनी की नीति ऐसी ही विनाशकारी सिद्ध होती जैसी कि डच लोगों की है । कम्पनी के व्यापार के अलावा कम्पनी के नौकर अपना निज का व्यापार भी करते थे और अपने स्वार्थ के लिए तो वे और भी अधिक अत्याचार करते थे । "नौकर लोग अपने निजी व्यापार में उसी प्रकार से पूर्ण अधिकार जमाने की कोशिश करते हैं जैसे कि कम्पनी के आम व्यापार में । अगर उन्हें मनमानी करने दी जाय तो वे खुले बाज़ार पूर्ण अधिकार जमा लेंगे और दूसरे सब लोगों को उन चीज़ों का रोज़गार करने से मना कर देंगे जिसका व्यापार वे खुद करते हैं" परन्तु कम्पनी

मुख्य कर अपने व्यापारिक स्वार्थ की रक्षा के लिए अपने नौकरों को व्यापार करने की इजाज़त नहीं देती थी और इसका और भी बुरा परिणाम होता था। "वे राज्यसत्ता का और न्याय-शासन का दुरुपयोग उन लोगों को हैरान और तबाह करने के लिए करेंगे जो व्यापार के उस अङ्ग में हाथ डालें, जिसको कम्पनी के नौकर चुरा कर या कम से कम प्रकट न करते हुए अपने गुमाश्तों के ज़रिये करते हैं।"

कम्पनी के नौकर जितनी चीज़ों का व्यापार करते थे खुद कम्पनी उतनी का नहीं करती थी। कम्पनी का व्यापार तो केवल उन चीज़ों का था जो इस देश और योरप के बीच आती जाती थीं और वह इस देश के विदेशी व्यापार का एक अङ्ग-मात्र था। परन्तु नौकरों का व्यापार इस देश के विदेशी और अन्तर्देशी व्यापार के सब अङ्गों में चलता था और इसका फल एडम स्मिथ के ही शब्दों में यह होता था कि किसी चीज़ की देश की आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति तो, जो विदेशों को भेजी जाती है, कम्पनी के व्यापार से रुकती थी और नौकरों के व्यापार से उत्पत्ति का सभी भाग रुकता था—वह भी जो देश की आवश्यकता पूरी करने में व्यय होता है और जो विदेशों को भेजा जाता है। फलतः सारे देश की उपज क्षीण होती है और उसकी जन-संख्या भी क्षीण होती है।

आचार्य स्मिथ लिखते हैं कि "मैंने जो कुछ कहा है उससे मेरा अभिप्राय ईस्ट इंडिया कम्पनी के सभी कर्मचारियों पर दोषारोपण करना नहीं है और किन्हीं विशेष व्यक्तियों पर तो और भी कम। मैं जिसे दोषी ठहराता हूँ वह राज्यशासन की प्रणाली है और वह स्थिति जिसमें वे लोग रक्खे गये हैं न कि उनका चरित्र जो उसमें काम कर रहे हैं।" सच है, राज्य-प्रणाली और राजनैतिक परिस्थिति के अन्तर से वही लोग जो अपने देश में स्वतन्त्रता का प्रेम प्रदर्शित करते हैं इस देश में निरङ्कुश शासन करना चाहते हैं।

आचार्य स्मिथ ने बहुत ही स्पष्ट रीति से और निष्पक्षभाव से उन सब अत्याचारों का वर्णन किया है जो व्यापारी लोगों के हाथ में राज-सत्ता के आजाने से किसी देश पर किये जाते हैं। और यही अनर्थ उस प्रत्येक दशा में होता रहता है जहाँ राज्यसत्ता के साथ साथ व्यापार बढ़ाने का उद्देश रहता है, फिर राज्यसत्ता चाहे ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में हो, चाहे पार्लमेंट के हाथ में। यदि राज्यसत्ता के साथ साथ और कोई लालच न लगा हो तब तो शासक और शासित के हित में कभी विरोध पड़ता ही नहीं। "उनके मालिकों का सच्चा स्वार्थ, यदि वे इसको समझ सकें, वही है जो कि देश का। यदि वे देश को सताते हैं तो इसका कारण मुख्यतः अज्ञान और व्यापारिक स्वार्थ की नीचता है।" आचार्य स्मिथ ने कितनी सुन्दरता से राज्य का सिद्धान्त वर्णन किया है। सच्चे विद्वान् और राजनीतिज्ञ वही होते हैं जिनकी बुद्धि पर व्यक्तिगत स्वार्थ और जाति गत पक्षपात या द्वेष का परदा नहीं पड़ा होता। एडम स्मिथ ने उस समय प्रचलित योरपीय देशों की उपनिवेश-प्रथा और राज्यसत्ता तथा व्यापार-सम्मिश्रण का खण्डन प्रबल युक्तियों से अपने संसार-प्रसिद्ध राष्ट्रों की सम्पत्ति नामक ग्रन्थ में किया है। उस समय अमरीका की रियासतें इँग्लेंड के उपनिवेश थे। परन्तु जिस वर्ष एडम स्मिथ का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ—अर्थात् सन् १७७६—उसी वर्ष अमरीकावालों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। इस देश में तब अँगरेज़ी राज्य का प्रारम्भ ही था। उसका अधिकांश विस्तार इसके बाद हुआ है और धीरे धीरे ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारिक स्वार्थ का स्थान इँग्लेंड देश के मेन्चेस्टर और लङ्काशायर के व्यापारिक स्वार्थ ने ले लिया है। बात वही बनी रही, बल्कि और अधिक हो गई। केवल उसका रूप बदल गया। जहाँ पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की वृद्धि के लिए राज्यसत्ता का दुरुपयोग किया जाता था, वहाँ फिर सारे इँग्लेंड देश के बड़े स्वार्थ के लिए होने लगा। ईस्ट इंडिया कम्पनी तो यहाँ के बने हुए माल को ले जाती थी, बाद को यहाँ अपने देश का बना हुआ माल खपाने और यहाँ का कच्चा माल ले जाने का प्रयत्न होने लगा। व्यापारिक स्वार्थ और राज्यसत्ता के सम्मिश्रण का अनर्थ जिसका स्पष्ट उल्लेख और तीव्र प्रतिवाद आचार्य एडम स्मिथ के ग्रन्थ में हमें मिलता है तब से बारम्बार बढ़ता ही गया है। हाँ, उसका रूप दूसरा है।

रामस्वरूप गुप्त, एम० ए०

माया ।

(१)

लाला जगतराम ने अख़बार हाथ से रख दिया, और हुक्के की नली मुँह से लगा कर किसी गहरे सोच में डूब गये। इस समय उनकी आँखें पृथ्वी पर लगी हुई थीं, परन्तु विचार आकाश में उड़ रहे थे। वे निर्धन आदमी थे। उनका वेतन केवल चालीस रुपये मासिक था। परन्तु उन्होंने अपनी इस अवस्था पर कभी ध्यान नहीं दिया था। उन्हें जो कुछ मिल जाता था, वे उसी पर सन्तुष्ट थे। उनका निर्वाह बड़ी कठिनता से होता था, परन्तु उनके मस्तक पर कभी बल न आता था। उन्हें प्रायः अपने हाथ से कपड़े भी धोने पड़ते थे। बाबू लोग इस अपमान (?) को सहन नहीं कर सकते, परन्तु जगतराम इसे साधारण बात समझते थे। वे कहते थे, अपने कपड़े धोने में लज्जा कैसी? यह कोई पाप तो नहीं, मनुष्य मेहनत-मज़दूरी से नाक-भौं क्यों चढ़ाये। उनकी प्रकृति सीधी-सादी थी, हृदय सरल, घर के ख़र्चों तले दबे होने पर भी उनके मुख पर मुस्कराहट खिली रहती थी, जिस प्रकार चन्द्रमा काली बदलियों में भी चमकता है। वे दैव-गति के क़ायल थे, प्रायः कहा करते, जो भाग्य में लिखा है वह मिल कर रहेगा, और जो नहीं है वह हाथ में आकर भी चला जायगा। ये विचार उनके व्याकुल हृदय को ढाढ़स देते थे।

परन्तु आज अख़बार में एक छोटा सा समाचार पढ़ कर उनके विश्वास की जड़ हिल गई। नार्वे के एक रसोइये के नाम ग्यारह लाखँ की लाटरी निकली थी। जगतराम को रास्ता मिल गया। उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो यह समाचार उनके लिए उपदेश है। इसके साथ ही दूसरे कालम में डेनमार्क की लाटरी का नोटिस था। जगतराम का हृदय नाचने लगा, जिस प्रकार काली घटा को देख कर मोर नाचने लगता है। इस समय उनको ऐसी प्रसन्नता हुई, मानो भूले हुए बटोही को सैकड़ों पगडंडियों में से सीधा मार्ग मिल गया हो। उनको विश्वास हो गया कि इस लाटरी का मेरे नाम निकल आना निश्चयात्मक है। वर्षों का सन्तोष एक ही क्षण में दूर हो गया। उन्होंने अख़बार को फिर हाथ में लिया और उसमें मग्न हो गये। इतने में उनकी स्त्री विद्यावती ने आकर उनके कन्धे पर हाथ रख दिया और प्यार से पूछा—"क्या सोच रहे हो?"

जगतराम ने आँखें बन्द कर लीं, मानो उन्होंने कोई ऐसा मनोहर दृश्य देखा था जिसे वे भूलना नहीं चाहते थे, और उत्तर दिया—"कुछ न पूछो।"

विद्यावती ने चकित होकर पूछा—"कोई ऐसी बात है?"

"तुम समझ ही नहीं सकतीं।"

"तो आपही बता दें।"

जगतराम ने धीरे से अख़बार हाथ में ले लिया और बोले—"मैं लाटरी का टिकट ख़रीदनेवाला हूँ।"

"कितने रुपने ख़र्च होंगे?"

"पच्चीस।"

विद्यावती चौंक कर रह गई, जैसे कोई विचित्र बात सुन ली हो। पच्चीस रुपये का टिकट ख़रीदना उसके लिए ऐसा निरर्थक ख़र्च था, जो पाप नहीं तो पाप के लगभग अवश्य था। स्वामी का मान रखने के लिए उसने उस समय कुछ न कहा। परन्तु हृदय के भाव मुख पर झलके बिना नहीं रहते, दोनों दिलों में बात खटक गई। साथ ही अपनी तङ्गी और निर्धनता का विचार आया। जगतराम का हृदय सहम गया। उन्होंने स्त्री की ओर ऐसी दृष्टि से देखा, मानो उनसे कोई अपराध हो गया हो। हिचकिचाते हुए बोले—"मुझे यह जूआ खेल लेने दो, मेरे कान में कोई कह रहा है कि लाटरी मेरे नाम अवश्य, अवश्य निकल आयगी।"

विद्यावती ना न कर सकी। उसके पास पैसा पैसा करके बचाये हुए पच्चीस रुपये थे। उनसे वह अपने लिए कोई छोटा-मोटा भूषण बनवाना चाहती थी। परन्तु स्वामी के हित उसने यह विचार हृदय से दूर कर दिया और रुपये जगतराम के हाथ में दे दिये। भाग्य भरोसे पाँसा फेंक दिया गया।

(२)

अब जगतराम को दिन-रात लाटरी का ध्यान रहने लगा। रात को सोते सोते चौंक उठते। दिन को आफ़िस

में काम करते करते आतुर हो जाते। डाकवाले को देख कर उनका हृदय धड़कने लगता था। तारवाला दिखाई दे जाता तो हाथ-पांव फूल जाते थे। उनको इस बात का निश्चय हो गया था कि लाटरी मेरे नाम ही निकलेगी। इसलिए घर में बैठते तो इसी के क़िस्से छेड़ देते और भविष्य का चित्र बनाने लगते। कभी कहते, माल रोड पर कोठी बनवा लेंगे। कभी कहते, सोलन चल रहेंगे। इतना ही नहीं, कोठी की सजावट की चर्चा चल पड़ती तो मुँह फुला कर विचित्र भाव से कहते, अख़बार मेरे सौभाग्य पर नोट लिखेंगे, और सुहृद मित्र बधाइयाँ देने आयँगे, कहेंगे यार कैसी तुच्छ नौकरी कर रहे थे, विधाता ने तुम्हें राज दे दिया। मैं शान्ति और धीरता से उत्तर दूँगा, परमेश्वर की दया और आप लोगों का अनुग्रह। इससे उन पर मेरा रोब छा जायगा। विद्यावती कहती, मैं सारे महल्ले में लड्डू बाटूँगी और अनाथालय में रुपये भिजवाऊँगी। जगतराम तुरन्त उत्तर देते, अवश्य, अवश्य! रुपये से उपकार न हुआ तो उसका होना न होना समान है।

इसी प्रकार तीन महीने बीत गये। जगतराम और विद्यावती प्रति क्षण व्याकुल रहने लगे, जिस प्रकार विद्यार्थी परीक्षा का परिणाम निकलने से पहले घबरा जाता है। अब उनको मासिक वेतन लेकर प्रसन्नता नहीं होती थी। आशा ने शान्त हृदय के अन्दर चञ्चलता उत्पन्न कर दी थी। तृष्णा सन्तोष की बैरिन है, यह जहाँ पाँव जमाती है, सन्तोष को भगा देती है। परन्तु जब कई दिन बीत गये और कोई सूचना न मिली तब निराश से हो गये। हृदय ने कहा, यह विचार छोड़ दो, इसमें रक्खा ही क्या है। परन्तु आशा ने ठंडी साँस भरी, "जिन लोगों को इनाम मिलता है, वे क्या आकाश से उतरते हैं, वे भी तो मनुष्य ही होंगे।" गिरता गिरता हृदय फिर सँभल गया। आशा ने कुछ दिन और बाट देखी, परन्तु फिर भी कोई सूचना न मिली, तब फिर निराश हो गये। यह निराशा कितनी दुःखजनक, कितनी भयानक थी, जिसे आशा की एक किरण ने और भी अन्धकारमयी बना दिया था; जिस प्रकार तिनका जल के प्रवाह में पड़ कर लुप्त हो जाता है।

सायङ्काल था। विद्यावती और जगतराम छत पर लेटे हुए अपने अपने विचारों में मग्न थे। इन तीन-चार महीनों में उनका ख़र्च ज़्यादा हो गया था। लाटरी की आशा ने साहस बढ़ा दिया था, इसलिए उन पर बहुत सा ऋण चढ़ गया था। विद्यावती सोचती थी, क्या होगा ? दस रुपये बनिये के देने हैं, पन्द्रह बज़ाज़ के और अभी तलब मिलने में पन्द्रह दिन बाक़ी हैं। एक एक करके चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, परन्तु सब ओर अन्धकार दिखाई दिया। इतने में किसी ने दरवाज़े पर थपकी दी। विद्यावती का कलेजा उछलने लगा। आगे बढ़ कर बोली, "कौन है ?"

उत्तर मिला, "तार ले जाइए।"

विद्यावती की नस नस में हर्ष की तरङ्ग दौड़ गई। आशा सामने खड़ी थी। जगतराम भागे भागे नीचे गये और तार लेकर पढ़ने लगे। आशा विश्वास में बदल गई, चिल्ला कर बोले—"लाटरी निकल आई।"

(३)

लाटरी निकल आई, कैसे चित्त को लुभानेवाले शब्द थे। विद्यावती के हृदय-सागर में आनन्द की तरङ्गें उठने लगीं। भिखारिन को राज मिल गया। वह दौड़ती हुई नीचे उतरी। जगतराम के कन्धे पर हाथ रख कर खड़ी हो गई। इस समय उनके हाथ में तार का फ़ार्म केले के पत्ते की नाईं काँप रहा था। उन्होंने स्त्री को देखते ही ज़ोर से कहा—"लो बधाई दो। हमारे नाम दूसरा इनाम निकला है।"

विद्यावती हर्ष से उछल पड़ी, और बोली—"कितने रुपये का ?"

"तीन लाख का।"

विद्यावती के नेत्रों में आँसू आ गये—फूलों पर वृष्टि हो गई। जगतराम ने आनन्द के झोकों में मस्त होकर कहा—"मैं कहता न था, हमारे भाग जागनेवाले हैं।" विद्यावती ने पुलकित नेत्रों से स्वामी की ओर देखा और बोली—"महल्ले में मिठाई बाँटना है।"

"अब यह भी कोई बड़ी बात है। बाज़ार जा रहा हूँ, हलवाई से कहता जाऊँगा, वह पहुँचा देगा।

"परन्तु रुपया ?"

"कैसी मूर्ख हो, अब भी रुपये की कमी है, जिससे चाहूँ हज़ारों ले सकता हूँ।"

यह कहते कहते जगतराम बाहर चले गये, विद्यावती वहीं खड़ी रह गई, जैसे मिट्टी की मूर्त्ति हो। इतने में बाहर शोर सा सुनाई दिया। विद्यावती दौड़ कर बाहर निकली, देखा कि तार-घर का चपरासी औंधे मुँह नाली में पड़ा हुआ है, और जगतराम उसे गालियाँ दे रहे हैं। विद्यावती ने हैरान होकर पूछा—"क्या बात है?"

जगतराम ने उसे एक लात और मारी और विद्यावती से बोले—"सरकारी नौकर है। तार लाने का इनाम माँगता है, जैसे हम पर कोई बड़ा उपकार किया है। बेईमान कहीं का।"

विद्यावती ने गाल पर उँगली रख कर उत्तर दिया—"यह आपने क्या किया। मज़दूर आदमी है, चार पैसे दे देते तो क्या हम ग़रीब हो जाते। बेचारा इतनी बड़ी ख़बर लाया है।"

ये शब्द किसी और समय जगतराम के क्रोध पर पानी का काम करते, परन्तु इस समय तेल बन गये। नया नया रुपया मिला था, कड़क कर बोले—मैं इसे पुलिस के हवाले कर दूँगा।

विद्यावती के हृदय में एक नया विचार उत्पन्न हुआ, क्या रुपया मनुष्य की प्रकृति को भी बदल देता है। कैसे साधु-स्वभाव थे, इनकी भलमंसी की सारे नगर में धूम थी। इन्होंने कभी किसी को तू कह कर नहीं बुलाया था, पर इस समय एक ग़रीब चपरासी को गालियाँ दे रहे हैं और मार रहे हैं।

विद्यावती की आँखों में आँसू आ गये। उसने बड़ी कठिनाई से स्वामी को रोका और चपरासी की जान छुड़वाई। उसके लिए यही इनाम था।

दूसरे दिन विद्यावती महल्ले में मिठाई बाँटने निकली। उस समय उसके पाँव भूमि पर न पड़ते थे। उसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह आकाश में उड़ रही है, और संसार उसकी ओर ईर्ष्या की दृष्टि से देख रहा है। महल्ले की स्त्रियाँ उसे बधाइयाँ दे रही थीं। उन बधाइयों में कितना जोश, कितनी भावुकता, जिसमें ठण्डक के स्थान में जलन ज़्यादा मिली हुई थी। विद्यावती के सम्मुख नई सृष्टि खुल गई। माया जादू है, यह सुना करती थी, परन्तु आज प्रत्यक्ष देख लिया। उसने किसी को कुछ दे नहीं दिया, किसी का कोई विशेष हित नहीं कर दिया, परन्तु फिर भी स्त्रियों की बातचीत का ढङ्ग उसके साथ ऐसा आदर-युक्त था, मानो वह उनकी रानी हो। यही स्त्रियाँ थीं जो उसकी परवा तक नहीं करती थीं। उस समय उसको उनकी परवा की आवश्यकता थी, परन्तु आज उसकी राह में आँखें बिछ रही हैं, यद्यपि अब उसको उनकी सहानुभूति की तनिक भी अपेक्षा न थी। रुपये ने इस ओर से उसे कृतकृत्य कर दिया था। वह जिस जिस दरवाज़े पर जाती थी, स्त्रियाँ उसके गिर्द घेरा डाल लेती थीं, जैसे वह द्युलोक से उतरी हो। विद्यावती अपने सौभाग्य पर फूली न समाती थी। वह चाहती थी कि हृदय के विचार चेहरे पर प्रकट न हों, परन्तु यह प्रयत्न नितान्त व्यर्थ था, जिस प्रकार दर्पण के सम्मुख किसी को खड़ा करके यह आशा करना व्यर्थ है कि उसका रूप उसमें दिखाई न दे।

एक सहेली ने कहा—"परमात्मा ने तुम्हें राजगद्दी दी है, अब हमें भूल न जाना।"

विद्यावती के आत्माभिमान को इससे आघात पहुँचा। उसने भर्राये हुए स्वर में उत्तर दिया—"बहन! क्या कभी ऐसा भी हो सकता है?"

दूसरी बोली—"अब कुछ धर्म का काम भी करना।"

विद्यावती ने उत्तर दिया—"कुछ रुपया अनाथालय में भिजवा दूँगी।"

धर्मदेवी बोली—"तुमने मन्दिर बनवाने की मिन्नत मानी थी, अब उसका क्या विचार है?"

विद्यावती ने दृढ़ सङ्कल्प के साथ मस्तक ऊँचा उठाया, और उत्तर दिया—"हाँ रुपया आते ही इमारत का काम आरम्भ करा दूँगी।"

"भूल न जाना, रुपया बुरी बला है।"

विद्यावती ने तीखी दृष्टि से देख कर कहा—"तो क्या अब मिन्नत मान कर भी पूरी न करूँगी?"

पूरनदेवी बोली—"जब माया आती है तब बुद्धि मारी जाती है।"

विद्यावती चौंक पड़ी, जैसे किसी ने ऊँची चोटी से गिरा दिया हो। सोचने लगी, क्या यह सचमुच ठीक

है। क्या इससे उनका शील-स्वभाव बदल जायगा? हृदय ने कहा, ओह नहीं। विद्यावती का मुख लाल हो गया। परन्तु मस्तिष्क ने सहसा तारघर के चपरासी की घटना आँखों के सामने रख दी। विद्यावती का चेहरा फिर से मुरझा गया, परन्तु उसने इन विचारों की चञ्चलता को सहेलियों पर प्रकट न होने दिया और कहा, "ये सब कहने की बातें हैं, मेरा तो विचार है कि बुद्धि माया की मा है, जहाँ जाती है बेटी को साथ ले जाती है।"

इस उत्तर ने सबका मुँह बन्द कर दिया। किसी को बोलने का साहस न हुआ।

(४)

जब साँझ हो गई तब विद्यावती घर को वापस हुई। इस समय उसके मस्तिष्क में कई प्रकार के विचार चक्कर खा रहे थे। सोचती थी, क्या से क्या हो गये। कल तक पैसे पैसे को तरसते थे। आज लाखों के मालिक हैं। यह सब परमात्मा की दया है। परन्तु धर्मदेवी की बात इस आनन्द को किरकिरा कर देती थी, जैसे स्वादिष्ट हलुवे में कङ्कर निकल आये। वह चाहती थी कि यह विचार उसके हृदय से निकल जाय, परन्तु उसका ऐसा यत्न उसे अधिकाधिक दृढ़ करता जाता था। इतने में जगतराम अन्दर आये। विद्या उन्हें देख कर चकित रह गई। उनका वेश इतना बहुमूल्य था, माना वे डिप्टी कमिश्नर हों। मुँह में टर्किश सिगार था, सिर पर अँगरेज़ी टोपी, और पाँवों में चमकता हुआ बूट। उनके पीछे पीछे एक नौकर एक बक्स उठाये हुए अन्दर आया। विद्यावती ने जल्दी से मुँह पर घूँघट खींच लिया और एक कोने में छिप गई। जगतराम स्वयं भी पर्दे को अच्छा समझते थे, परन्तु इस समय उनको यह चेष्टा बहुत बुरी लगी। नौकर के बाहर चले जाने पर बोले, "यह पर्दा वर्दा फ़िज़ूल बहम है। मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता।"

विद्यावती के हृदय पर दूसरी चोट लगी। उसने धीरे से कहा—"तो क्या अब मेमों की तरह खुले मुँह फिरा करूँ?"

"क्या हानि है?"

"मुझसे यह न होगा और सब कुछ कर लूँगी। आपसे कहती हूँ कि मुझे क्षमा करें।"

"और मैं तुमसे कहता हूँ कि मेरा कहा मान लो।"

विद्यावती का मुख कपास के फूल की तरह पी हो गया, घबरा कर बोली—"और सब मान लूँगी, प यह न होगा।"

जगतराम ने मन ही मन में कुछ सोच कर क "अच्छा अभी न सही, पर इस समय ये कपड़े तो प लो। बहुत से रुपये ख़र्च कर आया हूँ।"

विद्यावती ने बक्स को खोला तो सन्नाटे में गई। उसे यह ख़याल तक न था कि उसे अँगरेज़ी क पहनने पर बाध्य करेंगे, विवश होकर बोली—"मु विलायती वेश पहनने की समझ नहीं।"

"परन्तु अब तो पहनने ही होंगे।"

"मैं नहीं पहनूँगी।"

जगतराम खिसिया गये, कड़क कर बोले, " लिबास तुम्हें पहनना पड़ेगा।"

विद्यावती को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने क में छुरी भोंक दी हो। इससे पहले कभी किसी ने कठोर शब्द न कहा था, आज उसका हृदय सहम गया। उसने स्वामी की ओर इस प्रकार देखा, जैसे हिरनी को देखती है। परन्तु जगतराम की आँखों में दया थी, बुझे हुए मन से वही कपड़े पहनने लगी।

(५)

रात्रि का समय था। आकाश के आँगन में खिले हुए थे। जगतराम विद्यावती को मोटर पर कर बाज़ार की सैर को निकले परन्तु उनको सैर अपेक्षा दिखावा अधिक प्रिय था। वे लोगों को दिखा चाहते थे कि जगतराम आज राजाओं के समान ऐश्व शाली है। वे लोगों की ओर इस प्रकार देखते थे, वे उनकी प्रजा थे। आँखों से अभिमान और टपकता था। परन्तु विद्यावती की यह दशा न थी। नववधू के समान सिमटी-सिमटाई बैठी थी, लज्जा से पसीना पसीना हो रही थी। वह सोचती थी, इनको क्या गया है। अब रुपया मिला है तो क्या अपना रावा भी छोड़ दिया जाय। एकाएक धर्मदेवी का कह

याद आ गया, लज्जा ने मुँह लाल कर दिया। मोटर ड़ता हुआ जा रहा था। कोई और समय होता तो विद्यावती इस सवारी पर मान करती, परन्तु इस समय वह उसके लिए दुख का कारण थी।

इतने में मोटर एक बड़े मकान के सामने रुका, और जगतराम ऊपर चढ़ गये। विद्यावती ने समझा, कोई दूकान होगी, कुछ ख़रीदने गये होंगे। इतना रुपया हाथ आया है, मन का चाव पूरा कर रहे हैं। परन्तु उसे कितना आश्चर्य्य हुआ, जब मकान पर से सारङ्गी और तबले की थपक सुनाई दी, और कुछ ही देर बाद जगतराम एक स्त्री को साथ लिये नीचे उतरे। यह स्त्री सुन्दर थी, परन्तु उसकी सुन्दरता में विष मिला हुआ था। विद्यावती ठिठक सी गई और बोली—"यह कौन है?"

जगतराम ने उसे मोटर में सवार किया और आप ठते हुए कहा—"तुम इनको नहीं जानतीं।"

मोटर चलने लगा।

"नहीं, मैंने इन्हें आज पहली बार देखा है।"

"यह इस शहर की सबसे बड़ी गानेवाली राहतजान है।"

अपने को राहतजान के साथ बैठी जान कर विद्यावती स तरह पीछे हटी, मानो वह स्त्री नहीं प्रत्युत सर्पिणी —"इसका यहाँ क्या काम है?"

राहतजान पर घड़ों पानी पड़ गया। परन्तु जगतराम ने धीरज से उत्तर दिया, "मरी क्यों जाती हो। यह म्हें खा तो नहीं जायगी?"

विद्यावती ने अपनी गरदन इस तरह ऊँची उठाई, से किसी ने नागिन को छेड़ दिया हो। आंखों से आग चिङ्गारे निकल रहे थे। उसने कहा—"मुझे उतार दो, इसके साथ न बैठ सकूँगी।"

यह कहते कहते वह खड़ी हो गई। उसके लिए तजान के साथ एक मोटर में बैठना घोर अपमान । उसने दोबारा चिल्ला कर कहा—"मोटर रोक लो, तो मैं कूद जाऊँगी।"

जगतराम ने कहा—"क्यों अकारथ झगड़ा करती जानती नहीं मैं तीन लाख का आदमी हूँ। और सेठ साहूकारों के यहाँ सैकड़ों प्रकार के आमोद-प्रमोद होते हैं। इन्हें तुम आज से बहन समझो।"

विद्यावती के तन में काटो तो लहू नहीं। धर्मदेवी का कथन सत्य हो गया। यही जगतराम थे, जो कल तक पराई स्त्री की ओर आंख उठा कर देखना पाप समझते थे। आज एक वेश्या को पास बिठाये हुए बाज़ार में जा रहे हैं। और इतना ही नहीं, उन्हें इस घृणित स्त्री को अपनी स्त्री की बहन कहने में भी लज्जा नहीं। विद्यावती की आँखों से आंसू बहने लगे। मनुष्य इतनी जल्दी इतना निर्लज्ज, इतना नीच हो सकता है, इसकी उसे आशा न थी। उसने सोचा, निर्धनता कैसी अच्छी थी, रुपया पास न था परन्तु सुख आगे पीछे फिरता था। अब रुपया तो है, परन्तु हृदय को शान्ति नहीं। वह धन को फूलों की शय्या समझती थी, परन्तु यह विचार न था कि इसमें ऐसे नोकीले काँटे भी होंगे।

एकाएक वह ज़ोर से चिल्ला उठी—"मोटर रोक लो, कोई कुचल जायगा।"

बाज़ार में भीड़ थी, परन्तु जगतराम ने परवा न की, और मोटर को और भी तेज़ कर दिया। दो लड़के नीचे आ गये। मोटर रुक गया, लोग उसके गिर्द इकट्ठे हो गये। जगतराम की अब आंख खुल गई थी, परन्तु समय बीत चुका था। इतने में एक सिपाही ने आगे बढ़ कर उनके हाथों में हथकड़ी डाल दी, और थाने को ले चला। विद्यावती का रङ्ग उड़ गया। कई घण्टे से एक स्वप्न सा देख रही थी, यह गिरिफ़्तारी उसका फल था, परन्तु कैसा करुणाजनक, कैसा हृदयवेधक! विद्यावती सोचने लगी, क्या धन में यही गुण हैं। वह वेश्या कहाँ चली गई, इसका कोई पता न लगा।

थोड़ी देर में वह थाने पहुँच गई। वहाँ पर भी बहुत से लोग इकट्ठे हो रहे थे। मोटर आती देख पुलिस का एक कर्मचारी बाहर निकल आया। विद्यावती ने सिपाही से पूछा—"अभी यहाँ कोई मनुष्य गिरिफ़्तार होकर आया है क्या?"

सिपाही ने उसे सिर से पाँवों तक देखा, और बोला—"जिसके मोटर के नीचे दो लड़के कुचले गये हैं?"

"हाँ वही।"

"परन्तु उसने तो यहां आकर एक और हत्या कर डाली है।"

विद्यावती के रोंगटे खड़े हो गये, घबरा कर बोली—"वह किस तरह ?"

"जिसने उसे गिरिफ़्तार किया था उसे पिस्तौल मार दिया।"

"परन्तु उसके हाथों में तो हथकड़ी थी।"

"रास्ते में उसने धनाढ्य समझ कर हथकड़ी निकाल दी थी।"

विद्यावती ने ठण्डी सांस ली और कम्पित स्वर में कहा—"तो अब क्या होगा।"

सिपाही कुछ देर चुप रहा और फिर उत्तर दिया, "अब तो फांसी से कम सज़ा न होगी।"

(६)

विद्यावती के कानों में जैसे किसी ने गर्म सीसा डाल दिया। सिपाही का एक एक शब्द उसके हृदय पर हथौड़े की चोट था। वह चिन्ता में डूब गई। अभी अभी कैसा आनन्द था, महल्ले की स्त्रियाँ बधाइयाँ दे रही थीं, परन्तु दो ही घण्टे में क्या से क्या होगया। वह पहली बार लाटरी का नाम सुन कर हर्ष से उछल पड़ी थी। परन्तु यह पता न था कि यह हर्ष डूबते हुए सूर्य्य की लाली की नाईं है, जिसके पीछे अन्धेरी रात्रि छिपी होती है। इस अँधियारी में उसने अपना सब कुछ खो दिया। सोचने लगी—"क्या सब कुछ दे कर वह वापस किया जा सकता है ?"

एकाएक उसे एक रास्ता सूझ गया। उसने सिपाही का हाथ पकड़ा, और उसे एक कोने में ले गई। पति के विचार ने स्वाभाविक लज्जा को दबा लिया था। वहां जाकर उसने आँसुओं से भीगी हुई अपनी सुन्दर आँखें ऊपर उठाईं और कहा—"क्या अब किसी प्रकार भी नहीं बच सकते ?"

"नहीं।"

"यदि रुपया पानी की तरह बहा दूँ तो भी नहीं ?"

"तो भी नहीं"।

विद्यावती ने अन्धकारमय आकाश की ओर देखते हुए कहा—"हमारे नाम लाटरी में आज तीन लाख रुपया निकला है। वह मैं सबका सब लुटा दूँगी। क्या फिर भी नहीं ?"

सिपाही दो क़दम पीछे हट गया, और आश्चर्य्य से बोला—"क्या कहा, तीन लाख रुपया ?"

डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। विद्यावती ने उत्तर दिया—"हाँ, तीन लाख रुपया।"

सिपाही ने विद्यावती की ओर इस प्रकार देखा, जैसे बालक चन्द्रमा को देखता है। कदाचित् वह सोच रहा था कि यदि मेरे वश में होता तो मैं यह सौदा तुरन्त स्वीकार कर लेता, पर बात अधिकारियों तक पहुँच चुकी थी, अब यह कैसे हो सकता था। उसने सहज से कहा—"कोई अँगरेज़ बलिस्टर खड़ा करो तो छूट सकेंगे।"

"मैं एक नहीं दर्जनों बैरिस्टर खड़े कर दूँगी।"

"तो उनका छूट जाना कठिन नहीं।"

विद्यावती को कुछ आशा बँध गई, उसने कुछ देर सोच कर कहा—"मैं उनसे मिलना चाहती हूँ।"

कुछ काल पश्चात् वह उस कमरे के सामने खड़ी थी जिसमें जगतराम बन्द थे। उनके हाथों में हथकड़ियाँ थीं, पाँवों में बेड़ियाँ। मुँह पर निराशा और शोक बरस रहा था। आँखों में आँसू भरे हुए थे। उसको निश्चय हो चला था कि अब मेरा बचाव असम्भव है। विद्यावती के कलेजे में जैसे किसी ने छुरी भोंक दी। उसने जँगले के समीप जा कर कहा—"प्राणनाथ !"

यही स्वर था, जिसको सुन कर जगतराम गद्गद हो जाया करते थे, परन्तु इस समय उसमें वह मोहनी, व प्रभाव न था। उन्होंने उसकी ओर कातर दृष्टि से देखा और सिर नीचे झुका लिया। उनकी दृष्टि में पश्चात्ताप और अपराध की स्वीकृति छिपी हुई थी। विद्यावती के धैर्य्य प वज्रपात हुआ। उसने अपना सिर ज़ोर से लोहे की दीवा से दे मारा, और इसके साथ ही........

(७)

विद्यावती की आँख खुल गई—यह सब स्वप्न था, और जगतराम उसके ऊपर झुके हुए कह रहे थे—"देखो बनिया रुपयों के लिए बार बार तगादे कर रहा है। अब क्या करना चाहिए।"

विद्यावती की देह पसीना पसीना हो रही थी और कलेजा धकधक कर रहा था। उसको एकाएक अपनी आँखों पर विश्वास न आया कि यह सब स्वप्न था।

परन्तु जब सुधि ठिकाने आई तब वह ऐसी प्रसन्न थी, जैसे किसी फाँसी के अपराधी को छोड़ देने की आज्ञा हो गई हो।

जगतराम ने सिर हिला कर कहा—"परमात्मा! हमारे नाम लाटरी का इनाम निकल आये।"

विद्यावती को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उसको कोई शाप दे रहा है। वह घुटनों के बल झुक गई और दोनों हाथ आकाश की तरफ़ उठाकर बोली—"परमात्मा करे यह कभी न हो।"

जगतराम चकित हो गये उन्होंने समझा, विद्यावती पागल होगई है। परन्तु जो कुछ विद्यावती ने देखा था, यदि वही जगतराम देख लेते तो निस्सन्देह वे स्वयं भी पागल हो जाते।

सुदर्शन

नगरों में जल-पथ।

हम लोग नगरों के राजमार्गों से परिचित हैं। परन्तु राजमार्ग कितने ही स्वच्छ और साफ़ क्यों न रक्खे जायँ गाड़ियों और मोटरों के कारण वे स्वच्छ रह नहीं सकते। जल-पथ से कितनी सुविधा होती है, यह हम तब समझते हैं जब हम योरप के वेनिस नगर में प्रवेश करते हैं। वेनिस संसार के अद्भुत नगरों में है। यह प्राचीन काल से एक प्रसिद्ध नगर रहा है। इस नगर में प्रवेश करने के लिए जब कोई नवागत ग्रैंड कैनाल के घाट पर खड़ा होता है तब वह इसे देख कर आश्चर्य करने लगता है। वेनिस समुद्र में बहु-संख्यक छोटे छोटे टापुओं पर बसा हुआ है। प्रायः ये टापू एक दूसरे से अत्यधिक समीप हैं, अतएव उनके बीच में स्थित जल के अंश नहर के रूप में परिणत हो गये हैं। इन्हीं नहरों से इस नगर में लोगों का आना-जाना तथा व्यापार-धन्धा होता है। नहर ही इस नगर की सड़कें हैं और नावों को घोड़ा गाड़ी समझ लीजिए। नगर में आने के लिए या उससे जाते समय ग्रैंड कैनाल के घाटों पर नाव की पुकार मची रहती है। इस समय नावों के झुण्ड से अपनी नाव को निकालकर घाट पर लगाने और यात्री को उस पर सुविधा के साथ चढ़ा लेने में वेनिस के मल्लाह बड़ी मुस्तैदी और कुशलता प्रकट करते हैं।

वेनिस के अद्भुत दृश्य का आनन्द यात्री को यहाँ रात्रि या प्रातःकाल की गाड़ी से आने में मिलता है। रात्रि के अन्धकार में जल-राशि के ऊपर वेनिस का प्रकाश एक विचित्र प्रकार की छटा धारण करता है। वह आनन्द दिन में दुर्लभ रहता है। रात्रि में गोंडोला पर सवार होकर जब यात्री नगर में प्रवेश करता है तब उस समय की निर्वाध शान्ति उसके मन पर अद्भुत प्रभाव डालती है, उस समय डाँड़ की खपखप, जल की लहरों की थपथप, मोड़ पर या दूसरी नाव को आते देख कर 'बच कर आइए' की सुरीली आवाज़ आदि को छोड़ कर और किसी प्रकार का कोलाहल नहीं रहता। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वेनिस-वासी गुल-गपाड़े से घबराते हैं। यद्यपि रात्रि में कारबार बन्द रहने से सर्वत्र शान्ति छा जाती है तो भी तङ्ग गलियों और नहरों पर चलनेवाले नगर-निवासियों की चहल-पहल बनी ही रहती है, जगह जगह पुलों पर लोग एकत्र होकर गप-शप करते ही रहते हैं। घाटों पर अधिक रात बीते तक मल्लाहों को अपनी नाव के सहित उपस्थित रहना पड़ता है। क्या आश्चर्य, कोई नगरवासी रात्रि में भ्रमण का आनन्द उपभोग करने के लिए निकल ही पड़े।

जब पहले पहल यात्री इस नगर में प्रवेश करता है और उसे बग़ली नहरों से अपने ठहरने के स्थान को जाना पड़ता है तब उसे नगर-निवासियों के उपर्युक्त आमोद-प्रमोद का पता नहीं लगता। परन्तु जब वह अपन कमरे में कोच पर लेटकर विश्राम करने लगता है तब वह जान जाता है कि वेनिस-वासी सोते भी बहुत कम हैं। रात्रि की शान्ति में लोगों के चलन-फिरने, उनके हँसने-गाने और नावों के आने-जान की आवाज़ प्रायः प्रत्येक समय मिलती रहती है।

नगर में प्रवेश करते समय जब नवागत की नौका ग्रैंड कैनाल के उस अंश से निकलने लगती है, जहाँ चाँदनी का पूरा प्रकाश फैला हो, तब उसको किनारे के

बड़े बड़े महल दिखलाई पड़ जाते हैं, जिनसे उसे वेनिस के महत्त्व का परिचय हो जाता है। उनके द्वार पर बँधी हुई नौकाओं को देख कर वह समझ जाता है कि इनके बिना इस नगर में किसी का कोई काम नहीं सध सकता। किसी मकान के द्वार पर यदि नौका न देख पड़े और प्रकाश होता हो तो इसका यह अर्थ है कि गृही बाहर गया है। नहर के किसी स्थल पर के मकानों की खुली खिड़कियों से निकलता हुआ प्रकाश नहर पर अपनी परछाईं डालकर यात्री को उल्लसित कर देता है। उधर मकानों में लोगों का आमोद-प्रमोद जारी है, बीच बीच में उनका कहकहा भी सुनाई दे जाते है। मकान के नीचे आगन्तुकों को ले जाने के लिए नावों का झुण्ड खड़ा रहता है। मतलब यह कि सन्ध्या-काल से लेकर अधिक रात बीते तक वेनिस में निराले ही ढङ्ग की चहल-पहल मची रहती है।

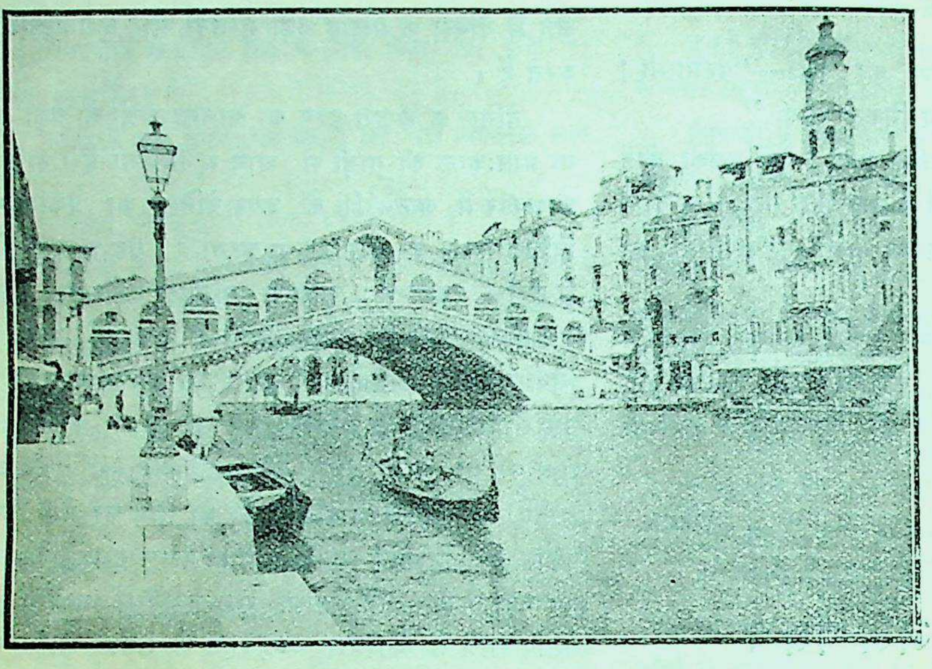

वेनिस का रियाल्टो ब्रिज।

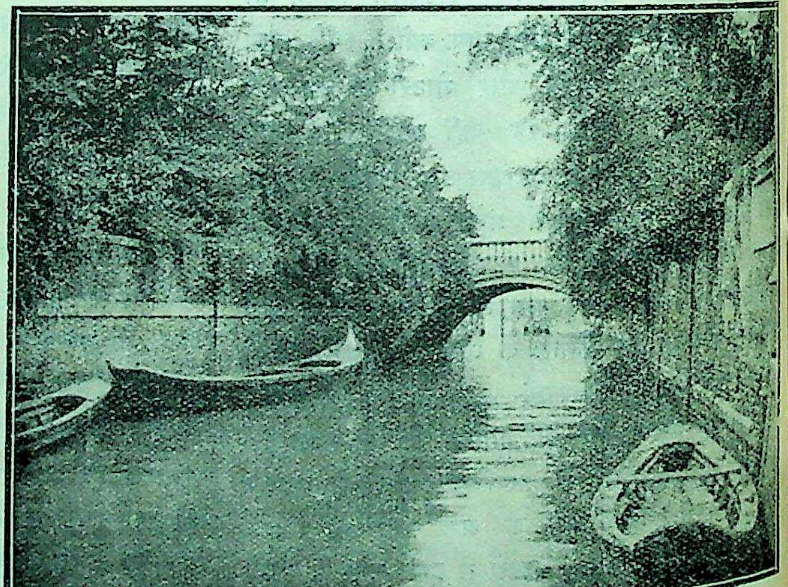

वेनिस का एक रमणीय दृश्य।

यदि कोई यात्री अधिक तड़के आय तो उसे उपर्युक्त ढङ्ग जैसी चहल-पहल नहीं दिखलाई पड़ेगी, पर इसके साथ उसे बिलकुल सुनसान से भी भेंट नहीं होगी। यद्यपि उस समय घाट में चढ़ने-उतरने में दिक्कत नहीं मिलेगी, भीड़-भाड़ भी उतनी नहीं रहेगी, तो भी उस समय नगर में लोगों का आना-जाना बन्द नहीं रहता। इस समय उन लोगों की चहल-पहल रहती है जो दूध, साग-सब्ज़ी, मछली आदि आवश्यक चीज़ें

ार में बेचने के लिए लाते हैं। इसके साथ ही उषा के ीण प्रकाश में मैडोना डेला सैलूट के गिरजा का गुम्मज अपनी वास्तविक भव्यता का पूर्ण दर्शन देता है। वेनिस की चाँदनी रात की मनोहर छटा नौका-विहार में जैसा आनन्द देती है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ का प्रातः-काल भी कम रमणीक नहीं होता। अलबत्ता जिस दिन बूँदा-बाँदी होने लगती है वह दिन वेनिस में लोगों को आनन्ददायी नहीं होता।

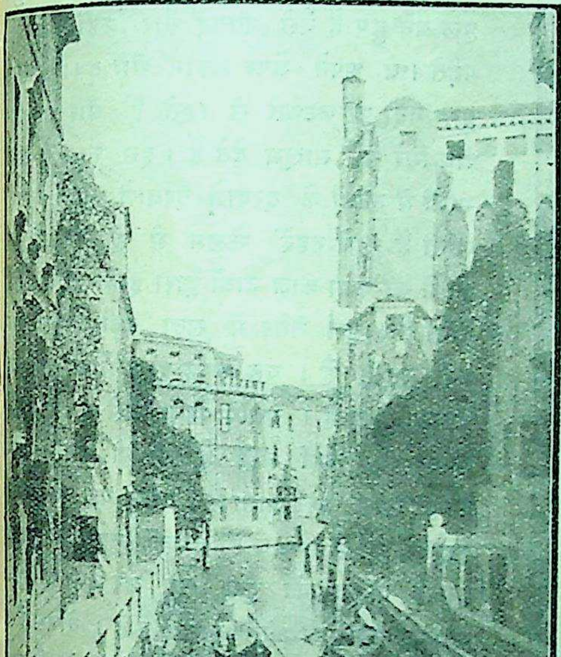

वेनिस की एक गली।

हालैंड का एम्सटर्डम योरप में 'उत्तर का वेनिस' कहलाता है। इस नगर में प्रवेश करने पर यहाँ की सड़कों और गलियों के नामों के शब्दार्थ इस नगर के इतिहास का परिचय दे देते हैं। यह नगर कोई ९० टापुओं पर बसा है। यहाँ की इमारतों की असाधारण ऊँचाई देखकर आश्चर्य होता है। किसी समय इस नगर को फ़रासीसी साम्राज्य में तीसरा नम्बर प्राप्त था। इस नगर में आवागमन की सुविधा के लिए कोई तीन सौ पुल होंगे। यहाँ भिखमँगे नहीं दिखलाई पड़ते, इनका सर्वथा अभाव है। सरकार की ओर से ग़रीबों के भरण-पोषण का प्रबन्ध रहता है, अतएव अधिकारी लोग भिखमँगों के पेशे को निर्मूल करने के लिए सदा सन्नद्ध रहते हैं।

बेल्जियम के प्रसिद्ध नगर वेंट की भी अनेक नहरें सड़कों और गलियों का काम देती हैं। फ़्लैंडर-प्रान्त का यह एक सुन्दर और प्राचीन नगर है। इसका इतिहास भी मनोरम है। नगर की प्राचीन इमारतें और उसके निवासियों के रहन-सहन से इस नगर की महत्ता का पता दर्शक को वहाँ पहुँचते ही लग जाता है। इस समय बेल्जियम भर में यह ऊन के व्यापार की सबसे बड़ी मण्डी है। यह बात ज़रूर है कि कानपुर की तरह यहाँ की सड़कों पर रुई की गाड़ियों या कपड़े की गाँठों के ठेले आते-जाते नहीं दिखलाई देंगे तो भी उनके स्थान में यहाँ नावों की ख़ासी कसाकसी दिखलाई पड़ती है। इस नगर में नहर की जो शाखायें सड़कों का काम देती हैं वे मीलों तक चली गई हैं। इन पर दिन-रात नावें चला करती हैं। इन्हीं के द्वारा सर्वसाधारण के सारे काम होते हैं। स्थल-मार्ग से आने-जानेवालों की सुविधा के लिए इन नहरों पर जगह जगह पुल बने हुए हैं। कुल पुल अस्सी हैं।

योरप के वेनिस और एम्सटर्डम जैसे नहरवाले नगर संसार के दूसरे महाद्वीपों में भी हैं। उनमें भी सड़कों और गलियों का काम नहरों से लिया जाता है। उनके भी अनूठेपन और विचित्रता में ज़रा भी न्यूनता नहीं देख पड़ती। इनमें चीन का कैंटन नगर बहुत ही अद्भुत है। इस नगर के कोई तीन लाख निवासी अपना सारा जीवन जल के वक्षःस्थल पर ही बिताते रहते हैं। उनका वहीं जन्म होता है और मरण भी वहीं होता है। यह नगर अपने ही नाम की नदी के किनारे पर बसा है। नदी में अपनी नावों पर बारहों महीने अगणित लोगों के रहने के कारण कैंटन नदी का अधिकांश भाग आबादी में परिणत हो गया है। यह आबादी मीलों तक नदी के पाट पर चली गई है। इस आबादी को पूरा जलनगर समझना चाहिए। इस तीन लाख की

आबादी के जलनगर के महल्ले, सड़कें और गलियाँ सभी नदी के ऊपर ही हैं। यहाँ नावों ने ऐसे विचित्र ढङ्ग से लङ्गर डाल रक्खा है कि देखते ही बनता है। एक एक हलके की नावें अपने स्थान पर वर्षों चुपचाप लङ्गर डाले पड़ी रहती हैं। कैंटनवासी उन्हीं पर रह कर अपना कालयापन करते हैं। इस जल-नगर के निवासियों को सुख के सभी साधन वहीं उपलब्ध हैं। यहाँ के गृहस्थ अपने घर पर सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री प्राप्त कर सकते हैं। फेरीवाले नावों पर माल लाद कर जगह जगह खाने-पीने आदि की नाना प्रकार की चीज़ें बेचा करते हैं। मतलब यह कि जिस प्रकार कैंटनवासी थल पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उसी प्रकार नदी के ऊपर रहनेवाले उनके भाई-बन्धु भी।

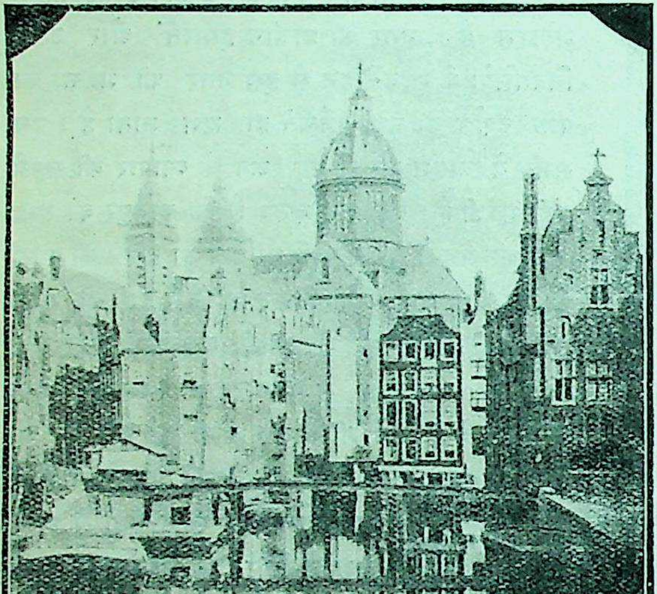

एम्सटर्डम का एक दृश्य।

वस्तुतः कैंटन नगर संसार में एक अद्भुत स्थान है। बढ़ती हुई जन-संख्या की कठिनाइयों की समस्या को जल-नगर बसा कर जैसा इस नगर के चीनाओं ने हल किया है, वैसा संसार में और कहीं नहीं देखने में आता। इस सम्बन्ध में यही अपना उदाहरण है।

काश्मीर के श्रीनगर को पाश्चात्य लोग 'एशिया का वेनिस' कहते हैं। यह नगर झेलम नदी के दोनों किनारों पर चार मील लम्बा बसा है। यह काश्मीर-राज्य की राजधानी है। यहाँ झेलम नदी पर जैसे अद्भुत पुल बने हुए हैं वैसे शायद और कहीं नहीं देख पड़ते। वे अपने ऊपर मकान और दूकानें लादे हुए नदी पर लटकते से रहते हैं और अब गिरे अब गिरे सा मालूम देते हैं। इस नगर के सभी भागों में लोगों के दरवाज़े दरवाज़े नहरें बहती रहती हैं। ये नहरें झेलम से ही निकली हैं। लोगों का काम-काज नावों-द्वारा इन्हीं नहरों पर से होता है। इस नगर में सदा बड़ी चहल-पहल बनी रहती है। यह शाल-दुशालों का एक बड़ा प्रसिद्ध केन्द्र है। यद्यपि पहले जैसे कारख़ानों की संख्या अब यहाँ नहीं है तो भी उनका काम अच्छी तरह चला जाता है। परन्तु यह नगर गन्दा हद दर्जे का है। साथ ही इसकी नष्टप्राय इमारतें इसकी शोभा को कुछ कम कर देती हैं। इस सम्बन्ध में वेनिस श्रीनगर से श्रेष्ठ है। वेनिस जैसी स्वच्छता तथा सुन्दर इमारतें यहाँ देखने को नहीं मिलतीं।

स्याम की राजधानी बैंकाक भी संसार में अपने ढङ्ग का एक ही नगर है। इसका वह अंश जो जल-नगर कहा जा सकता है अपने ढङ्ग का एक ही है। यह नगर मेनाम नदी के किनारे पर बसा है। लोग नदी में बाँस के टट्टर डाल कर उन पर अपने रहन के लिए लकड़ी के घर बनाते हैं और उन्हीं में बारहों महीने रहते हैं। यहाँ के जल-नगर के महल्ले और सड़कें कैंटन के जल-नगर से भी अच्छी हैं। नगर के निवासियों का सारा काम नौका-द्वारा ही होता है। हाट-बाट जाने, मित्रों से मिलने-जुलने और

सैर-सपाटा आदि सभी प्रकार के कामों के लिए यहां नौका आवश्यक है। स्यामी लोग चलना नहीं पसन्द करते और न वे घोड़े की सवारी करना ही जानते हैं। वे नौका को ही अपना सर्वस्व समझते हैं, उसी से उनके सारे काम भी सधते हैं, सदा जल के ऊपर रहने के कारण वे तैरने में एक ही होते हैं। बात बात में नदी में कूद पड़ना और तैर कर निकल आना उनका एक साधारण काम है। जब कभी कोई अचानक नदी में गिर

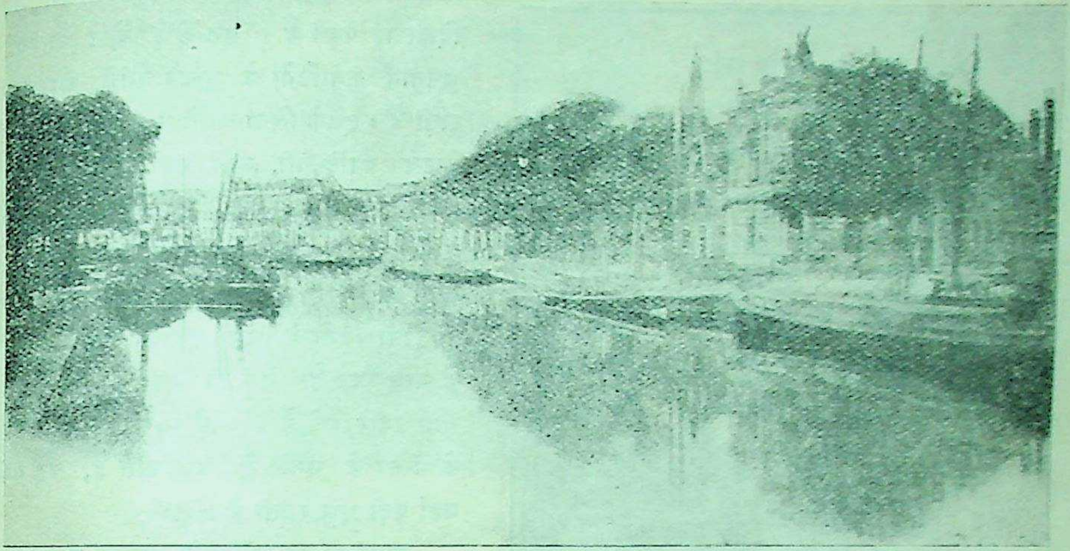

हारलेम का एक जल-पथ।

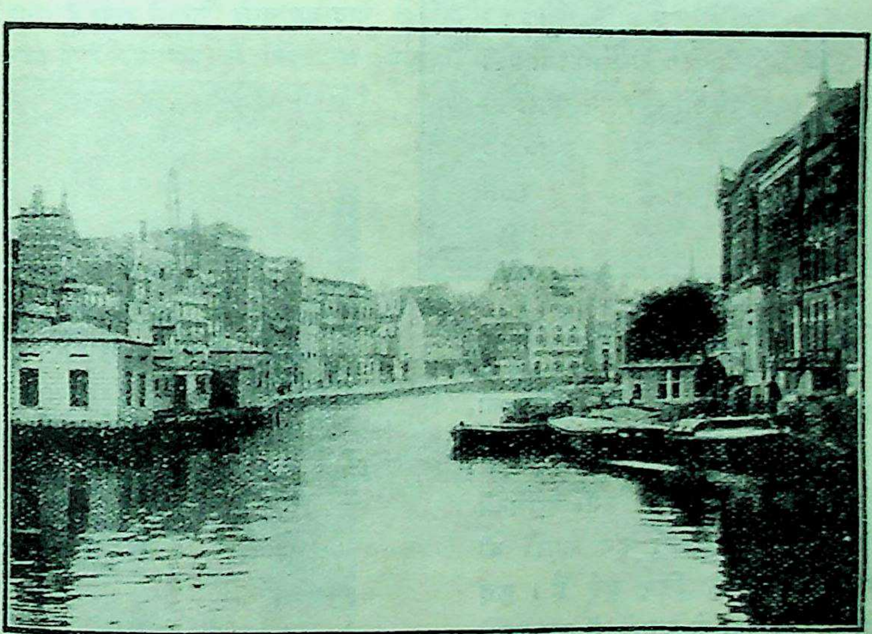

एम्सटर्डम का एक जल-पथ।

जाता है तब कोई इस बात की ओर विशेष ध्यान तक नहीं देता। गिर जानेवाला भी बड़े मज़े में तैर कर अपनी रक्षा कर लेता है, वह भी अपना नदी में गिर पड़ना बिलकुल मामूली बात समझता है।

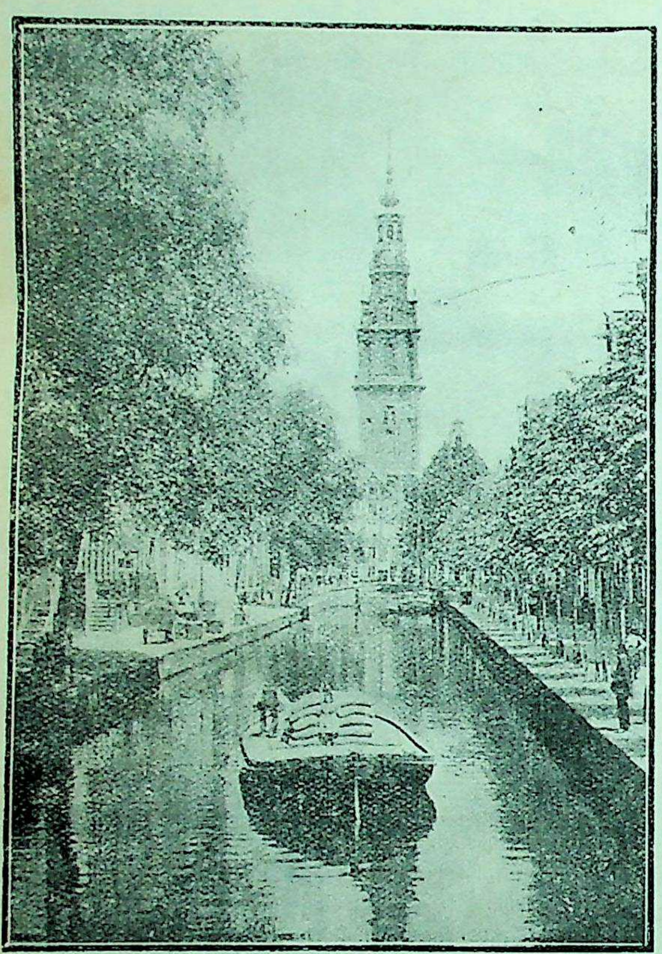

एम्सटर्डम का एक दूसरा जल-पथ।

अमरीका और कनाडा में भी ऐसे नगर हैं जिनमें नहरें सड़कों का काम देती हैं। परन्तु इन नगरों की रचना केवल आमोद-प्रमोद के लिए हुई है। कुछ अधिक आबादी हो जाने से यहाँ के नगरों में जल-नगरों की सृष्टि नहीं की गई है। कनाडा में सेंट लारेंस नदी में एक जगह कोई १५०० छोटे छोटे टापू हैं। इन टापुओं पर आबादी है। यह स्थान 'सहस्र द्वीपों का नगर' कहलाता है। इन टापुओं के एक दूसरे से कहीं समीप और कहीं दूर पड़ जाने से इनके बीच में अनेक जल-मार्ग हैं। इन जल-मार्गों के किनारे अपने सघन कुञ्जों के कारण बहुत अधिक मनोरम दिखलाई पड़ते हैं। इन छोटे छोटे टापुओं पर धनवान् कनाडियों के सुन्दर बँगले और कोठियां खड़ी हैं। इनके सिवा यात्रियों की सुविधा के लिए होटल आदि भी जहाँ तहाँ बन गये हैं। इस प्रकार कई मील लम्बा यह टापुओं का नगर सेंट लारेंस नदी की शोभा-वृद्धि करता है। इस नगर का भी सारा काम-काज जल-मार्गों के द्वारा ही होता रहता है। जैसे बड़े बड़े नगरों की सड़कों के नाम होते हैं, वैसे ही यहाँ के जल-मार्गों के नाम रक्खे गये हैं। जाड़े में यहाँ के निवासी देश के भीतर के नगरों में चले जाते हैं, पर गर्मी में यहाँ बड़ी धूम रहती है।

अमरीका का फ्रांसिस्को प्रशान्त महासागर का वेनिस कहलाता है। भूकम्प से नष्ट हो जाने के बाद यह नगर फिर से बसा है। यहाँ के जल-नगर का नाम बेलविडेर है, पर नगरवासी इसे आर्कटाउन कहते हैं। एक बार यहाँ के कई एक धनी परिवारों ने

गर्डरेच का एक जल-पथ।

गर्मी के कष्ट से बचने के लिए एक नई बात सोच निकाली। उन लोगों ने पुरानी ट्रामगाड़ियाँ एकत्र कीं और उन्हें दो दो, तीन तीन या चार चार करके एक साथ बाँधा। फिर उनको समुद्र की खाड़ी में तैरा दिया। इसके बाद इन्हें एक ढङ्ग से स्थिर कर जल-नगर की रचना प्रारम्भ की। महल्ले और गलियों की यथाविधि व्यवस्था की गई। अब यह धीरे धीरे एक छोटा सा नगर बन गया है। नगर-निवासी साल में कई महीनों तक इस नगर के ही मकानों में रहते हैं। ट्रामगाड़ियों के इन मकानों में रहनेवालों को किसी बात की असुविधा नहीं उठानी पड़ती। गाड़ियों के भिन्न भिन्न कमरों में उनके रहने और खाने-पीने आदि का पूरा प्रबन्ध रहता है। आने-जाने का काम नौकाओं-द्वारा होता रहता है। व्यापारी लोग अपनी नावों में आवश्यक सामग्री लादे हुए इस जल-नगर में फेरी लगाया करते हैं। रात में इसके जल-मार्ग गैस की रोशनी से प्रकाशित किये जाते हैं। इससे इस नगर की शोभा और भी बढ़ जाती है। इस सम्बन्ध में इसकी बराबरी संसार का कोई जल-नगर नहीं कर सकता।

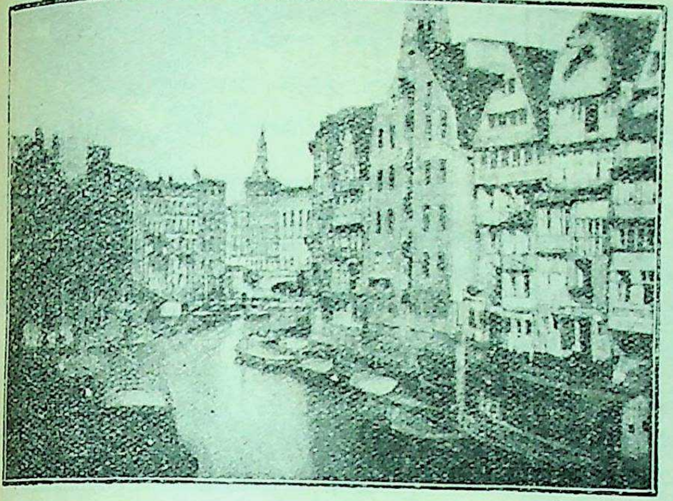

हैम्बर्ग का एक जल-पथ ।

जापान के तीन शाही नगरों में ओसाका की भी गणना है। यह नगर अजी नदी के दोनों ओर बसा है। यह भी नहर की धाराओं से चारों ओर व्याप्त है। इसी कारण इसकी तुलना वेनिस और स्टाकहाम से की जाती है। इसकी गलियाँ बड़ी तङ्ग हैं, पर रहती हैं वे बहुत व्यवस्थित और साफ़-सुथरी। यहाँ के सारे मकान लकड़ी के हैं। शहर भर में नहर की शाखायें गई हैं। नगर में नहरों के किनारे बड़े बड़े भव्य बौद्ध-मन्दिर खड़े हैं। इस नगर में टकसाल और तोपख़ाना है। एक सरकारी अस्पताल और एक सरकारी स्कूल भी है।

परन्तु हैम्बर्ग का उल्लेख छूटा जाता है। यह नगर भी उपर्युक्त नगरों की भाँति नहरों का ही नगर है। जब एल्ब-नदी में ज्वार-भाटा आता है तब ये नहरें घटा-बढ़ा करती हैं। यहाँ की नहरें तङ्ग हैं। कभी कभी इन नहरों में पानी नहीं जाने दिया जाता। उस समय ये सूख जाती हैं। जब एल्ब नदी में बाढ़ आती है तब इस नगर के निवासियों को सावधान करने के लिए तीन गोले दाग

घेंट का एक राज-मार्ग ।

कर उसकी सूचना दे दी जाती है। इसी प्रकार पानी के उतरने पर भी तीन गोले दाग कर भय न रह जाने की सूचना दे देते हैं। बाढ़ आने की सूचना पाकर निचले भाग के निवासी भाग खड़े होते हैं और जब नदी उतर

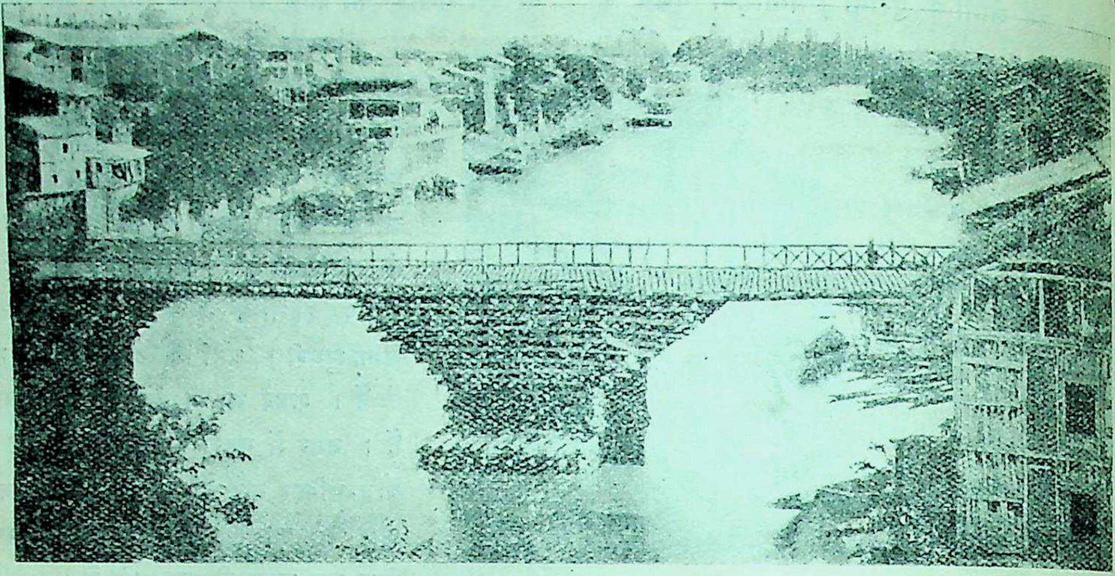

श्रीनगर का एक दृश्य।

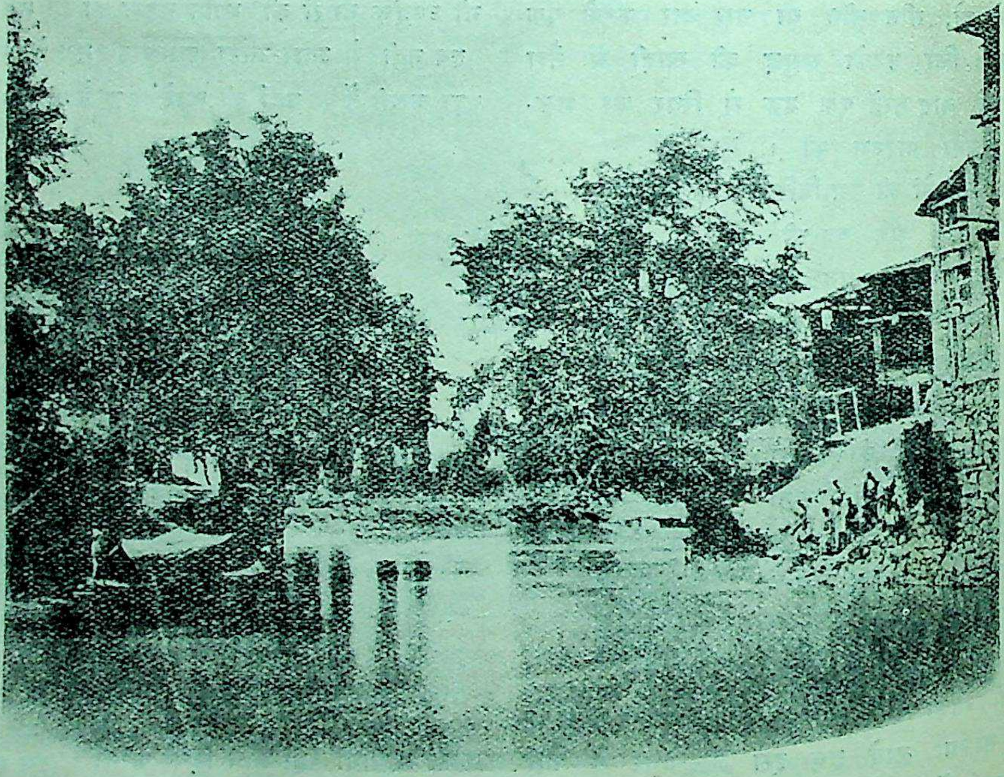

काश्मीर का एक दृश्य।

जाती है तब वे फिर अपने घरों को चले आते हैं। पर ऐसी घटना चैत्र और कुँवार में दो ही बार होती है।

हैम्बर्ग का पुराना भाग अलसटर-नदी के पूर्व ओर है। यहीं यह नदी बेली नामक दूसरी नदी से मिल जाती है। इसके पश्चिम ओर नया नगर है। इसमें बड़ी बड़ी सुन्दर इमारते हैं। बड़े बड़े बाज़ारों से यह नगर बड़ा मनोहर हो गया है। यहाँ गिरजाघर भी बड़े रमणीक हैं।

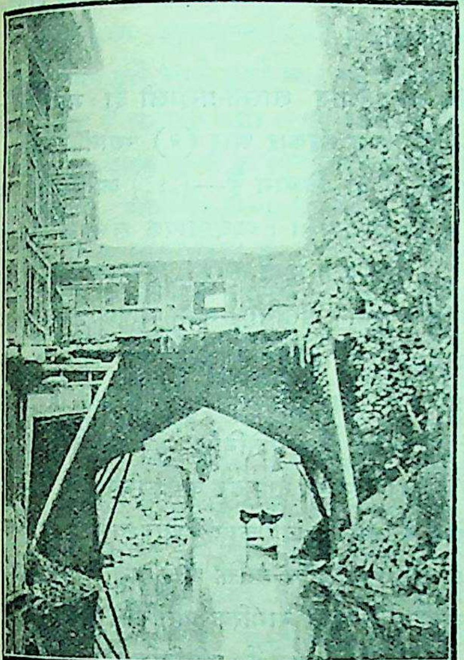

काश्मीर का एक जल-पथ।

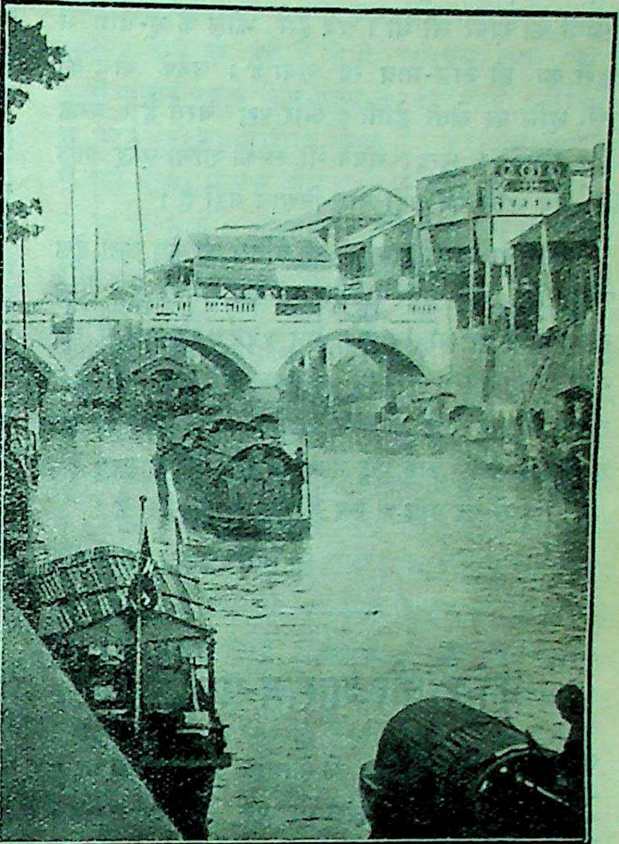

कैन्टन का एक दृश्य।

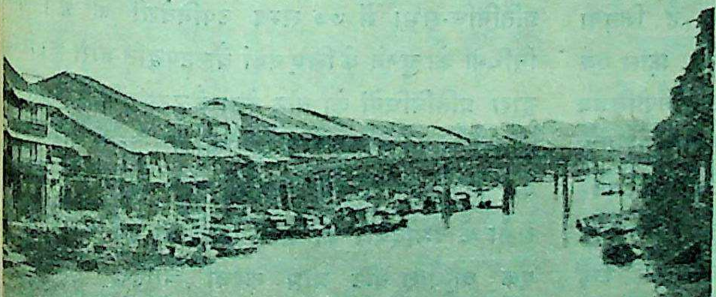

ओसाका का एक जल-पथ।

हालैंड के नगरों का उल्लेख ऊपर किया गया है। वस्तुतः डच लोगों ने हारलेम झील में बाँध बाँध कर प्रकृति को अपने वश में किस प्रकार कर लिया है, यह बात उसे देखने से तत्काल प्रत्यक्ष हो जाती है। स्पार्नी नदी की शाखाओं और नहरों के द्वारा जहाज़ इस नगर के बीच तक आ जाते हैं। यह कम विचित्र बात नहीं है। सन् १६४२ में झील के सुखा डालने की एक स्कीम सोची गई थी। परन्तु इस ओर सन् १८३६ में ही लोगों ने विशेष रूप से

ध्यान दिया। इसी साल नवम्बर के तूफ़ान में इस झील का जल एम्सटर्डम तक पहुँच गया था और दिसम्बर के दूसरे तूफ़ान में दूसरी ओर उसके जल ने लेडेन की गलियों की ख़बर ली थी। अब इस झील के भू-भाग में नहरों का ही जाल-मात्र रह गया है। उनके बीच की सूखी भूमि पर खेती होती है और पशु चरते हैं। जगह जगह कृषकों के सुन्दर भवन भी उसकी शोभा-वृद्धि करते हैं। अब झील का कहीं नाम-निशान नहीं है।

डार्ट या डार्ड्रेट नगर में भी वेनिस की कुछ छटा देख पड़ती है। यह नगर राटर्डम से दस मील है। मास नामक टापू पर आबाद है। सन् १४२१ की बाढ़ में यह नगर महाद्वीप के भू-भाग से पृथक् हो गया था। उस तूफ़ान में इस नगर के आस-पास के कोई ७२ गाँव नष्ट हो गये थे और कोई एक लाख आदमियों की मृत्यु हुई थी। तब से यह टापू के रूप में परिणत हो गया है।

गिरिजाशङ्कर वाजपेयी

फ़्रांस की शासन-पद्धति।

संसार के वर्तमान स्वतन्त्र राष्ट्रों में फ़्रांस भी एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। उसकी शासन-पद्धति से अभिज्ञ होना भारतीय राजनीतिज्ञों को उतना ही आवश्यक है जितना इँगलेंड और अमरीका की राज-पद्धतियों से। फ़्रांस एक प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्य है। इसकी नीव तृतीय नेपोलियन के अपनी सेना-सहित जर्मनी के हाथ क़ैद हो जाने पर पड़ी थी। कुछ वर्षों तक तो प्रतिनिधि-सत्ताक राज्यवादियों और राजतन्त्रवादियों में झगड़ा होता रहा। परन्तु जब राजतन्त्रवादियों ने देखा कि उनकी दाल नहीं गलती तब उन्हें विवश होकर प्रतिनिधि-सत्ताक राज्यवादियों से मेल कर लेना पड़ा। उसी समय राज-नियमों-द्वारा प्रधान और प्रतिनिधि-द्वारा मन्त्रिसभा का निर्माण किया गया, किन्तु स्पष्टतया यह निर्णय नहीं किया गया कि उनका आपस में क्या सम्बन्ध होना चाहिए। कुछ वर्षों तक फ़्रांस की शासन-प्रणाली ऐसी ही चलती रही। फिर कुछ नियम ऐसे बनाये गये जिसमें भविष्यत् में प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्य सुरक्षित रहे। इस बात की स्पष्ट घोषणा कर दी गई कि अब इन नियमों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। फ़्रांस की जनता को इस बात का भय था कि शासन-प्रणाली में सुधार करते करते कहीं एक दिन यह राज्य ऐसे रूप में न परिणत हो जाय कि वहाँ फिर राजतन्त्र स्थापित हो जाय।

फ़्रांस की वर्तमान शासन-प्रणाली दो भागों में बँटी हुई है—(१) केन्द्र-सरकार और (२) स्थानीय स्वराज्य। केन्द्र-सरकार के दो विभाग हैं—(१) व्यवस्थापक सभा और (२) शासन-सभा। व्यवस्थापक सभा के तीन अङ्ग हैं—(१) प्रतिनिधि-सभा (२) अन्तरङ्ग सभा और (३) जातीय सभा। प्रतिनिधि-सभा में एक लाख फ़रासीसियों में केवल एक प्रतिनिधि भेजा जा सकता है, किन्तु प्रत्येक प्रान्त को यह अधिकार दे दिया गया है कि यदि वे चाहें तो अपने तीन प्रतिनिधि भेज सकते हैं। प्रत्येक २७ वर्ष के फ़रासीसी को वोट देने का अधिकार है और प्रतिनिधि होने के लिए २५ वर्ष का वय आवश्यक है। राज-कर्मचारी, प्राचीन राजवंशीय व्यक्ति और पागलों को छोड़ कर फ़्रांस-साम्राज्य के सभी नागरिक प्रतिनिधि-सभा के सदस्य पद के लिए खड़े हो सकते हैं। प्रतिनिधि-सभा का निर्वाचन प्रति पाँचवें वर्ष होता है। फ़रासीसी उपनिवेशों को भी अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त है। वर्तमान प्रतिनिधि-सभा में ७७ सभ्य उपनिवेशों के हैं। प्रतिनिधियों को चुनने के लिए वहाँ बैलटपद्धति जारी है। टिकट-द्वारा प्रतिनिधियों को वोट देना बैलटपद्धति है। गुप्त रीति से सम्मति देने की यह एक प्रणाली है। इससे वोट देनेवाले पर किसी भी दल का प्रभाव नहीं पड़ता। प्रतिनिधि-सभा के उम्मेदवार को अपने निर्वाचन-क्षेत्र के कम से कम एक चतुर्थांश वोट प्राप्त करना चाहिए। इसके सिवा अन्तिम गणना में उसे दूसरे उम्मेदवारों की अपेक्षा बहुमत प्राप्त करना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो उसे निर्वाचन-क्षेत्र के चतुर्थांश वोट मिल जाने पर भी वह प्रतिनिधि-सभा के लिए निर्वाचित नहीं हो सकेगा। यदि किसी क्षेत्र में एक भी प्रतिनिधि इन शर्तों को पूरी न कर सका

तो उस क्षेत्र का फिर से निर्वाचन होगा। दूसरी बार जिस प्रतिनिधि की ओर स्पष्ट बहुमत होगा वह चुन लिया जायगा। ये प्रतिनिधि केवल चार वर्ष के लिए चुने जाते हैं। फ़्रांस में प्रधान अधिकार प्रतिनिधि-सभा को ही प्राप्त है। वही देश के लिए क़ानून बनाती है और आय-व्यय का चिट्ठा भी तैयार करती है। वहां के राष्ट्रपति पर अभियोग चला कर दण्ड देने का अधिकार भी उसे प्राप्त है।

यह तो हुआ व्यवस्थापक सभा के पहले अङ्ग का विवरण। अब हमें उसके दूसरे अङ्ग की ओर ध्यान देना चाहिए। वह है अन्तरङ्ग सभा। वह सीनेट-सभा के नाम से प्रसिद्ध है। उसके सभ्यों का निर्वाचन राजकीय विभागों-द्वारा होता है। प्रतिनिधि-सभा, ज़िलासभा तथा स्थानिक सभा के सभ्य सीनेट-सभा के सदस्यों को चुनते हैं। प्रत्येक सभ्य की अवस्था चालीस वर्ष से अधिक होनी चाहिए, क्योंकि प्रतिनिधि-सभा-द्वारा तैयार हुआ आय-व्यय का चिट्ठा अन्तरङ्ग सभा से ही स्वीकृत होता है। इसी लिए इस सभा में अनुभवी सभ्यों की आवश्यकता होती है। इसकी सभ्य-संख्या कम से कम चालीस होनी चाहिए। यह भी शासन-प्रणाली का क़ानून बनाती है, किन्तु इसे आय-व्यय का चिट्ठा तैयार करने का अधिकार नहीं है। यह प्रतिनिधि-सभा में पेश किये हुए चिट्ठे में केवल कमी कर सकती है। कभी कभी यह सभा न्याय-सम्बन्धी कार्य भी करती है। इसकी सम्मति से राष्ट्रपति प्रतिनिधि-सभा को भङ्ग कर नये चुनाव के लिए आज्ञा निकालता है। इसके सभ्य नौ वर्ष के लिए चुने जाते हैं। एक चतुर्थांश तो आजीवन के लिए चुने जाते हैं, शेष एक तिहाई का चुनाव प्रति तीसरे वर्ष होता है।

व्यवस्थापक सभा का तीसरा अङ्ग जातीय सभा है। वह नेशनल असेम्बली के नाम से प्रसिद्ध है। जब उपर्युक्त दोनों सभायें किसी अधिवेशन में एक साथ बैठती हैं तब वे दोनों मिलकर जातीय सभा कहलाती हैं। इन दोनों की एक साथ बैठक फ़्रांस की राजधानी पेरिस में नहीं, किन्तु वरसेलीज़ में होती है। राष्ट्रपति का चुनाव इसी सभा से होता है। इसके सिवा आवश्यकता पड़ने पर यह सभा शासन-प्रणाली में परिवर्तन भी कर सकती है।

फ़्रांस की शासन-सभा के दो अङ्ग हैं, एक राष्ट्रपति और दूसरा मन्त्रि-सभा। राष्ट्रपति जातीय सभा-द्वारा सात वर्ष के लिए चुना जाता है। वह दूसरी बार भी चुनाव के लिए खड़ा हो सकता है। प्राचीन राजवंशीय व्यक्ति राष्ट्रपति के पद के लिए नहीं खड़े हो सकते। यह रुकावट इसलिए डाल दी गई है कि वे अधिकार पाकर फिर से अपने प्राचीन पद के लिए प्रयत्न न करने लगें। राष्ट्रपति पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता है। फ़रासीसी-साम्राज्य में यही मुख्य शासक और सारे नियमों का परिचालक समझा जाता है। मन्त्रि-सभा और राज-कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकी पद-च्युति इसी के अधिकार में है। यहां एक बात याद रखनी चाहिए कि राष्ट्रपति नाम-मात्र के लिए ही मन्त्रिमण्डल का नियोजक है। यथार्थतः उसकी नियुक्ति प्रतिनिधि-सभा के हाथ में है। कर वसूल करने का भार राष्ट्रपति पर रहता है। वह सन्धि तथा युद्ध की घोषणा उपर्युक्त दोनों सभाओं की अनुमति से कर सकता है। उसे प्रतिनिधि-सभा को भङ्ग करने के लिए अन्तरङ्ग सभा की स्वीकृति लेनी पड़ती है। वह किसी भी क़ानून को अस्वीकृत हो जाने पर फिर विचार के लिए भेज सकता है, किन्तु किसी नियम को अपनी विशेष शक्ति-द्वारा वह रद नहीं कर सकता। राष्ट्रपति के प्रत्येक आदेश-पत्र पर मन्त्रियों के हस्ताक्षर होना अत्यन्त आवश्यक हैं, नहीं तो वह रद समझा जाता है। इससे स्पष्टतया विदित होता है कि राष्ट्रपति की शक्ति परिमित है। वास्तव में सारी शक्ति प्रतिनिधि-सभा तथा अन्तरङ्ग सभा के अधीन है।

शासन-सभा का दूसरा अङ्ग मन्त्रि-सभा है। इस सभा के दो काम हैं। एक राजनैतिक और दूसरा शासन-सम्बन्धी। मन्त्रि-सभा के सभ्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, किन्तु यह काम वह प्रतिनिधि-सभा की अनुमति लेकर करता है। सच पूछा जाय तो मन्त्रि-सभा के सभ्यों की सर्वे सर्वा प्रतिनिधि-सभा है। इन्हें अपने पद पर बने रहने के लिए प्रतिनिधि-सभा के सभ्यों का मुँह ताकना पड़ता है। यदि ये प्रतिनिधि-सभा के सभ्यों की दृष्टि से गिर जायँ तो ये अपने पर नहीं टिक सकते। इन्हें प्रतिनिधि-सभा में विशेष स्थान और अधिकार दिया जाता है। इस सभा का अध्यक्ष स्वयं राष्ट्रपति

होता है और उपाध्यक्ष प्रधान मन्त्री। मन्त्रि-सभा के प्रत्येक मन्त्री को शासन-विभाग का पृथक् पृथक् काम दिया जाता है। विभागों तथा मन्त्रियों की संख्या राजनियम-द्वारा निश्चित नहीं है। यही कारण है कि मन्त्रि-सभा के मन्त्रियों की संख्या भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न रहती है। राष्ट्रपति के पदत्याग करने पर, किसी कारण-वश असमर्थता प्रकट करने पर अथवा अवधि के पहले उसकी अचानक मृत्यु हो जाने पर मन्त्रि-सभा के सभ्य उसके पद का कार्य-भार ग्रहण कर सकते हैं। राजनैतिक संस्था की हैसियत से इस सभा को अपनी शासन-नीति निश्चित कर उसे प्रतिनिधि-सभा में उपस्थित करना पड़ता है। राजनियमानुसार मन्त्रि-सभा के मन्त्री राष्ट्रपति के सम्मुख उत्तरदायी हैं। फ़रासीसी शासन-प्रणाली का यह एक स्पष्ट नियम है कि मन्त्रि-सभा अपनी नीति के लिए सम्पूर्णतया और शासन-सम्बन्धी कार्यों के लिए पृथक् पृथक् प्रतिनिधि-सभा के सम्मुख उत्तरदायी है। मन्त्रि-सभा के मन्त्रियों को पूर्ण अधिकार दे दिया गया है। इसका कारण यह है कि वहाँ इस बात का सदा भय बना रहता है कि कहीं फिर क्रान्ति न होजाय। जब तक शक्ति कई व्यक्तियों में बँटी रहती है तब तक क्रान्ति की कोई आशङ्का नहीं रहती। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि जब मन्त्रि-सभा की कार्यवाही अस्वीकृत कर दी जाती है तब उसके सभ्य अपने अपने पद से इस्तीफ़ा दे देते हैं। आय-व्यय का चिट्ठा उपस्थित करने पर ये नेतृत्व का काम नहीं कर सकते। उस समय इन्हें प्रतिनिधि-सभा के सभ्यों के साथ साथ काम करना पड़ता है।

जैसा ऊपर कहा गया है कि शासन-सभा न्याय से भी सम्बन्ध रखती है। उसका वर्णन इस प्रकार है। फ़्रांस में दो प्रकार की अदालतें हैं। एक तो वे जो राजकर्मचारी को दोषी ठहराये जाने पर उसे दण्ड देती है। इसे शासन-सम्बन्धी अदालत कहते हैं। इसके ऊपर एक बड़ी अदालत होती है। उसमें अपील हो सकती है। इसे शासन-सम्बन्धी प्रधान अदालत कहते हैं। यह फ़्रांस की सबसे बड़ी अदालत है। यहाँ मन्त्रियों तथा शासन के सारे स्थायी उच्च कर्मचारियों पर अभियोग चलाया जाता है। दूसरी हैं साधारण अदालतें। उनमें सर्व-साधारण के मुक़द्दमे दायर होते हैं। ये चार प्रकार की हैं—(१) प्रधान अदालत (२) प्रान्तीय अदालत Department Court (३) ज़िला अदालत और (४) मजिस्ट्रेटी, लगान इत्यादि के झगड़े के मुक़द्दमें यहीं चलाये जाते हैं। फ़ौजदारी मुक़द्दमों में जूरी की राय ली जाती है, जिसे सरकार नियत करती है। न्यायाधीश आजीवन के लिए नियत किये जाते हैं। जब कभी शासन-सम्बन्धी अदालत और साधारण अदालत में यह झगड़ा उठता है कि अमुक अभियोग किस अदालत में चल सकता है तब दस सभ्य अलग मिल कर उसका निर्णय करते हैं। ये दस सभ्य निम्नलिखित होते हैं—

एक न्याय-मन्त्री।
शासक-सभा के तीन सभ्य।
सुप्रीम कोर्ट के तीन सभ्य।
उपर्युक्त सभ्यों द्वारा चुने हुए तीन सभ्य।

केन्द्र-सरकार का संक्षेप में यही विवरण है। अब हमें स्थानिक स्वराज्य की ओर झुकना चाहिए। शासन की सुविधा के लिए फ़्रांस प्रान्तों, विभागों, हल्कों और छोटे ज़िलों में बँटा हुआ है। वहाँ का 'विभाग' हमारे भारतवर्ष के प्रान्त के समान होता है। उसके मुख्य शासक को प्रिफ़ेक्ट (Prefect) कहते हैं, जो हमारे यहाँ के गवर्नर के समान होता है। प्रिफ़ेक्ट अन्तरङ्ग विभाग के सचिव (Minister for the Interior) द्वारा नियुक्त तथा पदच्युत किया जाता है। प्रतिनिधि तथा अन्तरङ्ग सभा के सभ्यों का इस पर काफ़ी प्रभाव रहता है। प्रान्तों में भी राजनैतिक विभाग रहता है। मन्त्रि-सभा का परिवर्तन होते ही प्रिफ़ेक्ट अपने पद से हटा दिया जाता है। प्रत्येक प्रिफ़ेक्ट के दो मुख्य कार्य हैं। केन्द्र-सरकार के एजेन्ट की हैसियत से वह अपने अधीनस्थ भाग का कर वसूल करता है। अन्तरङ्ग विभाग के मन्त्री से जो आज्ञा निकलती है उसका भी पालन उसे करना पड़ता है। यद्यपि अन्तरङ्ग विभाग के मन्त्री को विशेष शक्ति दी गई है तो भी वह उसे प्रिफ़ेक्ट के विरुद्ध काम में नहीं ला सकता। प्रिफ़ेक्ट के द्वारा ही उसको वह उपयोग में ला सकता है। स्थानिक व्यवस्थापक सभा के

शासक की हैसियत से वह स्थानिक शासन का परिचालक समझा जाता है। वहाँ की सारी स्थानिक कार्यवाही अन्तरङ्ग विभाग के मन्त्री से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती।

प्रिफ़ेक्ट की भी एक शासन-सभा होती है। यह केवल समय समय पर उसे सलाह देती रहती है। इसके सिवा वहाँ एक व्यवस्थापक सभा भी होती है। एक हलके से केवल एक प्रतिनिधि इस सभा में भेजा जाता है। इस सभा के सभ्यों के निर्वाचन का नियम भी केन्द्र-सरकार की सभाओं के ही समान है। प्रत्येक व्यक्ति को वोट देने का अधिकार है। इसका निर्वाचन प्रति छठे वर्ष होता है, किन्तु प्रति तीसरे वर्ष में आधे सभ्य चुनाव-द्वारा बदल दिये जाते हैं। सभ्यों की संख्या प्रान्त की जन-संख्या के आधार पर निश्चित रहती है। वर्ष भर में उसकी दो बैठकें होती हैं। प्रत्येक बैठक का अधिवेशन निर्धारित काल तक होता रहता है। अधिक से अधिक १५ से ३० दिन तक बैठक जारी रहती है। आवश्यकता पड़ने पर असाधारण बैठक भी होती है। यह आठ दिन से अधिक जारी नहीं रह सकती। उसका विशेष अधिवेशन करने के लिए भी दो तिहाई सभ्यों की स्वीकृति लेनी पड़ती हैं। प्रिफ़ेक्ट अथवा उपाध्यक्ष ही इसकी सूचना निकालता है। सभ्यों के अनुपस्थित होने पर उन्हें नियमानुसार दण्ड मिलता है। यह सभा केवल निरीक्षण और आदेश करती है। केन्द्र-सरकार की व्यवस्थापक सभा की तरह यह भी अपने प्रान्त का आय-व्यय का चिट्ठा तैयार करती है, परन्तु इसे प्रजा पर कर बढ़ाने का अधिकार नहीं। वह शासन-सम्बन्धी प्रश्न पूछ सकती है। इसे राजनैतिक बातों पर अपना मत प्रकट करने का अधिकार नहीं प्राप्त है।

स्थानिक स्वराज्य का दूसरा भाग है विभाग। उसे फ़रासीसी भाषा में अरन्डिस्मांग कहते हैं। इसका मुख्य शासक सब-प्रिफ़ेक्ट होता है। उसकी नियुक्ति केन्द्र-सरकार द्वारा की जाती है। इसकी भी व्यवस्थापक सभा होती है। शासन-सम्बन्धी नियम आदि बनाने में इसको इससे सहायता मिलती है। प्रत्येक हलका भी व्यवस्थापक सभा की तरह यहाँ भी एक प्रतिनिधि भेजता है, जो राजकर्मचारी को शासन के विषय में सलाह देता है। प्रिफ़ेक्ट और उसकी शासक-सभा का इस पर विशेष अधिकार रहता है।

स्थानिक स्वराज्य का तीसरा भाग है हलका। यह केवल निर्वाचन, न्याय तथा सेवा-विषयक कामों के लिए बनाया गया है। इसमें कोई पृथक् शासन-व्यवस्था नहीं है।

ज़िला स्थानिक स्वराज्य का सबसे छोटा टुकड़ा है। इसकी संख्या लगभग छत्तीस हज़ार है। प्रत्येक की आबादी पाँच सौ से लेकर एक हज़ार पाँच सौ तक होती है। इसके प्रधान शासक को मेयर कहते हैं। ज़िला-व्यवस्थापक सभा के सभ्यों-द्वारा चार वर्ष के लिए चुना जाता है। एक अथवा दो सहकारी भी, साथ ही साथ, चुने जाते हैं, किन्तु ये अपना बोर्ड नहीं बनाते, बल्कि मातहत की हैसियत से काम करते हैं। मेयर पर केन्द्र-सरकार का बड़ा प्रभाव रहता है। प्रिफ़ेक्ट की आज्ञा से केवल एक महीने के लिए, अन्तरङ्ग विभाग के मन्त्री की आज्ञा-द्वारा तीन महीने के लिए, किन्तु केन्द्र-सरकार की शासन-सभा की आज्ञा से वह सदा के लिए अपने पद से हटा दिया जा सकता है। प्रिफ़ेक्ट का भी इस पर कम अधिकार नहीं है। वह भी उसकी कार्यवाही को रद कर सकता है।

मेयर की भी एक व्यवस्थापक सभा होती है। इसके सभ्यों की संख्या दस से तीस तक होती है। ज़िले की आबादी के अनुसार उनकी संख्या निश्चित रहती है। यहाँ भी प्रत्येक व्यक्ति को वोट देने का अधिकार है। इसके सभ्य चार वर्ष के लिए चुने जाते हैं। प्रति वर्ष इसकी दो बैठकें होती हैं, जो दो सप्ताह से अधिक दिन तक जारी रहती हैं। आय-व्यय के चिट्ठे की बैठक छः सप्ताह तक जारी रहती है। मेयर इस सभा का अध्यक्ष होता है। प्रिफ़ेक्ट का भी इस पर काफ़ी अधिकार है। वह इसे एक महीने के लिए बन्द कर सकता है। केन्द्र-सरकार की शासन-सभा इसके कामों में इतना हस्तक्षेप कर सकती है कि उसे तोड़ कर नये चुनाव के लिए आज्ञा तक निकाल सकती है। यह दूसरा चुनाव दो महीने के अन्दर ही अन्दर होना चाहिए। इसे शासन तथा निर्वाचन-सम्बन्धी कार्य करना पड़ता है।

यह संक्षेप में फ़्रांस की शासन-प्रणाली है। जब

हम इस पर विचार करते हैं तब हमें स्पष्टतया समझ पड़ने लगता है कि फ़्रांस की सारी शक्ति केन्द्र-सरकार पर निर्धारित है। छोटी छोटी संस्थायें उसके विरुद्ध टस से मस नहीं कर सकतीं। फ़्रांस की प्रजातन्त्र-सरकार का यही संक्षिप्त विवरण है।

अनन्तराम वर्मा

संवाद।

(१)

भोगी—"संसार-बन्धो ! सुविचार-सिन्धो !
सुगन्ध भीनी यदि आप चाहें।
तो आप मेरा यह पुष्पसार
स्वीकार कीजे कृपया अवश्य ॥"

(२)

योगी—"निरिच्छ घ्राणेन्द्रिय है हमारी,
सुगन्ध की चाह हमें नहीं है।
इसी लिए गन्ध समेत पृथ्वी
स्वयं हुई है वश में हमारे ॥"

(३)

भोगी—"जो आप चाहें कि विषादहारी,
सुस्वादु कोई रस प्राप्त होवे।
तो आप स्वीकार अवश्य कीजे
विशुद्ध द्राक्षारस जो यहाँ है ॥"

(४)

योगी—"लोभी नहीं है रसना हमारी,
हमें समुद्रोदक भी सुधा है।
इसी लिए स्वाद समेत पानी
स्वयं हुए हैं वश में हमारे ॥"

(५)

भोगी—"जो आप चाहें कि स्वदेश ही में
विदेश के जङ्गम दृश्य देखें।
तो देखिए 'वायसकोप'-लीला
होती यहाँ है नित जो निशा में ॥"

(६)

योगी—"निर्लिप्त हैं लोचन भी हमारे,
हमें नहीं कौतुक-दृश्य भाते।
इसी लिए रूप समेत तेज
स्वयं हुआ है वश में हमारे ॥"

(७)

भोगी—"हैं ग्रीष्म के ये दिन तापकारी,
तपा हुआ भूतल है तवा सा।
जो वायु का सेवन आप चाहें
तो हैं यहां प्रस्तुत वायुयान ॥"

(८)

योगी—"विलासिनी है न त्वचा हमारी,
निरोधते हैं हम प्राणवायु।
इसी लिए स्पर्श समेत वायु
स्वयं हुआ है वश में हमारे ॥"

(९)

भोगी—"जो आप चाहें कि विनोदकारी
सुनें कहीं गान सुगायकों के।
तो मन्दिरों में जब रासलीला
होगी, कहूँगा तब आपसे मैं ॥"

(१०)

योगी—"हैं कर्ण भी निस्पृह ही हमारे,
हैं शब्द सारे हमको समान।
इसी लिए शब्द समेत व्योम
स्वयं हुआ है वश में हमारे ॥"

(११)

भोगी—"निष्कामता ही यदि योग्य होवे
तो भूमि में क्यों नर बीज बोवे ?
हैं त्यागते जो सुख-वासनायें
पाते स्वयं हैं नित यातनायें ॥"

(१२)

योगी—"जो चाहते हों, सुख-शान्ति पावें,
दुःखार्त होके जग से न जावें।
तथा वृथा जीवन को न खोवें,
वे स्वप्न में भी विषयी न होवें ॥"

'सत्कविदास'

बौद्ध-धर्म का स्वरूप और परिणाम।

बौद्ध-धर्म्म निरीश्वरवाद है। यद्यपि बुद्धदेव ने कभी नास्तिक के नाम से अपना परिचय नहीं दिया तथापि उनके धर्म का अनुशीलन करने से जो तथ्य मिलता है उससे इसे निरीश्वर धर्म कहना असङ्गत नहीं मालूम होता। उनके समय में ब्रह्मज्ञान तथा आत्म-तत्त्व के विषय में जो मत और विश्वास जन-साधारण में प्रचलित थे उनके विरुद्ध वे खड़े हुए थे। बुद्ध का प्रदर्शित पथ नीति-मार्ग के सिवा और कुछ नहीं था। आत्म-संयम, इन्द्रिय-दमन, वासना-वर्जन इत्यादि उपाय से न्याय, सत्य, क्षमा, दया, विश्वव्यापी मैत्री इत्यादि का साधन करना ही उनके मत में मोक्ष-लाभ का अव्यर्थ उपाय है। जिस समय उनका प्रादुर्भाव हुआ था उस समय वैदिक उपासना-पद्धति कुछ जटिल कर्म-काण्डों में परिणत हो गई थी। इन क्रियाओं के उपदेशदाता ब्राह्मणों के आधिपत्य की कुछ सीमा नहीं थी। बुद्ध-देव ने उन ब्राह्मणों के क्रिया-काण्ड के विरुद्ध अपने सरल धर्म—सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, मैत्री, आत्म-संयम, सदाचार इत्यादि—का उपदेश उस समय की प्रचलित भाषा में दिया। उन्होंने सभी श्रेणियों के लोगों में अपने धर्म का प्रचार किया था। पूर्व-दक्षिण में पटना से लेकर उत्तर-पश्चिम में सरस्वती तक क़रीब डेढ़ सौ कोस लम्बे और पचास कोस चौड़े प्रदेश के नाना स्थानों में उन्होंने पर्य्यटन किया था और इस विस्तीर्ण भूखण्ड में राजा, प्रजा, धनी, दरिद्र, पण्डित, मूर्ख नाना प्रकार के लोगों में उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया था। खृष्ट-पूर्व तृतीय शतक में अशोक के उत्साह से बौद्ध-धर्म को बहुत गौरव प्राप्त हुआ था। हिन्दूकुश-पर्वत से लेकर सिंहल-द्वीप तक और काठियावाड़ से लेकर उड़ीसा तक बौद्धधर्म का प्रचार हुआ था।

फ़ाहिआन ने सन् ४१४ तक और ह्वेनसांग ने सन् ६४५ तक भारतवर्ष में भ्रमण किया था। उनके लेखों से ज्ञात होता है कि फ़ाहिआन के समय बौद्ध-धर्म की जैसी अवस्था थी उससे ह्वेनसांग के समय उसकी दशा हीन हो गई थी। फ़ाहिआन ने जिन बौद्ध-तीर्थों और देवालयों का काम बहुत अच्छी तरह परिचालित होते देखा था उनमें से अनेक स्थानों को और उनके अतिरिक्त अनेक बौद्ध-क्षेत्रों को ह्वेनसांग ने भग्न, भग्नप्राय अथवा शून्य पाया। कुछ ऐसे भी बौद्ध-क्षेत्र पाये गये जो बौद्ध-धर्म के बन्धन से मुक्त होकर हिन्दू-धर्म के अधीन हो गये थे। उस समय से ईसवी एकादश शतक तक बौद्ध-धर्म की अवनति ही होती गई। हिन्दू-धर्म सहस्र-वर्ष-व्यापी निद्रा से जागा और बौद्ध-धर्म के उच्छेद के लिए बद्ध-परिकर हुआ। यद्यपि तेरहवें शतक तक भारतवर्ष के कई एक स्थानों में बौद्ध लोग विद्यमान थे तो भी इसमें सन्देह नहीं कि वे बहुत निर्बल हो गये थे। चौदहवें शतक के शेष में वे बिलकुल अन्तर्हित हो गये थे।

इस पुनरुत्थित हिन्दू-धर्म-प्रणाली के प्रधान प्रवर्त्तक कुमारिल भट्ट, शङ्कराचार्य्य तथा रामानुज थे। कुमारिल ईसवी अष्टम शतक के आरम्भ में जीवित थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में बारम्बार बौद्ध-धर्म का प्रतिवाद किया और बौद्धों के प्रति अशेष विद्वेष प्रकट किया। वेद-भाष्यकार सुविख्यात सायणाचार्य्य के भ्राता माधवाचार्य्य ने लिखा है कि कुमारिल के सहायक राजा सुधन्वा ने बौद्ध-सम्प्रदाय के संहार के उद्देश से अपने कर्मचारियों के प्रति यह आदेश दिया था कि "सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर हिमालय तक जितने बौद्ध हैं उनको मारो। जो नहीं मारेंगे वे ख़ुद मारे जायँगे।"

शङ्कराचार्य्य कुमारिल के परवर्त्ती हैं। ह्वेनसांग के भ्रमण के पहले भारतवर्ष में कोई धर्म-विप्लव हुआ था, ऐसी कोई बात उसके भ्रमण-वृत्तान्त में नहीं मिलती। अतएव बहुत सम्भव है कि शङ्कराचार्य्य का प्रादुर्भाव-काल ह्वेनसांग के भ्रमण के पीछे था। जहां तक जाना गया है उससे यह अनुमान होता है कि शङ्करभाष्य का रचना-काल सन् ८०४ है।

बौद्ध-धर्म में अविद्या ही दुःखोत्पत्ति का मूल कारण है। इस विषय में वेदान्त-दर्शन के साथ इसका सादृश्य पाया जाता है। वेदान्त भी कहता है कि अविद्या से ही सांसारिक दुःखों की उत्पत्ति है। इस रिपु

का दमन ही दोनों दर्शनों का उद्देश है। परन्तु वेदान्त की अविद्या और बुद्ध की अविद्या एक नहीं है। वेदान्ती कहते हैं कि जीव और ब्रह्म के बीच में यह अविद्या ही व्यवधान है। इस व्यवधान के दूर होने पर जीव और ब्रह्म में मिलन होता है। यही "सोऽहम्" वाक्य का अभेद-ज्ञान है।

बुद्ध की अविद्या भिन्न पदार्थ है। ब्रह्म-विद्या के साथ उसका कुछ सम्पर्क नहीं। बौद्ध-दर्शन में वही अविद्या है जो जीवन के प्रकृत तत्त्व को जीव से छिपा रखती है और वही दुःखोत्पत्ति का यथार्थ कारण है। अतएव अविद्या से ही विषय-तृष्णा उत्पन्न होती है, विषय-तृष्णा से आसक्ति की उत्पत्ति होती है और आसक्ति का परिणाम है जन्म। रोग, शोक, दुःख, कष्ट जन्म के साथी हैं। इस जन्म-बन्धन से छूट जाना ही मुक्ति है। अविद्या दूर होने से उसके नीचे के जितने बन्धन हैं सब एक एक करके कट जाते हैं। संक्षेप में, 'अहम्' का ज्ञान लुप्त हो जाता है, जन्म का बन्धन छिन्न हो जाता है और निर्वाण का पथ उन्मुक्त होता है।

अनेक विषयों में बौद्ध और सांख्य मतों का ऐक्य देखा जाता है। कपिल और बुद्ध दोनों निरीश्वरवादी हैं। बौद्ध और सांख्य उभय दर्शनों में संसार निरवच्छिन्न दुःखमय है, और दुःख से जीव का परित्राण ही उभय मतों का मूलसूत्र है। जैसे कुछ कुछ विषयों में दोनों का सादृश्य है, वैसे अनेक विषयों में दोनों की विभिन्नता भी है। कहा गया है कि उभय का लक्ष्य दुःख-मोचन है, परन्तु यह लक्ष्य सिद्ध होने का क्या उपाय है? कपिल मुनि ने दो तत्त्वों को मान लिया है—प्रकृति तथा पुरुष। सत्व-रजस्तमोगुणात्मिका प्रकृति नर्त्तकी की भाँति पुरुष के सामने संसाररूपिणी माया का खेल खेल रही है। पुरुष अपने दर्पण में उस खेल को देख रहा है। प्रकृति के इस मायात्मक चित्र को दूर कर—इस अज्ञान-रचित आवरण को हटा कर—जब पुरुष प्रकृति से अपनी स्वतन्त्रता की उपलब्धि करता है तब माया का खेल बन्द हो जाता है। वह तत्काल ही दुःख, क्लेश, जन्म-मृत्यु से छूट जाता है। बुद्ध ने इन तत्त्वों का उल्लेख नहीं किया। उनकी सृष्टि में पुरुष की सत्ता नहीं है। वे भी कहते हैं कि सभी अनित्य है—सभी क्षयशील है—सभी दुःखमय है। परन्तु इस परिवर्तनशील नाम-रूप के पश्चात् कोई सत्य वस्तु नहीं है। बुद्ध का गम्य स्थान निर्वाण है, न वेदान्त का ब्रह्मज्ञान, न सांख्य का आत्मज्ञान—केवल निर्वाण—बुत जाना—जीवात्मा के अस्तित्व का लोप होना।

बुद्ध ने जो कुछ कहा हो, परन्तु उनके अनुचरों ने उनके नाम से जिस दर्शन का प्रचार किया वह शून्यवाद के सिवा और कुछ नहीं है—मैं मिथ्या हूँ, जगत् भी मिथ्या है और जो जगत् का मूलकारण ईश्वर कहा जाता है वह भी मिथ्या है।

थोड़े से दार्शनिक तत्त्वों तथा विशेष विधानों को छोड़ कर बौद्ध-धर्म मनुष्य-प्रकृति-मूलक धर्मनीति के सिवा और कुछ नहीं है। न्याय, सत्य, अहिंसा इत्यादि नीतियों से मनुष्य को सद्गति प्राप्त होती है, यह समझ कर बुद्धदेव ने अपने धर्म में इन नीतियों का प्राधान्य दिखाया है। ऐहिक तथा पारत्रिक कल्याण की कामना से याग-यज्ञादि के अनुष्ठान के द्वारा देवताओं का तृप्ति साधन करना व्यर्थ है और आत्म-बल के द्वारा इन्द्रियों का दमन तथा चरित्र का संशोधन कर दया-धर्म का अनुष्ठान करना ही अभीष्ट-लाभ का एक-मात्र द्वार है—इस विषय पर बुद्धदेव ने साधारण मनुष्यों की आँखें खोल दीं। उनका धर्मोपदेश जैसा महत्त्वपूर्ण है, उनका साधु आचरण उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

बौद्ध-नीति-शास्त्र एक अराजक देश है—इसमें विश्व संसार अच्छेद्य नियमों से आबद्ध है, पर इसका कोई नियामक नहीं है—फलाफल की व्यवस्था है, परन्तु कोई व्यवस्थापक पुरुष नहीं है—न पुण्य का कोई पुरस्कार देनेवाला है, न पाप का कोई दण्ड देने-वाला—याग-यज्ञ इत्यादि निष्फल आराधना अनावश्यक है। इस धर्म में साधन ही प्रधान कर्त्तव्य है, भजन की कोई विधि नहीं है। बौद्ध-धर्म का उपदेश यह है कि आत्मप्रभाव से इन्द्रियगण पर जय प्राप्त कर अन्तःकरण को द्वेष, हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य से विमुक्त करो—यही बौद्ध-धर्म की साधना है—इसी से सिद्धि प्राप्त होगी। हमारी मुक्ति अपने हाथ है—अपनी

ही शक्ति से यह दुस्तर भव-सागर उत्तीर्ण होना पड़ेगा। दूसरा कोई पार करनेवाला नहीं है।

मनुष्य अपने हृदय में हज़ारों आकांक्षायें पुष्ट करता रहता है, वह असंख्य आशाओं और विश्वासों को अपने साथ रख पृथ्वी में विद्यमान है और उनकी सफलता चाहता है। उसे अपनी दुर्बलता का ज्ञान है। अतएव अपनी वासना की सफलता तथा विपद् और दुरवस्था से बचने के लिए वह एक महाशक्ति का आश्रय लेना चाहता है। निर्बल जीव एक सर्वशक्तिमान् की कल्पना कर उसी पर सम्पूर्णता से निर्भर होकर शान्ति पाता है। यही मनुष्य की प्रकृति है। अतएव बौद्ध-धर्म मनुष्य-प्रकृति का विरोधी है। मानव-प्रकृति की उच्छेदकारी धर्म-प्रणाली कभी स्थायी नहीं हो सकती। वासना-विरहित मनुष्यों से मनुष्य-समाज गठित नहीं हो सकती। निरीश्वर धर्म अधिक काल तक ठहर नहीं सकता। हम एक ऐसे ज्ञानमय, मङ्गलमय, शक्तिमय पुरुष को चाहते हैं जो हमारी पूजा ग्रहण कर सके—हम एक ऐसा राजा चाहते हैं जो हमें सब सांसारिक विपत्तियों से बचा सके—हम ऐसा एक सखा चाहते हैं जिसके निकट अपने सब सुख-दुःख का निवेदन कर हम इस लोक में सुमति और परलोक में सुगति लाभ कर सकें। इसमें सन्देह नहीं कि आध्यात्मिक जगत् में आत्म-प्रभाव अतीव प्रयोजनीय है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यते। परन्तु देव-प्रसाद के बिना धर्म का मूल शुष्क हो जाता है। यही कारण है जिससे निरीश्वर बौद्ध-धर्म अपनी जन्म-भूमि से निकाला गया।

बौद्धों ने जो नीति-मूलक धर्म स्थापित किया था उसमें यद्यपि ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकृत किया गया है तथापि देखा जाता है कि कितने बौद्ध-क्षेत्रों में मूर्तिपूजा का प्राबल्य है। जो बुद्धदेव ईश्वर का प्रसङ्ग तक मुख में लाने में हिचकते थे उन्हीं के मार्ग पर चलनेवाले साधक लोग उन्हीं में ईश्वरत्व का आरोप कर उन्हीं की आराधना में प्रवृत्त हुए। प्रतिमा-पूजा, बुद्ध इत्यादि के अस्थि-दण्डादि की अर्चना, नाना प्रकार के यात्रा-महोत्सवादि बिना बाधा के चलने लगे। एक ओर हम देखते हैं कि बौद्ध लोग निरीश्वरवादी हैं और देवता के प्रसाद से पराङ्मुख हैं, दूसरी ओर देखा जाता है कि वे मनुष्य-पूजा तथा मूर्त्ति-पूजा के आदिगुरु हैं। बुद्धदेव के पृथिवी से अन्तर्हित होने के अल्प समय के ही बाद भारतवर्ष की एक सीमा से दूसरी सीमा तक सैकड़ों मन्दिर, हज़ारों देव-देवियों की प्रस्तर-मूर्त्तियाँ भर गईं। इलोरा, अजण्टा, खण्डगिरि इस बात की गवाही देते हैं। बुद्ध-गया की तारादेवी और वागीश्वरीदेवी, वैशाली के ध्यानी बुद्ध अमिताभ और बोधिसत्व अवलोकितेश्वर, नालन्द विहार के अवलोकितेश्वर, तारा, त्रिशिरा, वज्रवराही, वागीश्वरी इत्यादि, और अनेक स्थानों में अनेक देव-देवियों की मूर्त्तियाँ तथा मन्दिर आज भी देखे जाते हैं। जो धर्म ईश्वर के अनुग्रह से विच्छिन्न है, जो धर्म केवल आत्म-प्रभाव के आधार पर प्रतिष्ठित है, और जिस धर्म में अतिशय कठोर साधना के सिवा और कुछ भी नहीं है, उस धर्म का इस प्रकार का विचित्र परिणाम अवश्यम्भावी है।

हमारे देखने में आता है कि बौद्ध-धर्म का साधन क्रमशः उच्छृङ्खलता और यथेच्छाचारिता में परिणत हो गया। कृत्रिम उपाय से सिद्धि-लाभ करने की चेष्टा होने लगी। कुछ काल के बाद बौद्ध-धर्म की सीमा के भीतर विकट बीभत्स तान्त्रिक क्रियाकाण्ड का प्रवेश हुआ।

पहले ही कहा गया है कि बुद्धदेव अपने समय के धर्म-विश्वास के विरुद्ध खड़े हुए थे। उन्होंने अपना धर्म-मत क्रियाकाण्ड के उपदेश-दाता ब्राह्मणों के विरुद्ध प्रचलित किया था। उनका सरल मत उस समय के साधारण लोगों की ग्राम्य भाषा में सब जातियों और सब श्रेणियों के लोगों में प्रचलित किया गया था। पहले निम्नश्रेणी के लोगों को शास्त्रादि अध्ययन करने का अधिकार नहीं था। अतएव वे धर्म के गूढ़ तत्त्वों से वञ्चित रहते थे। परन्तु अब इस नये धर्म के तत्त्वों को जानने का अधिकार सब श्रेणियों के लोगों को मिल गया। बौद्धधर्म में जाति-भेद नहीं था। बुद्ध का एक प्रधान शिष्य, उपालि, जाति का नाई था। जाति-भेद न रहने के कारण निम्नश्रेणी के लोगों को धर्म के सब विषयों पर पूरा अधिकार मिल गया। अतएव यह धर्म उनके लिए बहुत रोचक हुआ। निम्नजाति के लोग प्रायः अनार्य्य-वंश-सम्भूत थे। इस कारण बौद्धधर्म में बहुत अनार्य्य कुसंस्कारों का प्रवेश हुआ। जिन सब बौद्ध देव-देवियों की

बात पहले कही गई उनमें अधिकांश की उत्पत्ति अनार्य्य प्रभाव से हुई थी ।

किसी समय वङ्गदेश में बौद्ध-धर्म का प्राबल्य था । सप्तम शतक के प्रारम्भ में ह्वेनसांग ने इस देश में ११,५०० बौद्ध-पुरोहितों को देखा था । सम्भव है कि इतने पुरोहितों के कम से कम एक करोड़ शिष्य थे । पाल-राजाओं के समय में भी बौद्ध-धर्म वङ्ग-देश में प्रबल था ।

वङ्ग-देश में अभी तक हर साल चैत्र महीने में धर्म महाराज की पूजा हुआ करती है । पचास वर्ष पहले इसका जितना प्रचार था उतना अब नहीं है । धर्म महाराज डोम, कापाली, हाड़ी इत्यादि वङ्गीय अन्त्यज जातियों के देवता हैं । इनकी पूजा बौद्ध-धर्म की विकृति तथा रूपान्तर है । इस धर्म-देवता के पुरोहित लोग भी अन्त्यज जाति के होते हैं । परन्तु हिन्दू-धर्म की अद्भुत शोषण-शक्ति है । इसी अपना लेने की शक्ति से ही वह बौद्ध-धर्म को भारतवर्ष से निकाल सका और अपने को पुनरुज्जीवित कर सका । साधारण लोगों का झुकाव जिधर है उसका निर्णय कर वह अपने नूतन शरीर का गठन करता गया । आधुनिक समय में भी देखिए—सत्यनारायणजी की पूजा । जब देखा गया कि साधारण लोगों का झुकाव मुसलमान-धर्म के प्रति हो रहा है तभी यह पूजा-पद्धति हिन्दू-समाज में प्रतिष्ठित हुई । इससे बहुत हिन्दू मुसलमान होते होते बच गये । इसी प्रकार हिन्दू-धर्म ने बौद्ध-धर्म के अनेक व्यवहारों को अपनाकर उन्हें अपने ढङ्ग से गढ़ लिया था । वङ्ग-देश की धर्म-पूजा को भी उस देश के हिन्दू-समाज ने अपने ढङ्ग से परिवर्तित कर अपने अङ्ग का एक अंश बना लिया । महाराजा धर्मपाल के समय रामाई पण्डित नाम का एक डोम पण्डित था । उसकी रचित धर्म-पूजा-पद्धति शून्यपुराण नाम से परिचित है । उसके शून्यवाद में बौद्ध-धर्म की ही बातें हैं । धर्म के मन्दिरों में शीतलादेवी की मूर्त्ति प्रायः पाई जाती है । यह देवी बौद्ध-हारिती देवी की याद दिलाती है । बौद्ध-देवताओं की पूजा का एक उपकरण है चूना, परन्तु हिन्दू देव-देवियों की पूजा में कभी चूना का व्यवहार नहीं होता । इस धर्म-पूजा में चूना लगता है । अतएव यह धर्म-पूजा मूल में बौद्ध-पूजा है ।

बुद्ध, धर्म और संघ—ये बौद्ध-धर्म के त्रिरत्न हैं । जब वङ्ग-देश में बौद्ध-धर्म का अनादर हो गया तब इस देश के बौद्ध-सम्प्रदाय बौद्ध नाम से अपना परिचय नहीं देते थे । वे अपने को सद्धर्मी कहते थे और बुद्ध के नाम का गोपन कर उन्हें 'धर्म' कहते थे । सद्धर्म शब्द त्रिरत्न के द्वितीय रत्न के नाम का रूपान्तर है । इसी धर्म की पूजा कुछ परिवर्तित आकार में अभी तक वङ्ग-देश में "नील" और "चड़क" नाम से जारी है * ।

नलिनीमोहन सान्याल

शीला देवी ।

[१५]

जल-मार्ग में ।

कल्लोलिनी की जल-तरङ्गों को चीर कर छोटी सी नाव हवा से होड़ लगाये चली जा रही है । चिह्लन बड़ी फुर्ती से डाँड़ चला रहा है । उसे दम लेने की भी फुरसत नहीं । मेहनत करने से माथे में जो पसीना झलक आया है उसे पोंछने को भी वक्त नहीं । इसी से चिह्लन ने अभी तक मुड़कर उस नाव के सवार को देखा भी नहीं । दोनों तीरों पर न जाने कितने गाँव और छोटी-बड़ी बस्तियाँ हैं । उन सबको छोड़ती हुई नाव चली जा रही है । एकाएक नौकारोही व्यक्ति ने नाव को किनारे ले चलने के लिए कहा । यहाँ नदी के दोनों ओर बड़ा घना जङ्गल था । तरह तरह के पक्षी अपनी अपनी बोलियों से जङ्गल में मङ्गल कर रहे थे । चिह्लन ने डाँड़ रख कर एक बार आराम से साँस ली और नौकारोही व्यक्ति के मुँह की ओर देख कर अचरज के साथ पूछा—तुम कौन हो ?

"बड़ा मुश्किल सवाल है ।—मैं कौन हूँ !"

---

*इस लेख में श्रीयुत द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर की बौद्ध-धर्म नामक पुस्तक से सहायता ली गई है ।

इस अद्भुत उत्तर को सुनकर चिह्लन सोचने लगा—तो क्या मुझे धोखा हो गया ! यह क्या हरपाल की नाव नहीं है ? उसने प्रकाश्य रूप से पूछा—देखो, तुम कोई भी क्यों न हो, मैंने बड़ी मुसीबत में पड़ कर तुम्हारी नाव में शरण ली है ।

नौकारोही व्यक्ति ने कहा—भाई, डरो मत । मुसीबतज़दों को ख़ुदा सहारा देता है । तुमने अच्छा किया । ख़ुदा के झण्डे के नीचे आ जाने से फिर कोई भी मुसीबत पास नहीं आ सकती ।

चिह्लन ने कहा—बात-चीत और सूरत-शकल से तुम मुझे यवन जँचते हो । तुम अपना सच्चा परिचय देकर मेरी उत्कण्ठा दूर करो । मैं बड़ी विपत्ति में हूँ ।

'यवन' शब्द सुन कर उस व्यक्ति ने कुछ चिढ़ कर कहा—यवन क्या ? विधर्मी क्या ? अन्धे ! तुमने अभी तक नहीं पहचाना ? फ़िरक़े की ऐंठ के मारे तुम आदमी को नहीं पहचानते ! ख़ुदाताला की ख़िलक़त में सिर्फ़ आदमी ही एक क़ौम है, जिसमें समझ बूझ है—और चरन्दों-परन्दों में यह सिफ़त नहीं है । नीचे गिरनेवाले आदमी ! बराबरी के रिश्ते के ऊँचे टीले पर चढ़ो । आँखें खोल कर चारों तरफ़ देखो—कहीं ऊँच-नीच का फ़र्क़ नहीं है—दुनिया में इनसानियत मौजूद है । यवन कह कर नाक मत सिकोड़ना ।

चिह्लन ने भौचक्का सा हो कर पूछा—तुम कौन हो ?

नौकारोही ने कहा—मैं ख़ुदा का भेजा हुआ तेरा मददगार हूँ । बस, इससे ज़्यादह मेरी कोई पहचान नहीं ।

"ईश्वर-प्रेरित महापुरुष ! मैं बहुत ही विपन्न हूँ । मैं अपनी जान लेकर इस देश से भागता हूँ ।"

"जो मदद माँगता है उसको अल्लाताला बचा देता है ! मेरे साथ आओ—बेखटके उनकी सल्तनत में रहो ।"

अपरिचित व्यक्ति के मुँह से ऐसी सहानुभूतिपूर्ण बात सुन कर चिह्लन ने कहा—तो क्या तुम सुलतान शाह हो ?

"हाँ, मैं सुलतान शाह हूँ । सब लोग मुझे इसी नाम से जानते हैं । दुनियादारी से मेरा कोई सरोकार नहीं । मैं फ़क़ीर हूँ । ख़ुदा के नाम पर मैंने हाथ में तलवार ली है ।"

"सो किसलिए ?"

"इन्सान का मज़हब फैलाने के लिए । एतक़ाद न रखनेवाले अन्धों के दिल में एतक़ाद का बीज बोकर सिर्फ़ एक अल्लाताला को मानना ही एक देवता की परस्तिश है । तुम लोग इसे एकेश्वरवाद कह सकते हो । यही इसलाम मज़हब है । काफ़िर एतक़ाद न रखनेवाले शैतान को दुनिया से हटाकर इस मुहब्बत के मज़हब को फैलाना ही मेरा असली मक़सद है ।"

अपरिचित व्यक्ति की ये बातें सुनकर चिह्लन ने व्यग्र होकर कहा—मैं धर्म-वर्म नहीं समझता । धर्म-प्रेम के लिए मैं तुम्हारी शरण नहीं लेना चाहता । मेरे दिल में तेज़ आग जल रही है । मेरा बड़ा अपमान किया गया है—शाह साहब, मैं बड़ी मुसीबत में हूँ । इसी से तुमसे मदद माँगता हूँ ।

सुलतान शाह ने चिह्लन के मन की दशा को ताड़ कर कहा—ख़ुदा के झण्डे के नीचे आजाने पर फिर किसी को मायूस होकर लौटना नहीं पड़ता । मैं तुम्हें अपने यहाँ रक्खूँगा ।

डूबते को सहारा मिल गया । चिह्लन ने भरोसा पाकर कहा—तुम महास्थान में किसलिए गये थे ?

"तुम्हारा छुटकारा कराने ।"

"तुम्हें किसने भेजा था ?"

"ख़ुदा ने ।"

"क्या तुमको मालूम है कि मैं कौन हूँ और मेरा इरादा क्या है ?"

"सब मालूम है । तुम महास्थान के सिपहसालार चिह्लन हो । मैं वलीअहद का हुक्म पाकर जेल से तुम्हें छुटकारा दिलाने आया था ।"

"वलीअहद कौन है ?"

"बलख़-राज्य के वलीअहद घर-द्वार छोड़कर इस मुल्क में इसलाम-मज़हब फैलाने को फ़ौज लेकर आये हैं ।"

चिह्लन ने आतुरता से कहा—मैं उनसे एक बार मिलना चाहता हूँ ।

"तुमको मैं उन्हीं की ख़िदमत में लिये चलता हूँ।"

"किसलिए ?"

"तुम इस मुल्क में इसलाम-मज़हब को फैलाने में इमदाद दो।"

"इससे मुझे क्या लाभ होगा ?"

"मुँहमाँगा इनाम दिया जायगा। हम लोग दुनियादारी, धन-दौलत या राज्य किसी भी चीज़ की ख़्वाहिश नहीं रखते। सारी सल्तनत में मज़हब फैलाते ही हमारा मक़सद पूरा हो जायगा।

चिह्लन ने दिलासा पाकर पूछा—तो क्या मुझे सचमुच मुँह-माँगा इनाम मिलेगा ?

"बेशक। तुम इसलामी झण्डे के नीचे आये हो, ख़ुदाताला ने तुम्हें सहारा दिया है। तुम परवर्दिगार का काम करो; वे तुम्हारी मुराद पूरी करेंगे। बे इन्तिहा धन-दौलत समेत महास्थान नगरी का तख़्त तुम्हारी कारगुज़ारी का इनाम है।"

"हज़रत, राजा नरसिंह की मौजूदगी में इस मुल्क में इसलाम का प्रचार होना मुश्किल है।"

"अगर यह बात है तो राजा जहन्नुम में भेजा जायगा। माकूल इमदाद मिल जाय तो हम बड़ी आसानी से गढ़ पर क़ब्ज़ा कर सकते हैं। मेरे बहादुर सिपाही, चींटियों की क़तार की तरह, क़िले को घेर लेंगे।"

"मैं जी-जान से आपकी मदद करने के लिए तैयार हूँ। बौद्ध राजा लोग, कोई खुले आम और कोई छिप कर, आपका साथ देंगे।"

"अच्छी बात है। तो इस मामले में तुम्हीं हमारे दाहने हाथ हुए। तुम्हारी हिम्मत और बहादुरी का हाल मुझे मालूम हो चुका है। हिम्मतवर शख़्स! तुम समझ लो कि तुम्हारी दरख़्वास्त है और हम उसे मंज़ूर करते हैं। तुम इमदाद माँगते हो और इसके लिए हम मुस्तैद हैं। लेकिन बेईमानी मत करना।"

"हज़रत! आप चाहें तो मैं क़सम खा सकता हूँ।"

"इसकी ज़रूरत नहीं। तुम्हारी बात पर ही हम यक़ीन करते हैं। हम तुम्हारी बात पर भरोसा करके इस मामले में दस्तन्दाज़ी करना चाहते हैं।"

"अच्छा तो बतलाइए, मैं इस समय क्या करूँ ?"

"अभी तो हमारे मुक़ाम पर चलो। वहाँ वलीअहद से मुलाक़ात कर लो।"

"आपका मुक़ाम कहाँ है ?"

"फ़क़ीर का मुक़ाम कहीं एक जगह नहीं रहता। पेड़ की छाँह में, सुनसान जङ्गल में या नदी-किनारे—जहाँ मौक़े की जगह मिल गई वहीं ठहर गये। कल जहाँ मुक़ाम था आज वहाँ नहीं भी हो सकता।"

"नाव की सवारी से और कितनी दूर जाना होगा ?"

"क़रीब ही एक जङ्गल है। जङ्गल की ओट में नाव को किनारे डुबा देंगे ताकि कोई लेकर चलता न हो, फिर वहाँ से पैदल चलेंगे।'

"आपकी नाव बड़ी ख़ूबसूरत है।"

"हाँ, वह इस तरह बनाई गई है जिसमें दूर से देखने पर मालूम हो कि लहरों में कोई मगर-मच्छ ऊँचा सर किये तैर रहा है। इस किश्ती के ज़रिए मैं आफ़त से घिरे हुए मुक़ामात पर अक्सर आया-जाया करता हूँ।"

"आप अकेले ही शत्रु की बस्ती में चले गये थे। आपका साहस सराहने योग्य है।"

"मौत का डर करने से ऐसे मामलों में कहीं हाथ लगाया जाता है ?"

"किसी सामन्त राजा ने आपसे भेंट की है या नहीं ?"

"सरे आम नहीं, लेकिन छिप कर किसी किसी ने राजा नरसिंह की नालिश वलीअहद से की है।"

"तो क्या युवराज ने नालिश सुन ली है ?"

"काफ़िरों को दबाने के लिए ही तो वे इस मुल्क में आये हैं। सुनेंगे क्यों नहीं ? मगर तुम्हारे जैसे जवाँमर्दों की मदद न मिले तो भला हम लोग क्या कर सकते हैं ?"

सुलतान शाह की बातचीत से चिह्लन को गर्व हो गया। उसने ख़ुश होकर कहा—यह बात ठीक है। मेरा भी अपमान किया गया है। इस कारण महास्थान राजपुरी से अपने सारे सम्बन्ध तोड़ कर मैं आपकी शरण में आया हूँ। छल-बल-कौशल से महास्थान को चौपट करना ही मेरे जीवन का मूल-मन्त्र है। सुलतान! बाघमती की धारा की तरह नरसिंह का राज्य डाँवाँडोल हो रहा है। थोड़ा सा उद्योग करते ही कोई भी गढ़ पर

अधिकार कर सकता है। गिरने के लिए तैयार पेड़ की जड़ को मैं अब तक थामे हुए था। अब मामूली वाव लगते ही पुराना पेड़ गिर पड़ेगा।

"हाँ, अब तक मैंने पूछा नहीं। अपना इस्मशरीफ़ तो बतलाइए।"

"चिह्नन मिश्र।"

"नहीं जी, आज से तुम्हारा इस्मशरीफ़ मुहम्मदख़ाँ हुआ। मेरे मुक़ाम पर सब लोग तुम्हें इसी नाम से पुकारेंगे। अगर तुम्हारा हिन्दू नाम लिया जायगा तो मुसलमान सिपाही तुम्हें इज़्ज़त की निगाह से न देखेंगे।"

"जनाब, आज चिह्नन मिश्र मर गया। आपका सच्चा सेवक मुहम्मदख़ाँ आपके आगे हाज़िर है। कहिए, क्या हुक्म है?"

"मुहम्मद, भाई! मैं बयान नहीं कर सकता कि आज तुमने मुझे कितना ख़ुश किया। आज से तुमने मेरे दिल में जगह कर ली। मेरी ज़िन्दगी का पहला काम अब तुम्हारा भला करना है। अब देर मत करो। किश्ती खोल दो। तुम्हारी तलाश में चारों तरफ़ जासूस भेजे जायँगे। अभी तक हम लोग दुश्मन की पहुँच के बाहर नहीं हैं।"

सुलतान शाह के नये अनुचर मुहम्मदख़ाँ ने किश्ती खोल दी। मगर की सूरत की किश्ती, हवा की तरह तेज़ी से, हिलती डोलती आगे बढ़ने लगी।

[क्रमशः

भाषा का विकास।

आदि ध्वनियाँ।

'भाषा की उत्पत्ति' में हम देख चुके हैं कि मनुष्य के मुख से मनोवेगों की तीव्रता के कारण स्वतः कुछ ध्वनियाँ निकल पड़ती हैं। आदिम अवस्था में मनुष्य के मुख से ऐसी ही ध्वनियाँ अव्यक्त चेष्टाओं के साथ साथ उत्पन्न हुई थीं। ये ध्वनियाँ वैकारिक थीं। उनकी उत्पत्ति मनोवेगों की तीव्रता के कारण हुई थी। न तो मनुष्य ने उन्हें उत्पन्न करने का पहले पहल प्रयास ही किया था और न वह यह जानता था कि अमुक ध्वनि से अमुक 'भाव' अथवा मानसिक अवस्था का प्रकाशन हो सकता है। आदिम अवस्था में भय, हर्ष, विषाद, पीड़ा, क्रोध आदि अवस्थाओं में इन वैकारिक ध्वनियों की उत्पत्ति हुई होगी। मनोवेगों से इन ध्वनियों का इतना अनिवार्य सम्बन्ध था कि उन (मनोवेगों) के उस अवस्था में प्राप्त होने पर अवश्य उन ध्वनियों की उत्पत्ति (स्वतः) होती थी। ये ध्वनियाँ प्रायः अव्यक्त थीं। कारण यह था कि मनुष्य की 'वाणी' का अभी तक विकास नहीं हुआ था। वह स्पष्टतया वर्णों का उच्चारण करना नहीं जानता था। उसके मुख से जो ध्वनि निकलती थी वह प्रायः ऐसी होती थी जिसमें कौन कौन वर्ण हैं, इसका ठीक ठीक स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता था। अभी तक कितनी ध्वनियाँ हमारे मुख से ऐसी निकल पड़ती हैं जिनका ठीक ठीक वर्णों से उच्चारण करना कठिन है।

मनुष्य की आदिम ध्वनियाँ 'अव्यक्त वैकारिक' थीं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। पाणिनि के धातु-पाठ में ढूँढ़ने पर कितने ऐसे धातु (Roots) मिलते हैं जो अव्यक्त अवस्था के हैं। उनका रूप वर्णों में लिखने से यद्यपि कुछ परिवर्तित हो गया है तो भी ध्यान देने से उनकी अव्यक्तावस्था के रूप का ज्ञान भले प्रकार हो सकता है। यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं—

चिती, चित (संज्ञाने) बुकक, कलल, हिकक, (अव्यक्तशब्दे) भाम (क्रोधे) ऊप (रुजायाम्) चकक, चुकक (व्यथने) शिट, पिट (अनादरे) कुर्द, गुर्द, खुर्द, गुद (क्रीडायाम्) वेह, जेह, वाह (प्रयत्ने) ऊह (वितर्के) मिश, मश (रोषकृते, शब्दे च) भीम (शब्द) इत्यादि इत्यादि।

इन धातुओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक समय ऐसा था जब मनुष्य की 'वाणी' अव्यक्त थी। मनुष्य कितने समय तक इस 'अव्यक्तावस्था' में रहा, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। अव्यक्तावस्था से मनुष्य की भाषा व्यक्तावस्था में परिणत होने लगी। उसे अनुभव तथा अभ्यास से इस बात का ज्ञान होने लगा कि अमुक ध्वनि से अमुक मानसिक अवस्था का प्रकाशन हो सकता है और अमुक ध्वनि को उत्पन्न करने के लिए नादयन्त्र के अमुक अमुक स्थान से प्रयत्न करना उचित है।

प्राकृतिक कारणों से मनुष्य का नादयन्त्र पशुओं से अधिक विकसित है। पशु, पक्षी, प्रायः इने गिने प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न कर सकते हैं, पर मनुष्य प्रायः सब प्रकार की ध्वनियों की उत्पत्ति कर सकता है। कारण इसका यह है कि मनुष्य के नादयन्त्र की बनावट ऐसी है जिससे उसमें भिन्न प्रकार की ध्वनियों की सृष्टि हो सकती है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य के नादयन्त्र के अवयव उसके इच्छानुसार कार्य्य कर सकते हैं। मनुष्य को अपने नादयन्त्रों का गुण पहले पहल नहीं मालूम था। क्रमशः उसको उन (नादयन्त्रों) का रहस्य ज्ञात हुआ। ज्यों ज्यों उसे इसका पता चलता गया कि नादयन्त्रों के अमुक प्रयत्नों से अमुक अमुक ध्वनियों की उत्पत्ति हो सकती है, त्यों त्यों वह उनका प्रयोग करता गया और क्रमशः उसने अपने प्रयत्न से अपनी वाणी को 'व्यक्त' किया। 'व्यक्त' वाणी से हमारा तात्पर्य्य उस समय की ध्वनि से है जब उन ध्वनियों की सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनि का विश्लेषण किया जा सकता था। इसी सूक्ष्म ध्वनि को हम वर्ण कहते हैं। वर्णों का विकास कैसे हुआ, इसे जानने के पूर्व हमें मनुष्य के नादयन्त्रों तथा उनकी क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना उचित होगा।

नादयन्त्र।

मनुष्य का नादयन्त्र वायु-द्वारा सञ्चालित होता है, जिसमें वायु के मार्ग में रुकावट उत्पन्न करने के कारण ध्वनि अथवा 'रव' उत्पन्न होता है। बोलते समय हम अन्दर की वायु को बाहर निकालते हैं। पहली रुकावट जो फेफड़े से बाहर निकलते हुए वायु अथवा 'प्राण' को होती है वह कण्ठनाली में श्वास या प्राण-मार्ग के मुख पर होती है। कण्ठनाली में उसके दाहने बायें दो स्नायुनिर्मित्त 'शोथ' होते हैं, जिन्हें हम 'नादतन्त्री' कहते हैं। साधारणतः श्वास लेते समय ये नादतन्त्रियाँ ढीली रहती हैं और प्राण-वायु उनके मध्य से (जिसे कण्ठरन्ध्र कहते हैं) सुगमता से आता जाता है। जब हमें प्राण-वायु को भीतर रोक रखना होता है उस समय ये तन्त्रियाँ बढ़कर कण्ठ-रन्ध्र को बन्द कर लेती हैं और प्राण-वायु बाहर नहीं निकल सकता है। ये नादतन्त्रियाँ बड़ी सुगमता से हट-बढ़ सकती हैं। श्वास लेते समय हमारी नादतन्त्रियाँ हटी रहती हैं और कण्ठ-रन्ध्र खुला रहता है। जब हमें प्राण वायु को भीतर रोक रखना होता है तब ये बढ़ जाती हैं और कण्ठ-रन्ध्र बन्द हो जाता है। इन दोनों अवस्थाओं में हमारे मुख से 'ध्वनि' नहीं निकल सकती। बोलने के समय हमें कण्ठ-रन्ध्र को उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं के मध्य की अनेक अवस्थाओं में रखना पड़ता है। उन अवस्थाओं में हमारे मुख से ध्वनियाँ निकलती हैं। कण्ठ-रन्ध्र की भिन्न स्थितियों के कारण भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। यथा—

(क) जब हमारा कण्ठ-रन्ध्र नादतन्त्रियों के बढ़ जाने से सम्पूर्णतया बन्द रहता है और हम वायु को बलपूर्वक बाहर ठेलते हैं तब वायु के धक्के से एक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है, जिसे हम 'अन्तस्थ' कह सकते हैं। खाँसते समय हमारे मुख से ऐसी ही ध्वनि की उत्पत्ति होती है। यथा 'अ'।

(ख) जब नादतन्त्रियाँ शिथिलता से कण्ठ-रन्ध्र को बन्द करती हैं तब वायु उनके मध्य से होकर निकल सकता है। यदि वायु निरन्तर कुछ क्षण तक बाहर निलता रहे तो उसके धक्के से उन तन्त्रियों में एक प्रकार का प्रकम्पन होता है, जिसके कारण एक विशेष प्रकार की प्रकम्पित सङ्गीतमय ध्वनि निकलती है, जिसे हम 'रव' अथवा नाद कह सकते हैं। इस 'रव' में 'उतार चढ़ाव' उत्पन्न करने के लिए हम नादतन्त्रियों को 'सङ्कुचित' अथवा 'विस्तृत' कर देते हैं, जिससे प्रकम्पन की मात्रा कम अथवा अधिक हो जाती है। नाद की मन्दता अथवा तीव्रता प्रकम्पन की मन्दता और तीव्रता पर अवलम्बित रहती है। यह दो प्रकार से हो सकती है। प्राणवायु के धक्के को कम अथवा अधिक करने से अथवा कण्ठ-रन्ध्र को 'विस्तृत' अथवा 'सङ्कुचित' कर देने से। 'गाना' गाते समय हम 'रव' (नाद) को तीव्र अथवा मन्द करने के लिए प्राण-वायु को तीव्र अथवा मन्द कर देते हैं। पर साधारणतः बोलते समय हम केवल कण्ठ-रन्ध्र को सङ्कुचित अथवा विस्तृत करके ही काम चला लेते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सङ्कुचित करने से प्राण-वायु के धक्के से तीव्र 'रव' की उत्पत्ति होती है और 'विस्तृत' कर देने से नाद 'रव' की।

वर्णों का उच्चारण करते समय कभी कभी 'रव' स्पष्ट

सुनाई पड़ता है और कभी कभी नहीं। जब 'रव' स्पष्ट सुनाई पड़ता है तब उस 'रव' को हम 'नाद' कहते हैं और जब अस्पष्ट सुनाई पड़ता है तब 'श्वास'। अतः 'रव' के दो भेद मानने पड़ेंगे—श्वास और नाद। यथा—

श्वास—क, ख, प, फ च, छ इत्यादि में—
नाद—ग, घ, व, भ, ज, झ इत्यादि में—

(ग) जब हमारा कण्ठ-रन्ध्र नादतन्त्रियों के हट जाने से इतना खुल जाता है कि प्राण-वायु के आने-जाने में बहुत कम रुकावट होती है तब नादतन्त्रियों में प्रकम्पन भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में वायु के घिस्से (रगड़) से एक प्रकार की ध्वनि होती है जिसे हम 'ऊष्म' कह सकते हैं। 'ह' के उच्चारण में हम इसी ध्वनि का प्रयोग करते हैं।

(घ) साधारणतः साँस लेते समय हम वायु को कण्ठ-नाल से नाक-द्वारा बाहर निकालते हैं। वर्णों का उच्चारण करते समय हम प्रायः प्राण-वायु को मुख के द्वार से बाहर निकालते हैं। कभी कभी हम इस वायु को नाक के रास्ते से भी निकालते हैं। जब सम्पूर्ण वायु मुख से न निकल कर केवल नासिका-मार्ग से बाहर निकलती है तब नासिक ध्वनि (रव) की उत्पत्ति होती है। यथा 'म' और 'न' वर्णों में। जब वायु अंशतः मुख से और अंशतः नाक से बाहर निकलती तब अनुनासिक ध्वनि की सृष्टि होती है। यथा 'यहाँ' में ँ की ध्वनि।

हम ऊपर देख चुके हैं कि नादतन्त्रियों से उत्पन्न प्रकम्पित सङ्गीतमय ध्वनि में 'रव'-मात्र होता है। इस ध्वनि 'रव' को भिन्न भिन्न वर्णों का रूप देने के लिए हमें मुख से काम लेना पड़ता है। मुख की दो क्रियायें होती हैं। एक तो उस कम्पमान सङ्गीतमय ध्वनि को 'स्वर-रूप' देना, दूसरे मुख के भिन्न स्थानों से उसे (ध्वनि को) छूरा कर उसमें 'व्यञ्जन-रूप' देना। इन्हीं दोनों क्रियाओं के कारण हमारे स्वर-व्यञ्जनों की उत्पति होती है।

स्वर—मुख को अधिक खोल कर सङ्कुचित करके अथवा लम्बा करके हम 'रव' को स्वर-रूप देते हैं। स्वर और व्यञ्जन में सबसे भारी भेद यह है कि स्वरों में 'स्पर्श' नहीं होता। स्वरों का उच्चारण करते समय प्राण-वायु को सीधे मुख-रन्ध्र के बाहर निकाल देते हैं। इस वायु के बाहर निकलते समय मुख के अन्य अवयवों में स्पर्श नहीं होता। केवल मुख की भिन्न भिन्न आकृतियों से स्वरों का रूप स्पष्ट हो जाता है। यथा 'आ' के लिए हम मुख-रन्ध्र को फैला देते हैं। अन्य स्वरों का भी इसी प्रकार अनुभव करने से पता चल सकता है। वैदिक समय में ऋ और ऌ भी स्वरों की तरह उच्चरित होते थे, पर अब उनका उच्चारण करते समय 'स्पर्श' हो जाता है और उनका हम स्वर और व्यञ्जन के संयोग से बने हुए संयुक्त ध्वनि की भाँति उच्चारण करते हैं। यथा—ऋ = (री) = र + इ; ऌ = ऌ + इ = (ल + र + इ)।

व्यञ्जन—'रव' की वायु को बाहर निकालते समय हम जिह्वा और मुख के अन्य अवयवों की सहायता से उसमें शब्द उत्पन्न कर सकते हैं। इन ध्वनियों अथवा शब्दों (noises) की उत्पत्ति 'रव' वायु के मार्ग में रुकावट होने के कारण होती है। कभी कभी हम बिना वायु के भी ध्वनि अथवा शब्द उत्पन्न करते हैं। यथा घोड़ा हाँकते समय हम जिह्वा और तालु की सहायता से टिक टिक ध्वनि के सदृश एक विशेष प्रकार की ध्वनि करते हैं। यद्यपि वर्णों में हम 'टिक' 'टिक' कहते हैं, पर वास्तव में वह ध्वनि कुछ दूसरे प्रकार की है। लिपि में उस ध्वनि के अक्षर न होने के कारण हम उसे टिक, टिक लिखते हैं। उस ध्वनि को ठीक ठीक स्पष्ट करने के लिए हम उसके लिए (*) सङ्केत मान सकते हैं। यथा—क* च* अनुभव से इसका ज्ञान हो सकता है। वर्णों का उच्चारण करते समय हम श्वास अथवा नाद के प्राण-वायु को कभी झोंके से और कभी धीरे से बाहर फेंकते हैं। इस प्रकार अल्पप्राण श्वास, नाद और महाप्राण श्वास, नाद व्यञ्जनों का उच्चारण होता है। नासिक व्यञ्जनों का उच्चारण करते समय जब अल्पप्राण का वायु सम्पूर्णतया नाक से बाहर निकलता है तब 'नासिक' व्यञ्जनों की और जब महाप्राण का वायु अंशतः नाक से और अंशतः मुख से बाहर निकलता है तब अनुनासिक की उत्पत्ति होती है।

व्यञ्जनों की उत्पत्ति मुख के भिन्न भिन्न स्थानों से भिन्न भिन्न प्रयत्नों के कारण होती है। यथा—

(क) ओष्ठ—दोनों ओष्ठों की सहायता से उ, प, फ, ब, भ वर्णों का उच्चारण होता है। 'प' का अल्पप्राण वायु जब पूर्णतया नाक के द्वारा निकलता है तब 'म' नासिक वर्ण का उच्चारण होता है।

अधरोष्ठ और ऊपरी दन्त श्रेणी की सहायता से 'फ', 'व' वर्णों का उच्चारण होता है।

(ख) दन्त—अपर दन्त-श्रेणी और जिह्वा की सहायता से दन्त-वर्णों का उच्चारण होता है। दन्त के दो स्थानों से उच्चारण होता है एक तो अपर दन्त के नीचे के भाग से दूसरे उसके पृष्ठ से। उच्चारण करते समय जिह्वा की नोक (मूल) का उपर्युक्त स्थानों से स्पर्श होता है। दांत के नीचे के भाग और जिह्वा-मूल की सहायता से त, थ, द, ध का उच्चारण होता है। दन्त-पृष्ठ और जिह्वा-मूल की सहायता से फ़ारसी के ث और ذ का उच्चारण होता है। दन्तनासिक वर्ण 'न' है। ल और र भी दन्त्य हैं।

(ग) मूर्द्धा—मूर्द्धा और जिह्वामूल की सहायता से टवर्ग का उच्चारण होता है। जैसे, ट, ठ, ड, ढ। इसी का नासिक 'ण' होता है।

(घ) तालु—तालु के दो भाग होते हैं। एक तो आगे का, जो कड़ा होता है, और दूसरा पीछे का, जो मुलायम होता है। तालु के आगे के भाग और जिह्वा-पृष्ठ की सहायता से तालु-वर्णों का उच्चारण होता है। यथा च, छ, ज, झ। इसी का नासिक 'ञ' है।

(ङ) कण्ठ—कण्ठ-वर्णों का वास्तव में कण्ठ से उच्चारण नहीं होता है। इनका उच्चारण हम तालु के पिछले भाग (जो मुलायम होता है) और जिह्वा-पृष्ठ की सहायता से करते हैं। ये वर्ण क, ख, ग, घ हैं। इन्हीं का नासिक वर्ण 'ङ' है।

इनके अतिरिक्त और भी कई प्रकार की ध्वनियां हैं, जिनकी उत्पत्ति भिन्न भिन्न स्थानों से होती है। इन वर्णों का प्रयोग संसार की अन्य भाषाओं में होता है। विस्तार-भय से सब पर लिखना असम्भव है। अतः संक्षेप में हम नीचे के कोष्ठक में कुछ ध्वनियों (वर्णों) के स्थान और प्रयत्न देते हैं।

स्थान	व्यञ्जन								स्वर	
						ऊष्म		अन्तस्थ		
	श्वास		नाद		नासिक	नाद	श्वास			
	अल्प-प्राण	महा-प्राण	अल्प-प्राण	महा-प्राण						
१ उर	ق क़	خ ख़	غ ग़	घ		ه ह				उर्दू— ه; غ; خ; ق
२ कण्ठ	क	ख	ग	घ	ङ	ह		ع अ़	अ	,, ع
३ तालु	च	छ	ज	झ	ञ		श	य	इ	,,
४ ओष्ठ	प	फ	ब	भ	म			व, و	उ	,,
५ मूर्द्धा	ट	ठ	ड	ढ	ण		ژ ष, झ़	र	ऋ	,, ر
६ दन्त	त	थ	द	ध	न		स	ल	ऌ	
७ उपदन्त	त ث	थ	द, ض	ध	न		ज़ ظ			,, ث; د; ذ
८ दन्त्योष्ठ		फ़ ف		ह				व		
९ दन्त-तालु	च	छ	ज	झ	ञ		श ش			,, ش; ف

वर्ण-विकास ।

वर्ण-विकास क्रमशः हुआ । आदिम अवस्था में मनुष्य के मुख से जो ध्वनियाँ निकली थीं उनमें वर्णों का ऐसा संश्लेषण था कि उनको ठीक ठीक वर्णों में विश्लेषण करना कठिन था । अभी तक कितने ऐसे शब्द हैं जिनको ठीक ठीक वर्णों में लिखना अथवा जिनका उच्चारण करना कठिन है । वर्णों का विकास क्रमशः हुआ, इसके पूर्ण प्रमाण उपलब्ध हैं। अव्यक्तावस्था के धातुओं को देखने से इस बात का पता चल जायगा कि उन धातुओं में वर्णों का संश्लेषण था। उदाहरण के लिए 'चिती' धातु को लीजिए जिसका अर्थ है 'पहचानना' । यह लिखने में यद्यपि 'चिती' लिखा गया है, पर यह उस ध्वनि का रूप है जो 'चित्' 'चित्', 'किच' 'किच' आदि ध्वनियों से मिलता-जुलता है । अभी तक हम देखते हैं कि बन्दर किसी व्यक्ति (परिचित) को देख कर मुख से 'किच्' 'किच्' 'चित' 'चित' या 'कित्' 'कित्' आदि ध्वनियाँ करता है । इन ध्वनियों को ठीक ठीक वर्णों में उच्चारण करना अथवा लिखना कठिन है । सम्भव है कि यही ध्वनियाँ इस 'चिती' धातु के पूर्व रूप रही हों । वर्णों का विकास होने पर इसे 'चिती' कहने लगे । 'गद्गद' 'चुकक' 'हिकक' 'क्लल' 'चकक' 'चुकक' आदि धातु उसी अवस्था के हैं जब मनुष्य ठीक ठीक वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकता था और बन्दरों की भाँति अव्यक्त ध्वनि करता था। यदि मनुष्य अन्य पशुओं की भाँति अपनी उन्नति स्वयं न करता तो उसकी अवस्था पशुओं से अधिक उन्नत न होती ।

अव्यक्त ध्वनियों की उत्पत्ति के पश्चात् मनुष्य ने स्वयं अपने इच्छानुसार उन ध्वनियों को उत्पन्न करने की चेष्टा की। इस प्रयत्न में उसे क्रमशः अपने नादयन्त्रों के रहस्यों का पता चला और वह वर्णों का उच्चारण करने लगा । पहले पहल उसने दूसरे की ध्वनि सुनकर उसका ठीक ठीक अनुकरण करने की चेष्टा की । इस प्रकार उसे इसका अभ्यास हुआ कि अमुक ध्वनि, जिसे वह कान से सुनता है, अमुक प्रकार से मुख से उच्चरित होती है और उसके उच्चारण में अमुक 'प्रयत्न' की आवश्यकता होती है। यदि केवल वैकारिक ध्वनियों तक ही बात रहती तो आगे वर्णों का विकास होना असम्भव था, क्योंकि वैकारिक ध्वनियों में वर्णों का अधिक स्पष्ट होना कठिन है । वर्णों के विकसित होने में अनुकरणिक ध्वनियों ने अधिक सहायता की। मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरणशील है। अनुकरण करना उसे स्वभाव से ही आता है । मनुष्य को पशु-पक्षियों आदि की अनेक प्रकार की ध्वनियों को सुनने का प्रायः नित्य ही अवसर मिलता था । उसने उन पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियों का अनुकरण करना आरम्भ किया । ऐसा करने का एक कारण भी था। वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से निर्दिष्ट करने के लिए मनुष्य को ऐसा करना पड़ता था । अभी तक मनुष्य अपने वैकारिक भावों को अव्यक्त ध्वनियों तथा चेष्टाओं से प्रकट करता था। इन सङ्केतों का विकास होता गया । इन सङ्केतों को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ ध्वनियों का अनुकरण भी करना पड़ा । उदाहरणार्थ सिंह का बोध कराने के लिए उसने उस पशु की आकृति का सङ्केत करके उसकी ध्वनि (दहाड़ना) का अनुकरण करके 'हिंस' 'हिंस' ध्वनि उत्पन्न की । (कहने की आवश्यकता नहीं कि 'सिंह' शब्द 'हिंस' से 'विपर्य्य' होकर बना है) । इसी प्रकार कौआ का बोध कराने के लिए उसे (मनुष्य को) उस पक्षी की ध्वनि की अनुकृति 'का' 'का' का उच्चारण करना पड़ा । यही 'का' 'का' आगे चल कर 'काक' शब्द हुआ ।

इस प्रकार अनुकृति ध्वनियों को उच्चारण करने के प्रयत्न में वर्णों को अधिक विकसित होने में शीघ्रता हुई । इसका कारण था उनका ठीक ठीक अनुकरण करने का प्रयत्न । सुनकर उन ध्वनियों का ठीक ठीक अनुकरण करने के प्रयत्न में मनुष्य को मुख के भिन्न स्थानों से प्रयत्न करना पड़ा, जिससे भिन्न भिन्न प्रकार के वर्णों की उत्पत्ति हुई । अभ्यास से मनुष्य को उन ध्वनियों का इच्छानुसार ठीक ठीक उच्चारण करना भी आगया । वर्णों का विकास बहुत काल में हुआ । सबसे पहले किस वर्ण की उत्पत्ति हुई, यह कहना कठिन है । अनुमान से तथा स्वभावतः 'अ' स्वर की उत्पत्ति होनी ठीक जान पड़ती है । यही कारण है कि आर्यों ने 'अ' वर्णों को इतना आदर प्रदान किया है । गीता में भगवान् कृष्ण ने भी कहा है कि 'वर्णानामकारोऽस्मि' । नाद-यन्त्रों पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि

'स्वर' की उत्पत्ति बहुत सुगमता से होती है, अतएव यह निश्चित है कि अ, इ, उ आदि स्वरों की उत्पत्ति प्रथम हुई। उसके पश्चात् व्यञ्जनों का विकास हुआ। व्यञ्जनों में, जान पड़ता है, पहले 'ओष्ठ', तब 'कण्ठ', तब दन्त, पश्चात् तालव्य आदि वर्णों का विकास हुआ है। बालकों की भाषा का क्रम-विकास देख कर इस अनुमान की पुष्टि होती है। प्रत्येक वर्ग में पहले 'प्रथम वर्ण' तब तृतीय फिर द्वितीय और चतुर्थ वर्णों की उत्पत्ति हुई जान पड़ती है। नासिक वर्णों का प्रायः प्रथम वर्णों के साथ ही विकास हुआ। वास्तव में नासिक अथवा वर्ग के पञ्चम वर्ण उस वर्ग के प्रथम वर्ण के ही रूपान्तर हैं। जिस 'श्वास' को हम मुखरन्ध्र से बाहर निकाल कर वर्ग के प्रथम वर्णों का उच्चारण करते हैं उसी 'श्वास' को नासिका-द्वार से निकालने पर पञ्चम वर्णों का उच्चारण होता है। अन्य वर्णों का भी कालान्तर में क्रमशः विकास हुआ। सबका ठीक पता लगाना असम्भव है, पर इतना तो अवश्य है कि वैकारिक तथा अनुकरणिक ध्वनियों का ठीक ठीक अनुकरण करने के प्रयत्न में वर्णों का विकास हुआ।

व्यक्तावस्था।

वर्ण-विकास ध्वनियों के विकास के साथ साथ हुआ। एक ओर तो वर्ण स्पष्ट होते गये, दूसरी ओर उन ध्वनियों से भाव-विनिमय का काम चलने लगा। पहले जो ध्वनियाँ मनोवेगों की तीव्रता के कारण स्वतः उत्पन्न हुई थीं वही क्रमशः मनुष्य के इच्छानुसार उसके मनोवेगों अथवा इच्छाओं को प्रकट करने लगीं। व्यक्तावस्था को पूर्णतया पहुँचते भी भाषा को बहुत समय लगा। अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को पहुँचते पहुँचते वर्णों के विकास को प्राप्त हो जाने के कारण ध्वनियों के रूप में बहुत अन्तर पड़ गया। कितनी ध्वनियों के, जो अव्यक्तावस्था में एक थीं, व्यक्तावस्था में कई रूप हो गये। कितनी ध्वनियों का रूप बिलकुल परिवर्तित हो गया। उन सब परिवर्तनों के कई कारण थे। वैकारिक ध्वनि का तो वर्णों के क्रमशः स्वयं स्फुट होने के कारण भिन्न रूप होगया। वैकारिक ध्वनियों का उच्चारण करते समय मनुष्य के मुख से जिस वर्ण की उत्पत्ति हुई वही व्यक्तावस्था में उस ध्वनि का रूप होगया। उदाहरण के लिए मनुष्य खेलते समय आनन्द तथा उत्साह से प्रेरित होकर अपने मुख से कुछ ध्वनि करता है। संस्कृत में इसके लिए धातुपाट में चार धातु मिलते हैं यथा कुर्द, खुर्द, गुर्द गुद (क्रीडायाम्)। यदि विचार किया जाय तो ये चारों वास्तव में एक ही अव्यक्त वैकारिक ध्वनि के रूपान्तर हैं। उस अव्यक्त ध्वनि का वास्तविक रूप क्या था उसे जानने के निमित्त हमारे पास कोई साधन प्रस्तुत नहीं है। अनुमान से हम कह सकते हैं कि उस ध्वनि में कण्ठ और दन्त वर्गों के आदिम अव्यक्त वर्णों के पूर्व-रूपों का सम्मिश्रण अवश्य रहा होगा जो व्यक्तावस्था में पहुँचने पर विश्लिष्ट होकर कुर्द, खुर्द, गुर्द गुद इत्यादि रूपों में परिणत हुआ। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि अन्त का वर्ण तो 'द' कार ही सबमें है, पर पहले वर्ण में क्रमशः कु, खु, गु में परिवर्तन हुआ है। इसका कारण यह है कि कण्ठ-वर्णों के क्रमशः विकास के साथ कुछ लोग उस ध्वनि को 'कुर्द' कहते थे। अन्य लोग खुर्द, गुर्द अथवा गुद उच्चारण करते थे। इसी परिवर्तन में वर्णों का विकास तथा भाषा के वर्णों के परिवर्तन का रहस्य छिपा हुआ है।

यह तो हुआ वैकारिक ध्वनियों का हाल। अनुकरणिक ध्वनियों में परिवर्तन का मुख्य कारण था उनके ठीक ठीक अनुकरण करने की चेष्टा में हुई भूलें। पशु-पक्षियों तथा अन्य के शब्दों का ठीक ठीक वर्णों में अनुकरण करना अब भी दुष्कर है। मनुष्य ने आदिम अवस्था में जब उनका अनुकरण करने की चेष्टा आरम्भ की तब उसके नादयन्त्र का पूर्णरूप से विकास भी नहीं हुआ था। उनके श्रोत्रेन्द्रियों तथा नादयन्त्रों में इतनी घनिष्टता स्थापित नहीं हुई थी कि अमुक ध्वनि का वह कान से सुनकर मुख के अमुक प्रयत्न से उच्चारण कर सके। हम देख चुके हैं कि मनुष्य को इसका क्रमशः अनुभव हुआ है कि कान से सुने हुए अमुक प्रकार की ध्वनि का मुख से अमुक प्रयत्न से उच्चारण करना होता है। अतः अब यह बात स्पष्ट ही हो गई है कि मनुष्य ने अनुकृति ध्वनियों का अनुकरण करने में कितनी भूलें की होंगी। हमें कितने ऐसे धातु मिलते हैं जिनसे इस बात की विशेष रूप से पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए हम "चम, कम, जम, झम" धातु लेते हैं। जब हम कुछ

खाते हैं तब हमारे मुख से एक प्रकार का शब्द होता है, जिसे हम 'चबाना' कहते हैं। उपर्युक्त धातु इसी ध्वनि अथवा शब्द के अनुकरण हैं। अब यह शब्द ऐसा अव्यक्त होता है कि इसका ठीक ठीक अनुकरण करना कठिन है, पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि इसमें दो वर्णों का संयोग है। प्रथम वर्ण की उत्पत्ति तालु से होती है, दूसरा अव्यक्त नासिक जान पड़ता है। यदि देखा जाय तो कभी कभी बालक खाते समय कुछ ऐसा ही शब्द करता है। ध्यान देकर देखिए तो मालूम होगा कि बालक खाया करता है और साथ ही साथ कुछ गुनगुनाता भी जाता है। लड़कों की भाषा में इसे 'नाम्' या 'चाम्' 'चाम्' करके खाना कहते हैं। इसी 'नाम्' 'नाम्' अथवा 'चाम्' 'चाम्' से इस 'चम' धातु की उत्पत्ति हुई है जिसका अर्थ है 'खाना' 'भोजन करना'। हम पहले कह आये हैं कि (इस धातु का) पहला वर्ण तालु से उत्पन्न होता है। अतः यह निश्चय है कि अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को पहुँचने पर लोगों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने उसका 'धातु' वर्ग के भिन्न वर्ण से उच्चारण किया। अतः व्यक्तावस्था में आने पर उसके चम, दम, जम, झम आदि भिन्न रूप हम देखते हैं। हमारे 'चबाना' क्रिया की उत्पत्ति इस 'चम' धातु से है, 'चर्वण' से नहीं। 'चर्वण' चबाने का गढ़ा हुआ संस्कृत रूप है।

इसके अतिरिक्त व्यक्तावस्था को पहुँचने पर कितने धातुओं में विपर्यय हो गया, कितने धातुओं का अस्तित्व ही मिट गया। उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है कि वर्णों का क्रमशः विकास कैसे हुआ। एक धातु के लिए कई एक रूप क्यों मिलते हैं? उनके रूपों में मिलते-जुलते अन्तर क्यों हैं? धातुपाठ में ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं। सब पर विचार करना यहाँ असम्भव है। यहाँ हम कुछ वैकारिक तथा अनुकरणिक धातुओं के उदाहरण देते हैं, जिन पर विचार करने से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जायगी।

(१) वैकारिक धातु।

कुर्द, खुर्द, गुर्द, गुद—क्रीडायाम्। कर्द, गर्द, नर्द, गर्द शब्दे। उखे, वख, भख, णख, लख, रख, इख, ईख—गत्यर्थाः। वल्ग, रग, लग, अग, वग, मग, त्वग, श्रग, श्लग, इग, रिग, लिग—गत्यर्थाः।

अय, पय, वय, मय, चय, तय, णय,—गतौ।

उङ, कुङ, खुङ, गुङ, घुङ, ङुङ—शब्दे।

(२) अनुकरणिक धातु।

अण, रण, भण, वण, मण, कण, क्वण, व्रण, भ्रण, ध्वण शब्दार्थाः। चम, छम, जम, झम—अदने। बड, मड, तुड—विभाजने। जट, झट—सङ्घाते। रुढ, लुढ, उढ,—उपखाते। तिप, तेप, ष्टिप, ष्टेप—चरणार्थाः।

शब्द।

शब्दों से हमारा अभिप्राय उन ध्वनिमय सङ्केतों से है जिनका कोई अर्थ या अभिप्राय हो। शब्दों-द्वारा हम अपने मनोभावों को दूसरों पर प्रकट करते हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है। पाश्चात्य विद्वान् अभी इसी बात पर वाद-विवाद किया करते हैं कि पहले क्रियाओं की उत्पत्ति हुई अथवा संज्ञाओं की। एक पक्ष पहले क्रियाओं की उत्पत्ति मानता है, दूसरा पहले संज्ञाओं की। वास्तव में यदि देखा जाय तो यह वाद-विवाद व्यर्थ जान पड़ता है। सहसा न तो संज्ञाओं की ही उत्पत्ति हुई, न क्रियाओं की ही। विकास-वाद किसी वस्तु की सहसा उत्पत्ति नहीं मान सकता। यदि हम विचार करें तो हमें इस बात का पूरा प्रमाण मिलेगा कि आदिम ध्वनियों में (चाहे वे वैकारिक हों अथवा अनुकरणिक) प्रायः दो भावों का समावेश था। वे भाव थे—किसी वस्तु की 'सत्ता' तथा उसके 'भाव' अथवा गुण का ज्ञान। हमारे शब्द केवल हमारे विशेष विशेष अनुभवों के द्योतक हैं। हमारे अनुभव में उपर्युक्त दो भाव सदा रहते हैं। उदाहरणार्थ, किसी वस्तु को जब हम देखते हैं तब हमारे मन में उसकी सत्ता अथवा वर्तमान होने की भावना उठती है। साथ ही साथ उस वस्तु के किसी विशेष गुण का भी हमें ज्ञान होता है। इन दो अनुभवों को लेकर हम उस वस्तु को अन्य वस्तुओं से निर्दिष्ट करते हैं। आदिम अवस्था में ये दोनों भाव ऐसे अज्ञात रूप से हमारे अनुभवों में सम्मिलित थे कि हमें उनका कुछ भी ज्ञान न था, पर उनके उपस्थित रहने पर हमने अपने अनुभवों को तदनुसार ही ध्वनियों का रूप दिया।

हमारे सभी अनुकरणिक तथा वैकारिक ध्वनियों में उपर्युक्त दो भाव उपस्थित थे। यही दोनों भाव क्रमशः हमारे संज्ञा तथा क्रियाविशेषण आदि शब्दों की उत्पत्ति के कारण हुए।

उदाहरणार्थ, जब मनुष्य ने 'सिंह' ऐसे भयानक पशु को देखा तब उसे अन्य पशुओं से निर्दिष्ट करने के लिए तथा उस भयानक जन्तु के आगमन की सूचना अपने सजातियों को देने के लिए उस पशु के भयानक शब्द की अनुकृति-स्वरूप 'हिंस' 'हिंस' चिल्लाना आरम्भ किया होगा। इस 'हिंस' 'हिंस' शब्द में मनुष्य के सत्तात्मक तथा भावात्मक अनुभव दोनों मिले हैं। इसी कारण क्रमशः उसी 'हिंस' शब्द से 'हिंस' धातु की उत्पत्ति हुई और उसका (ध्वनि का) विपर्यय होकर 'सिंह' शब्द (संज्ञा) बना। अब यह स्पष्ट है कि एक ही आदिम ध्वनि से दो प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति हुई—संज्ञा और क्रिया। अथवा यों कहें, सत्तावाचक शब्द और भाववाचक या गुणवाचक शब्द। भाववाचक शब्दों से ही क्रियाओं तथा विशेषणों आदि की क्रमशः उत्पत्ति हुई है।

हमारी भाषा में 'अस' और 'कृ' धातु बहुत प्राचीन हैं। प्रायः आर्य्य-भाषा से सम्बन्ध रखनेवाली सभी भाषाओं में इन दो धातुओं के रूपान्तर पाये जाते हैं। अब यदि हम इनकी उत्पत्ति के विषय में विचार करें तो हमें मालूम होगा कि एक दो वैकारिक ध्वनियों से उत्पन्न है दूसरा अनुकृति से। मनुष्य अपनी सत्ता सूचित करने के लिए 'अह' ऐसी ध्वनि मुख से निकालता है। अब भी यदि कोई हमें पुकारे या यदि हमें अपने वर्तमान होने की सूचना दूसरे को देना अभीष्ट हो तो उस समय हमारे मुख से 'अह' 'हाँ' 'हो' 'हूँ' 'हाँ' 'अहाँ हाँ' आदि ध्वनियाँ निकलती हैं। इन ध्वनियों का तात्पर्य केवल यही होता है कि एक व्यक्ति की 'सत्ता' अमुक स्थान पर है। आदि अवस्था में मनुष्य ने अपने अन्य सजातियों को अपने वर्तमान होने की सूचना देने के लिए अपने मुख से 'अह' से मिलती-जुलती ध्वनि उत्पन्न की होगी। यही ध्वनि क्रमशः दो भावों को प्रकट करने लगी। एक तो किसी की 'सत्ता', दूसरी उसके होने का भाव। 'सत्ता' से विकसित होकर 'अहम्' शब्द की उत्पत्ति हुई, जिससे 'व्यक्ति' का ज्ञान हुआ। 'भाव' से 'अस' क्रिया की उत्पत्ति हुई, जिसका अर्थ हुआ किसी वस्तु का होना।

कौआ मनुष्य का पुराना साथी है। वेदों तक में उसका उल्लेख है। उसके शब्द की अनुकृति से 'काक' शब्द बना। हमारे 'कृ' धातु की भी उत्पत्ति इसी 'काक' शब्द से हुई जान पड़ती है। मनुष्य ने इस पक्षी का शब्द सुना। उसने उसका अनुकरण किया। अनुकरण में 'का' 'का' कहना पड़ा। 'का' ध्वनि को मनुष्य ने दोहराया क्यों? । इसी में 'कृ' धातु का भाव बीजरूप में उपस्थित है। अभी तक हम अनुकरणिक शब्दों से जब क्रिया बनाते हैं तब उन्हें दोहरा देते हैं। यथा। टनटन करना—टनटनाना, पटपटाना, मडमडाना, परपराना, कलकलाना, पिटपिटाना, चिड़चिड़ाना—इत्यादि। किसी कार्य्य के पुनः पुनः होने में 'करने' अथवा 'किये जाने' का भाव भी छिपा है। मनुष्य ने 'का' ध्वनि को दो बार दोहराया—उसका आशय था—वह पक्षी जो 'का' ध्वनि पुनः पुनः उच्चारण करता है। इसी उद्देश से उसने 'का' 'का' दो बार कहा। इस 'का का' में एक विशेष पक्षी के होने (सत्ता) तथा उसके 'का' 'का' करने का भाव मिला हुआ था। क्रमशः पहला 'का' तो

नोट—कुछ विद्वान् इस दृष्टि से कि मनुष्य विवेकी है यह कहते हैं कि मनुष्यों को पहले पहल वस्तुओं के गुण का ज्ञान हुआ, अतः उन्होंने उनका नामकरण करने में उनके गुणों को प्रधानता दी। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि जो 'का' 'का' शब्द कहता है उसे 'काक' नाम दिया गया। जिसमें प्राण (असु) है वह 'अश्व' (घोड़ा) है। जिसमें 'गति' है उसे गौ (गाय) कहते हैं। पर यहाँ एक बात विचारणीय है कि नामकरण करने के पूर्व मनुष्य को उन वस्तुओं के गुणों के लिए शब्द कहाँ मिले। 'काक' शब्द के पहले 'कृ' धातु का, 'अश्व' के पूर्व 'असु' का, 'गौ' से प्रथम 'गम्' धातु का होना आवश्यक है। यह कैसे हुआ? 'कृ' 'असु' गम् धातुओं की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका उत्तर वे नहीं दे सकते। वास्तव में यह कल्पना इसी लिए की जाती है कि वे मनुष्यों को विवेकी (Rational) मानते हैं। विकासवादी इसे मानने के लिए तैयार नहीं है।

पक्षी के शब्द के अनुकरण का बोधक था, दूसरा 'का' 'का' ध्वनि को पुनः पुनः उच्चारण करने की क्रिया ('का' 'का'—करना) का बोधक हुआ। वेदों में 'काका' के लिए 'कारव' शब्द भी आया है। पर उसमें 'का' + रव है (अर्थात् 'का' 'का' रवते यः सः) इसका अर्थ है जो 'का' 'का' शब्द 'रव' करता है। इसमें 'का' अनुकृति है और 'रव' दूसरा धातु है, जिसका अर्थ है शब्द करना।

इस प्रकार हमें मानना पड़ेगा कि आदिम ध्वनियों में 'सत्तावाचक' और भाववाचक भाव बीजरूप में उपस्थित थे, जिनके कारण क्रमशः भिन्न भिन्न प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति हुई।

शब्द और सङ्केत।

व्यक्तावस्था में पहुँचने पर शब्दों की प्रधानता हो चली। उनकी प्रधानता के साथ साथ सङ्केतों का लोप होने लगा। जिन सङ्केतों को अधिक स्पष्ट करने के लिए उनका प्रयोग होता था वे क्रमशः लुप्त होने लगे। उनके स्थान पर शब्द उन भावों को प्रकट करने लगे। ऐसा होना स्वाभाविक था। सङ्केतों में शारीरिक परिश्रम अधिक करना पड़ता है। शब्दों के उच्चारण में नादयन्त्रों के प्रयोग में उतना परिश्रम नहीं होता। इस प्रकार शब्दों की प्रधानता होने पर हमारी भाषा ऐसी अवस्था में पहुँची जब हम अपने आवश्यक भावों को सार्थक ध्वनियों अथवा शब्दों से प्रकट करने लगे। ऐसी अवस्था में हमारे शब्द प्रायः 'एकाच' थे। उनका उच्चारण सुगमता से हो जाता था। अधिक वर्णों का संयोग उनमें नहीं था। इस अवस्था को हम 'एकाच' अवस्था कह सकते हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसे वियोगावस्था भी कह सकते हैं। इस अवस्था में हमारी भाषा के प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र थे। उनका रूप अपने आदिम अवस्था में था। जब हमें अपने भावों को प्रकट करना होता था तब हम शब्दों को एकत्र करके एक एक भाव का सङ्केत कराते थे। यथा 'मैं करूँगा' के लिए 'कृ + नु + मि' अर्थात् करना + अभी + मैं—इस प्रकार एकाच अवस्था में पहुँचकर हमारी भाषा हमारे आवश्यक भावों को प्रकट करने लगी। इस अवस्था में हमारे शब्दों का समुदाय भी भावों के अनुसार सङ्कुचित था।

भाषा-भाव के विनिमय का साधन।

संसार में प्रायः सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। भाषा भी इस विस्तृत नियम से परे नहीं हो सकती। भाषा में परिवर्तन होता गया। अनेक शब्द क्रमशः मिलकर एक होते गये। सभ्यता के विकास तथा आवश्यकताओं के बढ़ने पर नये नये शब्दों की आवश्यकता हुई। भाव-साहचर्य्य के कारण एक शब्द अनेक भावों को प्रकट करने लगा। कितने शब्द मिलकर संयुक्त शब्द हुए और संयुक्त भावों को प्रकट करने लगे। कितने नये नये शब्दों की उत्पत्ति हुई। अन्य जातियों के मेल-मिलाप से तथा अन्य परिस्थितियों के कारण शब्द-भाण्डार में क्रमशः वृद्धि होने लगी। जटिल से जटिल भावों को प्रकट करने के लिए शब्दों की कमी न पड़ने लगी। इस प्रकार भाषा क्रमशः मनुष्य के भाव-विनिमय का प्रधान साधन हुई।

हमारा उद्देश यहाँ केवल भाषा का विकास दिखाना था। अतएव हमने 'एकाच' अवस्था अथवा वियोगावस्था तक पहुँचने तक का विकास दिखाया। क्योंकि उस समय एक प्रकार से भाषा भाव-विनिमय का काम पूर्णरूप से देने लगी थी। अब उस अवस्था से उन्नति करके भाषा क्रमशः परिवर्तित होती हुई आधुनिक अवस्था को कैसे पहुँची—यह सब उन्नति तथा परिवर्तन किन कारणों से हुए—इत्यादि बातों पर हम पुनः लिखने का प्रयत्न करेंगे।

सत्यजीवन वर्म्मा, बी० ए०

नख-शिख।

हिन्दी-साहित्य नख-शिख-वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। इस नख-शिख-वर्णन की एक विशेपता यह है कि कवि की कल्पना एक सङ्कुचित सीमा में बद्ध रही है। उस सीमा का उल्लङ्घन करने का साहस कभी किसी ने नहीं किया। यह सीमा शास्त्र-निर्दिष्ट थी, हिन्दू साहित्य-शास्त्रकारों ने रूप-वर्णन के लिए प्रत्येक अङ्ग की एक आदर्श आकृति निर्दिष्ट कर दी थी। उसी का अनुसरण कवियों ने किया है। प्राचीन चित्रकला और मूर्ति-निर्माण-

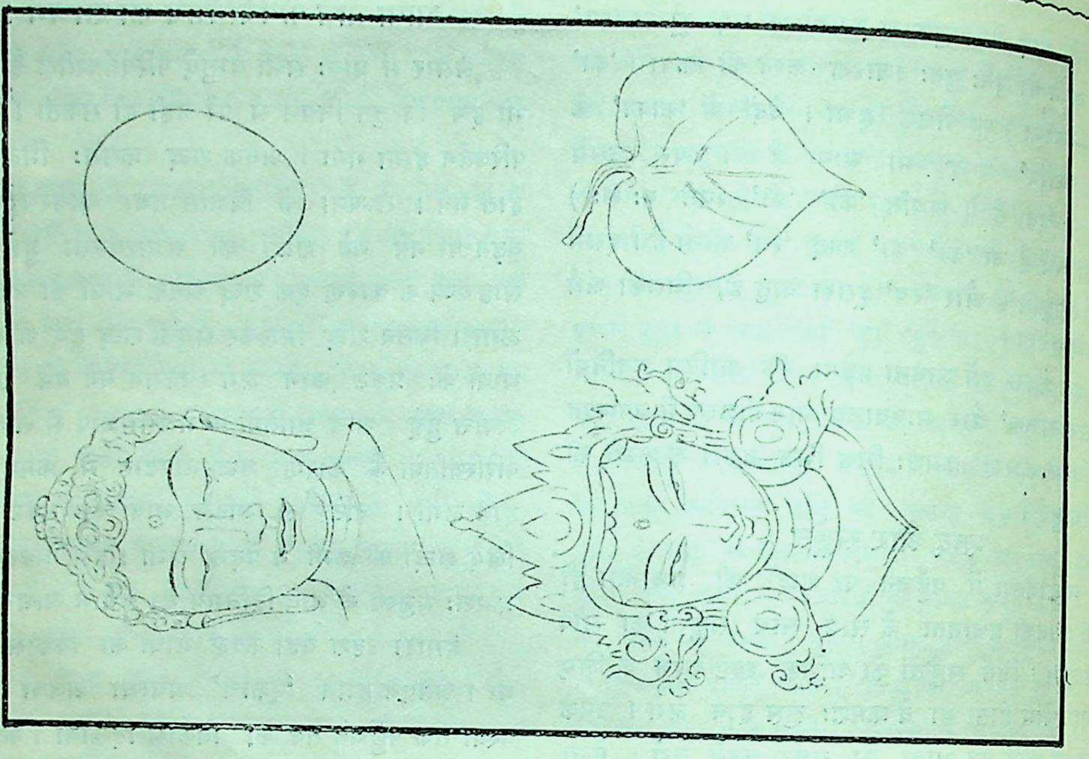

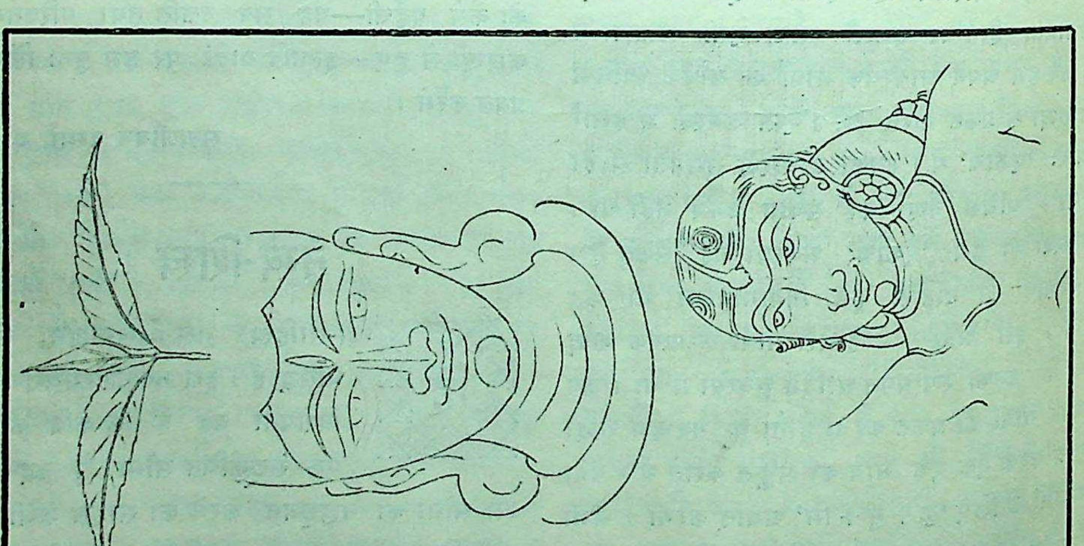

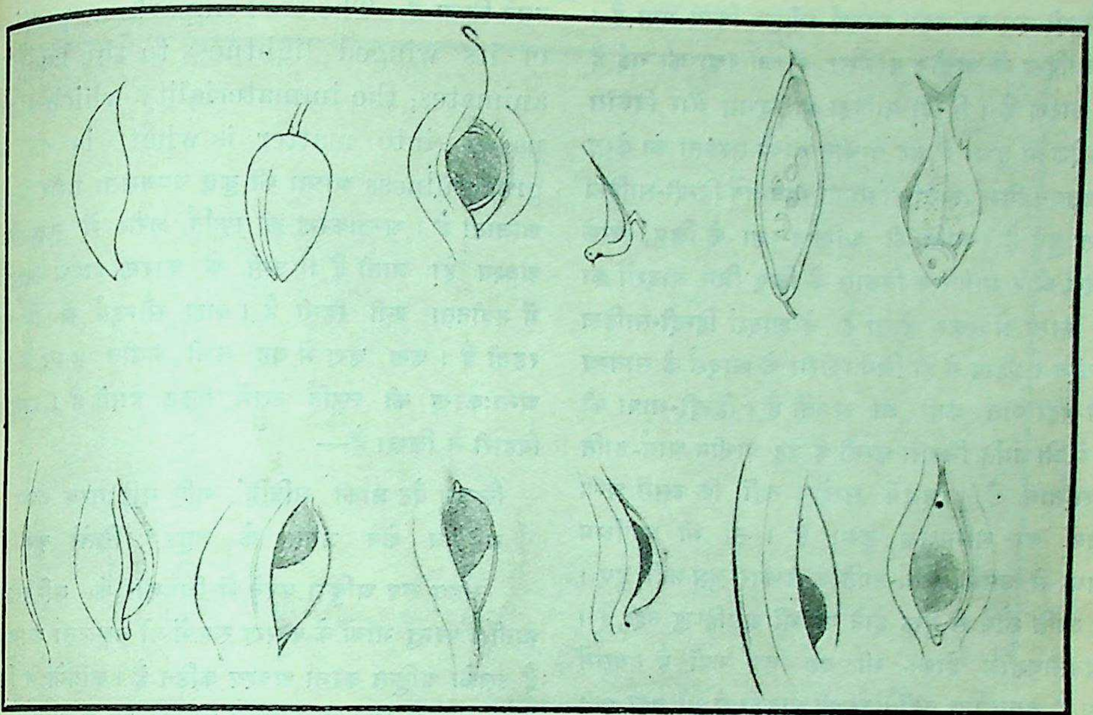

नेत्र।

यह पुस्तक वितरित न की जाय।

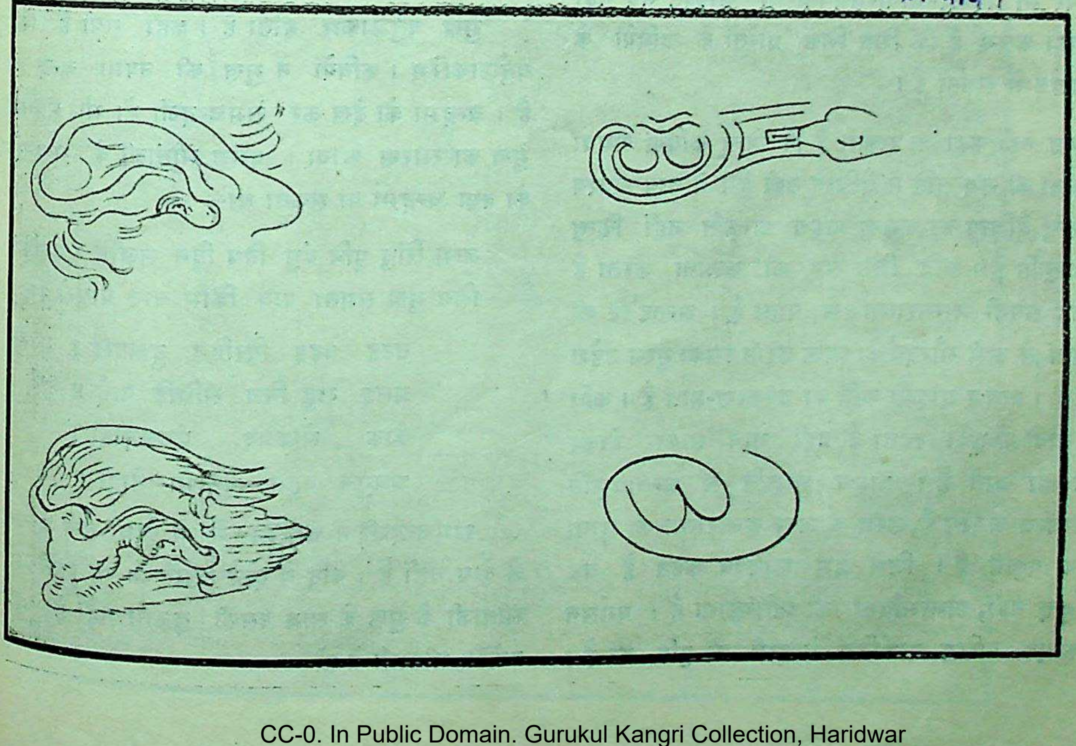

कर्ण।

कला में भी रूप का वही आदर्श स्वीकृत किया गया है। हिन्दी-साहित्य में प्राचीन परम्परा की जो रक्षा की गई है उसका कारण है। हिन्दी-साहित्य का उद्गम और विकास जिस प्रदेश में हुआ है वह प्राचीन आर्य्य-सभ्यता का केन्द्र था। अतएव हिन्दू-जाति की समस्त भावनायें हिन्दी-साहित्य में व्यक्त हुई हैं। जाति की अस्तित्व-रक्षा के लिए, उसके शारीरिक और मानसिक विकास के लिए जिन आदर्शों का प्रचार करना श्रेयस्कर होता है वे आदर्श हिन्दी-साहित्य ने प्राचीन साहित्य से ही लिये। शरीर के आदर्श के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। हिन्दी-भाषा की भूमि में जो जाति निवास करती है वह प्राचीन आर्य-जाति की सन्तान है। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें अन्य जातियों का सम्मिश्रण हुआ है। तो भी वर्णाश्रम की प्रथा से उसमें आर्य-जाति के संस्कार लुप्त नहीं हुए। यह जाति शौर्य से युक्त होने पर भी असहिष्णु नहीं है। अध्यवसायशील होकर भी वह क्षिप्र नहीं है। उसमें दृढ़ता है, चञ्चलता नहीं। उसकी आकृति से भी यही बात प्रकट होती है। जो जाति अपने को जितना ही विशुद्ध रखती है उसकी आकृति में रेखा की उतनी ही स्फुटता, दृढ़ता और अङ्गों की समानता देखी जाती है। वर्ण-भेद होने पर भी हिन्दी-भाषा-भाषियों में आकृति-भेद नहीं है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न प्रान्तों के कवियों के रूप-वर्णन में समता है।

यह नहीं कहा जा सकता है कि हिन्दू कवियों अथवा चित्रकारों की रूप-सृष्टि में वैचित्र्य नहीं है। वैचित्र्य अवश्य है, परन्तु वैचित्र्य का कारण बाह्य आकृति नहीं किन्तु अन्तःप्रकृति है। कवि जिस रूप की कल्पना करता है उसे वह अपनी अन्तरात्मा से पाता है। अन्तर्दृष्टि की सहायता से उसी सौन्दर्य को व्यक्त करना उसका मुख्य उद्देश होता है। बाह्य आकृति कवि का उपकरण-मात्र है। कवि जिन भावों में डूबा रहता है वही भाव साकार होकर प्रत्यक्ष हो जाते हैं। बाह्य आकृति से अन्तःप्रकृति का सम्बन्ध अवश्य है, शरीर के ऊपर अन्तरात्मा की छाया अवश्य पड़ती है। जिसे हम लावण्य कहते हैं वह और कुछ नहीं, अन्तर्भावना की प्रतिच्छाया है। बर्गसन नामक एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने इसी की पुष्टि की है। उसने लिखा है—The soul imparts a portion of its winged lightness to the body it animates; the immateriality which thus passes into matter is what is called gracefulness आत्मा की कुछ चञ्चलता शरीर में भी आजाती है। अन्तःकरण की स्फूर्ति शरीर में कुछ प्रकट अवश्य हो जाती है। उसी के कारण बाह्य आकृति में नवीनता बनी रहती है। बाह्य सौन्दर्य में स्थिरता रहती है। क्षण क्षण में वह तभी नवीन होता है जब अन्तःकरण की स्फूर्ति उसमें प्रकट होती है। इसी से बिहारी ने लिखा है—

लिखन बैठ जाकी सबिहिं गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

बाह्य रूप अङ्कित करने में चित्रकार को कठिनता न होती। परन्तु भावों के कारण रूप में जो चञ्चलता आजाती है उसको अङ्कित करना अवश्य कठिन है। कवियों ने भिन्न भिन्न अङ्गों के लिए जो उपमायें कल्पित की हैं उनसे केवल रूप की स्थिरता प्रकट होती है। भावों की चञ्चलता को प्रकट करने के लिए उनको अपनी उपमाओं में भी अनेक कल्पनायें करनी पड़ी हैं।

मुख वर्तुलाकार होता है। कहा गया है कि मुखं वर्तुलाकारम्। कवियों ने मुख की उपमा चन्द्र से दी है। चन्द्रमा को देख कर रामचन्द्रजी को भी सीताजी के मुख का स्मरण आया। परन्तु सीताजी के मुख-सौन्दर्य को क्या चन्द्रमा पा सकता था—

जन्म सिंधु पुनि बंधु विष दिन मलीन सकलंकु।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो रंकु॥

घटइ बढ़इ बिरहिन दुखदाई।
ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई॥
कोक सोकप्रद पंकजद्रोही।
अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही॥

रामचन्द्रजी ने चन्द्रमा में जो दोष देखे वे चन्द्रमा के दोष नहीं हैं। यदि ये दोष उसमें न भी रहते तो भी सीताजी के मुख के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि सीताजी ने तो—

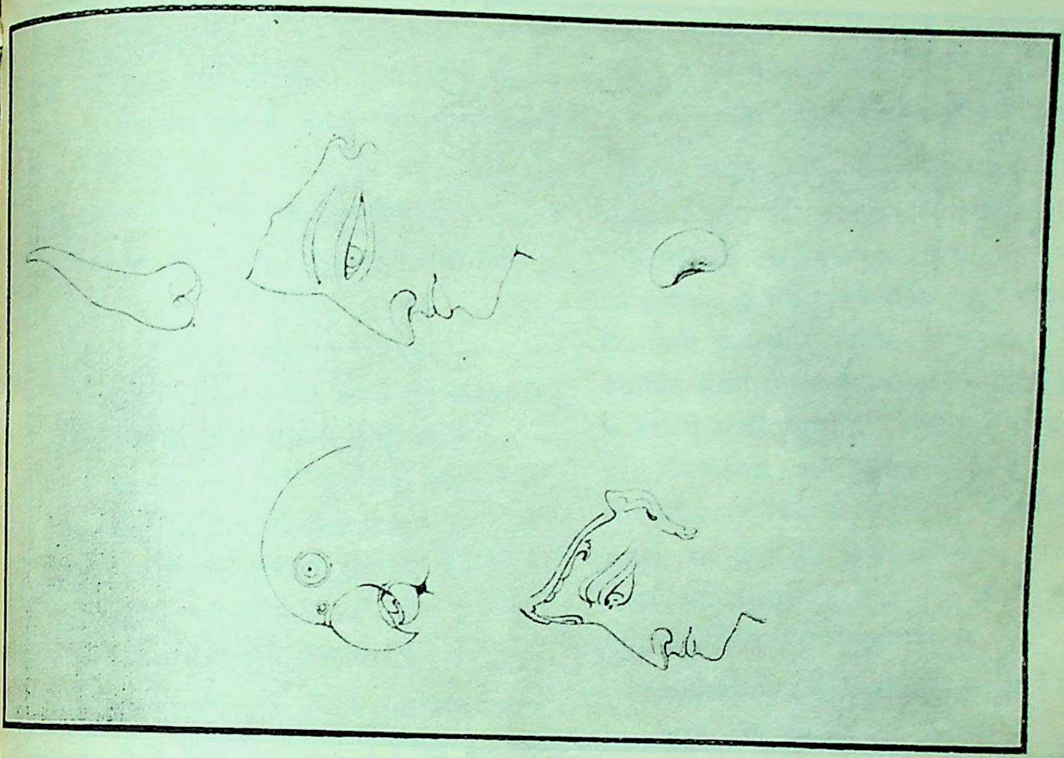

नासिका ।

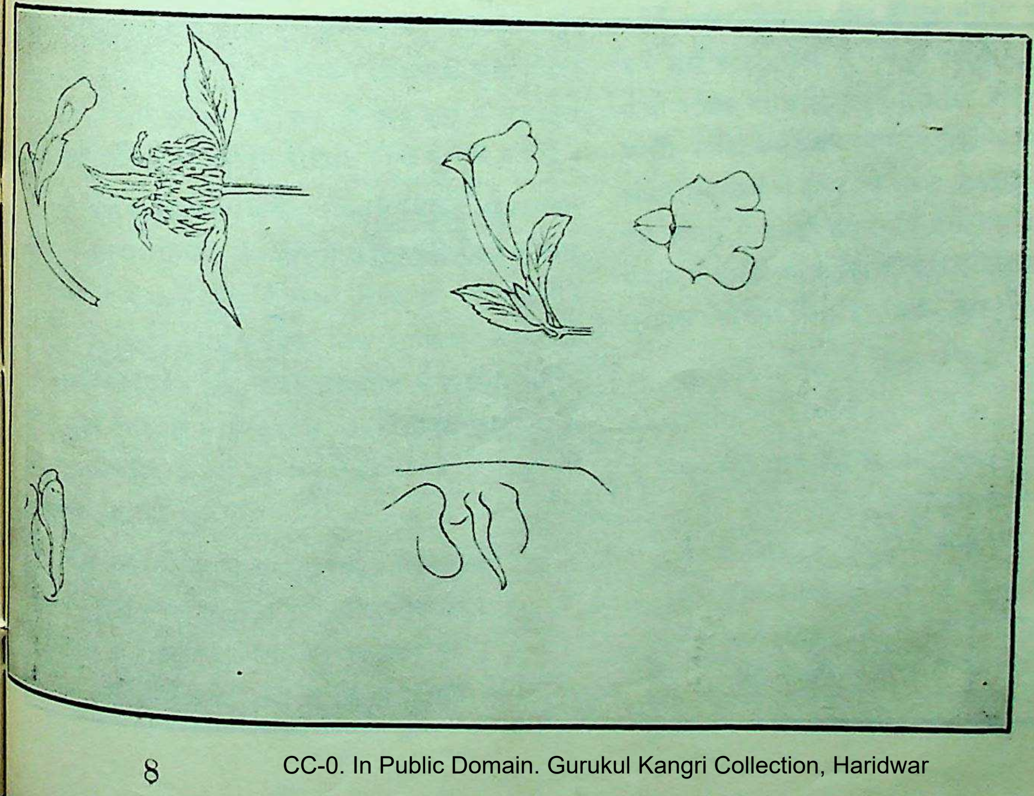

अधर ।

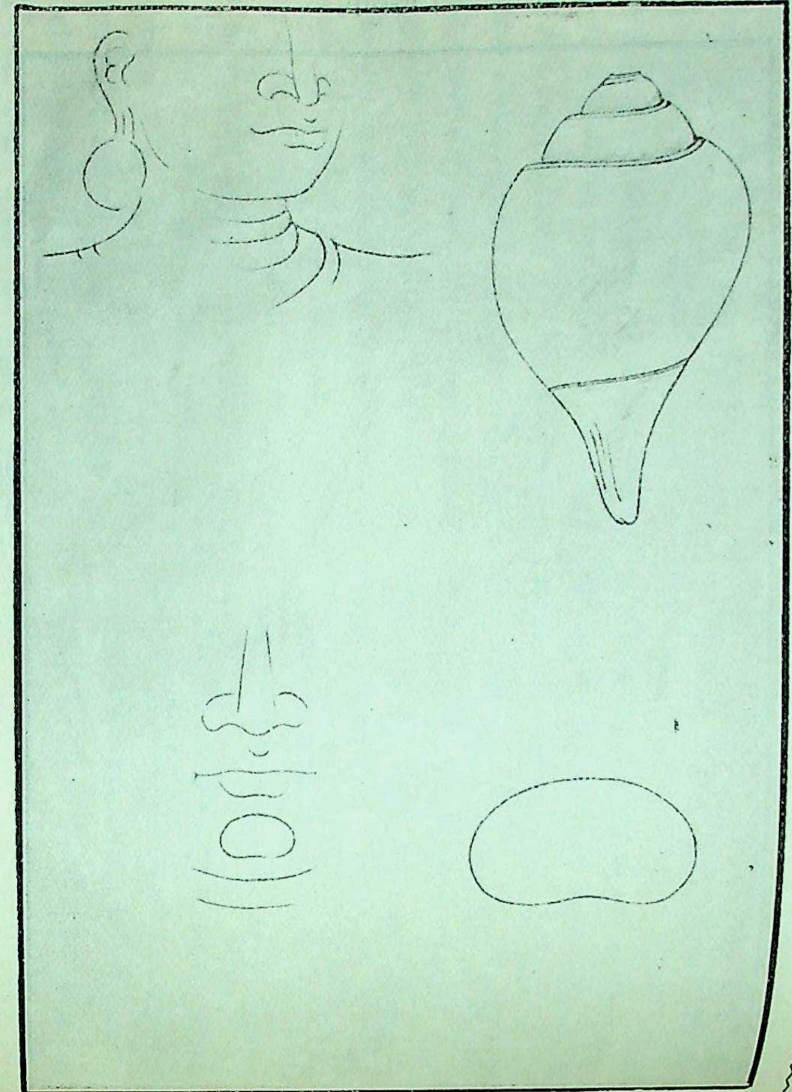

कपोल और चिबुक ।

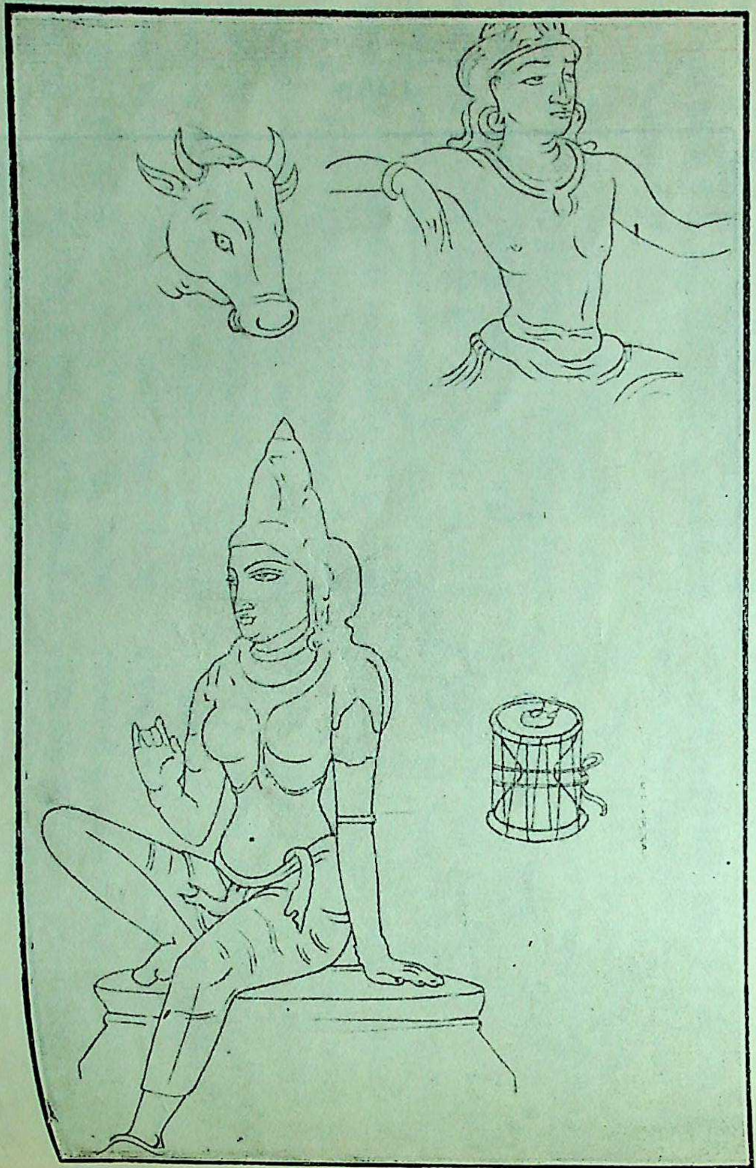

शरीर ।

लोचनमग रामहि उर आनी।
दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

सीताजी की इस मूर्ति में प्रेम, लज्जा और सङ्कोच का जो भाव प्रदर्शित हुआ है उसके लिए सचमुच कोई उपमा नहीं है।

केशवदास ने तो यहां तक कह दिया है कि हज़ार कोशिश करने पर भी चन्द्रमा मुख की शोभा नहीं पा सकता—

ग्रहनि में कीन्हो गेह सुरनि दै देख्यों देह
शिव सों कियो है नेह जाग्यो युग चार्यो है।
तपिन में तप्यो तप जलधि में जप्यो जप
केशवदास बपु दास मास प्रति जार्यो है।
उड़गण-ईश-द्विज ईश औषधीश भयो
यदपि जगत-ईश सुधा सों सुधार्यो है।
सुनि नँदनन्दप्यारी तेरे मुखचन्द्र सम
चन्द पै न भयो कोटि छन्द करि हार्यो है।

ललाट धनुषाकार होता है। ललाटं धनुषाकारम्। केशान्त से लेकर भ्रूपर्यन्त ललाट है। यह कुछ खिँचा हुआ धनुष के समान अर्धचन्द्राकार होता है।

भाग को भौन सोहाग को चोंतरो सुन्दरता की सिंहासन सोई।
सागर है रस को पुन प्रेम को लोचन पन्थिन को सुख होई।
नूर कहै न सुनै लड़ बावरी चन्द ही दोष कछू न भलोई।
होत नहीं सरि तेरे ललाट की तौ शशि चौथि को देखै न कोई॥

भ्रू-युगल के विषय में कहा गया है कि वह 'निम्बपत्राकृतिः धनुषाकृतिर्वा' है। पुरुषों के भ्रूयुगल का आकार निम्बपत्र के समान होता है और स्त्रियों के धनुषाकार। हर्ष, भय, क्रोध आदि भिन्न भिन्न भावों के आवेश से भ्रूयुगल कभी उन्नमित, कभी आनमित और कभी सङ्कुचित होते रहते हैं। कवियों ने टेढ़ी लता, कामदेव के धनुष, कामदेव के खड्ग के म्यान और भौंरे के पङ्खों से उसकी उपमा दी है।

कैधों लागी पङ्कज के अङ्क-पङ्क-लीक कीधौं
केशव मयङ्क-अङ्क अङ्कित सुभाय को।
जन्त्र है सुहाग को कि मन्त्र अनुराग को
कि मन्त्रन को बीज अधऊरध अभाय को।
आसन सिंगार को कि काम को सरासन है
सासन लिखो है प्रेम पूरन प्रभाय को।
राख रुख वेष विष विषम पियूख में
सुभामिनी की भौंहें कैधों भौन हाय भाय को।

नेत्र मत्स्याकृति कहे गये हैं। नेत्रों के भाव और भाषा का अन्त नहीं, उसी प्रकार उसकी उपमाओं का भी अन्त नहीं है। खञ्जन-नयन, हरिण-नयन, कमल-नयन आदि कितने ही प्रकार के नेत्रों के वर्णन कवियों ने किये हैं। स्त्रियों के नेत्रों में स्वभाव से चञ्चलता है। इसी से कदाचित् सफरी, खञ्जन और हरिण, इन तीन चञ्चल प्राणियों के नेत्रों से उनकी उपमा दी जाती है। पर इन नेत्रों के द्वारा भिन्न भिन्न भाव भी प्रकट होते हैं। खञ्जन-नयन में कौतूहल-पूर्ण विलास का भाव विद्यमान रहता है, सफरी-नयन में अस्थिर दृष्टि-पात, हरिण-नयन में सरल माधुर्य, पद्म-पलाश नयन में प्रशान्त दृक्पात आदि भाव नेत्रों की आकृति के साथ प्रकट होते हैं।

मत्स्याकृति नेत्रों के सम्बन्ध में सूरदासजी ने लिखा है—

उपमा नैनन एक रही।
कवि जन कहत कहत सब थाके सुधि कर नहीं कही।
नहिँ चकोर विधुमुख बिन जीवत भवँरहु नहीं लखात।
हरि मुख कमल कोश तें बिछुरे अनतै कत ठहरात।
ऊधो बधिक व्याध ह्वै आये मृग सम क्यों न परात।
भागि जाहिं बन सघन स्याम में जहां न कोऊ घात।
खंजन मनरंजन न होहिं ये कबहुँ नहीं अकुलात।
पंख पसारि न होहिँ चपलगति हरि समीप उड़िजात।
कमल न होहिं कौन विधि कहिए झूठे ही तनु आड़त।
सूरदास मीनता कछू इक जल भरि कबहुँ न छांडत।

एक कवि ने एक ही पद्य में इन समस्त उपमाओं का सन्निवेश कर दिया है—

मृग कैसे मीन कैसे खञ्जन प्रवीन कैसे
अञ्जन सहित सित असित जलद से।
चर से चकोर से कि चोखे खांड़े कोर से
कि मदन मरोर से कि माते राते मद से।
नवी कवि ऐना से कि और नैन वैना से
कि सियरे सलौना से कि आछे मृगमद से।

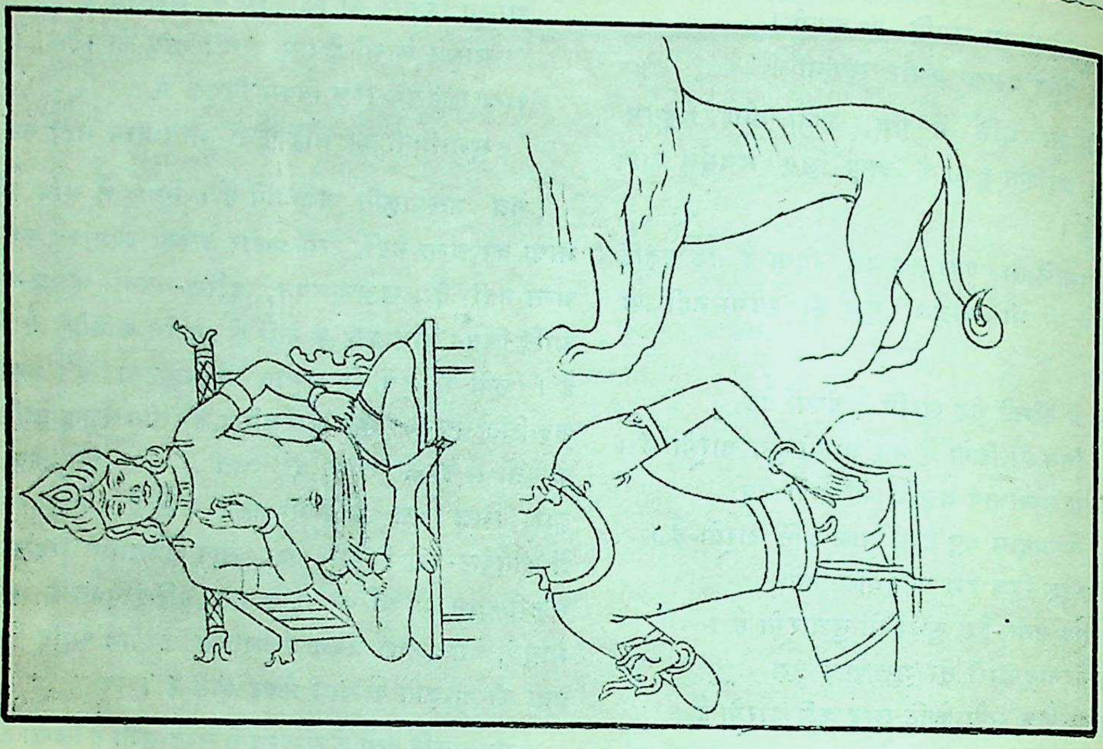

कपाट-वक्ष और सिंह-कटि ।

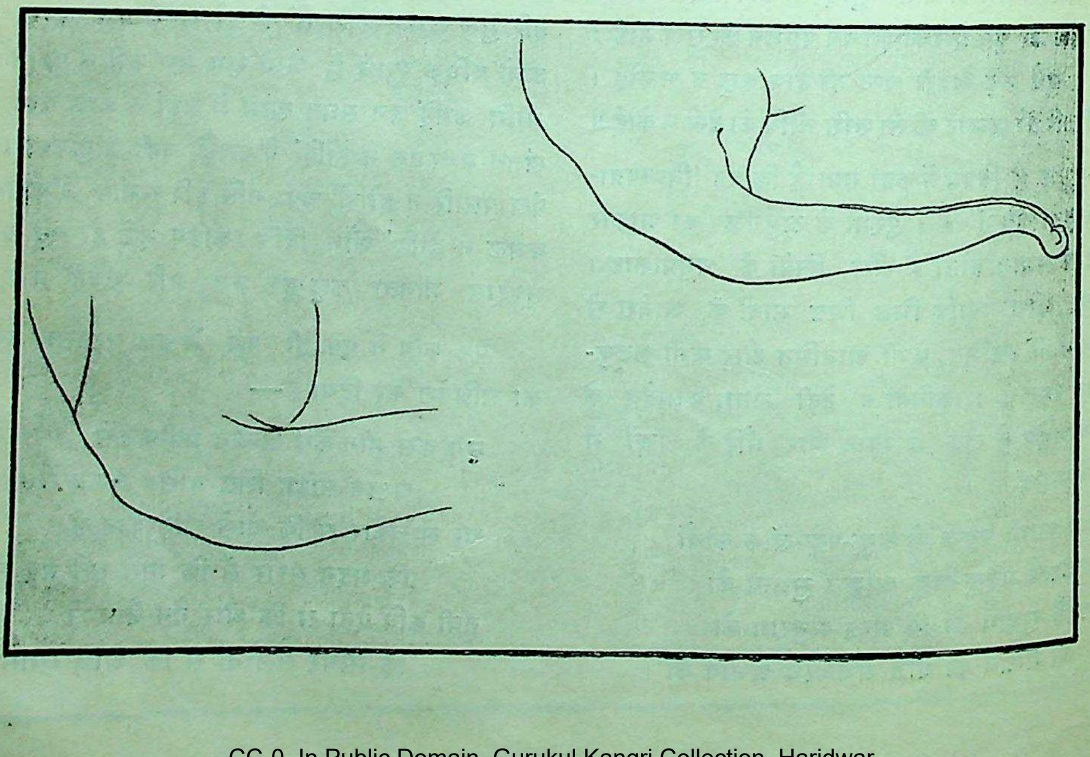

स्कन्ध ।

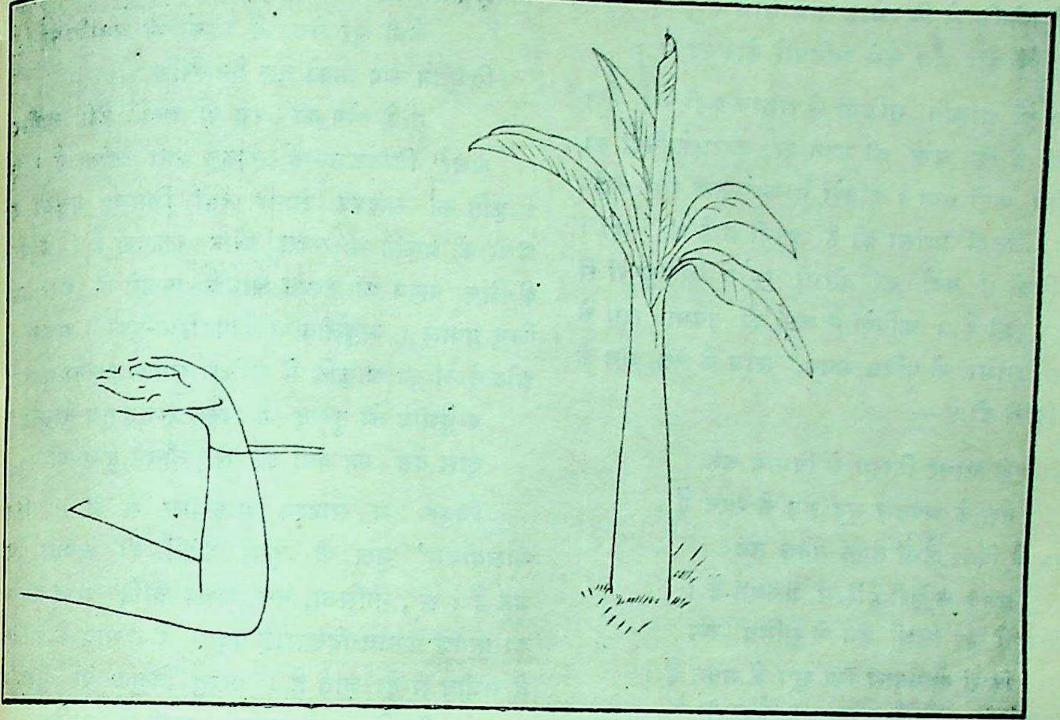

प्रकोष्ठ।

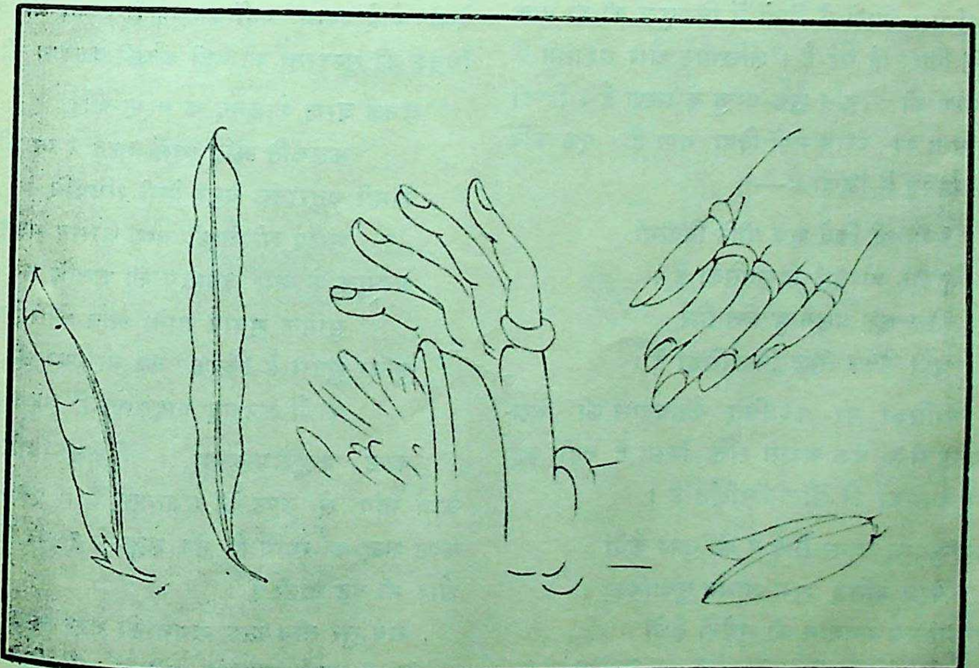

अँगुली।

पय से पयोधि से कि और सोंधे सोध से
कि कारे भौर कैसे अनियारे कोकनद से।

श्रवण की आकृति गृद्धिनी के समान कही गई है। जान पड़ता है कि कर्ण की गठन पर कला-कोविदों का ध्यान विशेष नहीं गया। कवियों ने कर्ण-फूल और कर्ण-भूषण की जितनी प्रशंसा की है उतनी कर्ण की नहीं। प्राचीन चित्रों में कर्ण की शोभा सदैव अलङ्कारों से आच्छादित रही है। कवियों ने कर्ण की उपमा राग के रमण-पात्र, शोभा के पवित्र भवन, लाज के नेत्र, मन के मन्त्री आदि से दी है—

रागिन के आगर विराग के विभाग कर
मन्त्र के भण्डार गूढ़ रूढ़ के रवन हैं।
ज्ञान के विवर कैधौं तनक तनक तन
कनक कचोरी हरिरस अचवन हैं।
श्रुतिन के कूप किधौं मन के सुमित्र रूप
किधौं केशोदास रूप भूप के भवन हैं।
लाज के नयन किधौं नयन सचिव किधौं
नयन कटाच्छ शर लक्ष्य के श्रवन हैं।

नाक की उपमा तिल पुष्प से दी जाती है, तिल-पुष्पाकृतिर्नासा। स्त्रियों के चित्रों में तिलफूल की ही नाक की आकृति दिखलाई गई है। शक्तिमान् और महात्मा के चित्रों में नाक की आकृति शुक-चञ्चु के सदृश है। हिन्दी में इस भिन्नता पर ध्यान नहीं दिया गया है। एक कवि ने नाक के विषय में लिखा है—

वनवासी किये शुक पीठि निवासी
तुनीर जो वीर विलासिका है।
तिल सून प्रसून हू खेत गिरे
गुहा सेवक सिद्ध निकासिका है।

हिन्दी में नासिका पर कदाचित् केशवदास की निम्न-लिखित उक्ति से अधिक अच्छी उक्ति किसी ने नहीं कही है, जिसमें नासिका का सौन्दर्य वर्णित है।

केशव सुगन्ध स्वास सिद्धन की गुफा कैधौं
परम प्रसिद्ध शुभ शोभन सुवासिका।
कैधों मनमथ मनमीन की सुबेनी कैधों
कुन्दन की सींव लोल लोचन विलासिका।
मुकुता मणिन की है मुकुत पुरी सी कैधों
कैधों सुर सेवत हैं काशी की प्रकाशिका।
त्रिभुवन रूप ताको तुङ्ग तोयनिधि
ताके तोय की रङ्ग कै तरुनि तेरी नासिका।

अधर बिम्बफल के समान कहा जाता है। इनमें आकृति का सादृश्य उतना नहीं जितना प्रकृति का। अधर की प्रकृति भी सरस और रक्तवर्ण है। कोमलता के लिए पल्लव की उपमा अधिक अच्छी है और वर्ण के लिए प्रवाल। बन्धुजीव (दोपहरिया-पुष्प) अधर और ओठ दोनों की आकृति से अधिक समता रखता है।

बन्धुजीव को दुखद है अरुन अधर तुव बाल।
दास देत यह क्यों डरै पर जीवन दुख जाल।

चिबुक का सादृश्य आम्रबीज से है। 'चिबुक-माम्रबीजम्' मुख के दूसरे अंशों की अपेक्षा चिबुक जड़ है। भ्रू, नासिका, नेत्र, अधर आदि अङ्गों पर भावों का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाई पड़ता है। भाव के आवेग से वे सजीव से हो जाते हैं। परन्तु चिबुक पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। इसी से नासिका, नेत्र, अधर आदि की उपमायें पुष्प, पत्र, मत्स्य, लता आदि सजीव वस्तुओं से दी जाती है। परन्तु चिबुक के लिए ऐसी कोई उपमा नहीं दी गई है। तो भी एक कवि ने चिबुक की सुन्दरता की बड़ी अच्छी कल्पना की है।

कनक बरण कोकनद के बरण और
झलकति झांई तामें बसन रदन की।
कीन्हीं चतुरानन चतुर ऐसी रचिपचि
अलप सी चौकी चारु आसन मदन की।
अङ्गुल के बाम उपमान की अवधि सब
सुमिल सुवान मानो श्रीय के सदन की।
सुन्दर सुढार है चिबुक नव नायिका की
कीधौं बलभद्र बादसाही है बदन की।

कण्ठं शङ्खसमायुतम्। त्रिवली-चिह्नित शङ्ख के ऊर्ध्व भाग से कण्ठ की समानता है। इसके सिवा जब कण्ठ शब्द का स्थान है तब शङ्ख से उसकी यह समानता और भी बढ़ जाती है।

सब सुर तीन ग्राम रागन को धाम धन्य
मूर्छना सुताने श्रुतिग्रह मति पैनी को।

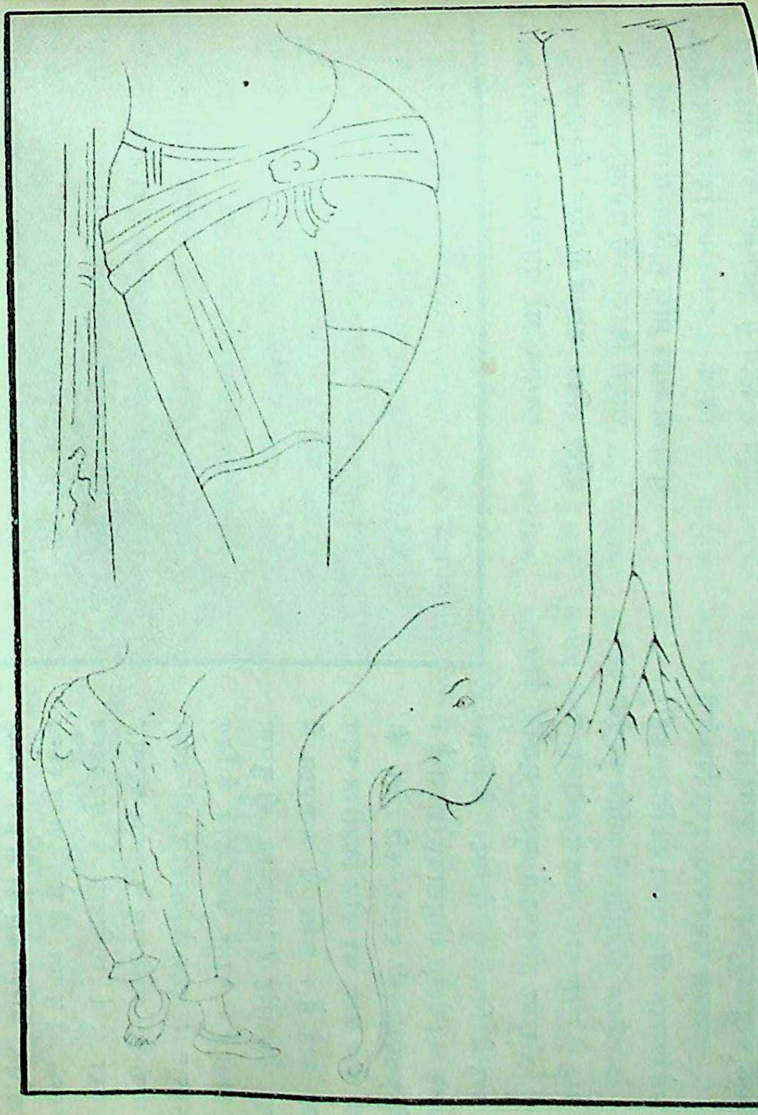

उरु।

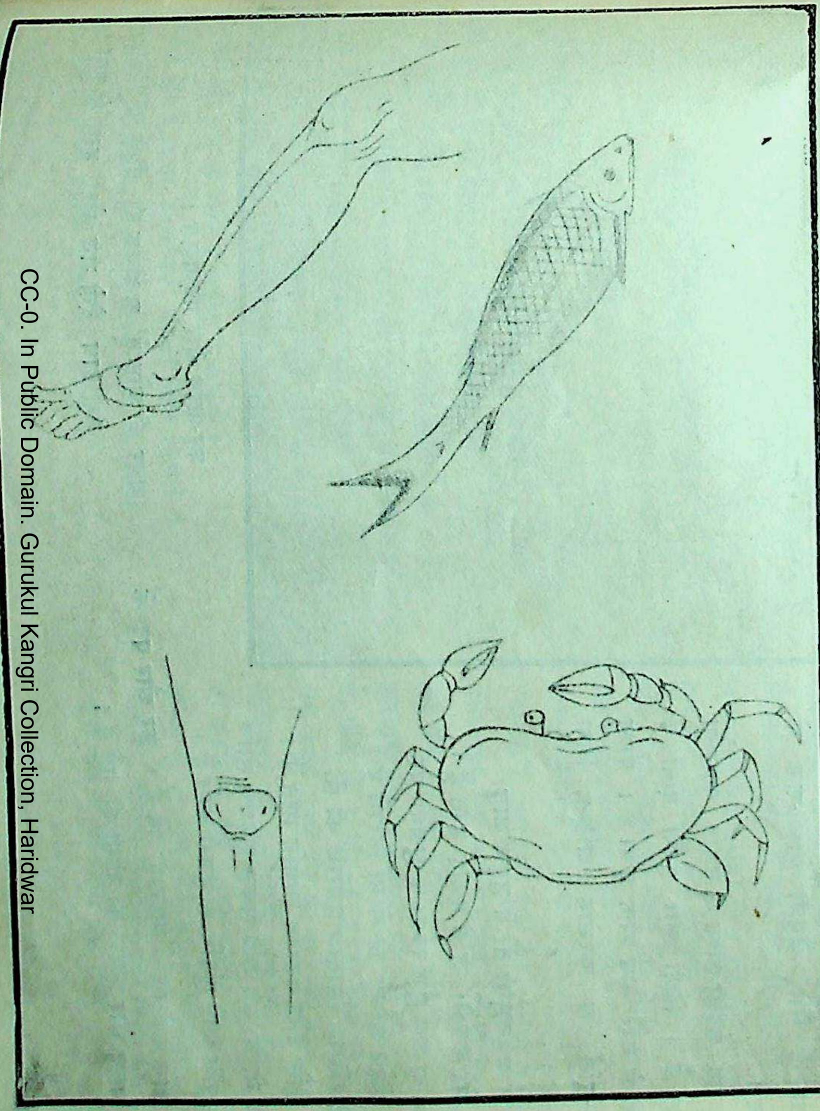

जंघा और जानु।

कैंधौ चन्द्रमण्डल को परम अधार शुद्ध
उज्ज्वल अनूप स्वच्छ दच्छ पिक बैनी को ।
भनै रघुनाथ सील शोभा को निवास यही
प्रीतम की प्रीति की प्रतीति कर दैनी को ।
कम्बु ते सुढार रम्य चारु है कपोलहू ते
रम्भा रतिकण्ठ तें सुकण्ठ मृगनैनी को ।

कण्ठ के निम्नभाग से जठर के निम्नभाग तक का देहांश गोमुखाकार होता है । इससे वक्षस्थल की दृढ़ता, कटि देश की कृशता और जठर का लोल विलम्बित भाव सूचित होते हैं । शरीर के मध्यभाग से डमरु और सिंह के मध्यभाग की तुलना की जाती है । दृढ़ता प्रकट करने के लिए रुद्र-कपाट से पुरुष के वक्षस्थल की उपमा दी जाती है । कालिदास ने कपाट-वक्षस्थल ही कहा है । कालिदास ने वृष-स्कन्ध से स्कन्ध की तुलना की है । परन्तु स्कन्ध का अधिक सादृश्य करि-कर से है । प्रकोष्ठ बाल कदली-काण्ड के तुल्य दिखलाया जाता है और अँगुली शिम्बी-फल के तुल्य ।

उरु कदली-काण्ड के समान बतलाया जाता है । स्त्रियों और पुरुषों दोनों के चित्रों में यही भाव व्यक्त हुआ है । परन्तु देवी-मूर्ति में करभोरु अङ्कित किया गया है ।

कोमल कमलमुखी तेरे ये जुगुल जानु
मेरे बलबीर जू के बलहिँ हरत हैं ।
सौरभ सुभाय सुभ रम्भा के सुखमा अरु
केशव करभहू की सोभा निदरत है ।
कोटि रतिराज सिरताज ब्रजराज की सौं
देखि देखि गजराज लाजनि मरत है ।
मोचि मोचि मद रुचि सकल सकोचि सोचि
सुधि आये सुंडनि की कुंडरी करत हैं ।

जानु कर्कटाकृति बतलाये गये हैं । **कर और पद के लिए पल्लव और कमल की उपमा दी गई है ।**

कञ्चन के पल्लव में छोटी बड़ी लीक मानो
लिख्यौ है उचाट मन्त्र विधि मोह सों भयो ।
सुधा की श्रवत मणि माणिक लसत सोहै ।
अँगुरी किरन ज्यौं प्रभाकर उदै भयो ।
मेंहँदी रचित नख कैधौं मैन पंचबाण
खरसान धरे सोने पानी तिनको दयो ।

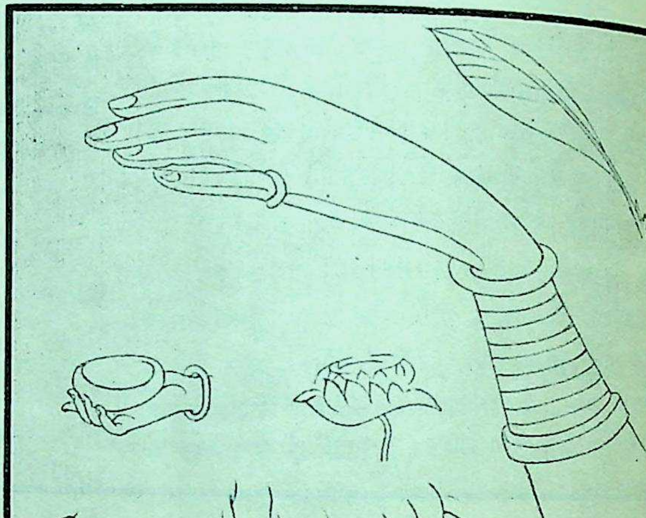

कर-पल्लव और पद-पल्लव ।

अञ्चर की ओट तें अचानक ही दीठी पर्यो
तेरो हाथ देखे मन मेरो हाथ ते गयो ।

हिन्दू-साहित्य में अङ्गों के जो आदर्श स्वीकृत किये गये हैं उनका वर्णन हम कर चुके। भिन्न भिन्न अङ्गों के लिए जो उपमायें दी जाती हैं वे काल्पनिक नहीं हैं। उपमेयों और उपमानों में विलक्षण सादृश्य है। यही सादृश्य प्रकट करने के लिए श्रीयुत अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने कुछ चित्र बनाये थे। वे यहाँ दिये जाते हैं। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन उपमाओं का आधार अनुभूति है। परन्तु हिन्दी-साहित्य में कवियों ने कल्पना का अत्यधिक आश्रय लिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि की जो केवल कल्पना-गम्य है। कटि की कृशता दिखलाते दिखलाते उन्होंने कटि का लोप ही कर दिया। प्रायः सभी अङ्गों के वर्णन में यही अस्वाभाविकता है। इस अस्वाभाविकता का कारण यह है कि कवियों की नायिकायें हिन्दू-समाज की गृह-देवियाँ नहीं थीं, किन्तु रसिकों के मनोविनोद के लिए कल्पित प्रतिमायें थीं। जब जाति में अकर्मण्यता आ जाती है तभी ऐसी कल्पित प्रतिमाओं से वह अपना मन बहलाती है। हिन्दी-साहित्य में स्त्री-सौन्दर्य का निर्मलतम रूप तुलसीदासजी ने दिखलाया है। हमें उसी सौन्दर्य का गर्व है।

गोपीनाथ शर्मा

राधा-रोदन ।

(भैरवी)

हे मनमोहन प्यारे !
मुझे छोड़ कर यहाँ अकेली अब तुम कहाँ सिधारे ?
फिरती हूँ मैं तुम्हें टेरती वन में सदा मुरारे !
खोज न पाती कहीं हाय ! मैं अब पद-चिह्न तुम्हारे ॥
आओ, आओ, जीवनधन ! तुम, रहो न पल भर न्यारे।
व्याकुल हैं तुम बिना तुम्हारे ग्वाल बाल बेचारे ॥
दौड़ दौड़ कर गायें जातीं विकल तुम्हारे द्वारे।
नहीं नाचते कभी मोर ये अब निज पक्ष उभारे ॥
पशु-पक्षी भी व्रज के सारे हैं उदास मन-मारे।
माधव ! तुमने दिया दुःख क्यों सबको बिना विचारे ?
मैं अबला कब तक सह सकती विरह-व्यथा धृति-धारे ?
बिना तुम्हारे नयन हमारे हैं बन रहे फुहारे ॥
कहो, नाथ ! क्या सदा रहोगे अब तुम मुझे विसारे ?
क्या न लौट कर फिर आवेंगे वे दिन कभी हमारे ?
ओस-अश्रु तुम बहा रहे हो दया-द्रवित हो तारे !
ला दो वह व्रज-चन्द खोज कर, मैं हूँ राह निहारे ॥
आवेंगे फिर नहीं हमारे प्यारे नन्द-दुलारे।
आ जा तू ही मृत्यु ! दयामयि ! मिटे क्लेश ये सारे।
मुझे मृत्यु दो तुम्हीं आज अब दया-धाम त्रिपुरारे !
यही भीख मैं माँग रही हूँ आँचल यहाँ पसारे ॥

गोपालशरणसिंह

राजा-रानी ।

शङ्कर का प्रवेश ।

शङ्कर—प्रभु तुम हो, तुम मेरे राजा हो, क्षमा
करो वृद्ध इस शङ्कर को। रानी, मुझे
तुम भी करना क्षमा। दूत के कार्य को
क्यों भेजा उस जगह मुझे ? मैं वृद्ध हूँ;
सावधानता-सहित बोलने में, प्रभो,
निपुण नहीं मैं। मैं क्या, स्वामी, आपका
असम्मान सह सकता हूँ ? जब शान्ति का
सुन मेरा प्रस्ताव, क्षुद्र जयसेन ने
ठट्टा मारा; भृत्य युधाजित हँस पड़ा,
किया तीव्र उपहास, भौंह टेढ़ी किये
बोले विक्रमदेव घृणा से कटु वचन—
"बालक", "कायर" तुम्हें कहा—सुन कर मुझे
जान पड़ा, सब ओर सभासद हँस रहे—
एक एक को देख इशारे कर रहे—
द्वारपाल हँस रहा अलग ही द्वार पर,—
जो पीछे थे, उनकी वह चुपकी हँसी
जैसे डसने लगी पीठ को सर्प सी;
भूल गया तब शान्तिपूर्ण मृदुवाक्य वे
जो कहने को कहे आपने। क्रोध से
बोला मैं—"तुम लोग कलह को वीरता
समझो, क्षत्रिय वीर नहीं, स्त्री-जाति हो;
इसी खेद से मेरे राजा इस तरह

बन्द किये तरवार म्यान में, देश को
लौटे जाते थे।" जवाब सुनकर कड़ा
जालन्धरपति काँप उठे, अति कोप से
बोले, "हो तैयार सैन्य सब युद्ध को"।
सुमि०—प्यारे भाई, क्षमा करो।
शङ्कर— रानी, तुम्हें
यही उचित है क्या ? हा हा, कश्मीर की
कन्या होकर तुम अपने कश्मीर का
सिर नीचा करना चाहो अपमान से ?
अपने भाई को अपने कर्तव्य से—
वीर-धर्म से—विमुख मत करो। है यही
मेरी विनती !
सुमि०— बस शङ्कर, अब चुप रहो,
कहो न ऐसी बात ! करो भाई क्षमा !
पैरों में है पड़ी बहन—तुम क्रोध की
आग बुझाना चाहो रण में रक्त से।
मैं हूँ आगे खड़ी, मार डालो मुझे !
भैया, क्यों चुप हुए ? सुनो, कुछ भी कभी
मैंने माँगा नहीं; क्षमा-भिक्षा यही
तुमसे माँगू आज। न दोगे क्या ?
शङ्कर— प्रभो !
कुमा०—वृद्ध चुप रहो, जाओ, कह दो सैन्य से—
अभी लौटना होगा अपने देश को।
शङ्कर—कैसा यह अपमान ! हाय, होगी बड़ी
निन्दा ! भग्गा भीरु कहेंगे लोग सब !
सुमि०—शङ्कर, मन में तनिक स्मरण कर तो सही
बाल्यावस्था वही ! स्नेह के पाश से
छोटे बच्चे हम दोनों भाई-बहन
बँधे हुए रहते थे तेरी गोद में।
उससे भी क्या अधिक कीर्त्ति-अपकीर्त्ति है ?
चिरजीवन के लिए हृदय-सम्बन्ध यह
माता, पिता, विधाता की आशीष से
घिरा हुआ सुपवित्र स्नेह का तीर्थ है।
लाकर बाहर से हिंसा की आग को,
शङ्कर, इस कल्याण-भूमि को तू मलिन
अङ्गारों से करना चाहे।
शङ्कर— तो चलो,
मेरे मालिक, राजकुमारी, फिर चलें
उसी स्नेहपरिपूर्ण लड़कपन में सभी।

—०—

चौथा दृश्य।

विक्रमदेव का डेरा।

विक्रमदेव, युधाजित् और जयसेन।

विक्र०—हुआ युद्ध से विमुख शत्रु जो भाग कर
तो क्षत्रिय धर्मज्ञ उसे घेरे नहीं।
युधा०—भगा हुआ अपराधी जो यों सहज में
बच जावे, तो राजदण्ड फिर व्यर्थ है।
विक्र०—बालक है वह, उसे दण्ड भी मिल गया।
यह यथेष्ट होगया, हुआ अपमान यों,
फिर भागा भी।
युधा०— शैल-दुर्ग कश्मीर में
पड़ा रहेगा बाहर ही अपमान सब,
वहाँ वही वह पराक्रमी युवराज है !
कौन जानता, असम्मान युवराज का
हुआ इस तरह यहाँ ?
जय०— अभी चलिए चलें
अपराधी के घर में, उस कश्मीर में।
शङ्कित और कलङ्कित कर कश्मीर को,
दोषी को दे दण्ड, यहाँ से लौटिए।
विक्र०—अच्छा योंही सही; चलो, रण को चलो।
जितनी चिन्ता करो और चिन्ता बढ़े।
कार्य-स्रोत में कूद पड़ा हूँ, बह चला,
देखूँ, जाकर कहाँ किनारा प्राप्त हो !

पहरेदार का प्रवेश।

पहरे०—महाराज से मिलने को आये, खड़े
राज-पुरोहित देवदत्तजी द्वार पर।
विक्र०—देवदत्त ? ले आओ, लेआओ उन्हें।
नहीं, नहीं, ठहरो, ठहरो, सोचूँ ज़रा।
क्यों आया है ब्राह्मण ? मैं जानूँ उसे
भली भाँति। वह आया है इस युद्ध से
लौटाने को मुझे। हाय, ब्राह्मण, तुम्हीं
लोगों ने यह बाँध तोड़ डाला। भला

ऐसा यह उत्कट प्रवाह, बस अन्न के
खेतों को ही सींच, तुम्हारी देखकर
आवश्यकता, पालू प्राणी की तरह
लौट जायगा ? कभी नहीं । बस्ती सभी
चूरमार कर, गाँव उजाड़ेगा बसे ।
बहु उपदेश, सलाह लिये देखा करो
तुम सब । मैं जा रहा कार्य के वेग से
अविश्राम गति का सुख पाने के लिए—
महानदी ज्यों चढ़ी हुई आनन्द से
पत्थर की भी रुकावटों को दूर कर
बड़े वेग से बहती रहती है सदा ।
अन्धा होता है प्रचण्ड आनन्द । बस
दम-भर की ही होती उसकी आयु है ।
इसी बीच में वह उखाड़ लाता प्रबल
सुख अनन्त का । मतवाला गजराज ज्यों
लाल कमल को ले उखाड़ । बस, ठीक है ।
हुआ करेगा फिर विचार । चिरकाल तक
सिंहासन पर बैठ करूँगा मन्त्रणा ।
ब्राह्मण से इस समय मिलूँगा मैं नहीं ।

जय०—जो आज्ञा !

युधा०—(जयसेन के कान में) ब्राह्मण को जानों शत्रु ही !
कैद कर रखो ।

जय०— खूब जानता हूँ उसे !

पाँचवाँ अङ्क ।

पहला दृश्य ।

कश्मीर—राजमहल ।

रेवती और चन्द्रसेन ।

रेव०—क्या रण की तैयारी ? क्योंजी—किस लिए ?
शत्रु कहाँ है ? मित्र आ रहा ! तुम उसे
सादर लाओ यहाँ बुलाकर ! वह करे
गद्दी पर अधिकार ! नाथ, कश्मीर का
राज्य बचाने में तत्पर क्यों आप हैं ?
यह क्या निज-सम्पत्ति तुम्हारी है ? प्रथम
करने दो अधिकार उसे कश्मीर पर
मित्र-भाव से फिर ले लेना फेर कर ।

चन्द्र०—चुप, चुप, ऐसी बात इस तरह मत कहो !
पालन निज कर्त्तव्य करूँगा । बाद को
क्या होता है, सो फिर देखा जायगा !

रेव० —तुम क्या करना चाहो, सो मालूम है
मुझे । नाम को युद्ध करोगे, और फिर
हार मानकर, निन्दा से बचकर स्वयं,
देख सुअवसर, कौशल से उद्देश निज
सिद्ध करोगे !

चन्द्र०— छी, छी, रानी, क्या कहो !
सुनूँ तुम्हारे मुँह से ऐसी बात जब
तब अपने पर आप घृणा होती मुझे !
जान पड़े, मैं शायद ऐसा ही अधम,
धूर्त्त, चोर हूँ ! तुम मुझको कर्त्तव्य की
ठीक राह से मत लौटाओ कुपथ को ।

रेव०—तो अपना कर्त्तव्य मुझे भी सर्वथा
करना होगा । अपने बच्चे का भला
आप दबाकर अपने दोनों हाथ से
मारूँगी मैं उसे । न दोगे राज्य जो
उसको, तो फिर तुमने इस संसार में
एक और कंगाल बढ़ाया किस लिए ?
वन में रहना भला, मौत भी है भली,
किन्तु न निर्धन पराधीन जीवन भला ।
यह विडम्बना बड़ी कड़ी है आ पड़ी !
देखो, पैदा लड़का मेरे गर्भ से
राजा का हो भाई, शासन और का
कभी सहेगा नहीं । पराये हाथ का
पाकर भोजन-वस्त्र सुखी होगा नहीं ।
मैंने पैदा किया, बनाऊँगी उसे
राजा; अथवा उसका घोटूँगी गला !
नहीं, कुमाता कह कर मन में वह मुझे
गाली देगा !

कञ्चुकी का प्रवेश ।

कञ्चु०— महाराज, युवराजजी

अभी नगर में आये हैं। वह शीघ्र ही
आते होंगे यहाँ दर्शनों के लिए।
(प्रस्थान।)
रे०—देखो, मैं इस जगह रहूँगी आड़ में।
कहना उससे ऐसे तुम—वह बस अभी
अपराधी की तरह शस्त्र सब खोल कर
जालन्धर के राजा को, होकर प्रणत,
आत्मसमर्पण करे।
चन्द्र०— चली जाना नहीं।
रेव०—छिपा न सकती भाव हृदय का; इसलिए
ढोंग स्नेह का मुझसे हो सकता नहीं!
अच्छा होगा यही, सुनूँगी आड़ से
तुम लोगों की बातचीत।
चन्द्र०— बस ठीक है।
(रेवती का प्रस्थान)

कुमार और सुमित्रा का प्रवेश।

कुमा०—चरणों में करता प्रणाम यह दास है।
सुमि०—चाचाजी, मेरा प्रणाम भी लीजिए।
चन्द्र०—सुखी रहो सर्वदा।
कुमा०— बहुत पहले यहाँ
समाचार भेजा था मैंने। आ रही
पीछे भारी शत्रु-सैन्य चतुरङ्गिणी
करने को आक्रमण। आज कश्मीर पर
बादल छाये हैं विपत्ति के। युद्ध की
तैयारी है कहाँ? कहाँ सेना सजी?
चन्द्र०—किसे कहो तुम शत्रु? शत्रु विक्रम नहीं।
बोल सुमित्रा बेटी, विक्रम क्या नहीं
है जामाता पूजनीय कश्मीर का?
इतने दिन पर वह जो आया है यहाँ
तो क्या मैं सत्कार करूँ तरवार से?
सुमि०—चाचाजी, तुम मुझसे कुछ पूछो नहीं।
हाय, अभागिन मैं क्यों आई छोड़ कर
अन्तःपुर को? कहाँ छिपा था अब तलक
इतना ऐसा यह अनिष्ट? मैं क्या कहूँ?
अबला नारी के पैरों की चाप से
जाग पड़ा यह सहसा विषधर सर्प है—
सौ फन का फुफकार रहा। मुझसे न तुम
कुछ भी पूछो। बुद्धिहीन मैं मूढ़ हूँ!
भैया, तुम जानो, क्या करना चाहिए।
तुम ज्ञानी, तुम वीर; चरण-तल से लगी
छाया हूँ मैं मौन। विकट संसार की
गति तुम जानो; मैं जानूँ केवल तुम्हें!
कुमा०—महाराज, हैं शत्रु हमारे तो नहीं
जालन्धरपति; बहुत सगे आत्मीय हैं!
किन्तु आक्रमण करने को कश्मीर पर
वह आते हैं शत्रु-भाव से। सह लिया
अपना तो अपमान, रहा चुप मैं वहाँ।
किन्तु राज्य पर जो विपत्ति है आ रही
देखूँगा चुपचाप उसे मैं किस तरह?
चन्द्र०—चिन्ता उसके लिए करो मत पुत्र तुम।
सेना का बल है यथेष्ट कश्मीर में।
शङ्का की कुछ बात नहीं है।
कुमा०— सैन्य सब
सौंप दीजिए मुझको।
चन्द्र०— देखा जायगा
पीछे। प्रस्तुत जो पहले से हम रहें,
तो फिर निश्चय व्यर्थ युद्ध छिड़ जायगा।
आवश्यकता जान पड़ेगी जिस घड़ी
सब सेना तब, पुत्र, सौंप दूँगा तुम्हें।

रेवती का प्रवेश।

रेव०—कौन चाहता सेना लेना हाथ में?
सुमि० और कुमा०—चाचीजी को है प्रणाम।
रेव०— तुम युद्ध से
जान बचाकर भागे, अब घर में यहाँ
सेनापति की जगह चाहते हो? अहो,
तुम हो क्षत्रिय?—राजपुत्र? तुम चाहते
सिंहासन यह वीरभोग्य कश्मीर का?
छी-छी, हो निर्लज्ज! छिपा कर मुँह रहो
वन में जाकर। इसी योग्य तुम हो। अगर
सिंहासन पर बैठोगे कश्मीर के
तो देखेगा विश्व सुवर्ण-किरीट की
कलँगी पर कुत्सित कलङ्क अङ्कित हुआ!

कुमा०—जननी क्या अपराध बन पड़ा दास से ?
ये कठोर हैं बचन तुम्हारे बाण से !
जननी, क्या यह डाँटडपट है स्नेह की ?
माता, मुझ पर मेरे ही दुर्भाग्य से
बहुत दिनों से असन्तुष्ट सी आप हैं ।
दृष्टि तुम्हारी क्रोधभरी बिंधती सदा
मेरे मर्मस्थल में । जाऊँ पास जो
तो जाती हो और ओर बोले बिना ।
कहो अकारण तीव्र वचन । जननी, कहो,
क्या करने से मुझको अपना पुत्र ही
समझोगी तुम ?
रेव०— कहूँ ?
चन्द्र०— नहीं, बस चुप रहो
रानी !
कुमा०—जननी समय अधिक अब है नहीं ।
शत्रु सैन्य को लिये, आक्रमण के लिए,
पहुँच गया है सिर पर । अपने राज्य की
सेना माँगूँ इस कारण ।
रेव०— यह कुछ नहीं ।
अपराधी की तरह तुम्हें बन्दी बना
भेजूँगी मैं जालन्धरपति के निकट ।
क्षमा करें तुमको तो अच्छी बात है;
नहीं, दण्ड जो देंगे तुमको वह, वही
करना होगा ग्रहण तुम्हें सिर को झुका ।
सुमि०—बस चाची, चुप रहो, अहो धिक्कार है
इन बातों को ! नारी होकर राज्य के
कामों में क्यों हाथ डालतीं ? इस तरह
घोर अमङ्गल के अति दारुण पाश में
आप फँसेगी और फँसाओगी गला
सब का । छोड़ो कर्मचक्र यह; जो सदा
घूमा करता; दयारहित—ममता-रहित,
इस पथ से मुँह मोड़ रम्य रमणी बनो ।
तुम बस केवल स्नेह करो, सेवा करो,
जननी होकर रहो महल में । युद्ध का
करना कठिन प्रबन्ध, राज्य के कार्य की
देख भाल का काम हमारा है नहीं ।
कुमा०—आज्ञा क्या है महाराज ?
चन्द्र०— बेटा सुनो,
तुम अभिज्ञ हो नहीं; इसी से सोचते
हो—होते हैं काम सहज ही में सभी ।
स्मरण रखो, अति कठिन राज्य के कार्य हैं ।
लाखों ही लोगों के जीवन-मरण का
प्रश्न, किस तरह निश्चित हो सकता अभी ?
कुमा०—महाराज, यह देर तुम्हारी है निठुर !
मुझे छोड़कर अनायास आपत्ति के
मुख में, करना यों विचार स्थिरभाव से
उचित नहीं ! अच्छा, प्रणाम । अन्यत्र अब
जाता हूँ ।
(सुमित्रा और कुमार प्रस्थान ।)
चन्द्र०—क्या कहूँ, तुम्हारी ये निठुर
बातें सुनकर हृदय दया से भर गया ।
उतरा चहरा देख कुअँर का दुख हुआ ।
जी चाहे, स-स्नेह बुलाकर मैं उसे
गले लगालूँ !
रेवती— तुम तो बच्चे हो निरे !
बिना रुखाई और कड़ाई के किये
दूर न होगी बाधा । मर्दों की तरह
अपना करते काम अगर तुम चित्त से
तो मैं घर में बैठ सुअवसर देखकर
करती ममता-दया । न अब वह हो सके ।
(प्रस्थान ।)
चन्द्र०—अति की इच्छा चले बड़े ही वेग से;
देख न पावे राह । स्वयं निष्फल करे
अपने को ! वह वायु-वेग से दौड़ती—
बिगड़ा घोड़ा पत्थर की दीवार से
टकरा कर जिस तरह चूर्ण रथ को करे !

दूसरा दृश्य ।

कश्मीर का बाज़ार ।
लोगों की भीड़ ।

१ आद०—क्यों काका, तुमने जो गेहूँ भर रक्खे थे उन्हें बेचने के लिए आज इतनी जल्दी क्यों है ?

२ आ०—न बेचूँ तो क्या करूँ ? जालन्धर की सेना आना चाहती है। सब लूट लेगी। हमारे यहाँ के इन महाजनों की तोंद फाड़ फाड़ कर इनकी सब सम्पत्ति लूट लेगी। गेहूँ और रोटी, दोनों के लिए जगह नहीं रहेगी।

महाजन—अच्छा भैया, हँस लो। मगर जल्दी ही तुमको ये खीसें बन्द करनी पड़ेंगी। लातें सबको सहनी पड़ेंगी।

१ आ०—इसी सुख से तो हम हँस रहे हैं! अब की हम तुम एक साथ ही मरेंगे। तुम गेहूँ ख़रीद कर भर रखते थे और हम पेट की ज्वाला से तड़पते थे। अब यह न होगा। अब की तुम भी तड़पोगे। वह तुम्हारा सूखा हुआ मुख देख कर मैं मरूँ।

२ आ०—हम लोगों को काहे की चिन्ता है भैया! हमारे है क्या ? जान यों भी जाती, यों भी जायगी। अच्छी तरह हँस बोल लो भाइयो!

१ आ०—क्यों जी जर्नादन, तुम इतनी थैलियाँ क्यों लाये हो ? क्या कुछ ख़रीदोगे ?

जना०—एक-दम साल भर के लिए गेहूँ ख़रीद रक्खूँगा।

२ आ०—ख़रीद तो लोगे, मगर रक्खोगे कहाँ ?

जना०—आज रात को ही अपने मामा के घर भाग जाऊँगा।

१ आ०—मामा के घर तक पहुँचोगे तब न! रास्ते में अनेक मामा बैठे हैं, आदर के साथ तुमको बुला लेंगे।

कोलाहल करते करते कुछ लोगों का प्रवेश।

५ आ०—अरे तुम लोग कौन हो ? क्या लड़ाई करना चाहते हो ? आओ!

१ आ०—मैं लड़ने को राज़ी हूँ; किसके साथ लड़ना होगा—बताओ।

५ आ०—बुड्ढा राजा जालन्धर के राजा से मिलकर हमारे युवराज को पकड़ा देना चाहता है।

२ आ०—हाँ! हम बुड्ढे राजा की दाढ़ी में पलीता लगा देंगे।

अनेक लोग—अपने युवराज की हम रक्षा करेंगे।

५ आ०—बुड्ढे राजा ने गुप्तरूप से युवराज को क़ैद करने की चेष्टा की थी, इसी से हमने युवराज को छिपा रक्खा है।

१ आ०—चलो भाई, बुड्ढे राजा के हाथ-पैर तोड़ दें।

२ आ०—चलो भाई, उसका सिर धड़ से अलग कर दें।

५ आ०—यह सब पीछे से होगा। अभी लड़ना होगा।

१ आ०—हम लड़ेंगे। इसी बाज़ार से ही लड़ाई शुरू न कर दो। पहले इन महाजनों के गेहुँओं के बोरे लूट लो। उसके बाद घी है, कपड़े हैं, चमड़ा है।

छठे आदमी का प्रवेश।

६ आ०—सुना है युवराज के छिपने की ख़बर पाकर जालन्धर के राजा ने यह ढिँढोरा पिटवाया है कि उनको जो पकड़ा देगा उसे इनाम मिलेगा।

५ आ०—तुझको इन ख़बरों से क्या काम ?

२ आ०—तू इनाम लेगा क्या ?

१ आ०—आओ भाई, सब जने मिल कर इसको इनाम दें। चुपके बैठा नहीं रहा जाता।

६ आ०—मुझे मारना नहीं भाई, दोहाई है तुम सबकी! मैं तुम लोगों को सावधान करने आया हूँ।

२ आ०—अबे तू आप सावधान हो।

५ आ०—यह ख़बर अगर तू फैलावेगा तो हम तेरी जीभ पकड़ कर खींच लेंगे।

दूर पर कोलाहल सुन पड़ता है।

अनेक लोग—आगये! आगये!

सब लोग—अरे आगये! जालन्धर के सिपाही आ गये!

१ आ०—तब फिर क्या है! अब लूट शुरू करो। वह जनार्दन गेहूँ के बोरे भर भर कर बैलों पर लाद रहा है। बस चलो। इस जनार्दन को छोड़ कर माल समेत सब बैल हाँक ले चलो।

२ आ०—तुम लोग जाओ भाई! मैं ज़रा तमाशा देख आऊँ। क़तार बाँध कर तरवार हाथ में लिये जब सेना आती है तब उसे देखने में मुझे बड़ा मज़ा आता है।

गान ।

(तर्ज़—थियेटर ।)

यह द्वार खुला है यम का । वह खाँडा सिर पर चमका ॥
जग जीवन का है मेला ।
जीना, मरना, अवहेला ॥
बस खेल यही है श्रम का ॥ यह० ॥
हो एक साथ ही मरना ।
सुख और हमें क्या करना ?
कर्त्तव्य यही उत्तम का ॥ यह० ॥
वह बजा युद्ध का डङ्का ।
अब छोड़ चलो सब शङ्का ।
कर स्मरण वीर विक्रम का ॥ यह० ॥

तीसरा दृश्य ।

त्रिचूड़--महल ।

अमरुराज और कुमारसेन ।

अम०—भागो, भागो, ले डूबोगे क्या मुझे ?
कहता हूँ मत आओ मेरे राज्य में !
आश्रय देकर तुझको, विक्रमदेव का
अपराधी होना न चाहता मैं । यहाँ
जगह तुम्हारे लिए नहीं ।

कुमा०— मैं माँगता
आश्रय तुमसे नहीं । अनिश्चित भाग्य के
सागर में मैं इस जीवन की नाव को
छोड़ूँगा । अब तोड़ूँगा सम्बन्ध सब ।
उससे पहले एक बार मैं देख लूँ
यहाँ इला को । इतनी ही है प्रार्थना ।

अम०—देखोगे किसलिए इला को ? देखकर
क्या होगा ? मतलबी कुअँर । अपमान का
बोझ लाद कर सिर पर मुँह में मौत के
खड़े हुए हो; घर छूटा, आशा मिटी,
अब क्यों आये यहाँ इला को प्रेम की
याद दिलाने !

कुमा०— क्यों आया हूँ, हाय, सो
समझाऊँ किस तरह ?

अम०— आप आपत्ति के
प्रबल स्रोत में बहे जा रहे, तीर की
फूल रही सुकुमार लता को किस लिए
पकड़ो ? जाओ, बह जाओ, छोड़ो उसे ।

कुमा०—मेरी यह आपत्ति अकेले की नहीं,
दोनों की है । एक नहीं होगा दुखी,
दोनों होंगे । प्रेम न चाहे सम्पदा ।
महाराज, इसलिए, दो घड़ी के लिए
मिला दीजिए मुझे इला से !

अम०— हो चुका
मिलना और मिलाना—बस अब जाइए ।
तुम्हें भूलने का अवसर उसको मिला !
जीवन भर के लिए बनाना चाहते
दुखिया उसको ?

कुमा०— भूल न सकती वह मुझे !
अगर भूलती, तो मैं उसको भूलने
देता । मैं तो उससे यह था कह गया—
आकर तुमसे शीघ्र मिलूँगा, अब तलक
राह देखती होगी मेरी । यह मुझे
पूरा है विश्वास ! उसे विश्वास है
मुझ पर । वह है सरला भोली बालिका ।
उसका वह विश्वास अटल मैं किस तरह
नष्ट करूँ ?

अम०— विश्वास नष्ट होना भला ।
और नहीं तो, अपने जीवन को इला
फिरा न सकती और ओर । चिरकाल के
दुःख-ताप से, कुछ ही दिन की यन्त्रणा
अच्छी है ।

कुमा०— सुख-दुःख इला का आपने
सौंप दिया है मुझे । फिरा सकते नहीं
आप उसे । सच, आप उसे जानें नहीं !
वह क्या है, सो नहीं समझ सकते कभी !
उसका सुख-दुख, महाराज ! है और ही;
जिसको सुख-दुख आप समझते, वह नहीं ।
एक बार, बस एक बार, उसको मुझे
दिखा दीजिए !

अम०— मैंने उससे कह दिया—

मर्यादा में मुझको छोटा जान कर
तुम मुझसे सम्बन्ध न करना चाहते !
किया बहाना, जाना है रण के लिए
दूर देश को । बैठ रहे कश्मीर में ।
कुमा०—कैसा छल ! धिक्कार ! सरल वह बालिका
क्या बेटी है ऐसे कपटी बाप की ?
ऐसा निष्ठुर झूठ कहा जब आपने
सोते थे भगवान उस समय क्या ? गिरा
वज्र तुम्हारे सिर के ऊपर क्यों नहीं ?
अब भी क्या वह जीती होगी बालिका ?
जाने दो, जाने दो मुझको—क्या नहीं
जाने दोगे ? तो लेकर तरवार बस
मारो मेरे, मरूँ, मर गया यों कहो ।
झूठ न बोलो उससे, छल यों मत करो ।

शङ्कर का प्रवेश ।

शङ्कर—आये हैं जासूस शत्रुओं के यहाँ;
पता लगाते फिरें आपका । आपकी
ख़बर मिली है उनको । बस, चल दीजिए ।
कुमा०—जाऊँगा मैं कहाँ ? और छिप कर मुझे
करना क्या है ? यह जीवन भारू हुआ
अब तो !
शङ्कर— वन में खड़ी सुमित्रा देखती
राह तुम्हारी !
कुमा०— चलो । इला ! प्यारी इला !
कहाँ गई ! मैं आकर तेरे द्वार पर
लौट गया ! जब भाग्य फूट जाते प्रिये !
जग में चारों ओर तभी आनन्द की
राहें होतीं बन्द ! अविश्वासी नहीं,
यद्यपि हूँ दुर्भाग्य । चलो, आओ चलें ।

चौथा दृश्य ।

त्रिचूड़-अन्तःपुर ।

इला और सखियाँ ।

इला—झूठ, झूठ है ! तुम सब सखियो, चुप रहो ।
उसके मन का हाल नहीं मुझसे छिपा ।
सखियो ! सब श्रृङ्गार करो अच्छी तरह;
बाँधो चोटी फूलों से, लाओ वही
नीली सारी ! थारी भरकर तोड़ लो
महक रहे मालती-फूल । इस झील के
तट पर, उस तरु तले कुअँर को बैठना
रुचता था । उस जगह शिला पर डाल दो
आसन । बैठूँ इसी तरह मैं नित्यही ।
नित्य करूँ श्रृङ्गार, न जाने किस समय
सहसा मेरा प्यारा आवे लौटकर ?
मधुर हमारा मिलन देखने के लिए
रात्रि पूर्णिमा की दो दो फिर फिर गईं
हो निराश । पर, अब की निश्चय है मुझे
रात्रि पूर्णिमा की होगी निष्फल नहीं ।
आवेगा वह यहाँ । न आवे भी अगर
तो तुम लोगों की उससे क्या हानि है !
भूल जायगा अगर मुझे वह, तो उसे
समझ रुकूँगी मैं ही अपने हृदय में ।
भूलेगा क्यों नहीं, भला क्या बात है
ऐसी मुझमें ! मुझे भूलकर वह सुखी
हो जो, तो है वही भला; वह हो सुखी !
सखियो, तुम बस वृथा बको मत ! चुप रहो !

गान ।

(कव्वाली)

रहती है मुझको निसदिन, हृदयेश ! चाह तेरी ।
जी चाहे जो कभी, तो कर लेना याद मेरी ॥
बैठी रहूँगी तेरे कारन इसी जगह पर ।
छुट्टी मिले कभी तो करना यहाँ की फेरी ॥
मैं रात भर विरह से व्याकुल जगा करूँगी,
तड़के तनिक दिखाना मुखचन्द की उजेरी ॥
फूले वसन्त-वन में आनन्द के भवन में,
सुख से रहो, न होगी इसमें उदास चेरी ॥
रह कर प्रसन्न, बहना अपने हृदय के सुख की
लहरों में; सच कहूँ मैं, इच्छा यही है मेरी ॥
मैं भी बहूँगी, हूँगी तुझसे न नेक न्यारी;
जो साथ आ पड़ूँगी, पाऊँगी राह तेरी ॥
जो दूर जा पड़ूँ मैं, तो हानि क्या तुम्हारी,
मुझको ही भूल जाना, करना न याद मेरी ॥

पाँचवाँ दृश्य ।

कश्मीर-शिविर ।

विक्रमदेव, जयसेन और युधाजित् ।

जय०—महाराज, वह कहाँ भाग कर जायगा !
ला दूँगा मैं उसे पकड़ कर आपके
आगे । बिल में आग लगाने से तुरत
साँप आपही बाहर निकले, ताप से
घबराकर । कश्मीर देश भर में अभी
आग लगा दूँगा । बस, तब वह आपही
निकलेगा, फिर पकड़ मिलेगा सहज में ।

विक्र०—इतनी दूर, यहाँ तक पीछा भी किया—
कितने वन, नद, नदी, पहाड़ों के शिखर
नाँघे—फिर भी हाथ न आया ! भग गया !
वही चाहिए, वही चाहिए बस मुझे !
उसको पाये विना चैन मुझको नहीं;
खाना पीना सोना सभी हराम है ।
शीघ्र मिलेगा मुझे नहीं वह जो यहाँ
तो मैं करके खण्ड खण्ड कश्मीर को
देखूँगा वह छिपा कहाँ पर है !

युधा०— प्रभो,
पुरस्कार-घोषणा पकड़ने के लिए
कर दी है ।

विक्र०— जिस तरह बने, पकड़ो उसे ।
और काम में हाथ लगा सकता तभी
जब वह मुझको मिले । राज्य मेरा पड़ा
है अनाथ सा । शून्य राज्य का कोष है ।
देश अराजक; फिर अकाल भी पड़ गया;
लौट न सकता तब भी । भागे शत्रु ने
मुझे बाँध रक्खा उलटे दृढ़ पाश में !
जान पड़े यह सदा—मिला, अब की मिला;
वह आया; वह देख पड़ा, ज्यों हाँफता
डरा हुआ मृग मृगया का । लाओ उसे
जल्दी, जीता, मरा, मिले जैसा । बिना
उसके मेरा सब कुछ बिगड़ा जा रहा ।

पहरेदार का प्रवेश ।

पहरे०—राजा-रानी आये हैं कश्मीर के
मिलने को ।

विक्र०—(जयसेन और युधाजित् से)
तुम हट जाओ !
(पहरेदार से) लाओ उन्हें !

(अन्य सबका प्रस्थान ।)

आये मेरे सास-ससुर, अब क्या करूँ ?
कुछ कुमार की बात कहेंगी सास जो
तो मैं उनसे भला कहूँगा क्या ? अगर
माँगे मुझसे क्षमा ? कहूँगा क्या "नहीं" ?
देख न सकता रोना मैं स्त्री-जाति का !

चन्द्रसेन और रेवती का प्रवेश ।

चरणों में मेरा प्रणाम स्वीकार हो ।

चन्द्र०—जियो !

रेव०— विजय को प्राप्त करो, सब कामना
पूरी हों ।

चन्द्र०— अपराध तुम्हारा कुछ किया
है कुमार ने ?

विक्र०— हाँ कुमार ने जान कर
मेरा अति अपमान किया है ।

चन्द्र०— दण्ड क्या
ठीक किया है तुमने, देने के लिए ?

विक्र०—बन्दी बन अपमान करें स्वीकार जो
तो कर दूँगा क्षमा ।

रेव०— यही बस ? और कुछ
नहीं ? अन्त को यदि करनी ही थी क्षमा
तो फिर इतना क्लेश उठा कर, सैन्य ले
आये इतनी दूर किस लिए ?

विक्र०— इस तरह
व्यङ्ग्य बोलकर मुझे न लज्जित कीजिए ।
राजा का है मुख्य काम निज मान की
रक्षा करना । जो मस्तक धारण करे
रत्न-मुकुट, वह असम्मान के बोझ को

लाद न सकता । वृथा बहाने से यहाँ
मैं आया हूँ नहीं ।
चन्द्र०— क्षमा उसको करो ।
बेटा, वह नासमझ अभी—बालक अभी ।
देना ही हो दण्ड उसे तो राज्य का
सिंहासन लो छीन—निकालो देश से ।
यह अच्छा, पर प्राण न लेना !
विक्र०— मैं उसे
मार डालना नहीं चाहता ।
रेव०— किस लिए
फिर लाये थे तुम इतने हथियार ये ?
क्यों इतने हैरान हुए ?
विक्र०— कुछ भी मुझे
समझ न पड़ता, क्या कहती हैं आप यह ।
चन्द्र०—बेटा, कुछ भी नहीं; कहें कुछ भी नहीं ।
मैं कहता हूँ, सुनो खुलासा हाल सब ।
सेना माँगी थी कुमार ने युद्ध को
मुझसे । मैंने कहा—"हमारे हैं सगे
जालन्धरपति स्नेहपात्र ! उनसे तुम्हें
लड़ना भिड़ना उचित नहीं !" सुनकर उसे
क्षोभ हुआ । बहँका कर उसने सब प्रजा
खड़ा किया विद्रोह ! इसी से हैं ख़फ़ा
रानी उस पर । करें इसी से प्रार्थना
तुमसे; तुम दो दण्ड उसे विद्रोह का !
देना भारी दण्ड नहीं । वह नासमझ
बालक ही है ।
विक्र०— उसे पकड़ लूँ मैं प्रथम;
यथायोग्य होगा विचार फिर सोच कर ।
रेव०—उसे छिपा कर रक्खा है घर में कहीं
दुष्ट प्रजा ने, घर घर में तुम घूम कर
आग लगाओ, खेत उजाड़ो, लूट लो ।
ऐसा कर दो, जिसमें घर घर भूख से
हाय हाय मच जाय । निकालेगी उसे
तभी प्रजा ।
चन्द्र०— चुप चुप, रानी, यह क्या कहो ।
विक्रम, बेटा, चलो महल को क्यों यहाँ
पड़े हुए हो ?
विक्र०— महाराज आगे चलें;
आता हूँ मैं पीछे से
(चन्द्रसेन और रेवती का प्रस्थान)
डाइन अरी !
ख़ूनी औरत ! आग नरक की ! इस तरह
मित्र बना कर काम निकाला चाहती ।
इतने दिन में इसके चेहरे पर मुझे
देख पड़ा प्रतिबिम्ब कठिन निज हृदय का !
ऐसी ही क्या तीक्ष्ण क्रूर टेढ़ी खिंची
रेखा मेरे मस्तक में ज्वालामयी ?
फरक रहे क्या ओठ तीव्र हिंसा-भरे
योंही मेरे ? मेरी वाणी बाण सी
ज़हरीली क्या योंही टेढ़ी है ? नहीं,
कभी नहीं । यह मेरी हिंसा स्पष्ट है ।
सर्वनाश यह करना चाहे और का;
किन्तु चोर की तरह कभी छिपकर नहीं !
प्रबल प्रेम सी यह प्रचण्ड ज्वाला बड़ी
ऊँची है आकाशतलक । यह चाहती
सबको ग्रसना । इसे रोक सकता नहीं
कोई भी ! मैं सगा नहीं, मैं शत्रु हूँ
तुम लोगों का ! हे विक्रम, संहार का
खेल करो यह बन्द ! बुझा दो यह चिता !
जिससे दुष्ट पिशाच पिशाची ये सभी
बस अतृप्त ही रहें, दीप्त हिंसा-तृषा
लिये हृदय में, रुद्ध रोष से जल रहे ।
बतला दूँगा तुम्हें एक दिन पापियो,
मैं कोई भी कभी तुम्हारा हूँ नहीं ।
गुप्त लोभ यह नहीं सफल होगा कभी ।
कर दूँगा तुमको निराश । यह रक्त की—
प्यास बुझेगी नहीं । देखना है मुझे ।
विषधर नर किस तरह आपही जल मरे
अपने विष से ! स्त्री का हिंसा-भाव से
भरा हुआ मुख कैसा लगता है बुरा !
कैसा कुत्सित और भयानक निठुर था !

चर का प्रवेश ।

चर—ख़बर मिली है अब त्रिचूड़ की ओर को
कुअँर गये हैं ।

विक्र०— समाचार यह गुप्त ही
रखना ! जल्दी में शिकार को उस जगह
जाऊँगा !

चर— है शिरोधार्य आज्ञा मुझे ।

———

छठा दृश्य ।

जङ्गल ।

सूखे पत्तों की सेज पर कुमार लेटे हैं और सुमित्रा बैठी है ।

कुमा०—कितनी रात है ?

सुमि०—रात अब नहीं है भाई । आकाश में लाली छागई है । केवल घने वृक्षों ने यहाँ अन्धकार बना रक्खा है ।

कुमा०—जान पड़ता है, तुम सारी रात बैठी जागती रही हो ! बहन, क्या नींद नहीं पड़ती ?

सुमि०—अभी एक बुरा सपना देख कर जाग पड़ी हूँ । रात भर यही जान पड़ता है कि इन सूखे पत्तों पर जैसे कोई चल रहा है । जान पड़ता है, पेड़ों की आड़ में कुछ लोग फुसफुस करके बातें कर रहे हैं—निर्जन में कोई सलाह कर रहे हैं । थकावट के मारे अगर कभी आँखें बन्द हो जाती हैं, तो वैसे ही दारुण दुःस्वप्न देख कर रोकर जाग उठती हूँ । जब देखती हूँ, तुम सुख से सो रहे हो तब जैसे जान में जान आती है !

कुमा०—बुरी चिन्ता से ही बुरे सपने देख पड़ते हैं । मेरे लिए अधिक सोच न करो बहन ! मैं सुख से हूँ । जीवन की मँझधार में डूब कर किसने जीवन का सुख जाना है ? मरण के किनारे पर खड़ा हूँ । मानो यह प्राणपण से जीवन का एकान्त उपभोग है । इस संसार में जितना सुख है, जितनी शोभा है, जितना प्रेम है, सब जैसे खूब कस कर मुझसे लिपट रहा है ! जीवन के हर बूँद में जितनी मिठास है उस सबका स्वाद मैं पा रहा हूँ ! घना वन, ऊँचा शिखर, खुला हुआ आकाश, उमङ्ग से लहरा रही नदी—यह सब शोभा बड़ी ही विचित्र है । बे माँगा प्यार वन की पुष्प-वर्षा के समान बराबर मेरे ऊपर बरसा करता है । चारों ओर भक्त प्रजा है । साक्षात् प्रीति की मूर्ति तुम सिरहाने बैठी हो । प्राण-पक्षी ने शायद उड़ जाने से पहले अपने रङ्ग-बिरङ्गे पर फैलाये हैं । वह सुनो—लकड़िहारा गा रहा है । राज्य के समाचार इससे सुनने में आवेंगे ।

लकड़िहारे का प्रवेश और गाना ।

गान ।

तुम्हें पेड़ के तले, मित्र, मैं राजा आज बनाऊँगा ।
बीने बन-फूलों की माला सुख से, प्रिय, पहनाऊँगा ॥
सिंहासन की जगह बिछाकर हृदय तुम्हें बिठलाऊँगा ।
और वहाँ आनन्द-आँसुओं से अभिषेक कराऊँगा ॥

कुमा०—(आगे बढ़ कर) मित्र, आज क्या ख़बर है ?

लक०—मालिक, अच्छी ख़बर नहीं है ! कल रात को जयसेन ने नन्दिगाँव को जला दिया है । आज पाण्डुपुर की तरफ़ आ रहा है ।

कुमा०—हाय, मेरी भक्त प्रजा, तेरी मैं कैसे रक्षा करूँ । भगवन्, आप इस निरपराध दीन पर इतने निर्दय क्यों हैं ?

लकड़ि०—(सुमित्रा से) मैया, लकड़ियों का गट्ठा लाया हूँ, यह रक्खा है ।

सुमि०—जीते रहो ।

(लकड़िहारे का प्रस्थान ।)

नट का प्रवेश ।

कुमा०—क्या ख़बर है ?

नट—सावधान रहिए युवराजजी ! युधाजित् ने ढिँढोरा पिटवाया है कि आपको जीता या मरा जो पकड़ा देगा उसको इनाम मिलेगा । मालिक, किसी पर विश्वास न करना ।

कुमा०—विश्वास करके ही मरना अच्छा, अविश्वास किस पर करूँ ? तुम सब मेरे भक्त मित्र सरल स्वभाव के आदमी हो ।

नट—मैया, महारानी, थोड़ा सा ताज़ा शहद अभी उतार कर लाया हूँ; दया करके लीजिए।

सुमि०—भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें।

(नट का प्रस्थान)

शिकारी का प्रवेश।

शिकारी—जय हो मालिक। बकरे के शिकार के लिए दूर पहाड़ी पर जाना होगा। वह जगह बड़ी बीहड़ है। आपके चरणों में प्रणाम करके जाता हूँ। जयसेन ने मेरा घर जला दिया है।

कुमा०—उस पिशाच को धिक्कार है!

शिका०—हम शिकारी हैं। जब तक वन है तब तक हमारे घर को कोई मिटा नहीं सकता। महारानी, कुछ भोजन का सामान लाया हूँ। ग़रीब की यह तुच्छ भेंट लीजिए। हे भगवान्, मैं लौट कर अपने मालिक को राजगद्दी पर बैठे देखूँ!

कुमा०—(हाथ बढ़ा कर) आओ मित्र, तुमको गले लगा लूँ।

(शिकारी का प्रस्थान।)

कुमा०—वह देखो वृक्ष के पत्तों को फोड़ कर सूर्य के प्रकाश की रेखायें भीतर आने लगीं। चलूँ, झरने के पास चलकर स्नान-सन्ध्या कर डालूँ। चट्टान पर बैठे बैठे घण्टों अपनी परछाहीं को ताका करता हूँ। मुझे मैं आप छाया जान पड़ता हूँ। इस झरने की नदी त्रिचूड़ के प्रमोदवन के भीतर से बही है। जी चाहता है कि मेरी छाया धारा में बह कर वहीं पहुँच जाय जहाँ शाम को पेड़ के नीचे इला बैठी रहती है। और उसकी मलिन छाया को साथ लेकर सदा के लिए सागर की ओर बह जाय! स्वप्न-कल्पना व्यर्थ है। चलो बहन, नित्यकार्य कर डालें। वह सुनो, वन में चारों ओर पक्षी चहचहा उठे।

[असमाप्त

१—अशान्ति ।

अहे विश्व ! ऐ विश्व-व्यथित-मन !
किधर बह रहा है यह जीवन—
यह लघु-पोत, पात, तृण, रज-कण,
अस्थिर—भीरु—वितान—
किधर ? किस ओर ? अछोर, अजान,
डोलता है यह दुर्बल-यान !

मूक-बुद्बुदों-से लहरों में
मेरे अगणित-गान
बूड़, बहते निःश्वास समान,—
किसे है हा ! पर उनका ध्यान !
कहाँ दुरे हो मेरे ध्रुव !

हे पथ-दर्शक ! द्युतिमान !
दृगों से बरसा यह अपिधान
देव ! कब दोगे दर्शन-दान ?

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

२—संसार का सबसे बड़ा समाधि-स्थान ।

फ़ारस की खाड़ी में, फ़ारस और अरब के बीच, बहरीन नाम का एक द्वीपसमूह है । उस पर इँग्लेंड का आधिपत्य है । इन द्वीपों के चतुर्दिग्वर्ती समुद्र में मोती बहुत निकलते हैं । ये द्वीप विशेष करके इसी लिए प्रसिद्ध भी हैं । परन्तु इनकी प्रसिद्धि का एक और भी कारण है । इनमें जो द्वीप सबसे बड़ा है उसमें अनेक समाधियाँ हैं । अनेक से मतलब एक से अधिक दस, बीस, पचास से नहीं । मतलब हज़ारों से है । कोई पन्द्रह बीस मील भूमि के घेरे में ये समाधियाँ फैली हुई हैं । उतना क्षेत्र-फल इन समाधियों ही से परिपूर्ण है । इतना बड़ा समाधि-समारोह संसार में अन्यत्र कहीं नहीं देखा गया । वहाँ पत्थर की बनी हुई शतशः सहस्रशः समाधियाँ विद्यमान हैं । अभी तक इस बात का ठीक ठीक पता नहीं चला कि ये समाधियाँ किसकी हैं अथवा इनके भीतर क्या है । इनकी जाँच भी अधिक नहीं हुई । १८७८ ईसवी में, पहले पहल, इनमें से दो समाधियाँ खोली गई थीं । एक के भीतर एक छतदार कोठरी निकली । वह ख़ाली थी । उसके दोनों तरफ़ दो गुफायें सी थीं । एक गुफा में

मनुष्य का एक ढाँचा (अस्थिपञ्जर) पाया गया और दूसरी में किसी पशु की कुछ हड्डियाँ। इधर-उधर मिट्टी के दो पात्र और हाथीदाँत, लकड़ी तथा ताँबे के कुछ टुकड़े भी मिले।

१६०५ ईसवी में, भारतीय पुरातत्त्व महकमे की सहायता से, कुछ समाधियाँ फिर खोली गईं। परन्तु बहुत परिश्रम और खोज करने पर भी इन समाधियों के निर्माता लोगों का कुछ भी हाल न मालूम हो सका। हाँ, कुछ लाशों के अवशेष अवश्य मिले। स्त्रियों की लाशें तो मिट्टी के नीचे दबी थीं, पर पुरुषों की खुली ही रक्खी थीं। दो लाशों के हाथों में छुहारे थे। वे देखने में ज्यों के त्यों थे; पर उनमें से अधिकांश ऐसे थे जो हाथ लगाते ही चूर चूर हो गये। इससे सूचित हुआ कि समाधियाँ बहुत पुरानी हैं। कुछ छुहारे ऐसे भी मिले जिनका छिलका तो बिलकुल ही गल गया था, परन्तु गुठली वैसी ही सख़्त थी। इस बार भी मिट्टी के कुछ पात्र मिले। किसी धातु की बनी हुई एक ऐसी भी वस्तु प्राप्त हुई जो देखने में कंघी के सदृश थी। हाथीदाँत की बनी हुई, बैल या गाय की एक टाँग भी मिली। वह बड़ी सुन्दर थी। उसकी मनोहरता और कारीगरी से यह सूचित होता था कि उसके बनानेवाले अवश्य ही सभ्य थे और उसमें कला-कौशल की यथेष्ट मात्रा विद्यमान थी। एक साहब (मेजर प्राइडो) का अनुमान है कि जो समाधियाँ बहुत बड़ी हैं उनमें शायद बहरीन के निवासी रहा भी करते थे। जब समाधि का मालिक मर जाता रहा होगा तब उसकी लाश उसी समाधि की किसी कोठरी में रख दी जाती रही होगी। उसकी लाश के पास खाने-पीने की चीज़ें तथा बिल्ली, ख़रगोश आदि कुछ जीवित अथवा मृत जानवर भी रख दिये जाते होंगे। समाधि के ऊपर किसी जीव का बलिदान भी शायद होता रहा होगा। मिस्र की समाधियों में तो खाने-पीने और ऐशो-आराम की सभी चीज़ें रक्खी जाती थीं। इससे, बहुत सम्भव है, पूर्वनिर्दिष्ट साहब का अनुमान सच हो।

मालूम नहीं, इधर, इस देश के पुरातत्त्वज्ञों ने फिर कभी इन समाधियों को खोलने और इनके सम्बन्ध के इतिहास की खोज करने की कोई चेष्टा की या नहीं।

न—

३—भारत का वाणिज्य और वणिक्-समाज।

वाणिज्यं श्रयते लक्ष्मीः।

जो देश जब कभी उन्नत और श्री-सम्पन्न हुआ है तब वह अपने देश के वाणिज्य के आश्रय से ही वैसा हुआ है। वाणिज्य के इस रहस्य को भारत का वर्तमान वणिक्-समाज भले ही न जानता हो या जान-बूझ कर उसकी उपेक्षा करता हो, किन्तु भारत के प्राचीन आर्य्य-विद्वान् वाणिज्य के इस तत्त्व को अवश्य ही जानते थे। तभी तो उन लोगों ने यह नियम बना रक्खा था कि जो वाणिज्य-द्वारा धनोपार्जन करे उसे वाणिज्य की वस्तुएँ पैदा करनेवालों की भी रक्षा और उन्नति करते रहना चाहिए। उसके ऐसा न करने से सम्भव है कि वाणिज्य की वस्तुओं का ह्रास हो जाय और उस कारण देश को क्षतिग्रस्त होना पड़े। भारत को जिस अनिष्ट से बचाने के लिए भारत के आर्य्य विद्वानों ने वह नियम बनाया था, वणिक्-समाज की व्यक्तिगत स्वार्थपरता तथा तज्जन्य अज्ञता के कारण, उस नियम की आज दिन, उस समाज-द्वारा पराकाष्ठा की उपेक्षा और अवहेलना की जा रही है। उसका भीषण परिणाम भी भारत को गारत करने की सूचना दे रहा है। पर भारत के वर्तमान वणिक्-समाज का स्वार्थ उसे, उस ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं देता। भारत का वर्तमान वणिक्-समाज अपने को अपने वाणिज्य-व्यवसाय में इस प्रकार व्यस्त देख कर ही अपने को धन्य और कृतकृत्य मानता है। उसे अपने तथा अपने बाल-बच्चों और देश के भविष्य की बिन्दु-मात्र भी चिन्ता नहीं है। वह अपने वर्तमान विभव के विस्तार को स्थायी और निश्चल मान कर भावी की अणु-मात्र भी चिन्ता करना व्यर्थ समझता है या यों कह लीजिए कि विद्या से उसका किसी से सम्बन्ध न होने के कारण भावी की बातें उसकी समझ में ही नहीं आतीं।

भारत की भलाई को सोच कर भारत के आर्य्य विद्वानों ने यह नियम बनाया था कि जो जन वाणिज्य करे उसे उसके साथ साथ भारत की कृषि तथा गोवंश की रक्षा और वृद्धि भी करते रहना चाहिए। यथा—"कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म्म स्वभावजम् ॥ इस नियम का सरलार्थ

यही है कि वाणिज्य की सब चीज़ें कृषि-द्वारा गोवंश की सहायता से उत्पन्न की जाती हैं । जब वे प्रचुर मात्रा में पैदा की जायँगी तभी देश के लोगों की माँग को पूरा कर सकेंगी और विदेश को भेजने के लिए मिल सकेंगी । सरस्वती के विज्ञपाठक, तनिक सा ही विचार करने से इस नियम की दूर-दर्शिता का अनुभव कर सकते हैं । जिन विद्वानों ने भारत की निरन्तर की भलाई को सोच कर उक्त नियम बनाया था उनकी बुद्धि की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही आज-कल के वणिक्-समाज की उसकी अवहेलना और उपेक्षा करने के ही कारण निन्दा की जानी चाहिए । क्योंकि आज-कल का वणिक्-समाज भारत की उद्भिज वस्तुओं को आँख मूँद कर, अपने वाणिज्य-द्वारा व्यय कर रहा है । उसे उनके पैदा करने की तनिक भी चिन्ता नहीं है । आज-कल के भारत के वणिक्-समाज ने अपने मोह की मात्रा को चरम सीमा को पहुँचा दिया है । बम्बई और कलकत्ता में बसनेवाला वणिक्-समाज अपने रहने के लिए उन नगरों में, लाखों की कौन कहे करोड़ों रुपया ख़र्च करके बड़े बड़े प्रासादसम भवन बनवाता है, उन्हें उतना ही रुपया ख़र्च करके आमोद-प्रमोद की सामग्री से सुसज्जित करता है, पर उसे अपने उतने बड़े महल में एक गौ को रखने का स्थान बनाने की नहीं सूझती । उसे यह नहीं मालूम कि संसार की सब खाद्य-वस्तुओं में अलग अलग जो पोषक तत्त्व हैं वे सब गौ के शुद्ध दूध में ईश्वर ने एकत्र कर दिये हैं । गौ की इसी लोकोत्तरता पर मुग्ध होकर यहाँ के विद्वानों ने उसकी रक्षा का विधान किया है । इस बात को भुला कर आज-कल का वणिक्-समाज, पिँजरापोल में रक्खी हुई लङ्गड़ी, लूली, अन्धी, कानी और बाँझ गौओं को थोड़ी सी घास देकर अपने को कृतकृत्य मान लेता है । कहीं पारावार है इस मोह का, इस अज्ञता का, इस वर्तमान स्वार्थ-परता का । जब भारत का वर्तमान वणिक्-समाज अपनी निज की स्वास्थ्य-रक्षा करनेवाली, अमृत-समान दूध देनेवाली गौओं की इस प्रकार उपेक्षा करता है तब कृषि की उन्नति के अभिप्राय से उनकी रक्षा और वृद्धि करने की बात उसे कैसे सूझ सकती है ! जिन गौओं को ग्वाले लोग अपने स्वार्थवश घोड़ों की लीद खिलाते हैं और उनके दूध में तीन चौथाई से कुछ कम पानी मिला कर बेचते हैं, उस दूध को पीकर कलकत्ता, बम्बई, नागपुर और जबलपुर आदि का वणिक्-समाज अपने को कृतकृत्य मानता है । वह यह समझता है कि जहाँ हज़ारों, नहीं लाखों मनुष्यों को उक्त नगरों में दूध देखने को नहीं मिलता वहाँ, उनको उक्त प्रकार के दूध का यथेष्ट मात्रा में मिल जाना उनके लिए कम सौभाग्य की बात नहीं है । बलिहारी है इस समझ की !

भारत के कलकत्ता, बम्बई, करांची, कानपुर, जबलपुर और नागपुर आदि बड़े बड़े नगरों में बस कर जो वणिक्-समाज गेहूँ, अलसी, चना, तिली, रमतिली, मसूर, कपास, गुड़, शक्कर, सन, सूत, कपड़ा आदि का वाणिज्य और दलाली करके धन-कुबेर बना है और बनता जाता है उसे क्या यह मालूम है कि उसके वाणिज्य की उक्त चीज़ों की जितनी उपज आज से बीस वर्ष पहले होती थी उतनी अब नहीं होती है । इस कम उपज का थोड़ा बहुत हाल उसे अवश्य ही मालूम होगा । क्योंकि पहले जिस प्रान्त से उसे जितना माल मिलता था, उतना अब नहीं मिलता । इस कम माल मिलने का कारण, सम्भव है, उन्हें न मालूम हो । क्योंकि इस सोचने, समझने और ढूँढ़ने की न तो उसे चिन्ता ही है और न उसकी उसे आवश्यकता ही बोध होती है । कहना नहीं होगा कि यह उसकी साहित्य-विमुखता का परिणाम है । वह रात-दिन माल की ख़रीद-फ़रोख़्त में लगा रहने के कारण ही अपने को धन्य मानता है । माल कम आवे, घटिया आवे, जैसा आवे वैसा ले देकर उसे अपने टके बनाने की ही चिन्ता रहती है माल कम आता है तो क्यों, और घटिया आता है तो क्यों, यह बात न तो उसे स्वार्थ-परतावश स्वयं सूझती है और जब कोई उसे उस बात को सुझाने का यत्न करता है तब वह अपनी धनाढ्यता और अज्ञता के कारण कोरा जवाब दे देता है कि हमें कृषि की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है । हम तो व्यापारी हैं !!!

ईस्ट इंडिया कंपनी वाणिज्य के उद्देश से भारत में आई थी । उसके यहाँ के कर्मचारियों ने जब

इँगलेंड में अपने मालिकों को लिखा कि भारत में, एक स्थान से दूसरे स्थान को, सुगमता से वाणिज्य-सामग्री पहुँचाने के लिए मार्ग नहीं हैं तब उन लोगों ने शीघ्रही, कंपनी बना कर करोड़ों रुपया एकत्र कर उसे मार्ग बनाने के लिए भारत में भेज दिया। उसी रुपये से भारत में प्रथम बम्बई से कल्यान तक रेल बनाई गई। एक वणिक्-समाज वह भी था और है। एक भारत का वणिक्-समाज है जो कहता है, हमसे और किसानी से क्या सम्बन्ध है। ईस्ट इंडिया कंपनी के लोगों को क्या ज़रूरत पड़ी थी कि वे सात समुद्र और तेरह नदियों के पार भारत में रेल बनाने के लिए रुपया भेजते।

योरप और अमरीका के वणिक्-समाज की सहायता से उन देशों की किसानी ने बहुत उन्नति की है। भारत का किसान एक एकड़ धरती में एक सौ पौंड गेहूँ बोता है और बड़ी कठिनाई से छः सौ पौंड उपज पाता है। योरप और अमरीका का किसान, एक एकड़ में एक सौ पौंड या उससे कम गेहूँ बोता है और वह उससे बत्तीस सौ पौंड गेहूँ पाता है। यह सब उस देश में तभी हुआ है जब वहाँ के वणिक्-समाज ने अपने देश की किसानी और गौओं की रक्षा और उन्नति करने के लिए लाखों नहीं करोड़ों का दान दिया है। सुनते हैं, अकेले कारनेगी ने अमरीका की कृषि को उन्नत करने के लिए अठारह करोड़ रुपयों का दान दिया था।

आज दिन अमरीका के किसानों के पास ऐसी गौवें हैं जो प्रति दिन पच्चीस तीस सेर दूध देती हैं। ऐसी गौओं की संख्या बढ़ाने में वहाँ का वणिक्-समाज ख़ूब रुपया ख़र्च करता है। ऐसी गौओं की संख्या वहाँ आज दिन दो करोड़ के ऊपर है। कलकत्ते और बम्बई में जिन लोगों ने पिँजरापोल खोल रक्खे हैं वे समझते हैं कि यह कसाइयों के हाथों से थोड़ी सी गौओं की रक्षा करना, और उन्हें थोड़ी सी घास रोज़ खिला देना ही गो-रक्षा है। किसी अंश में यह गो-रक्षा अवश्य है। पर सच्ची गो-रक्षा वह कदापि नहीं है। सच्ची गो-रक्षा उसी का नाम है जिससे भारत में अधिक से अधिक दूध और मक्खन देनेवाली गौओं की संख्या बढ़ाई जाती है, किसानी के लिए अच्छे अच्छे बड़े बड़े सुन्दर सुडौल और हृष्ट-पुष्ट बैल पैदा किये जा सकते हैं। वैसी ही गौओं की रक्षा और वृद्धि करने के लिए श्रीकृष्ण परमात्मा ने अर्जुन से रण-क्षेत्र में कहा था। खड़े होने पर भी रण-क्षेत्र में श्रीकृष्ण को भारत की कृषि, गौ और वाणिज्य की चिन्ता थी। भारत के वर्तमान वणिक्-समाज को सानन्द आमोद-प्रमोद के साथ दिन बिताते हुए भी उनकी चिन्ता नहीं है !!!

योरप और अमरीका के कृषि-विज्ञान ने यह बात प्रमाणित कर दी है कि जो लोग अपने देश के कच्चे माल को विदेश भेजते हैं वे लोग अपने देश की किसानी की उपज घटाने का घोर पाप करते हैं। इस पाप का मार्जन तभी हो सकता है जब वे लोग किसानी की उपज बढ़ाने का प्रबन्ध कर देवें। अपने पाप का पर्य्याप्त मार्जन करने के लिए वहाँ के वणिक्-समाज ने अपने अपने प्रान्त में कृषि-शिक्षा देने के लिए अनेक कृषि-शालायें, कृषि-विद्यापीठ और कृषि-प्रयोग-शालायें खोल रक्खी हैं। उनमें हज़ारों कृषक कृषि की शिक्षा पाते हैं। वहाँ के वणिक्-समाज की कृपा से वहाँ नित कृषि-यन्त्र बनता जाता है और उसका प्रचार किसान किसान में किया जाता है।

भारत के सच्चे हितैषी, पूज्यपाद मालवीयजी ने पुण्य-क्षेत्र काशीजी में हिन्दू-विश्वविद्यालय खोल दिया है। उसमें, हमने सुना है, कृषि-विज्ञान की शिक्षा देने का भी मालवीयजी ने प्रबन्ध कर दिया है। आप जैसे प्रज्ञ से इस अत्यन्त आवश्यक विषय की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। हमने यह भी सुना है धनाभाव के कारण वहाँ अभी कृषि-शिक्षा का प्रबन्ध यथोचित रूप से नहीं किया जा सका है। भारत के वणिक्-समाज का यह परम पुनीत कर्त्तव्य है कि वह अपने घोर पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए काशी-धाम के हिन्दू-विश्वविद्यालय को करोड़ों का नहीं तो लाखों का ही दान देकर वहाँ कृषि-शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करा दे।

भारत के वणिक्-समाज को भारत के किसानों में कृषि-विज्ञान का प्रचार करने के लिए कृषि-साहित्य को भी उत्पन्न करने में सहायता देनी चाहिए। जब भारत

के किसान किसान में कृषि-विज्ञान के स्थूल स्थूल सिद्धान्तों का प्रचार हो जायगा तभी भारत की किसानी की उपज बढ़ेगी, तभी भारत में सच्ची गोरक्षा होगी और तभी उन सबकी रक्षा और वृद्धि से भारत श्री-सम्पन्न होगा। गोरक्षा के नाम से थोथी ख़बरें अख़बारों में छपवा देने से न सच्ची गोरक्षा होगी और न उससे भारत की भलाई होगी। भारत की भलाई तो तभी होगी जब भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार भारत का वणिक्-समाज भारत की कृषि और गौओं की सच्ची और पर्य्याप्त रक्षा और उन्नति करेगा। ईश्वर भारत के वणिक्-समाज को अपनी, अपने बाल-बच्चों तथा भारत की सच्ची उन्नति करने की सुमति देवे, यही हमारी उससे आन्तरिक प्रार्थना है।

गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री।

४—तैरनेवाले द्वीप और उद्यान।

परमात्मा की सृष्टि में अनेक अद्भुत और आश्चर्य्य-जनक दृश्य देखने को मिलते हैं। जल में तैरनेवाले द्वीप और उद्यान भी उन्हीं में से हैं। टापू भी तैर सकते हैं और उद्यान भी जल की सतह पर बह सकते हैं, यह बात विश्वसनीय नहीं मालूम होती। परन्तु है वह यथार्थ—सोलहों आने सच। इस तरह के दृश्य नये नहीं। प्राचीन काल में भी उनके अस्तित्व का पता चलता है। उस ज़माने में लोग इन दृश्यों को दैवी या दानवी लीला समझते थे और उनसे कोसों भागते थे। उस लीला के कुफल की शान्ति के लिए पूजा-पाठ भी करते और कराते थे। परन्तु अब साधारण पढ़े-लिखे मनुष्य भी जान गये हैं कि वैसे दृश्य भयकारक नहीं; किन्तु प्रकृति के असाधारण खेल-मात्र हैं।

बहने या तैरनेवाले द्वीप और उद्यान बड़ी बड़ी झीलों, नदियों और समुद्रों में देखे जाते हैं। वे एक ही स्थान पर स्थिर नहीं रहते; सदा इधर-उधर तैरा करते हैं। प्राचीन इतिहासकार प्लिनी ने अपने एक ग्रन्थ में ऐसे कई आश्चर्य्यजनक टापुओं का हाल लिखा है जो ग्रीस-देश की एक बहुत बड़ी झील के पानी की सतह पर सदा तैरा करते थे। वे अधिक समय तक कभी एक जगह पर नहीं रहते थे। दूर जाने की ज़रूरत नहीं; अपने ही देश के अन्तर्गत काश्मीर की झीलों में इधर-उधर बहने या तैरनेवाले उद्यान आज भी देखे जाते हैं और वहाँ सैर के लिए जानेवाले सैकड़ों-हज़ारों यात्रियों ने देखे भी हैं।

अमेरिका में एक देश मेक्सिको है। वहाँ उस नाम का एक नगर भी है। उसके पास एक बहुत बड़ी झील है। उसमें तैरनेवाले कितनेही बाग़ीचे या उद्यान हैं। उनमें नगर-निवासियों के उपयोग के लिए नाना प्रकार की तरकारियाँ और फल-फूल उत्पन्न किये जाते हैं।

अमेरिका ही में मिसीसिपी नाम की एक नदी क्या, महानदी है। विस्तार में वह हमारी गङ्गाजी की सगी बहन है। उसमें कितने ही तैराक टापू हैं। उसी में नहीं, उसकी शाखा-प्रशाखाओं तक में वे देखे जाते हैं। उन्हें इधर-उधर बहते देख दर्शकों को बड़ाही आश्चर्य्य होता है। उनके कौतूहल की सीमा ही नहीं रहती। बात १७७८ ईसवी की है। उस वर्ष इस महानदी की एक शाखा में एक नया टापू बनने लगा। बढ़ते बढ़ते, १८१६ ईसवी में, अर्थात् कोई ३८ वर्षों में, वह १० मील लम्बा और ६०० फुट चौड़ा हो गया। उस पर साठ साठ फुट ऊँचे पेड़ उग आये। वह उन सबको अपनी छाती पर लिये हुए चिरकाल तक इतस्ततः भ्रमण करता रहा। बहुत काल के उपरान्त वहाँ की गवर्नमेंट ने देखा कि उसके कारण नदी के जल-प्रवाह में रुकावट पैदा होती है। तब उसने उसे नष्ट करने का प्रबन्ध किया। उसे उस काम में बरसों लग गये। कई लाख रुपये ख़र्च करने पर द्वीप-कुमार वहाँ से तिरोहित हुए।

कोई पैंतालीस मील लम्बा एक और टापू अमेरिका की एक और नदी (लाल-नदी) में उत्पन्न हो गया था। उसे नष्ट करने में भी गवर्नमेंट के लाखों रुपये स्वाहा होगये। बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ उठाने पर कहीं उसका लोप हो सका।

तैरते हुए टापू केवल नदियों और झीलों ही में नहीं समुद्रों तक में पाये जाते हैं। अटलांटिक महासागर में, न्यू-जर्सी के पास, एक बड़ा सा टापू, १८६२ ईसवी में, देखा गया था। उसका क्षेत्र-फल कोई नौ हज़ार वर्ग-फुट

था। वह जहाज़ों की तरह इधर-उधर घूमा करता था। कुछ दिन बाद वह अपनी पहली जगह से कोई एक हज़ार मील दूर हट गया। वहाँ उसे देखकर लोग हैरत में आगये।

ऐसे द्वीप और उद्यान लीलामय परमात्मा की सृष्टि की विचित्रता के अद्भुत नमूने हैं।

द्वि—

५—मिर्ज़ा सायब।

फ़ारसी-साहित्य-संसार में महाकवि सायब का स्थान बहुत ऊँचा है। वह एक बड़ा ही सिद्ध-हस्त दार्शनिक कवि था। यही कारण है कि शेख़ सादी से उतर कर अपने रङ्ग में सर्वाधिक ख्याति उसी की है। उसने अन्य अधिकांश कवियों की भाँति, अपनी शक्ति गुल और बुलबुल की फ़रियाद में ही नहीं ख़र्च की, वरन् जीवन के निगूढ़ तत्त्वों को बड़े मार्मिक ढङ्ग से व्यक्त किया है। उसकी कवितायें इतनी मर्मस्पर्शिनी और हृदय-ग्राहिणी हैं कि पाठकों के हृदय-पटल पर तत्काल ही अङ्कित हो जाती हैं।

सायब का जन्म तबरेज़ में एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। उसका पिता एक प्रसिद्ध व्यवसायी था। शिक्षा उसने इसफ़हान में पाई। कविता से उसका स्वाभाविक अनुराग था। वह अपने शिक्षा-काल में ही सुन्दर रचना करने लगा था। धीरे धीरे उसकी प्रसिद्धि बढ़ती गई और उसकी कविता की चर्चा चारों ओर होने लगी। उसकी इतनी ख्याति सुन कर किसी ने उसको यह एक अर्थहीन मिसरा (चरण) देकर कहा कि इसकी पूर्त्ति कर दीजिए—

शमा गर ख़ामोश बाशद आतश अज़ मीना गिरफ़्त

सायब ने तत्क्षण उसकी पूर्ति इस प्रकार करके मिसरा को अर्थयुक्त बना दिया—

इम शब अज़ साक़ी ज़बस गर्मस्त महफ़िल, मी तवाँ—
शमा गर ख़ामोश बाशद आतश अज़ मीना गिरफ़्त

आज महफ़िल ऐसी गरम है कि यदि दीपक बुझ जाय तो बोतल से अग्नि प्रज्वलित की जा सकती है।

सायब के धार्मिक विचार भी बड़े उच्च थे। कहा जाता है कि उसने अपनी युवावस्था में ही मक्के मदीना की तीर्थ-यात्रा की थी। वहाँ से लौटने पर, हिन्दुस्तान के बादशाहों और नवाबों की गुणग्राहकता और सहृदयता सुन कर, थोड़े दिनों पश्चात् जहाँगीर के राजत्वकाल में, उसने भारत के लिए प्रस्थान किया। जब वह काबुल पहुँचा तब वहाँ के गवर्नर जाफ़रख़ाँ ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया। सायब ने भी गवर्नर की प्रशंसा में कई ज़ोरदार कवितायें लिखीं। सायब ने यद्यपि छन्दःशास्त्र की नियमित शिक्षा हकीम सकना, मसीह काशी और हकीम शफ़ी से पाई थी, परन्तु उसकी काव्य-प्रतिमा का वास्तविक विकास जाफ़रख़ाँ के संसर्ग से हुआ, जो स्वयं एक काव्य मर्मज्ञ विद्वान् और सिद्धहस्त कवि था।

शाहजहाँ के राज्याभिषेक के थोड़े ही दिनों बाद जब लश्करख़ाँ काबुल का गवर्नर नियुक्त किया गया तब जाफ़रख़ाँ सायब को लेकर शाहजहाँ के दरबार में पहुँचा। राज-दरबार में सायब की पहुँच जाफ़रख़ाँ की बदौलत हुई। दरबार में पहुँचने पर बादशाह ने उसका बड़ा सम्मान किया और अभिषेक-उत्सव के उपलक्ष में १२ हज़ार रुपया पुरस्कार दिया। जब शाहजहाँ दक्षिण की युद्ध-यात्रा के लिए प्रस्थानित हुआ तब सायब भी साथ साथ गया। ख़्वाजा अबुलहसन की मृत्यु के अनन्तर जब जाफ़रख़ाँ कश्मीर का गवर्नर नियुक्त किया गया तब सायब भी साथ कश्मीर चला गया। सायब के पिता को सायब से बड़ा स्नेह था। उसने ७० वर्ष के वय में भारत की यात्रा की और अपने प्यारे पुत्र को साथ ले जाना चाहा। पिता के प्रणयानुरोध से विवश होकर सायब को जाफ़रख़ाँ से बिदाई ग्रहण करनी पड़ी। कुछ दिन कश्मीर में रह कर वह अपने पिता के साथ पुनः घर लौट गया।

ईरान में भला ऐसे नर-रत्नों के लिए आदर-सम्मान का क्या घाटा था। बादशाहों ने उसका सम्मानपूर्वक स्वागत किया। मिर्ज़ा ने भी उनकी तारीफ़ के पुल बाँध दिये। शाह अब्बास द्वितीय ने सायब की योग्यता पर मुग्ध होकर उसको "कवि-सम्राट्" की पदवी से अलङ्कृत किया। परन्तु उसके बाद जब सुलेमान सिंहासनारूढ़ हुआ और सायब ने यह कविता पढ़ी—

अहाता कर्द ख़त अाँ आफ़ताब ताबाँ रा
गिरफ़्त ख़ैल परी दरमियाँ सुलेमाँ रा

तब सुलेमान यह कटाक्ष अपने ऊपर समझ कर सायब से रुष्ट होगया और फिर सारी उम्र उससे न बोला ।

सायब यद्यपि जीवन भर ईरान से बाहर नहीं गया तथापि हिन्दुस्तान के सुख-भोग उसे रह रह कर याद आते थे । जब नवाब जाफ़रख़ाँ औरङ्गज़ेब का प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ तब उसने यह शेर लिख कर भेजा—

दूरदस्ताँ रा ब-एहसाँ याद कर्दन हिम्मत अस्त
वर्ना हर नख़्ले बपाये ख़ुद समर मी अफ़गनद

किसी सुदूरस्थ मित्र की सहायता करना साहस का काम है । वैसे तो फल वृक्षों की जड़ पर प्रायः गिरा ही करते हैं ।

इस पर जाफ़रख़ाँ बड़ा प्रसन्न हुआ, और पाँच हज़ार रुपदे उसको पुरस्कार में भेज दिये ।

सायब एक बड़ा ही आत्माभिमानी, सदाचारी और उच्च विचार का कवि था । वैसे तो वह सारे कवियों का आदर करता था; परन्तु कई ख़ास ख़ास कवियों का बड़ा भक्त था । महाकवि हाफ़िज़ के प्रति उसके हृदय में बड़ी श्रद्धा थी । हकीम सफना और शफाई का शिष्य था, इसलिए उनका नाम बड़े आदर से लेता था ।

मिर्ज़ा के जीवन-काल में ही उसकी कविता इतनी सर्वप्रिय और विख्यात हो चुकी थी कि बड़े बड़े बादशाह और उमरा उसके कलाम के लिए लालायित रहते और शाह ईरान की तरफ़ से लोगों को भेट और सौग़ात की तरह उसकी ग़ज़लें भेजी जाती थीं ।

सायब की आशुकविता भी बड़ी बढ़ी-चढ़ी थी । एक दफ़ा वह राह में चला जा रहा था । उसने एक कुत्ते को बैठा हुआ देखा । प्रायः कुत्ता जब बैठता है तब गर्दन ऊँची करके बैठता है । उसे फ़ौरन यह भाव सूझ गया—

शवद ज़ गोशान शीनी फज़ूँ रऊनत नफ़्स
रागे नशिस्ता ज़ इस्तादह सरफ़राज़ तर अस्त

अर्थात एकान्त सेवन से प्राणी की अभिमान-मात्रा अधिक बढ़ जाती है । बैठने पर कुत्ते की गर्दन खड़े होने की अपेक्षा अधिक ऊँची होती है ।

यद्यपि सायब की कविता में भावों की वह सूक्ष्मता और प्रेम के वे रहस्य नहीं पाये जाते जो उर्फ़ी और नज़ीरी की कविताओं में प्रचुरता से पाये जाते हैं, तथापि भाषा का सौष्ठव, उत्तम शब्द-विन्यास, और महावरे वग़ैरह की छटा देखने ही लायक़ है ।

सायब ने साहित्य का एक सबसे बड़ा उपकार यह किया कि उसने अपने पूर्ववर्ती और समसामयिक कवियों के कलाम को चुन चुन कर एक संग्रह तैयार किया जो साहित्य-सेवियों के लिए एक आदर्श का काम देता है । सायब स्वयं एक धुरन्धर काव्यमर्मज्ञ विद्वान् था, अतः सङ्ग्रह की सारी कवितायें बहुत उच्च कोटि की हैं ।

अरब में अबूतमाम नामक एक बड़ा प्रसिद्ध कवि हो चुका है । उसने भी एक सङ्ग्रह तैयार किया था जो 'हमासा' के नाम से प्रसिद्ध है और जो अरबी काव्य-साहित्य का प्राण समझा जाता है । साहित्यिकों का यह मत है कि अबूतमाम की शायरी का कमाल जितना इस सङ्ग्रह से मालूम होता है, स्वयं उसके दीवान (काव्य-संग्रह) से प्रकट नहीं होता । ठीक यही हाल मिर्ज़ा सायब के सङ्ग्रह का भी है । जिस शायर के जितने शेर चुन कर रख दिये हैं, वही उसके सारे दीवान का इत्र है ।

सन् १०८० हिज्री में सायब का देहावसान इसफ़हान में हुआ ।

उनकी कविता के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

यदि तुम संसार-सागर को पार करना चाहते हो तो तिनके की तरह हलके बने रहो । पत्थर की तरह भारी न बनो, नहीं तो डूब जाओगे ।

जल के मार्ग में अपना निवासस्थान कदापि न बना, नहीं तो जान-बूझ कर तू अपने साथ शत्रुता करेगा ।

जब चमक न हो तब मोती किस काम का है । बादल के बरसने पर हर सीपी की तरह मुँह मत खोल ।

जब हृदयाग्नि के साथ मद्याग्नि का भी संयोग हो गया तब मानो कोमल रुई जैसे दिमाग़ में चिनगारी का बीज डाल दिया ।

शराब जैसे शत्रु के साथ सामना करना बुद्धिमानी का काम नहीं है । मनुष्य की बुद्धि बर्फ़ के समान है और शराब प्रचण्ड सूर्य के तुल्य है जो बर्फ़ को गला देता है ।

बुद्धि शेर, और रक्तवर्ण शराब अग्नि के तुल्य है । और शेर का क़ायदा है कि अग्नि से दूर भागता है ।

मैंने शरीर का धोखा खाया जिससे मेरी नाव कीचड़ में फँस गई। यदि मैं दिल के दामन को पकड़ता तो मेरी यह दुरवस्था न होती। अर्थात् शारीरिक सुखों में मैं ऐसा फँस गया कि आत्मिकोन्नति की ओर ध्यान ही न दे सका।

मैं नहीं जानता था कि दुनिया मेरी दृष्टि में अन्धकार-मय हो जायगी। मैंने अपने हृदयरूपी वस्त्र की सुगन्धि को व्यर्थ ही नष्ट कर दिया।

पतझड़ की ठण्ढी हवा से जो पत्ता भूमि पर गिरता है उसे देख कर मुझे यही याद आता है कि एक दिन इसी तरह हमको भी संसार से ख़ाली हाथ जाना पड़ेगा।

यदि संसार में मनुष्य स्वर्ग-प्राप्ति की कामना छोड़ कर निष्काम कर्म करे तो स्वर्ग ख़ुद ही उसका पैर चूमता है।

हम शत्रु को नम्रता और विनय से मित्र बना लेते हैं। हमारी कमान तीर से टेढ़ापन दूर कर देती है।

मणिराम गुप्त

६—रैन-बसेरा।

चुन चुन कंकड़ महल उठाया लोग कहें घर मेरा।
ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन-बसेरा॥

बाबू शारदाप्रसाद मिर्ज़ापुर के प्रसिद्ध वकील और रईस थे। जायदाद काफ़ी थी और वकालत भी ख़ूब चली हुई थी। लेकिन जायदाद कर्ज़ों से लदी हुई थी, और वकालत की तो सारी कमाई उड़ ही जाती थी। बड़े हँसमुख, मनचले, शौक़ीन और उदार आदमी थे। दावत-मुजरा, नाच-रङ्ग, शराब-कबाब, रियासत का पूरा ठाठ उनके यहाँ देखने में आता था। ख़र्च करने में उनकी स्त्री उनसे कम न थी। लेकिन वह सरल और सात्विक वृत्ति की थी। साधु-सन्त, दीन-दुखी, महल्ले की ग़रीब स्त्रियाँ सभी की वह सहायता किया करती थी। वकील साहब का, बड़ा लड़का प्रभातकुसुम बहुत सुन्दर और सुकुमार था, उसका स्वभाव भी वैसा ही सुन्दर और सुकोमल था।

वकील साहब के एक बड़े गहरे दोस्त मौलवी ख़ुदायारख़ाँ थे। वे एक क़ब्रिस्तान में एक गिरे पड़े मकान में रहते थे। उसकी एक कोठरी, एक कोठरी के कुछ भाग, और एक बरामदे के कुछ अंश को छोड़ कर और सब ढह गया था। उसमें रह कर वे मृतक आत्माओं के कल्याण के लिए (जो प्रायः मौलवी साहब के ही मारे हुए थे, क्योंकि मौलवी साहब कुछ हिकमत भी करते थे) उनकी क़ब्रों पर फ़ातिहा और कुरानशरीफ़ पढ़ा करते थे। मरनेवालों के परिवारवाले इसके लिए कभी कभी उन्हें कुछ दे दिया करते थे। कहने को तो उनका पेशा यही था, लेकिन इससे उनका गुज़र कहाँ तक हो सकता था। इससे तो उनके ममीरे के सुर्मे, ख़िज़ाब, पान-पत्ते का ही ख़र्च मुश्किल से निकलता था। फिर भी अपनी हिकमत की बदौलत मौलवी साहब अपना काम निकाल लेते थे। वकील साहब से उनकी गाढ़ी दोस्ती थी। रोज़ शाम को उनके यहाँ जाते, बैठते, क़िस्से, चुटकुले, लतीफ़े सुनाते और एक से एक नये नये नुस्ख़े भी उनको तैयार करके देते थे।

एक दिन शाम को मौलवी साहब बाबू शारदाप्रसाद के यहाँ आये तो देखा कि आज बाबू शारदाप्रसाद बड़े रङ्ग में हैं। चेहरे पर मन्द मुसक्यान है और आँखों में एक नशा है, जो कई बोतल शराब के नशे से भी बढ़ कर है। वकील साहब होश में थे और मस्त भी थे। वे तो नहीं झूम रहे थे, लेकिन उनकी आत्मा झूम रही थी। मौलवी ख़ुदायारख़ाँ को देखा तो और खिल गये। बोले, आइए मौलवी साहब, आपको देखकर रूह ताज़ा हो गई। मैं आपकी राह देख रहा था।

ख़ुदायारख़ाँ—कहिए आज तो आप बहुत ख़ुश मालूम होते हैं। क्या बात है?

वकील साहब—राजा महसों और सेठ गुलाबचन्द के बीच मुक़द्दमा दायर हो गया। सेठजी की तरफ़ से मैं वकील हूँ। डेढ़ सौ रुपये रोज़ फीस तय हुई है। मैं दो सौ से कम न लेता लेकिन पुरानी राह रस्म है। दस लाख मूल्य की जायदाद है। कहो, अब भी मरना चाहते हो।

ख़ुदायारख़ाँ—ख़ैर, मरना-जीना तो अल्लाह के हाथ है, लेकिन ख़बर आपने अच्छी सुनाई है। अब मुँह मीठा कीजिए। क्या बक गया। मैं कहता था, क्या मुआ-मिला है। रात में एक जिन मुझे ख़्वाब में नज़र आया था। मुझसे कहा—उठो, तुमको बहिश्त की सैर करा

लायें। मैं उसके साथ ख़्वाब में बड़ी दूर निकल गया। देखता हूँ कि एक चाँदी का महल है, जिसमें परियों का नाच हो रहा है। जन्नत की शराब के दौर चल रहे हैं। हूरें गा रही हैं और रूहें झूम रही हैं। वकील साहब, वहाँ एक अजब आलम था। न दिन था, न रात थी। बल्कि दोनों के बीच में एक वक़्त था। जब मेरी आँख खुली तब मैं हैरान था कि आख़िर इस ख़्वाब का मतलब क्या है। अब पता चल।

वकील साहब—यानी ?

ख़ुदायारख़ाँ—यानी यह कि हज़ारों रुपये माहवार की आमदनी से गुलछर्रे तो उड़ेहींगे, लेकिन इसी सिलसिले में आप एक ऐसा बढ़िया मकान भी बनवा डालें जो आसमान से बातें करे और शान शौक़त में उस चाँदी के महल से कम न हो जो रात में मुझे नज़र पड़ा था। फिर देखिए बहार कि कैसी बहार है।

वकील साहब—भाई, हो बड़े बेढब आदमी। तुम्हें भी अन्धेरे में बड़ी दूर की सूझी—ज़मीन-आसमान का कुलावा मिला दिया। ख़बर भी है, जैसा मकान आप कहते हैं उसमें कितनी लागत लगेगी। लाखों लग जायँगे।

ख़ुदायारख़ाँ—तो कमी क्या है ? अकेले एक सेठ गुलाबचन्द ही तो हैं नहीं। आप ख़ुदा का नाम लेकर काम छेड़ तो दीजिए।

दूसरे ही दिन मौलवी ख़ुदायारख़ाँ बाबू शारदाप्रसाद को ज़मीन दिखाने को ले गये। जिस क़बरिस्तान में मौलवी ख़ुदायारख़ाँ रहते थे उससे मिला हुआ एक बहुत बड़ा बाग़ था। उसमें बहुत काफ़ी ख़ाली ज़मीन पड़ी थी। जगह बिकाऊ थी। पसन्द हो गई और ख़ुदायारख़ाँ के द्वारा उसकी बातचीत तय हो गई।

(२)

जिस दिन बाबू शारदाप्रसाद के नये मकान की नींव पड़ी उस दिन बड़ी धूम रही। बाग़ में एक बड़ा शामियाना ताना गया। मिर्ज़ापुर के बहुत से वकील, रईस, हुक्काम और साधारण लोग जमा हुए। वकील साहब की स्त्री ने कई सौ ग़रीबों को खिलाने का भी प्रबन्ध किया। जब काम निपट चुका था तब एक मुसलमान फ़क़ीर एक फटा कम्बल बदन पर डाले उधर से गुज़रा। वह यही गाता हुआ चला जा रहा था—

> चुन चुन कंकड़ महल उठाया लोग कहें घर मेरा।
> ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन-बसेरा॥

वकील साहब की स्त्री ने आदमी भेज कर उस फ़क़ीर को भी खाने के लिए बुलाया। यह फ़क़ीर भी उस क़बरिस्तान में प्रायः जाया करता था जिसमें मौलवी ख़ुदायारख़ाँ रहते थे। वहाँ वह सच्चे दिल से मृतकों की क़ब्रों पर रात के सन्नाटे में फ़ातिहा और दुआ पढ़ा करता था। बुलाने पर वह आया। बाबू शारदाप्रसाद ने उसे इज़्ज़त से बैठाया और फिर उससे कहा—साईं साहब, बहुत बड़ा मकान बनानेवाला हूँ, उसी की आज नींव पड़ी है और उसी का यह जलसा है। आपकी दुआ होगी तो यह काम पूरा हो जायगा। फ़क़ीर ने कहा—हाँ बेटा, बनवाओ। ख़ल्क़े ख़ुदा दुआ देगी और तुम्हारा एहसान मानेगी। वकील साहब इस दुआ से बहुत ख़ुश हुए और फ़ौरन एक नया कम्बल उस फ़क़ीर को दिलवाया।

थोड़ी देर बाद वकील साहब वहाँ से उठे और वह फ़क़ीर भी उठा। नया कम्बल उसने एक बुड्ढे कङ्गाल को दे दिया, जो ग़रीबों के साथ वहाँ खाना खाने आया था। जब फ़क़ीर जाने लगा तब वकील साहब की स्त्री ने फिर अपना आदमी भेज कर उसे बुलवाया। वकील साहब की स्त्री ने अपने पति से उसकी बातें सुनी थीं और फ़क़ीर की दुआ उन्हें कुछ खटक सी गई थी। उन्होंने पूछा—साईं साहब, क्या यह मकान हमारी सन्तान के काम आयगा ? फ़क़ीर ने कहा बेटी, ज़रूर आयगा। तू बड़ी धर्मात्मा है। तेरी औलाद इस मकान में रह कर ख़ुदा के बेकस बन्दों की ख़िदमत करेगी। वकील साहब की स्त्री ये बातें सुन कर प्रफुल्लित हो गई। फ़क़ीर को खाना खिलाया और पाँच रुपये देकर उसे बिदा किया, जिन्हें ग़रीब लड़कों को बाँटता हुआ वह फ़क़ीर वहाँ से चला गया।

मकान उठने लगा। कई सौ मज़दूर, थवई, बढ़ई, लोहार काम पर लगे हुए थे। रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा था। साल भर के भीतर मकान बन कर तैयार हो गया। इतना बड़ा, इस शान का और ऐसे मौक़े से कोई मकान मिर्ज़ापुर में नहीं था। जब मकान

तैयार हो गया तब कलकत्ते और बम्बई से उसकी सजावट का सामान कई हज़ार रुपये में बाबू शारदाप्रसाद ने मँगवाया। बाग़ भी ऐसा लगाया कि देखते बनता था। गृह-प्रवेश इस धूम से किया कि ऐसा जलसा लोगों के होश में कभी हुआ ही नहीं था।

लेकिन मकान बनवाते समय वकील साहब अपना ख़र्च कम नहीं कर सके थे। सैकड़ों रुपये रोज़ मकान बनवाने का ख़र्च था और पचासों रुपया रोज़ घर का ख़र्च। नतीजा यह हुआ कि डेढ़ सौ रुपये रोज़ फ़ीस के अलावा कई हज़ार रुपये उनको सेठ गुलाबचन्द से कर्ज़ लेने पड़े।

दो बरस इस नये मकान में आये वकील साहब को हो गये थे। वकील साहब का ठाठ-बाट वही था, बल्कि पहले से और बढ़ गया था। जो उधर से गुज़रता था वही टकटकी बाँध कर उस मकान का ठाठ देखता था। इस तरह सुख और शान की ज़िन्दगी वकील साहब बसर कर रहे थे। लेकिन एक दिन रात को वकील साहब ने मछली खाई और शराब कुछ ज़्यादा पी गये। मछली कुछ सड़ी हुई थी। वह ज़हर हो गई और सारे बदन में ज़हर भिद गया। वकील साहब की तबीयत ख़राब हो गई। बात की बात में डाक्टर, सिविल सर्जन सब मौजूद हो गये, लेकिन किसी का किया कुछ न हुआ। ज़हर अपना काम कर चुका था और सुबह होते होते बाबू शारदाप्रसाद का शरीरान्त हो गया। घर में कुहराम मच गया। सारे शहर में उस दिन उनकी मृत्यु की चर्चा होती रही।

(३)

वकील साहब के मरते ही उनका परिवार मुसीबतों में फँस गया। वकील साहब और उनकी स्त्री दोनों का हाथ जब तक चला, रुपये को रुपया नहीं समझा। वकील साहब ने बीस पचीस बरस की वकालत में थोड़ा नहीं कमाया था, लेकिन बचाया कुछ नहीं। जिस समय वकील साहब मरे, उनका लड़का प्रभातकुसुम बनारस के क्वीन्स-कालेज में पढ़ता था। मौलवी ख़ुदायार की नई बीबी से भी एक लड़का था, जो चालबाज़ी और काइयाँपन में अपने बाप के कान काटता था। वह भी बनारस में उसी कालेज में पढ़ता था, उसका भी ख़र्च वकील ही साहब के ऊपर था। वकील साहब के मरने के बाद मौलवी ख़ुदायारख़ाँ की बीबी के लड़के का ख़र्च तो फ़ौरन बन्द हो गया, अतएव मौलवी साहब ने उसे घर बुला लिया। लेकिन प्रभातकुसुम कुछ दिन और कालेज में रहा और किसी तरह बी० ए० पास कर लिया। लेकिन वह और आगे नहीं पढ़ सका।

बी० ए० पास करने के बाद प्रभात ने कोर्ट आव् वार्ड्स में नौकरी कर ली। इधर महाजनों का तक़ाज़ा शुरू हुआ। जब तक वकील साहब जीते थे तब तक महाजन चुप रहे। लेकिन सूद बढ़ता गया। इधर प्रभातकुसुम की तनख़्वाह कुल सौ रुपये थी। किसी तरह अपना, माता का और अपनी छोटी बहिनों का ख़र्च चला रहा था। विवाह उसका तीन बरस पहले जब वकील साहब ज़िन्दा थे, तय हो चुका था। लेकिन वकील साहब के मरते ही वह रुक गया और प्रभात अविवाहित ही रहा। उसके सब गाँव नीलाम पर चढ़ गये और एक एक करके बिक गये। लेकिन सेठ गुलाबचन्द का रुपया अब भी बाक़ी था और मकान भर शेष रह गया था।

क़िस्मत की बात देखिए। वकील साहब के मरते ही ख़ुदायारख़ाँ पर भी मुसीबतें आईं। शहर में ताऊन आया। बीबी बीमार पड़ी और एकही दिन में जाती रही। मौलवी साहब को बड़ा दुःख हुआ और वे फूट फूट कर रोये। लड़के का पढ़ना अलग बन्द हो गया।

लेकिन मौलवी साहब का भाग्य एक बार फिर चमक उठा। एक दिन रात को क़ब्रिस्तान के उसी खँडहर में चिन्ताओं से ग्रस्त मौलवी साहब चारपाई पर पड़े पड़े करवटें बदल रहे थे कि आधी रात को एक आदमी एक कुदाल और एक लालटेन लिये क़ब्रिस्तान में आया और एक क़ब्र की जड़ में खोदने लगा। गड़ा खोदने के बाद उसने अपनी कमर से कुछ निकाला और उस गड़हे में उसे रखकर ऊपर से मिट्टी डाल कर चला गया।

उसके जातेही मौलवी साहब उठे और एक फावड़ा लेकर उस गढ़े को जाकर फिर खोदा। उसमें उन्हें दो तीन थैलियाँ मिलीं जिनमें कुछ अशरफ़ियाँ, कुछ रुपये

और कुछ बँधे हुए नोटों के पुलिन्दे थे। कुछ पुड़ियों में कोकेन था। रुपये और नोट मौलवी साहब ने गिने तो पैंतीस हज़ार रुपये की रक़म थी। मौलवी साहब तो फड़क गये। चुपके से वह सब लाकर उन्होंने अपने एक पुराने बक्स में रक्खा और फिर ख़ुदा का शुक्र अदा करने लगे। जिस क़ब्र की जड़ में यह दौलत उनको मिली थी वह उनकी बीबी की क़ब्र थी, कहने लगे—बड़ी एक़बालमन्द, बड़ी भागमान औरत थी। बात यह थी कि जिस आदमी ने यह सब दौलत क़ब्रिस्तान में गाड़ी थी वह कोकेन छुपा कर बेचता था। पुलिस को इसका कुछ पता चल गया था और वह इसके सुराग़ में लगी थी, उसके घर की तलाशी लेनेवाली थी। इस बात की सूचना उसको मिल चुकी थी, इसलिए उसने अपना सारा धन और कई सेर कोकेन, जो उसके घर में थे, सब लाकर वहाँ गाड़ दिया।

अब क्या था, मौलवी साहब की तक़दीर खुल गई। दूसरे दिन अपने घर में उन्होंने मीलाद और उर्स कराया, दावत की और अपनी बीबी की बरसी मनाई। एक महीना बाद अपने लड़के को विलायत बैरिस्टरी पढ़ने के लिए भेज दिया।

इधर बाबू शारदाप्रसाद के घर की दशा दिन प्रति दिन ख़राब होती गई। सेठ गुलाबचन्द का रुपया न अदा हुआ और नालिश होगई। प्रभात की दो बहनों का विवाह वकील साहब की स्त्री ने अपने ज़ेवर बेच कर कर दिया। प्रभात ने जो दो चार सौ बचाये थे वे भी बहनों के विवाह में ख़र्च हो गये। मुक़द्दमा चला, मकान पर सेठ गुलाबचन्द की डिगरी होगई। कुछ दिनों के बाद डिगरी जारी होगई और मकान नीलाम पर चढ़ गया।

बाबू शारदाप्रसाद के मकान का नीलाम था। सैकड़ों आदमी जमा थे। मौलवी ख़ुदायारख़ाँ भी मौजूद थे। उनका लड़का बैरिस्टरी पास करके आगया था, एक नया बंगला लेने की फ़िक्र में था। डाक-बँगले में ठहरा था, क्योंकि क़ब्रिस्तान में अपने पिता के साथ रहने में उसे अपमान मालूम होता था। वह भी नीलाम की ख़बर सुन कर आया था। बोलियाँ बोली जाने लगीं। लेकिन मकान बन जाने पर उसका दाम तो कुछ आता नहीं। जो लोग रईस थे उनके पास मकानात थे ही। मिर्ज़ापुर कोई ऐसी जगह भी नहीं थी जहाँ मकानों का पूरा किराया मिले। जिनको ज़रूरत थी उनके पास रुपया नहीं। कुछ लोग सङ्कोच से भी बोली न बोल सके। कुछ लोगों ने यह सोचा कि जिस मकान ने बनवानेवाले का साथ नहीं दिया वह ख़रीदनेवाले का क्या साथ देगा। पहली बोली अट्ठारह हज़ार की मौलवी ख़ुदायारख़ाँ की थी उसी पर मकान नीलाम होगया।

दूसरे दिन प्रभातकुसुम ने एक दूसरा छोटा सा मकान किराये पर तय किया और दो एक ठेले मँगा कर घर का सामान भेजने लगा। उसकी मा ने भी सन्तोष कर लिया था। वह सामान बाँध बाँध कर बाहर भेजवा रही थी। उधर मौलवी ख़ुदायारख़ाँ, उनका लड़का और उसकी नई बीबी, जिससे हाल में ही शादी हुई थी, अदालत में अठारह हज़ार रुपये जमा कर एक मोटर पर सवार मकान पर क़ब्ज़ा करने आरहे थे। सामान तो ज़्यादा था नहीं। कुछ उनके लड़के का सामान था वह पहले से ही पहुँच चुका था। इधर मोटर पर, जिसको मौलवी ख़ुदायारख़ाँ का लड़का चला रहा था, ये लोग आ रहे थे, उधर कलेक्टर साहब की मोटर आ रही थी। कलेक्टर साहब की मोटर देखकर ये लोग ऐसे घबराये कि मोटर जो घुमाई तो वह सीधे एक गहिरे ख़न्दक में गिरी, जो सड़क के किनारे था। मोटर चूर चूर होगई और तीनों वहीं जल कर मर गये।

यह घटना बाबू शारदाप्रसाद के मकान के पास ही हुई। प्रभातकुसुम को भी यह ख़बर उसी वक़्त मिली जब वह और उसकी माता घर से सदा के लिए निकल रहे थे। दो एक आदमी जो उस समय वहाँ मौजूद थे उन्होंने राय दी कि आज दूसरे मकान में न जाओ। प्रभात और उसकी मा उस दिन रुक गये।

उन तीनों लाशों को कुछ मुसलमानों ने लाकर उसी रात को उसी क़ब्रिस्तान में गाड़ दिया जिसमें मौलवी ख़ुदायारख़ाँ रहते थे। अठारह हज़ार रुपये के बदले अठारह फ़ीट ज़मीन तीनों लाशों के लिए काफ़ी हुई।

(४)

मौलवी ख़ुदायारख़ाँ के तो कोई वारिस था नहीं।

उनके लड़के की बीबी के घर के लोग थे। वे दूसरे ज़िले के रहनेवाले थे। जब उनको ख़बर मिली तब वे आये और मकान बेचना चाहा। कोई गाहक न मिला। मगर कोर्ट आव् वार्ड्स को ज़रूरत थी। कोर्ट आव् वार्ड्स ने उस मकान को दाम के दाम पर ख़रीद लिया।

प्रभात को मकान से नहीं निकलना पड़ा। पूरे मकान में दफ़्र आ गया। कोर्ट आव् वार्ड्स का अफ़सर प्रभात को मानता था। उसने प्रभात को उसी मकान के पिछले हिस्से में क्वारटर्स दे दिया। दो तीन कमरे थे, एक आँगन था। उसी में मा-बेटे रहने लगे।

इस तरह पाँच-छः साल बीत गये। सरकारी इन्तज़ाम बदला। कोर्ट आव् वार्ड्स का दफ़्तर बनारस उठ गया। इस बीच में प्रभात की तनख़्वाह ढाई सौ रुपये हो गई थी। दस बारह बरस नौकरी कर चुका था। उसने इस्तीफ़ा दे दिया। किफ़ायत से रहा था। तीन चार हज़ार रुपये प्राविडेंट फंड में जमा थे और सोलह सत्तरह हज़ार उसने और बचा रक्खे थे। इस्तीफ़ा देने के बाद जब उस मकान को कोर्ट आव् वार्ड्स ने बेचा तब प्रभात ने उसे मोल ले लिया।

लेकिन प्रभात मकान के ख़ास हिस्से में जाकर नहीं रहा। वह बहुत कुछ दुनिया का हाल देख चुका था और अनेक चोटें खा चुका था। वह जीवन का अर्थ समझ चुका था। उसकी मा को भी वहीं रहना पसन्द था। बाबू शारदाप्रसाद ने मकान के इस भाग को मेहमानों के ठहरने के लिए बनवाया था। मकान में प्रभात ने एक अनाथालय खोला, जिसमें कई ज़िलों के लड़के, लड़कियाँ, जिनका दुनिया में कहीं ठिकाना नहीं था, शरण पाते थे।

अनाथालय का काम अच्छी तरह चल रहा है। सैकड़ों बालक-बालिकायें शिल्प-साहित्य और धर्म की शिक्षा पा रहे हैं और वह स्थान पहले से कहीं अधिक सुहावना, हरा-भरा और बसा हुआ मालूम हो रहा है। उसका नाम प्रभात ने रैन-बसेरा रक्खा है।

कभी कभी अब भी वह फ़क़ीर जो इस मकान की नींव पड़ने के दिन जाता हुआ उधर से गुज़रा था, क़ब्रिस्तान में मृत आत्माओं की क़बरों पर दुआयें करता नज़र आता है और वही गाना अकसर किसी क़बर पर बैठ कर गाता है:—

चुन चुन कंकड़ महल उठाया लोग कहें घर मेरा।
ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन-बसेरा॥

रघुपतिसहाय बी० ए०

संसार की गति

१--राष्ट्रपति मिलरेंड के सुधार-प्रस्ताव।

फ्रांस के राष्ट्रपति मोशिये मिलरेंड ने अपने देश की सरकार की रचना में सुधार के प्रस्ताव उपस्थित किये हैं। उनकी ओर सर्वसाधारण का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। हाल के सार्वजनिक चुनाव के छः महीने पहले उन्होंने सुधार-सम्बन्धी अपने विचार इवेरयू के भाषण में प्रकट किये थे। उनके विदित होने पर लोगों में सनसनी फैल गई थी।

योरप की वर्तमान परिस्थिति से फरासीसियों को अपनी सरकार की रचना में कुछ त्रुटियाँ दिखलाई पड़ी हैं। इनमें सबसे अधिक मुख्य उसके मन्त्रि-मण्डल की स्थिति है। सन् १८७५ जब फ्रांस में दूसरी बार प्रजातन्त्र की स्थापना हुई तब वर्तमान शासन-व्यवस्था की रचना हुई थी। पिछली साम्राज्य-सरकार की निरङ्कुशता का उन्हें पूर्ण अनुभव था, अतएव उन्होंने प्रजातन्त्र के मन्त्रि-मण्डल को परिमित ही अधिकार प्रदान किये। उन्हें इस बात का भय था कि कहीं कोई फिर न सर्वे सर्वा बन बैठे। इसी कारण उन्होंने मन्त्रि-मण्डल को राज्य-सभा की अपेक्षा निर्बल ही रक्खा।

फ्रांस का मन्त्रि-मण्डल किसी भी समय भङ्ग हो सकता है। उसके साथ ही राज्य-सभा के प्रतिनिधियों से उसकी रचना भी शीघ्र ही हो सकती है। फलतः वहाँ किसी प्रकार का मन्त्रि-मण्डल स्थिरता नहीं प्राप्त कर सकता। ज़रा सी बात पर अधिकार-च्युत किये जाने का भय उसे सदा बना रहता है। पिछले वर्षों में वहाँ कई बार मन्त्रि-मण्डल भङ्ग हुए हैं। पर उनके पराभव का कारण राज्य-सभा और मन्त्रि-मण्डल के बीच नीति-सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण मतभेद नहीं था, बरन वे बिलकुल छोटी छोटी बातों पर ही पद-च्युत हुए थे।

फ्रांस-सरकार की पार्लियामेंट-पद्धति में यह एक मुख्य विशेषता है कि मन्त्रि-मण्डल के भङ्ग हो जाने पर राज्य-सभा का नया चुनाव न होगा। मन्त्रि-मण्डल चाहे बारह बार क्यों न भङ्ग हो जाय, उसकी रचना राज्य-सभा के प्रतिनिधियों से तत्काल हो जायगी। राज्य-सभा के जो प्रतिनिधि मन्त्रि-मण्डल में प्रविष्ट होने के इच्छुक होते हैं वही मन्त्रि-मण्डल को पराजित करने का उपक्रम करते हैं। यदि वे यह बात जान जायँ कि उनके ऐसे काम से राज्य-सभा का नया चुनाव अवश्यम्भावी हो जायगा तो शायद वे अपने ऐसे काम से विरत रहें। परन्तु ऐसी कोई सम्भावना न रहने से वे मन्त्रि-मण्डल की खिल्लियाँ उड़ाने में अपना लाभ देखते हैं। उनके ऐसा करने से किसी श्रेष्ठ मन्त्रि-मण्डल का, जिस पर देश और राज्य-सभा का कितना ही विश्वास क्यों न हो, पराभव भले ही हो जाय, इसकी उन्हें ज़रा भी परवा नहीं।

वस्तुतः फ़्रांस का शासक-मण्डल वहाँ की राज्य-सभा की कृपा पर निर्भर है। वहाँ के मन्त्रि-मण्डल को संसार के दूसरे प्रजातान्त्रिक देशों के मन्त्रि-मण्डलों के अधिकार नहीं प्राप्त हैं। वे अधिकार वहाँ की राज्य-सभा ने अपने हाथ में कर लिये हैं। इसके सिवा एक और भी बड़ा भारी दोष है। यह है राज्य-सभा के सदस्यों के अनाचार की बात। राज्य-सभा के सदस्य का अपने चुनाव-क्षेत्र के पदों पर पूरा नियन्त्रण रहता है। वह अपने इच्छानुसार जिसे चाहता है उसे उन पदों पर नियुक्त करता है। इस प्रथा के कारण राज्य-सभा

का वायुमण्डल कलुषित हो गया है। उसके सदाचार पर लोगों को सन्देह हो गया है। यहाँ तक कि स्वयम् उसके ही एक सदस्य ने उसकी अनाचार-पूर्ण स्थिति को स्वीकार करके उसकी खुल्लम-खुल्ला निन्दा की है और अपने निर्वाचन-क्षेत्र के एक भाषण में अपना भी अपराध स्वीकार किया है।

राष्ट्रपति मिलरेंड का कहना है कि राज्य-व्यवस्था का फिर से संस्कार किया जाय और राष्ट्रपति तथा मन्त्रि-मण्डल के अधिकारों में वृद्धि हो। यदि राष्ट्रपति देश-हित के विचार से राज्य-सभा को भङ्ग करने के लिए स्वतन्त्र रहे तो बहुत कुछ अच्छा काम किया जा सकता हैं। यद्यपि वर्तमान समय में वह सिद्धान्त-रूप में राज्य-सभा को भङ्ग कर सकता है तो भी वह उस सिद्धान्त को कार्य में परिणत नहीं कर सकता, क्योंकि वह तभी भङ्ग हो सकती है जब सीनेट-सभा सहमत हो। इसी से राष्ट्रपति मिलरेंड राष्ट्रपति की स्थिति और सीनेट-सभा की रचना में सुधार करना चाहते हैं। राष्ट्रपति का राज्य-सभा के दोनों अङ्गों पर थोड़ा बहुत प्राधान्य होना चाहिए, इसलिए यह आवश्यक है कि उसका अनुशासन सर्वथा उन्हीं दोनों सभाओं की स्वीकृति पर न निर्भर रहे! इसी से राष्ट्रपति ने कहा है कि राज्य के प्रधान व्यक्ति का चुनाव केवल राष्ट्रीय सभा-द्वारा ही न हो जाना चाहिए, किन्तु उसके चुनाव में दूसरे मनोनीत करनेवाले लोगों की भी एक संख्या भाग ले, उसमें साधारण कौंसिलों तथा बड़े बड़े समाजों के प्रतिनिधि भी शामिल हों। ऐसा करने से वह अधिक सच्चा राष्ट्रीय रूप व्यक्त करेगा, वह देश की आवश्यकता के अनुसार राज्य के एक असली प्रधान व्यक्ति के कर्तव्य का पालन करेगा।

राज्य-सभाओं के भङ्ग करने का वास्तविक अधिकार राष्ट्रपति को ही मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध की सारी बाधायें हटा लेनी चाहिए। राज्य-सभाओं के भङ्ग करने के निरङ्कुश अधिकार के सम्बन्ध में यह शर्त भले ही लगा दी जाय कि राष्ट्रपति अपने अधिकार का उपयोग केवल एक ही बार करे और वह भी जब उसकी सम्मति में बिना किसी कारण मन्त्रि-मण्डल का पराभव हुआ हो। सीनेट-सभा के सुधार के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वर्तमान पद्धति के अनुसार चुने गये सीनेट-सभा के सदस्यों के साथ ही कुछ ऐसे और सदस्य चुने जायँ जो व्यावसायिक समाजों के प्रतिनिधि हों।

राष्ट्रपति के उपर्युक्त प्रस्तावों से फ़्रांस में एक मज़ेदार स्थिति उत्पन्न हो गई है। इसमें सन्देह नहीं है कि स्वार्थी लोग उनका भारी विरोध करेंगे। परन्तु जिन दोषों को हटाने के उद्देश से वे उपस्थित किये गये हैं वे इतने वास्तविक हैं और पिछले वर्षों में उनका इतना हानिकारक प्रभाव पड़ा है कि सभी देश-भक्त उनके कार्य में परिणत किये जाने से सन्तुष्ट होंगे।

२—अमरीका में मद्य का वर्जन।

अमरीका में मद्य का प्रचार क़ानून-द्वारा वर्जित है। वहाँ न तो मद्य बनाया जा सकता है, न उसकी बिक्री हो सकती है। वर्तमान समय में अमरीका ही पहला देश है जिसने क़ानून बनाकर मद्य के प्रचार का निषेध किया है। मद्य-पान जैसे विकट दोष का उन्मूलन करने के लिए अमरीका का यह प्रयत्न सराहनीय है। इस सम्बन्ध में उसे अपनी सीमा के अन्तर्गत कन्सास जैसे राज्यों में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है क्योंकि ऐसे राज्यों की ग्राम्य जनता ने बहुत पहले ही मद्य-निषेधक क़ानून को बहुमत से पास कर दिया था। परन्तु जिस नये क़ानून-द्वारा सम्पूर्ण अमरीका में मद्य के प्रचार का निषेध किया गया है वह कहाँ तक अपने उद्देश में सफल हुआ है, उसने कहाँ तक सफलता प्राप्त की है, इस ओर सभ्य संसार की उत्सुकता-पूर्वक नज़र लगी हुई है। अमरीका का मद्य-प्रचार-विरोधी-दल तो क़ानून की सफलता का राग आलाप रहा है पर उसका पक्षपाती दल उसकी सफलता की बात को झूठा ठहरा रहा है। इस प्रकार दो विरुद्ध मतों की उपस्थिति में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में अँगरेज़ी राजदूत सर आकूलैंड मेडीज़ का कथन पक्षपात-रहित माना जा सकता है। आपने कहा है—

मद्य-निषेध की आज्ञा का पूरा प्रभाव दिहाती ज़िलों और छोटे क़स्बों में पड़ा है। पर पूर्वी किनारों के ज़िलों में तथा बड़ी झीलों के समीपवर्ती प्रदेश में उसका वैसा प्रभाव नहीं हुआ है। इन स्थानों में लुक-छिप कर मद्य की बिक्री बराबर होती रही है। घरों में लोग मद्य चुवाते

रहे हैं। अनेक बार ऐसा मद्य विष-युक्त भी प्रमाणित हुआ है। अतएव इस ओर से लोगों की प्रवृत्ति हटने लगी है। ओरिगन राज्य में चीना लोगों ने वहाँ के निवासियों को गुलाब के फूल से मद्य बनाने की विधि बतलाई है।

अमरीका में 'एन्टी सैलून लीग' नामक एक संस्था है। यह संस्था उपर्युक्त क़ानून के पालन के लिए सदा प्रयत्नशील रहती है। इसके सिवा एक सरकारी विभाग अलग है जो यह देखता रहता है कि उपर्युक्त क़ानून का कहीं उल्लंघन तो नहीं होता। इन दोनों संस्थाओं का यह मत है कि पहले की अपेक्षा अब अमरीका में मद्य का प्रचार पाँच में एक भाग रह गया है। इसके विपरीत उपर्युक्त क़ानून की विरोधिनी एक दूसरी संस्था का यह कहना है कि मद्य-प्रचार केवल तीन में एक भाग कम पड़ा है। इन दोनों मतों का यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि मद्य-प्रचार का एक-दम लोप नहीं हुआ है तो इसके प्रचार की मात्रा बहुत अधिक घट गई है।

मद्य-प्रचार-विरोधिनी उपर्युक्त दोनों संस्थाओं का कहना है कि अब वहाँ मतवालों की संख्या आधी रह गई है। इस बात को 'वेट असोसियेशन' नामक मद्य-प्रचार-पक्षपातिनी संस्था ने ग़लत बतलाया है। हाल में ही न्यूयार्क के चार पार्कों में पुलिस ने खोज की थी। उनमें उसे ५४ पुरुष और २३ स्त्रियाँ मद्य के नशे में बेहोश पड़ी मिली थीं। इसी प्रकार मद्य-विरोधिनी उपर्युक्त संस्थाओं का कहना है कि मद्य-पान से मरनेवालों की संख्या घटकर अब २० फ़ी सदी पहुँच गई है। परन्तु इसके विपरीत कहा जाता है कि वह बढ़ कर २५० फ़ी सदी जा पहुँची है। परन्तु सरकारी विभाग में जो अङ्क इस सम्बन्ध में दिये हैं वे अधिक विश्वसनीय हैं। इनसे उपर्युक्त कथन शुद्ध किये जा सकते हैं। सरकारी अङ्क ये हैं—

सन्	मृत्यु-संख्या	सन्	मृत्यु-संख्या
१९१७	३९२२	१९२०	९००
१९१८	२२१३	१९२१	१६११
१९१९	१३६७		

उपर्युक्त मद्य-निषेधक क़ानून सन् १९२० की २९ वीं जनवरी को जारी किया गया था। इस क़ानून के प्रचलित होने से पहले ही मद्यपों की मृत्यु-संख्या घट चली थी। जिस साल यह क़ानून जारी हुआ था उस साल वह और भी घट गई थी। परन्तु दूसरे वर्ष उसमें कुछ वृद्धि हुई। अभी १९२२ के पूरे अङ्क नहीं प्रकाशित हुए हैं। और बड़े नगरों के जो अङ्क प्राप्त हुए हैं उनसे सन् १९२१ में भी मृत्यु-संख्या की वृद्धि ही प्रकट होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि उपर्युक्त क़ानून के बाद के दो वर्षों में मद्यपों की मृत्यु-संख्या दूनी हो गई है।

अपराधों के सम्बन्ध में 'ऐंटी-सैलून लीग' का कहना है कि मद्यपों के अपराधों की संख्या आधे से भी कम है। और उसकी पक्षपातिनी दूसरी संस्था उनकी संख्या 'न कम, न अधिक' बतलाती है। उधर इन दोनों की विरोधिनी संस्था कहती है कि उनकी संख्या २० फ़ी सदी अधिक हो गई है। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश राजदूत की बात अधिक विश्वास-योग्य है। आप कहते हैं—सरकारी व्यापार-विभाग की एक रिपोर्ट से प्रकट होता है कि सन् १९१७ की १ ली जुलाई और सन् १९२२ की १ ली जुलाई के बीच में सरकारी जेलों में रक्खे जानेवालों की संख्या एक लाख की आबादी में ७२·४ से बढ़ कर ७४·५ तक पहुँच गई है। इसी समय उसी संख्या की आबादी में जेलों में क़ैदियों की संख्या ३ से ५·१ हो गई है।

अतएव जेलों में क़ैदियों की संख्या एक लाख की आबादी में ७४·४ से ७१·६ हो गई। कहा जाता था कि मद्य के निषेध से अमरीका के जेल ख़ाली हो गये हैं। परन्तु ऐसे कथन सत्य नहीं निकले।

मद्य-निषेध से आर्थिक लाभ के सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अमरीकावासियों की वर्तमान आर्थिक स्थिति की समुन्नति के और भी महत्त्वपूर्ण कारण हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि इस सम्बन्ध में मद्य-निषेध का कितना प्रभाव पड़ा है।

मद्य-निषेध का क़ानून अमरीका में प्रचलित ही है। जब यह क़ानून सम्पूर्ण अमरीका में नहीं जारी किया गया था तब जिन राज्यों ने अपने देश में मद्य का बिकना वर्जित कर दिया था उन्हीं के बहुमत से इस क़ानून का प्रचार सारे देश में हुआ है। यहाँ तक कि न्यूयार्क जैसे

राज्य का महाजन भी, जो अपने अतिथियों के क़ानून-वर्जित मद्य पिलाने में अपना गौरव समझता है, एक प्याला बियर-शराब पी लेने पर अपने मज़दूरों को दण्ड देने की बात का समर्थन करता है। वह कहता है कि व्यक्ति-गत रूप में मैं मद्यपान करता हूँ, राजनैतिक रूप में मैं उसका वर्जन करता हूँ।

निस्सन्देह, उपर्युक्त प्रश्न की मीमांसा अमरीका के राजनीतिज्ञों के सामने एक विकट समस्या है। वहाँ के मद्य-निषेधक क़ानून की सफलता अभी भविष्य के गर्भ में है। ऊपर के विवेचन से तो यही प्रकट होता है।

३—इम्पीरियल प्रीफ़रेन्स।

इंडियन इकोनोमिक कान्फ़रेन्स के अधिवेशन में मिस्टर ए० जे० सौन्डर्स ने एक व्याख्यान द्वारा भारत-वासियों का ध्यान इम्पीरियल प्रीफ़रेन्स की ओर आकर्षित करना चाहा है। उनका तर्क इस प्रकार है—

वास्तव में इम्पीरियल प्रीफ़रेन्स ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के लिए कोई नया आविष्कार नहीं है। बरन मुक्तद्वार और संरचित व्यापार के वाद-विवाद का रूपान्तर-मात्र है। १७ और १८ वीं शताब्दी के फ्रेंच अर्थ-शास्त्रियों के आधार पर एडिम स्मिथ ने, जो इँग्लेंड के सर्व-प्रथम अर्थशास्त्री गिने जाते हैं, मुक्तद्वार-व्यापार का समर्थन किया था। उनका सिद्धान्त था कि समाज की उत्पादक शक्ति को बढ़ाने के लिए श्रम-विभाग आवश्यक है। यदि श्रम-विभाग न हो और प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करना पड़े, तो मनुष्य भी सङ्कट में पड़ जायँ और समाज का भी अभ्युदय रुक जाय। यदि वकील को अपने हाथ से अपना सारा काम-काज करना पड़े, तो वह वकालत सुचारु रूप से नहीं चला सकता। इसलिए जिस मनुष्य में जिस विषय की स्वाभाविक विशेष योग्यता हो, उसको उसी के विकास के लिए विशेष चेष्टा करनी चाहिए। इस प्रकार मनुष्य की व्यक्ति-रूप से और समाज की समष्टि-रूप से उन्नति होना सम्भव है। ठीक इसी प्रकार, उनका कथन था, संसार की उत्पादक शक्ति बढ़ाने के लिए राष्ट्रों में श्रम-विभाग होना चाहिए। केवल इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र की ओर साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सबसे अधिक उन्नति सम्भव है। यही, संक्षेप में, एडिम स्मिथ की मुक्तद्वार-नीति है। सन् १८४६ में इसी को इँग्लेंड ने स्वीकार किया था और तब से वह आज तक उसी का पालन करता आ रहा है। वास्तव में इँग्लेंड का यह साहसपूर्ण प्रयोग सर्वथा सराहनीय था। वह समझता था कि सभ्य संसार के अन्य राष्ट्र भी इसी मुक्तद्वार-नीति का अवलम्बन करेंगे। किन्तु ऐसा न हुआ। कुछ अर्थ-शास्त्रियों की यह सम्मति हुई कि यह नियम उतना व्यापक नहीं है जितना एडम स्मिथ ने बतलाया है। साधारणतः प्रबल राष्ट्रों के लिए तो यह अवश्यमेव श्रेयस्कर है किन्तु उससे शक्ति-हीन राज्यों की उन्नति में बाधा पड़ने की सम्भावना रहती है। कला-कौशल-प्रधान देशों के लिए यह उतना हानिकारक नहीं जितना कृषि-प्रधान देशों के लिए; क्योंकि कला-कौशल के परिमाण को बढ़ाने से वृद्धि के अनुपात से कई गुना अधिक उत्पत्ति बढ़ जाती है, किन्तु कृषि में इस प्रकार वृद्धि सम्भव नहीं है। इसलिए बहुत से देशों ने अपनी संरक्षण-नीति को न छोड़ा। इसके अतिरिक्त जर्मनी ने संरक्षण-नीति का अवलम्बन करके यह दिखा दिया कि संरक्षण-नीति राष्ट्र की कला-कौशल-सम्बन्धी उन्नति में बाधक नहीं है। संरक्षण-नीति का अर्थ है कि राष्ट्र अपने कला-कौशल और उद्योग-धंधों की कम से कम उस अवस्था तक अवश्य रक्षा करे, जब तक वह विदेशी कला-कौशल से स्वतन्त्र-रूप से सामना करने के योग्य न हो जाय। जैसे भारतवर्ष के कपड़ों की मिलें अभी इँग्लेंड की मिलों की प्रतिद्वन्द्विता में नहीं टिक सकतीं, इसलिए यदि भारतीय सरकार विदेशी कपड़े पर विशेष टेक्स लगाती है जिससे विदेशी माल देशी मिलों को उखाड़ कर फेंक न दे, तो वह संरक्षण-नीति की अनुयायिनी कही जायगी।

किन्तु गत योरपीय महायुद्ध से स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। ब्रिटिश माल की खपत के लिए बाज़ारों की कमी पड़ने लगी है। इँग्लेंड का निर्यात व्यापार महायुद्ध के पहले से इस समय कम है। वहाँ बेकारी बढ़ रही है। ऐसी अवस्था में इँग्लेंड के राजनीतिज्ञों को अपनी आर्थिक दशा सुधारने की आवश्यकता हुई। सिद्धान्त-रूप से मुक्तद्वार-नीति को उत्तम मानते

हुए भी उन्होंने इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स की सृष्टि की । इसका अर्थ है कि जहाँ तक सम्भव हो, ऐसा विधान किया जाय कि ब्रिटिश-साम्राज्य को खाद्य पदार्थों के लिए, कच्चे माल के लिए और जीवन की आवश्यक वस्तुओं के लिए विदेशों का मुँह न ताकना पड़े । इस हेतु साम्राज्य की आयात-निर्यात-सम्बन्धी व्यापार की एक ऐसी व्यवस्था तैयार की जाय जिससे साम्राज्य के सदस्य सबसे पहले साम्राज्य के सदस्यों के हाथ विशेष रियायत से अपना माल बेचें, और उन्हीं से मोल लें । यदि साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् कुछ माल बचे, तो वह अच्छी से अच्छी दर पर विदेशों के हाथ बेचा जाय । इस प्रकार इँग्लेंड इँग्लेंड के लिए नहीं, बरन सम्पूर्ण साम्राज्य के लिए संरक्षण-नीति ग्रहण करना चाहता है । धीरे धीरे ब्रिटिश नागरिकों का ध्यान इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता जाता है । पार्लियामेंट का विगत चुनाव इसी दृष्टि से हुआ था । साम्राज्य के उपनिवेशों का ध्यान बहुत पहले से इस ओर आकर्षित हो रहा है । आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री ने एक समय कहा था—हमारे सामने माल तैयार करने की उतनी अधिक समस्या नहीं है जितनी माल की खपत की है । साम्राज्य का विकास हो रहा है, नये नये उपनिवेश बसाये जा रहे हैं । यदि ऐसी अवस्था में आर्थिक दृष्टि से साम्राज्य का कोई सुदृढ़ सङ्गठन न हुआ, तो साम्राज्य में कभी वाञ्छित एकता नहीं हो सकती । आस्ट्रेलिया को अपने माल के लिए बाज़ारों की बेतरह आवश्यकता है । इँग्लेंड का तो अधिकांश माल उपनिवेशों अथवा अधिकृत देशों में खप जाता है । किन्तु उपनिवेशों को कठिनाई हो रही है । इसलिए मेरी समझ में इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए इससे बढ़ कर और कोई सुयोग नहीं हो सकता । इसीलिए आस्ट्रेलिया बहुत पहले इँग्लेंड के माल के लिए टेरिफ की रियायती दर निश्चित कर चुका है (आयात पर जो टेक्स लगाया जाता है, उसे टेरिफ कहते हैं) । इसके बदले आस्ट्रेलिया इँग्लेंड से टेरिफ की रियायती दर निश्चित कराना चाहता है । किन्तु इँग्लेंड ने बहुत दिनों तक इस प्रश्न को इस प्रकार नहीं देखा । वह इसी उलझन में पड़ा रहा कि सस्ती दर पर खाद्य सामग्री प्राप्त करना अच्छा है या विदेशी प्रतिद्वन्द्विता से देशी उद्योग-धन्धों की रक्षा करना, क्योंकि उपनिवेशों के साथ रियायती टेरिफ निश्चित करने का अर्थ होता है विदेशी खाद्य-सामग्री पर टेक्स लगाना । जब खाद्य-सामग्री महँगी होगी, तब ब्रिटिश-माल की लागत बढ़ जायगी जिससे विदेशी उद्योग-धन्धे आसानी से उसको हरा सकेंगे । किन्तु हम लोगों के सामने प्रश्न इस रूप में है—क्या ब्रिटिश-साम्राज्य की कोई ऐसी आर्थिक नीति नहीं स्थापित की जा सकती, जिससे समष्टि-रूप से साम्राज्य की उन्नति हो और व्यष्टि-रूप से प्रत्येक सदस्य की ।

वास्तव में एक ऐसे आर्थिक विधान का सूत्रपात हो गया है, यद्यपि अभी हम उसे इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स का नाम नहीं दे सकते । सन् १९१९ में पहले पहल फाइनेन्स बिल द्वारा इँग्लेंड ने उपनिवेशों के निर्यात के लिए रियायती दर निश्चित की । किन्तु इसमें यह शर्त भी रक्खी गई थी कि वह माल सिर्फ़ उपनिवेशों से आया हुआ न हो, बरन स्वयं उपनिवेशों में पैदा हुआ हो अथवा वहीं तैयार किया गया हो । केनाड़ा में इस प्रकार का नियम सन् १८९७ में ही बना दिया गया था । थोड़ी सी वस्तुओं को छोड़ कर उसने इँग्लेंड, ब्रिटिश इण्डिया, न्यू साउथ वेल्स, वेस्ट इण्डीज, न्यूजीलेंड, साउथ अफ़्रीका के निर्यात पर एक तिहाई की रियायत कर दी थी । कुछ संशोधित रूप में यह नियम अब भी वहाँ बर्ता जाता है । तो भी इस प्रकार के इम्पीरियल टेरिफ को हम इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं कह सकते क्योंकि केनाड़ा अन्य राष्ट्रों के साथ इसी प्रकार की व्यापारिक सन्धि करने की बात सोच रहा है । आस्ट्रेलिया ने भी सन् १९०६ में कुछ थोड़े से उपनिवेशों के साथ इसी प्रकार की रियायती दर निश्चित कर दी थी । न्यूज़ीलेंड ने १९०३ में ब्रिटिश उपनिवेशों से बाहरी माल पर एक और अतिरिक्त कर लगाया । सन १९२१ में प्रायः निर्यात की दो तिहाई वस्तुओं के लिए ब्रिटिश-माल पर १० से २० फ़ी सदी तक रियायत करना निश्चित किया । साउथ अफ़्रीका ने सबसे पहले सन् १९०३ में इँग्लेंड के माल के साथ रियायती दर निश्चित करने का प्रस्ताव स्वीकार

किया। थोड़े ही दिनों में अन्य उपनिवेशों से समझौता करके यही दर उसने उनके साथ निश्चित कर ली। किन्तु साउथ अफ़्रीका की रियायत केवल ३ फ़ी सदी है।

जब एक एक प्रायः सभी उपनिवेश इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स के पक्ष में हैं, इँग्लेंड में लोगों का इस ओर झुकाव हो रहा है, फिर यह क्यों सफल नहीं होता। इसका एक-मात्र कारण भारतवर्ष है, क्योंकि यह देश संरक्षण-नीति का प्रबल पक्षपाती है। इण्डियन फिस्कल कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है—यदि भारतवर्ष इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स स्वीकार करले तो उससे इँग्लेंड को लाभ होगा और भारतवर्ष को हानि। दो एक छोटी-मोटी चीज़ों की बात जाने दीजिए, सभी बातों का विचार करने से यही मालूम होता है कि इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स में सम्मिलित होने से भारतवर्ष को लाभ नहीं हो सकता। सेन्ट निहाल-सिंह ने भी एक पत्र में लिखा है—यदि भारतवर्ष ब्रिटिश-माल के लिए अपने टेरिफ की दर कम कर दे, तो इससे तो यही अच्छा होगा कि वह टेरिफ की दर बिलकुल ही उठा दे। क्योंकि भारतवर्ष में अधिकांश माल तो ग्रेटब्रिटेन से ही आता है। यदि भारतवर्ष को अपने कला-कौशल एवं उद्योग-धन्धों की रक्षा करना है तो उसे प्रधानतः इँग्लेंड के विरुद्ध ही करना है। भारतवर्ष में तीन चौथाई माल इँग्लेंड से आता है, यदि भारतवर्ष अपने आयात व्यापार पर टेक्स लगावेगा, तो उससे इँग्लेंड के कला-कौशल एवं व्यापारियों को धक्का पहुँचे बिना नहीं रह सकता। भारतवर्ष की असमञ्जस के कारण इँग्लेंड मुक्तद्वार और संरक्षण-नीति के बीच कुछ निर्णय नहीं कर सकता और न इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स में सफलता होती दिखाई देती है। किन्तु भारतवर्ष को केवल अपने स्वार्थ का ध्यान करना शोभा नहीं देता। भारतवर्ष कहता है कि हमको सस्ते से सस्ते बाज़ार में सामान ख़रीदने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, उससे हमें जितना लाभ है, उतना इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स को स्वीकार करने से नहीं है। यदि इँग्लेंड या उसके उपनिवेश हमारे साथ रियायत करें, तो हम उसके लिए आभारी होंगे, किन्तु सम्प्रति उनके साथ रियायत करने में असमर्थ हैं। किन्तु क्या भारतवर्ष इस प्रकार मैत्री के साधारण नियम की उपेक्षा नहीं कर रहा है। हमें लेना भी होगा, और देना भी होगा। शत्रुता और मित्रता दोनों ओर से होती है। ताली एक हाथ से नहीं बजती है। इसलिए भारतवासियों को साम्राज्य के हित की दृष्टि से इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स के सिद्धान्तों का विरोध नहीं करना चाहिए। यदि भारतवर्ष चाहता है कि ब्रिटिश-साम्राज्य जिसका वह एक अङ्ग है, संसार में एक सुदृढ़ और सुसङ्गठित, समृद्धिशाली और स्वतन्त्र साम्राज्य हो तो उसे कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। हमारा ब्रिटिश-साम्राज्य इतना विशाल और पूर्ण है कि यदि उसके सभी सदस्य मैत्री के दृढ़ बन्धन से जकड़ जायँ, तो उसको कभी किसी चीज़ के लिए दूसरों का मुँह न ताकना पड़े। साथही जब इस प्रकार सङ्गठित होकर साम्राज्य विदेशों के साथ व्यापार करेगा, तो साम्राज्य के प्रत्येक सदस्य को उनके व्यापार से अधिक से अधिक लाभ होगा। दूसरी ओर इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स से भारतवर्ष को हानि ही हानि हो, सो बात नहीं है। यदि इँग्लेंड केवल भारतवर्ष से जूट और सूत का सामान स्वीकार कर ले, तो क्या भारतवर्ष केवल इँग्लेंड से मशीनें अथवा लोहे और सीसे का सामान मोल लेने से घाटा उठायेगा। इस नीति से स्वावलम्बी हो जायगा, उसको किसी पर परमुखापेक्षी न होना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त न केवल ब्रिटिश-साम्राज्य का अभ्युदय होगा, बरन संसार के सामने एक आदर्श साम्राज्य स्थापित हो जायगा जिसके सभी सदस्य, चाहे अँगरेज़ हो, चाहे हिन्दुस्तानी, चाहे केनेडियन और अफ़्रिकन, सब हिलमिल कर एक ही मा के बच्चों की तरह प्रेम-पूर्वक रहेंगे और एक दूसरे को सहायता देंगे।

यही मांडर्स साहब की राय है। हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि यदि मिस्टर सौन्डर्स की वाणी सफल हो जाय, भारत की वही स्थिति हो जाय जो उपनिवेशों की है, ब्रिटिश-साम्राज्य के अधिकारियों का दृष्टि-कोण बदल जाय, साम्राज्य के अन्दर रहनेवाले हिन्दुस्तानी और अफ़्रीकन साम्राज्य के अन्य सदस्यों के बराबर अधिकार और आदर पाने लगें, तो शायद कभी भारतवासी इम्पीरियल प्रीफ़ेरेन्स को उसी दृष्टि से देखें जैसा कि एक साम्राज्य-वादी देख सकता है।

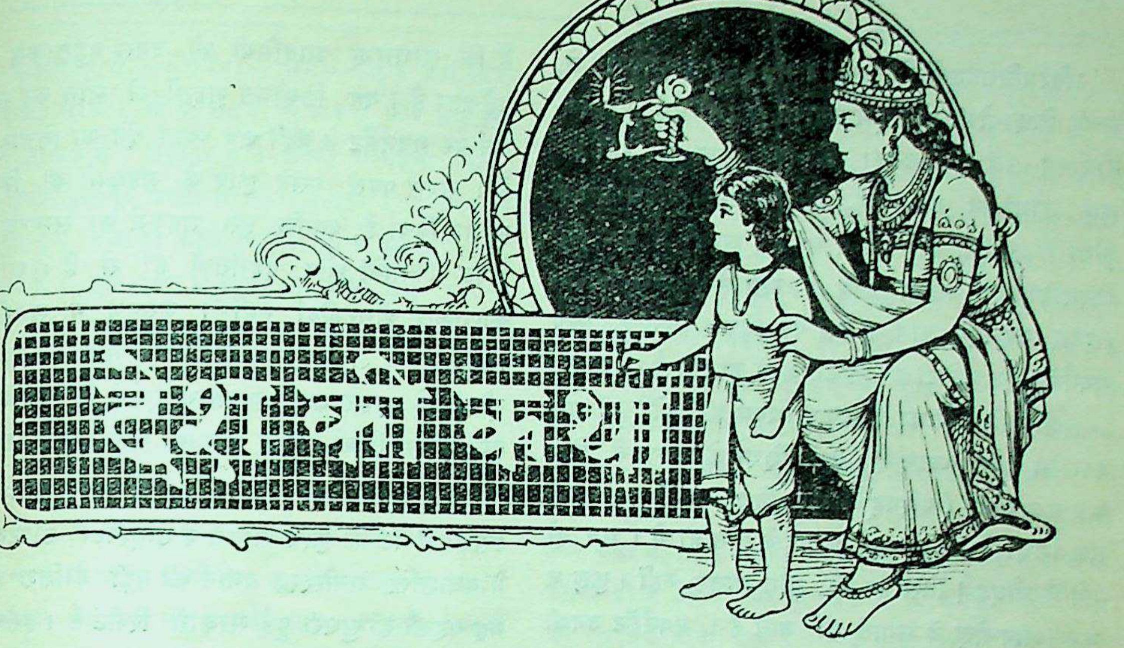

१—शिक्षा-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट।

३१ मार्च १९२३ को समाप्त होनेवाले साल की जो रिपोर्ट शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ने लिखी है उस पर इस प्रान्त की गवर्नमेंट ने अपनी सम्मति प्रकट कर दी। उसकी कुछ बातें सुनिए—

गत वर्ष ४० हज़ार छात्रों ने अधिक शिक्षा पाई। वर्षान्त में उनकी संख्या १०,८०,९४१ थी। सुनने में यह संख्या-वृद्धि बहुत भली मालूम होती है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु विचार करने पर इसकी कर्ण-मधुरता तीक्ष्ण तिक्तता में परिवर्तित हो जाती है। क्योंकि बच्चों या छात्रों की इतनी संख्या-वृद्धि होने पर भी निरक्षरता प्रायः ज्यों की त्यों बनी हुई है। बात यह है कि अब तक फ़ी सदी २½ को भी शिक्षा नहीं मिल रही। यदि इस प्रान्त की आबादी १०० मान ली जाय तो उसमें से केवल २·३८ को स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा दी जा रही है। कोई सौ डेढ़ सौ साल से अँगरेज़ी गवर्नमेंट का सुख हम लोग भोग रहे हैं। पर इतने दीर्घ काल में शिक्षा-प्रचार की इतनी उन्नति!

परन्तु सरकार करे क्या? उसका इसमें कुछ भी क़ुसूर नहीं। उसे जो आमदनी होती है उससे २ करोड़ ४० लाख रुपया तो बड़ी गवर्नमेंट अपने ख़र्च के लिए ले लेती है। जो कुछ बच जाता है उससे १,६४,८७,००० रुपया वह प्रान्तवासियों की शिक्षा के लिए ख़र्च कर देती है। यह इतना ख़र्च कुल आमदनी के ४७ फ़ी सदी के बराबर हुआ। इसी से कहते हैं कि बेचारी गवर्नमेंट इस सम्बन्ध में सापराध नहीं। वह सर्वथा निष्कलङ्क है। लोग कहते हैं कि इस इतने ख़र्च का अधिकांश प्रारम्भिक शिक्षा देने ही में ख़र्च हो जाता है, जिससे विशेष लाभ नहीं होता, क्योंकि बच्चे देहाती मदरसों में दो चार किताबें पढ़कर और गुणा-भाग लगाना सीख कर ही पढ़ना छोड़ देते हैं। इसका जवाब यह है कि रुपया कुछ आसमान से तो फट पड़ता नहीं और लड़के एक-दम से कालेज में भरती हो सकते नहीं। कुछ पढ़कर वे आगे बढ़ेंगे, तभी अधिक शिक्षा पावेंगे। वे आगे नहीं पढ़ते तो सरकार क्या करे। और कामों की तरह शिक्षा-दान भी बिना रुपये के नहीं हो सकता। अतएव जो लोग सरकार की कारगुज़ारी पर टीका-टिप्पणी करने दौड़ते हैं वे ख़ुद भी सरकार की कुछ मदद क्यों न करें? उन्हीं के बच्चों को सरकार शिक्षा देती है। फिर क्या उनका यह फ़र्ज़ नहीं कि वे भी कुछ ख़र्च दें? और रुपया मिले तो और अधिक शिक्षा दी जाय। क्यों, ठीक है न? सरकार ने अपनी समालोचना में कुछ कुछ इसी आशय की वचन-विदग्धता दिखाई है।

विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में, इधर कुछ समय से, अनेक शिक्षा-प्रेमी दोषोद्भावनाओं से भरी हुई आलोचनायें कर रहे हैं। उनका विचार सरकार कर रही है। कुछ लोगों का ख़याल है कि प्रयाग-विश्वविद्यालय से बाहर के कालेजों का सम्बन्ध न रहे। आगरे में एक नया विश्वविद्यालय खोला जाय। उसी से बाहरी कालेज सम्बद्ध कर दिये जायँ। इस पर विचार करने के लिए गवर्नमेंट एक कमिटी का सङ्गठन करने जा रही है। तथास्तु।

माध्यमिक शिक्षा के प्रचाराधिक्य की ओर भी सरकार का यथेष्ट ध्यान है। इस शिक्षा के प्रबन्ध के लिए अब एक बोर्ड (परिषद्) बना दिया गया है। ए० फ० तक शिक्षा देनेवाले कालेज पहले तीन ही थे। अब हो गये हैं चौदह! तिस पर भी लोग सन्तुष्ट नहीं। कुछ न कुछ मीन-मेख़ वे लगाते ही जाते हैं। गवर्नमेंट उनकी आलोचनाओं के सम्बन्ध में डाइरेक्टर साहब से सलाह कर रही है। पर उसका कहना है कि जल्दी न करना चाहिए। "जल्द काम शैतान का"। प्रबन्ध की कोर-कसर धीरे धीरे निकल जायगी।

आठ म्यूनीसिपलिटियों ने अपने यहाँ ६ से ११ वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा अनिवार्य कर दी है। उनके मा-बाप को क़ानूनन अपने बच्चे मदरसे भेजना पड़ता है। यह कितनी बड़ी बात है। अध्यापन-कार्य की शिक्षा देनेवाले स्कूल भी अब काफ़ी हैं। स्कूल जानेवाली लड़कियों की संख्या में भी कुछ वृद्धि हुई है ज़रूर। पर आबादी के लिहाज़ से फ़ी सदी आधी (·४७) भी लड़कियाँ शिक्षा नहीं पा रहीं! मुसलमानों के लिए खोले गये मदरसों और मकतबों में भी लड़के बढ़े हैं और अन्य स्कूलों और मदरसों में भी। यह बहुत ही अच्छा हुआ। क्योंकि ये लोग अपने मन से बहुत नहीं पढ़ना चाहते। इसी से इन्हें पढ़ाने की विशेष फ़िक्र सरकार को ही करनी पड़ती है। अछूतों के लिए खोले गये स्कूलों की भी संख्या कुछ बढ़ी है।

२—कृषि के महकमे की वार्षिक रिपोर्ट।

गवर्नमेंट का हर महकमा एक वार्षिक रिपोर्ट लिख कर प्रान्त के गवर्नर के सामने पेश करता है। ये रिपोर्टें अत्यन्तही नीरस होती हैं। वे लिखी भी इस ढँग से जाती हैं कि साधारण आदमियों को उनसे बहुत कम लाभ पहुँचता है। यह शिकायत मुद्दतों से लोग कर रहे हैं। उस पर गवर्नमेंट ने कहीं अब ध्यान देने का विचार किया है। सबसे पहले उसने कृषि के महकमों की रिपोर्ट में सुधार किया है, क्योंकि इस महकमे का सम्बन्ध प्रायः अपढ़ किसानों और देहातियों ही से है। अधिकांश काश्तकार अँगरेज़ीदाँ नहीं। अतएव ये सुधरी हुई रिपोर्ट से भी लाभ नहीं उठा सकते। तथापि अन्य अँगरेज़ीदाँ उसे पढ़कर अब यह समझ सकेंगे कि यह महकमा क्यों क़ायम किया गया है और यह काम क्या करता है।

३० जून १९२३ ईसवी को जो साल ख़तम हुआ उसकी रिपोर्ट को कृषि-विभाग के डाइरेक्टर, डाक्टर लीक, ने यथाशक्ति मनोरञ्जक बनाने की बड़ी कोशिश की है। यह पहली ही सुधरी हुई सरकारी रिपोर्ट है। इसकी कुछ बातों का संक्षिप्त सार सुन लीजिए—

खेती से जो आमदनी होती है वह तीन अंशों में बँट जाती है। पहला अंश गवर्नमेंट का है। वह मालगुज़ारी के रूप में वसूल लिया जाता है। दूसरा अंश तअल्लुक़ेदारों और ज़मींदारों की जेब में जाता है। वे अपने उस अंश को काश्तकारों से लगान के रूप में वसूल कर लेते हैं। बाक़ी बचा तीसरा अंश बेचारे काश्तकारों को, उनकी मिहनत के बदले में, मिलता है।

अच्छा तो सरकार ने जो मालगुज़ारी निश्चित की है उसे तो वह ज़मींदारों से ले ही लेती है। पैदावार कम हो, या अधिक, इसकी वह परवा कहीं करती। हाँ, यदि अवर्षण आदि के कारण किसी वर्ष कुछ भी न पैदा हो, या बहुत ही कम अनाज पैदा हो, तो चाहे वह भले मालगुज़ारी मुल्तवी कर दे, या भूले भटके छोड़ भी दे। कभी कभी तो देखा गया है कि सरकार मालगुज़ारी का कुछ अंश या सर्वांश छोड़ना चाहती है; पर ज़मींदार साहब ज़बरदस्ती लगान वसूल कर लेते हैं। इस कारण गवर्नमेंट को अपना पहला हुक्म मंसूख़ भी करना पड़ता है।

सरकार के बाद ज़मींदारों और तअल्लुक़ेदारों का नम्बर है। उनकी उदारता का उल्लेख हम कर ही चुके। काश्तकार चाहे मरे, चाहे जीता रहे—उसे कुछ बचे या न

बचे—वे अपना अंश—अपना लगान—वसूल किये बिना नहीं रहते। सरकार की आमदनी निश्चित है और ज़मींदार की भी निश्चित है। सरकार यदि अपनी आमदनी में हर तीसवें साल इज़ाफ़ा करती है तो ज़मींदार उतने अरसे में तीन चार दफ़े इज़ाफ़ा करके अपना प्राप्य अंश, लगान, बढ़ा लेते हैं। इस दशा में खेती की उपज कम हो या अधिक, इन दोनों हिस्सेदारों में से किसी का कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं।

अब रहे काश्तकार। वे बेचारे खेती में तरक्क़ी करें तो कैसे करें। आगरा-प्रान्त में तो १२ वर्ष तक बराबर ज़मीन जोतने पर उस ज़मीन पर काश्तकार का मौरूसी हक़ हो जाता है। अवध में यह बात भी नहीं। अवध के काश्तकार कभी अपने खेतों को सुरक्षित नहीं समझते। तअल्लुक़ेदार साहबान अनेक पख़े लगाकर उन्हें क़ानूनी शिकंजे में कस सकते और ज़मीन से उन्हें बेदख़ल कर सकते हैं। इस दशा में काश्तकारी की तरक्क़ी कदापि नहीं हो सकती। यदि कोई ज़मीन की हैसियत सुधार कर कुछ अधिक अनाज पैदा करना चाहे तो करे कैसे? उसे यह डर जो लगा रहता है कि ऐसा न हो जो मैं बेदख़ल कर दिया जाऊँ और पैदावार बढ़ाने के लिए किया गया ख़र्च व्यर्थ जाय।

खेतों में खाद डालकर ज़मीन को उर्वरा बनाने, कुवाँ, तालाब आदि खुदाकर सींचने के वसीले पैदा करने और अच्छा बीज बोने से ही पैदावार बढ़ सकती है। ज़मीन है ज़मींदारों की। उन्हें चाहिए था कि वे ये सब काम करने के लिए काश्तकारों की मदद करते। बड़े बड़े चकों में अच्छी अच्छी फ़सलें—गेहूँ, तम्बाकू, कपास, मूंगफली और आलू वग़ैरह—पैदा करके वे दिखाते कि लो तुम लोग इस तरह खेती किया करो। परन्तु यह वे नहीं करते। उन्हें अपने लगान से मतलब। खेती की तरक्क़ी हो चाहे न हो। कुछ ज़मींदारों और तअल्लुक़ेदारों ने छोटे छोटे चक (फ़ार्म) खोले ज़रूर हैं। पर उनसे विशेष लाभ नहीं। और लाभ भी यदि है तो उन्हीं को है। साधारण काश्तकारों को उनसे कुछ भी लाभ नहीं। क्योंकि वे वैसे चक के लिए ज़मीन नहीं प्राप्त कर सकते।

सुभीता न होने पर भी यदि कोई काश्तकार कुछ तरक्क़ी करना चाहे तो उसके पास रुपया नहीं। अच्छा बीज वह कहाँ से लावे, कुवे किस तरह खुदावे और मेस्टन हल के दाम किससे लेकर दे? फिर किसी के पास १० बीघे ज़मीन, किसी के पास १५ बीघे। इतनी कम ज़मीन होने के कारण आलू, तम्बाकू, हल्दी आदि वह बोना चाहे तो कहाँ बोवे। जौ-चना और ज्वार-बाजरा न बोवे तो खाय क्या। और, दस पन्द्रह बीघे तो इन्हीं चीज़ों को बोने के लिए चाहिए।

विघ्नों और रुकावटों की इस परम्परा को देख कर लोगों को समझ लेना चाहिए कि इस प्रान्त में खेती की उन्नति करना कितना कठिन है। सरकार ने इन सब कठिनाइयों का उल्लेख करके यह सूचित किया है कि इस प्रान्त में खेती की दशा जो अच्छी नहीं उसका दोष सरकार के सिर नहीं मढ़ा जा सकता। यह सब सच ज़रूर है। कसर इतनी ही है कि सरकार काश्तकारों की अपेक्षा ज़मींदारों को अधिक दाद देती है। वह यदि पुरानी सनदों की दुहाई न देकर कम से कम पुराने काश्तकारों की ज़मीन पर उन्हें मौरूसी हक़ दे देती और यह निश्चय कर देती कि इतने से अधिक लगान न बढ़ाया जाय तो किसानों का थोड़ा-बहुत भला ज़रूर हो जाता। परन्तु उसने यह भी नहीं किया। अतएव उसकी प्रजावत्सलता में किसान यदि सन्देह करें तो वे दोषी नहीं ठहराये जा सकते।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी, सरकार कहती है कि उसने खेती की तरक्क़ी के लिए ये ये काम किये हैं—

(१) कृषि की शिक्षा के लिए उसने कालेज और स्कूल खोल रक्खे हैं।

(२) गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा आदि का बीज रखने और किसानों के हाथ बेचने के लिए उसने जगह जगह, बीज-भाण्डार क़ायम कर दिये हैं।

(३) कृषि-विषयक जाँच करने के लिए उसने ऐसे कई विद्वान् नियत कर दिये हैं जो इस बात की खोज किया करते हैं कि किन ज़रियों से और किस तरह खेती की पैदावार बढ़ाई जा सकती है।

(४) जहाँ कुवे नहीं हो सकते वहाँ पाताल फोड़ कर पानी निकालने के लिए उसने मिस्त्री और यंजिनियर नियत कर रक्खे हैं। बुलाने और ख़र्च देने से वे कुवे तैयार कर सकते हैं।

(५) खेती के आधार गायों और बैलों आदि की अच्छी नसलें पैदा करने की योजना भी उसने कर दी है।

इसके लिए प्रान्तवासियों को चाहिए कि वे सरकार को धन्यवाद दें और प्रार्थना करें कि हुज़ूर इन सुभीतों से हमें विशेष लाभ तब तक नहीं जब तक बेदख़ली के डर का भूत हमारे सिर से नहीं उतार लिया जाता और हमारे लगान के निर्ख़ की हद नहीं बाँध दी जाती।

सरकार ने एक काम और भी किया है। उसने अनेक चक अर्थात् फ़ार्म खोल रक्खे हैं। वहाँ उन्नत प्रणाली से खेती होती है। यह उसने इसलिए किया है कि और लोग भी उसी तरह खेती करें। परन्तु दो चार को छोड़ कर इन सभी चकों में घाटा ही घाटा होता है। यह बात स्वयं डाइरेक्टर साहब की रिपोर्ट ही कह रही है। और न भी हो तो चक खोलना और उन्नत खेती करना निरीह और निरन्न किसानों के बूते की बात नहीं। वह उनकी पहुँच के सर्वथा बाहर है।

रिपोर्ट के साल सरकार के इस महकमे में १९ १/४ लाख रुपया ख़र्च हुआ और आमदनी हुई सिर्फ़ ३ १/४ लाख की! बात यह है कि आमदनी बढ़ाने के लिए इसके पास साधन ही नहीं।

३—सरकारी उद्यान।

गवर्नमेंट ने इस प्रान्त के बड़े बड़े शहरों में बाग़ लगा रक्खे हैं। बाग़ से मतलब उद्यान या पुष्पवाटिका से है। फूल-बाग़ों में फूल के वृक्षों के साथ फलदार वृक्ष भी बहुधा लगाये जाते हैं। यदि केवल फूल ही फूल हों और वे बेचे जायँ तो उनसे ख़र्च नहीं निकल सकता। परन्तु फलदार वृक्ष लगाने और फलों की बिक्री का प्रबन्ध होने से उद्यान का ख़र्च निकल सकता है, शर्त यह है कि प्रबन्ध ठीक हो और प्रबन्धकर्त्ता अपने काम में दक्ष हो।

शहरों की बस्ती घनी होती है। वहाँ आबादी इतनी अधिक होती है कि स्वच्छ वायु बहुधा नसीब नहीं होती। दिन भर काम-काज करने पर सायङ्काल मनुष्य श्रान्त हो जाता है। उस समय किसी शान्ति-दायक और स्वच्छ-वायु-पूर्ण स्थान में घंटे आध घंटे बैठने या टहलने से चित्त प्रसन्न होता है, थकावट दूर हो जाती है और फूलों तथा हरे-भरे पौधों को छूकर आई हुई वायु स्वास्थ्य को लाभ पहुँचाती है। इसी लिए शहरों में उद्यानों की आवश्यकता होती है। फलदार वृक्ष न होने से भी इस उद्देश की सिद्धि हो सकती है। तथापि उद्यानों को रक्षित रखने में ख़र्च पड़ता है। अतएव गवर्नमेंट यदि फूलों के साथ फलदार वृक्षों से भी अपने उद्यानों की शोभा बढ़ावे और ऐसा प्रबन्ध करे कि फूलों, फलों और पौधों की बिक्री से ख़र्च निकल जाय तो सोने में सुगन्ध उत्पन्न हो जाय।

खेद है, इस प्रान्त की गवर्नमेंट ने अब तक इस ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया था। उसने तो दो एक उद्यान पहाड़ी बस्तियों और पहाड़ों पर भी लगा रक्खे हैं, जिनसे जनता का बहुत ही कम उपकार होता है। उद्यानों का प्रबन्ध भी अब तक बहुत ही लचर था। प्रायः सभी उद्यानों की आमदनी से ख़र्च अधिक होता था। अर्थात् उनसे घाटा ही घाटा होता था और अब भी होता है। परन्तु लोगों के बहुत हो-हल्ला मचाने पर उसने, कुछ समय से, उद्यानों की रक्षा और देख-भाल का नया प्रबन्ध किया है। अब उसने उद्यानों का प्रबन्ध महकमा ज़िरात को सौंपा है और उनके निरीक्षण के लिए एक डिपटी डाइरेक्टर भी अलग नियत कर दिया है। एक पहाड़ी उद्यान को उसने बन्द कर दिया है और दूसरे को महकमा जङ्गलात के अधीन कर दिया है। इसका फल भी अच्छा हुआ है।

उद्यानों की वार्षिक रिपोर्ट पर गवर्नमेंट ने जो मन्तव्य प्रकाशित किया है उसमें लिखा है कि सन् १९२२-२३ में उनकी दशा पहले से अच्छी रही। १९२१-२२ में ३ लाख २६ हज़ार रुपया ख़र्च हुआ था; पर रिपोर्ट के साल केवल २ लाख ६७ हज़ार ही हुआ। आमदनी भी बढ़ी। वह ८० हज़ार से १ लाख ११ हज़ार हो गई। ग़नीमत है। पर घाटा फिर भी रहा।

इस सम्बन्ध में एक बात दिल्लगी की क्या, बड़े अफ़सोस की है। जैसे और महकमों में अफ़सरी करने की योग्यता हिन्दुस्तानियों में नहीं वैसे ही बाग़ात के महकमे में भी नहीं है। सुपरिंटेंडेंट ही नहीं, माली (Gardener) तक विलायत से मँगाकर गवर्नमेंट को रखने पड़े हैं। पहले सहारनपुर के बाग़ में कुछ युवकों को उद्यान-विद्या सिखाने का प्रबन्ध किया गया था। सम्भव है, अब भी कुछ लोग वहाँ पर यह विद्या सीखते हों। परन्तु हिन्दुस्तानियों ने यह काम सीखने में दिलचस्पी नहीं दिखाई। एक बात और है—यदि सीखे सिखाये माली वहाँ से निकलें भी तो उन्हें नौकरी कौन दे? हिन्दुस्तानी अमीरों को उद्यानों से विशेष प्रेम नहीं और सरकार सबको काम दे सकती नहीं।

विविध विषय

१—कला का विकास।

साहित्य अथवा कला की ह्रास-वृद्धि को देख कर विद्वान् जाति की कर्तृत्व-शक्ति का अनुमान कर लेते हैं। जिस जाति की कर्तृत्व-शक्ति नष्ट होगई है, जिसमें स्वाधीनता का भाव लुप्त हो गया है, जो मानव-स्वभाव की गरिमा को भूल गई है उसके साहित्य या कला का आदर्श ऊँचा नहीं होता। वह दूसरों का अनुकरण करती है, परन्तु उन्हें अपना नहीं सकती। जो दूसरों को देने की शक्ति रखती है वह उनसे लेने में सङ्कोच नहीं करती। वह दूसरों से जो कुछ लेती है उससे उसकी विशेषता नष्ट नहीं होती, किन्तु उसकी वृद्धि होती है। जिसमें अपने अस्तित्व की रक्षा करने की क्षमता नहीं वही दूसरों को सन्देह की दृष्टि से देखती है। वह न तो आगे बढ़ सकती है और न पीछे हट सकती है। साहित्य के विकास में यह स्थिरता जाति का जडत्व सूचित करती है। जिन विद्वानों ने भारतवर्ष के इतिहास की समीक्षा की है उन्होंने यही सिद्ध किया है कि भावों के आदान-प्रदान से भारतीय साहित्य और कला का सदैव विकास हुआ है। कुछ समय पहले एक भारतीय विद्वान् ने एक लेख में भारतीय मूर्ति-विद्या की आलोचना की थी। उसमें भी यही बात बतलाई गई थी। यहाँ हम उसी लेख की कुछ बातें लिखना चाहते हैं।

२—भारतीय मूर्ति-विद्या का विकास।

हिन्दू-मूर्ति-विद्या हिन्दू-धर्म और कला के विकास का एक अङ्ग है, अतएव इसका अध्ययन करते समय हमको हिन्दू-इतिहास के साधारण विकास पर दृष्टि रखना अत्यावश्यक है। यदि हम इतिहास के सम्पूर्ण क्षेत्र की उपेक्षा करते हैं तो इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि हम इतिहास के विभिन्न अङ्गों के पारस्परिक प्रभाव को अस्वीकार करते हैं, इसका एक-मात्र परिणाम यह होगा कि हम एकाङ्गी, मिथ्या और असङ्गत विचारों का प्रतिपादन करने लगेंगे। एक विद्वान् का कहना है कि हमारी समझ में हिन्दू-कला एक अथाह सागर है, जिसमें चिरन्तन काल से विविध प्रकार की रूप-धाराओं का विचित्र सम्मिश्रण और आदान-प्रदान हुआ है, मानो यह हमको उस अनन्त और अज्ञात परमात्मा के खेल की सूचना दे रहा है जो हर घड़ी अपनी इच्छा से संसार में परिवर्तन किया करता है। एक दूसरे इतिहासकार लिखते हैं कि हिन्दू-कला अधिकतर धार्मिक परम्परा की अनुगामिनी है। इस तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, अतएव लोगों की यह उक्ति कि भारतवर्ष सौन्दर्य-कलाओं से शून्य है बहुत कुछ ठीक मालूम होती है।

उपर्युक्त दोनों अवतरणों से यह भली भाँति सिद्ध हो सकता है कि कला के सम्बन्ध में रहस्यमय और गुह्य अर्थ निकालना जितना निरर्थक है, उतना ही बिना विचारे किसी सङ्कुचित सिद्धान्त को मान लेना हानिकारक है। वास्तव में हिन्दू-कला का यथार्थ मर्म समझने के लिए हमको ये दोनों मार्ग छोड़ देने होंगे और हिन्दुओं के इतिहास के विस्तृत क्षेत्र का निरीक्षण करना होगा।

हिन्दू-मूर्ति-विद्या पर विचार करने के पहले यह प्रश्न होता है कि मूर्तियों का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ? किस समय, किस प्रकार, कहाँ, किसने पहले पहल मूर्ति का निर्माण किया? इसके लिए आर्य-जाति की भारतीय योरपीय शाखा के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद की शरण लेने के अतिरिक्त और कोई साधन हमारे पास नहीं है। किन्तु वेदों में देवताओं की प्रतिमाओं या मूर्तियों का कोई

उल्लेख नहीं है। यहाँ तक कि भारतीय-योरपीय शाखा की मुख्य मुख्य भाषाओं में देवता के लिए जो शब्द व्यवहृत हुए हैं, यदि उनका विश्लेषण किया जाय तो उनमें व्यक्तित्व की भावना का कहीं पता न लगेगा, जिसके बिना मानसिक शास्त्र के मतानुसार प्रतिमा बनना सर्वथा असम्भव है। प्रोफ़ेसर मिलेट, जो शायद आज-कल सबसे बड़े भाषा-विद्या-विशारद हैं, लिखते हैं—

वैदिक देवता तीन भिन्न भिन्न वर्गों में विभाजित हैं, इन वर्गों में परस्पर कभी सम्मिश्रण नहीं होता है। ये तीन वर्ग हैं—पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग। प्रत्येक वर्ग में ग्यारह देवता हैं। ये वैदिक देवता मूक प्रकृति के प्रतिनिधि हैं। वैदिक धर्म ऊपर से बहुदेववादी धर्म मालूम होता है, किन्तु वास्तव में देवताओं की इस कल्पना के अन्तस्तल में एक ब्रह्म की भावना बड़े प्रबल वेग से बह रही है—कस्मै देवाय हविषा विधेम।

ज्यों ज्यों हम वैदिक युग से ब्राह्मणकाल की ओर अग्रसर होते है, त्यों त्यों देवताओं के एकीकरण की सम्भावना अधिकाधिक दूर दिखाई देने लगती है। वैदिक युग के अन्तिम समय में देवताओं के एकीकरण के लिए निश्चित रूप से उद्योग होने लगा था। इस प्रकार उस आदिपुरुष का विकास हो रहा था, जो केवल मूक प्रकृति का प्रतिनिधि-मात्र नहीं था, बरन जिसमें मानवी भाव आरोपित किये जाने लगे थे। ब्राह्मणकाल में कम से कम देखने में आदि पुरुष की कल्पना यज्ञ-विधान के बाहुल्य के कारण धीरे धीरे दबने लगी। ब्राह्मणों का उतना ध्यान देवताओं की महिमा बढ़ाने की ओर नहीं था, जितना यज्ञों की महत्त्व-वृद्धि की ओर था। किन्तु धीरे धीरे आदर्श यज्ञ-विधान में ही प्राणिभाव आरोपित होने लगा और यज्ञ-विधान के विभिन्न अङ्गों का परस्पर सामञ्जस्य ही उसका रूप समझा जाने लगा। इस प्रकार ब्राह्मणों ने भारतीय मस्तिष्क को संस्कारों के झमेलों में घुमाते हुए अन्त में उसको सृष्टि के आदि-कारण तक पहुँचा दिया, जिसका वर्णन आरण्यकों और उपनिषदों में परमात्मा के रूप में किया गया है। वास्तव में ये ग्रन्थ परमात्मा की चिरन्तन खोज के अपूर्व इतिहास से पूर्ण हैं। यहाँ हिन्दू आध्यात्मिकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है, किन्तु इससे मूर्ति-विद्या का कोई सम्बन्ध नहीं था।

पौराणिक युग के जन्मकाल में यज्ञ का विचार शिथिल पड़ गया था, किन्तु उसके स्थान में तप और योग के आदर्शों की स्थापना हुई थी। इन क्रियाओं के द्वारा मनुष्य सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् बनना चाहता था, देवताओं की समानता करने एवं उनसे भी बढ़ जाने की उत्कण्ठा मनुष्य में उत्पन्न हो रही थी। इन विधानों का परिणाम हुआ स्वावलम्बन। परन्तु उसके साथ ही भ्रान्ति और मक्कारी भी फैली। किन्तु न तपस्या के और न योग के सिद्धान्तों में ही मूर्ति-विद्या के विकास के कोई लक्षण थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि जब महावीर और गौतम बुद्ध ने मनुष्यों को सुधार और मुक्ति का द्वार बतलाया था उस समय उनको प्रचलित धर्म के दो अङ्गों का विशेष रूप से सामना करना पड़ा था—पहला संस्कार, दूसरा वैराग्य। गौतम बुद्ध ने संस्कारों का विधिपूर्वक खण्डन किया, किन्तु वैराग्य की उपयोगिता का उतना ह्रास नहीं हुआ था अतएव उसको उन्होंने अपनी शिक्षा का अङ्ग बना लिया। स्वयं अपने अध्यात्म-मार्ग के प्रारम्भ में उन्होंने तपस्या और वैराग्य का अवलम्बन किया था, तत्पश्चात् उनको ज्ञान हुआ था। किन्तु उनकी विचार-प्रणाली में देवताओं अथवा देवताओं की कल्पना को कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं दिया गया है। यदि मूर्तियाँ या प्रतिमायें भी ब्राह्मणयुग के संस्कारवाद का आवश्यक अङ्ग होतीं तो भगवान् बुद्ध अवश्य यज्ञ-प्रणाली और संस्कारवाद के घोर विरोध में अपनी अन्य युक्तियों के साथ मूर्ति-पूजा को सम्मिलित करते। बौद्ध-धर्म के सर्वश्रेष्ठ संरक्षक अशोक अपने गुरु के मार्ग से रत्ती भर इधर-उधर नहीं हुए हैं, उनके शिलालेखों में यज्ञों का खण्डन तो बराबर पाया जाता है, किन्तु देवताओं या देवताओं की प्रतिमाओं का विचार कभी इस अनुभवी पुरुष के मस्तिष्क में नहीं आया है। एक महाराज, जिसने चित्रणकला के सम्बन्ध में प्रयोग किये हैं, जो भारतवर्ष में कला का सर्वप्रथम प्रवर्तक है, उसको भी अपने गुरु की प्रतिमा बनाने का,

जिसके परलोकगमन को दो सौ वर्ष से अधिक हो गये थे, कभी लालच नहीं हुआ है; यह घटना हिन्दूमूर्ति-विद्या के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगी।

इस समय हमारे लिए वेदों के समय-निरूपण का सन्दिग्ध प्रश्न उठाना किसी प्रकार उचित नहीं है। हमको केवल शिलालेखों अथवा स्मारक पत्रों के आधार पर विचार करना है। अशोक के समय तक के शिलालेखों से यही सिद्ध होता है कि भारतवर्ष में न तो बड़े बड़े राजा-महाराजाओं ने और न कला-प्रेमी सज्जनों ने अपनी इष्टदेव-सम्बन्धी भावनाओं को कभी रूप और आकार देने का प्रबल प्रयत्न किया है। भारतीय-पारसीय देवताओं का सबसे प्राचीन वर्णन एक शिलालेख में पाया जाता है। यह अशोक के समय के पहले की बात है। अन्यत्र कहीं मूर्तियों का उल्लेख नहीं पाया गया है, यद्यपि हिन्दुओं के ईश्वरीय विचार में समय समय पर महान् परिवर्तन होते रहे हैं, किन्तु देवताओं की प्रतिमाओं की कहीं चर्चा नहीं है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस समय तक भारतीय और पारसीय आर्यों का विकास ठीक एक प्रणाली से होता रहा है। पहले पारसियों में भी प्रकृति-पूजा (नैसर्गिक शक्तियों की पूजा—जैसे आकाश, पृथ्वी, जल, अग्नि आदि) की प्रथा थी, अन्त में उनके आदि आचार्य ने एकेश्वरवाद के द्वारा इन सब देवताओं का एकीकरण कर दिया। वर्तमान पारसियों में अग्नि और मूर्ति-पूजा आज तक चली आती है, वह सब प्राचीन यज्ञ-प्रणाली का रूपान्तर-मात्र है। किन्तु इससे एक बात प्रत्यक्ष है कि भारतीय और पारसीय इतिहास का यह सारा युग एक प्रकार से मूर्तिहीन कहा जा सकता है। आगामी पाँच शताब्दियों में (अर्थात् ईसा से दो सौ वर्ष पहले से लेकर ईसा के तीन सौ वर्ष बाद तक) इस अवस्था में घोर परिवर्तन हो गया। मौर्यकाल के पतन से लेकर गुप्तों के अभ्युदय-काल तक मूर्ति-विद्या में बड़ी उन्नति हो गई थी। भारतीय अन्य प्राचीन विद्याओं की भाँति यह विद्या भी चुने हुए शिष्यों को सिखाई जाती थी।

३—द्राविड़ीय दृष्टिकोण।

भारतीय कला के मूर्ति-शून्य-भाव से मूर्ति-प्रधान भाव पर आने के पहले हमको यह मुख्य तथ्य अवश्य हृदयङ्गम कर लेना चाहिए कि भारतीय इतिहास केवल आर्यों का इतिहास नहीं है। उस समय भारतीय सभ्यता का कोई ऐसा अपरिवर्तनशील सांचा नहीं था कि जो उसमें सम्मिलित होना चाहे वह उसी सांचे में ढाल कर निकाला जाय, बरन अपने उद्देश को सामने रखते हुए अपने विभिन्न अङ्गों की विशेताओं में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करना ही भारतीय सभ्यता का लक्ष्य था। सबसे पहली और सबसे प्रभावशाली जाति जो आर्य्यसभ्यता और कला में सम्मिलित की गई है वह द्रविड़-जाति है। जब हम भारतीय इतिहास का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं तब पहले पहल आर्यों के ग्रन्थ हमारे सामने आते हैं। अतएव अज्ञात रूप से हम उनके पक्षपाती बन जाते हैं। इस पक्षपात को दूर करने का एक-मात्र उपाय यह हो सकता है कि द्राविड़ीय सभ्यता और कला का वैज्ञानिक रीति से यथेष्ट अध्ययन किया जाय, किन्तु शोक की बात है कि इस ओर लोगों का यथेष्ट ध्यान अभी तक नहीं गया है। किन्तु मिस्टर क्रुक ने उत्तर-भारतीय द्रविड़ों की और मिस्टर फ्रेज़र ने दक्षिण-भारतीय द्रविड़ों की जो प्रारम्भिक जाँच की है उससे यह सिद्ध हो गया है कि आर्यों और द्रविड़ों की तुलनात्मक आलोचना करने में बड़ा लाभ है। सभ्यता के इतिहास का यह अर्थ नहीं है कि क्रमानुसार घटनाओं का उल्लेख-मात्र कर दिया जाय, किन्तु सामाजिक जीवन में निरन्तर विचारों का जो आदान-प्रदान हुआ करता है उसकी धारा को समझाना ही इतिहास का एक-मात्र उद्देश हो सकता है। अतएव इतिहास के अध्ययन में समाज की आधुनिक से आधुनिक अवस्था और जीती-जागती परम्परा को सामने रखते हुए प्राचीन ग्रन्थों का मनन करना चाहिए। तभी उनका ठीक ठीक अर्थ समझ में आ सकता है। इस प्रकार की परीक्षा से यह स्पष्ट है कि द्रविड़ों ने आर्द-जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। द्रविड़ लोग सूर्य और चन्द्रमा को, वृक्षों और सर्पों को, भूतों और प्रेतों को सैकड़ों हज़ारों देवी-देवताओं को पूजते थे। उनके पूजा-मन्दिर में देवताओं की बड़ी भीड़ थी। वास्तव में यह रहस्यमय प्रकृति-पूजा एक प्रकार से अनार्य भावना है, किन्तु क्रमशः यह भाव आर्द-सभ्यता में प्रवेश

करता गया और कुछ दिनों बाद वही पृथ्वी माता की गुह्य पूजा के रूप में प्रकट हुआ और अन्त में हिन्दू-धर्म में शक्ति-पन्थ के नाम से प्रचलित हो गया। मिस्टर फ्रेज़र के इस कथन में बहुत कुछ सत्यता मालूम होती है कि वर्तमान हिन्दू-धर्म के ग्रामीण अंश के निर्माण में द्राविड़ीय देवताओं का हाथ रहा है। पुरातत्त्व-विद्या के विद्यार्थियों को दिन प्रति दिन ऐसे ग्रामीण और स्थानीय देवी-देवताओं का पता मिल रहा है जो पूर्णतया कभी हिन्दू-धर्म में सम्मिलित नहीं किये गये हैं। द्रविड़ों की पृथ्वी-पूजा, वीर-पूजा, पूर्वपुरुष-पूजा और मन्त्र-शक्ति की प्रवृत्ति का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ है कि धार्मिक कला में मानवीय प्रतिरूप के उद्भव का श्रीगणेश हो गया है। संसार में सर्वत्र धार्मिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए प्रतिमूर्ति अथवा सङ्केत का सहारा लिया जाता है, अतएव हिन्दू-मूर्ति-विद्या के विकास के सम्बन्ध में यह सुलभ और विश्वासोत्पादक कल्पना मान लेना कि यह विद्या भारतवर्ष में विदेशों से आई है और भारतवर्ष ने विदेशों का अनुकरण-मात्र किया है सरासर भूल होगी। विभिन्न देवी-देवताओं के लक्षणों और सङ्केतों का अध्ययन करने से यह विश्वास हो सकता है कि प्रत्येक लक्षण का एक लम्बा चौड़ा इतिहास है। सम्प्रति यह इतिहास हमारे लिए इतना गुह्य और रहस्यमय हो गया है जितना कि मनुष्य की आध्यात्मिक स्फूर्ति का विकास।

हिन्दू-मूर्ति-विद्या की उत्पत्ति समझने के लिए एक दूसरी कल्पना की जाती है, और आशा है कि इससे हमको बहुत कुछ सहायता मिलेगी। जब आर्यों और द्राविड़ों की सभ्यताओं का परस्पर सम्मिलन हो रहा था उस समय आर्यों की आत्मा विशेषतः अलौकिक और विचारशील थी और द्राविड़ीय आत्मा विशेषतः प्राकृतिक और कलाप्रिय थी। यदि पहले ने साहित्य और दर्शन का निर्माण किया है तो दूसरे ने आख्यानों और कला में उन्नति की है। इस प्रकार यह मालूम होता है कि यद्यपि द्रविड़-जाति आर्यसभ्यता में पूर्णरूप से मिल-जुल गई थी, तो भी कला के द्वारा उसका विशेषत्व सदैव स्थिर बना रहा। यद्यपि प्राचीन भारतीय समाज में द्रविड़ों को कुछ निम्नतर स्थान दिया गया था, तो भी उपयोगी और सुन्दर कलाओं पर उन्हीं का एकाधिकार बना हुआ था। इस विद्या में द्रविड़ अपने आर्य विजेताओं के गुरु समझ पड़ते हैं। इस विद्या में अधिक योग्य होने के कारण अनार्य्य कला-विशारदों और शिल्पकारों को केवल अधिक वेतन ही नहीं मिलता था, बरन राज्य की ओर से उनकी रक्षा का विशेष प्रबन्ध किया जाता था। उदाहरणार्थ कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार शिल्पकारों को मारने या क्षति पहुँचानेवाले व्यक्तियों को बड़े बड़े कठोर दण्ड दिये जाते थे। यह भी प्रतीत होता है कि ये अनार्य शिल्पकार अपने आर्य स्वामियों के आदरभाजन थे। आर्यों ने अनार्य शिल्पकारों के सम्मानार्थ अथर्व-वेद की विराट् पूजा में उनको स्थान देकर अपनी विलक्षण सहिष्णुता का परिचय दिया है।

४—आर्यों और द्रविड़ों का समझौता।

आर्यों और द्रविड़ों का सम्मिलन मानो दर्शन और कला का मिलाप है। भारतवर्ष के मानसिक क्षेत्र में आर्यों और द्रविड़ों की सन्धि मानो आकाश और पाताल का विवाह है। संसार के इतिहास में दो सर्वोत्कृष्ट सभ्यताओं का यह संयोग हर प्रकार से अद्वितीय है। हिन्दू-कला इसी संयोग का मधुर फल है। अन्त में अलौकिक विचार और प्रकृति-प्रेम की दुर्दमनीय धाराओं का सङ्गम होगया, मानो व्यक्त और अव्यक्त, यथार्थवादिता और आदर्शवादिता का मिलाप हुआ है जिससे विशाल पौराणिक वाद की उत्पत्ति हुई है। हिन्दू-मूर्ति-विद्या की उत्पत्ति आर्यों और द्रविड़ों के समझौते और सहयोग के कारण हुई है, और वास्तव में इसने दोनों जातियों के आध्यत्मिक व्यापार में एक सार्वजनिक भाषा का काम दिया है। यही हिन्दू-कला की असली कुञ्जी थी और अब भी है। इस रहस्य को ठीक ठीक समझने के लिए केवल प्राचीन ग्रन्थों का पढ़ जाना पर्याप्त न होगा, प्रत्युत उनकी आनन्दमय उक्तियों के भीतर प्रवेश करना होगा। केवल स्थूल मूर्तियों के दर्शन से काम न चलेगा, बरन उनके मानसिक स्वप्नों में विचरण करना होगा।

आर्य-द्राविड़-कला एक जीती-जागती सचाई है, कोरी कल्पना नहीं है। यद्यपि इसके प्रारम्भिक काल के अब कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं हैं, क्योंकि कला को

व्यक्त करने के साधन और माध्यम दोनों ही नाशवान् थे, तथापि यदि हम इस कला के अवशिष्ट नमूनों की जाँच करें, जो मदुरा, बोधिगया, भरहुत, साँची, अमरावती आदि स्थानों में अब भी पाये जाते हैं, तो हमको यह विश्वास हो जायगा कि यह भारतवासियों के ही उद्योगों का फल है, यद्यपि सर जान मारसल ने बड़ी चतुरता से इनको विदेशी आधारों पर अवलम्बित करना चाहा है। दूसरी ओर डाक्टर गिर्डनर सरीखे पाश्चात्य कला-विशारदों ने स्वीकार किया है कि मौर्यकालिक कला, जो भारतीय कला के अवशिष्ट नमूनों में सबसे प्राचीन है, प्रौढ़ावस्था को पहुँच चुकी थी। मूर्त-विद्या के समय-निरूपण के सम्बन्ध में फ़ौचर ने बड़ी मनोहर बातें लिखी हैं। भरहुत और साँची की प्रणाली देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कला भारतीय बुद्धि की ही उपज है। प्राचीन भारतवर्ष के लकड़ी, हाथीदाँत अथवा सोने के मूर्तिकारों की यह हार्दिक इच्छा मालूम होती है कि उनका कोई पता न लगा सके। बौद्ध-कला के सबसे बड़े जानकार की भी यही सम्मति है कि भारतीय कला की परम्परागत डोरी इतिहासातीत काल से चली आ रही है। बौद्धयुग के बहुत पहले भारत में कला का विकास हो चुका था, यह कल्पना केवल युक्ति-सङ्गत ही नहीं है, बरन् बौद्ध-काल के पश्चात् कला में जो उन्नति हुई है, इस कल्पना के बिना उसका असली स्रोत समझना एक-दम असम्भव हो जायगा। अतएव ग्रनवीडेल की इस सम्मति में कि भारतवर्ष अपनी कला के लिए बौद्ध-धर्म का ऋणी है, बहुत कुछ संशोधन की आवश्यकता है।

पूर्वकालिक आर्य-द्रविड़-कला के बहुमूल्य उदाहरणों से प्रकट होता है कि उन लोगों ने मूर्तियों के द्वारा भावों को अभिव्यक्त करने में अच्छी उन्नति करली थी। धीरे धीरे मूर्ति-विद्या का विज्ञान भी स्थिर हो चला था। महाराज अशोक ने नाशवान् माध्यमों के स्थान में पत्थर का प्रयोग किया था और इसलिए अक्षय सौन्दर्य के कुछ उदाहरण अब तक सुरक्षित बने हुए हैं और बहुत दिनों तक बने रहेंगे। इसके लिए समस्त कला-प्रेमी सज्जन अशोक के चिर-ऋणी रहेंगे। यह बात सदैव ध्यान में रखने की है कि कोई राजा या महाराज एक घोषणापत्र निकाल कर कला में कोई नई प्रणाली निर्धारित नहीं कर सकता है और न किसी विदेशी कला-विज्ञान का प्रेम जनता पर बलपूर्वक ठूँसा जा सकता है। विदेशी कला का अनुसरण करने के पहले विदेशी भावनाओं में तल्लीन होना परमावश्यक है। इसलिए अशोक को भारतीय कला का जन्मदाता ठहराना उसी प्रकार भ्रममूलक है जिस प्रकार भारतवर्ष में आनेवाले यूनानियों को भारतीय कला का प्रवर्तक मान लेना। यद्यपि भारतवर्ष के सबसे प्राचीन ग्रन्थों (वेदों) में देवताओं की प्रतिमाओं का कोई प्रमाण नहीं मिलता है तथापि उत्तर-कालीन ग्रन्थों में जैसे रामायण, पाणिनि, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति आदि में मूर्तियों का यथेष्ट उल्लेख है। प्रोफ़ेसर मेकडानेल और प्रोफ़ेसर वेंकटेश्वर के बीच हिन्दू मूर्तिविद्या के विकास के विषय में एक बहुत ही रोचक विवाद हुआ था। उससे यह सिद्ध हो गया कि वैदिक युग के अन्तिम काल में ही मूर्तियों की प्रथा प्रचलित हो चली थी। आर्य प्रायः देवताओं के प्रति अपना प्रेम साहित्यिक वर्णनों के द्वारा व्यक्त किया करते थे और इसी से उन्हें सन्तोष होता था, किन्तु द्रविड़ लोगों की इच्छा थी कि इन दैवी भावनाओं को स्थूलरूप में व्यक्त किया जाय। धीरे धीरे आर्यों पर द्राविड़ीय प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ता गया और अन्त में दोनों वृत्तियों के समझौते के रूप में देवताओं को प्रतिमूर्ति या सङ्केत के द्वारा व्यक्त करने की प्रथा चल पड़ी। पूर्व-कालिक बौद्ध-कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में उपर्युक्त सामञ्जस्य के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक बार आर्यों ने मूर्ति-प्रथा को स्वीकार कर लिया, फिर तो निम्न-श्रेणी के लोगों ने अन्धाधुन्ध ग्रामीण और स्थानीय देवी-देवताओं और उनकी मूर्तियों की सृष्टि कर डाली। पहले पहल ये असंख्य देवी-देवता आर्य-देवताओं के अनुचर माने गये, किन्तु धीरे धीरे बहुतों को स्वतन्त्र देवताओं का पद प्राप्त हो गया। प्रारम्भिक बौद्ध-काल में ये नाग और यक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। फ़ौचर ने मूर्ति-विद्या की अपनी सबसे नवीन पुस्तक में मूर्तियों को उनके सामाजिक पद के अनुसार भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभक्त किया है, और इस प्रकार उन्होंने मूर्तियों में वर्ण-धर्म चला दिया है। जिस समय हम बौद्ध-कालिक कला

की चहारदीवारी से बाहर निकल कर समस्त हिन्दू-कला के सामान्य विकास पर दृष्टिपात करते हैं तब यह प्रकट हो जाता है कि मूर्तियों के केवल सामाजिक प्रभेद से काम न चलेगा, बरन हिन्दू-कला की व्युत्पत्ति और विकास के नियमों को ढूँढ़ना होगा। तभी उनके आकार-प्रकार के भेद और भिन्न भिन्न शिल्पकारों की शैलियों का सम्मिश्रण ठीक ठीक समझ में आ सकता है।

वास्तव में द्रविड़ लोगों की प्रबल इच्छा थी कि अपने इष्ट-देवों की भावनाओं को स्थूलरूप दिया जाय और अन्त में आर्य-जाति ने इसे स्वीकार कर लिया। इस स्वीकृति ने भारतीय कला के इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। इसके पहले आर्य लोग अपनी भावनाओं को केवल शब्द और ध्यान के द्वारा व्यक्त करने के पक्ष में थे, किन्तु दोनों जातियों की सभ्यता और विचारों के संघर्ष से वैदिक युग के अन्तिम काल में प्रतिमाओं की प्रथा चल पड़ी थी। इसलिए प्रोफ़ेसर मेकडौनेल का यह निष्कर्ष किसी प्रकार आश्चर्यजनक नहीं हो सकता है कि भारतवर्ष में वैदिक युग के अन्तिम काल से लेकर आज तक बराबर प्रतिमाओं का प्रयोग होता रहा है। किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि यद्यपि आर्यों ने मूर्ति-प्रथा अङ्गीकार कर ली थी तो भी वे मूर्ति की अभिव्यक्ति की अपेक्षा शाब्दिक अभिव्यक्ति को अधिक उत्तम समझते रहे, और यही कारण था कि अन्तिम वैदिक युग, पौराणिक युग एवं प्रारम्भिक बौद्ध-युग में प्रतिमाओं की प्रचुरता नहीं हुई थी। पतञ्जलि ने अपने भाष्य में लिखा है कि उस समय कुछ लोग जन-साधारण की मूर्ति-पूजा की प्रवृत्ति से अनुचित लाभ उठाया करते थे, यहाँ तक कि केवल लालचवश शिव, स्कन्द आदि देवताओं की प्रतिमायें बनाई जाती थीं। कौटिल्य ने भी इस घटना का उल्लेख कर पतञ्जलि का समर्थन किया है। अर्थशास्त्र ने तो खुले शब्दों में राजाओं की यह नीति बतलाई है कि वे अपने भाण्डारों को भरने के लिए जन-साधारण के देवताओं और अनार्यों की सम्पत्ति लूट लिया करते थे। उपर्युक्त विवरण से आर्य्यजाति की—कम से कम एक विशेष समुदाय की—मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में कैसी धारणा थी, यह पूर्णतया ज्ञात हो जाता है। ऐसा मालूम होता है कि उस प्राचीन युग में मूर्ति-पूजा धार्मिक विकास के लिए अधिक श्रेयस्कर उपाय नहीं समझा जाता था, बरन केवल उन लोगों के लिए, जो अपनी अवनत दशा के कारण उसके वशीभूत हो रहे थे, मूर्तिपूजा गर्हित नहीं मानी गई थी। सम्भव है कि आर्य्य-मस्तिष्क में मूर्तिपूजा की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ न कुछ सन्देह सदैव बना रहा हो, क्योंकि उसकी सम्मति में ध्यान ही दैवी भावनाओं को यथार्थ रूप से व्यक्त करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। धार्मिक विकास में स्थूलमूर्ति पूरी तरह से ध्यान का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। अतएव उन लोगों ने 'अनन्त' की किसी प्रकार की परिभाषा करने अथवा 'अनिर्वचनीय' को किसी प्रकार इन्द्रिय-सुलभ रूप-रङ्ग में प्रकट करने की चेष्टा नहीं की। चेष्टा करना तो दूर रहा, वे सदैव इस कार्य से बचना चाहते थे। बौद्धकालिक दिव्यावदन की कथा से, जिसमें यह दिखाया गया है कि तत्कालीन शिल्पकार भगवान् बुद्ध का यथार्थ चित्र बनाने में हिचकते थे, यही दोनों बातें प्रकट होती हैं। सम्भव है, या तो कला उस समय इतनी उन्नत न हुई होगी या धार्मिक मार्ग में यह उद्योग सराहनीय न समझा जाता होगा। कोशल के महाराज प्रसेनजित का कहना है कि शिल्पकारों ने भगवान् बुद्ध के देदीप्यमान रूप का चित्र बनाने का अनेक बार उद्योग किया, किन्तु यथार्थ चित्रण में सदैव असफल हुए। भरहुत के शिल्पकार अधिक योग्य और स्वजातीय परम्परा के अधिक अनुरागी मालूम होते हैं। इन लोगों ने भरहुत के स्तूप पर महाराज प्रसेनजित और उनके गुरु भगवान् बुद्ध को धर्मचक्र के साथ बड़ी खूबी से अङ्कित किया है। बुद्ध ने संसार को जो एक नया सन्देश सुनाया है और प्रसेनजित जिसका दृढ़ प्रेमी था, वही उच्च सन्देश धर्मचक्र के द्वारा प्रकट किया गया है। बौद्ध-युग के प्रारम्भिक काल में ही भगवान् बुद्ध के विविध कार्यों के लिए कुछ चिह्न प्रचलित हो गये थे। सभी जगह साँची, बोधिगया, अमरावती आदि में उन्हीं चिह्नों का प्रयोग किया गया है। बोधिगया में बुद्ध भगवान् को जो ज्ञान हुआ था उसका द्योतक बोधिवृक्ष है। धर्मचक्र से उस धर्म-सन्देश का अभिप्राय है जो

उन्होंने पहले पहल सारनाथ में प्रतिपादित किया था। स्तूप हमको भगवान् बुद्ध के कुशीनगर के निर्वाण की सूचना दे रहा है। वास्तव में प्राचीनतम बौद्धकला के स्मारक ये टूटे-फूटे चिह्न धार्मिक सिद्धान्तों एवं कला के नियमों से भी अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं, क्योंकि इनके द्वारा संक्षेप में हमें यह मालूम हो जाता है कि दो सहस्र वर्ष पहले भारतीय कला की क्या अवस्था थी।

५—यूनानियों का सहयोग।

यह कहा जाता है कि हिन्दूमूर्ति-विद्या के विकास में यूनानी मस्तिष्क ने बड़ा भारी प्रभाव डाला है। यदि आर्यों की इन्द्रियातीत को स्थूल रूप में व्यक्त करने की अनिच्छा को वटाने में यूनानियों की रूप-उपासना किसी प्रकार सहायक हुई हो तो हमें इसमें आश्चर्य नहीं। यह अनिच्छा द्रविड़ों के सहयोग के कारण पहले से ही बहुत कुछ घट गई थी, किन्तु अब उत्तर-पश्चिमीय देशों में बसनेवाले विदेशियों ने इस अनिच्छा को एक प्रकार से बिलकुल मिटा दिया। फ़ौचर ने इस प्रभाव को एक प्रबल बाढ़ से उपमा दी है, किन्तु हमें यह किसी प्रकार युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। क्योंकि वास्तव में इस काल में भी कला का विकास स्वदेशी परम्परा के अनुसार हुआ है। तत्कालीन कला पर विदेशियों ने क्या प्रभाव डाला है, इसका यथार्थ परिमाण जानने के लिए हमको यूनानी वीर आगन्तुकों का इतिहास देखना पड़ेगा। गान्धार के यूनानी फ़िडियस और प्रेक्सीटाईल्स के समय के यूनानियों से उतने ही भिन्न थे जितने सीन, फ़्लोरेन्स, वेनिस, मिलन के नवजीवन-प्राप्त इटली-वासी १७ वीं शताब्दी के अधःपतित इटली-वासियों से भिन्न थे। इन देशों में केवल ऐतिहासिक वायुमण्डल में परिवर्तन नहीं हुआ था, प्रत्युत वहाँ के सदाचार, कला एवं मानसिक परिस्थिति में भी बहुत अन्तर हो गया था।

इसलिए गान्धार के यूनानी शिल्पकारों ने भारतीय कला पर जो कुछ भी प्रभाव डाला हो उसको यूनानी नाम देना वास्तव में किसी प्रकार युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकता। सिकन्दर के पश्चात् बैक्ट्रिया और गान्धार के यूनानी राज्यों ने अपनी मातृभूमि यूनान से राजनैतिक सम्बन्ध तो विच्छेद कर ही लिया था, किन्तु साथ ही इनकी सभ्यता में भी बड़ा अन्तर पड़ता जाता था, क्योंकि इन प्रवासी यूनानियों में विदेशी अनुकरण की बड़ी तीव्र प्रवृत्ति थी, जिससे तत्कालीन यूनानियों की शिक्षा-दीक्षा और व्यवहार में विचित्र प्रकार की खिचड़ी पक रही थी। केटो दी सेनसर नामक रोम का सम्राट्, जो रोम के सरल और शुद्ध जीवन का अन्तिम पक्षपाती था, रोम को यूनानी छूत से बचाने के लिए आजीवन उद्योग करता रहा। किन्तु भावी को कोई कैसे रोक सकता है। रोमन प्रजातन्त्र के सबसे नामी इतिहासज्ञ थियोडोर मोमसेन ने भी यही बात लिखी है। अन्त में हार मान कर उसको ईसा के १४६ वर्ष पूर्व में यूनान को अपने शासनाधिकार में लेना पड़ा और इस प्रकार राजनैतिक और नैतिक अधःपतन रोकने का उद्योग किया गया। किन्तु जिस प्रकार यदि सड़े हुए फोड़े को निकाल कर बाहर न कर दिया जाय, तो वह धीरे धीरे सारे शरीर को सड़ाने लगता है, उसी प्रकार जब रोम ने यूनान को अपनाया तो रोम में भी भीषण सामाजिक विप्लव उठ खड़ा हुआ। पराजितों के रोग से विजेता भी हैरान हो गये। अतएव ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी का यूनानीपन किसी के लिए कल्याण-कारक सिद्ध नहीं हो सकता था। उस समय के यूनानियों में अनेक प्रकार के जङ्गली देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित हो गई थी। इससे एक ही परिणाम निकलता है कि मेनन्डर-कालीन यूनानी विदेशी सिद्धान्तों और रीति-रस्मों को प्रायः अन्ध-विश्वास के साथ मान लेते थे। विशेषकर तत्कालीन यूनानियों का और साधारणतः उन सब लोगों का हृदय, जो उस समय तक किसी धर्म के अन्तर्गत नहीं हुए थे, बिलकुल शून्य था, अतएव चाहे जिसका प्रभाव उन पर आसानी से पड़ जाता था। अतएव बौद्ध-धर्म के लिए गान्धार के यूनानियों पर आधिपत्य जमा लेना अथवा रोमन-साम्राज्य का ईसाई-धर्म की शरण लेना कुछ भी विस्मयजनक नहीं मालूम होता है। सर जान मारसल सरीखे विद्वान्, जो भारतीय कला को यूनानी कला का अनुकरणमात्र मानते हैं, शायद उपर्युक्त ऐतिहासिक घटनाओं का स्मरण नहीं रखते हैं। भिन्न भिन्न जातियों के आदान-प्रदान के विषय में कल्पना करने के पहले निर्विवाद

तथ्यों की ओर ध्यान देना परमावश्यक है। डाक्टर स्टीन का मत है कि सबसे पहले यूनानियों ने भारतीय मूर्ति-विद्या पर मेनेण्डर के समय में (ईसा के १५० वर्ष पूर्व प्रभाव डाला होगा। इसके पहले यूनानी प्रभाव की चर्चा करना वृथा है, क्योंकि यही सबसे पहला यूनानी बादशाह है जो भारतवर्ष के प्राङ्गण में धँसा है। एक ओर से एक यूनानी राजकुमार आया है, जिसको अफलातून और अरिस्टोटिल का घमण्ड है और दूसरी ओर हिन्दू और बौद्ध दर्शनों का पारङ्गत विद्वान् नागसेन खड़ा हुआ है। दोनों का मिलाप मानो पूर्व की दो महान् जातियों का सुन्दर सम्मिलन है। एशिया के इतिहास की यह घटना लोगों को सदैव याद रहेगी। मलिन्दपन्ह भारतीय सभ्यता की एक विशेष श्रेणी का द्योतक है। यहाँ पुनः व्यक्त और अव्यक्त का रोचक झमेला प्रारम्भ हो जाता है, यद्यपि बौद्ध-धर्म के आच्छादन से इसका दूसरा ही रूप हो गया है। भगवान् बुद्ध तो अन्तर्हित हो गये, किन्तु उनका उपदेश विद्यमान है, उनका उपदेश ही उनकी सच्ची मूर्ति है, उनका अनादि स्वरूप है, इसी के आधार पर धर्मकाय की गम्भीर कल्पना की गई थी।

किन्तु बौद्धधर्म के यूनानी अनुयायियों को अपने गुरु के स्थूल काय की बड़ी आवश्यकता मालूम होती थी। उनको विश्वास था कि वे अपने गुरु की सुन्दर प्रतिमा बना सकते हैं, और अन्त में उन्होंने बना कर भी दिखा दी, और इस प्रकार अपने सहयोगी हिन्दू भाइयों की प्रतिमा बनाने की चिरन्तन अनिच्छा को सदैव के लिए मिटा दिया। यह बड़े मार्के की बात है कि जिस समय स्वदेशी शिल्पकार भरहुत और साँची में, मथुरा और बोधिगया में अपनी प्राचीन परम्परागत साङ्केतिक भाषा में अक्षय मूर्तियाँ गढ़ रहे थे, उसी समय गान्धार और तक्षशिला के बौद्धानुयायी यूनानी कला-विशारद बड़ी श्रद्धा के साथ भगवान् बुद्ध की प्रतिमा में अनिर्वचनीय सौन्दर्य और गाम्भीर्य लाने के लिए कठिन उद्योग कर रहे थे। दूसरी बात यह है कि यूनानी और बौद्ध-कला का उद्भव मुख्यतः धार्मिक प्रेरणाओं के कारण हुआ है और यह स्वयं सिद्ध है कि धार्मिक कला का विकास भाड़े के टट्टू और रुपये के लोभी कारीगरों अथवा कला-निष्णातों के द्वारा कदापि सम्भव नहीं है। धर्माशोक के अन्तर्जातीय प्रचार का परिणाम ठीक एक शताब्दी के बाद दिखाई दिया, क्योंकि अन्त में यूनानी बौद्ध शिल्पकारों ने भगवान् बुद्ध की मूर्ति बना ही डाली। इन लोगों की मूर्तियों में भी साङ्केतिक प्रणाली के छोटे मोटे चिह्न दिखाई देते हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि ये लोग स्वदेशी शिल्पकारों की नीति से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे। इस सम्बन्ध में दो बातें उल्लेख-योग्य हैं—एक तो यह कि भारतीय कलाविशारदों की कार्य-प्रणाली यूनानी कला से सर्वथा भिन्न थी और दूसरी यह कि यूनानी बौद्ध कारीगर अपने हिन्दू पूर्वजों एवं सहयोगियों की साङ्केतिक भाषा का प्रयोग करने में बहुत कुछ सफल हुए थे। यद्यपि यूनानी बौद्धों को यह ज्ञात था कि उनके हिन्दू सहयोगी साङ्केतिक चित्रण के विरोधी नहीं हैं तो भी उनको भगवान् बुद्ध की प्रतिमा बनाने के लिए उसी नीति का अवलम्बन करना पड़ा था जिसका अनुसरण कुछ दिनों बाद साराफोगी के ईसाई शिल्पकारों ने भी प्रारम्भिक ईसाइयों से ईसा की मूर्ति बनाने की स्वीकृति के लिए किया था। प्राचीन ईसाइयों ने अपने आचार्य के जीवन को अमर बनाने का उद्देश अपने सामने रक्खा था और उनके नवीन सन्देश को एक दयालु गड़रिया के रूप में चित्रित किया था। जब यूनानी बौद्धों ने देखा कि भारतीय शिल्पकार भगवान् बुद्ध की जन्म-सम्बन्धी कथाओं को साङ्केतिक रूप से चित्रित करने का उद्योग कर रहे हैं तब उनको विश्वास हो गया कि इसके द्वारा उनको न केवल अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में सहायता मिलेगी, बरन कला के विकास की गति कई गुना अधिक हो जायगी। अतएव यूनानी बौद्ध-कला-विशारदों ने बुद्ध के चरित्र चित्रित करते करते बड़ी बुद्धिमानी के साथ इन्हीं चरित्रों के बीच में चुपके से अपने नायक को लाकर खड़ा कर दिया और इस प्रकार अपने हिन्दू साथियों के हृदय को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचने दिया। किन्तु ये लोग कथा-निरूपण और साङ्केतिक चित्रण में अपने भरहुत और साँची के साथियों से बहुत पीछे थे, अतएव उनकी पत्थर में खुदी हुई कहानियाँ प्रायः पत्थर के समान ही रहीं। उन्होंने अपने आचार्य के जीवन-नाटक का जो चित्रण किया था उसमें

आवश्यकता से अधिक तड़क-भड़क थी, अतएव उसका प्रभाव अच्छा नहीं होता था। किन्तु यूनानी आखिर में यूनानी ठहरे। कितनी जल्दी उन्होंने उन्नति की और कितनी सुन्दरता से वे भारतीय नमूनों को सामने रखते हुए उनसे आगे बढ़ गये, यह तक्षशिला, बहलोल एवं और भी कई स्थानों की प्रचुर सामग्री से भली भाँति सिद्ध हो जाता है। मूर्ति-विद्या और भवन-निर्माण-विद्या एक ही कला की शाखायें हैं। मूर्ति-विद्या के अतिरिक्त यूनानियों ने भारतीय भवननिर्माण-विद्या को भी प्रारम्भिक अवस्था से उठाकर उन्नति के पथ पर अग्रसर कर दिया था। किन्तु इस आदान-प्रदान में भी यूनानियों ने अपनी असाधारण बुद्धिमत्ता के द्वारा भारतवर्ष से कुछ ऐसी बातें सीख ली थीं जिनके कारण गान्धार के उत्तरकालीन शिल्प के उदाहरणों में एक विशेष प्रकार की रोचकता और कोमलता आगई है। वास्तव में यहीं भारतीय और यूनानी कलाओं की विधि-गति का ठीक ठीक संयोग हुआ है, जिसके फलस्वरूप कला में एक नवीन ढङ्ग की सृष्टि हुई है और जिसका प्रभाव मध्य-एशिया की गुफाओं और बौद्धकालिक आश्रमों में सर्वत्र पाया जाता है।

६—कला का सम्मिलन।

यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-धर्म के दो पहलू हैं—१ भारतवर्षीय और २ एशियायी। इस समय यह बतलाने की आवश्यकता नहीं मालूम होती कि महाद्वीप में गान्धार से लेकर खोटान, कूच और मध्य-एशिया होता हुआ बौद्ध-धर्म किस प्रकार एक ओर चीन, कोरिया और जापान तक पहुँच गया और दूसरी ओर नेपाल, तिब्बत, भारतीय चीन होता हुआ पूर्वीय टापुओं तक पहुँच गया। केवल यह कहना पर्य्याप्त होगा कि बौद्ध-धर्म में समय समय पर अनेक जातियों और सभ्यताओं के संघर्ष के कारण बहुत परिवर्तन होते रहे हैं। सरसरी तौर पर गान्धार के अवलोकितेश्वर, चीन के मञ्जुश्री, तिब्बत के शाक्य मुनि, जापान के अमिताभ बुद्ध अथवा प्रज्ञा पारमिता के दर्शन करने से आपको उपर्युक्त तथ्य का प्रमाण मिल जायगा। एवं आपको यह विश्वास हो जायगा कि बौद्ध-धर्म के महान् परिवर्तन में भिन्न भिन्न जातियों के विचारों का भारी प्रभाव पड़ा है। वास्तव में विभिन्न कलाओं के संयोग से एक विशाल आदर्श स्थापित करने का उद्योग किया गया है। डाक्टर अनेस्की ने बौद्ध-धर्म की व्याख्या करते हुए एशिया के इतिहास के इस विचित्र पहलू की अच्छी खोज की है—‘‘बौद्ध-धर्म के जन्मकाल में ही यह विचार परिपक्व हो गया था कि प्राणि-मात्र भगवत-पूजा में सम्मिलित हो सकते हैं, और इष्टदेव चाहे जिस रूप में प्रकट हुआ करते हैं। अतएव इस विश्वास के अनुसार जापान का सम्पूर्ण प्राचीन देव-समूह धीरे धीरे बौद्ध-धर्म के विशाल अङ्क में समा गया और परिणाम-स्वरूप जो बौद्ध-धर्म प्रकट हुआ उसको खिचड़ी धर्म कहना अधिक युक्तिसङ्गत होगा।’’

फ़ौचर का मत है कि मूर्तिविद्या से मनुष्य-जाति को बड़ा लाभ हुआ है, क्योंकि इस विषय में पूर्व और पश्चिम ने सहयोग के साथ काम किया है, देवताओं की प्रतिमूर्त्तिविद्या को समुन्नत करने में भारतीय और यूनानी मस्तिष्क ने बराबर भाग लिया है। जिस मार्ग से यूनानी बौद्धकला का विकास हुआ है, ठीक उसी मार्ग से कुछ दिनों बाद यूनानी ईसाई-कला का विकास हुआ है। यूनानी बौद्ध-कला का ईसा या मेरी की प्रतिमा से कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह प्रश्न तुलनात्मक कला के अन्तर्गत है। इस विषय पर भी फ़ौचर ने दो गवेषणापूर्ण लेखों के द्वारा अच्छा प्रकाश डाला है। एक का नाम है बौद्धों की मेरी और दूसरे का नाम है फ़्रांस और भारतवर्ष में धर्माचार्यों का जोड़ा। डाक्टर ग्रनवीडेल ने भी इस सम्बन्ध में नई नई बातें खोजी हैं। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि प्रतिमाओं की संख्या अन्धाधुन्ध बढ़ रही थी, सुतरां देवालयों की संख्या में वृद्धि होना स्वाभाविक था। महायान और हिन्दू-धर्म दोनों ने ही मूर्ति-निर्माण की पूर्ण स्वतन्त्रता दे रक्खी थी, इसलिए विभिन्न जातियों की धार्मिक एवं सौन्दर्य-पिपासु-प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात से मूर्तियों की संख्या में बड़ी वृद्धि हो रही थी। जब ग्रामीण देवी-देवताओं को विशुद्ध देवालयों में स्थान मिलने लगा तब इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि देवता कई एक श्रेणियों में विभाजित होने लगे। हिन्दुओं के शाब्दिक अनेकेश्वरवाद का यह भयङ्कर

परिणाम हुआ कि यूनानियों को, जो स्थूल मूर्तियाँ गढ़ने के लिए पागल से हो रहे थे, नाना प्रकार की दैवी भावनाओं का मनचाहा आधार मिल गया। इस पर फ़ौचर ने कटाक्ष करते हुए लिखा है कि यूनानी मूर्ति-पूजा-प्रचार के लिए सबसे अधिक दोषी हैं। जब बौद्धों ने एक बार परम्परागत युक्तियों के अनुसार धर्मकाय का सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया तब फिर उनके लिए उस सिद्धान्त को शब्दाडम्बर की विचित्र खींचतान से बचाना असम्भव होगया। सुतरां सम्भोगकाय अथवा दिव्यानन्दकाय और निर्वाणकाय अर्थात् महात्माओं और भक्तों के शरीर में इष्टदेव के अवतरण के सिद्धान्त तुरन्त ही प्रतिपादित हो गये। विचित्रता तो यह हुई कि असली सिद्धान्त व्याख्याओं के शब्द-जाल में आँखों से ओझल हो गये, मानो राजा अपने भृत्य-समाज के बीच में डूब गया हो। वास्तव में शाक्य मुनि अवलोकितेश्वर और सामन्त-भद्रों के जमघट में इस प्रकार छिप गये थे कि १३ वीं शताब्दी में जापान के एक बादशाह को शाक्य मुनि को पुनः उचित आसन पर प्रतिष्ठित करने के लिए राजाज्ञा प्रचारित करनी पड़ी थी। किन्तु इस क्षेत्र में राजाज्ञाओं का कोई मूल्य नहीं हुआ करता है, अतएव महायान की पौराणिक वृद्धि बेखटके होती रही। अन्त में जावा के शिल्पकारों ने बुद्ध की जो मूर्ति गढ़ी, वह भगवान् बुद्ध की आदर्श और स्थायी मूर्ति मानी जाने लगी। इसमें अमिताभ ध्यान-मुद्रा, विरोचन धर्मचक्र-मुद्रा, रत्नसम्भव वरद-मुद्रा और अमोघसिद्धि अभय-मुद्रा लगाये हुए हैं। आश्चर्य की बात यह है कि जावा ऐसे टापू के चित्रण को महायान और हिन्दू-धर्म के विचित्र मिश्रण की अन्तिम सन्धि करने का श्रेय प्राप्त हुआ है। विरोचन भगवान् बुद्ध के अवतार माने गये हैं, इन्होंने एकता का सिद्धान्त बतलाया है 'मैं तू हूँ और तू मैं है। इतने थोड़े त्यागी पुरुष क्यों मुक्ति प्राप्त कर पाते हैं, इसका एक-मात्र कारण यह है कि वे वैरोचन बुद्ध और शिव की पूर्ण एकता का अनुभव नहीं कर सकते हैं'। फ़िनेट महोदय अपनी एक रोचक टिप्पणी में लिखते हैं, "भारत-चीन-प्रदेश में पुनः हमको शैव और बौद्ध-धर्म के परस्पर आदान-प्रदान का अनुभव होता है।" प्रोफ़ेसर कर्न ने जावा में यही बात देखी है। चम्पा और कम्बोडिया के कई एक स्मारक इसी बात की घोषणा कर रहे हैं। इस प्रकार शाक्य मुनि धीरे धीरे मनुष्य की श्रेणी से उठकर योगेश्वर भगवान् शिव के अवतार माने जाने लगे और अन्त में वही पुराणों में भगवान विष्णु के अवतार माने गये हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन बौद्ध-धर्म का निर्वाण-सिद्धान्त इस समय बिलकुल उलट-पुलट हो गया था। इस काल में मध्य-एशिया और चीन के प्रभाव के कारण अनेक काल्पनिक सूत्र गढ़े जा रहे थे। भारतीय शास्त्र की एक नई शाखा की सृष्टि की जा रही थी। इसका अध्ययन करने के लिए अभी कई पीढ़ियों तक विद्यार्थियों को फ़्रांस आते रहना चाहिए, क्योंकि यह उन विद्वानों की जन्म-भूमि है जिन्होंने एशिया के इतिहास को सच्चे ढङ्ग से समझने का उद्योग किया है। इन विद्वानों का मत है कि बौद्ध-धर्म का केवल हीनयान और महायान की प्राचीन पद्धति के अनुसार अनुसन्धान करना पर्याप्त नहीं है। वास्तव में एशिया के अन्तस्तल में धँसकर उसके शुद्ध स्वरूप के जानने का श्रीगणेश इन्हीं लोगों ने किया है। बौद्ध-मत, प्राचीन पारसी-मत, ईसाई-मत, प्राचीन जापान-मत आदि कितने ही मतों की अज्ञात धाराओं के संघर्ष में एशिया के मस्तिष्क की वास्तविक स्थिति जान लेना कुछ आसान काम नहीं है। आश्चर्य इस बात का नहीं है कि संसार में इतनी विभिन्नता और बाहुल्य है, किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि इस विभिन्नता में इतनी अधिक समानता है, कर्कश शब्दों की ध्वनि में मधुर सङ्गीत सुनाई दे रहा है, ऊपरी उथल-पुथल में सामञ्जस्य विद्यमान है। ईसा के जन्म से पहले की और पीछे की दो शताब्दियाँ योरप-एशिया के इतिहास में बड़े महत्त्व की हैं। चीन ने अपनी सभ्यता के चारों ओर जो कठोर दीवारें खड़ी कर रक्खी थीं, वे टूट गईं। एशिया के ऐतिहासिक सङ्गठन ने दूसरा ही रूप धारण कर लिया। संसार में विभिन्नता मुख्य है या एकता, यह जीवन का एक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है, सभी मस्तिष्क इसको सुलझाने में लगे हुए हैं। हिन्दुओं ने इसका अच्छा परिशीलन किया है, एकता और सहयोग का सच्चा सिद्धान्त संसार के सामने खोल कर रख दिया है। प्रोफ़ेसर लेवी ने बतलाया है कि

भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक अश्वघोष ने अपने एक शास्त्र के प्रारम्भ में लिखा है कि प्राणि-मात्र का सन्देह और अज्ञान दूर हो सकता है, प्राणि-मात्र पाप-पङ्क से बच सकते हैं और हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करके परम ज्ञान लाभ कर सकते हैं, उन्हीं के हित के लिए यह शास्त्र लिखा जाता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दुओं के भक्ति-मार्ग की मीमांसा में बौद्धों के सर्वसत्व सिद्धान्त का, यूनानियों के सार्वभौमिकवाद का एवं ईसाइयों की दानशीलता का कितना हाथ रहा है। अश्वघोष ने जो सर्वसत्व के लिए अतीव उत्कण्ठा और प्रेरणा दिखलाई है उससे एक प्रकार से उपनिषदों के सर्वानुभव सिद्धान्त की ही प्रतिष्ठा हुई है। हमारे लिए यह कहना पर्याप्त होगा कि भारतवर्ष में उस समय से लेकर बहुत दिनों तक छोटी-मोटी अनेक जातियाँ आई हैं जो अपने साथ नाना प्रकार के धार्मिक विचार लाई हैं, किन्तु हिन्दुओं ने अपनी विलक्षण ग्राहिका-शक्ति के अनुसार उनमें से मतलब की बातों को सहज में ही अपने धर्म का अङ्ग बना लिया। ऐतिहासिक विकास की स्वाभाविक गति समानता से विभिन्नता की ओर हुआ करती है। इसलिए यह घटना अचानक नहीं कही जा सकती कि जब मेनण्डर नागसेन से युद्ध कर रहा था उस समय हेलियोडोरस वेसनगर में गरुडध्वज की मूर्ति स्थापित कर अपने को वैष्णवधर्मानुगामी घोषित कर रहा था। उसी स्थान से थोड़ी दूरी पर पुष्पमित्र अश्वमेध यज्ञ में लगा हुआ था। संक्षेप में ऐसे प्रमाणों की कमी नहीं जिनसे विदेशी राजाओं का हिन्दूधर्म-ग्रहण करना पाया जाता है। इससे बढ़ कर आश्चर्य तो इस बात से होता है कि यूनानी, शक, कुशन आदि राजाओं के सिक्कों पर हिन्दू देवताओं के चिह्न बड़ी प्रचुरता से पाये जाते हैं। अगथोक्लिस के सिक्के पर चैत्र का चिह्न है, मेनण्डर के सिक्के पर चक्र का, एजीलिसीस के सिक्के पर लक्ष्मी का, वेमकर्डफ़िसीस के सिक्के पर शिवजी की मूर्ति है, कुशन-वंश के सुप्रसिद्ध महाराज कनिष्क के सिक्के पर भगवान् बुद्ध की प्रतिमा है।

प्रत्येक मनुष्य को श्रद्धा के द्वारा मुक्ति प्राप्त करना सम्भव होगया, अतएव देवालयों में आश्चर्यजनक वृद्धि होने लगी है। जो अपने और बुद्ध में पूर्ण एकता अनुभव कर सकता था, वही मुक्ति का अधिकारी हो सकता था, अन्त में यह सिद्धान्त बन गया कि प्रत्येक मनुष्य की बुद्ध के साथ स्वाभाविक एकता है। इसी भावना के कारण ही हिन्दू-देवालयों में असीम वृद्धि हुई थी, इनमें अवतार का सिद्धान्त प्रचलित हो गया था, उसके स्थान पर बौद्धों ने निर्वाणकाय का सिद्धान्त चला रक्खा था। एक ओर तो हमें मध्यएशिया की गुफाओं में १००० बुद्धों की मूर्तियाँ खुदी हुई मिलती हैं और दूसरी ओर शिव और विष्णु की नामावली १००० तक पहुँच जाती है। इस प्रकार यूनानी मस्तिष्क ने यदि हिन्दू-मूर्ति-विद्या को उसके जन्मकाल में देवताओं को मनुष्यानुरूप व्यक्त करने की क्षमता दिखाकर थोड़ी बहुत सहायता दी थी, तो हिन्दू-विद्वानों ने मनुष्य को देवताओं की कोटि में बिठलाकर मूर्ति-विद्या को चरम-सीमा पर पहुँचा कर कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण संसार के सामने उपस्थित कर दिया है। उनकी धारणा है कि ब्रह्माण्ड का प्रत्येक दृश्य, चाहे सबसे ऊँचा हो, चाहे सबसे नीचा, चाहे सबसे सुन्दर हो चाहे सबसे भद्दा, परमात्मा के रूप का द्योतक है, और इस प्रकार उन्होंने अन्त में बड़ी दृढ़ता के साथ जीव और ब्रह्म को एक कर दिया है। इसलिए वैदिक काल के प्रारम्भिक देवता पहले तीन से तेंतीस हुए और फिर बढ़ते बढ़ते तेंतीस करोड़ हो गये। वास्तव में उनको अखिल सृष्टि में सर्वत्र परमात्मा ही के दर्शन होने लगे थे।

७—चित्र-पद्माकर।

आली हौं गई हौं आज भूली बरसाने कहूँ
तापै तू परै है पदमाकर तनैनी क्यों।
ब्रज-बनिता वै बनितान पै रचै हैं फाग
तिनमें जू ऊधमिनि राधा मृगनैनी यों।
घोरि डारी केशरि सुबेसरि बिलोरि डारी
बोरि डारी चूनरि चुचाति रँग नैनी ज्यों।
मोहिं झकझोरि डारी कंचुकी मरोरि डारी
तोरि डारी कसन बिथोरि डारी बेनी त्यों।

पुस्तक-परिचय

१—हिन्दी-ग्रन्थ-भण्डार कार्यालय (बनारस) की दो पुस्तकें—(१) एकादशी—इसमें ११ छोटी छोटी कहानियों का सङ्ग्रह किया गया है। इससे इसका नाम एकादशी रक्खा गया है। ये कहानियाँ श्रीयुत गोविन्दवल्लभ पन्त की रचनायें हैं। प्रारम्भ में प्रोफ़ेसर रामदासजी गौड़ की लिखी भूमिका है और लेखक का एक चित्र है। गौड़जी से भूमिका लिखाने का काम कई पुस्तक-प्रकाशक ले रहे हैं। जान पड़ता है, गौड़जी 'आशुतोष' हैं। उनकी साहित्य-मर्मज्ञता और विद्वत्ता पर तो किसी को सन्देह ही नहीं हो सकता। परन्तु यदि वे आशुतोष न होते तो कदाचित् उनकी सम्मतियों के लिए पुस्तक-प्रकाशक इतने अधीर न होते। कहानियाँ बुरी नहीं हैं। हिन्दी की अनेक मौलिक और अनुवादित कहानियों से भी ये कहानियाँ अच्छी कही जा सकती हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दी में उत्कट भावों से पूर्ण कहानियों की ही वृद्धि हो रही है। भावुकता भी एक नशा है। आज-कल भावुकता खूब सस्ती हो गई है। उसी सस्ती भावुकता का उपयोग कविताओं और कहानियों में खूब किया जाता है। लेखक अल्पवयस्क जान पड़ते हैं। उनकी रचनाओं में हम अभी भावों की गम्भीरता की आशा भी नहीं रखते हैं। हमें सन्तोष यह है कि उनकी इन कहानियों में भावुकता की वह उत्कटता नहीं है जो हिन्दी की अन्य कहानियों में भरी रहती है। मूल्य १)।

(२) जीवन—यह एक अद्भुत रस-पूर्ण उपन्यास है। इसका दूसरा नाम है बम-विम्राट्। इसके लेखक ब्रह्मचारी प्रभुदत्त शर्मा हैं। यह पुस्तक लेखक की 'मौलिक कल्पना' है। यों तो सभी कहानियाँ कल्पना-प्रसूत होती हैं, परन्तु इसमें कल्पना की बागडोर ज़रा ढीली कर दी गई है। इसी से वह सरपट दौड़ती चली गई है। काल्पनिक होने पर भी कथा सर्वथा निराधार नहीं है। इसमें अनेक बातें ऐसी हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। पुस्तक मनोरञ्जक है। जीवन-सागर का मन्थन कर ब्रह्मचारीजी ने सुधा के बदले यह अच्छा अद्भुत-रस निकाला है। हमें आशा है कि हिन्दी के पाठकों की तृप्ति इससे होगी। मूल्य ॥।-)।

२—शैल-बाला—यह एक बँगला उपन्यास का अनुवाद है। मूल्य १) है। साहित्य-सेवा-सदन (काशी) ने इसकी एक प्रति भेजने की कृपा की है। हिन्दी में जो मौलिक उपन्यास निकालते हैं वे भूमिका अथवा प्रस्तावना में बँगला-उपन्यासों के विरुद्ध कुछ न कुछ अवश्य लिखते हैं। तो भी बँगला-उपन्यासों का अनुवाद कम नहीं होता। इससे यह तो अवश्य प्रकट होता है कि इनकी लोक-प्रियता का कोई कारण अवश्य है। इस उपन्यास में कोई विशेषता नहीं है। कितने ही ऐसे उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जिनसे 'यह पता चलता है कि अन्त में धर्मात्माओं की, अनेक कष्टों के सहने पर कैसी जीत होती है और दुरात्माओं की कैसी दुर्दशा।' यह तो हिन्दी-लेखकों के बायें हाथ का काम है। यदि इसके लिए लेखक को एक बङ्गाली से कल्पना उधार लेनी पड़ी तो शोक की बात है।

३—पुष्पकुमारी—यह एक मौलिक उपन्यास है। इसके लेखक और प्रकाशक पण्डित टीकाराम सदाशिव

तिवारी, होशङ्गाबाद हैं। इसे आपने स्वान्तः सुखाय लिखा है। इसमें, लेखक का दावा है, ऐसे चरित्र हैं जिनके पढ़ने से पाठकों के चरित्र उज्ज्वल हो सकते हैं। यह सम्भव है। परन्तु पूरी पुस्तक पढ़ जाना साहस का काम है, क्योंकि कथा भी नीरस है और भाषा भी। चरित्र-सुधार के लिए पण्डितजी ने यह अच्छा सप्ततिक्तकषाय तैयार किया है। मूल्य ॥।)।

समीक्षक

४—मारुति-विजय—यह एक खण्ड-काव्य है। इसके लेखक गोस्वामी श्री भैरवगिरि हैं। विजय-कम्पनी लिमिटेड, मुज़फ़्फ़रपुर, से यह प्रकाशित हुआ है। इसका मूल्य ॥) है।

इसमें सुन्दरकाण्ड की कथा वर्णित है। लेखक ने उसमें यथेष्ट कल्पना की है। इसमें प्रिय-प्रवास का अनुकरण किया गया है। कविता कैसी है इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त है—

उठी धीरे धीरे जन-नयन की है जवनिका,
सजाया है दृश्य प्रिय प्रकृति ने भी अवनि का।
भले थे जो भाव स्फुट-शशिकला की चमक में,
नहीं हैं वे भाते उदित सविता की दमक में।

५—श्रीकृष्ण-यश-गायन—इसमें स्वर्गीय सेठ रामदयालुजी नेवटिया के तीन काव्य-ग्रन्थ—प्रेमाङ्कुर, लक्ष्मण-मङ्गल और बलभद्र-विजय—सङ्कलित किये गये हैं। उनके सुपुत्र दिलसुखराम नेवटियाजी (फ़तहपुर, जयपुर) ने इसको छपाया है। वही इसे हरिकीर्तन-प्रेमियों को मुफ़् दे रहे हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठीजी ने स्वर्गीय सेठजी की एक संक्षिप्त जीवनी लिखी है। उससे जान पड़ता है कि सेठजी सचमुच विद्या-प्रेमी और भक्त थे। उनकी इन रचनाओं से भी यही बात प्रकट होती है। एक पद्य सुनिए—

चित्त शुद्ध होवे काज बहुते उपाय किये
तदपि मिटी न मेरे मन की मलीनता।
बुद्धि बधवे के हेतु पुस्तक विचार लिये
भयी नाहिँ जग माँहि मति की प्रवीणता।
साधन विहीन दीन रावरी शरण लीनी
दीनबन्धु दया करो देख मेरी दीनता।
त्यारो या न त्यारो एक आसरो तिहारो नाथ
मैं तो हिये धार लई तुमरी अधीनता।

६—गीता—सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्यालय (अहमदाबाद) ने श्रीमद्भगवद्गीता के कई संस्करण निकाले हैं। उनमें से कुछ का परिचय सरस्वती के किसी पिछले अङ्क में निकल चुका है। अभी हाल में उसने गीता की कुछ और पुस्तकें भेजने की कृपा की है। (१) श्रीमद्भगवद्गीता इसका आकार मँझोला है। टाइप बड़ा है यह पत्रानुमा छापा गया है। पर खद्दर की सुन्दर जिल्द बँधी है। कागज़ अच्छा लगाया है। देवनागरी अक्षरों में गीता के मूल श्लोक छापे गये हैं। पृष्ठ-संख्या १०६ है। मूल्य ॥≈) है। (२) श्रीपंचरत्नगीता—इसमें गीता के अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, मनुस्मृति और गजेन्द्रमोक्ष भी सन्निविष्ट किये गये हैं। इस प्रकार यह पंचरत्नों का सङ्ग्रह है। इसका भी टाइप खूब बड़ा है। इस पर भी खद्दर की जिल्द है। मूल्य १)। बिना जिल्द की पोथी चौदह आने में मिलती है। गुटका साइज़ में भी गीता के पाँच संस्करण निकाले गये हैं। एक में हिन्दी-अनुवाद है, दूसरे में मराठी और तीसरे में गुजराती है। सब पर सुन्दर जिल्द है। मूल्य ।≈) है। गुटका साइज़ में भी श्रीपंचरत्न गीता के दो संस्करण हैं। बड़े टाइप की पोथी का मूल्य ॥≈) है। बिना जिल्द की पोथी का मूल्य ॥) है। उससे छोटे टाइप की गीता का मूल्य ।≡) है। बिना जिल्द की पाँचही आने में मिलती है। मझोले टाइप में भी गीता का एक संस्करण है। इसका मूल्य ।≡) है। यह भी गुटका साइज़ में है।

वेलवेडियर प्रेस (प्रयाग) से भी श्रीमद्भगवद्गीता का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया गया है। इसमें मूल श्लोक हैं और नीचे हिन्दी में अनुवाद है। अनुवादक पण्डित हरिराम शर्मा काव्यतीर्थ हैं। यह भी गुटका साइज़ में छापा गया है। इस संस्करण की एक विशेषता यह है कि पुस्तक के अन्त में गीता के गूढ़ शब्दों का अर्थ बतलाने के लिए एक कोश भी छापा गया है। पुस्तक खूब सुन्दर छपी है। जिल्द भी मनोहर है। पृष्ठ-संख्या ३५३ और मूल्य ॥।≈) है।

७—विनय-पत्रिका—काशी में एक साहित्य-सेवा-

सदन स्थापित हुआ है। वह एक काव्य-ग्रन्थ-रत्नमाला का प्रकाशन कर रहा है। इस ग्रन्थ-माला का उद्देश हिन्दी के प्राचीन काव्यों को सटीक प्रकाशित करना है। ग्रन्थों का सम्पादन-भार योग्य विद्वानों पर है। जान पड़ता है कि इसमें अभी तक छः ग्रन्थ निकल चुके हैं; क्योंकि विनय-पत्रिका इसका छठा रत्न है। विनय-पत्रिका तुलसीदासजी का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। हिन्दी में इसकी कई टीकायें विद्यमान हैं। साहित्य-सेवा-सदन ने एक और टीका प्रकाशित कर दी है। इस टीका का नाम हरितोषिणी और टीकाकार हैं वियोगी हरिजी। प्रत्येक पद के नीचे शब्दार्थ, भावार्थ और टिप्पणी है। फुट नोट में पाठान्तर दिये गये हैं। प्रारम्भ में हरिजी ने एक वक्तव्य भी लिखा है। उसमें विनय-पत्रिका की आलोचना की गई है। प्रचलित टीकाओं की भी आलोचना की गई है। पुस्तक की छपाई-सफ़ाई अच्छी है। पतले काग़ज़ की जिल्द है। मूल्य २॥)।

८—अरविन्द-मन्दिर में—यह मिर्ज़ापुर के हिन्दी-पुस्तकालय से प्रकाशित हुआ है। पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा गया है कि श्रीयुत मोतीलालजी ने महात्मा अरविन्द से कुछ आवश्यक और महत्त्वपूर्ण बातें की थीं। जो कुछ योगिराज से उत्तर मिले उन्हें पुस्तक-रूप में मोतीलालजी ने प्रकाशित कर दिया। यह उसी अँगरेज़ी पुस्तक का अनुवाद है। यह अनुवाद किसकी कृपा का फल है, यह कहा नहीं जा सकता। अनुवादक महोदय का नाम छपा नहीं है। अनुवादक कोई भी हो, इसमें अरविन्द के विचार सन्निहित हैं, अतएव इसे पढ़ना चाहिए। पुस्तक सुन्दर छपी है। काग़ज़ बढ़िया लगाया गया है। पृष्ठ-संख्या १०२ और मूल्य ॥।) है।

९—रस-परिज्ञान—वनौषधादिकों का रस-ज्ञान वैद्यक-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। उसकी गणना विज्ञान के अन्तर्गत है। परन्तु वैद्यक-शास्त्र में इसकी विवेचना विस्तृत रूप में देखने में नहीं आती। चरक, सुश्रुत आदि उच्च कोटि के ग्रन्थों में भी इस विषय पर सूत्ररूप से ही विचार किया गया है। अन्य ग्रन्थों में इस विषय पर एक तो कहीं कुछ लिखा ही नहीं गया है और यदि लिखा भी गया है तो नहीं के बराबर है। वास्तव में रस-परिज्ञान वनौषधि-चिकित्सा-प्रणाली का प्राण है। इसी की बदौलत पूर्वाचार्य ओषधियों के योग निरूपण करने में समर्थ हुए हैं। वर्तमान समय में तो यह विषय अज्ञात सा है। रसों का विश्लेषण कर उनके गुणागुण की जाँच करने की क्षमता बहुत कम वैद्यों में पाई जाती है। आज-कल के वैद्य पुराने ज़माने के निर्दिष्ट योगों से ही रोग-निवारण में अपने कर्तव्य की इति समझते हैं। अस्तु। आलोच्य रस-परिज्ञान इसी विषय की पुस्तक है! इसकी रचना आयुर्वेदपञ्चानन पण्डित जगन्नाथ शुक्ल वैद्य भिषङ्मणि ने की है। प्रयाग के महिला-विद्यापीठ की विदुषी-परीक्षा की पाठ्य-पुस्तक के रूप में यह लिखी गई है। रस-विज्ञान-सम्बन्धी इस पुस्तक में जो विवेचन किया गया है, यदि उससे सांख्य, न्याय आदि इतर शास्त्रों की बातें अलग कर दी जायँ तो इसमें कुछ ही ऐसी बातें रह जाती हैं जिन्हें हम नई कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में चरकादि आचार्यों के मत की व्याख्या से अधिक इसमें कहाँ कहाँ लिखा गया है, इसका पता वही भले प्रकार लगा सकते हैं जो इस विषय के निष्णात हैं। अन्य शास्त्रों की बातों का सामञ्जस्य दिखलाने का जो प्रयास इसमें किया गया है उसके कारण इसमें जटिलता आ गई है। नहीं तो पूर्वाचार्यों ने इस सम्बन्ध में कहाँ क्या कहा है उसका यह एक सुन्दर सङ्ग्रह तो है ही। इसका मूल्य ॥-) है। पता—मैनेजर, सुधानिधि, दारागञ्ज, प्रयाग।

Printed and published by K. Mittra at The Indian Press, Ltd , Allahabad.

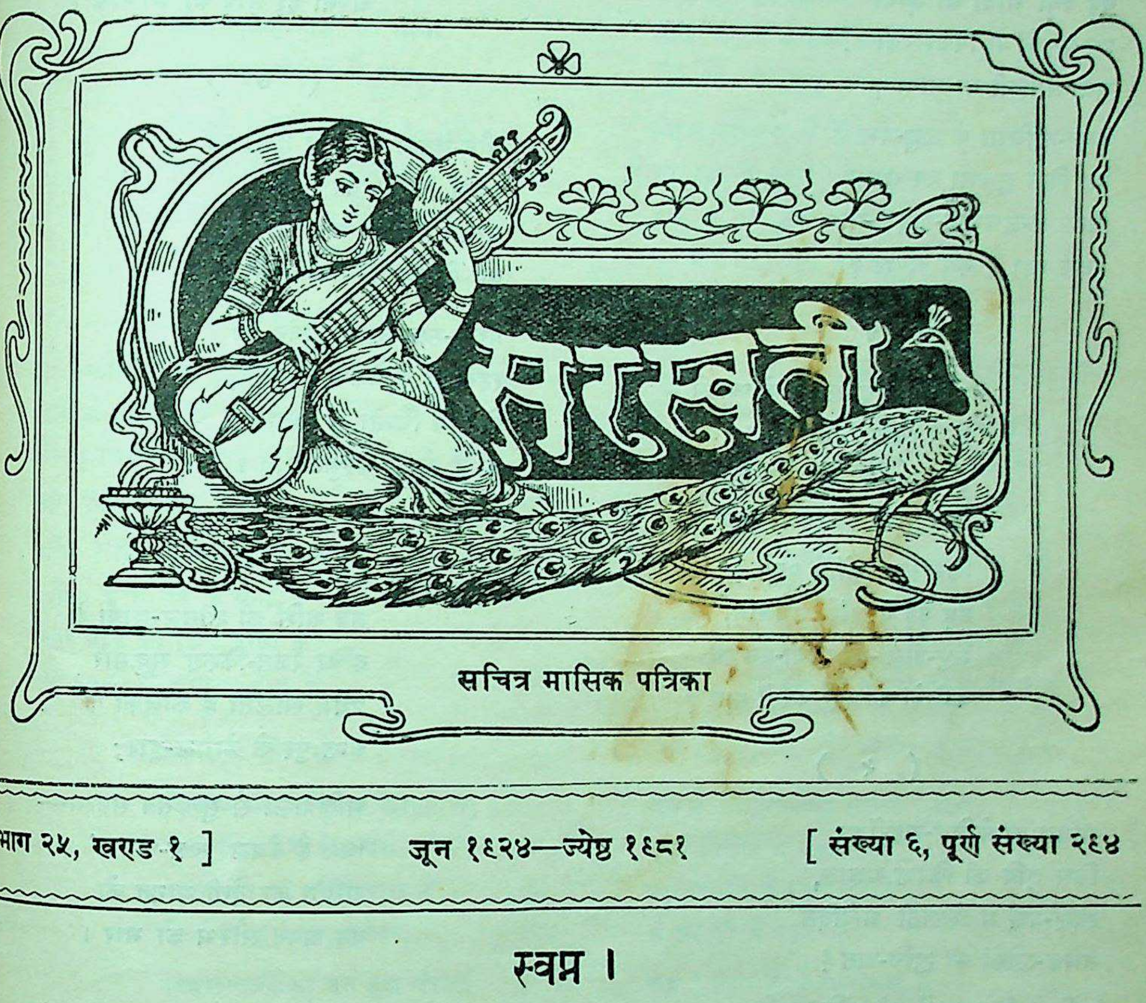

सचित्र मासिक पत्रिका

भाग २५, खण्ड १] जून १९२४—ज्येष्ठ १९८१ [संख्या ६, पूर्ण संख्या २९४

स्वप्न ।

(१)

बालक के कम्पित-अधरों पर
किस अतीत-स्मृति का मृदु-हास
जग की इस अविरत-निद्रा का
करता है रह रह उपहास ?
स्वप्नों की उस स्वर्ण-सरित का
सजनि ! कहाँ है जन्मस्थान ?
मुसकानों में उछल उछल वह
बहती है किस ओर अजान !

(२)

किन कर्मों की जीवित-छाया
उस निद्रित-विस्मृति के सङ्ग
आँख-मिचौनी खेल रही है,
किन भावों की गूढ़-उमङ्ग ?
मुँदे नयन-पलकों के भीतर
किस रहस्य का सुखमय-चित्र
गुप्त-वञ्चना के मादक-कर
खींच रहे हैं सजनि ! विचित्र !

(३)

निद्रा के उस अलसित-वन में
वह क्या भावी की छाया
दृग-पलकों में विचर रही है,
भुवनमोहिनी या माया ?

नयन-नीलिमा के लघु-नभ में
यह किस सुखमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी-बादल-सा
बदल रहा है रूप अपार ?

(४)

अलि ! मृदु-पलकों के प्यालों में
किस स्वप्निल-मदिरा का राग
इन्द्रजाल-सा गूँथ रहा है,
किन पुष्पों का स्वर्ण-पराग ?

किन इच्छाओं के पङ्खों में
उड़ उड़ ये आँखें अनजान,
मधु-बालों-सी छाया-बन की
कलियों का मधु करतीं पान ?

(५)

मानस की फेनिल-लहरों पर
किस छबि की किरणें अज्ञात,
स्वर्ण-वर्ण में लिखतीं अविदित
तारक-लोकों की शुचि-बात !

अलि ! किन जन्मों की सञ्चित-सुधि
बजा सुप्त-तन्त्री के तार,
नयन-नलिन में बँधी मधुप-सी
करती मर्म-मधुर गुञ्जार ?

(६)

पलक-यवनिका के भीतर छिप,
हृदय-मञ्च पर छा छबिमय,
सजनि ! अलस के मायावी-शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय ?

मीलित-नयनों का अपना ही
यह कैसा छायामय-लोक ?
अपने ही सुख-दुख, इच्छायें,
अपनी ही छबि का आलोक !

(७)

मौन-मुकुल में छिपा हुआ जो
रहता विस्मय का संसार,
सजनि ! कभी क्या सोचा तूने
वह किसका है शयनागार ?

प्रथम-स्वप्न उसमें जीवन का
रहता है अविकच, अज्ञान,
जिसे न चिन्ता छू पाती है,
जो है केवल अस्फुट-गान ।

(८)

जब शशि की शीतल-छाया में
रुचिर रजत-किरणें सुकुमार
प्रथम खोलती हैं कलिका के
अन्तःपुर के कोमल-द्वार;

अलिबाला से सुन तब सहसा—
'जग है केवल स्वप्न-असार'
अर्पित कर देती मारुत को
वह अपने सौरभ का भार ।

(९)

हिम-जल बन, तारक-पलकों से
उमड़ मोतियों-से अवदात,
सुमनों के अधखुले-दृगों में
स्वप्न लुढ़कते हैं जो प्रात;

उन्हें सहज अञ्चल में चुन चुन,
गूँथ उषा-किरणों में हार
क्या अपने उर के विस्मय का
तूने कभी किया शृङ्गार ?

(१०)

विजन-नीड़ में चौंक अचानक,
विटप-बालिका पुलकित-गात
जिन सुवर्ण-स्वप्नों की गाथा
गा गाकर कहती है प्रात;
सजनि ! कभी क्या सोचा तूने,
तरुओं के तम में चुपचाप
दीप-शलभ दीपों को चमका
करते हैं जो मौनालाप ?

(११)

या जलनिधि की पुलकावलि-सी
सलिल-बालिकायें सुकुमार
सिन्धु-स्वप्न-सी उभड़, अतल के
बतलातीं जो भेद अपार;

अलि ! जिस स्वप्नों की भाषा में
इङ्गित करते तरु के पात,
जहाँ प्रात को छिप जाती है
वह स्वप्नों से जगमग रात ?

(१२)

दिनकर की अन्तिम किरणों ने
उस नीरव-तरु के ऊपर
स्वप्नों का जो स्वर्ण-जाल है
फैलाया सुखमय, सुन्दर;

विहग-बालिका बन हम दोनों,
वहाँ बैठ पलभर एकान्त,
चल सखि ! स्वप्नों पर कुछ सोचें,
दूर करें निज भ्रान्ति नितान्त

(१३)

सजनि ! हमारा स्वप्न-सदन क्यों
काँप उठा सहसा थर थर !
किस अतीत के स्वप्न अनिल में
गूँज उठे, कर मृदु भर भर !
विरस-डालियों से यह कैसा
फूट रहा है रुदन मलिन,—
हम भी हरी भरी थीं पहले
पर अब स्वप्न हुए वे दिन !

(१४)

पत्रों के विस्मित-अधरों से
वह किसका अस्फुट-सङ्गीत
मौन-निमन्त्रण भेज रहा है
अन्धकार के पास सभीत !

सघन-द्रुमों में झूम रहा अब
निद्रा का नीरव-निःश्वास,
मूँद रहा है अन्धकार में
रह रह अलस-पलक आकाश !

(१५)

जग के निद्रित-स्वप्न सजनि ! सब
इसी तिमिर में बहते हैं,
पर जागृति के स्वप्न हमारे
अन्तर ही में रहते हैं ।

अह ! किस गहरे-अन्धकार में
डूब रहा धीरे संसार,
कौन जानता है कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न-असार !

(१६)

अलि ! क्या कहती है प्राची से
फिर उज्ज्वल होगा आकाश ?
पर, मेरे तमपूर्ण-हृदय में
कौन भरेगा प्रकृत-प्रकाश !

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

हम्मीर-महाकाव्य ।

संस्कृत-भाषा में ऐतिहासिक काव्यों की बहुत कमी है। सम्भव है, बहुत लिखे गये हों, पर उनमें से अधिकांश नष्ट हो गये हों। ऐसे दो चार काव्य जो उपलब्ध हैं उनमें भी ऐतिहासिकता कम, कविकल्पना ही अधिक है। तथापि उनका भी महत्त्व कम न समझना चाहिए। उनमें जो अल्पाधिक ऐतिहासिक तत्त्व निबद्ध पाये जाते हैं उनसे भी भारतीय इतिहास के सङ्कलन में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। हम्मीर-महाकाव्य ऐसा ही काव्य-ग्रन्थ है। उसका अधिकांश कल्पना-प्रसूत होने पर भी, इतिहास भी उसमें कुछ अवश्य है और उस इतिहास का सम्बन्ध रणस्तम्भपुर (रणथम्भोर) के अधीश्वर हम्मीर से है। यह वही हम्मीर है, जिसकी हठ प्रसिद्ध है और जिसके चरित-वर्णन से पूर्ण हम्मीर-रासो नाम का एक हिन्दी-काव्य प्रचलित है।

इस काव्य का कर्त्ता नयचन्द्र-सूरि जैन-धर्म्मावलम्बी था। उसके गुरु का नाम जयसिंह-सूरि था, जिसने न्यायसार-टीका नाम का एक नया व्याकरण और किसी कुमार नामक राजा के सम्बन्ध में एक काव्य-ग्रन्थ का निर्म्माण किया है। वह कृष्णगच्छ नाम के जैन-सम्प्रदाय के अन्तर्गत था। नयचन्द्र-सूरि इसी जयसिंह-सूरि का शिष्य था। साथ ही उसका पौत्र और पुत्र भी था। पौत्र इसलिए कि वह जयसिंह के लड़के का लड़का था। और पुत्र इसलिए कि उसके हृदय में कवित्व का बीज जयसिंह की ही कृपा से अङ्कुरित हुआ था अथवा वह जयसिंह ही के सदृश रसभाव-पूर्ण कविता करता था। इस विषय में नयचन्द्र ने स्वयं ही लिखा है—

पौत्रोऽप्ययं कविगुरोर्जयसिंहसूरेः
काव्येषु पुत्रतितमां नयचन्द्रसूरिः।
नव्यार्थसार्थघटनापदपंक्तियुक्ति-
विन्यासरीतिरसभावविधानयत्नैः॥

मैं जयसिंह-सूरि का शिष्य हूँ, यह बात तो नयचन्द्र ने हम्मीर-महाकाव्य के हर सर्ग के अन्त में लिखी है। उसका यह काव्य "वीराङ्क" है। इसके हर सर्ग के अन्त में "वीर" शब्द आया है।

एक दिन की बात है कि किसी तोमर या तोमर-वीरम नामक राजा की सभा में प्राचीन काव्यों के विषय में चर्चा हो रही थी। उस समय कुछ लोगों की यह राय हुई कि अब वैसे काव्यों की रचना करने की शक्ति किसी में नहीं। यह सुन कर तोमर-नरेश ने नयचन्द्र की तरफ़ भ्रुकुटी का इशारा किया। यह हम्मीर-महाकाव्य उसी इशारे का फल है। यथा—

काव्यं पूर्वकवेर्न काव्यसदृशं कश्चिद्विधाताधुने-
त्युक्ते तोमरवीरम-क्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि।
तद्भ्रूचापलकेलिदोलितमनाः शृङ्गारवीराद्भुतं
चक्रे काव्यमिदं हमीरनृपतेर्नव्यं नयेन्दुः कविः॥

यह तोमर-नरेश कौन था, कहाँ का था और कब हुआ, ये बातें ठीक ठीक ज्ञात नहीं। हम्मीर-महाकाव्य के सम्पादक का अनुमान है कि अकबर के ७० वर्ष पहले वह विद्यमान था।

टाड साहब ने अपने "राजस्थान" में एक हम्मीर-काव्य का उल्लेख किया है; पर यह नहीं लिखा कि वह किस भाषा में है और किसका बनाया हुआ है। डाक्टर बूलर ने भी विक्रमाङ्कदेव-चरित की भूमिका में हम्मीरमर्दन नाम के एक काव्य का उल्लेख किया है। सम्भव है, ये दोनों ही कापियाँ उसी काव्य की नक़ल हों जिसकी रचना नयचन्द्र की की हुई है। प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन नीलकण्ठ जनार्दन कीर्तने नाम के एक महाराष्ट्र-सज्जन ने किया है। इसे प्रकाशित हुए ४४ वर्ष हुए। पुस्तक की एक कापी उन्हें नासिक के निवासी गोविन्द शास्त्री निरन्तर की कृपा से प्राप्त हुई थी। उसके अन्त में ये समापन-वाक्य हैं—

"संवत् १५४२ वर्षे श्रावणे मासि श्रीकृष्णर्षिगच्छे श्रीश्रीजयसिंहसूरिशिष्येण नयहंसेनात्मपठनार्थं श्रीपेरोजपुरे हम्मीरमहाकाव्यं लिलिखे"।

अर्थात् जयसिंहसूरि के शिष्य नयहंस ने फ़ीरोज़पुर में अपने पढ़ने के लिए इस पुस्तक को लिखा या नक़ल की। काव्यकर्ता भी अपने को जयसिंह का शिष्य बताता है और नयहंस भी। अतएव ये दोनों ही गुरुभाई हुए।

यह पुस्तक वितरित न की जाय।

अतएव, बहुत सम्भव है, नयहंस ने नयचन्द्र की असल पुस्तक से ही यह कापी तैयार की हो। इस कापी को लिखे गये कोई ४४१ वर्ष हुए। इससे यह भी सूचित हुआ कि हम्मीर के बाद सौही डेढ़ सौ वर्ष के भीतर नयचन्द्र ने इस महाकाव्य की रचना की होगी और हम्मीर के विषय में जो बातें उसने लिखी हैं वे उस समय तक बहुत पुरानी न हुई होंगी। बहुत सम्भव है, उस समय तक भी हम्मीर के ज़माने या उसकी एक पीढ़ी बाद के कुछ लोग जीवित रहे हों और उनसे तथ्य-सङ्ग्रह करके कवि ने उसका सन्निवेश इस काव्य में किया हो।

हम्मीर के पिता जैत्रसिंह ने संवत् १३३९ में उसे सिंहासनासीन कर दिया और खुद राज-कार्य्य से विरक्त हो गया। हम्मीर-महाकाव्य के आठवें सर्ग में कवि ने लिखा है—

ततश्च संवन्नववह्निवह्नि-भूहायने माधवलक्षपक्षे।
पौष्यां तिथौ हेलिदिने सपुष्ये दैवज्ञनिर्दिष्टबलेऽलिलग्ने॥

परन्तु, इस काव्य के सम्पादक कीर्तने महाशय अपनी भूमिका में कहते हैं—

"Jaitra Singh * * * * gave over the charge of the State to him (Hammir) and himself went to live in the forest. This happened in Sambat 1330 (A. D. 1283).

और प्रमाण में वही श्लोक देते हैं जो हमने ऊपर दिया है। उसमें नौ (९) के अङ्क का बोधक "नव" शब्द प्रत्यक्ष विद्यमान है; फिर उसे उन्होंने शून्य (०) का सूचक कैसे माना, यह समझ में नहीं आता। संवत् १३३० को उन्होंने सन् १२८३ के बराबर समझा है। यह सही नहीं जान पड़ता; क्योंकि इन दोनों संवतों में प्रायः ५७ वर्ष का अन्तर रहता है। परन्तु यदि नयचन्द्र के दिये हुए संवत् को १३३९ मान लें और उसमें से ५७ वर्ष घटा दें तो सन् १२८२ या ८३ निकल आता है, जो प्रायः ठीक मालूम होता है। अतएव संवत् १३३० लिखना या तो कीर्तनेजी की या छापे की भूल है। १८ वर्ष पर्य्यन्त राज्य भोग करके, अलाउद्दीन खिलजी के साथ युद्ध में, जुलाई १३०१ ईसवी में, हम्मीर ने शरीर छोड़ा। अमीर ख़ुसरू के तारीख़े-अलाई के आधार पर, सम्पादक ने हम्मीर का जो यह मरण-समय लिखा है वह भी तभी ठीक हो सकता जब उसके सिंहासनारूढ़ होने का समय संवत् १३३० के बदले १३३९ माना जाय। अस्तु।

हम्मीर ने यदि संवत् १३३९ में राजगद्दी पाई और १८ वर्ष राज्य करके वह मरा तो उसकी मृत्यु संवत् १३५७ में हुई होगी। और जिस हस्त-लिखित पुस्तक के आधार पर प्रस्तुत काव्य का सम्पादन हुआ है वह १५४२ संवत् में लिखी गई थी। अर्थात् उस समय हम्मीर को मरे कोई १८५ वर्ष हो चुके थे। उसकी नक़ल की जाने के दस पाँच वर्ष पहले ही उसकी रचना हुई होगी। उस समय यदि हम्मीर के ज़माने के मनुष्य जीते न रहे होंगे तो उसके राज्य-काल की घटनायें बहुत पुरानी भी न हो गई होंगी। अतः स्वयं हम्मीर के सम्बन्ध की जिन घटनाओं का वर्णन इस काव्य में है उनमें बहुत कुछ तथ्यांश होने की सम्भावना है।

पुराने साहित्य-शास्त्रियों ने कवियों के मार्ग को बेतरह सङ्कीर्ण कर दिया है। उन्होंने ऐसे जटिल नियम बना दिये हैं कि किसी रचना को महाकाव्य की सीमा के भीतर लाने के लिए कवियों को अनेक अनावश्यक विषयों का वर्णन करना पड़ता है। नयचन्द्र ने यद्यपि हम्मीर के चरित-वर्णन की इच्छा से ही इस काव्य की रचना में हाथ लगाया था, तथापि उसे और भी कितनी ही अवान्तर बातों का अप्रासङ्गिक सा वर्णन करना पड़ा। यह सिर्फ़ इसलिए कि उसका काव्य महाकाव्य में परिगणित हो सके। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए उसे इस काव्य के कई सर्गों को ऋतु, जलक्रीड़ा और शृङ्गार-चेष्टाओं के कल्पित वर्णनों से भर देना पड़ा है। आदि के कई सर्गों में उसने हम्मीर के पूर्वजों का जो वर्णन किया है उसमें भी कल्पना ही अधिक है, सचाई या ऐतिहासिकता बहुत ही कम। सिर्फ़ ६ सर्ग इसके ऐसे हैं जिनकी कविता के विषय का आधार, इस काव्य का नायक हम्मीर है।

हम्मीर सचमुच ही वर्णनीय-चरित राजा था। वह चाहमान या चौहान-वंश का क्षत्रिय था। बड़ा वीर था। क्षत्रिय-धर्म्म के परिपालन को वह अपना बहुत बड़ा

कर्तव्य समझता था। वह न्यायी था, दीनदयालु था, स्वाधीनता-प्रेमी था और सबसे अधिक था शरणागत-वत्सल। उसे अन्याय असह्य था। अन्यायियों के सामने उसने कभी अपना मस्तक नहीं झुकाया। अन्याय-रत मुसलमानों की शक्ति को उसने कई बार नष्ट नहीं तो खर्व ज़रूर कर दिया। अन्त में उसने दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी तक का मुक़ाबला करना मंज़ूर किया, परन्तु शरण में आये हुए एक मंगोल सरदार, महिमाशाह, को सौंप देना मंज़ूर न किया। बादशाह ने कहला भेजा कि इस बाग़ी आदमी को आप मुझे सौंप दें। इसे आपने क्यों पनाह दी? आपने ऐसा करके मुझसे अपना शत्रु-भाव प्रकट किया है। उत्तर में हम्मीर ने कहा—शरणागत को अभय-दान देना क्षत्रियों का परम धर्म्म है। सूर्य्य चाहे पश्चिम में उदय हो जाय और सुमेरु-पर्व्वत चूर्ण होकर चाहे पृथ्वी पर बिछ जाय, पर शरण में आया हुआ मनुष्य, नहीं भेजा जा सकता।

निदान चार महीने तक अलाउद्दीन रणथम्भोर को घेरे पड़ा रहा। उसे हम्मीर ने नाकों चने चबवाये। उसके धन-जन की अनन्त हानि हुई। जब वह रणथम्भोर को न ले सका तब उसने अनीति और अन्याय को आश्रय देकर हम्मीर के एक सरदार रतिपाल को मिला लिया। रतिपाल ने भेद-भाव उत्पन्न करके दूसरे सरदार कृष्णमल्ल को भी अपने पक्ष में कर लिया। फल यह हुआ कि इन दोनों के विश्वासघात के कारण हम्मीर के रनिवास की महिलायें जल मरीं और युद्ध करते करते हम्मीर ने भी वीर-गति प्राप्त की। नयचन्द्र ने लिखा है कि जब हम्मीर का शरीर शराघातों से जर्जर हो गया और उसे अपने जीने की आशा न रही तब उसने अपने ही खड्ग से अपना मस्तक काट डाला। उसने कहा, मैं जीते जी मुसलमानों की वश्यता स्वीकार न करूँगा और उनके स्पर्श से अपना कलेवर कलङ्कित न होने दूँगा—

जीवन्तं ग्राहिपुर्मां क्वचिदपि यवना मामिति ध्यातबुद्धिः
कण्ठं छित्त्वात्मनैव स्वमटति च दिवं स्मात्तसूरातिथित्वः

धन्य हम्मीर!

हम्मीर की शरणागतवत्सलता के विषय में कवि की यह उक्ति बड़ी ही करुणोत्पादक है—

राधेयः कवचं ददौ शिबिरहो मांसं बलिर्मेदिनीं
जीमूतोऽर्धवपुस्तथापि न समा हम्मीरदेवेन ते।
येनोच्चैः शरणागतस्य महिमासाहेर्निमित्तं क्षणा-
दात्मा पुत्रकलत्रभृत्यनिवहो नीतः कथाशेषताम्॥

परोपकारार्थ कर्ण ने अपना कवच, शिबि ने अपना मांस, बलि ने अपनी मेदिनी अर्थात् राज्य और जीमूतवाहन ने अपना आधा शरीर दे डाला। परन्तु ये लोग, इस विषय में, हम्मीर की ज़रा भी बराबरी नहीं कर सकते। हम्मीर ने तो शरण में आये हुए महिमाशाह के कारण अपने राज्य ही से नहीं हाथ धो लिया; किन्तु अपने प्राणों से, अपने पुत्र-कलत्रों से और अपने बन्धु-बान्धवों तथा सेवकों से भी हाथ धो डाला—उन सभी को उसने नामःनिशेषता को पहुँचा दिया।

इसके बदले में महिमाशाह ने क्या किया, आप जानते हैं। हम्मीर के जब दो सरदार बाग़ी हो गये और उसे अन्य भी दुर्लक्षण दिखाई दिये तब उसने महिमाशाह से कहा कि आपत्ति से हम लोग इस समय घिर रहे हैं। उससे बचने के लिए आप जहाँ जाना चाहें खुशी से जा सकते हैं। मैं वहीं आपको पहुँचा दूँगा। क्योंकि आप तो विदेशी हैं। आप क्यों, हम लोगों के साथ, अपने प्राण सङ्कट में डालें?

यूयं वैदेशिकास्तद्वः स्थातुं युक्तं न चापदि।
यियासा यत्र कुत्रापि ब्रूत तत्र नयामि यत्॥

यह सुनकर मङ्गोल-सरदार सन्नाटे में आ गया। वह अपने घर लौट आया। वहाँ अपनी स्त्री और बाल-बच्चों को अपने ही हाथ से मार कर हम्मीर के पास गया और बोला—

मैं रणथम्भोर छोड़ कर सकुटुम्ब बाहर जाने के लिए तैयार हूँ। इस समय मेरी पत्नी की एक प्रार्थना आप स्वीकार कर लीजिए। उसका निवेदन है कि आपने हम लोगों को अभयदान देकर हमारी रक्षा ही नहीं की, इतने दिनों तक आपने हमें अपने आश्रय में आराम से रक्खा भी है। अतएव आप हमारे अन्नदाता भी हैं। यहाँ से प्रस्थान करने के पहले मैं एक बार आपका दर्शन करना चाहती हूँ। अतएव क्षण भर के लिए आप मेरे घर पधारें।

हम्मीर तुरन्त ही उसके घर गया । देखा तो महिमाशाह का सारा कुटुम्ब मरा हुआ पड़ा है । उनके शीश और कबन्ध रुधिर की धारा में तैर रहे हैं । यह दशा देखकर हम्मीर कांप उठा । वह फूट फूट कर रोने लगा । महिमाशाह का दृढालिङ्गन करके उसने बहुत विलाप किया और उसके विषय में अनुचित सन्देह करने के कारण अपने को बेहद धिक्कारा । अन्त को जो गति महिमाशाह के कुटुम्ब की हुई थी वही हम्मीर के भी कुटुम्ब की हुई । हम्मीर की आज्ञा से उसकी भी रानियां आदि जल मरीं । तदनन्तर लड़कर हम्मीर के पहले ही महिमाशाह ने वीर-गति पाई । इस काव्य का यह इतना अंश बहुत ही हृदयद्रावक और कारुण्य-रस का पोषक है । इसमें जहां नीचता और विश्वासघातकता के चित्र हैं तहां वीरता, उदारता, दीनवत्सलता और स्वामिभक्ति के भी कितने ही श्लाघनीय चित्र हैं ।

हम्मीर-महाकाव्य में १४ सर्ग हैं । उनमें से पहले चार सर्गों में हम्मीर के पूर्वजों ही का विशेष वर्णन है । उनके नाम हैं—

१—तदीय-पूर्वजवर्णन

२—भीमदेव-प्रभृति-पूर्वजवर्णन

३—पृथ्वीराज-संग्रामवर्णन

४—हम्मीरजन्मवर्णन

चौथे में जन्म-वर्णन तो थोड़े ही में है; और बातें ही अधिक हैं । उसके आगे जो कुछ है वह इस काव्य को महाकाव्य बनाने ही के लिए लिखा गया है, यथा—

५—वसन्तवर्णन

६—जलक्रीड़ावर्णन

७—सुरतवर्णन

आठवें सर्ग से काव्य के नायक हम्मीर का प्रकृत-वर्णन प्रारम्भ हुआ है—

८—राज्यप्राप्तिवर्णन

९—दिग्विजयवर्णन

१०—में भोजदेव-संवाद, उलूगख़ां के साथ हम्मीर के युद्ध और अलाउद्दीन के कोप का वर्णन ।

११—मुसलमानों की दूसरी चढ़ाई, हम्मीर की राजधानी, हम्मीर के भाषण और निसुरत्तख़ां (?) नामक मुसलमान-सेनापति के वध का वर्णन ।

१२—अलाउद्दीन और हम्मीर के दो दिन के युद्ध का वर्णन ।

१३—नर्तकी-गायन, वर्षाकाल, रतिपाल-शक-संवाद, रतिपाल-विज्ञप्ति, कन्या-देवलदेवी का संवाद और हम्मीर का स्वर्ग-गमन ।

१४—हम्मीर की मृत्यु पर विलाप और नयचन्द्र-सूरि का आत्म-निवेदन ।

इस महाकाव्य के पहले तीन सर्गों में कवि ने हम्मीर के पूर्वजों का जो वर्णन किया है उसमें कल्पना ही अधिक है, सत्यता का अंश बहुत ही कम । उसने हम्मीर-समेत ३८ चौहान-नरेशों का उल्लेख किया है । उनमें से कुछ के नाम तो टाड के राजस्थान में मिलते हैं और कुछ के नहीं मिलते । प्रसिद्ध पृथ्वीराज तक नयचन्द्र ने उसके पहले के २९ नरेशों के नाम दिये हैं । परन्तु उनके विषय में जो कुछ उसने कहा है उसका सम्बन्ध इतिहास से प्रायः नहीं के बराबर है । उसके वर्णन में उसने कवि-समय-सिद्ध आकाश-पाताल के कुलाबे मिला कर केवल अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है । उसके इस प्रकार के वर्णन के नमूने ये हैं—

हम्मीर का पहला पूर्वज चाहमान (चौहान) इतना दानी था कि उसके दानोत्पन्न यश ने बलि के यश को भी मलिन कर दिया । इसी से लज्जित हुआ बलि पाताल जाकर वहां छिप रहा है । उसके प्रताप की आग ने वैरियों के कीर्ति-वनों को इतना जलाया कि उससे उठा हुआ धुवां अब तक शान्त नहीं हुआ । इसी से तो आसमान काला देख पड़ता है—

प्रतापवह्निर्ज्वलितो यदी-
स्तथा द्विषां कीर्तिवनान्यधाक्षीत् ।
तदुत्थधूमाश्रयतो जहाति
वियद्यथाऽद्यापि न कालिमानम् ॥

पृथ्वीराज तक पहुँच जाने पर कवि को कुछ ऐतिहासिक सामग्री मिल गई है । अतएव अन्त के छः सात नरेशों के वर्णन में उसकी निर्दिष्ट बहुत सी बातें ऐसी हैं जो ऐतिहासिक कही जा सकती हैं । परन्तु हम

इसमें नयचन्द्र का कोई बहुत बड़ा दोष नहीं समझते। वह चौहानों का इतिहास न लिखने बैठा था; वह तो हम्मीर का आधार लेकर महाकाव्य लिखने बैठा था। जो बातें या जो नाम उसे ऐतिहासिक मिले उनका उल्लेख उसने कर दिया है। अवशिष्ट कथा को उसने अपनी कल्पना और प्रतिभा के बल पर पूर्ण किया है। बलि, मान्धाता, पुरूरवा आदि को जाने दीजिए, यदि तीन ही चार सौ वर्ष पूर्व हुए किसी राजा का आश्रय लेकर कोई महाकवि इस समय काव्य-रचना करे तो बताइए, इतिहास के महत्त्व का क़ायल होने पर भी, वह उसे कहाँ तक ऐतिहासिकता प्रदान कर सकेगा। अतएव नयचन्द्र पर आक्षेप करते समय यह बात न भूलना चाहिए कि उसने काव्य लिखा है, चौहानों या हम्मीर का इतिहास नहीं।

इस महाकाव्य के सम्पादक कीर्तने महाशय ने नयचन्द्र की निन्दा इस कारण की है कि उसकी कविता में कहीं कहीं काठिन्य है, अतिशयोक्ति है, अनुप्रास और यमक का आधिक्य है, तथा दो दो अर्थ देनेवाली उक्तियों की बड़ी भरमार है। इस पर निवेदन यह है कि कीर्तने महाराज ने समय और स्थिति को कुछ भी महत्त्व नहीं दिया। जिसे वे दोष समझते हैं उसे क्या तीन चार सौ वर्ष पहले के पण्डित और काव्य-प्रेमी भी दोष समझते थे? जैसे दोषों की उन्हें शिकायत है वैसे दोष क्या नयचन्द्र के पूर्ववर्ती सैकड़ों कवियों की कृतियों में, न्यूनाधिक मात्रा में, नहीं पाये जाते? ऐसी उक्तियाँ कहना जिनसे दो दो तीन तीन अर्थ निकलें, आज-कल शायद दोष माना जाय; पर उस ज़माने में तो यही बात गुण में दाख़िल समझी जाती थी। नयचन्द्र जैन था। काव्यारम्भ में उसने जो मङ्गलाचरण के कई श्लोक लिखे हैं उनसे जैन-तीर्थङ्करों और हिन्दू-देवी-देवताओं के सूचक दो दो अर्थों का निकलना नयचन्द्र की प्रतिभा, उसकी कल्पना-शक्ति की श्रेष्ठता और उसकी व्याकरण-विज्ञता का द्योतक है।

हमारी राय में तो नयचन्द्र की कविता में बहुत ही कम क्लिष्टता है। उसमें प्रसादगुण ही अधिक है। उसकी उक्तियाँ भी बहुधा हृदय-हारिणी हैं। और, यदि ये बातें न भी हों, तो भी काव्य-प्रेमियों को इस काव्य के पाठ से आनन्द की कुछ तो प्राप्ति अवश्य ही होती है। नयचन्द्र ने ख़ुद ही लिखा है कि कालिदासादि महाकवि तक अपशब्द-दोष से नहीं बचे; फिर मैं मन्दबुद्धि भला कैसे उससे बच सकता हूँ—

प्रायोऽपशब्दादिकृतोऽपि दोषो
न चात्र चिन्त्यो मम मन्दबुद्धेः
न कालिदासादिभिरप्यपास्तो
योऽध्वा कथं वा तमहं त्यजामि।

इस विषय में उसने कवियों से क्षमा भी बड़े अच्छे ढङ्ग से माँगी है। उसने उनसे प्रार्थना की है कि यदि मेरे काव्य में आपको अपशब्द-दोष मिलें तो कृपा करके उन पर ध्यान न दीजिएगा। सज्जनों को तो सु-शब्दों से आनन्द मिलता है और दुर्जनों को अपशब्दों से। मैं दोनों ही को प्रसन्न रखना चाहता हूँ। यदि मेरे काव्य में कोई दोष देख पड़ेंगे तो मैं समझूँगा कि मैंने असज्जनों को भी आनन्दित करने की सामग्री प्रस्तुत कर दी है—

क्षन्तव्य एव कविभिः कृपया प्रमादात्
काव्येऽत्र कश्चिदपि यः पतितोऽपशब्दः
प्रीतिर्यथास्तु सुहृदामथवा सुशब्दैः
किं सा तथाऽस्त्वसुहृदामपि माऽपशब्दैः॥

नयचन्द्र की जिह्वा पर उसके पूर्ववर्ती कवियों की कविता ख़ूब चढ़ी हुई थी। इससे उसके इस काव्य में उन कवियों की उक्तियों की छाया बहुत जगह पाई जाती है। यथा—

(१) कृतारिषड्वर्गजयः स सिंह-
राजा हरेर्धाम जगाम नाम
× × ×
कृतारिषड्वर्गजयेन मानवी-
मगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना—किरात

(२) स्वप्नप्रसङ्गाप्ततदीयसङ्गा
बभूव का नो धृतकामरङ्गा
× × ×
तदाश्मताध्यातधवा रते च का
चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम्—
नैषध

(३) देशानशेषान् जहि नागराणां
हरैणनेत्रा दह मन्दिराणि
× × ×
पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं
मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः

माघ

(४) सान्द्रितेम्बुनि किलललनानां
नेत्रकज्जलभरैर्~~ह~~ सितैश्च ।
गाङ्गवारिकलितां रविकन्यां
मेनिरे युवजनाः किमु धन्याम् ॥
× + ×
यस्यावरोधस्तनचन्दनानां
प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि
गङ्गोर्म्मिसंसक्तजलेव भाति ॥

रघुवंश

इस महाकाव्य में सैकड़ों श्लोक बड़े ही सुन्दर, सरस और चमत्कारपूर्ण हैं। उनके उदाहरण देने से यह लेख बढ़ जायगा। अतएव इसे हम यहीं समाप्त करते हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

चीन में भारतीय धर्म और सभ्यता का प्रचार ।

जिन भारतीय पण्डितों, विद्वानों, उपदेशकों एवं महात्माओं ने असह्य कष्ट उठा, अगणित आपत्तियों का सामना कर, स्वार्थत्याग और आत्मबलिदान कर, भारतीय धार्मिक सभ्यता और ज्ञान को चीन-देश में फैलाया है, उनकी कीर्त्ति का चाहे उल्लेख हमारे अधूरे इतिहास में कुछ भी न हो, पर चीन के साहित्य और इतिहास में उनका नाम अक्षय है, उनकी कीर्त्ति अमर है और उनकी महिमा अविनश्वर है।

हम पाश्चात्य विद्वानों के कृतज्ञ हैं, जिन्होंने चीनी भाषा और उसका साहित्य पढ़ कर, इन भारतीय पण्डितों का पता लगाया है और इनकी जीवन-सम्बन्धी घटनाओं पर प्रकाश डाला है। इस विषय में योरप के कितने ही विद्वानों ने लेख और ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें इन विद्वानों की विशेष प्रसिद्धि है—एबल. रेमूसत, एम. स्ट. ज्यूलियन, सेम्यूल बील, जेम्सलेगी, चवन्स, पीलियट, सिलबन लैवी, हयूबर, वर्नफ, हेनरी कोर्डियर आदि। इन विद्वानों ने सतत परिश्रम कर चीन के धार्म्मिक साहित्य के रहस्यों का उद्घाटन किया है, जिससे इस विषय का ज्ञान सुलभ हो गया है। एक बङ्गाली विद्वान् ने भी इसी के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है। नीचे उसी के आधार पर कुछ बातें लिखी जाती हैं।

ईसा की पहली शताब्दी में चीनदेश का प्रतिभाशाली सम्राट् मिङ्गटी था। एक रात्रि को इसने स्वप्न में देखा कि एक दैवी पुरुष, जिसका सुवर्ण का सा शरीर था, जो लगभग १२ फुट ऊँचा था और जिसके मस्तक के चारों ओर सूर्य का सा प्रकाश हो रहा था, उड़ता हुआ उसकी ओर आया और उसके राजमहल में प्रविष्ट हुआ। प्रातःकाल सम्राट् ने अपने मन्त्री से इस स्वप्न का अर्थ पूछा। उसने कहा—श्रीमान् ने सुना होगा कि भारतवर्ष में एक ऐसे देव हुए हैं जिन्हें कैवल्यज्ञान हो गया था और इसी कारण जो बुद्ध-देव कहाते हैं। आपने इन्हीं के शरीर को आकाश में उड़ता हुआ और प्रकाश फैलाता हुआ देखा है। यह सुनकर सम्राट् ने अपने उच्च कर्मचारियों को आज्ञा दी कि वे भारतवर्ष में जाकर बौद्ध-धर्म की खूब खोज करें और यहाँ वापस आकर सब वृत्तान्त सुनावें। ये लोग, जिनकी संख्या लगभग १८ थी, सन् ६४ में भारतवर्ष की यात्रा को रवाना हुए और वहाँ ११ वर्ष रहकर सन् ७५ में चीन-देश को लौट गये। लौटते समय ये अपने साथ बुद्धदेव की एक मूर्ति, उनके कहे हुए ४२ अध्यायी सूत्र और दो विद्वान् पण्डितों को भी लेते गये। इन पण्डितों के नाम थे काश्यप मातङ्ग और धर्मरक्ष। काश्यप मातङ्ग के उपदेश से चीन-सम्राट् ने बुद्धदेव का एक विशाल मन्दिर नगर के पश्चिमी द्वार के बाहर बनवाया और इसमें बुद्धदेव की मूर्ति स्थापित की।

चीन जानेवाले पण्डितों में काश्यप मातङ्ग पहला था। यह मगधदेश का एक श्रमण था और गान्धारदेश में जा बसा था। जब चीन का डेप्यूटेशन भारतवर्ष को आया उस समय यह गान्धारदेश में रहता था। उस समय गान्धारदेश से चीन जाने का मार्ग बड़ा लम्बा और कठिन था। चीनी तुर्किस्तान और गोबी के मरुस्थल को पार कर जाना पड़ता था। ऊँची और विकट पहाड़ियों पर चढ़ना होता था और भयानक जङ्गलों को पार करना पड़ता था। इन सब कठिनाइयों को झेलता हुआ मातङ्ग चीन में पहुँचा और वहाँ उसने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। पहला सम्राट्, जिसके समय में यह प्रचार शुरू हुआ और जिसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया, हनवंश का था और उसका नाम मिङ्गटी था। उसका शासन-काल सन् ५८-७५ था।

मातङ्ग ने चीनी भाषा का अध्ययन किया और फिर संस्कृत से बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में करना आरम्भ किया।

पहला ग्रन्थ, जिसका अनुवाद किया गया, ४२ अध्यायी सूत्र था। जब काश्यप मातङ्ग का देहावसान हो गया तब उसके कार्य को उसके साथी धर्मरक्ष नामक पण्डित ने जारी रक्खा। यह पण्डित बड़ा विद्वान् था। इसने संस्कृत के पाँच ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस प्रकार चीन में बौद्ध-धर्म और भारतीय सभ्यता का प्रचार दिन प्रतिदिन बढ़ता गया।

सन् ७६ में सम्राट् मिङ्गटी की मृत्यु होगई। उसके उत्तराधिकारी ने भी भारत से कई पण्डितों को बुलाया और उनके द्वारा बौद्ध-धर्म का प्रचार करवाया। सन् ६५ से लगा कर सन् १०१४ तक, अर्थात् लगभग एक हज़ार वर्षों तक चीन-देश में भारतीय पण्डित और उपदेशक जाते रहे। इन्होंने वहाँ बौद्ध-धर्म का ही प्रचार न किया, भारतीय सभ्यता का भी बीज-वपन कर दिया। इन पण्डितों में से अभी ६२ का पता चला है और वह भी पाश्चात्य पण्डितों की निरन्तर खोज का परिणाम है।

६२ पण्डितों में से ये पण्डित अद्वितीय प्रतिभाशाली, विद्वान् और सुप्रसिद्ध धर्मप्रचारक थे—

१ कश्यप मातङ्ग
२ धर्मरक्ष
३ कुमारजीव
४ धर्मक्षेम
५ गुणवर्मा
६ गुणभद्र
७ बुद्धरुचि
८ नरेन्द्रयश
९ परमार्थ
१० जिनगुप्त
११ अमोघवज्र
१२ धर्मदेव
१३ दानपाल
१४ ज्ञानश्री

काश्यप मातङ्ग और धर्मरक्ष का हाल ऊपर दिया जा चुका है। अब हम दूसरे पण्डितों का कुछ हाल लिखते हैं।

कुमारजीव उन सब अनुवाद-कर्ताओं में श्रेष्ठ और महान् है जिन्होंने भारतीय बौद्ध-धर्म की प्रतिभा और कीर्ति को चीन में फैलाया है। उसने स्वयं अनेक बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया और अपने कार्य को जारी रखने के लिए दूसरों को उत्तेजित किया। उसने बौद्ध भिक्षुकों को भारत में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए तैयार किया। इन भिक्षुकों का नेता फ़हीन था। उसने अपने समय के कार्यकर्ताओं को धर्म-प्रचार के लिए पूर्ण उत्साहित किया।

कुमारजीव के कुटुम्ब के लोग एक भारतीय राज्य में मन्त्रीपद पर चले आये थे। इनके पिता सचिव-पदवी का त्याग कर बौद्ध-भिक्षुक हो गये थे। इनकी माता एक राजकुमारी थी। पिता का नाम कुमार था और माता का जीव। इस प्रकार इनका नाम कुमारजीव हुआ। इनका जन्म-काल सन् ३४४ था। जब ये सात वर्ष के थे, इनकी माता इन्हें एक विहार में ले गई थी, जहाँ इन्होंने सब धर्म-सूत्रों को कण्ठस्थ कर लिया। नौ वर्ष की अवस्था में कुमारजीव काश्मीर आये और यहाँ इन्होंने बन्धुदत्त आचार्य से विद्याध्ययन किया। इन्होंने बीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली और यह कौच देश के एक

विहार में रहने लगे। सन् ४०१ में ये चीन आये और तत्कालीन सम्राट् ने इनका समुचित सम्मान किया और इनसे चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने की प्रार्थना की। इन्होंने प्रचार कार्य अपने हाथ में लिया और बारह वर्षों के भीतर कम से कम १०० बौद्ध-ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद कर डाला। इस कार्य में इन्होंने अपने भारतीय और चीनी शिष्यों से भी सहायता ली। इनके चीनी अनुवादों की बड़ी प्रशंसा है—यहाँ तक कि जो अनुवाद चीननिवासियों ने किये हैं उनसे भी बढ़कर इनके अनुवाद हैं।

कुमारजीव के गुरु का नाम विमलाक्ष है, जो काश्मीर देश के एक ब्राह्मण थे। वे भी बौद्ध-भिक्षुक थे और चीन में धर्म-प्रचार करने गये थे। उन्होंने कुमारजीव के अनुवादों में बड़ी सहायता दी। कुमारजीव के देहान्त के पश्चात् इनके गुरु इनका कार्य करते रहे।

धर्मक्षेम नाम के भारतीय पण्डित ने चीन में बड़ा कार्य किया है। सात वर्षों में (४१४-४२१ में) इन्होंने अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कर डाला। इनकी ख्याति अखिल चीन में ही नहीं फैल गई थी, बल्कि दूर दूर के देशों में भी। इनकी मृत्यु एक घातक के हाथ से हुई, जिसका कारण धर्म-प्रचार के प्रति इनका उत्साह था; इनके अनेक ग्रन्थों में से १२ ग्रन्थ अब भी सुरक्षित हैं।

गुणवर्मा काश्मीर देश के निवासी थे। ये धर्म-प्रचार-कार्य में अति निपुण थे। इन्होंने जावा-द्वीप में बौद्ध-धर्म-प्रचार किया था। फिर ये धर्म-प्रचार के लिए चीन गये।

गुणवर्मा ने तीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी—इस अवस्था में ही ये बौद्ध-शास्त्रों के पारङ्गत पण्डित हो गये थे। इनका जन्म एक राजवंश में हुआ था। इन्होंने राज-सिंहासन-परित्याग कर भिक्षु-वृत्ति स्वीकार की थी। पहले-पहल इन्होंने सिंहलद्वीप में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया, इसके बाद जावाद्वीप में और तब चीन में। ये सन् ४३१ में चीन गये और वहाँ इनका बड़ा आदर हुआ। इन्होंने धर्म-प्रचार का कार्य बड़ी कुशलता से किया। इन्होंने १० संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया और बौद्ध-धर्म का प्रचार लङ्का, जावा और चीन में भली भाँति किया। इनका देहान्त ६७ वर्ष की आयु में होगया।

गुणभद्र नाम के एक भारतीय पण्डित ने चीन-देश में बड़ा कार्य किया। ये मध्य-भारत के एक ब्राह्मण थे और महायान-सम्प्रदाय की सभी शाखाओं के एक प्रकाण्ड पण्डित थे। ये सन् ४३५ में चीन देश गये और वहाँ ८ वर्ष तक बराबर अनुवाद करते रहे। इन्होंने ७८ ग्रन्थों का अनुवाद किया। इनका देहान्त ७५ वर्ष की उम्र में हुआ। खेद है, अब इनके ७८ ग्रन्थों में से केवल २८ उपलब्ध हैं—अवशिष्ट खो गये हैं।

बोधिरुचि नाम के एक अन्य भारतीय पण्डित ने भी चीन-देश में बौद्ध-धर्म का खूब प्रचार किया। ये छठी शताब्दी के प्रारम्भ में ही चीन गये थे। ये उत्तरी भारत के रहनेवाले थे और सन् ५०८ में चीन में आ रहे थे। ये २७ वर्ष तक धर्म-प्रचार-कार्य करते रहे और इन्होंने ३० संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया है। ये प्रख्यात धर्म-प्रचारक थे।

नरेन्द्रयश नाम के पण्डित उद्यान के रहनेवाले थे इन्होंने समस्त भारतवर्ष और लङ्का की यात्रा की और फिर ये चीन-देश को गये और उसकी राजधानी में सन् ५५६ में पहुँच गये। इस समय इनकी उम्र ४० वर्ष की थी। इन्होंने १५ ग्रन्थों का अनुवाद किया। अपनी विद्या और प्रतिभा के कारण चीन-देश में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और ये उच्च श्रेणी के धर्म-प्रचारक गिने जाते थे। इनकी मृत्यु सन् ५८९ में हुई।

एक दूसरे पण्डित, जिनका नाम परमार्थ था, मध्य-भारत के उज्जैन नामक नगर के रहनेवाले थे। ये सन ५४८ में चीन गये और वहाँ २१ वर्ष रहे। इन्होंने पहले ९ वर्षों में १० ग्रन्थ लिखे और पिछले वर्षों में लगभग ४० ग्रन्थों का अनुवाद किया। ७१ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हो गई। ये भी बोधिरुचि के समान एक सुप्रतिष्ठित अनुवादक और प्रचारक थे।

जिनगुप्त चीन जानेवालों में एक बड़े प्रसिद्ध पण्डित थे। ये कुमारजीव, अमोघवज्र और धर्मदेव जैसे प्रकाण्ड पण्डितों की श्रेणी के हैं। ये गान्धारदेश के श्रमण थे और

पेशावर में रहते थे। ये क्षत्रिय-जाति के थे और इनके पिता का नाम वज्रसार था। इन्होंने सात वर्ष की अवस्था में ही संन्यास ले लिया था। इनके आचार्य और उपाध्याय के नाम ज्ञानभद्र और जिनयश हैं। इनकी शिक्षा के प्रभाव से ही जिनगुप्त इतने प्रसिद्ध विद्वान् हुए।

२७ वर्ष की उम्र में ये और इनके गुरु चीन गये। अनेक आपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करते हुए ये सन् ५५७ में चीन पहुँचे। यहाँ जिनगुप्त की बड़ी ख्याति बढ़ी और ये धर्मप्रचारकों के नेता हो गये। अन्त में ये राज-गुरु हो गये और इन्होंने ३७ ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत से चीनी भाषा में किया। जिनगुप्त ने चीन के सम्राट् की आज्ञा से भारतीय ज्योतिष-शास्त्र के ग्रन्थों का भी अनुवाद किया था। इनकी मृत्यु ७८ वर्ष की उम्र में सन् ६०० में हो गई। जिनगुप्त बौद्ध-धर्म के एक बड़े अनुभवी प्रचारक थे। उन्होंने अपने धर्म के लिए बड़े बड़े कष्ट उठाये, परन्तु वे अपने धर्म-पथ पर अचल बने रहे। भारतीय विद्या-प्रचार में उनका स्थान कुमारजीव और बोधिरुचि के बराबर है।

अमोघवज्र आठवीं शताब्दी के सबसे बड़े विद्वान् और धर्मप्रचारक थे जो भारतवर्ष से चीन को गये थे। ये उत्तरी भारत के एक श्रमण थे। ये जाति के ब्राह्मण थे और इनके गुरु का नाम वज्रबोधि था। ये अपने गुरु के साथ सन् ७१९ में गये। गुरु की मृत्यु सन् ७३२ में हो गई। मृत्युसमय गुरु ने आज्ञा दी थी कि भारतवर्ष में जाकर बौद्धग्रन्थों का सङ्ग्रह करके चीन में आकर प्रचार करो। इस आज्ञा के अनुसार अमोघवज्र भारतवर्ष लौट आये। यहाँ इन्होंने बौद्धग्रन्थों का सङ्ग्रह किया और सन् ७४६ में अनेक हस्त-लिखित ग्रन्थ लेकर चीन लौट गये और वहाँ इन्होंने धर्मप्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। चीन का सम्राट् इस कार्य्य से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने इनको प्रज्ञानमोक्ष की उपाधि दी। इनका बड़ा सम्मान था और सब लोग इनकी प्रशंसा करते थे। इन्होंने ७७ ग्रन्थों का अनुवाद किया, जिनमें तान्त्रिक ग्रन्थ भी बहुत थे। इनकी मृत्यु सन् ७७४ में हुई। इस समय इनकी उम्र ७० वर्ष की थी। इनकी राज-सभा में इतनी प्रतिष्ठा थी कि वहाँ के सम्राट् ने इनकी मृत्यु के पीछे भी इनकी स्मृति चिर रखने को इन्हें उपाधियाँ दीं।

धर्मदेव नाम के भारतीय पण्डित ने सन् ९७३-९८१ में ४६ ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद किया। ये नालन्द-विश्वविद्यालय से सन् ९७३ में चीन गये थे। इनकी मृत्यु सन् १००१ में हुई। चीन के सम्राट् ने इस पण्डित का बड़ा सम्मान किया था और इसे कई उपाधियाँ दी थीं।

दानपाल नाम के पण्डित चीन में सन् ९८० में गये। ये उद्यान के रहनेवाले थे। इनका चीन-नरेश ने खूब सम्मान किया और उपाधियाँ भी दीं। इन्होंने कम से कम १११ संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

अन्तिम भारतीय पण्डित, जो चीन गया, ज्ञानश्री था। इसकी चीन-यात्रा का समय सन् १०५३ है। इसने केवल दो ग्रन्थों का अनुवाद किया है।

१००० वर्षों तक भारतीय पण्डित चीन में जाते रहे और वहाँ उन्होंने भारतीय सभ्यता, साहित्य, ज्ञान, विद्या-कला और धर्म का प्रचार किया। उन्होंने चीन में बौद्ध-साहित्य ही नहीं पहुँचाया, किन्तु भारतीय शिल्प और चित्र-कलायें भी। जो कुछ भारतीय सभ्यता के उच्चांश थे वे उनके द्वारा चीन में पहुँच गये। उनका कार्य संसार के इतिहास में सुवर्ण अक्षरों में लिखने योग्य है।

इन पण्डितों-द्वारा संस्कृत के लगभग १००० ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। इनमें से अधिकांश अनुवाद अभी विद्यमान हैं, पर उन संस्कृत-ग्रन्थों का पता नहीं है जिनसे अनुवाद हुए थे। हम पहले भी अपने कई लेखों में लिख चुके हैं कि जब तक चीनी साहित्य की पूरी खोज न हो जायगी तब तक भारतीय साहित्य का इतिहास अधूरा ही रहेगा। चीन के अतिरिक्त तिब्बत, मङ्गोलिया, जापान, जावा, सुमात्रा, लङ्का आदि देशों और द्वीपों के साहित्य से भी भारतीय साहित्य पर प्रकाश पड़ सकता है। आशा है, हमारे देशवासी साहित्य की इस गवेषणा में दत्तचित्त हो प्राचीन भारतीय सभ्यता और साहित्य के मार्मिक अंशों की खोज निकालेंगे। अस्तु।

कन्नोमल एम० ए०

निदाघ-वर्णन ।

अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष के कवियों को परमेश्वर ने ऋतु-वर्णन का विशेष अवसर दिया है; क्योंकि यहाँ प्रत्येक दो मास के पीछे प्रकृति अपनी नवीन छटा दिखलाती रहती है। पृथ्वीमण्डल में शायद ही कोई ऐसा देश हो जिसमें हमारे देश के समान षड्ऋतुओं का वैभव दिखाई पड़ता हो। कोई देश ऐसे हैं जहाँ गर्मी ही विशेष रहती है, कुछ देशों में शीत की ही अधिकता रहती है और कोई देश वर्षा से ही विशेष आर्द्र रहते हैं। ऐसे देशों में षड्ऋतुओं का आनन्द कहाँ? किसी किसी देश के कवियों ने तो केवल वसन्त का ही थोड़ा सा वर्णन करके अपनी लेखनी को सन्तोष प्रदान किया है।

परन्तु भारतवर्ष के प्रायः सभी प्राचीन और नवीन कवियों ने षड्ऋतु का वर्णन करके अपनी प्रकृति-निरीक्षण-शीलता और लोक-रुचि-निदर्शनता का पूरा पूरा परिचय दिया है। उनके ऋतु-वर्णनों को पढ़ कर हृदय में एक प्रकार के अलौकिक आनन्द का सञ्चार होने लगता है।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि हिन्दी के प्राचीन कवियों में प्राकृतिक शोभा के निरीक्षण का भाव बहुत कम था; और उन्होंने विशेषतया नायिका-भेद और शृङ्गार-रस का ही अधिक वर्णन किया है; पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। सच तो यह है कि उन्होंने प्राकृतिक वर्णन को भी शृङ्गार-प्रभृति अन्य रसों के साथ मिला कर अपने रचना-कौशल को प्रकट किया है। जन-समुदाय को प्रकृति से अलग समझ कर, दोनों का अलग अलग, वर्णन करने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। फिर भी कई कवियों ने प्राकृतिक शोभा का स्वतन्त्र वर्णन अपने अपने काव्यों में किया ही है।

निस्सन्देह उन्होंने सब रसों में शृङ्गार-रस को श्रेष्ठ माना है; और वह ज़माना भी ऐसा ही था कि जब भारतवर्ष स्वाधीन था और कवि लोग राजाश्रय में रह कर अपने अपने राजाओं की रुचि के अनुसार कविता-रचना किया करते थे। हिन्दी के अधिकांश प्राचीन कवि मुसलमान बादशाहों के ज़माने में हुए हैं; और उक्त बादशाह स्वाभाविक ही विलासप्रिय होते थे, इसलिए उस समय के कवियों की कविता में शृङ्गार-रस की अधिकता है। प्राचीनकाल का स्वाधीन राजन्यवर्ग भी विलासप्रिय ही था—और राजाओं का विलासप्रिय होना एक स्वाभाविक बात है, इसलिए उनके कवियों ने भी शृङ्गार-रस को ही प्रधानता दी है।

अस्तु। हमारे कवियों ने षड्ऋतु वर्णन में प्राकृतिक सुखमा और प्राणि-चरित्र का जो विचित्र वर्णन किया है उसको पढ़ कर उनकी प्रतिभा की भूरि भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए आज हम निदाघ-वर्णन को, सामयिक समझ कर, पाठकों के मनोरञ्जनार्थ, यहाँ उपस्थित करते हैं।

(१)

महाकवि सेनापति जेठ की दुपहरी का वर्णन करते हैं—

वृष को तरनि तेज सहसौ किरनि कर,
ज्वालन के जाल विकराल बरसतु हैं,
तचति धरनि जग जरत झरनि सीरी—
छाँह को पकरि पथी पंछी विरमतु हैं।
सेनापति नेकु दुपहरी के ढरत होतु,
धमका विषम यों न पातु खरकतु है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कोनो,
घरी एकु बैठि कहूँ घामे वितवतु है॥

इस पद्य में ग्रीष्म की दोपहरी का वर्णन कितना सुन्दर किया गया है! जिस समय हवा भी बिलकुल स्तब्ध हो जाती है और वन-उपवन में चारों ओर सन्नाटा छा जाता है उस समय के उत्ताप का वर्णन करते हुए सेनापतिजी फिर कहते हैं—

सेनापति तपन तपति उतपति तैसो
छायो रतिपति तातें बिरह बरतु है।
लुवन की लपटैं तें चहुँ ओर लपटैं पै
ओढ़े सलिल पटै न चैन उपजतु है।
गगन गरद धूँधि दसौ दिसा रही रूँधि,
मानो नभभार की भसम बरसतु है।

बरनि बताई छिति व्योम की तताई जेठ—
आयो आततताई पुटपाक सों करतु है।

तपती हुई गर्द क्या छा रही है, माना आकाश के भार की भस्म बरस रही है! क्या ही अनूठी उत्प्रेक्षा की है!

पुनश्च ग्रीष्म का वर्णन करते हुए सेनापतिजी ने कुछ ज्येष्ठ और कुछ आषाढ़ की अवाई का आभास दिया है।

तपै इत जेठ जग जात है जरत जासों,
ताप की तरनि माना भरनि करतु है।
इत ही असाढ़ उठे नूतन सघन घन,
सीतल समीर हिय हीतल भरतु है,
आधे अंग ज्वालन के जाल विकराल आधे—
सुखद समोद हिय धीरज धरतु है।
सेनापति ग्रीसम तपत ऋतु भीषम दै,
माना बड़वानल सों बारिधि बरतु है।

(२)

अब महाकवि देव का ग्रीष्मागम-वर्णन सुनिए—

ग्रीषम प्रचण्ड घाम चण्ड करमण्डल ते,
उमड्यो है देव भूमिमण्डल अखण्डधार।
भौन ते निकुंज-भौन लहलही डारन ह्वै
दुलही सिधारी उलही ज्यों लहलही डार।
नूतन महल नूत पल्लवन छ्वै छ्वै, सेद
लवनि सुखावत पवन उपवन सार।
तनक तनक मणि कनक नूपुर पाय,
आय गई झनक झनक झनकाये बार।

क्या खूब! अब ग्रीष्म में आपका नायक-नायिका-वर्णन सुन लीजिए—

दोऊ अनुराग भरे आये रङ्गभौन भाग,
मघवा सची को लखि लागत सहल है।
बैठे एक आसन पै एकै संग एकै रंग,
चल्यो ना परत अंग कोमल कहल है।
एकन लै अतर लगायो देव दोउन के,
छिरक्यो गुलाब कीन्हो बिजन बहल है।
लैके करबीने परबीने अलियाँ अलापैं,
मंजु सुरपुंजन सों गुंजत महल है।

पुनश्च—

सीतल महल महा सीतल पटीर पंक,
सीतल कै लीप्यो भीति छितिछाति दहरैं।
सीतल सलिल भरे सीतल विमल कुंड,
सीतल अमल जलयन्त्र धारा छहरैं।
सीतल बिछौनन पै सीतल बिछाई सेज,
सीतल दुकूल पैन्हि पौढ़े हैं दुपहरैं।
देव दोऊ सीतल अलिङ्गनन देत लेत—
सीतल सुगन्ध मन्द मारुत की लहरैं।

(३)

दत्त कवि ग्रीष्म के उपचारों का किस खूबी के साथ वर्णन करते हैं, सो भी सुन लीजिए—

अम्बर अतर तर चन्द्रक चहल तन,
चन्द्रमुखी चन्दनमहल मैनशाला से।
खासे खसखाने तहखाने तरताने तने,
ऊजरे बिताने छुपे लागत हैं पाला से।
दत्त कहै ग्रीषम गरम की भरम कौन,
जिनके गुलाब आब हौज भरे ताला से।
झाला सों झरत झर झांपन सों बारा बाँधि,
धारा बांधि छूटत फुहारा मेघमाला से।

दत्त कवि की एक और उत्प्रेक्षा भी देख लीजिए—

सवैया।

ग्रीषम में तपै भीषम भानु,
गई बनकुंज सखीन के भूल सों।
घाम तें कामलता मुरझानी,
बयारि करै घनश्याम दुकूल सों।
कम्पति औ। प्रगटै परस्वेद,
उरोजन दत्त जू ठोढ़ी के मूल सों।
ह्वै अरबिन्द कलीन पै माना,
झरै मकरन्द गुलाब के फूल सों।

(४)

अब बेनी कवि के ग्रीष्मवर्णन की छटा देखिए। ग्रीष्म की हवा से और उसकी तपन से लोगों को जो शारीरिक सन्ताप पहुँचता है उसका आपने बहुत अच्छा दिग्दर्शन कराया है।

आवा सी अवनि धूँधी धूप रूप धूमकेतु,
आँधी अन्धकूप डारै लोचन अनैसे कै ।
जमक जलाकन की नाकन की लोहू चलै,
व्याकुल जगत साँझ पावैं जैसे तैसे कै ।
लोकपति लूक से उलूक से लुकत बेनी,
कुंजछाया जहाँ तहाँ छाई रही ऐसे कै ।
कोठरी तखाने खसखाने जलखाने बिन,
ग्रीषम के बासर व्यतीत होत कैसे कै ?

पुनश्च—

जेयें बिना जीरन सों जल की जिकर जीभ,
जर्‌यो जात जगत जलाकन के जोर तें ।
कूप सर सरिता सुखाय सिकता तें भईं,
धाईं धूरि धौरन धराधर के ओर तें ।
बेनी कवि कहत अनातप चहत सब,
अगिन सो आतप प्रकास चहूँ ओर तें ।
तवा सों तपत धरामपडल अखंडल,
सुमारतण्ड-मण्डल दवा सों होत भोर तें ।

बेनी कवि के इस वर्णन में अनुप्रास और यमक के कारण कुछ शिथिलता सी आगई है ।

(५)

ग्वाल कवि का ग्रीष्म-वर्णन भी बड़े ही ग़ज़ब का हुआ है । उसका थोड़ा सा नमूना देख लीजिए ।

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम नाम अति तापिनी ।
भीजे खस बीजन झलेहू ना सुखात स्वेद,
गात ना सुहात वात दावा सी डरापिनी ।
ग्वाल कवि कहै कोरे कुम्भन तें कूपन तें,
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी ।
जब पियो तब पियो अब पियो फेर अब,
पीवत हू पीवत मिटै न प्यास पापिनी !

कैसा स्वाभाविक वर्णन है ! आपने ग्रीष्म के उपचारों का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है ।

जेठ को न त्रास जाके पास ये बिलास होयँ,
खस के मवास पै गुलाब उछर्‌यो करै ।
बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के वरक भरे,
पेठे पाग केवरे में बरफ़ पर्‌यो करै ।
ग्वाल कवि चन्दन-चहल में कपूर चूर,
चन्दन अतर तर बसन खर्‌यो करै ।
कंजमुखी कंजनैनी कंज के बिछौनन पै,
कंजन की पंखी कर-कंज सों कर्‌यो करै ॥

ऐसी सामग्री जिसके पास होगी उसको गर्मी कैसे सतावेगी । पर ग्वाल कवि को क्या मालूम कि उनके समय से सौ वर्ष बाद ऐसा समय आवेगा कि जब भारतवासियों को ग्रीष्म की ज्वाला के साथ ही साथ पेट की ज्वाला भी ऐसी सतावेगी कि उनको भर पेट अन्न भी न मिलेगा । ग्वाल कवि का समय संवत् १८७९ के लगभग विद्वानों ने निश्चित किया है ।

(६)

नैन कवि ने निदाघ का वर्णन बहुत ही ज़ोरदार किया है । उनका एक ही कवित्त हमको मिला है, जो यहाँ पर दिया जाता है ।

प्रबल प्रचण्ड चण्डकर की किरनि देखौ,
बैहर उदण्ड नवखण्ड घुमिलत है ।
अवनि कराही कैसो तेल रतनाकर सों,
नैन कवि ज्वाल को जहर उगिलत है ।
ग्रीषम की ज्वाल-जाल कठिन कराल यह,
काल ज्वालामुखिहू की देह पघिलत है ।
लूका भयो आसमान भूधर भभूका भयो,
भभकि भभकि भूमि दावा उगिलत है ।

पृथ्वी की कड़ाही में, ग्रीष्म के कारण, समुद्र तेल की तरह खौल रहा है और ज़हर की ज्वाला उगल रहा है ! कैसा सुन्दर रूपक है ! ग्रीष्म की कराल ज्वालजाल के कारण ज्वालामुखी तक की देह पिघल रही है ! कैसा सजीव वर्णन है ! पिछले चरण में तो कवि ने क़लम ही तोड़ दिया है !

(७)

पद्माकरजी ने भी ग्रीष्म के शान्तिदायक उपचारों का अच्छा वर्णन किया है ।

फहरैं फुहारे नीर नहरैं नदी सी बहैं,
छहरै छबीन छाम छीटिन की छाटी हैं ।
कहै पद्माकर त्यों जेठ की जलाकें तहाँ
पावैं क्यों प्रवेश बेस बेलिन की बाटी हैं ।

बारहू दरीन बीच चारहू तरफ़ तैसी,
बरफ़ बिछाई तापै सीतल सुपाटी हैं।
गजक अँगूर की अँगूर से उँचो है कुच,
आसव अँगूर को अँगूर ही की टाटी हैं।

(८)

करन कवि ने ग्रीष्म को मतवाले हाथी की उपमा देकर क्या ही अच्छा रूपक बाँधा है।

चण्डकर झारन झकोरत सरोष पौन,
तोरत तमालगन मन्द दिन भारो सो।
धर्ष कै धरनि गिरि तमकै प्रताप जाके,
देखत मजेज रेज जगत निदारो सो।
तरु छीन छाया सर सूखत समुद्र वन
करन विचारि देखौ आतप अँगारो सो।
छावत गगन धूर धावत धधात आवै—
चाप चढ़ो ग्रीषम गयन्द मतवारो सो।

(९)

अब कवि कालिदास के ग्रीष्मोपचारों का वर्णन सुनिए। आपका वर्णन श्रृङ्गार-रस से बिलकुल सराबोर है।

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिये
अंक भरि प्यारी नेह-नदिन सुदिन भरि
बारि के बिहार ते न बाहिर निकसिये।
कालिदास अंग अंग अगर अतर संग
केसर समीर नीर घनसार घसिये।
जेठ में गोविन्दलाल चन्दन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिये।

(१०)

शिवदास कवि का भी निदाघ-निदर्शन बहुत सुन्दर हुआ है।

चलत है लूक पवन झोंका झपि सिवदास,
सूखे कूप कुंड सर सरिता उतण्ड हैं।
जीवन त्रसित गहि ग्रीसम ग्रसित ज्वाल
नसत सो फूल फल जीव ब्रहमण्ड हैं।
दावा सों दमकि तचि तावा सों तमाम जग,
अम्बर अवनि आसु आवा सों उमण्ड हैं।
प्रबल प्रचण्ड चण्ड मण्डल मयूखमुख
खण्ड खण्ड तपत अखण्ड मारतण्ड हैं।

(११)

ग्रीष्म के सूर्य पर किसी कवि ने क्या ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

जीवन को त्रासकर ज्वाला को प्रकास कर
भोरही ते भासकर आसमान छायो है।
धमका धमक धूप सूखत तलाब कूप,
पौन को न गौन भौन आगी में तचायो है।
तकि थकि रहे जग सकल विहाल हाल
ग्रीसम अचर चर खचर सतायो है।
मेरे जान काहू वृषभान जगमोचन कों
तीसरो त्रिलोचन को लोचन खोलायो है॥

पद्य का चौथा चरण बहुत ही कौशल-पूर्ण है। इसमें 'वृषभान' और 'जगमोचन' शब्दों में बहुत ही सुन्दर श्लेष जान पड़ता है। 'वृषभान' से तात्पर्य 'वृषभानु' से हो सकता है, क्योंकि ग्रीष्म में वृष (राशि) के सूर्य होते हैं; जिस पर कवि ने त्रिलोचन के तीसरे लोचन की उत्प्रेक्षा की है। इधर वृषभान महादेवजी को भी कह सकते हैं; क्योंकि, वृष उनका वाहन है, सम्भव है 'वृषभान' कवि का भी नाम हो। इस प्रकार इस शब्द में कई श्लेष जान पड़ते हैं।

इसी प्रकार 'जगमोचन' शब्द में भी कई श्लिष्टार्थ जान पड़ते हैं। एक तो जगमोचन,—वृषभान और त्रिलोचन, अर्थात् महादेवजी का विशेषण हो सकता है; क्योंकि महादेवजी का कार्य सृष्टि का संहार करना ही है; और प्रलयकाल में अपने तीसरे नेत्र को खोल कर ही वे जगत् को भस्म करके उसका मोचन, अर्थात् उसकी मुक्ति कर देते हैं। इसके सिवा "जगमोचन को" इसका दूसरा और स्पष्ट अर्थ "संसार का नाश करने के लिए" भी है।

कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह वृष का सूर्य तप नहीं रहा है; बल्कि सृष्टि का संहार करने के लिए मानो किसी ने त्रिलोचन का तीसरा नेत्र खुलवा दिया है!

(१२)

फेरन कवि ने ग्रीष्म का निदर्शन करते समय सौन्दर्य का जो प्रदर्शन किया है उसकी भी खूबी देखने योग्य है। आप कहते हैं—

चन्दन-चहल चोवा चाँदनी चँदेवा चारु,
घनो घनसार घेरि सींच महबूबी के।
अतर उसीर सीर सौरभ गुलाब-नीर,
गजब गुजारैं अँग अजब अजूबी के।
फेरन फबत फैलि फूलन फरस तामें—
फूल सी फबी है बाल सुन्दर सुखूबी के
बिसद बिताने ताने तामें तहखाने बीच—
बैठी खसखाने में खजाने खोलि खूबी के।

वाह! फेरन जी वाह! आपकी खूबी भी खूब ही रही! यमक और अनुप्रास की इतनी भरमार रहते हुए भी आपका वर्णन बहुत ही सुन्दर और स्पष्ट हुआ है। आप तो सौन्दर्य-निरीक्षण में बहुत ही पटु जान पड़ते हैं।

(१३)

ग्रीष्म की दोपहरी में नायिका अपने प्रियतम से मिलने जा रही है। उसका वर्णन महाकवि मतिराम ने कितना मनोहर किया है। देखिए—

सारी जरतारी की झलक झलकत तैसी
केसरि को अंगराग कीन्हों सब तन में।
तीखन तरनि की किरन हूँ तें दूनी दुति,
जगत जवाहिर जटित आभरन में।
कवि मतिराम आभा अंगनि अँगार कैसी,
धूम कैसी धार छवि छाजत कुचन में
ग्रीषम दुपहरी में पिय को मिलन जाति,
जानी जाति नारि न दवारि जाति वन में।

खूब! रूपकालङ्कार का बहुत ही सुन्दर उदाहरण है। ग्रीष्म की दोपहरियों में नगर में जैसा सन्नाटा छा जाता है उसको देख कर कभी कभी वन की निर्जनता का स्मरण अवश्य ही हो आता है। उसी सन्नाटे में उपर्युक्त नायिका दावाग्नि की भाँति जा रही है। नायिका का जो वर्णन मतिरामजी ने किया है उसको पढ़ कर उसमें दावाग्नि की भ्रान्ति होना कोई अचरज की बात नहीं है।

विरहिणी नायिकाओं की ग्रीष्म में क्या दशा होती है उसके भी दो उदाहरण देख लीजिए।

(१४)

आलम कवि कहते हैं:—

पंकज पटीर देखे दूनी दुख पीर होति,
सीरेहू उसीर ते पीर चीर हार की।
अंवा सों अवास भयो तवा सों तपतु तन,
अति ही तपन लागे झार घनसार की।
आलम सुकवि छिन छिन मुरझाति जाति,
सखिन विचारि तजी रीति उपचार की।
मन ही मरूरे मरि रही मन मारि नारि,
एक ही मुरारि बिनु मारी मरै मार की।

(१५)

परसिद्ध कवि ग्रीष्म-विरहिणी का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

तातो होत तन और सूखि जाति मुखज्योति
अँग अकुलात चित्त अधिको भँवतु है।
जैयतु उसीर-भौन लागत न नीको पौन,
ओला घनसार घनो चन्दन अमितु है।
सीरे हू यतन यातें कीने अनेक भाँति,
ता पर तिहारी सौंह दुख ना घटतु है।
जानत हौं व्यापो तोहिं विरहा प्रसिद्ध आली,
नायक है कोऊ नाहिं ग्रीषम की ऋतु है।

(१६)

बिलग्रामवासी मीर जलील और सबलसिंह कवि (ये सबलसिंह महाभारतवाले नहीं हैं) ने बरवा छन्द में ग्रीष्म का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसके कुछ अवतरण यहाँ दिये जाते हैं।

बरवा।

तपन तपै ऋतु ग्रीसम तीषन घाम।
ताकि तरुनि तन सीतल सोवै काम॥
छाँह सघन तरु भावै बालम साथ।
की प्रिय परम सरोवर सीतल पाथ॥

* * * *

जेठ मास सखि सीतल वर कै छाहँ।
करु नई नींद सिर्हनवाँ पिय कै बाहँ॥
पिय कर परस सरस अति चन्दन-पंक।
भावक रजनि सुहावन दरस मयंक॥

(१७)

ग्रीष्म-ऋतु में जङ्गल के जीव-जन्तुओं की कैसी विचित्र दशा हो जाती है इसका वर्णन महाकवि कालिदास ने

अपने ऋतुसंहार काव्य में बहुत ही सुन्दर और विस्तृत रूप से दिया है। पण्डित श्रीधर पाठकजी ने उसका हिन्दी-अनुवाद संस्कृत-वृत्तों में किया है। आपके वृत्त भी बड़े अनूठे और निराले ढङ्ग के हैं, अथ च कौतूहल-वर्धक हैं। पाठकजी के समान स्वच्छन्द कवि के लिए ऐसे वृत्त लिखना भी शोभन-विषय है। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ कुछ पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

प्रचण्ड घामों से तपे हुए हिरन्
तृषा से सूखे हैं जिन्हों के तालुए
निरख् के काजल के समान व्योम को
दिशा में उसको जल जान दौड़ते।

+ + +

सताया सूरज् के कठोर तेज से,
जला मरै है चलने से रेत में
फिरै है औंधे मुख हाफता फणी,
थमै है जाकर् के मयूर के तले।
बड़ी तृषा से बलहीन केसरी,
फटा हुआ मू, छिन् छिन् पै हाँफता
लटक रही जीभ, थरक् रहीं जटा,
निकट् के गज् पर भी चलावे हाथ ना।
सुखाये कंठों से तुषार अम्बु पी
सताये सूरज् की किरन् से जब् गये
बढ़ी पिपासा जल चाहने लगे,
डरैं हैं सिंहों से मतङ्ग भी न वे।
जली हुई आग समान सूर्य की
मरीचियों से घबराये मोर जो
समीप बैठे को हनें न साँप को
परों में जिन्के है धँसाया जिसने फन्।
जमा जो मोथा है सुखाने ताल में
विशाल डाढ़ों से उसे हैं खोदते
तपे हुए दारुण धूप से मनो
धँसेंगे ये शूकर भूमि के तले।
जलन् से तीखी से प्रचण्ड भानु की
उछल् के मण्डूक भगै हैं कींच से
भुजंग प्यासे के पहुँच समीप सो
धँसै हैं उसके फण-छत्र के तले।
उखड़् गये जिनके मृणाल-जाल हैं
तड़प रहीं मीन उड़े मराल हैं
भिड़ैं परस्पर गज जो विशाल हैं
इसी से कीचड़् से मलीन ताल हैं.
मलिन् है जिस्की मणि सूर्य-तेज से
चलाता दो जीभ पवन् पै जो चढ़ीं
विषाग्नि दावानल धूप का तपा—
पिलासा भेकों को हनै फणी नहीं।

× + +

गज मृगपति नीली गाय अग्नी से तप् कर
सुहृद सम इकट्ठे छोड़ के बैर सारा
अधिक तच गईं जो उन गुफों से निकल् कर
सुविपुल तटवाली, शीघ्र, नदियों को आते।

पाठकजी ने ये पद्य २ जनवरी सन् १८८७ में लिखे थे। वह खड़ी बोली की कविता का प्रारम्भिक काल था। फिर भी आपकी भाषा का प्रवाह इतना सुन्दर है; और भावों को इतनी सफ़ाई के साथ मूल-संस्कृत-पद्यों से उतारा है कि पद्य पढ़ते समय मौलिक रचना का आनन्द आता है; और वृत्तों की विलक्षणता तथा अन्त्यानुप्रास-हीनता भी बिलकुल नहीं खटकती।

(१८)

ब्रह्म कवि राजा वीरबलजी का भी, जो अकबरशाह के नवरत्नों में से थे, एक कवित्त ग्रीष्म-वर्णन-विषयक सुनिए। आपके इस कवित्त में भी महाकवि कालिदास के उपर्युक्त वर्णन का कुछ विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव उतर आया है। राजा साहब का उक्त कवित्त इस प्रकार है—

उछरि उछरि भेकी छपटैं उरग पै
उरग पग-केकिन के लपटैं लहकि है।
केकिन को सुरति हिये की ना कछू है भये—
एकी करी केहरि न बोलत बहकि है।
कहै कवि ब्रह्म वारि हेरत हरिन फिरैं,
बैहर बहति बड़े जोर सों जहकि है।
तरनि के तावन तवा सी भई भूमि रही—
दसहू दिसान में दवारि सी दहकि है।

ब्रह्म कवि ने महाकवि कालिदास के भावों को स्वतन्त्र रूप से अपने पद्य में दरसाया है; आपके वर्णन का प्रवाह बिलकुल स्वाभाविक और स्पष्ट है।

(१९)

अब महाकवि बिहारी के ग्रीष्म-वर्णन की छटा देखिए। आप राजपूताने में रहते थे, इसलिए आपके वर्णन में मरुभूमि के ग्रीष्म का आभास मिलता है।

विषम वृषादित की तृषा, जियो मतीरन सोधि।
अमित अपार अगाध जल, मारौ मूढ़ पयोधि॥

राजपूताने के रेतीले मैदानों में जब वृष के विषम आदित्य तपते हैं तब तरबूज़ों को ढूँढ़ ढूँढ़ कर प्यास बुझानी पड़ती है। मरुस्थल-वासियों के लिए अगाध जलवाला समुद्र किस काम का? इसी प्रकार का एक और दोहा है—

प्यासे दुपहर जेठ के, थके सबै जल सोधि।
मरुधर पाय मतीर हू, मारू कहत पयोधि।

सारांश यह कि मरुस्थल के प्यारे निवासियों को ढूँढ़ने से यदि कहीं एक तरबूज़ ही मिल गया तो वही उनके लिए समुद्र का काम देता है—अर्थात् उसी से उनकी तृषा शान्त होती है।

जेठ की दोपहरी की छाया का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी कहते हैं:—

बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छाँह॥

जेठ की दोपहरी में छाया मानो अत्यन्त सघन वन में अपने सदन रूप तन में ही छिपना चाहती है—छाँह भी छाँह चाहती है—कैसा चमत्कारपूर्ण वर्णन है!

महाकवि बिहारी का ग्रीष्म-सम्बन्धी यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥

ग्रीष्म-ऋतु में जङ्गली हिंस्र जन्तु परस्पर का वैर भूल कर किस प्रकार एक साथ विचरते हैं, इसका वर्णन तो अन्य कई कवियों ने किया है; परन्तु उसके साथ ही ग्रीष्म-जगत् को तपोवन की उपमा देकर कविवर बिहारीलालजी ने सबके ऊपर कलँगी लगा दी है! बिहारी की यह सूझ बिलकुल अनूठी है!

(२०)

लेख की मर्यादा बढ़ रही है; और अभी हमें कई कवियों का निदाघ-निदर्शन दिखलाना था; परन्तु अब हम सबको छोड़ कर दो तीन कवियों के कुछ पद्यों को देकर इस बढ़ते हुए लेख को समाप्त करेंगे।

वर्तमान कवियों में पण्डित नाथूराम शङ्कर शर्मा ने भी निदाघ का बहुत ही सजीव और सामयिक वर्णन किया है—

पावक बाण दिवाकर मारे। हा! बड़वानल फूंक पजारे।
खौल उठे नद सागर सारे। जलते हैं जलजन्तु बिचारे।
भानुकृपा न कढ़े बसुधा से। चन्द्र न शीतल करे सुधा से।
धूप हुताशन से क्या कम है। हाय! चांदनी रात गरम है।

* * * *

गोरे गुरुजन भोग-विलासी। बहुधा बने हिमालयबासी।
कातिक तक न यहाँ आते हैं। वहीं प्रचुर वेतन पाते हैं।
निर्धन घबराते रहते हैं। घोर ताप संकट सहते हैं।
दिन भर मुड़बोझे ढोते हैं। तब कुछ खा पी कर सोते हैं।
खलियानों पर दायँ चलाना। फिर अनाज भूसा बरसाना।
पूरा तप किसान करते हैं। तो भी उदर नहीं भरते हैं।
हलवाई भुरजी भठियारे। सोनी भगत लुहार बिचारे।
नेक न गरमी से डरते हैं। अपने तन फूँका करते हैं।

शङ्कर कवि के अन्य भी कई पद्य बहुतही बढ़िया हैं; पर अन्त में यह पद्य देकर आपने अपना निदाघ-निदर्शन पूरा किया है—

जब दिन पावस के आवेंगे। वारि बलाहक बरसावेंगे।
तब गरमी नरमी पावेगी। कुछ तो ठंढक पड़ जावेगी।
भाट बने कालानल रवि का। ऐसा साहस है किस कवि का।
शङ्कर कविता हुई न पूरी। जलती भुनती रही अधूरी!

(२१)

पण्डित श्रीधर पाठकजी ने अपनी "देहरादूनयात्रा" में प्रसङ्गवशात् थोड़ा सा ग्रीष्माभास दिया है।

बरवा

ग्यारह मई महिनवा तेरह साल।
अदित वार अध-दिनवा धूप दुकाल॥
कठिन घोर दुपहरिया लुअ कर जोर।
चलेउ तेज असवरिया टेसन ओर॥

* * * *

गरमी में रेल की यात्रा करते समय ग्रीष्म का जो

अनुभव होता है उसका चित्र पाठकजी ने इस प्रकार खींचा है—

दउरत तट-भुइँ पेड़वा निपट दिखाहिँ ।
लागत लुअन-थपेड़वा मुहँ के माहिँ ॥
तम तम तपत सुरजवा जरत अकास ।
चम चम चपल चवँधवा विकट प्रकास ॥
रेलहु सब अवयववा उगिलति आगि ।
अजहुँ बिसम अनुभववा जिय रह्यो जागि ॥

(२२)

कविवर पण्डित अयोध्यासिंह जी उपाध्याय "हरिऔध" जी का ग्रीष्म-वर्णन भी बड़े ठाट का हुआ है। आपके भी एक दो कवित्तों का नमूना देखिए।

चन्दन कपूर चूर चन्द चाँदनी हू आप
करत न मन्द ताप ग्रीखम प्रचण्ड की ।
अरक अनार मंजु केवरो गुलाब-नीर,
हरत न वीर पीर पूखन उदण्ड की ।
हरिऔध बार बार तर तहखानन हूँ,
झरसत भूरि झार आतप अखंड की ।
खासे खसखाननहू दंडित करत खूब,
दावा दंड मंडित मरीचैं मारतण्ड की ।
आतप मैं पूखन की प्रखर मरीचिन तें,
थर थर रूखन की पातिहू कँपति है ।
जीवन की भाखै कौन जीवन बिनाहू जरि,
रज की जमाति नाम जीवन जपति है ।
हरिऔध भभरि भभूकन औ लूकन तें,
छायावान कुंजन मैं छाया हू छपति है ।
जोम तें जलाकन के जगत पजावा भयो,
भौन भये आवा भूमि तावा सी तपति है ।

हरिऔधजी का ग्रीष्म-वर्णन प्राचीन कवियों के टक्कर का है।

(२३)

किसी प्राचीन कवि ने एक विरहिणी नायिका के मिस से ग्रीष्म का क्या ही अच्छा दिग्दर्शन कराया है।

चलति उसास की झकोर घोर चहूँ ओर,
नहीं है समीर जोर मूधा कहैं लोग है ।
सोचन की लहरैं न ठहरैं सकोचन तें,
रविकर होय नहीं श्याम है धु सोग है ।
मृगन भ्रमत मेरे मन. के मनोरथ ये,
फेरे नहिँ फिरैं लगी प्रीति तृषा को गहै ।
धीर धरौं वीर कैसे तपत उसीर भौन,
नाहीं यह ग्रीषम री भीषम वियोग है ।

इस पद्य में कवि ने ग्रीष्म के अनेक लक्षण विरहिणी में बड़ी चमत्कारिता के साथ घटित किये हैं।

(२४)

ग्रीष्म के वर्णन में एक छोटा सा दोहा भी किसी कवि ने बहुत ही चमत्कारपूर्ण कहा है।

जेठ-ज्वाल-भय सूरहू गयो हिमालय देस ।
हिम भजि उदर-दरी दुरत, दिनहि कलेस असेस ॥

ग्रीष्म-ऋतु में सूर्य्य उत्तरायण हो जाता है। इसी बात को लक्ष्य करके कवि कहता है कि जेठ की ज्वाला के भय से सूर्य भी हिमालय प्रदेश को चला गया है; और हिमालय की बरफ़ वहाँ से भग कर बड़े बड़े लोगों* की उदर-दरी में छिपती फिरती है।

सूर्य और बरफ़ क्रमशः अपनी अपनी उष्णता और शीतता में पराकाष्ठा के हैं। अतएव कवि सूचित करता है कि चाहे जितना प्रखर उष्ण पदार्थ हो, वह भी ग्रीष्म की ज्वाला से भय खाता है; और चाहे जितना शीत पदार्थ हो, उसको भी इस जेठ की ज्वाला से भय है।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

शोकोद्गार ।

वत्स, वत्स, हे वत्स ! कहाँ हो,
कुछ न समझ में आती बात,
बुद्धि आज क्यों काम न देती,
क्यों जड़–तुल्य हुआ सब गात ?

---

* प्राचीन काल में आज-कल की तरह जगह जगह बरफ़ के कारख़ाने नहीं थे; किन्तु हिमालय से ही बरफ़ की चट्टानें काट काट कर सिन्ध, गङ्गा, इत्यादि नदियों के द्वारा नावों में भारत के बड़े बड़े नगरों में भेजी जाती थीं; और बड़े बड़े सेठ-साहूकार, राजा-रईस उसी बरफ़ से ग्रीष्म में अपनी उदर-दरी को सुशीतल करते थे।

कुटिल काल ! तू छीन ले गया
क्या सचमुच ही मेरा लाल ?
नहीं, नहीं, मैं देख रहा हूँ
कोई अशुभ स्वप्न विकराल ॥ १ ॥
हम लोगों को यहाँ छोड़ कर
तुमने कहाँ किया प्रस्थान,
चले गये तुम वत्स ! अकेले,
कैसे इसको लें हम मान ?
कुछ न समझ में आया अब तक
थी किसकी वह चाल कराल ;
उषा बाल रवि के भ्रम से क्या
तुम्हें ले गई प्रातःकाल ? ॥ २ ॥
वत्स ! तुम्हें यह दृष्टि अभागी
खोज रही है चारों ओर,
किन्तु कहीं तुम देख न पड़ते,
है कैसी यह दशा कठोर ?
नव विकसित कोमल गुलाब की
गिरी हुई पंखडी-समान—
तुम्हें उड़ा ले गया कहीं क्या
चुपके से आकर पवमान ? ॥ ३ ॥
ज़रा देर तक गगनाङ्गण में
सन्ध्या-समय खेल सानन्द,
हो जाता है लुप्त शीघ्र ही
मृदुल द्वितीया का ज्यों चन्द ।
त्यों ही तुम भी अल्प काल तक
कर निज लीला का विस्तार,
बतलाओ अब कहाँ छिप गये
मेरे प्राणों के आधार ? ॥ ४ ॥
हुए मुग्ध क्या देख गगन में
दीप्तिमान नक्षत्र-समाज,
क्या तारों की सभा-मध्य हो
तुम भी जाकर बैठे आज ?
किन्तु तुम्हारे बिना शोक से
विह्वल स्वजन हो रहे हाय !
उनका आश्वासन करने का,
बतलाओ, है कौन उपाय ? ॥ ५ ॥
चन्द्र-खिलौना लेने को तुम
उत्सुक रहते थे सब काल,
पर हम उसे न ला सकते थे
जान गये क्या तुम यह हाल ?
इसी लिए उसको लाने को
क्या तुम स्वयं गये हो आज,
हाय ! अचानक हम लोगों पर
गिरी कहाँ से है यह गाज ? ॥ ६ ॥
तुमसे कितना प्यार मुझे था,
तुम्हें नहीं था इसका ज्ञान,
चले गये चुपचाप इसी से
करके मेरा तनिक न ध्यान ।
पर होता था प्रकट सदा ही
पद पद पर जिसका अनुराग,
उस अभागिनी जननी का भी
तुमने वत्स ! किया क्यों त्याग ? ॥ ७ ॥
स्नेहमयी माता के उर में
हरदम रहा तुम्हारा स्थान,
करते थे सब स्वजन तुम्हारे
तुमको सदा स्नेह का दान ।
हृदय-भवन के दीपक ! कैसे
हुआ तुम्हारा फिर निर्वाण,
हाय ! तुम्हारे बिना रात-दिन
विलख विलख रोते हैं प्राण ॥ ८ ॥
जान न पाया तुम्हें जगत ने,
तुम भी उससे थे अनजान,
किस प्रकार फिर तुमको उससे
ऐसा हुआ विराग महान ?
होता है विलीन पल भर में
ज्यों सागर में वीचि-वितान,
त्यों हीं तुम भी वत्स ! न जाने
कहाँ हो गये अन्तर्द्धान ? ॥ ९ ॥
सुधा सींचती थी कानों में
सतत तुम्हारी गिरा रसाल,
तुम्हें देखते ही होता था
पुलकित सदा हमारा गात ।

किन्तु शूल सा हूल रहा है
उर में आज तुम्हारा ध्यान,
यह कैसा दिन हमें दिखाया
हे करुणा-सागर भगवान? ॥ १० ॥
टूक टूक हो रहा कलेजा
व्याकुलता बढ़ रही महान,
पल पल बीत रहा है मेरा
हाय! आज बस कल्प-समान।
कर सकते थे कभी न क्षण भर
जो तुमको आँखों की ओट,
हा! वे ही किस भाँति सहें अब
यह दुःसह वियोग की चोट ॥ ११ ॥
जो करुणावरुणालय ईश्वर
है सब लोगों का अवलम्ब,
जो सदैव दुर्विध दुखियों का
दुःख-शोक हरता अविलम्ब।
परम पिता वह निज चरणों में
वत्स! तुम्हें अब देवे स्थान,
शोकातुर हम लोगों को भी
करे सान्त्वना शीघ्र प्रदान ॥ १२ ॥

गोपालशरणसिंह

नष्टोद्धार।

दिसम्बर की पहली ही तारीख़ को प्रातःकाल दो असाधारण घटनायें एक साथ हुईं, एक सूर्योदय और दूसरा मिस्टर जान वेप्टिस्ट गाडफ़्रे का उठना।

घोर शीतकाल के दिन थे। लगातार पन्द्रह दिन से कुहरा और बादल छाये हुए थे। एक दिन सौभाग्यवश उत्तर के वायु ने आकाश को निर्मल और स्वच्छ कर दिया। दूसरे दिन सूर्यदेव की प्रातःकालीन किरणों के अकस्मात् दर्शन होने से पेरिसवालों को उसी प्रकार आनन्द हुआ, जिस प्रकार बहुत दिनों के बिछुड़े हुए मित्र के मिलने से होता है। संसार में सूर्यदेव का कोई ऐसा-वैसा मान नहीं—लोग देवता के समान चिरकाल से उनकी पूजा करते आरहे हैं। किन्तु मिस्टर जान वेप्टिस्ट गाडफ़्रे भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। वे एक प्रसिद्ध धनवान् महाजन, सरकारी सूद के कारबार के बड़े साहब, अनेक कम्पनियों के डाइरेक्टर और कितनी ही सभा-समितियों के मेम्बर थे। इतना ही नहीं, इनमें सूर्यदेव से भी एक गुण अधिक था। सूर्यदेव को अपने उदयकाल के निर्दिष्ट समय पर आकाश में देखना कोई आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु उसी समय मिस्टर गाडफ़्रे का उठना निस्सन्देह बड़े आश्चर्य का व्यापार था। हमको विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि उस दिन सवेरे पौने आठ बजे के लगभग श्रीयुत सूर्यदेव और मिस्टर गाडफ़्रे एक साथ ही शयनागार से उठे थे। किन्तु लक्ष्मी के इस वर-पुत्र का जागरण सूर्यदेव के जागरण से सर्वथा भिन्न प्रकार का था। हमारे चिर-परिचित किन्तु लोकप्रिय सूर्यदेव ने उदय होते ही जादूगर की तरह चारों तरफ़ अपनी माया फैला दी। सारी रात्रि ओस ने पल्लवहीन वृक्ष-समूहों को अपने निर्मल तुषार के चूर्ण से चीनी के खिलौने बनाकर उनको सुसज्जित कर रक्खा था; जादूगर सूर्य ने उदय होते ही उनको बड़े बड़े प्रवालों का गुच्छा बना दिया। इस प्रकार इन्द्रजाल की रचना करते हुए सूर्यदेव अपनी तप्त किन्तु सुखद किरणें प्रभातकालीन पथिकों के वदन पर यथारुचि डालने लगे। उनको किसी से न राग है और न द्वेष। पर उनकी मधुर हँसी से कोट-पतलून वेष्टित आफ़िसयात्री बड़े साहब, कम्पितकलेवर किरानी, चीथड़े पहननेवाले दैनिक मज़दूर, ट्रामगाड़ी के क्लान्त कंडक्टर, अथवा स्वयं शीत से काँपते हुए दूसरों को गरमी पहुँचाने के अभिलाषी चीना बादाम के खोन्चेवाले सभी समान रूप से अपूर्व हर्ष का आस्वादन कर रहे थे। उनकी मधुर हँसी से सारा विश्व प्रसन्न हो उठा। इसके विपरीत मिस्टर गाडफ़्रे का जागरण एक-दम असन्तोष और विषाद से भरा हुआ था। रात्रि को कृषि-सचिव के मकान पर भोज-निमन्त्रण में उन्होंने सत्तू से लेकर खीर तक नाना प्रकार के मिष्टान्न-व्यञ्जनों को चक्खा था, वे सब इस समय उनकी सैंतालीस वर्ष की पुरानी पाकस्थली में हलचल मचाये हुए थे; खट्टी खट्टी डकारों

और गले की जलन ने उनके चित्त को और भी उत्तेजित कर दिया था।

मिस्टर गाडफ़्रे ने ज्यों ही टेलीफ़ोन की डोरी पकड़ कर खींची, त्यों ही उनके ख़ास ख़ानसामा शार्ल ने बावरचिन से दाढ़ी बनाने के लिए गरम जल माँगते समय कहा—"हाँ, हाँ, आज कमबख़्त सवेरे ही सवेरे उठा है। अरी जल्दी कर, सोचती क्या है। न जाने, आज कपाल में कौन कौन से दुःख भोगने बदे हैं।"

मकान की चौखट के पास पहुँच कर शार्ल ने पहले एक भद्र पुरुष की तरह अत्यन्त नम्रता के साथ कमरे में झाँका। फिर डरते डरते अपने मालिक के शयनालय में प्रवेश कर खिड़कियों के एक एक करके सभी पर्दे खोल दिये, आग जलाकर ठीक स्थान पर रख दी। वह अपने मालिक की साधना इस प्रकार विधिवत् और श्रद्धा-सहित करने लगा, मानो कोई मन्दिर का पुजारी अपने उपास्यदेव की पूजा के लिए सब आयोजन कर रहा हो। गाडफ़्रे ने कोट के बटन लगाते लगाते कड़े स्वर में पूछा—क्या बजा है, शार्ल? शार्ल ने उत्तर दिया—हुज़ूर, आज बड़ी सरदी है। छः बजे के समय तो बड़ी ठण्ड थी, किन्तु इस समय आसमान साफ़ होगया है और धूप भी निकल आई है। मालूम होता है, आज का दिन कुछ अच्छी तरह कटेगा।"

गाडफ़्रे अस्तुरे पर सान करते करते खिड़की के पास जा खड़े हुए। ऐसा मालूम होता था, मानो सड़कों ने प्रकाश में स्नान किया हो। बरफ़ के ऊपर स्वच्छ धूप की मधुर किरणें तरुणी के अधरों पर स्मित हास्य के समान मालूम पड़ती थीं। सचमुच आज का दिन मङ्गलमय है।

गाडफ़्रे बड़े घमण्डी और पक्के कूटनीतिज्ञ थे। नौकर-चाकरों के सामने किसी तरह अपने मन का भाव प्रकाशित करना सर्वथा अनुचित समझते थे। किन्तु दिसम्बर मास के अन्त में सूर्य का दर्शन कर हृदयोल्लास को दबा रखना उनकी भी शक्ति के बाहर हो गया। गाडफ़्रे के चेहरे पर मुस्कराहट की रेखा बरबस दिखाई दे गई। बँधे हुए जल में वायु के स्पर्श से उत्थित लहर के सदृश उसी हँसी को यदि वे अन्य किसी के मुख पर देखते तो वे निस्सन्देह अत्यधिक स्तम्भित होते। किन्तु आज सहसा उनको हँसी आगई। एक मिनट के लिए वे अपने आफ़िस, अदालत आदि का सब कामकाज भूल गये। बालकों की तरह अवाक् होकर सूर्योदय को देखने लगे; प्रसन्नवदन राहगीर और घोड़ा-गाड़ी सुनहरे प्रकाश में बड़े ही आनन्ददायक मालूम हो रहे थे।

किन्तु आप लोग निश्चिन्त रहें, यह भाव गाडफ़्रे के हृदय में एक मिनट से अधिक नहीं टिक सकता था। सूर्यदेव अपनी शुभ्र किरणों से हँस रहे थे। उनके साथ अपनी शुभ्र दन्तावली निकाल कर वही लोग हँस सकते थे जो सर्वप्रकार निष्क्रिय और निठल्ले हों। स्त्रियों को, बालकों को, कवियों को और दार्शनिकों को ही यह शोभा देता है। गाडफ़्रे को भला हँसने का अवसर कहाँ मिल सकता है, विशेषतः आज के दिन तो उनका कार्य-भार और भी गुरुतर था। साढ़े आठ बजे से दस बजे तक उन्हें अनेक विशेषज्ञों के साथ आवश्यक कारबार के विषय में परामर्श करना होगा—जो लोग इस हेतु आयँगे वे भी कुछ ऐसे-वैसे आदमी नहीं हैं, वे भी हँसना नहीं जानते। उन लोगों को बस एक चिन्ता है—रुपया, हाय रुपया। भोजन के पश्चात् उन्हें गाड़ी पर सवार होकर अनेक लोगों के दरवाज़े दरवाज़े घूम कर बहुत सी बातें पक्की करनी होंगी—वे लोग भी बड़े बड़े महाजन हैं, उनमें भी किसी को सरस्वती से प्रेम नहीं। सबों का केवल एक ही धन्धा है—वह है लक्ष्मी की पूजा। फिर भी गाडफ़्रे को दम मारने की फ़ुरसत नहीं मिलेगी। उनको आफ़िस में सुन्दर दवात-क़लमों से सुसज्जित टेबिल के आगे विराजमान होना पड़ेगा। वहाँ और एक नये दल के महाजनों के साथ परामर्श करना होगा। किन्तु विषय वही गुरुतर—रुपया-पैसा, व्यापार और रोज़गार, अर्थसञ्चय और शक्तिसञ्चय। इसके उपरान्त, सम्भव है, उन्हें किसी कमीशन के अधिवेशन में सम्मिलित होना पड़े। यद्यपि इसके अधिकांश सदस्यों का इष्टदेव वही परम पूजनीय रुपया रहता है तथापि ये उदारतापूर्वक फ़्रांस के गौरव की आलोचना में एकाध घण्टा व्यय करना समय का दुरुपयोग नहीं समझते। नित्य हजामत बनाने पर भी गाडफ़्रे बराबर दाढ़ी के दो चार बाल छोड़ ही देते थे,

ऐसा मालूम होता था कि सीख़ के पके कवाब के ऊपर नोन-मिरच की बुकनी छिड़की हुई है या यों कहिए कि वे एक उच्च जाति के बन्दर जैसे दिखाई पड़ते थे। हजामत बनाकर उन्होंने अपनी प्रातःकालीन ड्रेस पहनी और नवयुवकों के समान द्रुतगति से अपने आफ़िस-रूम में चले गये। वहाँ पहले से ही लोगों की भीड़ लगी थी। किन्तु सबका एक ही उद्देश और एक ही धन्धा था, पूँजी बढ़ाने और पूँजी से अधिकाधिक लाभ उठाने की चिन्ता इन्हें सता रही थी। रुपया किस प्रकार उपार्जन किया जा सकता है, इसी विषय पर वे गाडफ़्रे से परामर्श लेने आये थे—कोई जन-शून्य मरुभूमि से एक नया रेल-मार्ग निकालना चाहता था तो कोई पेरिस के आस-पास दिहात में एक बड़ा कारख़ाना खोलना अथवा दक्षिण-अमरीका के किसी देश में एक खान खोदना चाहता था। गाडफ़्रे गम्भीर होकर सबकी बातें सुनने लगे, किन्तु एक मुहूर्त के लिए भी उन्होंने यह जानने की चेष्टा नहीं की कि रेल-लाइन में विशेष रूप से मुसाफ़िरों के चलने अथवा माल ढोने की सम्भावना है या नहीं, कारखाना में चीनी बनेगी या सूती टोपियाँ तैयार होंगी; खान में बहुमूल्य सोना निकलेगा अथवा रद्दी तांबे के टुकड़े। नहीं, ये बातें उनका आलोच्य विषय नहीं थीं। कारबारियों के साथ गाडफ़्रे की जो बातचीत हुई वह केवल पूँजी जुटाने और उसके बदले अपना कमीशन लेने के लिए। इन सब कठिन प्रश्नों की मीमांसा में यदि उन्होंने आठ दिन लगा दिये भी और कोई आविष्कार भी कर लिया तो इस सिर-पच्ची से उनको क्या लाभ? चाहे इन लोगों के अर्थ-लाभ की नवीन कल्पनायें नक़्शा के काग़ज़ों में पड़ी सड़ती रहें, स्कीम की फ़ाइल में ही उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया हो जाय, इन बातों से गाडफ़्रे को क्या मतलब? उनकी फ़ीस का रुपया तो किसी प्रकार भी नहीं मारा जा सकता।

इधर घड़ी ने टन टन करके घण्टा पूरा होने की सूचना दी। उधर सूद के कारबार के मैनेजर ने लोगों से बिना किसी सङ्कोच के बिदा माँगी और आफ़िस का दरवाज़ा बन्द कर दिया। उसके बाद भोजनालय में घुसे। उनके सारे काम घड़ी से बँधे हुए थे, एक मिनट भी आगे-पीछे होना महान् पाप था।

भोजनालय भले प्रकार सुसज्जित था। टेबिल पर चाँदी के बर्तन सजे हुए थे। सफ़ाई और चमत्कार में भोजनालय मन्दिर तक को मात कर सकता था। गाडफ़्रे ने सोडावाटर की बहुत सी बोतलें उँड़ेल लीं, किन्तु गले की जलन न दूर हुई। उन्होंने पहले से ही हलका भोजन बनाने के लिए कह रक्खा था, क्योंकि उन्हें अजीर्ण का बड़ा डर हो गया था। भोजनालय का इतना बड़ा आडम्बर और दो सौ रुपये माहवारी का बावर्ची, किन्तु गाडफ़्रे ने खाया क्या—मुँह बनाते बनाते दो पके अण्डे और एक बिस्कुट। अन्त में उसने दो-तीन पैसे मूल्य का ज़रा सा पनीर भी चक्खा।

सहसा दरवाज़ा खुला और एक बालक ने प्रवेश किया। बदन तो उसका दुबला-पतला था, किन्तु चेहरे पर हँसी खेल रही थी। उसकी टोपी के पंख हवा में उड़ रहे थे, नीली मखमली पोशाक भी दिल को लुभानेवाली थी। लड़के का नाम राडल था। यह गाडफ़्रे का ही लड़का था। लड़के के पीछे पीछे उसकी जर्मन दाया भी कमरे में घुस आई।

यह प्रतिदिन की पौने ग्यारह बजे की नियमित घटना थी। इसी समय साहब की सुन्दर घोड़ोंवाली ब्रूहम गाड़ी भी बरसाती में उनकी अपेक्षा करने लगती थी। घोड़े स्वभाव से ही चञ्चल होते हैं, पथरीली सड़क पर ज़ोर से उनकी टापों के पड़ने से कभी कभी उससे आग की चिनगारी निकल पड़ती थी। गाडफ़्रे पौने ग्यारह बजे से लेकर ग्यारह बजे तक पुत्र के साथ प्रेमालाप करते थे; पूरे पन्द्रह मिनट, न एक मिनट कम, न एक मिनट ज़्यादा। वात्सल्य-सुखानुभूति के लिए उन्होंने चौबीस घण्टे में ये पन्द्रह मिनट निकाल रक्खे थे। किन्तु कोई इससे यह न समझे कि वे पुत्र को प्रेम नहीं करते थे, उस कोटि के मनुष्य पुत्र के प्रति जितना स्नेह रख सकते हैं उतना ही वात्सल्य-प्रेम उनमें भी था। किन्तु जीवन में प्रेम का भी एक स्थान है और कारबार का भी एक स्थान है।

बयालीस वर्ष की आयु होने पर गाडफ़्रे एक-दम वृद्ध एवं जराग्रस्त हो गये। तब उन्हें प्रेम करने का शौक़

चर्या, उन्होंने अपने को बड़ा प्रेमी और रसीला विख्यात करना शुरू किया। मार्क न्यूफ़ेन्ट उनके साथियों में थे, गाडफ़्रे इन्हीं की कन्या के प्रेम में फँस गये।

कन्या के पिता इस सम्बन्ध से अत्यन्त खिन्न हुए। किन्तु सब बातों का सोच-विचार करके अन्त में अपनी मन की विरक्ति को मन में ही दबाना उचित समझा। उसने सोचा मैं इस लक्ष्मी-पुत्र का श्वशुर बन कर उसे कृतार्थ करूँगा तो क्या वह मुझे अपने ऋण से मुक्त न कर देगा। क्या एक वृद्ध दामाद का श्वशुर बनने का मैं कोई अत्यधिक प्रतिशोध माँग रहा हूँ?

विवाह के थोड़े ही दिन बाद गाडफ़्रे विपत्नीक हो गये। तब वे अपने शिशु-पुत्र राडल का बड़ी सावधानी और बड़े प्रेम से लालन करने लगे। कारण, वह यदि जीवित रहा तो एक दिन लाखों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा। उसके लिए इतना कष्ट उठाना कुछ कठिन नहीं। रत्नखचित शय्या पर राजपुत्र के समान शिशु राडल दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। हाँ, गाडफ़्रे कार्य के आधिक्य से, कर्तव्य की प्रेरणा से, अथवा लोगों के सौहार्द से पन्द्रह मिनट से अधिक पुत्र की चिन्ता में व्यय नहीं कर सकते थे। पूरे तेईस घण्टा पैंतालिस मिनट उनके प्रिय पुत्र को अपनी धाय की ज़िम्मेदारी में रहना पड़ता था।

"गुडमार्निंग, राडल?"

"बाबा।"

गाडफ़्रे ने जल्दी से हाथ की तौलिया फेंक दी, पुत्र को गोद में उठाकर बाईं जंघा पर बैठा लिया। अपने मोटे मोटे हाथों में शिशु के कोमल हाथों को पकड़ कर वे उसे बारम्बार चुम्बन करने लगे। बड़े आश्चर्य की बात है, सूद के कारबार के महाजन गाडफ़्रे घड़ी भर के लिए अपना कारबार कैसे भूल गये? क्या उन्हें नहीं मालूम कि आज तीन रुपये सूद के कम्पनी के काग़ज़ की दर पच्चीस फ़ी सदी चढ़ गई है? क्या उन्हें यह भी याद नहीं रहा कि आज कम्पनी के काग़ज़ के सूद का हिसाब करना होगा? निर्जीव टेबिल पर मेंढक की तरह झुक कर काम करनेवाले गाडफ़्रे भला यह कैसे भूल गये?

"बाबा, कल बड़ा दिन है! कल बड़ा दिन है! मुझे क्या खिलौना लायँगे बाबा?"

गाडफ़्रे थोड़ी देर रुक गये। बड़ा दिन, होगा, बड़ा दिन; खिलौना, राडेल तुम बड़े आदमी के लड़के हो, जैसा खिलौना चाहो, वैसा आ सकता है। गाडफ़्रे ने अपनी हज़ार-मंज़िला स्मृति के एक कोठे में लड़के के खिलौने की बात सुरक्षित करके रख ली। फिर जर्मन धाय के प्रति घूमकर पूछने लगे—अच्छा, राडल से तुम्हारी बनती तो है। धाय ज़रा सा मुस्कराई। लड़के के बाप का कौतूहल एक-दम शान्त होगया।

गाडफ़्रे ने कहा—आज का दिन बड़ा अच्छा है। कुछ अधिक सर्दी तो अवश्य है, किन्तु यदि तुम राडल को कम्पनी बाग़ में घुमाने ले जाओ तो बड़ा अच्छा हो, क्यों? किन्तु देखो, बड़ी सावधानी से देख-भाल रखना?

धाय ने फिर एक बार सिर हिला दिया, मानो इसी सङ्केत से उसने कह दिया कि आप निश्चिन्त रहें। मैं आज्ञानुसार इसे घुमाने ले जाऊँगी।

उसी समय आले में रक्खी हुई घड़ी ने ग्यारह की घंटी बजाना शुरू कर दिया। गाडफ़्रे ने अन्तिम बार पुत्र को छाती से लगाया और टेबिल पर से उठ बैठे। बरामदे में ख़ानसामा शार्ल खड़ा हुआ था। उसने उनके शरीर में ओवरकोट पहना दिया और गाड़ी पर चढ़ा कर गाड़ी का दरवाज़ा बन्द कर दिया। गाड़ी घर घर कर चलने लगी। इधर वह स्वामिभक्त नौकर अपने यार-दोस्तों के साथ शराब की दूकान को चल दिया।

(२)

गाडफ़्रे अपने घोड़ों की जोड़ी को बहुत प्यार करते थे, क्योंकि इनके प्रसाद से वे अपना सारा काम-काज निर्विघ्न यथासमय समाप्त करते थे। आज भी ऐसा ही हुआ। गाडफ़्रे ने अपना प्रोग्राम देखा। तुरन्त राष्ट्रीय सभा के सभापति के निर्वाचन में वोट देने के लिए चल पड़े, मानो इस प्रकार उन्होंने फ़्रांस और योरप को अस्त-व्यस्त होने से बचा लिया।

मार्ग में उन्हें राडल के खिलौने की याद आई; उन्होंने खिलौनों की दूकान पर गाड़ी रोकने के लिए

कोचवान को आदेश किया। खिलौनों की दूकान में तरह तरह के खिलौने रक्खे थे। वे एक एक करके खिलौना पसन्द करने लगे। पहला एक काठ का घोड़ा और उसका सवार, दूसरा सीसे की एक पलटन था। इस खिलौने के सैनिकों के बाल काले थे, नाकें ऊपर को उठी हुई थीं, सबकी सूरतें ऐसी मिलती-जुलती थीं, मानो सब यमज भाई हों अथवा रूसी रेज़ीमेंट की सेना तैयार खड़ी हो। इसी प्रकार और भी बीसों तरह के खिलौने लिये, सब एक से एक बढ़िया और चमत्कारिक। खिलौनों का पिटारा लेकर वे गाड़ी में जा बैठे। ठण्डी हवा चल रही थी, घोड़े अपनी मन्द गति से नाचते नाचते घर की ओर चल रहे थे। उधर पुत्र के भावी आनन्द का चित्र अङ्कित करके गाडफ़्रे का पितृ-हृदय वात्सल्य-सुख से और गर्व से परिपूर्ण हो रहा था।

बच्चा बड़ा होगा, राजकुमारों के साथ उसकी शिक्षा-दीक्षा होगी। एक दिन वह बीस-पच्चीस नहीं, तीस-चालीस लाख रुपये की सम्पत्ति का मालिक होकर चैन की वंशी बजायगा। यदि रुपया पास होगा तो फिर जीवन क्यों न सुख से कटेगा। राष्ट्र-विप्लव के दिनों में तो विशेष कर रुपया हमारे जीवन का सर्वस्व हो रहा है, उसी में शक्ति है और उसी में सम्मान। वंशगत बड़प्पन तो अब मिल गया है। अच्छा ही हुआ। नहीं तो राडल का बाप एक-दम ही एक सामान्य दिहाती, साधारण मुख़्तार का लड़का ही था; गाडफ़्रे एक समय छात्रों के भेष में रह कर साढ़े पाँच आना रोज़ के हिसाब से छात्र-वृत्ति पाता था। उस समय वह चिथड़े पहननेवाला दीन-हीन गली का एक भिखारी था, न उसके पास मान और न सम्मान। ऐसा आदमी यदि अगाध सम्पत्ति सञ्चय कर सकता है, प्रजातन्त्र की दौलत से यदि वह राजशक्ति के किसी भाग को पा सकता है, यही नहीं, यदि वह उच्च घराने की लड़की का पाणिग्रहण करने का साहस कर सकता है तो क्या उसका लड़का राडल इतना भी नहीं कर सकेगा। बचपन से ही जो राजा के महलों में पला हो, मातृ-वंश की ओर से जिसके शरीर में उच्च वंश का शोणित प्रवाहित हो रहा हो, जिसकी विद्या-बुद्धि अप्राप्य पुष्प की तरह चमत्कारिक हो, जो पलने में खेलते ही खेलते विदेशी भाषाओं की शिक्षा पा रहा हो, एक वर्ष के बाद ही जिसको घोड़े पर सवार होने की आशा हो, कुछ ही दिनों में अपने नाम के साथ मातृवंश की पदवी जोड़नेवाला हो—मोशिये गाडफ़्रे न्यूफ़्ट! गाडफ़्रे के वंश में इस उपाधि का योग! अहा उपाधि है एक-दम राजकीय और अति प्राचीन!—वह धन्य होगा! हमारा राडल धन्य होगा! उसका भविष्य कैसा उज्ज्वल है! उसकी जीवन-यात्रा कैसी आशाप्रद! प्रजातन्त्र अच्छा ज़रूर है, किन्तु भविष्य की बात कौन जाने। कदाचित् फिर राजतन्त्र स्थापित हो जाय! उस समय मेरा राडल, नहीं नहीं, राडल नहीं मेरा गाडफ़्रे न्यूफ़्ट शायद राजकन्या से विवाह करेगा—फिर कौन कह सकता है कि मेरा राडल एक दिन राजसिंहासनारूढ़ न हो सकेगा, क्या राजपरिषद् के सभ्यों की सुनहरी-रुपहरी जरीदार किमख़ाब की पोशाक उसके बदन पर जगमगायगी नहीं? निस्सन्देह उसके फ़िटन का हेंडिल सोने का होगा, पायदान चाँदी का होगा और रहेगा कोचवान की पगड़ी में तमग़ा, परतले में चपरास और गाड़ी के ऊपर मर्य्यादा-चिह्न भी अङ्कित रहेगा।

ओ मूढ़ धनपिपासु! आज अपने जिस पुत्र को प्रसन्न करने के लिए उसके जन्मोत्सव के उपलक्ष में जो इतने रुपयों के खिलौने मोल लेकर लिये जा रहा है, जिसके विश्व-विजय का तू गीत गा रहा है, उसी बालक ने एक दिन दीन-हीन माता-पिता की गोद में अस्तबल की दुर्गन्धिमय भूमि में जन्म-ग्रहण किया था। पर ये बातें एक बार भी उसके मन में न आईं! वह केवल अर्थ-सम्पत्ति का स्वप्न देखना चाहता है।

गाड़ी मकान की बरसाती में सीढ़ी के सामने जा कर रुक गई, चिन्ता भी स्थिर हो गई। गाडफ़्रे ने सीढ़ी पर चढ़ते चढ़ते देखा दालान में उनके समस्त नौकर-नौकरानी उसकी ही अपेक्षा में खड़े हुए हैं, भय से उनका मुँह पीला पड़ गया है। एक कोने में जर्म्मन धाय भी गठरी बनी पड़ी है! धाय गाडफ़्रे देखते ही ज़ोर से ढाढ़ मार कर रोने लगी। उसने दोनों हाथों से अपना मुँह छिपा लिया। किन्तु अँगुलियों से फूट फूट कर आँसुओं की धारा बहने लगी। अमङ्गल की आशङ्का से गाडफ़्रे का मुख एक-दम सूख कर ज़रा सा रह गया।

"क्या है रे ? यह रोना-धोना कैसा, क्या हो गया है ?

ख़ानसामा शार्ल नेत्रों में जल भर कर काँपते हुए रुकता रुकता बोला—"हुज़ूर राडल ! ... बच्चा, राडल !

"बच्चा" ?...

"जी हुज़ूर खो गया है !...यही दुष्ट जर्म्मन धाय ही तो सब बुराई की जड़ है। ...चार बजे से...उसका पता नहीं है।"

छाती में गोली लगने से सिपाही जैसे एक-दम कम्पित होकर पीछे हट जाता है, गाडफ़्रे भी उसी प्रकार दो क़दम पीछे हट गया। उसकी विचार-शक्ति कुण्ठित हो गई। इधर जर्म्मन धाय उसके पैर के ऊपर पछाड़ खाकर आर्त्तस्वर से कहने लगी—महाराज, माफ़ करिए ! मुझे माफ़ करिए !...

सब नौकर एक साथ चिल्ला उठे—"यह औरत कम्पनीबाग़ में नहीं गई। हुज़ूर ! यह न जाने राडल को कहाँ घुमाने ले जाती है ? रोज़ यह गुण्डाटोला जाती है, वहाँ एक आदमी से इसकी खूब घुटती है।...बस इसी ने सर्वनाश किया है। छोटे बच्चे को लेकर गुण्डाटोला में गई। वहाँ लड़का खो गया। खोता नहीं तो और क्या होता ? इस औरत का लड़के की तरफ़ ध्यान कैसे रह सकता था ? यह तो अपने प्रेमी के साथ बातचीत में मस्त रही होगी। बच्चा, न जाने, कहाँ चला गया। नहीं हुज़ूर, उन्हीं गुण्डों ने चुरा लिया होगा। हम लोगों ने बहुत खोज की, कहीं भी पता नहीं लगा...।

बच्चा, राडल, खो गया है ! गाडफ़्रे के कानों में केवल यही शब्द प्रलय की गर्जना के समान गूँज रहे थे। वे उछल कर धाय के सिर पर जा खड़े हुए, मुक्का उठा कर मारने दौड़े, फिर दोनों हाथों से उसकी बाँह को झकझोरते और दाँत पीसते हुए बोले—"क्यों री दुष्ट ! बोल, बच्चा कहाँ है, मेरा राडल कहाँ है ? बता हरामज़ादी, नहीं तो अभी मार कर भूसा कर डालूँगा... कहाँ?... बता ?... मेरा बच्चा कहाँ है ?"

धाय बेचारी काँप रही थी, उसके मुँह से केवल यह शब्द निकले—महाराज, मुझे क्षमा करो।

क्या मेरा बच्चा, खो जायगा ? नहीं, चोरी हो जायगा ? नहीं, यह असम्भव है ! जाओ जाओ सब मिल कर जाओ, फिर खोजो। हाय, अगर बच्चा ही न रहा तो फिर रुपया-पैसा किसके काम आयगा। जाओ, ढूँढ़नेवाले को इनाम बोल दो, गली गली में, घर घर में ढिंढोरा पीट दो। जो मेरे बच्चे को ढूँढ़ कर लायगा, मैं उसे रुपयों-पैसों से लाद दूँगा।

"शार्ल, ठहरो तुम इस औरत पर पहरा दो। मैं पुलिस में ख़बर देने जाता हूँ।

गाडफ़्रे का हृदय धकधक करने लगा, मानो फट कर दो टूक हो जाना चाहता है। चिन्ता और भय से सारे शरीर में रोमाञ्च हो गया। वे पुनः गाड़ी में जा बैठे। घोड़े भी पागल की भाँति थाने की ओर दौड़ने लगे। अदृष्ट कभी कभी हमारे साथ कैसी विलक्षण हँसी हँसता है।

गाड़ी चमचमाते हुए खिलौनों से भरी हुई है। वे सब ज्यों के त्यों पड़े हैं। उन्हें इस अनर्थ की ख़बर नहीं, विश्रृङ्खल भाव से पड़े हैं। सड़क की दोनों पटरियों की गैस की रोशनी, दूकानों के लम्पों का प्रकाश दौड़ दौड़ कर उन खिलौनों को मानो सहस्रों नेत्रों से देखना चाहता है, किन्तु गाड़ी ठहरती नहीं, सरपट दौड़ती चली जाती है। आज एक देव-शिशु का जन्म-दिन है, विशेष करके बालकों को ही आनन्दोत्सव की पुण्यतिथि है, सारा शहर आनन्द में ग़ोते लगा रहा था। ऐसे समय वह बालक अपने घर में नहीं है। तब भला एक क्षणभर के लिए राडल का ध्यान गाडफ़्रे के चित्त से कैसे हट सकता है ?

इस उत्सव-प्रमत्त शहर के मार्ग पर दौड़ते हुए दुःख से म्रियमाण पिता के मन में एक ही बात उठती थी—"मेरा राडल, मेरा बच्चा, मेरा बच्चा, मेरा लाल कहाँ है ?...राडल कहाँ है ?" अधैर्य के मारे गाडफ़्रे कभी कभी गाड़ी की गद्दी से अँगुलियाँ चटकाने लगते थे। इस समय उनको पद या मर्यादा, ख़िताब या सम्मान, कम्पनी के काग़ज़ अथवा रुपयों का बक्स, असल सूद आदि सभी असत्य बोध हो रहे थे। अग्नि की शिखा के समान एक ही चिन्ता उनके उत्ताल मस्तिष्क के बीच जल रही थी—मेरा बच्चा, मेरा बच्चा।

"यही यही, पुलिस चौकी, और ज़ोर ज़ोर से गाड़ी

दौड़ाओ...रोको रोको, गाड़ी रोको।...हा! थाना में भी कोई नहीं है, सब आनन्दोत्सव देखने चले गये हैं।...कोई है, कोई है? ए कान्स्टेबल। ओ कान्स्टेबल! सुनो, सुनो... मैं जान बैप्टिस्ट गाडफ़्रे सरकारी सूद के कारबार का अध्यक्ष हूँ...मेरा लड़का, राडल, शहर की सड़क पर खो गया है... बच्चा चार वर्ष का है, दारोग़ा साहब कहाँ हैं? दारोग़ा साहब कहाँ हैं?" गाडफ़्रे ने चटपट कान्स्टेबल के हाथ में एक गिन्नी रख दी।

कान्स्टेबल एक वृद्ध भोला-भाला आदमी था। उसकी लम्बी लम्बी सफ़ेद ज़ुल्फ़ें उसकी दीर्घ आयु का पता दे रही थीं। गिन्नी के स्पर्श से वह उतना द्रवित नहीं हुआ, जितना विपन्न पिता की कातरता देख कर उसे दया आई। वह सीधा उन्हें दारोग़ा साहब के ख़ास कमरे में लिवा ले गया। कमरे में दारोग़ा साहब एक आँख में चशमा लगाये घुग्घू की तरह गम्भीर भाव से बैठे थे।

ज्यों ज्यों भीतर जाने लगे, त्यों त्यों गाडफ़्रे का हृदयावेग बढ़ने लगा। कुर्सी पर बैठते ही उन्हें रुलाई आ गई। हिचकियाँ लेते हुए अपनी दुःख-कहानी कहने लगे।

दारोग़ा साहब के भी कई लड़के-बाले थे। इस करुण-कथा से उनका हृदय पिघल गया। किन्तु वे ठहरे पुलिस के बड़े साहब, कोमलता दिखाना उन्हें शोभा नहीं देता, इसलिए बड़े यत्न से मन के भाव को दबा कर पूर्ववत् गम्भीर भाव से बोले।

"अच्छा महाशय, लगभग चार बजे के समय लड़का खोया है न?"

"हाँ, दारोग़ा साहब!"

"हूँ, उसके बाद ही अन्धकार हो गया...उम्र भी आप छोटी बतलाते हैं, न मार्ग पहचान कर घर लौट सकता है और न लोगों से ही पूछ सकता है। यदि कोई पूछे भी तो ठीक जवाब भी नहीं दे सकता...आपने अच्छा ही किया जो जल्दी चले आये...क्या वह बाप-दादे का नाम जानता है?"

"हाँ, हाँ, दारोग़ा साहब। हाँ ...जानता है।"

"अच्छा, मछुआ-बाज़ार की ओर खोया है? हूँ, टोला बदमाश ज़रूर है—गुण्डे, चोर और बदमाशों का अड्डा है। किन्तु आप चिन्ता न करिए, उस टोले में बड़े ही होशियार दारोग़ा हैं। मैं उन्हें इसी समय टेलीफ़ोन करता हूँ।"

अभागा शोक-विह्वल पिता पाँच मिनट तक अकेला बैठा रहा। किन्तु ये पाँच मिनट उसको पाँच घण्टे के समान बड़े कष्ट से कटे। उसका हृदय हाहाकार कर रहा था। पागलों की भाँति उसको न अपने तन की ख़बर थी, न मन की।

किन्तु दारोग़ा साहब झटपट हँसते हुए बोले—"लो, लड़का मिल गया।" क्षण भर के लिए गाडफ़्रे का मुरझाया हुआ चेहरा चमक उठा।

उसने आवेग में दारोग़ा का हाथ पकड़ लिया और ज़ोर से उसको दबाने लगा।

दारोग़ा—आपका लड़का दुबला-पतला है? देखने में भी सुन्दर है न? ऐसा मालूम होता है कि कुछ दिनों बीमार रहा है! नीले मख़मल की पोशाक़ पहने है? टोपी में सफ़ेद पर लगे हैं, क्यों?

"हाँ हाँ दारोग़ा साहब, ठीक यही मेरा लड़का है, मेरा प्यारा बच्चा है, मेरा राडल है।"

"अच्छा, बहुत अच्छा! आपका लड़का इसी महल्ले के एक ग़रीब आदमी के मकान में है। उसने थाने में इजहार दे दिया है। उसका ठिकाना है यिथेरो पाथवे, एक घण्टे में आप अपने लड़के को देख लेंगे। आप उस गन्दी जगह, उस ख़राब गली के टूटे-फूटे मकान में, जा तो सकेंगे? वह आदमी तरकारी की फेरी करता है। किन्तु कुछ हो, वह बड़ा भला आदमी मालूम होता है।"

"ओ निस्सन्देह वह आदमी बड़ा भलामानुस है।" गाडफ़्रे ने जल्दी जल्दी कहा—धन्यवाद! सहस्र धन्यवाद! और चार-चार सीढ़ी लाँघते हुए गाड़ी में जा चढ़े। गाडफ़्रे सोचने लगे, यदि तरकारीवाला वहाँ मिल जाय तो मैं जी भर कर उसको एक बार आलिङ्गन कर लूँ। गाडफ़्रे सरकारी सूद के कारबार के अध्यक्ष और एक तुच्छ किसान को आलिङ्गन करने की इच्छा! क्या लक्ष्मी के दास अर्थ-लोलुप धनिक के हृदय में भी अर्थ-चिन्ता के अतिरिक्त अन्य भाव विद्यमान हैं? इस समय आप अनुभव कर सकते थे कि वे पुत्र को किस परिमाण में प्यार करते हैं। कोचवान, ओ कोचवान, जल्दी

हाँको, जल्दी, जल्दी। इस समय गाडफ़्रे को अर्थ-सञ्चय की चिन्ता नहीं थी, पुत्र को राजकुमार की भाँति लालन-पालन करने की कल्पना भी उनके हृदय में नहीं थी। बार बार वे सोचते थे—वेतन-भोगी नौकर-नौकरानी की ममता कैसी झूठी होती है? भविष्य में सूद के कारबार का काम छोड़कर मैं स्वयं पुत्र की देख-रेख करूँगा; अपनी बूढ़ी बुआ की खोज करूँगा, न जाने बेचारी कहाँ दिन काट रही होगी। उसे लाकर घर में रक्खूँगा, हुआ सो हुआ। लोग मुझे क्या कहते होंगे? मैं तो ठाट-बाट से राज-महलों में रहता हूँ और अपनी बूढ़ी बुआ की ख़बर तक नहीं लेता। बुढ़िया बिचारी कहाँ अकेली पड़ी होगी, कष्ट पा रही होगी? उसको देखना भी तो मेरा कर्तव्य है। अगर वह इस घर में आकर रहेगी तो प्रेमपूर्वक अपने नाती को प्राणपन से रक्षा तो करेगी। कोचवान, जल्दी करो, चाबुक लगावो। महाजन को रोज़ ही समय के अभाव के कारण जल्दी मची रहती है, देनदारों के साथ बात-चीत करने के लिए उन्हें रोज़ ही जल्दी जल्दी गाड़ी हँकानी पड़ती है। किन्तु आज, आज की जल्दी का क्या ठिकाना? अर्थोपार्जन में जल्दी होती है, किन्तु उसकी एक सीमा होती है। आज जीवन में पहले-पहल उनको पुत्र के प्रकृत-प्रेम का अनुभव हुआ था। कोचवान चाबुक लगावो, जल्दी हाँको।

इस कड़ाके की सर्दी में रात के समय वह गाड़ी पेरिस शहर के चौड़े रास्ते से बड़े वेग के साथ उन्मत्त की भाँति दौड़ रही थी। सरकारी आफ़िस अदालत, सौदागरी कोठियाँ, कारख़ाने, होटल एक एक करके सब पीछे छूट गये। थोड़ी देर में एक अँधेरी पतली गली का गोरखधन्धा आया। नीच लोगों के पाड़े में, एक तंग गली में, गाड़ी जाकर खड़ी हुई। गाडफ़्रे गाड़ी की लालटेन की रोशनी से रास्ता देख कर गाड़ी से उतरे। सामने एक चौकोर खपड़ैल का मकान, टूटी फूटी फूस की झोपड़ी दिखाई दी। बस यही तो उस मकान का नम्बर है जिसमें तरकारीवाला रहता है। गाडफ़्रे का हाथ काँपने लगा, लड़खड़ाते हुए उन्होंने दरवाज़े की साँकड़ी खटखटाई। मकान का दरवाज़ा खोलकर एक आदमी बाहर निकल आया। वह एक लम्बा-चौड़ा जवान सुडौल, सुन्दर, किन्तु एक हाथ का लूला था। उसके बदन पर एक रङ्गीन कुर्ता था, जो फटा हुआ था। वह जगमगाती गाड़ी और सुन्दर ओवरकोट पहने हुए अधिकारी को देखकर ताड़ गया कि यही लड़के के पिता हैं। उसने कहा—"आइए महाराज, आइए। आप ही शायद लड़के के पिता हैं? आप घबराइए नहीं। बच्चे का कुछ बिगड़ा नहीं है, वह खूब मज़े में है।"

वह दरवाज़े की ओर हट गया और आगन्तुक ने गृह में प्रवेश किया। इतने में तरकारीवाले ने फिर अपने मुँह पर एक अँगुली रखकर कहा—"धीरे महाराज, धीरे, बच्चा सो रहा है।"

(३)

कच्चा घर। टूटा-फूटा घर। घर के एक कोने में मिट्टी के तेल की कुप्पी जल रही है, उसकी रोशनी भी मन्द पड़ गई है, चारों ओर, दुर्गन्धि फैल रही है, धुआँ से घर गूँज रहा है। धुँधली रोशनी में गाडफ़्रे ने देखा कि घर में एक तीन पैर का टेबिल, दो-तीन टूटी हुई कुर्सियाँ, एक मैला गोल टेबिल और उसके ऊपर भोजन का जूठा बासन पड़ा है; दीवार से दो आनेवाली तसवीरें लटक रही हैं।

किन्तु तरकारीवाले ने गाडफ़्रे को अधिक देर तक उत्सुकता में न रक्खा। कुप्पी उठा कर वह घर के एक कोने में गया। वहाँ दीपक के मन्द प्रकाश में गाडफ़्रे ने देखा कि एक बिछौने पर दो बालक गाढ़ी नींद में सो रहे हैं। बड़ा लड़का छोटे लड़के को अपनी छाती से चिपटाये हुए है, मानो दोनों सगे भाई हों। गाडफ़्रे ने पहचाना कि छोटा बालक उन्हीं का प्यारा राडल है।

फेरीवाले ने अपनी स्वाभाविक कर्कश भाषा को यथासाध्य कोमल करके कहा—"दोनों लड़कों को अपने तन-बदन की ख़बर नहीं है! मैंने सोचा था कि छोटे राजा को रात में कोई लिवाने नहीं आयगा, इसलिए मैंने अपने बिछौने पर ही इन दोनों बच्चों को सुला दिया और जैसे ही दोनों ने आँखें बन्द कीं, तैसे ही थाने में जाकर ख़बर कर आया। और दिन जिडोर दूसरे छोटे बिछौने पर सोया करता था, किन्तु आज दोनों को अपने ही बिछौने पर सुला दिया था, इसी लिए मैं अभी तक जाग रहा था। मुझे तो सबेरे उठकर गंज की हाट में जाना ही होगा..." ये बातें गाडफ़्रे के कानों में पहुँचीं या नहीं,

यह ठीक नहीं कहा जा सकता। वे सोये हुए दोनों बालकों को एकाग्रदृष्टि से देख रहे थे। बच्चे एक टूटी चारपाई पर मैले बिछौने पर एक मोटा कम्बल ओढ़े पड़े हुए हैं। ऐसा मोटा कम्बल तो उसके घोड़े भी नहीं ओढ़ते। किन्तु यह दृश्य क्यों इतना सुन्दर हृदयग्राही मालूम होता है? राडल अपनी जगमगाती मख़मली पोशाक़ पहने हुए फटे-पुराने कपड़े पहननेवाले अपने साथी से लिपटा हुआ कैसी स्वच्छन्दता के साथ सोया हुआ है? राडल के रक्त-हीन श्वेत छोटे से मुख के समान इस दीन-हीन लड़के के स्वास्थ्यमय और काले मुख में भी एक सौन्दर्य है।

गाडफ़्रे ने बड़ी देर बाद उस फेरीवाले से पूछा—क्यों यह तुम्हारा लड़का है?

"नहीं, महाराज! मैंने विवाह नहीं किया; विवाह होने की अब सम्भावना भी नहीं है। दो वर्ष हुए होंगे, मेरी एक पड़ोसिन मज़दूरनी थी, वह मर गई, बेचारी ग़रीब थी, दिन-रात खटखट कर अपनी जान दिया करती थी तो भी उसको और उसके लड़के को पेट भर खाने को नहीं जुटता था, किसी तरह पाँच वर्ष उसने काटे, इसके बाद वह मर गई। मातृहीन बालक को भगवान् ने मेरे हाथ में सौंप दिया। इसकी मौसी भी पेट भर खाने को नहीं पाती थी, फिर दूसरे के लड़के को क्या खिलायगी। तब मातृहीन बालक का भार भगवान् के सहारे इस अभागे ने अपने ऊपर ले लिया। किन्तु अब वह मेरे जीवन का सहारा है। एक-मात्र अवलम्ब है, यही मेरा सहायक है, यही मेरा दाहना हाथ है। अब मेरे ऊपर इसका कुछ बोझा भी नहीं है। रोज़ स्कूल से आता है और तराज़ू-बटखरा लेकर ठेला-गाड़ी पर तरतरकारी सजा कर मेरे साथ साथ ठेले को ढकेलता हुआ घूमता-फिरता है। मैं इस लूले हाथ से जो काम नहीं कर सकता, जिडोर उसे सहज में ही कर डालता है। सात वर्ष का बालक, किन्तु इतनी ही उम्र में इतना चतुर! महाराज यही तो आपके भटके हुए लड़के को घर लाया था।"

"क्या कहा? इस लड़के ने, तुम्हारे लड़के ने?"

"हाँ महाराज, इसमें बड़ी बुद्धि है। स्कूल से आते समय इसने देखा कि एक लड़का रास्ते में मुँह लटकाये हुए सिसकियाँ ले रहा है। उसने बच्चे को अपनी मीठी मीठी बातों में भुलाकर चुप किया, फिर मेरे पास लिवा लाया। मैं उस समय पास ही तरकारी की फेरी कर रहा था। देखते देखते हम लोगों के चारों तरफ़ आदमियों की भीड़ लग गई। सभी लड़के से तरह तरह के प्रश्न करने लगे। बच्चे की बातें हम लोगों की समझ में न आईं। वह अच्छी तरह से एक बात भी नहीं बोल सकता है, जो दो-एक बातें कहता भी है उनमें कितने ही अँगरेज़ी और कितने ही जर्मन के शब्द मिले रहते हैं। उस समय कुछ आदमी बच्चे को पुलिस में देने के लिए कहने लगे, किन्तु जिडोर राज़ी न हुआ। उसने कहा—पुलिस को देखकर बच्चा डर जायगा। इसके सिवा, आपका बच्चा जिडोर को छोड़कर कहीं जाना भी नहीं चाहता था। तब मैं गाड़ी का सामान घर में रख और बच्चे को जिडोर के पास छोड़कर थाने में ख़बर देने गया। रात को उन दोनों ने एक साथ चिर-परिचित साथियों की भाँति आनन्द से खाना खाया और सो रहे। बच्चे को न जाने किस समय कोई खोजने आय, यही सोचकर मैं अभी तक जाग रहा था।"

इधर गाडफ़्रे के हृदय में जो भाव उठ रहे थे उन्हें उनकी अन्तरात्मा ही जान सकती थी। घर से चलते समय वे सङ्कल्प कर आये थे कि वे लड़के की रक्षा करने-वाले को पुरस्कार देकर ख़ूब प्रसन्न कर देंगे। किन्तु क्या इसे सूद की रक्तशोषक आमदनी में से एक मुट्ठी गिन्नी दें! आज उनकी दृष्टि के सामने से परदा हट गया। दरिद्रता की ओट में उन्हें जीवन दिखाई दिया। दारिद्र्य के बीच में सत्य, दुःख के बीच में सुख, अभाव के बीच में आतिथ्य! एक मज़दूरिन की सन्तान को पालने के लिए प्राणपण से चेष्टा, हार्दिक प्रयत्न! एक लूले मनुष्य के अद्भुत स्वालम्बन और अनाथ के प्रति प्रेम! एक नीच जाति के बच्चे की इतनी दया और बुद्धि! धनकुबेर गाडफ़्रे अचिन्त्य चिन्तासागर में डूब गया। जिडोर हमारे राडल को अपने छोटे भाई के समान हृदय से चिपटा कर सुला रहा है, उसने अपरिचित को चिरपरिचित मित्र की तरह अपने खाने में से खाना खिलाकर अपने घर रक्खा है, वह पुलिस की निर्दय संरक्षा में छोड़ देने को राज़ी नहीं हुआ है। तो क्या यह सब उसने इनाम के लालच से किया है? नहीं,

केवल मुट्ठी भर गिन्नी देने से मेरा कर्तव्य शेष नहीं होने का—मैं जिडोर और उसके संरक्षक पिता लूले फेरीवाले को भविष्य चिन्ता से एक बार ही मुक्त कर दूँगा, इसके बिना मेरी कृतज्ञ शक्ति को सन्तोष नहीं हो सकता। सचमुच इन्होंने मेरी आँखें खोल दी हैं। सरकारी सूद के कारबार के बड़े साहब के दरबार में रोज़ सैकड़ों हृदयहीन महाजनों का जमाव रहा करता था। यदि वे इस समय अपने आदर्शरूप बड़े साहब के हृदय की अवस्था जान सकते तो निस्सन्देह बड़े विस्मित हो जाते। वास्तव में, सूद के कारबार के बड़े साहब के जीवन में आज एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ था। उनके हृदय का द्वार खुल गया था, उन्होंने इन दरिद्री लोगों को इनाम देने के लिए मनीबेग का मुख तो बन्द ही रक्खा, किन्तु हृदय के प्रेम-स्रोत को खोल दिया। सहसा उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस फेरीवाले के समान संसार में न जाने कितने दुःखी-दरिद्री और लूले-लँगड़े होंगे, जिडोर के समान और भी कितने ही अनाथ बालक होंगे, न जाने कितनी मातायें सन्तान-पालन करने के हेतु अपने प्राण-विसर्जन कर देती होंगी। किन्तु सबसे आश्चर्य का विचार तो यह था कि यदि रुपया-पैसा किसी प्राणी का दुख-दर्द दूर न कर सका तो वह किस काम का? यदि वह सन्दूक में पड़ा हुआ सड़ता ही रहे तो इससे अच्छा तो यही होता कि वह खान में ही पड़ा रहता। इस प्रकार अज्ञात चिन्तायें उनके हृदय को डांवाडोल करने लगीं।

सोते हुए दोनों बालकों को सामने देखकर पुत्र-रत्न का मूल्य समझनेवाला पिता कुछ देर के लिए अपने आपको भूल गया। अन्त में जब उसका ध्यान टूटा और उसने फेरीवाले की ओर देखा तब उसके विनय और उज्ज्वल नेत्र देखकर, जिनसे आनन्द और स्वाधीनता टपक रही थी, गाडफ़्रे प्रेम से उन्मत्त हो गया।

गाडफ़्रे ने कहा—"भाई, आज से तुम हमारे परम मित्र हुए। तुमने और तुम्हारे पोष्यपुत्र ने मुझे अपने उपकार से मोल ले लिया है...मैं भी तुम्हें दिखाऊँगा कि मैं अकृतज्ञ नहीं हूँ। मित्र, आज से ही...मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारी अवस्था अच्छी नहीं है। लो मेरी कृतज्ञता का प्रथम उपहार ग्रहण करो।" उन्होंने फेरीवाले को नोटों का एक बण्डल देना चाहा।

फेरीवाले ने एक हाथ से नोटों का बण्डल हटाते हुए कहा—"नहीं, नहीं महाराज, ये सब बातें नहीं होने की। हम लोगों ने इनाम पाने की प्रत्याशा से यह काम नहीं किया है, आप मन में अन्यथा न सोचिए। हम लोग इसके बदले कुछ न ले सकेंगे। हमने सोने की मोहरें अवश्य नहीं देखी हैं, किन्तु सदैव हमारे भी ऐसे दिन नहीं रहे हैं। पहले मैं सेना में था, मेरे पास अभी मेडल मौजूद हैं। उसके बाद मैं मिस्त्री का काम करता रहा। हाथ के ऊपर से एक दिन गाड़ी का पहिया निकल गया, इसलिए मुझे अपङ्ग और अकर्मण्य बनना पड़ा। तो भी इस समय मैं अपने ही रोज़गार से अपना भरण-पोषण कर लेता हूँ, किसी के एक पैसा का ऋणी नहीं हूँ।

"तो भी" उस फेरीवाले के चेहरे पर सरल हँसी की एक मधुर रेखा दिखाई दी। उसने कहा—"तो भी यदि आप मुझ पर दया करना ही चाहते हैं तो इस दीन-हीन की याद रखिएगा, बस मेरे लिए इतना ही यथेष्ट होगा।"

अर्थलोलुप षड्यन्त्री के सामने आज यह कैसा अद्भुत व्यापार हो रहा था? सूद के कारबार के बड़े साहब अङ्गहीन फेरीवाले को आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगे, उनके मुँह से एक भी बात न निकली।

गाडफ़्रे ने बड़ी कठिनता से रुकते रुकते कहा—अच्छा, अच्छा, किन्तु जिडोर, जिडोर को मुझे कुछ अर्पण करने दो।

फेरीवाले ने प्रसन्नता से कहा—उसके लिए? अहा, वह अनाथ है! मैं कितनी ही बार सोचा करता था कि मेरे सिवा संसार में उसका और कोई नहीं है। फिर सोचता था—नहीं, चिन्ता क्या है? जिस ईश्वर ने उसके लिए मेरे हृदय में प्रेम पैदा कर दिया है वही ईश्वर पुनः किसी को उसकी रक्षा के लिए भेज देंगे। स्कूल के मास्टर तो उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं और बहुत प्रेम करते हैं। इतना कहते कहते वह एकाएक रुक गया। कुछ देर बाद पुनः बोला—आप इतनी देर से खड़े हुए हैं। बच्चे को गाड़ी पर ले चलिए। वह घोर निद्रा में है। गोद में उठाने से जागेगा नहीं। ठहरिए, पहले उसके पैरों में मोज़ा-जूता पहना दूँ, सरदी लगेगी।

फेरीवाले की दृष्टि का अनुसरण करके गाडफ़्रे ने देखा कि अँगीठी के पास छोटे बालकों के दो जोड़े जूते रक्खे हैं—चमकता हुआ नया जूता राडल का और नालदार मोटा जूता जिडोरे का था, जूतों के भीतर दो दो पैसेवाले एक एक खिलौने और एक एक पुड़िया में मिठाई रक्खी हुई थी।

फेरीवाले ने लज्जा के मारे आँखें नीची कर लीं। उसने धीमे स्वर में कहा—यह सब जिडोरे का खेल है। सोने के पहले अपने और बच्चे के जूते में बड़े दिन का उपहार रख दिया था। मैं थाने में ख़बर देकर लौटते समय यह मिठाई लड़कों के बहलाने के लिए लेता आया था।

बड़े साहब बिलकुल मुग्ध हो गये, उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। उनके साथी यदि उस समय उन्हें देखते तो वे क्या इन्हें पहचान सकते? गाडफ़्रे के नेत्रों में जल पहले कभी नहीं दिखाई दिया था। एक-दम वे खपरैल के मकान से निकल कर गली में बाहर आये और दो मिनट के बाद पुनः लौट गये, उनके दोनों हाथ तरह तरह के खिलौनों से भरे थे। ये खिलौने उन्होंने अपने लड़के के लिए ख़रीदे थे, इस समय गाड़ी में ही अस्तव्यस्त पड़े हुए थे। सुनहरी वार्निश से जगमगाते हुए खिलौनों को उन्होंने दोनों जोड़े जूतों में बराबर बराबर रख दिया। फेरीवाला खड़ा खड़ा उनका तमाशा देखने लगा।

गाडफ़्रे ने फेरीवाले के हाथ को अपने आवेगपूर्ण हाथ में दृढ़ता से थाम लिया। फिर उन्होंने गद्गद कण्ठ से कहा—"मित्र, मेरे सच्चे मित्र, ये सब खिलौने मैं बड़े दिन में बच्चे को देने के लिए लाया था। मेरी इच्छा है कि राडल और जिडोर दोनों साथ साथ उठें और अभिन्न मित्र की तरह खिलौने पाने का आनन्द भोग करें। राडल आज की रात तुम्हारे ही घर में रहे। मित्र, आज से हम लोग तुम्हारे हैं और तुम लोगों का भार मेरा है। आज तुमने केवल मेरा खोया हुआ बच्चा ही नहीं लौटाया है, हमारा खोया हुआ मनुष्यत्व भी तुमने हमें लौटा दिया है, मेरी आँखें खोल दी हैं। मैं इन दोनों सोते हुए बालकों की शपथ करके कहता हूँ कि इस बात को मैं जन्म भर न भूलूँगा*।

मणिराम

प्रायश्चित्त।

(१)

कोई नद्यप नाव से यदि नदी की धार में जा गिरे,
डूबे भी यदि भाग्य से न सहसा, तो भी व्यथा से घिरे।
मग्नप्राय मनुष्य का, कठिन क्या होता न निस्तार है?—
'प्रायश्चित्त-बिना नहीं पतित का होता समुद्धार है' ॥

(२)

पथ्यापथ्य-विचार को मनुज जो निस्सार है जानता,
रोगी होकर शीघ्र आप अपनी है भूल को मानता।
वैद्यप्रोक्त उसे सदैव, फिर तो, भाता मिताहार है!—
'प्रायश्चित्त-बिना नहीं पतित का होता समुद्धार है ॥'

(३)

सत्यासत्य-विचार को समझना है सर्वथा व्यर्थ जो,
मिथ्याभाषण से नहीं हिचकता है लाभ के अर्थ जो।
आगे को उसका कहा सहज ही होता न स्वीकार है—
'प्रायश्चित्त-बिना नहीं पतित का होता समुद्धार है' ॥

(४)

कर्म्माकर्म्म-विचार के विषय से जो दूर है सर्वथा,*
'जो चाहो कर डालिए'—यह जिसे शिक्षा मिली है, तथा।
वैसे ही परशासनार्थ पड़ती दुर्दैव की मार है,—
'प्रायश्चित्त-बिना नहीं पतित का होता समुद्धार है' ॥

(५)

नित्यानित्य-विचार को समझता है व्यर्थ की बात जो,
'आत्मा' से चिर-चिन्तनीय अपना है मानता 'गात' जो।
कल्पों लौं भव-सिन्धु का वह कुधी पाता नहीं पार है—
'प्रायश्चित्त-बिना नहीं पतित का होता समुद्धार है' ॥

(६)

राजा भी सुविचार के समर में जो हार के भ्रष्ट हो,
सारा वैभव और राज्य उसका तो शीघ्र ही नष्ट हो।
हारे को फिर राज्य जीत सकना दुस्साध्य व्यापार है—
'प्रायश्चित्त-बिना नहीं पतित का होता समुद्धार है' ॥

(७)

कोई हो, यदि धर्म्म से वह कभी है भ्रष्ट होता कहीं,
पश्चात्ताप-बिना कदापि उसका संस्कार होता नहीं।

---

* एक फ़्रेंच कहानी।

* 'किं कर्म्म किमकर्म्मेति' भ० गी०—लेखक।

सारे मानव-धर्म्म-शास्त्र-वचनों का भी यही सार है—
'प्रायश्चित्त-बिना नहीं पतित का होता समुद्धार है'।

(८)

जो चाहें कि विमुक्त हों हम अभी वे जान लेवें सभी,
योगी से कम योग्य तापस नहीं कैवल्य पाता कभी।
योगी का अनिवार्य्य कृत्य पहला पूर्णात्मसंस्कार है—
'प्रायश्चित्त-बिना नहीं पतित का होता समुद्धार है'॥

'सत्कविदास'

शिक्षा की नवीन व्यवस्था।

योरप में स्कूलों के दुर्बल बालकों की स्थिति को देखकर उनकी शिक्षा-व्यवस्था में एक नई योजना की गई है। उनकी शारीरिक दुर्बलता का कारण उनका आठों पहर स्कूल के कमरों में बन्द रहना ही समझा गया है। अतएव उनके लिए खुली जगहों में शिक्षा-दान का उपक्रम किया गया है। स्कूलों की चहारदीवारी के बाहर मैदान में पढ़नेवाले लड़कों के स्वास्थ्य की बात तो कुछ कहनी नहीं, साथ ही शिक्षा की दृष्टि से भी उनकी स्थिति सन्तोष-जनक है। परन्तु इस नई योजना की ओर लोगों की सहानुभूति अभी नहीं हुई है। तो भी यह कहना यथार्थ है कि विद्यार्थी और अध्यापक जितनी अधिक देर तक खुली जगह में रहकर पठन-पाठन का कार्य करेंगे उतना ही अधिक वे केवल शारीरिक दृष्टि से ही लाभान्वित न होंगे, किन्तु वैसा करना शिक्षा की दृष्टि से भी हितकर होगा।

आज-कल के अध्यापक स्कूल की इमारत और मेज़-कुर्सी के दास हो गये हैं। निस्सन्देह उन्हें लड़कों का खेलना-कूदना शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से पसन्द है। बाग़ में बालकों का काम करना तथा अध्यापकों के साथ यात्रार्थ उनका बाहर जाना भी स्वास्थ्य के लिए उन्हें स्वीकार है। परन्तु वे उस काम को विद्यार्थी का वास्तव कार्य नहीं समझते जो स्कूल के भीतर बैठ कर न किया जाय।

परन्तु क्या लम्बा-चौड़ा हवादार स्कूल और उसके लिए समुचित सामग्री प्रस्तुत करनी सम्भव है? प्रायः इसकी शिकायत सुनने में आती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से दिहात के अनेक स्कूलों की दशा बहुत कुछ गई बीती है। उनकी इमारत गाँव के घरों के लिए आदर्श नहीं है, वरन उल्टा वे स्वयं उनके अनुकरण का उदाहरण बने रहते हैं। सबसे बुरी बात तो हमारा यह समझ कर चुप हो जाना है कि इससे अधिक और क्या किया जा सकता है। खेल के मैदान में कभी कभी ड्रिल करना और पाठ लेने के बाद जब तब व्यायाम कर लेना भी अनेकों को पसन्द नहीं है। बात यह है कि जो कुछ हो, सब स्कूल-कमरे के भीतर ही हो। ऐसे अध्यापकों का अभी अस्तित्व है जो इस बात का अभिमान करते हैं कि उनके छात्र एकमात्र उन्हीं के आदेश पर अपनी आँखें ऊपर उठाते हैं, हाथ-पैर डुलाते हैं या सिर इधर-उधर झुकाते हैं, अन्यथा वे चुपचाप बैठे रहते हैं। अपने छात्रों के

प्राणिशास्त्र की शिक्षा।

इस प्रकार के विनय-पूर्ण व्यवहार को वे गौरवपूर्ण समझते हैं ।

मिस्टर वेलपटन ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—"अनेक बच्चे अपनी किशोरावस्था के दश वर्षों तक प्रतिदिन पाँच घण्टे स्कूल के भीतर चुपचाप बिना हिले-डुले अपने स्थान पर मूर्तिवत् जमे बैठे रहते हैं । उन्हें अपने ओंठ हिलाने, पलक उठाने, मुँह या देह का कोई अङ्ग घुमाने या किसी बात पर विचार तक करने का साहस तब तक कठिनता से होता है जब तक वैसा करने को उनका अध्यापक उन्हें स्पष्ट रीति से आदेश नहीं देता । इस प्रकार उनके बाल्य-जीवन की चपलता का लोप सा हो जाता है । उनका जीवन सङ्कुचित होकर कुछ बँधे हुए इशारों का दास हो जाता है । फलतः उनकी स्थिति ने अब रूढ़ि का रूप धारण कर लिया है ।"

सन्तोष की बात है कि लेखक का उपर्युक्त कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है । परन्तु यह बात सच है कि स्कूल में बच्चे बहुत अधिक देर तक अनुपयुक्त मेज़-कुर्सियों पर बैठे रहते हैं और उनकी स्वाभाविक चपलता को दबाने के लिए व्यर्थ बाधा दी जाती है । फलतः उनकी स्वाभाविक चञ्चलता, जिसका उनकी शिक्षा में अत्यधिक उपयोग होना चाहिए, उन्हें लाभान्वित करने से बहुत कुछ वञ्चित रह जाती है । इस दशा का कारण हमारी यह धारणा है कि अध्ययन के लिए हमें बैठना चाहिए, शिक्षा-दान के लिए हमें कमरे में रहना चाहिए और यदि हम इधर-उधर घूमते रहेंगे तो हम कुछ भी न पढ़ सकेंगे । स्कूल के कमरे में जमकर बैठे रहने से हम बालकों की स्वाभाविक चपलता का उपयोग कभी नहीं कर सकते । हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति का यह एक भयङ्कर दोष है । वस्तुतः शिक्षा-विभाग को इस नियम को स्वीकार कर लेना चाहिए कि जिस काम को तुम बाहर कर सकते हो उसे वहीं करो और स्कूल के भीतर तुम किसी ऐसे काम को न करो जो बाहर भी यथासम्भव भले प्रकार किया जा सकता है ।

जब कोई उपर्युक्त नियम का अभ्यास करने लगेगा तब उसे मालूम होगा कि केवल ऐसी ही श्रेष्ठ विधियाँ नहीं हैं जिनका उपयोग केवल बाहर ही किया जा सकता है और न केवल ऐसे कुछ अधिक काम हैं जो बाहर खुली जगह में भले प्रकार किये जा सकते हैं, किन्तु ऐसे काम अधिक हैं जो केवल बाहर ही किये जा सकते हैं । उदाहरण के लिए, क्या अधिक मोटाई-चौड़ाई, रक़बा आदि की बातें बालकों को स्कूल के भीतर भले प्रकार बताई जा सकती हैं ? ये बातें किसी खुली जगह में कैसी सुविधा के साथ बताई जा सकती हैं, इसकी यहाँ कहने की ज़रूरत नहीं । खुली जगहों में बच्चे अपने हाथों से नाप-जोख कर सभी बातें अनायास ही हृदयङ्गम कर सकते हैं । मील, फ़र्लाङ्ग आदि किसे कहते हैं, रक़बा क्या होता है, ऐसी बातों का वहाँ उन्हें तत्काल प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है ।

स्कूल के बाहर खेल के मैदान में गणित की जैसी शिक्षा दी जा सकती है वैसी स्कूल के बन्द कमरे में नहीं । बालक वहाँ ज़मीन के किसी हिस्से को नाप कर रक़बा निकालना प्रत्यक्ष रीति से सीख सकता है । लट्ठों और उनकी छाया से अनुपात आदि एवं त्रैराशिक आदि के प्रश्न भी सिखाये जा सकते हैं । मतलब यह कि पाटी गणित और व्यवहार-क्षेत्र की शिक्षा स्कूल के बाहर जैसे सुन्दर ढङ्ग से अनायास दी जा सकती है वैसे स्कूल के भीतर नहीं ।

मिस्र में बालकों की शिक्षा ।

गणित के सिवा पदार्थ-विद्या के प्रारम्भिक अंश की भी शिक्षा स्कूल के बाहर दी जा सकती है । प्रकाश, उष्णता, शब्द, भाप आदि विषय खुली जगह में विशेष सुविधा के साथ पढ़ाये जा सकते हैं । प्रकाश की छाया

खुली जगह में एक क्लास।

क्षेत्र-फल निकालने की शिक्षा।

अङ्कगणित की शिक्षा ।

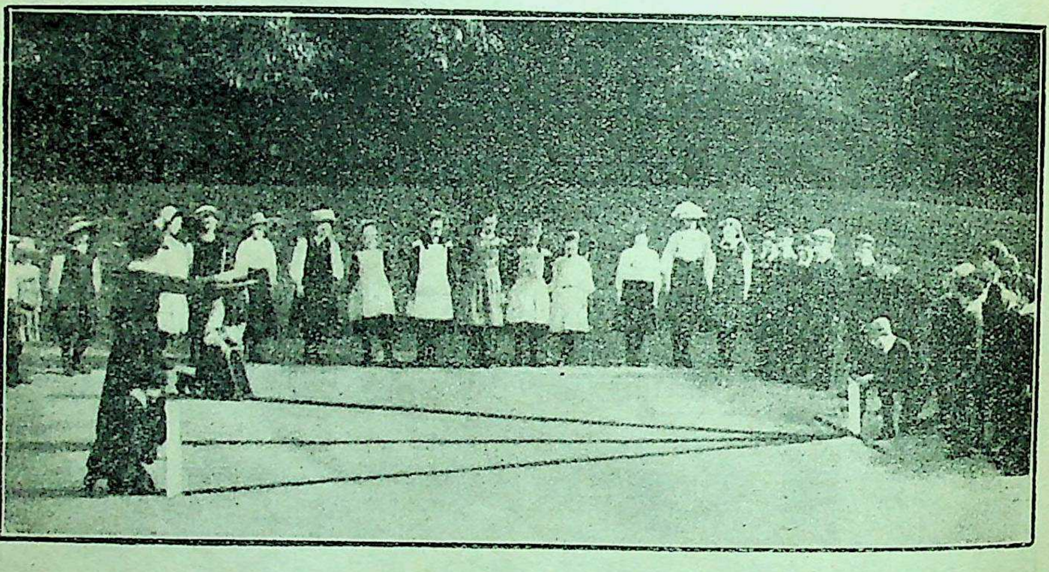

अङ्कगणित की शिक्षा ।

रेखागणित की शिक्षा ।

पढ़ने का विषय पिन, कैंडिल और छोटे छोटे शीशों की सहायता से क्यों पढ़ाया जाता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। ऐसे विषयों की शिक्षा देने के लिए सूर्य के प्रकाश से ही क्यों न काम लिया जाय? इसी प्रकार हम थर्मामीटर का प्रयोग भी स्कूल के बाहर भले प्रकार सीख सकते हैं। इस व्यावहारिक शिक्षा-पद्धति का बालकों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और वे इसमें अपना मन भी देते हैं।

प्रारम्भिक भूगोल के कुछ पाठ भी स्कूल के कमरों की अपेक्षा उसके बाहर भले प्रकार पढ़ाये जा सकते हैं। कमरे के भीतर बिठाकर सूर्य की सहायता से दिशा के ज्ञान की शिक्षा देना कितना अस्वाभाविक जँचता है, यह एक खुली बात है। व्यावहारिक शिक्षा न देने का ही यह परिणाम है कि कभी कभी बालक अपने ज्ञान का परिचय बड़ी बेढङ्गी बातें कह कर दे बैठते हैं। एक बार एक लड़के ने कहा था कि दादा, आज दक्षिणी वायु बह रहा है, क्योंकि धुँआ ठीक सीधा उठ रहा है।

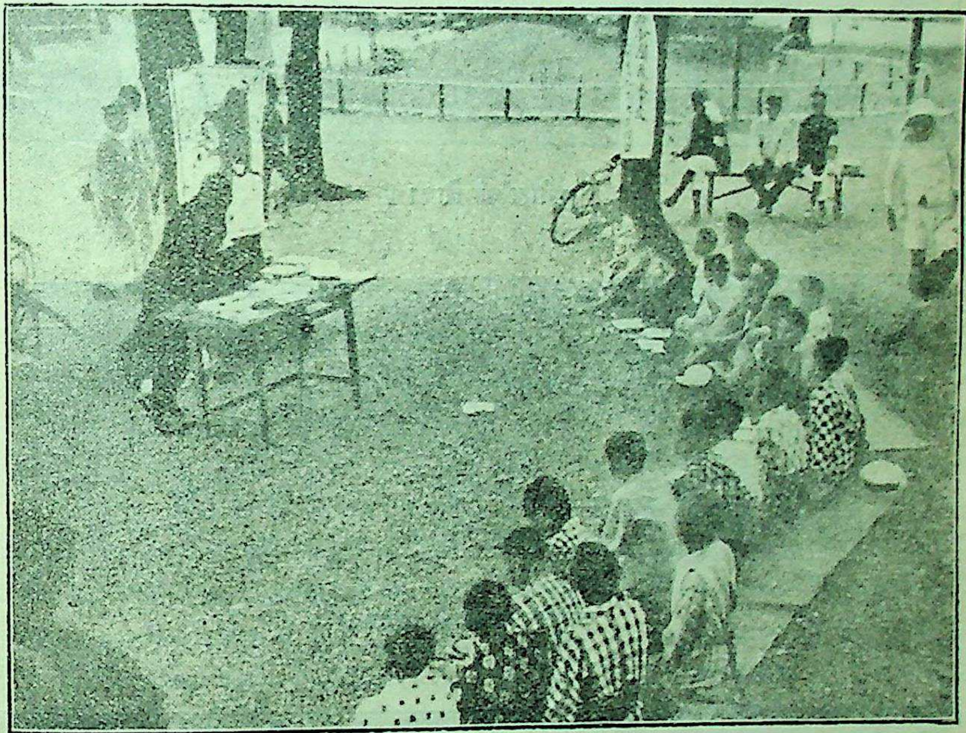

जापान में खुली जगह में एक क्लास।

ऋतु-सम्बन्धी पाठों के अभ्यास के लिए भी स्कूल के बाहर खुली जगह में ही विशेष सुविधा प्राप्त हो सकती है। स्कूल के भीतर ब्लैकबोर्ड पर चक्र खींचने की अपेक्षा बाहर मैदान में वह बड़े आकार में खींचा जा सकता है और उसकी सहायता से ऋतु-सम्बन्धी पाठ पढ़ाये जा सकते हैं। पृथ्वी की धुरी समानान्तर में रहती है, यह बात निर्विवाद है। यह बात बालकों को स्कूल के बाहर जिस सुगमता से बतलाई जा सकती है वैसी सुगमता स्कूल के बोर्ड में नहीं मिलती है। साल भर में मध्याह्न के समय सूर्य की उँचाई में जो परिवर्तन होते हैं उनका ज्ञान निरीक्षण से ही सुलभ है। यदि किसी निश्चित ध्रुव की छाया भर प्रत्येक महीने खेल के मैदान में अङ्कित की जाय तो उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता शिक्षक के लिए न रह जाय। विद्यार्थी स्वयं ही उनका मतलब हृदयङ्गम कर लेने में समर्थ हो जायँगे।

परन्तु प्रकृति-निरीक्षण की शिक्षा देने के अवसर पर

भूगोल की शिक्षा।

ज्योतिष-शास्त्र की शिक्षा।

काल-परिमाण की शिक्षा।

ही वस्तुतः खुली जगह में शिक्षा-दान का महत्त्व विदित होता है। कम से कम इस विषय की शिक्षा के लिए स्कूल के बन्द कमरे सर्वथा अनुपयोगी हैं। प्रकृति-निरीक्षण की शिक्षा के अन्तर्गत केवल वनस्पति-विद्या और प्राणि-विद्या ही नहीं हैं, किन्तु उसके भीतर हिम, मेघ, वायु, सूर्य-प्रकाश, ओस, ओला, पाला, प्रकाश, उष्णता और रङ्ग आदि का भी समावेश होता है। इनके सिवा फूलों की कलियों, तितलियों एवं मेंढक के बच्चों की बातों के विषय भी इसके भीतर आजाते हैं। इन सबकी शिक्षा प्रकृति-निरीक्षण की शिक्षा है। ऋतुओं के ज्ञान तथा वर्षा के जल की नाप-जोख के सम्बन्ध में स्कूल के कमरे के भीतर व्याख्यान देना मूर्खता के सिवा और क्या हो सकता है? ये बातें जितनी ख़ूबी के साथ स्कूल के बाहर बतलाई जा सकती हैं उतनी उत्तमता से स्कूल के भीतर कदापि नहीं बतलाई जा सकतीं।

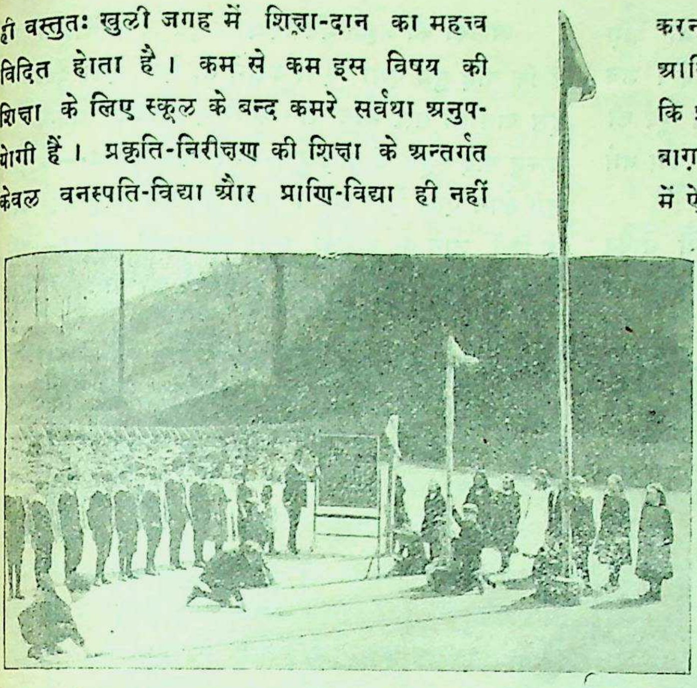
त्रैराशिक की शिक्षा ।

यह बात अब नित्य अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है कि प्रकृति-निरीक्षण की शिक्षा के लिए स्कूल में एक बाग़ होना चाहिए। स्कूल का बाग़ हो जाने से लड़के वहाँ रहकर वृक्षों और फूलों को प्रेम करना ही नहीं सीखेंगे, किन्तु वे उनकी जीवन-कथा का भी परिचय प्राप्त कर लेंगे। इस प्रकार उन्हें तत्सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायगा। यह ज्ञान अध्यापक के तत्सम्बन्धी मौखिक भाषणों-द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान से कितना भिन्न होगा इसका उल्लेख करना सर्वथा अनावश्यक है। सन् १८६९ में आस्ट्रिया-राज्य में यह क़ानून बना दिया गया था कि प्रायः सभी दिहाती स्कूलों में कम से एक बाग़ अवश्य हो। इस समय आस्ट्रिया और हँगरी में ऐसे १८ हज़ार स्कूल होंगे जिनके साथ साथ बाग़ भी लगे हैं। इँगलैंड में भी हाल में स्कूलों के साथ बाग़ लगाने की योजना की गई है, परन्तु यह व्यवस्था बाग़वानी की शिक्षा देने के लिए की गई है। यह नूतन प्रबन्ध उपयुक्त हुआ है। परन्तु आदर्श स्कूली बाग़ वही होगा जिसमें जङ्गली तथा उपयोगी वृक्ष, पौधे, घास आदि लगे हों; पाठ के समय विद्यार्थी इनमें जाकर वृक्षों की भिन्न भिन्न बातों का निरीक्षण कर अपनी ज्ञान-वृद्धि कर सकें। हाँ, प्रारम्भिक शालाओं के पाठ्यक्रम में बाग़वानी का विषय प्रकृति-निरीक्षण तक ही परिमित रहना चाहिए। जिस वस्तु का ज्ञान हमें बालक को कराने की ज़रूरत है, यदि उसके सम्मुख वह वस्तु उपस्थित हो तो उसका ज्ञान उसे कैसी सहज रीति से हो जायगा, इस बात को स्पष्ट करने की यहाँ ज़रूरत नहीं है। स्कूल में तख़्ते पर चित्र बनाकर शिक्षा देने की अपेक्षा यह विधि अधिक श्रेयस्कर है। इसमें कृत्रिमता का पूर्ण अभाव रहता है, बालक को वास्तविक वस्तु के द्वारा वास्तविक ज्ञान की ही प्राप्ति होती है। इसके सिवा उसकी स्वाभाविक बुद्धि, जो स्कूल के भीतर की शिक्षा-पद्धति से प्रायः पीछे डाल दी जाती है, प्रोत्साहन पाकर विकसित हो जाती है। बाग़ में अपने पाठों की शिक्षा ग्रहण करते समय बालक को प्राकृतिक वस्तुओं का निरीक्षण करने के लिए पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। उस समय वह अपने को अन्वेषक होने का अनुभव कर सकता है। यह उसके लिए थोड़ी बात नहीं है।

उदाहरण के लिए बालक पौधों के 'सोने' की बात का अन्वेषण कर सकते हैं। उनकी 'बाढ़' से भी उसे नापने-जोखने, आकार-प्रकार खींचने, विचार करने, सूचनायें लिखने आदि की पूरी शिक्षा अलग प्राप्त हो सकती

है । उष्णता, प्रकाश और रसायन का अध्ययन भी बाग़ में प्राणि-शास्त्र के साथ अपना सम्बन्ध रखता है । जब यह बात मालूम हो जाती है कि शीशा से हम सूर्य की किरणें एकत्र कर सकते हैं तब इसका उपयोग कम गर्म देश के पौधों के उगाने में किया जा सकता है ।

प्रकाश और उष्णता के पाठ की शिक्षा सरसों बोकर दी जा सकती है । कुछ सरसों खुली जगह में, कुछ शीशे की छाया के नीचे और कुछ प्रकाशरोधक सन्दूक़ के नीचे बोये जायँ । प्रतिदिन उनका निरीक्षण होता रहे और तत्सम्बन्धी सूचनायें लिख ली जाया करें । इस प्रयोग के बाद बालक को सूर्य के प्रकाश का महत्त्व बतलाने की बिलकुल आवश्यकता न रह जायगी । सजीव वस्तुओं पर अन्धकार के प्रभाव का अनुभव उसे स्वयम् हो जायगा । वह देखेगा कि प्रकाशरोधक सन्दूक़ के नीचे जो सरसों के पौधे उगे हैं वे रोगी जैसे पीले और निर्जीव से मालूम देते हैं ।

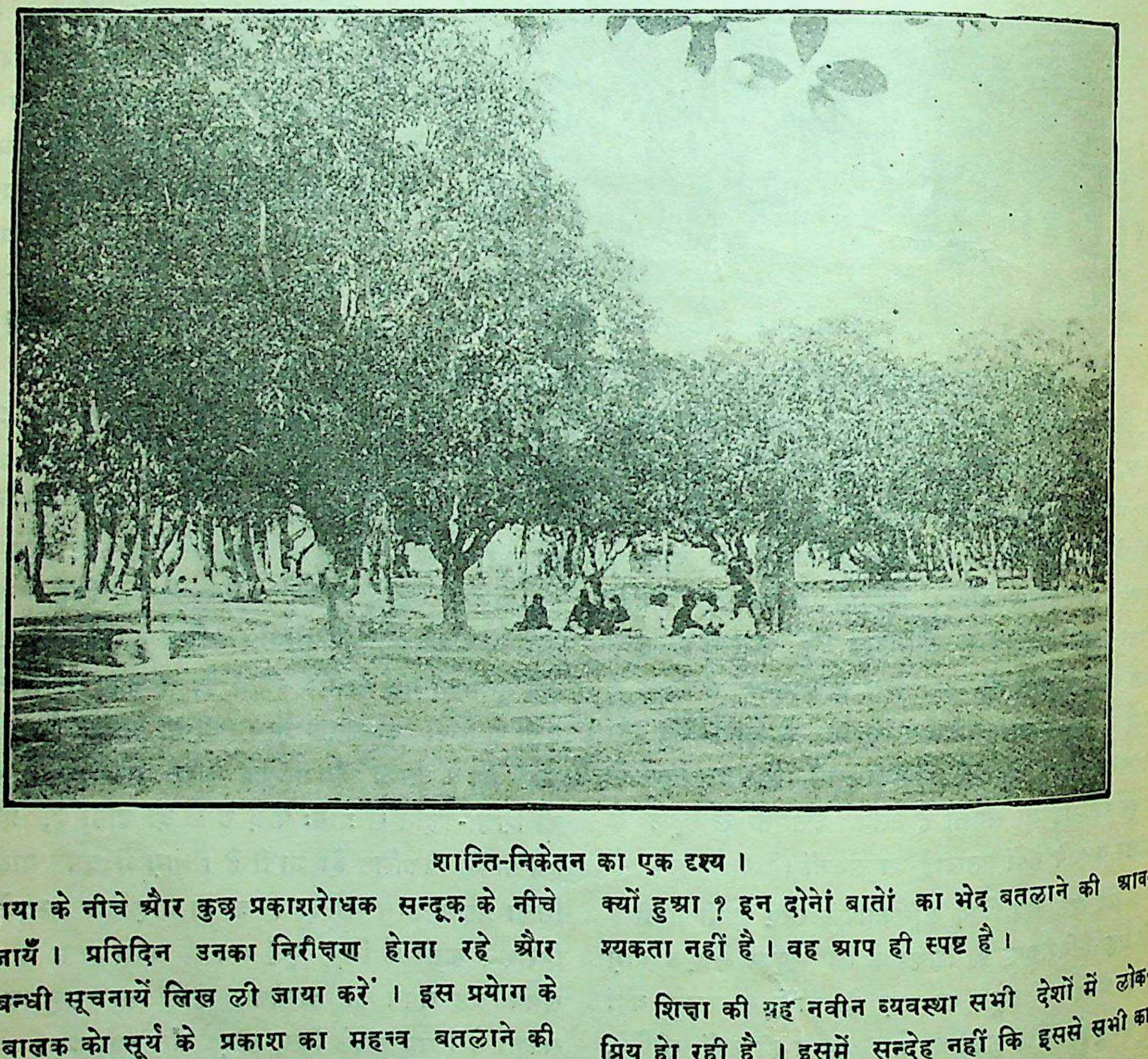

शान्ति-निकेतन का एक दृश्य ।

बालकों की प्रकृति-निरीक्षण की पुस्तकों में लिखा रहता है कि यदि तुम ऐसा ऐसा करोगे तो ऐसा ऐसा देखोगे । इस बात को सत्य मान लेने के लिए विद्यार्थी बाध्य है । परन्तु यदि स्कूल में बाग़ हुआ तो शिक्षक कहेगा—आओ, हम लोग ऐसा ऐसा करें । उसके कहने के अनुसार काम के किये जाने पर बालक अपने आप कह उठेगा—अरे, देखो तो क्या होगया ? बड़े आश्चर्य्य की बात है ! ऐसा क्यों हुआ ? इन दोनों बातों का भेद बतलाने की आवश्यकता नहीं है । वह आप ही स्पष्ट है ।

शिक्षा की यह नवीन व्यवस्था सभी देशों में लोकप्रिय हो रही है । इसमें सन्देह नहीं कि इससे सभी का कल्याण होगा ।

रमाशङ्कर उपाध्याय

कपास ।

यह कोई नहीं जानता कि भारतवर्ष में कपास की खेती कब से हो रही है और उसका कपड़ा कब से बन रहा है। इस बात का उल्लेख यहाँ के किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं है। जान पड़ता है कि प्राचीनकाल के लोग साधारण व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं का वर्णन नहीं करते थे।

कपास के नाम का उल्लेख मनुस्मृति में हुआ है। मनुस्मृति का समय ईसा के लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व कहा जाता है। उसमें लिखा है कि ब्राह्मण का जनऊ कपास (कर्पास) का होना चाहिए। इसके अतिरिक्त विदेशी लेखकों ने भी यहाँ के कपास का थोड़ा बहुत वृत्तान्त लिखा है। उनमें अत्यन्त प्राचीन और विश्वस्त लेख नियारकस नाम के एक यूनानी सेनाध्यक्ष का है। वह सिकन्दर के साथ भारत आया था। वह लिखता है कि भारत के एक प्रकार के पौधे में ऊन के गुच्छे लगते हैं, जिसका ऊन कपड़ा बनाने के काम में आता ह। हिन्दू लोग उसका चोग़ा, पगड़ी और चादर बनाकर पहनते हैं। इसके पश्चात् का दूसरा लेख हिरोडोटस नामक लेखक का है। उसने कपास के पौधे का वर्णन करते हुए लिखा है—भारत के एक जङ्गली पौधे से ऊन निकलता है, वह जानवरों के ऊन से अधिक कोमल और सुन्दर होता है। यह लेख ईसा के ४५० वर्ष पूर्व का है। इसके कोई एक सौ वर्ष बाद थियोफ्रास्टस ने भारत के कपास के सम्बन्ध में लिखा है कि हिन्दू लोग जिस वृक्ष के फल से निकलनेवाले ऊन का कपड़ा बनाते हैं उसकी कृषि की जाती है, उसके पौधे पंक्तिबद्ध बोये जाते हैं। वे दूर से अंगूर के समान दिखाई पड़ते हैं। एरियन साहब के पहली सदी में लिखे गये लेख से भी प्रकट होता है कि अरबी व्यापारी लालसागर के बन्दर-स्थानों में भँड़ोच से कपास का जो माल लाते थे उसमें ढाके की मलमल सर्वश्रेष्ठ होती थी।

इन सब बातों पर विचार करके विद्वानों ने निश्चय किया है कि लगभग चार हज़ार वर्ष से हिन्दू लोग वस्त्र बनाने के लिए कपास का उपयोग कर रहे हैं। उनका यह भी कहना है कि ईसा के १५०० वर्ष पूर्व से लगाकर १६ वीं सदी के अन्त तक भारतवर्ष कपड़ों के व्यवसाय का मुख्य केन्द्र था। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ बहुत प्राचीन काल से कपास की कृषि हो रही है और कपड़े बन रहे हैं। इसके सिवा यह भी स्पष्ट होता है कि जब संसार के और और देशों की बाल्यावस्था थी तब भारतवर्ष प्रौढ़ होगया था और उसे अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए सूत कातने और कपड़ा बुनने का ज्ञान होगया था। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि कपास की कृषि का विस्तार भारत से ही पश्चिम की ओर हुआ है। वे कहते हैं कि ईरान और अरब में इसकी खेती दसवीं सदी में प्रारम्भ हुई। लगभग उसी सदी में वह लघु एशिया, सीरिया और मिस्र में भी बोई गई। उस काल के प्लिनी नामक इतिहासवेत्ता ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि मिस्र के उत्तरी भाग में ऊन के वृक्ष की खेती होती है। उससे जो वस्त्र बनता है वह सफ़ेद, नरम और ठण्डा होता है और राजा तथा पुरोहित के पहनने के काम आता है। तुर्किस्तान और दक्षिणी योरप में कपास की खेती १४ वीं सदी के लगभग प्रारम्भ हुई थी। उस समय तक चीन और जापान में उसका खूब प्रचार हो गया था। चीन की कपास बङ्गाल तथा ब्रह्मदेश की कपास से मिलती-जुलती है। सम्भव है कि चाय के साथ ही साथ वह भी भारत से वहाँ जा पहुँची हो।

अमरीका की कपास भारत की कपास से भिन्न है। जान पड़ता है कि वहाँ उसकी उपज प्राचीनकाल से है। परन्तु लोगों को उसके सम्बन्ध में तब ज्ञान हुआ जब सन् १४९२ ईसवी में कोलम्बस भारत की खोज में वहाँ जाकर वेस्ट इंडीज़ टापुओं से कपास का नमूना अपने साथ लाया। इसके तीस वर्ष पश्चात् मेगलन नामक व्यक्ति ने पता लगाया कि ब्रेज़िल देश में भी कपास की खेती होती है। उस समय अमरीका के संयुक्त-राज्य में कपास नहीं बोई जाती थी। वहाँ उसकी खेती सन् १६२१ से प्रारम्भ हुई, जो १६ वीं सदी के प्रारम्भ-काल तक बाल्यावस्था में ही बनी रही थी।

कपास की उत्पत्ति के जिन स्थानों के नाम ऊपर आये हैं उन्हें नक़्शे पर देखने से प्रकट होता है कि भूमध्यरेखा के दोनों ओर लगभग दो हज़ार मील की दूरी तक कपास की खेती होती है।

कपास के भेद।

संसार भर की कपास के मुख्य चार भेद हैं। पहली वह कपास जिसके पौधे की डाली नरम होती है। वह भारत और चीन में उपजती है। अरब, ईरान, लघु एशिया, मिस्र और सीरिया में भी उसी प्रकार की कपास होती है। उसके पौधे की ऊँचाई साधारणतः पाँच-छः फ़ुट होती है, परन्तु कहीं कहीं उत्तम जल-वायु के कारण नौ फ़ुट तक भी पहुँच जाती है। उसका फूल पीले रङ्ग का होता है।

दूसरे प्रकार की कपास दक्षिण-अमरीका में होती है। उसके पेड़ की ऊँचाई बारह-पन्द्रह फ़ुट तक होती है और उसकी डाली सूखी लकड़ी के समान कड़ी रहती है। उसमें बैंगनी रङ्ग का फूल लगता है। वहाँ की कपासों में ब्रेज़िल देश की कपास श्रेष्ठ मानी जाती है। वह कपास जितनी अधिक सफ़ेद होती है उतनी ही वह नरम भी होती है, उससे महीन से महीन सूत आसानी से काता जा सकता है।

तीसरी जाति की कपास उत्तरी अमरीका के दक्षिणी राज्यों में उपजती है। इन राज्यों के नाम ये हैं—केंटकी, अलबामा, कारोलीना, टेनीसी, लुईसिआना और जार्जिया। इन राज्यों की कपास के पौधों की ऊँचाई साधारणतः तीन फ़ुट होती है और उसके बीज रोयेंदार होते हैं। उत्तरी अमरीका की कपास में लुईसिआना और मिसीसिपी नदी के कछार में उपजनेवाली कपास उत्तम कही जाती है।

चौथे प्रकार की कपास बारबेडोस में पैदा होती है। उसके पौधे की ऊँचाई जल-वायु के अनुसार छः से पन्द्रह फ़ुट तक होती है। पहले पहल वह वेस्ट-इंडीज़ टापुओं में उपजती थी, पश्चात् जार्जिया के किसानों ने उसका बीज ले जाकर अपने यहाँ बोया। मिस्र, लघु एशिया और तुर्किस्तान में भी वह बोई गई थी। परन्तु फल सन्तोष-जनक नहीं हुआ। संसार भर की कपास में बारबेडोस की कपास सर्वश्रेष्ठ कही जाती है। उसका फूल पीले रङ्ग का होता है। बारबेडोस में उसकी खेती दल-दल-भूमि में की जाती है। उसका सूत रेशम की तरह चमकदार और लम्बा होता है। इससे स्पष्ट है कि अमरीका के संयुक्त-राज्य, भारत, ब्रेज़िल, मिस्र और चीन देश कपास के मुख्य स्थान हैं।

भारत में जो कपास पैदा होती है उसके मुख्य दो वर्ग हैं। पहली वह कपास जिसमें कुल कपास के वज़न का तिहाई हिस्सा साफ़ निकलता है और दूसरी वह जिसमें कुल कपास का लगभग चौथाई भाग स्वच्छ निकलता है। प्रथम वर्ग की कपास, भँड़ोच, धौलपुर, भावनगर और ख़ानदेश में होती है और दूसरे वर्ग की हिङ्गनघाट, सिन्ध, बरार, कुमता और मदरास में उपजती है।

गुण के अनुसार भारत की उत्तम कपास के जो चार भेद माने गये हैं वे ये हैं—(१) हिङ्गनघाट (२) भँड़ोच (३) कुमता और (४) धारवाड़ी। इनसे हीन दरजे की कपास ख़ानदेश, धोलेरा, अमरावती और मदरास में होती है। बङ्गाल, मध्यभारत, पञ्जाब, कोइम्बटूर, कोकोनाडा और तिनावेली की कपास भी इसी दरजे में आती है।

चीन की कपास के भी दो वर्ग हैं; एक शांगटुंग की कपास और दूसरी मुख्य चीन के उत्तरी भाग की कपास। शांगटुंग में प्राचीनकाल के एक विस्तीर्ण उथले सरोवर में कपास की खेती की जाती है। उस स्थान में कपास के सैकड़ों खेत हैं।

भारतीय कपास की हीनता।

जब भारत में महीन से महीन मलमल बनती थी तब यहाँ बहुत लम्बे और मज़बूत रेशे की रुई उत्पन्न होती थी। परन्तु अब उसकी नस्ल नहीं रही, जिससे यहाँ घटिया और छोटे रेशे की कपास पैदा होने लगी है। इस समय अमरीका की कपास बहुत बढ़ी-चढ़ी है। संसार भर में जितना वस्त्र ख़र्च होता है उसका $\frac{१}{२}$ भाग उसी से बनता है। व्यावसायिक दृष्टि से भारतीय कपास के उससे हीन होने के दो कारण जान पड़ते हैं। एक तन्तु की छोटाई और दूसरा उपज की कमी। तो भी यह बात निःसङ्कोच कही जा सकती है कि जार्जिया की कपास के

तन्तु से यहाँ की कपास के तन्तु किसी बात में कम नहीं होते। कमी केवल कपास चुनने की असावधानी से है। इसी से यहाँ सात सैकड़ा घटती होती है और जार्जिया में यही घटती दो सैकड़ा से भी कम होती है। इसके सिवा यहाँ की कपास के तन्तु बीज से ऐसे चिपके रहते हैं कि अलगाते समय वे टूट जाते हैं। गट्ठे बाँधते समय भी यदि वे बहुत दबाकर कसे जायँ तो उनको हानि पहुँचती है। ये सब दोष अमरीका की कपास में नहीं होते।

उपज की कमी का कारण किसानों की हीन पूँजी और उनके अधिकार में थोड़ी थोड़ी भूमि का होना है। बहुत से लोगों का मत है कि यहाँ के किसानों को खेती की परिवर्तित प्रणाली का ज्ञान नहीं है। इसलिए खेती में सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु कृषि के लिए यहाँ जो यन्त्र काम में लाये जाते हैं उन पर विचार करने से प्रकट होता है कि वर्तमान समय के लिए प्रचलित प्रणाली ही उपयुक्त है। कोई कोई यह भी कहते हैं कि अन्य देशों के उत्तम बीज लाकर बोने से यहाँ की कपास की उपज और नस्ल दोनों अच्छी हो सकती हैं। उनका कहना तो ठीक है, परन्तु अन्य देश से बीज मँगा कर यहाँ बोने से उनके पौधों की बाढ़ मारी जाती है, और किसानों को विशेष लाभ नहीं होता। विदेशी कपास के बीज इतने अधिक साफ़ रहते हैं कि उनमें बहुत जल्दी कीड़े लग जाते हैं और तब उनसे अच्छी उपज की कोई आशा नहीं रह जाती। ऐसा हाल देशी कपास के बीज का नहीं होता। उस पर रोयेंदार घनी जमावट रहती है, जिससे कीड़ों को छेद करके उसके भीतर घुसने में कठिनाई पड़ती है। आज-कल धारवाड़ में जार्जिया की कपास और मदरास में बोरबन की कपास होने लगी है। परन्तु वहाँ के कृषकों का कहना है कि अमरीका और मिस्र की उत्तम कपास बोने से जितना परिश्रम और ख़र्च करना पड़ता है उसकी आधी मिहनत और लागत से देशी कपास कई गुना अधिक उपज सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि अमरीका और भारत की भूमि कपास की कृषि के लिए प्रायः सब बातों में समान है, परन्तु जब दोनों स्थानों की उपज की तुलना की जाती है तब उसमें बहुत अन्तर दिखाई देता है। वहाँ प्रति एकड़ सौ सेर और यहाँ केवल चालीस सेर कपास उपजती है। यदि उन साधनों की ओर ध्यान दिया जाय जिनसे भूमि उर्वरा होती है तो निःसन्देह यहाँ की उपज में बहुत कुछ वृद्धि हो सकती है।

कपास की कृषि।

कपास की खेती ऊसर और पथरीली भूमि को छोड़ कर प्रायः सब प्रकार की भूमि में हो सकती है। परन्तु उसके लिए सबसे उत्तम काली ज़मीन समझी जाती है। इसका कारण यह है कि उसमें चिकनाई और पोलापन रहता है, जिससे उसमें अधिक समय तक नमी बनी रहती है। शीतप्रधान देशों में उसकी खेती नहीं होती। जिन देशों का जलवायु उष्ण और समशीतोष्ण होता है, वहाँ उसकी कृषि उत्तम होती है।

कपास का बीज बोने के पहले ज़मीन तैयार की जाती है। बहुधा यह कार्य फागुन से ही प्रारम्भ हो जाता है। ज़मीन की तैयारी हल और बखर से की जाती है। साधारणतः एक बार हल चलाकर तीन चार बार बखर देने से ज़मीन बीज बोने योग्य हो जाती है। परन्तु सच तो यह है कि खेत जितना अधिक बखरा जाता है उतना ही अधिक लाभदायक होता है। जिस खेत में घास, कास और दूब अधिकता से उगती है उसमें फ़सल अच्छी नहीं होती। ऐसे खेत गर्मी के दिनों में, जब कभी पानी पड़ता है, जोत दिये जाते हैं। इससे यह लाभ होता है कि दूब की जड़ें उखड़ कर ऊपर आजाती हैं और धूप में सूख जाती हैं। फिर बरसात में वे नहीं उगतीं और किसान लोग निराई की मिहनत तथा ख़र्च से बच जाते हैं।

जिस प्रकार और और फ़सलों के खेतों को गहरी जोताई की आवश्यकता पड़ती है, वैसी कपास के खेत को नहीं पड़ती। इसमें सन्देह नहीं कि गहरी जोताई से मिट्टी महीन और पोली होजाती है और वह बरसात का पानी ख़ूब सोखती है, जिससे खेत की मिट्टी नहीं बह पाती और उसमें पौष तक नमी बनी रहती है। परन्तु कपास के खेत में गहरी जोताई करने से वर्षा के शुरू होते ही उसमें बीज नहीं बोया जा सकता। इसके अतिरिक्त जिस खेत में निचास रहता है या जिसमें जल्दी पकनेवाली कपास बोई जाती है उसमें गहरी जोताई करने से सिवा हानि

के कुछ लाभ नहीं हो सकता। गहरी जोताई उन्हीं खेतों को लाभदायक होती है जो सपाट हैं और जहाँ से बरसाती पानी अच्छी तरह निकल जा सकता है। सारांश यह कि गहरी जोताई करना किसानों की इच्छा और आवश्यकता पर अवलम्बित है। साधारणतः खेत को तीन-चार बार बखर देने से वह बीज बोने योग्य हो जाता है।

हर साल खेत में फ़सल बोने से भूमि का सत्व निकलता जाता और उपज क्रमशः घटती जाती है। इस कमी की पूर्त्ति खेत को कुछ वर्ष तक बिना जोते-बोये पड़े रहने देने या प्रतिवर्ष आवश्यक खाद डालने से हो सकती है। परन्तु कोई भी किसान अपने खेत को बिना जोते-बोये पड़े रहने देना नहीं चाहता; क्योंकि उनके पास ज़मीन थोड़ी रहती है। यदि वे ऐसा करें तो उनका रोज़गार मारा जाता है। इसलिए वे खाद डाल कर ज़मीन की उपज सुधारते हैं। साधारणतः राख, गोबर तथा बकरी और भेड़ की मेंगनी खाद के लिए काम में लाई जाती है। इनको खेत की मिट्टी में मिला देने से पानी पड़ते ही खाद और मिट्टी एक-रस हो जाते हैं।

सबसे उत्तम खाद उन जानवरों के गोबर की होती है जिन्हें बिनौला या बिनौले की खली खिलाई जाती है। वैसे तो गोबर में ज़मीन को उपजाऊ करनेवाले लगभग वे सभी तत्त्व रहते हैं जो कपास के पौधों को ज़मीन से मिलते हैं और जिनकी आवश्यकता कपास की फ़सल को निरन्तर रहती है। जिन द्रव्यों से ज़मीन उर्वरा होती है वे नाइट्रोजन और फ़ासफ़ारस हैं। इन्हीं दो तत्वों की कमी से ज़मीन ऊसर हो जाती है। परीक्षा से यह सिद्ध हो गया है कि ये दोनों द्रव्य बिनौले में अधिकता से पाये जाते हैं। अतएव खाद के लिए बिनौला या उसकी खली उपयोगी पदार्थ हैं। अमरीका के किसानों ने सिद्ध कर दिया है कि बिनौले से तेल निकाल लेने से भी उसमें पौधों के पोषक द्रव्य ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

अच्छी फ़सल उत्पन्न करने के लिए जैसे उत्तम खाद की आवश्यकता है वैसे ही उत्तम बीज की भी आवश्यकता पड़ती है। ज़मीन चाहे हीन दरजे की क्यों न हो, परन्तु उत्तम बीज चुनकर बोने से उसमें अच्छे दरजे की भूमि के समान उपज हो सकती है। उत्तम बीज चुनने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। किसान अगले साल के लिए फ़सल से ऐसे पौधे की कपास तोड़ कर बीज के लिए रख छोड़ते हैं जो बहुत फैला हुआ, ऊँचा बढ़ा हुआ और उत्तम तथा कपास के चमकीले फलों से लदा हुआ रहता है। बोने के पूर्व वे बीज को खाट पर डाल कर रगड़ते हैं और इससे जो बीज नीचे गिरते हैं उन्हें इकट्ठा कर उसमें बराबर बराबर मिट्टी और गोबर लगाते हैं। फिर उन्हें धूप में सुखाते और खेत में बो देते हैं।

कपास रोहिणी नक्षत्र में बोई जाती है। किसानों का कहना है कि उस समय बोने से मृगशिरा नक्षत्र का पानी पड़ते ही बीज उग आता है। परन्तु साधारणतः कपास आर्द्रा नक्षत्र में ही बोई जाती है। इसके पहले वही लोग बोते हैं जिनकी ज़मीन तैयार रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि बोनी जितनी जल्दी हो जाती है, फ़सल को उतना ही अधिक लाभ होता है।

बीज बोने की दो रीतियाँ हैं; एक पाँतवार और दूसरी छिटकार। पाँतवार बोने के लिए दो मनुष्य और एक जोड़ी बैल लगते हैं। इससे एक समय में एकही पाँत बोई जाती है। गुजरात, ख़ानदेश और बरार में इसी रीति से कपास बोई जाती है। इन स्थानों में क्यारियों का अन्तर प्रायः पन्द्रह इंच और पौधों की दूरी सात इंच रक्खी जाती है। इस रीति से बोने में बीज कम लगता और फ़सल भी खूब उपजती है। पाँतवार बोने में प्रति एकड़ सात-आठ सेर से अधिक बीज नहीं लगता। अमरीका में यही रीति जारी है। वहाँ क्यारियों का अन्तर पाँच फ़ुट रक्खा जाता है और बीज दो से पाँच फ़ुट की दूरी पर बोये जाते हैं। वहाँ वैशाख (अप्रेल) के महीने में कपास बोई जाती है।

छिटका कर बोने में परिश्रम कम और बीज अधिक लगता है। मदरास तथा भारत के अन्यान्य कपासक्षेत्रों में कपास छिटका कर ही बोई जाती है। यही रीति मिस्र और चीन में भी प्रचलित है।

बीज बोने के पाँच-सात दिन के पश्चात् कपास का पौधा उग आता है। जब उसमें दो पत्तियाँ निकल आती हैं तब किसान लोग दौरा चलाते और निराई करते हैं। इसी समय जहाँ कहीं बीज नहीं उगा रहता, वहाँ

फिर से बीज बो देते हैं और जहाँ पौधे घने उगे रहते हैं, वहाँ के कुछ पौधों को उखाड़ कर फ़सल को विरल कर देते हैं, जिसमें पौधे एक दूसरे से कम से कम आठ-नौ अङ्गुल के अन्तर पर रहें। बरसात के दिनों में जब जब धूप कड़ी रहती है तब तब खेत में दौरा चलाया जाता है। इससे खेत की घास आदि नष्ट हो जाती है और पौधों के आस-पास की मिट्टी के बार बार खुदने और उसके पौधों की जड़ के समीप जमा होजाने से पौधे की बाढ़ को लाभ होता है।

कपास के पौधे जब पूरे बढ़ जाते हैं तब फूल लगने के पहले उनकी ऊपर ऊपर की पत्तियाँ छाँट दी जाती हैं। इससे पौधे खूब फैलते और उनमें बहुत सी डालियाँ फूटती हैं। पौधों में जितनी अधिक शाखायें रहती हैं उतनी ही अधिक उपज होती है। इसी कारण अमरीका में बीज दूर दूर बोये जाते हैं, जिससे पौधों को फैलने के लिए पूरी जगह मिले। पौधों की नोक को नहीं छाँटने से वे ऊँचे बढ़ते जाते हैं और उनमें अधिक फल नहीं लगते।

कपास के पौधों में जब फूल लग जाता है तब सारा खेत सुहावना दिखाई पड़ता है। भिन्न भिन्न प्रकार के कपास के फूलों की रङ्गत में जैसी विभिन्नता है, वैसी उनकी बनावट में नहीं है। सभी प्रकार के कपास-पुष्प के चार अङ्ग होते हैं। यथा—(१) फूल के नीचे की कटोरी, जो पाँच हरी पत्तियों से मिलकर बनी रहती है; (२) फूल-मुकुट, जिसमें समान और विभक्त पाँच पखुरियाँ रहती हैं; (३) नल, जहाँ से बहुत सी डंडियाँ निकलती हैं और जिनके सिर पर पुष्प-केसर लगा रहता है; और (४) बीजकोष, जो फूल के नीचे की कटोरी से अलग रहता है।

कपास का फूल कुछ दिनों के पश्चात् कुम्हलाने लगता है और उसमें फल लग जाता है। फल गोल और नुकीला होता है। जब वह पक जाता है तब उसमें सन्तरे के परिमाण का फल निकलता है। उस समय सम्पूर्ण खेत सफ़ेद दिखाई पड़ता है।

कपास पकते ही चुन ली जाती है। इस काम में देरी करने से वह टपक पड़ती है और मिट्टी लगने अथवा पत्तियों के चिपक जाने से मैली हो जाती है। चुनाई करते समय किसान लोग इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि मैली कपास और स्वच्छ कपास का मिश्रण न होने पावे। ऐसी मिश्रित कपास के बेचने से मूल्य कम मिलता है। कपास की पहली चुनाई कार्तिक के महीने में होती है। उस समय जो कपास पूरी नहीं पकी रहती वह छोड़ दी जाती है और दूसरी चुनाई के समय चुन ली जाती है। आगामी वर्ष के लिए जो बीज रक्खा जाता है वह दूसरी चुनाई के कपास से निकाला जाता है।

अमरीका में कपास की चुनाई अगस्त महीने में होती है। उस समय वहाँ कड़ी धूप पड़ती है, परन्तु मौसम सुहावना रहता है।

कपास की चुनाई में समय, मिहनत और खर्च अधिक लगता है। इन्हें कम करने के लिए आयरलैंड के लारी नामक व्यक्ति ने एक यन्त्र बनाया है। उस यन्त्र का उपयोग अमरीका में होता है। परन्तु वहाँ के किसानों का कहना है कि मनुष्य के हाथ से चुनाई का काम जितना अच्छा होता है उतना यन्त्र से नहीं होता। यन्त्र से कपास चुनने में रेशे ऐंठ कर टूट जाते हैं।

कपास चुनने की कल एंजिन से चलाई जाती है। उसमें एक बड़ी चौखट रहती है, जिसके प्रत्येक कोने में एक मनुष्य के बैठने की जगह बनी रहती है। मनुष्य की बैठक के दोनों ओर एक एक डंडा लगा रहता है। ये डंडे दोहरे रहते हैं और उनके छोर पर एक चाक लगा रहता है, जिसमें आड़ी और टेढ़ी कीलों की माला पड़ी रहती है जब मनुष्य डंडे को आगे-पीछे सरकाता है तब चाक की कीलें कपास को नोचकर घूमती हैं। डंडे के छोर में एक और यन्त्र रहता है, जो चुनी हुई कपास को कीलों से निकाल कर नली में ठूँस देता है, जहाँ से वह यन्त्र में लगे हुए एक बड़े थैले में चली जाती है।

भारत में उपर्युक्त यन्त्र का उपयोग नहीं किया जाता है। यहाँ के किसान मज़दूर लगाकर चुनाई कराते हैं। कहा जाता है कि जो मज़दूर इस कार्य में चतुर होता है वह दिन भर में सौ से लगाकर १५० सेर तक कपास चुन लेता है।

कपास के पौधों की बीमारी ।

जिस प्रकार प्राणियों को कई प्रकार की बीमारी हुआ करती है, उसी भाँति वनस्पतियों के भी पीछे हज़ारों रोग लगे रहते हैं। कपास के पौधे को जितनी बीमारियाँ होती हैं उन सबमें भयानक कोल्हा, मोवा, सोन कीड़ा और टिड्डी रोग हैं। कोल्हा रोग जुलाई मास में पानी कम बरसने से होता है। ज़ोर से पानी पड़ने पर वह बीमारी आपसे आप चली जाती है। मोवा की बीमारी अगस्त के महीने में होती है। इससे पौधों की पत्तियों पर चिपचिपा पदार्थ लग जाता है, जिससे वे ऐंठने लगती हैं। इस बीमारी का भी अन्त ज़ोर से पानी बरसने पर होता है। कपास का प्रबल शत्रु सोन कीड़ा है। वह पौधे की जड़ में लगता है और उसमें छेद करके भीतर घुस जाता है। फिर वह भीतर ही भीतर जड़ को पोला करता हुआ ऊपर की ओर आता है। इस रोग से कपास के पौधे सूखने लगते हैं और अन्त में मर जाते हैं।

मादी सोन कीड़ा अण्डा देती है। जब वह फूटता है तब उसमें इल्ली निकलती है, जो पौधे की जड़ में छेद करके वहीं रहने लगती है। पौधे की डंडी में सञ्चार होनेवाला रस उसका पोषक द्रव्य है। इसी से डंडी पोली हो जाती है और पौधा सूख कर मर जाता है। इल्ली का रङ्ग सफ़ेद और लम्बाई क़रीब एक इंच के होती है। धीरे धीरे इल्ली का रूपान्तर होने लगता है और अन्त में वह लगभग पौन इंच का एक पंखधारी कीड़ा बन जाता है। तब उसका रङ्ग लाल-मिश्रित काला हो जाता है और उसके छः पैर, चार पंख और दो मूँछें निकल आती हैं। जब वह पूर्ण बढ़ जाता है तब डंडी से बाहर निकलता है और सन्तानोत्पत्ति करके मर जाता है। इस बीमारी की सहज ओषधि यही है कि सूखे हुए पौधे उखाड़ कर दूर फेंक या आग में जला दिये जायँ, जिससे सोन कीड़े की वृद्धि रुक जाय और उनका नाश हो जाय।

कपास के फल में भी एक प्रकार का कीड़ा लगता है, जिससे कपास की रङ्गत बिगड़ जाती है। किसान लोग इस बीमारी से फल की रक्षा करने के लिए उस पर गो-मूत्र छिड़कते हैं। इससे कीड़ों का नाश हो जाता है और वे फैलने नहीं पाते।

इन सब रोगों से भयानक रोग टिड्डियों का है। कपास के खेत में उनका दल तभी जाता है जब उन्हें अनाज की फ़सल खाने को नहीं मिलती। किसानों का मत है कि हवन-पूजन करने से वह रोग दूर होता है; परन्तु कृषिविद्या के आचार्य इस बात को नहीं मानते। उनके विचार से टिड्डियों का बध ही फ़सल की रक्षा का एक-मात्र साधन है।

रुई ओटने का जिन।

कपास चुन लेने के पश्चात् वह बीज से अलग की जाती है। इस काम में बड़ी अड़चन पड़ती है, क्योंकि कपास और बीज में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है कि वे आसानी से अलग नहीं किये जा सकते। प्राचीन काल में यह काम ओटनी से किया जाता था, परन्तु अब उसके लिए एक मशीन बन गई है, जिसे "जिन" मशीन कहते हैं।

इस कल के जन्मदाता इलीव्हिटनी साहब हैं। उन्होंने उसका आविष्कार तो अवश्य किया था। परन्तु उनकी वह कल उत्तम नहीं समझी गई, क्योंकि उससे कपास के रेशे ख़राब हो जाते थे। इसलिए दूसरे लोगों ने उसमें बहुतेरे परिवर्तन किये। यद्यपि इस हेर-फेर से उस कल की बहुत सी बुराइयाँ दूर हो गई हैं, परन्तु उसमें ऐसी उत्तमता नहीं आई जिससे कपास के रेशे बिना टूटे और मुड़े बीज से अलग हो जायँ। उसके इस दोष को दूर करने का सौभाग्य अभी तक किसी आविष्कारक को नहीं प्राप्त हुआ है।

पुतलीघर।

कपास को बीज से अलग करने के अनन्तर उसे धूप में सुखाते हैं। फिर प्रेस में दबाकर उसके गट्ठे बाँधते हैं। प्रत्येक गट्ठा वज़न में दो सौ सेर रहता है। जब गट्ठे तैयार हो जाते हैं तब उन्हें कपड़े बनाने के लिए पुतलीघर में भेजते हैं। भारत में पुतलीघरों की संख्या अधिक नहीं है। इसी से यहाँ का बहुत सा कच्चा माल विलायत और जापान भेज दिया जाता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भारत में कपास के धन्धे की वृद्धि ही नहीं हुई। सच पूछो तो कपास का व्यवसाय पहले से अब अधिक उन्नत दशा पर है। इस समय कपास उपजने

का विरला ही स्थान ऐसा होगा जहाँ सूत कातने और कपड़ा बुनने के पुतलीघर और रुई ओटने के "जिन" न हों। सबसे पहला पुतलीघर कलकत्ते के समीप सन् १८१८ ईसवी में स्थापित हुआ था। इस समय उसकी संख्या २६० से अधिक हो गई है, जिनमें लगभग साठ लाख रहँट और सत्तर हज़ार करघे हैं और क़रीब ढाई लाख मज़दूर काम करते हैं।

इँगलिस्तान में पुतलीघर अधिक हैं और नित्य नये खुलते भी जाते हैं। उन सबमें मुख्य और बड़े पुतलीघर कुछ तो मेनचेस्टर में और कुछ लङ्काशायर में हैं। यहाँ पूछा जा सकता है कि इन स्थानों में ऐसी कौन सी विशेषता है जिससे वहाँ पुतलीघरों की अधिकता है। इसके कई कारण हैं, परन्तु उनमें मुख्य यह है कि इँगलेंड के अन्यान्य स्थानों की अपेक्षा इन स्थानों के अत्यन्त निकट कोयले की बड़ी बड़ी खदानें हैं, जहाँ से पुतलीघर के एंजिनों के लिए मनमाना कोयला किफ़ायत से मिल सकता है। इसके अतिरिक्त इन स्थानों का वायु आर्द्रतापूर्ण होने के कारण वहाँ महीन से महीन सूत काता जा सकता है। यह प्रकट है कि महीन सूत कातने के लिए वही स्थान उपयुक्त होता है जहाँ की हवा नम होती है। इसी लिए ढाके में कोष्टी लोग तलघर के भीतर बैठ कर मलमल के लिए सूत कातते हैं। तलघर का भीतरी भाग आर्द्रतापूर्ण रहता है। इससे वहाँ अत्यन्त महीन सूत कातने में अड़चन नहीं पड़ती।

जब कपास के गट्ठे किसी पुतलीघर में पहुँच जाते हैं तब वहाँ वे मशीन से खोले जाते हैं। वह मशीन गट्ठों के बन्द तोड़ने के अतिरिक्त बारदाने के नीचे जमी हुई धूल-करकट को भी साफ़ करती है।

जब गट्ठा खोला जाता है तब यह बात बहुधा देखने में आती है कि कपास के उलझे हुए रेशों में पत्तियों के टुकड़े और धूल चिपकी रहती है। इसलिए रुई को धुनने के पूर्व उसका कूड़ा-करकट साफ़ किया जाता है और तन्तुओं की उलझन सुलझाई जाती है। इस कार्य का सम्पादन "बिलो" मशीन करती है। बिलो मशीन वज़न में भारी होती है और उसके चाक में आरे के समान दाँतों की पंक्ति रहती है। इसके सिवा उसमें एक पङ्खा भी रहता है। जब चाक घूमता है तब उसके दाँत रेशों की उलझन को निवारण करते हैं और पङ्खा कूड़ा-करकट तथा पत्तियों के टुकड़ों को उड़ाता है। वर्तमान काल में बिलो मशीन के बदले "ओपनर" मशीन काम में लाई जाती है, क्योंकि बिलो मशीन से कपास के नरम रेशे बेकाम हो जाते हैं।

जब रेशे अलग अलग हो जाते हैं तब उनकी एक बार फिर से सफ़ाई की जाती है। जिस मशीन से यह काम होता है वह कपास की बराबर बराबर लम्बाई-चौड़ाई तथा वज़न की तह बनाती है और कुल कपास का वज़न भी बताती है।

इतना सब हो चुकने के अनन्तर तहें एक दूसरे पर ठीक ठीक जमाई जाती हैं और धुनने की कल में डाल दी जाती हैं, जहाँ चाक और बेलन के साथ उन्हें कई बार घूमना पड़ता है। चाक और बेलन में कीलें लगी रहती हैं। इससे रेशे अलग अलग और सीधे हो जाते हैं। रुई के पोहले भी इसी यन्त्र से बनते हैं।

सारांश यह कि जब कपास पुतलीघर में पहुँचती है तब उसे कितनी ही मशीनों के चक्कर में पड़कर घूमना-फिरना पड़ता है। उनमें कोई गट्ठे खोलती हैं, कोई धूल-करकट साफ़ करती हैं, कोई तन्तुओं को सुलझाती हैं और कोई उसे सीधा करती तथा उसके पोहले बनाती हैं।

भारत और मिस्र के कपासतन्तु मोटे होते हैं और उनसे जो सूत काता जाता है वह बहुत मोटा होता है। इसलिए इँगलिस्तान के पुतलीघरों में उसे बारबेडोस के महीन रेशे की कपास में मिलाकर पहले उन दोनों के मिश्रण तैयार करते हैं। उस मिश्रण से महीन और सुन्दर सूत तैयार होता है।

चरखा और करघा।

कह आये हैं कि भारतवर्ष में कपास के वस्त्र लगभग चार हज़ार वर्ष से बनते हैं। जिस समय संसार के इतिहास में कपास का नाम तक नहीं था उसके बहुत वर्ष पूर्व से यहाँ सूत कातने और कपड़ा बुनने की कल का आविष्कार हो चुका था। इतना ही नहीं, किन्तु यहाँ के लोगों ने कातने और बुनने की कल को श्रेष्ठता की सीमा तक पहुँचा भी दिया था। उस समय यहाँ महीन और सुन्दर वस्त्र बनते थे। यहाँ से मलमल और रङ्गीन

छींट कुस्तुन्तुनिया, जिनोआ और वेनिस को भेजी जाती थीं। यहाँ की कपास का रेशा भी इतना महीन होता था कि उसका वस्त्र पहनने से मनुष्य का अङ्ग स्पष्ट दिखाई देता था। पूर्वकाल के लेखकों ने ऐसे वस्त्रों को "छाया के समान महीन वस्त्र" लिखा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि भारतीय कपड़ा सस्ता होता है और उस पर इस सफ़ाई से छपाई और रँगाई का काम बना रहता है कि देखनेवाले उसे ख़रीदने के लिए ललचा जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि चरख़ा और करघा भारतवासियों का आविष्कार है और वह उस समय किया गया था जब और और देशों के लोगों को कपास का ज्ञान तक नहीं था। इसका प्रचार पहले चीन में, फिर ईरान में हुआ। चीन में पहुँचते ही वह परदे के भीतर रक्खा गया, परन्तु ईरान में उसे स्वतन्त्रता मिली और वहाँ से वह इटली होता हुआ १७ वीं सदी में इँगलिस्तान जा पहुँचा। भारतवासियों ने करघा के आविष्कार करने में ही अपनी सम्पूर्ण कल्पना-शक्ति लगा दी थी, फिर उसकी उन्होंने थोड़ी भी उन्नति नहीं की। अन्यथा कई युग के आविष्कृत यन्त्र आज तक जैसे के तैसे क्यों बने रहते?

जब कातने और बुनने की कल इँग्लिस्तान में पहुँची तब वहाँ के लोगों को उसमें सुधार करने की आवश्यकता सूझी। स्काटलेंड के ज़मींदार जानशाह की लड़की क्रिश्चयाना ने पहले-पहल चरख़े में परिवर्तन किया। उस परिवर्तित चरख़े से महीन सूत कातने में सुभीता पड़ता था, परन्तु कातनेवाले की उँगलियाँ जैसे जैसे थकती जाती थीं, वैसे वैसे सूत क्रमशः मोटा होने लगता था। इस अड़चन को दूर करने के लिए तथा वस्त्र-सम्बन्धी कमी को पूरा करने के लिए, हार्गरेव्ज़, आर्कराइट और क्रामटन आदि ने बड़ी बड़ी कोशिशें कीं और अन्त में वे सफल हुए।

जेम्स हार्गरेव्ज़।

दो सौ वर्ष पूर्व यह कोई नहीं कह सकता था कि स्टेनहिल के दरिद्र मज़दूर का अपढ़ पुत्र जेम्स सूत कातने का यन्त्र निकाल कर कपास के उद्योग और व्यवसाय में परिवर्तन कर देगा। जब वह बड़ा हुआ और गृहस्थी का बोझ उस पर आ पड़ा तब वह छुटपन में सीखी हुई कातने और बुनने की अपनी पैत्रिक कला से अपनी जीविका चलाने लगा। उन दिनों पुतलीघर का कहीं नाम-निशान तक न था। कपड़ा बुनने और सूत कातने का काम कोरियों की झोपड़ियों में ही होता था। जिन कोरियों के पास पैसा रहता था वे सूत कातने के लिए मज़दूर लगा लेते थे, जिनसे उन्हें कपड़ा बुनने के लिए काफ़ी सूत मिल जाता था। परन्तु जो ग़रीब थे उन्हें सूत कातने के लिए अपनी स्त्री का मुँह ताकना पड़ता था और बुनने के लिए जब तक सूत तैयार नहीं हो जाता था तब तक अपना काम बन्द रखना पड़ता था।

जेम्स एक ग़रीब कोरी था। उसे भी सूत के लिए अपनी स्त्री पर अवलम्बित रहना पड़ता था। परन्तु बाल-बच्चों की संख्या और गृहस्थी का काम बढ़ जाने से जब उसकी स्त्री को सूत कातने के लिए अवकाश न मिलने लगा तब सूत कातने का काम भी उस पर आ पड़ा। इस अड़चन से उसकी आर्थिक दशा दिन प्रति दिन ख़राब होती गई और कठिन परिश्रम करते हुए भी उसको भूखों मरते रहना पड़ता।

एक दिन जब उसकी अवस्था लगभग चालीस वर्ष की हो चुकी थी, उसके मित्र ने उसे एक विज्ञापन पढ़कर सुनाया। उसमें लिखा था कि ऐसा यन्त्र बनानेवाले को पचास पौंड पारितोषिक दिया जायगा जिससे एक ही समय में कपास, ऊन या सन के छः सूत काते जा सकें। वह विज्ञापन एक कम्पनी का था। उसने इस अभिप्राय से छपवाया था, जिसमें फ़सल बोने और लूने के समय जब मज़दूरों का अभाव रहता है, उसको कपड़ा बनाने के लिए काफ़ी सूत मिल सके।

उस विज्ञापन को सुनकर जेम्स के मन में यन्त्र निकालने की सनक सवार हुई और उसकी खोज में वह रात दिन व्यग्र रहने लगा। कभी कभी वह विचार में इतना तल्लीन हो जाया करता था कि उसे रात को नींद तक नहीं आती थी और दिन के समय मस्तिष्क की लापरवाही से उसकी उँगलियाँ धीरे धीरे काम करने लगती थीं, जिससे काम अधूरा रह जाता था।

एक दिन उसकी ग़रीबी में आटा गीला हो गया।

सूत कातने का उसका चरखा जो इतने दिनों तक उसके कुटुम्ब के भरण-पोषण का आधार था उसके उपद्रवी लड़कों का पैर पड़ जाने से टूट गया। इससे हार्गरेव्ज़ को बड़ा दुःख हुआ। वह अपनी स्त्री से यह कहता हुआ टूटे हुए चरखे की ओर निराशा की दृष्टि से ताकने लगा कि आज लड़कों के खेल ने पेट पालने के खेल का सर्वनाश कर दिया। इतने में उसकी नज़र तकुवे की ओर जा पड़ी, जो चरखे से उचट कर भौंरे के समान भूमि पर फिरकी लगा रहा था। उसी समय उसके मन में एकाएक यह विचार आया कि यदि बहुत से तकुवे बनाकर उन सबको एक साथ इस प्रकार लगा दें जिससे वे फ़र्श पर घूमते हुए तकुवे के समान घूमें तो एक ही समय में कई सूत निःसन्देह काते जा सकते हैं।

अब जाकर उसका मनोरथ सिद्ध हुआ। बढ़ई का काम वह जानता ही था, इससे अपने विचार के अनुसार यन्त्र बनाने में उसे देरी नहीं लगी। जो यन्त्र उसने बनाया उसमें लकड़ी का एक बड़ा चौखटा था, जो छोटे छोटे दो चौखटों को सँभाले हुए था। इन दोनों चौखटों में एक में सूत कातने के लिए और दूसरे में कपास खींचने के लिए आठ आठ तकुवे खड़े लगे थे। उस यन्त्र का नाम उसने अपनी स्त्री के नाम पर जेनी रक्खा। उससे वह आठ मज़दूरों का काम अकेला कर लेता था।

उस यन्त्र की बदौलत हार्गरेव्ज़ के दिन फिर गये। वह तीन वर्ष तक अपने यन्त्र को गुप्त रखकर सूत कातता रहा। पीछे से बस्ती के लोगों के मन में सन्देह हुआ कि वह अकेला व्यक्ति बिना मज़दूर लगाये इतना सूत कहाँ से पा जाता है। इस रहस्य को जानने के लिए उन्होंने जासूस लगाये और उन्हें उसके गुप्त यन्त्र की बात प्रकट हो गई। तब एक दिन रात के समय उन सबने उसके घर पर हमला किया और उसके यन्त्र को तोड़-ताड़ कर उसे इस बात की धमकी दी कि यदि तुम फिर कभी यन्त्र बनाने की चेष्टा करोगे तो तुम्हारे प्राण नहीं बचेंगे।

गाँव के लोगों की डाँट से हार्गरेव्ज़ इतना डर गया कि फिर से यन्त्र बनाने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। इसके सिवा बलवाइयों ने उसकी सम्पत्ति भी लूट ली थी, जिससे यन्त्र बनाने के लिए उसके पास कुछ नहीं रहा। तब लाचार होकर वह दूसरी जगह चला गया और एक कम्पनी में यन्त्र बनाने के काम पर नौकर हो गया। जब उसके पास थोड़ी पूँजी जमा हुई तब वह नाटिंघम को गया और वहाँ सूत कातने और कपड़ा बुनने का अपना निज का कारख़ाना खोला। उससे उसे ख़ूब आमदनी हुई, परन्तु वह कुछ ही समय तक उसका उपभोग करके पचास वर्ष की अवस्था में परलोक को सिधारा।

रिचर्ड आर्कराइट।

जब जेम्स हार्गरेव्ज़ ने लोगों को सुझा दिया कि उसके यन्त्र से क्या क्या काम हो सकते हैं तब उद्योग और व्यवसाय के शुभचिन्तकों का ध्यान उसमें सुधार करने की ओर आकृष्ट हुआ। हार्गरेव्ज़ के यन्त्र में चरखे की अपेक्षा केवल इतना ही सुभीता था कि उससे एक ही समय में सूत के कई धागे कत सकते थे। परन्तु उसमें रुई के पोहले पकड़ने का कोई साधन नहीं था। सूत कातनेवालों को उस समय भी अपनी उँगलियों से पोहला पकड़ रखने और हाथ से सरकाने की तकलीफ़ होती थी, जैसा उन्हें पूर्वकाल के चरखे से सूत कातने में हुआ करती थी। अन्त में इस कठिन समस्या को एक मनुष्य ने हल कर दिया। वह भी एक दरिद्र मज़दूर का पुत्र था और उसका नाम रिचर्ड आर्कराइट था।

आर्कराइट का जन्म आज से पौने दो सौ वर्ष पूर्व प्रेस्टन ग्राम में हुआ था। वह ग़रीब होने के कारण कुछ पढ़-लिख नहीं सका। इसके सिवा उन दिनों पाठशालायें भी थोड़ी थीं। सर्वसाधारण का पढ़ना नहीं हो सकता था। जब वह बड़ा हुआ तब नाई का व्यवसाय करने लगा। परन्तु इससे अच्छी आमदनी नहीं होती थी। इसके सिवा उसका स्वभाव भी असन्तोषी था। इसलिए उसकी इच्छा किसी ऐसे धन्धे के करने की हुई जिसमें उसे अधिक धन प्राप्त हो सके।

उन दिनों बाल की टोपी पहनने की बड़ी चाल थी। उसका व्यवसाय भी ख़ूब चलता था। इसलिए आर्कराइट ने सोचा कि बाल बनाने की अपेक्षा बालों की टोपी बनाकर बेचने से कुछ अधिक प्राप्ति हो सकेगी। उसे इस व्यवसाय के सीखने में अधिक समय नहीं लगा और

थोड़ी पूँजी से बालों की टोपी का व्यवसायी बनकर वह गाँव गाँव फिरने लगा।

इस रोज़गार से भी उसकी आर्थिक स्थिति नहीं सुधरी, परन्तु कपड़े के व्यवसाय की उन्नति के सम्बन्ध में नये यन्त्र के आविष्कार की आवश्यकता पर गाँव गाँव में होनेवाली चर्चा सुनने का लाभ उसे हुआ। इससे उसके मन में उत्साह हुआ और वह टोपी बनाने के व्यवसाय को छोड़कर वेरिंगटन में सूत कातने के लिए नया यन्त्र बनाने का प्रयत्न करने लगा। वह लकड़ी और लोहे का काम नहीं जानता था। इसलिए उसने बढ़ई और लोहार नौकर रक्खे और उनसे अपने कल्पित यन्त्र के भिन्न भिन्न भाग बनवाये। यन्त्र के बनाने में वह कई बार असफल हुआ, परन्तु निरन्तर उद्योग में लगे रहने के कारण अन्त में उसने एक ऐसा यन्त्र बना ही लिया जो हार्गरेव्ज़ के यन्त्र से बहुत उत्तम था।

कुछ दिनों के अनन्तर उस यन्त्र में भी कई दोष दीखने लगे। परन्तु धन के अभाव के कारण आर्कराइट उन्हें दूर करने में असमर्थ था। इस अवसर पर एक महाजन से उसे द्रव्य की सहायता मिल गई। उससे उसने अपने यन्त्र को फिर से सुधार कर उसके सारे दोष दूर कर दिये। अब उसके यन्त्र से एक ही समय में महीन और मोटे हर तरह के सैकड़ों सूत कतने लगे। रुई धुनने, पोहले बनाने तथा उन्हें पकड़ रखने के कार्य भी उससे हो सकते थे। इस यन्त्र की देखभाल करने, उसमें रुई डालने और धागों के टूट जाने पर उन्हें जोड़ने के लिए केवल एक मनुष्य की आवश्यकता पड़ती थी।

वह यन्त्र बहुत भारी था और घोड़ों से चलाया जाता था। इससे ख़र्च भी अधिक पड़ने लगा। तब आर्कराइट ने डर्बी नगर में नदी के किनारे अपना कारख़ाना खोला और पनचक्की से यन्त्र के चलाने का प्रबन्ध किया। इस उपाय से वह थोड़े समय में और कम ख़र्च से अधिक सूत निकाल लेने लगा और दूसरे लोगों की अपेक्षा कम क़ीमत में इसे बेचने लगा। हार्गरेव्ज़ के समान आर्कराइट के भी बहुत से शत्रु थे, परन्तु उनके किये कुछ हुआ नहीं। कितने लोगों ने उसके यन्त्र की नक़ल करके लाभ भी उठाया तो भी आर्कराइट की आमदनी मारी नहीं गई। वह उन सबसे अधिक धनवान् बना रहा। मरने के छः वर्ष पूर्व उसे महाराज तृतीय जार्ज ने "नाइट" की उपाधि देकर सम्मानित किया था।

सेमुअल क्रामटन।

सूत कातने के यन्त्र का तीसरा आविष्कार-कर्त्ता सेमुअल क्रामटन था। उसका जन्म बोल्टन नगर में सन् १७५३ में हुआ था।

छुटपन से क्रामटन का स्वभाव उन बालकों के समान था जो अपना कौतूहल मिटाने या यह जानने के लिए अपने खिलौने तोड़-फोड़ डालते हैं कि उसके भीतरी भाग कैसे बनाये गये हैं या उसमें आवाज़ होने का क्या कारण है।

क्रामटन का पिता कोरी का व्यवसाय करता था, परन्तु जब उस धन्धे से उसके पास कुछ सम्पत्ति जमा हो गई तब वह एक दिहात में जा बसा। वह वहाँ ज़मीन ख़रीद कर खेती करने लगा। खेती के अतिरिक्त वह गाय तथा मुर्ग़ी पालने, रुई धुनने, सूत कातने और कपड़ा बुनने का रोज़गार भी करता था। यह सब कारोबार उसके पिता के जीते जी ठीक तरह चलता रहा, परन्तु जब उसकी मृत्यु होगई तब एक एक करके सब बिगड़ता गया और अन्त में क्रामटन दरिद्र हो गया। उस समय उसकी अवस्था सोलह वर्ष की थी। इतनी थोड़ी उम्र में उसने अपने पिता के पूर्व-व्यवसाय की शरण ली और पाँच वर्ष तक हार्गरेव्ज़वाले यन्त्र से सूत कात कर तथा कपड़ा बुन कर अपना निर्वाह किया।

क्रामटन को सारङ्गी बजाने का शौक़ था। धीरे धीरे वह इस कला में इतना निपुण हो गया कि नाट्यशाला में नौकरी मिलनी उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं रह गई। दिन में वह अपना धन्धा करता और रात में बोल्टन की प्रसिद्ध नाट्यशाला में सारङ्गी बजाता। इसके लिए उसे एक रुपया प्रति रात को मिलता था। वहाँ उसे नाटक के पात्रों की महीन और जालीदार कपड़ों की पोशाकें देखने को मिलती थीं। इससे उसके मन में विचार हुआ कि ऐसे वस्त्रों के लिए अत्यन्त महीन सूत कातने की बड़ी आवश्यकता है। वह सात-आठ वर्ष तक अपने अवकाश के समय में अत्यन्त महीन सूत कातने का यन्त्र बनाने का

प्रयत्न करता रहा। अन्त में वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ। हार्गरेव्ज़ की जेनी में कुछ हेर-फेर करके वह अत्यन्त महीन सूत कातने लगा। उसके सूत की बड़ी क़दर हुई और उसे दाम भी ख़ूब अधिक मिला।

सेमुअल ने अपने यन्त्र का नाम म्यूल रक्खा। म्यूल का अर्थ ख़च्चर है। कहते हैं कि ख़च्चर की उत्पत्ति घोड़े और गदहे से हुई है। उसमें घोड़े के समान तेज़ी और गदहे के समान सहनशीलता पाई जाती है। इसी प्रकार क्रामटन के यन्त्र की उत्पत्ति हार्गरेव्ज़ और आर्कराइट के यन्त्र के मेल से हुई थी। सम्भव है कि इसी से उसने अपने यन्त्र का नाम म्यूल रक्खा हो।

वर्तमान काल में सूत कातने की जितनी मशीनें हैं वे यद्यपि क्रामटन के म्यूल से बहुत बड़ी हैं और उसकी अपेक्षा उनसे सैकड़ों सूत भी अधिक कतते हैं, परन्तु उन सबकी रचना म्यूल के आधार पर हुई है।

बिनौला।

हमारे देश में बिनौला तुच्छ वस्तु समझा जाता है। सिवा ढोरों को खिलाने और बीज के वह और किसी उपयोग में नहीं आता। परन्तु अमरीका में ऐसी बात नहीं है। जब से वैज्ञानिकों ने उसे उपयोगी पदार्थ सिद्ध कर दिया है तब से कपास के ही समान उसका आदर वहाँ होने लगा है। इस समय उसका व्यापार इतना बढ़ गया है कि वहाँ बहुत से कारख़ाने खुल गये हैं, उनमें बिनौले की बुकनी और भूसी तैयार की जाती है और उसका आटा पीसा तथा तेल निकाला जाता है। इन पदार्थों की माँग भी इतनी अधिक होगई है कि वहाँ के दश बन्दरस्थानों से अन्यान्य महाद्वीपों के लगभग दो सौ बन्दरस्थानों को माल भेजा जाता है।

बुकनी से सूत, कम्बल, गद्दे, डोर, काग़ज़ और चटाइयाँ बनती हैं। भूसी खाद का काम देती है। उसे गोबर में मिलाकर एक-रस कर देने से उत्तम प्रकार की खाद बनती है। इसके सिवा उसे ढोरों को भी खिलाते हैं। आटे से तरह तरह की रोटियाँ बनती हैं, जो बादाम के समान मीठी और गेहूँ तथा बाजरे की रोटी से अधिक सस्ती और पुष्टकारक होती हैं। उसकी खाद भी बनती है, जो पौधों के लिए और और प्रकार के उत्तम खादों से अधिक लाभदायक होती है। इसका यह कारण है कि उसमें पौधों का मुख्य पोषक तत्त्व, जिसे अमोनिया कहते हैं, अन्यान्य उत्तम खादों की अपेक्षा दुगना रहता है। तेल शरीर में लगाने, खाने और जलाने के काम में आता है। और और सुगन्धित तेलों की अपेक्षा वह अधिक शुद्ध होता है। उसे शरीर में लगाने से चमड़ा नरम रहता और सिर के बाल बढ़ते हैं। वह खाने में स्वादिष्ट और पाचक होता है। उससे मांस की वृद्धि होती और नसें मज़बूत होती हैं। पाश्चात्य देशों में सूअर की चर्बी के बदले इसी का उपयोग होने लगा है। वह दवाई का भी काम देता है। कब्ज़, सन्धि-बात, खाँसी आदि कष्टसाध्य रोग इससे आराम होते हैं। अमरीका के डाक्टरों की राय है कि काडमछली के तेल से वह अधिक लाभदायक होता है। कच्चा तेल नहाने धोने का साबुन तैयार करने और रङ्ग में मिलाने के काम आता है। उससे सफ़ेद पेन्ट (रङ्ग) भी तैयार होता है, जो जर्मनी के पेन्ट से सस्ता मिलता है।

वनमालीप्रसाद शुक्ल

शीला देवी।

[१६]

मन्त्रणागार।

मन्त्रणागार के एक सुनसान कमरे में बहुमूल्य आसन पर महाराज परशुराम बैठे हुए हैं। उनके चेहरे पर चिन्ता की छाप लगी हुई है। पास ही राजकुमारी अलग आसन पर बैठी हुई न जाने क्या क्या सोच रही हैं। अकस्मात् सन्नाटे को चीर कर उन्होंने कहा—बाबूजी, मुझसे आप क्या पूछेंगे ?

महाराज परशुराम नें बेटी के मुँह की ओर देख कर कहा—शीला, जो बात कहने के लिए मैंने तुम्हें महलों से बुलवाया है उसे मैं भूल गया। यह मेरी अवस्था का दोष है। जैसा कुछ समय उपस्थित हुआ है, उसमें यदि अपने उसी पुराने बल-विक्रम को मैं लौटा कर ला सकता तो अच्छा होता। किन्तु समय किसी की भी बात नहीं

सुनता। चिह्लन कारागार से भाग गया, यह अच्छी बात नहीं हुई। बेटी, मैं बुड्ढा हो गया हूँ। मेरी यह जराजीर्ण देह धराधाम में और कितने दिन तक टिक सकती है? सोच विचार करके देखो कि बालक राजपुत्र के प्रतिभूस्वरूप विपन्न नरसिंह के राज्य की रक्षा कौन करेगा? मैं यह सोच रहा था कि तुम्हें सत्पात्र को सौंप कर राज्य-भार भी जमाई के अर्पण कर दूँ। मेरी सारी शक्ति को तो शुभ देवी अपने साथ ले गईं।

शीला देवी ने कहा—पिताजी, राज्य के भले के लिए आप जो ठीक समझें, करें।

महाराज परशुराम ने स्नेहार्द्रस्वर में कहा—रूप और गुण में विजयसिंह अपना सानी नहीं रखते, मैं सोचता हूँ कि उनके हाथ में तुमको अर्पण करने से मैं, एक तरह पर, सारे झगड़ों से बेफ़िक्र हो सकता हूँ।

शीला देवी ने माथा झुका लिया। राजा ने कहा—बेटी, लज्जा मत करो। इस समय यदि तुम्हारी माता जीवित होती तो मुझे तुमसे यह प्रस्ताव न करना पड़ता। तुम मेरी एकलौती लड़की हो। तुम्हारे लिए अच्छा घर-वर मिलने से ही मेरी चिन्ता हट सकती है।

राजकुमारी ने माथा झुका कर लजाते हुए उत्तर दिया—बाबूजी! महास्थान के मङ्गल के लिए और भाई राजेन्द्र के लिए आप जो कुछ कहेंगे उसे करने के लिए मैं तैयार हूँ। किन्तु अभी तो उसके लिए उपयुक्त समय नहीं है।

राजा ने उद्वेग के साथ पूछा—अभी क्यों नहीं है?

राजकुमारी ने उत्तर दिया—मुझे एक नया समाचार मिला है। एक दुर्द्धर्ष मुसलमान बड़ी सी फ़ौज लेकर महास्थान के सिमाने पर आगया है। अतएव इस समय अन्य चिन्ताओं को छोड़ कर उसी ओर ध्यान देना चाहिए। बाबूजी, कोई चिन्ता की बात नहीं। खालताधिपति तो महास्थान की रक्षा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं।

महाराज परशुराम ने आश्वस्त होकर कहा—अच्छी बात है। इन उलझनों के सुलझते ही मैं तुमको सत्पात्रस्थ करके निश्चिन्त हो जाऊँगा।

अब उन्होंने दूसरे विषय की चर्चा छेड़ कर कहा—बेटी, तुमने प्रजा के मन की बातों और राज्य की दशा का पता लगाने के लिए किसी जासूस को तैनात किया था। वह जासूस लौट कर आया कि नहीं?

शीला देवी ने कहा—हाँ बाबूजी, जासूस आगया।

राजा ने उत्सुकता प्रकट करके पूछा—गुप्तचर ने क्या ख़बर दी।

शीला देवी ने कहा—बाबूजी, अच्छी ख़बर नहीं है। वरेन्द्रभूमि के अनेक सामन्त राजा, सुलतान के साथ, गुप्तरूप से भेट करने गये हैं।

राजा ने घबरा कर पूछा—सुलतान कौन है?

शीला देवी ने उत्तर दिया—शाह सुलतान मुसलमान फ़क़ीर है। उस दुर्दान्त दरवेश ने सेना लेकर हमारे राज्य के सिमाने पर छावनी डाल दी है। मुझसे जासूस ने कहा है कि आत्रेयी-तीरवासी प्रजाजनों पर अपार अत्याचार किया जा रहा है। वहाँ के लोग अपनी जान बचाने के लिए घर-द्वार छोड़ छाड़ कर भाग रहे हैं।

महाराज परशुराम ने हताश भाव से कहा—सामन्त राजा लोग गुप्त रूप से सुलतान के साथ भेट करने गये हैं। इसका क्या कारण है? तो क्या वे मुसलमान की सहायता से महास्थान-राज्य को ध्वंस कर देना चाहते हैं?

शीला देवी ने उत्तर दिया—पिताजी, सिर्फ़ उन्हीं का दोष नहीं है। सशस्त्र सन्तरियों के पहरे को लाँघ कर राजकीय कारागार से क़ैदी-सेनापति का भाग जाना क्या अद्भुत काम नहीं है? इस राजपुरी के किस व्यक्ति ने उसको सहायता दी—किसकी सहायता पाकर वह साफ़ निकल भागा! इन सब बातों पर विचार करने से मुझे तो यह शङ्का होती है कि इस राजभवन की चौखटें और किवाड़ तक राजा के विरुद्ध आचरण करते हैं।

राजा ने असहाय भाव से ठण्ढी साँस लेकर कहा—बेटी, प्रतिहारी अब तक लौटा क्यों नहीं? यहाँ आने में सेनापति बड़ी देर कर रहा है।

शीला देवी ने कहा—यह लो बाबूजी, सेनापति आगये।

सेनापति मिर्ज़ा मुराद और मन्त्री पुण्डरीक दोनों ने मन्त्रणागार में प्रवेश किया।

राजकुमारी ने पूछा—तो बाबूजी, अब मैं जाऊँ न ?

राजा ने कहा—अच्छा, जाओ।

राजकुमारी चली गईं। राजा की आज्ञा पाकर मन्त्री और सेनापति अपने अपने आसन पर बैठ गये। राजा ने पूछा—पुण्डरीक ! गुप्तचर क्या ख़बर लाया ?

"समाचार सन्तोषजनक नहीं है महाराज ! ख़बर मिली है कि माधवपाल का बेटा हरपाल आत्रेयी के तीर पर शत्रु की छावनी में पहुँचा है।"

"और भी कोई ख़बर है ?"

"मौक़ा मिलते ही सुलतान शाह महास्थानगढ़ पर आक्रमण करने की धुन में है।"

"गौड़ में चुने हुए सैनिकों का दल नाहक़ भेज दिया गया। इस समय गढ़ में जो सेना है वह चिह्लन की मुट्ठी में है। उस पर हमें विश्वास नहीं। अब तो मुराद और विजय की सेना का ही भरोसा है।"

मुराद ने कहा—ग़नीम की फ़ौज बेशुमार सुनी जाती है। सिर्फ़ मेरी फ़ौज की टुकड़ी लेकर दुश्मन का मुक़ाबला करना ठीक न होगा। इस हालत में अपने बचाव की तरकीब छोड़कर हरिहरसिंह को गौड़ भेज देना मुनासिब न था।

मन्त्री ने कहा—पहले से यह हाल मालूम रहता तो मैं उनको न जाने देता। अब बीती बातों पर पश्चात्ताप करना ठीक नहीं। यह सोचिए कि इस समय क्या किया जाय।

मुराद ने कहा—सोचने से क्या होगा ? मेरे पास जितनी फ़ौज है उसी के सहारे मैं दुश्मन के छक्के छुड़ा सकता हूँ। लेकिन अगर और भी कुमक मिल जाती तो अच्छा होता।

राजा ने कहा—मुराद ! महास्थान की सेना को सन्तुष्ट करके अपने वश में करने का उद्योग करो। यदि वह जी लगाकर सचाई के साथ काम करने पर उतारू हो जाय तो कदाचित् और अधिक सैनिक सहायता की आवश्यकता न पड़े। क्यों ?

"महाराज ! मैंने कोशिश करने में कोई बात उठा नहीं रक्खी। विजयसिंह एक नई फ़ौज भर्ती कर रहे हैं। देश के कोच, भील, मान्दाई और कहार वग़ैरह नीच क़ौम के हिन्दुओं को भर्ती करके उन्होंने नई फ़ौज बनाई है। ये लोग जैसे बहादुर हैं वैसे ही बेख़ौफ़, सच्चे, और फ़ैयाज़ हैं। मेरा तो यह ख़याल है कि विजयसिंह की उस फ़ौज के आगे महास्थान की फ़ौज नाचीज़ है। यहाँ की फ़ौज की चाल-ढाल और कारगुज़ारी देख कर कभी कभी जी चाहता है कि इन्हें क़िले से निकाल बाहर कर दूँ।"

"सेनापति ! भरसक चेष्टा करो। यदि इतने पर भी काम सिद्ध न हो तो हथकड़ी-बेड़ी पहना कर एक एक दुरात्मा को हाथी के पैर तले कुचलवा डालो। बुढ़ापे में मुझे चिह्लन ने जो शिक्षा दी है वैसी मुझे ज़िन्दगी में कभी नहीं मिली। अब किसी पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता।"

पुण्डरीक ने कहा—महाराज ! गौड़ नगरी से एक समाचार आया है।

"क्या ?"

"जयपालदेव कुछ नगर छोड़ कर हेमन्तसेन के साथ सन्धि कर रहे हैं।"

"इस सन्धि का क्या कारण है ? ऐसी सन्धि और पराजय में क्या अन्तर है ?"

पुण्डरीक ने कहा—किन्तु हेमन्तसेन इतने पर भी राज़ी नहीं होता। वह तो एक-दम गौड़सिंहासन पर अधिकार करना चाहता है।

सेनापति ने कहा—एक न एक दिन गौड़ का तख़्त पाल-ख़ानदान के हाथ से जाने को ही है। जयपालदेव का सलतनत से ग़ाफ़िल रहना ही इसका ख़ास सबब है।

राजा ने कहा—सेनापति ! गौड़ की चिन्ता छोड़ो। अब वह उपाय करो जिससे महास्थान का गौरव बचा रहे।

सेनापति ने कहा—इस वक़्त तो सबसे पहला काम दुश्मन की फ़ौज की चाल-ढाल पर तेज़ नज़र रखना है। दूसरा काम है ख़ज़ाने में काफ़ी रुपया जमा करना और तीसरा काम है बड़ी सी फ़ौज तैयार करना। पहले और तीसरे काम का इन्तज़ाम मैं करूँगा और रुपया जमा करने की फ़िक्र वज़ीर साहब करें।

मन्त्री ने कहा—सेनापति ! इसकी चिन्ता न करो। राज्य के ख़ज़ाने में अटूट सम्पदा भरी पड़ी है।

"तब तो फ़तह है। सुनिए वज़ीर साहब ! इस राज्य के सभी आदमी रुपये के गुलाम हैं—अफ़सोस की बात है कि नमकहलाल इन्सान यहाँ नाम लेने को भी नहीं। फिर ये लोग रुपये की जूती लगते ही धोखा देने को भी तैयार रहते हैं।"

राजा ने वज्र-गम्भीर स्वर में कहा—मुराद ! मेरी आज्ञा सुनो। विश्वासघात करनेवालों को कल सबेरे हाथी के पैर-तले कुचलवा देना।

"जो हुक्म।"

महाराज परशुराम ने थोड़ी देर ठहर कर रुद्ररोष के साथ कहा—और, कल खुले दरबार में क़ैदी-सन्तरियों का मुक़द्दमा सुनकर उनके लिए मैं स्वयं दण्डाज्ञा दूँगा।

सेनापति ने कहा—महाराज ! एक औरत भी हाजत में है।

राजा ने क्रोध को दबाकर कहा—हाँ, विश्वासघातिनी मतिया है। उसकी व्यवस्था राजकुमारी शीला करेगी।

"बहुत अच्छा।"

राजा ने हृदय की व्यथा को मन में ही छिपा कर पूछा—गुप्तरूप से शत्रु-सेना की गति-विधि पर लक्ष्य देने के लिए किसे तैनात करते हो सेनापति ?

सेनापति ने उत्तर दिया—अपने प्यारे शागिर्द दिलवरख़ाँ को इस काम पर तैनात करके भेजने का इरादा है।

"जिस पर तुम्हें विश्वास हो उसी को भेजो।" यह कह कर महाराज परशुराम ने मन्त्री को लक्ष्य करके कहा—अच्छा तो आज का काम हो गया। क्योंजी मन्त्री, इस विषय में तुमको तो कुछ पूछना नहीं है ?

मन्त्री ने कहा—आज कुछ पूछने को नहीं है। आवश्यकता होने पर मैं पूछ लूँगा।

राजा ने कहा—मन्त्री, सीधा-सादा पाकर चिह्नन ने तुमको ख़ूब पीसा है। पुण्डरीक ! राजकाज बड़ा जटिल होता है। ख़ूब चौकन्ने रह कर काम करना।

मन्त्री पुण्डरीक ने माथा झुका लिया। राजा खड़े हो गये। कोर्निश करके सेनापति विदा हुए। अकेले मन्त्री पुण्डरीक वहाँ पर किसी के लिए ठहरे रहे

[१७]

न्याय।

आज विश्वासघातक सन्तरियों का मुक़द्दमा सुना जायगा। इसलिए सबेरे से ही राजसभा में लोगों का जमाव हो गया है। राजसभा के कार्यनिर्वाहकों को आज बहुत काम है। चारों ओर कोई किसी को पुकारता है और कोई किसी को आज्ञा देता है। राजकर्मचारी बड़ी सावधानी से इस समय पर्यवेक्षण कर रहे हैं। ठीक समय पर महाराज परशुराम राजसभा में पधारे। मन्त्री, सेनापति और अन्यान्य सभासद् अपने अपने निर्दिष्ट आसन पर बैठ गये। राजा ने वज्र-गम्भीर स्वर में आज्ञा दी—क़ैदियों को हाज़िर करो।

मन्त्री ने हाथ जोड़ कर कहा—महाराज ! मुझे कुछ निवेदन करना है।

राजा ने कहा—पीछे सुन लिया जायगा। पहले मुक़दमे का फ़ैसला होने दो।

खड़े होकर सेनापति ने कहा—महाराज ! मुझे भी सरकार से कुछ अर्ज़ करनी है।

राजा ने क्रोध के साथ कहा—तुम और क्या कहोगे?

"महाराज ! आप मुंसिफ़-मिज़ाज़ हैं। दूध और पानी को अलग अलग कर देते हैं।"

"सेनापति ! वृथा बात-चीत में मेरा समय नष्ट मत करो। क़ैदियों को हाज़िर करो।"

थोड़ी देर में हथकड़ी-बेड़ियों से जकड़े हुए रामराजा और अन्यान्य क़ैदियों को लेकर कोतवाल हाज़िर हुआ।

राजा ने सेनापति से पूछा—कारागार में बन्दी चिह्नन की कोठरी पर पहरा देने का भार तुमने किस सैनिक को सौंपा था ?

सेनापति मुराद ने खड़े होकर हाथ जोड़ कर उत्तर दिया—अपने भरोसे के सिपाही रामराजा को। लेकिन रामराजा का कोई क़ुसूर नहीं।

"अपराध प्रमाणित होने के पहले तुमको कैसे मालूम हो गया कि रामराजा निर्दोष है ?"

"हुज़ूर गुस्ताख़ी माफ़ करें। रामराजा के चेहरे पर दग़ाबाज़ी की कोई अलामत मुझे नज़र नहीं आती।"

"तुमको भ्रम हो सकता है। चिह्नन ने मुझे काफ़ी

सबक़ पढ़ा दिया है। मुराद ! यदि यह बात न होती तो मुझे इस बुढ़ापे में पत्नी-शोक से व्याकुल न होना पड़ता। रामराजा वीर है—रामराजा सैनिक है, उसने सैनिक-व्रत को खण्डित कर दिया है। उसी की लापरवाही से बन्दी कारागार से भागने में समर्थ हुआ है। इसलिए सारी ज़िम्मेदारी रामराजा की है।"

राजा ने बन्दियों की ओर देख कर कहा—क़ैदियो ! तुमने अपना अपराध समझ लिया है न ?

रामराजा ने उत्तर दिया—नहीं महाराज !

राजा ने उग्र स्वर में कहा—अच्छा सुनो। रामराजा ! तुमने और तुम्हारे साथियों ने मिल कर राजद्रोही चिह्लन को निकल भागने के लिए रास्ता साफ़ कर दिया था।

रामराजा की आँखों में आँसू भर आये। वह गद्गद कण्ठ होकर कहने लगा—महाराज ! न्याय की ओर धर्माधिकरण की दृष्टि से मैं सर्वथा अपराधी हूँ। किन्तु धर्म साक्षी है और विधाता जानते हैं कि मेरे मन में पाप है या नहीं। महाराज ! आपने अब तक मुझ पर पुत्र का सा स्नेह रक्खा और मेरा पालन किया है। आपने स्वयं अपने हाथ से मुझे अस्त्रशिक्षा दी है। उस नाते से मुझे एक बात कहनी है। मैं जानता हूँ कि इस ढङ्ग के अपराध में सबसे बढ़ कर दण्ड प्राणदण्ड है। आप राजा, प्रतिपालक और मेरे अस्त्रगुरु हैं; आपकी आज्ञा से यदि मेरा सिर धड़ से जुदा किया जाय तो इसका मुझे रत्ती भर भी दुःख नहीं। महाराज ! मैंने अपने तुच्छ जीवन को बहुत दिनों से आपकी ही सेवा में अर्पित कर दिया है। मेरा एकनिष्ठ हृदय मुझे सान्त्वना दे रहा है। किन्तु मुझे एक ही बात का कलक रह गया कि मैं बदनामी का टीका माथे में लगवा कर इस संसार से बिदा हो रहा हूँ।

राजा ने कुछ उतावलेपन से कहा—हाँ, प्रीति-विश्वास और स्नेह का तुम लोगों ने मुझे भरपूर बदला दे दिया। तुम्हारी आँखों के आँसू अब मुझे धोखे में नहीं डाल सकते।

आँसुओं से रुँधे हुए गले से रामराजा ने कहा—महाराज ! मैं जीवन की भीख नहीं माँगता। मेरा अपराध है तो मुझे इसकी भरपूर सज़ा मिलनी चाहिए। किन्तु मेरे अपराध के कारण इतने निरपराध व्यक्तियों की जान न ली जानी चाहिए। मुझे जो भी दण्ड दिया जाय उसे सहने को मैं प्रस्तुत हूँ। लेकिन ये लोग छोड़ दिये जायँ।

सेनापति ने कहा—महाराज ! इस धर्माधिकरण में—महाराज की मेहरबानी के राज में माफ़ी को भी जगह है। माफ़ कीजिए सरकार ! नाचीज़ चींटी को पीस डालने से सल्तनत का भला थोड़े हुआ जाता है।

राजा ने उदासी के स्वर में कहा—तो बतलाओ सेनापति, चिह्लन को किसने निकल जाने दिया ?

"महाराज ! 'वक़्त' ने उसका रास्ता साफ़ कर दिया है। वक़्त आते ही वह अपने आप जाल में फँस जायगा। बे-कुसूर नमकहलाल रियाया के ख़ून का दाग़ महास्थान की गद्दी में न लगने दिया जाय।"

"सेनापति ! मैं बुड्ढा हूँ। मेरी दृष्टि उतनी पैनी नहीं है। मेरा परमशत्रु मेरे ही अन्न से परिपुष्ट हो रहा है। और अचरज है कि इतने दिन तक मेरी समझ में यह बात नहीं आई। महास्थान का प्रधान अमात्य एक सरल-हृदय ब्राह्मण है।—सेनापति ! गढ़ को क्यों तुम शत्रुओं से ख़ाली नहीं कर सकते ? विद्रोहियों को हाथी के पैरों से नहीं कुचलवा सकते ?"

"महाराज ! माफ़ करें। आख़िर साज़िश करनेवाले लोग मेरी आँखों में कितने दिन तक धूल झोंकते रहेंगे ? अब उनका वक़्त पूरा होने को है।"

सेनापति की युक्तिपूर्ण बातों से आश्वस्त होकर राजा ने कहा—अच्छा सेनापति ! अब तुम चिह्लन का पता लगवाओ। चारों ओर जासूसों को भेजो। क्योंकि विषधर साँप का कोई भरोसा नहीं।

सेनापति ने कहा—महाराज ! मैं आपके हुक्म से पहले ही होशियार जासूसों को रवाना कर चुका हूँ। बहुत जल्द उस बेईमान को माकूल सज़ा देने की तजवीज़ की जायगी।

राजा ने रुके हुए क्रोध के आवेश में कहा—माधव-पाल पर मुझे विशेष रूप से विश्वास था। मैंने उसे सामन्तश्रेष्ठ का गौरवमय आसन प्रदान किया था। किन्तु अब बुढ़ापे में वह भी विश्वासघात करने को तैयार हुआ है।

"राजा माधव के लिए सज़ा का मैंने इन्तज़ाम कर लिया है।"

"इनके सम्बन्ध में तुम्हें क्या कहना है?"

"बेकुसूर सन्तरियों को महाराज छोड़ दें।"

"तो रामराजा को तुम लोग निर्दोष समझते हो?"

"हाँ महाराज!"

"अच्छा, तुम लोगों की सिफ़ारिश से मैं क़ैदियों को प्राणभिक्षा देता हूँ। किन्तु याद रक्खो रामराजा! जब तक तुम अपनी करनी से मेरे मन में विश्वास उत्पन्न नहीं कर देते तब तक तुम लोगों के प्रति वह पुराना अटल विश्वास नरसिंह के मन में दुबारा स्थान नहीं पा सकता।"

रामराजा की आँखों में आँसू भर आये। उसने कहा—महाराज! मेरे लिए प्राणदण्ड की आज्ञा हो।

"क्यों?"

"महाराज! मैं अविश्वस्त जीवन लेकर क्या करूँगा? मेरे लिए तो मृत्यु ही परम दण्ड है। महाराज! मुझे दण्ड मिलना चाहिए।"

"सैनिक! तुम्हारे लिए यही सबसे बढ़कर दण्ड है। दैव के शाप की भाँति मेरे अविश्वास को सहन करो,—अनुशोचना के सैकड़ों बिच्छू तुम्हारे हृदय में दिन-रात डङ्क मारते रहें।"

रामराजा ने रोवासे स्वर में उत्तर दिया—"प्रभो, पिता! मुझे दण्ड दीजिए—मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दीजिए। ऐसे दण्ड की अपेक्षा मेरे लिए तो मृत्यु ही उत्तम है।" दुःख के मारे रामराजा रोने लगा।

सेनापति ने बन्दियों की हथकड़ी-बेड़ी कटवा कर कहा—भाई, मौत के लिए ऐसी जल्दी क्या है? सिपाही की ज़िन्दगी और मौत एक ही चीज़ है। नमकहलाल रामराजा! क्या तुम समझ नहीं सकते कि इस मामले में ख़ुद महाराज को कैसी तकलीफ़ हो रही है?

राजा ने व्यथित स्वर में कहा—रामराजा! तुमने मेरे दिल में जैसा दर्द पहुँचाया है वैसा दर्द इससे पहले मुझे कभी नहीं हुआ। तुमने नरसिंह के नाम को बदनाम किया है—शिक्षा को व्यर्थ कर दिया है।

रामराजा ने महाराज के चरणों की रज माथे से लगा ली।

राजा ने कहा—महास्थान की एकनिष्ठ सन्तान! तुम्हारे रहते हुए आज महास्थान की यह दशा क्यों है? महास्थान में अमङ्गल की वर्षा सी क्यों हो रही है? बेटे! प्राणपण से फिर इस राज्य में शान्ति की प्रतिष्ठा करो। उस शान्ति को देख कर यह जरा-जीर्ण बूढ़ा मृत्यु की शरण में जावे।

रामराजा ने कहा—महाराज! महास्थान के लिए मैं अपने कलङ्कदूषित प्राणों की रक्षा करता हूँ—हृदय में सैकड़ों घाव लगे रहने पर भी कर्मक्षेत्र में पैर रखता हूँ। किन्तु प्रभो! जो अमूल्य रत्न आज मेरे हाथ से खो गया है वह क्या सौ बार मरने पर भी मुझे दुबारा मिल सकेगा?

राजा ने सहानुभूति के स्वर में उत्तर दिया—राम! दुःख मत करो। मैंने कठोर कर्त्तव्य के अनुरोध से पुत्र-स्नेह का विसर्जन किया है।

"महाराज! उसके लिए मैं दुःखित नहीं हूँ। मेरे लिए तो यह अलङ्घनीय विधाता की लिपि है। यदि ऐसा न होता तो क़ैदी को विश्वासघातकों के सिपुर्द करके मैं विश्राम करने क्यों चला जाता? पापी चिह्लन भाग ही कैसे जाता? चिह्लन मुझे ऐसा सबक़ दे गया है जिसे मैं भूल नहीं सकता। यदि कभी अवसर हाथ लगा तो उसके हृदय-शोणित से इस अपमान का बदला लूँगा।"

राजा ने मन्त्री से कहा—मन्त्री, विश्वासघातिनी मतिया के लिए क्या विचार किया है?

मन्त्री ने कहा—महाराज! स्त्री-हत्या करने की आवश्यकता नहीं। उसके पाप-दूषित जीवन का अन्त कारागार में ही होने दीजिए।

राजा ने कहा—अच्छी बात है। सेनापति, मन्त्रणा-भवन में चलो। गौड़ से गुप्तचर लौट आया है।

सभा विसर्जित हुई। मन्त्री और सेनापति के साथ राजा मन्त्रणाभवन में गये।

[क्रमशः

———

मेरी दक्षिण-यात्रा ।

(१) सम्मेलन का विशेष अधिवेशन ।

काकिनाडा में कांग्रेस के साथ ही साथ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का विशेष अधिवेशन होनेवाला था। यह एक विशेष आकर्षण था। साथ ही पहले से सलाह हो चुकी थी कि हिन्दी-प्रचार की वास्तविक अवस्था देखने और भरसक उसे बढ़ाने के लिए चारों द्रविड़-प्रान्तों में भ्रमण करना आवश्यक है। एक पन्थ और कई काज लेकर यात्रा की तैयारी की।

भारत के दक्षिण-प्रान्तों की यह मेरी पहली यात्रा थी। मित्रों से मालूम हुआ कि वहाँ जाड़ा पड़ता ही नहीं। इसलिए वहाँ के विचार से तो नहीं, पर जब तक उस सदाबहार प्रान्त में न पहुँचूँ तब तक के लिए कुछ सामान अधिक ओढ़ने का, और मामूली यात्रा की सामग्री लेकर अगहन सुदी अष्टमी शनिवार को सवेरे की गाड़ी से काशी छोड़ी। उस दिन प्रयाग में श्रीटंडनजी के यहाँ ठहर गया। कार्य्यालय से कुछ काग़ज़-पत्र लेना ज़रूरी था। श्रीसाधुचरणप्रसादरचित "भारतभ्रमण" का पाँचवाँ खण्ड, कैनवस (किरमिच) का एक डोल और डोरी और कुछ भेट में मिली पुस्तकें प्रयाग में भी अपने सामान के साथ रख लीं। मङ्गल के दिन सवेरे वहाँ से डाकगाड़ी-द्वारा रवाना होकर बुध को सवेरे मनमाड़ पहुँचा। मनमाड़ से गाड़ी बदल कर पूर्व-दक्षिण की दिशा में हैदराबाद बीच में देकर बेजवाड़े जाना पड़ा, क्योंकि उन दिनों एक भयानक तूफ़ान के कारण पुरी से विशाखपत्तन के आगे तक रेल की सड़कें बह गई थीं और उधर की आवाजाही बन्द थी। मनमाड़ को ही उत्तर-प्रान्त का अन्त और दक्षिण का आरम्भ समझना चाहिए, क्योंकि अगहन के अन्त में भी यहाँ सरदी न थी। गुलाबी जाड़ा कह सकते थे। स्टेशन पर कुछ मरहठी मिली हुई हिन्दी सुनने में आती थी। पर साधारणतया स्टेशन की भाषा हिन्दी ही थी। कुली "ज़" और पुलीस हिन्दी-भाषी थे। यहाँ से ही हैदराबाद फ़र्खुन्दा बुनियाद की "ख़ुफ़िया" पुलीस यात्रियों के, और विशेष करके खद्दरधारियों के, नाम-धाम "अलानिया" पूछती फिरती थी। मुज़फ़्फ़रपुर के मौलवी मुहम्मदशफ़ी साहब दाऊदी [एम० एल० ए०] का साथ छिउकी से ही हो गया था। इनसे किसी ख़ुफ़िया ने अलानिया सवाल किये। मौलाना को निहायत नागवार गुज़रा! ख़ूब ख़बर ली। फिर मनमाड़ पर मुझसे किसी पुलीस ने कुछ न पूछा। हाँ, दो-एक रेल में भी साथ हो लिये।

बीच में हम लोग औरङ्गाबाद उतरे। औरङ्गज़ेब का बसाया यह एक पुराना शहर है। इमारतें मुग़लिया, मक़बरे कई अच्छे हैं। यहाँ की भाषा हैदराबादी हिन्दी है। हमने रवानगी के साथ ही मन में प्रतिज्ञा कर ली थी कि कन्याकुमारी तक भरसक हिन्दी ही बोलूँगा। यहाँ की तो कोई बात ही न थी, यद्यपि औरङ्गाबाद हिन्दुस्तान में नहीं गिना जाता, दक्खिन के शहरों में शुमार होता है। यहाँ जो हिन्दी बोली जाती है उसे दक्खिनी हिन्दी कहना उचित होगा। एक मसजिद

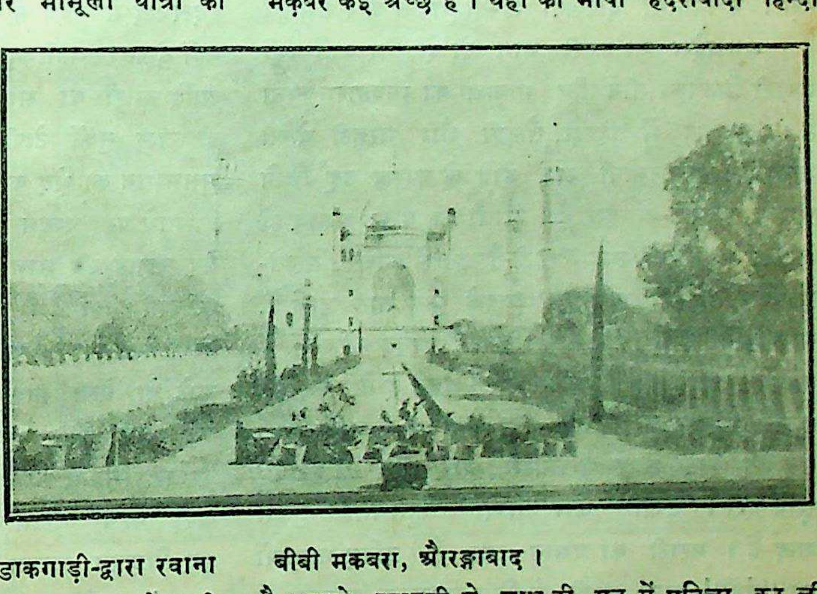

बीबी मकबरा, औरङ्गाबाद ।

देखने गया। वहाँ एक हौज़ के किनारे टीन के कई बरतन ज़ंजीर से बँधे हुए थे। तालाब और उन बरतनों के सम्बन्ध में पूछने पर एक आदमी ने यह उत्तर दिया—

"यहाँ ऐसे ऐसे भोत से हौज़ां थे जो नलां से भरे जाते थे। कई साल से बारिश अच्छी नहीं हुई। हौज़ां सूख गये। पर यह हौज़ बराबर भरा जाता है। इन चम्बुआं में ज़ंजीरां इसलिए लगे हैं कि कोई उन्हें उठा न ले जाये।"

"आं" लगाकर बहुवचन बनाना दक्खिनी हिन्दी की विशेषता है। "चम्बू" द्रविड़-भाषाओं में लोटे को कहते हैं। निज़ाम के अधीन किसी समय बरार ही नहीं था, जिसके लिए आज उनका दावा है। नेलूर, कड़पा, अनन्तपुर और बिलारी, ये चार बड़े बड़े मदरासी ज़िले भी उन्हीं के दिये हुए मदरास के अहाते में शामिल हैं। ये सब आन्ध्रदेश के ज़िले हैं, परन्तु आज भी इन ज़िलों के निवासी दक्खिनी हिन्दी बोलते और समझते हैं। आन्ध्रदेश का उत्तरी भाग दो दो और कहीं कहीं मरहठी मिलाकर तीन तीन भाषाओं का व्यवहार करता है। हैदराबाद में हिन्दी, तैलङ्गी और मरहठी बोली जाती है। मुसलमानी राज होने के कारण उर्दू-लिपि और शैली का व्यवहार है। नागरी का प्रायः अभाव ही है। ठेठ हिन्दी के शब्द मरहठी-तैलङ्गी से अधिक मिलते-जुलते हैं। कुली कहता है, "आपके कुल सात डाक हैं, सात आने लूँगा।" जब "डाक" अदद को कहते हैं तब पोस्टआफ़िस को डाकख़ाना न कहते होंगे, यह मैंने तुरन्त अनुमान कर लिया। मेरा अनुमान ठीक निकला। मैंने हैदराबाद शहर में ब्रिटिश और शाही दो "टप्पे" ख़ाने देखे। "टप्पा" और "तप्पा" बहुत मिलते-जुलते शब्द हैं। मराठी का प्रभाव स्पष्ट है। द्रविड़-भाषाओं का "बंडी" शब्द गाड़ी के लिए साधारण व्यवहार में आता है। हैदराबाद में आदरार्थक बहुवचन का अयुक्त प्रयोग वहाँ की हिन्दी की विशेषता है। "राम ने रावण को मारा" हमारे निकट कितना ही शुद्ध हो, पर हैदराबाद के बड़े बड़े शिक्षित और शायर भी, जिन्हे "ज़ुबान का अज़हद ख़याल रहता है", राम ने रावण को मारे कहना ही शुद्ध समझेंगे, क्योंकि हम बिना हर हालत में क्रिया को बहुवचन बनाये राम का काफ़ी सम्मान नहीं कर सकते। "आपने अभी कहे हैं कि हम श्रीरामजी का आदर करते हैं, पर आपने बहुवचन का प्रयोग भी तो नहीं किये!' इस प्रकार का उपालम्भ शिष्ट-जनानुमोदित स्थानीय व्याकरण से सर्वथा शुद्ध भाषा में अभिव्यक्त समझा जाता है। पर इस आलोचना से पाठक यह न समझें कि हैदराबादी हिन्दी ही अशुद्ध है। साढ़े तेरह करोड़ प्राणी और आधे दरजन प्रान्त जिस भाषा को अपनाते हैं उस पर अपनी अपनी छाप देने का हर प्रान्त को अधिकार है। बिहारी हिन्दी, दक्खिनी हिन्दी, राजस्थानी हिन्दी, पञ्जाबी हिन्दी आदि के रूपों में विशेषता न हुई तो जीती-जागती भाषा कहलाने का हिन्दी को अधिकार ही क्या है!

जहाँ हैदराबाद की भाषा पर हमने विचार किया है, वहाँ भूषा पर भी बिना कहे नहीं रह सकते। हैदराबाद में बच्चे से बूढ़े तक किसी को कहीं नङ्गे बदन नहीं देखा। वहाँ का पहरावा अधिकांश लखनऊ-दिल्ली आदि नगरों का सा है, परन्तु हिन्दू-मुसलमान दोनों ही लाल तुर्की टोपी देते हैं। इससे भूषा से हिन्दू-मुसलमान का भेद करना असम्भव है। धोती है, कमीज़ है, माथे पर चन्दन है और सिर पर तुर्की लाल टोपी! यह अल्लाह की शान और भगवान् की अघटित घटना पटीयसी माया है। हिन्दू-मुसलिम-एकता मूर्त्तिमती है। दोनों जातियों के झगड़े भी बहुत कम सुने जाते हैं। मुझे तो ऐसा मालूम हुआ कि हिन्दू-मुसलमान छोटे बड़े भाषा और भूषा दोनों में प्रायः समान हैं और परस्पर शिष्टता का व्यवहार करते हैं। "बंडी" वाला कपड़े पहने भलामानस दीखता है और गाड़ी दौड़ाते हुए चिल्लाता चलता है "हटिए, बच जाइए, बग़ल हो जाइए", चाहे वह हटने-बचनेवाली घसियारिन ही क्यों न हो। अपने प्रान्त के "हटो औरात!" की याद आई तो मैंने सोचा कि अभी हमारे प्रान्त के हाँकनेवालों को हैदराबाद के एक्केवानों से ज़रूर बहुत सीखना है। वहाँ की गाड़ियाँ साफ़ और जानवर अच्छे हैं। यहाँ के इक्कों की जगह अच्छे ताँगे हैं या बन्द घेरेदार गाड़ियाँ।

औरङ्गाबाद और हैदराबाद की सैर कुछ ही घण्टों की थी। हैदराबाद से बेजवाडे पहुँचे और वहाँ से सामलकोट। इस यात्रा में हमारे साथ कांग्रेस के अनेक सहयात्री बैठ गये थे, जो उसी देश के थे। कई नवयुवक कालेजों के विद्यार्थी भी थे। मैं हिन्दी बोलता था और वे तैलङ्गी। एक-दूसरे की बात समझने में बड़ी कठिनाई थी। उन्होंने समझा कि मैं अँगरेज़ी नहीं जानता, क्योंकि उनके अँगरेज़ी के सम्बन्ध में पूछने पर मैंने हिन्दी में ही उत्तर दिया। मेरा उत्तर न समझने के कारण उन्होंने ठीक पता न पाया और बराबर हम लोग इशारों से और अपनी अपनी भाषा से काम लेते रहे। उनकी संस्कृत-संयुक्त तैलङ्गी में कुछ समझ लेता था। मेरी संस्कृत-मिश्रित हिन्दी वे कुछ समझते ही थे। सामलकोट पर उनमें से कई सज्जन उतरे और सफ़ेद सफ़ेद बड़े बड़े बड़ लाये, जो दही या खटाई में भीगे तो न थे पर फूले फूले थे। मुझसे कुछ पूछा जिसका अर्थ मैंने समझा कि पूछते हैं कि "इटली" खाइएगा। मुझे श्रीवियोगी हरिजी की बतलाई "इटली" की बात याद आई। शुद्ध शब्द "इड्ली" है और यात्रियों के लिए यह बड़े महत्त्व का शब्द है, क्योंकि दक्षिण में स्टेशनों पर पूरी-मिठाई नहीं मिलती। मैंने "इटली" को चटनी के सहारे चट करने का अभ्यास सामलकोट से ही आरम्भ किया, पर देखता हूँ कि वह योरप के नक़्शे पर अब तक बना हुआ है।

घर से सोचकर चला था कि भारत के अँगरेज़ी नक़्शे में जिस दक्षिण प्रान्तीय नगरी का नाम Cocanada अर्थात् "कोकनद" लिखा हुआ है वहीं जा रहा हूँ। इधर हिन्दी के पत्रों ने भी "कोकनद" का ही समर्थन किया था। जान पड़ता है कि रोमन अक्षरों से नागराक्षरों में अपने देशी शब्द को बदलने में जो भूल हमने की थी, वही सबने की थी। ज्यों ज्यों हम आन्ध्रदेश में घुसते थे, हमें वहाँ के नामों के प्रति अपनी भूलों का पता लगता जाता था। "बेजवाडा" शब्द वस्तुतः विजयवाडा है। "तंजौर" कोई शब्द नहीं है। तंजा-ओर [तंजापुर=शरणपुर] ठीक उच्चारण है। नक़्शे में अँगरेज़ी

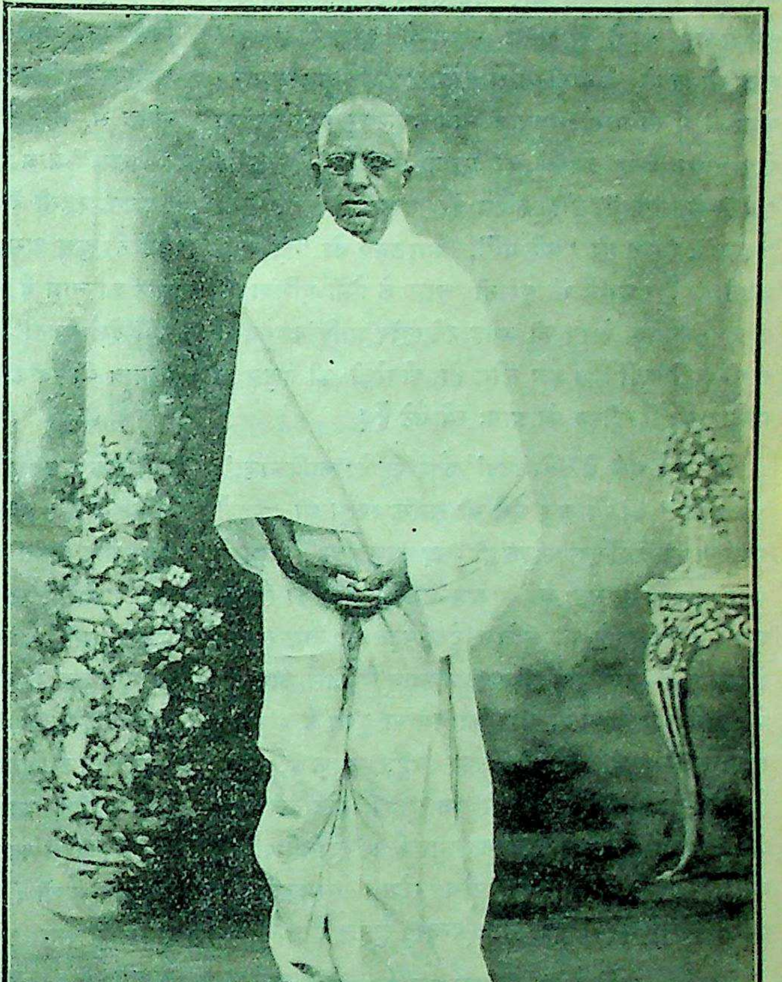

स्वागत-समिति के अध्यक्ष श्रीनागेश्वरराव।

अक्षरों में Ramnad है, जिसे हम राम-नद समझते थे। शब्द "राम-नाड़" है, जो राम-नगर से तामिल हो गया है। नगर शब्द का प्राकृत रूप नअर होता है, नअर से नार और नार से नाड़ और नाड सहज ही बन जाता है। इस प्रकार नक़्शे में अनेक नगरों के अन्त में "नाड़" शब्द को अपने अनाड़ीपन से हमने "नद" समझा था। अँगरेज़ी में तो पराई भाषा के नाम बदलकर अपनी भाषा के प्रचलित शब्द लिखने की पुरानी प्रथा है। इराक़ को "मेसोपोटामिया", डोइट्शलैंड को "जर्म्मनी", रूस को "रशा", ईरान को "पर्शिया", भारतवर्ष को "इंडिया" कहते ही हैं। हममें भी पुरानी चाल के प्रेमी एशिया की जगह जम्बूद्वीप, योरप की जगह श्वेतद्वीप आदि कहनेवाले अभी कहीं कहीं हैं। हम लोग तो अँगरेज़ी की नक़ल के पीछे अपने हिन्दीपन को प्रायः खो बैठे हैं!

निदान चले थे "कोकनद" और पहुँचे "काकिनाडा" "कोकनद" का तो कुछ अर्थ भी समझ रक्खा था। पहले पहल काकिनाडा एक अद्भुत ही शब्द जान पड़ा। पूछने से पता लगा कि वस्तुतः यह "काक-नगर" शब्द का तैलङ्गी रूप है। यहाँ कौए भी अधिक देख पड़ते तो नाम सार्थक हो जाता। कहते हैं कि कृष्ण भगवान् ने जिस कागासुर को मारा था, यह नगर उसी का बसाया हुआ है। परन्तु प्रायः सारी बस्ती नई है। शहर बहुत साफ़ है, सुन्दर है। डेढ़-दो हाथ धरती के नीचे जल है। गोदावरी ज़िले के उत्तरी भाग का यह प्रधान नगर है। म्युनिसिपलिटी का प्रबन्ध सराहनीय है। टौन स्टेशन सामलकोट से पहला स्टेशन पड़ता है। पोर्ट (बन्दर) दूसरा है।

स्वागत के लिए आगत एक प्रचारक तो बेजवाड़े पर ही मिले थे। काकिनाडा टौन स्टेशन पर तो स्वागत-मन्त्री दल-बल से मौजूद थे। गांधीनगर में सम्मेलन के लिए विशेष स्थान नियुक्त थे। उन्हीं में से एक कुटी में मैं ठहराया गया। सम्मेलन के स्वेच्छासेवक आन्ध्रदेशीय होते हुए भी हिन्दीभाषी थे। जैसे कांग्रेस ने सम्मेलन के प्रतिनिधियों को ठहराने के लिए स्थान दिया था, उसी तरह सम्मेलन ने भी कांग्रेस को हिन्दी जाननेवाले अनेक स्वेच्छासेवक दिये थे। इतने पर भी जगह जगह इस बात की सूचना मिलती थी कि हम आन्ध्रदेश में आये हैं। ऐसे आदमी हज़ारों थे जिनसे इशारों के ही सहारे बातचीत हो सकती थी। गांधी-नगर में उस समय भीड़ बढ़ने लगी थी। बस्ती बहुत सुन्दर बनी थी। संयुक्त-प्रान्त को "कोसल" प्रान्त लिखा गया था। यह मुझे विशेषकर बहुत पसन्द आया। "अवध" की सीमा आज-कल जितनी मानी जाती है, न तो वही प्राचीन सीमा से मिलती हुई है और न आधुनिक संयुक्त-प्रान्त "कोसल"-मात्र है। समय समय पर प्रान्तों की सीमा बदलती रहती है। आज यदि हम संयुक्त-प्रान्त को कोसल कहें तो कुछ असङ्गत नहीं है, क्योंकि "संयुक्त-प्रान्त" तो कल का नाम है। उसके स्थिर रखने में कोई विशेष सङ्गति नहीं देख पड़ती। हिन्दीभाषियों को आन्ध्रदेशियों के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना चाहिए।

सभापति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी बीमारी के कारण आ नहीं सके। उनका तार ऐसे समय आया कि और कोई उपाय हो न सका। सेठ श्रीजमनालालजी को स्थानापन्न होने और तुरन्त पहुँचने के लिए तार-द्वारा राज़ी किया गया। सौम्य, सरल, उदार सेठजी का वृद्ध परन्तु कार्य्य-पटु, वाग्मी, आन्ध्रपत्रिका के सम्पादक श्रीनागेश्वररावजी स्वागताध्यक्ष ने बड़े समारोह से स्वागत किया। जुलूस के साथ जितनी भीड़ थी और जितना हिन्दी-प्रेम मूर्त्तिमान् था, काकिनाडा जैसे छोटे से शहर के लिए यह थोड़ी बात न थी। कानपुरवाले जुलूस के मुक़ाबले का आन्ध्र-देश में जुलूस का निकलना हिन्दी के लिए थोड़े गौरव की बात न थी। हिन्दीभाषी-प्रान्तों से प्रतिनिधियों की संख्या अत्यन्त थोड़ी आई थी, उँगलियों पर गिनी जा सकती थी। परन्तु आन्ध्रदेशीय प्रतिनिधियों की संख्या विगत दिल्ली के सम्मेलन की संख्या से कम न थी। इस घटना से हिन्दी-भाषियों की उपेक्षा और आन्ध्रदेशियों का बढ़ता हुआ प्रेम स्पष्ट है।

जुलूस अपने लम्बे चक्कर में एक कन्यापाठशाला के सामने ठहरा। हम लोग पाठशाला के भीतर गये। वहाँ अध्यापिकाओं और कन्याओं ने स्वागत किया। हिन्दी के अत्यन्त मनोमोहक गान गाये। मुख्याध्यापिका श्री दुर्गाबाई ने हिन्दी में सभापति के लिए अभिनन्दन पत्र पढ़ा। आन्ध्रदेश के इस नगर में यह हिन्दी पढ़ानेवाली कन्या-

पाठशाला थी और उसकी मुख्याध्यापिका एवं व्यवस्थापिका यह देवी हिन्दी में व्याख्यान देती थीं। यह अनुपम हिन्दी-प्रेम देख कर चित्त आह्लादित हो गया, आँखों में प्रेम के आँसू भर आये। इस विशेष सम्मेलन में हिन्दी के अनेक आदर्श प्रेमी मिले, जिन्हें व्याकरण और मुहाविरे की कठिनाइयों का डर न था, जिनके साहस के आगे विघ्न-बाधायें पस्त थीं, जो अँगरेज़ी बोलनेवालों को टोकते थे और स्वयं हिन्दी बोल कर औरों को उत्साहित करते थे। श्रीनागेश्वररावजी अच्छी हिन्दी बोलते थे। देशभक्त कोंडा वेंकटप्पय्या के हिन्दी के वाक्य घी के लड्डू थे। श्रीरङ्गैया नायडू हठपूर्वक हिन्दी बोलते थे और न बोलनेवालों का तिरस्कार तक करने को तैयार रहते थे। साथ ही शुद्ध भी बोलते थे। अँगरेज़ी में धारा-प्रवाह तो क्या तूफ़ान की तरह वक्तृता बरसानेवाले डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया अपनी टूटीफूटी हिन्दी के चट्टान के चट्टान लुढ़का देते थे। हमारे कोई कोई प्रचारक इनकी भूलों पर कुढ़ते थे। परन्तु मातृभाषा का सौभाग्योदय देखकर मेरे हृदय में आनन्द कैसा तरङ्गित होता था, यह हृदयहीन लोहे की कठोर लेखनी व्यक्त नहीं कर सकती।

सबसे महत्त्व का चौथा प्रस्ताव था कि राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) हिन्दी को अपनी सरकारी और दरबारी भाषा बनावे। इसे उपस्थित करने की गौरवास्पद सेवा

काकिनाडा-साहित्य-सम्मेलन के कार्यकर्ता।

मुझे मिली थी। इसके समर्थन करनेवालों ने इसके महत्त्व को अत्यन्त ऊँचा कर दिया और समर्थन किया हिन्दी के भाषण से। आन्ध्रदेश के देशभक्त कोंडा वेंकटप्पय्या ने और बङ्गाल के आचार्य्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने अपने प्रान्त की छाप से युक्त ऊबड़-खाबड़ परन्तु बड़ी ज़ोरदार भाषा में मेरा अनुमोदन किया। मदरास में हिन्दी-प्रचार का आरम्भ करनेवाले श्रीदेवदास गांधी ने, संयुक्त-प्रान्तीय कमिटी के सभापति श्रीजवाहरलाल नेहरू ने, कांग्रेस के सभापति मौलाना मुहम्मदअली ने, पञ्जाब के डाकृर किचलू और बिहार के डाक्टर महमूद और मदरास के सेठ याकूबहसन ने भी ज़ोरदार वक्तृताओं में समर्थन किया। माता श्रीकस्तूरबाई गांधी ने भी आशीर्वचन कहे। जिस प्रस्ताव के ऐसे ऐसे समर्थक हों उसके पास होने की तो क्या चर्चा है! पर काकिनाडा का सम्मेलन विशेषतः इसी प्रस्ताव के लिए चिरस्मरणीय रहेगा। और भाषाओं के सम्मेलनों में देश के अनेक रत्न सम्मिलित होते हैं, पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों में आम शिकायत यही रही है कि देश के रत्न कम शरीक होते हैं, उन्हें सम्मेलन से कोई आकर्षण नहीं। काकिनाडा के सम्मेलन में यह शिकायत न थी। देश के चुने चुने नेता इसमें सम्मिलित हुए और सबसे बड़े महत्त्व की बात यह हुई कि राष्ट्रीय महासभा ने हिन्दी को अपनी सरकारी भाषा इस घटना के एक सप्ताह पीछे ही मान लिया।

राष्ट्रीय महासभा की विषय-समिति की अन्तिम बैठक की अन्त की घड़ी में, जब महासभा के नियमों में सरकारी भाषा का विषय बढ़ाने का प्रस्ताव उपस्थित होनेवाला था, सब लोग उकता गये थे। सवेरे से बैठे बैठे एक बज गया था। उसी दिन कांग्रेस के अधिवेशनों की समाप्ति थी। जी ऊब जाने से बहुत से सदस्य चले भी गये थे। सभापति महोदय बेहद जल्दी कर रहे थे। मैं डरता था कि ऐसे कुअवसर में हिन्दी का प्रस्ताव यदि रद हुआ तो बड़े रञ्ज की बात होगी। पण्डित जवाहरलाल मुझसे सहमत थे। उन्होंने निश्चय किया कि न पेश हो। परन्तु सम्मेलन के सभापति सेठ जमनालालजी एक ओर से और डाक्टर पट्टाभि दूसरी ओर से राष्ट्रभाषा की स्वीकृति पर तुले बैठे थे। डाक्टर पट्टाभि से मैंने कई बार कहा कि कुसमय है, राष्ट्रभाषावाले प्रश्न को न उठावें। पर वे माननेवाले आसामी न थे। उन्होंने उसे उपस्थित करके ही छोड़ा। प्रश्न के दो भाग थे। एक में तो सभापति के व्याख्यानों की मौलिक भाषा का हिन्दुस्तानी होना था और दूसरे में कांग्रेस की सारी कार्रवाई हिन्दुस्तानी भाषा और फ़ारसी नागरीलिपि में होने की बात थी। पहले अंश पर आपत्ति वहाँ से उठी जहाँ से उठने की कभी कल्पना न थी। स्वयं सभापति महोदय ने हिन्दी-उर्दू के भाषा-भेद का झगड़ा छेड़ा और यह भी चाहते थे कि बहस के बिना ही मेरी आपत्ति मान ली जाय। मैंने दोनों की एकता के जब अनेक प्रमाण पेश किये तब बोले कि यह बहस तो साहित्य-सम्मेलनों में ही होनी चाहिए। सेठ याकूबहसन ने बड़ी माकूल बात कही जब उन्होंने कहा कि जिसे आप हिन्दी कहते हैं उसे फ़ारसी अक्षरों में और जिसे आप उर्दू कहते हैं उसे नागरी अक्षरों में लिखा कीजिए, इससे बड़ी जल्दी यह भेदभाव दूर हो जायगा। सभापति के हठ पर पहला अंश अस्वीकार हुआ और दूसरा अंश स्वीकृत हो गया। कांग्रेस के अन्तिम अधिवेशन में अन्तिम नियम के रूप में राष्ट्रभाषा उभय-लिपि के साथ मंज़ूर हो गई।

सम्मेलन को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में श्रीनागेश्वरराव ने धन से, तन से और मन से बराबर सहायता दी। आज आन्ध्रदेश में हिन्दी-प्रचार का जो काम आर्थिक स्वावलम्बन से चल रहा है उसका अधिकांश श्रेय श्रीनागेश्वररावजी के सतत प्रयत्न को है। देशभक्त कोंडा वेंकटप्पय्या ने भी इसी तरह राष्ट्रभाषा-प्रचार में बराबर उद्योग किया है। परन्तु इस स्थल पर हम हिन्दी के प्रचारकों की सेवा को भूल नहीं सकते। सम्मेलन की नींव है हिन्दी का प्रचार और उसके ख़मीर में श्रीदेवदास गांधी, श्रीसत्यदेव स्वामी, श्रीहरिहर शर्म्मा, श्रीहृषीकेश शर्म्मा, श्रीरामभरोस श्रीवास्तव, श्रीरामानन्द शर्म्मा, श्रीअवधनन्दनजी, श्रीदेवदूतजी इत्यादि का परिश्रम और उत्साह पड़ा हुआ है। ये हमारे प्रचारक हैं।

परन्तु हम बड़ा अन्याय करेंगे यदि हम स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण वाजपेयी का नाम भूल जायँ। महात्मा गांधी की आज्ञा से चार बरस हुए वाजपेयीजी मदरास-

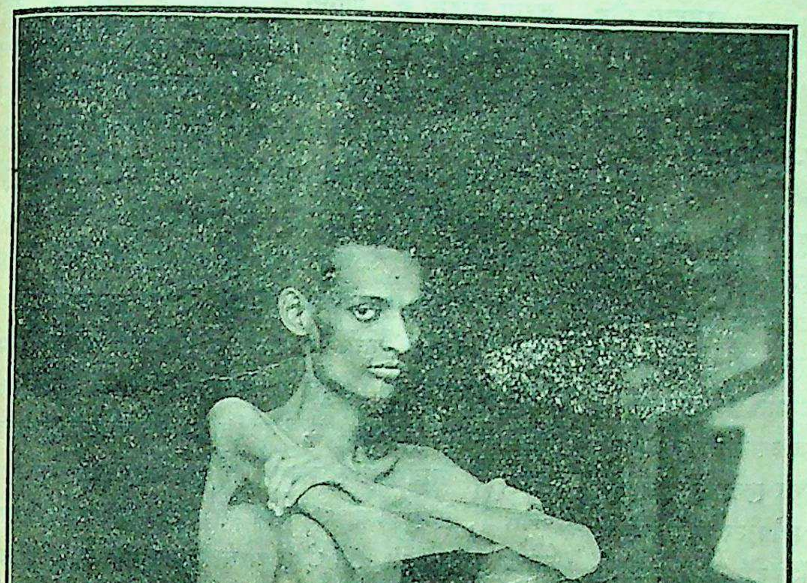

स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण वाजपेयी ।

प्रान्त में हिन्दी-प्रचार के लिए आये। इन्होंने त्रिचनापल्ली को अपना कार्य्य-केन्द्र बनाया था। इनके पढ़ाये आज भी अनेकं विद्यार्थी, वकील, अध्यापक, कारबारी आदि हैं, जो उन्हें श्रद्धा और सम्मान से याद करते हैं। इस महान् आत्मा ने घर-द्वार छोड़ा, जब प्रवास में थे तभी इनकी पत्नी का देहान्त हो गया, इन्होंने देश-सेवा के पीछे मातृहीन छः बरस के बालक की भी परवाह न की। राजद्रोही व्याख्यान के लिए दो बार जेल गये। स्वास्थ्य अच्छा न था। दूसरी बार की यात्रा में क्षयरोग हो गया, परन्तु निष्ठुर सरकार ने मरने के केवल ४२ घण्टे पहले असाध्य देख कर छोड़ा। वाजपेयीजी ने जेल में भी हिन्दी सिखाना जारी रक्खा था। देशभक्त कोंडा वेंकटप्परय्या को भी जेल में इन्हीं ने हिन्दी का अभ्यास कराया था। वाजपेयीजी ने "हिन्दी का हीर" नाम की हिन्दी सिखाने की एक बड़ी अच्छी पोथी लिखी है। इस सत्य-निष्ठ राष्ट्रभाषा-भक्त का मार्गशीर्ष कृष्ण १२ बुधवार के दिन के १ बजकर २० मिनट पर त्रिचनापल्ली में देहावसान हो गया। त्रिचनापल्ली के हिन्दी-भक्तों ने हिन्दी का एक पुस्तकालय इनके स्मरण में इस साल खुलवाया है। तामिल-प्रान्त में मैंने जगह जगह वाजपेयीजी के प्रयत्नों और परिश्रम का फल देखा है।

श्रीहरिहर शर्म्मा मदरास-प्रचार-कार्य्यालय के व्यवस्थापक हैं। इन्होंने केवल छः महीने में सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा पास की। सम्मेलन के मञ्च से शुद्ध हिन्दी में इनका व्याख्यान हिन्दी-प्रेमी कई बार सुन चुके हैं। ये मरहठी, बँगला, गुजराती और तेलुगु आदि अनेक भारतीय भाषायें जानते हैं। हिन्दी-प्रचार के लिए इनके जैसे सच्चे, शुद्ध, कर्त्तव्यपरायण और अनेक भाषाओं के जाननेवाले कम मिलेंगे। इनकी मातृभाषा तामिल है। अँगरेज़ी शिक्षा भी मैट्रिक तक पाई है। विशेष सम्मेलन करने की इन्हीं

के आग्रह पर कानपुर के अधिवेशन में अनुमति मिली थी। मदरास-प्रान्त की यात्रा में प्रायः सर्वत्र यही मेरे साथ रहे और इनसे मुझे हर जगह हर तरह की सहायता मिलती रही।

रामदास गौड़

स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र।

इँग्लेंड में स्त्रियों के ब्यूरो ने एक गणना की थी। उससे सिद्ध होता है कि आज-कल स्त्रियाँ बड़ी तेज़ी से उन व्यवसायों को अपना रही हैं जिन पर अभी तक पुरुषों का ही आधिपत्य था। दस वर्ष पहले यातायात के व्यवसाय में जितनी स्त्रियाँ काम करती थीं, आज उसमें उनका नम्बर दूना हो गया है। दस ही वर्ष के भीतर क्लर्क, स्टेनोग्राफ़र, टाइपिस्ट, पुस्तक-विक्रेता, टेलीफ़ोन ओपरेटर और दाई के व्यवसायों में ५०००० स्त्रियों की वृद्धि हुई है। उपयोगी कलाओं में भी स्त्रियों का प्रवेश हो चला है। महिलायें मशीन चलाती हैं, राजगीरी करती हैं, बढ़ईगीरी सीखती हैं, लोहा ढालती हैं, नल लगाती हैं, गैस जलाती हैं, कुछ स्त्रियों ने हथोड़े चलाने का भी काम सीखा है। पब्लिक सर्विस में भी स्त्रियों ने अच्छा काम किया है। गत दस वर्षों में इनकी संख्या में ६०.७ फ़ी सदी वृद्धि हो गई है। सन् १९१० में डाकख़ाने और काउन्टी एवं फ़ेडरेल विभाग में २७५ स्त्रियाँ थीं, १९२० में इनकी संख्या ६५२ हो गई। ब्यूरो की रिपोर्ट में हवाई-जहाज़ में काम करनेवालों की संख्या ८, आविष्कारकों की ५७, टेकनिकल इंजीनियरों की ४१, इमारत बनानेवालों की १३७, फ़ोरेस्ट रेंजरों की २ और बाग़वानों की २५ दी हुई है। वैज्ञानिकों, पादरियों, ड्राफ़्टस्मैनों, वकीलों, जजों, सामाजिक स्वयंसेवकों, कालेज-प्रोफ़ेसरों और स्वास्थ्य-सुधारकों में स्त्रियों की संख्या पहले की अपेक्षा तिगुनी हो गई है। हाँ, किसानों, दर्ज़ियों और घरेलू नौकरों में स्त्रियाँ कम दिखाई पड़ती हैं। १९१० से १९२० तक इनमें २१·२ फ़ी सदी ह्रास हो गया है।

प्रायः सभी पाश्चात्य देशों में स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। उनमें स्वाधीनता और स्वावलम्बन के भाव प्रबल हो गये हैं। भारतवर्ष में भी स्त्रियों के विचार बदल रहे हैं। समाज में वे उचित स्थान ग्रहण करना चाहती हैं, अपना कर्त्तव्य-पालन करने के साथ साथ उनको अपने पतियों के कर्त्तव्य-पालन में सहायता करने का भी ध्यान है। देश की परिवर्तित परिस्थिति में ये विचार स्वागत करने योग्य हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश अभी तक भारतवर्ष के स्त्री-पुरुषों में यथेष्ट सहानुभूति और सहकारिता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है। कितने ही देश-सेवा में संलग्न रहते हैं, किन्तु जब वे उत्साह और आशा से अपने घर लौटते हैं तब उनकी स्त्रियाँ उनका उत्साह बढ़ाने के स्थान में उनकी आशाओं पर पानी फेर देती हैं। बहुत से आदमी घर के बाहर तो बहुत उत्साह दिखाते हैं, यहाँ तक कि नवीन सुधारक बनने के आवेग में सुधार के दो एक नमूने भी उपस्थित करते हैं, किन्तु जब वे वहाँ से उठते हैं तब अपना सारा सुधारकपन वहीं छोड़ आते हैं, क्योंकि उनकी स्त्रियाँ उनकी बातों को नहीं समझ सकती हैं। क्या देश के लिए यह लज्जा की बात नहीं है? कब तक हम स्त्रियों को सन्तानोत्पत्ति की मशीनमात्र समझते रहेंगे, कब तक वे सोने-चाँदी के गहनों से लदी हुई पत्थर की मूर्ति के समान गूँगी हो कर हमारे साथ रह सकेंगी? वे भी मनुष्य हैं, पुरुषों के समान वे भी जीते-जागते प्राणी हैं, देश के लिए उनकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि पुरुषों की। यदि हम अपने देश, अपनी जाति की भलाई चाहते हैं तो दोनों को मिलकर एक साथ काम करना चाहिए।

स्त्री और पुरुष में सहकारिता का सूत्र विवाह से ही जुड़ता है। इसी लिए सभी समाजों में विवाह सबसे आवश्यक संस्कार माना गया है। भारत में विवाह का प्रश्न अभी उतना जटिल नहीं हुआ है, जितना पाश्चात्य देशों में। पाश्चात्य सभ्यता का प्राण है नवीनता। बात यह है कि जिन देशों में सोने-चाँदी की कमी नहीं है, जहाँ के निवासियों को रात-दिन पेट की ज्वाला नहीं सताया करती, वे लोग, यदि उनके जीवन में कोई नवीनता न हो, दिन प्रति दिन वही प्राचीन चक्कर चला करे तो, बहुत

श्रीमती सरोजिनी नायडू ।

जल्दी ऊब जाते हैं । नवीनता की खोज के लिए वे बाध्य हो जाते हैं । इसी अनिवार्य इच्छा से प्रेरित होकर पश्चिमी देशों में एक से एक अद्भुत वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं । किन्तु यह प्रेरणा केवल वैज्ञानिक क्षेत्र में सीमाबद्ध नहीं रही । पाश्चात्य देशों में मानवीय जीवन के सभी अङ्गों में, क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक और क्या नैतिक, भीषण परिवर्तन हो गया है । यहाँ तक कि समाज में पुरुषों और स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र भी बदल गया है । आधुनिक युग के प्रारम्भ में स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र उनका घर था । घरेलू कामों में पति को उचित परामर्श देना और बाल-बच्चों की सेवा-शुश्रूषा करना ही उनका कर्त्तव्य था । किन्तु आज उस आदर्श में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है । स्त्रियां राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्वत्वों के लिए लड़ रही हैं । उनका उद्देश समाज में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करना है । स्त्री-पुरुषों के पति-पत्नी-सम्बन्ध के दृष्टि-कोण में भी महान् अन्तर हो गया है ।

वैवाहिक सम्बन्ध के विषय में लोगों की बड़ी विचित्र एवं मनोरञ्जक धारणायें हैं । एक साहब कहते हैं कि वैवाहिक जीवन की यह एक विशेषता है कि जिन्होंने कभी उसकी सैर नहीं की है वे तो उसके लिए लालायित रहते हैं, किन्तु जो भुगत चुके हैं वे उससे भागना चाहते हैं । एक दूसरे महाशय का कहना है कि पति-पत्नी की तुलना हम उस कैंची से कर सकते हैं जिसके फलों का मुख सदैव विपरीत दिशाओं में रहता है, किन्तु यदि कोई उनके बीच में पड़ जाता है तो साबित नहीं बचता है । तीसरे महाशय का कहना नीति से भरा हुआ है । वे कहते हैं कि विवाह के पहले हमें अच्छी तरह आंखें खोले रहना चाहिए,

किन्तु विवाह के पीछे आधी आँखें मूँद लेनी चाहिए। चौथे महाशय का कथन और भी महत्त्वपूर्ण है। उनकी राय में विवाह या तो स्वर्ग है या नरक। पाँचवें महाशय की बात हमें सबसे सच्ची मालूम होती है। वे कहते हैं कि नवयुवक समझते हैं कि विवाह से प्रेम का अन्त हो जाता है, किन्तु वास्तव में बात उलटी है। विवाह से प्रेम का विकास होता है।

संक्षेप में, कवि, नाट्यकार, दार्शनिक आदि लोगों ने इस प्राचीनतम एवं सबसे अधिक स्वाभाविक सामाजिक बन्धन पर मनमाने आक्षेप किये हैं। हाल में अमरीका के एक प्रसिद्ध चित्रकार और एक लेखिका ने विवाह की उपयोगिता दिखलाने के लिए एक नवीन प्रयोग किया है। वे दोनों स्वतन्त्ररूप से अपने अपने व्यवसाय में लग गये। वे जानते थे कि रात-दिन एक साथ रहने से घनिष्टता बढ़ जाती है और घनिष्ठता के कारण लोग एक दूसरे की उपेक्षा करने लगते हैं। इसलिए वे एक दूसरे के साथ अधिक समय तक कभी नहीं ठहरते थे। यदि लोग सातों दिन मिलकर भोजन करते हैं तो उनकी उत्सुकता घट जाती है, इसलिए वे सप्ताह में केवल दो दिन साथ साथ भोजन करते थे। वे कहते हैं कि ऐसा करने से आज भी उनके हृदय में एक दूसरे के प्रति उतनी ही उत्सुकता बनी हुई है, जितनी पति-पत्नी को प्रथम मिलन के दिन होती है। वास्तव में यदि समाज के अन्य सदस्य उनका अनुकरण कर सकते तो वे अवश्य उनके इस प्रयोग के लिए चिरऋणी रहते। किन्तु सबके लिए इस प्रकार आराम के साथ रहना हँसी-खेल नहीं है।

इसके अतिरिक्त विवाह केवल एक दूसरे के प्रति आकर्षित करने का साधन नहीं है। समाज उससे बड़ी बड़ी आशायें रखता है। मनुष्य-संख्या में यथेष्ट वृद्धि हो, इसके लिए यह सामाजिक बन्धन निकाला गया है। फ़्रेंच दूरदर्शी और नीति-कुशल होते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक नियम कर दिया है कि जिन दम्पतियों के अधिक सन्तान होंगी उनको सोने-चाँदी के पदक पारितोषिक में दिये जायँगे। किन्तु भिन्न भिन्न जातियों में इस प्रथा का रूप भिन्न भिन्न है। फ़्रेंच लोगों में विवाह एक साधारण घटना है। न तो नवयुवक और न नवयुवतियाँ ही अपने प्रेमपात्रों की खोज करती हैं। वे कहते हैं कि प्रेम अन्धा होता है, वह आँख से नहीं, बरन हृदय से अपने प्रेमपात्र को देखता है। इसलिए यह काम बड़े-बूढ़ों और अनुभवी लोगों को करना चाहिए। उनके यहाँ मा-बाप जिस सम्बन्ध में अपने लड़के-लड़कियों की भलाई समझते हैं उसे ही स्वीकार करते हैं। इसके विरुद्ध अँगरेज़ों की बिलकुल उलटी चाल है। वे बिजली की जैसी तेज़ी के साथ प्रेम करते हैं। आँखें मिलीं, प्रेम हुआ और विवाह किया। जब पति-पत्नी में प्रेम हो, ज्ञान हो, सहकारिता हो, तभी सच्चा विवाह है। यदि ये बातें नहीं हैं तो एक दूसरे को तलाक़ देने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। हाल में तलाक़ के क़ानून में निम्नलिखित परिवर्तन किया जानेवाला था—(१) तीन वर्ष के परित्याग से (२) अत्याचार से (३) पागलपन से (४) लगातार मदिरापान से (५) आजन्म कारावासदण्ड के कारण

श्रीमती मिट्ठन टाटा।

दम्पत्ति को एक दूसरे को तलाक़ देने का अधिकार होना चाहिए। यदि अधिकार नहीं दिया जा सकता है तो विवाह का आदर्श सार्थक नहीं हो सकता, क्योंकि दासता के कारण पति-पत्नी में सच्चे प्रेम का विकास नहीं हो सकता। यह कहाँ तक ठीक है सो सन्दिग्ध है, किन्तु उच्च घरानों की स्त्रियों ने तलाक़ के इस क़ानून का विरोध किया था। अमरीका में तो यह आदर्श और भी ऊँचा बना दिया गया है। यदि किसी भी कारण से पति-पत्नी की न पटे तो वहाँ दोनों को तलाक़ देने का पूर्ण अधिकार है।

पश्चिमी विवाह से पूर्वी विवाह की तुलना कीजिए। चीन में विवाह मनुष्य का सबसे प्रथम धार्मिक कर्त्तव्य माना जाता है। अपनी प्राचीन परम्परा की रक्षा करने के लिए चीनियों में पुत्र का होना बहुत आवश्यक समझा जाता है। यदि पुत्र न हो तो पुत्र गोद लेना पड़ता है क्योंकि बिना पुत्र के मुक्ति नहीं हो सकती। जब तक मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उसकी प्रेतात्मा के लिए यथाविधि क्रिया-कर्म न करे तब तक उसको शान्ति नहीं मिल सकती। चीन के स्मृतिकार कान्फ़ूसियस का कहना है—क्रिया-कर्म के यथाविधि पालन में ही सारी भलाइयों का समावेश होता है। जीवन और मृत्यु शास्त्रीय क्रिया के अनुष्ठान-मात्र हैं। इन क्रिया-कर्मों में विवाह सबसे श्रेष्ठ है। चीनियों के मा-बाप बहुत छोटी उम्र में अपने लड़के-लड़कियों का विवाह कर देते हैं। स्त्री को सदैव अपने पति के अधीन रहना पड़ता है। इतना ही नहीं, वहाँ आजन्म स्त्री को स्वतन्त्रता का आस्वादन करना अनुचित बतलाया गया है। उसको बचपन में अपने पिता के, युवावस्था में पति के और बुढ़ापे में ज्येष्ठ पुत्र के अधीन रहना ही चाहिए। आधुनिक युग की स्त्रियाँ कह सकती हैं—इससे बढ़ कर घृणित और कौन सा जीवन हो सकता है। किन्तु हम देखते हैं कि अधिकांश चीनी स्त्रियाँ कभी अपने भाग्य को नहीं कोसतीं। चीनी परिवार के सञ्चालन का भार या तो गृह-स्वामी की मा पर रहता है या उसकी स्त्री पर। मा की अधिक अवस्था हो जाने पर तो अनिवार्य रूप से घर का भार उसकी स्त्री पर ही आ जाता है।

श्रीमती उमादेवी नेहरू।

(प्रयाग-म्यूनीसिपेल्टी की प्रथम महिला-सदस्य)

इसी प्रकार हिन्दुओं के लिए भी विवाह सर्वश्रेष्ठ धार्मिक कर्त्तव्य है। भारतवर्ष में पति-पत्नी-सम्बन्ध कभी

नहीं टूट सकता । भारतीय स्मृतिकारों ने असाधारण अवस्थाओं में इसके विच्छेद का उल्लेख किया है । किन्तु आज-कल जो आदर्श अधिकांश हिन्दू-रमणियों की नस-नस में समा रहा है वह प्रातःस्मरणीया भगवती सीता का आदर्श है ।

इँग्लेंड में उच्च शिक्षा पानेवाली कुछ कन्यायें ।

मुसलमानों में विवाह एक सामाजिक बन्धन है । क़ानून के द्वारा उसकी शर्तें पूरी कराई जा सकती हैं । यद्यपि इसके लिए कोई धार्मिक विधि-विधान आवश्यक नहीं है तथापि शादी के अवसर पर मुल्ला कुरानशरीफ़ की आयतें पढ़ते हैं । मुसलमान पति को अपनी पत्नी को तलाक़ देने का पूरा पूरा अधिकार होता है । साथ ही पत्नी भी बिलकुल उसके शरण में नहीं होती । विवाह के समय वह पति से चाहे जैसी शर्त करा सकती है । केवल वह शर्त मुस्लिम-धर्म के प्रतिकूल न होनी चाहिए । मुसलमानों में परदे का रवाज बड़ा कठिन है । लड़के-लड़कियों को एक दूसरे को दिखाए बिना ही मा-बाप उनका विवाह कर देते हैं । किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मुसलमान-जीवन में नाटकीय प्रेम के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि मुस्लिम-साहित्य ऐसे प्रेम से भरा हुआ है । भारतीय अथवा ईरानी मुसलमान कवि सभी अपने प्रेमपात्रों की गाथा गाते हैं । इसके अतिरिक्त उनके पास कोई विषय नहीं है । हां, वे अपनी पार्थिव प्रेमपात्री को कभी कभी भगवान् के रूप में भी परिणत कर देते हैं ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि पूर्वी और पश्चिमी स्त्री-आदर्श में महान् अन्तर है । प्राचीन संसार यह मानता रहा है कि पुरुष अपने स्वाभाविक गुणों के कारण स्त्री से उच्च है । किन्तु अब पुरुष की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि पश्चिमी स्त्रियों ने स्वतन्त्रता का वह रस पा लिया है जिसको एक बार प्राप्त करके मनुष्य कभी नहीं छोड़ सकता । इसीलिए स्त्रियाँ मनुष्य-जीवन के प्रत्येक विभाग में भाग लेना चाहती हैं । भाग ही नहीं लेना चाहती हैं, बरन अपने आपको मनुष्य से बढ़ी-चढ़ी हुई दिखा देना चाहती हैं । अब यह प्रश्न

मिस कामलता बनर्जी ।
(मैसूर के वर्तमान प्रधान मन्त्री की कन्या—इन्होंने सङ्गीत-शास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त की है । आज-कल योरप में भ्रमण कर रही हैं ।)

भी नहीं रह गया है कि वे जीवन के कठोर कर्त्तव्यों के पालन में समर्थ होंगी या नहीं, क्योंकि उन्होंने दिखा दिया है कि वे पुरुषों के समान तलवार और बन्दूक़ धारण करके युद्ध-क्षेत्र में जा सकती हैं। इसलिए पुरुषों और स्त्रियों के कार्यों को पृथक् पृथक् करना सर्वथा अप्रासङ्गिक है। परिस्थिति और शिक्षा मनुष्य को चाहे जिस काम के योग्य बना देती हैं। पश्चिमी देशों में जिस प्रकार स्त्रियों ने पुरुषों के समान स्वत्व प्राप्त किये हैं, उससे उपर्युक्त बात स्पष्ट समझ में आ जाती है।

मिस मारगरेट बान्ड फ़ील्ड।
(मज़दूर-दल की ब्रिटिश पार्लियामेंट में महिला-सदस्य)

अमरीका स्वाधीनता की भूमि है। वहाँ की स्त्रियों के आन्दोलन के कारण वहाँ की शासन-व्यवस्था में सूसन बी० एनथोनी के नाम से, जिसने स्त्री-वोटाधिकार के लिए सबसे पहले आन्दोलन उठाया था, निम्न लिखित धारा जोड़ दी गई है—अमरीका के यूनाइटेड स्टेटस् और उसके अन्तर्गत किसी भी प्रदेश में सब नागरिकों को वोट देने का समान अधिकार होगा। स्त्री स्त्री होने के कारण वोटाधिकार से वञ्चित न की जायगी। वैसे तो स्त्रियों को दासता के पाश से मुक्त करने के लिए मिस केरी चेपमेन केट की अध्यक्षता में पचासों वर्ष से आन्दोलन हो रहा था। किन्तु जब १९१३ में योरपीय महायुद्ध छिड़ा और संसार में स्वतन्त्रता, स्वभाग्यनिर्णय आदि सिद्धान्तों की चर्चा ज़ोरों से होने लगी तब वहाँ की राष्ट्रीय वीमेन-पार्टी ने ज़ोर पकड़ा। उसने कहा, जब तक देश में स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं तब तक अमरीका के लिए संसार की स्वतन्त्रता की डींग हाँकना व्यर्थ है। स्त्रियों ने घोर आन्दोलन उठाया। वे प्रेसीडेन्ट के प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों को लिख लिख कर प्रेसीडेन्ट के पास पहुँचीं। उन्होंने सरकारी इमारतों का रास्ता रोक दिया। सीनेट और प्रतिनिधि-सभा में उन्होंने अपनी माँगें ज़ोरदार भाषा में उपस्थित कीं। स्त्री-समस्या पर प्रत्येक सीनेटर एवं प्रतिनिधि की सम्मतियाँ इकट्ठा करके चारों ओर वितरित की गईं। कांग्रेस में मिस जीनेट रेनकिन ने अपनी ज़ोरदार भाषा में उपर्युक्त संशोधन का समर्थन किया। संक्षेप में, स्त्रियों ने अपने राजनैतिक स्वत्वों के लिए सरकार से असहयोग किया। किन्तु उन्होंने इँग्लैंड की मिसेज़ पेंकहर्स्ट के समान सैनिक उपायों का अवलम्बन नहीं किया। हाँ, वे इस बात के लिए तैयार थीं कि यदि उन्हें अपने सिद्धान्तों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए जेल जाना पड़े तो वे अपने को धन्य समझेंगी।

मिस सूसन लारेंस।
(मज़दूर-दल की ब्रिटिश पार्लियामेंट में महिला-सदस्य)

जब जब पाश्चात्य देशों में कोई नूतन आन्दोलन चलाया गया है तब तब लोगों ने उसके नेताओं को सताया है। किन्तु स्त्रियों के इस अप्रतिम उत्साह को कौन रोक सकता था! सीनेटरों की स्त्रियों और लड़कियों ने फ़ैक्टरी की मज़दूरनियों और घर की दासियों से कन्धे से कन्धा मिलाया, हँसी-खुशी से वे उनके साथ जेल गईं। फिर क्या था, जेल जानेवालों का ताँता लग गया। जेल में पहुँच कर उन्होंने अन्न-जल का परित्याग कर दिया। जब सीनेटर और प्रतिनिधि शाम को अपने अपने घर लौटे और उनको सूना पाया तब माथे पर हाथ रख कर सोचने लगे कि ऐसी हठीली स्त्रियों का क्या किया जाय, इनको वोटाधिकार देना ही होगा। जब यह प्रत्यक्ष हो गया कि स्त्रियों को वोटाधिकार देना अनिवार्य है तब राजनीतिज्ञों ने एक और चाल चली। उन्हें रिपब्लिक दलवाले और डेमोक्रेटिक दलवाले अपनी अपनी ओर मिलाने की चेष्टा करने लगे। साम्यवादी एवं किसान-मज़दूर-दल पहले से ही उनकी ओर थे। अन्त में स्त्रियों को वोटाधिकार मिल गया।

मिसेज़ जोसेफ़ाइन बी० बेनेट।
(अमरीका के राष्ट्रीय स्त्री-दल की नेत्री)

किन्तु स्त्रियाँ वोटाधिकार लेकर ही शान्त नहीं हो गई हैं। वे राष्ट्रीय उत्थान में अच्छा भाग ले रही हैं। सबसे पहले उनका ध्यान स्त्रियों और बालकों की ओर गया है। उनकी दशा सुधारने के लिए वे नये नये क़ानून बनवाना चाहती हैं, जैसे माताओं की रक्षा, सिविल सर्विस और उद्योग-धन्धों में स्त्री-पुरुषों का समान प्रवेश तथा उनके लिए एक सा नैतिक विधान। साथ ही वे देश की सामाजिक दशा से भी उदासीन नहीं हैं स्वास्थ्य-सुधार एवं औषध के अतिरिक्त मादक वस्तुओं के निषेध के लिए भी वे प्रयत्न कर रही हैं। किन्तु उनका कार्य्य-क्षेत्र इससे कहीं अधिक विस्तीर्ण है। वे अपने ही देश में परिमित नहीं रहना चाहतीं, वरन समस्त पृथ्वी की स्त्रियों को अपने ही समान स्वतन्त्र देखना चाहती हैं। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से स्त्री-आन्दोलन की सहानुभूति बहुत ही विशाल हो गई है, वे केवल स्त्री-मात्र की स्वतन्त्रता के पक्षपाती नहीं हैं, प्रत्युत मज़दूरों की भलाई एवं पराजित देशों का उद्धार भी उनके उद्देश के अन्तर्गत है। यदि स्त्री-आन्दोलन के द्वारा राष्ट्रीयता की कठोर दीवार टूट गई तो हम इसको स्त्रियों का सबसे बड़ा काम समझेंगे।

मिस एलिस पाल।
(अमरीका के राष्ट्रीय स्त्री-दल की अध्यक्ष)

राजनैतिक स्वत्वों को प्राप्त करने के बाद अमरीका की स्त्रियों ने अन्य योरपीय देशों की भाँति काम करना शुरू कर दिया है। वीमेन पार्टी की कुछ स्त्रियाँ सामाजिक स्वास्थ्य-रक्षा और व्यावहारिक शिक्षा में लग गई हैं, कुछ मज़दूरों की समस्याओं को हल करने में लगी हैं। मज़दूरों का ही उद्योग-धन्धों पर अन्तिम अधिकार हो, पूँजीपति मुफ़्त में उनकी कमाई न खा जायँ, यही श्रमजीवियों की समस्या है। इसी पार्टी की तीन स्त्रियाँ भारतवर्ष के स्वराज्य-आन्दोलन के लिए काम कर रही हैं (१) मिसेज़ जोसफ़ाइन बी० बेनेट (२) मिसेज़ डोनेल्ड आर० हूकर और (३) मिसेज़ सारा वार्ड फ़ील्ड। इनमें पहली मिसेज़ बेनेट अमरीका की वीमेन पार्टी के प्रमुख नेताओं में हैं, हाल में ही ये फ्रेंड्स आव् फ़्रीडम आव् इण्डिया की कार्यकारिणी समिति की सदस्य चुनी गई हैं। इनके तीन बच्चे भी हैं, तिस पर ये इतना कार्यभार उठाये हुए हैं। दूसरी मिसेज़ हूकर उक्त सोसायटी की एक प्रसिद्ध सदस्य हैं, इन्होंने भारतीय राजनैतिक क़ैदियों को अमरीका से निकालने के विरुद्ध बड़ा आन्दोलन उठाया था और उसमें अपना समय, धन और प्रभाव निःसङ्कोच-भाव से लगाया था। मिसेज़ फ़ील्ड एक प्रसिद्ध लेखिका हैं, इन्होंने अपनी ज़ोरदार भाषा में अनेक बार भारतवर्ष की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता का प्रतिपादन किया है।

गर्ल-गाइड के भेष में राजकुमारी मेरी।

उपर्युक्त पार्टी के कुछ सदस्यों ने आइरिश आन्दोलन एवं अमेरीकन नीग्रो को समान अधिकार दिलाने के लिए चेष्टा की है। दो एक भारतीय महिलाओं ने अमरीका जाकर भारतीयों के प्रति इनका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया है। इनमें श्रीमती पार्वती बाई आठवले और दिल्ली की मिसेज़ सुलतानसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं। पहली पूना के स्त्री-विश्वविद्यालय की ओर से गई थीं।

इस विवरण से संसार में सबसे अधिक स्वतन्त्र कहलानेवाली अमेरिकन स्त्रियों के कार्य-क्षेत्र का थोड़ा-बहुत परिचय मिल सकता है। अपने देश के स्त्री-समाज से इनकी तुलना करना असङ्गत है। यूनाइटेड स्टेट्स की

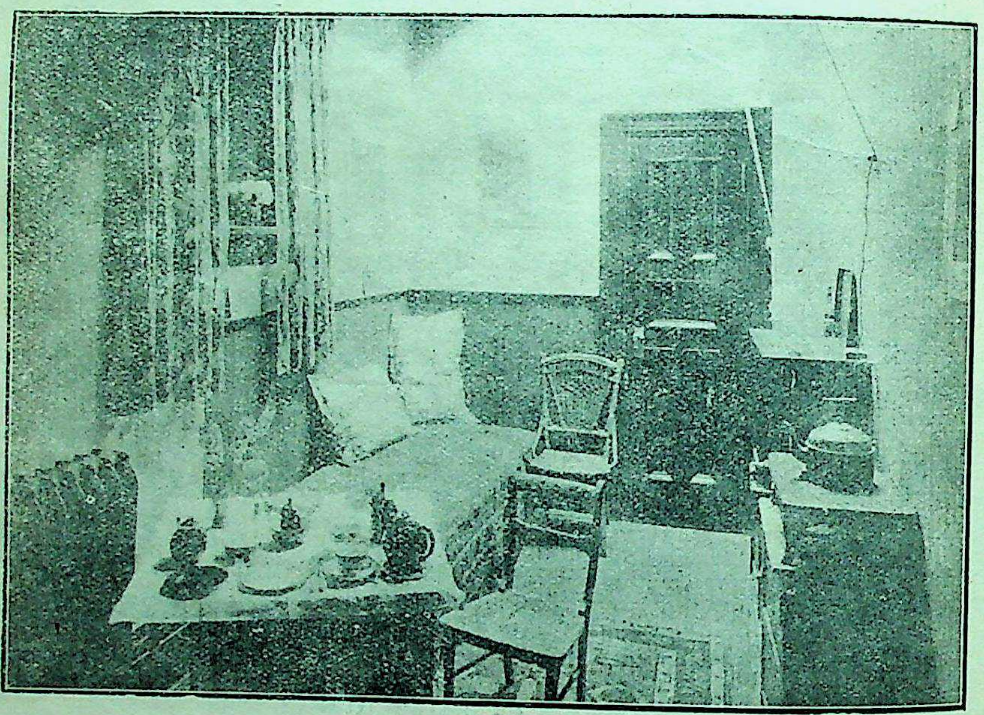

अमरीका में स्त्रियों का बैंक।

रियासतों में जहाँ वोटाधिकार पहले मिल गया था, वहाँ की अवस्था तो अत्यधिक उन्नत हो गई है। उदाहरण के लिए केलीफ़ोरनिआ में दिन में ८ घण्टे काम करने का क़ानून बना दिया गया है। १६ वर्ष से कम अवस्था का कोई स्त्री-पुरुष काम नहीं कर सकता है। स्त्रियों के लिए अपना मनचाहा व्यवसाय करने में कोई रुकावट नहीं है। स्त्रियाँ वकील हैं, डाक्टर हैं, सम्पादक हैं, लेखक हैं, शिक्षक हैं, प्रोफ़ेसर हैं, रासायनिक हैं, संवाददाता हैं, आविष्कारक हैं, समाज-सुधारक हैं, फ़ेक्ट्री-सञ्चालक हैं। प्रत्येक स्थान में स्त्री कार्यकर्ता दिखाई देते हैं, और केवल नाममात्र के लिए ही नहीं, बरन सच्चे जीते-जागते कार्यकर्ता हैं। इतना होने पर भी अमरीका में स्त्री के लिए अब भी अनेक ऐसी सामाजिक एवं क़ानूनी बाधायें मौजूद हैं जो योरप के देशों से दूर की जा चुकी हैं। युद्ध के समय योरप के देशों ने स्त्रियों को समाज में सम्मानास्पद आसन दे दिया था। राजनैतिक दृष्टि से न सही, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो वे अमरीका की स्त्रियों से ज़रूर आगे निकल गई हैं। जैसे अमरीका की कुछ रियासतों में विवाहित स्त्री को अपनी सम्पत्ति के प्रबन्ध का अधिकार नहीं है, सन्तान पर भी माता का पिता के समान अधिकार नहीं है। कुछ दक्षिणी रियासतों में तो स्त्रियों को, चाहे उनके पति उन्हें मारें-पीटें, चाहे वे नैतिक एवं शारीरिक दृष्टि से एक-दम पतित हों, तलाक़ देने का अधिकार नहीं है। कुछ रियासतों में व्यभिचार ही केवल तलाक़ का एकमात्र कारण माना गया है। अनाथ बच्चों की रक्षा और अधिकार के विषय में अमरीका सब देशों से पिछड़ा है। किसी किसी रियासत में विवाह की आयु केवल १२ या १४ वर्ष है। माता की रक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। किन्तु सच पूछा जाय तो इन बुराइयों का मूल-कारण अमरीका की बढ़ी-चढ़ी धन-लिप्सा है। पूँजीवाद की अंधाधुन्ध वृद्धि से लोगों के जीवन का कोई मूल्य ही नहीं रह गया है। स्त्रियाँ और मज़दूर ही इस समस्या को हल कर सकते हैं, इसके

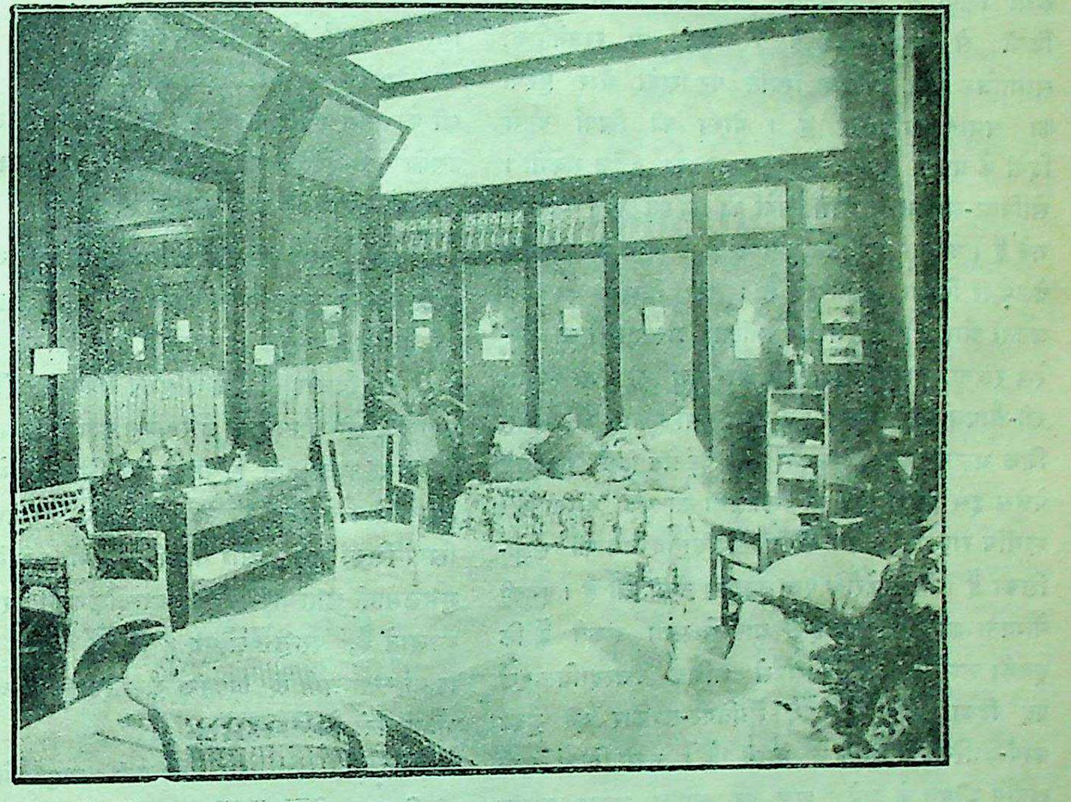

अमरीका में स्त्रियों का क्लब-घर।

अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। स्त्री-सङ्गठन में एक विशेषता है। वे राजनैतिक क्षेत्र में स्वार्थवश कभी किसी का साथ नहीं देतीं, इसलिए राजनीतिज्ञ इनसे बड़े परेशान रहते हैं कि न जाने ये किस ओर जाकर मिलेंगी। किन्तु ये सदा सत्य के पक्ष में रहती हैं। पार्लियामेंट के काम सीख जाने से अब इनको किसी पार्टी का डर भी नहीं। इनके नेताओं में सङ्गठन एवं काम करने की अच्छी शक्ति है, समझ-बूझ की कोई कमी नहीं। इनमें मिस एलेस पोल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये राष्ट्रीय वीमेन पार्टी की अभिनेत्री हैं। अमरीका में इनके जोड़ के सङ्गठन करनेवाले बहुत कम निकलेंगे।

अब हम योरप की ओर आते हैं। योरप के स्त्री-समाज ने राजनैतिक क्षेत्र में उतना काम नहीं किया है, जितना सामाजिक क्षेत्र में। बेल्जियम, फ़्रांस, इटली और स्पेन को छोड़ कर प्रायः सभी योरपीय देशों में स्त्रियों को अधिकांश राजनैतिक स्वत्व प्राप्त हो चुके हैं। नारवे, फ़िनलेंड में तो युद्ध के पहले से ही स्त्रियों को पार्लियामेंट में बैठने का अधिकार मिल गया था। वर्णशङ्कर बच्चों की रक्षा के लिए नारवे और रूस में जो नियम बने हैं वे अन्य सब देशों के तादृश नियमों से श्रेष्ठ हैं। स्वीडेन और डेनमार्क भी नारवे से किसी तरह पीछे नहीं हैं। यद्यपि जर्मनी में स्त्रियों को राजनैतिक स्वत्व देर में मिले हैं तथापि स्त्री-समाज-सुधारों का मुख्य स्रोत जर्मनी ही है। नारवे, स्वीडेन, डेनमार्क और फ़िनलेंड आदि देशों में जो सामाजिक सुधार हुए हैं उन सबकी चर्चा जर्मनी में पहले से ही हो चुकी थी, उसी देश से इनको ये बातें मालूम हुई हैं। नारवे के न्याय-सचिव जान केट्सबर्ग ने कई आदर्श क़ानून पास कराये हैं। उनका कहना है कि इन सबकी प्रेरणा मुझे जर्मनी के डाक्टर वोयर के स्त्री-समाज-सुधारक आन्दोलन से मिली है। डाक्टर वोयर एक स्वतन्त्र विचार की महिला हैं। अपनी अद्भुत सङ्गठन-शक्ति के कारण वे आज बर्लिन

की सार्वजनिक स्कूल-प्रणाली के अध्यक्ष बन गई हैं। वे योरप की विचारशील, दूरदर्शी और सुयोग्य स्त्रियों में से एक हैं। जर्मन स्त्रियों ने जो स्त्री-सम्बन्धी पत्र और पुस्तकें प्रकाशित की हैं वे योरप भर के लिए आदर्श-रूप हैं।

किन्तु रूसी स्त्री-समाज संसार में सबसे उन्नतावस्था में है। सोवियट-सरकार के विरोधियों ने उसके विचारों को बदनाम करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। परन्तु रूसी स्त्रियों ने जो आदर्श प्राप्त कर लिया है वह किसी से छिपा नहीं है। वहाँ की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर स्त्रियों और पुरुषों का समान अधिकार है। योरप की स्त्रियाँ बहुत दिनों के प्रयास के बाद इस अवस्था को पहुँच सकेंगी। सोवियट-सरकार में रूसी स्त्रियों को बड़े बड़े उच्च पद दिये गये हैं। श्रीमती ऐलीडेनड्रिया कोलनटे रूस के पब्लिक वेलफ़ेयर विभाग के अध्यक्ष हैं। इस विभाग का काम जनता और फ़ौज में भोजन बाँटना, अस्पतालों की देख-रेख रखना, घायल सिपाहियों और बच्चों की रक्षा करना, स्त्री-औषधालय खोलना एवं अन्य इसी प्रकार की सामाजिक भलाई के काम करना है। पेट्रोग्रेड का मदरहुड पेलेस इस महान् स्त्री की सफलता का एक नमूना है। स्वर्गीय राष्ट्रपति लेनिन की स्त्री शिक्षा-विभाग की सञ्चालिका हैं। मिस फ़ेरीवा एक नवयुवा रूसी स्त्री है। इनकी योग्यता का पता आप इसी बात से लगा सकते हैं कि इनको रूसी सरकार में सबसे अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पद दिया गया है। ये सोवियट-सरकार की मुख्य कार्य-कारिणी समिति के मन्त्री हैं। रूसी स्त्रियाँ अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर अपना गहरा प्रभाव डाल रही हैं, शिक्षा-विभाग में तो उन्होंने अपनी कार्य-कुशलता से बड़ी उन्नति कर दी है। उदाहरण के लिए उनकी दो-एक बातें यहाँ दी जाती हैं—

रूस में घर का काम-काज उतना ही आदरणीय समझा जाता है, जितना वकालत, डाक्टरी अथवा और कोई सामाजिक सेवा। एक नियम यह भी बनाया गया है कि प्रत्येक मनुष्य को, चाहे स्त्री हो या पुरुष, १६ वर्ष से ६० वर्ष की अवस्था तक अवश्य कोई न कोई काम करना पड़ेगा। जो स्त्रियाँ घर में काम नहीं कर सकतीं उन्हें किसी व्यवसाय अथवा सामाजिक क्षेत्र में काम करना पड़ता है। सभी बच्चों को स्कूलों में खाना दिया जाता है, चाहे छुट्टी का दिन हो चाहे पढ़ाई का। जगह जगह बच्चों के लिए भोजनालय बने हुए हैं, उनमें बच्चों को सबसे पहले भोजन दिया जाता है। विवाह स्त्री-पुरुषों की इच्छा के अनुसार होता है, तलाक़ देने का दोनों को समान अधिकार है। यदि किसी को कुछ आपत्ति होती है तो उसकी निष्पत्ति अदालत-द्वारा, जिसमें स्त्रियाँ भी शामिल रहती हैं, की जाती है। सन्तानोत्पत्ति के आठ हफ़्ते पहले और आठ हफ़्ते बाद स्त्री को काम नहीं करना पड़ता है, उस समय के लिए उसको पूरा वेतन भी दिया जाता है। विवाह करने के लिए स्त्री-पुरुषों की आयु समान रक्खी गई है।

अन्य मुसलमानी देशों की भाँति मिस्र में भी स्त्रियों को परदे के अन्दर बन्द रहना पड़ता है। किन्तु वे इससे उकता गई हैं। वे अब खुले मैदानों में हवा खाना चाहती हैं। उनके इस विचार से वहाँ के पुरुष सहमत नहीं है। किन्तु वहाँ यह स्त्री-आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा है। जब तुर्की स्त्रियों ने अपना परदा हटा दिया है तब मिस्री स्त्रियों को परदा हटाने से कौन रोक सकता है? इतना ही नहीं, वहाँ की स्त्रियाँ शिक्षा-सुधार और वोटाधिकार भी माँगने लगी हैं। मुसलमानी समाचार-पत्र इस आन्दोलन को क़ुरान के विरुद्ध बतलाते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि जब उनके चारों ओर स्त्रियाँ स्वतन्त्रता से विचरण कर रही हैं तब वे परदे के भीतर कैसे बैठ सकती हैं?

अफ़ग़ानिस्तान की राजधानी काबुल में चिकित्सा की शिक्षा के लिए एक महिला-विश्वविद्यालय खोला गया है। इसमें पाँच सौ स्त्रियाँ पढ़ती हैं। पश्तो, फ़ारसी, उर्दू और रूसी भाषायें भी विश्व-विद्यालय में सिखाई जाती हैं।

कान्स्टैंटिनेपल की स्त्रियों की काया ही पलट गई है। उन्होंने बुरक़ा तक उतार दिया है। अब वे केवल एक चरचेफ़ पहनती हैं, जो उनके सिर और गर्दन को ढके रहता है। पहले यह सिर्फ़ काले रङ्ग का होता था, किन्तु अब जिस स्त्री पर जिस रङ्ग का खिलता है वह उसी रङ्ग का पहनती है। उनके विचार-परिवर्तन की पराकाष्ठा का

नमूना भी देखिए। स्त्रियाँ खुले मैदान होटलों में पुरुषों के साथ भोजन करती हैं। हाँ, ऐसी स्त्रियों का अभाव नहीं हो गया है जो केवल अपने परिवार के बीच में ही रहना पसन्द करती हैं, किन्तु घर से बाहर निकलने के वे भी विरोधी नहीं हैं। स्त्रियों को विवाह के पश्चात् अपने नाम बदलने की आवश्यकता नहीं रह गई है, वे अपने प्राचीन नाम से ही प्रसिद्ध हो सकती हैं। कान्स्टैंटिनोपल में एक अमरीकन कालेज है। उसके बोर्डिंग-हाउस में बहुत सी मुसलमान लड़कियाँ रहती हैं। लोगों का विचार है कि उनको जितनी स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है, उतनी फ़्रांस में फ़रासीसी कन्याओं को भी नहीं प्राप्त है।

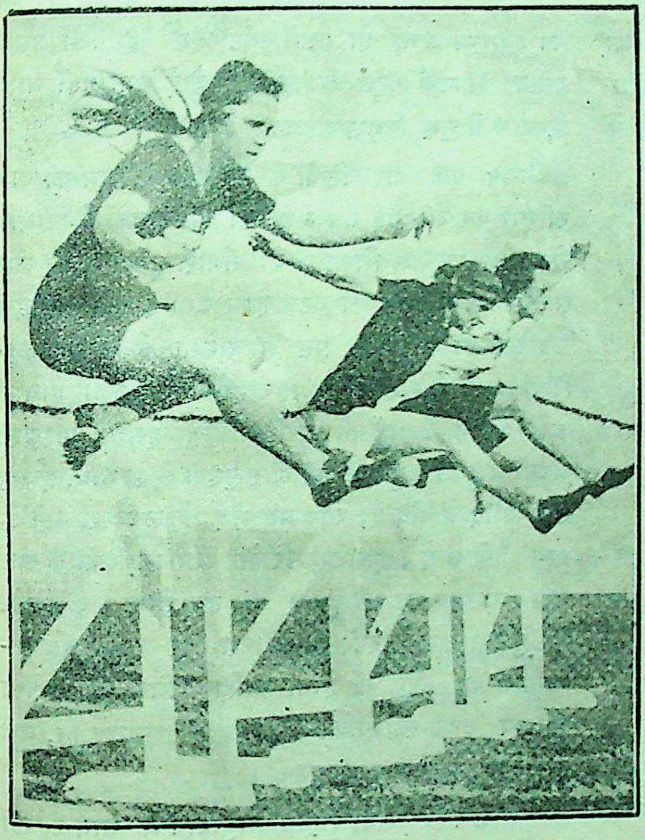

हर्डिल रेस में तीन महिलायें।

जापान के स्त्री-समाज में भी नूतन भाव प्रवेश कर रहे हैं। उनकी बहुत सी सामाजिक बाधायें दूर कर दी गई हैं। साथ ही साथ व्यवस्था और उद्योग-धन्धों में भी वे देश का हाथ बँटाने लगी हैं। ६ लाख से ऊपर स्त्रियाँ कारख़ानों में काम करती हैं। सरकारी दफ़्रों और व्यापारी कारबारों में लड़कियों की संख्या बढ़ती जाती है। जापानी स्त्रियाँ अपने पति के विरुद्ध क़ानून के द्वारा अपने स्वत्वों की रक्षा करने लगी हैं। सन् १९२१ तक जापान में कोई स्त्री राजनैतिक सभा-समिति में सम्मिलित नहीं हो सकती थी, किन्तु उसके पहले भी अनेक स्त्रियों ने राज्यानुशासन का उल्लङ्घन करके अपने पतियों के राजनैतिक कामों में सहायता दी है। सौभाग्य से अब यह रुकावट दूर कर दी गई है। विश्वविद्यालयों में अभी तक वहाँ लड़कियों का यथेष्ट प्रवेश नहीं हुआ है, केवल टोहोकू की यूनीवर्सिटी स्त्री-विद्यार्थियों को लेती है, आशा है कि यह रुकावट बहुत जल्दी दूर हो जायगी। धार्मिक सङ्घों में स्त्रियों का अच्छा स्थान है। परन्तु धर्म की ओर से स्त्रियों की रुचि कुछ घटती सी जाती है, यह मङ्गल-सूचक चिह्न नहीं है। वे प्रत्येक आन्दोलन में पाश्चात्य प्रथाओं का अनुकरण करना चाहती हैं। किन्तु लोग ऐसे विचारों को उत्तम नहीं समझते।

जापान की स्त्रियों ने राजनैतिक सभाओं में भाग लेने के साथ साथ स्वयं अपनी राजनैतिक सभाओं के खोलने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया है। पुलीस-क़ानून की जिस धारा के अनुसार वे इस अधिकार से वञ्चित थीं उसमें संशोधन कर दिया गया है। आशा है, जापानी स्त्रियाँ सुदृढ़ आन्दोलन करके अन्य राजनैतिक स्वत्व भी प्राप्त कर लेंगी। चीन की स्त्रियों में भी शिक्षा-प्रचार बढ़ रहा है। मिस शिड अमरीका के विश्वविद्यालय के ग्रेजूएट हैं। कांगटंग-प्रान्त के शिक्षा-विभाग का सञ्चालक बनाने के लिए इनका नाम लिया गया था। यह पहली चीनी महिला हैं जिन्हें देश महत्त्वपूर्ण पद सौंपने को तैयार हुआ है। मिस शिड की तरह अन्यान्य चीनी महिलायें अमरीका के विश्व-विद्यालयों में पश्चिमी पद्धति से शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। ये अपने देश को लौटने पर चुपचाप

नहीं बैठ जातीं, बरन देश को अपने अनुभवों से लाभ पहुँचाती हैं। चीन में ऐसी सुशिक्षित स्त्रियों की संख्या २०० से कम न होगी। मतलब यह कि चीन में भी साम्यवाद और स्त्री-पुरुषों के समान अधिकार की यथेष्ट चर्चा है। इस विषय में चीनी राजनीतिज्ञ स्वर्गीय डाक्टर व्यूटिंग फॅंग की राय उल्लेखनीय है—मैं स्त्री-पुरुषों की समानता का यही अर्थ लेता हूँ कि कोई स्त्री केवल इसी लिए दण्डित न की जाय कि वह स्त्री है। किन्तु हम इस बात को नहीं भूल सकते कि भगवान् ने स्त्री-पुरुषों को अलग अलग बनाया है। यदि स्त्रियों को वोटाधिकार देने का कोई प्रश्न उठाया जाय तो मैं सबसे पहले केवल विधवाओं और एकाकी रहनेवाली स्त्रियों को ही वोटाधिकार देने के पक्ष में दूँगा, क्योंकि पति-पत्नी तो वास्तव में एक हैं अथवा उन्हें एक ही होना चाहिए।

लांग जम्प में प्रवीण एक योरपीय महिला।

स्त्रियों की शारीरिक कोमलता उन्हें कितने ही कामों के लिए अक्षम बना देती है। परन्तु इसकी ओर भी उनका ध्यान गया है। यह सच है कि मनुष्य की यथार्थ उन्नति एवं विकास के लिए शारीरिक परिश्रम और व्यायाम की बड़ी आवश्यकता है। इसका महत्त्व लोग अच्छी तरह समझ गये हैं, किन्तु केवल लड़कों के लिए। लड़कियों के लिए शारीरिक व्यायाम उतना आवश्यक नहीं समझा जाता जितना कि लड़कों के लिए। इसका कारण हमारी उलटी समझ है, स्त्रियों की कमज़ोरी उनका स्वाभाविक गुण समझा जाने लगा है। यदि स्त्री को अपनी रक्षा के लिए दूसरों का सहारा न लेना पड़े, वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ी हो सके, तो लोग कहते हैं वह मरदानी औरत है। मानो उसके स्त्रीपन में कोई कमी है। हर्ष का विषय है कि धीरे धीरे यह मध्यकालीन धारणा दूर होती जाती है। विचारशील लोगों ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि यदि स्त्री का स्वास्थ्य अच्छा हो, उसमें यथेष्ट बल हो, तो उसके स्त्रीत्व, सौन्दर्य एवं आकर्षण में कोई कमी नहीं आती है, बरन ये गुण द्विगुण हो जाते हैं।

जब एक बार स्त्रियों के शारीरिक परिश्रम की बात स्वीकार कर ली गई तब लड़कियों को लड़कों के समान खेल और व्यायाम सिखाने की तैयारी हुई। जिस खेल से बालक की देह का गठन हो सकता है उसी खेल से लड़कियों का शरीर भी पुष्ट हो सकता है। बस, लड़कियाँ शर्ट और हाफ़पेंट पहन और गेंदबल्ला हाथ में लेकर मैदान में पहुँचने लगीं। किन्तु इसका परिणाम अच्छा न हुआ। क्योंकि स्त्री और पुरुषों के स्वभाव, इच्छा, रुचि आदि में भेद है, और यह भेद केवल ऊपरी नहीं है, बरन मौलिक है। इसलिए स्त्रियों और लड़कियों के खेल और व्यायाम का भी दूसरा ही ढङ्ग होगा। वे क्रिकेट या फ़ुटबाल में पुरुषों की बराबरी कर सकें, यह स्त्री-व्यायाम का उद्देश न होना चाहिए। जिस प्रकार उनका स्वास्थ्य उनके स्वाभाविक विकास के अनुरूप हो, वही इस नवीन सङ्गठन का लक्ष्य है।

आज-कल स्त्रियाँ राष्ट्रीय अभ्युत्थान में भाग ले रही हैं। इसके लिए उन्हें सच्चा नागरिक बनना होगा। बालकों को तो नागरिक के कर्त्तव्यों का जितना ज्ञान खेल-कूद के मैदान में हो जाता है, उतना स्कूल के कमरों में नहीं। एक तो खेल-कूद बच्चों को बहुत ही प्रिय होता है, दूसरे उसके द्वारा बच्चों को ईमानदारी, अपनी टीम के लिए स्वार्थ-त्याग, एवं उसके साथ सहयोग करना, हार या जीत में प्रसन्नचित्त रहना आदि बातें अनायास ही आ जाती हैं। यदि हम स्त्रियों को नागरिक बनाना चाहते हैं तो ये

बातें उन्हें भी सिखानी होंगी। व्यायाम-सङ्घों के द्वारा एक और भलाई होती है। खिलाड़ी अपनी योग्यता के अनुसार नेता के पद तक पहुँच जाते हैं। टीम में जो योग्य होता है वही केप्टन बनता है। राष्ट्र के नागरिकों में से भी देश की रक्षा और उन्नति के लिए इसी प्रकार नेताओं का चुनाव होता है। साथ ही अपने केप्टन की आज्ञा के अनुसार चलने से बालकों में अपने बड़ों की आज्ञा-पालन करने का गुण भी आ जाता है। इससे बालकों को बचपन से ही अपने कर्त्तव्य, अधिकार और उत्तरदायित्व का ज्ञान होने लगता है।

लड़कियों की नवीन व्यायाम-पद्धति में हमें उपर्युक्त सभी बातों का ध्यान रखना चाहिए। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि व्यायाम के साथ साथ नियमित समय-विभाग, सफ़ाई, स्वच्छ कपड़े आदि भी स्वास्थ्य के सुधारने में बड़ी सहायता देते हैं। परन्तु सम्प्रति सबसे बड़ी बात यह है कि स्त्रियों को शारीरिक व्यायाम के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जाय। आज-कल लड़कियाँ प्रायः सीने-पिराने में अपना अधिक समय लगाती हैं, इसलिए उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। लन्दन के मेडिकल अफ़सर डाक्टर डबलू० एच० हेमर का तो यह कहना है कि यदि लड़कियों को घर का काम-काज करना अत्यावश्यक है तो लड़कों को इस काम में उनकी सहायता करनी चाहिए।

स्त्रियों की इस नवीन शक्ति का परिणाम क्या होगा, यह अभी कहा नहीं जा सकता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि समाज के कितने ही प्रचलित सिद्धान्तों में परिवर्तन हो रहा है। यह तो निश्चित है कि स्त्रियाँ पुरुषों का दासत्व स्वीकार नहीं करेंगी। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि उच्छृङ्खलता स्वाधीनता नहीं है। समाज की मर्यादा नष्ट नहीं होनी चाहिए। इसी में समाज का कल्याण है।

दीनदयालु श्रीवास्तव

राजा-रानी।

सातवाँ दृश्य।

त्रिचूड़—प्रमोदवन।

विक्रमदेव और अमरुराज।

अम०—मेरा जो है किया समर्पण सब तुम्हें।
तुम हो क्षत्रियवीर। तुम्हारे तुल्य है
और न कोई राजा मेरी दृष्टि में।
कन्या मेरी इला तुम्हारे योग्य है,
उसे करो स्वीकार। वृक्ष सहकार का
आश्रय है माधवी-लता का। इस जगह
तनिक ठहरिए आप, भेजता हूँ उसे।
(प्रस्थान।)

विक्र०—कैसा है यह स्थान मनोहर, शान्ति से
भरा हुआ। वन सघन नील आकाश सा।
वृक्षों पर जिस जगह घनी छाया, वहाँ
सुख से सोते पक्षी हैं। शीतल सुखद
झरनों का कलनाद बनाता मुग्धसा।
यों शीतल चुपचाप और गम्भीर भी
होकर ऐसी प्रबल और सागर-सदृश
अति उदार है शान्ति; बहुत दिन तक इसे
भूल गया था मानो मेरा मूढ़ मन!
मेरे जी की जलन, अन्त जिसका नहीं,
वह भी जैसे यहाँ मिटेगी—शान्ति में
लीन हुई—कुछ भी न चिह्न रह जायगा
इतनी गम्भीरता, स्निग्ध छाया यहाँ!
हाय, हमारा ऐसा ही एकान्त सुख
रहा नहीं! क्यों? इसमें किसका दोष है?
मेरा? उसका? किसका? जिसका हो, उसे
पा सकता क्या कभी नहीं इस जन्म में?
जाओ तो बस दूर—एकदम दूर तुम!
इस जीवन में पछतावे के रूप से
जी न दुखाओ। देखूँ जो इस स्थान में—
इस जग के इस अतिनिर्जन नेपथ्य में—
पाऊँ वैसा मधुर और गम्भीर भी
नया प्रेम!

सखी के साथ इला का प्रवेश ।

यह कैसा सुन्दर रूप है !
मैं कृतार्थ हो गया ! यहाँ पर सुन्दरी
बैठो ! क्यों हो मौन ? झुका सिर किस लिए ?
क्यों उदास मुख हुआ ? लता से अङ्ग सब
काँप रहे क्यों ? क्या कोई है वेदना ?

इला—(घुटने टेक कर)
सुनती हूँ, तुम महाराज अधिराज हो;
सागर तक विस्तार तुम्हारे राज्य का ।
भिक्षा माँगूँ कुछ, सो मिलनी चाहिए ।

विक्र०—उठो, उठो, सुन्दरी ! तुम्हारे मृदु चरण
कठिन भूमि के योग्य नहीं हैं । किस लिए
तुम धरती पर पड़ी हुई हो ? कुछ कहो ।
कौन वस्तु है ऐसी तीनों लोक में
जो न तुम्हें दी जा सकती हो सुन्दरी ?

इला—सौंप दिया है मुझे पिता ने आपको ।
भिक्षा माँगूँ यही, ग्रहण मत कीजिए—
फेर दीजिए मुझे । आपके पास तो
होंगे अगणित राज्य, देश, धन, रत्न, जन;
मुझे छोड़ दो । तुम्हें कमी किस बात की ?

विक्र०—कमी नहीं है मुझको ? तुमने किस तरह
यह जाना ? यह हृदय दिखा सकता कहीं
तो होता मालूम तुम्हें, क्या है कमी !
कहाँ रत्न-धन ? कहाँ सुविस्तृत राज्य है ?
शून्य पड़ा है हृदय ! राज्य-वैभव नहीं
होता, होतीं कहीं तुम्हीं—केवल तुम्हीं—

इला—तो यह जीवन आप लीजिए—लीजिए !
जैसे तुम सब लोग तीर से चीर कर
हृदय, पकड़ ले जाते हो वन की मृगी,
वैसे पहले मुझे मार कर, प्राण ले,
ले जाओ !

विक्र०— क्यों देवि, घृणा यह किस लिए ?
क्या मुझको ऐसा अयोग्य तुम जानतीं ?
जीते इतने राज्य, देश अपना लिये
मैंने, क्या यह हृदय तुम्हारा, प्रार्थना
करने पर भी मुझे न मिल सकता ?

इला— हृदय ?
रहा न मेरा ! सब सौंपा मैंने जिसे
वही उसे ले गया बिदा होते समय ।
इस वन में फिर मिलने को है कह गया ।
कितने दिन हो गये ! न आया वह सुदिन !
अब काटे से कटे न दिन ! तब भी यहाँ
पड़ी हुई हूँ राह देखती । इस जगह
आकर मुझको देख न पावे जो कहीं—
लौट जायगा; और अगर फिर लौट कर
प्रियतम आवे नहीं ! यही खटका लगा ।
महाराज, ले जाओगे मुझको कहाँ ?
छोड़ गया है मुझको जो, उसके लिए
मुझे छोड़ दो !

विक्र०— कौन भाग्यशाली पुरुष
वह है ? देखो, सावधान, अतिप्रेम को
देख न सकता दैव । बात मेरी सुनो ।
एक समय था, जब समस्त संसार को
तुच्छ समझ, मैं करता केवल प्रेम था ।
उस पर ईर्ष्या हुई दैव को । जाग कर
देखा, बिगड़ा है न जगत का कुछ कहीं—
चूर्ण हो गया केवल मेरा प्रेम ही !
क्या है उसका नाम जिसे तुम चाहतीं ?

इला—पराक्रमी युवराज देश कश्मीर का—
कहते उसे कुमारसेन सब लोग हैं ।

विक्र०—क्या कुमार ?

इला— क्या उसे जानते आप भी !
कौन न जाने उसे ? न प्यारा वह किसे ?

विक्र०—क्या कुमार ? युवराज देश कश्मीर का ?

इला—महाराज, हाँ वही । उसी का नाम बस
सुन पड़ता है सभी ओर । है मित्रता
शायद उससे और आपसे ! योग्य वह
पृथ्वी-पति; उसका प्रभाव वैभव बड़ा ।

विक्र०—उसका तो सौभाग्य-सूर्य अब, सुन्दरी,
अस्ताचल को चला ! न तुम आशा करो
उसकी । वह तो अब शिकार का मृग हुआ—
डर कर भागा फिरे, निराश्रय, छिप रहा

सघन वनों में । अब तो इस कश्मीर का
दीन हीन भिक्षुक भी उससे है सुखी ।

इला—महाराज, क्या कहा ?

विक्र०— रहो तुम भूमि के
एक छोर में । केवल करती प्यार हो ।
तुम क्या जानो, गरज रहा संसार है
हृदय-राज्य के बाहर; कर्मप्रवाह में
कौन बहा जा रहा—किधर । केवल उधर
अश्रुपूर्ण अतिसरल दृष्टि से ताकती
रहती हो ! पर आशा उसकी है वृथा !

इला—महाराज, सच कहो; झूठ मत बोलना !
देखो, स्त्री का हृदय बहुत ही क्षुद्र यह
केवल उस प्रिय से ही मिलने के लिए
साँस ले रहा । राह उसी की तक रहा ।
किस निर्जन वन बीच, शून्य किस मार्ग में
घूम रहा मेरा कुमार ? मुझसे कहो,
मैं जाऊँगी वहाँ—छोड़ कर घर कभी
कहीं गई हूँ नहीं । कहो, मुझको कहाँ
जाना होगा ? किधर, कौन सी राह में ?

विक्र०—बाग़ी है वह; उसे ढूँढ़ते फिर रहे
राजा के जासूस हर तरफ़ हर घड़ी !

इला—तुम क्या कोई मित्र-हितू उसके नहीं ?
क्या तुम लोग न उसकी रक्षा कर सको ?
मारा मारा फिरे वनों में, यह दशा ।
देखोगे चुपचाप ? करोगे कुछ नहीं ?
मन में कुछ भी नहीं किसी के है दया ?
प्यारे, मैं जानती नहीं, तुम हो कहाँ—
किस सङ्कट में पड़े ? तुम्हारे ही लिए
बैठी हूँ मैं यहाँ । देर इतनी हुई ।
कभी कभी, ज्यों बिजली चमके, इस तरह
होता था सन्देह । सुना था, प्रिय, बहुत
लोग तुम्हें चाहते । आज आपत्ति के
दिन में वे सब कहाँ गये ? "आपत्ति का
साथी कोई नहीं"—किसी ने ठीक ही
कही कहावत है यह । सुनिए, आप तो
कहलाते हैं पृथ्वीपति; फिर आप क्या
दीन-बन्धु या कृपा-सिन्धु भी हैं नहीं ?
बल, विक्रम, यश, सैन्य अमित है आपके;
कुछ सहायता आप न उसकी कर सकें ?
तो बतलाओ राह मुझे; मैं ही वहाँ
जाऊँ; शायद कुछ सहायता कर सकूँ ?
अबला, नारी, अगर न कुछ भी कर सकी,
दूँगी अपने प्राण प्राणपति के लिए ।

विक्र०—कैसा गहरा प्रबल प्रेम है ! तुम सदा
यों ही चाहो, प्यार करो, सुख से रहो ।
जिसको तुमने दिया हृदय, केवल उसे
चाहो । मैं तो प्रेम-स्वर्ग से भ्रष्ट हूँ ।
हो जाऊँगा धन्य, देख कर मैं तुम्हें ।
देवि, तुम्हारा प्रेम न मुझको चाहिए;
फूल गिर गये, सूख गई जो डाल है—
और डाल से फूल तोड़, उसमें लगा—
उसको मैं किस तरह सजाऊँगा भला ?
मुझ पर तुम विश्वास करो; मैं मित्र हूँ !
डरो न, मेरे साथ चलो; उससे तुम्हें
मिला न दूँ तो, इला, न मेरी गति बने !
मैं कुमार को अभी ढूँढ़ लूँगा; उसे
गद्दी दूँगा और तुम्हारा व्याह भी
कर दूँगा तत्काल ।

इला— महाशय, आपने
दिया प्राण का दान मुझे ! कहिए, कहाँ
जाना होगा ?

विक्र०— तो आओ तैयार हो ।
चलना होगा वहाँ राजधानी जहाँ
दर्शनीय कश्मीर राज्य की ।

(इला और सखी का प्रस्थान ।)

युद्ध अब
अच्छा लगता नहीं । शान्ति उससे अधिक
है असह्य । । गृहहीन और भागे हुए
तुम कुमार ! हो सचमुच ही मुझसे सुखी !
तुम जाओगे जहाँ कहीं संसार में,
सदा तुम्हारे साथ रहेगा यह अटल
रमणी का रमणीय प्रेम; ज्यों देवता

की रहती अनुकूल और स्थिर दृष्टि है
भाग्यवान पर सदा । उसी शुभ प्रेम की
अति पवित्र नव किरणों से आपत्ति का
मेघ चमकता, स्वर्णमयी सम्पत्ति सा ।
मैं किस सुख को फिरूँ लिये जय की ध्वजा
एक देश से अन्य देश में ? हृदय तो
जलता रहता हिंसा और अशान्ति से !
कहाँ कौन से मानस भीतर खिल रहा
उज्ज्वल शीतल कोमल सुन्दर प्रेम का
दिव्य सुगन्धित कमल-कुसुम ? हे सुन्दरी,
प्रेममयी, इन मलिन, कलङ्कित रक्त से
हाथों को, अपने पवित्र जो अश्रु हैं
उनसे धो दो !

पहरेदार का प्रवेश ।

पहरे०— महाराज, आये हुए
देवदत्तजी खड़े द्वार पर हैं ।
विक्र०— उन्हें
ले आओ इस जगह ।

देवदत्त का प्रवेश ।

देव०— दुहाई ! मर गया
ब्राह्मण, रक्षा करो !
विक्र०— अरे यह क्या ? यहाँ
आये तुम किस तरह ? दैव अनुकूल है
मुझ पर । तुम हो मित्ररत्न मेरे ।
देव०— प्रभो,
ठीक कहा । मैं रत्न न होता तो मुझे
बड़े यत्न से यों कर रखते बन्द क्यों ?
बड़े भाग्य से द्वार खुला पाकर, यहाँ
आया हूँ मैं भाग । जान कर रत्न फिर
सौंप न देना मुझको पहरेदार को !
मित्ररत्न ही मुझे न जानो; ब्राह्मणी
का भी हूँ पतिरत्न । हाय क्या ब्राह्मणी
जीती होगी अब तक ?
विक्र०— यह क्या बात है !
मुझको तो कुछ ख़बर नहीं । तुम क़ैद थे ?
देव०—तुम क्या जानो, जानें पहरेदार दो !
शास्त्रों की बहु बातें, बातें काव्य की
उन्हें सुनाईं । सुनकर दोनों मूर्ख वे
हँसते थे । बरसात देखकर एक दिन
विरहव्यथा जग उठी; बुलाकर तब उन्हें
लगा सुनाने मेघदूत । आने लगी
नींद गँवारों को । उदास हो खेद से
उठकर मैं चल दिया वहाँ से इस तरफ़ ।
विरही ब्राह्मण क़ैद किया; रक्खे वहाँ
ख़ूब छाँट कर ऐसे अच्छे दो आदमी !
इतने तो हैं शूर सिपाही आपके,
शास्त्र समझनेवाला था कोई नहीं ?
विक्र०—बड़ा कष्ट यह, मित्र, तुम्हें अबकी मिला !
जिस पाजी ने तुम्हें किया है क़ैद यों
उसको दूँगा कड़ा दण्ड । निश्चय वही
होगा खल जयसेन !
देव०— दण्ड की बात फिर
होगी; अब यह युद्ध बन्द कर दीजिए ।
शीघ्र यहाँ से चलिए अपने देश को ।
सच कहता हूँ महाराज, अब की मुझे
विरह-व्यथा का पूरा अनुभव होगया ।
प्रथम समझता था, बड़े बड़े लोग ही
विरह-व्यथा में, काटी मछली की तरह
छटपट करते । किन्तु आज देखा, प्रभो,
साधारण इस ब्राह्मण को भी पञ्चशर
नहीं छोड़ता; कुछ विचार करता नहीं
छोटे और बड़े का ।
विक्र०— यम की, प्रेम की,
सब पर है सम दृष्टि । मित्र, घर को चलो ।
मुझको केवल एक काम करना रहा,
वह भी हो ले । सहायता तुम भी करो ।
वन में छिपा कुमार कहीं पर है यहाँ ।
पता मिलेगा उसका तुम्हें त्रिचूड़ के
राजा से । तुम उसे ढूँढ़ कर यों कहो—
अब मैं उसका शत्रु नहीं हूँ । शस्त्र सब
फेंक दिये हैं; प्रेम-पाश में बस उसे
बाँधूगा । हाँ मित्र, और कोई वहाँ

जो हो—तुमको देख पड़े जो और भी
कोई—

देव०— सो सब महाराज, मैं जानता ।
रहती उनकी याद हर घड़ी आपको ।
अब तक उनकी बात न मैंने कुछ कही ।
मुँह से जैसे बात निकलती ही नहीं ।
उनकी बातें हुईं अनिर्वचनीय अब ।
वह सच्ची हैं सती, इसी से पा रहीं
इतना दारुण दुःख । स्मरण जब मैं करूँ
उनको, आती याद जानकी की मुझे ।
जाता हूँ ।

विक्र०— आता वसन्त जब, तब प्रथम
आता दक्षिण-पवन; उसी के बाद फिर
वन-लक्ष्मी नव पुष्प-पल्लवों को लिये
हो उठती है विकसित । तुमको देख कर
आशा होती है मन में, वे प्रथम के
दिन मेरे, ले साथ सभी सुख, लौट कर
फिर आवेंगे ! मुझे बनावेंगे सुखी !

आठवाँ दृश्य ।

जङ्गल

कुमारसेन के दो अनुचर ।

एक—देख माधो, कल जो मैंने सपना देखा है उसका मतलब कुछ समझ में नहीं आता । शहर में जाकर ज्योतिषीजी से पूछूँगा ।

दूसरा—क्या सपना था ? कहो तो ।

पहला—जैसे एक महापुरुष इस पानी के भीतर से निकल कर मेरे पास आये, और मुझे तीन बड़े बड़े बेल देने लगे । मैंने दो बेल तो दोनों हाथों में ले लिये । तीसरा बेल किस तरह लूँ, इसी सोच में पड़ गया ।

दूसरा—दुर् मूर्ख, तीनों बेल चादर में बाँध लेता ।

पहला—अरे जागने पर तो सभी को सूझ पड़ती है—उस समय तू कहाँ था ? उसके बाद सुन न, वह बेल ज़मीन पर गिर कर लुढ़कने लगा । मैं भी उसके पीछे पीछे चला । एकाएक देखा, पीपल के नीचे बैठे हुए युवराजजी पूजा कर रहे हैं । बेल उछल कर उनकी गोद में चला गया । वैसे ही आँख खुल गई ।

दूसरा—यह भी तू समझ न सका । हमारे युवराज जल्द राजा होंगे ।

पहला—मैंने भी यही ठहराया था । लेकिन मैंने जो दो बेल पाये, उसका क्या फल होगा ?

दूसरा—तेरे लिए और क्या होगा ? तेरे खेत में बैंगन बहुत फलेंगे ।

पहला—नहीं भाई, मैं तो समझता हूँ, मेरे दो लड़के होंगे ।

दूसरा—हाँ देखो, कल मैंने भी एक अजीब बात देखी है । इसी जल के किनारे मैं और रामचरन दोनों दही में चिड़वे भिगो कर खा रहे थे । मैंने बात ही बात में कहा कि दुबेजी ने गणित करके कहा है कि युवराज के बुरे दिन बीत गये । अब वे जल्द राजा होंगे । एकाएक सिर पर कोई तीन बार कह उठा—'ठीक ! ठीक ! ठीक !' ऊपर आँख उठा कर देखा, गूलर के पेड़ पर इतनी बड़ी एक गिलहरी बैठी थी !

रामचरण का प्रवेश ।

पहला—क्या ख़बर है रामचरन ?

राम०—अरे भाई, आज एक ब्राह्मण इस जङ्गल के आसपास युवराज का पता लगा रहा था । उसने घुमा फिराकर मुझसे न जाने कितनी बातें पूछीं । मगर मैं क्या वैसा मूर्ख था ? मैं भी घुमा फिराकर जवाब देने लगा । बहुत खोज करके अन्त को वह चला गया । मैंने उसे "चित्तल" की राह दिखा दी है । अगर ब्राह्मण न होता तो आज मैं उसे जीता न छोड़ता ।

दूसरा—तो फिर यह जङ्गल भी छोड़ देना होगा । जान पड़ता है, सालों को ख़बर लग गई ।

पहला—यहीं बैठ न जाओ भाई रामचरन—ज़रा गपशप लड़ावें ।

राम०—युवराज के साथ हमारी राजकुमारी इधर ही आ रही हैं । चलो भाई, दूर हट चलें ।

(सबका प्रस्थान ।)

कुमारसेन और सुमित्रा का प्रवेश ।

कुमार—शङ्कर पकड़ा गया । वृद्ध छिपकर स्वयं
छद्मवेष से गया हुआ था, भीतरी
समाचार के लिए शत्रुदल में । वहाँ
उस दल के जासूसों ने चट ताड़ कर
पकड़ लिया । ले गये उसे जयसेन के
पास । सुना है, उसके ऊपर होरहा
अत्याचार अपार; कही तब भी नहीं
उसने मेरी बात । न वे कहला सके
एक शब्द भी उसके मुँह से अब तलक !

सुमि०—हाय वृद्ध प्रभु-भक्त ! सदा जाना जिसे
प्राणों से भी अधिक, उसी के काम में
अर्पण करके प्राण, धन्य तुम हो गये !

कुमा०—सबसे बढ़ कर हितू हमारा है वही
इस जग में । वह जन्म-सखा मेरा बहन !
आप झेलकर कष्ट, नष्ट कर प्राण भी,
हर आफ़त से मुझे बचाना चाहता ।
जराजीर्ण जर्जर शरीर उसका, अहो,
सहता होगा कैसे दारुण यन्त्रणा ?
मुझको है धिक्कार ! छिपा हूँ मैं यहाँ !

सुमि०—मैं जाती हूँ भैया, भिक्षुक-वेष से,
सिंहासन के आगे गिर कर भूमि में,
शङ्कर के प्राणों की भिक्षा, दीन हो,
मागूँगी ।

कुमा०— यह करना होना हीन है !
उचित न ऐसा तुम्हें; नाक कट जायगी
पुरखों की ! सिर नीचा होगा राज्य का !
खटकेगी यह बात सदा इस जन्मभर
मेरे मन में, टूटे काँटे की तरह ।

चर का प्रवेश ।

चर—गीधकूट कल जला दिया जयसेन ने ।
लुटे हुए गृहहीन गाँव के लोग सब
"मंदुर" वन में बसे ।

कुमा०— सहा जाता न अब ।
हाय, हज़ारों का जीवन यों नष्ट कर
जीवित रहना ! यह जीना किस काम का ?
जीवन पर होगई घृणा मुझको बहन !

सुमि०—राजसभा में आओ हम दोनों चलें;
देखूँ मैं किस तरह, कौन छल से, वहाँ
कौन तुम्हारे हाथ लगाता है ? चलो !

कुमा०—शङ्कर, बूढ़ा शङ्कर, कहता था यही—
"जान जाय, सो अच्छा, पर तुम क़ैद हो
कभी न जाना; नहीं दिखाना दीनता" ।
मेरे पुरखों की गद्दी पर बैठ कर
एक विदेशी राजा, न्याय-विचार का
ढोंग रचेगा, देगा मुझको दण्ड भी !
क्या यह मुझसे सहा जायगा ? और सब
सह सकता हूँ, और सहा है; किन्तु यह
पुरखों का अपमान सहूँगा किस तरह ?

सुमि०—मौत भली है इससे तो !

कुमा०— हाँ, तुम यही
कहो बहन—बस यही कहो उत्साह से ।
"मौत भली है इससे तो"—प्यारी बहन,
यही तुम्हारे योग्य, यही बस श्रेय है ।
मौत भली है इससे तो । अच्छी तरह
सोचो मन में ! जीना है कायरपना !
बोलो, यह क्या सत्य नहीं ? चुप क्यों हुई ?
ये विषाद से भरे नेत्र क्यों झुक गये ?
आँख उठा कर देखो तो मेरी तरफ़ ।
सोच समझ कर स्पष्ट कहो । इस ढङ्ग से
छिपना—निन्दित घृणित कलङ्कित हो चुका
जीवन, क्या इस तरह बचाना—है उचित
मुझको ?

सुमि०— भाई—

कुमा०— राजपुत्र हूँ मैं बहन ।
स्वर्णभूमि कश्मीर आज उजड़ा हुआ
देख पड़े । सब प्रजा निराश्रय हो गई—
गली गली फिर रही, वनों में घूमती ।
पुत्र और पति बिना रो रही हैं स्त्रियाँ !
तब भी क्या मैं यों छिपकर जीता रहूँ ?

सुमि०—मौत भली है इससे तो।
कुमा०— प्यारी बहन,
यही कहो, तुम यही कहो। जो थे यहाँ
भक्त और अनुरक्त, उन्होंने शक्तिभर
सह कर अत्याचार, प्राण अर्पण किये।
तब भी क्या मैं छिपा रहूँगा? इस तरह
जीना, जीना नहीं! सुमित्रा, क्या कहो?
सुमि०—मौत भली है इससे तो।
कुमा०— बस ठीक है।
बहन, तुम्हारे लिए प्राणरक्षा मुझे
अब तक करनी पड़ी। आज मेरा कहा
करना होगा तुम्हें। प्रतिज्ञा तुम करो
छूकर मेरे पैर। कहूँ जो कुछ, वही,
चाहे कितना कठिन क्यों न हो, तुम करो।
सुमि०—करती हूँ मैं यही प्रतिज्ञा!
कुमा०— तो सुनो।
मैं मरता हूँ। तुम उसके उपरान्त यह
कटा हुआ सिर मेरा, अपने हाथ से,
जालन्धरपति को देना उपहार में।
कहना, "तुम हो अतिथि राज्य कश्मीर के;
व्याकुल थे तुम जिसको पाने के लिए
वह सिर अपने हाथ काटकर, अर्घ्य सा,
पास तुम्हारे भेज दिया युवराज ने!"
मौन हुईं क्यों बहन? पैर क्यों काँपते?
बैठो इस तरुतले! तुम्हारे हाथ से
हो न सकेगा? क्या नितान्त दुस्साध्य है?
किसी तुच्छ उपहार-सदृश यह राज-सिर
भेजूँगा क्या किसी भृत्य के हाथ से?
तो सारा कश्मीर रोष-धिक्कार से
छिन्न-भिन्न कर डालेगा उसको!
(सुमित्रा का मूर्च्छित होकर गिरना।)
छी-छी, यह क्या! पत्थर उठो उठो रखलो हृदय पर!
विह्वल होना नहीं! काम है अति कठिन!
सौंप रहा हूँ इसी लिए तो यह तुम्हें!
मेरी प्यारी बहन, बड़े ही हृदय तो
सह सकते हैं महा क्लेश संसार के!
बोलो; बोलो बहन, कर सकोगी इसे?
सुमि०—(उठकर) कर सकती हूँ सब कुछ, जो मुझसे कहो।
कुमा०—हो जाओ बस खड़ी, उठो, साहस करो।
साधारण स्त्री-सदृश न अपने कष्ट के
बोझों से गिर पड़ो; सँभलकर हो खड़ी।
सुमि०—हाय अभागिन इला!
कुमा०— इला को जानता
हूँ मैं अच्छी तरह। न यों अपमान का
जीना मेरा रुचता उसको भी कभी।
वह मेरा ध्रुवतारा है, मुझको वही
महामृत्यु का मार्ग दिखाती है। बहन,
कल पूनो है—कल मिलने की रात है।
जीवन की सब ग्लानि दूर कर, मुक्त हो,
पूर्ण-मिलन का वेष धरूँगा! बस चलो
बहन। दूत के द्वारा पहले भेज दूँ
राजसभा में समाचार यह—"मैं स्वयं
जाऊँगा कल; मुझे पकड़ लें वे वहाँ"।
बूढ़ा शङ्कर शीघ्र छुटेगा इस तरह।
वह मेरा प्रिय मित्र हितैषी भक्त है!

नवाँ दृश्य।

कश्मीर—राजसभा।

विक्रमदेव और चन्द्रसेन।

विक्र०—आर्य्य किस लिए मौन हो रहे आप हैं?
मैंने तो कर दिया क्षमा युवराज को।
चन्द्र०—तुमने तो कर दिया क्षमा; मुझको अभी
करना है उसका विचार। विद्रोह का
उसको दूँगा दण्ड।
विक्र०— दण्ड वह कौन सा?
चन्द्र०—उसे करूँगा वञ्चित उसके राज्य से।
विक्र०—यह तो है अत्यन्त असम्भव। मैं उसे
दे जाऊँगा सिंहासन कश्मीर का।
चन्द्र०—गद्दी पर अधिकार तुम्हारा क्या?
विक्र०— सुनो,
मैंने जीता उसे; मुझे अधिकार है।

चन्द्र०—तुम हो मेरे अतिथि, मित्र के भाव से
टिके हुए इस जगह । लड़ाई कब हुई ?
कब जीता कश्मीर ?

विक्र०— लड़ाई के बिना
आत्म-समर्पण किया मुझे कश्मीर ने ।
लड़ना चाहो, लड़ो; लड़ाई के लिए
अब भी हूँ तैयार । राज्य कश्मीर का
मेरा है; मैं जिसको चाहूँ, दूँ उसे ।

चन्द्र०—तुम दोगे ? गर्वित कुमार है जन्म से
उसको मैं जानता । न अपने बाप का
सिंहासन, यों दिया हुआ, लेगा कभी ।
प्रेम और प्रतिहिंसा लेगा वह, मगर,
भिक्षा दोगे दया दिखाकर तो कभी
लेनेवाला नहीं । घृणा के भाव से
उसको देगा लात मार ।

विक्र०— इतना उसे
जो होता अभिमान, न आता तो कभी
आत्मसमर्पण करने को इस ढङ्ग से ।

चन्द्र०—महाराज, मैं इसी सोच में हूँ पड़ा;
यह कुमार का काम मुझे जँचता नहीं ।
दर्प-भरा वह युवक सिंह के तुल्य है ।
आवेगा वह आज यहाँ पर आपही
फँसने को—अपमानित होने को ? भला
सोचो तो, क्या इतनी प्यारी जान है ?

पहरेदार का प्रवेश ।

पहरे०—आते हैं युवराज महल में, पालकी
बन्द किये ।

विक्र०— क्या कहा ? पालकी बन्द है ?

चन्द्र०—मुँह कैसे वह यहाँ दिखावेगा भला ?
बन कर बन्दी आप, पिता के राज्य में
वह आता है । भीड़ सड़क पर है बड़ी;
होंगी उस पर लगी हज़ारो दृष्टियाँ ;
सुकुमारी सुन्दरी स्त्रियाँ कश्मीर की
झुक झुक कर झाँकती झरोखों से खड़ी ;
उत्सव का यह पूर्णचन्द्र आकाश से
ताक रहा है; चिरपरिचित वेही सभी
राह-घाट बन-बाग़ भवन-बाज़ार हैं;
परिचित है प्रत्येक प्रजा का मुख वही;
आँखें वह किस तरह करेगा सामने ?
सुनो निवेदन; बन्द करो तैयारियाँ ।
गाने और बजाने को भी तुम अभी
बन्द करो । यह उत्सव उसको इस समय
जान पड़ेगा किया गया उपहास सा ।
आज रात को देख दियों की रोशनी
वह जानेगा—अन्धकार में रात्रि के
छिपे न लज्जा, इसी लिए इतना अधिक
यह प्रकाश है ! शायद यह अपमान के
दानव का है अट्टहास !

देवदत्त का प्रवेश ।

देव०— जय हो प्रभो !
मैं कुमार का पता लगाने के लिए
विकट वनों में फिरा । मिले तब भी नहीं ।
आज सुना, वह आप आ रहे हैं यहाँ ।
इससे मैं भी यहाँ चला आया ।

विक्र०— सुनो,
सादर राजा की सी कर अभ्यर्थना
लाऊँगा मैं उसे । बिठाऊँगा स्वयं
सिंहासन पर । तुम होना अभिषेक के
समय पुरोहित ! आज पूर्णिमा, चाँदनी
रात, आज ही इला और युवराज के
परिणय का पूरा प्रबन्ध मैंने किया ।

नगर के ब्राह्मणों का प्रवेश ।

सब—महाराज की जय हो !

१ ब्रा०— लक्ष्मी स्थिर रहे,
राज्य बढ़े, यश बढ़े, और कल्याण हो ।
सबको जो आनन्द दिया तुमने, उसे
कह न सकें हम—महाराज, कश्मीर का
रोम रोम तुमको असीसता आज है ।

(राजा के सिर पर सब धान्य-दूर्वा से अभिषेक करते हैं ।)

(ब्राह्मणों का प्रस्थान ।)

लकड़ी टेकते हुए कष्ट से शङ्कर का प्रवेश ।

शङ्कर—(चन्द्रसेन से)
महाराज, यह समाचार क्या सत्य है ?
आते हैं युवराज यहाँ पर आप ही
आत्मसमर्पण करने को ? जल्दी कहो,
क्या यह सच है ?

चन्द्र०— सच है !

शङ्कर— तो धिक्कार है
लाख झूठ से बढ़ कर ऐसे सत्य को !
हा कुमार, मैं वृद्ध भृत्य हूँ आपका ।
क्या इसके ही लिए सही थी यन्त्रणा
इतनी मैंने ! चूर चूर सब हड्डियाँ
हुईं, न तब भी पता बताया, चुप रहा !
किन्तु अन्त को तुम बन्दी बन कर स्वयं
सिर को नीचा किये चले आये यहाँ !
देखी यह दुर्दशा सभी कश्मीर ने !
राजसभा है यही पूर्वजों की ? जहाँ
पिता पितामह आदि तुम्हारे बैठ कर
पृथ्वी पर सर्वोच्च कहाते थे । उसे
तुमने ऐसे आज मिलाया धूल में !
इससे तो तुम अगर पड़े रहते कहीं
जङ्गल में, तरु तले, कष्ट सहते सदा,
तो अच्छा था ! हाय, दिखाया दैव क्या !
पहले ही, हे ईश, मर गया क्यों न मैं ?

विक्र०—अच्छाई से तुच्छ बुराई छाँट कर
यह रोना है वृथा !

शङ्कर— सुनो, राजन् सुनो;
रोने आया नहीं तुम्हारे सामने ।
यह सिंहासन और सभा जिनकी रही,
आत्मायें उन स्वर्गवासियों की, यहाँ
लज्जित होकर सिर अपना नीचा किये
खड़ी हुई हैं । बस, वे मेरे कष्ट को
जान सकेंगी !

विक्र०— मुझको भ्रम से शत्रु क्यों
समझ रहे हो ? मित्र हुआ मैं आज से ।

शङ्कर—जालन्धरपति, बड़ी कृपा की ! कर दिया
क्षमा ! क्षमा से कहीं भला था दण्ड ही !

विक्र०—ऐसा अनुगत भक्त बन्धु अब तक मुझे
मिला न कोई !

देव०— वाह, मिला कैसे नहीं;
मैं ही हूँ ! सब तरह हितैषी आपका !
(बाहर शङ्खध्वनि और कोलाहल होता है ।)
(दोनों हाथों से शङ्कर मुँह ढक लेता है ।)
पहरेदार का प्रवेश ।

पहरे०—महाराज, पालकी द्वार पर आ गई ।

विक्र०—बाजे हैं सब कहाँ, बजाने को कहो ।
मित्र, चलो; सानन्द करें अभ्यर्थना
आगे बढ़ कर ।
(बाजे बजने का उद्योग ।)
सभा के भीतर पालकी का प्रवेश ।

विक्र०—(आगे बढ़ कर) आओ, आओ, मित्रवर,
आओ !

(सोने के थाल में कटा हुआ सिर लिये सुमित्रा पालकी से बाहर निकलती है । सहसा बाजों का बजना बन्द हो जाता है ।)

विक्र०—यह क्या ! अरे ! सुमित्रा !

सुमि०— हाँ, वही !
जिसे ढूँढ़ते फिरते थे तुम रात दिन
पर्वत पर, वनबीच; छोड़ कर राज्य, सुख,
धर्म, स्नेह-सम्बन्ध, राजलक्ष्मी, दया—
अत्याचार अपार हुआ जिसके लिए—
हाय हाय मच गई—मूल्य देकर जिसे
लेने की घोषणा कराई थी—वही,
पृथ्वी पर के उत्तम क्षत्रिय-वंश का
सिर, तुमको उपहार दिया युवराज ने !
इच्छा पूरी हुई तुम्हारी ! विश्व में
शान्ति स्वस्ति हो; विकट नरक की जल रही
आग बुझे; तुम सुखी बनो । (ऊपर देखकर)
मैया, मुझे,
करके मुझ पर दया, गोद में स्थान दो !
(गिरना और मृत्यु ।)

दौड़ कर इला का प्रवेश ।

इला—यह क्या, यह क्या, महाराज ! यह क्या हुआ ?
जीवनधन मेरा कुमार—

शङ्कर—(आगे बढ़ कर) प्रियपुत्र से,
प्रभु, स्वामी, सर्वस्व, सहारा, वृद्ध की
गति, यह अच्छा किया—बहुत अच्छा किया !
गौरव का यह मुकुट पहन कर, बाप के
सिंहासन पर आये राजा की तरह ।
तुम्हें मृत्यु ने अमर बनाया । होगया
मुख उज्ज्वल । बस मुझे जिलाया दैव ने
अब तक, महिमा यही दिखाने के लिए !
तुम तो, प्रभु, चल दिये वृद्ध को छोड़ कर
सुरपुर को; पर नहीं, चलूँगा साथ ही
मैं भी । (गिरना और मृत्यु ।)

चन्द्र०—(सिर से पृथ्वी पर मुकुट फेककर)
मणिमय मुकुट, तुझे धिक्कार है !
सिंहासन ! धिक् तुझे !
(सिंहासन में लात मारना ।)

रेवती का प्रवेश ।

चन्द्र०— पिशाची ! राक्षसी !
हट आगे से ! मुझे न अपना मुँह दिखा !

रेव०—सदा रहेगा नहीं क्रोध यह । (प्रस्थान ।)

विक्र०—(घुटने टेक कर) देवि, मैं
योग्य नहीं था अगर तुम्हारे प्रेम के,
तो क्या यह था उचित ? क्षमा की प्रार्थना
करने का भी समय न दो ? मैं रह गया
अपराधी ही, हाय, जन्मभर के लिए !
पैरों पड़ कर नित्य, क्षमा की भीख मैं
माँगा करता ! हाय, न कुछ भी कर सका !
निष्ठुर निश्चल हुई देव-प्रतिमा सदृश;
दण्ड तुम्हारा वज्रपात से भी कठिन !

[समाप्त]

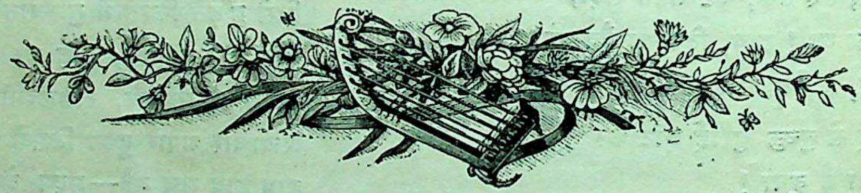

१—वीणा ।

बना मधुर मेरा जीवन,
नव नव कुसुमों से चुन चुन कर
धूलि, सुरभि, मधु, शुचि हिम-कन,
मेरे मानस की कलिका में
भरदे, करदे विकसित मन ।
बना मधुर मेरा भाषन,
जननि ! श्याम की वंशी-से ही
करदे मेरे सरस-वचन,
जैसा जैसा मुझको छेड़ें
बोलूँ अधिक मधुर, मोहन,
जो अकर्ण-अहि को भी सहसा
करदें मन्त्र-मुग्ध, नत-फन,
रोम रोम के छिद्रों से मा !
फूटे तेरा राग-गहन ।
बना मधुर मेरा तन, मन ।

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त ।

२—गोस्वामी तुलसीदासजी का ज्योतिष ज्ञान ।

तुलसी-कृत रामायण को यों तो सभी पढ़ते हैं, परन्तु जिन लोगों ने थोड़ी बहुत संस्कृत पढ़ी है उन्हें पद पद पर यह प्रकट होता है कि स्वामीजी असाधारण पण्डित थे और ऐसा बिरला ही कोई शास्त्र होगा जिसमें उनकी गति न थी। आज हम ज्यौतिष-शास्त्र के अनुसार उनके काल-ज्ञान की बानगी सरस्वती के पाठकों को भेंट करते हैं। लङ्काकाण्ड के आरम्भ ही में यह दोहा है।

लव निमेष परमाणु जुग, वर्ष कल्प शरचण्ड ।
भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड ॥

रामायण के तत्त्वज्ञ महात्मा रामचरणदासजी बैजनाथ, मुन्शी सुखदेवलाल, ज्ञानी सन्तसिंह स्वामी देवतीर्थ जो विद्वान् होने के अतिरिक्त भगवद्भक्त भी थे उनकी रची टीकायें छप चुकी हैं, परन्तु उनको कोई पूछता नहीं। नये नये टीकाकार नित्य निकलते आते हैं, जिनमें बहुत बड़ा गुण यह है कि बहुत सी बातें स्पष्ट रूप से प्राचीन टीकाओं से लेते हैं, परन्तु कृतज्ञता प्रकाश करना तो दूर रहा उनके नाम तक लेने में अपनी हेठी समझते

हैं। परन्तु भक्त भक्त ही है और जो बातें सूर्य के प्रकाश में देख पड़ती हैं उन्हें जुगनू कैसे दिखा सकेगा।

अब ऊपर लिखे हुए दोहे के अर्थ पर विचार कीजिए। यह तो स्पष्ट ही है कि लव, निमेष, युग, वर्ष, कल्प सब काल के मान माने गये हैं। कुछ क्रम बिगड़ा है इसका कारण ज्ञानी सन्तसिंह ने लिख दिया है कि "परमानु आदिक संख्या में क्रमभंगु है सो छन्दहेतु है।" ज्ञानी जी कहते हैं कि "परमानु से लेकर लव, निमेष, बरष, युग, कल्प यह जिसके बाण हैं उस रघुवीर के आगे लोहमय विशिखों कर राक्षसों को मारना केती बात है"। मुंशी सुखदेवलालजी ने परम अणु को सबसे छोटा मान माना है। रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश और बैजनाथजी ने परमाणु को छोड़ दिया है। प्राचीन टीकाकारों में केवल महन्त रामचरणदासजी ने लव आदि कालमानों का परिमाण इस क्रम से लिखा है—

"लव कही जो पलक कही वरौनी हालै है त्यहि साठि (६०) को निमिष कही, जामे पलक नेत्र न बार बार खुलति बन्द होति है त्यहि साठि निमिष को एक परमाणु होत है, साठि परमाणु को एक पल होत है, साठि पल को एक दण्ड होत है, साठि दण्ड को एक दिन राति होत है, तीस दिन राति को एक मास होत है, बारह मास कर एक वर्ष होत है, एक सौ वर्ष श्रीरामचन्द्रजी कर बाण है अरु लव अरु निमिष तेहि बाणन कै फोंक है अरु यहि प्रमाण ते वर्ष में लगे हैं चारिउ युग सोई बाणन के पर है अरु कल्प प्रचण्ड गाँसी है कल्प कही हजार सतजुग हजार त्रेता हजार द्वापर हजार कलियुग ऐसे चारिउ युग हजार हजार मिलि कै हजार चौकड़ी जब बीतैं तब ब्रह्मा का एक दिन होत है। अरु बतरै (उतनै) बीते रात्रि होति है तब प्रलय होति है ताको कहूँ नैमित्य प्रलय कहते है वहाँ ब्रह्मा कर लोक रहि जात है अपर प्रलय होइ जात है।" ऐसा ही कुछ अर्थ एक आजकल के टीकाकार ने भी किया है। परन्तु कोई प्रमाण नहीं दिया है।

साधारण बोलचाल में परमाणु दिशा (Space) का सूचक है काल का नहीं। मैंने जहाँ तक देखा है उसमें किसी ज्यौतिष के ग्रन्थ में परमाणु कालवाचक नहीं मिला। अगत्या मैंने अपने मित्र स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी के सुयोग्य पुत्र पण्डित पद्माकर द्विवेदी को लिखा। उन्होंने भी उत्तर दिया कि "किसी ज्योतिष-सिद्धान्त में परमाणु कालवाचक नहीं है और ज्यौतिःशास्त्र के परम प्रसिद्ध ग्रन्थ—

"सूर्यसिद्धान्त की किसी किसी पोथी के अनुसार

सूच्याधित्रे पद्मपत्रे त्रुटिरभिधीयते
तत्षष्ठया तु भवेद्रेणू रेणुषष्ठ्या लवः स्मृतः॥

"सुई के कोंचे पुरयिन के पत्ते में जो छेद हो उसे त्रुटि कहते हैं, साठ त्रुटि का एक रेणु और साठ रेणु का एक लव होता है॥ भास्कराचार्यजी लिखते हैं।

यो लोचनस्य पक्ष्मपातः स निमेषः
स यावता कालेन निष्पद्यते तावान् कालोपि
निमेषशब्देनोच्यते

"आँख की बरौने के हिलने को निमेष कहते हैं। जितनी देर में निमेष होता है उस काल को भी निमेष कहते हैं। भट्टोसल ने पराशर का प्रमाण देकर कहा है।

यावता कालेन विकृतमक्षरमुच्चार्यते स निमेषः
निमेषद्वयं त्रुटिः

"जितनी बेर में विकृत अक्षर का उच्चारण हो वह निमेष है दो निमेष की एक त्रुटि होती है"।

इस वर्ष की सरस्वती की पहली संख्या में श्रीयुत गोपालदामोदर तामस्कर महाशय का "कौटिल्य का कालमान" शीर्षक एक लेख छपा है, जिसमें अथर्व ज्योतिष के अनुसार कालमान इस प्रकार दिया हुआ है।

१२ निमेष का एक लव
३० लव की एक कला
३० कला की एक त्रुटि
३० त्रुटि का एक मुहूर्त्त
३० मुहूर्त्त का एक अहोरात्र

और अर्थशास्त्र के अनुसार

२ त्रुटि का एक लव
२ लव का एक निमेष
५ निमेष की एक काष्ठा
३० काष्ठा की एक कला

४० कलों की एक नाड़िका
२ नाडिका का एक मुहूर्त्त
१५ मुहूर्त्त का एक दिन-रात

इससे विदित है कि कालमान के विषय में ज्योतिष सिद्धान्तों का भी मत एक नहीं है और परमाणु को कालमान के अर्थ में तो किसी ने भी नहीं माना ।

अब अमरकोश को देखिए । संस्कृत न जाननेवालों की सुविधा के विचार से हम मूल-संस्कृत न लिख कर महाकवि दास-कृत अमरकोश भाषा से कालमान का प्रसङ्ग उद्धृत करते हैं ।

"अठारहै निमेष का मिलाइ कासठा (काष्ठा) कही ।
एकत्र तीस कासठा कला अकेल है सही ॥
मिलै कला जु तीस तौ छनेक ताहि मानिये ।
छनौ मिलाइ बारहौ मुहूरतै बखानिये ॥
करै जु एक ठौर आनि तीसहू मुहूरतौ ।
अहो निसा कहावई बिचारि ज्ञान पूरतौ ॥
अहो निसा जु पंद्रहौ सु पक्ष एक होइ जू ।
मिले दुपक्ष के प्रसिद्ध मास होइ सोइ जू ॥
मिलाइ मास दोय को ऋतु अकेल भाषिए ।
ऋतु एकत्र तीनि ठानि ऐन (अयन) नाम राखिये ।
दु ऐन एक ठौर ठानि वत्सरै प्रसिद्धि है ।
अनेक भाँति जाहि ते युगादि कल्प वृद्धि है ।"

अमरकोश को संस्कृत पढ़नेवाला एक एक बच्चा कण्ठ करता है । इससे हम कैसे कहें कि गोस्वामीजी इसे नहीं जानते थे । हमारा मत तो यह है कि गोस्वामीजी ने श्रीमद्भागवत को प्रामाणिक माना और उसकी प्रतिष्ठा की । श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्द में कालमान के विषय में जो कुछ लिखा है उसका आशय यह है, "मैत्रेयजी बोले—हे विदुर, जिसका भाग नहीं किया जा सकता, जो अनेक और अमिश्रित है, उसे ही परमाणु कहते हैं । इन परमाणुओं के एकत्र मिलने से आकार विषय का ज्ञान होता है परमाणु जिन पदार्थों के शेष अंश हों वे सब पदार्थ अपने अपने स्वरूप में स्थित होकर परस्पर मिलने वा एक होने से ही परम महत् विश्व नाम से वर्णित होते हैं । जैसे पदार्थ स्थूल और सूक्ष्म हैं, काल भी उसी भाँति स्थूल सूक्ष्म और मध्यम है । काल नारायण की शक्ति विशेष है और सृष्टि-कार्य में निपुण है । इसलिए स्वयं अव्यक्त हो के भी परमाणुओं के साथ मिल कर व्यक्त पदार्थ की भाँति जाना जाता है । जो सब कार्य की परमाणु अवस्था भोगें उनका भी नाम परमाणु है । और जो काल उनकी सालोक्य अवस्था भोग करै उसका नाम परम महत्त है । ऊपर कहे दो परमाणुओं का एक अणु, तीन अणु का एक त्र्यसरेणु (नेत्र के गोचर) हुआ करता है । सूर्य्य-किरण के गवाक्ष-द्वार से प्रविष्ट होने पर दीखता है कि त्र्यसरेणु उसके बीच उठते हैं । तीन त्र्यसरेणु परिमित काल का नाम त्रुटि है, एक सौ त्रुटि का एक बेध होता है, तीन बेध का एक लव, तीन लव का एक निमेष, तीन निमेष का एक क्षण, पाँच क्षण की एक काष्ठा और पन्द्रह काष्ठा का एक लघु होता है । पन्द्रह लघु की एक नाड़िका, और दो नाड़िका (दंड) में एक महूर्त्त होता है । छः वा सात नाड़िका में एक प्रहर होता है । प्रहर मनुष्यों के दिन वा रात का चतुर्थांश है । इसी प्रकार चार प्रहर का एक दिन और चार प्रहर में मनुष्यों की एक रात्रि होती है । पन्द्रह दिन का एक पक्ष होता है । कृष्ण और शुक्ल भेद के दो पक्ष हैं, दो पक्ष में एक महीना होता है, यही पितरों का दिन और रात है । इसी भाँति दो महीने की एक ऋतु और छः महीने का एक अयन होता है । अयन दो प्रकार के हैं एक दक्षिणायन, दूसरा उत्तरायण । दो अयन में देवताओं का एक दिन और रात होती है । बारह महीने का एक वर्ष होता है (श्रीमद्भागवत—पं० बलदेवप्रसादकृत भाषानुवाद—भारतमित्र प्रेस का छापा पृष्ठ १४०)

विचारने की बात है कि आज-कल के योरपीय विज्ञान-शास्त्रियों ने भी काल (Time) और दिशा-दिक् (Space) का घनिष्ठ सम्बन्ध माना है ।

श्रीअवधवासी सीताराम

३—प्रार्थना ।

(१)

हे प्रभु दीनदयालु दयानिधि,
है बिनती तुमसों यह मेरी ।

12

तारयो है पापी घने जग में,
कवि कौन कहै गणना तिन केरी ॥
हैं तिनकी गिनती में महूँ,
अब वेगि गहैा कर सों कर हेरी ।
'राम सखी' रट लागि रही,
शरणागत हैं। शरणागत तेरी ॥

(२)

कूबरी-रूप सुरूप करी,
अरु धाये हुते जब द्रौपदी टेरी ।
तारि गयन्द को ग्राह हन्यों,
अरु गीध की बेर करी नहिं देरी ॥
गौतमतीय तरी छण में,
अरु कीन कृपा शबरी तन हेरी ।
तैसहिं वेगि सनाथ करौ,
मोहिं जानि दयानिधि आपनि चेरी ॥

(३)

मोरपखा छबि शीश लसै,
अरु कानन कुण्डल है लटको ।
भृकुटी औ कपोल हरैं मन को,
अरु नैनन-सैन हिये खटको ॥
अब कोऊ कितो उपहास करौ,
मन साँवरी मूरति पै अटको ।
मोहि और न कोऊ सुहात सखी,
हियरे में बसो पियरे पटको ॥

रामदुलारी

४—प्रेम-पुष्पाञ्जलि।

परमात्मा ! मुझे वह आँख दे जो संसार के सकल पदार्थों को प्रेम की दृष्टि से देखे। (वेद ।)

प्रेम स्वर्ग का रास्ता है । (टाल्स्टाय ।)

प्रेम मनुष्यत्व का दूसरा नाम है । (भगवान् बुद्ध ।)

इस संसार में एक ही शिक्षा लेने की आवश्यकता है। और वह प्रेम की शिक्षा है । (स्वामी रामतीर्थ ।)

परमात्मा पूजा का नहीं, प्रेम का भूखा है । (स्वामी दयानन्द ।)

घृणा राक्षसों की सम्पत्ति है । क्षमा मनुष्यत्व का चिह्न है । परन्तु प्रेम देवताओं का स्वभाव है । (भर्तृहरि।)

प्रेम संसार की ज्योति है । (महात्मा मसीह ।)

मेरी आज्ञा यह है कि तुम एक दूसरे से प्रेम करो। (कन्फ़्यूशस।)

सुन्दर वस्तु सदा के लिए प्रसन्नता की सामग्री है। (कीट।)

परमेश्वर के प्यारे वे हैं जो उसकी सृष्टि से प्यार करते हैं ।

(आस्कर्वाईल्ड ।)

परमेश्वर प्रेम है । (ब्रौनिंग ।)

मेरी पुस्तकें स्त्री की आँखें हैं । (मूर ।)

प्रेम आँखों से नहीं हृदय से देखता है। यही कारण है कि प्रेम का देवता अन्धा बनाया गया है । (शेक्सपियर ।)

बुद्धिमान् केवल वही हैं जो प्रेम में पागल हो चुके हैं। (जोश्वाकूक ।)

भोग-विलास और प्रेम में बड़ा अन्तर है। (रामकृष्ण परमहंस ।)

मुझे तुझसे प्रेम है, मुझे तेरी चाह है । मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ । रात को सोते हुए यह है, दिन को जागते हुए यह । (टामस हुड ।)

प्रेम खिलौनों से खेलता है, क्योंकि प्रेम का देवता बालक है । (फ़ोर्ड ।)

प्रेम अन्धा नेता है । जो इसके पीछे चलता है, रास्ता भूल जाता है । (कोलेरयर ।)

प्रेम नगरों में नहीं देहाती झोंपड़ियों में बसता है। (गेटी ।)

प्रेम मनुष्य की सबसे बड़ी निर्बलता है । (चाणक्य ।)

प्रेम मनुष्य की निर्बलता भी है और हथियार भी। (नीशे ।)

प्रेम पापियों को भी सुधार देता है । (कबीर।)

मैत्री आत्माओं के ब्याह का नाम है । (वाल्टेयर।)

दूसरों से प्रेम करना अपने आपसे प्रेम करना है। (इमर्सन।)

दण्ड देने का अधिकार केवल उसी को है जो प्रेम करता है। (रवीन्द्रनाथ।)

प्रेम की जिह्वा आँखों में है। (फ़िलचर।)

कवि केवल स्वप्न देखनेवाला मनुष्य नहीं। उसका हृदय संसार की भावनाओं का दर्पण है। उसके गीत संसार के प्रहसनों की गूँज है। और उसका रोना मनुष्यत्व के आँसू हैं।

(सरोजिनी नायडू।)

दया दरवाज़ा खोलती है, परन्तु प्रेम अन्दर पहुँचा देता है। (?)

संसार में एक ही प्यारा मुखड़ा था। (बायरन।)

जो प्रेम प्रकट न किया जाय वह सबसे पवित्र है। (कारलाइल।)

प्रेम कभी नष्ट नहीं होता। उसके पवित्र चिंगारे सदैव प्रकाशित रहते हैं। यह स्वर्ग से आता है और स्वर्ग को चला जाता है। (सौदे।)

जो बारम्बार प्रेम करता है वह प्रेम करना नहीं जानता। (गुसाईं तुलसीदास।)

वह क्या वस्तु है जो साधारण मकान को आनन्द-गृह में बदल देती है—प्रेम। (चासर।)

ज्ञान के ठण्डे प्रकाश में प्रेम की बूटी कभी नहीं उग सकती। (कान्ट।)

सुदर्शन

५—आह्वान।

मैं पापी हूँ, सदा पाप रत; चाहूँ कभी न भिक्षा-दान।
फिर भी करते सदा दया कर, क्षमा मुझे तुम कृपा-निधान
जीवन के कार्यों में जब मैं, होता व्यस्त, न रखता ध्यान।
बीच बीच में सुना तुम्हारी, मुरली का तब अस्फुट गान॥
जब तुमको उद्दाम चित्त यह, जाता है स्वेच्छा से भूल।
तब भी स्वयं ग्रहण करते हो, तुम अपना आसन अनुकूल
अन्धकार में भ्रान्त पथिक हो, जब करता हूँ हाहाकार।
ज्योति दिखाते हो तब आकर, तुम ही मुझको करुणागार॥
प्रभु की निश्छल करुणा मेरे, नित्य उपेक्षा का अवसान।
क्या इसके आभास-मात्र का ज्ञान मिलेगा करुणावान?
मेरे कुत्सित व्यापारों का मिलता नहीं कभी तो छोर।
फिर क्या कारण है जो मुझको, खींच रहे तुम अपनी ओर?

मङ्गलप्रसाद विश्वकर्म्मा

१—राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्रवाद ।

राजनैतिक सिद्धान्त और राजनैतिक व्यवहार दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहना कठिन है कि इनमें किसने किस पर अपना प्रभाव अधिक डाला है। यदि एक ओर राजनैतिक सिद्धान्त ने इतिहास के मार्ग को परिष्कृत किया है तो दूसरी ओर घटना-चक्र ने भी राजनैतिक विचार-क्षेत्र पर अपना प्रभाव डाला है। राष्ट्रीयवाद और प्रजातन्त्रवाद की घनिष्ठता की बात राजनीति के किसी विद्यार्थी की अपेक्षा साधारण आदमी को अधिक ज्ञात है।

साधारणतया राष्ट्रीयता की भावना प्रजातन्त्रीय भेष में व्यक्त की जाती है। आधुनिक सभ्यता के इतिहास के कुछ कालों में राजनैतिक सिद्धान्त और राजनैतिक व्यवहार का सम्बन्ध वास्तविक और महत्त्वपूर्ण रहा है। इस बात को हम भूले सा जा रहे हैं। राष्ट्रीयता की भावना प्रजातान्त्रिक आवरण में क्यों प्रकट की जाय, राजनैतिक सिद्धान्त की दृष्टि से इसका कारण समझ में नहीं आता। राष्ट्रीय विकास-सम्बन्धी हमारा अध्ययन जब १९ वीं सदी के इतिहास के परे पहुँच जाता है तब हम यह देख कर चकित हो जाते हैं कि कभी कभी राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के आन्दोलन जनता-द्वारा मनोनीत कुछ लोगों की सरकार से सहमत हो गये हैं।

इतिहास की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों बातों के सम्बन्ध का मूल सम्भवतः अमरीका के उपनिवेशों के विद्रोह और फ़रासीसी राष्ट्रविप्लव से है। इन घटनाओं से राजनैतिक सिद्धान्त को न्याय-युक्त होने के लिए विकसित होना आवश्यक हो गया। उसके इस नव-विकसित रूप का १९ वीं सदी के योरप पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। जर्मनी और इटली में राष्ट्रीय आन्दोलन की स्फूर्ति का प्रत्यक्ष दायित्व इसी सिद्धान्त पर है। सिद्धान्त और व्यवहार की घनिष्ठता का परिणाम यह हुआ कि आज लोग प्रजातन्त्रवाद तथा राष्ट्रीयवाद को परस्पर गुथा हुआ समझते हैं। वे नहीं समझ सकते कि राष्ट्रीयवाद अप्रजातान्त्रिक होकर अस्तित्व में कैसे रह सकता है और उग्र राष्ट्रीयवाद से प्रजातान्त्रिक संस्थायें कैसे अलग की जा सकती हैं। परन्तु राजनैतिक सिद्धान्त के विद्वानों की बात अलग छोड़िए। वे तो राष्ट्रीयवाद और प्रजातन्त्रवाद के सिद्धान्तों के सम्बन्ध को आकस्मिक ही बतलाते हैं। हमें अपनी आँखों से संसार की वर्तमान स्थिति को देखना चाहिए। हम देखेंगे कि जिन दो बातों को हम अब तक एक दूसरे का पर्याय समझते थे उनके सम्बन्ध की हमारी धारणा शीघ्रता के साथ भ्रामक सिद्ध होती जा रही है। आज योरप में हमारे समक्ष जैसे प्रचण्ड राष्ट्रीयवादी आन्दोलन उपस्थित हैं, वैसा पिछले सौ वर्षों के इतिहास में हमें एक भी नहीं देख पड़ता। ये नूतन आन्दोलन स्पष्टरूप से अप्रजातान्त्रिक हैं। इटली में फ़ैसिस्ट-सम्प्रदाय का ज़ोर है, स्पेन में जङ्गी राष्ट्रपतित्व का प्राबल्य है और जर्मनी की गतिविधि विद्वन्मण्डली की सत्ता की ओर झुकी हुई है। यह राजनैतिक स्थिति केवल योरप तक ही परिमित नहीं है। अमरीका के संयुक्त-राज्यों में भी प्रजातन्त्रवाद के विरुद्ध लोगों का भाव बलवान् पड़ता जा रहा है।

आज संसार में यह बात बिलकुल स्पष्ट हो रही है कि प्रजातन्त्रवाद के मार्ग से ही राष्ट्रीयवाद का व्यक्तीकरण पर्याप्त न समझा जाय। १९ वीं सदी के उदारवाद-

द्वारा वह जिस सीमा में परिमित था उसका वह अब अतिक्रमण कर गया है। और लोकप्रिय शासन-व्यवस्था की उपयोगिता-सम्बन्धी भ्रम का भी साधारण तौर पर निरसन हो गया है। इस स्थिति के कारणों पर विचार करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। हमारा उद्देश केवल यह दिखलाना है कि अब राष्ट्रीयतावाद और प्रजातन्त्रवाद पहले जैसे एक दूसरे के सहयोगी नहीं रह गये हैं। परन्तु उनकी दीर्घकालीन घनिष्ठता अपना महत्व अवश्य रखती है, इसमें सन्देह नहीं है और राजनैतिक विचार-परम्परा में जो अनियमता आ गई है उसका अधिक दायित्व इसी पर है। साधारण लोगों के मन में इन दो बातों की घनिष्ठता की जो बात समाई हुई है उसकी दृष्टि से राष्ट्रीयतावाद के समर्थक आज भी अपने विचारों को प्रजातन्त्रवाद का जामा पहनाने के लिए बाध्य हैं। यहाँ तक कि फ़ैसिस्ट दल भी, जिसके समान अप्रजातन्त्रवादी संस्था १९ वीं सदी के प्रारम्भ से आज तक अस्तित्व में नहीं आई, अपने को प्रजातान्त्रिक होने का दम भरता है। वास्तव में बात यह है कि लोगों के लिए ही शासन-प्रबन्ध होना चाहिए। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के अन्तर का रहस्य इसी बात में है। मानव-जाति धीरे धीरे इस सम्बन्ध में अधिकाधिक अनुभव प्राप्त करती जाती है कि लोगों के द्वारा शासन-प्रबन्ध और लोगों के लिए शासन-प्रबन्ध एक दूसरे का पर्याय नहीं है, इनमें बड़ा भारी भेद है। लोग शासन-प्रबन्ध को लोगों के लिए चाहते हैं, अतएव अधिकांश लोग लोगों-द्वारा शासन-प्रबन्ध के सिद्धान्त को सर्वथा परित्याग कर देना चाहते हैं। परन्तु उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों की घनिष्ठता की बात इतना अधिक प्रसिद्ध है कि उनकी व्यावहारिक भिन्नता इस समय भी भले प्रकार प्रच्छिन्न है। उदाहरण के लिए भारत की ही बात लीजिए। यहाँ की विद्वन्मण्डली अपने को लोगों का प्रतिनिधि बतलाती है। राजनीतिज्ञों के इस गड़बड़ से अधिक विचित्र और कौन बात हो सकती है? यहाँ की व्यवस्थापक सभाओं में भारतीय नेताओं-द्वारा दिये गये भाषणों को सुन कर कोई भी नवागन्तुक यही समझ सकता है कि ये लोग प्रतिनिधि-मात्र हैं और इन्होंने अपने भले प्रकार सङ्गठित निर्वाचन-क्षेत्र का ही मत व्यक्त किया है। परन्तु वास्तव में बात कुछ दूसरी ही है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रजातान्त्रिक रूप भ्रामक है। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश लोगों-द्वारा शासन-प्रबन्ध है, परन्तु यहाँ लोगों से मतलब विद्वन्मण्डली से है। हाँ, दूसरी बातों में इसका उद्देश लोगों के लिए शासन-प्रबन्ध है। इसके समर्थकों का यह विश्वास है कि भारतीयों के लिए भारत का शासन उन्हीं लोगों-द्वारा हो सकता है जो इसी देश के निवासी हैं।

२—टर्की की आशा।

नूतन तुर्क-राज्य के निर्माता मुस्तफ़ा कमाल पाशा ने कहा है कि 'तुर्क-राज्य के एक-मात्र और असली स्वामी किसान हैं'। एक लेखक का कहना है कि तुर्की के सर्व-सर्वा वीरवर कमाल के इस कथन की सत्यता तुर्की में रहने से ही जानी जा सकती है। पिछली शताब्दी में, विशेषकर पिछले पन्द्रह वर्षों में, तुर्की पर अनेक आपदायें आईं। उनको सहन करने में किसानों ने दूसरों की अपेक्षा अपने धैर्य का पूर्ण परिचय दिया है। शत्रु-मित्र दोनों की सेनाओं ने उन्हीं के खेतों को रौंदा और उन्हीं के घरों को मटियामेट किया, युद्ध में उन्हीं की सन्तान को आत्म-बलिदान करना पड़ा और उसके लिए उन्हीं को अपनी धन-दौलत अर्पण करनी पड़ी। उन्होंने इन सब विपत्तियों को गम्भीरता के साथ वहन किया। परन्तु इतने दिन बाद अब उन्हें शान्ति का दर्शन हुआ है और अपने घर में रह कर अपने प्रिय खेत जोतने के लिए फिर अवसर प्राप्त हुआ है।

तुर्की अपने आर्थिक सङ्कट की ओर विदेशियों का ध्यान आकृष्ट कर रही है। परन्तु उनका ध्यान किसानों की अपेक्षा नगरवासियों की ही स्थिति की ओर जाना चाहिए। कान्स्टैंटिनोपल आनेवाला साधारण यात्री भी उसे देखते ही उसकी दुरवस्था तत्काल जान जायगा। जहाँ जीवनयापन महँगा और व्यवसाय की बुरी दशा हो गई है, वहाँ असन्तोष का होना स्वाभाविक है। कान्स्टैंटिनोपल में लोगों ने अपने छिपे हुए असन्तोष को समय समय पर प्रकट भी किया है। रेलवे, ट्राम और गैस के कारखानों के मज़दूरों ने, डोंगी और नाववालों ने एवं कम्पोज़ीटरों ने भी हड़तालें कीं या करने की धमकियाँ दीं। तुर्क-

सरकार के राजकर्मचारियों की संख्या ६० हज़ार और उसके अवसर-प्राप्त अधिकारियों की संख्या एक लाख है। उसके अधिकारियों की यह संख्या उस तुर्क-साम्राज्य के अधिकारियों की संख्या से पचगुनी अधिक है जो पहले वर्तमान तुर्क-राज्य से चौगुना बड़ा था। इन अधिकारियों की एक बड़ी संख्या स्तम्बोल में एकत्र कर दी गई है। ये सब यहाँ नाममात्र के वेतन पर अपना दुःख-पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। रोज़ ऐसे लोगों की करुण-कथा सुनने में आती है जो किसी समय अच्छी हालत में थे। आज वे अपनी दुरवस्था के कारण अपने घर की चीज़ें बेंच बेंच कर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यही नहीं, उनमें से कुछ तो इस दशा को पहुँच गये हैं कि उन्हें भीख माँग कर अपनी गुज़र करनी पड़ती है। वहाँ के एक प्रधान पत्र ने अभी हाल में लोगों का ध्यान आत्म-हत्याओं की बढ़ती हुई संख्या की ओर आकृष्ट किया है। आत्महत्याओं की यह वृद्धि वही लोग कर रहे हैं जो पहले अच्छी दशा में थे। पर आज उनकी पूर्व जैसी दशा नहीं रह गई है और उन्हें इस दुष्कर्म के द्वारा अपने कष्टों से मुक्त होना पड़ रहा है। अतएव इस बात में उतना अधिक आश्चर्य नहीं है कि वहाँ कुछ असन्तोष होना ही चाहिए, किन्तु इस बात में है कि वह असन्तोष इतना साधारण है।

परन्तु अनाटोलियावासी किसान उपर्युक्त प्रकार के सङ्कटों से मुक्त हैं। कभी कभी ऐसे किसानों से भी भेट हो सकती है जो युद्ध में क़ैद रहे हों और उस दशा में उन्होंने अँगरेज़ी या रूसी भाषा सीख ली हो और जो कुछ उस दशा में उन्होंने अनुभव किया हो उसका विचार भी वे करते हों। परन्तु ऐसे लोग बहुत कम मिलते हैं। अधिकांश लोग अपने घरों को जैसे के तैसे ही लौट गये हैं, उनके अनुभवों ने प्रायः उन पर प्रभाव नहीं सा डाला है। वे अपने पहले के परिश्रम-साध्य और नित्य के काम में फिर पूर्ववत् जा लगे हैं।

वस्तुतः तुर्की किसान के लिए उसके परिश्रम-साध्य कामों में तफ़रीह जैसी कोई बात नहीं है। वह कच्ची ईंटों के एक छोटे से मकान में रहता है। उसमें एक ही दो कमरे रहते हैं, जो उसके खाना बनाने और माल-असबाब रखने के काम आते हैं। कुछ रग, बिस्तरे, जो फ़र्श पर पड़े रहते हैं, कुछ भद्दे स्टूल और भोजन बनाने के बरतन, यही उसका माल-असबाब है। उसके कपड़े-लत्ते और खाना-पीना सब सादा ही रहता है। जब वह अपने भैंसे लेकर खेत जोतने जाता है तब बाबा आदम के ज़माने के अपने लकड़ी के हल का ही वह उपयोग करता है और उसी अपने पुराने ढङ्ग से अपने खेतों की उपज को झाड़-झूड़ कर अन्न साफ़ कर लेता है।

ईसाई-गाँवों में ईसाई-किसान प्रायः तिथि-त्योहारों में दावत आदि देकर अपने जीवन का आनन्द मनाते देखे भी जाते हैं, पर तुर्की किसान को यह सौभाग्य भी नहीं प्राप्त है। उसके यहाँ ऐसे त्योहार भी इने-गिने ही होते हैं। जब कभी कोई समाचार-पत्र दिहात में पहुँच जाता है और उसमें कोई वैसी बात होती है तब बड़ी मेहनत से कोई आदमी उसे गँवार लोगों को, जो उसे घेर कर बैठ जाते हैं, पढ़ कर सुना देता है। ऐसी ख़बरें, जो वह प्रायः यथानियम सुना करता है, स्थानिक गपशप की बातें-मात्र होती हैं, इनके साथ ही कभी कभी पड़ोस के नगर से उसे राजनैतिक घटना की बातें भी सुनने को मिल जाती हैं। पर ये बातें उस तक बहुत कुछ तोड़ी-मरोड़ी जाने के बाद पहुँच पाती हैं। पुनर्निर्माण विभाग के मन्त्री का कहना है कि अनाटोलिया के पूर्वी प्रान्तों में १ लाख ५५ हज़ार घर आग लगा कर भस्म किये गये हैं और इस प्रकार ५ हज़ार गाँव नष्ट हो गये हैं। इन संख्याओं से पता लगता है कि पुनर्निर्माण का कितना बड़ा काम तुर्क-सरकार के आगे है। इनसे उस उत्साह का भी पता लगता है जिससे किसान लोग मुस्तफ़ा कमाल पाशा के झण्डे के नीचे एकत्र हुए थे और आक्रमणकारी यूनानियों का सामना किया था। युद्ध के थके हुए तुर्क-किसानों को यूनानियों के आक्रमण का सामना करना बहुत ही कठिन बात थी। परन्तु इस स्वाधीनता के युद्ध में उनके अपने प्रत्यक्ष स्वार्थ और देश-प्रेम ने मिलकर अन्तिम चेष्टा के लिए उन्हें मुस्तैद कर दिया।

तुर्क-सरकार ने अपने जिस बड़े भारी कार्यक्रम की सूचना दी है वह देश की स्थिति के अनुसार सर्वथा

उपयुक्त है। यह बात सच है कि अनाटोलिया की भूमि बहुत उपजाऊ है, उसकी उपज दसगुनी की जा सकती है, वहाँ के किसानों को अप-टु-डेट कृषक बनाने के लिए टेकनिकल शिक्षा और कृषि-सम्बन्धी आधुनिक यन्त्रों की भी आवश्यकता है। निस्सन्देह तुर्की का प्रधान व्यवसाय कृषि ही है। तुर्क-किसान अपने इस धन्धे में प्रवीण भी होते हैं। परन्तु पूँजी के बिना कृषि उतनी उन्नति अभी वहाँ नहीं कर सकती जितनी देश के लिए आवश्यक है। देश चाहता है कि उसकी आय से थोड़े ही समय के भीतर राष्ट्र के सभी विभागों में उन्नति की जाय। यदि किसानों की आवश्यकताओं का प्रभाव उनकी सरकार पर पड़ेगा और तुर्क-सरकार विदेशियों के प्रति उदार नीति ग्रहण करेगी तो मानना पड़ेगा कि तुर्क-किसानों ने अपनी उन सेवाओं में एक और की वृद्धि की जो उन्होंने अब तक अपनी नई सरकार की की हैं।

३—दक्षिण-अफ़्रीका की व्यवसाय-नीति।

दक्षिण-अफ़्रीका की पार्लियामेंट में वर्तमान सरकार की पराजय हो जाने से प्रधान-मन्त्री जनरल स्मट ने स्वेच्छा से त्यागपत्र देकर नये चुनाव की व्यवस्था कर दी है। यह चुनाव भी हाल में ही होगा। अपनी नीति के सम्बन्ध में जनरल स्मट ने जो भाषण अपने निर्वाचकों के समक्ष दिया है वह महत्त्वपूर्ण है। अतएव उसका सारांश यहाँ दिया गया है—

सावधान! अगली सरकार मज़दूरों और राष्ट्रवादियों के सङ्घ की होगी। पिछले चुनाव के फलस्वरूप सरकार ने अपने सर्व-प्रथम और सर्व-श्रेष्ठ उद्देश में सफलता प्राप्त की है। वह जातिवाद का उन्मूलन करने में समर्थ हुई है। 'नई साउथ अफ़्रीकन पार्टी' में यूनियनिस्टों को शामिल कर लेने से प्रेम और मेल की वृद्धि में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। इसी से पार्लियामेंट भी देश के कार्य के प्रति अपना ध्यान देने में समर्थ हो सकी। यदि जनरल बोथा आज जीवित होते तो वे अपने काम को इस प्रकार फला-फूला देख कर अत्यन्त प्रसन्न होते।

सरकार का दूसरा उद्देश उन लोगों को पराजित करना था जो साम्राज्य से अपना सम्बन्ध भङ्ग करना चाहते हैं। यहाँ के राष्ट्रवादियों का यही मुख्य सिद्धान्त है। इसी को आगे कर वे सरकार से लड़ रहे हैं। पिछले चुनाव के अवसर पर सरकार को पूर्ण विजय हुई थी। परन्तु आज राष्ट्रवादी नेता कुछ और ही कह रहे हैं। वे कहते हैं कि विच्छेद का प्रश्न पार्लियामेंट के पिछले अधिवेशन-काल में उठाये जाने से मुलतवी कर दिया गया था। कर्नल क्रेसवेल कुछ विश्राम करना चाहते हैं, अपने अवकाश काल में वे जनरल केम्प को रक्षा-मन्त्री बना दिये जाने के लिए उत्सुक हैं। इस सम्बन्ध में वे पूरा प्रयत्न भी करेंगे। इस प्रकार वे विच्छेदवादियों के हाथों में दुर्ग की चाभियाँ सौंप कर अपने अवकाश-काल के बाद उसका उपयोग करना चाहते हैं। कर्नल क्रेसवेल की एक यही इच्छा है कि मेरा और मेरी सरकार का पराभव हो। अपनी इस इच्छा के कारण अब वे इस स्थिति को पहुँच गये हैं जो यह प्रकट करती है कि राजनीति में ईर्ष्या कितनी भयङ्कर वस्तु है।

सरकार का तीसरा उद्देश देश को अत्यन्त विक्षुब्ध बायु-मण्डल से कुशल-पूर्वक मर्यादा के सहित निकाल ले जाना रहा है। रैंड के विप्लव, बेकारी की उग्रता, पचास साला अकाल और टिड्डी दल के संहारक आक्रमणों के कारण देश को घोर परिस्थिति से सामना करना पड़ा है और उसने अपनी आत्मरक्षा करने में कुछ उठा भी नहीं रक्खा, जिससे उसका मनोरथ भी पूर्ण हुआ है। रेलों और साधारण आर्थिक बातों में अब घाटा नहीं हो रहा है, बरन उनके लाभ के कारण टैक्स के कम किये जाने की भी सम्भावना देख पड़ती है। हम लोग अपनी विकटावस्था से सफलता-पूर्वक ही नहीं निकल आये, किन्तु आज दक्षिण-अफ़्रीका की साख अधिकांश महाशक्तियों की अपेक्षा अधिक और ग्रेट ब्रिटेन के समान हो गई है। वर्तमान सरकार ने रेलों और बन्दरगाहों के बनवाने का कार्य पूर्ण किया है और यदि उसकी विजय हुई तो वह ऐसे ही अन्य दूसरे कार्य छेड़ेगी। हम लोगों ने देश के लिए योरपीय बाज़ारों के द्वार खुलवा लिये हैं और उसी प्रकार उत्तरी अमरीका के लिए भी एक विशेष व्यापारी कमिश्नर नियुक्त करना चाहते हैं। सरकार के विरोधी दल ने ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रीफ़रेंस सिद्धान्त को स्वीकार करने में बाधा दी थी। ऐसा करके उसने दक्षिण-अफ़्रीका का हित नहीं किया है। 'पहले दक्षिण-अफ़्रीका तब और' के माननेवालों की नीति का यह कैसा बढ़िया नमूना है!

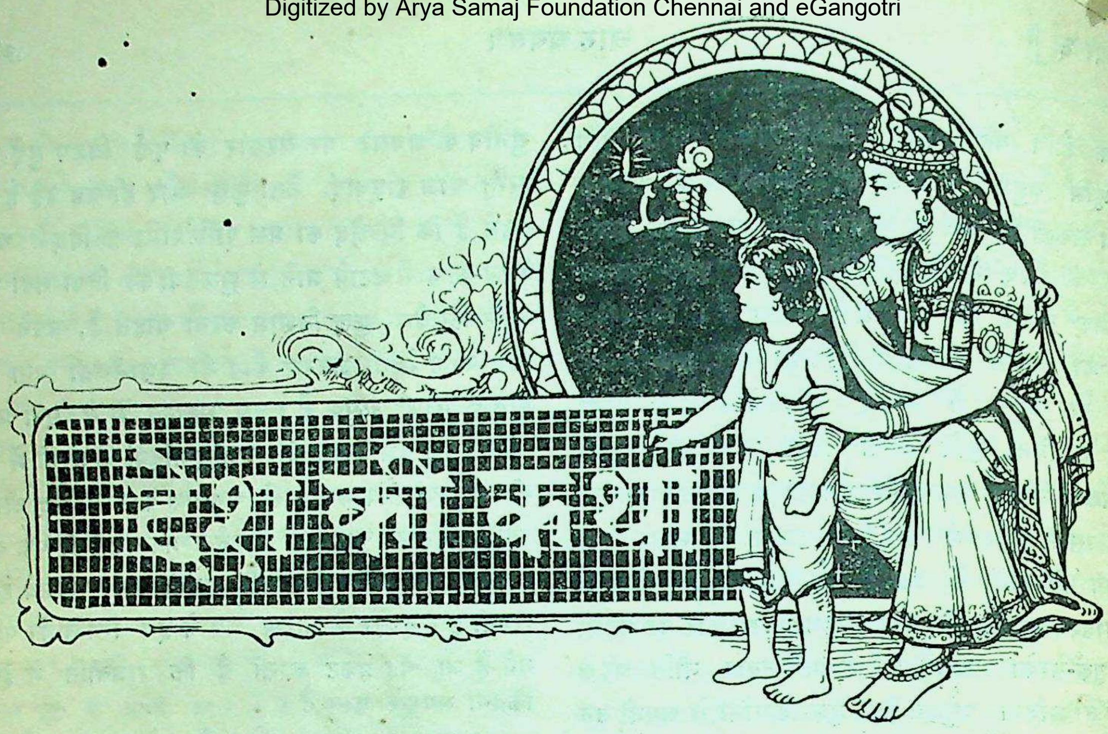

देश की कथा

१—भारतीय कृषि की समस्या।

जब देश में इतनी ज़मीन रहती है कि बोने पर भी वह यथेष्ट पड़ी रहती है तब कृषि का व्यवसाय विशेष कठिन और कष्टप्रद नहीं होता। मनमानी ज़मीन पड़ी है, इस साल इस खेत को जोतो, दूसरे साल दूसरे को। बीच बीच में पड़ती पड़ने से ज़मीन निकम्मी होने का डर नहीं, और इस कारण जब वह बोई जाती है तब वह ख़ासी उपज देती है। परन्तु अब यह स्थिति संसार के बहुत कम देशों में है। अब प्रत्येक देश की मनुष्य-संख्या इतनी बढ़ गई है कि कृषि की वह पुरानी योजना त्याज्य हो गई है। अब उसी ज़मीन के द्वारा अनेक गुने अधिक लोगों का निर्वाह करना होता है। कुछ देशों में तो मनुष्य-संख्या इतनी अधिक हो गई है कि वहाँ कृषि के बदले आजकल कारख़ानेवाले उद्योग-धन्धे का करना अधिक लाभदायक जान पड़ता है। इस तरह से जो उत्पत्ति होती है उसकी आमदनी से संसार के इतर देशों से अनाज लेकर वहाँ के लोग अपनी ज़िन्दगी चलाते हैं। वहाँ यदि बसने के लिए स्थान मिल जाय तो लोग सन्तोष मान लेते हैं। बढ़ती हुई मनुष्य-संख्या से ऐसे देशों में एक और आवश्यकता उत्पन्न होती है। बसने के लिए भूमि और खाने के लिए अन्न मिले, इसीके लिए तो बसे हुए भूमि-भागों पर ये देश अपना अधिकार जमाते हैं, वहाँ जाकर बसते हैं, मूलनिवासियों के मालिक बन बैठते हैं, धीरे धीरे उन्हें नष्ट भी कर डालते हैं, और इस प्रकार अपने उदरपोषण की व्यवस्था करते हैं। बिना उपनिवेश किये, अपने अधीन उपजाऊ देश किये, इनका जीवन-सङ्ग्राम तय नहीं हो सकता। आज-कल योरपीय देशों ने संसार में अपने अधिकार का जो जाल फैलाया है उसके मूलभूत कारण उनकी बढ़ती हुई मनुष्य-संख्या और जीवन के साधनों का, विशेषकर अन्न-सामग्री का, अभाव है। परन्तु ये योरपीय देश अन्न-सामग्री के लिए नितान्त पराधीन नहीं हैं। अपने देश के भीतर भी वे खेती करते हैं, परन्तु पुरानी रीति से नहीं, नई रीति से। इस नई रीति की मुख्य दो विशेषतायें हैं। एक तो उसमें आधुनिक विज्ञान और अन्य ज्ञान की सहायता से बनी हुई यन्त्र-सामग्री का उपयोग होता है। दूसरे आधुनिक विज्ञान के बल पर ज़मीन को नित्य अधिकाधिक उर्वरा बनाने का प्रयत्न किया जाता है और इस तरह नित्य अधिकाधिक उपज उसी ज़मीन से पैदा करने की चेष्टा की जाती है। सारांश, विज्ञान-मूलक खेती से वर्तमान मनुष्य-संख्या की आवश्यकतायें पूर्ण करने का प्रयत्न योरपीय देशों में किया जा रहा है।

कोई इस पर कहेगा कि यह कोई समस्या नहीं, यह तो इस भारत में भी शक्य हो सकता है। यह कहना जितना सरल है, उतना करना सरल नहीं। इस एक प्रश्न के जो अनेक पहलू हैं उन्हें धीरे धीरे हल करने का प्रयत्न गत पचास-साठ साल से किया जा रहा है। अब तक उसके बहुत कम पहलू हल हो सके हैं। विज्ञान के उपयोग के लिए कुछ आवश्यक परिस्थिति चाहिए। देश के लोगों में शिक्षा होनी चाहिए, जिससे वे विज्ञान का उपयोग समझ सकें और कुछ लोग उसका उपयोग कर सकें। दूसरे, सब आवश्यक यन्त्र-सामग्री यहाँ बने, उनके हिस्से बनें, उनके टूटने-फूटने पर उन्हें सुधारने की योग्यता रखनेवाले लोग और उनकी दूकानें स्थान स्थान पर चाहिए। तीसरे, ज़मीन पर जोतनेवाले के अधिकार सुनिश्चित चाहिए—चाहे जब वे अपनी ज़मीन से बेदख़ल न किये जायँ। पहले और तीसरे प्रश्न को हल करने का प्रयत्न गत कुछ सालों से किया जा रहा है। खेती की कुछ शिक्षण-संस्थायें खुली हैं और खुलती जा रही हैं और वहाँ विज्ञानमूलक कृषि-शिक्षा देने का प्रयत्न किया जा रहा है। लोगों में भी शिक्षा बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है। किसानों को बेदख़ली से रोकने के भी प्रयत्न गत साठ-सत्तर साल से हो रहे हैं। परन्तु इन बातों के लिए जो कुछ हुआ है वह बहुत थोड़ा है। जो कोई कृषि-संस्थाओं से पढ़ कर आये हैं वे बहुधा खुद खेती करने के बदले सरकारी नौकरी ही किया करते हैं। ज़मींदारों और किसानों को विज्ञान-मूलक कृषि-शिक्षा देने का प्रयत्न बहुतही कम हुआ है। सरकार ने स्थान स्थान पर उदाहरण-स्वरूप नई खेती के नमूने खड़े कर रक्खे हैं। परन्तु इनसे अब तक लाभ नाम को न हुआ। उन सरकारी खेतों पर इतना अधिक ख़र्च होता है कि उनसे लाभ के बदले हानि ही अधिक होती है। वे खेत खुद अपने बल पर खड़े नहीं हो सकते, फिर फ़ायदे की बात कहाँ? ऐसे उदाहरण किसी काम के नहीं। तमाशे के सिवा उनका अन्य कोई उपयोग नहीं। पुरानी रीति से खेती करने से जितनी आमदनी होती है, उतनी भी आमदनी यदि इन सरकारी खेतों से नहीं हो सकती तो केवल अधिक उपज को देख कर उनकी कौन नक़ल कर सकता है? ख़र्च के मान से आमदनी होगी तभी वे उदाहरण का काम देंगे। कभी कभी सरकार कृषि की चीज़ों और सामग्रियों की प्रदर्शनियाँ कराती है। इनसे भी इस देश में बहुत कम लाभ हुआ है। इसका कारण यही है कि लोग उन चीज़ों का उपयोग नहीं कर सकते और न उन वस्तुओं जैसी वस्तुएँ पैदा कर सकते हैं। शिक्षा का अभाव, कृषि-विज्ञान का अज्ञान और नई यन्त्र-सामग्री का अनुपयोग ही इसके कारण हैं। नई यन्त्र-सामग्री का उपयोग न करने के भी कुछ भारी कारण हैं। पहले तो शिक्षा का अभाव है। दूसरे, यन्त्र-सामग्री इस देश में न बनने से वह काफ़ी सस्ती नहीं मिलती। तीसरे, उसको सुधारनेवाले इस देश में स्थान स्थान पर यथेष्ट हैं नहीं। बिगड़ने पर उन्हें कलकत्ता-बम्बई भेजने की आवश्यकता होती है। और यह तो इतने ख़र्च की बात होती है कि किसान लोग यही कह बैठते हैं कि 'मूड़ से मुड़ौनी भारी'। और बात बिलकुल सच है। फिर समय भी इतना लगता है कि यन्त्र का रहना और न रहना बराबर हो जाता है। जिस किसी ने यन्त्रों का उपयोग करने का प्रयत्न भी किया है उसे शीघ्र ही उन यन्त्रों को एक कोने में डाल रखने का मौक़ा आये बिना नहीं रहा है। इसका दूसरों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। इस देश में जब तक यन्त्र न बनें और काफ़ी सस्ते न बिकें, वे जब तक अनेक स्थानों में न मिलें, उन्हें सुधारनेवाले बहुत समीप न रहें, तब तक इस देश में उनका उपयोग होना असम्भव ही है।

परन्तु इतनी बातें होने से ही इस देश में यन्त्रों का उपयोग न हो सकेगा। इसके लिए और एक-दो बातें चाहिए। इस देश में बँटवारे के कारण ज़मीन के इतने छोटे छोटे हिस्से हो जाते हैं कि उनके लिए यन्त्र-सामग्री का ख़रीदना कभी लाभदायक नहीं हो सकता। पाश्चात्य देशों में खेत बड़े बड़े होते हैं, और लोग इस कारण उनके लिए सर्व आवश्यक यन्त्र-सामग्री रख सकते हैं। खेतों का न्यूनतम आकार निश्चित होना चाहिए ताकि उनका फिर हिस्सा न हो सके। दूसरे लोग उन खेतों के लिए अपनी पूँजी लगा सकें, इसके लिए उनका उन खेतों पर

सुनिश्चित अधिकार चाहिए। खेतों का न्यूनतम आकार क़ायदे से शीघ्र निश्चित हो सकता है। इसमें विशेष कठिनाई न होगी। परन्तु दूसरी बात के मार्ग में, किसानों का खेतों पर सुनिश्चित अधिकार रहने के मार्ग में, एक बड़ी भारी बाधा इस देश में है। वह है यहाँ की ज़मींदारी-पद्धति। ज़मींदारी-पद्धति का यह स्वाभाविक परिणाम रहा है कि किसान अपने खेतों को 'अपने खेत' नहीं समझते। इसलिए वे उनमें विशेष पूँजी लगाकर उनमें किसी प्रकार का सुधार नहीं कर सकते। परिणाम यह होता है कि पुराने ढर्रे की खेती पीढ़ी दर पीढ़ी चली जा रही है। किसानों को जल्द बेदख़ली से रोके बिना कृषि की उन्नति होना असम्भव है। और ज़मींदारी-पद्धति में बेदख़ली से रोकना असम्भव नहीं तो कष्टप्रद कार्य अवश्य है। इसके लिए रैयतवारी पद्धति ही चाहिए। यह एक विकट प्रश्न है। जहाँ ज़मींदारी-पद्धति सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है, वहाँ रैयतवारी-पद्धति स्थापित करना बड़ा कठिन कार्य है। जो अनेक टेनन्सी एक्ट बने हैं उनसे कुछ कार्य अवश्य हुआ है, परन्तु अब तक बहुत कम। ज़मींदारी-पद्धति का अशान्ति के समय सब देशों में उपयोग रहा है और उससे शान्ति-स्थापन और शासन में सहायता पहुँची है। परन्तु जनता और राष्ट्र दोनों के लाभ की दृष्टि से उसका दरजा रैयतवारी-पद्धति के नीचे है और रहेगा। रैयतवारी-पद्धति से राष्ट्र के ख़ज़ाने को ज़मीन से जो आमदनी हो सकती है वह ज़मींदारी-पद्धति से नहीं हो सकती। बेदख़ली का डर न रहने से जो कृषि-सुधार हो सकते हैं वे उसके रहते में कभी नहीं हो सकते। उसके रहते तक लोगों की ज़मीन से होनेवाली आमदनी नहीं बढ़ सकती। सुनिश्चित अधिकार के सिवा यह शक्य ही नहीं है।

कोई यहाँ यह कहेगा कि ज़मींदार के पास काफ़ी ज़मीन होती है, वह बेदख़ल भी नहीं हो सकता और उसके पास किसानों से अधिक द्रव्य रहता है, फिर वह क्यों नई पद्धति से खेती नहीं करता? यदि वह करेगा तो उसके किसान भी कई सुधार करने लगेंगे। बात तो ऊपर ऊपर से ठीक जान पड़ती है। परन्तु ज़मींदार के मार्ग में भी अनेक आपत्तियाँ हैं। इस देश में अब तक सैकड़े पीछे कहीं दस तो कहीं बीस ज़मींदार लिखे-पढ़े समझदार पुरुष हैं। आवश्यक ज्ञान का अभाव उनके भी मार्ग में बाधा-स्वरूप है। परन्तु इसके इससे भी महत्त्वपूर्ण कारण हैं और उनमें से कुछ ऊपर बतला ही चुके हैं। यन्त्र-सामग्री सस्ती न मिलना, उनके सुधारनेवाले समीप न होना, यन्त्र-सामग्री का गाँवों से बहुत दूरी पर बिकना, उनके आने के लिए सुभीता न रहना, आदि कारण ऊपर निर्दिष्ट कर ही दिये गये हैं। इनके साथ एक कारण और जोड़ना चाहिए, वह यह है कि खेतों के छोटे आकार के कारण और बेदख़ली का डर बना रहने से किसान लोग इस बात में ज़मींदार से सहकारिता नहीं कर सकते और बिना उनकी सहकारिता के ज़मींदार अपनी खेती में सर्व आवश्यक सुधार नहीं कर सकता। इसके कुछ उदाहरण लीजिए। जो चीज़ें अनेक किसान नहीं बोते उन्हें यदि मालगुज़ार बोता है तो उसकी चीज़ों की नित्य चोरी होती रहती है। परिणाम यह होता है कि कुछ ही प्रयत्न के बाद वह उन चीज़ों को बोना छोड़ देता है। यदि ज़मींदार ने यन्त्र-सामग्री अपने लिए ख़रीदी तो उसका उपयोग होने पर वह बेकाम पड़ी रहती है, और इस कारण उससे उसे जितना लाभ हो सकता है उतना नहीं होता। खेतों के सुधारों में, उदाहरणार्थ, पानी के निकास के मार्ग बनाने और चकबन्दी-द्वारा खेतों का आकार बढ़ाने में किसानों की प्रत्यक्ष सहकारिता चाहिए। उनके अज्ञान के कारण, सहकारिता के अभाव के कारण, इतना अल्पाल्प सुधार भी शीघ्र नहीं हो सकता। इतना ही करने के लिए धमकी, बेदख़ली, ज़बरदस्ती आदि का उपयोग ज़मींदार को करना पड़ता है। और यह कोई मामूली काम नहीं। न्याय, नीति, दया और क़ायदा सबको ताक में रख देना आसान बात नहीं। इन कारणों से ज़मींदार भी अपनी ज़मीन और खेती की उन्नति नहीं कर सकते। उसे भी पुराने ढर्रे से सर्वसाधारण के अनुसार खेती करना पड़ती है।

कृषि की उत्पत्ति बढ़ाने का एक आवश्यकीय साधन सिंचाई है। सिंचाई के प्रबन्ध से कृषि को आकाश के भरोसे न रहना पड़ेगा। जहाँ कहीं सिंचाई का प्रबन्ध है, वहाँ इससे प्रत्यक्ष लाभ हुआ है। इस दिशा में

जितने प्रयत्न करने चाहिए, उतने नहीं हुए। आकाश से मिलनेवाला पानी नदियों-द्वारा समुद्र में वापस चला जाता है और हमारे खेत सूखे पड़े रह जाते हैं। आवश्यक प्रयत्न से इस स्थिति में बहुत कुछ सुधार हो सकता है।

झमेले के इन प्रश्नों को देख कर कोई शायद यह कह बैठे कि हिन्दुस्तानियों के लिए काफ़ी अनाज हिन्दुस्तान में होता है, वह बाहर चला जाता है तो हम क्या करें? कुछ अंशों तक में इसमें तथ्य है, परन्तु सर्वांश में नहीं। एक तो यह स्मरण रखना चाहिए कि बाहरी व्यापार को रोकना बहुत लाभदायक नहीं। बाहरी व्यापार का नियन्त्रण भले ही किया जा सकता है, उसे रोकना ठीक न होगा। संसार की होड़ के सामने टिक सकने की शक्ति न होना दुर्बलता का स्पष्ट लक्षण है। बाहर जाने से रोकने के बदले हम इतना पैदा ही क्यों न करें ताकि बाहर जाकर भी हमारे यहाँ काफ़ी अनाज बना रहे। दूसरे, इस प्रकार के साधन का उपयोग कितने सालों तक काम देगा? कुछ वर्षों के बाद ज़मीन से प्रति एकड़ पीछे उपज बढ़ाना ही होगी। इस कार्य में अभी से लग जाना आवश्यक है। कृषि की समस्या को हल करने का सबसे अच्छा उपाय यही है। बाक़ी सब गौण या अल्पकालिक हैं। अन्य उपायों का भी उपयोग करना चाहिए, परन्तु जिन उपायों से खेतों की उत्पत्ति दिनोंदिन बढ़े ऐसे उपाय अमल में लाना अत्यावश्यक है। यह सब पर प्रकट ही है कि यदि यह समस्या जल्दी न हल की गई तो भारत की बड़ी भारी दुर्दशा होगी।

गोपाल दामोदर तामस्कर

२—भारत में सामाजिक जीवन की न्यूनता।

परोपकाराय सतां विभूतयः,
व्यास।

भारत के प्राचीन संस्कृत-साहित्य में सामाजिक जीवन की उपयोगिता और आवश्यकता का स्थान स्थान पर उल्लेख किया गया है और उसकी मात्रा बढ़ाने का साग्रह उपदेश दिया गया है। समय के प्रभाव से आजकल संस्कृत-साहित्य का प्रचार बहुत कम हो गया है। जिन पौराणिक लोगों के हाथ में उसका थोड़ा सा प्रचार रह गया है वे संस्कृत के ख़ासे विद्वान् न होने के कारण, पुराणों में लिखे हुए उपदेशों के प्रचार की ओर उतना ध्यान नहीं दे सकते जितना वे पुराण-पाठ से होनेवाली अपनी आय की ओर देते हैं। उनके विषय में श्रीभगवत् रसिकजी ने निम्नलिखित बात बहुत ही ठीक कही है:—

कबहुँक वकता ह्वै बनि बैठैं
कथा भागवत गावैं।
अर्थ अनर्थ कछू नहिं भासै
पैसन को ही धावैं॥ १॥

पुराण बाँचनेवाले केवल धर्म्मवणिक् होने के कारण श्रोता लोगों पर उनका वैसा कुछ प्रभाव भी नहीं पड़ता।

भारत के प्राचीन संस्कृत-साहित्य में आज-कल का सामाजिक जीवन कई नामों से पुकारा गया है। यथा 'लोक-सङ्ग्रह', 'धार्मिक जीवन', 'परोपकार' और 'उदार-चारित्र्य' इत्यादि इत्यादि।

मनुष्य का जीवन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। यथा, व्यक्तिगत जीवन, कौटुम्बिक जीवन और सामाजिक जीवन।

जो लोग अपने निज के व्यक्तिगत लाभों की प्राप्ति में ही निरन्तर लगे रहते हैं—यहाँ तक कि दूसरों को हानि पहुँचा कर भी अपने निज के लाभ को प्राप्त करना ही जिनका एकमात्र लक्ष्य रहा करता है वे लोग व्यक्तिगत जीवन की श्रेणी के लोग हैं। संसार में ऐसे लोगों की ही संख्या प्रायः अधिक पाई जाती है। जिस घराने में, जिस राष्ट्र में, जिस देश में ऐसे व्यक्तिगत जीवन के प्रेमी लोगों की ही संख्या का प्राधान्य होता है वह घराना, वह राष्ट्र और वह देश कभी उन्नत नहीं हो सकता।

जो लोग अपने निज के कुटुम्ब या जाति के लोगों के हित का ध्यान रखकर उनकी भलाई की ओर दत्त-चित्त रहा करते हैं वे लोग कौटुम्बिक जीवन की श्रेणी के लोग कहे जाते हैं। ऐसे लोग अपने कुटुम्ब और जाति की कुछ भलाई कर सकते हैं।

जो लोग अपने गाँव, प्रान्त और देश के जन-समुदाय की भलाई को अपनी व्यक्तिगत भलाई के समान मानते हैं—नहीं उससे भी उसे अधिक महत्त्व की, अतः आवश्यक, मानते हैं तथा तदनुसार जन-समुदाय की भलाई

को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए तन-मन और धन से सहायता करते रहते हैं वे सार्वजनिक जीवन की श्रेणी के कहे जाते हैं। जिस देश में ऐसे सार्वजनिक जीवन के प्रेमी लोगों की संख्या जितनी अधिक होती है वह देश उतना ही उन्नत और धन-सम्पन्न तथा प्रभावशाली हो सकता है क्या, होता ही है।

प्रत्येक देश में ऐसे मनुष्य पाये जाते हैं जिनकी बुद्धि विद्या के संस्कार से रहित होने पर भी व्यवसायविशेष के करने में असाधारण रूप से पटु, प्रगल्भ और दक्ष होती है। ऐसे लोग अपनी व्यवसाय-पटुता के कारण काल पाकर धनाढ्य और धराढ्य होजाते हैं। ऐसे लोगों में, धार्मिक और सामाजिक जीवन के भाव उत्पन्न करने के लिए देश-दशा-विशारद लोगों ने नीचे लिखे हुए तथा उनके समकक्ष अनेक उपदेश दे रक्खे हैं—

(१) परोपकाराय सतां विभूतयः

(२) लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि ।

(३) अयं निजः परो वेत्ति
गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु
वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

(४) न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं
त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं
वर्त्त एव च कर्म्मणि ॥

उक्त वाक्यों के भावार्थ क्रमशः नीचे लिखे जाते हैं—

(१) इस संसार में उन्हीं का जीवन धन्य है जो अपनी गाढ़ी कमाई के धन को जनता के हितार्थ ख़र्च करते हैं।

(२) कोई अपनी बुद्धिमानी या व्यवसाय-चातुर्य्य से स्वयं बड़ा भारी धनकुबेर भले ही बन गया हो, पर उसे अपने देशभाइयों की भलाई की इच्छा से, उनके उत्कर्ष के लिए अपने धन, अपनी विद्या और अपने पुरुषार्थ का दान नित्य करते ही रहना चाहिए।

(३) जिन धनाढ्य और विद्वान् लोगों का चित्त बहुत ओछा होता है वे लोग अपने मनुष्य बन्धुओं को अपने-पराये की दृष्टि से देखा करते हैं और वैसा ही उनके साथ व्यवहार भी किया करते हैं। किन्तु जो लोग सच्चे उदार-चरित्र होते हैं, अर्थात् जिनका जीवन सार्वजनिक हुआ करता है, वे लोग समूचे संसार के लोगों को अपना कुटुम्बी मानते हैं और तदनुसार उसके साथ व्यवहार करते हैं।

(४) अर्जुन से श्रीकृष्णजी कहते हैं—हे अर्जुन, इस संसार में ही नहीं, किन्तु तीनों लोकों में ऐसी कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो! अर्थात् तीनों लोकों की बहुमूल्य वस्तुएँ मुझे प्राप्त हैं तो भी मैं जनता के उपकारार्थ अपने तन-मन और धन से कर्म्म करता ही रहता हूँ। अर्थात् सार्वजनिक जीवन व्यतीत करने में सदा लगा रहता हूँ।

हमारे आर्य्य पूर्वज हम लोगों को अपने कर्त्तव्य-कर्म का सदा ध्यान दिलाने के लिए उक्त जैसे उपदेश स्थान स्थान पर दे गये हैं। पर आज-कल हम लोग उनकी इतनी उपेक्षा करते हैं कि उन्हें देखते-भालते ही नहीं, उन्हें समझते-बूझते ही नहीं। जो जिस प्रकार—भले या बुरे मार्ग से—व्यक्तिगत लाभ के लिए धन कमाने में लगा हुआ है वह उसी काम में निरन्तर फँसा रहना ही अपना कर्त्तव्य-कर्म मान रहा है। निःसन्देह यह भावना उसके व्यक्तिगत जीवन को निन्द्य, तुच्छ, अतः हेय बनानेवाली है। पर उस ओर उसका बिन्दु-मात्र भी ध्यान नहीं जाता।

यह बात अकेले, कम लिखे-पढ़े हुए, व्यवसाय-दक्षता के कारण धनकुबेरों की ही नहीं है। किन्तु यह दुष्ट चित्त-वृत्ति उनमें भी पाई जाती है जो लोग आजकल की शिक्षा के चूड़ान्त पण्डितों का पद प्राप्त कर साधारण जनता को न्यायदान देने-दिलाने का व्यवसाय किया करते हैं। इन लोगों की व्यक्तिगत स्वार्थपरता आज-कल इतनी बढ़ गई है कि वह भारत की अबोध साधारण जनता को चौपट कर चाटे जा रही है। देश के नेताओं को चाहिए कि भारत के इन स्वार्थान्ध चूड़ान्त पण्डितों में सार्वजनिक जीवन के भावों को शीघ्र पैदा करने का यत्न करें, अन्यथा इस वर्ग के लोग दीमक की नाईं जनता-रूपी कल्पवृक्ष की जड़ों को बड़ी तीव्रता के साथ चाट जायँगे।

यह कोई बात नहीं है कि भारत के धन-कुबेरों के पास इतना धन नहीं है कि जिसकी सहायता से वे लोग भारत में लोक-सङ्ग्रह के कामों को—शिक्षा-प्रचार और

वाणिज्य-व्यवसाय की मात्रा के बढ़ानेवाले कामों को न कर सकते हों। उनके पास धन अवश्य है, पर उनमें सार्वजनिक जीवन की न्यूनता होने के कारण उनका तदर्थ दान करना तो दूर रहा, वे देश-हित के काम के नाम पर अपने कान बन्द करके भी नहीं सुनना चाहते हैं। जब कोई सज्जन अपना अमूल्य समय नष्ट कर उनके पास लोकसङ्ग्रह की कोई चर्चा करने को जाता है तब बड़े तिरस्कार के साथ उसकी बात दो-चार मिनट सुन लेना भी वे अनुचित समझते हैं। इतना ही नहीं, वरन अपनी व्यवसाय-निमग्नता की प्रशंसा कर उसके व्यर्थ समय नष्ट करने की निन्दा करने में वे लक्ष्मीवाहन कभी नहीं हिचकते !!! समझदार लोगों को भारत के इन लक्ष्मी-वाहनों की इस समझ पर करुणा आनी चाहिए। भारत के देश-दशा-सुधारक सज्जनों को भारत के इन धन-कुबेरों में सामाजिक जीवन के तत्त्वों का शीघ्रातिशीघ्र प्रचार करना चाहिए। जब तक भारत के धन-कुबेरों में लोक-सङ्ग्रह की भावना का प्रचार नहीं होगा तब तक वे झूठी दान-घोषणायें करने को ही बस मान कर देशहित का कोई भी सच्चा काम नहीं करेंगे। अतः उनके सार्व-जनिक जीवन की न्यूनता को दूर कर उन्हें देश-सेवा के लिए तैयार करना चाहिए।

सामाजिक जीवन की न्यूनता होने के कारण ही भारत में अभी तक अनेक प्रकार की शिक्षा का यथेष्ट प्रचार नहीं हो सका है। महर्षि भर्तृहरिजी समझा गये हैं कि मनुष्य को उसके सांसारिक जीवन के सब सुख देनेवाली और सब दुःखों से उसकी रक्षा करनेवाली एक-मात्र विद्या ही है। 'किं किं न वर्द्धयति कल्पलतेव विद्या'। संसार-तत्त्वपरायण भर्तृहरिजी का यह उपदेश पुस्तक में ही पड़ा हुआ है। उसके भाषान्तर-द्वारा जब उसका भाव पाश्चात्य देश में पहुँचा तब वह वहाँ कार्य्य-रूप में लाया जाने लगा। आज वहाँ का बच्चा बच्चा शिक्षित किया जाता है। वहाँ के लोगों ने 'Education is the Safeguard of our nature 'शिक्षा हमारे राष्ट्र का रक्षक है," इस बात को मान लिया है और तदनुसार काम कर रहे हैं। हमारे यहाँ भर्तृहरिजी उक्त वाक्य में अमृत भर कर उसे हमारे लिए छोड़ गये हैं, पर तो भी हम उस अमृत को पान नहीं करते हैं। हमारे यहाँ के लखपती और करोड़पती अपने निजी लड़कों तक को शिक्षा देना आवश्यक नहीं समझते हैं। जब वे अपने बच्चों को शिक्षा देना आवश्यक नहीं समझते तब उनका शिक्षाप्रचारार्थ दान देना कहाँ तक सम्भव हो सकता है। शिक्षाविहीन होने के कारण उनको इतना ज्ञान तक नहीं रहता कि उन्हें लखपती और करोड़पती जान कर, उनके व्यवसाय के विषय को छोड़ कर, यदि कोई अन्य विषय में उनसे पत्र-द्वारा कोई बात पूछे तो वे उसका उत्तर तक देना आवश्यक नहीं समझते। पराकाष्ठा है इस अज्ञताजन्य स्वार्थ-परता और मनुष्यत्वहीनता की। यह सब सामाजिक जीवन की न्यूनता के कारण ही होता है। भारत के प्रभावशाली नेताओं को उचित है कि वे लोग भारत के लोगों में, विशेषकर धनाढ्यों में, सार्वजनिक जीवन के भावों को उत्पन्न करने की चेष्टा करें। बारम्बार उनसे मिल कर उनका ध्यान सामाजिक जीवन की ओर आकृष्ट करते रहने से सम्भव है कि उनमें सामाजिक जीवन के भाव जाग्रत हो जायँ और देश की—भारत की यथार्थ सेवा कर उसे धन-धान्य सम्पन्न और सुखी बनाने के काम को वे करने लगें।

गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री

३—अवध के क़ानूनलगान की नियामतें।

मेरी राय, और सच्ची राय, तो यह है कि अगली बार जब प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बरों का चुनाव हो तब कोई भी देहाती—विशेष करके अवध का देहाती—किसान किसी को भी वोट न दे। अपना प्रतिनिधि चुन कर कौंसिल में भेजने की अपेक्षा किसानों को चाहिए कि वे अपना कपाल ठोंके भगवान् के भरोसे अपने घर बैठे रहें। सरकार उनको अपना बाल-बच्चा समझती ही है। उसे दया लगेगी तो क़ानूनलगान से सम्बन्ध रखनेवाली उनकी शिकायतों को दूर कर देगी, न लगेगी तो न दूर करेगी। प्रतिनिधि भेजना बेकार है। क्योंकि प्रतिनिधियों में से दो एक भूले-भटकों को छोड़ कर और कोई भी उनकी तकलीफ़ें दूर करने की चेष्टा नहीं करता। यहाँ तक कि वे यदि कभी मेम्बरों को कुछ सूचना देते हैं और कहते हैं कि हमारा अमुक अमुक काम कर दो तो उनकी आज्ञा या प्रार्थना

मानना तो दूर रहा, उनकी चिट्ठी का जवाब तक वे लोग नहीं देते। इसे अत्युक्ति या मुबालग़ा न समझिए। इसे मैं अपने निज के तजरूबे से लिख रहा हूँ। विश्वास कीजिए, मैं भुक्तभोगी हूँ। जो लोग ऐसा दुर्व्यवहार करते और अपनी प्रतिज्ञा तोड़ते हैं वे कौन हैं, आप जानते हैं? वे वही हैं जो चुनाव के वक़्त इन्हीं देहातियों और किसानों के द्वार पर वोट की भिक्षा के लिए फेरी लगाते थे और अपने घोषणा-पत्रों में लम्बी लम्बी हाँकते थे—मैं तुम्हारे लिए यह करूँगा; मैं तुम्हारे लिए वह करूँगा। इसीसे मैं कहता हूँ कि ऐसों को कौंसिल में भेजने से कोई लाभ नहीं। वे अपने घर मस्त पड़े रहें और यदि देशभक्त हों तो वहीं पड़े पड़े किसानों की हितचिन्तना की माला फेरा करें। ऐसे निकम्मे और बे-उसूल के आदमियों को कौंसिल में भेजने से किसानों को कुछ लाभ तो पहुँचता नहीं। हानि यह होती है कि सरकार एक प्रकार से अपनी ज़िम्मेदारी से बरी हो जाती है। उसे यह कहने का मौक़ा मिल जाता है कि कौंसिल में तुम्हारे प्रतिनिधि तो मौजूद ही हैं। वे तुम्हारे सुभीते का ख़याल ज़रूर ही रक्खेंगे और क़ानूनलगान से सम्बन्ध रखनेवाली तुम्हारी शिकायतें दूर करने की चेष्टा भी ज़रूर ही करेंगे।

× + +

अवध का पिछला क़ानूनलगान (एक्ट २२) सन् १८८९ ईसवी में गढ़ा गया था। उसमें अनेक त्रुटियाँ रह गई थीं। उनके कारण किसानों को बेहद कष्ट पहुँचता था। वे जल्दी जल्दी बेदख़ल किये जाते थे; उन पर बेजा इज़ाफ़ा होता था; उन्हें पुख़्ता कुओं के बनवाने का मुआविज़ा ठीक ठीक न मिलता था। ऐसे ही और भी कितने ही कष्ट थे। उन्होंने अपने उपाय भर सरकार का दरवाज़ा खटखटाया। ग़ैर सरकारी मेम्बरों ने भी सरकार से बहुत कुछ कहा सुना। पर सरकार ठहरी भौधन्धी—अनेक काम करनेवाली। उसे इस काम के लिए फ़ुरसत न मिली। किसानों का रोना-धोना अरण्यरोदन हो गया। फल यह हुआ कि इस क़ानून की त्रुटियों ने किसानों को बेतरह अधीर और असन्तुष्ट कर दिया। अवध के कई ज़िलों में बलवे हो गये। कहीं कहीं गोलियाँ तक चल गईं। कितने ही लोगों की जानें गईं। तब सरकार ने दया के वशीभूत होकर अपने अपढ़, अशिक्षित और निःसहाय किसानों की शिकायतें दूर करने के लिए क़ानूनलगान में तरमीम करने का इरादा किया।

× × ×

सुनते हैं कि अवध के ज़मींदार और तअल्लुक़ेदार सरकार की लाड़ली प्रजा हैं। उन्होंने लड़ाई में सरकार की मदद रङ्गरूट देकर की है। उन्होंने अच्छे अच्छे कामों के लिए लाखों रुपया चन्दा दिया है। ग़दर में और उसके बाद भी अपनी राजभक्ति दिखाकर उन्होंने सरकार से अपने अपने इलाक़ों की सनदें प्राप्त कर ली हैं। क़ानूनलगान से किसानों ही का सम्बन्ध नहीं; इन लोगों का भी है। अतएव सरकार ने कहा, लाओ पहले इन लोगों से तो सलाह कर लें। उस समय सर हरकर्ट बटलर यहाँ के गवर्नर थे। उन्होंने सलाह-मशविरा करके एक घोषणा प्रकाशित की। उसमें उन्होंने और अनेक बातों का उल्लेख करके लिखा कि तअल्लुक़ेदारों ने इस सम्बन्ध में बहुत बड़ा आत्मत्याग करने का निश्चय किया है। किसानों के साथ वे बहुत बड़ी उदारता का व्यवहार करने को तैयार हैं। उम्मेद है, अब किसानों को शिकायत का कोई मौक़ा न मिलेगा। अस्तु।

× × +

क़ानून का मसविदा कौंसिल में पेश हुआ। तब मालूम हुआ कि जो तरमीम होने जा रही है उससे अधिक— ९० फ़ी सदी—लाभ ज़मींदारों ही को होगा। किसानों को जो सुभीते थे उनमें से भी अधिकांश जाते रहेंगे। कुछ मेम्बरों ने बहुत होहल्ला मचाया, पर कुछ हुआ गया नहीं। सरकार ने तअल्लुक़ेदारों का साथ दिया। उन दोनों के सम्मिलित वोटों से क़ानून पास हो गया। इस तरमीम-शुदह क़ानून का जन्म १९२१ के अन्तिम महीनों में हुआ। पहले पट्टेदार किसान अपना जोत या उसका कुछ अंश शिकमी उठा सकते थे। अब उसकी मनाही होगई। पहले वे दूर के गाँवों में भी "पाही" काश्त कर सकते थे। अब हुक्म हुआ कि ऐसा करना क़ानूनन नाजायज़ समझा जायगा। पहले ७ वर्ष बाद इज़ाफ़ा हो सकता था और फ़ी रुपया एक आने से अधिक न होता था। अब ७ वर्ष की क़ैद की जगह १० वर्ष की

क़ैद कर दी गई, पर एक आने का निख़ उड़ा दिया गया। अर्थात् एक आने के दो, चार, दस जितने रुपये ज़मींदार इज़ाफ़ा कर दे और किसान मंज़ूर कर ले, सब जायज़ समझा जायगा। जहाँ किसानों के लाभ के लिए इतनी नियामतों की सूरतें निकाली गईं तहाँ इतनी कृपा ज़रूर की गई कि जब तक किसान ज़िन्दा रहे और लगान देता चला जाय तब तक उस पर बेदख़ली न लगे।

+ + +

इन नियामतों के कारण अवध के किसानों पर जो क़हर गुज़र रहा है उसका हाल वही जानते हैं। कौंसिल के मेम्बरों को जानने की क्या ज़रूरत? उनकी प्रतिज्ञायें और उनके आस्फालन दीवारों पर चिपके हुए उनके उन काग़ज़ के टुकड़ों के भीतरही बन्द रह गये हैं जिनका नाम उन्होंने मैनीफ़ेस्टो रक्खा था। तथापि एक मार्गभ्रष्ट मेम्बर ने, गत मार्च में, प्रान्तीय कौंसिल में, इस क़ानून से सम्बन्ध रखनेवाले दो एक प्रश्न करने की भूल कर ही डाली। उन्होंने २४ मार्च की मीटिंग में पूछा—

> किसानों पर पहले फ़ी रुपया एक आने से अधिक इज़ाफ़ा न होता था। क्या सरकार को मालूम है कि अब नये क़ानून के अनुसार उससे अधिक हो रहा है? यदि यह सच है तो बताइए कि कितने मामले ऐसे हुए हैं जिनमें एक आना रुपया से अधिक इज़ाफ़ा हुआ है और कहाँ तक हुआ है?

इसका उत्तर सरकार के सिकत्तर वो-डोनल साहब ने इस तरह दिया—

> अवध के क़ानूनलगान में क्या लिखा है, यह सरकार जानती है। उसका ख़याल है कि क़ानून की पाबन्दी हो रही है। इज़ाफ़े के अधिकांश मामलों का फ़ैसिला आपस ही में हो जाता है; माल की कचहरियों तक जाने की नौबत नहीं आती। जो बातें आप जानना चाहते हैं उनको बताना असम्भव नहीं तो कष्टसाध्य ज़रूर है।

कैसा बढ़िया जवाब है। जिसका पट्टा ४) का है उस पर ४) ही और इज़ाफ़ा करके १०) का कर दिया जाय और निरुपाय होने के कारण किसान उसे मंज़ूर कर ले—ज़मींदार को कचहरी न जाना पड़े—तो तहक़ीक़ात या जाँच की कोई ज़रूरत नहीं। यह कह देना बहुत काफ़ी होगा कि क़ानून की पाबन्दी हो रही है!

सरकार ने शायद वचन दिया था कि सब तरह की ज़मीनों के लगान की शरह मुक़र्रर कर दी जायगी। उसी की सीमा के भीतर इज़ाफ़ा किया जा सकेगा। पर उस शरह या निख़ का पता नहीं! पता सरकार ने इस बात का ज़रूर दे दिया कि इज़ाफ़े के क़ानून की पाबन्दी हो रही है और सरकार उससे बख़ूबी वाकिफ़ भी है! जवाब हो तो ऐसा! जिन मेम्बर महाशय ने ऊपर का प्रश्न किया उन्होंने, प्रश्न के रूप में, सरकार से एक सूचना भी की। वह इस तरह—

> खेत शिकमी उठाने और दूसरे मौज़ों में जाकर खेती करने के कारण जो लोग अपने जोत से बेदख़ल किये जाया करें उनकी एक फ़ेहरिस्त हर छठें महीने सरकार कौंसिल में पेश किया करे। उसमें वह यह भी दिखाया करे कि कितने रक़बे से ये लोग बेदख़ल किये गये।

उत्तर मिला।

> ऐसी फ़ेहरिस्त बनाने से माल के मुलाज़िमों का काम बेहद बढ़ जायगा। जो बातें आप जानना चाहते हैं वे सरकारी पुस्तकों में हर साल प्रकाशित हुआ ही करती हैं। वहीं देख लिया कीजिए। फ़ेहरिस्त बनाना व्यर्थ है। सरकार आपकी सलाह मानने को तैयार नहीं।

लीजिए साहब, इस बात को भी सरकार ने उड़ा दिया। यदि ये बातें सालाना रिपोर्टों में निकला ही करती हैं तो कोई रिपोर्ट उठाकर पिछले साल की बेदख़लियों ही की संख्या सरकार बता देती। उसी रिपोर्ट में कौंसिल के वे मेम्बर तथा और लोग भी उन्हें हर साल देख लिया करते और जान लेते कि इस नये क़ानून की बदौलत सरकार के कितने बाल-बच्चों के पेट की रोटियाँ छिनी हैं

हर साल फ़ेहरिस्त बनाना और दिखाना तो सरकार ने नामंज़ूर कर दिया। परन्तु पूर्व निर्दिष्ट मेम्बर महाशय ने यह भी पूछने की कृपा की थी कि इस नये क़ानून की रू से, दफ़ा ६२ ए (१) के अंश (ब) और (इ) के अनु-

सार, कितनी बेदख़लियाँ हुईं। इसका उत्तर सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कल्पना कीजिए कि देवदत्त ब्राह्मण के पास १० बीघे ज़मीन है। मज़दूर मिलते नहीं। हल वह जोत सकता नहीं। अतएव वह उस ज़मीन को बँटाई पर कलुआ काछी को दे देता था और आधा अन्न और आधा-तिहाया चारा पा जाता था। नये क़ानून की दफ़ा ६२ ए के (ब) अंश में लिखा है कि देवदत्त यदि उस ज़मीन में से एक अङ्गुल भी किसी और को जोतने के लिए दे देगा तो वह बेदख़ल हो सकेगा। इसी तरह रामदत्त को अपने गाँव रामपुर में ज़मीन नहीं मिली। इससे वह धामपुर में ज़मीन लेकर काश्त करने लगा। अब यदि धामपुर किसी और की ज़मींदारी का गाँव है तो वह उस ज़मीन से बेदख़ल किया जा सकता है; क्योंकि वह वहाँ का रहनेवाला नहीं। ऐसी काश्त पाही काश्त कहाती है। इस सम्बन्ध में सरकार ने बेदख़लियों की जो संख्या बताई है वह बड़ी ही हृदय-विदारक है। यह संख्या एप्रिल १९२२ से मार्च १९२३ तक की, अर्थात् नया क़ानून जारी होने के बाद, पहले ही साल की है। आगे क्या गुल खिलेंगे वह, अगले साल यदि कोई भूला-भटका पूछ बैठेगा, तभी मालूम होगा। हाँ, संख्यायें सुनिए—

शिकमी-काश्त-सम्बन्धी

कुल बेदख़लियाँ जो दायर की गईं—	९५६
जिनका फ़ैसिला हुआ—	९३९
जो मंज़ूर हुईं—	३७१
जो ज़ेर तजवीज़ रहीं—	१९

पाही-काश्त-सम्बन्धी

कुल बेदख़लियाँ जो दायर की गईं—	४,२७१
जिनका फ़ैसिला हुआ—	४,२४८
जो मंज़ूर हुईं—	१,९३५
जो ज़ेर तजवीज़ रहीं—	३

देख लीजिए, इस क़ानून की नियामतें। इसकी बदौलत ज़मींदारों ने पाँच हज़ार से भी अधिक काश्तकारों को उनके जोत से निकाल बाहर करने की चेष्टा की। यही तो ज़मींदारों का आत्म-त्याग है जिसका उद्घोष, नया क़ानून बनते समय, बार बार किया गया था। और, बेदख़लियाँ लगाईं भी तो बिना सोचे-समझे। तभी तो पहली क़िस्म में केवल एक ही तिहाई के लगभग लग सकीं। बाक़ी ख़ारिज हो गईं। दूसरी क़िस्म में आधे से भी कम मंज़ूर हुईं। इस काम में कुछ ज़िलों ने बड़ी ही सरगरमी दिखाई। किसने कितनी बे-दख़लियाँ लगाईं, सो भी सुन लीजिए। मैं कुछ ही उदाहरण दूँगा—

शिकमी

रायबरेली	९३
सीतापुर	१८९
हरदोई	३५०
खीरी	१३५

पाही

रायबरेली	९१४
सीतापुर	५२१
फ़ैज़ाबाद	६९२
प्रतापगढ़	१४२१

नये क़ानून ने काश्तकारों के लिए नई नियामतों के अनेक द्वार खोल दिये हैं। उनमें से कुछ की बानगी मैंने दिखा दी। काश्तकारों के प्रतिनिधि मेम्बरों को उनकी कारपरदाज़ी और प्रतिज्ञा-पालन के लिए सैकड़ों धन्यवाद!

सहदेवसिंह वर्म्मा

विविध विषय

१—पारसियों के विषय में एक नई खोज।

किसी समय, कोई एक हज़ार वर्ष पूर्व, ईरान अर्थात् फ़ारिस के निवासी अग्निपूजक थे। सूर्य की भी उपासना वे लोग करते थे; उसके भी विधि-विधान में वे बहुत दक्ष थे। दैवात् ईरान पर मुसल्मानों के हमले होने लगे। पशु-बल में वे लोग ईरानियों से बढ़े-चढ़े थे। फल यह हुआ कि ईरानियों को वे तलवार के ज़ोर से मुसल्मान बनाने लगे। बहुत ख़ून-ख़च्चर हुआ। अन्त को प्रायः समस्त ईरान हज़रत मुहम्मद के चलाये हुए धर्म्म का अनुयायी होगया। तथापि कुछ ईरानियों ने अपने धर्म को अपने देश और अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा समझा। अतएव वे वहाँ से भागे और एक जहाज़ पर सवार होकर कोई नया निवास-स्थल ढूँढ़ने के लिए निकल पड़े। उनका वह जहाज़, बम्बई के पास, संजान नामक बन्दरगाह में आ लगा। उस पर सवार ईरानी वहीं उतर पड़े। वहाँ के तत्कालीन हिन्दू अधीश्वर ने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक शरण दी। वहीं वे बस गये और अपने इष्टदेव सूर्य तथा अग्नि की उपासना करते रहे। यही लोग भारतवर्ष के पारसियों के पूर्व-पुरुष थे। पारसियों और अन्य पुरातत्त्वज्ञों ने इस विषय में अब तक जो खोज की थी उसके परिणाम का सार यही है।

परन्तु अब एक महाशय ने इस अनुमान या निष्कर्ष में मीन-मेख लगाई है। आपका नाम है राव-बहादुर पी० बी० जोशी। आपका कथन है कि यहाँ ईरानियों का आवागमन बहुत पहले से होता आया है। हज़ार बारह सौ वर्ष पहले भारतवर्ष के निवासी ईरान जाते और वहाँ-वाले यहाँ आते थे। सैकड़ों पारसी इस देश में बस गये थे और यहाँ के ब्राह्मणों की लड़कियों से विवाह करके वे भी ब्राह्मण बन गये थे। वे मग, शाकद्वीपीय और भोजक नाम से प्रसिद्ध थे। इस विषय में राव-साहब ने एक लेख प्रकाशित किया है। वह रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बईवाली शाखा के जर्नल में, अभी कुछ ही समय पूर्व, निकला है। उसमें महाभारत और भविष्य-पुराण के ब्रह्मखण्ड के आधार पर आपने अपने कथन को पुष्ट करने की चेष्टा की है। पुराने ताम्रपत्रों और शिलालेखों आदि के भी प्रमाण आपने दिये हैं। आपका कहना है कि—

भविष्य-पुराण के अनुसार साम्ब नामक राजा को कुष्ट होगया। वह नारद की शरण गया और कहा कि इस रोग को दूर करने का कोई उपाय बताइए। उन्होंने आज्ञा दी कि सूर्य की उपासना करो। तब साम्ब ने मूलस्थान या मित्रवन (वर्तमान मुल्तान) नामक नगर में सूर्य्य का एक भव्य भवन बनवाया। पर उस मन्दिर में स्थापित सूर्य्य-भगवान् के विग्रह की प्राणप्रतिष्ठा कराने के लिए कोई भी ब्राह्मण पण्डित राज़ी न हुआ। उन्होंने कहा, यह काम हम लोगों से न हो सकेगा। सूर्य्य बड़ा उद्भट देवता है। उसका मन्दिर बनवाने और उसकी पूजा करानेवालों पर आपत्ति आये बिना नहीं रहती। तब साम्ब फिर महर्षि नारद के पास गया। वे बोले, कुछ हर्ज नहीं। तुम शाकद्वीप (ईरान) से पुजारी ब्राह्मण बुलावो। वे लोग सूर्य्योपासना करना ख़ूब जानते हैं। उन्होंने यह भी बतलाया कि शाकद्वीप कहाँ है, कितनी दूर है, किस राह से जाना होगा, वहाँ के निवासी कैसे हैं, इत्यादि। इस पौराणिक वर्णन से मालूम होता है कि नारद का मतलब ईरान के अग्निपूजकों ही से था।

ख़ैर, साम्ब के प्रयत्न से १८ मग-ब्राह्मण शाकद्वीप से आये। उन्होंने मन्दिर की "प्रतिष्ठा" करा दी। सूर्य-देवता की कृपा से साम्ब का कुष्ठ रोग जाता रहा। इस उपकार के बदले साम्ब ने उन पुजारियों को मुल्तान दे

डाला। अतएव वे लोग वहीं रह गये। धीरे धीरे उनके शादी-ब्याह का प्रश्न उठा। साम्ब ने उसे भी हल कर दिया। भोजवंशी भारतवासियों ने उन्हें अपनी लड़कियाँ दे दीं। परन्तु भारतीय ब्राह्मणों ने कहा—न, हम इन्हें अपने समकक्ष कदापि न मानेंगे। ये विदेशी ब्राह्मण हमारी समता नहीं कर सकते। इस पर उन नये ब्राह्मणों के महत्त्व की सूचक बहुत सी कथाओं का प्रचार किया गया। वह इस तरह—भोजक ब्राह्मण के यहाँ भोजन करना नारदजी विशेष पुण्यजनक समझते हैं। भोजक ब्राह्मण की पूजा करना सूर्य्य की पूजा के सदृश फलदायक है। जिस घर में भोजक ने भोजन किया उसमें मानों ब्रह्मा, महादेव और भगवान् भास्कर ने भोजन किया। ऐसी बातें सुनते सुनते भारतीय ब्राह्मणों की झिझक जाती रही। ईरानी ब्राह्मण भारतीयों में मिल गये और मग या भोजक—ब्राह्मणों की आख्या से आख्यात हुए।

रावबहादुर ने इधर-उधर से प्रमाण उद्धृत करके यह भी दिखाया है कि ईसा की पाँचवीं और छठीं शताब्दी में भारतवासियों ने मगों को ब्राह्मण मान लिया था और सूर्य्य-देवता के मन्दिरों की पूजा और "प्रतिष्ठा" का सबसे बड़ा अधिकारी उन्हीं को वे समझने लगे थे। इन ईरानियों के वंशज इस समय यहाँ कच्छ, सिन्ध, मारवार, कश्मीर और संयुक्त-प्रान्त में पाये जाते हैं। वे भोजक, सेवक, मग और शाकद्वीपीय ब्राह्मण कहाते हैं।

बम्बई के भुलेश्वर महल्ले में एक जगह सूरजवाड़ी है। वहाँ सूर्य्यनारायण का एक मन्दिर है। उसे, १८९९ ईसवी में, हरजीवन वसनजी ने बनवाया था। उसकी "प्रतिष्ठा" एक मग ब्राह्मण ही ने कराई थी। क्योंकि यही लोग इस काम में सबसे अधिक प्रवीण हैं।

रावबहादुर के कहने का मतलब यह कि ईसा की तीसरी सदी से ही ईरान की मग-जाति के लोग भारत आने लगे थे। सातवीं सदी में तो बहुत से भारतवासी भी ईरान पहुँच गये थे और वहाँ बस गये थे। इस दशा में यह कहना विश्वसनीय नहीं कि पारसियों के पूर्वज भारत से अनभिज्ञ थे। वे इस देश और इस देश के निवासियों से अच्छी तरह परिचित थे। वे जानते थे कि भारत जाने से हमारा वहाँ आदर होगा; हम सताये न जायँगे; आनन्दपूर्वक हम वहाँ अपनी पूजा-अर्चा कर सकेंगे। यही समझ कर वे लोग जान बूझ कर यहाँ भाग आये थे और संजान में आकर उतरे थे। यह कहना ठीक नहीं कि उन लोगों का जहाज़ भटक कर वहाँ समुद्र के किनारे लग गया था—हवा के झोंकों ने उसे वहाँ ला पटका था।

रावबहादुर जोशी की नई खोज का निष्कर्ष यही है।

२—आँसुओं की महिमा।

संस्कृत-भाषा के कवियों की उक्तियों पर यदि विश्वास किया जाय तो मानना पड़ेगा कि खण्डिता नायिका के आँसू बड़ा ही गजब ढाते हैं। वे नायक का दिल दहला देते हैं, उसकी नींद-भूख हर लेते हैं, उसे अदृश्य शर-सम्पात का निशाना बना देते हैं और उसके सुखी जीवन को दुःखमय कर डालते हैं। भिन्न भिन्न अवस्था में पड़े हुए मनुष्यों के आँसुओं का परिणाम या कार्य भी भिन्न भिन्न होता है। प्रेयसी की किसी हठ की पूर्ति न होने के कारण उत्पन्न हुए आँसू बड़ा काम करते हैं। उनकी बदौलत अभीष्ट वस्त्रालङ्कार की प्राप्ति हो सकती है, इच्छित दृश्य के दर्शन हो सकते हैं, प्रेमपात्र के साथ अभिलषित समय तक एकत्र रहने का सौभाग्योदय हो सकता है और अपने विषय में अनधिकार चर्चा या अनधिकार चेष्टा करनेवालों या करनेवालियों को दण्ड मिल सकता है! दुःख, शोक और चिरवियोग से सन्तप्त जनों के अश्रुपात, दया, करुणा और सहानुभूति के सागर की सृष्टि कर देते हैं। आँसुओं से शिशुओं की अभीष्ट-सिद्धि—अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति—हो सकती है, दीन-दुखियों को दान की प्राप्ति हो सकती है और दण्डनीय मनुष्यों को दिये जानेवाले दण्ड की मात्रा या भीषणता कम हो सकती है। अतएव आँसुओं की महिमा कम नहीं, बहुत अधिक है। उनसे बड़े बड़े काम होते हैं। उनके मूल्यवान् होने में सन्देह नहीं।

परन्तु आँसुओं से अब तक यदि किसी को लाभ पहुँचा है अथवा पहुँचता है तो उसी को जिसकी आँखों से वे निकले हैं या निकलते हैं। अब इस सिद्धान्त को धक्का पहुँचनेवाला है। अब उनसे दूसरों को भी लाभ पहुँचने की बहुत बड़ी सम्भावना मालूम हो रही है।

इतना ही नहीं, अब तो कुछ ऐसे लक्षण दिखाई दे रहे हैं जिनसे यह सूचित होता है कि आँसुओं का रोज़गार भी चल निकलेगा, उनकी कोठियाँ खुल जायँगी, उनके लेन-देन का व्यवसाय करने की ओर सैकड़ों आदमी आकृष्ट हो जायँगे। वह इस कारण—

लन्दन में एक अस्पताल है। उसका नाम है सेंट मेरी का अस्पताल। सर अमरोट राइट वहाँ एक डाक्टर हैं। उन्होंने अपने परीक्षागार में, बहुत समय तक खोज करने के अनन्तर, आँसुओं के सम्बन्ध में एक नया आविष्कार किया है। रोते रोते यदि आँसू मुँह में चले जायँ तो वे नमकीन मालूम होते हैं और नमक रोगहारक है। उसमें कुछ कुछ तेज़ाब के सदृश गुण है। तेज़ाब में कीटाणु जीते नहीं रह सकते। और, मनुष्य-शरीर में होनेवाले कितने ही रोगों का—उदाहरणार्थ प्लेग, हैज़ा और यक्ष्मा का—कारण ये कीटाणु अथवा अदृश्य या अत्यन्त सूक्ष्म जन्तु ही हैं।

आँसुओं में नमकीनपन देख कर पूर्वनिर्दिष्ट डाक्टर साहब के मन में यह आया कि क्या आँसू किसी काम भी आ सकते हैं? बस उन्होंने अपनी परीक्षा और जाँच बड़े परिश्रम से शुरू कर दी। फल यह हुआ कि उनका अनुमान सच निकला। उन्हें आँसुओं में रोगनाशक गुण का पता लग गया। उन्हें मालूम हो गया कि एक छोटा सा आँसू यदि लाखों टीकाणुओं पर छोड़ दिया जाय तो उसके संसर्ग से वे एक पल में नष्ट हो जायँ। अभी कुछ ही समय हुआ, लन्दन की रायल सोसायटी के मेम्बरों को डाक्टर साहब के एक सहकारी, डाक्टर अलेग्ज़ाण्डर फ्लेमिङ्ग, ने वहाँ आने के लिए आमन्त्रित किया। सबके उपस्थित होने पर, यथासमय, उन्होंने लाखों कीटाणुओं के एक समुदाय पर आँसू का एक बूँद डाल कर उसकी महिमा और इस नये आविष्कार की महत्ता का वर्णन किया। बात की बात में सब लोगों ने देखा कि कीटाणुओं का वह जमघट उस अश्रुबिन्दु के सम्पर्क से विलीन हो गया। यह देख कर दर्शकों के आश्चर्य की सीमा न रही। सभी ने इस बात को स्वीकार किया कि आँसू से बढ़ कर कीटाणु-नाशक ओषधि आज तक और कोई नहीं ज्ञात हुई।

अच्छा तो आँसुओं में ऐसी कौन सी चीज़ है जो कीटाणुओं का काल है। इसका पता अभी तक ठीक ठीक नहीं लगा। जाँच और पड़ताल, आश्लेषण और विश्लेषण बराबर जारी है। आशा ही नहीं, विश्वास है कि शीघ्र ही उस रासायनिक द्रव्य का भी पता लग जायगा। तब आसुओं से उसका निर्म्माण होने लगेगा और वह हर दवाख़ाने में मोल मिल सकेगी। ऐसा होने पर कीटाणुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त होने में देर न लगा करेगी।

इस आविष्कार की ख़बर ने योरप और अमेरिका के व्यवसायियों और अन्य लोगों में भी खलबली मचा दी है। वे बड़े बड़े मनसूबे अभी से बाँधने लगे हैं। प्रेयसी जनों के जिन आँसुओं की क़दर अब तक प्रेमी ही करते आये हैं उनकी क़दर अब बड़े बड़े डाक्टर और सर्जन तक करेंगे। धन्य उन आँसुओं का सौभाग्य! उनके अनुपम सौन्दर्य्य को चित्रित करने के लिए व्यवसायी चित्रकार और मूर्तिकार जैसे अभी उमा, रमा और तारा आदि सुन्दरियों को अपने स्थान पर लाकर उन्हें हज़ारों रुपये देते हैं वैसे ही भविष्यत् में व्यवसायी लोग उन्हें रुलाने के लिए भी यथेच्छ धन देंगे। ओषधियों में काम आने के लिए जैसे अभी बहुत आदमी अपना रक्त बेचते हैं वैसे ही रुवक्कड़ कुमारियाँ और कामिनियाँ बड़ों आँसू बेचा करेंगी। इससे न उन्हें कोई कष्ट होगा, न कुछ हानि ही होगी। सुबह उठीं और रोकर आँसुओं से एक ग्लास भर दिया। महीने भर का नहीं तो हफ़्ते का ख़र्च ज़रा देर में निकल आया। उन्हीं की नहीं, माताओं की भी बन आयेगी। वे टकटकी लगाये देखती रहेंगी कि कब उनका मुनुवाँ या मुन्नी रोती है। बस रोते ही वे उसके आँसू कटोरा, कटोरी या ग्लास में टपकाने लगेंगी। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि आँसू निकलने की भी तो कुछ सीमा है। प्रकृति ने शरीर या आँखों में उनका अटूट ख़ज़ाना तो भर ही नहीं रक्खा। अतएव बहुत आँसू निकल जाने पर, शायद फिर उनका निकलना बन्द हो जाय। तब क्या होगा? इसका भी इलाज अभी से सोच लिया गया है। यदि आँसू न निकलेंगे तो आँखों पर प्याज रगड़ने से वे ज़रूर ही निकल पड़ेंगे और बड़ी देर तक निकलते रहेंगे। यदि इस इलाज से भी काम न चलेगा

तो आँखों पर वह गैस छोड़ी जायगी जो पिछले योरपीय महायुद्ध में छोड़ी गई थी और जिसके प्रभाव से घण्टों तक आँखों की अश्रुवृष्टि बन्द न होती थी।

३—तार-द्वारा फ़ोटो-चित्रों का भेजा जाना।

ध्यान, धारणा और मन की एकाग्रता के अद्भुत कामों का वर्णन भारतीय शास्त्रों में भरा पड़ा है। इन साधनाओं की बदौलत मनुष्य रुई से भी अधिक हलका हो सकता है, व्योम-विचरण कर सकता है, जल की सतह पर चल सकता है और दूर देशों में होनेवाली घटनाओं को प्रत्यक्ष सा देख सकता है। प्रकृति की उपासना करते करते वह परमेश्वर के भी पास पहुँच सकता है। परन्तु इन सब बातों पर अब बहुत कम विश्वास किया जाता है, क्योंकि ऐसे साधकों का आज-कल प्रायः अभाव ही सा है। प्रकृति की ये उपासनायें आध्यात्मिक हैं। इनकी कल्पना और साधना करनेवाले भारतवर्षीय थे और यदि अब भी वे कहीं होंगे तो भारतवर्षीय ही होंगे।

अन्य देशवालों ने प्रकृति के रहस्य जानने के लिए और ही तरह से उसकी उपासना की है। यह उपासना वैज्ञानिक है। विज्ञान-द्वारा उन्होंने प्रकृति के अनेक अद्भुत गुणों और कार्य्यों का पता लगा लिया है। आकाश-यान, जलयान, जलान्तर्गामिनी नौकायें, बिजली के अनेक करिश्मे, फ़ोटो-चित्र, विषाक्त गैसें, कृत्रिम हीरे इत्यादि उसी के फल हैं। उन्होंने प्रकृति-परिचर्य्या करते करते, विज्ञान-द्वारा, पहले पहल, तार के यन्त्र का आविष्कार किया। थल में हज़ारों कोस दूर तक उन्होंने, बात की बात में, ख़बर भेजने की प्रक्रिया जान ली। फिर उन्होंने उस प्रक्रिया का प्रचार जल-मार्ग से भी किया। तदनन्तर ये आश्चर्यजनक काम वे बिना तार के ही कर दिखाने लगे। इस पिछली बात का आविष्कार हुए अभी दस ही पन्द्रह वर्ष हुए। अब तो इस बेतार की प्रक्रिया ने बहुत ही अधिक उन्नति कर ली है। थल से सैकड़ों कोस दूर समुद्र पर तैरनेवाले जहाज़ों पर भी बेतार की तारवर्क़ी के यन्त्र रहते हैं। उनकी सहायता से विज्ञ जन दूर दूर के जहाज़ों और स्थानों से बातचीत कर सकते हैं। अमेरिका में बैठा हुआ एक मनुष्य कोई गीत गाता है। उसे इँगलेंड में बैठे हुए लोग आसानी से सुनते हैं। हज़ारों कोस दूर बैठा हुआ एक वक्ता किसी विषय पर वक्तृता देता है। उसे दूसरे देशों के अनेक स्कूलों के छात्र, एक ही साथ, आनन्द से सुनते हैं। प्रकृति के अद्भुत रहस्यों का भेद जानने में, इन विद्वानों ने कितनी सफलता प्राप्त की है, इसके ये थोड़े से प्रमाण हैं।

इन लोगों ने अपनी खोज और उपासना की सिद्धि को अब और भी आगे बढ़ा दिया है। अख़बारों के सञ्चालन का सबसे बड़ा साधन तार और बेतार के द्वारा भेजे गये समाचार हैं। अनेक अख़बार सचित्र निकलते हैं। पर चित्र तार-द्वारा नहीं भेजे जा सकते। अख़बारवालों को यह त्रुटि बहुत खटकती थी। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर चीन गये हैं। उनके गमन और अभ्यर्थना के समाचार तथा वक्तृतायें भिन्न भिन्न देशों के अख़बारों में छप रही हैं और छपेंगी। परन्तु जिनके पास उनके चित्र पहले ही से न रक्खे होंगे वे उन्हें न प्रकाशित कर सकेंगे। इस अवाञ्छनीय त्रुटि का दूरीकरण अमेरिका के एक विज्ञान-वेत्ता ने कर दिया है। इस वैज्ञानिक विद्वान् का सम्बन्ध एक अख़बार से है।

अदृश्य वैद्युतिक धारा की सहायता से फ़ोटो भेजने का आविष्कार जिसने किया है उसने एक विशेष प्रकार के यन्त्र का निर्म्माण किया है। इस यन्त्र का प्रयोग तार-द्वारा भी हो सकता है और बिना तार के भी। जहाँ से चित्र भेजा जाता है वहाँ भी वह यन्त्र लगा रहता है और जहाँ को वह भेजा जाता है वहाँ भी। फ़ोटो-चित्र के आधार पर पहले ज़िङ्क या ताँबे का एक ब्लाक बना लिया जाता है। उस ब्लाक पर अङ्कित हुए उस चित्र में बारीक बारीक लाइने ही लाइने होती हैं। उसे यन्त्र के सिलेंडर पर चढ़ा कर यन्त्र का सञ्चालन आरम्भ कर दिया जाता है। आरम्भ होते ही एक सुई उस ब्लाक की लकीरों पर घूमने लगती है। उसके घूमने से बिजली की धारा में जैसा परिवर्तन होता है—उसके मेलन और विघटन का जैसा दृश्य उत्पन्न होता है—वैसा ही दृश्य दूसरे शहर में रक्खे हुए यन्त्र के प्लेट पर भी अङ्कित हो जाता है। अर्थात् वैसा ही चित्र वहाँ भी तैयार हो जाता है। इस तरह पेकिन से यदि रवीन्द्रनाथ की किसी वक्तृता की रिपोर्ट तार-द्वारा

न्यू-यार्क या लन्दन भेजी जाय और साथ ही नवाविष्कृत यन्त्र की सहायता से उनका चित्र भी दिया जाय तो वह सब सामग्री न्यू-यार्क या लन्दन में, थोड़ी ही देर बाद, छप कर प्रकाशित हो जायगी। कैसा अद्भुत आविष्कार है! प्रकृति का रहस्य-ज्ञान प्राप्त कर लेने का कैसा अद्भुत उदाहरण है!

इस आविष्कार से और भी अनेक अश्रुतपूर्व काम हो सकते हैं। भगे हुए अपराधियों के चित्र, उनके हस्ताक्षर और उनके अँगूठों के निशान भी ज्यों के त्यों भेजे जा सकते हैं। उनकी सहायता से पुलिस को उन्हें ढूँढ़ निकालने और गिरफ़्तार करने में बहुत सुभीता हो सकता है।

४—मुक्त आत्माओं से बात-चीत।

कोई ४० वर्ष हुए, बम्बई में हौवर्ड नाम के एक साहब शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर थे। भोर-घाट में रेल लड़ जाने से आपकी जान गई। आपने एक प्राइमर (अँगरेज़ी की प्रथम पुस्तक) बनाई थी। वह बहुत समय तक स्कूलों में जारी रही। उसका एक वाक्य हमें अब तक याद है। वह था—

“ A Cow has no soul.”

अर्थात् गाय के आत्मा नहीं होती। परन्तु यह बात बहुत पुरानी हो गई। अब तो हौवर्ड साहब के भाई-बन्द भी पशुओं में आत्मा का होना क़बूल करते हैं, मनुष्यों की तो कुछ बात ही नहीं। सर ए० कोनन डायल, परलोकवासी मिस्टर स्टीड, एक लाट साहब, तथा और भी कितने ही योरप और अमेरिका के निवासी तो इस विषय में बहुत आगे बढ़ गये हैं। वे तो मृत मनुष्यों की आत्माओं से बातचीत तक कर चुके हैं, उनके फ़ोटो ले चुके हैं, मध्यस्थों के द्वारा लिखे गये उनके हाथ के लेख भी प्राप्त कर चुके हैं। उन्होंने मृत आत्माओं के अस्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाले और भी ऐसे कितने ही प्रमाण पाये हैं जिनका वृत्तान्त सुन कर अत्यन्त आश्चर्य और कौतूहल होता। जिस विद्या के बल से इस तरह की बातें जानी जा सकती हैं उसे अँगरेज़ी भाषा में स्पिरिचुएलिज़्म (Spiritualism) कहते हैं। इस विद्या की उन्नति से बड़े लाभ हो सकते हैं। यदि हमें सप्रमाण मालूम हो जाय कि क्या करने से आत्मा की उन्नति और क्या करने से उसकी अधोगति हो सकती है तो हमारे दुःख, क्लेश और चिन्तायें बहुत कम हो जायँ। मरने का विचार मन में आते ही मनुष्य भयभीत हो जाता है। परन्तु जो लोग मर चुके हैं वे कहते हैं कि जिस समय आत्मा अपने भौतिक शरीर को छोड़ती है उस समय उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता। वह एक नये ही लोक में जा पहुँचती है और यदि उसके संस्कार अच्छे हैं तो वह वहाँ बड़े सुख से रहती है। उसे उस लोक में अपनी उन्नति करने के बहुत अच्छे साधन प्रस्तुत रहते हैं। यदि यह सब सच हो तो हम लोग इस लोक में सद्व्यवहार, सदाचार और सत्कर्म्म द्वारा अपना बहुत कुछ सुधार पहले ही से कर सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे शास्त्र सर्वथा वही कहते हैं जो मृत आत्मायें कहती हैं। इससे जान पड़ता है कि शास्त्रकार पहुँचे हुए तत्त्वदर्शी थे।

कोई ३५ वर्ष हुए जब हमें पहले पहल इस विद्या अर्थात् स्पिरिचुएलिज़्म का चमत्कार प्रत्यक्ष देखने को मिला। हम झाँसी में जनरल ट्राफ़िक मैनेजर के दफ़्तर में मुलाज़िम थे। जो काम हम करते थे उसी में मदद देने के लिए एक और महाशय भी हमारी मातहती में थे। उनका नाम था विद्याप्रसाद। वे कायस्थ थे। उम्र कोई ३० वर्ष की रही होगी। शरीर से दुर्बल थे। आगरे के रहनेवाले थे। बातचीत में एक दिन उन्होंने कहा कि इस विद्या में उन्हें थोड़ा-बहुत दख़ल है। इस विषय की कुछ पुस्तकें हमारे पास देख कर उन्होंने यह कहा। निश्चय हुआ कि शाम को कभी कभी बैठक हुआ करे। आरम्भ में तीन पाये के एक छोटे से मेज़ के सहारे आत्म-परिचय कराया जाता रहा। मेज़ के इर्द-गिर्द तीन चार आदमी बैठ जाते थे और सङ्केतों के अनुसार प्रश्नों के उत्तर मिलते थे। उदाहरणार्थ आत्मा से हम लोग पूछते थे कि यदि आप हिन्दू की आत्मा हों तो मेज़ का पाया एक दफ़े गिरे और यदि मुसल्मान की हों तो दो दफ़े। परन्तु इतने परिचय से सन्तोष न हुआ। तब आगे बढ़ने का निश्चय किया गया।

दो राजपूत लड़के यमल थे। वे हाईस्कूल में पढ़ते थे। बड़े सच्चरित्र थे। रोज़ बैठक में आते थे, एक दिन

आगत आत्मा से प्रार्थना की गई कि यदि कष्ट न हो तो उन दोनों में से एक के शरीर में प्रविष्ट होकर विद्याप्रसाद से प्रत्यक्ष बातचीत करे। आत्मा ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। बस एक ही मिनट के बाद लड़के की आत्मा का लोप सा हो गया और वह ज़ोर से चिल्ला उठा। उसके मुँह से पहले तो "हा" की आवाज़ निकली, फिर "सच्चिदानन्द हरे" की। विद्याप्रसाद से उसने कहा, भगवान् की याद कीजिए। उन्होंने हाफ़िज़ की पङ्क्तियाँ गाकर सुनाईं। तब आत्मा ने हमारी तरफ़ इशारा करके कहा—भगवत्स्तुति। हमने कहा—

कालिन्दीकूलकादम्बमूले संश्लिष्य राधिकाम्
वादयन् मधुरं वेणुं वनमाली मुदेऽस्तु वः।

यह पसन्द न आया। आत्मा ने कहा "भागवत"। तब हमने पढ़ा—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥

यह श्लोक बहुत पसन्द आया। आत्मा ने ख़ुद भी उसे दुहराया। वह ग्वालियर के रहनेवाले एक कायस्थ सज्जन की आत्मा थी। शरीरवान् होने की दशा में फ़ारसी और संस्कृत दोनों भाषाओं की ज्ञाता थी। यह आत्मा अकसर आती रही। गीतगोविन्द और श्रीमद्भागवत के श्लोक बहुधा सुनती थी। इत्र सूँघती थी। पुष्पमाला प्रेम से धारण करती थी। जो बातें पूछी जाती थीं बताती थी। अटपटे प्रश्न पूछने पर फटकारती भी थी। उपदेश उसका था—सत्कर्म करो। मरने पर तुम्हें पुण्य लोक की प्राप्ति होगी। मृत्यु से मत डरो।

झाँसी के मानिकचौक में एक मन्दिर है। वह शायद घी-वालों का मन्दिर कहाता है। वहाँ एक दिन बैठक में कोई परिचित आत्मा आमन्त्रित की गई। पर लड़के के शरीर में प्रवेश किया किसी और ही ने, जो दुष्टात्मा थी। उसने प्रश्नों का उत्तर ग़लत दिया। इसी से ऐसा हुआ। आत्मा एक नौजवान मुसल्मान की थी। उसकी मृत्यु बाँदा में हैज़े से हुई थी। पता लगाने से ये सच साबित हुईं। इस आत्मा ने आते ही बड़े ज़ोर से रोना-चिल्लाना शुरू किया। मेज़ पर हाथ पटकने और "क्यों बुलाया, क्यों बुलाया" कह कर बकने झकने लगी। बहुत कुछ समझाने बुझाने से उसने अपनी लीला का संवरण किया।

एक बार विलायत के किसी लार्ड की आत्मा का प्रवेश हुआ। कहने लगी, कलकत्ते जा रहे थे। वहाँ कोई जलसा था। जी में आया कि यहाँ दो मिनट रुक कर मनोरञ्जन कर लें। उस आत्मा की अँगरेज़ी बात-चीत सुन कर हम लोगों को उसकी सचाई में ज़रा भी सन्देह न रह गया। क्योंकि जिस लड़के के शरीर में उस आत्मा का आविर्भाव हुआ था वह किसी छोटे दरजे में पढ़ता था और टूटी-फूटी भी अँगरेज़ी मुश्किल से बोल सकता था।

इस तरह हम लोगों ने बाबू विद्याप्रसाद की बदौलत आत्मालाप से बहुत दिनों तक लाभ उठाया। फिर कार्य्य-वश, हम लोगों के अलग अलग हो जाने पर, बैठकें बन्द हो गईं।

अब हम देखते हैं कि इस विद्या के प्रचार के लिए एक सोसायटी क़ायम हो रही है अथवा हो गई है। इन्दोर के वी० डी० ऋषि महाशय इस सङ्गठन के अगुवा हैं। आप इस विषय के अच्छे ज्ञाता मालूम होते हैं। बड़े बड़े शहरों में दौरा करके वे इस विद्या के महत्त्व पर व्याख्यान भी देते हैं। आपके लेख भी, इस विषय में, कभी कभी प्रकाशित होते हैं। आपकी पत्नी के परलोकवासी होने पर उससे बातचीत करने की इच्छा आपके मन में उदित हुई। आपने प्रयत्न किया और आप सफल-मनोरथ भी हुए। तभी से आपको इस विद्या से प्रेम हुआ। आप कहते हैं कि मैंने स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द आदि की भी आत्माओं से आलाप किया है। यह सर्वथा सम्भव है।

इलाहाबाद में डाक्टर जोजेफ़ जे० घोष नाम के एक सज्जन हैं। आप वहाँ किसी स्कूल के हेड मास्टर हैं। आपकी पत्नी का शरीर छूटे कुछ ही समय हुआ। आप भी इस विद्या के सहारे अपनी पत्नी की आत्मा से बातचीत करने में समर्थ हुए हैं। त्रिलोकीनाथसिंह नामक लड़के के शरीर में प्रविष्ट हो कर उनकी पत्नी ने उनके प्रश्नों के जो उत्तर दिये हैं वे, लेख-रूप में, इलाहाबाद के "लीडर"

112819

पत्र में, कुछ समय पूर्व, प्रकाशित हुए हैं। इस आत्मा की कही या लिखी हुई कुछ बातों का सारांश नीचे दिया जाता है—

यहाँ, इस लोक में, मेरे ही सदृश और भी अनेक आत्मायें हैं। यह अन्तिम लोक नहीं। इसके आगे और भी लोक हैं। कुछ आत्मायें बहुत उन्नत हैं, कुछ उनसे कम, कुछ और भी कम। मनुष्यलोक में परिचित आत्माओं के भी दर्शन मुझे यहाँ हुए। उनकी उन्नति मैंने उनके कर्म्मों के अनुसार यहाँ न्यूनाधिक देखी।

मैं यहाँ परमात्मा की सेवा और आराधना किया करती हूँ और निर्बल आत्माओं को सहायता भी पहुँचाती हूँ। जो आत्मायें अपने नवीन (युवावस्था के) शरीरों को छोड़ कर आई हैं और जो उस जन्म में दुष्कर्म्मों में लिप्त थीं वही यहाँ निर्बल अवस्था में देखी जाती हैं। जो अपने पूर्वजन्म के कार्य्यकलाप का यहाँ भी चिन्तन किया करती हैं वे अपनी उन्नति अच्छी तरह नहीं कर सकतीं। दुष्टात्मायें—भूत, प्रेत आदि—यहाँ नहीं आने पातीं। वे हम लोगों के लोक से नीचे ही रह जाती हैं।

मनुष्य-लोक से यह लोक बहुत अच्छा है। इसे आप आत्मलोक कह सकते हैं। हमारी भाषा जुदी है। सब वही बोलते हैं। वह बिना सीखेही आ जाती है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

स्वर्गीय सर आशुतोष मुकुर्जी।

सर आशुतोष मुकुर्जी बङ्गाल के ही नहीं, भारत के नर-रत्नों में थे। उनकी मृत्यु से सचमुच देश का एक श्रेष्ठ रत्न तिरोहित हो गया। यही कारण है कि देश के सभी पत्रों ने उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया।

आशु बाबू का कार्य-क्षेत्र कलकत्ता की यूनीवर्सिटी रहा है। इसी क्षेत्र में कार्य कर इन्होंने अपनी वङ्ग-भूमि की वास्तविक सेवा की और यश का अर्जन किया। लार्ड-कर्ज़न के ज़माने में इन्होंने अपनी स्वाधीन चिन्ता का परिचय दिया था। धारा-सभा में जब यूनीवर्सिटी का नया क़ानून उपस्थित किया गया था तब इन्होंने उसका घोर विरोध किया था। इस समय ये कलकत्ता-हाई-कोर्ट में वकालत करते थे। इनकी योग्यता देख कर सरकार ने इन्हें हाईकोर्ट का जज बना दिया। फिर दो वर्ष बाद सन् १९०६ में ये कलकत्ता-यूनीवार्सिटी के वाइस चैंसलर बना दिये गये।

यूनीवर्सिटी के वाइस चैंसलर का पद ग्रहण कर आशु बाबू को उसी क़ानून के अनुसार यूनीवर्सिटी का सञ्चालन करना पड़ा जिसका इन्होंने धारा-सभा में दो वर्ष पहले विरोध किया था। परन्तु ये स्वाधीन-चेता थे। यूनीवर्सिटी के कार्यों के सञ्चालन में, अपने अनुकूल वातावरण न पाकर भी इन्होंने सरकार के स्वर में अपना स्वर मिला कर काम नहीं किया। इसी समय वङ्ग-भङ्ग का आन्दोलन भी छिड़ गया था। इससे इनकी कठिनाइयाँ और भी बढ़ गईं। शिक्षा-विभाग के उच्च अधिकारियों ने यूनीवर्सिटी को लिखा कि वह उन कालेज और स्कूलों को असम्बद्ध कर देने की सूचना निकाल दे जिन्होंने उनकी आज्ञाओं की उपेक्षा की थी और वङ्ग-भङ्ग के आन्दोलन से सहानुभूति प्रकट की थी या सहयोग किया था। परन्तु यूनीवर्सिटी ने इन अधिकारियों के लिखने के अनुसार काम नहीं किया। तब पूर्व-वङ्ग के नये लाट फ़ुलर साहब ने तत्कालीन बड़े लाट लार्ड मिन्टो से इस सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी की, पर उन्होंने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसी समय से आशु बाबू बङ्गाल में लोक-पूजित हुए और उनकी कीर्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गई।

यूनीवर्सिटी को आशु बाबू अपनी रुचि के अनुसार समुन्नत करना चाहते थे। ये उसे एक आदर्श संस्था का रूप देना चाहते थे, परन्तु इसके लिए अधिक धन की आवश्यकता थी, जिसका प्रायः अभाव बना रहता था। इस सम्बन्ध में जो प्रस्ताव ये सरकार से करते थे उनमें कतर-ब्योंत कर दी जाती थी—और ये अपनी इच्छा के अनुसार यूनीवर्सिटी को समुन्नत करने में असमर्थ हो जाते थे। इतने पर भी इन्होंने कलकत्ता-यूनीवर्सिटी को उस स्थिति को पहुँचा ही दिया जिसकी प्राप्ति किसी भी ऐसी ही संस्था के लिए एक गौरव की बात है। अपनी इस असुविधा के सम्बन्ध में इन्होंने सन् १९१२ में लार्ड हार्डिंग के समक्ष उपाधि-वितरणोत्सव के अवसर पर अपने भाषण में सरकार की बड़ी निन्दा की थी।

इस घटना के बाद आशु बाबू वाइस चैंसलर के पद पर नहीं रह सके। परन्तु इनके बाद जो नये व्यक्ति इस

पद पर आसीन हुए उनके कार्यकाल में भी आशु बाबू की ही नीति का बोल-बाला रहा। इसी समय यूनीवर्सिटी की जांच करने के लिए सरकार ने एक कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन के ये भी सदस्य मनोनीत हुए। इन्होंने कमीशन के सदस्यों को यूनीवर्सिटी की अवस्था इस प्रकार स्पष्ट रूप से समझा दी कि उसने अपनी रिपोर्ट में इनकी कार्यशैली का ही समर्थन किया। अपने दो उत्तराधिकारियों के बाद ये फिर वाइस चैंसलर बनाये गये। इस बार इन्हें असहयोग आन्दोलन से टक्कर लेनी पड़ी। इन्होंने विद्यार्थियों का सरकारी स्कूल-कालेजों का छोड़ बैठना ज़रा भी पसन्द न हुआ, अतएव इन्होंने उसका विरोध किया। अन्त में लार्ड लिटन के समय में गत वर्ष यूनीवर्सिटी पर यह अभियोग लगा कर कि उसके आय-व्यय का हिसाब-किताब ठीक नहीं हैं, प्रान्तिक सरकार ने आर्थिक सहायता देनी बन्द कर दी। इस पर आशु बाबू और सरकार के बीच बड़ी कड़ी लिखा-पढ़ी हुई थी। समाचार-पत्रों के पढ़नेवालों को वह अभी भूली न होगी। वाइस चैंसलर के पद से इस्तीफ़ा देने के पहले अपनी निर्दोषिता सिद्ध करते समय इन्होंने जो पत्र लार्ड लिटन को लिखा था वह इनकी स्वाधीन भावना के ही अनुरूप था। वाइस चैंसलर के पद से पद-त्याग कर इन्होंने हाईकोर्ट की जजी से भी इ
दे दिया था। ये अब हाईकोर्ट में फिर वकालत कर
थे। इसी सिलसिले में ये पटना आये थे, जहाँ इनक
हो गई। मृत्यु के समय इनकी अवस्था ६४ वर्ष क

आशु बाबू सनातन-धर्मावलम्बी थे। इनका
सहन भी ठीक ब्राह्मणों जैसा सीधा-सादा था
मिलनसार और सरल-स्वभाव थे। संस्कृत के
और विदेशी बौद्ध पण्डितों का ये बड़ा मान कर
ऐसे लोगों का इनके घर में दरबार सा लगा रहत
निस्सन्देह इनकी मृत्यु से भारत ने अपना एक उ
तम रत्न गँवा दिया है।

६—चित्रपद्माकर।

प्रलय के पयोनिधि लौं लहरैं उठन लागीं,
लहरा लग्यो त्यों होन पौन पुरवैया को
भीर भरी झावरी विलोकि मँझधार परी,
धीर ना धरात पदमाकर खेवैया को॥
कहाँ वार कहाँ पार जानी है न जात कछू,
दूसरो देखात ना खेवैया और नैया को
बहन न पैहै वेरि घाट ही लगै है ऐसो,
असित भरोसो मोहिं मेरे रघुरैया को॥

पुस्तकालय
कुल कांगड़ी

* * *

Compiled
1999-2000

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

112818

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED